प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य

(अ)

चन्दवरदायी : पद्मावती समय (पृथ्वीराज रासो)
विद्यापति
कबीर

प्रथम प्रश्न-पत्र

Paper - 1

एम.ए. हिंदी (उत्तरार्द्ध)
M.A. Hindi (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

चन्दवरदायी : पद्मावती समय (प थ्वीराज रासो)

(खण्ड-क)

आलोचना

1. रासो काव्य परम्परा 5
2. चन्दवरदायी का साहित्यिक परिचय 15
3. प थ्वीराज रासो का सामान्य परिचय 19
4. प थ्वीराज रासो का महाकाव्यत्व 23
5. प थ्वीराज रासो की प्रामाणिकता 26
6. पद्मावती समयः कथानक परिचय 30
7. पद्मावती समय का भाव पक्ष 33
8. पद्मावती समय का काव्य-सौन्दर्य 36
9. पद्मावती समय में इतिहास और कल्पना का समन्वय 41
10. प थ्वीराज का चरित्र-चित्रण 44
11. पद्मावती का चरित्र-चित्रण 46

(खण्ड - ख)

व्याख्या 49

विद्यापति

(खण्ड-क)

आलोचना

1. विद्यापतिः जीवन परिचय 122
2. विद्यापतिः कृतित्व 132
3. विद्यापतिः भक्ति-भावना 138
4. विद्यापतिः भक्त या श्रं गारी 147
5. विद्यापतिः श्रंगार वर्णन 162
6. विद्यापतिः सौंदर्य-चेतना 174
7. विद्यापतिः गीति योजना 187
8. विद्यापतिः द ष्टकूट-पद 203
9. विद्यापति की भाषा 209

(खण्ड-ख)

व्याख्या 218

कबीर

(खण्ड-क)

आलोचना

1. हिन्दी संत काव्य परम्परा 270
2. कबीर : व्यक्तित्व और कृतित्व 279
3. कबीर : सामाजिक विचारधारा 289
4. कबीर : धार्मिक चिंतन 298
5. कबीर के राम 307
6. कबीर की भक्ति भावना 317
7. कबीर की दार्शनिकता 327
8. कबीर की रहस्य साधना 333
9. कबीर की प्रासंगिकता 340
10. कबीर की भाषा 346

(खण्ड-ख)

व्याख्या

क. साखियाँ 352
ख. पद 386

एम.ए. हिंदी (उत्तरार्द्ध)
प्रथम प्रश्न-पत्र
प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य

समय : 3 घण्टे
पूर्णांक : 100

निर्देश :

1. पहले प्रश्न में खण्ड 'क' (I) में निर्धारित कवियों से संबंधित पाठ्य पुस्तकों में से एक-एक व्याख्या पूछी जाएगी, जिनमें से परीक्षार्थियों को किन्हीं तीन की व्याख्याएं करनी होंगी। प्रत्येक व्याख्या दस अंकों की होगी तथा पूरा प्रश्न दस अंकों का होगा।
2. खण्ड 'क' (II) में निर्धारित आलोच्य विषयों से संबंधित चार आलोचनात्मक प्रश्न पूछे जाएंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को दो प्रश्न करने होंगे। प्रत्येक प्रश्न 15-15 अंकों का होगा।
3. छठे प्रश्न में खण्ड 'ख' से आठ लघूत्तरी प्रश्न पूछे जाएंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को पांच प्रश्न (प्रत्येक लगभग 250 शब्दों में) के उत्तर लिखने होंगे। प्रत्येक प्रश्न चार अंकों का और पूरा प्रश्न बीस अंकों का होगा।
4. सातवें प्रश्न में दस अति लघूत्तरी प्रश्न पूछे जाएंगे। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर (प्रत्येक लगभग 50 शब्दों में), देना अनिवार्य होगा। प्रत्येक प्रश्न दो अंकों का होगा और पूरा प्रश्न 20 अंकों का होगा।

पाठ्य विषय

खण्ड 'क'– व्याख्या एवं आलोचना के लिए निम्नलिखित रचनाकार/रचनाएं निर्धारित हैं:-

व्याख्या के लिए निर्धारित अंश

1. **चन्दवरदायी:** प थ्वीराज रासो का पद्मावती समय, सम्पादक-हरिहरनाथ टंडन
   चन्दवरदायी-प थ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, वस्तु वर्णन, पद्मावती का काव्य सौन्दर्य
2. **विद्यापति**
   विद्यापति-भक्त और श ंगारी, सौन्दर्य वर्णन, श ंगार वर्णन, गीतियोजना, भाषा
   विद्यापति की पदावली: सम्पादक-रामव क्ष बेनीपुरी
3. **कबीर**
   सामाजिक विचारधारा, धार्मिक चिन्तन, कबीर के राम, भक्ति-भावना, प्रासंगिकता, भाषा
   कबीर: सम्पादक-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
   (क) पाठ्य साखियाँ
   (ख) पाठ्य पद

चन्दवरदायी : पद्मावती समय (प थ्वीराज रासो)

(खण्ड-क)

आलोचना :

1. रासो काव्य परम्परा
2. चन्दवरदायी का साहित्यिक परिचय
3. प थ्वीराज रासो का सामान्य परिचय
4. प थ्वीराज रासो का महाकाव्यत्व
5. प थ्वीराज रासो की प्रामाणिकता
6. पद्मावती समयः कथानक परिचय
7. पद्मावती समय का भाव पक्ष
8. पद्मावती समय का काव्य-सौन्दर्य
9. पद्मावती समय में इतिहास और कल्पना का समन्वय
10. प थ्वीराज का चरित्र-चित्रण
11. पद्मावती का चरित्र-चित्रण

(खण्ड - ख)

व्याख्या

खण्ड-क
चन्दवरदायी : पद्मावती समय
(प थ्वीराज रासो)

आलोचना

१. रासो काव्य-परंपरा

रासो- 'रासो' शब्द की व्युत्पति तथा 'रासो-काव्य' के रचना-स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की धाराणाओं को व्यक्त किया है। डॉ० गोवर्द्धन शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध 'डिंगल साहित्य' में निम्नलिखित धारणाओं का उल्लेख किया है-

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार बीसलदेव रासो में प्रयुक्त 'रसायन' शब्द ही कालान्तर में 'रासो' बना।

२. गार्सा द तासी के अनुसार 'रासो' की उत्पत्ति 'राजसूय' शब्द से है।

३. रामचन्द्र वर्मा के अनुसार इसकी उत्पत्ति 'रहस्य' से हुई है।

४. मुंशी देवीप्रसाद के अनुसार 'रासो' का अर्थ है कथा और उसका एकवचन 'रासो' तथा बहुवचन 'रासा' है।

५. ग्रियर्सन के अनुसार 'रायसो' की उत्पत्ति राजादेश से हुई है।

६. गौरीशंकर ओझा के अनुसार 'रासा' की उत्पत्ति संस्क त 'रास' से हुई है।

७. पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के अनुसार 'रासो' की उत्पत्ति संस्क त 'रास' अथवा 'रासक' से हुई है।

८. मोतीलाल मेनारिया के अनुसार जिस ग्रंथ में राजा की कीर्ति, विजय, युद्ध तथा तीरता आदि का विस्त त वर्णन हो, उसे 'रासो' कहते हैं।

९. विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार 'रासो' की व्युत्पत्ति का आधार 'रासक' शब्द है।

१०. कुछ विद्वानों के अनुसार राजयशपरक-रचना को 'रासो' कहते हैं।

११. बैजनाथ खेतान के अनुसार 'रासो' या 'रायसों' का अर्थ है झगड़ा, पचड़ा या उद्यम और उसी 'रासो' की उत्पत्ति है।

१२. के० का० शास्त्री तथा डोलरराय माकंड के अनुसार 'रास' या 'रासक' मूलतः न त्य के साथ गाई जाने वाली रचनाविशेष है।

१३. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'रासो' तथा 'रासक' पर्याय हैं और वह मिश्रित गेय-रूपक हैं।

१४. कुछ विद्वानों के अनुसार गुजराती लोक-गीत-न त्य 'गरबा', 'रास' का ही उत्तराधिकारी है।

१५. डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार विविध प्रकार के रास, रासावलय, रासा और रासक छन्दों, रासक और नाट्य-रासक, उपनाटकों, रासक, रास तथा रासो-न त्यों से भी रासो-प्रबन्ध-परम्परा का सम्बन्ध रहा है- यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। कदाचित् नहीं ही रहा है।

१६. मं० र० मजूमदार के अनुसार रासाओं का मुख्य हेतु पहले धर्मोपदेश था और बाद में उनमें कथा-तत्त्व तथा चरित्र-संकीर्तन आदि का समावेश हुआ।

१७. विजयराम वैद्य के अनुसार 'रास' या 'रासो' में छन्द, राग तथा धार्मिक-कथा आदि विविध तत्व रहते हैं।

१८. डॉ० दशरथ शर्मा के अनुसार रास के न त्य, अभिनय तथा गेय-वस्तु-तीन अंगों से तीन प्रकार के रासो (रास, रासक-उपरूपक तथा श्रव्य-रास) की उत्पत्ति हुई।

१९. हरिबल्लभ भायाणी ने सन्देश रासक में और विपिनबिहारी त्रिवेदी ने प थ्वीराज रासो में 'रासा' या 'रासो' छन्द के प्रयुक्त होने की सूचना दी है।

२०. कुछ विद्वानों के अनुसार रसपूर्ण होने के कारण ही रचनाएँ, 'रास' कहलाई।

२१. 'भागवत' में 'रास' शब्द का प्रयोग गीत-न त्य के लिए हुआ है।

२२. 'रास' अभिनीत होते थे, इसका उल्लेख अनेक स्थान पर हुआ है। (जैसे-भावप्रकाश, काव्यानुशासन तथा साहितय-दर्पण आदि।)

२३. हिन्दी साहित्य कोश में 'रासो' के दो रूप की ओर संकेत किया गया है- गीत-न त्यपरक (पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात में सम द्ध होने वाला) और छंद-वैविध्यपरक (पूर्वी राजस्थान तथा शेष हिन्दी में प्रचलित रूप।)

रास काव्य मूलतः रासक छंद का समुच्चय है। अपभ्रंश में २९ मात्रओं का एक रासा या रास छंद प्रचलित था। विद्वानों ने दो प्रकार के 'रास' काव्यों का उल्लेख किया है- कोमल और उद्धत। प्रेम के कोमल रूप और वीर के उद्धत रुप का सम्मिश्रण प थ्वीराज रासो में है।

रासो साहित्य मूलतः सामंती-व्यवस्था, प्रक ति और संस्कार से उपजा हुआ साहित्य है जिसका संबंध पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश से है। इसे 'देशभाषा काव्य' नाम से भी जाना जाता है। इस साहित्य के रचनाकार हिन्दू राजपूत राजाश्रय में रहने वाले चारण या भाट थे। समाज में उनका स्थान सम्मान का था, क्योंकि उनका जुड़ाव सीधे राजा से होता था। ये चारण या भाट कलापारखी और कला-रचना में निपुण होते थे ये योद्धा भी होते थे जो युद्ध होने पर अपनी सेना की अगुवाई विरुदावली गा-गाकर किया करते थे। ये राजाओं, आश्रयदाताओं, वीर पुरुषों तथा सैनिकों के वीरोचित युद्ध घटनाओं, को केवल बढ़-चढ़ा कर ही नहीं, उसकी यथार्थपरक स्थितियों एवं सन्दर्भो को भी बारीकी के साथ चित्रित करते थे। वीरोचित भावनाओं के वर्णन के लिए इन्होंनं 'रासक या रासो' छंद का प्रयोग किया था। इसलिए इनके द्वारा रचित साहित्य को 'रासो साहित्य भी कहा गया।

चारण साहित्य की रचना के समय देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्क तिक स्थिति अच्छी नहीं थी। पूरा देश कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। प्रत्येक राज्य का राजा अलग होता था। उनमें आये दिन युद्ध हुआ करता था। सभी राजा एक-दूसरे से मेल-जोल रखने के बजाय आपस में लड़ते-भिड़ते रहते थे। राज्य-विस्तार करने के लिए उन्हें युद्ध करना जरूरी था। विदेशी सामंतों के आ जाने से युद्ध का वातावरण और गर्म हो गया। विदेशी सामंतों ने देशी राजाओं

में फूट उालो और राज्य करो की नीति का अनुसरण कि और एक दिन वे पूरे हिन्दू-जाति के शासक बन गए। जिस हिन्दू राजा ने उनका विरोध किया उससे उन्होंने युद्ध की ठान ली और जीतकर उसे अपने अधीन कर लिया। राजनीतिक स्थिति के बिगड़ने से सामाजिक स्थिति में भी बिखराव आया। प्रमुख हिन्दू जातियाँ उपजातियों में बढ़ती गई। धार्मिक सम्प्रदाय भी उपसम्प्रदायों में विभाजित होते गए। सभी जातियों और सम्प्रदायों में जो मेलजोल और सौहार्द पहले था, वह पूरी तरह वैमनस्य भाव में बदल गया। आये दिन एक जाति के लोग दूसरी जाति से और एक सम्प्रदाय लोग दूसरे सम्प्रदाय से लड़ने-भिड़ने लगे। इससे समाज में युद्धोन्माद बढ़ा। सांस्क तिक मेलजोल और एकता के अभाव ने इसे और बढ़ने दिया। संघर्ष के इस वातावरण से देश और राज्य की आर्थिक स्थिति और दयनीय हो गयी। लोग भूखों मरने लगे। भूखे लोगों को मरने और मारने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं रह गया था। किन्तु ये लोग जो निम्न और निम्न मध्यवर्ग के थे, लड़ नहीं पा रहे थे। इसीलिए इन्होंने लड़ने वाली जाति, विशेषकर राजपूत जाति की सेवा की और उन्हें लड़ने के लिए उकसाया। वे अपनी प्रजा को दुःखी नहीं देख सकते थे। इसीलिए उन्होंने युद्ध करना अपना नैतिक कर्त्तव्य मान लिया। इसीलिए एक धर्म और सम्प्रदाय के लोग दूसरे धर्म और सम्प्रदाय से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने में लगे हुए थे इसके कारण भी संघर्ष बढ़ा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में-''लड़ने वालों की संख्या कम थी, क्योंकि लड़ाई भी जाति विशेष का पेशा मान ली गई थी। देश और धर्म की रक्षा के लिए समूची जनता के सन्नद्ध हो जाने का विचार ही नहीं उठता था। लोग क्रमशः जातियों और उपजातियों तथा सम्प्रदायों ओर उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़ने वाली जाति के लिए सचमुच ही चैन से रहना असम्भव हो गया था क्योंकि सभी दिशाओं से आक्रमण होने की सम्भावना थी। निरन्तर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का अविष्कार।'' स्पष्ट है कि जिस समय कोई देश या राष्ट्र (जाति) युद्ध में व्यस्त रहता है उस समय रचनाकार का मुख्य कर्म हो जाता है उस चेतना में स्थान देना चारण-साहित्य या रासो साहित्य का प्रमुख स्वर वीरत्व होने का यही कारण था।

रासो काव्य-परम्परा- इस साहित्य का अपना एक इतिहास है। बारह सौ ईस्वी के निकटस्थ चार राजपूत राज्य हिन्दी-प्रदेश में वर्तमान थे-कन्नौज में गाहड़वाल वंश, या राठौड़ वंश, बुन्देलखण्ड में चंदेल वंश; राजपूताने में चौहान और दिल्ली में तोमर वंश। कन्नौज राज्य के अन्तर्गत जयचन्द के दरबार में मधुकर नाम के कवि का होना सुना जाता है जिसकी रचना का नाम 'जयमयंकजसचन्द्रिका' है। यह क ति अभी तक अनुपलब्ध है। इसी प्रकार का नाम दूसरे कवि भट्टकेदार का है जिसकी रचना का नाम 'जयचन्द्रप्रकाश' है। यह क ति भी आज तक अप्राप्य है। बुन्देलखण्ड राज्य से संबंधित ग्रंथ जो आल्हाखण्ड आज मौखिक रुप से सुना जाता है वह किसी अज्ञात रचनाकार द्वारा लिपिबद्ध कराया गया है। राजपूताने के अजमेर राज्य से संबंधित अभी तक दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं- पहला दलपति का 'खुमाणरासो' जो अभी तक अप्रकाशित है; दूसरा नरपतिनाल्ह क त 'वीसलदेवरासो', जिसका प्रकाशन हो चुका है। दिल्ली राज्य से संबंधित ग्रंथ चन्दबरदाई क त 'प थ्वीराजरासो' है। यह एक प्रकाशित क ति है। काव्य-रूप की द ष्टि से यह एक प्रबन्ध काव्य है।

इन ग्रंथों के सर्वेक्षण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अधिकांश ग्रन्थों में 'रासो' शब्द नाम के अन्त में जुड़ा हुआ है जो 'काव्य' शब्द का पर्यायवाची है। 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध मे अब तक कई मत सामने आए हैं। इतिहासकार गार्सा द तासी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'राजसूय', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसायण' और डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने 'रहस्य' से माना है। श्री नरोत्तम स्वामी ने इसकी व्युत्पति 'रसिया' और कुछ अन्य विद्वानों ने 'रासक से भी माना है।'

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'रासक को एक छंद भी मानते हैं और काव्य-भेद भी। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल की कविता के संबंध में अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ करता था। ये काव्य चरित्रप्रधान हैं। इन चरित्रों को काव्य में बाँधने के लिए ही इस शब्द का प्रयोग होता रहा है। वस्तुतः रासो काव्य मूलतः रासक छंद का समुच्चय है। अपभ्रंश में उन्नीस मात्रा का एक रासा या रास छंद प्रचलित था। ऐसे अनेक छंदों के गान की परम्परा कदाचित् लोकगीतों में रही होगी। एकरसता न रहे इसलिए बीच-बीच में दूसरे छंद जोड़ने और गाने की प्रथा भी उस समय से चली होगी। 'संदेशरासक' मुक्तक काव्य इसका एक सुंदर नमूना है। पहले रासो काव्य छंद में लिखे गए। कालान्तर में इनमें बदलाव आया होगा जिसके फलस्वरूप गेय छंदों का उपयोग किया जाने लगा।

'बीसलदेव रासो' एक ऐसा ही प्रेमप्रधान काव्य है जिसमें रासकेतर छंद का प्रयोग हुआ है। आगे चलकर काव्य का यह रूप कोमल भावनाओं के अतिरिक्त अन्य विचारों की अभिव्यक्ति का वाहक बना। प्रेमभाव के साथ इसमें वीरों की गाथात्मक चेतनाओं को स्थान मिला। जिस प्रकार अंग्रेजी का 'सॉनेट' मूलतः प्रेमप्रधान भावनाओं का काव्य था, किन्तु कालान्तर में उसे अन्य भावों का भी वाहक बना लिया गया। उसी प्रकार की दशा इन आदि कालीन रासो काव्य की समझनी चाहिए। इसी परिवर्तनशील प्रक्रिया के तहत हमें इस काल के रासो काव्य में एक साथ वीरोचित और श ंगारोचित भावनाओं के वर्णन सुलभातापूर्वक मिल जाते हैं। रासो परम्परा के प्रतिनिधि ग्रन्थ इस प्रकार हैं-

१ **खुमाणरासो**-इस परम्परा की प्रारम्भिक क तियों में 'खुमाणरासो' का स्थान सर्वोपरि है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख शिवसिंह सेंगर की क ति 'शिसिंह सरोज' में मिलता है। इसके रचयिता दलपति विजय हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसको नवीं शताब्दी (सन् ८१२ ई०) की रचना मानते हैं। इसमें राजस्थान के चित्तौड़-नरेश खुमण (खुम्माण) द्वितीय के युद्धों का सजीव वर्णन किया गया है। किन्तु राजस्थान के व त्त-संग्राहकों के अनुसार यह सत्रहवीं शताब्दी की रचना ठहरती है, क्योंकि सत्रहवीं शताब्दी के चित्तौड़-नरेश राजसिंह तक के राजओं के यशोगान का चित्रण मिलता है और इसी आधार पर इसको आदिकालीन रचनाओं के भीतर नहीं रखते हैं। ऐसा मान लेने पर हम इस रचना के साथ समुचित न्याय नहीं कर पाते, क्योंकि यह बराबर देखने में आया है कि जब भी कोई लिपिकार किसी पुरानी पोथी को लिपिबद्ध करता है तो वह अपने समकालीन राजाओं से सम्बद्ध कथानकों को इसलिए जोड़ देता है ताकि उसके आश्रयदाता को भी महत्त्व मिल जाय। यह तथ्य 'खुमाणरासो' में जुड़े बाद के प्रक्षिप्त अंश को देखने से स्पष्ट हो जाता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में ''व त्त-सग्राहकों के पास इतिहास को समझने की पैनी द ष्टि थी; इसलिए राजस्थान में रहते हुए भी वे आदिकाल की समाप्ति को भक्तिकाल और रीतिकाल के भण्डार में डालने का दुराग्रह करके यश अर्जित कर रहें हैं, जब कि वह सामग्री उन कालों की प्रव त्तियों से किसी भी रूप में मेल नहीं खती। इन लोगों ने रचनाकारों के नामों के संबंध में भी भ्रम पैदा किया है।'' यही कारण है कि डॉ० मोतीलाल मेनारिया जैसे प्रबुद्ध इतिहासकार ने भी इस क ति के रचनाकार दलपति-विजय को जैन साधु माना है जो पूरी तरह से गलत है।, क्योंकि रचना-शिल्प और वस्तु-विधान की द ष्टि से यह काव्य किसी जैन साधु द्वारा विरचित नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो अवश्य ही इस रचना की अन्तर्वस्तु में जैन धर्म चेतना का प्रसार मिलता, जो कि नहीं है। इस स्थिति में इसका रचनाकाल नवीं शताब्दी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

इस ग्रन्थ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति पूना-संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें कुल पाँच हजार छंद हैं। इसमें समकालीन राजाओं के आपसी विवादों के बाद हुए एकता के साथ-साथ

अब्बासिया राजा खुमाण खलीफा और खुमाण के साथ हुए युद्ध का चित्रण मिलता है। इस क ति का प्रमुख सरोकार राजा खुमाण का चरित्रांकन करना है। उनके चरित्र के दो प्रस्थान बिन्दु हैं- एक युद्ध और दूसरा प्रेम। उनके प्रेम को दर्शाने के लिए ही क तिकार ने नायिका भेद और षट्ऋतुवर्णन का उल्लेख भी किया जो रमणीय है। वीर और श ंगार रस के साथ इसमें दोहा, सवैया और कवित्त छंदों का उपयोग किया गया है। इसकी भाषा राजस्थानी हिन्दी है। यथा:

''पिउ चित्तौड़ न आविऊ सावण पहिली तीज।
जोवै वाट रति विरहिणी, खिण-खिण अणवै खीज।।
संदेसो पिउ साहिबा, पाछो फिरिय न देह।
पंछी घाल्या पीज्जरे, छूटण रो संदेस''।।

२. **परमाल रासो**- इस परम्परा की अगली क ति के रूप में 'परमाल रासो' का नाम लिया जाता है। इसे 'आल्हाखण्ड' भी कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'वैलेड' तथा डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे 'वीरगाथा' काव्य कहा है। अभी तक इसकी प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। जो 'आल्हाखण्ड' प्राप्त है वह बहुत बाद में लिपिबद्ध किया गया है। सर्वप्रथम सन् १८६५ ई० में चार्ल्स इलियट ने जिस 'आल्हाखण्ड' का प्रकाशन कराया था, वह पूरी तरह से मौखिक परम्परा पर आधारित है। इसी प्रति को आधार बनाकर डॉ० श्यामसुंदरदास ने 'परमालरासो' का पाठ-निर्धारण किया और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित कराया। पाठ-निर्धारण के बाद भी यह क ति प्रामाणिक नहीं बन सकी। यह १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ की रचना है। उस काल की रचनाओं के वस्तु-विधान और शिल्प-विधान से वह सर्वथा भिन्न है। इसके रचयिता जगनिक हैं, जो महोवा के नरेश परमर्दिदेव का आश्रित था। रचनाकार ने इस काव्य में महोबे के दो देश प्रसिद्ध वीरों आल्हा और ऊदल के वीर चरित्र को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत कया है। इसमें आल्हा छंद (वीरछंद) का प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा बैसवाड़ी है।

इसका प्रचार वैसे सारे उत्तर भारत में है पर बैसवाड़ा इसका मुख्य केन्द्र है। वहाँ इसके गाने वाले अधिक मिलते हैं। बुन्देलखण्ड में, विशेष रूप में महोबे के निकट क्षेत्रों में इसका अधिक प्रचलन मिलता है। गीत-योजना और छंद-विधान की द ष्टि से यह एक वीरगीतात्मक काव्य है -

बारह बरिस लै कूकुर जिएँ और तेरह ले जिएँ सियार।
बरिस अठारह क्षत्री जिएँ, आगे जीवन को धिक्कार।।

३. **जयचन्द्रप्रकाश और जयमयंकजस-चन्द्रिका-** रासो काव्य-परम्परा में 'जयचन्द्रप्रकाश' और 'जयमयंकजस-चन्द्रिका' का उल्लेख भी मिलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर इन्हें कमशः भट्टकेदार तथा मधुकर कवि की क ति माना है। ये रचनाएँ सन् ११६७ ई० से सन् ११८६ ई० के मध्य लिखी गयी थीं, ये कवि कन्नौज के राजा जयचन्द्र के समकालीन थे और उनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। कुछ इतिहासिकों ने टिप्पणी में उल्लिखित 'भट्टभणंत' के आधार पर भट्टकेदार को जयचन्द्र का दरबारी कवि न मानकर शहाबुद्दीन गोरी का दरबारी कवि सिद्ध किया है जो गलत है। सोचने की बात है कि यदि ये शहाबुद्दीन गोरी के दरबारी कवि होते तो उनका यशोगान करते, पर उन्होंने ऐसा करके जयचन्द्र का यशोगान किया है। 'जयमयंकजस-चन्द्रिका' के रचनाकार मधुकर ने भी इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के प्रताप और पराकम का विस्त त वर्णन किया है। इन क तियों तथा इनकी हस्तलिखित प्रतियों की अनुपलब्धता के कारण इनका अस्तित्त्व खतरे में है। जो भी हो ऐतिहासिक संदर्भो में इन कवियों का अस्तित्त्व सुरक्षित है, भले ही ये क तियाँ, 'नोटिस मात्र'

ही क्यों ने हों।

४. **हम्मीर रासो-** इस परम्परा की चौथी क ति का नाम 'हम्मीर रासो' है। आज तक स्वतंत्र रूप से इस रचना की खोज नहीं हो पायी है। हाँ, 'प्राक तपैंगलम' में हम्मीर से संबंधित आठ छंद अवश्य उपलब्ध हैं। इन्हीं आठ छंदों के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके अस्तित्व की कल्पना की है। प्रचलित धारणा के अनुसार इस क ति के रचयिता शार्गधर माने जाते हैं। पं. राहुल सांक त्यायन ने प्राक त पैंगुलम के आठ छंदों(हम्मीर से संबंधित) से रचयिता के रूप में 'जज्जल' का नामोल्लेख किया है जो उचित भी है। सचमुच 'प्राक तपैड्गलम' के दो छंदों में इस रचनाकार का नाम आया है-

(१) ''हम्मीर कज्जु जज्जल भणह कोणाहण मुंह मह जलउ।
सुणतान सीस करवाण दह तेज्जि कबलेर दीअचलउ''।।

(२) ''ढोण्णा मारिअ ढिण्णी मह मुच्छिय मेच्छ सरीर।
पुर जज्जला मंतिवर चलिउ वीर हम्मीर''।।

दूसरे की अन्तिम पंक्ति का अर्थ यह है 'जज्जल और मंत्रिवर आगे करके वीर हम्मीर चले' न कि 'आगे मंत्रिवर जज्जल को करके वीर हम्मीर चले' (जैसा कि आचार्य शुक्ल ने किया है)। उस काल का कवि तलवार का भी धनी होता था जो सेना के आगे-आगे चलता था जैसे चन्दबरदायी। उसके बाद मंत्री और राजा रहते थे। डॉ० माताप्रसाद गुप्त जैसे विद्वान् इन पंक्तियों के अर्थ को न समझ पाने के कारण ही जज्जल को मंत्री मान लिया है। हम्मीरदेव सन् १३०० ई० में अलाउद्दीन की चढ़ाई में मारे गए थे। इसलिए इस क ति का रचनाकाल १३वीं शती ही मानना चाहिए। इसमें हम्मीर देव और अलाउद्दीन के युद्ध का ही चित्रण किया गया है।

५. **वीसलदेव रासो**- ' बीसलदेव रासो' इस परम्परा की पाँचवी क ति है। इसकी रचना 'बारह से बहोत्तराँ मझारि। जाठ बदी नवमी बुधवारि' के अनुसार जेष्ठ वदी नवमी, दिन बुधवार सन् ११५५ ई० (संवत् १२१२ वि.) में हुई थी। इसके रचयिता-नरपति नाल्ह थे जो अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समकलीन थे। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने इस क ति के रचनाकार के रूप में नरपति जैन का नामोल्लेख किया है जो गलत है, क्योंकि यह रचना जैन मतावलम्बी नहीं है। यह एक श ंगारमूलक रचना है जो गेय है। इसमें चार खण्ड हैं। पूरी रचना लगभग २००० चरणों में समाप्त हुई है। इसके प्रथम खण्ड में बीसलदेव और मालव के भी परमार की कन्या राजमती का विवाह-वर्णन;दूसरे खण्ड में बीसलदेव का रानी से रूठकर उड़ीसा जाना तथा वहाँ बारह वर्षो तक रहना; तीसरे खण्ड में राजमती का विरह-वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना और चौथे खण्ड में भेज कर अपनी पुत्री को अपने घर ले आने की कथा तथा बीसलदेव का उसे पुनः चित्तैड़ लौटा लाने का प्रसंग वर्णित है। पूरा काव्य वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है। इसमें घटनाओं का अभाव है।

यह एक कोमलधर्मा रासक काव्य है जो प्रेम प्रधान होने के कारण गेय है। इसमें मिलन की संवेदनाएँ कम, विरह की संवेदनाएँ अधिक हैं। क ति की मूल संवेदना विरह है जिसका वर्णन द्वितीय प्रक्रम से प्रारम्भ हुआ है। यह अनुचेतना पुरुष और नारी की संवेदनाओं को उद्वेलित कर देता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि स्त्री-पुरुष पहले मिलन में अपनी-अपनी बड़ाई हाँकने से नहीं चूकते हैं। इस तरह के अभिमान भाव से कभी-कभी दोनों में बिछोह हो जाता है। बीसलदेव नव परिणीता के सम्मुख प्रणयव्यंजना की अपेक्षा अपने वैभव का अभिमान प्रकट करता है। यह अभिमान भाव सामंतीवादी मनोव ति से उपजता है:

'गरब करि बोलियउ संइभारि बाल।
मो सरिसऊ नहिं अबर भूआल'

जब बीलदेव यह कहते हैं कि मेरे जैसा इस प थ्वी पर दूसरा कोई भूपाल नहीं है तब उसका सामंतवादी मनोव ति का अभिमान जाग त हो उठता है। वह प्रत्युत्तर देती है-हे साँभरवाल। गर्व न करो, तुम्हारे समान अन्य भूपाल भी हैं एक (तो) उड़ीसा का स्वामी है, उसके घर हीरे की खाने हैं। उसके इस कथन से बीसलदेव के मन पर आघात पहुँचता है। उसके पुरुष-मन में अनेक शंकाएँ उठ खड़ी होती हैं। वह कहता है कि हे नारी; तुम क्यों कड़वे वचन बोलती हो। क्या तुमने मुझे अपने चित्त से उतार दिया है। ठीक ही है दावाग्नि से जले व क्ष में कोंपल फिर भी लग सकती हैं, पर जीभ से जले हृदय में फिर अनुराग उत्पन्न नहीं होताः

'कडुवा बोल न बोलिस नारि, तू मो गेल्हसि चित्त बिसारि।
जीभ का दाधा न पांगुरइ। नाल्ह कहइ सुणजइ सब कोई'।।

नारी का नैसर्गिक गुण होता है कि वह पति को रूठते नहीं देख सकती। इसकी गुण के कारण राजमती प्रिय की अहमन्यता के सम्मुख अपने को नत कर लेती है, क्योंकि दाम्पत्य जीवन के प्रति उसमें मोह था। इतने पर भी बीसलदेव का अभिमान नष्ट नहीं होता। फलतः बीसलदेव रानी को छोड़कर उड़ीसा जाने को तत्पर हो जाता है। नारी-चेतना आकुलता में परिणत हो जाती है। विप्रलम्भ की आशंका से उद्वेलित नारी कह उठती हैः

चालियउ उलगाण्उ घण जाण न देइ।
मो नइ मारि कइ सरिसीय लेइ।

अर्थात् 'या तो मुझे मार डालो या तो साथ ले चल। हे स्वामी! संध्या-समय मुझे दो दुःख पीड़ा पहुँचाते हैं, एक तो यौवन, जो मुझे मरोड़ कर मारता है, दूसरा संतानहीन होना'। इतने पर भी बीसलदेव नहीं मानता। वह उसकी अवमानना करता है तो उसका मर्माहत मन चीत्कार कर उठता हैः

छाडी हो स्वामी म्हे थारी हो आस।
म्इला हो थारउ सिकड वेसास।।

बीसलदेव रामती को छोड़कर उड़ीसा चला जाता है। उसके चले जाने के बाद प्रोषितपतिका राजमती की अवस्था दयनीय हो जाती है। वह अपने अन्तःपुर में बंदिनी-सा जीवन व्यतीत करती है। उसे ऐसी स्थिती में नारी परतंत्रता का बोध होता है। वह एक नर सामंत द्वारा उपेक्षिता नारी के जीवन-कर्म को भोगते हुए सिहर उठती है। वह वनखण्ड में स्वतंत्र विचरण करने वाली कोयल और गाय को सराहती हैः

'धणइ न सिरजीय धउलीय गाइ।
वनखण्ड काली कोइली'।

रचनाकार ने नारी की विरह-संवेदनाओं को प्रभावी बनाने के लिए उसके सामने प्रक ति और उसके उपादानों को उपस्थित कर देता है। वर्ष के बारहों महीने में प्रक ति में होने वाले परिवर्तनों को रचनाकार ने विरहिणी नायिका में बदलने वाले भावों से सीधे जोड़ दिया है। ऐसे सन्दर्भो में कवि ने राजमती की विकलता, चिंता, उद्वेग, दुःख को मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णित किया है। आषाढ़ का चित्रण इस द ष्टि से अनूठा हैः

'धुरि आसाढ़ घडुकया मेह।
खलहत्था बहि गई खेह'।।

इसके बाद राजमती पण्डित को संदेशवाहक बनाकर प्रिय को लौट आने का संदेश भेजती है। संदेशवाहक की परम्परा को निबाहने के कारण यह प्रकरण दूत काव्य-परम्परा से जुड़ जाता है। संदेश पाकर बीसलदेव घर लौट आता है। दोनों के मिलने से काव्य समाप्त हो जाता है। इस तरह यह एक संदेशकाव्य, गेयकाव्य और विरहप्रधान काव्य ठहरता है। इसकी भाषा अवहट्ट है।

६. **विजयपाल रासो**- मिश्रबन्धुओं ने इस परम्परा की एक क ति 'विजयपाल रासो का उल्लेख किया है,जिसके रचियता नल्ल सिंह है। इस क ति का नायक विजयपाल सम्भवतः विश्वामित्र गोत्रीय गुहिलवंशीय राजा विजयपाल से भिन्न है जिसने :कोई' नामक वीर योद्धा को पराजित किया था। इस राजा के प्रपौत्र विजय सिंह का एक हिन्दी शिलालेख दमोह (म.प्र.) में प्राप्त हुआ है। राजबली पाण्डेय इस रचना में रचनाकार ने राजा विजयपाल सिंह और बंगराजा के बीच हुए युद्धों को सजीव रूप में चित्रित किया है। इसका रचनाकाल सन् १२६८ ई० है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी नाम की दूसरी क ति का उल्लेख भी किया है जिसके रचनाकार मल्लदेव हैं। शिल्प-विधान की द ष्टि से यह आदिकाल के बाद की रचना ठहरती है।

७. **प थ्वीराज रासो**- इस परम्परा की अन्तिम क ति 'प थ्वीराज रासो' हैं इसके रचयिता चन्दबरदाई हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में- ''ये हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका प थ्वीराज रासो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। चंद दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् महाराज प थ्वीराज के सामंत और राजकवि प्रसिद्ध हैं।- ये महाराज प थ्वीराज के राजकवि ही नहीं, उसके सखा और सामंत थे; तथा षड् भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदशास्त्र, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं में पारंगत थे।'' इनका जन्म सन् ११६८ में हुआ था। जनश्रुति के अनुसार जिस समय प थ्वीराज चौहान को मुहम्मद गौरी बन्दी बनाकर अपने देश ले जा रहा था, उस समय चन्द भी महाराज के साथ गया था। उसी समय वह अपने पुत्र जल्ल (जल्हण) को 'प थ्वीराज रासो' को सौंप गया था। 'पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन न प काज'। ऐसा विश्वास है कि जल्हण ने चन्द के अपूर्ण महाकाव्य को पूरा किया था।

अभी तक 'प थ्वीराज रासो' के चार संस्करण ही उपलब्ध हैं। प्रथम संस्करण जिसका कलेवर बड़ा है, काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित है और जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इस संस्करण में ६६ समय (खण्ड) रासो' में ७००० छंद हैं। इसका प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है, किन्तु इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ अबोहर और बीकानेर (राजस्थान) में आज भी सुरक्षित हैं। यह प्रति १७वीं शती के आसपास की है। तीसरे संस्करण का 'प थ्वीराज रासो' का कलेवर लघु है जिसमें ३५०० छंद ही संकलित हैं। इसमें केवल १६ समय हैं। इसकी प्रति बीकानेर (राजस्थान) में सुरक्षित है। चौथे संस्करण के 'प थ्वीराज रासो का अंग है। यह इसका लघुत्तम संस्करण है।

रासो' में केवल १३०० छंद हैं जिसका प्रकाशन 'राजस्थान भारती' से हुआ है। यह सबसे छोटा संग्रह है।

(१) **प थ्वीराज रासो की प्रामाणिकता**- प्रामाणिकता की द ष्टि से 'प थ्वीराज रासो' सबसे अधिक विवादास्पद ग्रंथ है। विद्वानों का एक वर्ग 'प थ्वीराज रासो' के प्रथम संस्करण को प्रामाणिक मानता है तो दूसरा वर्ग अप्रामाणिक। तीसरा वर्ग इसे अर्द्धप्रामाणिक मानता है।पहले वर्ग में कर्नल टाड, मिश्रबन्धु, श्यामसुंदरदास, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या दूसरे वर्ग में मुंशी देवी प्रसाद, गौरी शंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० बूलर,

श्यामलदान, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा तीसरे वर्ग में मुनि जिन विजय, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आते हैं जिन विद्वानों ने इस ग्रंथ को अप्रामाणिक माना है, उनके तर्क ये हैं:

१ 'रासो' में वर्णित घटनाएँ और नाम इतिहास से मेल नहीं खाते। इसमें परमार, चालुक्य और चौहान क्षत्रिय को अग्निवंशी माना गया है, जबकि वे सूर्यवंशी हैं।

२. प थ्वीराज चौहान का दिल्ली गोद जाना और संयोगिता स्वयंबर आदि घटनाएँ इतिहास सम्मत नहीं हैं।

३. प थ्वीराज की माँ का नाम कर्पूरी था, जबकि 'रासो' में कमला दिया गया है। जो गलत है।

४. प थ्वीराज की बहिन प था का विवाह मेवाड़ के राजा समर सिंह के साथ बताया गया है,जो गलत है।

५. प थ्वीराज ने गुजरात के राजा भीमसिंह का वध किया था। यह घटना इतिहास-सम्मत नहीं है।

६. 'प थ्वीराज रासो' में प थ्वीराज के चौदह विवाहों का उल्लेख है जो इतिहास से मेल नहीं खाता।

७. 'प थ्वीराज के हाथों मुहम्मद गौरी की म त्यु हुई थी। यह घटना भी इतिहास-सम्मत नहीं है। इसी प्रकार सोमेश्वर के वध की घटना भी काल्पनिक है।

८ 'प थ्वीराज रासो' में उल्लिखित तिथियाँ इतिहास से मेल नहीं खतीं। इन तिथियों में लगभग ६०-१०० वर्षो का अन्तर है।

प थ्वीराज रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानों ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं-

१ डॉ० दशरथ शर्मा के मतानुसार प थ्वीराज रासो का मूल रूप प्रक्षेपों में छिपा हुआ है। अभी जो लघुत्तम प्रतियाँ मिली हैं, उनमें इतिहास-संबंधी अशुद्धियाँ नहीं हैं।

२. घटनाओं में ६०-१०० वर्षो का अन्तर है, वह सम्वत् की भिन्नता के कारण है। इस त्रुटि को समाप्त करने के लिए ही मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने 'आनन्द संवत्' की कल्पना की है जिसके अनुसार 'रासो' की सभी तिथियाँ शुद्ध ठहरती हैं।

३. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'प थ्वीराजरासो' में १२वीं शताब्दी की भाषा की संयुक्ताक्षर अनुस्वारान्त की प्रव ति मिलती है। जिससे यह १२वीं शताब्दी की पोथी सिद्ध होती है।

४. 'प थ्वीराज रासो', एक इतिहास-ग्रंथ नहीं, काव्यग्रंथ है। अतः उसमें इतिहास का सत्य खोजना और उसके न मिलने पर उसे अप्रामाणिक घोषित करना अनुचित है।

५. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'प थ्वीराज रासो' की रचना शुक-शुकी-संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन सर्गो में यह शैली नहीं मिलती उन्हें प्रक्षिप्त मानना चाहिए। यदि यह तर्क मान लिया जाय तो वे अंश प्राय प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाते हैं जो इतिहास-विरुद्ध पड़ते थे।

२. चन्दबरदायी का साहित्यिक परिचय

आदिकालीन साहित्य में रासो परंपरा का विशेष महत्त्व है। इसमें प थ्वीराज रासो का अपना स्थान है। इसके रचयिता चन्दबरदायी हिन्दी साहित्य के आदि महाकवि हैं। जिस प्रकार शिवाजी के साथ कविवर भूषण का नाम अनन्तकाल तक जुड़ा रहेगा, उसी प्रकार प थ्वीराज चौहान के साथ चन्दबरदायी का नाम भी चिरस्थायी रहेगा। प्रामाणिकता की कसौटी पर आलोचक भले ही अनूकूल प्रतिकूल निर्णय दें, लेकिन इतना निश्चित है कि परम्परा एवं जनविश्वास के आधार पर वे प थ्वीराज चौहान के सभासद एवं श्रेष्ठ कवि माने जाएंगे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जीवन काल सम्वत् १२२५ से सं. १२४६ माना है। इनका जन्म लाहौर में हुआ। यह इस समय पश्चिमी पाकिस्तान में है। इस की सूचना निम्नलिखित पंक्ति से प्राप्त होती है-

बलिभद्र सुनागौर चन्द्र उप्पाजि लाहौरह।

कुछ विद्वानों का मानना है कि अजमेर के चौहान इनके पूर्वजों के यजमान थे। ये भट्ट जाति के जगाति नामक गोत्र के ब्रह्मण थे। जालधरी इनकी इष्ट देवी थीं। रासो के आधार पर पता चलता है कि प थ्वीराज और कवि चन्द का जन्म एवं संसार से प्रस्थान एक ही दिन हुआ- **''इक दीह उपज इक दीह समायकम्''** प थ्वीराज के सिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् चन्द उनके राजकवि बन गए। फलतः वे प थ्वीराज के अभिन्न मित्र, सामन्त और दरबारी कवि थे। रासो के अनुसार प थ्वीराज का जन्म काल सम्वत् १२०६ है। चन्द के पिता का नाम मल्ह था। कन्नौज युद्ध के एक दोहे में इसका तथ्यात्मक उल्लेख हुआ है-

बिना आयस प थ्वीराज के दाय नषयौ बाज।
को रष्वै सुत मल्ह को, सूर नूर सुषलाज।।

कवि चन्द की 'कमला' और 'गौरी' नाम की दो पत्नियां थीं। एक प्रकार से गौरी (पत्नी) की प्रेरणा से ही संवाद रूप में कवि ने प थ्वीराज रासो की रचना की। दोनों पत्नियों से कवि चन्द के एक कन्या और दस पुत्र हुए। उनके पुत्रों के नाम थे-सुर, सुन्दर, सुजान, जल्हण, बल्ह, बलिभद्र, केहिर, वीरचन्द, अवधूत और गुजराज। इनमें जल्हण एक प्रतिभा सम्पन्न कवि थां उसी ने 'प थ्वीराज रासो' को पूर्ण किया। जल्हण की प्रतिभा का यह प्रमाण है कि 'प थ्वीराज रासो' एक पूर्ण ग्रन्थ बन सका। इसके सम्बन्ध में लिखा भी है-

दहति पुत्र कवि चन्द कै, सुन्दर रूप सुजान।
इक जल्हन गुन बावरो, गुन समंद ससियान।।
आदि अन्त लयि व त्तमन व त्ति गुनि गुनीराज।
पुस्तक जल्हन हस्त दै चलि गज्जन न पकाज।।

रासोकार के अनुसार चन्द ने प थ्वीराज के हाथों गौरी को मरवाया और फिर स्वयं भी एक दूसरे को मार कर मर गए। लेकिन यह प्रसंग इतिहास से मेल नहीं खाता, क्योंकि प थ्वीराज की म त्यु गजनी में न होकर तराइन के युद्ध में सं.१२४६ को हुई थी। लेकिन रासो से ही पता चलता है कि कवि चन्द का जीवन ऐश्वर्यपूर्ण रहा। प थ्वीराज चौहान की उस पर अपार क पा थी। इसका उल्लेख मिलता है-

बीस गांव कवि चन्द प्रति, करी कुंवर बगसीस।
एक बाजि साजति सजहि दियौ सुसंभरि ईस।।

रासो के वर्णन वैभव से प्रतीत होता है कि वे बहुश्रुत, बहुपठित एवं बहुज्ञ थे। **'प थ्वीराज रासो'** उनकी एकमात्र रचना है जिसे वे अपने जीवन काल में पूर्ण नहीं कर पाए। उनके पुत्र जल्हण ने इसे पूर्ण किया। लिखा भी है-

पुस्तक जल्हन हस्त दै चलि गज्जन न पकाज।

लेकिन चन्दबरदायी षड् भाषा के पण्डित, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्दशास्त्र, ज्योतिष तथा पुराण के धनी थे। यही नहीं वे एक अच्छे योद्धा भी थे। सामन्त, मित्र और मन्त्री होने के कारण वे हमेशा प थ्वीराज के साथ रहते थे।

साहित्यिक विशेषताएं- यद्यपि कवि चन्द की एक ही रचना प्राप्त होती है लेकिन यही उनके यश के लिए पर्याप्त है। कुछ विद्वान तो इसे हिन्दी साहित्य का प्रथम महाकाव्य भी घोषित करते हैं। साहित्यिक द ष्टि से यह हिन्दी की प्रथम उल्लेखनीय काव्य रचना हैं उनकी साहित्यिक विशेषताएं इस प्रकार से हैं-

१. युद्ध-चित्रांकन

चन्दबरदायी प थ्वीराज चौहान के न केवल दरबारी कवि थे, अपितु उनके सखा भी थे। इसके साथ-साथ वे एक वीर योद्धा भी थे। अवसर अपने पर वे प थ्वीराज चौहान के साथ युद्ध करने भी जाते थे। प थ्वीराज-रासो में दो स्थलों पर युद्धों का ही सजीव वर्णन मिलता है। पहला तो प थ्वीराज-जयचन्द युद्ध और दूसरा शहाबुद्दीन-प थ्वीराज युद्ध। कवि ने जयचन्द की सेना की सज्जा का वर्णन बड़े ही प्रभावशाली रूप में किया है। ऐसा कहते समय कवि ने अतिशयोक्ति का सहारा लिया है। यद्यपि युद्ध-वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में है, लेकिन उसका प्रभाव बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है। इस सम्बन्ध में कवि ने यदि युद्ध-सज्जा का वर्णन किया है तो युद्ध का भी वर्णन किया है। रासो का उदाहरण अवलोकनीय है-

''सर करोणि रंग पलं पारि पर्क।
बजइ मंस संचिं षंधि वासि करकं।
डुम ढाल लोलंति हालं ति देसं।
गये हंस नंसीय गेहे सुवेसं।
परे पानि जंघं घरंग निनारे।।
मनउ मछ्छ मछ्छं तरे तीर मारे।
सिर सा सरोपां कछे सा सिवाली।
गहे अतं गुध्धी स सोहै मराली।
तटं रंभ रत्तं भरंतं विचीरं।
कंत स्याम सवेतं नीर पीरं।।

२. प्रक ति-चित्रण

प थ्वीराज रासो क ति नगर, विवाह, सरंगसज्जा, युद्ध, शबु-विजय, जलकेलि, आखेट आदि वर्णनों के लिए प्रसिद्ध है। इस प्रकार के अनेक वर्णनों में कवि ने अपनी रुचि का परिचय दिया है। इसके साथ-साथ कवि ने शरद् ऋतु वर्णन और प्रक ति वर्णन भी किया है। जहां तक प्रक ति वर्णन का प्रश्न है कवि चन्द ने प्रक ति के केवल आलम्बन और उद्दीपन के रूपों का ही वर्णन किया है, लेकिन यह वर्णन भी काफी प्रभावशाली बन पड़ा हैं इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है-

''शोभा चाहे प्रक ति की हो या मनुष्य की हो,
परम्परा प्रचलित रूढ़ उपमानों के सहाने ही निखरी है।''

अधीनस्थ सामन्तों की स्वामी भक्ति और पराक्रम अत्यन्त उज्ज्वल रूप में प्रकट हुए हैं। परन्तु प्रक ति वर्णन में कवि ने जहां कहीं केवल नामपरिगणन शैली को अपनाया है वहां नीरसता और शुष्कता उत्पन्न हो गई है। फिर भी विभिन्न ऋतु का वर्णन करते हुए कवि को अपूर्व सफलता मिली है। वसंत वर्णन अवलोकनीय है-

''सामग्गं कलधूत नूतन शिखरा मधुलेहि मधुवेष्टिता।
वाता सीत सुगन्ध मंद सरसा आलोल साचेष्टता।
कंठी कंठ कुलाहेल मुकलया कामस्थ उद्दपनी।
रत्ने रत्त बसन्त पत्त सरसा संजोगि भोगाइते।।''

३. सौन्दर्य चित्रण

सौन्दर्य चित्रण के अन्तर्गत नख-श्खि वर्णन में रासोकार को अभूतपूर्व सफलता मिला है। कहा जाता है ''प थ्वीराज रासो अपने नख-शिख वर्णन के कारण हिन्दी की काव्य रचनाओं में अद्वितीय स्थान रखता है। इसमें कवि ने कल्पना की सरसता के साथ-साथ नायिका के व्यक्तित्व का भी ध्यान रखा है।'' कवि ने नायिका के ह्रदय को मदन का अयन कहा है जहां वह छिप जाना चाहता है। उसके अधरों की उपमा पके हुए बिम्बा फल से की है। प थ्वीराज रासो में एक से एक सुन्दर वर्णन भरे पड़े हैं। संयोगिता के देदीप्यमान ललाट पर लगे हुए कस्तूरी के तिलक की उपमा सागर से निकले हुए नवीन चन्द्रमा की गोद में बैठे हुए म ग के साथ की है।

जहां चन्दबरदायी ने संयोगिता के नख-शिख का वर्णन किया है वहां कवि उसकी सखियों का वर्णन करना नहीं भूला। बल्कि सखियों का वर्णन कवि बसन्त प्रियाओं के रूप में करता है। मनभावन रूप दर्शनीय है-

''अधरल पल पल्लव सुवास।
मंजरिय तिलक पंजरिअ पास।
अलि अलक कंठ कलमंठ मंत।
संयोगि भोग बरु भयु बमंत।।

मानवीय नख-शिख वर्णन में सरस्वती के नख-शिख वर्णन में हमें देवी विषयक नख-शिख वर्णन का उदाहरण मिल जाता है। लेकिन यह नख-शिख न होकन शिख-नख है क्योंकि सरस्वती यहां एक देवी हैं। अतः कवि ने आराधक बनकर उसके सौन्दर्य का वर्णन किया है। कवि ने उसके कपोलों की तुलना प्रातःकाल में उदित उस चन्द्रमा के समान की है जो राहु के कलंक से बचने के लिए म ग के रथ के जुए को खींच रहा हो। परवर्ती कवियों के असमान कवि चन्द का नख-शिख वर्णन सर्वथा मर्यादित और सुरुचि सम्पन्न है। सौन्दर्य चित्रण अनुकरणीय है।

इस प्रकार पद्मावती के नख-शिख वर्णन भावी कवियों के लिए प्रेरणास्रोत बन गया है-

मनहुं कला ससि भांन, सोलह सो बन्निय।
बाल बेस ससि ता समीप, अंम्रित रस पिन्निय।।
बिगसि कमल म ग भ्रमर, बैन षजेन म ग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिम्ब, मोति नष सिष अहि घुट्टिय।।
छप्पनि गमन्द हरि हंस गति , बिह बनाय संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पदमावतिय, मनुहं काम कामिनिरचिय।।

४. श ंगार और वीर रस-परिपाक

महाकाव्य में श ंगार वीर या शांत रस का परिपाक होता है। इस काव्य में श ंगार और वीर रस का परिपाक हुआ है। कवि चन्द ने प थ्वीराज के प्रेम का वर्णन करने के लिए श ंगार रस के अनेक स्थल सजाए हैं। ऐसे स्थलों पर नारियों का रूप-चित्रण तथा संयोग-वियोग सम्बन्धी विविध दशाओं का वर्णन काफी प्रभावशाली बन पड़ा है। जहां कवि ने एक ओर राजकुमारियों के नख-शिख का वर्णन किया है, वहां दूसरी ओर उनकी प्रेम-पीड़ाओं तथा सहवास का भी सुन्द वर्णन किया है। इच्छिनी, शशिव्रता, संयोगिता, पद्मावती आदि प थ्वीराज की अनेक रानियां थीं। कवि ने इन सबके सौन्दर्य का वर्णन नायिका भेद को ध्यान में रख कर तो नहीं किया, लेकिन फिर भी अनेक स्थलों पर नायिका भेद की छाया-सी पड़ गई है। प थ्वीराज और संयोगिता के रति-वर्णन में श ंगार का हृदयस्पर्शी रूप है-

''रस कीडत विरीत चितं दंपति दंपति रति।
पंच पंच सुठ्ढए, पंच लगोति पंच पति।।
उठिय बाल सज्जिय दुकूल, सुध पंजरसु धाम चित्त।
हर हराट उप्पज्यौ, तजिय अक्ककौट कान क त।।''

रासों में श ंगार रस के संयोग-पक्ष का मुख्य रूप से वर्णन हुआ है। परन्तु संयोगिता और प थ्वीराज के वियोग-पक्ष का भी सुन्दर परिपाक हुआ है।

स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि चन्द मात्र कवि नहीं थे, बल्कि योद्धा भी थे। अक्सर वे योद्धा की वस्तुओं से सुसज्जित होकर महाराज के साथ युद्धभूमि में भी जाते थे। यही कारण है कि उन्होंने युद्धभूमि का सजीव वर्णन किया है। सेना की ब्यूह रचना के चित्र बड़े ही प्रभावशाली बन पड़े हैं। कवि की प्रत्यक्षानुभूति के वर्णनों से वीर रस फूट-फूट पड़ता है। घग्घर नदी के युद्ध-वर्णन में शौर्य का अनूठा रंग है-

''हुआ सद्द सुसद्दह नद्दं भरं।
धन घेरिक कीय सुफौज भरं।
लष लष्भं मिले दल सम्मिलयं।
नरु भद्दव बाहल समिलयं।''

५. भाषा-शैली

चन्दबरदायी ने अपने काव्य के भावपक्ष को सम द्ध बनाने के लिए उसमें अलंकारों का सुन्दर एवं स्वाभाविक प्रयोग किया है। उनकी अलंकार योजना पूर्णतः भावानुकूल है। यद्यपि कवि ने शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा यमक का सर्वाधिक प्रयोग किया है, लेकिन उसमें चमत्कार प्रदर्शन की प्रव त्ति कहीं पर भी दिखाई नहीं पड़ती। अर्थालंकारों में कवि ने प्रायः साद श्यमूलक अलंकारों का ही प्रयोग किया है। इनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति आदि कवि चन्द के सर्वप्रिय अलंकार हैं। उनका उपमानों का प्रयोग भी सर्वथा परम्परागत है। लेकिन कहीं-कहीं उन्होंने नवीन और मौलिक उपमानों का भी प्रयोग किया है। संयोगिता के वर्णन में कवि ने जो रूपकातिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया है। अलंकार के सहज प्रयोग से काव्य रूप चमत्कारीक बन गया है-

''कुंजर उप्पर सिंह।सिंह उप्पर दोय पब्बय।
पब्बय उप्पर मंथ। मंथ उप्पर ससि सम्भय।
ससि उप्पर इक कीर। कीर उप्पर म ग विट्ठौ।
म ग उप्पर कोदण्ड। संघ कदंथ बच हो।।''

सहृदय कवि भाषा के धनी ही नहीं हैं बल्कि भाषा मानो करबद्ध नायिका के समान कवि का अनुकरण करती हुई दिखाई देती है। कवि ने स्वयं षड्भाषा कुराण-पुराण का ज्ञाता होने का दावा किया है। नदी, वन, पर्वत, युद्ध सौन्दर्य आदि वर्णनों के सम्बन्ध में कवि ने भावनुकूल भाषा और शब्दों का प्रयोग करके अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है। युद्ध-वर्णन प्रसंग में कवि ने यदि डिंगल भाषा का प्रयोग किया है तो श ंगार तथा सौन्दर्य वर्णन के सन्दर्भ में पिंगल भाषा का प्रयोग किया है। रासो में कवि ने संस्क त, अपभ्रंश, राजस्थानी, पंजाबी, ब्रज, अरवी तथा फारसी भाषाओं के शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है। युद्ध वर्णन में जहाँ कवि की भाषा आलोचना प्रधान है वहाँ श ंगार और अन्य रसों के वर्णन में सरस और मधुर रूप धरण कर लेती है। परन्तु हमें एक बात का ध्यान रखना होगा कि प थ्वीराज रासो में अनेक प्रक्षिप्त अंश जुड़ गए हैं जिसके फलस्वरूप इसमें न तो भाषा की एकरुपता है और न ही व्याकरण का कोई व्यवस्थित रूप दिखाई देता है।

प थ्वीराज रासो को छन्दों का जंगल कहा गया है। छन्दों का जितना विविधोन्मुखी प्रयोग प थ्वीराज रासो में हुआ है उतना किसी अन्य आदिकालीन ग्रन्थ में नहीं हुआ। इस छन्द वैविध्य को देखकर ही कहा जा सकता है कि छन्द-योजना पर कविवर चन्दबरदायी का पूर्ण अधिकार है। उन्होंने अनेक बार वर्णिक और मात्रिक छन्दों का सफल प्रयोग किया है। इनमें छप्पय, गाथा, दोहा, सट्टय, पद्धरिया आदि प्रमुख छन्द हैं। कवि का छन्द प्रयोग कौशल इस बात से सिद्ध होता है कि एक ही प्रकार के वर्णन में वे विभिन्न छन्दों का बड़ी कुशलता से प्रयोग कर लेते हैं। इससे कवि के छन्द वैविध्य का ज्ञान स्वतः स्पष्ट हो जाता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके छन्द प्रयोग के बारे में उचित ही कहा है- ''वैसे तो हर बार तलवार की झंकार में तोटक, तोमर, पद्धति आदि पर उतर आते हैं, पर जमकर वे छप्पय और दोहा में ही लिखते हैं।''

३. प थ्वीराज रसो का सामान्य परिचय

प थ्वीराज रासो हिन्दी साहित्य का प्रथम और चर्चित महाकाव्य है। इसके रचयिता चन्दबरदाई हैं। इसमें दिल्ली के सम्राट प थ्वीराज की कथा वर्णित है। प थ्वीराज रासो में इतने अधिक प्रक्षिप्त अंश जुड़ चुके हैं कि इसके मूलरूप को पहचानना असम्भव हो गया है। दूसरा इसकी असंख्य हस्तलिखित प्रतिलिपियां मिलती हैं। उनमें काफी पाठ-भेद है। यद्यपि इसे ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य कहा जाता है। लेकिन ऐतिहासिक घटनाओं तथा वंशावलियों के आधार पर एक प्रामाणिक रचना प्रतीत होती है। वस्तुतः प थ्वीराज रासो के मूल रूप इसके रचनाकार तथा रचयिता के बारे में विद्वानों ने अलग-अलग विचार प्रकट किए हैं। कुछ विद्वान तो इसे अप्रामाणिक रचना मानते हैं तो कुछ प्रामाणिक तो कुछ अर्द्धप्रामाणिक। आरम्भ से ही यह रचना विवादास्पद बनी हुई है, परन्तु अपनी वर्णनात्मक द ष्टि से यह हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान रखती है।

१ **प थ्वीराज रासो की विभिन्न प्रतियाँ**- प थ्वीराज रासो की चार प्रकार की प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। आकार के आधार पर उनके चार रूपान्तरण किए हैं।

१ **ब हद् रूपान्तर**

२. **मध्यम रूपान्तर**

३. **लघु रूपान्तर**

४. **लघुत्तम रूपान्तर**

हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर यह पता चला है कि लघुत्तर रूपान्तर की पाँच प्रतियाँ प्राप्त हुई है। मध्य रूपान्तर की ११ और ब हद् रूपान्तर की ३३ प्रतियां प्राप्त हुई हैं। ब हद् रूपान्तर में १६३०६ छन्द हैं। मध्य रूपान्तर में ७००० छन्द हैं। लघु रूपान्तर में ३५०० तथा लघुत्तम

रूपान्तर में १३०० छन्द हैं। वैसे तो रासो की ये प्रतियां उत्तर भारत के अनेक संग्रहालयों में बिखरी पड़ी हैं। फिर भी हम कह सकते हैं कि ब हद् रूपान्तर मुख्यतया जैन भण्डारों में उपलब्ध होते हैं। लघु रूपान्तर बीकानेर तथा शेखावटी (जयपुर) तथा लघुत्तम धारणौव (गुजरात) गांव में प्राप्त हुई हैं। लेकिन मध्य रूपदनतम का का विस्त त विवरण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। यह पता लगाना कठिन है कि किस रूपान्तर में कितने प्रक्षिप्त अंश हैं, क्योंकि रासो का कोई प्रामाणिक रूप हमारे सामने उपलब्ध नहीं है। इन हस्तलिखित प्रतिलिपियों को चार भागों में विभाजित करने के कुछ कारण हैं। रासो की सभी प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन से हमें कुछ ऐसे सामान्य प्रसंग प्राप्त हुए हैं जो सभी प्रतियों में क्रमबद्ध तथा लिपिबद्ध हैं। उदाहरणतः लघुत्तम रूपान्तर के सभी छन्द तथा कथांश थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ लघु रूपान्तर में भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार से लघु रूपान्तर के छन्द तथा कथा प्रसंग मध्यम रूपान्तर में मिल जाते हैं और ब हद् रूपान्तर में भी।

२. **नगरी प्रचारिणी सभा का संस्करण**- काशी की नागरी प्राचारिणी सभा ने प थ्वीराज रासो का जो संस्करण मुद्रित किया है वह ब हद् रूपान्तर की प्रतियों पर आधारित है। इसी प्रकार से बंगाल की **'रॉयल एशियाटिक सोसायटी'** ने रासो के जितने अंशों का प्रकाशन किया है वे भी ब हद् रूपान्तरण पर आधारित है। नागरी प्रचारिणी सभा ने अपनी प्रति का लिपिकाल सम्वत् १६४०-४२ बताया है, परन्तु अग्रचन्द नाहट ने यह लिपिकाल सम्वत् १७४० माना है और मोतीलाल मेनारिया ने सम्वत् १८७८ माना है। ब हद् प्रति में कुल ६८ प्रस्ताव हैं। इसके परिशिष्ट में जो ६६वां प्रस्ताव मुद्रित है वह ब हद् रूपान्तर की किसी भी प्राचीन प्रति में नहीं मिलता। उधर उदयपुर में इस ब हद् रूपान्तर की एक प्रामाणिक प्रति महाराणा अमरसिंह के काल की है। इसका लिपि काल माघ क ष्ण ६ सोमवार सम्वत् १७०७ विक्रमी है। रासो के लघुत्तम रूपान्तर की जो पूर्ण प्रति मिली है उसका लिपिकाल आषाढ़ शुक्ला पंचमी सम्वत् १६७७ विक्रमी है। कुछ विद्वान इस प्रति को प्रामाणिक और प्राचीनतम मानते हैं। इस प्रकार प्रतियों में विविधता होना स्वाभाविक है।

३. **रासो के रचयिता**- प थ्वीराज रासो में कवि चन्दबरदायी का दो रूपों में उल्लेख हुआ है। पहला तो कविनायक प थ्वीराज के कवि मित्र के रूप में तथा दूसरा काव्य रचना के कवि के रूप में मिलता है। कथानायक के कवि मित्र के रूप में चन्द के अनेक नाम प्राप्त होते हैं, यथा-चन्द, कविचन्द्र, चन्दबिरदिया, चन्द्रबरइाई, भट्टचन्द या भट्टचन्डिय, चंडचन्द्र, कवियनश्री और राजकवि। केवल रचना से कवि के रूप में उनके नामों का उल्लेख इस प्रकार है-चन्द, कविचन्द और चन्दबिरदिया। कवि चन्द का इस प्रकार से विभिन्न नामों का मिलना अनेक भ्रान्तियां उत्पन्न करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रासो का कवि तथा कथानायक का कवि मित्र एक ही व्यक्ति था। रासो के कवि के लिए चन्द या चन्द बिरदिया नाम आते हैं और कथानायक के मित्र के लिए भी यही नाम आते हैं। लेकिन कथानायक के मित्र के रूप में कुछ और नाम भी आते हैं जो रासो से मेल नहीं खाते, जैसे चन्दरबरदाई,चन्द्र, कवियनश्री और चन्दचंडिय।

कुछ विद्वानों और समीक्षकों का मत है कि बिरदया, यट्ट-चंडिया,चंद और कवियनश्री ये कवि की मात्र उपाधियां थीं। बिरदया शब्द तो विरुद्ध सा प्रतीत होता है जिसका अर्थ है- 'यश प्रशस्ति' का गान करने वाला।' बरदाई शब्द का अर्थ हम लिख सकते हैं 'वर प्राप्त करने वाला' न कि 'वर देने वाले''। रासो में एक स्थल पर कथानायक और कवि मित्र चन्द की कहासुनी हो जाती है।निम्नलिखित पद्य से सिद्ध होता है कि कवि ने हर (शिव) से सिद्धि का वर प्राप्त किया था-

''कहा भुजंग कहा उदे सुर विकमु कब्ब कवि षंडि।
कई कथमास बताहि मो कई हर सिद्धिवर छंडि।
जइ छंडइ सेसह धरणि हर बेडइ विस कंदु।
इवि छंडइ तप ताप कर तन वर छडइ कवि चंदु।।

अन्यत्र एक और पद्य प्राप्त होता है जिससे ध्वनित होता है कि कवि चन्द को विद्या की देवी सरस्वती से वर प्राप्त था-

अहो चन्द वरदाइ कहावहु।
कनवज्जइ दिष्णन न प आवहु।
जउ सरसइ वरू जानहु रंचउ।
तउ अदिट्ठ वरनउ न प संचउ।।

जहाँ तक चंडिय नाम का प्रश्न है इसका उपयोग केवल एक स्थल पर हुआ है-

''सकल सुर बोलिब सत्र चंडिय।
आसिष जाइ दीघ कवि चंडिय।।''

चंडिय का आर्थ है- विछिन्न अथवा काटा हुआ, जो यहाँ सर्वथा असंगत है। प्रयोग के अनुसार यहाँ चंडिय का अर्थ होना चाहिए प्रसंग, क्योंकि अगले ही चरण में प थ्वीराज ने चन्द में प्रश्न किया है और चन्द को चन्द्र से व्युत्पन्न माना है। पुनः चन्द उपाधि का प्रयोग केवल एक स्थल पर हुआ है।

जपिअ सच्च सो चन्द चंड।
छप्पिय लाइ तिरहूति पिंड।।''

चन्द का अर्थ 'उग्र' भी हो सकता है और शायद यही कवि का मन्तव्य है। कवियन शब्द इस कवि के लिए प्रयुक्त हुआ नारायण दास द्वारा रचित छिताई वार्ता में कवियन शब्द का प्रयोग कविजन या सत् कवि के लिए प्रयुक्त हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि कथानायक प थ्वीराज का मित्र चन्द एक भाट था, जिसे मां सरस्वती का वरदान प्राप्त था। क्योंकि स्वभाव से वह तनिक उग्र था। इसलिए उसे चन्द, चंड भी कहा गया है। विद्वानों के एक वर्ग का कहना है कि प थ्वीराज रासो का रचयिता कथानायक का समकालीन नहीं हो सकता। हो सकता है बाद में किसी अन्य व्यक्ति ने चन्द के नाम से इस रचना का प्रणयन किया हो। लेकिन इस मत से अन्य विद्वान सहमत नहीं है, क्योंकि प थ्वीराज के दरबारी कवि के रूप में चन्द का होना कोई असम्भव नहीं है। फिर भी यह कहना कठिन है कि प थ्वीराज रासो के परवर्ती रूपान्तरण में कितना अंश चन्द द्वारा रचित है और कितना प्रक्षिप्त? इसके बारे में कुछ भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

४. **रासो : रचना काल**- प्रस्तुत ग्रन्थ में रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं किया गया। अतः उस ग्रन्थ के रचयिता के काल के आधार पर ही रासो का समान काल निर्धारित कर सकते हैं। सबसे पहले प थ्वीराज रासो का उल्लेख दलपति मिश्र रचित **'जसवंत उद्योग'** में मिलता है। इसका समय सम्वत् १७०७ है। उधर बूंदी नरेश सुरजन और उसके पुत्र भोज (सम्वत् १७३५) के आश्रित कवि चन्द्रशेखर ने सुरजन चरित्र के नाम से एक संस्क त काव्य लिखा था। इस काव्य रचना में प थ्वीराज पर एक पूरा सर्ग लिख गया है। इसमें प थ्वीराज के साथ-साथ कवि चन्द का भी उल्लेख है। लेकिन उसे रासोकार नहीं माना। इसका मतलब है कि सम्वत् १६३५

तक प थ्वीराज के वंशजों को भी प थ्वीराज रासो का पता नहीं था। उधर मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने 'गंगभाट' रचित ''चन्द-छन्द वर्णन की महिमा'' ग्रन्थ का उल्लेख किया है। श्री नरोत्तम स्वामी का अनुमान है कि अकबर की अधीनता स्वीकार करते समय मेवाड़ के राजघराने ने अपने गौरव व द्धि के लिए प थ्वीराज से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। तदर्थ उन्होंने प थ्वीराज की प था नामक बहन की भी कल्पना की। इस प्रकार परम्परागत प थ्वीराज रासो को फिर से लिपिबद्ध करवाया गया। रासो संग्रह का यह कम अनेक पीढ़ियों तक चलता रहा।

५. **पुरातन प्रबन्ध संग्रह**- मुनि जिन विजय ने 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक रचना का सम्पादन किया है। इसमें दो प्रबन्ध ऐसे है। जिनका सम्बन्ध प थ्वीराज और जयचन्द से है। इन दोनों प्रबन्धों में तीन छन्द ऐसे भी हैं जो नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प थ्वीराज रासो में भी उपलब्ध होते हैं। इन प्रबन्धों के कारण चन्द और प थ्वीराज रासो के समय ने एक नया मोड़ ले लिया। मुनि जिन विजय का कहना है- ''उस संग्रह के उक्त प्रकरणों में जो तीन-चार प्राक त भाषा के पद्य उद्‌ध त किए हैं उनका पता हमनें उक्त रासो में लगाया है ओर इन चार पद्यों में तीन पद्य यद्यपि विक त रूप में है लेकिन शब्द उनमें हमें मिल गए हैं।'' मुनि जिन विजय के इस कथन से प्रमाणित होता है कि चन्द एक ऐतिहासिक पुरुष था। और वह दिल्ली के हिन्दू सम्राट प थ्वीराज का समकालीन कवि था उसी ने प थ्वीराज के यश का वर्णन करने के लिए प्राक त भाषा में प थ्वीराज रासो नामक ग्रंथ की रचना की।

परन्तु यदि इन छन्दों का ध्यान से निरीक्षण किया जाए तो स्वतः ज्ञात हो जाता है कि जो चार छन्द उक्त प्रबन्धों में है और कवि चन्द के नाम से जोड़े गए हैं, उनमें से दो जयचन्द प्रबन्ध वाले चन्द के न होकर जलल्ह हैं। अतः इस आधार पर कवि चन्द का समय निर्धारित नहीं किया जा सकता।

रासो के लघुत्तम रूपान्तर की दो प्रतियां प्राप्त हुई है। इन दोनों में प थ्वीराज प्रबन्ध का **''अगह मगह दाहिमउ''** वाला छन्द प्राप्त नहीं होता। केवल रासो के मध्यम तथा ब हद् रूपान्तरों में यह छन्द मिलता है। ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध किया जा सकता है कि मूल रासो का पाठ था वर्तमान मूल रूपान्तर में कम से कम चार पीढ़ियों का अन्तर है। इन चार पीढ़ियों में अन्तर को ध्यान में रखें तो रासो के मूल पाठ का समय सम्वत् १४०० के लगभग हो सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि रासो की रचना प थ्वीराज के समकालीन नहीं हो सकती, क्योंकि उसकी प्रक्षिप्त गति के पाठ में कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन है जो इतिहास सम्वत् नहीं है। पुनः उसकी भाषा में अनेक ऐसे शब्द भी आते हैं जो प थ्वीराज के काल के नहीं हो सकते। अतः प थ्वीराज रासो का रचनाकाल सम्वत् १४०० के आसपास माना जाना चाहिए।

यह सब होने पर भी हमें इस तथ्य को स्वीकारना होगा कि प थ्वीराज रासो कोई इतिहास ग्रन्थ न होकर काव्य रचना है। सम्भवतः कवि ने इसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण कर किया है। पहले बताया जो चुका है कि इस रचना के चार रूपान्तर प्राप्त हुए हैं जिनमें समय-समय पर प्रक्षिप्त अंश जुड़ते रहे हैं जिसके फलस्वरूप इस महान् काव्य ग्रंथ के रचयिता और रचनाकाल के बारे में अनेक शंकाएं उठाई जा रही हैं। फिर भी इस रचना के अनुशीलन से हम तत्कालीन रानैतिक, सामाजिक तथा सांस्क तिक परिस्थितियों का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

४. प थ्वीराज रासो का महाकाव्यत्त्व

महाकाव्य की परिभाषा को समझने से पहले हमें काव्य के विभिन्न भेदों को जानना चाहिए। ऐन्द्रिय अनुभूति के आधार पर काव्य के दो भेद हैं- श्रव्य काव्य, द श्य काव्य। **श्रव्य काव्य** से हम सुनकर या पढ़कर काव्यानन्द प्राप्त करते हैं लेकिन द श्य काव्य में आंखों से देखकर। शैली के आधार पर श्रव्य काव्य के तीन भेद हैं- गद्य,पद्य और चम्पू।

गद्य काव्य में पद्य का अभाव होता है। उसमें लय तथा संगीत नहीं होता। उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि गद्य काव्य के अन्तर्गत समाहित किए जाते हैं। परन्तु जिनमें संगीत लय होता है उन्हें पद्य काव्य कहा जाता है। प्रबन्ध की द ष्टि से काव्य के दो भेद हैं-प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबंध काव्य में धारावाहिक के रूप में कथा का वर्णन रहता है। उसके पद्यों में पूर्वापर सम्बन्ध होता है। मुक्तक काव्य में न तो कथा होती है और न उसके पद्य में कोई सम्बन्ध होता है, बल्कि उसका प्रत्येक पद्य अपने आप में स्वतंत्र होता है। आगे चलकर विस्तार की द ष्टि से प्रबन्ध के भी दो भेद हैं-

महाकाव्य और खण्डकाव्य- महाकाव्य में जीवन का सर्वांगीण और विस्त त वर्णन रहता है। इसमें विषय की व्यापकता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। किन्तु खण्ड काव्य जीवन के किसी एक अंश को आधार बनाकर लिखा जाता है। उसमें न तो कथा की व्यापकता होती है और न ही आकार की दीर्घता।

१. महाकाव्य का स्वरूप

भारतीय चिन्तन- संस्क त के आचार्यो में भामह, दण्डी, उद्भट्ट, रुद्रट तथा आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य की परिभाषाएं दी हैं। सर्वप्रथम महाकाव्य शब्द का प्रयोग बाल्मीकि रामायण में हुआ है। जब लव और कुश ने रामायण का पाठ किया तब श्रीराम ने उनसे तीन प्रश्न किए-

१ इस महाकाव्य का विस्तार कितना है ?

२. इसमें किस महात्मा की प्रतिष्ठा है ?

३. इसका रचयिता श्रेष्ठ मुनि कहा है ?

इससे स्पष्ट होता है कि महाकाव्य का आकार विशाल होता है। किसी महापुरुष का उसमें चित्रण होता है तथा उसका रचयिता श्रेष्ठ होता हैं आगे चलकर आचार्य भामह ने अपनी रचना 'सामान्य अश्वर' में महाकाव्य की परिभाषा दी, जिसमें उन्होंने सर्गबद्धता, उदात्त नायक, महत्त कार्य, जीवन के विविध रूपों का चित्रण, नाटकीयता, प्रभावान्विति की चर्चा की। भामह के बाद आचार्य दण्डी ने अपीन रचना सामान्य अश्वर में महाकाव्य के विस्त त रूप का विवेचन किया। दण्डी ने भी सर्गबद्धता, मंगलाचरण, ऐतिहासिक कथानक, चतुर्वर्ग फलप्राप्ति, धीरोदात्त नायक, प्रक ति वर्णन,श ंगार रस की योजन, अलंकार, सन्धि योजना और छन्द योजना आदि की चर्चा की। दण्डी के बाद आचार्य रुद्रट ने और फिर आनन्दवर्द्धन ने महाकाव्य की परिभाषाएं दी। परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने अपनी रचना 'साहित्य दर्पण' में महाकाव्य की एक विस्त त परिभाषा दी। बल्कि विश्वनाथ का मत तो महाकाव्य संबंधी अन्तिम मत है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य सम्बन्धी विवेचन इस प्रकार से है-

(क) महाकाव्य सर्गबद्ध हो, सर्ग न बड़े हो न छोटे। कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए। सर्ग का नामकरण उसके विषय वस्तु के आधार पर हों तथा उसके अन्त में भावी कथा की सूचना हो। सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन होना चाहिए।

(ख) कथानक इतिहास प्रसिद्ध अथवा कल्पना-जनित किसी महान् व्यक्ति पर आश्रित हो तथा उसमें नाट्य संधियों की योजना होनी चाहिए।

(ग) महाकाव्य का नायक ब्राह्मण, क्षत्रिय अथावा देवता होना चाहिए। साथ ही वह शूरवीर, धीरोदात्त आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।

(घ) श ंगार, वीर और शान्त में से कोई रस प्रधान हो तथा अन्य रस भी होने चाहिए।

(ड़) प्रक ति-चित्रण तथा जीवन से संबंधित अन्य प्रसंगों का रमणीय तथा स्वभाविक वर्णन होना चाहिए।

ख. **पाश्चात्य चिंतन**- भारतीय आचार्यो के समान पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य की परिभाषाएँ दी हैं, लेकिन इन परिभाषाओं में भिन्नता है। इनमें अरस्तु एम्बर क्राम्बी. सी. एस. बांवरा तथा डिक्सन आदि की परिभाषाएं उल्लेखनीय हैं। अरस्तु ने महाकाव्य की निम्नलिखित परिभाषा दी है- ''महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापारों का काव्यमय अनुकरण है जो स्वतः पूर्ण, गम्भीर, वर्णनात्मक, आद्यान्त एक छन्दोमय कार्य करने वाला, श्रेष्ठ चरित्र, सम्भवनीय कथानक लिए होता है तथा सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करता है।''

२. **सी. एस. बावरा के अनुसार**- ''महाकाव्य ब हदाकार, महत्त्वपूर्ण एवं गरिमामयी घटनाओं वाला कथात्मक काव्यरूप है। इसमें कुछ चरित्रों की विशेष प्रकार से आनन्ददायक क्रियाशील जीवन-कथा का वर्णन होता है। यह वर्णन मनुष्य की महत्ता,गरिमा और उपलब्धियों के प्रति आस्था का उत्पादक होता है।''

३. **एम्बर क्राम्बी के अनुसार**- ''बड़े आकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। महाकाव्य के लिए तदनुकूल शैली अपेक्षित है और यह शैली कवि की कल्पना, विचारधारा तथा उसकी अभिव्यक्ति से सम्बद्ध होती है। इस शैली के द्वारा ही पाठक एक ऐसे लोक में पहुंच जाता है जहाँ कुछ भी निस्सार तथा महत्त्व-शून्य नहीं होता। महाकाव्य के भीतर का उद्देश्य ही उसकी गति का आद्यान्त संचालन करता है।''

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषा के आधार पर महाकाव्य सम्बन्धी कुछ निश्चित तत्त्व निर्धारित किए जा सकते हैं। उन्हीं को आधार बनाकर प थ्वीराज रासो का महाकाव्य के रूप में विवेचन किया जा सकता है। यह तो निश्चित है कि रासो हिन्दी साहित्य का प्रथम महाकाव्य है। भले ही कुछ विद्वान उसे पूर्ण महाकाव्य न माने, लेकिन महाकाव्य सम्बन्धी कुछ विशेषताएं इसमें देखी जा सकती है। उनका विवेचन इस प्रकार से है-

१ **अनुकूल कथानक**- प थ्वीराज रासो का मूल कथ्य और कथानक इतिहास सम्मत है। लेकिन इसमें कल्पना और काव्य रूढ़ियों का इतना सम्मिलन है कि विद्वान इसकी ऐतिहासिकता पर संदेह करने लगे हैं। परन्तु हमें ध्यान रखना होगा कि रासो के चार संस्करण प्राप्त होते हैं। पुनः इस काव्य में लम्बे काल से प्रक्षिप्त अंश जुड़ते रहे हैं जिसके फलस्वरूप इसका मूल कथानक दब-सा गया है। लेकिन हमें यह स्वीकार करना होगा कि इसमें कल्पना का पर्याप्त समावेश हुआ है जो कि ऐतिहासिक काव्य के लिए आवश्यक भी है। अतः कथानक की द ष्टि से हम यह बात कह सकते हैं कि रासो का कथानक न केवल इतिहास प्रसिद्ध है, बल्कि जनसमाज में भी प्रचलित है। देश के विदेशी जातियों द्वारा पराजित किए जाने की यह कथा सदियों तक सुनी जाएगी।

२. **सौन्दर्य विधायक तत्त्व**-मंगलाचरण भी महाकाव्य का एक नितान्त आवश्यक तत्त्व है। ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगलाचरण की योजना रहती है। रासोकाल में भी इस परम्परा का

सर्वथा पालन किया है। रासो के आरम्भ में ही मंगलाचरण और सज्जन-स्तुति पढ़ने को मिल जाती है।

''ॐ. आदि देव प्रजम्य नग्य गुरयं बानीय वंदे नयं।
सिष्ट धारन धारयं बसुमती च लच्छीम चरनाश्रयं।।
नं गुं तिष्ठति ईस द ष्ट दहनं व सुरुनाथ सिद्ध श्रयं।
थिर चिर जंगम जीव यंदं नमच सर्वेस वर्दामयं।।''

इसी प्राकर से कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों का न केवल गुणगान किया है, बल्कि उनकी काव्य रचना की प्रशंसा भी की है।

३. **अनुकूल सर्गबद्धता**- यह रचना पूर्णतया सर्गबद्ध है। इसमें न केवल प्रबन्ध की आवश्यकताओं का निर्वाह हुआ है बल्कि सर्गो मं उसका उचित विभाजन हुआ है। केवल लघुतम प्रति में सर्ग विभाजन नहीं मिलता, शेष तीनों रूपान्तरों में मिलता है। इन संस्करणों के सर्गो को देखकर यह स्वतः अनुमान लगया जा सकता है कि रासोकार की द ष्टि में सर्ग विभाजन का विशेष महत्त्व था। ये सर्ग संख्या पुनः आठ हैं। ये सर्ग प्रायः न तो छोटे हैं और न अतिदीर्घ। इतना अवश्य है कि लेखक ने सर्ग के स्थान पर समय शब्द का प्रयोग किया है।

४. **आदर्श नायक**- प थ्वीराज रासो का नायक धीरोदात्त क्षत्रिय है। किसी महान् आदर्श के लिए वह जीवन के सुखों का त्याग करता है। वह एक वीर और प्रतापी राजा है। जब वह जयचन्द के राजसूय-यज्ञ में सम्मिलित नहीं हो जाता तो जयचन्द दरबान के रूप में उसकी स्वर्ण प्रतिमा को प्रतिष्ठापित करता है। इसका बदला लेने के लिए वह न केवल राजसूय यज्ञ में जाता है अपितु अपनी प्रेमिका संयोगिता को भी उठाकर लाता है। वह शहाबुद्दीन को दो बार हराकर उसे अभयदान देता है, लेकिन तीसरी बार पराजित हो जाता है। अतः प थ्वीराज में धीरोदात्त नायक के अभी गुण देखे जा सकते हैं। युग परिवेश के सन्दर्भ में प थ्वीराज को एक सफल नायक कहा जा सकता है।

५. **प्रभावी रस योजना**- महाकाव्य में श ंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस प्रधान होना चाहिए और शेष रस अंगीक रूप में होने चाहिए। रासो का प्रमुख रस वीर है। यह अन्य रसों तथा श ंगार से परिपुष्ट हुआ है। रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि रस की इसमें वर्णित है। वीर का स्थायी भाव उत्साह होता है और उत्साह का जैसा पूर्ण और परिष्क त चित्र इस रचना में मिलता है। वह अन्यत्र दुर्लभ है। अतः महाकाव्य के रस संबंधी लक्षण इसमें पूर्ण रूप से घटित हुए हैं।

६. **महत् उद्देश्य**- महाकाव्य के लिए चतुर्वर्ग फलप्राप्ति अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक की प्राप्ति होनी चाहिए। रासो का उद्देश्य धर्म-प्राप्ति है। धर्म के लिए ही नायक युद्ध में कूद पड़ता है। नायक ने पहला युद्ध संयोगिता के प्रेमानुष्ठान तथा अपने मान के लिए किया। दूसरा युद्ध उसने देश की रक्षा के लिए किया। यद्यपि बीच में संयोगिता के साथ नायक का केलि विलास भी वर्णित हुआ है। यह प्रसंग काम से संबंधित है। लेकिन रचनाकार यह सिद्ध करना चाहता है कि भोग-लिप्सा नायक के लिए कितनी हानिकारक सिद्ध होती है। अन्त में कवि चंद अधर्मी, शत्रु का संहार कर देश की रक्षा करने का उद्देश्य भी प्रकट करता है। कुल मिलाकर धर्म की प्राप्ति ही इस रचना का प्रमुख उद्देश्य है और इस द ष्टि से कवि को सफलता भी मिली है। वैसे रासोकार लिखता भी है-

''पविहि सुअरथ अरू धम्य काय।
निरमान मोष पावहि साध्य।।''

६. **प्रेरक प्रक ति चित्रण**- प थ्वीराज रासो अपने प्रक ति वर्णन तथा वस्तु वर्णन के लिए काफी प्रसिद्ध है। इसमें प्रक ति का आलम्बन तथा उद्दीपन रूप में वर्णन किया गया है। नगर, नदी, पर्वत, रात्रि, दिन,प्रातः,सायं, वन, सरोवर आदि का वर्णन बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। प्रक ति का स्वतन्त्र रूप में चित्रण इस काव्य में थोड़ा ही मिलता है। अधिकतर उसका प्रयोग उद्दीपन रूप में किया गया है। कहीं-कहीं तो रासोकार ने प्रक ति चित्रण में नामपरिगमणन शैली को अपनाया है जिसमें रसानुभूति के स्थान पर नीरसता उत्पन्न हो गई है। लेकिन वस्तु वर्णन की द ष्टि से यह काव्य अभूतपूर्व है। कवि ने युद्ध सज्जा तथा युद्ध वर्णन की जो योजना की है वह प्रभावशाली है। सामान्य प्रक ति वर्णन का एक उदाहरण देखिए-

''कांती भार पुरा पुनर्मद गजं शाखा न गंडस्थलं।
उच्छं तुच्छं तुरा स राशि कमनं कीरं कुंभ निद्वादलं।
मधुरे साह सकाइता अलिकुलं कुंजार गुंजा तहा।
तरुणो प्राण लटापटा पगपगं जयराज संप्रापता।।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प थ्वीराज रासो हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। जिसमें आदर्श नायक के साहसी चरित्र को दर्शाते हुए आकर्षक रसपाक हुआ है। इसमें महाकाव्य के अधिकांश गुण परिलक्षित होते हैं।

५. प थ्वीराज रासो की प्रमाणिकता

'प थ्वीराज रासो' के रचियता चन्दबरदायी माने जाते हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान गार्सा द तासी चन्द को प थ्वीराज का समकालीन मानते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये प थ्वीराज के साथ वि० सं० १२०६ में पैदा हुए थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चन्दबरदायी का समय संवत् १२२५-१२४६ माना है। वे इन्हें हिन्दी का प्रथम महाकवि तथा प थ्वीराज का राजकवि,सखा एवं सामन्त मानते हैं।'रासो' के अनुसार ये जगति गोत्र के भटट् ब्राह्मण थे। इनका जन्म लाहौर में और पालन-पोषण अजमेर में हुआ। चन्द का परिचय देते हुए मिश्र बन्धुओं ने लिखा है, महाकवि चन्दबरदाई वास्तव में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं। इनके पहले भी भुवाल, पुषी आदि कवि हो गये हैं, परन्तु नाम सुनने के अतिरिक्त उन सबकी रचना आदि पढ़ने का हम लोगों को सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। चन्दबरदाई की कविता से प्रकट होता है कि यह प्रौढ़ रचना है और छन्द आदि की रीतियों पर चलते थे और स्वयं इन्होंने हिन्दी-काव्य-रचना की नींव डाली। मिश्र बन्धुओं के अनुसार ये प थ्वीराज के साथ रहा करते थे। इनका जीवन प थ्वीराज से अभिन्न था। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गौरी प थ्वीराज को बन्दी बनाकर गजनी ले गया, तब चन्द भी वहां पहुँचे और 'रासो' का लेखन-कार्य अपने पुत्र जल्हण को सौंप गये-

'पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन न प काज'

ऐसा कहा जाता है कि गजनी में प थ्वीराज ने चन्द के संकेत पर बाण चलाकर गोरी की हत्या कर दी, तत्पश्चात् चन्द और प थ्वीराज ने परस्पर कटार मार कर आत्मोत्सर्ग किया।

कुछ विद्वानों के अनुसार चन्दबरदाई ने अपना दो विवाह किया था उनकी पत्नियों के नाम थे-कमल और गौरी। इन दोनों पत्नियों से दस पुत्रों का जन्म हुआ था। इन सबमें जल्हण अधिक गुणाढ्य एवं विद्वान् था। कहा जाता है कि जल्हण ने चन्दबरदाई के अधूरे महाकाव्य को पूर्ण किया था।

रघुनाथ चरित हनुमन्त क त, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द क त,चन्द उद्धरिय तिमि।।

महाकवि चन्दबरदाई द्वारा रचित 'प थ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम प्रबन्धात्मक महाकाव्य है। यह चौहान कुल-भूषण प थ्वीराज के जीवन-गौरव की गाथा है। इसके निम्नलिखित चार संस्करण प्रसिद्ध हैं-

१ व हत् रूपान्तर- इसकी कुछ प्रतियाँ उदयपुर-राज्य पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इसके ६६ समयों में १६,३०६ छंद हैं। इस रूपान्तर की सभी प्रतियाँ सं० १७५० वि० के बाद की लिखी हुई हैं।

२. मध्य रूपान्तर- पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने इस रूपान्तर को प्रामाणिक मानकर प्रकाशित कराया है। इसकी छंद संख्या सात हजार मानी जाती है। इसमें प्रायः सभी अध्यायों का नाम 'प्रस्ताव' मिलता है।

३. लघु रूपान्तर- इसकी चार प्रतियों में से तीन प्रतियाँ बीकानेर राज्य के 'अनूप संस्क त पुस्तकालय' में और एक श्री नाहटा के पास है। इनमें १६ समय हैं और ३५०० श्लोक हैं। इसमें अध्यायों को 'खण्ड' कहा गया है।

४. लघुतम रूपान्तर- यह रूपान्तर श्री अगरचन्द नाहटा के द्वारा खोजा गया है। इसका लिपिकाल सं० १६६७ वि० माना जाता है। श्लोक संख्या १३०० है, किन्तु भाषा अपेक्षाक त प्राचीन है।

प्रमाणिकता की समस्याएँ

प्रामाणिकता- अप्रामाणिकता की द ष्टि से 'प थ्वीराज रासो' सबसे अधिक आलोचना का विषय बना हुआ है। इसकी ओर विद्वानों का ध्यान, कर्नल टॉड के कारण आक ष्ट हुआ। कर्नल टाड की प्रशंसात्मक आलेचना से प्रभावित होकर अनेक विद्वानों ने इस ग्रंथ की भाँति-भाँति से महत्ता प्रतिपादित की, किन्तु डॉ० व्हूलर को जब 'प थ्वीराज विजय' नामक संस्क त काव्य मिला तो उसके आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐतिहासिकता की द ष्टि से 'रासो' अप्रामाणिक है। अब अधिकांश विद्वान इसे अप्रामाणिक मानते हैं। अब तक उपस्थित किये गये मतों को तीन वर्गो में रखा जा सकता है-

१ **प्रामाणिक रचना**- यह वर्ग 'रासो' को एक प्रामाणिक रचना मानता है। तथा चन्द को प थ्वीराज का समकालीन स्वीकार करता है। इस पक्ष के समर्थक हैं- पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मथुराप्रसाद दीक्षित तथा डॉ० श्यामसुन्दर दास आदि।

२. **अप्रामाणिक ग्रंथ**-यह वर्ग 'रासो' को सर्वथा अप्रमाणिक मानता है। तथा चन्द के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता है। डॉ० व्हूलर, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मुंशी देवीप्रसाद आदि इस मत के प्रबल समर्थक हैं।

३. **अर्द्ध-प्रामाणिक** रचनामुनि जिनविजय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, कविराज मोहनसिंह तथा आज के अधिकांश विद्वान् इस मत के हैं कि चन्दबरदाई नाम का कोई कवि अवश्य ही हुआ, उसने रासो नामक ग्रंथ भी लिखा और रासो के विभिन्न रूपों में कुछ अंश उस काल का अवश्य ही है।

रासो की ऐतिहासिकता पर जिन विद्वानों ने विचार किया है, उनमें श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा प्रमुख हैं। उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के 'कोशोत्सव स्मारक-संग्रह' में रासो पर ये लेख प्रकाशित कराया है, जिसमें अनेक तर्क उपस्थित किये हैं। जो लोग 'रासो' को अप्रामाणिक रचना मानते हैं, उनके तर्क निम्नलिखित हैं:

१ रासो में परमार, चालुक्य ओर चौहान क्षत्रिय अग्नि वंशी माने गये हैं, जबकि प्राचीन ग्रंथों और शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं।

२. चौहानों की वंशावली, प थ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम आदि ऐतिहासिक शिलालेखों तथा 'प थ्वीराज विजय' नामक ग्रंथ से मेल नहीं खते। प थ्वीराज की माँ अनंगपाल की लड़की नहीं थी और नही जयचन्द अनंगपाल का दौहित्र तथा राठोरवंशी था। जयानक ने प थ्वीराज के पिता का नाम सोमेश्वर और माता का नाम कर्पूरी देवी (चेदि नरेश की पुत्री) लिखा है, जिसका समर्थन झाँसी के शिलालेख से होता है, किन्तु रासो के अनुसार उनकी माता का नाम कमला (अनंगपाल की पुत्री) सिद्ध होता है।

३. ओझा जी ने प थ्वीराज तथा जयचन्द की शत्रुता तथा संयोगिता-स्वयंवर की बात को भी अनैतिहासिक कहा है।

४. इतिहास के अनुसार अनंगपाल उस समय दिल्ली का राजा नहीं था और न ही प थ्वीराज को उसने गोद लिया था। प थ्वीराज अजमेर का शासक था, न कि दिल्ली का।

५. प थ्वीराज की बहन प था का विवाह मेवाड़ के राणा समरसिंह से नहीं हुआ था, क्योंकि शिलालेखों से यह प्रमाणित हो चुका है कि समरसिंह प थ्वीराज के पश्चात् १०६ वर्ष जीवित रहे।

६. गुजरात के राजा भीमसिंह का प थ्वीराज द्वारा वध भी अनैतिहासिक है, क्योंकि राजा भीमसिंह प थ्वीराज के पश्चात् ५० वर्षो तक जीवित रहे थे।

७. शहाबुद्दीन की म त्यु सम्बन्धी इतिव त्त भी कोरी कल्पना पर आधारित है, क्योंकि गोरी की म त्यु प थ्वीराज के हाथों नहीं, गक्खरों के हाथों से हुई।

८. रासो में प थ्वीराज के ११ वर्ष से लेकर ३६ वर्ष की आयु तक चौदह विवाहों का वर्णन है, जबकि इतिहास के अनुसार प थ्वीराज की म त्यु तीस वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गयी थी।

९. चन्दबरदाई के अनुसार प थ्वीराज का जन्म १०५८ गोद लिया जाना १०६१, कन्नौज १०६०, शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११०१ है, किन्तु दानपत्रों, शिलालेखों आदि के अनुसार तिथियाँ अशुद्ध ठहरती हैं।

१०. ग्रंथ की भाषा अव्यवस्थित है। उसमें संस्क त-प्राक त के अनुकरण पर अनुस्वारात स्वरों की बहुलता है। कहीं-कहीं भाषा का आधुनिक रूप भी मिल जाता है विशेषतः खड़ी बोली का रूप। उसमें अरबी-फारसी के भी बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है।

यदि उपर्युक्त मतों को ही अन्तिम प्रमाण मान लिया जाय, तो 'प थ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक रचना ही कहा जा सकता है।

रासो की प्रामाणिकता का पक्ष

'प थ्वीराज रासो' को प्रामाणिक मानने वालों में मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, डॉ० श्यामसुन्दर दास, मिरबनधु , ग्रियर्सन, कर्नल टॉड, गार्सा द तासी, डॉ० दशरथ शर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० शर्मा का एक लेख 'इण्डिया हिस्टारिकल क्वार्टरली, जि० १६,४ दिसम्बर, १६४० में प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने ओझा जी द्वारा प्रस्तुत तथ्यों का उत्तर देकर रासो की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

१ डॉ० दशरथ शर्मा का मत है कि श्री ओझा जी के तर्क नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

रासो पर ही आधारित हैं, उसके पश्चात् की रासो सम्बन्धी प्राप्त सामग्री से उनके तर्क निर्मूल प्रमाणित हो जाते हैं और रासो तथा चन्द का प थ्वीराज का समकालीन होना सिद्ध हो जाता है।

२. मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने लिखा है, ''यह महाकाव्य आज तक कवि चन्द का बारहवीं शताब्दी का रचा हुआ एक बड़ा प्रामाणिक ग्रंथ करके हमारे देश में प्राचीन काल से चला आता है, उस पर भी कुछ विद्वानों ने इसे अप्रामाणिक बताने की चेष्टा की है। जहाँ तक संवत् का प्रश्न है, वह मुसलमानी तवारीख और प्राप्त लेखों से नहीं मिलते क्योंकि उनमें ६०-६१ वर्षो का अन्तर पड़ता है। इसका कारण आनंद विक्रम साक(६१ वर्षो का अन्तर) है। अगर इसे उपर्युक्त ग्रंथ की तिथियों से जोड़ दिया जाय तो संवत् का भ्रान्ति दूर हो सकती है।..... जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, इसके आठ या दस भाग में फारसी शब्द है। इसका कारण यह है कि फारसी शब्दों का मेल हमारे भारतखण्ड की बोलचाल की भाषाओं में सातवें शतक से ही पाया जाताहै।''

३. मिश्र बन्धुओं ने लिखा है, ''प थ्वीराज-सम्बन्धी घटनाओं में गौरी का कई बार पकड़ा जाना लिखा है, पर इतिहास में ऐसा वर्णन एक ही बार मिलता है। इसका कारण है कि अधिकांश इतिहास मुसलमानों द्वारा लिखे गये हैं, जिन्होंने अपमान से बचने के लिए हार को कम करके लिखा है।'' अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है.....गोरी के आक्रमण के २०० वर्ष पूर्व से ही महमूद गजनवी की चढ़ाइयाँ होने लगी थीं और पंजाब का एक बड़ा भाग यवनों के अधिकार में चला गया था। अतः पंजाबी में मुसलमानी शब्दों का मिलना स्वाभाविक ही है। फिर चन्द का जन्म भी तो लाहौर में हुआ था।

४. 'साहित्य लहरी', 'चन्द-छंद वर्णन की महिमा' तथा ' भविष्य-पुराण' में चन्दबरदाई की जाति के भट्ट और प थ्वीराज के दरबारी-कवि होने का उल्लेख है।

रासो की अर्द्ध प्रामाणिकता

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मुनि जिनविजय आदि विद्वानों ने रासो को अर्द्ध प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है। डॉ० द्विवेदी ने लिखा है, '' इस काल (आदिकाल) की कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें हम अर्द्ध प्रामाणिक कह सकते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रंथ 'प थ्वीराज रासो' है।'' डॉ० द्विवेदी के अनुसार रासो की रचना शुक-शुकी के संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन सर्गो का आरम्भ शुक-शुकी संवाद से हाता है, उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिये। इस द ष्टि से विचार करने पर 'रासो' के निम्नलिखित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं-

१. आरम्भिक अंश, २. इच्छिनी-विवाह, ३. शशिव्रता का गन्धर्व-विवाह, ४. तोमर परिहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, ५. संयोगिाता का जन्म, विवाह तथा इच्छिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता।

रासो का काव्य-सौन्दर्य-'प थ्वीराज रसो' हिन्दी साहित्य का आदि महाकाव्य है, जिसमें मानव-चेतना की अनुभूति की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। यही कारण है कि इस ग्रंथ में भाव-पक्ष एवं कलापक्ष का मणिकांचन संयोग हुआ है।

इस ग्रंथ में प थ्वीराज चौहान की वीरता का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसमें उनके जन्म से लेकर म त्यु-पर्यन्त संघर्ष एवं युद्ध की कहानी है। यह मूलतः वीररस प्रधान महाकाव्य है, किन्तु नव रसों की एकसाथ सुन्दर व्यंजना हुई है। ग्रंथ के 'आदि पर्व' में ही इसकी ओर संकेत मिल जाता है -

उक्ति धर्म बिसालस्य, राजनीति नवं रवं।
षट्भाषा पुराणं च, कुरानं कथितं मया।।

रासो में अलंकारों की सुन्दर छटा द ष्टिगोचन होती है। शब्दालंकारों में अनुप्रास एवं अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा का बाहुल्य है। इस ग्रंथ में लगभग ७२ प्रकार के छंदों का प्रयोग सफलतापूर्वक देखा जा सकता है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है, 'उपयुक्त अलंकारों, उपयुक्त शब्दावली, उपयुक्त छंदों आदि के प्रयोग से उनकी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ी है। भावावेग के साथ-साथ उनकी रचना में भाषा-प्रवाह भी देखने योग्य है।' रासो की भाषा के सम्बन्ध में कुछ निश्चय कहना कठिन है। श्री ग्राउज ने इसकी भाषा को सोलहवीं शताब्दी के साहित्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा कहा है। डॉ० भगीरथ मिश्रा इसे अपभ्रंश की रचना स्वीकार करते हुए लिखा है, ''प थ्वीराज रासो अपभ्रंश मात्र का काव्य है, अतः सहज संक्षेपों के अतिरिक्त भाषा का अक्खड़पन उसमें प्रतिपादित विषय और वर्णित भावों के कारण है।''

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि रासो एक जाली ग्रंथ नहीं है। उसमें अत्यधिक क्षेपक होने से उसका वास्तविक स्वरूप अवश्य ही विक त हो गया है, परन्तु जब तक कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति नहीं मिल जाती, तब तक उसके विषय में कुछ कहना कठिन ही होगा।

६. पद्मावती समयः कथानक परिचय

प थ्वीराज रासो चन्दबरदायी क त महाकाव्यात्मक ग्रंथ है। इसके ब हद् संस्करण में ६६ अध्याय हैं और कुल १६३०६ छंदों की योजना है। इसके प्रत्येक अध्याय में प थ्वीराज चौहान के जीवन से संबंधित कथा का वर्णन है। उसी कथा के आधार पर अध्याय का नामकरण किया गया है। अध्याय के लिए समय, खण्ड, प्रस्ताव आदि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है, लेकिन ब हद् रूपान्तर के खण्डों के लिए समयों अथवा समय शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। पद्मावती समय प थ्वीराज रासो का बीसवां अध्याय है। इसमें रासो के नायक दिल्ली के राजा प थ्वीराज चौहान और समुद्रशिखर के राजा विजय की पुत्री राजकुमारी पद्मावती के पारस्परिक प्रेम और विवाह का वर्णन किया गया है। 'पद्मावती समय' के कथांनक का संक्षिप्त रूप इस प्रकार से है-

१ **राजा विजय और पद्मावती संदर्भ**- दिल्ली के पूर्व दिशा में समुद्र शिखर नाम का एक विशाल किला था। वहां पर विजय नाम का राजा राज्य करता था। वह अनेक किलों का स्वामी तथा यादव वंश का शक्ति शासक था। उसके पास अपार धन-वैभव, विशाल चतुरंगिणी सेना और विशाल राज्य था। बड़े-बड़े वीर और प्रतापी राजा उसकी सेवा में लगे रहते थे। उसी के समान उसके दस पुत्र तथा एक पुत्री थी। उसकी सुंदर रानी का नाम पद्मसेन था। उसी ने पद्मावती नाम की एक सुंदर कन्या को जन्म दिया। पद्मावती चन्द्रमा की सोलह कलाओं के समान अनित्य सुन्दरी थी। रति के समान वह सबको मोह लेती थी। पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता आदि सभी उसके सौन्दय को देखकर आसक्त हो जाते थे। उसमें सभी शुभ लक्षण थे। शारीरिक सौन्दर्य के अतिरिक्त वह ६४ कलाओं,१४विद्याओं और चारों वेदों के अध्ययन में भी प्रवीण थी। अभी उसने वयःसंधि को प्राप्त किया था। परन्तु वसन्त की शोभा के समान वह सभी के मनों में आनन्द तथा उल्लास उत्पन्न कर देती थी।

२. **पद्मावती और शुक मिलन**- एक दिन पद्मावती अपनी सखियों के साथ राजमहल के उद्यान में क्रीड़ा कर रही थी। अचानक उसने वहां एक शुक को देखा। वह उसे देखकर प्रसन्न हो गई। परन्तु शुक पद्मावती के लाल होठों को बिम्बा फल समझ कर उसकी ओर झपटा। पद्मावती ने तत्काल उसे पकड़ लिया और राजमहल में अपने साथ ले गई एक स्वर्ण पिंजरे

में उसने तोते को बन्द कर दिया। धीरे-धीरे पद्मावती शुक (तोते) के साथ घुल-मिल गई। वह दिन-भर का खेल कूद भूलकर उसी के साथ रमण करने लगी। धीरे-धीरे वह तोते को राम नाम का पाठ पढ़ाने लगी। उधर शुक पद्मावती के अप्रतिम रूप सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया था। उसने मन ही मन भगवान शंकर और पार्वती से प्रार्थना की कि इस पद्मावती का विवाह तो प थ्वीराज के साथ होना चाहिए। वह शुक बड़ा विद्वान् था। वह पद्मावती को नाना प्रकार की ज्ञानवर्द्धक कहानियां सुनाने लगा और पद्मावती भी तल्लीन होकर उसकी कथाओं को सुनने लगी।

३. **पद्मावती शुक-संवाद**- एक दिन पद्मावती ने शुक से पूछा कि तुम्हारा परिचय क्या है ? तू किस देश का निवासी है ? और वहां पर कौन राजा राज्य करता है? शुक ने पद्मावती को बताया कि वह दिल्ली का निवासी है। दिल्ली नाम का एक किला है जहां इन्द्र के अवतार के रूप में प थ्वीराज चौहान राज्य करते हैं। उसकी आयु १६ वर्ष है। वह सांभर नरेश सोमेश्वर का चौहान वंशी राजा हैं वह महान् वीर,योद्धा, तथा साहसी राजा हैं उसने गजनी के राजा शहाबुद्दीन को हराकर तीन बार बन्दी बनाया और उसकी प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया। उसके धनुष पर लोहे की जंजीर की डोरी चढ़ती है और वह अचूक शब्द-भेदी बाण चलाता है। वह राजा बलि के समान द ढ़-प्रतिज्ञ, कर्ण के समान दानी, राजा हरिश्चन्द्र के समान शीलवान्, विक्रमादित्य के समान न्यायप्रियश तथा दैत्य के समान बलशाली है। उसके प्रचण्ड तेजस्वी चरित्र को देखकर लगता है मानो वह साक्षात् कामदेव का अवतार है।

शुक के मुख से प थ्वीराज के रूप-सौन्दर्य और वीरता का वर्णन सुनकर पद्मावती प थ्वीराज से प्रेम करने लगी। बाल्य अवस्था की क्रीड़ाओं को पार कर पद्मावती ने यौवनावस्था में कदम रखा। यह देखकर माता-पिता को उसके योग्य वर खोजने की चिंता समाने लगी। राजा विजय ने अपने कुल पुरोहित को बुलवाकर आदेश दिया कि वह किसी शीलवान् तथा श्रेष्ठ राजकुमार के साथ पद्मावती की सगाई पक्की कर दे। राजा ने कुल पुरोहित को शगुन का सामान देकर विदा कर दिया। यह समाचार सुनकर सारे नगर में आनन्द और उल्लास छा गया। उधर कुल पुरोहित योग्य वर को खोजता हुआ शिवालिक पर्वत की तलहटी में कुमायूं नामक किले में जा पहुंचा। वहां के राजा का नाम कुमोदमणि था। उसके पास भी अपार धन सम्पत्ति तथा विशाल सेना थी। कुल पुरोहित ने उसी के साथ पद्मावती की सगाई पक्की कर दी।

४. **कुमोदमणि का प्रस्थान**- कुछ समय के बाद कुमोदमणि अपने अनेक अधीन राजा और गणपतियों को लेकर एक विशाल बारात सजाकर बड़ी धूम-धाम से समुद्रशिखर की ओर चल पड़ा। उसके साथ सेना के दस हजार धुड़सवार, ५०० हाथी और असंख्य पैदल सैनिक थे। ये समाचार सुनकर समुद्र शिखर दुर्ग में शहनाईयां और मंगल वाद्य बजने लगे। बारात के स्वागत के लिए असंख्य मण्डप और तोरन बनाए गए। विवाह की तैयारियां देखकर पद्मावती का मन व्याकुल हो उठा। उसने एकान्त में शुक को कहा कि वह दिल्ली जाकर प थ्वीराज को यहां आने का निमन्त्रण दे आए। उसने यह भी कहा कि जब तक मेरे प्राण रहेंगे तब तक प थ्वीराज ही मेरे प्रिय बने रहेंगे। उसने तोते को एक पत्र भी लिखकर दिया जिनमें विवाह की तिथि लिखी हुई थी। उस पत्र में उसने यह भी लिखा था कि जिस प्रकार श्रीक ष्ण ने रुक्मिणी का हरण किया था, उसी प्रकार तुम नगर के शिव मन्दिर से प्रातःकाल मेरा हरण कर लेना। पत्र लेकर शुक ने तत्काल दिल्ली के लिए प्रस्थान किया।

५. **शुक प थ्वीराज मिलन**- पद्मावती का पत्र लेकर वह शुक वायुवेग से दिल्ली की ओर उड़ने लगा। तत्काल उसने वह पत्र प थ्वीराज को दे दिया। पत्र पढ़ते ही प थ्वीराज ने अपने प्रधान

सेनापति चमुंडराय को दिल्ली गढ़ का भार सौंप दिया और स्वयं असंख्य शूर-वीरों, सामन्तों, ३०० सैनिकों तथा कवि चंद के साथ समुद्रशिखर के लिए चल पड़ा। जिस दिन राजा कुमोदमणि अपनी बारात के साथ समुद्रशिखर द्रुर्ग में पहुंचा। उसी दिन प थ्वीराज भी गुप्त रूप से वहां पहुंच गया था। दुर्भाग्य से बादशाह शहाबुद्दीन गौरी को भी प थ्वीराज की इस यात्रा का पता चल गया। भयंकर योद्धाओं से युक्त अपनी सेना को सजाकर वह प थ्वीराज के लौटने के मार्ग पर वह प्रतीक्षा करने लगा। इधर चंदबरदाई ने भी प थ्वीराज को गोरी के इस अभियान की सूचना दे दी।

६. **युद्ध वर्णन**- राजा कुमोद्मणि की बारात के आने के समाचार को सुनकर समुद्रशिखर के सभी पुत्र बारात के स्वागत की तैयारियां करने लगे। नगर की सभी स्त्रियां बारात देखने के लिए अपने-अपने छज्जों में सुशोभित हो रही थी। अचानक शुक ने आकर प थ्वीराज के आगमन की उसे सूचना दी। यह समाचार सुनते ही पद्मावती आनंदित हो उठी। उसने मैले वस्त्र त्यागकर स्नान किया और सोलहश्ंगार करके पूजा करने के लिए शिव मन्दिर में गई मन्दिर में पहुंच कर उसने शंकर-पार्वती की प्रार्थना की तथा चारों ओर प्रदक्षिणा करके उन्हें प्रणाम किया। वहां उपस्थित प थ्वीराज को देखकर वह मन्द-मन्द मुसकाई और उसने मुख को घुंघट से ढक लिया। प थ्वीराज ने पद्मावती का हाथ पकड़कर उसे अपने घोड़े पर बिठा लिया और दिल्ली की ओर रवाना हो गया। पद्मावती हरण का समाचार शीघ्र ही राजा विजय को मिल गया। परिणामस्वरूप समुद्रशिखर नगर में युद्ध के नगाड़े बजने जगे। हाथी घोड़ों की विशाल सेना प थ्वीराज का पीछा करने लगी। राजा विजय और कुमोदमणि दोनों की सेनाओं ने जाकर प थ्वीराज को घेर लिया। फलतः प थ्वीराज ने मुड़कर अपनी सेना के साथ दोनों राजाओं का सामना किया। इस भयंकर युद्ध में दोनों ओर से बाणों की वर्षा होने लगी और योद्धा कट-कटकर गिरने लगे। अन्ततः कुमोद्मणि के सभी योद्धा मारे गए और विजय प्राप्त करके प थ्वीराज दिल्ली की ओर चल पड़ा।

७. **प थ्वीराज और गौरी-युद्ध वर्णन**- इसी बीच गौरी प थ्वीराज की प्रतीक्षा कर रहा था। वह प थ्वीराज का रास्ता रोककर खड़ा हो गया। उसकी सेना के पास विभिन्न प्रकार के हथियार थे। तोप, तलवार, बन्दूक, धनुष बाण आदि से सजी उसकी सेना बड़ी भयंकर लग रही थी। उसकी सेना का एक-एक योद्धा हजार शत्रुओं का सामना करने में समर्थ था। स्वयं गौरी अपनी सेना का संचालन कर रहा था। शीघ्र ही गौरी की सेना ने प थ्वीराज को चारों ओर से घेर लिया। युद्ध क्षेत्र में बड़े-बड़े नगाड़े बजने लगे और दोनों पक्षों के योद्धा आपस में लड़ने लगे। प थ्वीराज ने एक हाथ में घेड़े की लगाम पकड़ी और दूसरी हाथ में तलवार लेकर वह शत्रुओं पर टूट पड़ा। काफी समय तक यह भयंकर युद्ध चलता रहा। काफी समय तक यह निर्णय करना कठिन था कि कौन हारेगा और विजयी होगा। समूचा युद्ध क्षेत्र हाथी, घोड़ों और सैनिकों के कटे अंगों से भर गया था।

७. **प थ्वीराज की विजय**- युद्ध में निर्णय न होता देखकर प थ्वीराज क्रोधित हो उठे। वे तलवार के साथ शुत्रुओं पर ऐसे टेट पड़े जैसे सिंह हाथी के झुण्ड पर टूट पड़ता है। प थ्वीराज ने अपनी तलवार से शत्रु के हाथियों के मस्तक फाड़ दिए। परिणाम यह हुआ कि युद्ध क्षेत्र में भगदड़ मच गई। हाथी उलटकर अपनी सेना को कुचलने लगे। उस समय युद्ध क्षेत्र में इतनी धूल उड़ी कि दिन के समय ही रात हो गई। प थ्वीराज चौहान ने अचानक शहाबुद्दीन गौरी की गर्दन में अपना धनुष डालकर उसे पकड़ लिया। ऐसा लगा मानो बाज ने झपटा मारकर चिड़िया को पकड़ लिया हो। इस प्रकार प थ्वीराज गौरी को कैद करके उसकी सेना को चीरता हुआ आगे बढ़ गया। इस युद्ध में गौरी के ५०० सरदार मारे गए और प थ्वीराज के ५० योद्धा वीर-गति

को प्राप्त हुए। युद्ध क्षेत्र में प थ्वीराज को पूर्ण विजय प्राप्त हुई अन्ततः वह बन्दी गौरी को साथ लेकर दिल्ली की ओर चल पड़ा।

८. **प थ्वीराज और पद्मावती विवाह**- प थ्वीराज पद्मावती और गौरी के साथ दिल्ली पहुंचा। यहां से वह दिल्ली के पास स्थित अष्टभुजा देवी के मंदिर गया। वहां उसने ब्राह्मणों को बुलवाकर अपने विवाह का शुभ मुहूर्त निकलवाया। शुभ मुहूर्त में वेद मंत्रों के उच्चारण के बीच प थ्वीराज और पद्मावती का विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् प थ्वीराज ने शहाबुद्दीन को ८००० सुन्दर घोड़े देने का दण्ड दिया। इसके पश्चात् प थ्वीराज षट्वेषी याचकों को दान देकर अपने दुर्ग में चला गया। यह सब देखकर प थ्वीराज के सभी सामन्त अत्यधिक प्रसन्न हुए और नगर में आनन्द के नगाड़े बजने जगे। चन्द्रमुखी और म गनयनी सुंदरियों ने सोने के थाल में आरती सजाकर प थ्वीराज और पद्मावती का स्वागत किया। इस अवसर पर मंगल गीत गाए और राजा के सिर पर मुकुट रखकर तिलक किया गया। इस प्रकार विवाह कार्य सम्पन्न करके प थ्वीराज अपनी पत्नी पद्मावती के साथ दुर्ग में प्रवेश कर गया।

७. 'पद्मावती समय' का भाव पक्ष

'पद्मावती समय' चन्दबरदाई क त प थ्वीराज रासो का एक महत्त्वपूर्ण अंश है। यद्यपि प थ्वीराज रासो को कुछ विद्वानों ने ऐतिहासिक वीर गाथात्मक काव्य माना है, लेकिन इसमें कल्पना तत्त्व का इतना अधिक समावेश हो गया है कि उसका इतिहास पक्ष पूर्णतः दब गया है। वस्तु-वर्णन की द ष्टि से प थ्वीराज रासो और पद्मावती समय एक उल्लेखनीय रचना मानी जाती हैं काव्य-शास्त्र की द ष्टि से वस्तु-वर्णन को महाकाव्य का एक गुण माना गया है। समूचा रासो काव्य वर्णनों का भण्डार है। अतः पद्मावती समय कोई अपवाद नहीं है। इसमें भी हमें वस्तु-वर्णन के अनेक स्थल देखने को मिल जाते हैं। भले ही 'पद्मावती समय' प थ्वीराज रासो का ही एक अंश है, लेकिन इसे खण्ड काव्य कहना अधिक उचित होगा। पद्मावती समय के वस्तु वर्णन को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचित किया जा सकता है-

१ **प थ्वीराज संदर्भ**- जहां तक वस्तु वर्णन का प्रश्न इस काव्य रचना के पांचवें पद्य में ही वह शुरु हो जाता है। पद्मावती ने ही सर्वप्रथम शुक से उसका परिचय पूछा। उत्तर के रूप में शुक प थ्वीराज का वर्णन करता हुआ कहने लगा कि हिन्दुस्तान में दिल्ली गढ़ नामक एक नगर है। वहां इन्द्र का अवतार चौहान-वंशी, अत्यन्त वीर और बलवान राजा प थ्वीराज है। 'तहं प थिराज सुर सुभार' दिल्ली नगरी के राजा के वंश की गौरव-गाथा का वर्णन करता हुआ वह कहता है-

'संचरि नरेस चहुआंन थानं, प थिराज तहं बाजंत भानं।
बैसह बरीस षोडस नरिदं, पूत, आजानु बाहु भुअजोक यंदं।।
संभरि नरेस सोमेस पूत, देवंत रूप अवतार दूत।
तासु मंसूर सब्बै अपार भूजानं भीम जिम सार भार।।

शुक पद्मावती को यह भी बताता है कि प थ्वीराज इतना शक्तिशाली राजा है कि उसने शहाबुद्दीन गौरी को तीन बार पकड़ लिया था और उसकी प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया था। यही नहीं वे अचूक शब्द-भेदी बाण को चलाने का भी सामर्थ्य रखते हैं।

२. **सैन्य-वर्णन**- 'पद्मावती समय' में कवि ने जो सेना का वर्णन किया है वह वीर भाव को उद्दीप्त करने वाला है। इसमें कवि की वीर रस प्रवणता देखने को मिलती है। एक स्थल पर कवि ने शहाबुद्दीन गौरी की सेना का जो वर्णन किया है, वह बड़ा ही आकर्षक बन पड़ा है।

कवि लिखता है कि-

''क्रोध जोध जोधा अनंत किरिय पन्ती अनि-राज्जिय।
बान नालि हथ्थनालि तुपक तीरह, सब रज्जिय।।
पब्बै पहार मनो सारूं के, भिरि भुजान गपनेस बल।
आए हकारि हकारि भुरि, षुरासान सुलतान दल।।''

इन पंक्तियों में क्रोधित योद्धाओं के समूह, चिंघाड़ते हुए हाथियों, धनुष बाण, तोप आदि से सुसज्जित सेना का यथार्थ वर्णन किया गया है। कवि ने अनेक स्थलों पर सैन्य सज्जा और योद्धाओं की मनोव त्तियों का उल्लेख किया है। कवि यह भी स्पष्ट करता है कि शहाबुद्दीन की सेना में खुरासानी, कंधारी, तुर्की, फिरंगी आदि सैनिक थे। इन सब की रूप-रचना अलग-अलग प्रकार की थी। यही नहीं, कवि ने सेना के अश्वों का भी बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन किया है। सेना के घोड़ों में ताजी, तुर्की, महावाणी, कमानी तथा वाजि आदि अनेक नस्लों के घोड़े थे। यथा-

''जहां बाग बाछ मरूरी रिछोरी।
धमं सार समूह अरू चौर झौरी।
एराकी, अदब्बी, पटी, तेज, ताजी।
तुरक्की, महावन, कम्मान बाजी।।''

३. **युद्ध-वर्णन**- प थ्वीराज रासो युद्ध-वर्णन के लिए हिन्दी साहित्य में एक उल्लेखनीय रचना मानी जाती है। क्योंकि पद्मावती समय रासो का ही एक खण्ड है, अतः इसमें भी शहाबुद्दीन गौरी और प थ्वीराज चौहान के युद्ध का सजीव वर्णन मिलता है। कुछ पद्यों में युद्ध की कियाओं का वर्णन इतना सूक्ष्म है कि पाठक उन्हें पढ़ते ही भाव-विभोर हो जाता है। युद्ध-वर्णन करते समय कवि भयानक और वीभत्स द श्यों क चित्र अंकित कर देता है। एक उदाहरण दर्शनिय है -

''न को हार मह जित्त, रहेइ न रहहि सुखर।
घर उप्पर भर परत करत अति जुद्ध महाभर।
कहौं कमध कहौं मध्य कहौं कर चर व अंतरूरि।
कहौं कंध बहि तेग, कहौं सिंर पुट्टि उर।।
कहौं देत मेत हम षुर षुपरि, कुंभ भसुंइह रूंड सब।
हिंदवान रांनभय भांन मुष गहइ तेग चहुआन जबु।।

उपर्युक्त उदाहरण में कवि ने अन्तिम चार पंक्तियों में जुगुप्सा-जनक चित्र अंकित किया है। यहां भयंकर युद्ध का वर्णन है जिसमें असंख्य योद्धा मर-कट रहे हैं। कहीं तो योद्धाओं के कबन्ध पड़े हैं तो कहीं सिर पड़े हैं। हाथ-पांव कटकर अलग बिखरे पड़े हैं। किसी की अंतड़ियां पेट से बाहर निकल आई हैं तो किसी का कंधा अलग हो गया है। उधर प थ्वीराज के सैनिक शत्रुओं की सेना पर ऐसे टूट रहे हैं जैसे शेर हाथियों पर टूटते हैं। स्वयं प थ्वीराज एक सिंह के समान शत्रुओं पर आक्रमण कर देते हैं। जिसके फलस्वरूप शत्रु सेना में भगदड़ मच जाती है। सूंड कट जाने के कारण हाथी चिंघाड़ मारकर भाग रहे हैं जिसके फलस्वरूप युद्ध भूमि में खलबली मच गई है। उदाहरण दर्शनीय है-

''करी चीह चिक्कार करि कलप भग्गे।।
मंद तंयिं लाज ऊमग्ग मग्गे।।
दोरि गज अंध चहुआन केरो।
घेरियं गिरछ चिहों चक्क फेरो।।''

४. **सौन्दर्य-चित्रण**-'पद्मावती' समय नख-श्खि वर्णन के लिए भी एक उल्लेखनीय काव्य रचना है। समुद्रशिखर की राजकुमारी पद्मावती इस काव्य की नायिका है। वह अनिंद्य सुन्दरी होने के साथ-साथ एकनिष्ठ प्रेमिका भी है। अभी तक उसने वयःसन्धि को ही प्राप्त किया है।, लेकिन फिर भी वह सम्पूर्ण कलाओं, चौदह विधाओं तथा वेद-शास्त्र आदि में पूर्णतया प्रवीण है। उसमें नायिका के सभी गुण और सामुद्रिक लक्षण विद्यमान हैं। कवि ने उसके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है-

''मनहुं कला ससि भांन, कला सोलह सो बनिय।
बाल बेस ससि ता समीप, अम त रस पिन्निय।।
बिगसि कमल ग्रिग भ्रमर, बैन,षंजन म ग लुट्टिय।
हीर कीर अरू बिम्म मोति नष सिष अहि घुट्टिय।।
छप्पति गयन्द हरि हंस गति, बिह बनाय संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय, मनहुं काम कामिनि रचिय।।''

उपर्युक्त पद्य से स्पष्ट होता है कि यहां कवि ने पद्मिनी नायिका के सभी लक्षण पद्मावती में घटाए हैं। तोता भी उसके अद्वितीय सौन्दर्य को देखकर उसे पद्मिनी नायिका ही मानता है। लेकिन कवि ने तो सामुद्रिक शास्त्र के सभी लक्षण उसे नायिका में घटा दिए हैं। वह नायिका पद्मगंधा नायिका है, क्योंकि उसके शरीर से कमलों की सुगंध उठती है इसलिए कवि लिखता है-

''कमलगंध, वयसंध, हंसगति चलत मंद-मंद
भमर भंवहि भुल्लहिं सुभाव मकरन्द बास रस।।''

पद्मावती के रूप-सौन्दर्य के वर्णन को पढ़कर कभी-कभी पाठक को जायसी के पद्मावत की याद आ जाती है। वहां पर भी हीरामन तोते द्वारा पद्मावती का नख-शिख वर्णन राजा रत्नसेन के समक्ष किया जाता हैं इस काव्य-रचना में भी तोता पद्मावती का रूप-वर्णन महाराज प थ्वीराज के समक्ष जाकर करता है। उसके नख-शिख वर्णन को सुकर ही प थ्वीराज चौहान पद्मावती को प्राप्त करने के लिए समुद्रशिखर पर आक्रमण कर देता है। एक स्थल पर ही कवि ने पद्मावती को मुग्धा नायिका के रूप में चित्रित किया है। लेकिन आगे चलकर पद्मावती एक विरहिणी नायिका के रूप में भी वर्णित की गई है।

५. **प्रक ति चित्रण**- प्रक ति का स्वच्छन्द विस्त त गंभीर वर्णन प थ्वीराज रासो में उपलब्ध नहीं होता। लेकिन जितना भी उपलब्ध होता है वह अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक है। प थ्वीराज रासो में ऋतुओं के वर्णन के अन्तर्गत प्रक ति का वर्णन किया गया है। इस संबंध में कवि ने ग्रीष्म ऋतु, शिशिर ऋतु,शरद् ऋतु, हेमन्त तथा बसन्त आदि ऋतुओं का हृदयग्राही वर्णन किया है। प थ्वीराज रासो से ही एक उदाहरण देखिए जिसमें शिशिर ऋतु के बारे में वर्णन किया गया है -

''रोमालल घन नीर निब्ध परये गिरि ढंग नारायते।
पब्वय पीन कुचानि पानि समला पुंकार झुकारये।।
शिशिरे सबरि बारुणे च विरहा मम हृदय विद्दारये।
मां कामंत म ग बद्ध सिंध मने किं देव उब्बारये।।''

इसी प्रकार से कवि ने कुछ स्थलों पर प्रक ति का आलम्बन रूप में भी वर्णन किया है। ऐसे वर्णन पाठक को सहज प्राक तिक सौन्दर्य की अनुभूति कराने में सक्षम हैं।

४. **बारात-वर्णन**- 'पद्मावती समय' में बारात का भी रमणीय और आकर्षक वर्णन कवि ने किया है। इस वर्णन से कवि ने बारात के सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है। कहीं तो कवि विशाल हाथियों और उनके गंडस्थलों से टपकने वाले मदस्राव का वर्णन करता है तो कहीं उनके श्वेत दांतों का। इस वर्णन में कवि ने संश्लिष्ट बिम्बों की रचना की है। बारात का वर्णन करते समय कवि ने वाद्य यन्त्रों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले संगीत की भी चर्चा की है। इस अवसर पर कवि यह भी नहीं भूला कि बारातियों में विवाह-अवसर के अनुकूल उत्साह और प्रसन्नता दिखाई देती है। यह सारा वर्णन इतना मनोहारी है कि उसे पढ़कर पाठक स्वयं को बाराती समझने लगता है। एक उदाहरण देखिए-

''चले दस महस्सं असवार जानं।
पूरियं पैदलं तैंतीस बान।
मत्त मद गलित सै पंच दती।
मनो सांम पाहार बुगपंत पंती।।
चले अग्गि तेज, जु तत्ते तुषारं।
चौपटं चौरासी जु साकत्ति भारं।।
कंठ, नगं, नूपं अनोपं, सुलालं।
रंग पंच रंग ढलकंत ढालं।।।
पंच सुर साबद्ध बापित्र बालं।
सहस सहनाय म्रिग मोहि राजं।।
समुद्र सिर सिषर उच्छाह छाहं।
रचितं मंडपं तोरनं श्रीयगाहं।।''

यहां चन्दबरदाई ने बारात में बजाए जा रहे विभिन्न प्रकार के वाद्य यन्त्रों का भी वर्णन किया है जिनमें नाल, तंभी, नगाड़ा, झांझ और तुरही आदि एक साथ बजाए जा रहे थे। 'पद्मावती समय' मूलतः लघु काव्य है। इसे खण्ड काव्य भी कहा जा सकता है। अतः- इसमें वर्णन के लिए अधिक स्थान नहीं है। जहां प थ्वीराज रासो में प्रक ति वर्णन तथा समाज का वर्णन प्रभूत मात्रा में मिल जाता है, वहां इसमें अल्प मात्रा में है या नहीं है। कवि ने राजाओं के वैभव और शक्ति का खुलकर वर्णन किया है। इसके साथ-साथ कवि ने सेना-वर्णन, युद्ध-वर्णन, नायिका का नख-शिख एवं सौन्दर्य वर्णन काफी सुन्दर किया है। प थ्वीराज का वर्णन करते समय कवि ने उसके प्रसिद्ध वंश, उदात्त गुणों, वीरता एवं शौर्य का हृदयाकर्षक वर्णन किया है। शाहाबुद्दीन के सेना के साथ हुआ युद्ध-वर्णन काफी विस्तार पा गया है, लेकिन यह वर्णन काफी प्रभावशाली है। इसीलिए कुछ आलोचकों ने वर्णनों की द ष्टि से इस काव्य रचना को कोई विशेष महत्त्व प्रदान नहीं किया। भावाभिव्यक्ति की द ष्टि से रचना अत्यन्त प्रभावी है।

८. 'पद्मावती समय' का काव्य सौन्दर्य

पद्मावती समय' चन्दबरदाई क त महाकाव्य प थ्वीराज रासो का बीसवां समय (अध्याय)के रूप में व्यवस्थित है। प थ्वीराज रासो में ऐतिहासिकता के साथ-साथ कल्पना का भी सुन्दर मिश्रण किया गया है। कवि ने अपने समय की असंख्य लोक प्रचलित निजंधरी कथाओं का समावेश करके रासो को एक ब हद् आकार प्रदान किया है। प्रस्तुत प्रकरण 'पदमावती समय' इसी प्रकार की एक काव्यात्मक रचना है। इसमें कवि ने अपने अद्भुत काव्य कौशल का परिचय दिया है। वस्तु वर्णन, भावाभिव्यंजना, अलंकार योजना, भाषा, छन्द आदि सभी द ष्टियों से प थ्वीराज रासो एक महान् काव्य है। पद्मावती समय भी उसी का एक अध्याय है। अतः उसमें हमें कवि की प्रतिभा का वही

रूप प्राप्त होता है जो रासो में है। पद्मावती समय के काव्य सौन्दर्य की चर्चा करते हुए हम उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालेंगे।

१ कथा-संदर्भ- 'पद्मावती समय' अपने वस्तु वर्णन के लिए प्रसिद्ध है। इसमें जहां एक ओर 'पद्मावती के रूप सौन्दर्य, बारात, सेना तथा युद्ध का वर्णन मिलता है वहां दूसरी ओर पद्मावती का नख-शिख वर्णन भी काफी आकर्षक बन पड़ा है। पद्मावती का सौन्दर्य वर्णन करते समय कवि ने सांकेतिक और आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया है-

हरि, कीर अरू बिम्ब मोति नख-शिष अहि छट्टिय।।
''मनहुं कला ससि भान कसा सोलह सों बन्निय।
बाल वैस ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय।
बिगसि कमल, भ्रिमर, बेनु, खंजन, म ग, लुट्टि

महाकवि ने सेना का जो वर्णन किया है वह वीर भव को उत्पन्न करने वाला है। शाहहाबुद्दीन गौरी की सेना का निम्नलिखित वर्णन देखिए-

''क्रोध जोध जोधा अनंत करिय पन्ती अनि-गज्जिय।
बानं नालि हथ्थनालि, तुपक, तीरह, सब, रज्जिय।।
पब्बैपहार मनौ सारू के, भिरि, भुजान गजनेस बल।
आए हकारि हकारि भुरि, षरासान सुलतान दल।।''

युद्ध-वर्णन की द ष्टि से 'पद्मावती समय' महाकवि का एक उल्लेखनीय खण्ड काव्य है। इसमें प थ्वीराज और कुमोद्मणि तथा प थ्वीराज और शाहाबुद्दीन गौरी के युद्धों का सजीव वर्णन मिलता है। कुछ पदों में युद्ध की क्रियाओं का वर्णन इतना सूक्ष्म है कि पाठक उसे पढ़कर प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। युद्ध वर्णन करते समय कवि भयानक एवं वीभत्स द श्यों के चित्र अंकित करता है। उदाहरण अवलोकनीय है-

जिय घोर निसांन, रांन चहुंबान चहौं दिसि।
सकल सूर सामन्त, समरि बल जंत्र मंत्र तिसि।।
उट्ठि राज प्रथिराज, बाग मनों लग वीर नट।
पढ़त तेग मन बेग, लगत मनों बीजु झट्ट पट।।
थकि रहे सूर कौतिग गिगन, रगन मगन भइश्रोन धर।
हर हरषि वीर जग्गे हुलस, हुख रंगि नव रत्त वर।।''

२. **विशद बारात चित्रण**- कुमायूं का राजा अपनी बारात लेकर समुद्र शिखर की ओर चल पड़ता है। बारात में रजकुल के सर्वथा उपयुक्त सेना, हाथी और घोड़े हैं। उसकी सेना के दस हजार घुड़सवार, हाथी तथा असंख्य पैदल सैनिक बारात के साथ चल रहे थे। हाथियों के गंड स्थलों से मदस्राव हो रहा था। उनके काले-काले शरीरों से बाहर निकले हुए दांत ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पर्वतों पर श्वेत बगुलियों की पंक्तियाँ हो, बारात में बजते वाद्य मानो हिरणों को भी सम्मोहित कर रहे थे। निम्नलिखित उदाहरण देखिए-

''चले दस सहससं असबार जानं।
परियं पैदलं तैतीसु थानं।
मत्त मद गलित सौ परंच दन्ती।
मनो सांम पाहार बुगपांति पंती।।
चले अग्गि तेजी जु साकति यारं।

चौवरं चौरासी जु, साकति यारं।
कंठ नगं नुपं अनोपं सुलालं।
रंग पंच रंग ढलकत्त ढालं।।''

३. **भाव-प्रवणता**- भाव-रस की द ष्टि से जब हम पद्मावती समय का मूल्यांकन करते हैं तो हमें केवल दो रस ही प्रधान रूप में दिखाई देते हैं। ये हैं- श ंगार और वीर-रस। श ंगार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग देखें जा सकते हैं। युद्ध-वर्णन में वीर, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स रसों की स्थिति मिल जाती है। फिर भी 'पद्मावती समय' में वीर-रस ही अंगी-रस है। वैसे पद्मावती समय का आरम्भ भी श ंगार रस से होता हैं और अन्त भी श ंगार रस से होता है।

(क) **श ंगार-रस परिपाक**- यद्यपि इस काव्य-रचना में श ंगार के संयोग और वियोग दोनो पक्षों का वर्णन मिलता हैं लेकिन संयोग श ंगार ही प्रधान रूप में वर्णित है। काव्यारम्भ में कवि पद्मावती के अनिंद्य सौन्दर्य का वर्णन आता है। आगे चलकर शुक राजा प थ्वीराज के समक्ष पद्मावती का रूप वर्णन करता है। वह उसे नायक प थ्वीराज के सर्वथा योग्य नायिका सिद्ध करता है-

''कुहिल केश सुदेश, पौहप रचियत गिक्क सद।
कमल गन्ध वयसंध, हंस-गति चलत मंद मंद।।
सेत वस्त्र सोहै सरीर, नष सवांति बुन्द जस।
भमर भंवहि भुलल्हिं सुभाव, मकरन्द वास रस।।
नैन निरखि सुष पाय सुक, यह सुदिन मूरति रचिय।
उमा प्रसाद हर हेरियत, मिलहिं राज प्रथिराज जिय।।''

अभी तक पद्मावती का प्रेम एकपक्षीय है। दो-तीन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि वह नायक प थ्वीराज की विरह से व्याकुल है। **'तन चिकरं चीर डारयौ उतारि'** पंक्ति से भी स्पष्ट होता है कि पद्मावती प्रियतम में की विरह में व्याकुल एवं उदास रहती है। अतः हम कह सकते हैं कि 'पद्मावती समय' में वियोग श ंगार के लिए अधिक स्थान नहीं है। अतः इस रचना में श ंगार रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया।

(ख) **वीर-रस-परिपाक**- प थ्वीराज रासो तथा उसके खण्ड 'द्मावती समय' को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि चन्दबरदाई वीर रस का वर्णन करने में सिद्धहस्त थे। उन्होंने आरम्भ से ही प थ्वीराज के साहस, वीरता, कौशल आदि का बडा ही मार्मिक वर्णन किया है। इसी प्रकार कवि ने शहाबुद्दीन गौरी की विशाल सेना का वर्णन भी प्रभावशाली ढंग से किया है। दोनों के युद्ध वर्णन करते समय योद्धाओं की मनःस्थिति पर भी प्रकाश डाला है। पद्मावती समय में कवि ने प थ्वीराज, विजय, शहाबुद्दीन गौरी और कुमोदमकण जैसे चार राजाओं का वर्णन किया है। पहले तीन राजाओं (प थ्वीराज, शाहाबुद्दीन, कुमोदमणि) के अन्य गुणों के साथ उनकी विशाल सेना का भी वर्णन है, लेकिन शाहाबुद्दीन की तो केवल विशाल सेना का ही वर्णन है। युद्ध से पूर्व कवि रणसज्जा का वर्ण करता है। बाद में भयंकर युद्ध आरम्भ हो जाता हैं और युद्ध क्षेत्र में बाणों की वर्षा होने लगती है तथा खून की नदियां बहने लगती हैं। युद्ध वर्णन करता हुआ कवि लिखता है-

''कम्मानं बांन छुट्टिहिं अपार।
लागत लोह इमि सारधार।
घमसान घान सब वीर षेत।
घन श्रोन बत अरू रकत रेत।।

ज्यों-ज्यों युद्ध भयंकर रूप धारण करता है, त्यों-त्यों वीर-रस का वातावरण तैयार होता जाता है। कभी-कभी तो लगता है मानो वीर-रस आकार धारण करके स्वयं युद्ध,क्षेत्र में उतर आया है। एक उदाहरण देखिए-

''न को हार नह जित्त, रहेइ न रहिइ सूखर।
पर उप्पर भर परत, करत अति जुद्ध महाभर।।
कहौं कमध कहौं मथ्थ, कहौं कर चरन अन्तरूरि।
कहौं कन्ध बहि वेग, कहौं सिर जुहि फुट्टि डर।।
कहौं दन्त मत्त हथ षुर षुपरि, कुम्भ भसुण्डह खण्ड सब।
हिन्दबान रानं भय भानं मुष, गहिए तेग चहुंवांन जब।।''

इसी सन्दर्भ में कवि ने गौण रूप में भयानक, रौद्र तथा वीभत्स-रसों का भी वर्णन किया है। वैसे तो पद्मावती समय में अद्भुत और हास्य-रसों के भी वर्णन मिल जाते हैं, परन्तु, भयानक, वीभत्स तथा रौद्र-रसों के उदाहरण देखने योग्य हैं।

भयानक रस का परिपाक अवलोकनीय है-

उलटि जु राज प्रथिराज बाग।
थाकि सूर गगन धर धसत भाग।।
समंत सर सब काल रूप।
गहि लोह-छोह बाहै सुभूप।।

वीभत्स-

''कहौं कमध की मथ्थ, कहौं कर चरण अंतरारि।
कहौं कंध बहि तेग, कहौं सिर जुट्टि, फुट्टि उर।।

रौद्र-

''बाजी सुबन्ध हय गय पलानं।
दौरे सुसज्जित दिस्सह दिसानं।।
तुम्ह लेहु-लेहमुष जंपि जोध।
हन्नाह सूर सब पहिर कोध।।''

शिल्प विधान- प थ्वीराज रासो की भाषा के बारे में लम्बे काल से विवाद चला आ रहा हैं इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें भाषा के अनेक रूप मिलते हैं। इसमें कहीं तो अपभ्रंश के शब्दों की भरमार है तो कहीं रीतिकाल की भांति ब्रज-भाषा की। इसी भाषा भेद के कारण कुछ लोग रासो को अप्रमाणिक भी सिद्ध करते हैं। पद्मावती समय की भाषा में भले ही कहीं-कहीं अपभ्रंश की भरमार है, लेकिन इसका मूल गठन तो अपभ्रंश ही लगता है। इस भाषा में डिंगल के साथ-साथ पिंगल दोनों भाषा का मिश्रण है। जहां कवि कोमल भावनाओं और रूपों का चित्रण करना चाहता है वहां ब्रजभाषा की कोमल पदावली का सुन्दर रूप उभर आता है। पद्मावती के रूप सौन्दर्य का चित्रण करते समय कवि ब्रज अर्थात् पिंगल का ही सहारा लेता है, यथा-

''मनहुं कला ससिभांन, कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अंम्रित रस पिन्निय।।
बिगसि कमल म्रिग भ्रमर, बैन, षंजन स्रक लुट्टिय।
हीर कीर अरू बिम्ब मोति नष सिष अहि घुट्टिय।।

परन्तु युद्ध के वर्णनों में भाषा में ओज गुण की प्रधानता आ जाती हैं ऐसे स्थल पर कवि डिंगल भाषा का प्रयोग करने लगता है। डिंगल भाषा का प्रयोग करते समय कवि ने अरबी, फारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग कर दिया है। परन्तु इमें यह मान कर चलना पड़ेगा कि चंदबरदाई की भाषा शैली विषयानुरूप है। वह जिस किसी भाव, विषय या द श्य का वर्णन करते हैं, उनकी भाषा शैली उसी का बिम्ब प्रस्तुत कर देती है। जैसे-जैसे भाव बदलते हैं, वैसे-वैसे उनकी भाषा भी अपने स्वरूप को बदल लेती हैं वस्तुतः भाषा पर कविचन्द का आसाधारण अधिकार है। काव्य रचना के आरम्भ में यदि कवि कोमलकांत पदावती का सरस प्रयोग करता है तो आगे चलकर उनकी भाषा अंगारे बरसाने लगती है। विशेषकर वीर, भयानक और रौद्र रसों का वर्णन करते समय कवि की भाषा ओज गुण प्रधान बन जाती है, यथा-

''बज्जिय घोर निसानं, रानं चहुंआन चहूं दिसि।
सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र मंत्र तस।।
उट्ठि राज प्रथिराज, बाग माने लग नीर नट।
कढ़त तेग सन बेग लगत मनौ बीज झट्ट षट।।
थकि रहे सूर कौतिग गिगन, रगन मगन भइ स्रेम घर।
हर हरषि वीर जग्गे हुलसि, दुख रंग नव रत्त वर।।''

अलंकार-छंद योजना- 'पद्मावती समय' में कवि ने अलंकारों का सुन्दर एवं स्वाभाविक प्रयोग किया है, परन्तु इसे सायास नहीं कहा जा सकता। वीर और श्रंगार दोनों रसों के प्रयोग में कवि ने अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, यमक, भ्रान्तिमान तथा द ष्टान्त जैसे अलंकार 'पद्मावती समय' में मिल जाते हैं। पद्य पंक्तियों को पढ़ते समय पाठक को ऐसा लगता ही नहीं कि कोई अलंकार उसके सामने आया है। उदाहरण अवलोकनीय है-

उपमा- ''रति बसन्त परमानं।
नष सवांति बुंद जस।।''
रूपक-मंउल मयंक बर नारि सब।।''
अनुप्रास-''इसम हयग्गह देस अति।
षर भर रज रष्यह।।'''
अतिशयोक्ति-''इक नायक कर घरी।
पिनाक षर भर रज रष्यह।।''

कवि चंद को छन्दों का राजा कहा जाता है। एक आलोचक ने तो प थ्वीराज रासो को 'छन्दों का जंगल' कहा है, क्योंकि इसमें एक सौ के लगभग छन्दों का प्रयोग है। इसमें से कुछ छन्द ऐसे हैं जिसका न तो पहले प्रयोग हुआ था तथा न ही छन्दशास्त्र में उनका उल्लेख मिलता है। 'पद्मावती समय' में पाँच प्रकार के छन्द मिलते हैं- दुहा, गाथा, कवित्त, पद्धरी तथा भुजंगी। संक्षिप्त वर्णन के लिए तो कवि दोहा तथा गाथा जैसे छोटे छन्दों का वर्णन करता है, परन्तु विस्त त वर्णन के लिए कवित्त तथा पदरी का प्रयोग करता है। फिर भी दुहा छन्द उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द माना गया है। आगे चलकर तुलसीदास जी ने चौपाई के साथ दोहा छन्द का खूब प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव और भाषा दोनों द ष्टियों से 'पद्मावती समय' एक श्रेष्ठ खण्ड काव्य है। भले ही कवि ने काल्पनिक कथानक की उद्भावना की हो, लेकिन उन्होंने इसे काव्य रचना का रूप देकर पूर्णतः प्रभावशाली बना दिया है। एक विद्वान आलोचक ने उनकी भाषा के बारे में लिखा है- ''चन्द बरदाई भाषा के धनी कलाकार हैं। भाषा मानों उनके संकेतों पर

नाचती-सी चलती है। भाव और वर्ण्य विषय की पूर्ण सफलता से भाषा भावानुकूल नए-नए रूप धारण करती हैं उसने बहुत कम शब्दों में बहुत कह डालने की क्षमता है।''

निश्चय ही पद्मावती समय भाव-पूर्ण श ंगार और वीर रस से समन्वित आकर्षक रचना है। इसकी योजना से प थ्वीराज रासो को अनूठी गरिमा मिली।

८. 'पदमावती समय' में इतिहास और कल्पना का समन्वय

प थ्वीराज रासो आदिकाल का श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसकी काव्यात्मक महत्ता सर्वेसिद्ध है।

'पद्मावती समय' 'प थ्वीराज रासो' का बीसवाँ सर्ग है जिसमें प थ्वीराज और पद्मावती के विवाह तथा शहाबुद्दीन गौरी के साथ प थ्वीराज के युद्ध का वर्णन विशेष रूप से हुआ है। इस सर्ग में इतिहास, कल्पना और काव्य रूढ़ियाँ या लोकवार्ता का मिश्रण हुआ है। 'प थ्वीराज रासो' मूल रूप से एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसलिए रासो का एक सर्ग होने के कारण 'पद्मावती समय' को भी ऐतिहासिक पात्र होते हैं, घटनाएँ भी ऐतिहासिक ही होती हैं किन्तु कवि कुछ ऐसे पात्रों की भी कल्पना करता है जिनका उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता। वह ऐसी घटनाओं का भी वर्णन करता है जिनका वर्णन इतिहास में नहीं होता। वे घटनाएँ कवि की कल्पना की उपज होती हैं। इस प्रकार कवि इतिहास और कल्पना के मिश्रण से काव्य की रचना करता है। ऐतिहासिक काव्य कहलाते हुए भी उसमें इतिहास और कल्पना दोनों का मंजुल मिश्रण रहता है। कभी-कभी प्राचीन इतिहास की घटनाएं स्पष्ट तथा अधूरी होती हैं, कुछ घटनाएँ अज्ञात और अचर्चित होती हैं इसलिए कवि अपनी ओर से कुछ पात्रों की कल्पना करके कई घटनाओं का विवरण अपनी कल्पना से प्रस्तुत करता हैं यहाँ यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि कवि की कल्पना इतिहास के पात्रों के व्यक्तित्व एवं चरित्र के अनुकूल होनी चाहिए। कवि द्वारा वर्णित घटनाएँ ऐतिहासिक घटनाओं की पूरक होनी चाहिए। कवि कल्पित घटनाएँ काव्य में अलग से दिखाई नहीं देनी चाहिए। वे काव्य का अंग प्रतीत होनी चाहिए।

कुछ पात्र तथा कुछ घटनाएँ ऐसी भी होती हैं जो न तो इतिहास में प्राप्त होती हैं और न ही कवि अपनी ओर से उनकी कल्पना करता हैं फिर भी ऐसे पात्रों और घटनाओं का समावेश ऐतिहासिक काव्यों में रहता है। वे घटनाएँ ऐतिहासिक न होते हुए भी लोक जीवन में प्रचलित होती हैं अनेक कवियों के द्वारा उन घटनाओं का वर्णन अपने काव्य में किया जाता है तथा उन कवियों के अनुकरण पर परवर्ती काल के कवि भी ऐसे घटनाओं को काव्य रूढ़ि कहा जाता हैं ये काव्यरूढ़ियाँ भी ऐतिहासिक काव्य को रोचक बनाती हैं तथा स्वाभाविकता का समावेश करती हैं।

'पद्मावती समय' में इतिहास, कल्पना और काव्य रूढ़ियों का अत्यंत सुंदर रूप में संयोग उपस्थित हुआ हैं यह जानने के लिए 'पद्मावती समय' की कथा को संक्षेप में जानना परम आवश्यक है। संक्षेप में यह कथा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है- समुद्र शिखर नामक राज्य में विजयपाल नामक के एक राजा का शासन था। वह बहुत ही शक्तिशाली सम्राट था। उसके पास विशाल सेना थी और एक राजा का शासन था। वह बहुत ही वैभवशाली था। विजयपाल की पुत्री का नाम पद्मावती था, जो रूपयौवन से सम्पन्न थी। बहुत शीघ्र ही उसके सौन्दर्य एवं यौवन की चर्चा चारों ओर होने लगी। पद्मावती एक बार जब अपनी सखियों के साथ महलों के उद्यान में खेल रही थी तब उसके अधरों को बिम्बफल समझकर एक तोता उसकी ओर झपटा। पद्मावती ने उस तोते को पकड़ लिया। सोने के पिंजरे में उसे बंद करके पद्मावती उसे 'राम-राम' का पाठ पढ़ाने लगी तोता भी बहुत बड़ा विद्वान था। इसलिए वह अनेक प्रकार की कथाएँ सुना-सुनाकर उसका मनोरंजन किया करता था।

एक दिन जब पद्मावती ने तोते के जन्मस्थान और देश आदि के विषय में पूछा तब तोते ने दिल्ली के शासक पथ्वीराज चौहान के सौन्दर्य, उसके शील तथा उसकी शूरवीरता और बल पराक्रम का वर्णन किया। पथ्वीराज की प्रशंसा सुनकर पद्मावती के मन में पथ्वीराज के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया। दूसरी ओर पद्मावती के पिता राजा विजयपाल ने अपने कुल के पुरोहित को बुलाकर पद्मावती के लिए किसी योग्य वर को खोजने का आदेश दिया। कुल-पुरोहित ने उत्तर दिशा में कूमायूँ नामक स्थान पर पहुंचकर वहाँ के राजा कुमोदमणि के साथ पद्मावती का सम्बन्ध निश्चित कर दिया। वह बरात लेकर पद्मावती के साथ विवाह करने के लिए समुद्रशिखर की ओर चल पड़ा।

पद्मावती को जब यह सूचना मिली तो वह व्याकुल तथा अधीर हो गई। पथ्वीराज के प्रति उसके मन में प्रगाढ़ अनुराग था इसलिए वह कुमोदमणि से विवाह नहीं करना चाहती थी। उसने तोते को बुलाकर पथ्वीराज के पास संदेश भेजा कि वह आकर उसके साथ विवाह करके उसके प्रेम-भाव तथा प्राणों की रक्षा करे। तोते के द्वारा पद्मावती के पत्र के रूप में संदेश को पाकर पथ्वीराज ने अपने राज्य का उत्तरदायित्व चामुण्ड राव को सौंप दिया और स्वयं कुछ पराक्रमी शूरवीरों और चंदबरदायी को साथ लेकर समुद्रशिखर की ओर प्रस्थान किया।

समुद्रशिखर में एक साथ दो-दो बरातों के आने से कोलाहल सा मच गया। पद्मावती को जब पथ्वीराज के वहाँ पहुँचने की सूचना मिली तो वह श ंगार करके तथा अपनी सखियों को लेकर पहले से ही निर्धारित स्थान शिव मंदिर में पहुँच गई। पथ्वीराज ने उसका हाथ पकड़कर उसको घोड़े पर बिठाया और तीव्र गति से दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। राजा विजयपाल को जब इस घटना की सूचना मिली तब समुद्र-शिखर की सेना और पद्मावती के मंगेतर कुमोदमणि की सेना ने पथ्वीराज का पिछा किया। पथ्वीराज की सेना के साथ भीषण युद्ध हुआ किंतु इस युद्ध में पथ्वीराज को ही विजय प्राप्त हुई और वह पद्मावती को लेकर दिल्ली आ गया।

दिल्ली पहुँते ही पथ्वीराज को शहाबुद्दीन गौरी के दिल्ली पर आक्रमण की सूचना मिली। पथ्वीराज के साथ गौरी का भयंकर युद्ध हुआ। उसकी सेनाएँ गौरी पर टूट पड़ी और उसे बंदी बना लिया गया। चन्दबरदायी ने उस अवसर का चित्र अंकित करते हुए लिखा है-

गही लेग चहुआंन हिन्दवान शनं।
गज जूथ काप के हरी समानं।
करे दण्ड मुण्डं करी कुम्भ फारे।
घरं सूद सामंत हूकि गर्ज मारे।
गिरहं उड़ी भांन अन्धार रैनं।
गई सूधिसुझझै नहि मानिक नैंनं।
हिरं नाथ कम्यान प्रकिराज राजं।
पकरि के साई जिभि कुलिंग बाज।

शत्रु को पराजित करने के पश्चात् उसे बंदी बना लेने के पश्चात् पथ्वीराज ने अष्टभुजा देवी के मंदिर में जाकर पद्मावती के साथ विधि-विधान के साथ विवाह कर लिया। कवि कहता है-

वर गोरी पद्मावती गाह कोरी सुरतांन।
निकट नगर दिल्ली गय अदूठभुज चाहुआंन।

मोहम्मद गौरी से दण्ड के रूप में आठ हजार घोड़े लेकर उसे मुक्त कर दिया और नवविवाहिता पद्मावती को साथ लेकर अपने दुर्ग में प्रवेश किया। पथ्वीराज के द्वारा यहाँ पर विजयोत्सव मनाया गया संक्षेप में 'पद्मावती समय' की यही कथा है। 'पद्मावती समय' की कथा के प्रस्तुतीकरण के

आधार पर यह स्पष्ट है कि दिल्ली के राजा पथ्वीराज चौहान, शहाबुद्दीन गौरी, चामुण्ड राव तथा चंदबरदायी- ये 'पद्मावती समय' के ऐतिहासिक पात्र हैं। समुद्रशिखर दुर्ग के राजा विजयपाल तथा पद्मावती के मंगेतर कुमोदमणि का इतिहास में कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। अतः इस आधार पर यह मानना ही उचित होगा कि ये पात्र कवि की कल्पना की देन है। जहाँ तक पथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी का संबंध है वे दोनों भारतीय इतिहास के प्रख्यात व्यक्तित्व हैं। चंदबरदायी भी पथ्वीराज के सामंत, मित्र तथा दरबारी कवि के रूप में विख्यात हैं। चामुण्ड राव का उल्लेख भी इतिहास ग्रंथों में प्राप्त होता है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि 'पद्मावती समय' में ऐतिहासिक और कल्पित दोनों प्रकार के पात्र हैं। 'पद्मावती समय' में वर्णित स्थानों की भी यही स्थिति है। पथ्वीराज की राजधानी दिल्ली एक प्राचीन ऐतिहासिक नगरी है। किंतु दिल्ली के अतिरिक्त दो अन्य नगरों का जो उल्लेख हुआ है वे वास्तविक न होकर कवि की कल्पना से प्रसूत हैं। समुद्रशिखर तो एकदम कल्पित नाम प्रतीत होता है।

पूरब दिस गढ़ गढ़पति समुद्र अति दुग्ग।
तहं सु विजय सुरराज पति जादू कुलह अभग्ग।।

जहाँ तक कूमायूँ का संबंध है यह नगर तो आज भी विद्यमान है किंतु कुमोदमणि की राजधानी यही नगर था या नहीं इसे प्रामाणिक रूप से नहीं जाना जा सकता।

सवालष्ण उत्तर सयल कमड गढ़ दूरंग।
राजत राज कुमारे मनि हचगल द्रिब्ब अभंग।

इसी प्रकार शहाबुद्दीन गौरी तथा पथ्वीराज के दिल्ली में होने वाले भीषण युद्ध तथा गौरी को बंदी बनाए जाने की घटना तो ऐतिहासिक है परन्तु इससे जुड़ी अन्य घटनाएँ संदिग्ध-सी जान पड़ती हैं। अतः यह स्वीकार करना उचित होगा कि कुमोदमणि के साथ पद्मावती की सगाई, उसकी बारात लेकर समुद्रशिखर में आना, विजयपाल और कुमोदमणि की सेनाओं का पथ्वीराज के सैनिकों के साथ युद्ध आदि घटनाएँ निश्चय ही कल्पित हैं। ये घटनाएँ कवि-कल्पित होते हुए भी मुख्य ऐतिहासिक घटनाओं के साथ ऐसे घूल-मिल सी गई हैं कि ये वास्तविक प्रतीत होती हैं। कवि के वर्णन-कौशल ने कल्पित घटनाओं को भी इतने प्रभावशाली रूप में चित्रित किया है कि वे वास्तविकता का आभास देने लगी हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कल्पित घटनाएँ ऐतिहासिक घटनाओं के पूरक के रूप में ही प्रस्तुत की गई हैं।

'पद्मावती-समय' में ऐतिहासिक और काल्पनिक पात्रों, ऐतिहासिक और कल्पना प्रसूत घटनाओं के साथ-साथ कई काव्य-रूढ़ियों का भी सुन्दर रूप में समावेश हुआ है। सखियों के साथ खेलते हुए पद्मावती के बिम्बफल जैसे अधरों को देखकर तोते का उस पर झपटना, पद्मावती के द्वारा तोते को पकड़कर उसे सोने के पिंजरे में रखकर राम-राम सिखाना, तोते के द्वारा पथ्वीराज के सौन्दर्य और शौर्य का बखान तथा तोते से पथ्वीराज की प्रशंसा सुनकर पद्मावती के मन में पथ्वीराज के प्रति प्रेमोदय, व्याकुल पद्मावती के द्वारा तोते को पत्र देकर पथ्वीराज के पास भेजना- ये सभी वर्णन काव्य-रूढ़ि के अंतर्गत गिने जा सकते हैं। कवि चन्दबरदायी कहते हैं-

पद्मावती विलार्ष वर बाल बोली।
कही कीर सों बात तब हो अकेली।
झटं जाहु तुम कीर दिल्ली सुदेसं।
वरं चहुआंन जु आजौ नरेसं।

तोतों को पालकर उनके द्वारा संदेश भेजने का वर्णन अनेक कवियों के द्वारा किया गया है। चंदबरदायी ने भी 'पद्मावती समय' में इस काव्य-रूढ़ि का बहुत ही मार्मिक एवं प्रभावशाली वर्णन

किया है। इसी प्रकार पद्मावती और प थ्वीराज का शिव-मंदिर में मिलन तथा प थ्वीराज द्वारा पद्मावती का अपहरण भी काव्य-रूढ़ि का ही प्रयोग है। पद्मावती और प थ्वीराज का विवाह भी अष्टभुजा देवी के मंदिर में सम्पन्न होता है, यह भी एक काव्य-रूढ़ि है।

'पद्मावती समय' के संबंध में उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कवि ने एक-दो ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर अनेक कल्पित किंतु रोमांचक घटनाओं का इस में समावेश कर दिया है जिससे यह प्रसंग सरस एवं प्रभावशाली बन गया है। इतना ही नहीं काव्य-रूढ़ियों के समावेश ने तो 'पद्मावती समय' की सरसता और रोचकता को और भी बढ़ा दिया है। घटनाओं के वर्णन की कुशलता तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण की कला के साथ-साथ कथा-वस्तु के संगठन के कारण 'पद्मावती समय' को 'प थ्वीराज रासो' का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंश बन गया है। 'पद्मावती समय' को पढ़ते समय' प्रायः जायसी के अमरकाव्य 'पद्मावत' की बार-बार याद आती है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि 'पद्मावत' एक प्रेमाख्यानक काव्य है 'पद्मावती समय' एक वीरगाथात्मक काव्य का सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी अंश है। अंत में निश्चित रूप में संयोग हुआ है। कवि की कल्पनाएँ और काव्य-रूढ़ियों का समावेश निश्चय ही 'पद्मावती समय' के सौन्दर्य में व द्धि का कारण बने हैं। वे काव्य के पूरक है, अपकारक नहीं।

१०. प थ्वीराज का चरित्र-चित्रण

१ प थ्वीराज चौहान इस कथा का नायक है। सारा कथानक इनके इर्द-गिर्द घूमता है। उसके पिता का नाम सांभर नरेश सोमेश्वर है। कवि ने उसकी आयु केवल १६ वर्ष बताई है। वह दिल्ली का एक वीर और प्रतापी राजा है। शुक उसे पद्मावती के समक्ष इन्द्र का अवतार कहता है। वह कामदेव के समान सुन्दर और रूपवान है। शुक उसका परिचय देता हुआ कहता भी है कि उसके समान्य प्रभावी व्यक्तित्व का कोई है ही नहीं-

'कामदेव अवतार हुअ, सुअ सोमेसर नन्द।
सास-किरन झलहल कमल, रति समीप वर बिन्द।।''

२. **आदर्श नायक**- कवि ने प थ्वीराज को महाकाव्योचित नायक सिद्ध करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि चन्दबरददाई ने उसके रूप-सौन्दर्य का अधिक वर्णन नहीं किया, बल्कि वह उसके शौर्य और साहस का अधिक वर्णन करता है। उसकी भुजाएं घुटनों तक लम्बी हैं तथा वह अचूक शब्द-भेदी बाण चलाने में निपुण है। वह बड़ा दानी, शीलवान् साहसी, द ढ़ प्रतिज्ञ तथा धैर्यवान् योद्धा है। उसने गजनी के बादशाह शहाबुद्दीन गौरी को युद्ध में तीन बार हराकर कैद किया और फिर अभयदान देकर छोड़ दिया। कितना प्रभावी स्वरूप है।

''वैसह बरीस षोड्स नरिन्दं, आजनु बाहु भुअलोक यंदं।
+ + +
जिहि पकरि साह साहाब लीन, तिहुं बेर करिल पानीप हीन।
सिंगिनि सुसद्द गुने चढ़ि जंजीर, युक्के न सबद बेधन्त तीर।।
+ + +
बल बैन करन जिमि दान मानं, सत सहस सील हरिश्चन्द समान।
साहस सुकम विकम जु वीर, दांनव सुमत अवतार धीर।।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प थ्वीराज एक सर्वगुण सम्पन्न नायक है। यदि वह कामदेव के समान सुन्दर है तो वह वीर और प्रतापी भी है। नायक के इन्हीं गुणों को सुनकर पद्मावती उस पर आसक्त हो जाती है।

३. **वीरता की साक्षात् मूर्ति**- पृथ्वीराज वीरता का तो साक्षात, अवतार दिखाई देता है। युद्ध क्षेत्र में ही पाठक उसकी वीरता को जान पाता है। वह पद्मावती का हरण कर उसे अपने घोड़े पर बिठाकर दिल्ली की ओर जा रहा था। थोड़ी दूर जाने पर ही शत्रुओं के घुड़सवारों ने उसे चारों ओर से घेर लिया। यह देखकर पृथ्वीराज अपने घोड़े की लगाम मोड़कर पीछे चल पड़ा और उसने अपनी तलवार के वे जौहर दिखाए, उसे देखकर मानो सूर्य भी रुक सा गया। धरती कांपने लगी और शेषनाग बेचैन हो उठा। उसे शत्रुओं को पृथ्वीराज काल के समान दिखाई देने लगा। कवि लिखता भी है-

''उल्टी जु राज पृथिराज बाग।
थकि सूर गगन धर धसत नाग।।
सामन्त सूर सब काल रूप।
गहि लोह बाहै सुभूप।।''

इसी प्रकार से गौरी के साथ युद्ध करते समय भी पृथ्वीराज का वीर रूप हमारे समक्ष उभर कर आता है। जब वह म्यान से अपनी तलवार को बाहर निकालता है तब ऐसा लगता है कि मानो काले बादलों में बिजली चमक गई हो। वह दुश्मन के हाथियों पर ऐसे टूट पड़ता है जैसे सिंह ने हाथियों पर हमला किया हो। उसकी वीरता का वर्णन करते हुए कवि लिखता है-

''गही तेग चहुंवान हिन्दवांन रानं।
गजं जूथ परि कोप केहरि समानं।।
करे रूंड मुंड करी कुम्भ फारे।
वरं सूर सामन्त हुकि गर्ज भारे।।''

४. **दुर्द्धर्ष योद्धा**- पृथ्वीराज एक दुर्द्धर्ष योद्धा है। युद्ध क्षेत्र में ही उसके दुर्द्धर्ष योद्धा होने के प्रमाण मिल जाते हैं। वह शत्रुओं पर आक्रमण करके उनके मान अभिमान को कुचल डालता है। जब युद्ध क्षेत्र में घमासान युद्ध होता है। और धूल उड़ने से रात सा अंधेरा छा जाता है वह गौरी की गर्दन में अपना धनुष डालकर उसे कैद कर लेता है। वह इतना शौर्यवान् योद्धा है कि एक साथ सुद्रशिखर के राजा विजय और कुमायूं के राजा कुमोदमणि पर विजय प्राप्त कर गौरी पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। कवि उसके असीम साहस का वर्णन करते हुए लिखता है कि-

''गिरद्दं उड़ी भानं अंधार रैनं।
गई सूधि, सुझझै नहीं मझ्झि नैनं।।
सिर नाय कम्मान पृथराज राजं।
पकरिये साहि जिम कुलिंग बाजं।।''

५. **उदात्त सागर**- इस खण्ड काव्य के अन्तिम भाग में पृथ्वीराज का धीरोदात्त नायक रूप हमारे सामने उभर कर आता है। दिल्ली पहुंच कर वह विधिवत पद्मावती के साथ विवाह करता है और फिर याचकों को दान देकर उन्हें सम्मानित करता है। यही नहीं वह अपने शत्रु शहाबुद्दीन को केवल ८००० घोड़ों का दण्ड देकर मुक्त कर देता है। यह उसकी उदारता का ही परिचायक है। भले ही इतिहासकारों ने पृथ्वीराज की निन्दा की है लेकिन पृथ्वीराज ने प्राचीन भारतीय परम्परा का पालन करते हुए शहाबुद्दीन गौरी को प्राणदान देकर छोड़ दिया। इस सम्बन्ध में कवि लिखता भी है-

''बोलि विप्र सीधे लगन्न, सुभ घरी परट्ठिय।
हरि बांसह मंहर बनाय, करि थांवरि गंठिय।।

ब्रह्म वेद उच्चरहिं, होम चौरी जु प्रति वर।
पद्मावती दुलहिन अनूप, दुल्लह प थिराज नर।।''

इस प्रकार प थ्वीराज एक महान नायक है। जिसमें अपूर्व साहस, सौन्दर्य, दया, उदारता और देर द ष्टि है।

११. पद्मावती का चरित्र-चित्रण-

पद्मावती **'पद्मावती समय'** की नायिका है। वह समुद्रशिखर के राजा विजय की पुत्री है। उसकी माता का नाम 'पद्मसेन' है। (पद्मावती) वह १० राजकुमारों की अकेली बहन है। वह चन्द्रमा की सोलह कलाओं के समान अनिन्द्य सुन्दरी है। उसकी चारित्रिक विशेषताओं का परिचय इस प्रकार से है-

१ **परम सुन्दरी**- कविवर चन्दबरदाई ने पद्मावती में पद्मिनी नायिका के सभी लक्षणों को घटाने का प्रयास किया है। एकनिष्ठ प्रेमिका होने के साथ-साथ वह अनिंद्य सुन्दरी भी है। वयःसन्धि को प्राप्त उसमें कलाएं हैं। वह १४ विद्याओं और वेदशास्त्र के ज्ञान से परिपूर्ण है। उस युग की अन्य नायिकाओं के समान उसमें वे सभी गुण हैं जो एक नायिका में होने चाहिए। कवि ने उसे सामुद्दिक शास्त्र शुभ लक्षणों से युक्त बताया है। काव्य के आरम्भ में ही कवि उसके अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि-

''मनहुं कला ससि भांन कला सोलह सौ बन्निय।
बाल बेस ससिता समीप, अंम्रिन रस पिन्निय।।
बिगसि कमल म्रिग भ्रमर, बैन, षंजन म ग लुट्टिय।
हीर कीर अरू बिम्म, मोति नष सिनमदबलष अहि घुटिटय।
छप्पति गयन्द हरि हंस गति, बिह बनाय संचे सचिय।
पद्मिनिय रूप पद्मावतिय, मनहुं काम कामिनि रचिय।।''

२. **विदूषी नायिका**- ऊपर के पद्य में कवि ने पद्मिनी नायिका के सभी गुण गिनवाए हैं। शुक भी उसके अप्रतिम और अनिंद्य रूप देखकर उसे पद्मिनी नायिका घोषित करता है। केवल सुन्दर होने से कोई नायिका 'पद्मिनी' नायिका नहीं हो सकती। उसमें सामुद्रिक लक्षण होना भी जरूरी हैं इसलिए कवि ने उसके बारे में लिखा है-

''सामुद्रिक लच्छन सकल, चौंसठि कला सुजान।
जानि चतुरदस अंग पट, रत्ति बसन्त परमांन।।

कवि उसे पद्मिनी नायिका सिद्ध करने के लिए यह स्पष्ट करता है कि उसके शरीर से कमल की सुगन्ध उत्पन्न होती है। हंस की गति के समान वह मंद-मंद गति से चलती है। भ्रमर उस पर मंडराते हैं और उसके शरीर से सुगन्ध फूट-फूट पड़ती है। इसलिए वह एक पद्मगंधा नायिका है। कवि लिखता भी है-

''कमलगंध, वयसंध, हंसगति चलत मंद-मंद।
भमर भंवहि भुल्लहिं सुभाव मकरन्द बास रस।।''

३. **मुग्धा नायिका**- अवस्था की द ष्टि से पद्मावती को एक मुग्धा नायिका कहा जा सकता है। वह अभी वयःसन्धि की अवस्था में है। इसका मतलब यह है कि अभी तक उसका बचपन पूरी तरह से गया नहीं। यौवन चोर दरवाजे से उसमें प्रवेश कर रहा है। जब वह तोते को देखती है तो उसे पकड़ कर सोने के पिंजरे में बंद कर देती है और अपना सारा समय उसी के साथ

बिताने लगती है। वह अपना खेल-कूद भूलकर तोते को राम-नाम सिखाने में लगी रहती है-

''सषियन संग खेलत फिरत, फिरत, महलनि बाग-निवास।
कीर इक्क दिष्षिय नयन, तब मन भयौ हुलास।।''
+ + +
तिही महल रष्णत भइय, गइय खेल सब भुल्ल।
चित्त चहुंट्यौ कीर सौं, राम पढ़ावत फुल्ल।।''

४. **भावुक व्यक्तित्व**- जब पद्मावती शुक के साथ रम जाती है तब शुक उसके सम्मुख प थ्वीराज के रूप, उसकी वीरता, प्रताप तथा शैर्य का वर्णन करता है। शुक उसे कहता है कि राजा सोमेश्वर का पुत्र प थ्वीराज ऐसा लगता है मानो स्वयं कामदेव ने उसके रूप में अवतार लिया हो। वह सूर्य के समान तेजस्वी और कामदेव के समान सुन्दर है। शुक के मुख से प थ्वीराज के बल और वैभव और रूप-सौन्दर्य की बातें सुनकर वह उस पर आसक्त हो जाती है। उसका मन करता है कि वह शीघ्र प थ्वीराज से मिले। कवि लिखता भी है-

''सुनत स्रवन प्रथिराज जस, उमग बाल विधि अंग।
तनम न चित्त चहुंवान पर, बस्यौ सु-स्त्रह रंग।।''

५. **विरहिणी नायिका**- अभी तक पद्मावती का रूप एक मुग्धा नायिका का था परन्तु शीघ्र ही वह बाल्यावस्था को छोड़कर यौवनावस्था में प्रवेश करती है। बेटी में यौवन के लक्षण देखकर माता-पिता को उसके विवाह की चिन्ता सताने लगती है। वे अपने कुल पुरोहित को भेजकर उसकी सगाई कुमायूं नरेश 'कुमोदमणि' से कर देते हैं। लेकिन पद्मावती तो मन से प थ्वीराज से प्रेम करती थी। वह विरहिणी नायिका के समान अपने मन चाहे वर प थ्वीराज की बड़ी व्याकुलता से प्रतीक्षा करती हैं यह विरहिणी का शुद्ध रूप नहीं है। उसके मन में तो एक ही डर है कि कहीं उसका विवाह कुमोदमणि के साथ न हो जाए, क्योंकि कुमोदमणि बारात लेकर समुद्रशिखर आ पहुंचा है। इसलिए वह शुक के साथ पत्र भेजकर प थ्वीराज को निश्चित तिथि पर आने का आग्रह करती है। ऐसा करते समय वह अपनी वंश-मर्यादा, पिता का सम्मान और लोकापवाद की परवाह नहीं करती।

पद्मावती का विरहिणी रूप हमारे सामने उस समय उभर कर आता है जब कुमोदमणि के साथ उसकी सगाई हो जाती है और बारात आने का उसे समाचार मिल जाता है। पत्र लेकर शुक दिल्ली चला गया। उधर नगर से बाहर बारात पहुंच चुकी थी। उधर पद्मावती दुःख में उुबी हुई शुक के लौटने की प्रतीक्षा करने लगी। मैले कपड़े पहने रोती हुई झरोखे में बैठी वह एक टक द ष्टि बांधे दिल्ली की ओर से आने वाले मार्ग को देख रही थी। कवि उसकी विरह व्यथा का वर्णन करते हुए लिखता है-

''विलषि अवास कूंवर बरन, मनो राहु छाया सुरत।
झंषति गवष्षि पल-पल पलकि, दिषित पंथ दिल्ली सपति।।''

पद्मावती दिल्ली की ओर से आने वाले मार्ग पर लगातार आंखें गड़ाए देख रही थी। जब वह शुक उसे आकर मिला तो वह प्रफुल्लित हो उठी। शुक के मुख से प थ्वीराज का संदेश सुनकर उसके नेत्र आनन्द से भर गए। कवि लिखता भी है-

''दिष्षत पंथ दिल्ली दिसांन।
सुष भयौ सूक जब मिल्यौ आंन।।

सन्देस सुनत आननद नैन।
उमगिय बाल मनमथ्थ सैन।।

६. **आदर्श प्रेमिका**- पद्मावती एक क्षत्रिय की बेटी है। प थ्वीराज के प्रति उसका प्रेम एकनिष्ठ है। संकट की घड़ी में वह बुद्धि और साहस दोनों का प्रयोग करती है। जब वह देखती है कि कुमोदमणि से उसका विवाह होने जा रहा है तो वह शुक को पत्र देकर उसे तत्काल दिल्ली भेज देती है। यहीं नहीं वह पत्र में यह भी लिख देती है कि किस तिथि को उसका विवाह हो रहा हैं वह प थ्वीराज को आग्रह करती है कि उसी तिथि को वह मंदिर में आकर उसका हरण कर ले। यह सारी योजना वह स्वयं बनाती है। इससे पता चलता है कि वह एक साहसी है और प थ्वीराज के प्रति उसका एकनिष्ठ प्रेम है। जब शुक उसे प थ्वीराज के आने का समाचार सुनाता है तो वह आनन्दित हो उठती है। तब वह अपनी विरहावस्था भूल जाती है। तब वह मैले वस्त्र उतारकर स्नान करती है और आभूषणों से सोलह श ंगार करती है-

''तन चिकट चीर डार्यो उतारि।
मज्जन मयंक नवसत सिंगार।।
भूषन मंगाय नष सिनमदबलष अनुष।
सजि सेन मनो मनमथ्थ भूप।।''

वह सज-धज कर सखियों के साथ मंदिर में पूजा करने जाती है। पूजा के बाद वहां प थ्वीराज को देखकर उसकी तरफ मंद-मंद मुस्कान से देखती हुई हल्का सा घुंघट कर लेती है। इस प्रकार वह जहां एक और प थ्वीराज के प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त करती है वहीं दूसरी और उसे प्रेरित करती है कि वह उसका हरण कर ले।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पद्मावती एक महाकाव्योचित्त नायिका है। उसमें पद्मिनी नायिका के सभी गुण विद्यमान हैं। वह केवल अनुपम सुन्दरी ही नहीं, विदुषी भी है। एक क्षत्रिय कन्या होने के कारण संकट की घड़ी में वह असहाय होकर रोती नहीं, बल्कि बुद्धि और साहस का परिचय देकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करती है। निश्चय ही पद्मावती एक वीरांगना युवती है।

खण्ड-ख
चन्दवरदायी : पद्मावती समय
(प थ्वीराज रासो)

व्याख्या

[1]

पूरब दिस गढ़ गढ़न पति, समुद शिखर अति दुग्ग।
तहँ सु विजय सुरराज पति, जादू कलह अभग्य।। १।।
हसम हयग्गय देस गति, पति सायर म्रज्जाद।
प्रबल भूप सेवहिं सकल, धुनि निसान बहु साद।। २।।

शब्दार्थ :-

पूरब=पूर्व, दिस= दिशा, गढ़न पति=दुर्गों-किलों में श्रेष्ठ, अति=अत्याधिक, दुर्गम, द्रुग्ग=दुर्ग, समुद शिखर=नगर अथवा दुर्ग का नाम, सुरराज=देवों का राजा =इन्द्र, जादूकुलह=यादव वंश, अभग्ग=जिसे जीतना दुष्कर हो, दुर्जेय, हसम=सेना, हथग्गय=हाथी, घोड़े, सायर=सागर, म्रज्जाद=मर्यादा, धुनि=ध्वनि, निसान=नगाड़ा, साद=शब्द, बहु=अनेक, प्रबल=बहुत शक्तिशाली, भूप=राजा, सकल=सारे।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दरबदायी के 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उदद्य त हैं। कवि ने प्रथम दोहे में पद्मावती के पिता राजा विजयपाल के समुद्र शिखर दुर्ग तथा दूसरे में राजा के अपार वैभव का सुन्दर वर्णन किया है। यहीं से 'पद्मावती समय' की कथा आरम्भ होती है।

व्याख्या :-

कवि राजा विजयपाल के किले का वर्णन करता हुआ कहता है कि पूर्व दिशा में, सब दुर्गों का स्वामी समुद्र शिखर नाम का एक अत्यन्त विशाल दुर्ग है। वहाँ यादव वंश का, देवों का स्वामी इन्द्र के समान प्रतापी राजा विजयपाल अखण्ड रूप में राज्य करता था। उस राजा विजयपाल के देश में विशाल सेना थी जिसमें अगणित हाथी-घोड़े थे। अर्थात् विजयपाल के राज्य में विशाल अश्व सेना तथा गज सेना विद्यमान थी। वह सागर-पर्यन्त प थ्वी का स्वामी था अथवा उसकी कीर्ति समुद्र पर्यन्त समूची प थ्वी पर फैली हुई थी। बड़े-बड़े शक्तिशाली राजा उसके अधीन थे, उसकी सेना में रत रहते थे। विजयपाल की सेना के द्वारा जब नगाड़े बजाए जाते थे, तब उसकी भयंकर ध्वनि सभी दिशाओं में, धरती से अम्बर तक फैल जाती थी।

विशेष :-

(1) समुद्र शिखर तथा राजा विजयपाल कल्पित स्थान तथा कल्पित नाम है।

(2) राजा वियजपाल की विशाल सेना तथा अनेक राजाओं द्वारा उसकी सेवा के द्वारा कवि ने राजा के गरिमामय व्यक्तित्व को चित्रित किया गया है।

(3) सम्पन्न राजा का चित्रण है।

(4) भाषा सरल तथा बोध गम्य है।

(5) आकर्षक गेयता और लयात्मकता है।

(6) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(7) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(8) 'गढ़ गढ़न', 'हसम हथग्गय' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(9) दोहा छन्द का प्रयोग है।

(10) वीर रस का आकर्षक परिपाक है।

[2]

धुनि निसान कहु साद नाद सुरपंथ बजत बिन।
दस हजार हय चढ़त हेम नग जटिल साज तिन।
गज असंख गजपतिय मुहर सेना तिय संरवह।
इन नायक का घटी पिनाक घटमट रज रख्वह।
दस पुत्र पुत्रिय एक रूप रथ सुरंग डम्मर डमर।
भंडार लक्षिय अगनित पदम सो पदमसेन कुंवर सुघर।।३।।

शब्दार्थ :-

धुनि=आवाज, निसान=नगाड़े, नाद=घोष, सुरपंच=पंचम स्वर में, हय=घोड़े, हेम=सेना, नग=हीरे, साज=सजावट या वस्त्र, तिन=उसका, असंख=असंख्य, मुहर=सेना का अग्रभाग, तिय=तीन, संखह=संख्या, पिनाक=शिव-धनुष, धर=धरा-धरती, भर=पालन-पोषण, रज=राज्य, रख्खह=रक्षा करना, सुरंग=सुन्दर, उम्मट=वस्तत्र-अम्बर, लछिम=लक्ष्मी, धन=सम्पत्ति, पदम=सौ अरब रुपये की राशि, कुँवर=राजा, सुघर=सुन्दर।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदायी रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। इसमें राजा विजयपाल की सैन्य शक्ति, धन-सम्पत्ति तथा परिवार का वर्णन किया गया है।

व्याख्या :-

कवि राजा विजयपाल की सैन्य शक्ति और धन वैभव का गौरवपूर्ण वर्णन करते हुए कहता है कि राजा विजयपाल के समुद्र शिखर दुर्ग में जब नगाड़े बजते थे, तब उनका भयंकर नाद सभी दिशाओं में गूँज उठता था। प्रतिदिन वहाँ पंचम स्वर में भेरी नाद होता रहता था। राजा की सेना में दस हजार अश्वारोही सैनिक थे जिनके वस्त्र हीरे-मोतियों से जड़े हुए थे। राजा की सेना में असंख्य हाथी थे। गज सेना के जो योद्धा हाथियों पर सवार हो कर सेना की अग्रिम पंक्ति बनाते थे (मुहर) उनकी संख्या तीन शंख थी अथवा घुड़सवार सैनिकों की संख्या से गज सेना के सैनिकों की संख्या तिगुनी थी। विजयपाल एक शक्तिशाली सेनानायक था। उसके हाथ में सदा शिवजी के धनुष जैसा धनुष रहता था जिसके बल पर वह प थ्वी-भर के राजाओं को नियन्त्रित रखता था। उसके दस पुत्र और एक पुत्री सभी एक समान गुणवान थे। राजा विजयपाल के रथों की ध्वजाएँ, जब रथ चलते थे, तब आक्रोश में फहराती थीं। राजा के कोष में अनगिनत पदम् धन भरा हुआ था। वह पद्मसेनी नाम की स्त्री का पति था।

विशेष :-

(1) राजा विजयपाल की अश्वसेना, गजसेना तथा रथ सेना का चमत्कारिक वर्णन है।

(2) 'शंख' तथा 'पद्य' संख्या वाची शब्दों का प्रयोग प्राचीन काल में प्रायः होता था कवि ने भी इनका प्रयोग किया है। राजा के वैभव का चित्रण है।

(3) राजा की सन्तान तथा पत्नी का भी उल्लेख इस पद्य में हुआ है।

(4) पूरे पद में अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

(5) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(6) आकर्षक गेयता और लयात्मकता है।

(7) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(8) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(9) 'रज रख्खह', 'पुत्र पुत्रिय' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[3]

पदमसेन कुंवर, ता घर नारि सुजांन।
ता उर एक पुत्री प्रकट, मनहुँ कला ससिभन।।

शब्दार्थ :-

पदमसेन कुष्ट=पद्मसेन रानी, ता=उसके, सुजान=चतुर (सुन्दर), उर=गर्भ, ससिभान=चन्द्रमा के समान।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। इसमे कवि ने प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सुन्दर चित्रण किया है। यहाँ कवि राजा विजयपाल की रानी के गर्भ से उत्पन्न पद्मावती के बारे में सूचना देता हुआ आकर्षक तथ्य कहता है।

व्याख्या :-

महाप्रतापी राजा विजयपाल के घर में पद्मसेन नाम की एक चतुर रानी थी। उस रानी के गर्भ से चन्द्रमा की कला के समान सुन्दर एक पुत्री उत्पन्न हुई। भाव यह है कि रानी के गर्भ से उत्पन्न पुत्री चन्द्रकला के समान सुन्दर लग रही है। वह चन्द्रमा के समान प्रतिदिन रूप-सौन्दर्य में अद्वितीय होती जा रही है जैसे चांद पूर्णमासी तक बढ़ता रहता है।

विशेष :-

(1) 'ससिभान' शब्द विवेचनशील है। इसका संधि-विच्छेद करके (ससि+भान) चन्द्रमा और सूर्य अर्थ निकलते हैं। तब इसका अर्थ होगा - चन्द्रमा के समान सुन्दर और सूर्य के समान तेजस्वी। यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। यह शब्द अगले पद्य में भी प्रस्तुत हुआ है।

(2) 'पुत्री प्रकट' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(3) 'मनहुँ कला ससिभान' में उत्प्रेक्षा अलंकार का सुंदर एवं स्वाभाविक प्रयोग है।

(4) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(5) भावानुकूल शब्द चयन है।

(6) दोहा-छन्द का सफल प्रयोग है।

(7) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(8) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(9) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(10) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(11) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(12) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

[4]

मनहुं कला ससिभान, कला सोलह सो बन्निय।
बाल बेस ससि ता समीप, अम्रित रस पिन्निय।।
बिगसि कमल म्रिग भ्रमर, बैन षंजन म ग लुट्टिय।
हरि कीट अरु बिम्ब, मोति नष सिष अहिघट्टिय।।
छप्पति गयन्द हरि हंस गति, बिह बनाय संचै सजिय।
पदमिनिय रूप पदमावतिय, मनहुं काम कामिनि रचिय।।

शब्दार्थ :-

मनहुं=मानो, ससिमान=चांद के समान, सो=से, बन्निय=बनाई गई, बेस=आयु (अवस्था अर्थात् बाल्यावस्था), ससि=चांद, अंम्रित=अम त, ता=उसके, पिन्निय=पी रहा हो, बिगसि=बिगसित, म ग=हिरन, बैन=बाणी, षंजन=खंजन नाम का पक्षी, लुट्टिय=लूट लिया हो, हरि=हीर, कीट=तोता, बिम्ब=बिम्बा फल, नष सिष=नख-शिख, अहिधुट्टिय=बनाया गया (अभिघटित), छप्पति=छिप जाते हैं, गयन्द=हाथी, हरि=सिंह, गति=चाल, बिह=विधाता, (विधि), संचै=सांचा, सचिय=इन्द्र की पत्नी शचि (इन्द्राणी), पद्मिनिय=पद्मिनि का, काम कामिनि=कामदेव की पत्नी (रति), रचिय=बनाया गया।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदायी रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें कवि ने प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सुन्दर वर्णन किया है। यहां कवि चन्दबरदायी विभिन्न प्रकार के उपमानों द्वारा पद्मावती के अद्वितीय सौन्दर्य तथा नख-शिख का परम्परागत रूप में वर्णन करता है।

व्याख्या :-

कवि अपनी अद्भुत कल्पना के आधार पर कहता है कि उसे देख कर लगता है कि मानो वह चन्द्रमा की कला है। ऐसा प्रतीत होता है मानो चन्द्रमा की सोलह कलाओं द्वारा उसे बनाया गया है। भाव यह है कि वह चन्द्रमा के समान सुन्दर है। वह अभी बाल्यावस्था में ही है। उसके अद्वितीय सौन्दर्य को देख कर ऐसा प्रतीत होता है, मानो चन्द्रमा उसके पास आकर उसके सौन्दर्य रूपी अम त का पान कर रहा है। कवि के कहने का अभिप्राय है कि उसका सौन्दर्य चन्द्रमा के समान मन और आंखों को सुख और शान्ति देता है।

कवि उसके नख-शिख का वर्णन करते हुए पुनः कहता है कि उसके मुख, नेत्र, हाथ और चरण आदि सुन्दर अंगों ने विकसित कमल, भ्रमर वेणु तथा खंजन पक्षी के सौन्दर्य को भी लूट लिया है, अर्थात् पद्मावती के शरीर की सुगन्ध ने कमलों की सुगंध को क्षीण कर दिया है,

नेत्रों ने हिरणों की मोटी आंखों को जीत लिया है, उसके लम्बे बालों ने भ्रमरों का मान मर्दन कर दिया है, उसके मधुर स्वर की माधुरी ने मुरली की मधुरता को पराजित कर दिया है तथा नेत्रों की बाल सुलभ चंचलता ने खंजन पक्षी की चंचलता को भी पराजित कर दिया है। भाव यह है कि पद्मावती के अंग-प्रत्यंग इतने सुन्दर हैं कि उसके समक्ष सभी उपमान फीके पड़ जाते हैं। ऐसा लगता है मानो पद्मावती के अंगों ने इन परम्परागत उपमानों की सुन्दरता को छीनकर अपने ऊपर धारण कर लिया है जिसके फलस्वरूप यह उपमान फीके पड़ गये हैं।

पद्मावती परम सुन्दरी है। नख से लेकर शिख तक पद्मावती का समूचा सौन्दर्य, हीरा, शुक, बिम्ब, फल तथा मोतियों द्वारा निर्मित हुआ है, अर्थात् पद्मावती का गौर वर्ण हीरे के समान सुशोभित हो रहा है। उसकी नासिका को देखकर तोते की चोंच का भ्रम होता है। उसके अधर लाल बिम्ब फल के समान सुशोभित हो रहे हैं। उसके हाथ-पैर की अंगुलियों के नख मोती के समान कांतिमान हैं।

पुनः कवि पद्मावती की मन्द मन्थर गति का आकर्षण वर्णन करते हुए कहता है कि उसकी सुन्दर गति को देखकर हाथी, सिंह और हंस पराजित होकर छिप जाते हैं। भाव यह है कि उसकी गति में हाथी जैसी मस्ती, सिंह जैसा गर्व और हंस जैसी मन्थरता है, परन्तु पद्मावती की गति में अधिक मस्ती, गर्द तथा मन्थरता है इसलिए उसकी गति देखकर ये तीनों प्राणी लज्जित होकर छिप जाते हैं। पद्मावती का समूचा शरीर सुगठित एवं सुडौल है। ऐसा लगता है मानो विधाता ने उसे सांचे में ढालकर बनाया है। यदि यहां सच्चिय का अर्थ शचि लगाएं तो उसका अर्थ होगा-विधाता ने उसे उसी ढांचे में ढाल कर बनाया है जिसमें उसने इन्द्र की पत्नी शचि को बनाया था। भाव यह है कि पद्मावती का शरीर शचि के समान सुन्दर एवं सुगठित है। उस पद्मावती का रूप पद्मिनी नारी के समान सुन्दन एवं आकर्षक है। उसके रूप को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो विधाता ने एक दूसरी कामदेव की पत्नी रति को बना दिया है अर्थात् पद्मावती इन्द्र की पत्नी शचि और कामदेव की पत्नी रति के समान अप्रतिम सुन्दरी है।

विशेष :-

(1) पद्मावती का रूप वर्णन परम्परागत रूप से किया गया है। सभी उपमान परम्परागत हैं। परवर्ती कवियों ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया है।

(2) प्रस्तुत पद्य में हमें कुछ पाठान्तर भी मिलते हैं। तीसरी पंक्ति में म ग के स्थान पर 'स्त्रिग' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः स्त्रिग का अर्थ है-कमलों की पंक्ति के समान सुन्दर। यहाँ म ग शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि आगे चलकर म ग (हिरण) शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः पहला शब्द म ग (हिरण) नहीं हो सकता।

(3) इस प्रकार छप्पति शब्द को 'छत्रपति' पाठान्तर स्वीकार कर लेने पर अर्थ की संगति भंग हो जाती है क्योंकि छत्रपति का अर्थ 'राजा' होता है। छप्पति का अर्थ यहाँ पर है'-छिप जाते है' यही पाठ शुद्ध माना जायेगा।

(4) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(5) कवित्त छन्द है।

(6) सरल बोधगम्य शब्दों का उत्तम चयन है।

(7) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(8) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(9) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(10) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(11) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(12) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(13) 'मनहुं कला ससिभान', 'मनहुं काम कामिनि रचिय' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(14) 'बाल बेस', 'हरि हंस' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(15) पूरे पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

[5]

मनहुं काम कामिनी रचिय, रचिय रूप की रास।
पयु पंछी सब मोहिनी, सुर, नर, मुनियर पास।।

शब्दार्थ :-

मनहुं=मानो, काम कामिनी=कामदेव की पत्नी (रति), रचित्त=बनाई, रास=राशि (समूह), मुनियर=मुनिवर (श्रेष्ठ मुनि), सुर=देवता, पास=पाश (बंधन)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदायी रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें कवि ने प थ्वीराज और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सुन्दर वर्णन किया है। यहां कवि पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का मनोहारी वर्णन करता है और उसके प्रभाव की चर्चा करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि पद्मावती का रूप देखकर ऐसा लगता है मानो विधाता ने रूप की राशि, कामदेव की पत्नी 'रति' को अपने समक्ष रखकर पुनः पद्मावती की रचना की है। कहने का भाव है कि पद्मावती रति के समान ही अनिन्ध सुन्दरी है। मानो विधाता ने पद्मावती के रूप में एक अन्य रति का निर्माण कर दिया है। उसका रूप सौन्दर्य इतना आकर्षक है कि वह पशु-पक्षियों को भी मोहित कर लेता है। पशु-पक्षियों की तो क्या चर्चा, देवता, मनुष्य और श्रेष्ठ मुनि भी उसके सौन्दर्य जाल में बंध जाते हैं। भाव यह है कि ये सभी उसके रूप-सौन्दर्य के फंदे में पड़कर आसक्त हो जाते हैं। इस प्रकार पद्मावती परम् सुन्दरी है।

विशेष :-

(1) पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता आदि सभी पद्मावती के सौन्दर्य को देखकर आसक्त हो जाते हैं।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) श्रंगार-रस का परिपाक है।

(4) दोहा-छन्द का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

(5) माधुर्य प्रसाद गुण सम्पन्न शैली है।

(6) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(7) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(8) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(9) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(10) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(11) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(12) 'मनहुं काम कामिनि रचिय' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(13) 'रचिय रूप', 'पसु पंछी' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[6]

सामुद्रिक लच्छन सकल, चौसठि कला सुजान।
जानि चतुरदस अंग षट, रति बसन्त परमान।।

शब्दार्थ :-

सामुद्रिक=एक विशेष प्रकार का शस्त्र जिससे मनुष्य के विभिन्न शारीरिक अंगों की बनावट का वर्णन रहता है और उसी आधार पर उसके शरीर तथा भविष्य आदि के बारे में बताया जाता है। लच्छन=लक्षण, चौसठि कला=चौसठ कलाएं (भारतीय आचार्यों ने कलाओं की संख्या चौसठ मानी है, जैसे न त्य, गीत, वाद्य आदि), सुजान=निपुण (चतुर), जानि=जानती है। चतुरदस=चौदह विद्याएं, अंगषट=वेद छः अंग (षटदर्शन), परमान=प्रमाण।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदायी रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का वर्णन किया गया है। यहां कवि राजा विजय की पुत्री तथा अनिन्ध राजकुमारी पद्मावती के सामुद्रिक गुणों की चर्चा करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई पद्मावती के शारीरिक सौष्ठव का वर्णन करते हुए कहता है कि पद्मावती के शारीरिक अंगों में सभी मंगलकारी सामुद्रिक लक्षण विद्यमान हैं। वह चौसठ कलाओं में पारंगत है, कुशल है। इसके साथ-साथ वह चौदह विद्याओं की पूर्ण ज्ञाता है तथा वेदों के छह अंगों या षट्-दर्शन की ज्ञाता है। भाव यह है कि उस राजकुमारी ने सभी विद्याओं, वेद-वेदांगों तथा सभी दर्शन का ज्ञान भी प्राप्त कर रखा था। वह रति के समान सुन्दरी है तथा बसन्त के समान पूर्ण यौवना है अर्थात् जिस प्रकार बसन्त के आगमन से प्राकृतिक सौन्दर्य खिल उठता है, उसी प्रकार यौवन के आगमन से पद्मावती के सभी अंग प्रत्यंग सौन्दर्य के कारण सुशोभित हो रहे हैं। इस प्रकार पद्मावती के रूप सौन्दर्य का आकर्षक चित्रण किया है।

विशेष :-

(1) पद्मावती के रूप, गुण आदि का प्रभावशाली चित्रण किया है।

(2) सुन्दर नारी के सभी शुभ लक्षण पद्मावती में विद्यमान हैं।

(3) वेदों के छह अंग (वेदांग) - शिक्षा, कल्प, व्याकरण, रिक्ता, ज्योतिष तथा छन्द भी सामने आये हैं।

(4) षट्-दर्शन-सांख्य, योग, न्यास, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त का वर्णन है।

(5) डिंगल-पिंगल मिश्रित भाषा का सफल प्रयोग है।

(6) दोहा छन्द का सफल प्रयोग है।

(7) श्रंगार-रस का सुन्दर परिपाक है।

(8) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(9) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(10) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(11) आकर्षक गेयता और लयात्मकता है।

(12) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(13) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(14) पूरे दोहे में उपमा अलंकार है।

[7]

सषियन संग खेलत फिरत, महलनि बाग-निवास।
कीट इक्क दिष्षिय नयन, तब मन भयौ हुलास।।

शब्दार्थ :-

सषियन=सखियां, संग=साथ, बाग=निवास, उद्यान का महल, कीट=तोता, इक्क=एक, द्विष्षिय=दिखाई दिया, नयन=आंखों से, हुलास=प्रसन्न, आनन्दित, भयो=हुआ।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्ध त हैं। इसमें कवि ने प थ्वीराज और पद्मावती के प्रेम और विवाह का वर्णन किया है। यहां कवि उस समय का वर्णन करता है जब पद्मावती अपने महल के बाग में सखियों के साथ क्रीड़ा करती हुई एक तोते को गम्भीरता से देखती है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि पद्मावती अपनी सखियों के साथ मिलकर अपने महल के उद्यान में अथवा उद्यान में स्थित महल में खेल रही थी। एक दिन उसे एक तोता दिखाई दिया। उसे देखकर उसका मन प्रसन्नता से भर गया, अर्थात् उसका मन अत्यधिक उल्लसित हो गया। इस प्रकार पद्मावती का मन मयूर हो गया है।

विशेष :-

(1) वर्णनात्मक शैली अपनाई गई है।

(2) पद्मावती की आकर्षक क्रीडाओं का सौन्दर्यपूर्ण वर्णन किया गया है।

(3) डिंगल, पिंगल भाषा का मिश्रित रूप है।

(4) दोहा-छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता और लयात्मकता है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'सषियन संग' में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग है।

[8]

मन अति भयौ हुलास, बिगसि जनु कोक किरन रवि।
अरुन अधर लिय सधर, बिम्बफल जानि कीट छबि।।
यह चाहत चष चकित, उह जु तक्किय झरप्पि झर।
चंच चहुट्टिय लोभ, लियौ तब गहित अप्प कर।।
हरषत अनन्द मन महिं हुलास, लै जु महल भीतर गई।
पंजर अनूप जग मनि जटित, सौ तिहिं महं रष्षत भई।।

शब्दार्थ :-

अति=बहुत, बिगसि=विकसित (खिला हुआ), हुलास=प्रसन्न (प्रफुल्लित होना), जनु=मानो, कोक=चकवा नाम का पक्षी (कमल), अरुन=लाल, अधर=नीचे का ओष्ठ, तिय=सुन्दर नारी, सघर=ऊपर का ओठ, बिम्ब फल=बिम्ब नाम का एक विशेष फल, कीट=तोता, छबि=शोभा, चाहत=देख रही थी, चष=चक्षु, उह=उसने, तक्किय=देखकर (ताककर), झरप्पि=झप्पटा मारकर (छपट कर), झर=तत्कार चंच=चोंच, चहुट्टिय=चिपक गया, अप्प=अपने, गहित=पकड़ लिया, कर=हाथ, हरषत=प्रसन्न, अनन्द=आनन्द, महिं,=में, पंजर=पिंजरा, अनूप=सुन्दर, नग=रत्न, जटित=जड़ा हुआ, तिहिं महं=उसमें, रष्षत भई=रख लिया।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें कविवर चन्दबरदाई ने पद्मावती और प थ्वीराज चौहान की प्रेम-कथा का मनोहारी वर्णन किया है। यहां उस समय का वर्णन है जब पद्मावती ने तोते को देखा तो वह अत्यधिक आनन्दित और उत्साहित हो जाती है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मन भावन चित्रण करता हुआ कहता है कि उस शुक अर्थात् तोते को देखकर पद्मावती का मन अत्यधिक आनन्दित हो उठा। उस तोते को देखकर पद्मावती इस प्रकार प्रफुल्लित (आनन्दित) हो उठी जिस प्रकार सूर्य की प्रथम किरण को देखकर चकवा पक्षी आनन्दित हो उठता है। यहां कवि ने एक सुप्रसिद्ध कवि समय की ओर संकेत किया है जिस प्रकार रात्रि होने पर चकवा चकवी से अलग हो जाता है, लेकिन प्रभात होने पर चकवी से पुनः मिलने की आशा में उसका मन उत्साहित हो उठता है। अतः कवि यहां स्पष्ट करना चाहता है कि शुक को देखकर पद्मावती का मन भी प्रफुल्लित हो उठा।

यहां कोक का अर्थ कमल भी लगाया जा सकता है। तदनुसार हम इसका अर्थ करेंगे-जिस प्रकार सूर्य की पहली किरण का स्पर्श पाकर कमल खिल जाता है उसी प्रकार से पद्मावती उस शुक को देखकर प्रसन्न हो गई। उस शुक ने सुन्दर पद्मावती के ऊपर और नीचे लाल रंग के दोनों ओठों को लाल कान्ति के कारण बिम्ब फल समझ लिया अर्थात् तोता पद्मावती के लाल होठों को बिम्ब फूल समझकर उस पर लुभा गया। इधर पद्मावती भी आश्चर्यचकित नेत्रों से उस तोते की तरफ देख रही थी, परन्तु उधर बिम्ब फल खाने के लालच में तोते ने पद्मावती के लाल होठों पर झप्पटा मारा और अपनी चोंच से पकड़ कर चिपक गया। तब पद्मावती ने अपना हाथ आगे बढ़ाकर शुक को पकड़ लिया। तोते को पकड़कर वह बड़ी प्रसन्न हुई और मन में आनन्दित हो उठी। प्रसन्नतापूर्वक वह उसे अपने महल में ले गई। वहां महल में रत्न और मणियों से जड़ा एक सुन्दर पिंजरा था। उसी पिंजरे में पद्मावती ने तोते को बन्द कर लिया। इस प्रकार पद्मावती की गतिविधियों का मोहक चित्रण किया गया है।

विशेष :-

(1) पद्मावती और शुक की गतिविधियों का आकर्षक चित्रण है।

(2) चकवे के 'कवि समय' का सुन्दर प्रयोग है।

(3) अधरों को बिम्बाफल कहना और उन पर तोते का झप्पटना आदि परम्परागत नख-शिख श्रंगार वर्णन है।

(4) डिंगल, पिंगल भाषा का मिश्रित रूप है।

(5) श्रंगार रस का सुन्दर प्रयोग है।

(6) कवित्त छन्द का प्रयोग है।

(7) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(8) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(9) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(10) आकर्षक गेयता और लयात्मकता है।

(11) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(12) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(13) 'अरुन अधर', 'झरप्पि झर', 'चंच चहुट्टिय', 'मन महिं' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(14) 'चाहत चष चकित' में व त्यानुप्रास अलंकार है।

[9]

तिहि महल रष्षत भइय, गइय बेल सब भुल्ल।
चित्त चछूंट्टयौ कीट सों, राम पढ़ावत फुल्ल।।

शब्दार्थ :-

तिहि-उस, रष्षत=रखती, बेल=खेल, भुल्ल=भूल गई, चित्त=मन, चिहूंट्टयौ=रम गया (चिपक गया), कीट=तोता, फुल्ल=प्रसन्न होकर (प्रफुल्लित होकर), पढ़ावत=पढाती है (पढ़ाता है)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का वर्णन है। यहां कवि स्पष्ट करता है कि पद्मावती उस तोते के साथ इतना अधिक प्रेम करने लगी कि वह अपना खेल-कूद भी भूल गई।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि पद्मावती ने उस तोते को अपने महल में रख लिया। तोते के साथ उसका मन इतना अधिक रम गया कि वह अपने खेल-कूद आदि को भी भूल गई। तोते के प्रति उसके मन में अत्यधिक मोह-भाव पैदा हो गई और वह आनन्दित (प्रफुल्लित) मन से उसे राम-राम का पाठ पढ़ाने लगी। कहने का भाव यह है कि पद्मावती का मन तोते के प्रति इतना अधिक आसक्त हो गया कि वह अपनी खेलकूद की क्रीड़ाओं को छोड़कर उस तोते में रम गई। इस प्रकार पद्मावती और तोते की गतिविधियों का मोहक चित्रण है।

विशेष :-

(1) पद्मावती के अनुराग का सुन्दर वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) दोहा-छन्द का सफल प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता और लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'चित्त चहूट्टयौ' में छेकानुप्रास है।

[10]

कीट कुंवरि तन निरषि दिषि, नष सिष लौ यह रूप।
करता करी बनाय कै, यह पद्मिनि सरूप।।

शब्दार्थ :-

कीर=तोता, कुंवरि=राजकुमारी, तन=शरीर, निरषि=देखकर, दिषि=दिशा, नष=नख, सिष=शिखा, लौ=तक, करता=विधाता (ईश्वर), करी=किया, बनाय कै=बनाकर, सरुप=सुन्दर रूप।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान तथा पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। तोता पद्मावती के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। इस स्थिति का वर्णन अत्यन्त मनभावन है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि तोते ने राजकुमारी के शरीर की तरफ देखा और नख से लेकर शिख तक पैर के अंगूठे के नाखून से लेकर सिर की चोटी तक उसके रूप सौन्दर्य पर द ष्टिपात किया। वह मन ही मन सोचने लगा कि विधाता अर्थात् ईश्वर ने पद्मावती के सुन्दर रूप का निर्माण किया है। कहने का भाव यह है कि तोता पद्मावती के सुन्दर रूप को देखकर सोचने लगा कि विधाता ने बड़ी रुचि के साथ इस पद्मावती के शरीर का गठन किया है।

विशेष :-

(1) तोता पक्षी होकर भी पद्मावती के रूप-सौन्दर्य से विशेष प्रभावित है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता और लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'कीट कुंवारे', 'करता करी' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[11]

कुट्टिल केश सुदेश, पौहप रचियत पिक्क सद।
कमलगंध वयसंध, हंसगति चलत मन्द-मद।।
सेत वस्त्र सोहै सरीर, नष स्वांति बुन्द जस।
भमर भंवहि भुल्लहिं सुभाव, मकरन्द बास रस।।
नैन निरखि सुष पाय सुक, यह सुदिन मूरति रचिय।
उमा प्रसाद हर हेरियत, मिलहिं राज प्रथिराज जिय।।

शब्दार्थ :-

कुट्टिल=कुटिल, घुंघराले, केश=बाल, सुदेश=सुन्दर, पौहप=पुष्प, रचित=रचित, पिक्क=पिक-कायल, सद=शब्द-वाणी, कमलगन्ध=कमलगन्धा नारी जिसके शरीर से कमल की सुगन्ध आती है। वयसंघ=वयः सन्धि (किशोरावस्था और यौवनावस्था के मिलने की अवस्था, जिसमें इन दोनों अवस्थाओं के आंशिक लक्षण मिलते हैं), मद=मदभरी-मस्तीभरी, सेत=श्वेत-सफेद, नष=नख-नाखून, स्वांति बुन्द=स्वाति जल की बूंद-मोती, जस=समान-जैसी, भवहिं=घूमते-चक्कर काटते, भुल्लहि=भूलकर, सुभाव=प्रेम में अनुरक्त होकर, बास=सुगन्ध, सुष=सुख, सुदिन=शुभ दिन, रचिय=रची-बनाई, उमा=पार्वती, प्रसाद=कृपा, हेरियत=देखता है, जिय=मन।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। पद्मावती समय में प थ्वीराज चौहान तथा पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सुन्दर वर्णन है। यहां कवि नख-शिख पद्धति का पालन करता हुआ पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का आकर्षक वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई शुक अर्थात् तोते के माध्यम से पद्मावती के मनभावन अप्रतिम रूप सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि उसके काले बाल घुंघराले और और सुन्दर हैं, जिसमें सुन्दर फूल गूंथे हुए हैं। भाव यह है कि उसने फूलों की वेणी धारण कर रखी है। उसकी वाणी कायेल के समान मधुर और सुरीली है। ऐसी पद्मावती कमलगंधा है अर्थात् उसके शरीर से कमलों की सुगन्ध आती है, इसलिए उसे पद्मावती कहा गया है। उसकी आयु वयः सन्धि की आयु है, अर्थात् न अभी उसमें पूर्ण यौवन का आगमन हुआ है और न ही बचपन समाप्त हुआ है, अर्थात् वह किशोरावस्था और यौवनावस्था के मध्य है। वह हंस की गति के समान मन्थर गति से चलती है। उसके शरीर पर श्वेत वस्त्र सुशोभित हो रहे हैं। ऐसा लगता है कि मानो उसके वस्त्र स्वाती नक्षत्र की बूंद अथवा मोती के समान उज्ज्वल और सुन्दर हैं। उसके शरीर से उत्पन्न होने वाली सुगन्ध का पान करने के लिए भवंरे अपने चंचल स्वभाव को भूलकर उसी के चारों ओर मंडराते रहते हैं; अर्थात् चक्कर लगाते रहते हैं। भौरों का चंचल स्वभाव होता है। वे किसी एक फूल पर टिक कर नहीं बैठते, बल्कि भिन्न-भिन्न फूलों का रसपान करते हैं, परन्तु आज वे चंचलता को भूलकर पद्मावती के शरीर के इर्द-गिर्द चक्कर काट रहे हैं।

परम सुन्दरी पद्मावती के ऐसे अद्वितीय सौन्दर्य को देखकर तोते को अत्यधिक सुख की प्राप्ति हुई है। वह सोचने लगा कि विधाता ने कोई सुन्दर घड़ी और दिन देखकर ही पद्मावती के सुन्दर शरीर की रचना की है। यह सोचकर मन ही मन वह पार्वती की वन्दना करके शिव की ओर इस आशा से देखने लगा कि यदि शिव पार्वती की कृपा हो जाये तो यह पद्मावती प थ्वीराज को प्राप्त हो जाएगी। अतः वह मन ही मन शिव और पार्वती से पद्मावती और प थ्वीराज के विवाह के लिए स्तुति करने लगा। कितना मनभावन संदर्भ है कि तोता गुरु की तरह पथ-प्रदर्शक ही नहीं पथ-निर्माता बन गया है।

विशेष :-

(1) पद्मावती के सौन्दर्य का नख-शिख रूप में वर्णन है।

(2) 'उमा-प्रसाद' शब्द प्रयोग विशेष अभिप्राय से किया है। हिन्दू जाति की युवतियां मनचाहा वर प्राप्त करने के लिए पार्वती की पूजा करती हैं। पार्वती जी प्रसन्न होकर उन युवतियों की मनोकामना को पूरा करने के लिए शिव को प्रेरित करती हैं।

(3) डिंगल, पिंगल मिश्रित-भाषा का आकर्षक रूप है।

(4) श्रृंगार-रस का सुन्दर परिपाक है।

(5) कवित-छंद का सुन्दर प्रयोग है।

(6) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(7) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(8) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(9) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(10) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(11) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(12) 'कुट्टिल केश', 'सौहै सरीर', 'नैन निरखि', 'हर हेरियत' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(13) 'मन्द-मद' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

(14) भमर भंवहि भुल्लहि' में व त्यानुप्रास अलंकार है।

[12]

सूक समीप मन कुंवरि कौ, लग्यौ बचन कै हेत।
अति विचित्र पंडित सुआ, कथत जु कथा अमेत।।

शब्दार्थ :-

सूक=शुक (तोता), कुंवरि=राजकुमारी, लग्यौ=लग गया, बचन=बात, कै हेत=के लिए (हेतु), पंडित=विद्वान, सुआ=तोता, कथत=कथन, कथा=कहानी, अमेत=बहुत सी।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का वर्णन है। यहां कवि तोते के गुण और स्वभाव का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई तोते के मनभावन गुणों का चित्रण करते हुए कहते हैं कि उस तोते के

पास रहते हुए पद्मावती का मन उसकी बातों में लग गया। अर्थात् राजकुमारी पद्मावती उस शुक के प्रति इतनी आकर्षित हो गई कि उसका मन तोते की बातें सुनने में लगा रहता था। उधर वह तोता भी बड़ा विचित्र विद्वान था अर्थात् उसके पास ज्ञान का भण्डार था। वह राजकुमारी पद्मावती को अनेक प्रकार की कहानियाँ (कथाएँ) सुनाता रहता था अर्थात् पद्मावती तोते से असंख्य कहानियाँ सुनती रहती थी। इन कहानियों से पद्मावती का मन आनन्द से परिपूर्ण हो जाता था।

विशेष :-

(1) तोते की विद्वता पर प्रकाश डाला गया है। उस तोते के पास असंख्य कथाओं का भण्डार था जिसे वह राजकुमारी को सुनाता रहता था।

(2) दोहा-छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(3) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(4) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(5) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(6) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(7) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(8) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(9) 'सूक समीप' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[13]

पुच्छत बचन सुबाले, उच्चरिय कीट सच्च सच्चाये।
कवन नाम तुव देस, कवन चन्द करै परवेस।।

शब्दार्थ :-

पुच्छत=पूछती है, बचन=बात, सुबाले=सुन्दर बाला (श्रेष्ठ नारी), उच्चरिय=बाताओ, कीट=तोता, सच्च सच्चाये=सच सच, कबन=कौन-सा, तुप=तुम्हारा, देस=देश, चन्द=इन्द्र (राजा), परवेस=राज्य।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहां कवि उस समय का चित्रण करता है जब पद्मावती उस तोते से उसका पूरा परिचय पूछती है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि वह श्रेष्ठ नारी पद्मावती उस तोते से यह बात पूछने लगी और कहने लगी-हे तोते ! तुम मुझे सच-सच बताओ, तुम्हारा नाम क्या है ? और तुम्हारा देश कौन सा है ? अर्थात् तुम किस देश के रहने वाले हो ? साथ ही तुम यह भी बताओ कि तुम्हारे देश में कौन राजा राज्य करता है ? अर्थात् उस राजा का क्या नाम है ?

विशेष :-

(1) संवादों का आकर्षक प्रयोग कर पद्मावती के कथन को नाटकीय बना दिया है।

(2) गाथा छन्द का सफल प्रयोग किया है। यह छन्द प्राकृत भाषा का सर्वाधिक प्रिय और

प्रमुख छन्द था। अक्सर कवि लोग कथा वर्णन में ही इसका प्रयोग करते थे। कवि चन्द ने भी गाथा छन्द का सफल प्रयोग किया है।

(3) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(4) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(5) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(6) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(7) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(8) 'सच्च सच्चाये' में पुनरुक्ति अलंकार है।

[14]

उच्चरिय कीट सुनि बचनं, हिन्दबान दिल्ली गढ़ अयनं।
तहां चन्द अवतार चहुंवान, तहं पृथिराज सूर सुभारं।।

शब्दार्थ :-

उच्चरिय=बोला, कीट=तोता, बचनं=वचन, हिन्दबान=हिन्दुस्तान, गढ़=किला, अयनं=स्थान (नगर),तहां=वहां, चन्द=इन्द्र (राजा), तहं=वह, चजुंवानं=चौहान वंश, पृथिराज=पृथ्वीराज, सूर=शूरवीर, सुभारं=भारी (बलवान)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'पृथ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घृत हैं। इसमें पृथ्वीराज चौहान तथा पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का वर्णन है। यहां कवि पद्मावती और तोते के आकर्षक वार्तालाप का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि पद्मावती के वचनों को सुनकर तोता पद्मावती से कहने लगा कि हिन्दुस्तान में दिल्ली गढ़ का नाम एक नगर (स्थान) है। वहां पर इन्द्र का अवतार चौहान वंश में उत्पन्न अत्यधिक शूरवीर और बलवान राजा पृथ्वीराज है। यहां तोते ने पद्मावती को पृथ्वीराज चौहान का परिचय दिया और बताया कि वह दिल्ली का राजा था। उसका जन्म चौहान वंश में हुआ और वह बड़ा शूरवीर था। इस प्रकार चौहान वंश की गौरवता के साथ पृथ्वीराज की शूरवीरता का चित्रण किया गया है।

विशेष :-

(1) पृथ्वीराज की शूरवीरता और उसके वंश का परिचय दिया गया है।

(2) गाथा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(3) डिंगल पिंगल भाषा का मिश्रित प्रयोग है।

(4) पाठान्तर - दूसरी पंक्ति में सुमारं के स्थान पर संभारम् शब्द भी मिलता है। सुभानम का अर्थ है -'सूर्य' के समान तेजस्वी' अर्थात् पृथ्वीराज सूर्य के समान तेजस्वी था।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'सूर सुभारं' में छेकानुप्रास है।

[15]

पयामावतिहि कुंवर संघत, दुज कथा कहत सुनि सुनि सुवत।
हिन्दवान थान उत्तम सुदेस, तहं उदत द्रुग्ग दिल्ली सुदेस।।

शब्दार्थ :-

पयामावतिजि=पदमावती के पास, कुंवर=राजकुमार, संघत=सात, दुज=द्विज (पक्षी), सुंवत्त=सुन्दर कथा, हिन्दवान=हिन्दुस्तान, थान=स्थान, सुदेस=अच्छा देश, उदत=उदित (प्रकट), द्रुग्ग=दुर्ग (किला)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का वर्णन है। यहां शुक पद्मावती से दिल्ली की शोभा का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि वह पक्षी अर्थात् तोता पद्मावती के पास पहुंचकर कहने लगा, "सुनो, सुनो !" यह कहकर वह तोता पद्मावती का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अपनी सुन्दर कथा बताने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि तोते ने आग्रहपूर्वक पद्मावती का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और कहा कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं का सुन्दर एवं उत्तम देश है। वहां पर दिल्ली नाम का एक दुर्ग (किला) अपना सिर ऊंचा उठाए खड़ा है। कहने का भाव है कि दिल्ली का किला बहुत ऊंचा है और उसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई है।

विशेष :-

(1) तोता पद्मावती को सम्बोधित कर उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है तथा बड़ी बुद्धिमता से पद्मावती को आग्रहपूर्वक अपनी बात सुनने के लिए कहता है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गयेता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'कथा कहत' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) 'सुमि सुमि' में पुनरुक्ति अलंकार है।

(12) 'सुनि सुनि सुवत' में व त्यानुप्रास अलंकार है।

[16]

संभरि नरेस चहुंआन थानं, प्रथिराज तहां राजंत भानं।
बैसह बरीस षोडस नरिदं, आजानु बाहु भुअलोक चंदं।।
संभरि नरेस सोमेस पूत, देवंत रूप अवतार धूत।
तासु मंसूर सब्बै अपार, भूजानं भीम जिम सार भार।।

शब्दार्थ :-

संभरि=सांभर झील के आसपास का क्षेत्र जिसे शकम्बरी भी कहते हैं, नरेस=राजा, चहुंआन थान=चौहान वंशीय राजाओं का स्थान (राजधानी), प्रथिराज=प थ्वीराज, राजंत=सुशोभित, भानं=सूर्य के समान, बैसह=आयु (वयस), बरीस=वर्ष, षोड़स=सोलह नरिदं=राजा, आजानु बाहु=घुटनों तक लग्बी भुजाओं वाला, भुअलोक=प थ्वी लोक, चंदं=इन्द्र, संभरि नरेस=संभरि नरेश, पूत=पुत्र, देवंत=देवताओं जैसा, धूत=चीर (धारण किया), तासु=उसका, मंसूर=सामन्त, सब्बै=सब, अपार=असीम, भूजांन=भुजाओं में, सार=लोहा (शक्ति)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का वर्णन है। यहां कवि शुक के माध्यम से पद्मावती के समक्ष प थ्वीराज की वीरता और उसके बल का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि वह दिल्ली का किला चौहान वंशी 'शाकम्बरी' राजाओं की राजधानी है। कवि ने प थ्वीराज के वंशजों को शाकम्बरी इसलिए कहा है, क्योंकि उनके पूर्वज सांभर झील के आसपास रहते थे। वहां दिल्ली में प थ्वीराज सूर्य के समान सुशोभित है। अर्थात् सूर्य के समान तेजस्वी प थ्वीराज दिल्ली प्रदेश में राज्य कर रहा है। उस राजा की आयु केवल सोलह वर्ष है। वह मनुष्यों में इन्द्र के समान प्रतापी है। घुटनों तक लम्बी-लम्बी उसकी भुजाएं हैं और वह इस प थ्वी लोक पर इन्द्र के समान बलशाली राजा है। कहने का तात्पर्य यह है कि सोलह वर्ष की अल्प आयु में प थ्वीराज ने इन्द्र के समान अपनी वीरता और प्रताप का परिचय दे दिया था। इसलिए कवि ने उसे प थ्वी पर इन्द्र के समान शक्तिशाली माना है।

प थ्वीराज सांभर के राजा सोमेश्वर का बेटा है। देवताओं के समान सुन्दर रूप धारण करके उसने प थ्वी पर अवतार लिया है। वह बड़ा ही अद्‌भुत वीर और बलवान है। उसके सभी सामंत भी वीर और बलवान हैं। वीर सामंतों की भुजाएं भीम की भुजाओं के समान सुद ढ़ तथा लोहे के समान कठोर हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि केवल प थ्वीराज चौहान ही शूरवीर, शक्तिशाली और बलवान नहीं था, बल्कि उसके समस्त सामंत भी प थ्वीराज के समान शूरवीर, शक्तिशाली, बलवान और प्रतापी थे।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज के स्वरूप, उसके गुणों और वीरता का वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'बैसह बरीय', 'भूजान भीम' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) सम्पूर्ण पद में उपमा अलंकार है।

टिप्पणी -

प्राचीनकाल में सांभर और अजमेर का बड़ा ही शक्तिशाली राज्य था। प थ्वीराज के पिता का नाम सोमेश्वर था। वे इसी विशाल और शक्तिशाली राज्य के स्वामी थी।

'अजान बाहु'-सामुद्रिक शास्त्र में बताया गया है कि जिस पुरुष की भुजाएं घुटनों तक लम्बी होती हैं वे वीर, बलवान तथा महापुरुष होते हैं। वीर शिवाजी को भी अजान बाहु कहा गया है। वैसे ही अर्जुन को भी महाभारत में अजानबाहु कहा गया है।

[17]

जिहि पकटि साह साहाब लीन, तिंह बेर कटिल पानीप हीन।
सिंगिनिं सुसद्द गुन चढ़ि जंजीर, चुक्के न संबद बेधंत तीर।।
बल बैन करन जिमि दांन पान सत्त सहस सील हरिचंद सयान।
साहस सुक्रम विक्रम जु वीर, दानव सुमंत अवतार धीर।।
दिस-च्यारि जानि सब कला भूप, कूद्रप्प जान अवतार रूप।।

शब्दार्थ :-

जिहि=जिसने, पकरि=पकड़कर, साह=बादशाह, साहाब=शहाबुद्दीन गौरी, लीन=लिया, तिहुं बेर=तीन बार, कटिल=किया, पानीप हीन=जिसकी प्रतिष्ठा धूल में मिला दी, सिंगिनि=धनुष की डौरी, सुसद्द=टंकार, गुन=गुण (प्रत्यंचा), जंजीर=सांकल, चुक्के=चूकना, संबद=शब्द, बेधंत=भेद देता है, बल=राजा बलि, बैन=वचन, करन=राजा कर्ण, जिमि=ज्यों (के समान), दांन पान=दान पाणि (दान करने वाला, सत्त=सौ, सील=शीलवान, सुक्रम=सुकर्म, विक्रम=राजा विक्रमादित्य, जु=जो, दानव=दानव (दैत्य), सुमंत=अत्यधिक उन्मत्त, धीर=धैर्यशाली, दिस=दिशा, च्यारि=चार, दिशा च्यारि=चौदह (दस+चार=चौदह), कला=प्रताप, क्रदप्प=कदर्प (कामदेव)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का वर्णन है। यहां कवि शुक के माध्यम से दिल्ली नरेश प थ्वीराज चौहान के ज्ञान, गुण तथा वीरता का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि ये वही वीर एवं प्रसिद्ध प थ्वीराज चौहान हैं जिसने गजनी के राजा शहाबुद्दीन को तीन बार पकड़ा और उसकी प्रतिष्ठा को धूल में मिलाकर छोड़ दिया अर्थात् प थ्वीराज ने मोहम्मद गौरी को तीन बार युद्ध में पराजित कर कैद किया था और फिर उसे अभय दान दे दिया था। इससे गौरी की मान मर्यादा नष्ट हो

गई थी। ऐसे उस वीर पृथ्वीराज के धनुष पर लोहे के जंजीर की डोरी चढ़ती है। (यदि यहां सिंगिनी का अर्थ सिंगिनि न किया जाये तो अर्थ होगा-संगी का बना धनुष। इसी प्रकार से सामान्य धनुष में प्रायः रेशम, धागे या चमड़े की तांत की डोरी (प्रत्यंचा) चढ़ाई जाती है। परन्तु पृथ्वीराज के धनुष की डोरी लोहे की जंजीर की बनी थी। पृथ्वीराज के धनुष की प्रत्यंचा की टंकार से भयंकर ध्वनि उत्पन्न होती थी। पृथ्वीराज अचूक शब्दबेधी बाण चलाने वाले योद्धा थे। कहने का भाव है कि केवल आवाज को सुनकर ही लक्ष्य को आंखों से देखे बिना वे निशाने पर तीर चलाते थे। शब्दबेधी बाण चलाने की यही कला होती है।

पृथ्वीराज की दृढ़ प्रतिज्ञा और दानवीरता का वर्णन करते हुए तोता कहता है कि वे वचन का पालन करने में राजा बलि के समान थे तथा दान देने में राजा कर्ण के समान और वह शील (सुन्दर आचरण) में सैकड़ों हरिश्चन्द्र राजाओं के समान हैं। (यदि यहां सत् का अर्थ सत्य माना जाए तो अर्थ होगा-वह सत्य और शील का पालन करने में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र के समान है)।

साहस तथा सद्कर्म करने में वह राजा विक्रमादित्य के समान वीर तथा साहसी है। उन्होंने उन्मत्त दानवों का संहार करने के लिए अवतार लिया है और वे बड़े ही धैर्यवान हैं। चारों दिशाओं में सभी लोग उस पृथ्वीराज की कला अर्थात् तेजस्वी रूप को अच्छी प्रकार से जानते हैं। वह शरीर रूप से इतना सुन्दर है कि मानो साक्षात् कामदेव का अवतार है। इस प्रकार पृथ्वीराज शूरवीर, दानवीर और धैर्यशाली हैं।

विशेष :-

(1) पृथ्वीराज के वंश, वीरता, सौन्दर्य और सत्यवादिता का वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता और लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'साह साहाब', 'सिगिनि सुसद्द', 'बल बैन', 'साहस सक्रम' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) 'सत सहस सील' में वृत्यानुप्रास अलंकार है।

[18]

कामदेव अवतार हुअ, सुअ सोमेसर नन्द।
सहस-किरन झलहल कमल, रति समीप बर बिन्द।।

शब्दार्थ :-

हुअ=हुआ, सुअ=सुत (पुत्र), नन्द=आनन्द देने वाला, सहंस=किरण, झलहल=सहस्त्र किरणों वाले सूर्य के समान झिलमिलाने वाला, रति=कामदेव की पत्नी का नाम, बर=श्रेष्ठ, बिन्द=पति (राजस्थानी भाषा में पति को आज भी बिन्द कहा जाता है)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का वर्णन है। यहाँ कवि पद्मावती के समक्ष शुक के माध्यम से राजा प थ्वीराज चौहान की वीरता और सुन्दरता का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि राजा सोमेश्वर के हृदय में आनन्द प्रदान करने वाला उनका यह राजकुमार ऐसा लग रहा था, मानो कामदेव ने उसके रूप में स्वयं अवतार लिया है। प थ्वीराज कमलों को प्रफुल्लित करने वाले सहस्त्रों किरणों से सुशोभित चमकते हुए सूर्य के समान तेजस्वी हैं तथा वह रति के पास स्थित उसके पति कामदेव के समान सुन्दर हैं। अर्थात् जिस प्रकार सहस्त्र किरणों वाले सूर्य के तेज से कमल खिल जाते हैं, उसी प्रकार प थ्वीराज के तेजस्वी रूप को देखकर लोग प्रसन्न हो जाते हैं। इस प्रकार प थ्वीराज चौहान का रूप सौन्दर्य अनुपम है।

विशेष :-

(1) शुक पद्मावती को यह इशारा करता है कि वह प थ्वीराज तुम्हारे समीप उसी प्रकार सुशोभित है जिस प्रकार कामदेव रति के पास सुशोभित होता है। अतः तुम्हें (पदमावती) को प थ्वीराज का अवश्य वरण करना चाहिए।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) श्रंगार-रस का सुन्दर परिपाक है।

(4) दोहा-छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'बर बिन्द' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[19]

सुनत स्त्रबन प थिराज जस, उमग बाल विधि अंग।
तन मन चित्त चहुंआन पर, बस्यौ सु-स्त्रह रंग।।

शब्दार्थ :-

स्त्रबन=श्रवण (कान), प थिराज=प थ्वीराज, जस=यश, उमंग=उमंगित होना, बाल=युवती (पद्मावती), विधि=भली प्रकार, तन=शरीर, चित=हृदय, सु-स्त्रह=सुरति (प्रेम), रंग=प्रेम का वर्ण।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम प्रसंग तथा विवाह का अनुपम वर्णन है। यहाँ कवि ने तोते के माध्यम से प थ्वीराज की वीरता, यश और गुणों का जो आकर्षक

चित्रण किया है उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप पद्मावती के मन पर जो प्रतिक्रिया हुई उसी का वर्णन है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि अपने कानों से प थ्वीराज चौहान के यश को सुनकर पद्मावती के शरीर के सभी अंग-प्रत्यंग पूर्णतः उमंगित हो उठे। अर्थात् पद्मावती के शरीर के सभी अंगों में रोमांच उत्पन्न हो गया। उसके शरीर, मन और हृदय पर चौहान राजा प थ्वीराज का रंग चढ़ गया। कहने का भाव यह है कि तोते के मुख से प थ्वीराज के यश और वीरता का वर्णन सुनकर पद्मावती शरीर, मन और हृदय से प थ्वीराज से प्रेम करने लगी। वह प थ्वीराज के प्रेम में रंग गई तथा उस पर अनुरक्त हो गई। इस प्रकार पद्मावती के हृदय में प थ्वीराज के प्रति असीम प्रेम जाग्रत हो गया।

विशेष :-

(1) नायक के गुणों को सुनकर नायिका पद्मावती के हृदय में प्रेम के सात्विक भाव उदित हो जाते हैं। काव्यशास्त्रीय द ष्टि से इस स्थिति को पूर्वराग कहते हैं। यह एक कथानक रूढ़ि है। जिसका अनेक प्रेम कथाओं में वर्णन हुआ है जैसे-जायसी के 'पदमावती' में हीरामन तोते के मुख से पद्मावती के रूप सौन्दर्य का वर्णन सुनकर रत्नसेन के हृदय में पद्मावती के प्रति प्रेम भाव जाग्रत होना भी पूर्वराग कहलाता है।

(2) डिंगल पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) श्रं गार रस का अनुपम परिपाक है।

(4) दोहा-छन्द का सफल प्रयोग है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता और लयात्मकता है।

(9) प्रसाद ओर ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'सुनत स्त्रवन', 'चित्त चहुंआन' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[20]

बैस बिती ससिता गई, आगम कियो बसन्त।
मात-पिता चिन्ता भई, सोधि जुगति कौ कन्त।।

शब्दार्थ :-

बैस=वयस, (आयु), बिती=व्यतीत हुई, समाप्त हुई, ससिता=शिशुता, बाल्यावस्था=बचपन, आगम=आना, सोधि=खोजना, जुगति=युक्ति, कौ=का= कन्त=वर।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि पद्मावती के यौवनावस्था में पहुंचने पर उसके माता-पिता की योग्य वर खोजने की चिन्ता का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि अब पद्मावती की बाल्यावस्था व्यतीत हो गई थी। अर्थात् उसकी शिशुता अर्थात् बचपन समाप्त हो गया। उसके शरीर में बसन्त का आगमन होने लगा अर्थात् उसके शरीर में यौवन के चिह्न दिखाई देने लगे अर्थात् अब वह वयःसन्धि को त्यागकर नवयौवना नायिका बन गई थी। यह देखकर उसके माता पिता को चिन्ता सताने लगी कि उसके लिए (पद्मावती) उचित वर की खोज करनी चाहिये। इस प्रकार पुत्री के यौवनावस्था में पहुँचने पर उसके लिए वर की खोज की चिन्ता माता-पिता के लिए सहज एवं स्वाभाविक है।

विशेष :-

(1) यह सामाजिक सत्य है कि जब भी किसी माता-पिता की बेटी यौवनावस्था में कदम रखती है तो उसके विवाह के लिए योग्य वर खोजने की चिन्ता उन्हें सताने लगती है।

(2) दोहा छन्द का प्रयोग है।

(3) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(4) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(5) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(6) आकर्षक गेयता और लयात्मकता है।

(7) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(8) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(9) 'बैस बिति', 'कौ कन्त' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(10) 'बसन्त' शब्द में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

[21]

सोधि जुगति कौ कन्त, कियो तब चित्त चहौं दिस।
लयो विप्र गरू बोल, कही समुझाय बात तस।।
नर नरिन्द नरपति बड़े, गढ़ दुग्ग असेसह।
सीलवन्त कुल सुद्ध, देहु कन्या सुनरेसह।।
तब चलन देहु दुज्जह लगन, सगुन बन्द हिय अप्प तन।
आनन्द उच्छाह समुदह सिधर, बजत नद्द नीसांन धन।।

शब्दार्थ :-

सोधि=शोध-खोजना, जुगति=युक्ति, बोल=बुलाया, तस=इस प्रकार, नर=मनुष्य, नरिन्द=राजा, नरपति=राजा, असेसह=असंख्य, सुनरेसह=श्रेष्ठ राजा को, चलन=रीति-रस्म, दुज्जह=द्विज को, ब्राह्मण को, लगन=लग्न, सगुन=तिलक, टीका, बन्द=वन्दन-रोली, अप्प तन=स्वयं अपने हाथ से, समुदह सिधर=समुद्र शिखर में, नद्द=नाद-घोष-शोर, नीसांन=नगाड़े, घन=सघन, घनघोर, प्रचण्ड।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम-प्रसंग तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस स्थिति का वर्णन करता है जब राजकुमारी पद्मावती का पिता राजा विजय

अपनी पुत्री के विवाह की चिंता से ग्रस्त हो कर अपने कुल पुरोहित को बुलाकर उसे समझाता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि राजा विजय ने अपनी बेटी पद्मावती के लिए योग्य वर खोजने के लिए अपने मन को चारों दिशाओं में दौड़ाया। भाव यह है कि वह अपने मन में बार-बार सोचने लगा कि उसकी सुन्दर पुत्री के लिए कौन सा राजा योग्य वर के रूप में हो सकता है। बाद में उसने अपने कुल पुरोहित को बुलाया और उसे सारी बात समझाकर कही उसने कहा कि इस संसार में अनेक मानव और मानवों में इन्द्र के समान बड़े-बड़े प्रतापी राजा और नरेश हैं। उनके पास अनेक बड़े-बड़े किले और दुर्ग हैं। तुम उनमें से जिसको शीलवान और श्रेष्ठ (युद्ध) कुल का समझते हो, उस सुन्दर राजा को यह कन्या दे दो, अर्थात् तुम किसी कुलीन शीलवान और प्रतापी राजा को देखकर मेरी बेटी पद्मावती की सगाई पक्की कर दो। यह सब समझाने के बाद राजा विजय ने अपने कुल पुरोहित को लग्न तथा टीके की रोली आदि सारी सामग्री अपने हाथों से देकर उसे यात्रा के लिए विदा कर दिया। यही नहीं, राजा ने अपने मन में शुभ शकुनों का विचार किया और ईश्वर से प्रार्थना की कि वह अपने इस कार्य में सफलता प्राप्त करे। राजकुमारी का टीका भिजवाने की खुशी में समुद्र शिखर राज्य में चारों ओर आनन्द और उत्साह की लहरें दौड़ गई और बादलों की गम्भीर गर्जना के समान गड़गड़ाहट में भयंकर नगाड़े बजने लगे। इस प्रकार राजकुमारी का टीका भिजवाने का शुभ समाचार सुन कर समुद्र शिखर राज्य का प्रत्येक जन आनन्द और उत्साह में परिपूर्ण होकर झूम उठा।

विशेष :-

(1) राजा विजय द्वारा अपनी पुत्री राजकुमारी पद्मावती का टीका भिजवाने से राजा की सम्पूर्ण प्रजा खुशी से झूम उठती है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) कवित्त छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता और लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'चित्त चहौ', 'देहु दुज्जह', 'समुदह सिधर', 'नद्द नीसांन' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) 'नट नरिन्द नटपति' में व त्यानुप्रास अलंकार है।

[22]

सवालष्ष उत्तर, सयल, कमऊं गढ़ दूरंग।
राजत राज कुमोदमनि, हय गय द्रिब्बं अभंग।।

शब्दार्थ :-

सवालष्ष=सवा लाख (शिवालिक पर्वत की चोटियां), उत्तर=उत्तर दिशा, सयल=पर्वत (शैल),

कऊं=आज का कुमायूं, गढ़=किला, दूरग=दुर्गम, राजत=सुशोभित, कुमोदमनि=कुमायूं के राजा का नाम, हय=घोड़े, गय=हाथी, द्रिबं=द्रत्य, अभंग=असंख्य।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम-प्रसंग तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का वर्णन करता है जब राजा विजय का कुल पुरोहित उसकी बेटी पद्मावती के लिए योग्य वर की खोज करता हुआ उत्तर दिशा में हिमालय पर्वत पर स्थित कुमायूं नामक राज्य में जा पहुंचता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि उत्तर दिशा में शिवालिक नामक पर्वत की श्रेणियों में कुमायूं नाम का एक अत्यन्त दुर्गम किला विद्यमान है। वहां पर कुमोदमणि नाम का राजा राज्य करता हुआ सुशोभित हो रहा है। उस राजा कुमोदमणि के पास असंख्य घोड़े, हाथी तथा अपार धन-सम्पत्ति है। कहने का भाव यह है कि कुमोदमणि नाम का राजा कुमायूं का राजा था और उसके पास अपार धन-सम्पत्ति तथा घोड़े और हाथी थे।

विशेष :-

(1) राजा कुमोदमणि के धन-वैभव और उसकी सेना का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(8) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(9) 'राजत राज' में पुनरुक्ति अलंकार है।

टिप्पणी -

कुछ टीकाकारों ने 'सवालष्ष' का अर्थ 'सपाद लष्ष' तथा कुछ न 'सवा लाख' किया है, परन्तु 'सपाद लष' अर्थ असंगत प्रतीत होता है। उस काल में अजमेर और सांभर का प्रदेश सपाद लष्ण के नाम से प्रसिद्ध था, इसलिए कुमांयू के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। इन दोनों प्रदेशों में हजारों मीलों का अन्तर है। सवा लाख अर्थ के अतिशयोक्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अर्थात् कुमायूं का क्षेत्र उत्तर दिशा में सवा लाख पर्वतों के बीच विद्यमान है। आज भी इसे शिवालिक ही कहते हैं।

[23]

नारिकेल फल परठि दुज, चौक पूरि मनि-मुत्ति।
दई जु कन्या बचन बर, अति अनन्द करि जुत्ति।।

शब्दार्थ :-

नारिकेल=नारियल, परठि=स्थापित करके, दुज=द्विज (ब्राह्मण), मनि-मुत्ति=मणि और मोती, बचन बर=वाग दान (अर्थात् सगाई करना), अनन्द=आनन्द, जुत्ति=युक्ति (विधि)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम-प्रसंग तथा विवाह का सजीव तथा मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का वर्णन करता है जब कुमायूं के दुर्ग में पहुंच कर राजा विजय के कुल-पुरोहित ने वहाँ के राजा कुमोदमणि को वर के रूप में पसन्द कर उसके साथ पद्मावती की सगाई पक्की कर देता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि कुमायूं के दुर्ग में पहुंच कर राजा विजय के कुल-पुरोहित ने मणियों और मोतियों से चौक पूर कर उसके बीच नारियल के फल स्थापित कर दिए और फिर आनन्दपूर्वक विधि से पद्मावती का राजा कुमोदमणि के साथ वाग्-दान कर दिया। अर्थात् कुल-पुरोहित ने राजा कुमोदमणि के साथ पद्मावती की सगाई पक्की कर दी।

विशेष :-

(1) कुमायूं के राजा कुमोदमणि तथा पद्मावती की सगाई का परम्परागत वर्णन है।

(2) दोहा-छन्द का प्रयोग है।

(3) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(4) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(5) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(6) आकर्षक गेयता ओर लयात्मकता है।

(7) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(8) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(9) 'बचन वर', 'अति अनन्द' में छेकानुप्रास अलंकार है।

टिप्पणी -

यदि यहाँ 'परठि का अर्थ देकर ओर 'वचन' का अर्थ श्लोक माना जाये तो एक नया अर्थ इस प्रकार से हो सकता है-कुल पुरोहित ने मणियों और मोतियों से चौक पूर कर पवित्र श्लोकों का उच्चारण करते हुए कुमोदमणि को नारियल का फल देकर कन्या की सगाई कर दी। इस प्रकार यह नया अर्थ भी सार्थकता को प्रकट करता है।

[24]

भुजंगी-विहहसित वरं लगन लिन्नो नरिन्दं।
बजी द्वार द्वारं सु आनन्द दुन्दु।
गढनं गढ़ं पत्ति सब बोल नुंत्ते।
आइयं भूप सब कटुम्म सुजत्ते।।

शब्दार्थ :-

विहिसित=विहंसते हुए-मधुर हास्य के साथ, वरं=वर-राजा कुमोदमणि, लिन्नो=लियो, द्वार-द्वारं=घर-घर (दरवाजे-दरवाजे), दुन्दं=नगाड़े, गबढ़पति=गढ़पति-राजागण, बोल नुंते=न्यौता देकर बुलाया, कटुम्म=कुटुम्ब, सुजत्ते=साथ-सपरिवार।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि पद्मावती की सगाई हो जाने के पश्चात् राजा कुमोदमणि के राज्य में मनाई जाने वाली खुशियों का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि वर अर्थात् राजा कुमोदमणि ने प्रसन्नतापूर्वक (मधुर हास्य के साथ) राजा विजय के कुल-पुरोहित द्वारा दी गई लग्न को ले लिया। अर्थात् पद्मावती की सगाई को स्वीकार कर लिया। यह समाचार सुनकर कुमायूं नगर के प्रत्येक द्वार पर अर्थात् घर-घर में आनन्द के नगाड़े बजने लगे। भाव यह है कि राजा कुमोदमणि की सगाई का समाचार पाकर कुमायूं के नागरिक आनन्दित हुए और अपने अपने घरों के द्वार पर दुदुभियां बजाने लगे। राजा कुमोदमणि ने अपने सभी गढ़ पतियों को अर्थात् राजाओं और सामन्तों को निमन्त्रण देकर अपने यहां बुलावा भेजा और सभी राजा लोग सपरिवार वहां पहुंच गये। इस प्रकार राजा कुमोदमणि की सगाई का समाचार सुनकर सभी राजा गढ़-पति, सामंत और प्रजा आनंद और प्रसन्नता से विभोर हो उठे।

विशेष :-

(1) कुमायूं नरेश कुमोदमणि तथा वहाँ के नागरिकों की प्रसन्नता का सुन्दर वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) भुजंगी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'लगन लिन्नो' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) 'द्वार द्वार', 'गढ़नं गढ़ं' में पुनरुक्ति अलंकार है।

[25]

भुजंगी-चले दस सहस्सु असब्बार जानं।
परियं पैदलं तेलीस थानं।
मत्त मद गलित सौ पंच दन्ती।
मनो सीय पाहार बुगपंति पंती।।

शब्दार्थ :-

सहस्यु=सहस्त्र (हजार), असब्बार=घुड़सवार, जान=बारात (यान, रथ आदि), राजस्थान में आज भी बारता को जानं कहा जाता है, परियं=भर गए, थानं=स्थान, तेलीस=तीस, मत्त मद, गलित=मदस्त्राव टपकाने वाले हाथी, दन्ती=हाथी, सौ पंच=पांच सौ, साम=श्याम (काले रंग वाले), बुगपंति=बगुले की पंक्ति।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम प्रसंग तथा विवाह का मनोहारी चित्रण किया है। यहाँ कवि राजा कुमोदमणि की विशाल बारात का वर्णन करता है, जिसमें चतुरंगिनी सेना साथ चल रही थी।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि राजा कुमोदमणि अपनी बारात को सजाकर कुमायूं से चल पड़ा। उसके साथ दस हजार घुड़सवार और रथ तथा भारी संख्या में पैदल सैनिक थे। उनसे तीस पड़ाव पूरी तरह से भर गए थे। कहने का भाव यह है कि सेना के तीस स्थानों को पूरी तरह भर देने वाले पैदल सैनिक थे अथवा यह अर्थ भी किया जा सकता है कि राजा की बरात में तेंतीस स्थानों से आए असंख्य पैदल सैनिक थे। कवि पुनः कहता है कि बारात के साथ पांच सौ मदोन्मस्त हाथी थे जिनके मस्तकों से मद टपक रहा था। उन हाथियों के सफेद लम्बे दांत ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो काले पर्वतों पर सफेद बगुले पंक्तियां बांध कर बैठे हों।

यहाँ यदि पहाड़ का अर्थ पयोधर या बादल किया जाए तो अर्थ इस प्रकार होगा - मानो काले बादलों में सफेद बगुलों की पंक्तियां उड़ रही हों। उपमा की द ष्टि से यह अर्थ अधिक आकर्षक और सटीक लगता है क्योंकि बगुले पर्वतों की चोटियों पर पंक्तियां बनाकर नहीं बैठते बल्कि काले बादलों से ढके आकाश में पंक्तियां बनाकर उड़ते हैं। महाकवि कालीदास ने भी मेघदूत में कुछ इसी प्रकार का मनोहारी वर्णन किया है। इस प्रकार राजा कुमोदमणि की बारात का वैभवशाली दर्शन देखकर मानव-मात्र का ह्रदय प्रसन्न हो जाता है।

विशेष :-

(1) राजा कुमोदमणि की बारात का प्रभावशाली वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) भुजंगी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'परिय पैदल', 'मत्त मद' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) 'मनो सोम पाहार बुगपति पंती', में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

[26]

भुजंगी चले अग्गि तेजी जु तत्ते तुषारं।
चौवरं चौरासी जु, सकत्ति भारं।
कंठं नगं नूपं अनोपं सुलालं।
रंग पंच रंग ढलकन्त ढालं।।

शब्दार्थ :-

अग्गि=आगे, तेजी=तीव्र गति से, जु=जो, तत्ते=तप्त (तीव्र), तुषारं=तुषार देश के घोड़े जो तीव्र गति से दौड़ते हैं, चौवरं=चबर (कलगी), चौरासी=घोड़े के गले में पहनाई जाने वाली घुंघरूओं की माला, साकति=शक्ति (शास्त्र), भारं=बोझ, कंठं=गला, नूपं=अनूपं, नगं=हीरे, सुलालं=लाल रंग वाला रत्न, रंग=रंगी हुई, ढलकन्त=हिलती हुई, ढालं=ढाल।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सजीव तथा सुन्दर चित्रण है। यहाँ कवि ने राजा कुमोदमणि की बारात में चलने वाले घोड़ों तथा उनकी साज-सज्जा का मनोहारी वर्णन किया है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि राजा कुमोदमणि की बारात में तुषार देश के अत्यधिक तेज दौड़ने वाले घोड़े बड़ी तेजी के साथ सबसे आगे चलने लगे। इन घोड़ों के मस्तकों पर कलंगियां लगी थीं और उनके गले में घुंघरूओं की माला अर्थात् चौरासियां सुशोभित हो रही थीं। ये घोड़े अपनी ही शक्ति के बोझ से लदे हुए थे। उनके ले में अत्यधिक सुन्दर और अनुपम रत्नों के लालों से जड़ी काठियां सुशोभित हो रही थीं। उन घोड़ों की पीठ पर लटकती हुई पांच रंगों वाली ढालें घोड़ों के तेज चलने से हिल रही थीं। इस प्रकार घोड़े साज-सज्जा के सुसज्जित आकर्षक लग रहे थे।

विशेष :-

(1) राजा कुमोदमणि की बारात की सेना के घोड़ों की वेशभूषा तथा उनकी गति का सजीव वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) भुजंगी छन्द का सुन्दर एवं आकर्षक प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'तत्ते तुषार', 'चौटारं चौरासी', 'नगं नूपं', 'ढलकन्त ढालं' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[27]

भुजंगी-पंच गुट सुर सबाद बाजिन्न बाजं।
सहस समनाय म्रिग मोहि राजं।
समुद्र सिर सिषर उच्छाह छाहं।
रचित मुण्डपं तोरन श्रीयगाहं।।

शब्दार्थ :-

पंच सुर=पांच प्रकार के स्वर -पांच प्रकार के बाजे-ताल, तंत्री, झाल, नगाड़ा ओर तुरही,

सवाद्द=शब्द-ध्वनि, बाजित=बज रहे थे, बाजं=बाजे, समनाय=शहनाई-एक प्रकार का बाजा जो मंगलकार्यों के अवसर पर बजाया जाता है। इसे 'नफीरी' भी कहते हैं, म्रिग=म ग, राजं=राजित-सुशोभित, सिर=ऊपर, उच्छाह=उत्साह-आनन्द, छाहं=छा रहा था, तोरन=तोरण-वन्दनवार, श्रीयगाहं=सौन्दर्य का भण्डार-अगाध सौन्दर्य।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का वर्णन करता है जब कुमायूं से कुमोदमणि की बारात का प्रस्थान करने का समाचार समुद्र शिखरवासियों को मिला तो वहाँ सर्वत्र खुशी का वातावरण छा गया।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनमोहक चित्रण करता हुआ कहता है कि समुद्र शिखर में पांच प्रकार के वाद्य-यन्त्रों (ताल, तंत्री, नगाड़ा, झांज, तुरी) अपने भिन्न-भिन्न प्रकार के पांच स्वरों के साथ बजाए जा रहे थे। म गों को भी मोहित करने वाला हजारों शहनाईयों का संगीत चारों ओर गूंज रहा था। समूचे समुद्र शिखर प्रदेश में उत्साह और आनन्द का वातावरण छाया हुआ था। नगरों के चारों तरफ अपार शोभाशाली सुन्दर मण्डप तथा बन्दनवारें सजाए गए थे।

कहने का भाव यह है कि राजा कुमोदमणि की बारात के प्रस्थान करने के समाचार से समुद्र शिखर नगर में चारों तरफ उल्लास और प्रसन्नता का वातावरण छा गया था। वहां पांच प्रकार के वाद्य यन्त्र बजने लगे और शहनाईयां अपना मधुर स्वर उत्पन्न करने लगीं। यही नहीं लोग अपने घरों में सुन्दर बन्दनवारें तथा मण्डप सजाने लगे। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रजा में प्रसन्नता और उल्लास का वातावरण छा गया।

विशेष :-

(1) समुद्र शिखर निवासियों की प्रसन्नता तथा उल्लास का मनोहारी वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) भुजंगी छन्द का सुन्दर एवं आकर्षक प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'सुर सबाद्द', 'बापिन्न बाजं', 'सहस समनाय', 'म्रिग मोहि' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) 'समुद्र सिर सिषर', में व त्यानुप्रास अलंकार है।

[28]

पदमावती बिलख कर बाल बेली।
कही कीट सों बयात तब हो अकेली।
झटं जाहु तुम कीट दिल्ली सुदेसं।
वरं चहुंवान जु आनौ नरेसं।।

शब्दार्थ :-

बिलखि=बिलखकर (व्याकुलता से रोकर), वर=श्रेष्ठ, बाल=बाला (युवती), बेली=बेल, कीर=तोता, झटं=तत्काल (जल्दी), सुदेसं=सुन्दर देश, वरं=वरण करना, चहुंवान=चौहान, आनौ=ले आओ, नरेसं=राजा।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि ने कुमायूं से आने वाली कुमादमणि की बारात के समाचार का राजकुमारी पद्मावती पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन किया है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनमोहक चित्रण करता हुआ कहता है कि अपनी बारात के आने का समाचार सुनकर श्रेष्ठ तथा सुन्दर कोमल लता के समान कांपती हुई पद्मावती अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगी। बिलखते हुए उसने एकान्त में तोते से ये बात कही - हे तोते ! तुम जल्दी से अर्थात् शीघ्रता से सुन्दर देश दिल्ली चले जाओ। यदि तुम वहां के राजा प थ्वीराज चौहान को यहां ले आओ तो मैं उनका वरण करूंगी। पद्मावती के कहने का अभिप्राय है कि वह केवल प थ्वीराज चौहान से ही विवाह करेगी। इसलिए उसने तोते को तत्काल दिल्ली जाने के लिए कहा। इस प्रकार पद्मावती प थ्वीराज चौहान से मिलने के लिए अत्यन्त व्याकुल है।

विशेष :-

(1) पद्मावती की मनोव्यथा का मार्मिक वर्णन है।

(2) पद्मावती का एकनिष्ट प्रेम दिल्ली के राजा प थ्वीराज चौहान के साथ था।

(3) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(4) भुजंगी छन्द का सुन्दर एवं आकर्षक प्रयोग है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'बाल बेली', 'कही कीट', में छेकानुप्रास अलंकार है।

[29]

आँनौ तुम चहुंवान वर, अरू कहि इहै संदेस।
साँस ससिरहि जौ रहै, प्रिय प्रथिराज नरेस।।

शब्दार्थ :-

आनौ=ले जाओ, चहुंवान=प थ्वीराज चौहान, वर=श्रेष्ठ, कहि=कहकर, इहै=यह, सरीरहि=शरीर में, जौ=जब तक, प्रथिराज=प थ्वीराज।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस स्थिति का वर्णन करता है जब कुमोदमणि की बारात समुद्र शिखर के लिए चल पड़ती है तथा पद्मावती कीट को दिल्ली जाने का आग्रह करती है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनमोहक चित्रण करता हुआ कहता है कि तुम मेरे (मन चाहे) वर अर्थात् पति प थ्वीराज चौहान को यहां ले आओ। साथ ही उन्हें मेरा यह संदेश कहना कि मेरे शरीर में जब तक सांसे रहेंगी, तब तक राजा प थ्वीराज चौहान ही मेरे प्रियतम रहेंगे। कहने का भाव यह है कि जब तक मैं जीवित रहूँगी, तब तक प थ्वीराज के अतिरिक्त किसी अन्य राजा को अपना पति स्वीकार नहीं करूंगी। मेरा एकनिष्ट प्रेम उसी दिल्ली नरेश से है।

विशेष :-

(1) पद्मावती के एकनिष्ट एवं स्थिर प्रेम का वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'साँस सरीरहि', 'प्रिय प्रथिराजं', में छेकानुप्रास अलंकार है।

[30]

प्रिय प्रथिराज नरेस, जोग लिषि कग्गर दिन्नौ।
लगुन बरग रचि सरब, दिन द्वादस ससि लिन्नौ।।
सै अरु ग्यारह तीस, साथ संपत परमानह।
जीवित्री कुल सुद्ध, वरनि वर रष्षहु प्रानहं।।
दिष्षंत दिष्ट चच्चरिथ बर, इक पलक बिल्लब न करिय।
अलगाट रयन दिन पंच महि, ज्यों रुकमिनि कन्हर करिय।।

शब्दार्थ :-

जोग=यथा योग्य, लिषि=लिखकर, कग्गर=कागज (पत्र), दिन्नौ=दिया, लगुन=लग्न, बरग=कुंडलि, रचि=बनाकर, सरब=सब, द्वादस ससि=शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि, सै अरु ग्यारह=ग्यारह सौ तीस सम्वत्,साष=शक सम्वत्, परमानद्द=प्रमाणित (अवधि), जीवित्री=स्त्री, कुल सुद्ध=शुद्ध कु की, वरनि=वरण करने योग्य, वर=वरण करके, रष्षहु=रक्षा करी, प्रानह=प्राण (जीवन), दिष्षत=देखते ही, चच्चरिय=तत्काल चल दो, पलक=पलभर, विलम्ब=देर, करिय=करना, अलगाट=अलग-अलग, रयन=रात, महि=में, रुकमिनि=कृष्ण की पटरानी, कन्हर=श्रीकृष्ण, बरिय=वरण किया।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस स्थिति का वर्णन करता है जब पद्मावती अपने विवाह की लग्न तिथि आदि का विवरण एक पत्र पर लिखकर शुक को देती है ताकि वह उस पत्र को प थ्वीराज तक पहुंचा सके।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनमोहक चित्रण करता हुआ कहता है कि पद्मावती ने अपने प्रियतम राजा प थ्वीराज चौहान के लिए यथायोग्य लिखकर एक पत्र तोते को दे दिया। उसने इस पत्र में यह लिखा कि उसका विवाह किस तिथि को तथा किस लग्न में होने जा रहा है। उसने लिखा था कि शक् सम्वत् 1130 के वैशाख महीने की शुक्ल पक्ष की द्वादशी को उसका विवाह होना निश्चित हुआ है। कहने का भाव यह है कि पद्मावती ने अपने विवाह की तिथि, समय, स्थान आदि का पूरा विवरण पत्र में लिख दिया। आगे पत्र में उसने लिखा - अगर तुम मुझे शुद्ध कुल की स्त्री समझते हो अर्थात् तुम यदि समझते हो कि मेरा कुल तुम्हारे साथ सम्बन्ध रखने योग्य है तो तुम मेरा वरण करके मेरे प्राणों की रक्षा करो। हे प्रियतम ! तुम इस पत्र को अपनी द ष्टि से देखते ही तत्काल उठकर चल देना और एक पल की भी देरी न करना। अर्थात् यदि तुम समय पर न पहुंचे तो मेरा विवाह तुमसे नहीं हो सकेगा। जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने रुकमिणी का वरण किया था उसी प्रकार तुम पांच दिन-रात में अर्थात् गुप्त रूप से आकर मेरा वरण कर लो। इस प्रकार पद्मावती प थ्वीराज को पत्र भेजकर प्रेम पूर्वक आने का निवेदन करती है।

विशेष :-

(1) पद्मावती के उस पत्र की चर्चा की गई है जो उसने गुरु के माध्यम से प थ्वीराज के पास भेजा था।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) कवित्त छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'प्रिय प्रथ्वीराज', 'दिन द्वादसं', 'साथ संपत', 'वरनि वर', 'तथा दिष्षत दिष्ट' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[31]

ज्यो रुकमिनि कन्हर वरिय,त्यों वरि संभर कान्त।
सिव मंडप पच्छिम दिसा, पूजि समय सप्रान्त।।

शब्दार्थ :-

कन्हर=श्रीकृष्ण, वरिय=वरण किया, वरि=वरण करो, संभरकान्त=सांथर नरेश (प थ्वीराज चौहान), सिव मंडप=शिव मन्दिर, सप्रान्त=सुन्दर प्रभात बेला में।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का अनुपम वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का वर्णन करता है जब कुमायूं का राजा कुमोदमणि पद्मावती को ब्याहने के लिए बारात लेकर चल पड़ा, तब पद्मावती का मन चंचल हो गया, उसने एक पत्र लिखकर तोते को दिया। उस पत्र में लिखा था कि प थ्वीराज को किस प्रकार उसका वरण करना चाहिए।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनमोहक चित्रण करता हुआ कहता है कि पद्मावती पत्र में लिखती है-'जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने रुकमणि का (गौरी पूजन के अवसर पर) वरण किया था, उसी प्रकार तुम भी नगर की पश्चिम दिशा में स्थित शिव के मन्दिर में प्रभात बेला में पूजा के समय मेरा हरण कर लेना। कहने का भाव यह है कि मैं (पद्मावती) गौरी पूजा करने के लिए नगर की पश्चिम दिशा में स्थित शिव मन्दिर में प्रातःकाल आऊंगी। अतः तुम समय पर आकर मेरा वरण करके अपने साथ ले जाना। इस प्रकार पद्मावती अपने सात्विक प्रेम की सार्थकता के लिए पत्र द्वारा प थ्वीराज चौहान को संदेश भेजती है ताकि वह उसका वरण कर सके।

विशेष :-

(1) पद्मावती ने प थ्वीराज को उस पूजा-स्थल का पूरा परिचय दिया है जहाँ उसे गौरी पूजा के लिए जाना था।

(2) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(3) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(4) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(5) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(6) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(7) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(8) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(9) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का सुन्दर प्रयोग है।

(10) 'समथ सप्रान्त', में छेकानुप्रास अलंकार है।

[32]

लै पत्री सुक यों चल्यौ, उड्‌यौ गगन गहि बाव।
जहँ दिल्ली प्रथिराज नर, अट्‌ट जाम में जाव।।

शब्दार्थ :-

पत्री=पत्र, सुक=तोता, गगन=आकाश, गहि बाव=हवा या वायु का रुख पकड़ कर, प्रथिराज नर=नर श्रेष्ठ प थ्वीराज, अष्ठ जाम=आठ पहर (एक दिन और एक रात)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से

उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्‌मावती के प्रेम तथा विवाह का सजीव वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का वर्णन करता है जब तोता पद्‌मावती का प्रेम पत्र लेकर दिल्ली की तरफ उड़ने लगा।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनमोहक चित्रण करता हुआ कहता है कि वह शुक पद्‌मावती का संदेश पत्र लेकर ऊपर आकाश और हवा का रुख लेकर तेजी से उड़ने लगा। कहने का भाव यह है कि उस समय वायु समुद्र शिखर से दिल्ली की ओर बह रही थी। अतः शुक उसी हवा के रुख को पकड़ कर तेजी से दिल्ली की ओर उड़ने लगा। वह तेजी से उड़ता हुआ आठ पहर अर्थात् एक दिन तथा एक रात में उस दिल्ली नगर में जा पहुंचा, जहाँ मनुष्यों में श्रेष्ठ प थ्वीराज राज्य करते थे। इस प्रकार तोता स्वामी भक्ति का पालन कर अपने कर्तव्य का पालन करता है।

विशेष :-

(1) शुक की तत्परता पर प्रकाश डाला गया है, जो केवल आठ पहरों में उड़कर दिल्ली नगर में पहुंच गया।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) अभिधा शक्ति के प्रयोग के कारण अर्थ की सहज प्रतीति हुई है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'गगन गहि', में छेकानुप्रास अलंकार है।

[33]

दिय कग्गर न पराज कर, षुलि बंचिय प्रथिराज।
सुक देखत मन में हंसे, कियौ चलन कौ साज।।

शब्दार्थ :-

दिय=दिया, कग्गर=कागज, (संदेश पत्र), न पराज=सम्राट (प थ्वीराज) कर=हाथ, षुलि=खोलकर, बांधिय=बांचा (पढ़ा), चलन=चलने की, साज=तैयारी।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्‌मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्‌मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का चित्रण करता है जब तोते द्वारा प थ्वीराज को पद्‌मावती का पत्र मिलता है जिसे पढ़कर प थ्वीराज समुद्र शिखर की ओर चलने की तैयार करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनमोहक चित्रण करता हुआ कहता है कि तोता शीघ्रता से दिल्ली पहुँच

गया और उसने पद्मावती का दिया संदेश पत्र महाराज प थ्वीराज के हाथों में पकड़ा दिया। प थ्वीराज ने उस पत्र को खोलकर पढ़ा। यह देखकर तोता मन ही मन हंसा। अर्थात् तोता यह जानकर आनन्दित हो गया कि प थ्वीराज ने पत्र को पढ़कर समुद्र शिखर जाने का निर्णय लिया। इस प्रकार महाराज समुद्र शिखर जाने की तैयारियां करने लगे।

विशेष :-

(1) राजाधिराज प थ्वीराज चौहान ने पद्मावती का पत्र पढ़ते ही समुद्र शिखर जाने का निर्णय ले लिया।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का सहज, सरल एवं सुन्दर रूप है।

(3) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) अभिधा शक्ति के प्रयोग के कारण अर्थ की सहज प्रतीति हुई है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

[34]

उहै धरी उहि पलन, उहै दिन बेर है सजि।
सकल सूर सामन्त, लिए सब बोलि बम्ब बजि।।
अरु कवि चन्द अनूप, रूप सरसैं बार कह बहु।
और सैन सब पच्छ, सहस सेना तिय सब्बहु।।
चामण्डराय दिल्ली धरह, गढ़पति कटि गढ़ भार दिय।
अलगार राज प्रथिराज तव, पूरब दिसि तन गमन किया।।

शब्दार्थ :-

उहै=उसी, घटी=घड़ी, पलनि=पल (क्षण), बेर=समय (बेला), सजि=सजकर (तैयार होकर), बम्ब=शंख (भेरी), बजि=बजने लगी (बजाकर), चन्द=चन्दबरदाई, सरसै=शोभित, बर=वर, कह बहु=अनेक प्रकार से कहकर, पच्छ=पछे, सष्षहु=संख्या, तिय=तीन, सहस=सहस्त्र (हजार), धरह=धरा (रखा, प थ्वी प्रदेश), कटि=नियुक्त करके, भार=बोझ (जिम्मेदारी), बलगार=गुप्त रूप से, गमन किया=प्रस्थान किया, तन=और।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम प्रसंग तथा विवाह का सुन्दर (मनोहारी) वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का चित्रण करता है जब पद्मावती का संदेश पत्र प्राप्त करते ही राजाधिराज प थ्वीराज ने समुद्र शिखर की ओर प्रस्थान करने का निर्णय लिया तथा इस सम्बन्ध में उसी समय तैयारियां शुरु कर दीं।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनमोहक चित्रण करता हुआ कहता है कि राजा प थ्वीराज ने उसी घड़ी,

उसी पल, उसी दिन और उसी समय शंख अथवा नगाड़े (भेरी बजाकर) अपने सभी शूरवीर सामान्तों को बुलवा लिया। कहने का भाव यह है कि प थ्वीराज ने तनिक भी देर नहीं की और अपने श्रेष्ठ योद्धाओं को साथ चलने के लिए इकट्ठा कर लिया। यही नहीं, राजा ने अपने अनुपम कवि चन्दबरदाई को भी साथ बुला लिया। चन्दबरदाई ने आते ही अनेक प्रकार के बल अर्थात् प थ्वीराज के सुन्दर एवं सरल (आकर्षक) रूप का वर्णन किया। प थ्वीराज ने अपनी अन्य सेना को पीछे दिल्ली में छोड़कर केवल तीन हजार सैनिकों को ही अपने साथ ले लिया। उन्होंने अपने प्रधान सेनापति चामुण्ड राय को दिल्ली का गढ़पति बनाकर वहां की सारी जिम्मेदारी उसी को सौंप दी। प थ्वीराज ने यह सारी व्यवस्था गुप्त रूप से की और फिर गुप्त रूप से ही उसने प्रस्थान किया। कहने का भाव यह है कि प थ्वीराज ने यह सारी व्यवस्था गुप्त रूप से की ताकि शत्रु को उसके जाने का पता न चले और वह उसके मार्ग में कोई बाधा उपस्थित न कर सके। इस प्रकार प थ्वीराज ने अपनी सैन्य कुशलता को बड़े सुनियोजित ढंग से कार्यान्वित किया।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज की उन सैन्य तथा प्रशासनिक तैयारियों का वर्णन है जिसे उसने समुद्र शिखर प्रस्थान करने के समय कार्यान्वित की थी।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) कवित्त छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'सकल सुर सामन्त', 'बोलि बम्ब बाजि', में व त्यानुप्रास अलंकार है।

(11) 'सहस सेना' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[35]

जा दिन सिषर बरात गय, ता दिन गय प्रथिराज।
ताही दिन पतिसाह कौं, भई गजनै अबाज।।

शब्दार्थ :-

जा दिन=जिस दिन, सिषट=समुद्र शिखर, गय=गई, ताही=उसी, पतिसाह=शहाबुद्दीन गौरी, गज्जनै=गजनी में (शहाबुद्दीन का राज्य), आवाज=खबर (सूचना मिलना)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का वर्णन करता है जब कुमोदमणि तथा प थ्वीराज दोनों समुद्र शिखर पहुंच जाते हैं साथ ही बादशाह शहाबुद्दीन गौरी को भी यह सूचना मिल जाती है कि प थ्वीराज चौहान दिल्ली में नहीं हैं।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनमोहक चित्रण करता हुआ कहता है कि जिस दिन राजा कुमोदमणि की बारात समुदं शिखर में पहुंची, उसी दिन प थ्वीराज चौहान भी (अपने सैनिकों के साथ) पहुंच गया, लेकिन (दुर्भाग्य से) उसी दिन गजनी के बादशाह शहाबुद्दीन गौरी को भी यह सूचना मिल गई थी कि प थ्वीराज चौहान समुद्र शिखर में पद्मावती से विवाह करने के लिए गया हुआ है। कहने का भाव यह है कि जिस दिन प थ्वीराज समुद्र शिखर पहुंचा उसी दिन शहाबुद्दीन गौरी को भी पता चल गया कि प थ्वीराज दिल्ली में नहीं है।

विशेष :-

(1) गजनी के बादशाह शाहाबुद्दीन गौरी का परिचय दिया है। प्राचीनकाल में गजनी अफगानिस्तान की राजधानी थी और शाहाबुद्दीन वहीं का बादशाह था। यह नगर गजनी नामक नदी के किनारे बसा था। गौरी की प थ्वीराज से पुरानी दुश्मनी थी वह अनेक बार प थ्वीराज से पराजित भी हो चुका था।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) अभिधा शक्ति के प्रयोग के कारण अर्थ की सहज प्रतीति हुई है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

[36]

सुनि गज्जनै आवाज, चलौ साहाबदीन वर।
षुरार्सान सुलतान, कास कबिलय मीर धर।।
जंग जुटन जालिम जुझार, भुजसार भार भुअ।
धर धमंकि भजि सेस, गगन रविं लुप्पि रैन हुअ।।
उलटि प्रवाह मान सिन्धु सर, रुक्कि राह अड्डौ रहिय।
तिहि घरी राज प्रथिराज सौं, चन्द बचन इजि विधि कहिय।।

शब्दार्थ :-

साहाबदीन=शहाबुद्दीन गौरी, सुनि=सुनकर, गज्जनै=गजनी, वर=श्रेष्ठ, पुरार्सान=खुरासान नामक देश, कास=खस अथवा काशकन्द नामक एक प्राचीन देश, काबिलय=काबुली-काबुल का, मीर=सरदार, धर=सच्चा-पक्का-द ढ़, जंग=युद्ध, जुरन=जुड़ना-लड़ना, जालिम=निर्दयी-क्रूर, जुझार=योद्धा-वीर, भुअ=भू-प थ्वी, भुजसार=लोहे के समान, मजबूत कठोर भुजाएं, भार=भारी-जिम्मेदारी, धर=धरती-प थ्वी, धमंकि=धमकना-डगमगा उठना, भजि=भागना, सेस=शेषनाग, लुप्पि=लुप्त हो जाना-छिप जाना, हुअ=हो जाना, मान=समान- मर्यादा, सर=नदी, रुक्कि=रोक कर, अड्डौ रहिय=अड़ा रहा, तिहि घरी=उसी घड़ी-उसी समय।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का अनुपम वर्णन है। यहाँ कवि ने उस स्थिति का वर्णन किया है जब शहाबुद्दीन गौरी को यह गुप्त सूचना मिलती है कि प थ्वीराज चौहान दिल्ली नहीं है वह थोड़ी सी सेना लेकर समुद्र शिखर गया है अतः उसने इस स्थिति का लाभ उठाकर तत्काल दिल्ली पर आक्रमण कर दिया।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनमोहन चित्रण करता हुआ कहता है कि शहाबुद्दीन गौरी ने यह सूचना सुनी कि प थ्वीराज थोड़ी सी सेना के लेकर समुद्र शिखर की ओर गया है। अतः शहाबुद्दीन ने तत्काल धावा बोल दिया। उसकी विशाल सेना में खुरासान को सुलतान काशकंद तथा काबुल के वीर और प्रमुख सरदार थे। युद्ध में लड़ने के लिए वे बड़े क्रूर, भयंकर लड़ाकू और बड़े विकट भट्‌ट थे। उसकी भुजाएं लोहे के समान मजबूत तथा कठोर थीं, मानो वे प थ्वी के भार को धारण करने में समर्थ थे, अथवा मानो उनकी भुजाएं इतनी भारी थीं कि उनके बोझ से प थ्वी भी धंस जाती थी। जब शहाबुद्दीन की इस भयंकर सेना ने प्रस्थान किया, तो उस भयंकर सेना के चलने से प थ्वी डगमगाने लगी तथा प थ्वी के डगमगाने से शेषनाग भाग खड़ा हुआ। उस विशाल सेना से इतनी धूल उड़ी कि उससे सूर्य भी छिप गया और दिन में ही रात हो गई। अर्थात् धूल के कारण जब सूर्य छिप गया तो रात जैसा अंधेरा हो गया। शहाबुद्दीन की विशाल सेना इस तरह उमड़ती हुई आई कि वह प थ्वीराज का रास्ता रोक कर खड़ी हो गई। ऐसा लगा मानो नदी का प्रवाह उल्टकर समुद्र की तरफ न जाकर पीछे की ओर जा रहा था अथवा मानो समुद्र ने नदी के प्रवाह को रोकर उसे पीछे धकेल दिया हो।

(यहां कवि ने शहाबुद्दीन गौरी की विशाल सेना और उसकी तीव्रता का वर्णन करना चाहा है।) इसलिए कवि ने नदी तथा समुद्र का उदाहरण दिया है। जब समुद्र नदी के जल प्रवाह को रोक देता है और नदी का पानी पीछे लौटने लगता है उस समय पानी की ऊंची ऊंची लहरें उठती हैं, बल्कि सागर और नदी के पानी में टकराव होने लगता है। ऐसी स्थिति में न केवल उथल-पुथल होती है, बल्कि शोर भी होता है। लगभग यही स्थिति बादशाह की सेना की थी। अर्थात् बादशाह की सेना नदी के जल के समान आगे बढ़ रही थी लेकिन प थ्वीराज की थोड़ी सेना ने समुद्र के समान उसकी गति को रोक लिया।

इसका एक अन्य अर्थ यह भी हो सकता है कि शहाबुद्दीन की सेना विशाल समुद्र के समान थी और उसने प थ्वीराज के मार्ग को रोक लिया, लेकिन ये अर्थ तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प थ्वीराज तो अपनी सेना के साथ पहले ही समुद्र शिखर पहुंच चुका था और शहाबुद्दीन वहां बाद में पहुंचा।

शहाबुद्दीन गौरी की सेना द्वारा रास्ता रोकने का समाचार सुनकर कवि चन्दबरदाई प थ्वीराज से इस प्रकार कहने लगा।

विशेष :-

(1) परम्परागत काव्य रूढ़ि का पालन करते हुए शहाबुद्दीन गौरी की सेना के चलने तथा धूल उड़ने का वर्णन है। लगभग ऐसा ही अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में तथा कविवर जायसी ने 'पद्मावत' में किया है।

(2) समुद्र और नदी के रूपक द्वारा प थ्वीराज की सेना और शहाबुद्दीन गौरी की सेना के भिड़ने का आकर्षक और प्रभावशाली वर्णन है।

(3) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(4) कवित्त छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'कास कबिलय', 'धर धमति' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(12) 'जंग जुरन जालिम जुआर' में अनुप्रास अलंकार है।

(13) 'भुजमार भार भुअ' में व त्यानुप्रास अलंकार है।

[37]

निकट नगर जब जांन, जाय वर बिंद उघय भय।
समुद सिषर घन नद्द, इन्द दुहुं घोर गय।।
अगिवानिय-अगिवान, कुंअर बनि-बनि हय सज्जति।
दिब्बन को त्रिय सबानि, चढ़ि गौष छाजन रज्जति।।
विलषि अवास कुंबरि बदन, मनो राहु छाया सूरत।
झंपति गवष्षि पल-पल पलकि, दिषिति पंथ दिल्लीस पति।।

शब्दार्थ :-

जांन=बरात, वर=श्रेष्ठ, बिंद=दूल्हा (राजस्थान में दूल्हा को बींद' कहते हैं), विद्यमान, उद्यय=दोनों, भय=दुष्ट, घन=घनघोर, नद्द=निनाद-प्रचण्ड घोष, इन्द=राजा, घोर=घनघोर, गय=गति-ढंग, अगिवानिय=अगबानी के लिए, अगिवान=स्वागत, अगवानी करने वाले, कुंअर=राजकुमार, बनि-बनि=बन-ठन कर, सज-संवर कर, हय=घोड़े, सज्जति=सजाकर, दिष्षन को=देखने के लिए, त्रिय सबनि=सारी स्त्रियां, गौष=गौरव, छाजन=छज्जों पर, रज्जति=शोध देने लगीं, बिलषि=बिलख कर, आवास=आवास-राजमहल, कुंबरि=राजकुमारी पद्मावती, बदन=मुख, सुरत=पूरी तरह से, संषति=झींकती, गवष्षि=गवाक्ष-गौरव, पलकि=पलकें उठाकर, दिषिति=देखती, दिल्लीस पति=दिल्लीश्वर प थ्वीराज।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का अनुपम वर्णन है। यहाँ कवि उस स्थिति का वर्णन करता है जब कुमायूं नरेश कुमोदमणि समुद्र शिखर पहुंच जाता है तथा वहीं प थ्वीराज चौहान भी गुप्त रूप से पहुंच जाता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनमोहक चित्रण करता हुआ कहता है कि जब राजा कुमोदमणि अपनी श्रेष्ठ बारात के साथ समुद्र शिखर नगर के करीब पहुंच गया तब वहां नगर में घनघोर नगाड़े बजने लगे। एक ओर तो कुमोदमणि की सेना नगाड़े बजाकर अपने पहुंचने की सूचना दे रही थी, दूसरी ओर राजा विजय नगाड़े बजाकर कुमोदमणि का स्वागत करने लगा। इसलिए दोनों के नगाड़े बजाने से भयंकर शब्द उत्पन्न होने लगा। बारात की अगवानी के लिए अर्थात् स्वागत

करने के लिए राजकुमार खूब सज-धज कर अपने-अपने घोड़ों पर सवार होकर नगर के बाहर निकले। दूल्हा राजा कुमोदमणि और उसकी श्रेष्ठ बारात को देखने के लिए सब स्त्रियां, गंवाक्ष और छज्जों पर बैठकर सुशोभित होने लगी, परन्तु राजकुमारी कुमोदमणि के आने के समचार को सुनकर अपने महल में रोने लगी। मानो चन्द्रमा पर राहु की छाया पड़ गई हो, अर्थात् राहु ने चन्द्रमा को पूरी तरह से ग्रस लिया हो। वह गवाक्ष में बैठी बार-बार अपनी पलकें उठाकर देखती हुई दिल्ली से अपने वाले मार्ग पर निगाहें लगाकर दिल्ली नरेश प थ्वीराज के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। कहने का भाव यह है कि पद्मावती यह जानकर अत्यधिक दुःखी होकर बिलखने लगी कि कुमोदमणि बारात के साथ समुद्र शिखर आ पहुचा है। इसी दुःख के कारण उसका मुख ऐसे मुरझा गया जैसे राहु के ग्रसने पर चन्द्रमा कांतिहीन हो जाता है, अतः वह खिड़की में बैठी उसी रास्ते पर देख रही थी जिस रास्ते से दिल्ली नरेश प थ्वीराज चौहान को आना था। इस प्रकार पद्मावती बड़ी उत्सुकता से प थ्वीराज की प्रतीक्षा करने लगी।

विशेष :-

(1) राजा कुमोदमणि की बारात के आगमन और राजा विजय द्वारा स्वागत किए जाने का बड़ा ही सजीव तथा प्रभावशाली वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) कवित्त छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'समुद्र सिषर' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) 'बनि-बनि' में पुनरुक्ति अलंकार है।

(12) 'मनो रात छाया सूरत' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

टिप्पणी -

प्रस्तुत छन्द की पांचवीं पंक्ति में 'सूरत' शब्द का प्रयोग विवादास्पद है। सूरत का अर्थ 'पूरी तरह से' उचित प्रतीत होता है। कुछ टीकाकारों ने सूरत का अर्थ प्रेम से उमंगित माना है जो असंगत है, क्योंकि पद्मावती कुमोदमणि के आने का समाचार सुनकर उमंगित नहीं हो सकती, क्योंकि उसे प थ्वीराज के आने का समाचार ही नहीं मिला। फिर कवि राहु शब्द के प्रयोग द्वारा उसकी स्थिति उस चन्द्रमा के समान बताता है जिसे 'राहु' ने ग्रास लिया है, अतः उसका हृदय प्रेम से उमंगित नहीं हो सकता। हां, वह दुःख के कारण काला अवश्य पड़ गया है। अतः सूरत का अर्थ पूर्व रूप से ही लिया जाना चाहिए।

[38]

दिष्षत पंथ दिल्ली दिसांन।
सुष भयौ सूक जब मिल्यौ आन।।
सन्देस सुनह आनन्द नैन।
उमगिय बाल मनमथ्थ सैन।।

शब्दार्थ :-

दिष्षत=देखती है, पंथ=रास्ता, दिसांन=दिशा की ओर, सुष=सुख, सूक=तोता, आनं=आकर, उमंगिय=उमंगित हो गई, बाल=बाला (युवती), मनमथ्य=कामदेव, सैन=सेना।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का अनुपम वर्णन है। यहाँ कवि ने प थ्वीराज का संदेश न मिलने से व्याकुल पद्मावती का चित्रण किया है जो तोते द्वारा प थ्वीराज का संदेश पाकर अत्यन्त आनन्दित हो उठती है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि समुद्र शिखर की राजकुमारी पद्मावती दिल्ली की ओर से आने वाले रास्ते की ओर आंखे लगाकर देख रही थीं, परन्तु जब दिल्ली से लौटकर शुक उससे आकर मिला तो उसे अत्यधिक सुख हुआ, अर्थात् वह तोते को आया देखकर आनन्दित हो उठी। तोते के मुख से प थ्वीराज का संदेश सुनकर उसके नेत्र आनन्द से भर गए। वह युवती राजकुमारी पद्मावती यह समाचार सुनकर इस प्रकार उमंगित हो गई जैसे कामदेव की सेना उमंगित हो जाती है।

यहां यदि 'सैन' शब्द का संकेत किया जाये तो अर्थ इस प्रकार से होगा-कामदेव का संकेत पाकर वह युवती उमंगित हो उठी। अर्थात् उसके मन में प्रेम भावना का उदय हुआ और काम भावना के कारण उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग उमंगित हो उठे।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज के संदेश को सुनकर पद्मावती पर पड़ने वाले प्रभाव का बड़ा ही सजीव तथा मार्मिक वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) श्रंगार रस का सुन्दर परिपाक है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'दिल्ली दिसांन', 'सन्देस सुनह' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[39]

तन चिकट चीर डार्‌यो उतार।
मज्जन मयंक नवसत सिंगार।।
भूषन मंगाय नष सिष अनूप।
सिज सेन मनो मनमथ्य भूप।।

शब्दार्थ :-

तन=शरीर, चिकर=मैल, चीर=वस्त्र, मज्जन=स्नान करना, मयंक=चन्द्रमा, नबयत=नौ ओर सात (अर्थात् सोलह), भूषण=आभूषण, नष'मिष=नख से शिख तक, अनूप=अनुपम, सिज=सजाई है, सेन=सेना, मनमथ्थ=कामदेव, भूप=राजा।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सुन्दर वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का वर्णन करता है जब शुक के मुख से प थ्वीराज का संदेश सुनकर पद्मावती के अंग-प्रत्यंग उमंगित हो गए और वह अपने प्रियतम नायक से मिलने के लिए श ंगार करने लगी।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि प थ्वीराज के संदेश और उसके आने का समाचार सुनकर पद्मावती ने अपने सभी मैले वस्त्रों को उतार दिया। भाव यह है कि पद्मावती यह समाचार न मिलने से पूर्व अत्यधिक निराश थी, उसने मैले वस्त्र धारण कर रखे थे। फिर उसने स्नान किया और चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख पर सोलह श ंगार किया। फिर उसने आभूषण मंगवाकर नख से शिख तक अपना अनुपम रूप धारण किया जिसे देखकर ऐसा लगता था मानो कामदेव ने किसी पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेना को सजाया है।

काव्य शास्त्रीय शब्दावली में सोलह श ंगार से सुसज्जित सुन्दर नारी के अंगों को कामदेव की सेना कहा गया है। नारी उसी श ंगार के द्वारा ही पुरुषों पर विजय प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार पद्मावती का रूप-सौन्दर्य कामदेव के समान आकर्षित करता है।

विशेष :-

(1) पद्मावती के रूप-सौन्दर्य और श ंगार का बड़ा ही सुन्दर एवं मनोहारी वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) श ंगार रस का सुन्दर परिपाक है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'चिकट चीर', 'मज्जन मयंक', 'सिज सेन' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(12) 'सिज सेन मनो मनमथ्य भूप' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

[40]

सोबन्न बार मोतिन भराय।
सल हल करन्त दीपक जराय।।

संग्रह सषिय लिय सहस बाल।

रुकमनिय जेम लज्जत, मराल।।

शब्दार्थ :-

सोबन्न=स्वर्ण, थार=थाल, भराय=भरकर, हल-हल करन्त=हिलमिल करता हुआ, जराय=जलाकर, संग्रह=साथ, सपिय=सखियों को, सहस=सहस्त्र (हजार), बाल=बाला (पद्मावती), रुकमनिय=रुकमणी, जेम=जैसे, मराल=हंस।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सजीव एवं मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का वर्णन करता है जब पद्मावती को प थ्वीराज के आगमन का संदेश मिल जाता है तथा वह पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार गौरी पूजन के लिए शिव-मन्दिर जाने की तैयारी करने लगती है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि पद्मावती ने सोने के थाल को मोतियों से भर लिया और उसमें झिलमिलाते हुआ दीपक जलाकर रख लिया। कहने का भाव यह है कि पद्मावती ने शिव-मन्दिर जाने की तैयारी आरम्भ कर दी। उसने सोने का थाल मोतियों से भर दिया। उसके जगमगाते हुए दीपक प्रकाश फैला रहे थे। इसके पश्चात् उस बाला अर्थात् पद्मावती ने अपने साथ एक हजार सखियों को ले लिया। जैसे रुकमणि श्रीकृष्ण से मिलने शिव-मन्दिर गई थी। उसी प्रकार पद्मावती हंस की गति को भी लज्जित करते हुए मन्दगति से मन्दिर की ओर चलने लगी। इस प्रकार पद्मावती की चाल अत्यन्त आकर्षक है।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज से मिलन की लालसा में मन्दिर जाने से पूर्व पद्मावती द्वारा की जाने वाली तैयारी का सुन्दर वर्णन है।

(2) रुकमणी के साथ दी गई पद्मावती की उपमा अत्यन्त सटीक, सुन्दर और आकर्षक बन पड़ी है।

(3) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(4) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(5) श्रंगार रस का सुन्दर परिपाक है।

(6) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(7) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(8) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(9) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(10) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(11) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(12) 'संग्रह सषिय' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) 'रुकमनिय जेम लल्जत मराल' में उपमा अलंकार है।

[41]

पूजिय गवहि संकट मनाय।
दच्छिनै अंग कर लगिय पाय।।
फिर देषि देषि प्रथराज राज।
हंस मुद्ध मुद्ध कर पट्ट लाज।।

शब्दार्थ :-

पूजिय=पूजा की, गवरि=गौरी, संकर=शिव, मनाय=मनौती मानकर, दच्छिनै अंग=दाहिनी ओर, लगिय पाय=पैर छूना, देषि देषि=देख देखकर, मुद्ध मुद्ध=मन्द-मन्द, पट्ट=घुंघट, लाज=लज्जा करना।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सजीव एवं वर्णन है। यहाँ कवि उस स्थिति का वर्णन करता है जब पद्मावती सोलह श ंगार कर, सोने के थाल में मोतियों को भरकर शिव-मन्दिर में गौरी पूजा के लिए सखियों के साथ पहुंच जाती है, वहीं उसका प थ्वीराज से मिलन होता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि पद्मावती ने अपने मन से मनौती मांगते हुए उमाशंकर की पूजा की। फिर दाहिनी ओर से उनकी प्रदक्षिणा करते हुए उनके चरणों का स्पर्श किया अर्थात् चरण छूकर उसने शिव-पार्वती को प्रणाम किया। इसके पश्चात् बार-बार प थ्वीराज की ओर देखती हुई घूंघट से हल्का-सा मुख ढककर अर्थात् लाज करके मंद-मंद मुस्कुराने लगी। अर्थात् प थ्वीराज को देखकर पद्मावती का मन आनन्दित हो गया।

विशेष :-

(1) सोलहश ंगार किए हुए पद्मावती के रूप में मुग्धा नायिका का बड़ा सुन्दर और मनोमुग्धाकारी वर्णन है। हल्का-सा घूंघट निकालकर नायक की ओर देखते हुए मंद-मंद मुस्कान भाव-प्रबलता को स्पष्ट करता है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) श ंगार-रस का सुन्दर एवं आकर्षक परिपाक है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'देषि-देषि', 'मुद्ध मुद्ध' में पुनरुक्ति अलंकार है।

टिप्पणी -

अन्तिम पंक्ति में 'कर' के स्थान पर 'चर' पाठभेद मिलता है। तब इसका अर्थ होगा-'शीघ्र' जो कि सही प्रतीत होता है।

[42]

कर पकरि पीठ हय परि चढ़ाय।
लै चल्यौ न पति दिल्ली सुराय।।
भई षबरि नगर बाहिर सुनाय।
पदमावतीय हरि लीय जाय।।

शब्दार्थ :-

कर=हाथ, हय परि=घोड़े पर, न पति=राजा (प थ्वीराज चौहान), सुराय=सुन्दर मार्ग, भई पबरि=खबर, हरि=हरण करना, जीय जाय=ले जा रहा है।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का बड़ा मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का चित्रण करता है जब पद्मावती पूर्वनियोजित कार्यक्रम के अनुसार अपनी सखियों के साथ गौरी पूजा के लिए शिव-मन्दिर जाती है वहां प थ्वीराज उसका हरण कर लेता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि जब प थ्वीराज ने पद्मावती को अपनी तरफ मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए देखा तो उसने पद्मावती का हाथ पकड़ कर उसे अपने घोड़े पर चढ़ा लिया। राजा प थ्वीराज उसे अपने साथ लेकर दिल्ली के सुन्दर मार्ग की ओर चल दिया। तत्काल ही (पद्मावती हरण) की यह खबर समुद्र शिखर के भीतर और बाहर फैल गई कि कोई राजा पद्मावती का हरण किए उसे साथ लिए जा रहा है। भाव यह है कि पद्मावती द्वारा भेजे गए संदेश पत्र के अनुसार प थ्वीराज चौहान ने पद्मावती का हरण कर लिया और वह उसे अपने घोड़े पर बिठाकर दिल्ली की ओर चल दिया। इस प्रकार पद्मावत की प थ्वीराज से मिलने की मनचाही इच्छा पूर्ण हो गई।

विशेष :-

(1) पद्मावती हरण का प्रभावशाली वर्णन है।
(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।
(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।
(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।
(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।
(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।
(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।
(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।
(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।
(10) 'पकरी पीठ', में छेकानुप्रास अलंकार है।

टिप्पणी -

कुछ टीकाकारों ने दूसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'सुराय' का अर्थ 'श्रेष्ठ राजा' किया है परन्तु यह अर्थ तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इससे पूर्व न पति शब्द प्रयुक्त हो चुका है, उसका अर्थ भी राजा है। 'सुराय' शब्द 'सुराह' से बना है जिसका अर्थ सुन्दर राह अर्थात् सुन्दर रास्ता है। यही अर्थ सही प्रतीत होता है। यदि हम सुराय का अर्थ राजा लगायेंगे तो इससे पद्य में पुनराव ति दोष आ जायेगा।

[43]

बाजी सुबंब हय गय पलांन।
दौरे सुसज्जित दिस्सह दिसान।।
तुम्ह लेहु लेहु मुष संपि जोध।
हन्नाह सूर सब पहरि क्रोध।।

शब्दार्थ :-

सुबंब=रणभेरी (युद्ध के नगाड़े), बाजी=बजने लगे, हय=घोड़ा, गय=हाथी, पबांन=जीन (हौंदें कसे जाने लगे), दौरे=दौड़ पड़े, सुसज्जित=अच्छी प्रकार से सजे हुए, दिसांन=सभी दिशाओं से, लेहु लेहु=पकड़ो पकड़ो, मुष=मुख, झंपि=कहते हुए, जोध=योद्धा, हन्नाह=कवच, सूर=शूरवीर।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि ने उस स्थिति का चित्रण किया है जब पद्मावती के हरण का समाचार पाकर राजा समुद्र शिखर और राजा कुमोदमणि की सेनाओं में हलचल मच गई और वे प थ्वीराज को पकड़ने के लिए तैयारियां करने लगे।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि युद्ध के नगाड़े बजने लगे तथा हाथी और घोड़ों की होदें तथा जीने कसी जाने लगी। सभी दिशाओं से सैनिक सुसज्जित होकर दौड़ने लगे। भाव यह है कि प थ्वीराज से युद्ध करने की तैयारी होने लगी। शूरवीर योद्धाओं ने जिरह बखतर धारण कर लिए और वे क्रोधित मुख से 'पकड़ो पकड़ो' कहते हुए दौड़ने लगे। इस प्रकार प थ्वीराज को पकड़ने के लिए सभी सैनिकों में हलचल प्रारम्भ हो गई।

विशेष :-

(1) पद्मावती हरणी के फलस्वरूप हुई प्रतिक्रिया का स्वाभाविक वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'दिस्सह दिसांन', 'सूर सब', में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) 'लेहु लेहु' में पुनरुक्ति अलंकार है।

[44]

अग्गे जु राज प्रथिराज भूप।
पच्छै सु भयो बस सेन रूप।।
पहुंचे सु जाय तत्ते तुरंग।
भुअ भिरन भूप जुरि जोध जंग।।

शब्दार्थ :-

अग्गे=आगे, भूप=राजा, पच्छै=पीछे, तत्ते=तेज, तुरंग=घोड़े, भुऊ=प थ्पी, किरन=भिड़ने वाले, जुटि=जुड़कर (इकट्इे होकर), जोध=योद्धा, जंग=युद्ध।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का अनुपम व आकर्षक वर्णन है। यहाँ कवि राजा विजय और कुमोदमणि की सेनाओं द्वारा प थ्वीराज का पीछा किए जाने का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि महाराज प थ्वीराज पद्मावती को अपने साथ घोड़े पर लिए आगे-आगे चले जा रहे थे। समूद्रशिखर के राजा विजय और कुमोदमणि की सारी सेना उसका पीछा कर रही थी। शीघ्र ही दोनों की सेना के तेज दौड़ने वाले घोड़े प थ्वीराज के समीप जा पहुंचे। फलस्वरूप उस स्थान पर दोनों सेनाओं का भयंकर युद्ध छिड़ गया। अर्थात् राजा विजय और राजा कुमोदमणि की सेना के योद्धा इकट्ठे होकर प थ्वीराज के सैनिकों से भिड़ गये और दोनों पक्षों में युद्ध होने लगा।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज तथा राजा विजय और कुमोदमणि की सेनाओं के युद्ध का सजीव वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'तत्ते तुरंग' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) 'भुअ भिरन भूप', 'जुरि जोध जंग' में व त्यानुप्रास अलंकार है।

[45]

उलटी जु राज प्रथिराज बाग।
थकि सूर गगन धर धसि नाग।।
सामन्त सूर सब काल रूप।
गहि लोह छोह बाहै सुभूप।।

शब्दार्थ :-

जु=जो-जैसे ही, बाग=घोड़े की लगाम, घोड़े का मुंह, उल्टी=मोड़ी, थकि=थककर, सूर=सूर्य, धर=प थ्वी, नाग=शेषनाग-पहाड, काल रूप=काल के समान भयंकर बन, गहि=पकड़ कर, लोह=लोहा-हथियार, छोह=उत्साह, बाहै=घालने-चलाने लगे, सुभूप=राजा।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सजीव व आकर्षक वर्णन है। यहाँ कवि उस स्थिति का वर्णन करता है जब शत्रु प थ्वीराज चौहान का पीछा करते हुए उसके पास पहुंच गये, तब प थ्वीराज उनका सामना करने के लिए उलट पड़े।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि जैसे ही प थ्वीराज ने अपने घोड़े की लगाम को मोड़ा, अर्थात् घोड़े की लगाम खींच कर आगे बढ़ने की बजाय पीछे मुड़ा, वैसे ही मानो सूर्य आसमान में थककर रुक गया। डर के मारे प थ्वी धंसने लगी और शेषनाग बेचैन हो गये। कवि के कहने का भाव है कि भयंकर युद्ध होने की आशंका के कारण सूर्य मानो आकाश में थम-सा गया। प थ्वी को धारण करने वाला शेषनाग व्याकुल हो गया और प थ्वी डगमगाने लगी। प थ्वीराज से सभी सामंत और शूरवीर सैनिक काल जैसा भयंकर रूप धारण करके शत्रु का सामना करने लगे। श्रेष्ठ राजा प थ्वीराज लोहे की तलवार हाथ में लेकर शत्रुओं पर वार करने लगे। कवि के कहने का भाव यह है कि प थ्वीराज से सभी योद्धा पीछे मुड़कर साक्षात् मौत का रूप धारण कर शत्रुओं पर टूट पड़े। उधर प थ्वीराज भी उत्साहपूर्वक शत्रुओं पर टूट पड़े। इस प्रकार प थ्वीराज और उसके सैनिक शत्रु सेना के सामने यम के दूतों के समान डटे हुए थे।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज और उसकी सेना की वीरता का बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन है।
(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।
(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।
(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।
(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।
(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।
(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।
(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।
(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।
(10) 'धर धसज' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(11) 'सामन्त सुर सब' में वृत्यानुप्रास अलंकार है।

(12) पूरे छन्द में अतिशयोक्ति अलंकार है।

[46]

कम्मान बांन छुट्टहिं अपार।
लगत लोह इम सारधार।।
घमसान घान सब बीर षेत।
घन श्रोत कहत अरु रक्त रेत।।

शब्दार्थ :-

कम्मान=कमान (धनुष), बांन=बाचा, अपार=असंख्य, लोह=बाणों के आगे लगे लोहे के फलक, इम=इस प्रकार, सारघाट=तलवार की धार, धान=युद्ध, षेत=युद्ध क्षेत्र (युद्ध में मारे गये), घन=घना, श्रोत=रक्त (खून), अरू=और, रक्त=लाल, रेत=भूमि।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'पृथ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्धृत हैं। इसमें पृथ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि ने दोनों सेनाओं के मध्य हुए घमासान युद्ध का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि पृथ्वीराज और राजा विजय तथा कुमोदमणि की सेनाओं में भयंकर युद्ध होने लगा। युद्ध क्षेत्र में दोनों ओर धनुषों के असंख्य बाण छूटने लगे। उन बाणों के आगे लगी लोहे के फलकें शत्रुओं के शरीर को तलवार की तीखी धार के समान काटती चली जा रही थी। उस स्थान पर इतना भयंकर युद्ध हुआ कि (पृथ्वीराज के शत्रुओं के) सारे वीर योद्धा युद्ध में मारे गये। उस युद्ध क्षेत्र में खून की नदी बहने लगी और धरती उस खून में भींग कर लाल रंग की हो गई। इस प्रकार पृथ्वीराज ने बड़ी वीरता और साहस के साथ शत्रु सेना का संहार किया। इसकी भयावता का अनुमान धरती के खून से लाल होने से लगाया जा सकता है।

विशेष :-

(1) दोनों सेनाओं के मध्य होने वाले युद्ध का सजीव वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भयानक रस का सुन्दर परिपाक है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'लगत लोह', 'घमसान घान' में छेकानुप्रास अलंकार है।

टिप्पणी -

दूसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'सारघार' का अर्थ धारा सार, मूसलाधार वर्षा भी किया गया है। तब हम उसका अर्थ कर सकते हैं-बाणों की मूसलाधार वर्षा हो रही थी।

[47]

मारे बरात के जोध जोह।
परि रुंड मुंड अरि षेत सोह।।

शब्दार्थ :-

जोध=योद्धा, जोह=देख-देख कर, ढूंढ-ढूंढ कर, रुंड=कबन्ध, सिर कटा हुआ शरीर-केवल धड़, मुंड=मस्तक-सिर, अरि=शत्रु, षेत=रणक्षेत्र, सोह=शोभा देते।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि युद्ध की भयंकरता का चित्रण करता है जिसमें प थ्वीराज ने शत्रु पक्ष के सभी सैनिक योद्धाओं को मौत के घाट उतार दिया।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि प थ्वीराज ने कुमोदमणि की बारात के सभी योद्धाओं को ढूंढ-ढूंढ का मार डाला, अर्थात् कुमोदमणि की बारात के सभी सैनिक योद्धा उस युद्ध में मारे गये। उनके कटे हुए धड़ और सिर उस युद्ध क्षेत्र में सुशोभित हो रहे हैं। अन्य प्रकार से हम यह अर्थ भी कर सकते हैं कि शत्रुओं के कटे सिरों और धड़ों से भरा युद्ध क्षेत्र सुशोभित हो रहा था। इस प्रकार प थ्वीराज चौहान ने शत्रु पक्ष की सारी सेना का संहार कर दिया।

विशेष :-

(1) युद्ध की भयंकरता का यथार्थ वर्णन है।
(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।
(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।
(4) भयानक रस का सुन्दर परिपाक है।
(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।
(6) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।
(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।
(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।
(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।
(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।
(11) 'जोध जोह' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[48]

परे रहत रिनषेत अरि, करि दिल्लिय मुख रुष्ष।
जीत चल्यौ प्रथिराज रिन, सकल सूर भय सुष्ष।।

शब्दार्थ :-

रिनषित=युद्ध क्षेत्र (रण क्षेत्र), अरि=शत्रु, दिल्लिय=दिल्ली की ओर, मुख=मुख, रुष्ष=रूख, रिन=रण (युद्ध), सकल=सारे, सूर=युद्ध, भय=हुए, सुक्ष्ष=सुख (प्रसन्नता)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि ने उस समय का वर्णन किया है जब युद्ध क्षेत्र में विजय प्राप्त कर प थ्वीराज चौहान प्रसन्नतापूर्वक दिल्ली की ओर प्रस्थान करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि राजा विजय और कुमोदमणि तथा उसके सभी शत्रु सैनिक युद्ध क्षेत्र में मरे पड़े थे। उन्हें छोड़कर प थ्वीराज ने (पद्मावती के साथ) दिल्ली की ओर मुख किया, अर्थात् उन्होंने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। युद्ध क्षेत्र में प थ्वीराज विजय प्राप्त करके चल दिया और उसके सभी योद्धा आनन्दित हो उठे, अर्थात् सभी योद्धाओं को इस बात की प्रसन्नता हुई कि वे युद्ध क्षेत्र में विजय प्राप्त कर दिल्ली जा रहे हैं।

प्रथम पंक्ति के अन्तिम अंश का एक अन्य अर्थ भी हो सकता है, वह अर्थ इस प्रकार होगा - शत्रुओं के मरे हुए योद्धा दिल्ली की ओर मुख करे हुए मरे पड़े थे। इसका भाव है कि वे योद्धा इतने वीर योद्धा थे कि उन्होंने युद्ध क्षेत्र में अपनी पीठ नहीं दिखाई। वे युद्ध करते हुए निरन्तर आगे बढ़ते रहे। भले ही वे युद्ध में मारे गये, लेकिन उन सभी के मुख दिल्ली की ओर थे, क्योंकि वे प थ्वीराज का पीछा करते हुए निरन्तर दिल्ली की तरफ बढ़ रहे थे। इस दूसरे अर्थ से राजा विजय और कुमोदमणि के योद्धाओं की शूरवीरता का पता चलता है।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज की विजय का सुन्दर वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भयानक रस का सुन्दर परिपाक है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'रहत रिनषेत', 'सकल सूर' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[49]

पदमावति इम लै चल्यौ, हरिषि राज प्रथिराज।
एतें परिं पतिसाह की, भई जु आनि अबाज।।

शब्दार्थ :-

इम=इस प्रकार, लै चल्यौ=ले चला, हरिषि=प्रसन्न होकर, एतें परि=इतने में ही (उसी समय), पतिसाह=बादशाह (शहाबुद्दीन गौरी), आनि=आकर (आने का), अबाज=शब्द (ललकार, समाचार)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का वर्णन करता है जब प थ्वीराज चौहान विजय और कुमोदमणि की सेनाओं को पराजित करके दिल्ली की ओर बढ़ रहा था तो उसे शहाबुद्दीन गौरी के हमले की सूचना मिलती है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि राजा कुमोदमणि तथा राजा विजय के साथ हुए युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् प थ्वीराज का मन प्रसन्न हो गया और इस प्रकार वह पद्मावती को साथ लेकर दिल्ली की ओर बढ़ने लगा। लेकिन इसी बीच बादशाह शहाबुद्दीन गौरी की आवाज अर्थात् उसकी सेना के नगाड़ों की आवाज सुनाई दी। कवि के कहने का भाव है कि गौरी ने प थ्वीराज पर हमला कर दिया था, इसका समाचार प थ्वीराज को मिल गया। इस प्रकार शहाबुद्दीन गौरी ने राजनीतिज्ञ कूटनीति से समय का लाभ उठाकर प थ्वीराज चौहान पर आक्रमण कर दिया।

विशेष :-

(1) यहाँ शहाबुद्दीन गौरी द्वारा प थ्वीराज पर किए गए आक्रमण की सूचना दी गई है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) वीर-रस का सुन्दर परिपाक है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'परि पतिसाह' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[50]

भई जु आनि अबाज, आय साहाबदीन सुर।
आज गहौ प्रथिराज, बोल बुल्लंत गज्जत घुर।।
व्योध जोधा अनन्त, करिय पंती आनि गज्जिय।
बानं नालि हथ्थनालि, तुपक तीरह स्रब सज्जिय।।
पब्बै पहार मानो सार के, भिरि भुजा गजनेस बल।
आप्त हकारि हंकार करि, षुरासान सुलतान दल।।

शब्दार्थ :-

अबाज=शब्द (ललकार, समाचार), आय=आया-आकर, सुर-असुर=यहां मुसलमान से अभिप्राय है। गहौं=पकडूं, बोल=वचन, बुल्लंत=बोलता हुआ, गज्जत=गर्जना करता, धुर=पुरी तरह से, निश्चय ही, जोधा=योद्धा, अनन्त=असंख्य, करिय=हाथियों की, पंती=कतार-पंक्ति, आनि=आकर, गज्जिय=गर्जना करने लगी, बांन=तोप, नालि=बन्दूक-छोटी तोप, हथनालि=हाथियों द्वारा खींची जाने वाली बड़ी तोप, तुपक=लम्बी नाल वाली बन्दूक-कड़ाबीन-तोड़ेदार बन्दूक, तीरह=तीर, स्रब=सब, सज्जिय=सजा कर, पब्बे=पवि-वज्र चलते हैं, सार=लोहा, भिरि=भिड़कर-मुठभेड़, भुजानं=भुजाओं से, गजनेस=गजनीश-गजनी का राजा-शहाबुद्दीन गौरी, हकारि=बुलाए, हकार=हुंकार, षुरासान=खुरासान, दल=सेना।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। जब प थ्वीराज राजा विजय और कुमोदमणि की सेनाओं को पराजित करके दिल्ली की ओर पद्मावती के साथ बढ़ रहा था, उसी समय शहाबुद्दीन की विशाल सेना ने प थ्वीराज पर आक्रमण कर दिया। यहां कवि शहाबुद्दीन गौरी की विशाल शक्तिशाली सेना का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि जैसे ही शहाबुद्दीन गौरी की आवाज अथवा उनी सेना के नगाड़ों की आवाज (ललकार) प थ्वीराज तक पहुंची, वैसे ही वह बादशाह गौरी स्वयं अपनी सेना लेकर वहां पहुंच गया। वह गौरी ऊंचे स्वर में गरजता हुआ कह रहा था कि आज मैं अवश्य प थ्वीराज को पकड़ लूंगा। भाव यह है कि गौरी प थ्वीराज को पकड़ने का निश्चय करके आया था। उसकी विशाल सेना में क्रोध से भरे अनेक योद्धा थे। बादशाह की हाथियों की सेना की पंक्तियां वहां पहुंच कर गर्जना करने लगी, अर्थात् उसके हाथी जोर-जोर से चिंघाड़ने लगे। गौरी की सेना के सभी योद्धा तोपों, छोटी तोपों, हाथियों द्वारा खींचे जाने वाली बड़ी तोपों, तोड़ेदार तोपों तथा धनुष बाण से सुसज्जित थे। कवि के कहने का भाव यह है कि शहाबुद्दीन की विशाल सेना के पास सभी तरह के अस्त्र-शस्त्र थे। सारी सेना जिरह-बख्तर से सजी हुई युद्ध क्षेत्र में आगे बढ़ती ऐसे लग रही थी मानो लोहे के पहाड़ आगे बढ़े जा रहे हों, वे सभी योद्धा अपने स्वामी गजनेश (गौरी) का बल अपनी भुजाओं में भरकर युद्ध करने के लिए व्याकुल हो उठे। कहने का भाव यह है कि शहाबुद्दीन अपनी सेना के साथ इसलिए था ताकि सैनिकों का मनोबल बराबर बना रहे और वे साहसपूर्वक युद्ध लड़ते रहे। बादशाह गौरी द्वारा बुलाई गई खुरासान के बादशाह की सेना हुंकार करती हुई वहां आ पहुंची थी, अर्थात् खुरासानी सेना क्रोधित होकर शोर करती हुई वहां पहुंच गई थी। इस प्रकार शहाबुद्दीन गौरी अपने पूरे सैन्यबल के साथ प थ्वीराज से लड़ने के लिए व्याकुल है।

विशेष :-

(1) शहाबुद्दीन गौरी की विशाल तथा शक्तिशाली सेना का यथार्थपरक और प्रभावशाली वर्णन है।

(2) युद्ध के विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों का विस्त त वर्णन है।

(3) 'तुपक'शब्द तोड़ेदार बन्दूक के लिए हुआ है, जो यह सिद्ध करता है कि प थ्वीराज के समय में बन्दूकों का प्रयोग होने लगा था।

(4) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(5) कवित्त छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(6) वीर तथा भयानक रस का सुन्दर परिपाक है।

(7) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(8) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(9) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(10) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(11) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(12) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(13) 'आनि अबाज', 'बोल बुल्लंत', 'तुपक तीरह', 'भिटि भुजा', 'हकारि हंकार' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(14) 'पब्बै पहार मानो सार के' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

टिप्पणी -

'प थ्वीराज रासो' की कुछ पंक्तियों में इस छन्द की तीसरी पंक्ति में 'करिय' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उस स्थिति में अर्थ इस प्रकार होगा-योद्धाओं की असंख्य पंक्तियां गर्जना कर रही थीं। कुछ सीमा तक सही भी हो सकता है क्योंकि यह सम्भव है कि गौरी की सेना में हाथी न हों, क्योंकि अफगानिस्तान में हाथी नहीं के बराबर हैं।

[51]

घुरासान सुलतान षंघार मीरं।
बलक सो बलं तेग अच्चूक तीरं।।
रुहंगी फिरंगी हलबी समानी।
ठटी ठट्ठ बल्लोच ढालं निसानी।।

शब्दार्थ :-

घुरासान=खुरासान (अफगानिस्तान के पास का एक राज्य), सुलतान=बादशाह, षंघार=कन्यार (प्राचीन काल का गंधार राज्य), मीरं=मीर (सरदार), बलक=बलख (मध्य एशिया का नगर विशेष), बलं=सेना (शक्ति से युक्त), तेग=तलवार, अच्चूक=न चूकने वाला, रुहंगी=तुर्क जाति के, फिरंगी=यूरोपीय (यूरोप के निवासी), हलबी=हलब (आधुनिक सीरिया के निवासी), समानी=सम्मान वाले (अभिमानी), ठटी-ठट्ठ=झुंड के झुंड, बल्लोच=बलूचिस्तानी, ढालं=ढाल, निसानी=झण्डे (पताका)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि ने शहाबुद्दीन गौरी की सेना में शामिल विभिन्न जातियों के योद्धाओं की युद्ध कला की दक्षता का वर्णन किया है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि शहाबुद्दीन की सेना में खुरासान के सुलतान, कन्धार के सरदार (मीर) तथा कलख के बलशाली यौद्धा थे। जो बड़ी ताकत के साथ तलवार चलाते थे और उनके तीरों के निशाने बड़े अचूक थे। कहने का भाव है कि ये

सभी योद्धा निशाने पर तीर चलाते थे और भयंकर युद्ध करने में दक्ष थे। विभिन्न जातियों के बलोच सेना के झुंड के झुंड अपनी ढाल और कबीले की ध्वजाएं लिए उनके साथ चल रहे थे। भाव यह है कि गौरी की सेना में विभिन्न जातियों तथा विभिन्न क्षेत्रों के योद्धा सम्मिलित थे। इस प्रकार युद्ध कला में निपुण गौरी की सेना युद्ध करने के लिए तत्पर थी।

विशेष :-

(1) शहाबुद्दीन गौरी की सेना में विभिन्न देशों के सैनिक शामिल हैं।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) वीर रस का सुन्दर परिपाक है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'ठटी ठट्ट' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[52]

मंजारी चषी मुष्ष जंब्बुक्क लारी।
हजारी हजारी इकै जोध भारी।।
तिनं, पष्षरं पीठ हय जीन सालं।
फिरंगी कती पास सुकलात नालं।।

शब्दार्थ :-

मंजारी=दिल्ली-मार्जारी, चषी=आंख वाले, मुष्ष=मुख, जुब्बुक्क=जम्बुक, सियार=गीदड़, लारी=लोमड़ी, हजारी=एक हजार सैनिकों का नायक, एक-एक योद्धा एक-एक हजार सैनिकों के बराबर बलशाली, इकै=एक ही, जोध=योद्धा, तिनं=उनके ऊपर, पष्षट=पाखर-लोहे की कड़ियों वाली हाथी घोड़ों की झूलें, हय=घोड़े, सालं=सजे हुए-अलंकृत, फिरंगी=विलायती-यूरोप में बनी, कती=छुरी-कटारी, पास=पाश-फन्दा, सुफलात=फलात देश की, नालं=बन्दूक की नलि।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि ने शहाबुद्दीन गौरी की सेना में सम्मिलित विभिन्न प्रकार के योद्धाओं तथा उनके अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि शहाबुद्दीन गौरी की सेना में बिल्ली की-सी आंखों वाले तथा गीदड़ और लोमड़ी जैसे मुखों वाले अनेक योद्धा थे। इनमें से भी एक-एक योद्धा एक-एक हजार सैनिको का नायक था और वह अकेला एक हजार सैनिकों पर भारी पड़ता था। कहने का भाव है कि यह एक हजारी योद्धा एक हजार सैनिकों

को पराजित करने की शक्ति रखता था। उन सैनिकों के घोड़े के पीठ पर लोहे की पाखरें थीं, अर्थात् लोहे के जिरह-बख्तर उनके घोड़ों की पीठ पर पड़े थे तथा उन पर जीन कसी हुई थीं। उन योद्धाओं के पास विलायती तलवारें, फंदे तथा सुन्दर कलात देश की बनी हुई नालें (बन्दूकें) थीं। इस प्रकार शहाबुद्दीन की सेना का प्रत्येक सैनिक उस समय के आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित था।

विशेष :-

(1) विभिन्न अस्त्रों-शस्त्रों से सुसज्जित शहाबुद्दीन गौरी की सेना का यथार्थपरक वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) वीर-रस का सुन्दर परिपाक है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'हजारी हजारी' में पुनरुक्ति अलंकार है।

(12) 'पष्षटं पीत' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[53]

जहां बोग बांध मरूरी रिछोटी।
घनं सार संमेह अरु चौरं झौटी।।
एराकी अरब्बी पठी तेज ताजी।
तुरक्की महावांन कम्मान बाजी।।

शब्दार्थ :-

बाग=लगाम, बांध=बांधी गई थी, मसरी=मरोड़कर, रिछोटी=मोतियों की माला, घनं=अत्याधिक (सघन), सार=लोहा, चौरं=यौवन, झौरी=गुच्छेदार (छौरदार), एराकी=इराकी देश की, अरब्बी=अरब देश की, पठी=एक विशेष जाति के तेज दौड़ने वाले घोड़े, ताजी=घोड़े, तुरक्की=तुर्की, महाबांन=घोड़ों की एक जाति विशेष, बाजी=घोड़े।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि ने शहाबुद्दीन गौरी की सेना में शामिल विभिन्न देशों के विभिन्न प्रकार के घोड़ों का हृदयाकर्षक वर्णन किया है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि जिस स्थान पर उन घोड़ों की लगामें बंधी हुई थीं, उस स्थान पर लगाम की रस्सी को मरोड़ कर मजबूती के साथ बनाई

गई थी, ताकि लगाम टूट न सके। उन लगामों में मोतियों की मालायें भी गूंथी हुई थीं। उन लगामों में मजबूत लोहे की जंजीरें पड़ी रहती थीं। उन घोड़ों की गर्दन के तथा पूंछ के बाल लम्बे गुच्छेदार चवर के समान थे। यहां कवि ने दो तथ्यों की ओर संकेत किया है। प्रथम तथ्य तो यह है कि घोड़ों की लगाम का एक भाग उनके मुंह में रहता है, वह लोहे की जंजीरों से बना रहता है। यहं कवि उसी तरह की लगाम की मजबूती का वर्णन कर रहा है। दूसरा तथ्य है कि - घोड़ों की गर्दन के तथा पूंछ के बाल लम्बे, घने तथा चवर के समान गच्छेदार थे।

गौरी की सेना के घोड़ों में इराकी, अरबी, पठानी, ताजि, तुर्की, महाबानी तथा कम्मानी अर्थात् विभिन्न देशों और जातियों के तेज दौड़ने वाले घोड़े थे। इस प्रकार शहाबुद्दीन की सेना में विभिन्न देशों के विभिन्न श्रेष्ठ नसलों के घोड़े शामिल थे।

विशेष :-

(1) शहाबुद्दीन गौरी की सेना के विभिन्न नस्लों और जातियों के घोड़ों का सुन्दर वर्णन है।

(2) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(3) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'बाग बांध', 'सार समूह', 'तेज ताजी' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[54]

ऐसे असिव असवार अग्गेल गोलं।
भिरे जूनव जेते सुतते अमोलं।।
तिनं मद्धि सुलतान साहाष आयं।
इसे रूप सों फौज बरनाय गायं।।

शब्दार्थ :-

असिव=प्रचंड, असवार=घुड़सवार, अग्गेल=अग्रगामी, गोलं=समूह (झुण्ड), भिरे-भिड़ गए, जून=योद्धा, जेते=जितने भी, सुतते=उत्साही, अमोलं=बहुमूल्य, तिनं=उनके, मद्धि=बीच में, आयं=आया, इसे=इस, बरनाय=वर्णन किया, गायं=गाथा।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि विभिन्न प्रकार के घोड़ों के वर्णन के बाद इन घोड़ों पर सवार घुड़सवारों का चित्रण करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि शहाबुद्दीन गौरी की सेना के अगले भाग में इस प्रकार के प्रचंड घुड़सवार योद्धा समूह बांधकर (गोल कर) चल रहे थे, अर्थात्

वे छोटी-छोटी टुकड़ियों बनाकर चल रहे थे। वे युद्ध में जोशीले तथा बहुमूल्य रत्नों के समान थे। ऐसे प्रचंड योद्धाओं के बीच स्वयं बादशाह विद्यमान था। कवि कहता है कि इस रूप में बादशाह की उस सेना का वर्णन किया जा सकता है। कहने का भाव है कि बादशाह शहाबुद्दीन गौरी समूची सेना के मध्य में था और उसकी सेना आगे बढ़ती जा रही थी। इस प्रकार शहाबुद्दीन ने चक्रव्यूह के समान अपनी सैन्य रणनीति बनाई हुई थी।

विशेष :-

(1) शहाबुद्दीन के प्रचंड योद्धाओं का आकर्षक वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) वीर-रस का सुन्दर परिपाक है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'असिव असवार अग्गेल' में व त्यानुप्रास अलंकार है।

(12) 'जून जेते' में छेकानुप्रास अलंकार है।

टिप्पणी -

(1) पहली पंक्ति में 'असिव' का 'असि' पाठभेद मिलता है, परन्तु यहां असिव शब्द ही तर्कसंगत है जिसका अर्थ है अशिप या अमंगलकारी, अर्थात् वे योद्धा अत्यन्त भयानक एवं प्रचंड थे। शत्रुओं के लिए तो वे निश्चय से ही अमंगलकारी माने जायेंगे।

(2) दूसरी पंक्ति में 'जून' का पाठभेद 'भूप' मिलता है। भूप का अर्थ है-राजा। पर यह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि भूप तो केवल शहाबुद्दीन गौरी था।

[55]

तिनं घेरियं घेरियं राज प्रथिराज राजं।
चिहौं ओर घनघोर नीसान बाजं।।

शब्दार्थ :-

तिनं=उन्होंने, घेरियं=घेर लिया, राज=सुशोभित हुए, चिहौं=चारों, घनघोर=भयंकर, नीसानं=नगाड़े, बाजं=बजने लगे।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का चित्रण करता है जब प थ्वीराज राजा विजय तथा कुमोदमणि की सेनाओं को पराजित कर पद्मावती को साथ लेकर दिल्ली की ओर बढ़ रहा था तब शहाबुद्दीन की विशाल सेना ने प थ्वीराज को चारों ओर से घेर लिया।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि (शाहाबुद्दीन की विशाल एवं प्रचण्ड) सेना ने वहाँ पहुँच कर प थ्वीराज को चारों ओर से घेर लिया। इस प्रकार प थ्वीराज चारों ओर से शत्रुओं द्वारा घिरे हुए सुशोभित होने लगे। चारों ओर से युद्ध के भयंकर नगाड़े बजने लगे अर्थात् दोनों ओर की सेनाओं ने युद्ध की घोषणा कर दी।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज चौहान शत्रुओं द्वारा चारों ओर से घिर जाने पर भी चिन्तित नहीं हुए। 'राज शब्द इसी भाव का आकर्षक रूप है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा को व्यंजित करता है।

(3) वीर-रस का सुन्दर परिपाक है।

(4) पद्धरी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

[56]

जिय घोर निसांन, रांन चहुंवान चहौं दिसि।
सकल सूर सामन्त, समरि बल जंत्र मंत्र तिसि।।
उट्ठि राज प्रथिराज, बाग मनों लग वीर नट।
पढ़त तेग मन बेग, लगत मनो बीजु झट्ट घट।।
थकि रहे सूर कौतिग गिगन, रगन मगन भई श्रोन द्दर।
हर हरषि वीर जग्गे हुलस, हुरव रंगि नव रत्त वर।।

शब्दार्थ :-

घोर=घनघोर, निसांन=नगाड़े, रांन=राजा-राज, सकल=समस्तसारे, सूर=वीर, समरि=स्मरण कर, बल=शक्ति जंत्र-मंत्र=जादू-टोना, तस=उसका, बाग=लगाम, लग=लगती है, कठत=निकलती है, तेग=तलवार, बेग=गति-तेजी से, मनो=मानो, बीजु=बिजली, झट्ट=झट-तुरन्त, घट=घटा-मेघों की घटा, सूर=सूर्य, गिगन=गगन-आकाश, कौतिग=कौतुक-तमाशा, रगन-मगन=सराबोर हो उठना-पूरी तरह से भर जाना, श्रोन=रक्त, छर=छरती, हर=शिव, हरषि=हर्षित-प्रसन्न होकर, जग्गे=जाग उठे, हुलस=प्रसन्न होकर, हुरब=हुंकार, नव=नवीन, रत्त=रक्त, वर=श्रेष्ठ।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सजीव व सुन्दर वर्णन है। यहाँ कवि उस स्थिति का चित्रण करता है जब प थ्वीराज राजा विजय तथा कुमोदमणि की सेना को पराजित करके पद्मावती को साथ लेकर दिल्ली की ओर बढ़ रहे थे। तब शहाबुद्दीन की विशाल सेना ने प थ्वीराज चौहान को चारों ओर से घेर लिया। यहां कवि दोनों

ओर की सेनाओं के मध्य होने वाले युद्ध में प थ्वीराज के अदम्य उत्साह, साहस तथा युद्ध कौशल पर प्रकाश डालता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि महाराज प थ्वीराज चौहान के चारों ओर युद्ध के नगाड़े भयानक स्वरों के साथ बज रहे थे। उनके सभी वीर सामन्त भी अपने अपने बल तथा युद्ध कौशल को याद करके युद्ध करने के लिए तैयार हो गये। भाव यह है कि उन वीर योद्धाओं ने युद्ध लड़ने की युक्तियों को याद किया और वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा बल के साथ युद्ध करने के लिए तत्पर हो गए। उनको गौरी की सेनाओं का किसी प्रकार का भय नही था। स्वयं को तथा अपने योद्धाओं को चारों ओर से शत्रुओं से घिरा हुआ देखकर प थ्वीराज उत्साह तथा क्रोध से अपने घोड़ पर सवार हो गये और घोड़े की लगाम को पीट नट के कौशल के समान अपने हाथ से पकड़ लिया। यहां कवि यह स्पष्ट करना चाहता है कि योद्धा घोड़े पर सवार होकर एक हाथ से घोड़े की लगाम को थाम लेता है और दूसरे हाथ में तलवार पकड़ लेता है। ऐसे अवसर पर उनमें नट की-सी कुशलता होनी चाहिए। (जैसे नट भी अपने सधे हुए पैरों से दोनों हाथों में बांस पकड़कर जब रस्सी पर चलता है तो उसे बड़ी सावधानी के साथ अपना यह काम करना होता है। थोड़ी से असावधानी उसके प्राणों के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। लगभग यही स्थिति एक योद्धा की भी होती है। उसे भी बड़ी कुशलतापूर्वक घोड़े पर सवार होना होता है। विशेषकर उसे घोड़े की लगाम के संकेतों से इधर-उधर दौड़ाना होता है। इसलिए कवि ने प थ्वीराज के कौशल की तुलना नट के कौशल के साथ की है। भाव यह है कि घोड़ा प थ्वीराज के इशारों पर युद्ध-क्षेत्र में इधर-उधर दौड़ने लगबा। प थ्वीराज की तलवार मन के वेग के समान शीघ्रता से म्यान के बाहर निकली। संसार में मन की गति सर्वाधिक तीव्र मानी जाती है। कवि ने यहां तलवार की तीव्रता की तुलना मन की गति से की है। इसलिए भाव यह है कि उसकी तलवार तत्काल म्यान से बाहर निकल आई।

जब प थ्वीराज ने म्यान से अपनी तलवार बाहर निकाली तो ऐसा लगा मानो बादलों के समूह में बिजली चमक रही हो। यहां कवि ने म्यान को मेघघटा के समान बताया है तथा तलवार को बिजली के समान। इसका एक अन्य अर्थ यह भी हो सकता है कि प थ्वीराज की तलवार मन की गति के समान म्यान से बाहर निकली और वह शत्रुओं का संहार इस प्रकार से करने लगी जैसे बिजली मेघ घटाओं को चीरती है। अर्थात् प थ्वीराज शत्रुओं का अपनी तलवार से संहार करने लगे।

प थ्वीराज चौहान की इस वीरता एवं अद्‌भुत युद्ध कौशल को देखकर सूर्य भी मानो आकाश में आश्चर्यचकित होकर थक गया।, अर्थात् वह चलना भूलकर अपने स्थान पर खड़ा का खड़ा रह गया। इस युद्ध क्षेत्र में योद्धाओं का इतना खून बहा कि वहां सारी प थ्वी खून में डूब गई, अर्थात् युद्ध में हुई मार-काट से खून की नदी बहने लगी। कवि पुनः कहता है कि उस युद्ध को देखकर भगवान शंकर के वीर (गण) प्रसन्न होकर उल्लसित हो उठे। उत्तेजना के कारण उनके मुख नये लाल रंग से भर गए और वे प्रसन्नतापूर्वक हुंकारने लगे। भाव यह है कि युद्ध की उत्तेजना के कारण उनके मुख लाल हो गये और उनके मुख से हुंकार उत्पन्न होने लगी। इस प्रकार प थ्वीराज अदम्य उत्साह, साहस तथा वीरता के साथ शत्रुओं का संहार करता रहा।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज की युद्ध वीरता तथा अद्‌भुत युद्ध कौशल का यथार्थपरक वर्णन है।

(2) दूसरी पंक्ति में जंत्र-मत्र का प्रयोग जादू-टोने के लिए नहीं हुआ बल्कि उन युक्तियों,

रीतियों और युद्ध कला से है जिनको युद्ध-क्षेत्र में एक कुशल योद्धा द्वारा प्रयोग में लाया जाता है।

(3) छन्द की अन्तिम पंक्ति ने यह स्पष्ट किया है कि युद्ध क्षेत्र में चारों ओर रक्त तथा लाशों को देखकर शिव के गण अर्थात्-भूत-प्रेत पिशाच आदि मुर्दों का मांस खाने की खुशी में उल्लासित होकर हुंकार करने लगे। इसी प्रकार का वर्णन कविवर ने भी शिवा बावनी में किया है।

(4) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(5) कवित्त छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(6) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(7) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(8) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(9) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(10) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(11) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(12) 'सकल सूर सामन्त' में व त्यानुप्रास अलंकार है।

(13) 'बाग मनों लग वीर नट', 'लगत मनों बीजु सट्ट घट' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(14) 'हर हरषि' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[57]

हुरब रंग नव रत्त वर, भयौ जुद्ध अति चित्त।
निस बासुर समुझि न परत, न को हार नह जित्त।।

शब्दार्थ :-

हुरब=हुंकार, रत्त=लाल, वर=श्रेष्ठ, जुद्ध=युद्ध, अति=अत्याधिक, चित्त=उत्साह के साथ, निस=रात, बासुर=दिन, को=कोई, हार=हारता है, न=नहीं, जित्त=जीतता है।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि प थ्वीराज और शहाबुद्दीन गौरी की सेनाओं के बीच हुए भयंकर युद्ध का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि उस भयंकर युद्ध के उत्साह के कारण श्रेष्ठ योद्धाओं ने मुख पर नए खून की लालिमा छा गई और उत्साह के कारण वे हुंकारने लगे। कहने का भाव है कि उत्तेजना के कारण योद्धाओं के मुख लाल हो गये थे और क्रोध के कारण वे जोर-जोर से गर्जने लगे। दोनों पक्षों के योद्धाओं ने उत्साहपूर्वक भयंकर युद्ध किया। यह युद्ध इतना भयंकर था कि उसके कारण यह पता नहीं चलता था कि रात है या दिन। अभिप्राय यह है कि रात और दिन का अन्तर भी दिखाई नहीं दे रहा था। उस भयंकर युद्ध में दोनों पक्षों में से न किसी की हार हो रही थी, न किसी की जीत। कवि के कहने का अभिप्राय है कि उस युद्ध में हार-जीत का न होने के कारण दोनों ओर की

सेनाएं लगातार युद्ध कर रही थीं। उनमें से कोई भी पीछे हटने को तैयार नहीं था जिस कारण युद्ध का परिणाम निकलना कठिन हो रहा था।

विशेष :-

(1) अनिर्णित युद्ध का वर्णन है अर्थात् इस युद्ध से किसी भी पक्ष को न विजय प्राप्त हो रही थी और न पराजय। फलतः दोनों पक्ष लगातार युद्ध करते रहते थे।

(2) 'निस बासुद समुझि न परत' इस पंक्ति का यह अर्थ हो सकता है कि युद्ध क्षेत्र में हाथी, घोड़ों और सेनाओं के इधर-उधर दौड़ने या लड़ने से इतनी धूल मिट्टी उड़ रही थी, जिसने ऊपर उठकर सारे आकाश को ढक लिया। फलतः सूर्य का प्रकाश प थ्वी पर पहुंचने में असफल था। सांध्यकालीन जैसा धुंधला वातावरण छा गया था। इसी कारण यह पता नहीं चलता था कि वहां दिन है या रात।

(3) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(4) वीर-रस का सुन्दर परिपाक है।

(5) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(6) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(7) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(8) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(9) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(10) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(11) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

[58]

न को हार नह जित्त, रहेइ न रहहि सूरवर।
धर उप्पर भर परत, करत अति जुद महाभर।।
कहौं कमंध कहौं मध्य, कहौं कर चरन अन्तरुचि।
कहौं कंध बहि तेग, कहौं सिर जुटित उर।।
कहौं दन्त मत्त हय षुर षुपरि, कुम्भ भ्रसुं ह रुंड सब।
हिन्दवान रांन भय भांन मुष, गबहिय तेग चहुंवान जब।।

शब्दार्थ :-

रहेइ=रोकने पर भी, रहहि=रुकते, सूरवर=श्रेष्ठ वीर, धर=धरती, प थ्वी, उप्पर=ऊपर, भर=भर-योद्धा, परत=गिरते, जुद्ध=युद्ध, महाभर=बड़े-बड़े योद्धा, कहौं=कही, कमध=कमन्ध-सिर हीन धड़, मध्य=माथा-मस्तक, कर=हाथ, अन्तसरि=अंतड़ियां=आंतें, कन्ध=कन्धा, बहि=चीर कर पार हो जाती, तेग=तलवार, जुट्ित=टकरा कर, फुट्ि=फट जाते, उर=हृदय, दन्त=हाथी, मत्त=मस्त, हय=घोड़े, धर=खुर, धुपरि=खोपड़ी, कुम्भ=हाथी का गण्ड-स्थल-मस्तक, भ्रसुडह=सूंड, भ शु=डण्डि, रुण्ड=धड़, हिन्दवान=हिन्दुओं के, रांन=राजा, भय=हुआ, भान=सूर्य, मुध=मुख, गहिय=पकड़ी।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से

उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस स्थिति का चित्रण करता है जब प थ्वीराज चौहान राजा विजय तथा राजा कुमोदमणि की सेनाओं को पराजित करके पद्मावती को साथ लेकर दिल्ली की ओर बढ़ रहे थे तो मार्ग में शहाबुद्दीन गौरी की विशाल सेना ने प थ्वीराज को चारों ओर से घेर लिया और दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध होने लगा।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि उस भयंकर युद्ध में न तो कोई हार रहा था और न कोई जीत रहा था, अर्थात् दोनों पक्षों में बराबर का युद्ध हो रहा था। दोनों ओर के वीर योद्धाओं में युद्ध लड़ने का इतना उत्साह समाया हुआ था कि वे रोकने पर भी रुक नहीं रहे थे। कहने का भाव यह है कि यदि उनके सेनापति उनको युद्ध लड़ने से रोकते तो भी वे किसी हालत में रुकने वाले नहीं थे बल्कि वे भयंकर मार-काट मचा रहे थे। युद्ध में घायल होकर वे योद्धा प थ्वी पर गिर पड़ते थे। उधर महायोद्धा शत्रु के विरुद्ध अत्यन्त भयंकर युद्ध कर रहे थे। कहने का भाव यह है कि सामान्य योद्धा तो युद्ध में लड़ते लड़ते गिर पड़ते थे, लेकिन महान योद्धा शत्रु के विरुद्ध भयंकर युद्ध कर रहे थे। उस युद्ध क्षेत्र में कहीं योद्धाओं के धड़, कहीं सिर, कहीं हाथ, कहीं पैर और कहीं अंतड़ियां चारों तरफ बिखरी पड़ी थी, अर्थात् युद्ध क्षेत्र में यहां-वहां योद्धाओं के कटे हुए अंग बिखरे पड़े थे। कहीं तलवार कंधे को काटती हुई पार हो जाती थी और कहीं योद्धाओं के सिर आपस में टकराकर फूट जाते थे और कहीं तलवारों के वार के कारण योद्धाओं के वक्षः स्थल फट जाते थे। हस्ती सेना और अश्व सेना की मार-काट का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उस भयंकर युद्ध क्षेत्र में कहीं तो हाथियों के टूटे हुए दांत पड़े थे, कहीं घोड़ों के तथा कहीं उनके सिर कटे पड़े थे। कहीं हाथियों के मस्तक, सूंड तथा धड़ कटकर बिखरे पड़े थे । इस प्रकार चारों ओर लाशों के ढेर लग गए थे। जब हिन्दू नरेश महाराज प थ्वीराज चौहान ने हाथ में तलवार पकड़ी तो उनका मुख सूर्य के समान चमकने लग गया था। अर्थात् उनके मुख का तेज सूर्य के समान दिखाई दे रहा था। इस प्रकार युद्ध में भयंकर महाविनाश हो रहा था। साहस और शौर्य के प्रतीक प थ्वीराज का मुखमण्डल सूर्य की भांति तेजवान है।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज और शहाबुद्दीन की सेनाओं के बीच हुए युद्ध का यथार्थपरक वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) वीर, भयानक तथा वीभत्स रस का परिपाक है।

(4) कवित्त छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) :कहौं कमंध कहौ' में व त्यानुप्राय अलंकार है।

(12) 'कहौं कंध', 'षुर षुपटि' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[59]

गही तेग चहुंबान हिन्दवांन रानं।
गजं जुथ परि कोप केहरि समानं।।
करे रुण्ड मुण्ड करी कुम्भ फाटे।
बंर सूर सामन्त हुकि गर्ज भार।।

शब्दार्थ :-

तेंग=तलवार, गही=पकड़ना, चहुंवानं=चौहान, हिन्दवांन=हिन्दू, रानं=राजा, गंजजुथ=हाथियों का झुंड, परि=टूट पड़ा, कोप=क्रोध करके, केहरि=सिंह (शेर), करी=हाथी, रुण्ड=धड़, मुण्ड=सिर, कुम्भ=मस्तक, बरं=श्रेष्ठ, सूर=वीर, हुकि=हुंकार भरकर, गर्ज=गर्जने लगे, भार=भारी (भयानक)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि हिन्दू नरेश महाराज प थ्वीराज चौहान की युद्ध वीरता का वर्णन करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि हिन्दू नरेश महाराज प थ्वीराज ने हाथ में तलवार पकड़ी और वह हाथियों के झुण्ड पर क्रुद्ध हुए सिंह के समान टूट पड़े। कहने का भाव यह है कि शेर के समान उन्होंने शत्रुओं की सेना पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने हाथियों के मस्तकों को काटकर धड़ और सिर अलग-अलग कर दिये अर्थात् कहीं रूण्ड पड़े और कहीं मुण्ड। यह देखकर प थ्वीराज के श्रेष्ठ योद्धा और सामन्त गरजते हुए हुंकारने लगे।

यहां पर एक अन्य अर्थ यह भी हो सकता है कि प थ्वीराज चौहान ने हाथियों पर सवार शत्रुओं के योद्धाओं के सिरों को काटकर अलग कर दिया जिसे देखकर उसके वीर योद्धा हुंकार करने लगे। इस प्रकार प थ्वीराज का साहस और शौर्य उसकी सेना के लिए प्रेरणा स्त्रोत बन गया जिससे उसके सैनिकों में एक नई स्फूर्ति पैदा हो गई।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज की युद्ध वीरता का सजीव वर्णन है।
(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।
(3) वीर तथा भयानक रस का सुन्दर प्रयोग है।
(4) भुजंगी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।
(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।
(6) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।
(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।
(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।
(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।
(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।
(11) 'गजं जूथ परि कोष केहरि समान' में उपमा अलंकार है।
(12) 'करी कुम्भ', 'सूर सामन्त' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[60]

कीट चीह चिक्कार करि कलप भग्गे।
मंद तंजियं लाज उमंग मग्गे।।
दौरि गज अन्ध चहुआंन केरो।
घेरियं गिरछं चिहौं चक्क फेरी।।

शब्दार्थ :-

करी=हाथी, चीह चिक्कार=चिंघाड़ना (चीत्कार करना), करि=सूंड, कलप=कटी हुई, भग्गे=भागे, मंद=मद (हाथियों के मस्तक से बहने वाला गाढ़ा तरल पदार्थ जो सुगन्धित होता है, इसे 'मदस्त्राव' भी कहते हैं, सुगन्ध के कारण ही भ्रमर 'मदस्त्राव' पर मंडराते हैं।), तंजियं=तज कर, लाज=लार, उमंग=जोश, मग्गे=रास्ता, दौरि=दौड़कर, गज=हाथी, अन्ध=उन्मत, चहुंआंन=चौहान, केरो=का, घेरियं=घेर लिया, गिरद्दं=धूल, चिहौं=चारों, चक्क=चक्कर (दिशा), फेरो=फेरा लगाना।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि प थ्वीराज चौहान की वीरता का वर्णन करते हुए उस द श्य पर प्रकाश डालता है जब प थ्वीराज ने शहाबुद्दीन की सेना के हाथियों पर आक्रमण किया तो उनमें भगदड़ मच जाती है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि हिन्दू नरेश प थ्वीराज चौहान ने शहाबुद्दीन गौरी की सेना के हाथियों की सूंडों को काट दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे हाथी सूंड कट जाने के कारण चिंघाड़ते हुए भागने लगे। वे अपने मद को अर्थात् मस्ती को भूलकर लार टपकाते हुए अपनी जान बचाने के उत्साह में जहां कहीं भागने लगे। शत्रु सेना की यह स्थिति देखकर प थ्वीराज ने अपने हाथी को उकसाया और वह अन्धा (उन्मत्त) होकर उन हाथियों का पीछा करने लगा। फिर उसने उन हाथियों को चारों ओर से घेर लिया। हाथियों के भागने से वहां इतनी धूल उड़ी कि उसके कारण हाथियों को कुछ भी नजर नहीं आ रहा था और वे धूल के घेरे में ही चारों ओर चक्कर काटने लगे। कहने का भाव यह है कि शत्रु के हाथियों को निकल कर भागने का रास्ता नहीं मिला और वे वहीं पर चक्कर काटने लगे। इस प्रकार प थ्वीराज के पराक्रम के सामने शत्रुओं के हाथियों का बल भी क्षीण हो गया था।

विशेष :-

(1) युद्ध क्षेत्र में प थ्वीराज के पराक्रम के सामने मची हाथियों की भगदड़ का सजीव वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) वीर-रस का सुन्दर परिपाक है।

(4) भुजंगी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(5) दूसरी पंक्ति में 'मद' शब्द बल और वीरता का प्रतीक है और 'लाट' शब्द हाथियों की कायरता की प्रतीक है। अर्थात् युद्ध से पहले तो शत्रुओं के हाथी अपनी ताकत के कारण मद बहाते रहते थे, पर प थ्वीराज के आक्रमण के बाद वे अपने मद को भूलकर लार टपकाने लगे।

(6) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(7) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(8) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(9) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(10) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(11) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(12) 'चीह चिक्कार', 'करि कलप', 'चिहौं चक्क' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[61]

गिरछं उड़ी भांन अंधार रैनं।
गई सूधि सुझझै नहीं मझिझं नैनं।।
सिर नाय कम्मान प थिराज राजं।
पकरिये साहि जिम कलिंग बाजं।।

शब्दार्थ :-

गिरछं=धूल (गर्द), भानं=भानु (सूर्य), अंधार=अंधेरा, गई=मारी गई, सूधि=सुध (होश), सुझझै=दिखाई देना, मझ्झि=मध्य में, नैनं=नेत्र, नाय=डालकर, कम्मान=धनुष की डोरी, पकरिये=पकड़ लिया, साहि=बादशाह (गौरी), जिम=जैसे, कुलिंग=गौरया नामक पक्षी (चिड़िया), बाजं=बाज।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस द श्य का चित्रण करता है कि किस प्रकार प थ्वीराज चौहान ने वीरतापूर्वक शहाबुद्दीन गौरी को बन्दी बनाया।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि उस भयानक युद्ध में हाथियों की भगदड़ मचने से इतनी धूल उड़ी कि सूर्य छिप गया और चारों ओर रात्रि कालीन अंधेरा छा गया। ऐसा लगा रहा था कि मानो रात हो गई हो। चारों ओर फैले अंधकार के कारण योद्धा अपनी सुध-बुध खो बैठे थे, क्योंकि उन्हें कुछ भी नजर नहीं आ रहा था। भाव यह है कि अन्धकार के कारण योद्धाओं को कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था।

कवि पुनः कहता है कि इस अवसर पर महाराज प थ्वीराज ने बादशाह शहाबुद्दीन की गर्दन में अपना धनुष फंसाकर उसे इस प्रकार पकड़ लिया जैसे बाज गौरया नामक पक्षी को छप्पटा मारकर पकड़ लेता है। कहने का भाव यह है कि प थ्वीराज ने गौरी की गर्दन में अपने धनुष की कमान को फंसा कर उसे पकड़ लिया। इस प्रकार गौरी बंदी बना लिया गया।

विशेष :-

(1) हिन्दू नरेश प थ्वीराज चौहान ने वीरतापूर्वक युद्ध कौशलता का परिचय देते हुए शहाबुद्दीन गौरी को कैद कर लिया है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) वीर-रस का सुन्दर परिपाक है।

(4) भुजंगी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'सूधि सुझझै' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(12) 'पकरिये साहि जिम कुलिंग बाजं' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

[62]

लै चल्यौ सिताबी कटी फारि फौजं।
परे मीर सै पंच तहं षेत चौजं।।
रजंपुत्त पंचास जुझ्झै अमोरं।
बजै जीत के नद्द नीसांन घोरं।।

शब्दार्थ :-

लै चल्यौ=ले चला, सिताबी=शीघ्र-तेजी से (यह फारसी के शितावी का बिगड़ा हुआ रूप है), करी=हाथी, फारि=चीरता हुआ, मीर=गौरी के सरदार, सै पंच=पांच सौ, षेत=युद्ध क्षेत्र, चौजं=चूजे (मुर्गी के बच्चे के समान), राजंपुत्त=राजपूत-क्षत्रिय योद्धा, पंचास=पचास, जुझ्झै=जुझते हुए मारे गए, अमोरं=अटल, नद्द=नाद (शब्द), नीसान=नगाड़ा, घोरं=भयानक।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि उस स्थिति का वर्णन करता है कि किस प्रकार प थ्वीराज ने गौरी को पकड़कर बंदी बना लिया और फिर उसे लेकर दिल्ली की ओर बढ़ने लगा।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि प थ्वीराज चौहान शहाबुद्दीन गौरी को बंदी बनाकर शत्रु सेना को चीरता हुआ बड़ी शीघ्रता से अपने हाथी को दिल्ली की ओर बढ़ाने लगा। उस युद्ध क्षेत्र में गौरी के पांच सौ सरदार इस प्रकार मरे पड़े थे जैसे मुर्गी के बच्चे (चूजे) मरे पड़े हों। इसके साथ-साथ युद्ध में पीठ न दिखाने वाले अर्थात् हारकर पीछे न मुड़ने वाले पचास राजदूत यौद्धा भी वीरगति को प्राप्त हो गये। यह देखकर जीत के नगाड़े बड़ी भयंकरता से बजने लगे।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज चौहान की विजय के साथ युद्धक्षेत्र में हुई सैनिकों की हानि पर प्रकाश डाला गया है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) 'परे मीर सै पंच तहं चेत चौजं' में उपमा अलंकार है।

(4) भुजंगी छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(11) 'नद्द नीसांन' में छेकानुप्रास अलंकार है।

(12) 'परे मीर सै पंच तहं षेत चौजं' में उपमा अलंकार है।

टिप्पणी :-

कुछ आलोचक 'चौजं' का अर्थ 'चुने हुए' मानते हैं तब इसका अर्थ इस प्रकार होगा-शाहबुद्दीन के चुने हुए पांच सौ मीर युद्ध क्षेत्र में मरे पड़े थे।

[63]

जीत भई प्रथिराज की, पकरि साह लै संग।
दिल्ली दिसि मारगि लगौ, उतरि घाट गिरिगंग।।

शब्दार्थ :-

जीति=विजय, भई=हुई, पकरि=पकड़कर, शाह=बादशाह (शहाबुद्दीन), दिसि=दिशा, मारगि=मार्ग, लगौ=लगा, उतारे=उतरा, गिरिगंग=पर्वतीय गंगा।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सुन्दर एवं सजीव वर्णन है। यहाँ कवि उस स्थिति का चित्रण करता है जब प थ्वीराज चौहान युद्ध क्षेत्र में विजय प्राप्त कर शहाबुद्दीन गौरी को कैद करके दिल्ली की तरफ बढ़ने लगता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि उस भयंकर युद्ध में प थ्वीराज की विजय हुई। उसने बादशाह गौरी को पकड़ कर कैद कर लिया और उसे अपने साथ लेकर वह पर्वतीय गंगा के घाट पर उतरा और फिर उसे पार करके दिल्ली की दिशा में जाने वाले रास्ते को पकड़ा, अर्थात् प थ्वीराज चौहान ने एक पर्वतीय क्षेत्र में गंगा नदी को पार किया और शहाबुद्दीन गौरी को साथ लेकर वह दिल्ली की तरफ बढ़ने लगा।

विशेष :-

(1) युद्ध में प थ्वीराज की विजय हुई और शहाबुद्दीन को बंदी बना लिया गया है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'दिल्ली दिसि' में छेकानुप्रास अलंकार है।

[64]

वर गोरी पदमावती, गहि गोरी सुरतांन।
निकट नगर दिल्ली गाट, अत्रभुजा चहुंवान।।

शब्दार्थ :-

वर=वरण करना, गोरी=गौर वर्ण वाली, गहि=पकड़ कर, गोरी सुरतांन=बादशाह शहाबुद्दीन, निकट=समीप, अत्त भुजा=अष्ट भुजा (दुर्गा), चहुंवान=चौहान (प थ्वीराज)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सुन्दर वर्णन है। यहाँ कवि उस समय का वर्णन करता है जब प थ्वीराज चौहान शहाबुद्दीन गौरी को पकड़कर दिल्ली ले गए और सर्वप्रथम पद्मावती को दुर्गा मन्दिर ले गए।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि प थ्वीराज चौहान ने एक ओर तो गौरी वर्ण वाली पद्मावती का वरण किया और दूसरी ओर गजनी सुलतान शहाबुद्दीन गौरी को पकड़कर बंदी बना लिया। इस प्रकार प थ्वीराज दिल्ली पहुंचकर (सर्वप्रथम) अष्ट भुजा वाली दुर्गा माँ के मन्दिर में गये। इस प्रकार प थ्वीराज चौहान अपनी वंश परम्परा के अनुरूप अपने आराध्य देव या देवी के प्रति भक्ति भाव प्रकट करने के लिए मन्दिर जाते हैं।

विशेष :-

(1) विजय प्राप्त कर दिल्ली पहुंचने के उपरांत प थ्वीराज अपने महल में जाने की अपेक्षा सर्वप्रथम दुर्गा मां के मंदिर में जाते हैं।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्‌भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'गहि गौरी' में छेकानुप्रास अलंकार है।

टिप्पणी -

दूसरी पंक्तिमें 'अत्रभुजा' के स्थान पर 'चतुर्भुज' शब्द भी मिलता है जिसका अर्थ है - भगवान विष्णु या शिव। उन दिनों चतुर्भुज शिव की उपासना खूब होती थी। उस समय शिव मन्दिर प्रायः नगर के बाहर होते थे। अतः पाठभेद का अर्थ होगा-चतुर्भुज महादेव का मन्दिर। पुराने जमाने में भारतीय भक्ति भावना से जुड़ी यह प्रथा थी कि वर-वधु अपने घर में प्रवेश से पहले

नगर के बाहर स्थित भगवान की पूजा कर आशीर्वाद प्राप्त करते थे। इसलिए अपने वैवाहिक जीवन की मंगलकामना के लिए भी प थ्वीराज पद्मावती को साथ लेकर महल में जाने से पूर्व अष्टभुजा दुर्गा या चतुर्भुज महादेव के मंदिर में गए।

[65]

बोलि विप्र सोधे लगन, सुध घरी पर्राट्ठय।
हर बांसह महंट बनाय, कटि भांवरि गंठिय।।
ब्रह्म वेद उच्चरहिं, होम चौरी जु प्रत्ति वर।
पदमावती दुलहिन अनूप, दुल्लह प्रथिराज नर।।
यौ साह साहावदी, अट्ट सहस हय बर सुबर।
दै दानं मानं षटभेष कौ, चढ़े राज द्रुग्गाह हुजर।।

शब्दार्थ :-

बोलि=बुलाकर, विप्र=ब्राह्मण, सोधे=लगन (विवाह का मुहूर्त निकाला अथवा ल ग्न शुरु किया), सुध=शुभ (पवित्र), घरी=घड़ी, परट्ठिय=प्रतिष्ठा की, हर=हरे, बांसह=बांस का, गंठिय=गांठ जोड़ना, महंट=मण्डप, भांवरि=फेरे लेना (एक ऐसी वैवाहिक विधि जिसमें वर-वधू वेदी के चारों ओर सात चक्कर लगाते हैं), ब्रह्म=ब्राह्मण, उच्चरहिं=उच्चारण करते हैं, चौरी=वेदी, जु=जहां, प्रति=प्राप्ति वर=पति, अनूप=अनुपम, नर=नर-श्रेष्ठ (वीर), डडयौ=दंड दिया, साहाबदी=शहाबुद्दीन, अट्ट=आठ, सहस=हजार, हय=घोड़े, बर=श्रेष्ठ, सुबर=सुन्दर, मानं=सम्मान, षट्भेष=छः प्रकार के वेश-भूषा वाले (अर्थात् पति, भोगी, संन्यासी, जंगम, चारण और ब्राह्मण), राज=द्रुग्गाह=राजमहल, हुजर=सामने।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌ध त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का सुन्दर एवं सजीव वर्णन है। यहाँ कवि ने अष्टभुज माँ दुर्गा के मन्दिर में प थ्वीराज और पद्मावती के विवाह करने तथा गौरी को दंडित करने का वर्णन किया है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि प थ्वीराज ने ब्राह्मणों को बुलाकर उनसे विवाह का लगन (शुभ मुहूर्त) निकालने के लिए कहा। ब्राह्मणों ने भी अच्छी प्रकार से शोध करके अर्थात् भली प्रकार गणना करके विवाह का शुभ मुहूर्त निकाला। फिर वहाँ पर हरे बांसों का एक मण्डप सजाया गया, जहाँ पर प थ्वीराज और पद्मावती (वर-वधू) का ग्रंथि बंधन करके भांवरे डलवाकर दोनों का विवाह कर दिया गया। इस अवसर पर यज्ञ की वेदी के पास बैठे हुए ब्राह्मणों ने वेद-मन्त्रों का उच्चारण किया। उसी यज्ञ वेदी पर पद्मावती को प थ्वीराज के रूप में पति की प्राप्ति हुई। इस विवाह में पद्मावती अद्वितीय दुल्हिन थी और नर-श्रेष्ठ प थ्वीराज दूल्हा अर्थात् वर थे। इस प्रकार विवाह कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् प थ्वीराज ने बंदी बनवाए गए सुलतान गौरी को दंडित किया। उसे आठ हजार श्रेष्ठ और सुन्दर घोड़े दण्ड के रूप में देने की आज्ञा दी। तत्पश्चात् राजा प थ्वीराज ने षट्ट भेषी ब्राह्मणों अर्थात् - यति, भोगी, संन्यासी, जंगम, चारण तथा ब्राह्मणों को दान देकर उन्हें सम्मानित किया और फिर वे सामने स्थित अपने राजमहल (दुर्ग) में चला गया अर्थात् पद्माती को साथ ले वह अपने राजमहल में प्रवेश कर गया। इस प्रकार प थ्वीराज और पद्मावती वैवाहिक सूत्र में बंधकर ग हस्थ जीवन में प्रवेश करते हैं।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज की युद्ध वीरता, दानवीरता तथा क्षमावीरता का वर्णन है जैसे-युद्ध वीरता के द्वारा प थ्वीराज ने गौरी और उसकी सेना को पराजित किया, क्षमा वीरता के द्वारा उन्होंने उसे क्षमा किया और फिर षट्भेदी याचकों को दान देकर उन्हें सम्मानित किया।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) कवित्त छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

(10) 'साह साहाबदी' में छेकानुप्रास अलंकार है।

टिप्पणी -

प्रस्तुत छन्द में प्रयुक्त परट्ठिय, साहावदी, द्रुग्गह, हुजर इत्यादि शब्द काफी पुराने हैं। ऐसे शब्दों से रासो की प्रामाणिकता पर संदेह होता है, लेकिन अन्य तर्क यह भी दिया जाता है कि लाहौर विदेशियों के सम्पर्क में आ चुका था। इसलिए वहां की भाषा में अरबी, फारसी शब्दों का प्रयोग होने लगा था।

[66]

चड़िय राज प्रथिराज, छाँड़ि साहाबदीन सुर।
त्रिपंत सूर सामन्त, बजत नीसांन गजत धुर।।
चन्दबदनि म गनयनि, कलस लै सिर सनमुष्ष जुष।
कनक धारं अति बनाय, मोतिन बंधाय सुध।।
मण्डल मयंक वर नार सब, आनन्द कण्ठह गाइयब।
ढोरन्त चंवर किंक्करहिं, मुकुट सीस तिक जु दियव।।

शब्दार्थ :-

चडिय=चढ़ गया (दुर्ग में प्रवेश कर गया), छाँड़ी=छोड़कर, सुर=यवन, म्लेच्छ, त्रिपत=त प्त, नीसांन=नगाड़े, गजत=गर्जते हैं (गूंजते हैं), धुर=पूरी शक्ति से, चन्द्रबदनि=चन्द्रमुखी, म गनयनि=हिरण के समान आंखों वाली, कलस=कलश (मटका), सनमुष्ष=सन्मुख-सामने, कनक=सोने का, धारं=थालों में, सुष=सुखपूर्वक, बंधाय=बांधकर, मण्डल=फेरा, मयंक=चन्द्रमा, वर=श्रेष्ठ, नार=स्त्रियों, कष्ठह=कण्ठ से, गाइयब=गाने लगी, ढोन्त=हिलाना-डुलाना, किंक्करहिं=नौकर, सीस=शीश, तिक=तिलक, दिय=दिया।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्द्य त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि राजदुर्ग में प थ्वीराज की विजय से उत्पन्न खुशी के वातावरण का चित्रण करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि असुर शहाबुद्दीन गौरी को दण्डित करके, मुक्त करके स्वयं प थ्वीराज चौहान अपने दुर्ग में चढ़ गया अर्थात् वह अपने राजमहल में चला गया। अपने राजा की सभी कामनाओं को पूरा करता हुआ जानकर उसके सभी वीर सामन्त (योद्धा) पूर्णतया सन्तुष्ट हो गये, क्योंकि उन्होंने अपने शत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी। (खुशी के कारण) चारों ओर नगाड़ों की ध्वनि गूंजने लगी। चन्द्रमुखी एवं म गनयनी सुन्दरियां अपने सिरों पर जल से भरे हुए कलश लिए हुए राजा का स्वागत करने के लिए उसके सम्मुख आई। उन्होंने सर्वप्रथम स्वर्ण कालों को अच्छी प्रकार से सजाया और उनमें सुन्दर मोती भरे। जैसे चन्द्रमा को तारे चारों ओर से घेर कर सुशोभित करते हैं उसी प्रकार प थ्वीराज चौहान भी उन सुन्दर नारियों से चारों ओर से घिरा हुआ था और वे स्त्रियां अपने आनन्द भरे कण्ठों से मंगल गीत गा रही थीं। जब प थ्वीराज के सिर पर मुकुट रखकर उसके मस्तक पर तिलक लगाया गया तो सेवक (किंकर) उन पर चंबर डुलाने लगे, अर्थात् राजा प थ्वीराज के सिर पर मुकुट रखा गया। उनको तिलक किया गया, क्योंकि वे पद्मावती को जीत कर लाए थे। इस प्रकार सम्पूर्ण राजदुर्ग में खुशी का वातावरण है तथा सभी नर-नारी अपने राजा प थ्वीराज का स्वागत करने के लिए तत्पर हैं।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज की विजय और राजदुर्ग में उनके प्रवेश का प्रभावशाली वर्णन है।

(2) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(3) कवित्त छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(4) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(5) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(6) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(7) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(8) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(9) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

[67]

चढे राज दुग्गह त्रिपति, सुमत राज प्रथिराज।
अति अनन्द आनन्द सं, हिन्दुकंन सिरताज।।

शब्दार्थ :-

दुग्गह=दुर्ग पर, त्रिपति=राजा, सुमत=बुद्धिमान, अनन्द=आनन्दित होकर, आनन्द=प्रसन्नता, हिन्दुकंन=हिन्दू, सरताज=सरताज (शिरोमणि)।

प्रसंग :-

प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ चन्दबरदाई रचित 'प थ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' से उद्‌घ त हैं। इसमें प थ्वीराज चौहान और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का मनोहारी वर्णन है। यहाँ कवि 'पद्मावती समय' खण्ड के अन्त में प थ्वीराज चौहान का गुणगान करता है।

व्याख्या :-

महाकवि चन्दबरदाई मनभावन चित्रण करता हुआ कहता है कि सुन्दर बुद्धि वाला महाराज

प थ्वीराज चौहान हिन्दुओं में शिरोमणी राजा है, अर्थात् वे हिन्दुओं के सर्वश्रेष्ठ राजा हैं। बड़े आनन्द और प्रसन्नता के साथ महाराज प थ्वीराज दुर्ग के ऊपर चढ़ गए, अर्थात् उन्होंने अपने किले में प्रवेश किया।

विशेष :-

(1) प थ्वीराज चौहान का गुणगान किया गया है।

(2) पद्मावती को प्राप्त करने तथा मलेच्छ बादशाह शहाबुद्दीन गौरी को पराजित करने के बाद प थ्वीराज आनन्दित एवं प्रसन्न ह्रदय से दुर्ग में प्रवेश करते हैं।

(3) डिंगल, पिंगल मिश्रित भाषा का आकर्षक रूप है।

(4) दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग है।

(5) भावों की मनमोहक अभिव्यंजना है।

(6) तद्भव शब्दों का बहुत आकर्षक प्रयोग है।

(7) भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

(8) आकर्षक गेयता तथा लयात्मकता है।

(9) प्रसाद और ओजगुण सम्पन्न शैली है।

(10) मनमोहक भाव अभिव्यक्ति है।

टिप्पणी -

पहली पंक्ति में प्रयुक्त शब्द 'त्रिपति' का अर्थ है - राजा। आगे कवि ने 'राज प थिराज' शब्द का भी प्रयोग किया है जिससे पुनराव त्ति दोष उत्पन्न हो गया है, क्योंकि पहले उसे राजा कह दिया गया है तो पुनः राज शब्द अनुचित प्रतीत होता है, परन्तु छन्दपूर्ति के लिए यह क्षम्य है।

चन्दबरदायीः पद्मावती समय (पथ्वीराज रासो)

खण्ड- क

आलेचनाः

१. रासो काव्य परम्परा

२. चन्दबरदायी का साहित्यिक परिचय

३. पथ्वीराज रासो का सामान्य परिचय

४. पथ्वीराज रासो का महाकाव्यत्व

५. पथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

६. पद्मावती समयः कथानक परिचय

७. पद्मावती समय का भाव पक्ष

८. पद्मावती समय का काव्य-सौन्दर्य

९. पद्मावती समय में इतिहास और कल्पना का समन्वय

१०. पथ्वीराज का चरित्र-चित्रण

११. पद्मावती का चरित्र-चित्रण

चन्दबरदायीः पद्मावती समय
(पथ्वीराज रासो)
खण्ड- क

आलेचनाः

१. रासो काव्य-परंपरा

रासो- 'रासो' शब्द की व्युत्पति तथा 'रासो-काव्य' के रचना-स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की धाराणाओं को व्यक्त किया है। डॉ० गोवर्द्धन शर्मा ने अपने शोध- प्रबन्ध 'डिंगल साहित्य' में निम्नलिखित धारणाओं का उल्लेख किया है-

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार बीसलदेव रासो में प्रयुक्त 'रसायन' शब्द ही कालान्तर में 'रासो' बना।

२. गार्सा द तासी के अनुसार 'रासो' की उत्पत्ति 'राजसूय' शब्द से है।

३. रामचन्द्र वर्मा के अनुसार इसकी उत्पत्ति 'रहस्य' से हुई है।

४. मुंशी देवीप्रसाद के अनुसार 'रासो' का अर्थ है कथा और उसका एकवचन 'रासो' तथा बहुवचन 'रासा' है।

५. ग्रियर्सन के अनुसार 'रायसो' की उत्पत्ति राजादेश से हुई है।

६. गौरीशंकर ओझा के अनुसार 'रासा' की उत्पत्ति संस्कत 'रास' से हुई है।

७. पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के अनुसार 'रासो' की उत्पत्ति संस्कत 'रास' अथवा 'रासक' से हुई है।

८. मोतीलाल मेनारिया के अनुसार जिस ग्रंथ में राजा की कीर्ति, विजय, युद्ध तथा तीरता आदि का विस्तत वर्णन हो, उसे 'रासो' कहते हैं।

९. विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार 'रासो' की व्युत्पत्ति का आधार 'रासक' शब्द है।

१०. कुछ विद्वानों के अनुसार राजयशपरक-रचना को 'रासो' कहते हैं।

११. बैजनाथ खेतान के अनुसार 'रासो' या 'रायसों' का अर्थ है झगड़ा, पचड़ा या उद्यम और उसी 'रासो' की उत्पत्ति है।

१२. के० का० शास्त्री तथा डोलरराय माकंड के अनुसार 'रास' या 'रासक' मूलतः नत्य के साथ गाई जाने वाली रचनाविशेष है।

१३. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'रासो' तथा 'रासक' पर्याय हैं और वह मिश्रित गेय-रूपक हैं।

१४. कुछ विद्वानों के अनुसार गुजराती लोक-गीत-नत्य 'गरबा', 'रास' का ही उत्तराधिकारी है।

१५. डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार विविध प्रकार के रास, रासावलय, रासा और रासक छन्दों, रासक और नाट्य-रासक, उपनाटकों, रासक, रास तथा रासो-नत्यों से भी रासो-प्रबन्ध-परम्परा का सम्बन्ध रहा है- यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। कदाचित् नहीं ही रहा है।

१६. मं० र० मजूमदार के अनुसार रासाओं का मुख्य हेतु पहले धर्मोपदेश था और बाद में उनमें कथा-तत्त्व तथा चरित्र-संकीर्तन आदि का समावेश हुआ।

१७. विजयराम वैद्य के अनुसार 'रास' या 'रासो' में छन्द, राग तथा धार्मिक-कथा आदि विविध तत्व रहते हैं।

१८. डॉ० दशरथ शर्मा के अनुसार रास के नत्य, अभिनय तथा गेय-वस्तु-तीन अंगों से तीन प्रकार के रासो (रास, रासक-उपरूपक तथा श्रव्य-रास) की उत्पत्ति हुई।

१९. हरिबल्लभ भायाणी ने सन्देश रासक में और विपिनबिहारी त्रिवेदी ने पथ्वीराज रासो में 'रासा' या 'रासो' छन्द के प्रयुक्त होने की सूचना दी है।

२०. कुछ विद्वानों के अनुसार रसपूर्ण होने के कारण ही रचनाएँ, 'रास' कहलाई।

२१. 'भागवत' में 'रास' शब्द का प्रयोग गीत-नत्य के लिए हुआ है।

२२. 'रास' अभिनीत होते थे, इसका उल्लेख अनेक स्थान पर हुआ है। (जैसे-भावप्रकाश, काव्यानुशासन तथा साहितय-दर्पण आदि।)

२३. हिन्दी साहित्य कोश में 'रासो' के दो रूप की ओर संकेत किया गया है- गीत-नत्यपरक (पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात में समद्ध होने वाला) और छंद-वैविध्यपरक (पूर्वी राजस्थान तथा शेष हिन्दी में प्रचलित रूप।)

रास काव्य मूलतः रासक छंद का समुच्चय है। अपभ्रंश में २९ मात्रओं का एक रासा या रास छंद प्रचलित था। विद्वानों ने दो प्रकार के 'रास' काव्यों का उल्लेख किया है- कोमल और उद्धत। प्रेम के कोमल रूप और वीर के उद्धत रुप का सम्मिश्रण प

थ्वीराज रासो में है।

रासो साहित्य मूलतः सामंती-व्यवस्था, प्रकति और संस्कार से उपजा हुआ साहित्य है जिसका संबंध पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश से है। इसे 'देशभाषा काव्य' नाम से भी जाना जाता है। इस साहित्य के रचनाकार हिन्दू राजपूत राजाश्रय में रहने वाले चारण या भाट थे। समाज में उनका स्थान सम्मान का था, क्योंकि उनका जुड़ाव सीधे राजा से

होता था। ये चारण या भाट कलापारखी और कला-रचना में निपुण होते थे ये योद्धा भी होते थे जो युद्ध होने पर अपनी सेना की अगुवाई विरुदावली गा-गाकर किया करते थे। ये राजाओं, आश्रयदाताओं, वीर पुरुषों तथा सैनिकों के वीरोचित युद्ध घटनाओं, को केवल बढ़-चढ़ा कर ही नहीं, उसकी यथार्थपरक स्थितियों एवं सन्दर्भो को भी बारीकी के साथ चित्रित करते थे। वीरोचित भावनाओं के वर्णन के लिए इन्होंनं 'रासक या रासो' छंद का प्रयोग किया था। इसलिए इनके द्वारा रचित साहित्य को 'रासो साहित्य भी कहा गया।

चारण साहित्य की रचना के समय देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। पूरा देश कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। प्रत्येक राज्य का राजा अलग होता था। उनमें आये दिन युद्ध हुआ करता था। सभी राजा एक-दूसरे से मेल-जोल रखने के बजाय आपस में लड़ते-भिड़ते रहते थे। राज्य-विस्तार करने के लिए उन्हें युद्ध करना जरूरी था। विदेशी सामंतों के आ जाने से युद्ध का वातावरण और गर्म हो गया। विदेशी सामंतों ने देशी राजाओं में फूट उालो और राज्य करो की नीति का अनुसरण कि और एक दिन वे पूरे हिन्दू-जाति के शासक बन गए। जिस हिन्दू राजा ने उनका विरोध किया उससे उन्होंने युद्ध की ठान ली और जीतकर उसे अपने अधीन कर लिया। राजनीतिक स्थिति के बिगड़ने से सामाजिक स्थिति में भी बिखराव आया। प्रमुख हिन्दू जातियाँ उपजातियों में बढ़ती गई। धार्मिक सम्प्रदाय भी उपसम्प्रदायों में विभाजित होते गए। सभी जातियों और सम्प्रदायों में जो मेलजोल और सौहार्द पहले था, वह पूरी तरह वैमनस्य भाव में बदल गया। आये दिन एक जाति के लोग दूसरी जाति से और एक सम्प्रदाय लोग दूसरे सम्प्रदाय से लड़ने-भिड़ने लगे। इससे समाज में युद्धोन्माद बढ़ा। सांस्कतिक मेलजोल और एकता के अभाव ने इसे और बढ़ने दिया। संघर्ष के इस वातावरण से देश और राज्य की आर्थिक स्थिति और दयनीय हो गयी। लोग भूखों मरने लगे। भूखे लोगों को मरने और मारने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं रह गया था। किन्तु ये लोग जो निम्न और निम्न मध्यवर्ग के थे, लड़ नहीं पा रहे थे। इसीलिए इन्होंने लड़ने वाली जाति, विशेषकर राजपूत जाति की सेवा की और उन्हें लड़ने के लिए उकसाया। वे अपनी प्रजा को दुःखी नहीं देख सकते थे। इसीलिए उन्होंने युद्ध करना अपना नैतिक कर्त्तव्य मान लिया। इसीलिए एक धर्म और सम्प्रदाय के लोग दूसरे धर्म और सम्प्रदाय से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने में लगे हुए थे इसके कारण भी संघर्ष बढ़ा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में-''लड़ने वालों की संख्या कम थी, क्योंकि लड़ाई भी जाति विशेष का पेशा मान ली गई थी। देश और धर्म की रक्षा के लिए समूची जनता के सन्नद्ध हो जाने का विचार ही नहीं उठता था। लोग क्रमशः जातियों और उपजातियों तथा सम्प्रदायों ओर उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़ने वाली जाति के लिए सचमुच ही चैन से रहना असम्भव हो गया था क्योंकि सभी दिशाओं से आक्रमण होने की सम्भावना थी। निरन्तर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का अविष्कार।'' स्पष्ट है कि जिस समय कोई देश या राष्ट्र (जाति) युद्ध

में व्यस्त रहता है उस समय रचनाकार का मुख्य कर्म हो जाता है उस चेतना में स्थान देना चारण-साहित्य या रासो साहित्य का प्रमुख स्वर वीरत्व होने का यही कारण था।

रासो काव्य-परम्परा- इस साहित्य का अपना एक इतिहास है। बारह सौ ईस्वी के निकटस्थ चार राजपूत राज्य हिन्दी-प्रदेश में वर्तमान थे-कन्नौज में गाहड़वाल वंश, या राठौड़ वंश, बुन्देलखण्ड में चंदेल वंश; राजपूताने में चौहान और दिल्ली में तोमर वंश। कन्नौज राज्य के अन्तर्गत जयचन्द के दरबार में मधुकर नाम के कवि का होना सुना जाता है जिसकी रचना का नाम 'जयमयंकजसचन्द्रिका' है। यह कति अभी तक अनुपलब्ध है। इसी प्रकार का नाम दूसरे कवि भट्टकेदार का है जिसकी रचना का नाम 'जयचन्द्रप्रकाश' है। यह कति भी आज तक अप्राप्य है। बुन्देलखण्ड राज्य से संबंधित ग्रंथ जो आल्हाखण्ड आज मौखिक रुप से सुना जाता है वह किसी अज्ञात रचनाकार द्वारा लिपिबद्ध कराया गया है। राजपूताने के अजमेर राज्य से संबंधित अभी तक दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं- पहला दलपति का 'खुमाणरासो' जो अभी तक अप्रकाशित है; दूसरा नरपतिनाल्ह कत 'वीसलदेवरासो', जिसका प्रकाशन हो चुका है। दिल्ली राज्य से संबंधित ग्रंथ चन्दबरदाई कत 'पथ्वीराजरासो' है। यह एक प्रकाशित कति है। काव्य-रूप की दष्टि से यह एक प्रबन्ध काव्य है।

इन ग्रंथों के सर्वेक्षण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अधिकांश ग्रन्थों में 'रासो' शब्द नाम के अन्त में जुड़ा हुआ है जो 'काव्य' शब्द का पर्यायवाची है। 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध मे अब तक कई मत सामने आए हैं। इतिहासकार गार्सा द तासी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'राजसूय', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसायण' और डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने 'रहस्य' से माना है। श्री नरोत्तम स्वामी ने इसकी व्युत्पति 'रसिया' और कुछ अन्य विद्वानों ने 'रासक से भी माना है।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'रासक को एक छंद भी मानते हैं और काव्य-भेद भी। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल की कविता के संबंध में अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ करता था। ये काव्य चरित्रप्रधान हैं। इन चरित्रों को काव्य में बाँधने के लिए ही इस शब्द का प्रयोग होता रहा है। वस्तुतः रासो काव्य मूलतः रासक छंद का समुच्चय है। अपभ्रंश में उन्नीस मात्रा का एक रासा या रास छंद प्रचलित था। ऐसे अनेक छंदों के गान की परम्परा कदाचित् लोकगीतों में रही होगी। एकरसता न रहे इसलिए बीच-बीच में दूसरे छंद जोड़ने और गाने की प्रथा भी उस समय से चली होगी। 'संदेशरासक' मुक्तक काव्य इसका एक सुंदर नमूना है। पहले रासो काव्य छंद में लिखे गए। कालान्तर में इनमें बदलाव आया होगा जिसके फलस्वरूप गेय छंदों का उपयोग किया जाने लगा।

'बीसलदेव रासो' एक ऐसा ही प्रेमप्रधान काव्य है जिसमें रासकेतर छंद का प्रयोग हुआ है। आगे चलकर काव्य का यह रूप कोमल भावनाओं के अतिरिक्त अन्य विचारों की अभिव्यक्ति का वाहक बना। प्रेमभाव के साथ इसमें वीरों की गाथात्मक चेतनाओं को स्थान मिला। जिस प्रकार अंग्रेजी का 'सॉनेट' मूलतः प्रेमप्रधान भावनाओं का काव्य था, किन्तु कालान्तर में उसे अन्य भावों का भी वाहक बना लिया गया। उसी प्रकार की दशा इन आदि कालीन रासो काव्य की समझनी चाहिए। इसी परिवर्तनशील प्रक्रिया के तहत हमें इस काल के रासो काव्य में एक साथ वीरोचित और श्रंगारोचित

भावनाओं के वर्णन सुलभातापूर्वक मिल जाते हैं। रासो परम्परा के प्रतिनिधि ग्रन्थ इस प्रकार हैं-

१. खुमाणरासो-इस परम्परा की प्रारम्भिक कतियों में 'खुमाणरासो' का स्थान सर्वोपरि है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख शिवसिंह सेंगर की कति 'शिसिंह सरोज' में मिलता है। इसके रचयिता दलपति विजय हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसको नवीं शताब्दी (सन् ८१२ ई०) की रचना मानते हैं। इसमें राजस्थान के चित्तौड़-नरेश खुमण (खुम्माण) द्वितीय के युद्धों का सजीव वर्णन किया गया है। किन्तु राजस्थान के वत्त-संग्राहकों के अनुसार यह सत्रहवीं शताब्दी की रचना ठहरती है, क्योंकि सत्रहवीं शताब्दी के चित्तौड़-नरेश राजसिंह तक के राजओं के यशोगान का चित्रण मिलता है और इसी आधार पर इसको आदिकालीन रचनाओं के भीतर नहीं रखते हैं। ऐसा मान लेने पर हम इस रचना के साथ समुचित न्याय नहीं कर पाते, क्योंकि यह बराबर देखने में आया है कि जब भी कोई लिपिकार किसी पुरानी पोथी को लिपिबद्ध करता है तो वह अपने समकालीन राजाओं से सम्बद्ध कथानकों को इसलिए जोड़ देता है ताकि उसके आश्रयदाता को भी महत्त्व मिल जाय। यह तथ्य 'खुमाणरासो' में जुड़े बाद के प्रक्षिप्त अंश को देखने से स्पष्ट हो जाता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में ''वत्त-सग्राहकों के पास इतिहास को समझने की पैनी दष्टि थी; इसलिए राजस्थान में रहते हुए भी वे आदिकाल की समाप्ति को भक्तिकाल और रीतिकाल के भण्डार में डालने का दुराग्रह करके यश अर्जित कर रहें हैं, जब कि वह सामग्री उन कालों की प्रवत्तियों से किसी भी रूप में मेल नहीं खती। इन लोगों ने रचनाकारों के नामों के संबंध में भी भ्रम पैदा किया है।'' यही कारण है कि डॉ० मोतीलाल मेनारिया जैसे प्रबुद्ध इतिहासकार ने भी इस कति के रचनाकार दलपति-विजय को जैन साधु माना है जो पूरी तरह से गलत है।, क्योंकि रचना-शिल्प और वस्तु-विधान की दष्टि से यह काव्य किसी जैन साधु द्वारा विरचित नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो अवश्य ही इस रचना की अन्तर्वस्तु में जैन धर्म चेतना का प्रसार मिलता, जो कि नहीं है। इस स्थिति में इसका रचनाकाल नवीं शताब्दी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

इस ग्रन्थ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति पूना-संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें कुल पाँच हजार छंद हैं। इसमें समकालीन राजाओं के आपसी विवादों के बाद हुए एकता के साथ-साथ अब्बासिया राजा खुमाण खलीफा और खुमाण के साथ हुए युद्ध का चित्रण मिलता है। इस कति का प्रमुख सरोकार राजा खुमाण का चरित्रांकन करना है। उनके चरित्र के दो प्रस्थान बिन्दु हैं- एक युद्ध और दूसरा प्रेम। उनके प्रेम को दर्शाने के लिए ही कतिकार ने नायिका भेद और षट्ऋतुवर्णन का उल्लेख भी किया जो रमणीय है। वीर और श्रंगार रस के साथ इसमें दोहा, सवैया और कवित्त छंदों का उपयोग किया गया है। इसकी भाषा राजस्थानी हिन्दी है। यथाः

''पिउ चित्तौड़ न आविऊ सावण पहिली तीज।
जोवै वाट रति विरहिणी, खिण-खिण अणवै खीज।।
संदेसो पिउ साहिबा, पाछो फिरिय न देह।
पंछी घाल्या पीज्जरे, छूटण रो संदेस''।।

२. परमाल रासो- इस परम्परा की अगली कति के रूप में 'परमाल रासो' का नाम लिया जाता है। इसे 'आल्हाखण्ड' भी कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'वैलेड' तथा डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे 'वीरगाथा' काव्य कहा है। अभी तक इसकी प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। जो 'आल्हाखण्ड' प्राप्त है वह बहुत बाद में लिपिबद्ध किया गया है। सर्वप्रथम सन् १८६५ ई० में चार्ल्स इलियट ने जिस 'आल्हाखण्ड' का प्रकाशन कराया था, वह पूरी तरह से मौखिक परम्परा पर आधारित है। इसी प्रति को आधार बनाकर डॉ० श्यामसुंदरदास ने 'परमालरासो' का पाठ-निर्धारण किया और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित कराया। पाठ-निर्धारण के बाद भी यह कति प्रामाणिक नहीं बन सकी। यह १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ की रचना है। उस काल की रचनाओं के वस्तु-विधान और शिल्प-विधान से वह सर्वथा भिन्न है। इसके रचयिता जगनिक हैं, जो महोवा के नरेश परमर्दिदेव का आश्रित था। रचनाकार ने इस काव्य में महोबे के दो देश प्रसिद्ध वीरों आल्हा और ऊदल के वीर चरित्र को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत कया है। इसमें आल्हा छंद (वीरछंद) का प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा बैसवाड़ी है।

इसका प्रचार वैसे सारे उत्तर भारत में है पर बैसवाड़ा इसका मुख्य केन्द्र है। वहाँ इसके गाने वाले अधिक मिलते हैं। बुन्देलखण्ड में, विशेष रूप में महोबे के निकट क्षेत्रों में इसका अधिक प्रचलन मिलता है। गीत-योजना और छंद-विधान की दष्टि से यह एक वीरगीतात्मक काव्य है-

बारह बरिस लै कूकुर जिएँ और तेरह ले जिएँ सियार।
बरिस अठारह क्षत्री जिएँ, आगे जीवन को धिक्कार।।

३. जयचन्द्रप्रकाश और जयमयंकजस-चन्द्रिका- रासो काव्य-परम्परा में 'जयचन्द्रप्रकाश' और 'जयमयंकजस-चन्द्रिका' का उल्लेख भी मिलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर इन्हें कमशः भट्टकेदार तथा मधुकर कवि की कति माना है। ये रचनाएँ सन् ११६७ ई० से सन् ११८६ ई० के मध्य लिखी गयी थीं, ये कवि कन्नौज के राजा जयचन्द्र के समकालीन थे और उनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। कुछ इतिहासिकों ने टिप्पणी में उल्लिखित 'भट्टभणंत' के आधार पर भट्टकेदार को जयचन्द्र का दरबारी कवि न मानकर शहाबुद्दीन गोरी का दरबारी कवि सिद्ध किया है जो गलत है। सोचने की बात है कि यदि ये शहाबुद्दीन गोरी के दरबारी कवि होते तो उनका यशोगान करते, पर उन्होंने ऐसा करके जयचन्द्र का यशोगान किया है। 'जयमयंकजस-चन्द्रिका' के रचनाकार मधुकर ने भी इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के प्रताप और पराकम का विस्तत वर्णन किया है। इन कतियों तथा इनकी हस्तलिखित प्रतियों की अनुपलब्धता के कारण इनका अस्तित्त्व खतरे में है। जो भी हो ऐतिहासिक संदर्भो में इन कवियों का अस्तित्त्व सुरक्षित है, भले ही ये कतियाँ, 'नोटिस मात्र' ही क्यों ने हों।

४. हम्मीर रासो- इस परम्परा की चौथी कति का नाम 'हम्मीर रासो' है। आज तक स्वतंत्र रूप से इस रचना की खोज नहीं हो पायी है। हाँ, 'प्राकतपैंगलम' में हम्मीर से संबंधित आठ छंद अवश्य उपलब्ध हैं। इन्हीं आठ छंदों के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके अस्तित्व की कल्पना की है। प्रचलित धारणा के अनुसार इस कति के

रचयिता शार्ंगधर माने जाते हैं। पं. राहुल सांकत्यायन ने प्राकत पैंगुलम के आठ छंदों(हम्मीर से संबंधित) से रचयिता के रूप में 'जज्जल' का नामोंल्लेख किया है जो उचित भी है। सचमुच 'प्राकतपैड्गलम' के दो छंदों में इस रचनाकार का नाम आया है-

(१) ''हम्मीर कज्जु जज्जल भणह कोणाहण मुंह मह जलउ।
सुणतान सीस करवाण दह तेज्जि कबलेर दीअचलउ''।।

(२) ''ढोण्णा मारिअ ढिण्णी मह मुच्छिय मेच्छ सरीर।
पुर जज्जला मंतिवर चलिउ वीर हम्मीर''।।

दूसरे की अन्तिम पंक्ति का अर्थ यह है 'जज्जल और मंत्रिवर आगे करके वीर हम्मीर चले' न कि 'आगे मंत्रिवर जज्जल को करके वीर हम्मीर चले' (जैसा कि आचार्य शुक्ल ने किया है)। उस काल का कवि तलवार का भी धनी होता था जो सेना के आगे-आगे चलता था जैसे चन्दबरदायी। उसके बाद मंत्री और राजा रहते थे। डॉ० माताप्रसाद गुप्त जैसे विद्वान् इन पंक्तियों के अर्थ को न समझ पाने के कारण ही जज्जल को मंत्री मान लिया है। हम्मीरदेव सन् १३०० ई० में अलाउद्दीन की चढ़ाई में मारे गए थे। इसलिए इस कति का रचनाकाल १३वीं शती ही मानना चाहिए। इसमें हम्मीर देव और अलाउद्दीन के युद्ध का ही चित्रण किया गया है।

५. वीसलदेव रासो- ' बीसलदेव रासो' इस परम्परा की पाँचवी कति है। इसकी रचना 'बारह से बहोत्तराँ मझारि। जाठ बदी नवमी बुधवारि' के अनुसार जेष्ठ वदी नवमी, दिन बुधवार सन् ११५५ ई० (संवत् १२१२ वि.) में हुई थी। इसके रचयिता-नरपति नाल्ह थे जो अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समकलीन थे। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने इस कति के रचनाकार के रूप में नरपति जैन का नामोल्लेख किया है जो गलत है, क्योंकि यह रचना जैन मतावलम्बी नहीं है। यह एक शंगारमूलक रचना है जो गेय है। इसमें चार खण्ड हैं। पूरी रचना लगभग २००० चरणों में समाप्त हुई है। इसके प्रथम खण्ड में बीसलदेव और मालव के भी परमार की कन्या राजमती का विवाह-वर्णन;दूसरे खण्ड में बीसलदेव का रानी से रूठकर उड़ीसा जाना तथा वहाँ बारह वर्षो तक रहना; तीसरे खण्ड में राजमती का विरह-वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना और चौथे खण्ड में भेज कर अपनी पुत्री को अपने घर ले आने की कथा तथा बीसलदेव का उसे पुनः चित्तैड़ लौटा लाने का प्रसंग वर्णित है। पूरा काव्य वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है। इसमें घटनाओं का अभाव है।

यह एक कोमलधर्मा रासक काव्य है जो प्रेम प्रधान होने के कारण गेय है। इसमें मिलन की संवेदनाएँ कम, विरह की संवेदनाएँ अधिक हैं। कति की मूल संवेदना विरह है जिसका वर्णन द्वितीय प्रक्रम से प्रारम्भ हुआ है। यह अनुचेतना पुरुष और नारी की संवेदनाओं को उद्वेलित कर देता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि स्त्री-पुरुष पहले मिलन में अपनी-अपनी बड़ाई हाँकने से नहीं चूकते हैं। इस तरह के अभिमान भाव से कभी-कभी दोनों में बिछोह हो जाता है। बीसलदेव नव परिणीता के सम्मुख प्रणयव्यंजना की अपेक्षा अपने वैभव का अभिमान प्रकट करता है। यह अभिमान भाव सामंतीवादी मनोवति से उपजता हैः

'गरब करि बोलियउ संइभारि बाल।
मो सरिसऊ नहिं अबर भूआल'

जब बीलदेव यह कहते हैं कि मेरे जैसा इस पथ्वी पर दूसरा कोई भूपाल नहीं है तब उसका सामंतवादी मनोवति का अभिमान जागत हो उठता है। वह प्रत्युत्तर देती है-हे साँभरवाल। गर्व न करो, तुम्हारे समान अन्य भूपाल भी हैं एक (तो) उड़ीसा का स्वामी है, उसके घर हीरे की खाने हैं। उसके इस कथन से बीसलदेव के मन पर आघात पहुँचता है। उसके पुरुष-मन में अनेक शंकाएँ उठ खड़ी होती हैं। वह कहता है कि हे नारी; तुम क्यों कड़वे वचन बोलती हो। क्या तुमने मुझे अपने चित्त से उतार दिया है। ठीक ही है दावाग्नि से जले वक्ष में कोंपल फिर भी लग सकती हैं, पर जीभ से जले हृदय में फिर अनुराग उत्पन्न नहीं होताः

'कडुवा बोल न बोलिस नारि, तू मो गेल्हसि चित्त बिसारि।
जीभ का दाधा न पांगुरइ। नाल्ह कहइ सुणजइ सब कोई'।।

नारी का नैसर्गिक गुण होता है कि वह पति को रूठते नहीं देख सकती। इसकी गुण के कारण राजमती प्रिय की अहमन्यता के सम्मुख अपने को नत कर लेती है, क्योंकि दाम्पत्य जीवन के प्रति उसमें मोह था। इतने पर भी बीसलदेव का अभिमान नष्ट नहीं होता। फलतः बीसलदेव रानी को छोड़कर उड़ीसा जाने को तत्पर हो जाता है। नारी-चेतना आकुलता में परिणत हो जाती है। विप्रलम्भ की आशंका से उद्वेलित नारी कह उठती हैः

चालियउ उलगाण्उ घण जाण न देइ।
मो नइ मारि कइ सरिसीय लेइ।

अर्थात् 'या तो मुझे मार डालो या तो साथ ले चल। हे स्वामी! संध्या-समय मुझे दो दुःख पीड़ा पहुँचाते हैं, एक तो यौवन, जो मुझे मरोड़ कर मारता है, दूसरा संतानहीन होना'। इतने पर भी बीसलदेव नहीं मानता। वह उसकी अवमानना करता है तो उसका मर्माहत मन चीत्कार कर उठता हैः

छाडी हो स्वामी म्हे थारी हो आस।
म्इला हो थारउ सिकड वेसास।।

बीसलदेव रामती को छोड़कर उड़ीसा चला जाता है। उसके चले जाने के बाद प्रोषितपतिका राजमती की अवस्था दयनीय हो जाती है। वह अपने अन्तःपुर में बंदिनी-सा जीवन व्यतीत करती है। उसे ऐसी स्थिती में नारी परतंत्रता का बोध होता है। वह एक नर सामंत द्वारा उपेक्षिता नारी के जीवन-कर्म को भोगते हुए सिहर उठती है। वह वनखण्ड में स्वतंत्र विचरण करने वाली कोयल और गाय को सराहती हैः

'धणइ न सिरजीय धउलीय गाइ।
वनखण्ड काली कोइली'।

रचनाकार ने नारी की विरह-संवेदनाओं को प्रभावी बनाने के लिए उसके सामने प्रकति और उसके उपादानों को उपस्थित कर देता है। वर्ष के बारहों महीने में प्रकति में

होने वाले परिवर्तनों को रचनाकार ने विरहिणी नायिका में बदलने वाले भावों से सीधे जोड़ दिया है। ऐसे सन्दर्भो में कवि ने राजमती की विकलता, चिंता, उद्वेग, दुःख को मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णित किया है। आषाढ़ का चित्रण इस दष्टि से अनूठा हैः

'धुरि आसाढ़ घडुकया मेह।
खलहत्था बहि गई खेह'।।

इसके बाद राजमती पण्डित को संदेशवाहक बनाकर प्रिय को लौट आने का संदेश भेजती है। संदेशवाहक की परम्परा को निबाहने के कारण यह प्रकरण दूत काव्य-परम्परा से जुड़ जाता है। संदेश पाकर बीसलदेव घर लौट आता है। दोनों के मिलने से काव्य समाप्त हो जाता है। इस तरह यह एक संदेशकाव्य, गेयकाव्य और विरहप्रधान काव्य ठहरता है। इसकी भाषा अवहट्ट है।

६. विजयपाल रासो- मिश्रबन्धुओं ने इस परम्परा की एक कति 'विजयपाल रासो का उल्लेख किया है,जिसके रचियता नल्ल सिंह है। इस कति का नायक विजयपाल सम्भवतः विश्वामित्र गोत्रीय गुहिलवंशीय राजा विजयपाल से भिन्न है जिसने :कोई' नामक वीर योद्धा को पराजित किया था। इस राजा के प्रपौत्र विजय सिंह का एक हिन्दी शिलालेख दमोह (म.प्र.) में प्राप्त हुआ है। राजबली पाण्डेय इस रचना में रचनाकार ने राजा विजयपाल सिंह और बंगराजा के बीच हुए युद्धों को सजीव रूप में चित्रित किया है। इसका रचनाकाल सन् १२६८ ई० है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी नाम की दूसरी कति का उल्लेख भी किया है जिसके रचनाकार मल्लदेव हैं। शिल्प-विधान की दष्टि से यह आदिकाल के बाद की रचना ठहरती है।

७. पथ्वीराज रासो- इस परम्परा की अन्तिम कति 'पथ्वीराज रासो' हैं इसके रचयिता चन्दबरदाई हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में- ''ये हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका पथ्वीराज रासो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। चंद दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् महाराज पथ्वीराज के सामंत और राजकवि प्रसिद्ध हैं।- ये महाराज पथ्वीराज के राजकवि ही नहीं, उसके सखा और सामंत थे; तथा षड् भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदशास्त्र, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं में पारंगत थे।'' इनका जन्म सन् ११६८ में हुआ था। जनश्रुति के अनुसार जिस समय पथ्वीराज चौहान को मुहम्मद गौरी बन्दी बनाकर अपने देश ले जा रहा था, उस समय चन्द भी महाराज के साथ गया था। उसी समय वह अपने पुत्र जल्ल (जल्हण) को 'पथ्वीराज रासो' को सौंप गया था। 'पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नप काज'। ऐसा विश्वास है कि जल्हण ने चन्द के अपूर्ण महाकाव्य को पूरा किया था।

अभी तक 'पथ्वीराज रासो' के चार संस्करण ही उपलब्ध हैं। प्रथम संस्करण जिसका कलेवर बड़ा है, काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित है और जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इस संस्करण में ६६ समय (खण्ड) रासो' में ७००० छंद हैं। इसका प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है, किन्तु इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ अबोहर और बीकानेर (राजस्थान) में आज भी सुरक्षित हैं। यह प्रति १७वीं शती के आसपास की है। तीसरे संस्करण का 'पथ्वीराज रासो' का कलेवर लघु है

जिसमें ३५०० छंद ही संकलित हैं। इसमें केवल १६ समय हैं। इसकी प्रति बीकानेर (राजस्थान) में सुरक्षित है। चौथे संस्करण के 'पथ्वीराज रासो का अंग है। यह इसका लघुत्तम संस्करण है।

रासो' में केवल १३०० छंद हैं जिसका प्रकाशन 'राजस्थान भारती' से हुआ है। यह सबसे छोटा संग्रह है।

(१). पथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता- प्रामाणिकता की दष्टि से 'पथ्वीराज रासो' सबसे अधिक विवादास्पद ग्रंथ है। विद्वानों का एक वर्ग 'पथ्वीराज रासो' के प्रथम संस्करण को प्रामाणिक मानता है तो दूसरा वर्ग अप्रामाणिक। तीसरा वर्ग इसे अर्द्धप्रामाणिक मानता है।पहले वर्ग में कर्नल टाड, मिश्रबन्धु, श्यामसुंदरदास, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या दूसरे वर्ग में मुंशी देवी प्रसाद, गौरी शंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० बूलर, श्यामलदान, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा तीसरे वर्ग में मुनि जिन विजय, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आते हैं जिन विद्वानों ने इस ग्रंथ को अप्रामाणिक माना है, उनके तर्क ये हैं:

१. 'रासो' में वर्णित घटनाएँ और नाम इतिहास से मेल नहीं खाते। इसमें परमार, चालुक्य और चौहान क्षत्रिय को अग्निवंशी माना गया है, जबकि वे सूर्यवंशी हैं।

२. पथ्वीराज चौहान का दिल्ली गोद जाना और संयोगिता स्वयंबर आदि घटनाएँ इतिहास सम्मत नहीं हैं।

३. पथ्वीराज की माँ का नाम कर्पूरी था, जबकि 'रासो' में कमला दिया गया है। जो गलत है।

४. पथ्वीराज की बहिन पथा का विवाह मेवाड़ के राजा समर सिंह के साथ बताया गया है,जो गलत है।

५. पथ्वीराज ने गुजरात के राजा भीमसिंह का वध किया था। यह घटना इतिहास-सम्मत नहीं है।

६. 'पथ्वीराज रासो' में पथ्वीराज के चौदह विवाहों का उल्लेख है जो इतिहास से मेल नहीं खाता।

७. 'पथ्वीराज के हाथों मुहम्मद गौरी की मत्यु हुई थी। यह घटना भी इतिहास-सम्मत नहीं है। इसी प्रकार सोमेश्वर के वध की घटना भी काल्पनिक है।

८. 'पथ्वीराज रासो' में उल्लिखित तिथियाँ इतिहास से मेल नहीं खतीं। इन तिथियों में लगभग ६०-१०० वर्षो का अन्तर है।

पथ्वीराज रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानों ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं-

१. डॉ० दशरथ शर्मा के मतानुसार पथ्वीराज रासो का मूल रूप प्रक्षेपों में छिपा हुआ है। अभी जो लघुत्तम प्रतियाँ मिली हैं, उनमें इतिहास-संबंधी अशुद्धियाँ नहीं हैं।

२. घटनाओं में ६०-१०० वर्षो का अन्तर है, वह सम्वत् की भिन्नता के कारण है। इस त्रुटि को समाप्त करने के लिए ही मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने 'आनन्द संवत्' की कल्पना की है जिसके अनुसार 'रासो' की सभी तिथियाँ शुद्ध ठहरती हैं।

३. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'पथ्वीराजरासो' में १२वीं शताब्दी की भाषा की संयुक्ताक्षर अनुस्वारान्त की प्रवति मिलती है। जिससे यह १२वीं शताब्दी की पोथी सिद्ध होती है।

४. 'पथ्वीराज रासो', एक इतिहास-ग्रंथ नहीं, काव्यग्रंथ है। अतः उसमें इतिहास का सत्य खोजना और उसके न मिलने पर उसे अप्रामाणिक घोषित करना अनुचित है।

५. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'पथ्वीराज रासो' की रचना शुक-शुकी-संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन सर्गो में यह शैली नहीं मिलती उन्हें प्रक्षिप्त मानना चाहिए। यदि यह तर्क मान लिया जाय तो वे अंश प्राय प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाते हैं जो इतिहास-विरुद्ध पड़ते थे।

२. चन्दबरदायी का साहित्यिक परिचय

आदिकालीन साहित्य में रासो परंपरा का विशेष महत्त्व है। इसमें पथ्वीराज रासो का अपना स्थान है। इसके रचयिता चन्दबरदायी हिन्दी साहित्य के आदि महाकवि हैं। जिस प्रकार शिवाजी के साथ कविवर भूषण का नाम अनन्तकाल तक जुड़ा रहेगा, उसी प्रकार पथ्वीराज चौहान के साथ चन्दबरदायी का नाम भी चिरस्थायी रहेगा। प्रामाणिकता की कसौटी पर आलोचक भले ही अनूकूल प्रतिकूल निर्णय दें, लेकिन इतना निश्चित है कि परम्परा एवं जनविश्वास के आधार पर वे पथ्वीराज चौहान के सभासद एवं श्रेष्ठ कवि माने जाएंगे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जीवन काल सम्वत् १२२५ से सं. १२४६ माना है। इनका जन्म लाहौर में हुआ। यह इस समय पश्चिमी पाकिस्तान में है। इस की सूचना निम्नलिखित पंक्ति से प्राप्त होती है-

बलिभद्र सुनागौर चन्द्र उप्पाजि लाहौरह।

कुछ विद्वानों का मानना है कि अजमेर के चौहान इनके पूर्वजों के यजमान थे। ये भट्ट जाति के जगाति नामक गोत्र के ब्रह्मण थे। जालधरी इनकी इष्ट देवी थीं। रासो के आधार पर पता चलता है कि पथ्वीराज और कवि चन्द का जन्म एवं संसार से प्रस्थान एक ही दिन हुआ- '' इक दीह उपज इक दीह समायकम्''पथ्वीराज के सिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् चन्द उनके राजकवि बन गए। फलतः वे पथ्वीराज के अभिन्न मित्र, सामन्त और दरबारी कवि थे। रासो के अनुसार पथ्वीराज का जन्म काल सम्वत् १२०६ है। चन्द के पिता का नाम मल्ह था। कन्नौज युद्ध के एक दोहे में इसका तथ्यात्मक उल्लेख हुआ है-

बिना आयस पथ्वीराज के दाय नषयौ बाज।
को रष्वै सुत मल्ह को, सूर नूर सुषलाज।।

कवि चन्द की 'कमला' और 'गौरी' नाम की दो पत्नियां थीं। एक प्रकार से गौरी (पत्नी) की प्रेरणा से ही संवाद रूप में कवि ने पथ्वीराज रासो की रचना की। दोनों पत्नियों से कवि चन्द के एक कन्या और दस पुत्र हुए। उनके पुत्रों के नाम थे-सुर, सुन्दर, सुजान, जल्हण, बल्ह, बलिभद्र, केहिर, वीरचन्द, अवधूत और गुजराज। इनमें जल्हण एक प्रतिभा सम्पन्न कवि थां उसी ने 'पथ्वीराज रासो' को पूर्ण किया। जल्हण की प्रतिभा का यह प्रमाण है कि 'पथ्वीराज रासो' एक पूर्ण ग्रन्थ बन सका। इसके सम्बन्ध में लिखा भी है-

दहति पुत्र कवि चन्द कै, सुन्दर रूप सुजान।
इक जल्हन गुन बावरो, गुन समंद ससियान।।
आदि अन्त लयि वत्तमन वत्ति गुनि गुनीराज।
पुस्तक जल्हन हस्त दै चलि गज्जन नपकाज।।

रासोकार के अनुसार चन्द ने पथ्वीराज के हाथों गौरी को मरवाया और फिर स्वयं भी एक दूसरे को मार कर मर गए। लेकिन यह प्रसंग इतिहास से मेल नहीं खाता,

क्योंकि पथ्वीराज की मत्यु गजनी में न होकर तराइन के युद्ध में सं.१२४६ को हुई थी।

लेकिन रासो से ही पता चलता है कि कवि चन्द का जीवन ऐश्वर्यपूर्ण रहा। पथ्वीराज चौहान की उस पर अपार कपा थी। इसका उल्लेख मिलता है-

बीस गांव कवि चन्द प्रति, करी कुंवर बगसीस।
एक बाजि साजति सजहि दियौ सुसंभरि ईस।।

रासो के वर्णन वैभव से प्रतीत होता है कि वे बहुश्रुत, बहुपठित एवं बहुज्ञ थे। 'पथ्वीराज रासो' उनकी एकमात्र रचना है जिसे वे अपने जीवन काल में पूर्ण नहीं कर पाए। उनके पुत्र जल्हण ने इसे पूर्ण किया। लिखा भी है-

पुस्तक जल्हन हस्त दै चलि गज्जन नपकाज।

लेकिन चन्दबरदायी षड् भाषा के पण्डित, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्दशास्त्र, ज्योतिष तथा पुराण के धनी थे। यही नहीं वे एक अच्छे योद्धा भी थे। सामन्त, मित्र और मन्त्री होने के कारण वे हमेशा पथ्वीराज के साथ रहते थे।

साहित्यिक विशेषताएं- यद्यपि कवि चन्द की एक ही रचना प्राप्त होती है लेकिन यही उनके यश के लिए पर्याप्त है। कुछ विद्वान तो इसे हिन्दी साहित्य का प्रथम महाकाव्य भी घोषित करते हैं। साहित्यिक दष्टि से यह हिन्दी की प्रथम उल्लेखनीय काव्य रचना हैं उनकी साहित्यिक विशेषताएं इस प्रकार से हैं-

१. युद्ध-चित्रांकन

चन्दबरदायी पथ्वीराज चौहान के न केवल दरबारी कवि थे, अपितु उनके सखा भी थे। इसके साथ-साथ वे एक वीर योद्धा भी थे। अवसर अपने पर वे पथ्वीराज चौहान के साथ युद्ध करने भी जाते थे। पथ्वीराज-रासो में दो स्थलों पर युद्धों का ही सजीव वर्णन मिलता है। पहला तो पथ्वीराज-जयचन्द युद्ध और दूसरा शहाबुद्दीन-पथ्वीराज युद्ध। कवि ने जयचन्द की सेना की सज्जा का वर्णन बड़े ही प्रभावशाली रूप में किया है। ऐसा कहते समय कवि ने अतिशयोक्ति का सहारा लिया है। यद्यपि युद्ध-वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में है, लेकिन उसका प्रभाव बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है। इस सम्बन्ध में कवि ने यदि युद्ध-सज्जा का वर्णन किया है तो युद्ध का भी वर्णन किया है। रासो का उदाहरण अवलोकनीय है-

''सर करोणि रंग पलं पारि पर्क।
बजइ मंस संचिं षंधि वासि करकं।
डुम ढाल लोलंति हालं ति देसं।
गये हंस नंसीय गेहे सुवेसं।
परे पानि जंघं घरंग निनारे।।
मनउ मछ्छ मछ्छं तरे तीर मारे।
सिर सा सरोपां कछे सा सिवाली।
गहे अतं गुध्धी स सोहै मराली।
तटं रंभ रत्तं भरंतं विचीरं।

कंत स्याम सवेतं नीर पीरं।।

२. प्रकति-चित्रण

पथ्वीराज रासो कति नगर, विवाह, सरंगसज्जा, युद्ध, शबु-विजय, जलकेलि, आखेट आदि वर्णनों के लिए प्रसिद्ध है। इस प्रकार के अनेक वर्णनों में कवि ने अपनी रुचि का परिचय दिया है। इसके साथ-साथ कवि ने शरद् ऋतु वर्णन और प्रकति वर्णन भी किया है। जहां तक प्रकति वर्णन का प्रश्न है कवि चन्द ने प्रकति के केवल आलम्बन और उद्दीपन के रूपों का ही वर्णन किया है, लेकिन यह वर्णन भी काफी प्रभावशाली बन पड़ा हैं इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है-

''शोभा चाहे प्रकति की हो या मनुष्य की हो,
परम्परा प्रचलित रूढ़ उपमानों के सहाने ही निखरी है।''

अधीनस्थ सामन्तों की स्वामी भक्ति और पराक्रम अत्यन्त उज्ज्वल रूप में प्रकट हुए हैं। परन्तु प्रकति वर्णन में कवि ने जहां कहीं केवल नामपरिगणन शैली को अपनाया है वहां नीरसता और शुष्कता उत्पन्न हो गई है। फिर भी विभिन्न ऋतु का वर्णन करते हुए कवि को अपूर्व सफलता मिली है। वसंत वर्णन अवलोकनीय है-

''सामग्गं कलधूत नूतन शिखरा मधुलेहि मधुवेष्टिता।
वाता सीत सुगन्ध मंद सरसा आलोल साचेष्टता।
कंठी कंठ कुलाहेल मुकलया कामस्थ उद्दपनी।
रत्ने रत्त बसन्त पत्त सरसा संजोगि भोगाइते।।''

३. सौन्दर्य चित्रण

सौन्दर्य चित्रण के अन्तर्गत नख-श्रिख वर्णन में रासोकार को अभूतपूर्व सफलता मिला है। कहा जाता है ''पथ्वीराज रासो अपने नख-शिख वर्णन के कारण हिन्दी की काव्य रचनाओं में अद्वितीय स्थान रखता है। इसमें कवि ने कल्पना की सरसता के साथ-साथ नायिका के व्यक्तित्व का भी ध्यान रखा है।'' कवि ने नायिका के हृदय को मदन का अयन कहा है जहां वह छिप जाना चाहता है। उसके अधरों की उपमा पके हुए बिम्बा फल से की है। पथ्वीराज रासो में एक से एक सुन्दर वर्णन भरे पड़े हैं। संयोगिता के देदीप्यमान ललाट पर लगे हुए कस्तूरी के तिलक की उपमा सागर से निकले हुए नवीन चन्द्रमा की गोद में बैठे हुए मग के साथ की है।

जहां चन्दबरदायी ने संयोगिता के नख-शिख का वर्णन किया है वहां कवि उसकी सखियों का वर्णन करना नहीं भूला। बल्कि सखियों का वर्णन कवि बसन्त प्रियाओं के रूप में करता है। मनभावन रूप दर्शनीय है-

''अधरल पल पल्लव सुवास।
मंजरिय तिलक पंजरिअ पास।
अलि अलक कंठ कलमंठ मंत।
संयोगि भोग बरु भयु बमंत।।

मानवीय नख-शिख वर्णन में सरस्वती के नख-शिख वर्णन में हमें देवी विषयक नख-शिख वर्णन का उदाहरण मिल जाता है। लेकिन यह नख-शिख न होकन शिख-नख है क्योंकि सरस्वती यहां एक देवी हैं। अतः कवि ने आराधक बनकर उसके सौन्दर्य का वर्णन किया है। कवि ने उसके कपोलों की तुलना प्रातःकाल में उदित उस चन्द्रमा के समान की है जो राहु के कलंक से बचने के लिए मग के रथ के जुए को खींच रहा हो। परवर्ती कवियों के असमान कवि चन्द का नख-शिख वर्णन सर्वथा मर्यादित और सुरुचि सम्पन्न है। सौन्दर्य चित्रण अनुकरणीय है।

इस प्रकार पद्मावती के नख-शिख वर्णन भावी कवियों के लिए प्रेरणास्रोत बन गया है-

मनहुं कला ससि भांन, सोलह सो बन्निय।
बाल बेस ससि ता समीप, अंम्रित रस पिन्निय।।
बिगसि कमल मग भ्रमर, बैन षजेन मग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिम्ब, मोति नष सिष अहि घुट्टिय।।
छप्पनि गमन्द हरि हंस गति , बिह बनाय संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पदमावतिय, मनुहं काम कामिनिरचिय।।

४. शंगार और वीर रस-परिपाक- महाकाव्य में शंगार वीर या शांत रस का परिपाक होता है। इस काव्य में शंगार और वीर रस का परिपाक हुआ है। कवि चन्द ने पथ्वीराज के प्रेम का वर्णन करने के लिए शंगार रस के अनेक स्थल सजाए हैं। ऐसे स्थलों पर नारियों का रूप-चित्रण तथा संयोग-वियोग सम्बन्धी विविध दशाओं का वर्णन काफी प्रभावशाली बन पड़ा है। जहां कवि ने एक ओर राजकुमारियों के नख-शिख का वर्णन किया है, वहां दूसरी ओर उनकी प्रेम-पीड़ाओं तथा सहवास का भी सुन्द वर्णन किया है। इच्छिनी, शशिव्रता, संयोगिता, पद्मावती आदि पथ्वीराज की अनेक रानियां थीं। कवि ने इन सबके सौन्दर्य का वर्णन नायिका भेद को ध्यान में रख कर तो नहीं किया, लेकिन फिर भी अनेक स्थलों पर नायिका भेद की छाया-सी पड़ गई है। पथ्वीराज और संयोगिता के रति-वर्णन में शंगार का हृदयस्पर्शी रूप है-

''रस कीडत विरीत चितं दंपति दंपति रति।
पंच पंच सुट्ढए, पंच लगोति पंच पति।।
उठिय बाल सज्जिय दुकूल, सुध पंजरसु धाम चित्त।
हर हराट उप्पज्यौ, तजिय अक्ककौट कान कत।।''

रासों में शंगार रस के संयोग-पक्ष का मुख्य रूप से वर्णन हुआ है। परन्तु संयोगिता और पथ्वीराज के वियोग-पक्ष का भी सुन्दर परिपाक हुआ है।

स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि चन्द मात्र कवि नहीं थे, बल्कि योद्धा भी थे। अक्सर वे योद्धा की वस्तुओं से सुसज्जित होकर महाराज के साथ युद्धभूमि में भी जाते थे। यही कारण है कि उन्होंने युद्धभूमि का सजीव वर्णन किया है। सेना की ब्यूह रचना के चित्र बड़े ही प्रभावशाली बन पड़े हैं। कवि की प्रत्यक्षानुभूति के वर्णनों से वीर रस फूट-फूट पड़ता है। घग्घर नदी के युद्ध-वर्णन में शौर्य का अनूठा रंग है-

''हुआ सद्द सुसद्दह नद्दं भरं।
धन घेरिक कीय सुफौज भरं।
लष लष्षं मिले दल सम्मिलयं।
नरु भद्दव बाहल समिलयं।''

५. भाषा-शैली

चन्दबरदायी ने अपने काव्य के भावपक्ष को समद्ध बनाने के लिए उसमें अलंकारों का सुन्दर एवं स्वाभाविक प्रयोग किया है। उनकी अलंकार योजना पूर्णतः भावानुकूल है। यद्यपि कवि ने शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा यमक का सर्वाधिक प्रयोग किया है, लेकिन उसमें चमत्कार प्रदर्शन की प्रवत्ति कहीं पर भी दिखाई नहीं पड़ती। अर्थालंकारों में कवि ने प्रायः सादश्यमूलक अलंकारों का ही प्रयोग किया है। इनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति आदि कवि चन्द के सर्वप्रिय अलंकार हैं। उनका उपमानों का प्रयोग भी सर्वथा परम्परागत है। लेकिन कहीं-कहीं उन्होंने नवीन और मौलिक उपमानों का भी प्रयोग किया है। संयोगिता के वर्णन में कवि ने जो रूपकातिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया है। अलंकार के सहज प्रयोग से काव्य रूप चमत्कारीक बन गया है-

''कुंजर उप्पर सिंह।सिंह उप्पर दोय पब्बय।
पब्बय उप्पर मंथ। मंथ उप्पर ससि सम्भय।
ससि उप्पर इक कीर। कीर उप्पर मग विट्ठौ।
मग उप्पर कोदण्ड। संघ कदंथ बच हो।।''

सहृदय कवि भाषा के धनी ही नहीं हैं बल्कि भाषा मानो करबद्ध नायिका के समान कवि का अनुकरण करती हुई दिखाई देती है। कवि ने स्वयं षड्भाषा कुराण-पुराण का ज्ञाता होने का दावा किया है। नदी, वन, पर्वत, युद्ध सौन्दर्य आदि वर्णनों के सम्बन्ध में कवि ने भावनुकूल भाषा और शब्दों का प्रयोग करके अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है। युद्ध-वर्णन प्रसंग में कवि ने यदि डिंगल भाषा का प्रयोग किया है तो शंगार तथा सौन्दर्य वर्णन के सन्दर्भ में पिंगल भाषा का प्रयोग किया है। रासो में कवि ने संस्कत, अपभ्रंश, राजस्थानी, पंजाबी, ब्रज, अरवी तथा फारसी भाषाओं के शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है। युद्ध वर्णन में जहाँ कवि की भाषा आलोचना प्रधान है वहाँ शंगार और अन्य रसों के वर्णन में सरस और मधुर रूप धरण कर लेती है। परन्तु हमें एक बात का ध्यान रखना होगा कि पथ्वीराज रासो में अनेक प्रक्षिप्त अंश जुड़ गए हैं जिसके फलस्वरूप इसमें न तो भाषा की एकरुपता है और न ही व्याकरण का कोई व्यवस्थित रूप दिखाई देता है।

पथ्वीराज रासो को छन्दों का जंगल कहा गया है। छन्दों का जितना विविधोन्मुखी प्रयोग पथ्वीराज रासो में हुआ है उतना किसी अन्य आदिकालीन ग्रन्थ में नहीं हुआ। इस छन्द वैविध्य को देखकर ही कहा जा सकता है कि छन्द-योजना पर कविवर चन्दबरदायी का पूर्ण अधिकार है। उन्होंने अनेक बार वर्णिक और मात्रिक छन्दों का सफल प्रयोग किया है। इनमें छप्पय, गाथा, दोहा, सट्टय, पद्धरिया आदि प्रमुख छन्द हैं। कवि का छन्द प्रयोग कौशल इस बात से सिद्ध होता है कि एक ही प्रकार के

वर्णन में वे विभिन्न छन्दों का बड़ी कुशलता से प्रयोग कर लेते हैं। इससे कवि के छन्द वैविध्य का ज्ञान स्वतः स्पष्ट हो जाता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके छन्द प्रयोग के बारे में उचित ही कहा है- ''वैसे तो हर बार तलवार की झंकार में तोटक, तोमर, पद्धति आदि पर उतर आते हैं, पर जमकर वे छप्पय और दोहा में ही लिखते हैं।''

३. पथ्वीराज रसो का सामान्य परिचय

पथ्वीराज रासो हिन्दी साहित्य का प्रथम और चर्चित महाकाव्य है। इसके रचयिता चन्दबरदाई हैं। इसमें दिल्ली के सम्राट पथ्वीराज की कथा वर्णित है। पथ्वीराज रासो में इतने अधिक प्रक्षिप्त अंश जुड़ चुके हैं कि इसके मूलरूप को पहचानना असम्भव हो गया है। दूसरा इसकी असंख्य हस्तलिखित प्रतिलिपियां मिलती हैं। उनमें काफी पाठ-भेद है। यद्यपि इसे ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य कहा जाता है। लेकिन ऐतिहासिक घटनाओं तथा वंशावलियों के आधार पर एक प्रामाणिक रचना प्रतीत होती है। वस्तुतः पथ्वीराज रासो के मूल रूप इसके रचनाकार तथा रचयिता के बारे में विद्वानों ने अलग-अलग विचार प्रकट किए हैं। कुछ विद्वान तो इसे अप्रामाणिक रचना मानते हैं तो कुछ प्रामाणिक तो कुछ अर्द्धप्रामाणिक। आरम्भ से ही यह रचना विवादास्पद बनी हुई है, परन्तु अपनी वर्णनात्मक दष्टि से यह हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान रखती है।

१. पथ्वीराज रासो की विभिन्न प्रतियाँ- पथ्वीराज रासो की चार प्रकार की प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। आकार के आधार पर उनके चार रूपान्तरण किए हैं।

२. बहद् रूपान्तर

३. मध्यम रूपान्तर

४. लघु रूपान्तर

५. लघुत्तम रूपान्तर

हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर यह पता चला है कि लघुत्तर रूपान्तर की पाँच प्रतियाँ प्राप्त हुई है। मध्य रूपान्तर की ११ और बहद् रूपान्तर की ३३ प्रतियां प्राप्त हुई हैं। बहद् रूपान्तर में १६३०६ छन्द हैं। मध्य रूपान्तर में ७००० छन्द हैं। लघु रूपान्तर में ३५०० तथा लघुत्तम रूपान्तर में १३०० छन्द हैं। वैसे तो रासो की ये प्रतियां उत्तर भारत के अनेक संग्रहालयों में बिखरी पड़ी हैं। फिर भी हम कह सकते हैं कि बहद् रूपान्तर मुख्यतया जैन भण्डारों में उपलब्ध होते हैं। लघु रूपान्तर बीकानेर तथा शेखावटी (जयपुर) तथा लघुत्तम धारणौव (गुजरात) गांव में प्राप्त हुई हैं। लेकिन मध्य रूपदनतम का का विस्तत विवरण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। यह पता लगाना कठिन है कि किस रूपान्तर में कितने प्रक्षिप्त अंश हैं, क्योंकि रासो का कोई प्रामाणिक रूप हमारे सामने उपलब्ध नहीं है। इन हस्तलिखित प्रतिलिपियों को चार भागों में विभाजित करने के कुछ कारण हैं। रासो की सभी प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन से हमें कुछ ऐसे सामान्य प्रसंग प्राप्त हुए हैं जो सभी प्रतियों में कमबद्ध तथा लिपिबद्ध हैं। उदाहरणतः लघुत्तम रूपान्तर के सभी छन्द तथा कथांश थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ लघु रूपान्तर में भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार से लघु रूपान्तर के छन्द तथा कथा प्रसंग मध्यम रूपान्तर में मिल जाते हैं और बहद् रूपान्तर में भी।

२. नगरी प्रचारिणी सभा का संस्करण- काशी की नागरी प्राचारिणी सभा ने पथ्वीराज रासो का जो संस्करण मुद्रित किया है वह बहद् रूपान्तर की प्रतियों पर आधारित है। इसी प्रकार से बंगाल की 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' ने रासो के जितने अंशों का

प्रकाशन किया है वे भी बहद् रूपान्तरण पर आधारित है। नागरी प्रचारिणी सभा ने अपनी प्रति का लिपिकाल सम्वत् १६४०-४२ बताया है, परन्तु अग्रचन्द नाहट ने यह लिपिकाल सम्वत् १७४० माना है और मोतीलाल मेनारिया ने सम्वत् १८७८ माना है। बहद् प्रति में कुल ६८ प्रस्ताव हैं। इसके परिशिष्ट में जो ६६वां प्रस्ताव मुद्रित है वह बहद् रूपान्तर की किसी भी प्राचीन प्रति में नहीं मिलता। उधर उदयपुर में इस बहद् रूपान्तर की एक प्रामाणिक प्रति महाराणा अमरसिंह के काल की है। इसका लिपि काल माघ कष्ण ६ सोमवार सम्वत् १७०७ विक्रमी है। रासो के लघुत्तम रूपान्तर की जो पूर्ण प्रति मिली है उसका लिपिकाल आषाढ़ शुक्ला पंचमी सम्वत् १६७७ विक्रमी है। कुछ विद्वान इस प्रति को प्रामाणिक और प्राचीनतम मानते हैं। इस प्रकार प्रतियों में विविधता होना स्वाभाविक है।

३. रासो के रचयिता- पथ्वीराज रासो में कवि चन्दबरदायी का दो रूपों में उल्लेख हुआ है। पहला तो कविनायक पथ्वीराज के कवि मित्र के रूप में तथा दूसरा काव्य रचना के कवि के रूप में मिलता है। कथानायक के कवि मित्र के रूप में चन्द के अनेक नाम प्राप्त होते हैं, यथा-चन्द, कविचन्द्र, चन्दबिरदिया, चन्द्रबरइाई, भट्टचन्द या भट्टचन्डिय, चंडचन्द्र, कवियनश्री और राजकवि। केवल रचना से कवि के रूप में उनके नामों का उल्लेख इस प्रकार है-चन्द, कविचन्द और चन्दबिरदिया। कवि चन्द का इस प्रकार से विभिन्न नामों का मिलना अनेक भ्रान्तियां उत्पन्न करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रासो का कवि तथा कथानायक का कवि मित्र एक ही व्यक्ति था। रासो के कवि के लिए चन्द या चन्द बिरदिया नाम आते हैं और कथानायक के मित्र के लिए भी यही नाम आते हैं। लेकिन कथानायक के मित्र के रूप में कुछ और नाम भी आते हैं जो रासो से मेल नहीं खाते, जैसे चन्दरबरदाई,चन्द्र, कवियनश्री और चन्दचंडिय।

कुछ विद्वानों और समीक्षकों का मत है कि बिरदया, यट्ट-चंडिया,चंद और कवियनश्री ये कवि की मात्र उपाधियां थीं। बिरदया शब्द तो विरुद्ध सा प्रतीत होता है जिसका अर्थ है- 'यश प्रशस्ति' का गान करने वाला।' बरदाई शब्द का अर्थ हम लिख सकते हैं 'वर प्राप्त करने वाला' न कि 'वर देने वाले''। रासो में एक स्थल पर कथानायक और कवि मित्र चन्द की कहासुनी हो जाती है।निम्नलिखित पद्य से सिद्ध होता है कि कवि ने हर (शिव) से सिद्धि का वर प्राप्त किया था-

''कहा भुजंग कहा उदे सुर विकमु कब्व कवि षंडि।
कई कथमास बताहि मो कई हर सिद्धिवर छंडि।
जइ छंडइ सेसह धरणि हर बेडइ विस कंदु।
इवि छंडइ तप ताप कर तन वर छडइ कवि चंदु।।

अन्यत्र एक और पद्य प्राप्त होता है जिससे ध्वनित होता है कि कवि चन्द को विद्या की देवी सरस्वती से वर प्राप्त था-

अहो चन्द वरदाइ कहावहु।
कनवज्जइ दिष्णन नप आवहु।
जउ सरसइ वरू जानहु रंचउ।

तउ अदिट्ठ वरनउ नप संचउ।।

जहाँ तक चंडिय नाम का प्रश्न है इसका उपयोग केवल एक स्थल पर हुआ है-

''सकल सुर बोलिब सत्र चंडिय।
आसिष जाइ दीघ कवि चंडिय।।''

चंडिय का आर्थ है- विछिन्न अथवा काटा हुआ, जो यहाँ सर्वथा असंगत है। प्रयोग के अनुसार यहाँ चंडिय का अर्थ होना चाहिए प्रसंग, क्योंकि अगले ही चरण में पथ्वीराज ने चन्द में प्रश्न किया है और चन्द को चन्द्र से व्युत्पन्न माना है। पुनः चन्द उपाधि का प्रयोग केवल एक स्थल पर हुआ है।

जपिअ सच्च सो चन्द चंड।
छप्पिय लाइ तिरहूति पिंड।।''

चन्द का अर्थ 'उग्र' भी हो सकता है और शायद यही कवि का मन्तव्य है। कवियन शब्द इस कवि के लिए प्रयुक्त हुआ नारायण दास द्वारा रचित छिताई वार्ता में कवियन शब्द का प्रयोग कविजन या सत् कवि के लिए प्रयुक्त हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि कथानायक पथ्वीराज का मित्र चन्द एक भाट था, जिसे मां सरस्वती का वरदान प्राप्त था। क्योंकि स्वभाव से वह तनिक उग्र था। इसलिए उसे चन्द, चंड भी कहा गया है। विद्वानों के एक वर्ग का कहना है कि पथ्वीराज रासो का रचयिता कथानायक का समकालीन नहीं हो सकता। हो सकता है बाद में किसी अन्य व्यक्ति ने चन्द के नाम से इस रचना का प्रणयन किया हो। लेकिन इस मत से अन्य विद्वान सहमत नहीं है, क्योंकि पथ्वीराज के दरबारी कवि के रूप में चन्द का होना कोई असम्भव नहीं है। फिर भी यह कहना कठिन है कि पथ्वीराज रासो के परवर्ती रूपान्तरण में कितना अंश चन्द द्वारा रचित है और कितना प्रक्षिप्त? इसके बारे में कुछ भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

४. रासो : रचना काल- प्रस्तुत ग्रन्थ में रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं किया गया। अतः उस ग्रन्थ के रचयिता के काल के आधार पर ही रासो का समान काल निर्धारित कर सकते हैं। सबसे पहले पथ्वीराज रासो का उल्लेख दलपति मिश्र रचित 'जसवंत उद्योग' में मिलता है। इसका समय सम्वत् १७०७ है। उधर बूंदी नरेश सुरजन और उसके पुत्र भोज (सम्वत् १७३५) के आश्रित कवि चन्द्रशेखर ने सुरजन चरित्र के नाम से एक संस्कत काव्य लिखा था। इस काव्य रचना में पथ्वीराज पर एक पूरा सर्ग लिख गया है। इसमें पथ्वीराज के साथ-साथ कवि चन्द का भी उल्लेख है। लेकिन उसे रासोकार नहीं माना। इसका मतलब है कि सम्वत् १६३५ तक पथ्वीराज के वंशजों को भी पथ्वीराज रासो का पता नहीं था। उधर मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने 'गंगभाट' रचित ''चन्द-छन्द वर्णन की महिमा'' ग्रन्थ का उल्लेख किया है। श्री नरोत्तम स्वामी का अनुमान है कि अकबर की अधीनता स्वीकार करते समय मेवाड़ के राजघराने ने अपने गौरव वद्धि के लिए पथ्वीराज से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। तदर्थ उन्होंने पथ्वीराज की पथा नामक बहन की भी कल्पना की। इस प्रकार परम्परागत पथ्वीराज रासो को

फिर से लिपिबद्ध करवाया गया। रासो संग्रह का यह कम अनेक पीढ़ियों तक चलता रहा।

५. पुरातन प्रबन्ध संग्रह- मुनि जिन विजय ने 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक रचना का सम्पादन किया है। इसमें दो प्रबन्ध ऐसे है। जिनका सम्बन्ध पथ्वीराज और जयचन्द से है। इन दोनों प्रबन्धों में तीन छन्द ऐसे भी हैं जो नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित पथ्वीराज रासो में भी उपलब्ध होते हैं। इन प्रबन्धों के कारण चन्द और पथ्वीराज रासो के समय ने एक नया मोड़ ले लिया। मुनि जिन विजय का कहना है- ''उस संग्रह के उक्त प्रकरणों में जो तीन-चार प्राकत भाषा के पद्य उद्धत किए हैं उनका पता हमनें उक्त रासो में लगाया है ओर इन चार पद्यों में तीन पद्य यद्यपि विकत रूप में है लेकिन शब्द उनमें हमें मिल गए हैं।'' मुनि जिन विजय के इस कथन से प्रमाणित होता है कि चन्द एक ऐतिहासिक पुरुष था। और वह दिल्ली के हिन्दू सम्राट पथ्वीराज का समकालीन कवि था उसी ने पथ्वीराज के यश का वर्णन करने के लिए प्राकत भाषा में पथ्वीराज रासो नामक ग्रंथ की रचना की।

परन्तु यदि इन छन्दों का ध्यान से निरीक्षण किया जाए तो स्वतः ज्ञात हो जाता है कि जो चार छन्द उक्त प्रबन्धों में है और कवि चन्द के नाम से जोड़े गए हैं, उनमें से दो जयचन्द प्रबन्ध वाले चन्द के न होकर जलल्ह हैं। अतः इस आधार पर कवि चन्द का समय निर्धारित नहीं किया जा सकता।

रासो के लघुत्तम रूपान्तर की दो प्रतियां प्राप्त हुई है। इन दोनों में पथ्वीराज प्रबन्ध का ''अगह मगह दाहिमउ'' वाला छन्द प्राप्त नहीं होता। केवल रासो के मध्यम तथा बहद् रूपान्तरों में यह छन्द मिलता है। ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध किया जा सकता है कि मूल रासो का पाठ था वर्तमान मूल रूपान्तर में कम से कम चार पीढ़ियों का अन्तर है। इन चार पीढ़ियों में अन्तर को ध्यान में रखें तो रासो के मूल पाठ का समय सम्वत् १४०० के लगभग हो सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि रासो की रचना पथ्वीराज के समकालीन नहीं हो सकती, क्योंकि उसकी प्रक्षिप्त गति के पाठ में कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन है जो इतिहास सम्वत् नहीं है। पुनः उसकी भाषा में अनेक ऐसे शब्द भी आते हैं जो पथ्वीराज के काल के नहीं हो सकते। अतः पथ्वीराज रासो का रचनाकाल सम्वत् १४०० के आसपास माना जाना चाहिए।

यह सब होने पर भी हमें इस तथ्य को स्वीकारना होगा कि पथ्वीराज रासो कोई इतिहास ग्रन्थ न होकर काव्य रचना है। सम्भवतः कवि ने इसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण कर किया है। पहले बताया जो चुका है कि इस रचना के चार रूपान्तर प्राप्त हुए हैं जिनमें समय-समय पर प्रक्षिप्त अंश जुड़ते रहे हैं जिसके फलस्वरूप इस महान् काव्य ग्रंथ के रचयिता और रचनाकाल के बारे में अनेक शंकाएं उठाई जा रही हैं। फिर भी इस रचना के अनुशीलन से हम तत्कालीन रानैतिक, सामाजिक तथा सांस्कतिक परिस्थितियों का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

४. पथ्वीराज रासो का महाकाव्यत्त्व

महाकाव्य की परिभाषा को समझने से पहले हमें काव्य के विभिन्न भेदों को जानना चाहिए। ऐन्द्रिय अनुभूति के आधार पर काव्य के दो भेद हैं- श्रव्य काव्य, दश्य काव्य। श्रव्य काव्य से हम सुनकर या पढ़कर काव्यानन्द प्राप्त करते हैं लेकिन दश्य काव्य में आंखों से देखकर। शैली के आधार पर श्रव्य काव्य के तीन भेद हैं- गद्य,पद्य और चम्पू।

गद्य काव्य में पद्य का अभाव होता है। उसमें लय तथा संगीत नहीं होता। उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि गद्य काव्य के अन्तर्गत समाहित किए जाते हैं। परन्तु जिनमें संगीत लय होता है उन्हें पद्य काव्य कहा जाता है। प्रबन्ध की दष्टि से काव्य के दो भेद हैं-प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबंध काव्य में धारावाहिक के रूप में कथा का वर्णन रहता है। उसके पद्यों में पूर्वापर सम्बन्ध होता है। मुक्तक काव्य में न तो कथा होती है और न उसके पद्य में कोई सम्बन्ध होता है, बल्कि उसका प्रत्येक पद्य अपने आप में स्वतंत्र होता है। आगे चलकर विस्तार की दष्टि से प्रबन्ध के भी दो भेद हैं-

महाकाव्य और खण्डकाव्य- महाकाव्य में जीवन का सर्वांगीण और विस्तत वर्णन रहता है। इसमें विषय की व्यापकता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। किन्तु खण्ड काव्य जीवन के किसी एक अंश को आधार बनाकर लिखा जाता है। उसमें न तो कथा की व्यापकता होती है और न ही आकार की दीर्घता।

१. महाकाव्य का स्वरूप

भारतीय चिन्तन- संस्कत के आचार्यो में भामह, दण्डी, उद्‌भट्‌ट, रुद्रट तथा आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य की परिभाषाएं दी हैं। सर्वप्रथम महाकाव्य शब्द का प्रयोग बाल्मीकि रामायण में हुआ है। जब लव और कुश ने रामायण का पाठ किया तब श्रीराम ने उनसे तीन प्रश्न किए-

१. इस महाकाव्य का विस्तार कितना है ?

२. इसमें किस महात्मा की प्रतिष्ठा है ?

३. इसका रचयिता श्रेष्ठ मुनि कहा है ?

इससे स्पष्ट होता है कि महाकाव्य का आकार विशाल होता है। किसी महापुरुष का उसमें चित्रण होता है तथा उसका रचयिता श्रेष्ठ होता हैं आगे चलकर आचार्य भामह ने अपनी रचना 'सामान्य अश्वर' में महाकाव्य की परिभाषा दी, जिसमें उन्होंने सर्गबद्धता, उदात्त नायक, महत्त कार्य, जीवन के विविध रूपों का चित्रण, नाटकीयता, प्रभावान्विति की चर्चा की। भामह के बाद आचार्य दण्डी ने अपीन रचना सामान्य अश्वर में महाकाव्य के विस्तत रूप का विवेचन किया। दण्डी ने भी सर्गबद्धता, मंगलाचरण, ऐतिहासिक कथानक, चतुर्वर्ग फलप्राप्ति, धीरोदात्त नायक, प्रकति वर्णन,शंगार रस की योजन, अलंकार, सन्धि योजना और छन्द योजना आदि की चर्चा की। दण्डी के बाद आचार्य रुद्रट ने और फिर आनन्दवर्द्धन ने महाकाव्य की परिभाषाएं दी। परन्तु आचार्य

विश्वनाथ ने अपनी रचना 'साहित्य दर्पण' में महाकाव्य की एक विस्तत परिभाषा दी। बल्कि विश्वनाथ का मत तो महाकाव्य संबंधी अन्तिम मत है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य सम्बन्धी विवेचन इस प्रकार से है-

(क) महाकाव्य सर्गबद्ध हो, सर्ग न बड़े हो न छोटे। कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए। सर्ग का नामकरण उसके विषय वस्तु के आधार पर हों तथा उसके अन्त में भावी कथा की सूचना हो। सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन होना चाहिए।

(ख) कथानक इतिहास प्रसिद्ध अथवा कल्पना-जनित किसी महान् व्यक्ति पर आश्रित हो तथा उसमें नाट्य संधियों की योजना होनी चाहिए।

(ग) महाकाव्य का नायक ब्राह्मण, क्षत्रिय अथावा देवता होना चाहिए। साथ ही वह शूरवीर, धीरोदात्त आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।

(ध) श्रंगार, वीर और शान्त में से कोई रस प्रधान हो तथा अन्य रस भी होने चाहिए।

(ड़) प्रकति-चित्रण तथा जीवन से संबंधित अन्य प्रसंगों का रमणीय तथा स्वभाविक वर्णन होना चाहिए।

ख पाश्चात्य चिंतन- भारतीय आचार्यो के समान पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य की परिभाषाएँ दी हैं, लेकिन इन परिभाषाओं में भिन्नता है। इनमें अरस्तु एम्बर क्राम्बी. सी. एस. बांवरा तथा डिक्सन आदि की परिभाषाएं उल्लेखनीय हैं। अरस्तु ने महाकाव्य की निम्नलिखित परिभाषा दी है- ''महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापारों का काव्यमय अनुकरण है जो स्वतः पूर्ण, गम्भीर, वर्णनात्मक, आद्यान्त एक छन्दोमय कार्य करने वाला, श्रेष्ठ चरित्र, सम्भवनीय कथानक लिए होता है तथा सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करता है।''

२. सी. एस. बावरा के अनुसार- ''महाकाव्य बहदाकार, महत्त्वपूर्ण एवं गरिमामयी घटनाओं वाला कथात्मक काव्यरूप है। इसमें कुछ चरित्रों की विशेष प्रकार से आनन्ददायक क्रियाशील जीवन-कथा का वर्णन होता है। यह वर्णन मनुष्य की महत्ता,गरिमा और उपलब्धियों के प्रति आस्था का उत्पादक होता है।''

३. एम्बर क्राम्बी के अनुसार- ''बड़े आकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। महाकाव्य के लिए तदनुकूल शैली अपेक्षित है और यह शैली कवि की कल्पना, विचारधारा तथा उसकी अभिव्यक्ति से सम्बद्ध होती है। इस शैली के द्वारा ही पाठक एक ऐसे लोक में पहुंच जाता है जहाँ कुछ भी निस्सार तथा महत्त्व-शून्य नहीं होता। महाकाव्य के भीतर का उद्देश्य ही उसकी गति का आद्यान्त संचालन करता है।''

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषा के आधार पर महाकाव्य सम्बन्धी कुछ निश्चित तत्त्व निर्धारित किए जा सकते हैं। उन्हीं को आधार बनाकर पथ्वीराज रासो का महाकाव्य के रूप में विवेचन किया जा सकता है। यह तो निश्चित है कि रासो हिन्दी साहित्य का प्रथम महाकाव्य है। भले ही कुछ विद्वान उसे पूर्ण महाकाव्य न माने, लेकिन महाकाव्य सम्बन्धी कुछ विशेषताएं इसमें देखी जा सकती है। उनका विवेचन इस प्रकार से है-

१. अनुकूल कथानक- पथ्वीराज रासो का मूल कथ्य और कथानक इतिहास सम्मत है। लेकिन इसमें कल्पना और काव्य रूढ़ियों का इतना सम्मिलन है कि विद्वान इसकी ऐतिहासिकता पर संदेह करने लगे हैं। परन्तु हमें ध्यान रखना होगा कि रासो के चार संस्करण प्राप्त होते हैं। पुनः इस काव्य में लम्बे काल से प्रक्षिप्त अंश जुड़ते रहे हैं जिसके फलस्वरूप इसका मूल कथानक दब-सा गया है। लेकिन हमें यह स्वीकार करना होगा कि इसमें कल्पना का पर्याप्त समावेश हुआ है जो कि ऐतिहासिक काव्य के लिए आवश्यक भी है। अतः कथानक की दष्टि से हम यह बात कह सकते हैं कि रासो का कथानक न केवल इतिहास प्रसिद्ध है, बल्कि जनसमाज में भी प्रचलित है। देश के विदेशी जातियों द्वारा पराजित किए जाने की यह कथा सदियों तक सुनी जाएगी।

२. सौन्दर्य विधायक तत्त्व-मंगलाचरण भी महाकाव्य का एक नितान्त आवश्यक तत्त्व है। ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगलाचरण की योजना रहती है। रासोकाल में भी इस परम्परा का सर्वथा पालन किया है। रासो के आरम्भ में ही मंगलाचरण और सज्जन-स्तुति पढ़ने को मिल जाती है।

''ॐ० आदि देव प्रजम्य नग्य गुरयं बानीय वंदे नयं।
सिष्ट धारन धारयं बसुमती च लच्छीम चरनाश्रयं।।
नं गुं तिष्ठति ईस दष्ट दहनं व सुरुनाथ सिद्ध श्रयं।
थिर चिर जंगम जीव यंदं नमच सर्वेस वर्दामयं।।''

इसी प्राकर से कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों का न केवल गुणगान किया है, बल्कि उनकी काव्य रचना की प्रशंसा भी की है।

३. अनुकूल सर्गबद्धता- यह रचना पूर्णतया सर्गबद्ध है। इसमें न केवल प्रबन्ध की आवश्यकताओं का निर्वाह हुआ है बल्कि सर्गो मं उसका उचित विभाजन हुआ है। केवल लघुतम प्रति में सर्ग विभाजन नहीं मिलता, शेष तीनों रूपान्तरों में मिलता है। इन संस्करणों के सर्गो को देखकर यह स्वतः अनुमान लगया जा सकता है कि रासोकार की दष्टि में सर्ग विभाजन का विशेष महत्त्व था। ये सर्ग संख्या पुनः आठ हैं। ये सर्ग प्रायः न तो छोटे हैं और न अतिदीर्घ। इतना अवश्य है कि लेखक ने सर्ग के स्थान पर समय शब्द का प्रयोग किया है।

४. आदर्श नायक- पथ्वीराज रासो का नायक धीरोदात्त क्षत्रिय है। किसी महान् आदर्श के लिए वह जीवन के सुखों का त्याग करता है। वह एक वीर और प्रतापी राजा है। जब वह जयचन्द के राजसूय-यज्ञ में सम्मिलित नहीं हो जाता तो जयचन्द दरबान के रूप में उसकी स्वर्ण प्रतिमा को प्रतिष्ठापित करता है। इसका बदला लेने के लिए वह न केवल राजसूय यज्ञ में जाता है अपितु अपनी प्रेमिका संयोगिता को भी उठाकर लाता है। वह शहाबुद्दीन को दो बार हराकर उसे अभयदान देता है, लेकिन तीसरी बार पराजित हो जाता है। अतः पथ्वीराज में धीरोदात्त नायक के अभी गुण देखे जा सकते हैं। युग परिवेश के सन्दर्भ में पथ्वीराज को एक सफल नायक कहा जा सकता है।

५. प्रभावी रस योजना- महाकाव्य में श्रंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस प्रधान होना चाहिए और शेष रस अंगीक रूप में होने चाहिए। रासो का प्रमुख रस वीर

है। यह अन्य रसों तथा श्रंगार से परिपुष्ट हुआ है। रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि रस की इसमें वर्णित है। वीर का स्थायी भाव उत्साह होता है और उत्साह का जैसा पूर्ण और परिष्कत चित्र इस रचना में मिलता है। वह अन्यत्र दुर्लभ है। अतः महाकाव्य के रस संबंधी लक्षण इसमें पूर्ण रूप से घटित हुए हैं।

६. महत् उद्देश्य- महाकाव्य के लिए चतुर्वर्ग फलप्राप्ति अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक की प्राप्ति होनी चाहिए। रासो का उद्देश्य धर्म-प्राप्ति है। धर्म के लिए ही नायक युद्ध में कूद पड़ता है। नायक ने पहला युद्ध संयोगिता के प्रेमानुष्ठान तथा अपने मान के लिए किया। दूसरा युद्ध उसने देश की रक्षा के लिए किया। यद्यपि बीच में संयोगिता के साथ नायक का केलि विलास भी वर्णित हुआ है। यह प्रसंग काम से संबंधित है। लेकिन रचनाकार यह सिद्ध करना चाहता है कि भोग-लिप्सा नायक के लिए कितनी हानिकारक सिद्ध होती है। अन्त में कवि चंद अधर्मी, शत्रु का संहार कर देश की रक्षा करने का उद्देश्य भी प्रकट करता है। कुल मिलाकर धर्म की प्राप्ति ही इस रचना का प्रमुख उद्देश्य है और इस दष्टि से कवि को सफलता भी मिली है। वैसे रासोकार लिखता भी है-

''पविहि सुअरथ अरू ध्रम्य काय।
निरमान मोष पावहि साध्य।।''

६. प्रेरक प्रकति चित्रण- पथ्वीराज रासो अपने प्रकति वर्णन तथा वस्तु वर्णन के लिए काफी प्रसिद्ध है। इसमें प्रकति का आलम्बन तथा उद्दीपन रूप में वर्णन किया गया है। नगर, नदी, पर्वत, रात्रि, दिन,प्रातः,सायं, वन, सरोवर आदि का वर्णन बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। प्रकति का स्वतन्त्र रूप में चित्रण इस काव्य में थोड़ा ही मिलता है। अधिकतर उसका प्रयोग उद्दीपन रूप में किया गया है। कहीं-कहीं तो रासोकार ने प्रकति चित्रण में नामपरिगमणन शैली को अपनाया है जिसमें रसानुभूति के स्थान पर नीरसता उत्पन्न हो गई है। लेकिन वस्तु वर्णन की दष्टि से यह काव्य अभूतपूर्व है। कवि ने युद्ध सज्जा तथा युद्ध वर्णन की जो योजना की है वह प्रभावशाली है। सामान्य प्रकति वर्णन का एक उदाहरण देखिए-

''कांती भार पुरा पुनर्मद गजं शाखा न गंडस्थलं।
उच्छं तुच्छं तुरा स राशि कमनं कीरं कुंभ निद्वादलं।
मधुरे साह सकाइता अलिकुलं कुंजार गुंजा तहा।
तरुणो प्राण लटापटा पगपगं जयराज संप्रापता।।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पथ्वीराज रासो हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। जिसमें आदर्श नायक के साहसी चरित्र को दर्शाते हुए आकर्षक रसपाक हुआ है। इसमें महाकाव्य के अधिकांश गुण परिलक्षित होते हैं।

५. पथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता

'पथ्वीराज रासो' के रचियता चन्दबरदायी माने जाते हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान गार्सा द तासी चन्द को पथ्वीराज का समकालीन मानते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये पथ्वीराज के साथ वि० सं० १२०६ में पैदा हुए थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चन्दबरदायी का समय संवत् १२२५-१२४६ माना है। वे इन्हें हिन्दी का प्रथम महाकवि तथा पथ्वीराज का राजकवि,सखा एवं सामन्त मानते हैं।'रासो' के अनुसार ये जगति गोत्र के भटट् ब्राह्मण थे। इनका जन्म लाहौर में और पालन-पोषण अजमेर में हुआ। चन्द का परिचय देते हुए मिश्र बन्धुओं ने लिखा है, महाकवि चन्दबरदाई वास्तव में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं। इनके पहले भी भुवाल, पुषी आदि कवि हो गये हैं, परन्तु नाम सुनने के अतिरिक्त उन सबकी रचना आदि पढ़ने का हम लोगों को सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। चन्दबरदाई की कविता से प्रकट होता है कि यह प्रौढ़ रचना है और छन्द आदि की रीतियों पर चलते थे और स्वयं इन्होंने हिन्दी-काव्य-रचना की नींव डाली। मिश्र बन्धुओं के अनुसार ये पथ्वीराज के साथ रहा करते थे। इनका जीवन पथ्वीराज से अभिन्न था। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गौरी पथ्वीराज को बन्दी बनाकर गजनी ले गया, तब चन्द भी वहां पहुँचे और 'रासो' का लेखन-कार्य अपने पुत्र जल्हण को सौंप गये-

'पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नप काज'

ऐसा कहा जाता है कि गजनी में पथ्वीराज ने चन्द के संकेत पर बाण चलाकर गोरी की हत्या कर दी, तत्पश्चात् चन्द और पथ्वीराज ने परस्पर कटार मार कर आत्मोत्सर्ग किया।

कुछ विद्वानों के अनुसार चन्दबरदाई ने अपना दो विवाह किया था उनकी पत्नियों के नाम थे-कमल और गौरी। इन दोनों पत्नियों से दस पुत्रों का जन्म हुआ था। इन सबमें जल्हण अधिक गुणाढ्य एवं विद्वान् था। कहा जाता है कि जल्हण ने चन्दबरदाई के अधूरे महाकाव्य को पूर्ण किया था।

रधुनाथ चरित हनुमन्त कत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द कत,चन्द उद्धरिय तिमि।।

महाकवि चन्दबरदाई द्वारा रचित 'पथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम प्रबन्धात्मक महाकाव्य है। यह चौहान कुल-भूषण पथ्वीराज के जीवन-गौरव की गाथा है। इसके निम्नलिखित चार संस्करण प्रसिद्ध हैं-

१. वहत् रूपान्तर- इसकी कुछ प्रतियाँ उदयपुर-राज्य पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इसके ६६ समयों में १६,३०६ छंद हैं। इस रूपान्तर की सभी प्रतियाँ सं० १७५० वि० के बाद की लिखी हुई हैं।

२. मध्य रूपान्तर- पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने इस रूपान्तर को प्रामाणिक मानकर प्रकाशित कराया है। इसकी छंद संख्या सात हजार मानी जाती है। इसमें प्रायः सभी अध्यायों का नाम 'प्रस्ताव' मिलता है।

३. लघु रूपान्तर- इसकी चार प्रतियों में से तीन प्रतियाँ बीकानेर राज्य के 'अनूप संस्कत पुस्तकालय' में और एक श्री नाहटा के पास है। इनमें १६ समय हैं और ३५०० श्लोक हैं। इसमें अध्यायों को 'खण्ड' कहा गया है।

४. लघुतम रूपान्तर- यह रूपान्तर श्री अगरचन्द नाहटा के द्वारा खोजा गया है। इसका लिपिकाल सं० १६६७ वि० माना जाता है। श्लोक संख्या १३०० है, किन्तु भाषा अपेक्षाकत प्राचीन है।

प्रमाणिकता की समस्याएँ

प्रामाणिकता- अप्रामाणिकता की दष्टि से 'पथ्वीराज रासो' सबसे अधिक आलोचना का विषय बना हुआ है। इसकी ओर विद्वानों का ध्यान, कर्नल टॉड के कारण आकष्ट हुआ। कर्नल टाड की प्रशंसात्मक आलेचना से प्रभावित होकर अनेक विद्वानों ने इस ग्रंथ की भाँति-भाँति से महत्ता प्रतिपादित की, किन्तु डॉ० व्हूलर को जब 'पथ्वीराज विजय' नामक संस्कत काव्य मिला तो उसके आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐतिहासिकता की दष्टि से 'रासो' अप्रामाणिक है। अब अधिकांश विद्वान इसे अप्रामाणिक मानते हैं। अब तक उपस्थित किये गये मतों को तीन वर्गो में रखा जा सकता है-

१. प्रामाणिक रचना- यह वर्ग 'रासो' को एक प्रामाणिक रचना मानता है। तथा चन्द को पथ्वीराज का समकालीन स्वीकार करता है। इस पक्ष के समर्थक हैं- पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मथुराप्रसाद दीक्षित तथा डॉ० श्यामसुन्दर दास आदि।

२. अप्रामाणिक ग्रंथ-यह वर्ग 'रासो' को सर्वथा अप्रमाणिक मानता है। तथा चन्द के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता है। डॉ० व्हूलर, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मुंशी देवीप्रसाद आदि इस मत के प्रबल समर्थक हैं।

३. अर्द्ध-प्रामाणिक रचनामुनि जिनविजय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, कविराज मोहनसिंह तथा आज के अधिकांश विद्वान् इस मत के हैं कि चन्दबरदाई नाम का कोई कवि अवश्य ही हुआ, उसने रासो नामक ग्रंथ भी लिखा और रासो के विभिन्न रूपों में कुछ अंश उस काल का अवश्य ही है।

रासो की ऐतिहासिकता पर जिन विद्वानों ने विचार किया है, उनमें श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा प्रमुख हैं। उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के 'कोशोत्सव स्मारक-संग्रह' में रासो पर ये लेख प्रकाशित कराया है, जिसमें अनेक तर्क उपस्थित किये हैं। जो लोग 'रासो' को अप्रामाणिक रचना मानते हैं, उनके तर्क निम्नलिखित हैं:

१. रासो में परमार, चालुक्य ओर चौहान क्षत्रिय अग्नि वंशी माने गये हैं, जबकि प्राचीन ग्रंथों और शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं।

२. चौहानों की वंशावली, पथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम आदि ऐतिहासिक शिलालेखों तथा 'पथ्वीराज विजय' नामक ग्रंथ से मेल नहीं खते। पथ्वीराज की माँ अनंगपाल की लड़की नहीं थी और नही जयचन्द अनंगपाल का दौहित्र तथा राठोरवंशी था। जयानक ने पथ्वीराज के पिता का नाम सोमेश्वर और माता का नाम कर्पूरी देवी (चेदि नरेश की पुत्री) लिखा है, जिसका समर्थन झाँसी के

शिलालेख से होता है, किन्तु रासो के अनुसार उनकी माता का नाम कमला (अनंगपाल की पुत्री) सिद्ध होता है।

३. ओझा जी ने पथ्वीराज तथा जयचन्द की शत्रुता तथा संयोगिता-स्वयंवर की बात को भी अनैतिहासिक कहा है।

४. इतिहास के अनुसार अनंगपाल उस समय दिल्ली का राजा नहीं था और न ही पथ्वीराज को उसने गोद लिया था। पथ्वीराज अजमेर का शासक था, न कि दिल्ली का।

५. पथ्वीराज की बहन पथा का विवाह मेवाड़ के राणा समरसिंह से नहीं हुआ था, क्योंकि शिलालेखों से यह प्रमाणित हो चुका है कि समरसिंह पथ्वीराज के पश्चात् १०६ वर्ष जीवित रहे।

६. गुजरात के राजा भीमसिंह का पथ्वीराज द्वारा वध भी अनैतिहासिक है, क्योंकि राजा भीमसिंह पथ्वीराज के पश्चात् ५० वर्षो तक जीवित रहे थे।

७. शहाबुद्दीन की मत्यु सम्बन्धी इतिवत्त भी कोरी कल्पना पर आधारित है, क्योंकि गोरी की मत्यु पथ्वीराज के हाथों नहीं, गक्खरों के हाथों से हुई।

८. रासो में पथ्वीराज के ११ वर्ष से लेकर ३६ वर्ष की आयु तक चौदह विवाहों का वर्णन है, जबकि इतिहास के अनुसार पथ्वीराज की मत्यु तीस वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गयी थी।

९. चन्दबरदाई के अनुसार पथ्वीराज का जन्म १०५८ गोद लिया जाना १०६१, कन्नौज १०६०, शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११०१ है, किन्तु दानपत्रों, शिलालेखों आदि के अनुसार तिथियाँ अशुद्ध ठहरती हैं।

१०. ग्रंथ की भाषा अव्यवस्थित है। उसमें संस्कत-प्राकत के अनुकरण पर अनुस्वारात स्वरों की बहुलता है। कहीं-कहीं भाषा का आधुनिक रूप भी मिल जाता है विशेषतः खड़ी बोली का रूप। उसमें अरबी-फारसी के भी बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है।

यदि उपर्युक्त मतों को ही अन्तिम प्रमाण मान लिया जाय, तो 'पथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक रचना ही कहा जा सकता है।

रासो की प्रामाणिकता का पक्ष

'पथ्वीराज रासो' को प्रामाणिक मानने वालों में मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, डॉ० श्यामसुन्दर दास, मिरबनधु , ग्रियर्सन, कर्नल टॉड, गार्सा द तासी, डॉ० दशरथ शर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० शर्मा का एक लेख 'इण्डिया हिस्टारिकल क्वार्टरली, जि० १६,४ दिसम्बर, १६४० में प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने ओझा जी द्वारा प्रस्तुत तथ्यों का उत्तर देकर रासो की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

१. डॉ० दशरथ शर्मा का मत है कि श्री ओझा जी के तर्क नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो पर ही आधारित हैं, उसके पश्चात् की रासो सम्बन्धी प्राप्त सामग्री

से उनके तर्क निर्मूल प्रमाणित हो जाते हैं और रासो तथा चन्द का पथ्वीराज का समकालीन होना सिद्ध हो जाता है।

२. मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने लिखा है, ''यह महाकाव्य आज तक कवि चन्द का बारहवीं शताब्दी का रचा हुआ एक बड़ा प्रामाणिक ग्रंथ करके हमारे देश में प्राचीन काल से चला आता है, उस पर भी कुछ विद्वानों ने इसे अप्रामाणिक बताने की चेष्टा की है। जहाँ तक संवत् का प्रश्न है, वह मुसलमानी तवारीख और प्राप्त लेखों से नहीं मिलते क्योंकि उनमें ६०-६१ वर्षो का अन्तर पड़ता है। इसका कारण आनंद विक्रम साक(६१ वर्षो का अन्तर) है। अगर इसे उपर्युक्त ग्रंथ की तिथियों से जोड़ दिया जाय तो संवत् का भ्रान्ति दूर हो सकती है।..... जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, इसके आठ या दस भाग में फारसी शब्द है। इसका कारण यह है कि फारसी शब्दों का मेल हमारे भारतखण्ड की बोलचाल की भाषाओं में सातवें शतक से ही पाया जाताहै।''

३. मिश्र बन्धुओं ने लिखा है, ''पथ्वीराज-सम्बन्धी घटनाओं में गौरी का कई बार पकड़ा जाना लिखा है, पर इतिहास में ऐसा वर्णन एक ही बार मिलता है। इसका कारण है कि अधिकांश इतिहास मुसलमानों द्वारा लिखे गये हैं, जिन्होंने अपमान से बचने के लिए हार को कम करके लिखा है।'' अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है.....गोरी के आक्रमण के २०० वर्ष पूर्व से ही महमूद गजनवी की चढ़ाइयाँ होने लगी थीं और पंजाब का एक बड़ा भाग यवनों के अधिकार में चला गया था। अतः पंजाबी में मुसलमानी शब्दों का मिलना स्वाभाविक ही है। फिर चन्द का जन्म भी तो लाहौर में हुआ था।

४. 'साहित्य लहरी', 'चन्द-छंद वर्णन की महिमा' तथा ' भविष्य-पुराण' में चन्दबरदाई की जाति के भट्ट और पथ्वीराज के दरबारी-कवि होने का उल्लेख है।

रासो की अर्द्ध प्रामाणिकता

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मुनि जिनविजय आदि विद्वानों ने रासो को अर्द्ध प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है। डॉ० द्विवेदी ने लिखा है, '' इस काल (आदिकाल) की कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें हम अर्द्ध प्रामाणिक कह सकते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रंथ 'पथ्वीराज रासो' है।'' डॉ० द्विवेदी के अनुसार रासो की रचना शुक-शुकी के संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन सर्गो का आरम्भ शुक-शुकी संवाद से हाता है, उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिये। इस दष्टि से विचार करने पर 'रासो' के निम्नलिखित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं-

१. आरम्भिक अंश, २. इच्छिनी-विवाह, ३. शशिव्रता का गन्धर्व-विवाह, ४. तोमर परिहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, ५. संयोगिाता का जन्म, विवाह तथा इच्छिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता।

रासो का काव्य-सौन्दर्य-'पथ्वीराज रसो' हिन्दी साहित्य का आदि महाकाव्य है, जिसमें मानव-चेतना की अनुभूति की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। यही कारण है कि इस ग्रंथ में भाव-पक्ष एवं कलापक्ष का मणिकांचन संयोग हुआ है।

इस ग्रंथ में पथ्वीराज चौहान की वीरता का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसमें उनके जन्म से लेकर मत्यु-पर्यन्त संघर्ष एवं युद्ध की कहानी है। यह मूलतः वीररस प्रधान महाकाव्य है, किन्तु नव रसों की एकसाथ सुन्दर व्यंजना हुई है। ग्रंथ के 'आदि पर्व' में ही इसकी ओर संकेत मिल जाता है-

उक्ति धर्म बिसालस्य, राजनीति नवं रवं।
षट्भाषा पुराणं च, कुरानं कथितं मया।।

रासो में अलंकारों की सुन्दर छटा दष्टिगोचन होती है। शब्दालंकारों में अनुप्रास एवं अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा का बाहुल्य है। इस ग्रंथ में लगभग ७२ प्रकार के छंदों का प्रयोग सफलतापूर्वक देखा जा सकता है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है, 'उपयुक्त अलंकारों, उपयुक्त शब्दावली, उपयुक्त छंदों आदि के प्रयोग से उनकी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ी है। भावावेग के साथ-साथ उनकी रचना में भाषा-प्रवाह भी देखने योग्य है।' रासो की भाषा के सम्बन्ध में कुछ निश्चय कहना कठिन है। श्री ग्राउज ने इसकी भाषा को सोलहवीं शताब्दी के साहित्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा कहा है। डॉ० भगीरथ मिश्रा इसे अपभ्रंश की रचना स्वीकार करते हुए लिखा है, ''पथ्वीराज रासो अपभ्रंश मात्र का काव्य है, अतः सहज संक्षेपों के अतिरिक्त भाषा का अक्खड़पन उसमें प्रतिपादित विषय और वर्णित भावों के कारण है।''

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि रासो एक जाली ग्रंथ नहीं है। उसमें अत्यधिक क्षेपक होने से उसका वास्तविक स्वरूप अवश्य ही विकत हो गया है, परन्तु जब तक कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति नहीं मिल जाती, तब तक उसके विषय में कुछ कहना कठिन ही होगा।

६. पद्मावती समयः कथानक परिचय

पथ्वीराज रासो चन्दबरदायी कत महाकाव्यात्मक ग्रंथ है। इसके बहद् संस्करण में ६६ अध्याय हैं और कुल १६३०६ छंदों की योजना है। इसके प्रत्येक अध्याय में पथ्वीराज चौहान के जीवन से संबंधित कथा का वर्णन है। उसी कथा के आधार पर अध्याय का नामकरण किया गया है। अध्याय के लिए समय, खण्ड, प्रस्ताव आदि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है, लेकिन बहद् रूपान्तर के खण्डों के लिए समयों अथवा समय शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। पद्मावती समय पथ्वीराज रासो का बीसवां अध्याय है। इसमें रासो के नायक दिल्ली के राजा पथ्वीराज चौहान और समुद्रशिखर के राजा विजय की पुत्री राजकुमारी पद्मावती के पारस्परिक प्रेम और विवाह का वर्णन किया गया है। 'पद्मावती समय' के कथांनक का संक्षिप्त रूप इस प्रकार से है-

१. राजा विजय और पद्मावती संदर्भ- दिल्ली के पूर्व दिशा में समुद्र शिखर नाम का एक विशाल किला था। वहां पर विजय नाम का राजा राज्य करता था। वह अनेक किलों का स्वामी तथा यादव वंश का शक्ति शासक था। उसके पास अपार धन-वैभव, विशाल चतुरंगिणी सेना और विशाल राज्य था। बड़े-बड़े वीर और प्रतापी राजा उसकी सेवा में लगे रहते थे। उसी के समान उसके दस पुत्र तथा एक पुत्री थी। उसकी सुंदर रानी का नाम पद्मसेन था। उसी ने पद्मावती नाम की एक सुंदर कन्या को जन्म दिया। पद्मावती चन्द्रमा की सोलह कलाओं के समान अनित्य सुन्दरी थी। रति के समान वह सबको मोह लेती थी। पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता आदि सभी उसके सौन्दय को देखकर आसक्त हो जाते थे। उसमें सभी शुभ लक्षण थे। शारीरिक सौन्दर्य के अतिरिक्त वह ६४ कलाओं,१४विद्याओं और चारों वेदों के अध्ययन में भी प्रवीण थी। अभी उसने वयःसंधि को प्राप्त किया था। परन्तु वसन्त की शोभा के समान वह सभी के मनों में आनन्द तथा उल्लास उत्पन्न कर देती थी।

२. पद्मावती और शुक मिलन- एक दिन पद्मावती अपनी सखियों के साथ राजमहल के उद्यान में क्रीड़ा कर रही थी। अचानक उसने वहां एक शुक को देखा। वह उसे देखकर प्रसन्न हो गई। परन्तु शुक पद्मावती के लाल होठों को बिम्बा फल समझ कर उसकी ओर झपटा। पद्मावती ने तत्काल उसे पकड़ लिया और राजमहल में अपने साथ ले गई एक स्वर्ण पिंजरे में उसने तोते को बन्द कर दिया। धीरे-धीरे पद्मावती शुक (तोते) के साथ घुल-मिल गई। वह दिन-भर का खेल कूद भूलकर उसी के साथ रमण करने लगी। धीरे-धीरे वह तोते को राम नाम का पाठ पढ़ाने लगी। उधर शुक पद्मावती के अप्रतिम रूप सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया था। उसने मन ही मन भगवान शंकर और पार्वती से प्रार्थना की कि इस पद्मावती का विवाह तो पथ्वीराज के साथ होना चाहिए। वह शुक बड़ा विद्वान् था। वह पद्मावती को नाना प्रकार की ज्ञानवर्द्धक कहानियां सुनाने लगा और पद्मावती भी तल्लीन होकर उसकी कथाओं को सुनने लगी।

३. पद्मावती शुक-संवाद- एक दिन पद्मावती ने शुक से पूछा कि तुम्हारा परिचय क्या है ? तू किस देश का निवासी है ? और वहां पर कौन राजा राज्य करता है? शुक

ने पद्मावती को बताया कि वह दिल्ली का निवासी है। दिल्ली नाम का एक किला है जहां इन्द्र के अवतार के रूप में पथ्वीराज चौहान राज्य करते हैं। उसकी आयु १६ वर्ष है। वह सांभर नरेश सोमेश्वर का चौहान वंशी राजा हैं वह महान् वीर,योद्धा, तथा साहसी राजा हैं उसने गजनी के राजा शहाबुद्दीन को हराकर तीन बार बन्दी बनाया और उसकी प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया। उसके धनुष पर लोहे की जंजीर की डोरी चढ़ती है और वह अचूक शब्द-भेदी बाण चलाता है। वह राजा बलि के समान दढ़-प्रतिज्ञ, कर्ण के समान दानी, राजा हरिश्चन्द्र के समान शीलवान्, विक्रमादित्य के समान न्यायप्रियश तथा दैत्य के समान बलशाली है। उसके प्रचण्ड तेजस्वी चरित्र को देखकर लगता है मानो वह साक्षात् कामदेव का अवतार है।

शुक के मुख से पथ्वीराज के रूप-सौन्दर्य और वीरता का वर्णन सुनकर पद्मावती पथ्वीराज से प्रेम करने लगी। बाल्य अवस्था की क्रीड़ाओं को पार कर पद्मावती ने यौवनावस्था में कदम रखा। यह देखकर माता-पिता को उसके योग्य वर खोजने की चिंता समाने लगी। राजा विजय ने अपने कुल पुरोहित को बुलवाकर आदेश दिया कि वह किसी शीलवान् तथा श्रेष्ठ राजकुमार के साथ पद्मावती की सगाई पक्की कर दे। राजा ने कुल पुरोहित को शगुन का सामान देकर विदा कर दिया। यह समाचार सुनकर सारे नगर में आनन्द और उल्लास छा गया। उधर कुल पुरोहित योग्य वर को खोजता हुआ शिवालिक पर्वत की तलहटी में कुमायूं नामक किले में जा पहुंचा। वहां के राजा का नाम कुमोदमणि था। उसके पास भी अपार धन सम्पत्ति तथा विशाल सेना थी। कुल पुरोहित ने उसी के साथ पद्मावती की सगाई पक्की कर दी।

४. कुमोदमणि का प्रस्थान- कुछ समय के बाद कुमोदमणि अपने अनेक अधीन राजा और गणपतियों को लेकर एक विशाल बारात सजाकर बड़ी धूम-धाम से समुद्रशिखर की ओर चल पड़ा। उसके साथ सेना के दस हजार धुड़सवार, ५०० हाथी और असंख्य पैदल सैनिक थे। ये समाचार सुनकर समुद्र शिखर दुर्ग में शहनाईयां और मंगल वाद्य बजने लगे। बारात के स्वागत के लिए असंख्य मण्डप और तोरन बनाए गए। विवाह की तैयारियां देखकर पद्मावती का मन व्याकुल हो उठा। उसने एकान्त में शुक को कहा कि वह दिल्ली जाकर पथ्वीराज को यहां आने का निमन्त्रण दे आए। उसने यह भी कहा कि जब तक मेरे प्राण रहेंगे तब तक पथ्वीराज ही मेरे प्रिय बने रहेंगे। उसने तोते को एक पत्र भी लिखकर दिया जिनमें विवाह की तिथि लिखी हुई थी। उस पत्र में उसने यह भी लिखा था कि जिस प्रकार श्रीकष्ण ने रुक्मिणी का हरण किया था, उसी प्रकार तुम नगर के शिव मन्दिर से प्रातःकाल मेरा हरण कर लेना। पत्र लेकर शुक ने तत्काल दिल्ली के लिए प्रस्थान किया।

५. शुक पथ्वीराज मिलन- पद्मावती का पत्र लेकर वह शुक वायुवेग से दिल्ली की ओर उड़ने लगा। तत्काल उसने वह पत्र पथ्वीराज को दे दिया। पत्र पढ़ते ही पथ्वीराज ने अपने प्रधान सेनापति चमुंडराय को दिल्ली गढ़ का भार सौंप दिया और स्वयं असंख्य शूर-वीरों, सामन्तों, ३०० सैनिकों तथा कवि चंद के साथ समुद्रशिखर के लिए चल पड़ा। जिस दिन राजा कुमोदमणि अपनी बारात के साथ समुद्रशिखर दुर्ग में पहुंचा। उसी दिन पथ्वीराज भी गुप्त रूप से वहां पहुंच गया था। दुर्भाग्य से बादशाह शहाबुद्दीन गौरी को

भी पथ्वीराज की इस यात्रा का पता चल गया। भयंकर योद्धाओं से युक्त अपनी सेना को सजाकर वह पथ्वीराज के लौटने के मार्ग पर वह प्रतीक्षा करने लगा। इधर चंदबरदाई ने भी पथ्वीराज को गोरी के इस अभियान की सूचना दे दी।

६. युद्ध वर्णन- राजा कुमोद्मणि की बारात के आने के समाचार को सुनकर समुद्रशिखर के सभी पुत्र बारात के स्वागत की तैयारियां करने लगे। नगर की सभी स्त्रियां बारात देखने के लिए अपने-अपने छज्जों में सुशोभित हो रही थी। अचानक शुक ने आकर पथ्वीराज के आगमन की उसे सूचना दी। यह समाचार सुनते ही पद्मावती आनंदित हो उठी। उसने मैले वस्त्र त्यागकर स्नान किया और सोलहश्रंगार करके पूजा करने के लिए शिव मन्दिर में गई मन्दिर में पहुंच कर उसने शंकर-पार्वती की प्रार्थना की तथा चारों ओर प्रदक्षिणा करके उन्हें प्रणाम किया। वहां उपस्थित पथ्वीराज को देखकर वह मन्द-मन्द मुसकाई और उसने मुख को घुंघट से ढक लिया। पथ्वीराज ने पद्मावती का हाथ पकड़कर उसे अपने घोड़े पर बिठा लिया और दिल्ली की ओर रवाना हो गया। पद्मावती हरण का समाचार शीघ्र ही राजा विजय को मिल गया। परिणामस्वरूप समुद्रशिखर नगर में युद्ध के नगाड़े बजने जगे। हाथी घोड़ों की विशाल सेना पथ्वीराज का पीछा करने लगी। राजा विजय और कुमोदमणि दोनों की सेनाओं ने जाकर पथ्वीराज को घेर लिया। फलतः पथ्वीराज ने मुड़कर अपनी सेना के साथ दोनों राजाओं का सामना किया। इस भयंकर युद्ध में दोनों ओर से बाणों की वर्षा होने लगी और योद्धा कट-कटकर गिरने लगे। अन्ततः कुमोद्मणि के सभी योद्धा मारे गए और विजय प्राप्त करके पथ्वीराज दिल्ली की ओर चल पड़ा।

७. पथ्वीराज और गौरी-युद्ध वर्णन- इसी बीच गौरी पथ्वीराज की प्रतीक्षा कर रहा था। वह पथ्वीराज का रास्ता रोककर खड़ा हो गया। उसकी सेना के पास विभिन्न प्रकार के हथियार थे। तोप, तलवार, बन्दूक, धनुष बाण आदि से सजी उसकी सेना बड़ी भयंकर लग रही थी। उसकी सेना का एक-एक योद्धा हजार शत्रुओं का सामना करने में समर्थ था। स्वयं गौरी अपनी सेना का संचालन कर रहा था। शीघ्र ही गौरी की सेना ने पथ्वीराज को चारों ओर से घेर लिया। युद्ध क्षेत्र में बड़े-बड़े नगाड़े बजने लगे और दोनों पक्षों के योद्धा आपस में लड़ने लगे। पथ्वीराज ने एक हाथ में घेड़े की लगाम पकड़ी और दूसरी हाथ में तलवार लेकर वह शत्रुओं पर टूट पड़ा। काफी समय तक यह भयंकर युद्ध चलता रहा। काफी समय तक यह निर्णय करना कठिन था कि कौन हारेगा और विजयी होगा। समूचा युद्ध क्षेत्र हाथी, घोड़ों और सैनिकों के कटे अंगों से भर गया था।

७. पथ्वीराज की विजय- युद्ध में निर्णय न होता देखकर पथ्वीराज क्रोधित हो उठे। वे तलवार के साथ शुत्रुओं पर ऐसे टेट पड़े जैसे सिंह हाथी के झुण्ड पर टूट पड़ता है। पथ्वीराज ने अपनी तलवार से शत्रु के हाथियों के मस्तक फाड़ दिए। परिणाम यह हुआ कि युद्ध क्षेत्र में भगदड़ मच गई। हाथी उलटकर अपनी सेना को कुचलने लगे। उस समय युद्ध क्षेत्र में इतनी धूल उड़ी कि दिन के समय ही रात हो गई। पथ्वीराज चौहान ने अचानक शहाबुद्दीन गौरी की गर्दन में अपना धनुष डालकर उसे पकड़ लिया। ऐसा लगा मानो बाज ने झपटा मारकर चिड़िया को पकड़ लिया हो। इस प्रकार पथ्वीराज

गौरी को कैद करके उसकी सेना को चीरता हुआ आगे बढ़ गया। इस युद्ध में गौरी के ५०० सरदार मारे गए और पथ्वीराज के ५० योद्धा वीर-गति को प्राप्त हुए। युद्ध क्षेत्र में पथ्वीराज को पूर्ण विजय प्राप्त हुई अन्ततः वह बन्दी गौरी को साथ लेकर दिल्ली की ओर चल पड़ा।

८. पथ्वीराज और पद्मावती विवाह- पथ्वीराज पद्मावती और गौरी के साथ दिल्ली पहुंचा। यहां से वह दिल्ली के पास स्थित अष्टभुजा देवी के मंदिर गया। वहां उसने ब्राह्मणों को बुलवाकर अपने विवाह का शुभ मुहूर्त निकलवाया। शुभ मुहूर्त में वेद मंत्रों के उच्चारण के बीच पथ्वीराज और पद्मावती का विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् पथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को ८००० सुन्दर घोड़े देने का दण्ड दिया। इसके पश्चात् पथ्वीराज षट्वेषी याचकों को दान देकर अपने दुर्ग में चला गया। यह सब देखकर पथ्वीराज के सभी सामन्त अत्यधिक प्रसन्न हुए और नगर में आनन्द के नगाड़े बजने जगे। चन्द्रमुखी और मगनयनी सुंदरियों ने सोने के थाल में आरती सजाकर पथ्वीराज और पद्मावती का स्वागत किया। इस अवसर पर मंगल गीत गाए और राजा के सिर पर मुकुट रखकर तिलक किया गया। इस प्रकार विवाह कार्य सम्पन्न करके पथ्वीराज अपनी पत्नी पद्मावती के साथ दुर्ग में प्रवेश कर गया।

७. 'पद्मावती समय' का भाव पक्ष

'पद्मावती समय' चन्दबरदाई कत पथ्वीराज रासो का एक महत्त्वपूर्ण अंश है। यद्यपि पथ्वीराज रासो को कुछ विद्वानों ने ऐतिहासिक वीर गाथात्मक काव्य माना है, लेकिन इसमें कल्पना तत्त्व का इतना अधिक समावेश हो गया है कि उसका इतिहास पक्ष पूर्णतः दब गया है। वस्तु-वर्णन की दष्टि से पथ्वीराज रासो और पद्मावती समय एक उल्लेखनीय रचना मानी जाती हैं काव्य-शास्त्र की दष्टि से वस्तु-वर्णन को महाकाव्य का एक गुण माना गया है। समूचा रासो काव्य वर्णनों का भण्डार है। अतः पद्मावती समय कोई अपवाद नहीं है। इसमें भी हमें वस्तु-वर्णन के अनेक स्थल देखने को मिल जाते हैं। भले ही 'पद्मावती समय' पथ्वीराज रासो का ही एक अंश है, लेकिन इसे खण्ड काव्य कहना अधिक उचित होगा। पद्मावती समय के वस्तु वर्णन को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचित किया जा सकता है-

१. पथ्वीराज संदर्भ- जहां तक वस्तु वर्णन का प्रश्न इस काव्य रचना के पांचवें पद्य में ही वह शुरु हो जाता है। पद्मावती ने ही सर्वप्रथम शुक से उसका परिचय पूछा। उत्तर के रूप में शुक पथ्वीराज का वर्णन करता हुआ कहने लगा कि हिन्दुस्तान में दिल्ली गढ़ नामक एक नगर है। वहां इन्द्र का अवतार चौहान-वंशी, अत्यन्त वीर और बलवान राजा पथ्वीराज है। 'तहं पथिराज सुर सुभार' दिल्ली नगरी के राजा के वंश की गौरव-गाथा का वर्णन करता हुआ वह कहता है-

'संचरि नरेस चहुआंन थानं, पथिराज तहं बाजंत भानं।
बैसह बरीस षोडस नरिदं, पूत, आजानु बाहु भुअजोक यंदं।।
संभरि नरेस सोमेस पूत, देवंत रूप अवतार दूत।
तासु मंसूर सब्बै अपार भूजानं भीम जिम सार भार।।

शुक पद्मावती को यह भी बताता है कि पथ्वीराज इतना शक्तिशाली राजा है कि उसने शहाबुद्दीन गौरी को तीन बार पकड़ लिया था और उसकी प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया था। यही नहीं वे अचूक शब्द-भेदी बाण को चलाने का भी सामर्थ्य रखते हैं।

२. सैन्य-वर्णन- 'पद्मावती समय' में कवि ने जो सेना का वर्णन किया है वह वीर भाव को उद्दीप्त करने वाला है। इसमें कवि की वीर रस प्रवणता देखने को मिलती है। एक स्थल पर कवि ने शहाबुद्दीन गौरी की सेना का जो वर्णन किया है, वह बड़ा ही आकर्षक बन पड़ा है। कवि लिखता है कि-

''क्रोध जोध जोधा अनंत किरिय पन्ती अनि-राज्जिय।
बान नालि हथनालि तुपक तीरह, सब रज्जिय।।
पब्बै पहार मनो सारूं के, भिरि भुजान गपनेस बल।
आए हकारि हकारि भुरि, षुरासान सुलतान दल।।''

इन पंक्तियों में क्रोधित योद्धाओं के समूह, चिंघाड़ते हुए हाथियों, धनुष बाण, तोप आदि से सुसज्जित सेना का यथार्थ वर्णन किया गया है। कवि ने अनेक स्थलों पर

सैन्य सज्जा और योद्धाओं की मनोवत्तियों का उल्लेख किया है। कवि यह भी स्पष्ट करता है कि शहाबुद्दीन की सेना में खुरासानी, कंधारी, तुर्की, फिरंगी आदि सैनिक थे। इन सब की रूप-रचना अलग-अलग प्रकार की थी। यही नहीं, कवि ने सेना के अश्वों का भी बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन किया है। सेना के घोड़ों में ताजी, तुर्की, महावाणी, कमानी तथा वाजि आदि अनेक नस्लों के घोड़े थे। यथा-

''जहां बाग बाछ मरूरी रिछोरी।
धमं सार समूह अरू चौर झौरी।
एराकी, अदब्बी, पटी, तेज, ताजी।
तुरक्की, महावन, कम्मान बाजी।।''

३. युद्ध-वर्णन- पथ्वीराज रासो युद्ध-वर्णन के लिए हिन्दी साहित्य में एक उल्लेखनीय रचना मानी जाती है। क्योंकि पद्मावती समय रासो का ही एक खण्ड है, अतः इसमें भी शहाबुद्दीन गौरी और पथ्वीराज चौहान के युद्ध का सजीव वर्णन मिलता है। कुछ पद्यों में युद्ध की कियाओं का वर्णन इतना सूक्ष्म है कि पाठक उन्हें पढ़ते ही भाव-विभोर हो जाता है। युद्ध-वर्णन करते समय कवि भयानक और वीभत्स दश्यों क चित्र अंकित कर देता है। एक उदाहरण दर्शनिय है-

''न को हार मह जित्त, रहेइ न रहहि सुखर।
घर उप्पर भर परत करत अति जुद्ध महाभर।
कहौं कमध कहौं मध्य कहौं कर चर व अंतरूरि।
कहौं कंध बहि तेग, कहौं सिंर पुट्टि उर।।
कहौं देत मेत हम षुर षुपरि, कुंभ भसुंइह रूंड सब।
हिंदवान रांनभय भांन मुष गहइ तेग चहुआन जबु।।

उपर्युक्त उदाहरण में कवि ने अन्तिम चार पंक्तियों में जुगुप्सा-जनक चित्र अंकित किया है। यहां भयंकर युद्ध का वर्णन है जिसमें असंख्य योद्धा मर-कट रहे हैं। कहीं तो योद्धाओं के कबन्ध पड़े हैं तो कहीं सिर पड़े हैं। हाथ-पांव कटकर अलग बिखरे पड़े हैं। किसी की अंतड़ियां पेट से बाहर निकल आई हैं तो किसी का कंधा अलग हो गया है। उधर पथ्वीराज के सैनिक शत्रुओं की सेना पर ऐसे टूट रहे हैं जैसे शेर हाथियों पर टूटते हैं। स्वयं पथ्वीराज एक सिंह के समान शत्रुओं पर आक्रमण कर देते हैं। जिसके फलस्वरूप शत्रु सेना में भगदड़ मच जाती है। सूंड कट जाने के कारण हाथी चिंघाड़ मारकर भाग रहे हैं जिसके फलस्वरूप युद्ध भूमि में खलबली मच गई है। उदाहरण दर्शनीय है-

'' करी चीह चिक्कार करि कलप भग्गे।।
मंद तंयिं लाज ऊमग्ग मग्गे।।
दोरि गज अंध चहुआन केरो।
घेरियं गिरछ चिहों चक्क फेरो।।''

४. सौन्दर्य-चित्रण-'पद्मावती' समय नख-श्रिख वर्णन के लिए भी एक उल्लेखनीय काव्य रचना है। समुद्रशिखर की राजकुमारी पद्मावती इस काव्य की नायिका है। वह

अनिंद्य सुन्दरी होने के साथ-साथ एकनिष्ठ प्रेमिका भी है। अभी तक उसने वयःसन्धि को ही प्राप्त किया है।, लेकिन फिर भी वह सम्पूर्ण कलाओं, चौदह विधाओं तथा वेद-शास्त्र आदि में पूर्णतया प्रवीण है। उसमें नायिका के सभी गुण और सामुद्रिक लक्षण विद्यमान हैं। कवि ने उसके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है-

''मनहुं कला ससि भांन, कला सोलह सो बनिय।
बाल बेस ससि ता समीप, अमत रस पिन्निय।।
बिगसि कमल म्रिग भ्रमर, बैन,षंजन मग लुट्टिय।
हीर कीर अरू बिम्म मोति नष सिष अहि घुट्टिय।।
छप्पति गयन्द हरि हंस गति, बिह बनाय संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय, मनहुं काम कामिनि रचिय।।''

उपर्युक्त पद्य से स्पष्ट होता है कि यहां कवि ने पद्मिनी नायिका के सभी लक्षण पद्मावती में घटाए हैं। तोता भी उसके अद्वितीय सौन्दर्य को देखकर उसे पद्मिनी नायिका ही मानता है। लेकिन कवि ने तो सामुद्रिक शास्त्र के सभी लक्षण उसे नायिका में घटा दिए हैं। वह नायिका पद्मगंधा नायिका है, क्योंकि उसके शरीर से कमलों की सुगंध उठती है इसलिए कवि लिखता है-

''कमलगंध, वयसंध, हंसगति चलत मंद-मंद
भमर भंवहि भुल्लहिं सुभाव मकरन्द बास रस।।''

पद्मपवती के रूप-सौन्दर्य के वर्णन को पढ़कर कभी-कभी पाठक को जायसी के पद्मावत की याद आ जाती है। वहां पर भी हीरामन तोते द्वारा पद्मावती का नख-शिख वर्णन राजा रत्नसेन के समक्ष किया जाता हैं इस काव्य-रचना में भी तोता पद्मावती का रूप-वर्णन महाराज पथ्वीराज के समक्ष जाकर करता है। उसके नख-शिख वर्णन को सुकर ही पथ्वीराज चौहान पद्मावती को प्राप्त करने के लिए समुद्रशिखर पर आक्रमण कर देता है। एक स्थल पर ही कवि ने पद्मावती को मुग्धा नायिका के रूप में चित्रित किया है। लेकिन आगे चलकर पद्मावती एक विरहिणी नायिका के रूप में भी वर्णित की गई है।

५. प्रकति चित्रण- प्रकति का स्वच्छन्द विस्तत गंभीर वर्णन पथ्वीराज रासो में उपलब्ध नहीं होता। लेकिन जितना भी उपलब्ध होता है वह अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक है। पथ्वीराज रासो में ऋतुओं के वर्णन के अन्तर्गत प्रकति का वर्णन किया गया है। इस संबंध में कवि ने ग्रीष्म ऋतु, शिशिर ऋतु,शरद् ऋतु, हेमन्त तथा बसन्त आदि ऋतुओं का हृदयग्राही वर्णन किया है। पथ्वीराज रासो से ही एक उदाहरण देखिए जिसमें शिशिर ऋतु के बारे में वर्णन किया गया है-

''रोमालल घन नीर निब्ध परये गिरि ढंग नारायते।
पब्वय पीन कुचानि पानि समला पुंकार झुकारये।।
शिशिरे सबरि बारुणे च विरहा मम हृदय विद्दारये।
मां कामंत मग बद्ध सिंध मने किं देव उब्बारये।।''

इसी प्रकार से कवि ने कुछ स्थलों पर प्रकति का आलम्बन रूप में भी वर्णन किया है। ऐसे वर्णन पाठक को सहज प्राकतिक सौन्दर्य की अनुभूति कराने में सक्षम हैं।

४. बारात-वर्णन- 'पद्मावती समय' में बारात का भी रमणीय और आकर्षक वर्णन कवि ने किया है। इस वर्णन से कवि ने बारात के सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है। कहीं तो कवि विशाल हाथियों और उनके गंडस्थलों से टपकने वाले मदस्राव का वर्णन करता है तो कहीं उनके श्वेत दांतों का। इस वर्णन में कवि ने संश्लिष्ट बिम्बों की रचना की है। बारात का वर्णन करते समय कवि ने वाद्य यन्त्रों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले संगीत की भी चर्चा की है। इस अवसर पर कवि यह भी नहीं भूला कि बारातियों में विवाह-अवसर के अनुकूल उत्साह और प्रसन्नता दिखाई देती है। यह सारा वर्णन इतना मनोहारी है कि उसे पढ़कर पाठक स्वयं को बाराती समझने लगता है। एक उदाहरण देखिए-

''चले दस महस्सं असवार जानं।
पूरियं पैदलं तैंतीस बान।
मत्त मद गलित सै पंच दती।
मनो सांम पाहार बुगपंत पंती।।
चले अग्गि तेज, जु तत्ते तुषारं।
चौपटं चौरासी जु साकत्ति भारं।।
कंठ, नगं, नूपं अनोपं, सुलालं।
रंग पंच रंग ढलकंत ढालं।।।
पंच सुर साबद्ध बापित्र बालं।
सहस सहनाय म्रिग मोहि राजं।।
समुद्र सिर सिषर उच्छाह छाहं।
रचितं मंडपं तोरनं श्रीयगाहं।।''

यहां चन्दबरदाई ने बारात में बजाए जा रहे विभिन्न प्रकार के वाद्य यन्त्रों का भी वर्णन किया है जिनमें नाल, तंभी, नगाड़ा, झांझ और तुरही आदि एक साथ बजाए जा रहे थे। 'पद्मावती समय' मूलतः लघु काव्य है। इसे खण्ड काव्य भी कहा जा सकता है। अतः- इसमें वर्णन के लिए अधिक स्थान नहीं है। जहां पथ्वीराज रासो में प्रकति वर्णन तथा समाज का वर्णन प्रभूत मात्रा में मिल जाता है, वहां इसमें अल्प मात्रा में है या नहीं है। कवि ने राजाओं के वैभव और शक्ति का खुलकर वर्णन किया है। इसके साथ-साथ कवि ने सेना-वर्णन, युद्ध-वर्णन, नायिका का नख-शिख एवं सौन्दर्य वर्णन काफी सुन्दर किया है। पथ्वीराज का वर्णन करते समय कवि ने उसके प्रसिद्ध वंश, उदात्त गुणों, वीरता एवं शौर्य का हृदयाकर्षक वर्णन किया है। शाहाबुद्दीन के सेना के साथ हुआ युद्ध-वर्णन काफी विस्तार पा गया है, लेकिन यह वर्णन काफी प्रभावशाली है। इसीलिए कुछ आलोचकों ने वर्णनों की दष्टि से इस काव्य रचना को कोई विशेष महत्त्व प्रदान नहीं किया। भावाभिव्यक्ति की दष्टि से रचना अत्यन्त प्रभावी है।

८. 'पद्मावती समय' का काव्य सौन्दर्य

पद्मावती समय' चन्दबरदाई कत महाकाव्य पथ्वीराज रासो का बीसवां समय (अध्याय)के रूप में व्यवस्थित है। पथ्वीराज रासो में ऐतिहासिकता के साथ-साथ कल्पना का भी सुन्दर मिश्रण किया गया है। कवि ने अपने समय की असंख्य लोक प्रचलित निजंधरी कथाओं का समावेश करके रासो को एक बहद् आकार प्रदान किया है। प्रस्तुत प्रकरण 'पदमावती समय' इसी प्रकार की एक काव्यात्मक रचना है। इसमें कवि ने अपने अद्भुत काव्य कौशल का परिचय दिया है। वस्तु वर्णन , भावाभिव्यंजना, अलंकार योजना, भाषा, छन्द आदि सभी दष्टियों से पथ्वीराज रासो एक महान् काव्य है। पद्मावती समय भी उसी का एक अध्याय है। अतः उसमें हमें कवि की प्रतिभा का वही रूप प्राप्त होता है जो रासो में है। पद्मावती समय के काव्य सौन्दर्य की चर्चा करते हुए हम उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालेंगे।

१. कथा-संदर्भ- 'पद्मावती समय' अपने वस्तु वर्णन के लिए प्रसिद्ध है। इसमें जहां एक ओर 'पद्मावती के रूप सौन्दर्य, बारात, सेना तथा युद्ध का वर्णन मिलता है वहां दूसरी ओर पद्मावती का नख-शिख वर्णन भी काफी आकर्षक बन पड़ा है। पद्मावती का सौन्दर्य वर्णन करते समय कवि ने सांकेतिक और आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया है-

हरि, कीर अरू बिम्ब मोति नख-शिष अहि छट्टिय।।
''मनहुं कला ससि भान कसा सोलह सों बन्निय।
बाल वैस ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय।
बिगसि कमल, भ्रिमर, बेनु, खंजन, मग, लुट्टि

महाकवि ने सेना का जो वर्णन किया है वह वीर भव को उत्पन्न करने वाला है। शाहहाबुद्दीन गौरी की सेना का निम्नलिखित वर्णन देखिए-

''क्रोध जोध जोधा अनंत करिय पन्ती अनि-गज्जिय।
बानं नालि हथनालि, तुपक, तीरह, सब, रज्जिय।।
पब्बैपहार मनौ सारू के, भिरि, भुजान गजनेस बल।
आए हकारि हकारि भुरि, षरासान सुलतान दल।।''

युद्ध-वर्णन की दष्टि से 'पद्मावती समय' महाकवि का एक उल्लेखनीय खण्ड काव्य है। इसमें पथ्वीराज और कुमोद्मणि तथा पथ्वीराज और शाहाबुद्दीन गौरी के युद्धों का सजीव वर्णन मिलता है। कुछ पदों में युद्ध की क्रियाओं का वर्णन इतना सूक्ष्म है कि पाठक उसे पढ़कर प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। युद्ध वर्णन करते समय कवि भयानक एवं वीभत्स दश्यों के चित्र अंकित करता है। उदाहरण अवलोकनीय है-

जिय घोर निसांन, रांन चहुंबान चहौं दिसि।
सकल सूर सामन्त, समरि बल जंत्र मंत्र तिसि।।
उट्ठि राज प्रथिराज, बाग मनों लग वीर नट।
पढ़त तेग मन बेग, लगत मनों बीजु झट्ट पट।।

थकि रहे सूर कौतिग गिगन, रगन मगन भइश्रोन धर।
हर हरषि वीर जग्गे हुलस, हुख रंगि नव रत्त वर।।''

२. विशद बारात चित्रण- कुमायूं का राजा अपनी बारात लेकर समुद्र शिखर की ओर चल पड़ता है। बारात में रजकुल के सर्वथा उपयुक्त सेना, हाथी और घोड़े हैं। उसकी सेना के दस हजार घुड़सवार, हाथी तथा असंख्य पैदल सैनिक बारात के साथ चल रहे थे। हाथियों के गंड स्थलों से मदस्राव हो रहा था। उनके काले-काले शरीरों से बाहर निकले हुए दांत ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पर्वतों पर श्वेत बगुलियों की पंक्तियाँ हो, बारात में बजते वाद्य मानो हिरणों को भी सम्मोहित कर रहे थे। निम्नलिखित उदाहरण देखिए-

''चले दस सहससं असबार जानं।
परियं पैदलं तैतीसु थानं।
मत्त मद गलित सौ परंच दन्ती।
मनो सांम पाहार बुगपांति पंती।।
चले अग्गि तेजी जु साकति यारं।
चौवरं चौरासी जु, साकति यारं।
कंठ नगं नुपं अनोपं सुलालं।
रंग पंच रंग ढलकत्त ढालं।।''

३. भाव-प्रवणता- भाव-रस की दष्टि से जब हम पद्मावती समय का मूल्यांकन करते हैं तो हमें केवल दो रस ही प्रधान रूप में दिखाई देते हैं। ये हैं- श्रंगार और वीर-रस। श्रंगार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग देखें जा सकते हैं। युद्ध-वर्णन में वीर, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स रसों की स्थिति मिल जाती है। फिर भी 'पद्मावती समय' में वीर-रस ही अंगी-रस है। वैसे पद्मावती समय का आरम्भ भी श्रंगार रस से होता हैं और अन्त भी श्रंगार रस से होता है।

(क) श्रंगार-रस परिपाक- यद्यपि इस काव्य-रचना में श्रंगार के संयोग और वियोग दोनो पक्षों का वर्णन मिलता हैं लेकिन संयोग श्रंगार ही प्रधान रूप में वर्णित है। काव्यारम्भ में कवि पद्मावती के अनिंद्य सौन्दर्य का वर्णन आता है। आगे चलकर शुक राजा पथ्वीराज के समक्ष पद्मावती का रूप वर्णन करता है। वह उसे नायक पथ्वीराज के सर्वथा योग्य नायिका सिद्ध करता है-

''कुहिल केश सुदेश, पौहप रचियत गिक्क सद।
कमल गन्ध वयसंध, हंस-गति चलत मंद मंद।।
सेत वस्त्र सोहै सरीर, नष सवांति बुन्द जस।
भमर भंवहि भुलल्हिं सुभाव, मकरन्द वास रस।।
नैन निरखि सुष पाय सुक, यह सुदिन मूरति रचिय।
उमा प्रसाद हर हेरियत, मिलहिं राज प्रथिराज जिय।।''

अभी तक पद्मावती का प्रेम एकपक्षीय है। दो-तीन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि वह नायक पथ्वीराज की विरह से व्याकुल है। 'तन चिकरं चीर डारयौ उतारि' पंक्ति

से भी स्पष्ट होता है कि पद्मावती प्रियतम में की विरह में व्याकुल एवं उदास रहती है। अतः हम कह सकते हैं कि 'पद्मावती समय' में वियोग श्रंगार के लिए अधिक स्थान नहीं है। अतः इस रचना में श्रंगार रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया।

(ख) वीर-रस-परिपाक- पथ्वीराज रासो तथा उसके खण्ड 'द्मावती समय' को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि चन्दबरदाई वीर रस का वर्णन करने में सिद्धहस्त थे। उन्होंने आरम्भ से ही पथ्वीराज के साहस, वीरता, कौशल आदि का बडा ही मार्मिक वर्णन किया है। इसी प्रकार कवि ने शहाबुद्दीन गौरी की विशाल सेना का वर्णन भी प्रभावशाली ढंग से किया है। दोनों के युद्ध वर्णन करते समय योद्धाओं की मनःस्थिति पर भी प्रकाश डाला है। पद्मावती समय में कवि ने पथ्वीराज, विजय, शहाबुद्दीन गौरी और कुमोदमकण जैसे चार राजाओं का वर्णन किया है। पहले तीन राजाओं (पथ्वीराज, शाहाबुद्दीन, कुमोदमणि) के अन्य गुणों के साथ उनकी विशाल सेना का भी वर्णन है, लेकिन शाहाबुद्दीन की तो केवल विशाल सेना का ही वर्णन है। युद्ध से पूर्व कवि रणसज्जा का वर्ण करता है। बाद में भयंकर युद्ध आरम्भ हो जाता हैं और युद्ध क्षेत्र में बाणों की वर्षा होने लगती है तथा खून की नदियां बहने लगती हैं। युद्ध वर्णन करता हुआ कवि लिखता है-

''कग्मानं बांन छुट्टिहिं अपार।
लागत लोह इमि सारधार।
घमसान घान सब वीर षेत।
घन श्रोन बत अरू रकत रेत।।

ज्यों-ज्यों युद्ध भयंकर रूप धारण करता है, त्यों-त्यों वीर-रस का वातावरण तैयार होता जाता है। कभी-कभी तो लगता है मानो वीर-रस आकार धारण करके स्वयं युद्ध,क्षेत्र में उतर आया है। एक उदाहरण देखिए-

''न को हार नह जित्त, रहेइ न रहिइ सूखर।
पर उप्पर भर परत, करत अति जुद्ध महाभर।।
कहौं कमध कहौं मथ्थ, कहौं कर चरन अन्तरूरि।
कहौं कन्ध बहि वेग, कहौं सिर जुहि फुट्टि डर।।
कहौं दन्त मत्त हथ षुर षुपरि, कुम्भ भसुण्डह खण्ड सब।
हिन्दबान रानं भय भानं मुष, गहिए तेग चहुंवांन जब।।''

इसी सन्दर्भ में कवि ने गौण रूप में भयानक, रौद्र तथा वीभत्स-रसों का भी वर्णन किया है। वैसे तो पद्मावती समय में अद्भुत और हास्य-रसों के भी वर्णन मिल जाते हैं, परन्तु, भयानक, वीभत्स तथा रौद्र-रसों के उदाहरण देखने योग्य हैं।

भयानक रस का परिपाक अवलोकनीय है-

उलटि जु राज प्रथिराज बाग।
थाकि सूर गगन धर धसत भाग।।
समंत सर सब काल रूप।

गहि लोह-छोह बाहै सुभूप।।

वीभत्स-

''कहौं कमध की मथ्थ, कहौं कर चरण अंतरारि।
कहौं कंध बहि तेग, कहौं सिर जुट्टि, फुट्टि उर।।

रौद्र-

''बाजी सुबन्ध हय गय पलानं।
दौरे सुसज्जित दिस्सह दिसानं।।
तुम्ह लेहु-लेहमुष जंपि जोध।
हन्नाह सूर सब पहिर कोध।।''

शिल्प विधान- पथ्वीराज रासो की भाषा के बारे में लम्बे काल से विवाद चला आ रहा हैं इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें भाषा के अनेक रूप मिलते हैं। इसमें कहीं तो अपभ्रंश के शब्दों की भरमार है तो कहीं रीतिकाल की भांति ब्रज-भाषा की। इसी भाषा भेद के कारण कुछ लोग रासो को अप्रमाणिक भी सिद्ध करते हैं। पद्मावती समय की भाषा में भले ही कहीं-कहीं अपभ्रंश की भरमार है, लेकिन इसका मूल गठन तो अपभ्रंश ही लगता है। इस भाषा में डिंगल के साथ-साथ पिंगल दोनों भाषा का मिश्रण है। जहां कवि कोमल भावनाओं और रूपों का चित्रण करना चाहता है वहां ब्रजभाषा की कोमल पदावली का सुन्दर रूप उभर आता है। पद्मावती के रूप सौन्दर्य का चित्रण करते समय कवि ब्रज अर्थात् पिंगल का ही सहारा लेता है, यथा-

''मनहुं कला ससिभांन, कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अंम्रित रस पिन्निय।।
बिगसि कमल म्रिग भ्रमर, बैन, षंजन स्रक लुट्टिय।
हीर कीर अरू बिम्ब मोति नष सिष अहि घुट्टिय।।

परन्तु युद्ध के वर्णनों में भाषा में ओज गुण की प्रधानता आ जाती हैं ऐसे स्थल पर कवि डिंगल भाषा का प्रयोग करने लगता है। डिंगल भाषा का प्रयोग करते समय कवि ने अरबी, फारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग कर दिया है। परन्तु इमें यह मान कर चलना पड़ेगा कि चंदबरदाई की भाषा शैली विषयानुरूप है। वह जिस किसी भाव, विषय या दश्य का वर्णन करते हैं, उनकी भाषा शैली उसी का बिम्ब प्रस्तुत कर देती है। जैसे-जैसे भाव बदलते हैं, वैसे-वैसे उनकी भाषा भी अपने स्वरूप को बदल लेती हैं वस्तुतः भाषा पर कविचन्द का आसाधारण अधिकार है। काव्य रचना के आरम्भ में यदि कवि कोमलकांत पदावती का सरस प्रयोग करता है तो आगे चलकर उनकी भाषा अंगारे बरसाने लगती है। विशेषकर वीर, भयानक और रौद्र रसों का वर्णन करते समय कवि की भाषा ओज गुण प्रधान बन जाती है, यथा-

''बज्जिय घोर निसानं, रानं चहुंआन चहूं दिसि।
सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र मंत्र तस।।
उट्ठि राज प्रथिराज, बाग माने लग नीर नट।
कढ़त तेग सन बेग लगत मनौ बीज झट्ट षट।।

थकि रहे सूर कौतिग गिगन, रगन मगन भइ स्रेम घर।
हर हरषि वीर जग्गे हुलसि, दुख रंग नव रत्त वर।।''

अलंकार-छंद योजना- 'पद्मावती समय' में कवि ने अलंकारों का सुन्दर एवं स्वाभाविक प्रयोग किया है, परन्तु इसे सायास नहीं कहा जा सकता। वीर और श्रंगार दोनों रसों के प्रयोग में कवि ने अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, यमक, भ्रान्तिमान तथा दष्टान्त जैसे अलंकार 'पद्मावती समय' में मिल जाते हैं। पद्य पंक्तियों को पढ़ते समय पाठक को ऐसा लगता ही नहीं कि कोई अलंकार उसके सामने आया है। उदाहरण अवलोकनीय है-

उपमा- ''रति बसन्त परमानं।
नष सवांति बुंद जस।।''
रूपक-मंउल मयंक बर नारि सब।।''
अनुप्रास-''इसम हयग्गह देस अति।
षर भर रज रष्षह।।'''
अतिशयोक्ति-''इक नायक कर घरी।
पिनाक षर भर रज रष्वह।।''

कवि चंद को छन्दों का राजा कहा जाता है। एक आलोचक ने तो पथ्वीराज रासो को 'छन्दों का जंगल' कहा है, क्योंकि इसमें एक सौ के लगभग छन्दों का प्रयोग है। इसमें से कुछ छन्द ऐसे हैं जिसका न तो पहले प्रयोग हुआ था तथा न ही छन्दशास्त्र में उनका उल्लेख मिलता है। 'पद्मावती समय' में पाँच प्रकार के छन्द मिलते हैं- दुहा, गाथा, कवित्त, पद्धरी तथा भुजंगी। संक्षिप्त वर्णन के लिए तो कवि दोहा तथा गाथा जैसे छोटे छन्दों का वर्णन करता है, परन्तु विस्तत वर्णन के लिए कवित्त तथा पदरी का प्रयोग करता है। फिर भी दुहा छन्द उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द माना गया है। आगे चलकर तुलसीदास जी ने चौपाई के साथ दोहा छन्द का खूब प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव और भाषा दोनों दष्टियों से 'पद्मावती समय' एक श्रेष्ठ खण्ड काव्य है। भले ही कवि ने काल्पनिक कथानक की उद्भावना की हो, लेकिन उन्होंने इसे काव्य रचना का रूप देकर पूर्णतः प्रभावशाली बना दिया है। एक विद्वान आलोचक ने उनकी भाषा के बारे में लिखा है- ''चन्द बरदाई भाषा के धनी कलाकार हैं। भाषा मानों उनके संकेतों पर नाचती-सी चलती है। भाव और वर्ण्य विषय की पूर्ण सफलता से भाषा भावानुकूल नए-नए रूप धारण करती हैं उसने बहुत कम शब्दों में बहुत कह डालने की क्षमता है।''

निश्चय ही पद्मावती समय भाव-पूर्ण श्रंगार और वीर रस से समन्वित आकर्षक रचना है। इसकी योजना से पथ्वीराज रासो को अनूठी गरिमा मिली।

८. 'पदमावती समय' में इतिहास और कल्पना का समन्वय

पथ्वीराज रासो आदिकाल का श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसकी काव्यात्मक महत्ता सर्वेसिद्ध है।

'पद्मावती समय' 'पथ्वीराज रासो' का बीसवाँ सर्ग है जिसमें पथ्वीराज और पद्मावती के विवाह तथा शहाबुद्दीन गौरी के साथ पथ्वीराज के युद्ध का वर्णन विशेष रूप से हुआ है। इस सर्ग में इतिहास, कल्पना और काव्य रूढ़ियाँ या लोकवार्ता का मिश्रण हुआ है। 'पथ्वीराज रासो' मूल रूप से एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसलिए रासो का एक सर्ग होने के कारण 'पद्मावती समय' को भी ऐतिहासिक पात्र होते हैं, घटनाएँ भी ऐतिहासिक ही होती हैं किन्तु कवि कुछ ऐसे पात्रों की भी कल्पना करता है जिनका उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता। वह ऐसी घटनाओं का भी वर्णन करता है जिनका वर्णन इतिहास में नहीं होता। वे घटनाएँ कवि की कल्पना की उपज होती हैं। इस प्रकार कवि इतिहास और कल्पना के मिश्रण से काव्य की रचना करता है। ऐतिहासिक काव्य कहलाते हुए भी उसमें इतिहास और कल्पना दोनों का मंजुल मिश्रण रहता है। कभी-कभी प्राचीन इतिहास की घटनाएं स्पष्ट तथा अधूरी होती हैं, कुछ घटनाएँ अज्ञात और अचर्चित होती हैं इसलिए कवि अपनी ओर से कुछ पात्रों की कल्पना करके कई घटनाओं का विवरण अपनी कल्पना से प्रस्तुत करता हैं यहाँ यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि कवि की कल्पना इतिहास के पात्रों के व्यक्तित्व एवं चरित्र के अनुकूल होनी चाहिए। कवि द्वारा वर्णित घटनाएँ ऐतिहासिक घटनाओं की पूरक होनी चाहिए। कवि कल्पित घटनाएँ काव्य में अलग से दिखाई नहीं देनी चाहिए। वे काव्य का अंग प्रतीत होनी चाहिए।

कुछ पात्र तथा कुछ घटनाएँ ऐसी भी होती हैं जो न तो इतिहास में प्राप्त होती हैं और न ही कवि अपनी ओर से उनकी कल्पना करता हैं फिर भी ऐसे पात्रों और घटनाओं का समावेश ऐतिहासिक काव्यों में रहता है। वे घटनाएँ ऐतिहासिक न होते हुए भी लोक जीवन में प्रचलित होती हैं अनेक कवियों के द्वारा उन घटनाओं का वर्णन अपने काव्य में किया जाता है तथा उन कवियों के अनुकरण पर परवर्ती काल के कवि भी ऐसे घटनाओं को काव्य रूढ़ि कहा जाता हैं ये काव्यरूढ़ियाँ भी ऐतिहासिक काव्य को रोचक बनाती हैं तथा स्वाभाविकता का समावेश करती हैं।

'पद्मावती समय' में इतिहास, कल्पना और काव्य रूढ़ियों का अत्यंत सुंदर रूप में संयोग उपस्थित हुआ हैं यह जानने के लिए 'पद्मावती समय' की कथा को संक्षेप में जानना परम आवश्यक है। संक्षेप में यह कथा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है- समुद्र शिखर नामक राज्य में विजयपाल नामक के एक राजा का शासन था। वह बहुत ही शक्तिशाली सम्राट था। उसके पास विशाल सेना थी और एक राजा का शासन था। वह बहुत ही वैभवशाली था। विजयपाल की पुत्री का नाम पद्मावती था, जो रूपयौवन से सम्पन्न थी। बहुत शीघ्र ही उसके सौन्दर्य एवं यौवन की चर्चा चारों ओर होने लगी। पद्मावती एक बार जब अपनी सखियों के साथ महलों के उद्यान में खेल रही थी तब उसके अधरों को

बिम्बफल समझकर एक तोता उसकी ओर झपटा। पद्मावती ने उस तोते को पकड़ लिया। सोने के पिंजरे में उसे बंद करके पद्मावती उसे 'राम-राम' का पाठ पढ़ाने लगी तोता भी बहुत बड़ा विद्वान था। इसलिए वह अनेक प्रकार की कथाएँ सुना-सुनाकर उसका मनोरंजन किया करता था।

एक दिन जब पद्मावती ने तोते के जन्मस्थान और देश आदि के विषय में पूछा तब तोते ने दिल्ली के शासक पथ्वीराज चौहान के सौन्दर्य, उसके शील तथा उसकी शूरवीरता और बल पराक्रम का वर्णन किया। पथ्वीराज की प्रशंसा सुनकर पद्मावती के मन में पथ्वीराज के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया। दूसरी ओर पद्मावती के पिता राजा विजयपाल ने अपने कुल के पुरोहित को बुलाकर पद्मावती के लिए किसी योग्य वर को खोजने का आदेश दिया। कुल-पुरोहित ने उत्तर दिशा में कूमायूँ नामक स्थान पर पहुंचकर वहाँ के राजा कुमोदमणि के साथ पद्मावती का सम्बन्ध निश्चित कर दिया। वह बरात लेकर पद्मावती के साथ विवाह करने के लिए समुद्रशिखर की ओर चल पड़ा।

पद्मावती को जब यह सूचना मिली तो वह व्याकुल तथा अधीर हो गई। पथ्वीराज के प्रति उसके मन में प्रगाढ़ अनुराग था इसलिए वह कुमोदमणि से विवाह नहीं करना चाहती थी। उसने तोते को बुलाकर पथ्वीराज के पास संदेश भेजा कि वह आकर उसके साथ विवाह करके उसके प्रेम-भाव तथा प्राणों की रक्षा करे। तोते के द्वारा पद्मावती के पत्र के रूप में संदेश को पाकर पथ्वीराज ने अपने राज्य का उत्तरदायित्व चामुण्ड राव को सौंप दिया और स्वयं कुछ पराक्रमी शूरवीरों और चंदबरदायी को साथ लेकर समुद्रशिखर की ओर प्रस्थान किया।

समुद्रशिखर में एक साथ दो-दो बरातों के आने से कोलाहल सा मच गया। पद्मावती को जब पथ्वीराज के वहाँ पहुँचने की सूचना मिली तो वह श्रंगार करके तथा अपनी सखियों को लेकर पहले से ही निर्धारित स्थान शिव मंदिर में पहुँच गई। पथ्वीराज ने उसका हाथ पकड़कर उसको घोड़े पर बिठाया और तीव्र गति से दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। राजा विजयपाल को जब इस घटना की सूचना मिली तब समुद्र-शिखर की सेना और पद्मावती के मंगेतर कुमोदमणि की सेना ने पथ्वीराज का पिछा किया। पथ्वीराज की सेना के साथ भीषण युद्ध हुआ किंतु इस युद्ध में पथ्वीराज को ही विजय प्राप्त हुई और वह पद्मावती को लेकर दिल्ली आ गया।

दिल्ली पहुँते ही पथ्वीराज को शहाबुद्दीन गौरी के दिल्ली पर आक्रमण की सूचना मिली। पथ्वीराज के साथ गौरी का भयंकर युद्ध हुआ। उसकी सेनाएँ गौरी पर टूट पड़ी और उसे बंदी बना लिया गया। चन्दबरदायी ने उस अवसर का चित्र अंकित करते हुए लिखा है-

गही लेग चहुआंन हिन्दवान शनं।
गज जूथ काप के हरी समानं।
करे दण्ड मुण्डं करी कुम्भ फारे।
घरं सूद सामंत हूकि गर्ज मारे।
गिरहं उड़ी भांन अन्धार रैनं।

गई सूधिसुझझै नहि मानिक नैंनं।
हिरं नाथ कम्यान प्रकिराज राजं।
पकरि के साई जिभि कुलिंग बाज।

शत्रु को पराजित करने के पश्चात् उसे बंदी बना लेने के पश्चात् पथ्वीराज ने अष्टभुजा देवी के मंदिर में जाकर पद्मावती के साथ विधि-विधान के साथ विवाह कर लिया। कवि कहता है-

वर गोरी पद्मावती गाह कोरी सुरतांन।
निकट नगर दिल्ली गय अटूठभुज चाहुआंन।

मोहम्मद गौरी से दण्ड के रूप में आठ हजार घोड़े लेकर उसे मुक्त कर दिया और नवविवाहिता पद्मावती को साथ लेकर अपने दुर्ग में प्रवेश किया। पथ्वीराज के द्वारा यहाँ पर विजयोत्सव मनाया गया संक्षेप में 'पद्मावती समय' की यही कथा है। 'पद्मावती समय' की कथा के प्रस्तुतीकरण के आधार पर यह स्पष्ट है कि दिल्ली के राजा पथ्वीराज चौहान, शहाबुद्दीन गौरी, चामुण्ड राव तथा चंदबरदायी- ये 'पद्मावती समय' के ऐतिहासिक पात्र हैं। समुद्रशिखर दुर्ग के राजा विजयपाल तथा पद्मावती के मंगेतर कुमोदमणि का इतिहास में कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। अतः इस आधार पर यह मानना ही उचित होगा कि ये पात्र कवि की कल्पना की देन है। जहाँ तक पथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी का संबंध है वे दोनों भारतीय इतिहास के प्रख्यात व्यक्तित्व हैं। चंदबरदायी भी पथ्वीराज के सामंत, मित्र तथा दरबारी कवि के रूप में विख्यात हैं। चामुण्ड राव का उल्लेख भी इतिहास ग्रंथों में प्राप्त होता है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि 'पद्मावती समय' में ऐतिहासिक और कल्पित दोनों प्रकार के पात्र हैं। 'पद्मावती समय' में वर्णित स्थानों की भी यही स्थिति है। पथ्वीराज की राजधानी दिल्ली एक प्राचीन ऐतिहासिक नगरी है। किंतु दिल्ली के अतिरिक्त दो अन्य नगरों का जो उल्लेख हुआ है वे वास्तविक न होकर कवि की कल्पना से प्रसूत हैं। समुद्रशिखर तो एकदम कल्पित नाम प्रतीत होता है।

पूरब दिस गढ़ गढ़पति समुद्र अति दुग्ग।
तहं सु विजय सुरराज पति जादू कुलह अभग्ग।।

जहाँ तक कूमायूँ का संबंध है यह नगर तो आज भी विद्यमान है किंतु कुमोदमणि की राजधानी यही नगर था या नहीं इसे प्रामाणिक रूप से नहीं जाना जा सकता।

सवालष्ण उत्तर सयल कमड गढ़ दूरंग।
राजत राज कुमारे मनि हचगल द्रिब्ब अभंग।

इसी प्रकार शहाबुद्दीन गौरी तथा पथ्वीराज के दिल्ली में होने वाले भीषण युद्ध तथा गौरी को बंदी बनाए जाने की घटना तो ऐतिहासिक है परन्तु इससे जुड़ी अन्य घटनाएँ संदिग्ध-सी जान पड़ती हैं। अतः यह स्वीकार करना उचित होगा कि कुमोदमणि के साथ पद्मावती की सगाई, उसकी बारात लेकर समुद्रशिखर में आना, विजयपाल और कुमोदमणि की सेनाओं का पथ्वीराज के सैनिकों के साथ युद्ध आदि घटनाएँ

निश्चय ही कल्पित हैं। ये घटनाएँ कवि-कल्पित होते हुए भी मुख्य ऐतिहासिक घटनाओं के साथ ऐसे घूल-मिल सी गई हैं कि ये वास्तविक प्रतीत होती हैं। कवि के वर्णन-कौशल ने कल्पित घटनाओं को भी इतने प्रभावशाली रूप में चित्रित किया है कि वे वास्तविकता का आभास देने लगी हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कल्पित घटनाएँ ऐतिहासिक घटनाओं के पूरक के रूप में ही प्रस्तुत की गई हैं।

'पद्मावती-समय' में ऐतिहासिक और काल्पनिक पात्रों, ऐतिहासिक और कल्पना प्रसूत घटनाओं के साथ-साथ कई काव्य-रूढ़ियों का भी सुन्दर रूप में समावेश हुआ है। सखियों के साथ खेलते हुए पद्मावती के बिम्बफल जैसे अधरों को देखकर तोते का उस पर झपटना, पद्मावती के द्वारा तोते को पकड़कर उसे सोने के पिंजरे में रखकर राम-राम सिखाना, तोते के द्वारा पथ्वीराज के सौन्दर्य और शौर्य का बखान तथा तोते से पथ्वीराज की प्रशंसा सुनकर पद्मावती के मन में पथ्वीराज के प्रति प्रेमोदय, व्याकुल पद्मावती के द्वारा तोते को पत्र देकर पथ्वीराज के पास भेजना- ये सभी वर्णन काव्य-रूढ़ि के अंतर्गत गिने जा सकते हैं। कवि चन्दबरदायी कहते हैं-

पद्मावती विलार्ष वर बाल बोली।
कही कीर सों बात तब हो अकेली।
झटं जाहु तुम कीर दिल्ली सुदेसं।
वरं चहुआंन जु आजौ नरेसं।

तोतों को पालकर उनके द्वारा संदेश भेजने का वर्णन अनेक कवियों के द्वारा किया गया है। चंदबरदायी ने भी 'पद्मावती समय' में इस काव्य-रूढ़ि का बहुत ही मार्मिक एवं प्रभावशाली वर्णन किया है। इसी प्रकार पद्मावती और पथ्वीराज का शिव-मंदिर में मिलन तथा पथ्वीराज द्वारा पद्मावती का अपहरण भी काव्य-रूढ़ि का ही प्रयोग है। पद्मावती और पथ्वीराज का विवाह भी अष्टभुजा देवी के मंदिर में सम्पन्न होता है, यह भी एक काव्य-रूढ़ि है।

'पद्मावती समय' के संबंध में उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कवि ने एक-दो ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर अनेक कल्पित किंतु रोमांचक घटनाओं का इस में समावेश कर दिया है जिससे यह प्रसंग सरस एवं प्रभावशाली बन गया है। इतना ही नहीं काव्य-रूढ़ियों के समावेश ने तो 'पद्मावती समय' की सरसता और रोचकता को और भी बढ़ा दिया है। घटनाओं के वर्णन की कुशलता तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण की कला के साथ-साथ कथा-वस्तु के संगठन के कारण 'पद्मावती समय' को 'पथ्वीराज रासो' का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंश बन गया है। 'पद्मावती समय' को पढ़ते समय' प्रायः जायसी के अमरकाव्य 'पद्मावत' की बार-बार याद आती है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि 'पद्मावत' एक प्रेमाख्यानक काव्य है 'पद्मावती समय' एक वीरगाथात्मक काव्य का सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी अंश है। अंत में निश्चित रूप में संयोग हुआ है। कवि की कल्पनाएँ और काव्य-रूढ़ियों का समावेश निश्चय ही 'पद्मावती समय' के सौन्दर्य में वद्धि का कारण बने हैं। वे काव्य के पूरक है, अपकारक नहीं।

१०. पथ्वीराज का चरित्र-चित्रण

१. पथ्वीराज चौहान इस कथा का नायक है। सारा कथानक इनके इर्द-गिर्द घूमता है। उसके पिता का नाम सांभर नरेश सोमेश्वर है। कवि ने उसकी आयु केवल १६ वर्ष बताई है। वह दिल्ली का एक वीर और प्रतापी राजा है। शुक उसे पद्मावती के समक्ष इन्द्र का अवतार कहता है। वह कामदेव के समान सुन्दर और रूपवान है। शुक उसका परिचय देता हुआ कहता भी है कि उसके समान्य प्रभावी व्यक्तित्व का कोई है ही नहीं-

'कामदेव अवतार हुअ, सुअ सोमेसर नन्द।
सास-किरन झलहल कमल, रति समीप वर बिन्द।।''

२. आदर्श नायक- कवि ने पथ्वीराज को महाकाव्योचित नायक सिद्ध करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि चन्दबरददाई ने उसके रूप-सौन्दर्य का अधिक वर्णन नहीं किया, बल्कि वह उसके शौर्य और साहस का अधिक वर्णन करता है। उसकी भुजाएं घुटनों तक लम्बी हैं तथा वह अचूक शब्द-भेदी बाण चलाने में निपुण है। वह बड़ा दानी, शीलवान् साहसी, दढ़ प्रतिज्ञ तथा धैर्यवान् योद्धा है। उसने गजनी के बादशाह शहाबुद्दीन गौरी को युद्ध में तीन बार हराकर कैद किया और फिर अभयदान देकर छोड़ दिया। कितना प्रभावी स्वरूप है।

''वैसह बरीस षोड्स नरिन्दं, आजनु बाहु भुअलोक यंदं।
+ + +
जिहि पकरि साह साहाब लीन, तिहुं बेर करिल पानीप हीन।
सिंगिनि सुसद्द गुने चढ़ि जंजीर, युक्के न सबद बेधन्त तीर।।
+ + +
बल बैन करन जिमि दान मानं, सत सहस सील हरिश्चन्द समान।
साहस सुकम विकम जु वीर, दांनव सुमत अवतार धीर।।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पथ्वीराज एक सर्वगुण सम्पन्न नायक है। यदि वह कामदेव के समान सुन्दर है तो वह वीर और प्रतापी भी है। नायक के इन्हीं गुणों को सुनकर पद्मावती उस पर आसक्त हो जाती है।

३. वीरता की साक्षात् मूर्ति- पथ्वीराज वीरता का तो साक्षात, अवतार दिखाई देता है। युद्ध क्षेत्र में ही पाठक उसकी वीरता को जान पाता है। वह पद्मावती का हरण कर उसे अपने घोड़े पर बिठाकर दिल्ली की ओर जा रहा था। थोड़ी दूर जाने पर ही शत्रुओं के घुड़सवारों ने उसे चारों ओर से घेर लिया। यह देखकर पथ्वीराज अपने घोड़े की लगााम मोड़कर पीछे चल पड़ा और उसने अपनी तलवार के वे जौहर दिखाए, उसे देखकर मानो सूर्य भी रुक सा गया। धरती कांपने लगी और शेषनाग बेचैन हो उठा। उसे शत्रुओं को पथ्वीराज काल के समान दिखाई देने लगा। कवि लिखता भी है-

''उल्टी जु राज पथिराज बाग।
थकि सूर गगन धर धसत नाग।।

सामन्त सूर सब काल रूप।
गहि लोह बाहै सुभूप।।''

इसी प्रकार से गौरी के साथ युद्ध करते समय भी पथ्वीराज का वीर रूप हमारे समक्ष उभर कर आता है। जब वह म्यान से अपनी तलवार को बाहर निकालता है तब ऐसा लगता है कि मानो काले बादलों में बिजली चमक गई हो। वह दुश्मन के हाथियों पर ऐसे टूट पड़ता है जैसे सिंह ने हाथियों पर हमला किया हो। उसकी वीरता का वर्णन करते हुए कवि लिखता है-

''गही तेग चहुंवान हिन्दवांन रानं।
गजं जूथ परि कोप केहरि समानं।।
करे रूंड मुंड करी कुम्भ फारे।
वरं सूर सामन्त हुकि गर्ज भारे।।''

४. दुर्द्धर्ष योद्धा- पथ्वीराज एक दुर्द्धर्ष योद्धा है। युद्ध क्षेत्र में ही उसके दुर्द्धर्ष योद्धा होने के प्रमाण मिल जाते हैं। वह शत्रुओं पर आक्रमण करके उनके मान अभिमान को कुचल डालता है। जब युद्ध क्षेत्र में घमासान युद्ध होता है। और धूल उड़ने से रात सा अंधेरा छा जाता है वह गौरी की गर्दन में अपना धनुष डालकर उसे कैद कर लेता है। वह इतना शौर्यवान् योद्धा है कि एक साथ सुद्रशिखर के राजा विजय और कुमायूं के राजा कुमोदमणि पर विजय प्राप्त कर गौरी पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। कवि उसके असीम साहस का वर्णन करते हुए लिखता है कि-

''गिरद्दं उड़ी भानं अंधार रैनं।
गई सूधि, सुझझै नहीं मझ्झि नैनं।।
सिर नाय कम्मान पथराज राजं।
पकरिये साहि जिम कुलिंग बाजं।।''

५. उदात्त सागर- इस खण्ड काव्य के अन्तिम भाग में पथ्वीराज का धीरोदात्त नायक रूप हमारे सामने उभर कर आता है। दिल्ली पहुंच कर वह विधिवत पद्मावती के साथ विवाह करता है और फिर याचकों को दान देकर उन्हें सम्मानित करता है। यही नहीं वह अपने शत्रु शहाबुद्दीन को केवल ८००० घोड़ों का दण्ड देकर मुक्त कर देता है। यह उसकी उदारता का ही परिचायक है। भले ही इतिहासकारों ने पथ्वीराज की निन्दा की है लेकिन पथ्वीराज ने प्राचीन भारतीय परम्परा का पालन करते हुए शहाबुद्दीन गौरी को प्राणदान देकर छोड़ दिया। इस सम्बन्ध में कवि लिखता भी है-

''बोलि विप्र सीधे लगन्न, सुभ घरी परट्ठिय।
हरि बांसह मंहर बनाय, करि थांवरि गंठिय।।
ब्रह्म वेद उच्चरहिं, होम चौरी जु प्रति वर।
पद्मावती दुलहिन अनूप, दुल्लह पथिराज नर।।''

इस प्रकार पथ्वीराज एक महान नायक है। जिसमें अपूर्व साहस, सौन्दर्य, दया, उदारता और देर दष्टि है।

११. पद्मावती का चरित्र-चित्रण-

पद्मावती'पद्मावती समय' की नायिका है। वह समुद्रशिखर के राजा विजय की पुत्री है। उसकी माता का नाम 'पद्मसेन' है। (पद्मावती) वह १० राजकुमारों की अकेली बहन है। वह चन्द्रमा की सोलह कलाओं के समान अनिन्द्य सुन्दरी है। उसकी चारित्रिक विशेषताओं का परिचय इस प्रकार से है-

१. परम सुन्दरी- कविवर चन्दबरदाई ने पद्मावती में पद्मिनी नायिका के सभी लक्षणों को घटाने का प्रयास किया है। एकनिष्ठ प्रेमिका होने के साथ-साथ वह अनिंद्य सुन्दरी भी है। वयःसन्धि को प्राप्त उसमें कलाएं हैं। वह १४ विद्याओं और वेदशास्त्र के ज्ञान से परिपूर्ण है। उस युग की अन्य नायिकाओं के समान उसमें वे सभी गुण हैं जो एक नायिका में होने चाहिए। कवि ने उसे सामुद्रिक शास्त्र शुभ लक्षणों से युक्त बताया है। काव्य के आरम्भ में ही कवि उसके अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि-

''मनहुं कला ससि भांन कला सोलह सौ बन्निय।
बाल बेस ससिता समीप, अंम्रिन रस पिन्निय।।
बिगसि कमल म्रिग भ्रमर, बैन, षंजन मग लुट्टिय।
हीर कीर अरू बिम्म, मोति नष सिनमदबलष अहि घुटिटय।
छप्पति गयन्द हरि हंस गति, बिह बनाय संचे सचिय।
पद्मिनिय रूप पद्मावतिय, मनहुं काम कामिनि रचिय।।''

२. विदूषी नायिका- ऊपर के पद्य में कवि ने पद्मिनी नायिका के सभी गुण गिनवाए हैं। शुक भी उसके अप्रतिम और अनिंद्य रूप देखकर उसे पद्मिनी नायिका घोषित करता है। केवल सुन्दर होने से कोई नायिका 'पद्मिनी' नायिका नहीं हो सकती। उसमें सामुद्रिक लक्षण होना भी जरूरी हैं इसलिए कवि ने उसके बारे में लिखा है-

''सामुद्रिक लच्छन सकल, चौंसठि कला सुजान।
जानि चतुरदस अंग पट, रत्ति बसन्त परमांन।।

कवि उसे पद्मिनी नायिका सिद्ध करने के लिए यह स्पष्ट करता है कि उसके शरीर से कमल की सुगन्ध उत्पन्न होती है। हंस की गति के समान वह मंद-मंद गति से चलती है। भ्रमर उस पर मंडराते हैं और उसके शरीर से सुगन्ध फूट-फूट पड़ती है। इसलिए वह एक पद्मगंधा नायिका है। कवि लिखता भी है-

''कमलगंध, वयसंध, हंसगति चलत मंद-मंद।
भमर भंवहि भुल्लहिं सुभाव मकरन्द बास रस।।''

३. मुग्धा नायिका- अवस्था की दष्टि से पद्मावती को एक मुग्धा नायिका कहा जा सकता है। वह अभी वयःसन्धि की अवस्था में है। इसका मतलब यह है कि अभी तक उसका बचपन पूरी तरह से गया नहीं। यौवन चोर दरवाजे से उसमें प्रवेश कर रहा है। जब वह तोते को देखती है तो उसे पकड़ कर सोने के पिंजरे में बंद कर देती है और

अपना सारा समय उसी के साथ बिताने लगती है। वह अपना खेल-कूद भूलकर तोते को राम-नाम सिखाने में लगी रहती है-

''सषियन संग खेलत फिरत, फिरत, महलनि बाग-निवास।
कीर इक्क दिष्षिय नयन, तब मन भयौ हुलास।।''
+ + +
तिही महल रष्णत भइय, गइय खेल सब भुल्ल।
चित्त चहुंट्यौ कीर सौं, राम पढ़ावत फुल्ल।।''

४. भावुक व्यक्तित्व- जब पद्मावती शुक के साथ रम जाती है तब शुक उसके सम्मुख पथ्वीराज के रूप, उसकी वीरता, प्रताप तथा शैर्य का वर्णन करता है। शुक उसे कहता है कि राजा सोमेश्वर का पुत्र पथ्वीराज ऐसा लगता है मानो स्वयं कामदेव ने उसके रूप में अवतार लिया हो। वह सूर्य के समान तेजस्वी और कामदेव के समान सुन्दर है। शुक के मुख से पथ्वीराज के बल और वैभव और रूप-सौन्दर्य की बातें सुनकर वह उस पर आसक्त हो जाती है। उसका मन करता है कि वह शीघ्र पथ्वीराज से मिले। कवि लिखता भी है-

''सुनत स्रवन प्रथिराज जस, उमग बाल विधि अंग।
तनम न चित्त चहुंवान पर, बस्यौ सु-स्त्रह रंग।।''

५. विरहिणी नायिका- अभी तक पद्मावती का रूप एक मुग्धा नायिका का था परन्तु शीघ्र ही वह बाल्यावस्था को छोड़कर यौवनावस्था में प्रवेश करती है। बेटी में यौवन के लक्षण देखकर माता-पिता को उसके विवाह की चिन्ता सताने लगती है। वे अपने कुल पुरोहित को भेजकर उसकी सगाई कुमायूं नरेश 'कुमोदमणि' से कर देते हैं। लेकिन पद्मावती तो मन से पथ्वीराज से प्रेम करती थी। वह विरहिणी नायिका के समान अपने मन चाहे वर पथ्वीराज की बड़ी व्याकुलता से प्रतीक्षा करती हैं यह विरहिणी का शुद्ध रूप नहीं है। उसके मन में तो एक ही डर है कि कहीं उसका विवाह कुमोदमणि के साथ न हो जाए, क्योंकि कुमोदमणि बारात लेकर समुद्रशिखर आ पहुंचा है। इसलिए वह शुक के साथ पत्र भेजकर पथ्वीराज को निश्चित तिथि पर आने का आग्रह करती है। ऐसा करते समय वह अपनी वंश-मर्यादा, पिता का सम्मान और लोकापवाद की परवाह नहीं करती।

पद्मावती का विरहिणी रूप हमारे सामने उस समय उभर कर आता है जब कुमोदमणि के साथ उसकी सगाई हो जाती है और बारात आने का उसे समाचार मिल जाता है। पत्र लेकर शुक दिल्ली चला गया। उधर नगर से बाहर बारात पहुंच चुकी थी। उधर पद्मावती दुःख में उुबी हुई शुक के लौटने की प्रतीक्षा करने लगी। मैले कपड़े पहने रोती हुई झरोखे में बैठी वह एक टक दष्टि बांधे दिल्ली की ओर से आने वाले मार्ग को देख रही थी। कवि उसकी विरह व्यथा का वर्णन करते हुए लिखता है-

''विलषि अवास कूंवर बरन, मनो राहु छाया सुरत।
झंषति गवषि पल-पल पलकि, दिषित पंथ दिल्ली सपति।।''

पद्मावती दिल्ली की ओर से आने वाले मार्ग पर लगातार आंखें गड़ाए देख रही थी। जब वह शुक उसे आकर मिला तो वह प्रफुल्लित हो उठी। शुक के मुख से पथ्वीराज का संदेश सुनकर उसके नेत्र आनन्द से भर गए। कवि लिखता भी है-

''दिष्षत पंथ दिल्ली दिसांन।
सुष भयौ सूक जब मिल्यौ आंन।।
सन्देस सुनत आननद नैन।
उमगिय बाल मनमथ्थ सैन।।

६. आदर्श प्रेमिका- पद्मावती एक क्षत्रिय की बेटी है। पथ्वीराज के प्रति उसका प्रेम एकनिष्ठ है। संकट की घड़ी में वह बुद्धि और साहस दोनों का प्रयोग करती है। जब वह देखती है कि कुमोदमणि से उसका विवाह होने जा रहा है तो वह शुक को पत्र देकर उसे तत्काल दिल्ली भेज देती है। यहीं नहीं वह पत्र में यह भी लिख देती है कि किस तिथि को उसका विवाह हो रहा हैं वह पथ्वीराज को आग्रह करती है कि उसी तिथि को वह मंदिर में आकर उसका हरण कर ले। यह सारी योजना वह स्वयं बनाती है। इससे पता चलता है कि वह एक साहसी है और पथ्वीराज के प्रति उसका एकनिष्ठ प्रेम है। जब शुक उसे पथ्वीराज के आने का समाचार सुनाता है तो वह आनन्दित हो उठती है। तब वह अपनी विरहावस्था भूल जाती है। तब वह मैले वस्त्र उतारकर स्नान करती है और आभूषणों से सोलह श्रंगार करती है-

''तन चिकट चीर डार्यो उतारि।
मज्जन मयंक नवसत सिंगार।।
भूषन मंगाय नष सिनमदबलष अनुष।
सजि सेन मनो मनमथ्थ भूप।।''

वह सज-धज कर सखियों के साथ मंदिर में पूजा करने जाती है। पूजा के बाद वहां पथ्वीराज को देखकर उसकी तरफ मंद-मंद मुस्कान से देखती हुई हल्का सा घुंघट कर लेती है। इस प्रकार वह जहां एक और पथ्वीराज के प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त करती है वहीं दूसरी और उसे प्रेरित करती है कि वह उसका हरण कर ले।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पद्मावती एक महाकाव्योचित्त नायिका है। उसमें पद्मिनी नायिका के सभी गुण विद्यमान हैं। वह केवल अनुपम सुन्दरी ही नहीं, विदुषी भी है। एक क्षत्रिय कन्या होने के कारण संकट की घड़ी में वह असहाय होकर रोती नहीं, बल्कि बुद्धि और साहस का परिचय देकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करती है। निश्चय ही पद्मावती एक वीरांगना युवती है।

विद्यापति

(खण्ड-क)

आलोचना

अध्याय-1 विद्यापतिः जीवन परिचय
अध्याय-2 विद्यापतिः कृतित्व
अध्याय-3 विद्यापतिः भक्ति-भावना
अध्याय-4 विद्यापतिः भक्त या श्रं गारी
अध्याय-5 विद्यापतिः श्रं गार वर्णन
अध्याय-6 विद्यापतिः सौंदर्य-चेतना
अध्याय-7 विद्यापतिः गीति योजना
अध्याय-8 विद्यापतिः द ष्टकूट-पद
अध्याय-9 विद्यापति की भाषा

(खण्ड-ख)

व्याख्या

विद्यापति
खण्ड (क)
आलोचना

अध्याय-1
विद्यापतिः जीवन परिचय

संतों की विभूति यदि परोपकारार्थ होती है तो कलाकार की कला लोकानुरंजन के लिए समर्पित होती है। कवि और लेखक अपनी साहित्याकृति की अनुपमता के लिए लालायित रहते हैं। उनके व्यक्तित्त्व का प्रकाशन कदाचित् साहित्य में परिव्याप्त हो जाए, परन्तु अपने जीवन पर प्रकाश डालना उनकी नियति नहीं रहती है। इसे शायद वह औचित्यपूर्ण नहीं समझते।

यही कारण है कि प्राचीन काल से ही कालिदास, भास, तुलसीदास आदि ने विस्त त साहित्य का स जन करने के उपरान्त भी आत्मव त्त को अप्रस्तुत रखा। जब उनका साहित्य जन-जन के हृदयों का कंठाहार बन जाता है तो स्नेही, श्रोता और श्रद्धालु पाठक उनके जीवन के विषय में जिज्ञासा अवश्य व्यक्त करते हैं। शोधार्थी अंतः साक्ष्यों व बाह्य साक्ष्यों के आधार पर उनके जीवन-विषयक तथ्यों को अवश्य उजागर करने का प्रयास करते हैं। यही कथन मिथिला के अमर गीतकार कविवर विद्यापति ने प्रत्यक्षतः कुछ भी नहीं लिखा, परन्तु शोधार्थियों की गहन जिज्ञासा के कारण जो तथ्य प्राप्त होते हैं उन्हीं के आधार पर महाकवि विद्यापति के जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता है।

जन्म स्थान

मैथिल-कोकिल कवि विद्यापति के जन्म एवं म त्यु के संबंध में कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं, कुछ किंवदंतियों एवं स्फुट पदों के आधार पर ही इसकी विवेचना की गई है। महाकवि विद्यापति का जन्म मिथिला प्रांत में दरभंगा जिले के बेनीपट्टी थाने के अंतर्गत 'बिसफी' नामक गांव में हुआ था। इस गांव में अनेक टीले थे और जिस टीले पर महाकवि का जन्म हुआ था, उसे 'गढ़बिसफी' कहते हैं। गढ़ से संबंध है कि हो सकता है वहाँ किसी राजा का गढ़ रहा हो। इसी ग्राम में विद्यापति के पूर्वजों का भी निवास था। टीले से पश्चिम की ओर एक तालाब था, जिसमें विद्यापति के घर की स्त्रियां सुरंग-मार्ग द्वारा स्नान करने जाया करती थीं। यह बिसफी गाँव महाकवि विद्यापति को उनके आश्रयदाता राजा शिवसिंह की ओर से, दान-स्वरूप प्राप्त हुआ था, जिसका प्रमाण ताम्रपत्र के रूप में प्राप्त हुआ है। दान-पत्र का संबंधित अंश द्रष्टव्य है-

> **".... श्रीमच्छिवसिंहदेवपादाः समरविजयिनो जरैल तप्यामां विसपीग्रामवास्तव्यसकललोकान् भूकषश्चि समादिशंति ज्ञातमस्तु भवताम्। ग्रामो यमस्याभिः सप्रक्रियाभिनवजयदेवमहाराजपंडितठक्कुर श्रीविद्यापतिभ्यः शासनीकृत प्रदत्त ....।"**

दूसरी ओर, निम्नलिखित पद भी इस कथन की पुष्टि करता है-

पंच गौडाधिप सिवसिंध भूप, कृपाकरि लेल निज पास।
विसपी ग्रामदान कएल मोहि, रहइल राजस निधान।।

विद्यापित तथा उनके वंशधर बहुत दिनों तक इसी गाँव में बसते रहे किन्तु चारपुश्त पहले वे इस गाँव को छोड़कर इसी जिले के 'सौराठ' नामक गाँव में बस गए थे। अंग्रजी शासन से पहले वे लोग इस गाँव का उपभोग, लखिराज के रूप में करते थे किन्तु अंग्रेजी शासन द्वारा पैमाइश होने के समय इस गाँव का स्वामित्व इनके वंशधरों से छीन लिया गया। उस समय इनके वंशधरों में अपना स्वामित्वसिद्ध करने के लिए उपर्युक्त ताम्रपत्र पेश किया था।

ग्रियर्सन इस ताम्रपत्र को जाली बताते रहे। किन्तु महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री तथा अन्य बंगीय अनुसंधानकर्त्ताओं ने इस दान-पत्र को प्रामाणिक माना है। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि महाराज शिवसिंह ने 'विसफी' गाँव इन्हें अवश्य दिया था और यही इनका जन्म स्थान है।

जन्मतिथि

प्राचीन कवियों की तरह विद्यापति की जन्मतिथि के विषय में आज भी कोई सर्वथा प्रामाणिक आधार नहीं है। उनकी रचनाओं, बाह्य प्रमाणों, जनश्रुतियों, शिलालेखों तथा स्फुट पदों के आधार पर ही इसकी विवेचना करना संप्रति संभव है।

शकाब्द लक्ष्मणाब्द 293 या 1324 में देवसिंह मरे थे, उसी साल शिवसिंह राजगद्दी पर बैठे थे और छः महीने पश्चात् उन्होंने विद्यापति को 'बिसफी' गाँव उपहार में दिया था।

बाबू ब्रजनंदन सहाय ने 'मैथिल-कोकिल विद्यापति' ग्रंथ में लिखा है कि "बिसफी गाँव प्राप्त करने के समय विद्यापति की अवस्था केवल बीस वर्ष की थी - इसके पहले सोलह वर्ष की आयु में विद्यापति ने 'कीर्तिलता' नाम की पुस्तक लिखी।

शिवसिंह गद्दी पर बैठने के तीन वर्ष पश्चात् ही मुसलमानों से युद्ध करते हुए पराजित होकर किसी अज्ञात स्थान में चले गए, जहाँ से वे पुनः नहीं लौटे - संभवतः वे उसी युद्ध में मारे गए। इससे यह सिद्ध होता है कि शिवसिंह और विद्यापति की संगति कुल तेईस वर्ष की अवस्था तक रही।

डॉ० उमेश मिश्र के कथानुसार विद्यापति के पिता श्री गणपति ठाकुर राजा गणेश्वर के सभासद थे। वे अपने पिता गणपति ठाकुर के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में आते-जाते थे। उस समय विद्यापति की उम्र अवश्य ही 10 या 11 वर्ष रही होगी। विद्यापति रचित कीर्तिलता पुस्तक महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल-दरबार के पुस्तकालय में देखी थी। विद्यापति की कीर्तिलता के आधार पर राजा गणेश्वर, लक्ष्मण संवत् 252 में असलान द्वारा मारे गए थे। अतः उनका जन्म लक्ष्मण संवत् 242 के आसपास अर्थात् सन् 1360 के लगभग माना जा सकता है।

नागेन्द्र गुप्त की मान्यतानुसार विद्यापति के प्रमुख आश्रयदाता राजा शिवसिंह थे जिनका जन्म लगभग लक्ष्मण संवत् 243 माना गया है। यह भी सिद्ध किया गया है कि राजा शिवसिंह 50 वर्ष की अवस्था में राजगद्दी पर बैठे थे और विद्यापति उनसे दो वर्ष बड़े थे। अतः शिवसिंह के राज्यारोहण के समय विद्यापति की अवस्था 52 वर्ष थी। इस आधार पर भी विद्यापति का जन्म लक्ष्मण संवत् 241 अर्थात् सन् 1360 के आसपास होना चाहिए।

'कीर्तिलता' में विद्यापति ने स्वयं को 'खेलन' कवि' कहा है इससे यह सिद्ध होता है कि विद्यापति कीर्तिसिंह या वीरसिंह की द ष्टि में अल्पवयः के साथ-साथ खेलने के योग्य रहे होंगे। इन सभी

बातों से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि विद्यापति लक्ष्मण संवत् 252 में लगभग 10 वर्ष के थे। 'कीर्तिलता' विद्यापति की प्रारम्भिक रचना है जो उन्होंने लगभग 20 वर्ष की आयु में लिखी होगी। राजा गणेश्वर की म त्यु लक्ष्मण संवत् 252 में हुई थी। इस आधार पर भी विद्यापति का जन्म सन् 1390 के लगभग स्वीकार्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल संवत् 1460 वि० (सन् 1403 ई० और लक्ष्मण संवत् 294) में विद्यापति का राजा शिवसिंह के दरबार में होना स्वीकार करते हैं। यह प्रसिद्ध है कि राजा शिवसिंह 50 वर्ष की आयु में सिंहासनारूढ़ हुए थे, और इन्होंने केवल 3 वर्ष और 9 महीने तक राज्य किया था। अतः इनके राज्यकाल की सीमा अधिक-से-अधिक संवत् 1463 वि० (सन् 1406 ई०) और कम-से-कम संवत् 1457 वि० (सन् 1400 ई०) हो सकती है। चूँकि पदावली की रचना राजा शिवसिंह के संरक्षण में ही हुई थी, अतः सिद्ध होता है कि विद्यापति शिवसिंह के राज्यारोहण के कुछ समय पश्चात् ही उसके संरक्षण में आ गए थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार राजा शिवसिंह का राज्याभिषेक सन् 1403 ई० के लगभग हुआ था। अतः विद्यापति का जन्म-काल इनके अनुसार सन् 1351-1353 के मध्य है, क्योंकि 50 वर्ष की आयु में राजा शिवसिंह का सिंहासनारूढ़ होना प्रसिद्ध है।

इस प्रकार डॉ० उमेश मिश्र, पंडित शिवनंदन ठाकुर, डॉ० विमान बिहारी मजूमदार तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार विद्यापति का जन्मकाल क्रमशः 1360 ई०, 1351 ई०, 1320 ई० और 1351-1353 ई० के मध्य है।

डॉ० देशराज सिंह भाटी का मत है कि विद्यापति का जन्म सन् 1359 ई० के लगभग हुआ होगा।

हमारा अनुमान है कि विद्यापति का जन्म सन् 1359 ई० के लगभग हुआ होगा, क्योंकि जब शिवसिंह का अभिषेक सन् 1411 ई० में हुआ, तब शिवसिंह की आयु 50 वर्ष की थी, अतः उनकी जन्मतिथि सन् 1361 ई० के लगभग हुई। विद्यापति शिवसिंह से दो वर्ष बड़े थे, अतएव विद्यापति की जन्मतिथि सन् 1359 ई० के लगभग हुई। इस तिथि के अनुसार विद्यापति की आयु 87 वर्ष के लगभग सिद्ध होती है, जो निस्संदेह एक लंबी आयु कही जा सकती है।

प्रारंभिक जीवन

विद्यापति के पिता गणपति ठाकुर राजा गणेश्वर के सभासद थे। इनकी माता का नाम 'हांसिनी देवी' था।

वह पिता धन्य है, जिसे ऐसा पुत्ररत्न प्राप्त हुआ था। वह माता भी धन्य है, जिसने ऐसे पुरुषरत्न को अपने गर्भ में धारण किया था। बिसफी गाँव का प्रत्येक कण पुण्यमय और धन्य है, जहाँ ऐसे कविकोकिल ने अपना जीवन व्यतीत किया था।

गणपति ठाकुर ने कपिलेश्वर महादेव की आराधना करके विद्यापति सा पुत्ररत्न प्राप्त किया था।

विद्यापति ने सुप्रसिद्ध हरिमिश्र से विद्याध्ययन किया था और उनके भतीजे सुख्यात पक्षधर मिश्र इनके सहपाठी थे। विद्यापति अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में आते-जाते थे।

गणेश्वर के बाद कीर्तिसिंह राजा हुए। विद्यापति उनके दरबार में आने-जाने लगे। इन्होंने अपना प्रारंभिक ग्रंथ 'कीर्तिलता' कीर्तिसिंह के दरबार में राजा कीर्तिसिंह के नाम से ही रचा था।

'कीर्तिलता' कवि की तरुण वयस की रचना है। भाषा संस्कृत प्राकृत-मिश्रित मैथिली है। कवि ने इस भाषा का नामकरण 'अवहट्ठ' भाषा किया है। 'कीर्तिलता' के प्रथम पल्लव में कवि ने स्वयं कहा है-

''देसिल बयना सब जन मिट्ठा।
ते तैसन जम्पओ अवहट्ठा।।''

'देशी भाषा सबको मीठी लगती है, यही जानकर मैंने अवहट्ठ भाषा में इसकी रचना की है।'

कीर्तिलता की रचना के समय कवि अपनी काव्य-कुशलता के लिए बहुत प्रसिद्ध हो गए थे। इनकी देशी भाषा पर सभी मुग्ध थे। इनका प्रतिद्वंदी उस अवस्था में कोई नहीं था। ये अभिमान के साथ पुस्तक के प्रथम पल्लवन में लिखते हैं-

''बालचंद बिज्जावई भाषा। दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर-सिर सोहइ। इनिच्चय नायर मन मोहइ।।''

'बाल-चन्द्रमा और विद्यापति की भाषा - इन दोनों पर दुष्टों की हँसी लग नहीं सकती। वह (बाल-चन्द्रमा) देवता के रूप में शिव के सिर पर शोभा देता है और यह (विद्यापति की भाषा) निश्चयपूर्वक नागरों का - सचतुर भाषा-पंडितों का मन मोहती है।'

इस पद के एक-एक शब्द से कवि का अभिमान टपकता है। 'जयदेव' के समान इन्हें भी अपनी भाषा पर नाज था। बात भी ठीक है। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि भाषा की मिठास और कोमला की द ष्टि से तो इनका कोई भी प्रतिद्वंदी हिन्दी साहित्य में नहीं है।

परिवार

विद्यापति के बेटे का नाम 'हरपति' था। इनके एक पद में उसका नाम भी आया है। इनकी एक कन्या थी। मिथिला में यह प्रवाद है कि इनकी लड़की का नाम दुलही था। विद्यापति ने अनेक ऐसे पद बनाए हैं, जिनमें पति-ग ह गमन के समय कन्या को उपदेश दिया गया है। इन पदों में 'दुलही' शब्द आया है।

दुलही का अर्थ नववधू भी होता है। न मालूम, क्या रहस्य है। मिथिला के व द्ध ब्राह्मण के घर में एक पद प्राप्त हुआ है, जिससे सिद्ध होता है कि इनकी लड़की का नाम 'दुलही' था। अंतिम काल में ये कहते हैं-

'दुल्लहि, तोहर कतय छथि माए।
कहुन ओ आबयु एखन नहाए।।'

'दुलही' तुम्हारी माँ कहा हैं? कहो न, वे इस समय स्नान कर आवें।

दरभंगा के वर्तमान राजघराने में 'नरपति ठाकुर' नामक राजा हुए हैं। उनके दरबार में 'लोचन' नामक कवि थे। लोचन ने 'रागतरंगिणी' नामक पुस्तक का संकलन किया था। उसमें उसने विद्यापति के बहुत से पद रखे हैं।

'रागतरंगिणी' में एक कविता 'चन्द्रकला' नामक एक रमणी की बनाई हुई है। लोचन कवि ने इस कविता पर टिप्पणी की है - 'इतिश्रीविद्यापतिपुत्रवध्वाः। इससे पता चलता है कि 'चन्द्रकला' विद्यापति की पतोहू थी।

वंश-विवरण

विद्यापति मैथिल ब्राह्मण थे। इनका मूल 'बिसईबार' और आस्पद ठाकुर था। इनके पिता गणपति ठाकुर थे, एवं माता का नाम हांसिनी देवी था। मिथिलावासियों में पंजी-प्रथा का प्रचलन है। सभी मैथिल ब्राह्मण और कर्ण कायस्थों के नाम पुश्त-दर-पुश्त एक पोथी में लिखे जाते हैं। इस पोथी को ही पंजी कहा जाता है।

इसी पंजी से ज्ञात होता है कि 'गढ़बिसफी' में कर्मादित्य त्रिपाठी नामक ब्राह्मण रहते थे। ये राजमंत्री थे। ये विद्यापति के वंश के आदि पुरुष 'विश्वकर्मा ठाकुर' के पोते थे।

कर्मादित्य के पश्चात् इनके वंश में जितने सत्पुरुषों ने जन्म ग्रहण किया सभी तत्कालीन मिथिला के राजदरबार में उच्च पदों पर काम करते रहे। किसी को 'महामहत्तक की उपाधि प्राप्त हुई, तो किसी को 'सांधिविग्रहिक' की।

इनका वंश अपनी विद्वता और बुद्धिमत्ता के कारण उस समय मिथिला में बेजोड़ था। इनके वंश में कितने ही लेखक और कवि भी हुए हैं। कर्मादित्य के पोते बिरेश्वर ठाकुर ने 'छांदोग्य-दशकर्म-पद्धति' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। अभी तक इसी पुस्तक के आधार पर बिहार में दशकर्म किए जाते हैं। वीरेश्वर के सहोदर भाई धीरेश्वर महावार्तित नैबंधिक नाम से प्रख्यात थे। वीरेश्वर के पुत्र चंडेश्वर ने 'कृत्य-चिंतामणि, विवाद-रत्नाकार', 'राजनीति रत्नाकार' आदि सप्त रत्नों की रचना की। राजनीति रत्नाकार एक अत्यंत बहुमूल्य ग्रंथ है।

विद्यापति के पिता भी स्वयं राजमन्त्री एवं एक अच्छे कवि थे। उन्होंने 'गंगा-मणि-तरंगिणी' नामक पुस्तक लिखी थी। इस प्रकार कवि का वंश सरस्वती का कृपा-पात्र रहा है। इनके पूर्वज राज्य-कार्य में चातुर्य दिखलाने के साथ ही सरस्वती सेवा से कभी पीछे नहीं हटे। ऐसे योग्य वंश में जन्म ग्रहण करने के कारण विद्यापति में ऐसी प्रतिभा तथा काव्य-कुशलता का होना स्वाभाविक ही था।

उपाधियाँ

हिन्दी में आजकल प्रत्येक कवि अपना एक-एक उपनाम रखता है किन्तु प्राचीन हिन्दी-कवियों में भी उपनाम देखे जाते हैं। आजकल के उपनाम और प्राचीन समय के उपनाम में एक गहरा भेद है। कोई राजा या प्रसिद्ध व्यक्ति, कवि की काव्य-कुशलता देखकर उसी के अनुसार उपाधि प्रदान करता था। वही उपाधि कवि का उपनाम होती थी। प्राचीन हिन्दी-कवियों में 'बिहारी' 'भूषण' आदि जो उपनाम होते थे वे सब राज-प्रदत्त उपाधियाँ हैं।

विद्यापति को भी कई उपाधियाँ प्राप्त हुई थीं। 'अभिनव जयदेव' की उपाधि तो सर्वप्रसिद्ध है। 'बिसफी' गाँव का जो ताम्रपत्र है, उसमें भी विद्यापति 'अभिनव जयेदव' कहे गए हैं। यह उपाधि उन्हें स्वयं शिवसिंह ने दी थी। विद्यापति इस उपाधि के सर्वथा योग्य भी थे।

जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में, मधुर श्रंगार वर्णन में जयदेव का जोड़ नहीं है उसी प्रकार इस विषय में विद्यापति भी भाषा-साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखते। इसी उपाधि से इन्होंने कुछ कविताएँ भी की हैं-

'सुकवि नवजयदेव भनिअ रे।
देवसिंह नरेन्द्रनन्दन।
सेतु नरवइ कुलनिकन्दन।
सिंह सम सिवसिंह राया।

सकल गुनक निधान गनिअ रे।।'

इनकी दूसरी उपाधि 'कविशेखर है। इस नाम से भी इनकी बहुत सी रचनाएँ हैं।

'कविकंठहार' और 'कविरंजन' इन दोनों नामों से भी इनकी कविताएँ हैं।

'दशावधान' और 'पंचानन' की उपाधियाँ भी इनकी कही जाती हैं। कुछ कविताएँ = चम्पति का विद्यापति चम्पई के नाम से भी हैं। 'दशावधान' नाम से कुछ कविताएं भी है। विद्यापति को यह उपाधि दिल्लीश्वर ने दी थी।

आश्रयदाता

मिथिला ने सर्वप्रथम ऐतिहासिक नरेश राजा नान्यदेवा थे। इन्होंने और इनके पूर्वजों ने मिथिला पर 229 वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद मिथिला का राज्य ब्राह्मणों के अधिकार में आ गया। ये मैथिल ब्राह्मण 'ओइनी' ग्राम के उपार्जक थे, इसीलिए इन्हें 'ओइनिवार ब्राह्मण' कहा जाता है। इन ब्राह्मणों के सर्वप्रथम राजा राजपंडित सिद्धकामेश्वर थे, जिन्होंने राज्य के प्रति वीतरागी होकर राज्य का भार अपने ज्येष्ठ पुत्र योगीश्वर को दे दिया था। योगीश्वर ने 33 वर्ष तक राज्य किया। योगीश्वर के पश्चात् गणेश्वर मिथिला के सिंहासन पर आरुढ़ हुए। इन्होंने 11 वर्ष तक राज्य किया। ये अत्यंत सफल, नीति-निपुण वं सर्वगुण-सम्पन्न राजा थे। इनके तीन पुत्र हुए - वीरसिंह, कीर्तिसिंह और राजसिंह। वीरसिंह के युद्ध में वीरगति को प्राप्त होने के कारण कीर्तिसिंह मिथिला के राजा बने। चूँकि इन तीनों की कोई संतान नहीं थी, इसीलिए कीर्तिसिंह ने राज्य अपने चचेरे भाई देवसिंह को दिया। देवसिंह महाराज भवसिंह की दूसरी रानी के पुत्र थे। देवसिंह ने 'गरुड़ नारायण' की उपाधि धारण करके शासन चलाया और दरभंगा को अपनी राजधानी बनाया। विद्यापति ने अपनी संस्कृत-रचना 'भूपरिक्रमा' इन्हीं के शासन काल में लिखी। इस कृति में देवसिंह की प्रजावत्सलता और दानवीरता की अनेक स्थलों पर प्रशंसा की गई है।

शिवसिंह और पद्मसिंह ये दो देवसिंह के पुत्र थे। शिवसिंह बड़े थे, अतः देवसिंह के बाद ये ही मिथिला के राजसिंहासन पर बैठे थे। इन्होंने 'रूपनारायण' का विरूद धारण किया। इनकी अनेक रानियाँ थीं जिनमें लखिमादेवी का विशेष स्थान था। इनके बारे में कहा जाता है कि इन्होंने अनेक संस्कृत-ग्रन्थों की रचना की। इनके पांडित्य के विषय में मिथिला में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। एक किंवदंती यह है - लखिमा देवी के पांडित्य की प्रशंसा सुनकर कोई दार्शनिक इनसे शास्त्रार्थ करने के लिए चला। जब वह आ रहा था तो दासी का वेश बनाकर लखिमा देवी उससे मार्ग मे ही एक घड़ा लेकर मिलीं और उसे घूर-घूर कर देखने लगीं। उसके इस व्यवहार से असंतुष्ट होकर दार्शनिक ने कहा-

'किं मां निरीक्षसि घटेन कटिस्थितेन,
वक्त्रेण चारुपरिमीलितलोचनेन।
अन्यं निरीक्ष पुरुषं तव कार्ययोग्यं,
नांह घटांकित कटिं प्रमदां स्प शामि।'

यह सुनकर लखिमा देवी ने तुरंत उत्तर दिया-

'सत्यं ब्रवीमि मकरध्वज - वाणमुग्ध!
नाहं त्वदर्थ मनसा परिचिन्तयामि।
दासोडघ में विघटितस्तवतुल्यरूपः
सत्वं भवेन्नहि भवेदिति वितर्कः।'

उस दार्शनिक ने सोचा कि जिस रानी की दासी भी इतनी विदुषी है, तो वह न जाने कितनी विदुषी होगी। अतः वह वहीं से वापस लौट गया।

लखिमादेवी द्वारा रचित श्लोक कूटपद का अत्यंत सुन्दर उदाहरण है। कहते हैं, इस श्लोक को इन्होंने अपने उस जामाता के लिए लिखकर भेजा था जो अपनी पत्नी से विरक्त हो गया था।

'संतप्ता दशमध्वजस्य गतिना संमूर्च्छिता निर्जले।
तुर्य द्वादशवद् द्वितीयमतिमत्येकादशा भस्तनी।।
सा षष्ठी कटि पंचमी च नवभ्रूः सप्तमी वर्जिता।
प्राप्तोत्मष्टम वेदनां त्वमधुना तूर्णं त तीयो भव।।'

इस श्लोक में संख्यावाचक शब्दों से अभीष्टार्थ को प्राप्त करना आसान नहीं है।

लखिमा देवी के इस अगाध पांडित्य पर महाराज शिवसिंह ही नहीं, स्वयं विद्यापति भी परम मुग्ध थे। इसीलिए लखिमा देवी और विद्यापति के प्रेम-संबंध की कथा भी प्रचलित हो गई है किन्तु यह धारणा निर्मूल है। इसके तीन कारण स्पष्ट हैं-

1. विद्यापति कुलीन ब्राह्मण और महाराज शिवसिंह के राजपंडित थे। यदि महारानी लखिमादेवी के प्रति अनुराग होता तो ये शिवसिंह के प्रेम-भाजन न बनकर कोप-भाजन बनते।

2. महाराज शिवसिंह की म त्यु अथवा अज्ञातवास के पश्चात् लखिमा देवी और विद्यापति अनेक वर्षों तक जीवित रहे, परन्तु उस समय लिखे गए पदों में कवि ने लखिमादेवी का नाम नहीं लिया, जो इस बात का द्योतक है कि पति की अनुपस्थिति में उसकी पत्नी का नाम लेना न तो उचित ही है और न संगत ही, क्योंकि इस स्थिति में अनेक भ्रांत धारणाएं उत्पन्न होने का भय है।

3. उस समय से पूर्व, जब शिवसिंह या तो वीरगति को प्राप्त हुए, या किसी अज्ञात स्थान में चले गए, उन्होंने अपने समूचे परिवार को विद्यापति के संरक्षण में राजा पुरादित्य के पास भेजा था। इससे यही सिद्ध होता है कि महाराज शिवसिंह को विद्यापति के संरक्षण में राजा पुरादित्य के पास भेजा था। इससे यही सिद्ध होता है कि महाराज शिवसिंह को विद्यापति के चरित्र पर अगाध विश्वास था।

महाराज शिवसिंह के पश्चात् उनके अनुज पद्मसिंह मिथिला के सिंहासन पर आरूढ़ हुए। ये केवल एक ही वर्ष राज्य कर पाए थे। तदंतर इनकी पत्नी महारानी विश्वासदेवी ने शासन-सूत्र संभाला। इन्हीं के शासन-काल मे विद्यापति ने 'शैवसर्वस्वसार' शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूतपुराण संग्रह' और 'गंगावाक्यावली' की रचना की। इससे यह प्रमाणित होता है कि इस समय तक विद्यापति का झुकाव पूर्णतया भक्ति की ओर हो गया था। विश्वासदेवी के पश्चात् महाराज भवसिंह की त तीय रानी के पुत्र हरिसिंह सिंहासन पर बैठे। विद्यापति ने 'विभासार' में इनका वर्णन किया है। इनके बाद नरसिंहदेव सिंहासनारूढ़ हुए। इन्होंने 'दर्पनारायण' की उपाधि धारण की। इन्हीं की रानी धीरमति के आग्रह से विद्यापति ने 'दानवाक्यावली' की रचना की। नरसिंहदेव के पश्चात् धीरसिंह, जिनका उपनाम हृदयनारायण है और इनके पश्चात् हरिनारायण उपनामधारी भैरवसिंह राजा बने।

विद्यापति इन्हीं राजाओं के संपर्क में रहे और अपना पूर्ण जीवन आनन्द तथा ऐश्वर्य से व्यतीत किया। इनके प्रधान आश्रयदाता राजा शिवसिंह थे। उन्हीं की छत्रछाया में रहकर इन्होंने अपने

अधिकांश पदों की रचना की थी। जिस प्रकार शिवसिंह ने प्रचुर संपत्ति देकर इन्हें सांसारिक झंझटों से मुक्त कर दिया था, उसी प्रकार बदले में इन्होंने उनका और उनकी धर्मपत्नी 'लखिमादेवी' का नाम अपने पदों में देकर उन्हें अजर-अमर बना दिया है। विद्यापति को प्रचुर लक्ष्मी मिलने के पश्चात् भी इनकी सरस्वती कुंठित नहीं हुई, बल्कि इनका अध्ययन-अध्यवसाय और काव्य-प्रतिभा निरंतर विकसित एवं संवर्द्धित होती गई। डॉ० उमेश मिश्र ने विद्यापति के व्यक्तित्व के इसी पक्ष का विश्लेषण करते हुए लिखा है।-

'विद्यापति का जीवन-काल राजाओं की सभा में अनेक प्रकार के प्रकांड विद्वानों के साथ व्यतीत हुआ। इसीलिए विद्यापति ने यद्यपि मैथिली भाषा की उन्नति में ही अपना प्रधान समय लगाया, तथापि शास्त्रों का भी पूरा व्यवसाय रखा था। आजकल के भाषा कवियों की तरह वे कोरे भाषा-कवि ही नहीं थे।'

म त्यु-काल

विद्यापति का जन्मकाल जिस प्रकार विवादास्पद है, उसी प्रकार से उनका म त्यु-काल भी विवादास्पद है। जिस प्रकार से प्रामाणिक तथ्य के अभाव में विद्यापति की जन्मतिथि का निर्धारण राजा शिवसिंह के राज्यारोहण की तिथि से किया जाता है, उसी प्रकार उनकी म त्यु का निर्णय भी राजा शिवसिंह की म त्यु से ही किया जाता है।

पंडित शिवनंदन ठाकुर ने इनका म त्यु-काल कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी लक्ष्मण संवत् 329 (सन् 1448 ई०) माना है। अपनी इस मान्यता का विस्तार से विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है-

'लक्ष्मण संवत् 293 में शिवसिंह का राज्याभिषेक हुआ। वह चैत्र का महीना था। शिवसिंह ने तीन वर्ष और नौ महीने तक राज्य किया, अर्थात् लक्ष्मण संवत् 296 के पूस महीने तक शिवसिंह राजा थे। उनकी म त्यु के 32 वर्ष पश्चात् अर्थात् लक्ष्मण संवत् 328 के माघ या फागुन में विद्यापति ने शिवसिंह को स्वप्न में देखा-

'सपन देखल हम शिवसिंह भूप।
बतिस बरस पर सामर रूप।।
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन।
अब भेलहुं हम आयु बिहीन।।'

= गीत विद्यापति, पद-888

जिन पुराणों में बुरे स्वप्नों के बुरे फल और अच्छे स्वप्नों के अच्छे फल बताए गए हैं, उन पुराणों में यह भी बताया गया है कि उन स्वप्नों का फल कब मिलता है।

स्वप्न-फल के बोध के लिए इन्होंने ब्रह्मवैवर्तपुराण के कृष्णखंड का 70वां श्लोक उद्ध त किया है -

'स्वप्नस्तु प्रथमे मासे संवत्सरफलप्रदः।
द्वित्तीये चाष्टभिर्मासैस्त्रिभिर्मासैस्त तीयकै।
चतुर्थे चार्द्धमासेन स्वप्नः स्यात्तु फलप्रदः।'

अर्थात् रात के पहिले पहर में देखा हुआ स्वप्न एक वर्ष में फल देता है। दूसरे प्रहर में देखा हुआ स्वप्न आठ महीनों में, तीसरे प्रहर में देखा हुआ स्वप्न तीन महीनों में और चौथे प्रहर में देखा हुआ स्वप्न पन्द्रह दिनों में फल देता है।

इस श्लोक के आधार पर इन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि विद्यापति की म त्यु लक्ष्मण संवत्

329 में हुई। निश्चित तिथि निर्धारित करने के लिए इन्होंने इस किंवदंती का भी उल्लेख किया है -

'विद्यापतिक आयु-अवसान।
कातिक धवल त्रयोदशि जान।।'

अर्थात् कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को विद्यापति की आयु का अवसान हुआ। अंत में इन्होंने लिखा है -

'जन्म-तिथि के निश्चित रूप से ज्ञात न होने के कारण, कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को विद्यापति की जयंती मनाई जाती है। इसीलिए विद्यापति की म त्यु-तिथि लक्ष्मण संवत् 329 में कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी जान पड़ती है।'

डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने इस मत का खंडन करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है-

'श्री शिवनंदन ठाकुर ने ब्रह्मवैवर्तपुराण से स्वप्नफल के प्रकरण को मिलाकर यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि स्वप्न के आठ महीने बाद विद्यापति की म त्यु हुई। परन्तु नेपाल दरबार की लाइब्रेरी में सुरक्षित हलामुध मिश्र की पुस्तक 'ब्राह्मण-सर्वस्व' की पांडुलिपि विद्यापति के एक शिष्य ने लक्ष्मण संवत् 341 में की। पांडुलिपि के अंत में कहा गया है कि लिपि के समय रूपधर विद्यापति के पास पढ़ रहा था।'

डॉ० शिवप्रसाद सिंह का यह मंतव्य इतर समर्पित प्रमाणों के अभावों में केवल उक्त पांडुलिपि के आधार पर ही ग्राह्य नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि अनेक व्यक्ति किसी महान व्यक्ति से केवल यश प्राप्ति एवं प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए अपना संबंध जोड़ दिया करते हैं। उक्त लिपिकार के मन में भी यही भावना परिलक्षित होती है, क्योंकि किसी भी अंतः साक्ष्य के आधार पर यह प्रमाणित नहीं होता कि विद्यापति लक्ष्मण संवत् 341 (सन् 1460 ई०) तक जीवित थे।

इसके अनुसार इनकी म त्यु कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को हुई। यह तिथि प्रामाणिक समझी गई। कार्तिक महीने में गंगा सेवन करने का हिन्दू शास्त्र के अनुसार अत्यंत महत्त्व है। इनकी म त्यु गंगा-तट पर ही हुई थी, जबकि ये गंगा-सेवन करने गए थे। अतः इस तिथि को अप्रामाणिक मानने का कोई कारण नहीं है।

अध्याय-2
विद्यापतिः कृतित्व

विद्यापति बहुमुखी प्रतिभा के धनी कवि हैं। ऐसे कवि अथवा कलाकार के वास्तविक व्यक्तित्व का मूल्यांकन उसके कृतित्व या रचना सामर्थ्य से ही किया जा सकता है। बहुआयामी प्रतिभा संपन्न, बहुभाषा ज्ञानी, लोकशास्त्र निष्णात एवं कविर्मनीषी महाकवि विद्यापति ने संस्कृत, देसिल बयना, अवहट्ठ तथा मैथली भाषा में समान रूप से लेखनी चलाई है। उनका इन भाषाओं पर समान एवं अप्रतिहत अधिकार है जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने उक्त भाषाओं को ज्ञान, अनुभव तथा सहजात प्रतिभा का प्रखरता से प्रकाशित किया है। यद्यपि वे राज्याश्रित कवि हैं। राजाओं के आश्रय में रहकर काव्य स जन किया है तथा उनकी रचनाएँ तत्कालीन आश्रयदाताओं को समर्पित हैं परन्तु वे बाद में भी अधिक समय तक काव्य स जन में व्यस्त रहे। 'देसिल बयना' को अलग भाषा न मानकर भाषाई द ष्टि से विद्यापति की कृत्तियों को तीन भाषाओं में विभक्त किया जा सकता है -

(क) संस्कृत

(ख) अवहट्ठ

(ग) मैथिली।

(क) **संस्कृत** - विद्यापति के कृतित्व पर द ष्टिपात करने से यह संज्ञान होता है कि उनकी अधिकांश कृत्तियाँ संस्कृत भाषा में ही हैं। वे संस्कृत भाषा के धुरंधर, प्रकांड एवं विख्यात पंडित हैं। उनके पिता संस्कृत के विद्वान थे। संस्कृत का ज्ञान उनकी पैत क दाय एवं संपदा है। पैत क संपदा के निर्वहण हेतु, उसकी सम द्धि हेतु, तथा विद्वत् समाज में समाद त होने हेतु उनका संस्कृत भाषा में काव्य-स जन करना अति स्वाभाविक है। उनके संस्कृत भाषा के कृतित्व में उनकी अध्ययन महानता, अनुभव-विशदता तथा पांडित्य प्रदर्शन-लालसा के दर्शन होते हैं। संस्कृत भाषा में स जित इनके लगभग बारह काव्यों में भू-परिक्रमा, पुरुष परीक्षा, लिखनावली, शैवसर्वस्वसार-प्रमाण भूत पुराण संग्रह, गंगावाक्यावली, विभाग सार, दान वाक्यावली, दुर्गाभक्ति तरंगिणी, गया पत्तलक, वर्षकृत्य तथा मणि मंजरी आदि प्रमुख हैं-

1. ***भू-परिक्रमा*** - विद्यापति को भाषा ज्ञान के साथ-साथ भूगोल का भी अच्छा ज्ञान है। इनका भौगोलिक ज्ञान संबंधी ग्रंथ भू-परिक्रमा है। इस कृति के प्रेरणा स्रोत राजा देवसिंह हैं। विद्यापति की यह प्रथम रचना अप्रकाशित है। गणेश्वर की म त्यु के पश्चात् जब देवसिंह शत्रुमय से राज्य छोड़कर नैमिषारण्य में निवास करने लगे थे तभी उन्हीं को लक्ष्य बनाकर इसका स जन किया गया। इसकी कथा पौराणिक है। इसमें बलराम की भूमि की परिक्रमा का चित्रण किया गया है। क्योंकि बलराम जी शाप ग्रसित होने पर अनेक तीर्थ स्थलों पर गए। तीर्थ-गमन-कथा का मनोरंजन वर्णन किया गया है। परिक्रमा चित्रण में विशेष रूप से नैमिषारण्य से

मिथिला तक अनेक तीर्थों एवं नगरों का वर्णन किया गया है। यह रचना भूगोल के साथ-साथ इतिहास ज्ञान से भी अवगत कराती है। कवि की तीर्थों के प्रति अपार आस्था एवं प्रीति को प्रकट करनेवाली इस कृति का ऐतिहासिक एवं भौगोलिक महत्त्व के साथ-साथ पौराणिक महत्त्व है।

2. ***पुरुष परीक्षा*** - इसको देखने से यह ज्ञात होता है कि कवि मस्तिष्क के पूर्ण विकसित होने के पश्चात् रची गई है। इसकी रचना राजा शिवसिंह की आज्ञा से उन्हीं के राजत्वकाल में हुई है। कुछ आलोचकों को मानना है कि शिवसिंह ने आदेश अवश्य दिया था किन्तु उस समय तक वह राजा नहीं बने थे (इसीलिए उन्हें 'क्षितिपाल सुन्नु' (राजा का पुत्र) कहकर पुकारा गया है। यह एक नीति ग्रंथ है जिसमें 'पंचतंत्र' जैसी रोचक नीति कथाएँ हैं जो पुरुषों के जीवन से संबंधित हैं। इसके नैतिक उपदेशों का युवक-युवतियों के लिए विशेष महत्त्व है। नैतिक कथाओं के अतिरिक्त इसमें ललित कथाओं के रूप में धार्मिक एवं राजनीतिक विषयों का वर्णन किया गया है। इसमें कवि ने श ंगार रस की ओट में राजनीति एवं धर्म की शिक्षा दी है। इस पुस्तक का अत्यधिक महत्त्व एवं सम्मान है। सन् 183० ई० में उसका अंग्रेजी मे अनुवाद हुआ। यह अनुवाद लॉर्ड बिशप टर्नर के परामर्श से राजा काली कृष्ण बहादुर ने किया था। फोर्टविलियम कॉलेज में पहले यह पाठ्य पुस्तक रूप में पढ़ाई जाती थी। फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यापक हरप्रसाद बंगला भाषा विभाग ने सन् 1825 ई० में इसका शुद्ध हिन्दी में भाषानुवाद किया था।

3. ***लिखनावली*** - इसमें संस्कृत में पत्र व्यवहार करने की रीति का वर्णन किया गया है। इसकी रचना 299 लक्ष्मणाब्द में रजाबनौली के राजा पुरादित्य के लिए की गई थी। इसी रजाबनौली में विद्यापति ने 309 लक्ष्मणाब्द में अपने हाथों से 'भागवत' लिखकर समाप्त की थी। पुरादित्य की आज्ञा से रचित इस ग्रन्थ में अल्पशक्षितों के लए पत्र-लेखन की विधियों को भली-भाँति समझाया गया है। जिसमें लगभग 90 पत्रों के नमूने भी दिए गए हैं। सभी पत्र संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं। इनमें तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का सुंदर चित्र उकेरा गया है।

4. ***शैव सर्वस्वसार*** - इसकी रचना महाराज पद्मसिंह की रानी विश्वास देवी के अनुरोध पर उन्हीं के समय में की गई है। रानी ने शिवसिंह की म त्यु के पर्याप्त समय पश्चात् कवि से अनुरोध किया था। शिवसिंह के कोई पुत्र न था अतः रानी ने राज्य किया था। इसमें भवसिंह से लेकर विश्वास देवी तक के राजाओं की कीर्ति-कथा वर्णित है। इस ग्रन्थ के नाम से भी स्पष्ट हो जाता है कि इसमें शिव-पूजा संबंधी विधि-विधान का प्रमुख रूप से अंकन किया गया है। शैव-दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का सरल वर्णन किया गया है।

5. ***शैव सर्वस्वसार-प्रमाणभूत-पुराणसंग्रह*** - यह ग्रन्थ शैव सर्वस्वसार पर आधारित है जिसमें पूर्व ग्रन्थ के प्रमाणों का संग्रह किया गया है। इसे शैव सर्वस्वसार की पुनराव त्ति भी कहा जा सकता है।

6. ***गंगा वाक्यावली*** - इसकी रचना भी विश्वास देवी के लिए की गई है जिसमें गंगा पूजन आदि की विधियों का शास्त्र-समम्त वर्णन है। इस ग्रंथ में गंगा के तट पर

कीर्तन, भजन, प्राण-विसर्जन आदि को द ष्टिगत रखते हुए गंगा के माहात्म्य को प्रस्तुत किया गया है। जिसमें हरिद्वार से लेकर गंगा सागर (जहां गंगा सागर से मिलती है) तक के गंगातट पर स्थित तीर्थों का वर्णन किया गया है।

7. ***विभागसार*** - यह कृति राजा नरसिंह दर्पनारायण की आज्ञा से रची गई। इसमें दायभाग का अति सुंदर वर्णन किया गया है। उत्तराधिकार रूप में इसकी प्रामणिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता है। विशेष रूप से दामादों में धन विभाजन, स्त्री धन-विभाग तथा अपुत्र-धनाधिकारादि का अप्रतिम विवेचन किया गया है। यह कृत्ति राजनीति एवं समाज नीति के अर्थ की द ष्टि से एक प्रकार से आचार-संहिता है जिसमें संपत्ति विभाजन के नियमों का विशद विवेचन किया गया है।

8. ***दान वाक्यावली*** - महाराज नरसिंह देव की पत्नी महारानी धीरमती की आज्ञा से यह ग्रंथ लिखा गया तथा उन्हें ही समर्पित किया गया है। इसमें दान विषयक विधि-विधानों को देश, काल एवं पात्राधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसमें सभी प्रकार के दानों की विधियों एवं महत्व बतलाए गए हैं। प्रसंगवसात उन वस्त्रों का भी वर्णन किया गया है जो विद्यापति के समय में समाज में प्रयुक्त होते थे। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक महत्व का है क्योंकि इतिहास के अनुसंधित्सुओं को तत्युगीन इतिहास हेतु इससे पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

9. ***दुर्गाभक्ति तरंगिणी*** - इस रचना की प्रस्तुति राजा भैरव सिंह की आज्ञा से हुई जिसमें दुर्गा-पूजा-पद्धति का सुंदर एवं सविस्तार वर्णन किया गया है। मिथिला में दुर्गा-पूजा महोत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जाता था। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है।

   कुछ आलोचकों का कहना है कि यह दुर्गा पूजा के प्रमाण एवं प्रयोग पर लिखी गई है। इसकी रचना नरसिंह देव की आज्ञा से हुई। धीरसिंह के समय में यह पूरी हुई। इसमें धीर सिंह के दो भाई भैरव सिंह एवं चन्द्र सिंह के भी नाम आए हैं।

10. ***गयापत्तलक*** - यह ऐसी कृति है जिसमें किसी आश्रयदाता का नाम नहीं दिया गया है। म त्यु उपरांत गया में जाकर श्राद्ध की प्रक्रिया सम्पन्न कर पितरों को तारने का विधान है। इसमें गया में श्राद्ध संबंधी विधियों का विधान प्रस्तुत किया गया है।

11. ***वर्षकृत्य*** - इसमें भी आश्रयदाता का नामोल्लेख नहीं किया गया है। वर्ष भर के शुभ कृत्यों का वर्णन करते हुए एक वर्ष के सभी पर्वों पर प्रकाश डाला गया है तथा विविध देवी-देवताओं की पूजा, व्रत एवं दानादि विषयक नियमों का अतीव सुंदर विवेचन किया गया है।

12. ***मणिमंजरी*** - यह एक नाटिका है। नायिका प्रधान रचना है। इसकी नायिका मणिमंजरी है। इसमें प्रमुख रूप से राजा चन्द्रसेन एवं मणि मंजरी की कथा वर्णित है।

    संक्षेप में कह सकते हैं कि विद्यापति ने बारह ग्रंथों की रचना संस्कृत भाषा में की। तत्कालीन भाषा संस्कृत थी। यह मुख्यरूप से विद्वानों की भाषा थी। जन सामान्य

इस भाषा का ज्ञाता नहीं था। तभी विद्यापति को भासित हुआ कि उसकी रचनाएँ सरस नहीं हैं अतः उन्होंने संस्कृत भाषा के स्थान पर अवहट्ठ भाषा को अपनी काव्य रचना का माध्यम बनाया तथा अवहट्ठ में काव्य स जन प्रारम्भ कर दिया।

(ख) **अवहट्ठ** - भाषाई विकास में प्रथम स्थान वैदिक संस्कृत का है। द्वितीय स्थान लौकिक संस्कृत का है। विकास परंपरा में संस्कृत के बाद प्राकृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश आती है। हिन्दी से पूर्व पुरानी हिन्दी और उससे पूर्व अवहट्ठ रही है। विद्यापति की अधिकांश रचनाएँ संस्कृत में हैं। अवहट्ठ सामान्य जन की भाषा थी। संस्कृत विद्वानों की भाषा थी इसलिए संस्कृत के स्थान पर विद्यापति ने अवहट्ठ को चुना। अवहट्ठ को ही विद्यापति ने देसिलबयना कहा-

'देसिलबयना सब जन मिट्ठा।
तैं तैसना जम्पओं अवहट्ठा।।'

विद्यापति ने देसिलबयना एवं अवहट्ठ का एक ही भाषा माना है। महाकवि विद्यापति ने अवहट्ठ भाषा में दो प्रशास्ति काव्य लिखे हैं-

1. ***कीर्तिलता*** - इस ग्रंथ में महाराज कीर्तिसिंह का यशोगान किया गया है जिसमें उसकी तेजस्विता का भी वर्णन किया गया है। राम लोचन शरण ने विद्यापति की पदावली के परिचय में 'कीर्तिलता' को संस्कृत की प्रथम रचना स्वीकारा है (प० 12) उन्होंने ने लिखा है, "गणेश्वर के बाद कीर्ति सिंह राजा हुए। विद्यापति उनके दरबार में आने-जाने लगे। प्रारम्भ से ही इनमें प्रतिभा की झलक दिख पड़ती थी। कीर्ति सिंह के दरबार में, मालूम होता है, ये कुछ अधिक काल तक रहे होंगे; क्योंकि कीर्तिसिंह के नाम पर ही इन्होंने अपना पहला ग्रन्थ 'कीर्तिलता' रचा था। यह पूरा ग्रंथ नेपाल के राज पुस्तकालय में है। मिथिला में इसका फुटकल अंश मिलता है। (प० 11) लोचन शरण

   राम ने 'कीर्तिलता' की भाषा को संस्कृत प्राकृत मिश्रित मैथिली कहा है जो उनकी तरुण वयस की रचना है," 'कीर्तिलता' कवि की तरुण वयस की रचना है। इसकी भाषा संस्कृत प्राकृत मिश्रित मैथिली है। कवि ने इस भाषा का नामकरण 'अवहट्ठ' भाषा किया है। 'कीर्तिलता' के प्रथम पल्लव में कवि ने स्वयं कहा है-

   'देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
   ते तैसन जम्पओं अवहट्ठा।।'

   "देशी भाषा सबको मीठी लगती है। यही जानकार मैंने अवहट्ठ भाषा में इसकी रचना की है।" (प० 11)

   कवि की उक्ति एवं अंतसीक्ष्य से यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि कीर्तिलता संस्कृत की नहीं अवहट्ठ की रचना है।

   कीर्तिसिंह के बाद शिवसिंह के पिता देवसिंह राजा हुए। देवसिंह के समय में राज्यशासन का भार शिवसिंह के कंधों पर था। उसी अवसर पर विद्यापति और शिवसिंह में घनिष्टता हुई। तब से विद्यापति शिवसिंह के अंतिम समय तक उन्हीं के पास रहे।

कीर्तिसिंह के पिता गणेश्वर की असलान नामक किसी यवन द्वारा हत्या हो गई। कीर्तिसिंह ने 'जोनापुर' के सुलतान की सहायता से पित वध का बदला लिया तथा मिथिला का उद्धार किया। यही कीर्तिलता का मुख्य वर्ण्य विषय है। यह कृति तत्कालीन परिवेश का जीवंत रूप प्रस्तुत करती है।

2. ***कीर्ति पताका*** - कीर्ति पताका में महाराज शिवसिंह की वीरता का वर्णन है। इसमें महाराज शिवसिंह का किसी सुल्तान के साथ युद्ध दिखलाया गया है। जिसमें शिवसिंह ने सुल्तान को पराजित किया था। महाराज शिवसिंह के गुणों का वर्णन है। इसके प्रारम्भ में महाराज शिवसिंह के संबंध में श्रंगार रस का वर्णन किया गया है। अंत में यह श्लोक है-

'एवं श्री शिवसिंह देवः न पतेः संग्राम जातं यशो,
गायन्ति प्रतिपत्तन प्रतिदिशं प्रत्यगणं सुभ्रुवः।'

इसकी रचना कवि ने दोहा छंद के रूप में की है। कहीं-कहीं संस्कृत के श्लोक भी प्रयुक्त हुए हैं तथा बीच-बीच में गद्य भी है। अर्द्धनारीश्वर चंद्रचूड़ शिव तथा गणेश की आरम्भिक वंदना के बाद विद्यापति ने लिखा है-

'पंडिअ मंडलि बद्धगुणे भीषम सुअन गुहेन।
वाणी मधूर महाध रस-पिअउ सुअन सबलेन।।'

राजा शिवसिंह के आचरण का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है-

'धम्म देखी व्यवहार लोक नहिं, नहइ पर भेद।
सबका घर ऊन्नाह पलति जनि जम्मिअ। बाहर दाने दलई
दारिद्द स्वग्गोपरि पड़ी खंडिअ।' आदि

तत्पश्चात् ग्रंथ में श्रंगार-रस के कुछ पद दिए गए हैं। सुल्तान के साथ युद्ध में राजा शिवसिंह की विजय का जैसा वर्णन विद्यापति की लेखनी से प्रस्तुत रचना में किया गया है, वैसा प्रायः किसी भी अन्य वीर-गाथा काव्य में नहीं मिलता।

इस पुस्तक की एक मात्र हस्तलिखित खंडित प्रतिलिपि नेपाल दरबार के पुस्तकालय में उपलब्ध है जिसमें लगभग बाईस पत्र नहीं हैं और यत्र-तत्र पर्याप्त कुछ छूटा हुआ भी है।

(ग) **मैथिली** - मैथिली मिथिला की भाषा है। मैथिली की रचनाएँ महाकवि विद्यापति की कोई उद्देश्य-प्रेरित रचनाएँ नहीं हैं। इसमें विद्यापति के पद आते हैं जिनको उन्होंने भावोन्मत होकर विविध भाव-दशाओं में गाया है। इन पदों की भाषा-लोक भाषा मैथिली है।

पदावली - वस्तुतः ऐसे पदों का संकलन साहित्य-संसार में विद्यापति-पदावली के नाम से जाना जाता है। वास्तव में विद्यापति की शाश्वत एवं नित्य ख्याति का आधार उनके गीत ही है; ये गीत ही विद्यापति को उभरत्व प्रदान करते हैं। इन पदों को स्थूलता की द ष्टि से श्रंगारिक, भक्तिपरक एवं विविध तीन वर्णों मे विभक्त किया जा सकता है।

मिथिला के बाद बंगाल में विद्यापति के पदों का सबसे अधिक प्रचार था। जयदेव के गीत गोविंद के समान ही विद्यापति की पदावली के पद भी महाप्रभु चैतन्य को अतिप्रिय थे। विद्यापति के पदों की संख्या के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वे एक साथ ही एकत्र नहीं मिलते। पदावली की भाषा कवि की भाषा के अति

समीप है। विद्यापति की पदावली के संकलन के आधार स्वरूप नेपाल, रामभद्रपुर, वैष्णव पदावली आदि का विशेष महत्त्व है।

गोरक्ष-विजय - यह एक एकांकी नाटक है। इसमें कथोपकथन संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में तथा गीत मैथिली भाषा में लिखे गये हैं। गोरक्ष नाथ एवं मत्स्येंद्र नाथ की कथा के आधार पर इसकी रचना हुई है। इस नाटक में कवि की प्रौढ़ वर्णन-शैली एवं प्रांजल भाषा द ष्टिगोचर होती है। भगवान भैरवनाथ का प्रसाद पाने के लिए महाराज शिवसिंह की आज्ञा से उन्होंने यह नाटक लिखा। नाटक का आरम्भ अर्द्धनारीश्वर की वंदना से किया है जिसमें शिव-पार्वती की वंदना की गई है-

'हर्षादम्भोजजन्म प्रभ तिदिविषदां संसदि प्रीतिमत्याः
गौर्या मौली ... तिपरिगये साक्षतं चुम्ब्यमानम्।
तद्वक्त्रं शैलि वक्त्रैर्मिलितमिति म शं वीक्ष्य चन्द्रः सहासो
द ष्ट्वा तद्ध त्तमशु स्मित सुभग मुखः पातु वः प च वक्त्रः।।

अब तक मिथिला में अनुसंधान का कुछ काम नहीं हुहा है। संभव है इनकी लिखी अन्य संस्कृत पुस्तकें हों जो अभी तक छिपी पड़ी होंगी, क्योंकि ये दीर्घजीवी पुरुष थे। किन्तु केवल उपर्युक्त पुस्तकों के देखने से ही इनके प्रगाढ़ पांडित्य का संज्ञान हो जाता है।

हिन्दी के लिए यह नितांत गौरव की बात है कि उसका एक प्रथम श्रेणी का कवि संस्कृत-साहित्य में भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

अध्याय-3
विद्यापतिः भक्ति-भावना

भारतवर्ष सदा से ही धर्मप्रधान देश रहा है। परमपिता परमात्मा के प्रतिश्रद्धा एवं विश्वास की अटल भावना भारत राष्ट्र के जन-जन में विद्यमान है। कवि अपनी कृत्तियों में अन्य विषयों की भावभिव्यक्ति के साथ-साथ अपने इष्टदेव के प्रति किसी-न-किसी रूप में श्रद्धाभक्ति अवश्य प्रस्तुत करता है। कुछ कवियों की भावना मूलतः अपके आराध्यदेव के प्रति ही समर्पित होती है।

'भक्ति... 'भक्त' शब्द से व्युत्पन्न है। भक्त विशेषण है जो सं0 भज् (सेवा करना) + क्त, कुत्व से बना है। भाववाचक शब्द 'भक्ति' बनता है। सप्त > सात, हस्त > हाथ के आधार पर भक्त > भात बना है जिसका अर्थ पूर्वी उत्तर प्रदेश या बिहार में खाया जानेवाला वह चावल होता है जो ऐसा पकाया गया है। जो अपने स्वतंत्र अस्तित्व को एक दूसरे में विलीन कर स्वअस्तित्व समाप्त कर चुका हो। भक्त का अर्थ बांटा हुआ या भागों में बँटा हुआ होता है। विभक्त इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

भक्त की एक विशेषता परमात्मा का भजन करना होता है। भज् धातु का अर्थ सेवा करना होता है। इस द ष्टि से सांसारिक प्राणी जब सांसारिकता से विरक्त होकर परमात्मा से नाता जोड़ लेता है उसी का भजन-सेवा करता है तब वह भक्त कहलाता है। "सपरानुरक्ति भक्तिः।" अर्थात् अपनों से पराङ्मुख होकर परामात्मा में अनुरक्त हो जाता है। मन की ऐसी भावना को ही भक्ति कहते हैं। कोई बीज काटकर या और किसी प्रकार कई टुकड़ों या भागों में बाँटने की क्रिया या भाव को भक्ति कहते हैं। भाव के फलस्वरूप किसी के प्रति होनेवाला अनुराग या स्नेह, अथवा की जानेवाली किसी की सेवा-शुश्रूषा या अर्जन पूजन। धार्मिक क्षेत्र में आराध्य, ईश्वर, देवता आदि के प्रति होनेवाला वह श्रद्धापूर्ण अनुराग जिसके फलस्वरूप वह सदा उसका अनुयाई रहता है और अपने आपको उसका वंशवर्ती मानता है। शांडिल्य के भक्ति सूत्र में इसकी विवाद विवेचना की गई है तथा उसे सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी तीन प्रकार का बतलाया गया है।

शुक्ल जी ने श्रद्धा एवं प्रेम के भोग को भक्ति कहा है। परमात्मा, गुरु या माता-पिता के प्रति पूज्य भाव का उत्पन्न होना ही भक्ति है। शुक्ल जी ने कहा है, "जब पूज्यभाव की व द्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य लाभ की प्रव त्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।"—रामचंद्र शुक्ल भक्ति हृदय से की जाती है। बुद्धि से भक्ति करना ऐसा ही है जैसा नाक से खाना और कान से सूँघना। भक्ति विधान के अंतर्गत श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वंदन, दास्य, संख्य तथा आत्म-निवेदन नौ बातें ली गई हैं।

रामानुजाचार्य ने स्नेहपूर्वक किए गए भगवद् ध्यान को भक्ति मानते हुए कहा है—

"स्नेह पूर्वक मनुध्यानं भक्तिः।"

श्रीमद्भागवत नवधा भक्ति पर बल देता है।

हिन्दी साहित्य में भक्ति के उदय अथवा आगमन पर अत्यधिक मतभेद है। भक्ति काल का समय

सं0 1375 विक्रमी से 1700 विक्रमी तक निर्विवाद रूप से स्वीकारा गया है जो वीरगाथा काल के उपरांत आता है। विद्यापति का समय भी वीरगाथा काल एवं भक्ति काल के संधिकाल में माना जाता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि भक्ति भावना का प्रादुर्भाव उत्तरी भारत में हुआ जबकि अन्य विद्वानों का यह कथन है कि "भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद।" उत्तरी भारत से पूर्व दक्षिणी भारत में आत्मवाद भक्ति का रूप विकसित हो चुका था। रवि बाबू का कथन है—

"मध्ययुग में हिन्दी के साधक कवियों ने जिस रस-ऐशवर्य का विकास किया उसमें असामान्य विशिष्टता है। वह विशेषता यह है कि एक साथ कवि की रचना में उच्चकोटि की साधना और अप्रतिम कविता का एकत्र मिश्रित संयोग दिखाई पड़ता है जो अत्यन्त दुर्लभ है।"

यह कथन भक्तिकालीन धारा की ओर संकेत करता है। विद्यापति का समय भक्ति काल से पूर्व है जिसके विषय में विद्वानों ने अनेक विचार प्रस्तुत किए हैं कि भक्ति का उदय क्यों, कैसे एवं कहाँ से हुआ। सामान्यरूप से यह मान्यता रही है कि मुगलों के शासन स्थापित हो जाने से हिंदुओं की द ष्टि ईश्वर उपासना की ओर गई। ईश्वर के दो रूप सगुण एवं निर्गुण हैं। सगुण की दो शाखाएं राम एवं कृष्ण हुई। निर्गुण की भी ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी दो शाखाएं हुई जिन्हें ज्ञानमार्गी एवं प्रेममार्गी नाम भी दिए गए। ज्ञानमार्गी प्रायः समस्त कवि दलित वर्ग के थे अथवा अल्प संख्यक समुदाय से आए एवं संत कहलाए। प्रेममार्गी समस्त कवि सूफी थे जिनका संबंध मुस्लिम संप्रदाय से था। विद्यापति का अस्तित्व इन सबसे पूर्व था।

ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी से अद्यतन काल तक अजस्र रूप से प्रवाहित हिंदी काव्यधारा में भक्ति का प्रवाह मंदाकिनी की भाँति अपनी शुभ्रता, निष्कलुष तरंगावलि और अनंत जनता को नैसर्गिक शांति प्रदान करनेवाली दिव्य जलधारा की भाँति अर्चित है। डॉ. ग्रियर्सन, वेवर, कैनेडी तथा भारतीय पंडित डॉ0 भंडारकर ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि वैष्णव भक्ति-आंदोलन ईसाई-संसर्ग का परिणाम है। डॉ0 गियर्सन ने नेस्टोरियन ईसाइयों के धर्ममत का भक्ति-आंदोलन पर प्रभाव दिखलाते हुए हिंदुओं को उनका ऋणी प्रमाणित किया है। वेवर ने कृष्ण-जन्माष्टमी के उत्सव की सांस्कृतिक प ष्ठभूमि पर विचार करते हुए कृष्ण जन्म कथा को ईसामसीह की जन्म कथा से जोड़ दिया। कैनेडी ने सीरथियन 'गूजर' से प्रचलित बाल कृष्ण पूजा को उन्हीं से प्रेरित माना है। भंडारकर ने माना कि आभीर ही शायद बाल-देवता की जन्म-कथा तथा उसकी पूजा अपने साथ लाए। उन्होंने 'क्राइस्ट' एवं 'कृष्ण' शब्द के साम्य को प्रतिपादित करने का अथक प्रयत्न किया। इन धारणाओं से भारतीयों के मन में स्वाभाविकरूप से अति क्षोभ उत्पन्न हुआ। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उक्त धारणाओं को निराशा बतलाते हुए कहा है—

"कृष्ण का वर्तमानरूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। माधुर्य के अतिरिक्त उद्रेक से प्रेम और भक्ति का प्याला लबालब भर गया।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है,—

"इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।" आगे शुक्ल ने लिखा—

'भक्ति का सैद्धांतिक विकास ब्रह्मसूत्रों पर, उपनिषदों पर, गीता पर, भाष्यों की जो परंपरा विदुन्मंडली के भीतर चल रही थी, उसमें हुआ।"

शुक्ल ने भक्ति को दक्षिण से आया हुआ स्वीकारा—

"भक्ति का वह सोता है जो दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।"

दक्षिण में भक्ति विकसित हो रही थी और उसका प्रभाव उत्तर में पड़ने लगा था। पूजा पद्धाति का विकास बौद्ध के महायान काल में होने लगा था। भक्ति भावना का उद्भव मुसलमानों के आक्रमण के कारण नहीं, अपितु अपनी भारतीय चिंता के स्वाभाविक विकास का परिणाम है। सगुण-निर्गुण को परस्पर विरोधी मानकर कुछ विद्वान सगुण को भारतीय एवं निर्गुण को विदेशी कह देते हैं। विद्यापति का समय 13 वीं शती है।

भागवत्-कृष्ण-काव्य का उपजीव्य ग्रंथ माना जाता है अन्य कई पुराणों में कृष्ण के जीवन तथा उनके अलौकिक कार्यों का वर्णन किया गया है। ईसवी सन् के पूर्व ही कृष्ण वासुदेव भगवान या परम देवत् रूप में पूजित होने लगे थे। जय देव का गीत-गोविंद कृष्ण भक्ति का अनुपम ग्रंथ है। 14 वीं शताब्दी के पूर्व अर्थात् विद्यापति एवं चंडीदास के पहले देशी भाषाओं में मधुर भाव की भक्ति का कोई-न-कोई रूप अवश्य प्रचलित था। इसके विपरीत शिव सिद्धि दाता तथा विष्णु शक्ति के आश्रय थे। शैव-वैष्णव के मतों का समन्वय किया गया है। विद्यापति ने भी शैव-वैष्णव का समन्वय करते हुए लिखा है—

"धन हरि धन हर धन तव काला।
खन पीत वसन खनहिं बधछाला।।"

एक ही पद में 'जयति शंकर' तथा 'जयति हरि' कहनेवाले कवि के मन में दोनों के प्रति सम्मान एवं आदर की भावना अर्थात् भक्ति भावना थी। भक्त के जीवन की परम साधना है भगवान् की लीला। भक्तों में आपकी उपासना, पद्धति के अनुसार इस लीला के रूप में भेद हो जाता है। विद्यापति के कई वेदों में आत्मग्लानि, दीनता तथा इष्टदेव के प्रति अनन्य प्रेम का भाव व्यक्त हुआ है।

विद्यापति की निर्गुण ब्रह्म उपासना—

"तोहे जनम पुनि तोहे समादूत
सागरि लहरि समाना
भनइ विद्यापति सेष सयनमय
तुअ बिनु गति नहिं आव
आदि अनादि नाथ कहाओसि
अब तारन भार तोहारा"

विद्यापति के स्तुतिपरक पद सगुण-निर्गुण दोनों प्रकार के भक्ति काव्यों की परंपरा में हैं। विद्यापति के काव्य के विषय में प्रायः शंका की जाती है कि यह रहस्यवादी भक्ति-काव्य है।

विद्यापति भारतीय धार्मिक वातावरण के विशेषरूप से मिथिला के लोकप्रिय कवि हैं जिन्होंने संस्कृत, अवहट्ठ एवं मैथिली भाषा में अनेक भक्ति परक रचनाएँ प्रस्तुत की। उनकी पदावली विशेष रूप से लोकप्रिय रही है जिसमें उन्होंने राधा कृष्ण की लीलाओं का चित्रण किया है जिसके आधार पर उन्हें भक्त-कवि की संज्ञा दी गई है।

विद्यापति की भक्ति-भावना भक्ति के विविधरूपों के अनुरूप नहीं है फिर भी कुछ आधारों पर विद्यापति को भक्त-कवि माना जाता है।

1. **धार्मिक ग्रंथ-स जन** - विद्यापति के संस्कृत ग्रंथों के स जन जैसे शैव 'सर्वस्वसार' तथा 'शैव सर्वस्वसाद-प्रमाणभूत-पुराण संग्रह' आदि विशेषरूप से शिव भक्ति से संबंधित हैं। 'गंगा-वाक्याकली' में गंगा की भक्ति प्रस्तुत की गई है। दुर्गाभक्ति तरंगिणी में दुर्गा की भक्ति भावना का निवेदन किया गया है। 'गया-पत्तलम' तथा 'वर्षकृत्य' रचनाएँ भक्ति के अंगों एवं उपांगों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से निरूपण करनेवाली कृतियाँ हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पदावली से पूर्व ग्रंथों में विद्यापति के अनेक ग्रंथों में उनकी भक्ति भावना निहित थी। इसके पश्चात् उन्होंने मिथिला की जनभाषा में पदावली का स जन किया। पदावली मुक्तक काव्य है जिसमें विभिन्न प्रकार के पद हैं उनमें भक्ति संबंधी पदों का भी समावेश है। इसके अतिरिक्त जहां भक्ति-भावना प्रत्यक्ष नहीं है वहां राधा क ष्ण की लीलाओं का निरूपण किया गया है जो माधुर्य भक्ति का अप्रतिम उदाहरण है। स्पष्ट हो जाता है कि पदावली भक्ति परक रचना है पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बंगाल के मंदिरों में भक्त तल्लीन होकर, पदावली के पदों का सस्वर वाद्य-यंत्रों पर गायन करते हैं। इससे स्प्ष्ट हो जाता है कि विद्यापति पूर्णतः भक्ति काव्य के स जक प्रसिद्ध कवि हैं।

2. **विद्यापति के उपास्य** - विद्यापति के उपास्य के विषय में विद्वानों में मैतक्य नहीं है क्योंकि उनकी कृतियों में उनकी विविध देवी-देवता संबंधी उपासनाएँ प्राप्त होती है जिसके आधार पर इन्हें 1. एकेश्वरवादी 2. वैष्णव 3. पंचदेवोपासक 4. शाक्त 5. शैव भक्त कहा जा सकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति के विभिन्न देवी देवताओं की अभिन्न रूप से उपासना की। शंकर-विष्णु में समन्वय करके उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त की। ईश्वर के सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपों की समान श्रद्धा भाव से उपासना की। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति की भक्ति एकेश्वरवादी थी। बाबू श्याम सुंदर दास एवं विमनविहारी मजूमदार राधा-कृष्ण के श ंगारिक वर्णन को मधुर भक्ति स्वीकारा है। विष्णु स्वामी एवं निंबार्क संप्रदाय का भी विद्यापति पर प्रभाव परिलक्षित होता है जिसके परिणाम स्वरूप चैतन्य महाप्रभु जैसे वैष्णवभक्त विद्यापति के श ंगारिक पदों को श्रद्धा के रूप में गाते थे। इस प्रकार विद्यापति की भक्ति को वैष्णव भक्ति कहा जा सकता है। विद्यापति किसी एक देवता की उपासना न करके पंचदेवोपासना की थी। पुराणों में पंचदेवोपासना-सूर्य, गणेश, दुर्गा, विष्णु तथा शिव की उपासना का विधान है। पुराणों का प्रभाव विद्यापति पदावली के विभिन्न पदों में विविध देवी-देवताओं की उपासना में पाई जाती है। शक्ति की उपासना करने से उन्हें शाक्त भी स्वीकारा गया है। विद्यापति ने देवी की उपासना विविध शक्ति व नामों को धारण करनेवाली के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है—

"विद्यापति कवि तुअ पद सेवक,
पुत्र विसरु जनि माता।"

अर्थात् हे देवी! विद्यापति तुम्हारे पद का सेवक है, तुम इसे मत भुला देना।

अधिकांश आलोचक विद्यापति को शिव का उपासक शैव मानते हुए उनकी भक्ति को शैव प्रधान स्वीकारते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रामव क्ष बेनीपुरी तथा शिवनंदन ठाकुर आदि का मानना है कि विद्यापति के अधिकांश आश्रयदाता शैव थे तथा विद्यापति बालमहेश्वर (शिव) मंदिर में उपासना करते थे जो उनके गाँव में आज भी विद्यमान है। विद्यापति की

म त्यु के पश्चात् भी उनकी चिता-स्थली पर शिव मंदिर बनवाया गया है। विद्यापति ने अपनी रचना 'पुरुष-परीक्षा' में विरागी राजा रत्नांगद से शिवोपासना की प्रतिज्ञा करवाई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना करके भी प्रमुख रूप से शैव थे। शिव-भक्ति को ही उन्होंने प्रधानता दी है।

3. **राधा-कृष्ण की दिव्यता** - विद्यापति की पदावली के अधिकांश पद राधा-कृष्ण से संबंधित हैं। उनके लौकिक सौंदर्य क्रीड़ाओं तथा लीलाओं का चित्रण जहां विद्यापति ने पर्याप्त मात्रा में किया है वहां उनके दिव्य रूप को भी चित्रित किया है। राधा का चित्रण द्रष्टव्य है–

"जहां जहां पद जुग धरई।
तहिं तहिं सरोरुह भरई।।
जहां जहां झकलत अंग।
तहिं तहिं बिजुरि तरंग।।"

अर्थात् जहां-जहां राधा के चरण पड़ते हैं वहां-वहां कमलों की स ष्टि होती जाती है। जहाँ-जहाँ उसके अंगों की झलक पड़ती है वहां विद्युत तरंगायित हो जाती है।

वास्तव में राधा ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति है उसका सौंदर्य लोकाती है। वह जहां भी जाती है वहां रूप की वर्षा हो जाती है। कवि राधा के इसी रूप का उपासक है। चलते समय राधा के चरण प थ्वी पर नहीं पड़ते हैं (महि निर अवलंब)। उसके हँसने से अम त की वर्षा होती है उसका एक कराक्ष कामदेव के लाखों वाणों की रचना कर देता है। संपूर्ण भूमंडल में राधा का सौंदर्य अनुपम है। एसी दिव्यांगना तीनों लोकों एवं ब्रह्मांडों में कहीं भी द ष्टिगोचर नहीं होती है।

राधा का ही नहीं अपितु क ष्ण का भी दिव्य रूप पदावली में चित्रित है। क ष्ण श्रंगारिक नायक के रूप में भी वर्णित हैं। क ष्ण के प्रति श्रद्धा-भावना व्यक्त की गई है–

"भनइ विद्यापति अतिसम कातर।
तरइते इह भव सिंधु।।
तुआ पद-पल्लव करि अवलंबन।
तिल एक देह दिन बंधु।।"

अर्थात् हे माधव! मैं बहुत ही भयभीत हूं। क पाकर मुझे भव-सागर से पार उतार दें। हे दीनबंधु! मैं आपके चरण-कमलों का आश्रय लेकर ही रहना चाहता हूं।

श्रीक ष्ण कोई अभिमान नहीं, विराट एवं व्यापक रूप हैं जिसकी समानता कोई नहीं कर सकता। वह पुरुषोत्तम हैं तथा चौंसठ कलाओं से युक्त हैं। कृष्ण सौंदर्य को गोपियां देखती रह जाती हैं वे नहीं समझ पाती कि यह कैसे अपूर्ण है जिसे देखते-देखते मन ही नहीं भरता। उनके वचनाम त को सुनते-सुनते सुनने की अभिलाषा ही पूरी नहीं होती–

"जनम-अर्वाधि हम रूप निहारल।
नयन न तिरपति भेल।।
सेहो मधु बोल सवनहिं सूनल।
स्रुतिपथ परस न भेल।।"

वस्तुतः क ष्ण के भुवन मोहन रूप से राधा का ही नहीं, विद्यापति का मन भी बंध गया

था जिसके परिणामस्वरूप उनका एकमात्र नायक रूप वर्णन न होकर उपासक का आराध्य भी बन गया है।

4. **भक्ति के विविरूप** - विद्यापति की पदावली में राधा-क ष्ण, शिव, गंगा, दुर्गा अथवा विष्णु के प्रति की गई भक्ति विविध-रूपों में द ष्टिगोचर होती है जिसका कारण कवि का वैयक्तिक जीवन है। ब्रह्मण कुल में जन्मे विद्यापति में धार्मिक भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी। देवी-देवताओं के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा-भक्ति थी। विद्यापति जैसे अनेक भक्त कवि प्रतिदिन मंदिर में बैठकर अहर्निशि भगवान का भजन करते रहते थे। पदावली में वर्णित भक्ति-भावना विविध मुखी है जिसे श्रीमद्भागवत् में नवधा-भक्ति कहा गया है। ये भक्ति के नौ अंग हैं–

(i) **श्रवणः** परमात्मा के गुणों को सुनना श्रवण कहलाता है। राधा के कमनीय कोमल कलेवर के विषय में सखी से सुनकर कृष्ण का मन भूखा मधुकर बन जाता है–

"सुन सुन सुन्दर कन्हाई। तोहे सोंपल धनि राई।।
कमलिनि कोमल कलेवर। तुहु से भूखल मधुकर।।"

(ii) **कीर्तन** - इष्टदेव के गुणों का बार-बार गान करना कीर्तन कहलाता है।

"जय गंगे जय गंगे
शरणागत भय अंगे।।"

'कृष्ण-कीर्तन' शीर्षक में कवि कृष्ण की महत्ता का वर्णन करना चाहता है किंतु उसे उपयुक्त उपमान नहीं मिलता है। श्रीखंड में सुंगंधि नहीं है पुनः कठोर काष्ठ है। निशाकर मात्र शुक्ल पक्ष में प्रकाश देता है। मणि पत्थर है। स्वर्ण या केले का खंभ सर्वत्र हैं। तुम्हारे समान तुम्हीं हो ऐसा मन को अनुमान करना पड़ता है–

"जौ श्रीखंड सौरभ अति दुरलभ।
तौ पुनि काठ कठोर।।
× × ×
तोहर सरिस एक तोहं माधव।
मन होइछ अनुमान।।"

भगवद्-लीलागान भक्ति का विशेष अंग है। भगवान की लीलाओं को श्रद्धा पूर्वक सुनना, उनमें तन्मयता, उनसे आनंदानुभव तथा उसका पुनः पुनः गायन करना आदि कीर्तन कहलाता है। भगवान लीला वर्णन संबंधी विद्यापति के पद इसी कोटि में आते हैं।

(iii) **स्मरण** - भगवान की लीलाओं का स्मरण कर उन्हें गाना तथा उनसे आनंद प्राप्त करना स्मरण कहलाता है। स्म ति संचारी भावों के द्वारा विगत घटनाएं सुख प्रदान करती हैं।

"अछलि हे दुख सुख कहह अपन मुख
भूषण गम ओलह जाहां।।"

(iv) **पाद सेवनः** पैरों की सेवा करना या चरणों की पूजा करना पाद सेवन कहलाता है–

"ए हरि, वन्दौं तुअ पद नाय।

तुअ पद परिहरि पाप-पयोनिधि पारक कओन उपाय।।
जाबत जनम नहिं तुअ पद सेविनु"

तथा

"तुअ पद-पल्लव करि अवलम्बन
तिल एक देह दिनबंधु।।"

(v) **अर्चना** - प्रार्थना तथा पुजा को अर्चना की संज्ञा दी गई है। परमात्मा से प्रार्थना करता हुआ कवि कहता है जिसको कोई शरण देने वाला नहीं है। हे शूलपाणि! आपके चरणों के अलावा मुझे किसी का सहारा नहीं है। मेरे ऊपर दया कीजिए–

"असरन सरन चरन सिर नाओल
दया करु दिअ सुपलानी।।"

कवि विद्यापति कहते हैं हे भोलानाथ! आपके बिना मेरी कहीं भी गति नहीं है आप मुझे अभय वरदान दीजिए– अक्षत्, चंदन, गंगाजल तथा बेलपत्र आदि से आपकी पूजा करता हूं–

"आछत चानन अवर गंगाजल
बेलपात तोहि देब, हे भोलानाथ।
यहि भव-सागर थाह कतहु नहिं
भैरव धरू कर आए, हे भोलानाथ।
मन विद्यापति मोर भोलानाथ गति
देहु अभय वर मोहि, हे भोला-नाथ।।

भोला सबको शाल-दुशाले ओढ़ाते हैं। अपने आप म गछाला धारण करते हैं। सबको पंच पकवान खिलाते है स्वयं भांग-धतूरा खाते हैं। ऐसे शंकर की पूजा कवि अक्षत, चंदन तथा बेलपत्र से करता है–

"कोई चढ़ावै भोला अच्छत चानन
कोई-चढ़ावै बेलपतवा।।
जोगिनि भूतिन सिव के संघतिया
भैरो बजावै मिरदंगिया।।
मन विद्यापति जै जै संकर
पारवती रौरि संगिया।।"

(vi) **वंदनाः** विद्यापति ने पदावली में कृष्ण, राधा, देवी, दुर्गा, शंकर तथा जानकी आदि की वंदना की है। अहित के निराकरण तथा हित साधना हेतु वंदना की जाती है। पदावली का श्री गणेश श्री कृष्ण, राधा एवं देवी वंदना से किया है–

(क) श्रीकृष्ण– **"नंदक नंदन कदंबक तरुन्तर**
धिरे धिरे मुरलि बजाव।"

× × × ×

मनइ विद्यापति सुन वरजौवति
बंदह नंद-किसोरा।।"

(ख) राधा– **"देख देख राधा रूप अपार।**
अपुरुब के विहि आनि मिला ओल।"

× × × ×

करु अभिलाष मनहि पदपंकज
अहोनिसि कोर अगोर।।"

(ग) देवी– **"जय जय भैरवि असुर-भयाउनि**
पसुपति-भामिनि माया।"

(घ) दुर्गा– **"बिदिता देवी विदिता हो**
अबिरल-केस सोहन्तो।
एकानेन सहस को धारिनि
जरि रंगा पुरनन्ती।।"

(ङ) शंकर– **"जय जय शंकर जय जय त्रिपुरारि।**
जय अध पुरुष जयति अध नारि।"

(च) जानकी– **"रे नरनाह सतत भतु ताही।**
ताहि, नाहि जननि जनक नहि ताही।"

(छ) गंगा– **"जय गंगे जय गंगे**
शरणागत भय भंगे
सुरमुनि मनुज रचित पूजोचित
कुसुम विचित्रित तीरे।"

समन्वयः विपिन्न देवी-देवताओं की प थक्-प थक् वंदना करने से भी लगता है विद्यापति को संतुष्टि नहीं हुई। इसलिए एक ही पद में सभी का समन्वय करके दिखला दिया। शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, चतुर्भुजी, कृष्ण, गोचात्लक उमरुवादक, गोविंद, भस्म रमाने वाले, वैकुंठ वासी, कैलाश वासी, नारायण एवं शूलपाणि आदि अनेक रूपों का भक्ति भावना में समन्वय किया है–

"भल हर भल हरि भल तुअ कला।
खन पित बसन खनहिं बदछाला।।

× × × ×

भनइ विद्यापति विपरित बानि
ओ नारायण ओ सूलपानि।।"

(vii) **दास्यः** भक्त जन अपने को भगवान का दास मानकर उपासना करता है तब उसे दास्य भक्ति कहा जाता है। परमात्मा के सम्मुख आत्मा का अस्तित्व नगण्य हो जाता है कवि अपने को अधम परम पतित नर मानता है। अपने समान संसार में अन्य पतित एवं परमात्मा के समान अधम-उधारन दूसरा नहीं मानता है–

"हर जनि बिसरब मो ममिता,
हम नर अधम परम पतिता।
तुअ सन अधम उधार न दोसर
हम सब जग नहि पतिता।।"

कवि का मानना है कि परमात्मा की भक्ति के बिना आधा जन्म व्यतीत कर दिया। शैशव कब चला गया कुछ पता नहीं। अब आप पर ही विश्वास है–

"तुहुं जगतारन दीन दयामय
अतय तोहर बिसवासा।
आध जन्म हम नींद गमायनु
जरा सिसु कत दिन मेला।।"

(viii) **संख्य** - भक्त अपने को भगवान का सखा मानते है दोनों में कोई अंतर नहीं समझता है। साधिकार परमात्मा की भक्ति प्राप्त करने की कामना करता है–

"माधव बहुत मिनति कर होय।
दए तुलसी तिल देह समर्पिनु
दया जनि छाड़बि मोय।।"

(ix) **आत्मनिवेदन** - आत्मनिवेदन को विनती भी कहते हैं। अपनी बात कहकर परमात्मा को प्रभावित करना आत्मनिवेदन कहलाता है–

"तुहु जगत जगनाथ कहाओसि
जग बाहिर नइ छार।
किए मानुस पसु परिव भए जनमिए
अथवा कीट पतंग।।"

विरह में राधा कृष्ण रूपी चिंतामणि प्राप्त करके आशान्वित हो गई थी किंतु उनके बिना पुनः चिंतातुर हो गई। सच्चे प्रेम की पहचान विरहावस्था में ही होती है। राधा की विरह वेदना कृष्ण वेदना कृष्ण के प्रति सच्ची आत्मा की पुकार है जिसमें भक्ति का अप्रतिम रूप निखर कर सामने आता है।

विद्यापति की पदावली के अधिकांश पद भक्ति-श्रेणी में आते हैं। राधा-कृष्ण की उपासना सगुण भक्ति-भावना के अंतर्गत आती है। अन्य देवी-देवताओं से संबंधित पद भी सगुणोपासना में आते हैं। राधाकृष्ण का नाम लेकर वे मधुरा-भक्ति की ही प्रस्तुति किए हैं। दास्य भक्ति की प्रधानता रही है जिसे भक्ति का उदात्त रूप माना गया है। शिव उनके परम आराध्य थे। बाद में राधा-कृष्ण की भक्ति में तत्पर हो गए। विभिन्न देवी-देवताओं के प्रति विद्यापति की अगाध श्रद्धा एवं प्रगाढ़ आस्था थी जिसके परिणामस्वरूप उनका भक्त हृदय खुलकर अभिव्यक्ति कर सका है।

अध्याय-4
विद्यापतिः भक्त या शृंगारी

विद्यापति संस्कृत, अवहट्ठ तथा मैथिल भाषा के सुविज्ञ कवि थे, परन्तु उनकी कीर्ति की अमर स्मारिका उनकी पदावली है जो मैथिली भाषा में लिखी गयी थी। इसीलिए विद्यापति को मैथिली भाषा का बाल्मीकि कहा गया है। उनकी पदावली एक प्रगीतात्मक मुक्तक काव्य है जिसमें लगभग 900 पद हैं। उनकी पदावली के अध्ययनोपरांत यह पता चलता है कि विद्यापति शृंगार प्रधान भावुक भक्त कवि हैं। यद्यपि यह एक विवादास्पद विषय है कुछ साहित्यकार उन्हें उनकी रचना के आधार पर भक्त कवि के रूप में स्वीकार करते हैं; परन्तु अधिकांश साहित्यालोचकों ने उनकी रचना के आधार पर उनकी भक्ति-भावना को शृंगार प्रधान ही माना है।

विद्यापित की भक्तिभावना

भारतीय साहित्य में आदिकाल से संयम और त्याग की शालीन धारा प्रवाहित थी, आगे चलकर उसमें शृंगार का समागम हुआ और फिर उनके कवि भक्ति-मिश्रित शृंगार की रचनाएं प्रस्तुत करने लगे। विद्यापति के साहित्य में इन दोनों भाव धाराओं का उच्छल प्रवाह उद्वेलित होता दिखाई पड़ता है जिसमें सराबोर होकर व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है। शिव-पार्वती और राधा-कृष्ण की कथाओं ने उनके काव्य के लिए उर्वरा भूमि प्रस्तुत की। पदावली में विद्यापति के कुछ ही पद ऐसे हैं, जिनमें भक्ति-भावना अपने विशुद्ध रूप में प्रस्फुटित हुई हो। अधिकांश पदों में शृंगार का ही घोर चित्रण हुआ है।

इस संबंध को द्रष्टव्य करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने कहा है-

'विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है।'

विद्यापति ने पदावली की रचना वैष्णव साहित्य के रूप में की है। कवि जयदेव के गीत-गोविंद की भांति उनकी पदावली में राधा-कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की झांकी द ष्टिगोचर होती है। कवि को जनता के साधारण जीवन का पूर्णरूपेण अनुभव था। यही कारण है कि विद्यापति के राधा-कृष्ण संबंधी गीत साधारण जीवन के गीतों से संबंद्ध हैं। उन्होंने अपने इष्ट की उपासना सामाजिक रूप में की है।

विद्यापति की पदावली में देवी-देवताओं की वंदना की गई है। ग्रंथारंभ में कवि ने राधा, कृष्ण, गणेश आदि की वंदना की है।

'देख-देख राधा-रूप अपार।
अपुरुब के बिहि आनि मिलाओल,
खिति-तल लावनि-सार।
अंगहि अंग अनंग मुरछात,
हेरए पड़ए अथीर।
मनमथ-कोटि मथन करु जे जन,

से हेरि महि-मधि गीर।
कत-कत लखिमी चरन-तल नेओछए,
रंगिनी हेरि बिभोरि।
करु अभिलााख मनहि पद-पंकज,
अहोनिसि कोर-अगोरि।'

इसी प्रकार प्रार्थना एवं नचारी के प्रसंग में भी अनेक देवी-देवताओं की वंदना की है। इसमें राधा-कृष्ण, दुर्गा, शिव, विष्णु, सूर्य आदि सभी की वंदना प्रस्तुत की गई है। 'पदावली' के अंतर्गत इस प्रकार के वंदना संबंधी पदों को देखकर ही कुछ आलोचकों ने विद्यापति को भक्त कवि कहना आरंभ कर दिया, किन्तु केवल कतिपय रचनाओं के आधार पर सिकी भी कवि की आत्मा को पहचानना अत्यंत कठिन कार्य है।

विद्यापति को उच्चकोटि के भक्त मानने वाले विद्वानों के मत द्रष्टव्य हैं-

1. **डॉ० ग्रियर्सन** - 'विद्यापति के लगभग सभी पद वैष्णव-पद या भजन हैं। जिस प्रकार सोलोमन के गीतों को इसाई पादरी पढ़ा करते हैं, उसी प्रकार हिन्दु भक्त विद्यापति के चमत्कारी पदों को पढ़ते हैं और जरा भी कामवासना का अनुभव नहीं करते।'

2. **नगेन्द्रनाथ गुप्त** - विद्यापति की राधा-कृष्ण पदावली का सारांश यहीं है कि जीवात्मा परमात्मा को खोज रहे हैं, और एकांत स्थान में परमात्मा से मिलने के लिए चिंतित हैं।

3. **डॉ० श्यामसुंदर दास** - हिन्दी में वैष्णव-साहित्य के प्रथम प्रसिद्ध कवि मैथिल-कोकिल विद्यापति हुए। उनकी रचनाएं राधा-कृष्ण के प्रेम से ओत-प्रोत हैं।

4. **डॉ० जनार्दन मिश्र** - विद्यापति अपने को पत्नी (राधा) समझकर ईश्वर (कृष्ण) की उपासना पति रूप में करते थे। डॉ० मिश्र की द ष्टि में विद्यापति की पदावली आध्यात्मिक विचार तथा दार्शनिक गूढ़ रहस्यों से परिपूर्ण है।

5. **डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी** - 'इनका वक्तव्य विषय राधा तथा अन्य गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की प्रेम लीला है। राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों की यह पुस्तक प्रथम बार उत्तर भारत में गेयपदों को प्रकाशित करती है। विद्यापति पदावली के पदों ने आगे चलकर बंगाल, आसाम और उड़ीसा के वैष्णव भक्तों को खूब प्रभावित किया और यह उन प्रदेशों के भक्ति साहित्य में नई प्रेरणा और नई प्राणधारा संचारित करने में समर्थ हुई। इसीलिए पूर्वी प्रदेशों में उनकी पदावली सर्वत्र धर्मग्रन्थ की महिमा पा सकी है।'

6. **पं० शिवनंदन ठाकुर** - 'चैतन्यदेव पर इस पदावली का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि इन्होंने कौमार्य व्रत धारण कर लिया। इसीलिए इसमें तनिक संदेह नहीं कि पदावली में भक्तिरस प्रधान है, श ंगार रस नहीं।'

7. **डॉ० जयनाथ नलिन** - 'भाषा और भावों की सूक्ष्मता, प्राजंलता, महत्ता और सघनता के विकासक्रम को कसौटी मानें तो क्रमशः शैव, शाक्त और वैष्णव धर्म की ओर अग्रसर होना निश्चित है। निर्वेद ही शांत रस का स्थायी भाव हैं यह वैराग्य से उत्पन्न होता है। कवि की यौवन आकांक्षा मुरझा गई है। इंद्रियां शिथिल पड़ गई हैं। तब भी मन चंचल है। निरोध करने पर भी निरंकुश वासना जन्य सुख का आकांक्षी है। (इसके प्रमाणस्वरूप उन्होंने 'कैसन केस की भए विभहल बन भरी बहुकाट' पद उद्ध त किया है।) यही आत्मग्लानि भक्त को वासना के कीचड़ से निकाल कर भक्ति के मानसतट पर पहुंचाती

है। इस प्रकार की आत्मग्लानि सभी भक्तों की रचनाओं में पाई जाती है। यही संसार-सुख की क्षणभंगुरता का बोध कराती है और भक्त को भगवान् की ओर अग्रसर करने के लिए प्रेरित करती है।'

विद्यापति के काव्य में कुछ वर्णन ऐसे हैं जिसमे उन्होंने अपनी संपूर्ण श्रद्धा तथा हृदय का सारा भाव-संभार अपने आराध्यों के चरणों में अर्पित कर दिया है। यह अर्पण अनेकों देवी-देवताओं की वंदना तथा उनके स्वरूप वर्णन में प्राप्त होता है। इसीलिए विद्यापति को विभिन्न धर्मावलंबी कहा जाता है। पदावली में उनके शिव संबंधी छः पद हैं, जिनमें शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन किया गया है। इन पदों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इनमें कवि के हृदय की व्यंग-भावनाएं व्यक्त हुई हैं। ये व्यंग्य-भाव विद्यापति के कवि हृदय से अथवा शक्ति या पार्वती की माता के हृदय से प्रस्फुटित हुए हैं। पार्वती की माता का जो चित्र कवि ने खींचा है, वह हास्य से पूर्ण है। उनमें भावों का वह उदात्त स्वरूप, गरिमा तथा हृदय की वह श्रद्धा कहीं भी लक्षित नहीं होती, जो एक भक्त कवि की रचना में होनी चाहिए। विद्यापति संस्कृत के प्रकांड पंडित थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थों का स जन किया, इसीलिए उन्हें भारतीय संस्कृति और दर्शन के मर्म का पूर्ण ज्ञान था।

विद्यापति ने विभिन्न हिन्दु देवी-देवताओं के स्वरूप एवं महिमा की एक साथ आराधना की। इसी कारण कोई उन्हें वैष्णव कहता है तो कोई शैव कहकर पुकारता है कोई एकेश्वरवादी के रूप में जानता है तो कोई उन्हें शाक्त मानता था। इसका मूल कारण है कि उनकी पदावली में इसी प्रकार की भक्ति-भावना विद्यमान है। उदाहरणस्वरूप वे भवानी देवी की वंदना करते हुए कहते हैं-

'जय-जय भैरवि असुर भयाउनि,
पशुपति-भामिनी माया।
सहज सुमति वर दिअओ गोसाउनि,
अनुगति गति तुअ पाया।
× × × × ×
विद्यापति कवि तुअ पद सेवक,
पुत्र बिसरू जनि माता।'

अर्थात् हे असुरों को भयभीत करने वाली भवानी माता। आपकी जय हो आप पशुपति की पत्नी हो। मुझे एकमात्र आपके चरणों का ही सहारा रहे यही मुझे वरदान प्रदान करो। ..... हे माता! आप अपने पुत्र को कभी न भूलना और सदा कृपाद ष्टि रखना।

इसी प्रकार शिवजी की स्तुति करते हुए विद्यापति लिखते हैं-

'जय-जय शंकर जय त्रिपुरारि।
जय अध-पुरुष, जय अहा नारि।।'

इस प्रकार के भावनात्मक भक्ति के अनेकों पद उनकी पदावली में यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

श्री० नागेन्द्रनाथ गुप्त ने भी श्री विद्यापति के काव्य की रहस्यात्मकता को स्वीकार किया। सन् 1835 ई० सिनेट हॉल पटना में विद्यापति के काव्य पर व्याख्यान देते हुए इन्होंने कहा था-

'विद्यापति की राधा-कृष्ण पदावली का सारांश यही है कि जीवात्मा परमात्मा को खोज रही है और एकांत स्थान में परमात्मा से मिलने के लिए चिंतित है। संसार ईश्वर-प्रेम से परिचित नहीं है, इसलिए वह भक्त के मार्ग में अड़चन डालता है। यह देख ईश्वरान्वेषी भक्त संसार छोड़ शांतिमय वन में जाकर एकांत स्थान में निवास करता है। इसी विषय का वर्णन विद्यापति ने दूसरे शब्दों में किया है। मूसलाधार व ष्टि हो रही है और भयानक शब्द करता हुआ वज्र गिर रहा है, किन्तु

नायिका को जरा भी भय नहीं। वह सांपों को पैर से कुचलती हुई अपने प्रेमी श्रीकृष्ण के घर पहुंच जाती है-

'रयनि काजर बम भीम भुजंगम,
कुलिस पड़ए दुरबार।
गरज तरस मन ऐसे बरिस धन,
संसअ पड़ अभिसार।
चरन बेधल फनि हित कय मानल धनि,
नेपुर न करए रोल।
सुमुखि। पुछी तोहि सरूप कहसि मोहि,
सिनेह कतए दुर ओल।'

अर्थात् रजनी अंधकाराव त्त है, दुर्निवार वज्र गिर रहा है। कुछ बादल का गर्जन करके बरसना मन में भय उत्पन्न कर रहा है जिससे राधा को संकेत स्थल तक पहुंचने में संदेह हो गया है। पैरों से सांपों का लिपटना अभिसारिका शुभ ही समझती है क्योंकि उससे नूपुरों की ध्वनि मौन हो गई है। दूती पूछती है - हे सुमुखि! सत्य कहो कि तुम्हारा स्नेह किस सीमा तक पहुंच गया है?

इसके पश्चात् विद्यापति को रहस्यवादी भक्त कवि मानने वाले विद्वानों की संख्या में पर्याप्त व द्धि हो गई।

उनकी भक्ति सामान्य रूप से दो प्रकार की मानी गई है-दास्य एवं सख्य। विद्यापति के पद न तो दास्य भक्ति के अंतर्गत आते हैं, और न उन्हें सख्य भक्ति के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। उनके शिव-भक्ति-विषयक पदों को तर्क की कसौटी पर रखने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि उनमें हृदय की गंभीरता तथा भावों की गरिमा का उदात्त रूप देखने को नहीं मिलता, जो कि एक महाभक्त की लेखनी से प्रस्फुटित होना चाहिए।

कुछ विद्वानों ने विद्यापति को कृष्णोपासक माना है। उनका मानना है कि 'विद्यापति-पदावली' के पद कृष्ण-लीला एवं चरित्र से संबंधित होने के कारण धार्मिक इसीलिए हैं कि मिथिला और बंगाल के धार्मिक नेताओं ने उनका मान किया है। अतः निश्चय ही वह धार्मिक भक्त कवि हैं। इसके अनेक कारण हैं-

1. विद्यापति का आविर्भाव जयदेव की परंपरा में हुआ था। वह हिन्दी के 'अभिनव जयदेव' कहे जाते हैं। जयदेव की प्रसिद्ध ग्रंथ 'गीत-गोविंद' में गोविंद रस और श ंगार से युक्त जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, वही विद्यापति की 'पदावली' में प्राप्त होता है।

2. विद्यापति का आविर्भाव उस गीति-काव्य की परंपरा में हुआ जिसकी स्थापना जयदेव ने 'गीत-गोविंद' के गीतों में की थी। 'गीत-गोविन्द' और पदावली में कृष्ण का जो रूप चित्रित है, वह महाभारत की भांति धर्म-स्थापना करने वाले कृष्ण के समान नहीं है। विद्यापति ने कृष्ण-विषयक पदों में जो कुछ भी लिखा है, उसका संबंध रति से है। महाभारत में राधा का चित्र कृष्ण की प्रेरक शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु 'पदावली' में कृष्ण की उद्दाम कामवासनाओं से प्रेरित राधा का ही रूप देखने को मिलता है।

3. 'पदावली' के वर्ण्य विषय से भी स्पष्ट होता है कि विद्यापति धार्मिक कवि नहीं थे, क्योंकि कोई भी भक्त अपने आराध्य अथवा आराध्या का चित्रण इतने श ंगार-पूर्ण एवं नग्नरूप में प्रस्तुत नहीं करेगा, जिस प्रकार विद्यापति ने प्रस्तुत किया। विशेषकर, दूती

एवं सखी-शिक्षा-प्रसंग में राधा-कृष्ण का अत्यंत ही नग्न रूप प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ-

'सजनी, भल कए पेखल न भेल।
मेघ-माल सयं तड़ित-लता जनि हिरदय सेल दई गेल।
आध आंचर खसि, आध बदन हसि, आधहि नयन-तरंग।
आध उरज हेरि, आध आंचार भरि, तब धरि दगधे अनंग।
एके तनु गोरा, कनक-कटोरा, अतनु कोंचला उपाम।
हार हारल मन जनि बूझि ऐसन, फांस पसारल काम।।

उपर्युक्त उदहारण में राधा-कृष्ण का जो रूप चित्रित किया गया है वह मर्यादित नहीं कहा जा सकता। 'पदावली' में कवि ने कृष्ण का केवल भोगी रूप ही चित्रित किया है। इसका महत्वपूर्ण कारण यह है कि विद्यापति दरबारी कवि थे, अतः उनके प्रत्येक पद में दरबारी वातावरण की छाप मिलती है। विद्यापति ने राजा शिवसिंह एवं रूपनारायण को प्रसन्न करने के लिए ही पदों की रचना की थी। वे भी रागी, भोगी एवं प्रेमी थे, अतः प्रेमी प्रेमी की बातों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है।

विद्यापति के काव्य में न तो कहीं अतिंद्रिय अनुभूति के दर्शन होते हैं, न प्रतीकात्मक अभिव्यंजना ही हुई है, और न किसी रहस्य की अनुभूति का वर्णन ही, फिर हम किस आधार पर विद्यापति को धार्मिक कवि कह सकते है? आचार्य केशवदास ने रीतिकाल में 'विज्ञान-गीता' और 'रामचंद्रिका' की रचना की, किन्तु फिर भी उन्हें धार्मिक कवि नहीं माना जाता। इसी प्रकार बिहारी ने भी राधा और कृष्ण की वंदना में कितने दोहों की रचना की है। 'मेरी भव बाधा हरो ....' तो उनका प्रसिद्ध दोहा है जिसमें उनके दैन्य और आत्मनिवेदन की भावना प्रदर्शित हुई है, फिर भी उन्हें धार्मिक कवि के रूप में मान्यता प्रदान नहीं की गई। जब बिहारी और केशव धार्मिक कवि नहीं हैं, तो विद्यापति को अनके आठ-दस पदों के आधार पर भक्त कवि कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

इतना सब होने के पश्चात् उनके पदों में श्रंगार के आवरण में लिपटे कुछ भक्ति संबंधी पद पदावली में आए हैं। श्रंगार के भीतर शिव-गंगा के प्रति उनकी उदान्तता और महत्ता स्थान-स्थान पर प्रकट हुई है। उनकी परिष्कृत भक्ति का ज्वलंत उदाहरण गंगा के वर्णन में अत्यन्त सरल बन पड़ा है-

'बड़ सुख-सार पाओल तुअ तीरे,
छोड़इत निकट नयन बह नीरे।
× × × ×
कि करब जप-तप, जोग, धेआने,
जनम कृतारथ एकहि सनाने।
भनइ विद्यापति समदओं तोही,
अंत काल जनु बिसरह मोही।'

विद्यापति की भक्ति के दो रूप मिलते हैं - एक राधा-कृष्ण भक्ति और दूसरी शिव-गौरी-भक्ति। विद्यापति ने दोनों का प्रकाशन विभिन्न शैलियों में किया है कि उसे देखकर आश्चर्य होता है कि उसमें एक ही व्यक्तित्त्व है। गंगा के प्रति व्यक्त की गई भक्ति-भावना शिव-भक्ति के अंतर्गत ही माननी चाहिए।

विद्यापति इस भक्ति-भावना को श्रंगार के पार्श्व में अभिव्यक्त कर अत्यन्त सरस, निर्मल एवं रमणीय बना देते हैं। विद्यापति ने पदावली में कहीं-कहीं पर कालिदास का अनुकरण करते हुए

सौंदर्य-प्रदर्शन-हेतु शिव के रूप का आलंकारिक प्रयोग किया है। नायिका के वक्षःस्थल पर पड़ी हुई मोतियों की माला देखकर कवि को शंभु के शीश पर गिरती हुई गंगा का स्मरण हो आता है -

'गिरबर-गरुअ-पयोधर-परसित,
गिम गजमोति क हारा।
काम कंबु भरि कनक-संभु परि,
ढारत सुरसरि-धारा।'

उपर्युक्त वर्णन मे कवि की समस्त भावुकता तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति संगीत-माधुर्य के साथ विद्यमान है। जिस भाव का चित्रण अर्थ की व्यंजना-शक्ति के माध्यम से और उत्प्रेक्षा, उपमा तथा रूपक के सहारे करते हैं, वह संजीव होकर पाठकों के मानस-नेत्रों के सम्मुख नाच उठता है। नारी-सौंदर्य के प्रति कवि की विशेष अभिरूचि प्रतीत होती है। इस प्रकार की पंक्तियों में भक्ति-भावना कला-सौंदर्य के अधीन होकर व्यक्त होती है। कवि ने एक पद द्वारा शिव-मूर्ति और नारी सौंदर्य का अत्यंत अनुपम चित्र प्रस्तुत कर भक्ति-भावना को बढ़ावा दिया है-

'कत न बेदन मोहि देसि मदना,
हर नहि बला, मोहि जुबति जना।
विभुति-भूषन नहि चानन क रेनु,
बघछाल नहि मेरा नेतक बसनू।
× × × ×
भनई विद्यापति, सुनु देव कामा।
एक पए दूखन नाम मोरा बामा।।

मिथिला में शिव-भक्ति का प्रचार-प्रसार विशेष रूप से था। शिव के अनेक मंदिरों में नचारी द्वारा भगवान् भूतनाथ की आराधना की जाती थी। विद्यापति के पूर्वज शिव-भक्त थे, अतः संस्कार-वश उनका भक्ति-भाव व्यक्त रूप से शंकर की ओर झुकता है। विद्यापति की शिव-भक्ति-संबंधी-भावना कई रूपों में व्यक्त हुई है-शिव के न त्यों, शिव-गौरी-कथोपकथन तथा विनयावली आदि में। अंतिम अवस्था में पहुंचकर विद्यापति यदि नए देवता राधा-कृष्ण को पीछे छोड़कर, कुल-देवता शंकर की ओर झुके, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनके इस प्रकार के पदों में न काव्यगत सौंदर्य है, न विनय है, केवल सीधा-सादा पश्चाताप है, परन्तु उससे कवि की मनोव त्ति के ज्ञान का पता चलता है, और साथ ही उनकी भक्ति-भावना की गहराई भी व्यंजित हो जाती है। जैसा कि उनके निम्न पद में द्रष्टव्य है-

'सिव हो! उतरब पार कओन बिधि।
लोढ़ब कुसुम, तोरब बेलपात।।
पुजब सदासिव गौरि क सात।
बसहा चढ़ल सिव फिरहू मसान।
भंगिया जरठ दरदो नहिं जान।'

जहाँ विद्यापति ने राधा-कृष्ण को नागर-नागरि के रूप में अत्यंत निकट से देखा, वहाँ उन्होंने 'महेश' को भी अत्यंत निकट से देखने का प्रयत्न किया है। यह उनकी मौलिकता एवं धार्मिक द ष्टिकोण का स्पष्ट उदाहरण है-

'टूटले-फटले मरइया अधिक सुहावन रे,
ताहि बर बैसलि गौरी मनहि झांखति है।

× × × ×

टूटि खसत रुदछाइ, मसान जगाबत हे,
गौरी कहं दुख होत, विद्यापति गावत हे।
कार्तिक पोसल मजूर, सेहो धरि खायत हे।
अमिय चुइ भूमि खसत, बधंबर जागत हे।'

सत्य यही है, हर और कृष्ण के भक्त होने पर भी उनका हृदय सबके लिए उन्मुक्त था। उन्होंने आदि-शक्ति की स्तुति की है, हरिहर के अभिन्न रूप की कल्पना की है और गंगा की प्रार्थना में भी उनकी तन्मयता परिलक्षित है। उन्होंने एक ही देवी को अनेक मात शक्ति के रूप में स्वीकार किया है।

राधा-कृष्ण-भक्ति-विषयक पदों में विद्यापति ने लौकिक प्रेम का ही चित्रण किया है। वह आदर्श-प्रेमी-नर-नारी के विरह-मिलन की कथा है। राधा का प्रेम स्वकीया का आत्मसमर्पण है, विश्वासपूर्ण आत्मदान है, इसीलिए उसे भक्ति पक्ष के अंतर्गत लिया गया है। यही भक्ति का मधुर रूप है। वास्तव में विद्यापति लीला-कवि हैं।

जयदेव की परम्परा पर उन्होंने राधा-कृष्ण की मधुर-लीला को अपने काव्य का विषय बनाया। विद्यापति ने लीला के लिए राधा को नायिका के रूप में स्वीकार कर उसके विशेष व्यक्तित्त्व के निर्माण का भार मानो सूर पर छोड़ दिया है। उनका लीला-भक्ति विषयक द ष्टिकोण इस पद से स्पष्ट हो जाता है-

'माधव जाए केवाड़ छोड़ाओल,
जाहि मदिर बसु राधा।
चीर उधारि अधर-मुख हेरल,
पान उगल छथि आधा।
× × × ×
कमल-नयन कमलापति-चुंबित,
कुंभकरन'सम दापे।
हरि क चरन गावथि विद्यापति,
राधा-कृष्ण बिलापे।'

विद्यापति के विविध ग्रंथों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वह वैष्णव नहीं शैव थे। वह न तो एकेश्वरवादी थे, जैसा कि डॉ० जनार्दन मिश्र का मत है, और न ही वह पंचदेवोपासक तथा शाक्त हीथे। विद्यापति प्राचीन मान्यता के अनुसार ही ग्रंथारंभ में गणेश-वंदना करते हैं। यह कहा जा सकता है कि कदाचित् तांत्रिक उपासना की प्रबलता के कारण वह कभी शक्ति के उपासक रहे होंगे और बाद में हर-गौरी की युगल मूर्ति को अपना इष्ट देव बनाकर उन्होंने राधा-कृष्ण जैसा युग्म उपस्थित किया होगा।

विद्यापतिः भक्त-जनश्रुतियों की द ष्टि में

कवि को भक्त मानने वाली दो महत्वपूर्ण जनश्रुतियाँ भी जनमानस में परिव्याप्त हैं जिसके परिणामस्वरूप कतिपय लोग उन्हें भक्त ही मानते हैं। उक्त दोनों जनश्रुतियों मे 'उगना' और 'गंगा' की जनश्रुति आती है।

'उगना' के संबंध में लोगों की यह धारणा है कि भगवान शंकर विद्यापति की भक्ति-भावना से रीझकर उगना अथवा उदना नाम से उनके यहाँ सेवक के रूप में रहते थे। एक दिन किसी कार्य

से विद्यापित बाहर जा रहे थे। उन्हीं के साथ उनका सेवक उगना भी था। एक निर्जन स्थान पर पहुंचकर विद्यापति को प्यास की अनुभूति होती है और उगना को जल लाने का आदेश देते हैं। उगना जल लाता है। जब जल को पीकर प्यास समाप्त होती है, तब वे उससे इस निर्जन एवं जलशून्य प्रांत में जल की प्राप्ति का स्थान पूछते हैं। साग्रह पूछे जाने पर 'उगना' अपने मूल रूप में (शिव रूप में) प्रकट होता है और कहता है कि मैं तुम्हारी प्रीति एवं भक्ति से प्रमुदित होकर तुम्हारे यहाँ इस रूप में रहता हूँ और तब तक रहूँगा जब तक यह रहस्य किसी दूसरे से व्यक्त नहीं होता है। समय बीतता है। एक दिन विद्यापति की पत्नी कुपित होकर उसे झाड़ से पीटने लगती हैं, विद्यापति से सहन न हो सका और वे भावावेश में चिल्ला उठते हैं-'साक्षात् शिव पर प्रहार।' इतना कहना था कि वह शिवरूप वाला उगना सदा के लिए अंतर्हित हो जाता है। कतिपय पदों के आधार पर लोग यह भी कहते हैं कि उसी 'उगना' के मर्मांतक वियोग से विद्यापति पागल भी हो गए थे। इस कथन की पुष्टि के लिए जनमानस निम्नलिखित पद उद्ध त करता है

'उगना हे मोरा कतय गेला। कतय गेला। स कि बहु भेला।।
भाङ् नहिं बटुआ रुसि बेसलाह। जोहि हेरि आनि देल हसि उठलाह।
जे मोर कहता उगना उदेस। ताहि देबउं कर कंगना बेस।।
नंदन बन में भेटल महेस। गौरि मन हरिखित मेटल कलेस।।
विद्यापति भन उगना सों काज। नाहि हितकर मोर त्रिभुवनराजा।।'

विद्यापति के संदर्भ में दूसरी किंवदंती गंगा से जुड़ी हुई है। मिथिला के लोगों की ऐसी मंत्रणा है कि जब विद्यापति अत्यंत व द्ध और लाचार हो गए और गंगातट पर एक आस्तिक व्यक्ति की तरह अपने प्राणोत्सर्ग हेतु जाना चाहा, तब शारीरिक कृशता एवं दुर्बलता के कारण उन्हें तट से दो मील पूर्व ही रूक जाना पड़ा। लोग कहते हैं कि उस समय विद्यापति की विनती से प्रसन्न होकर गंगा की मुख्य धारा मुड़ गई और विद्यापति को अपने अन्तस् में समेट लिया।

उक्त प्रमाणों एवं लोकमानस में व्याप्त मान्यताओं के आधार पर विद्वानों का एक वर्ग विद्यापति को भक्त मानता है, लेकिन उक्त स्थापनाओं में यदि बहु-बहुलांश तथ्य यथार्थ भी मान लिए जाएं तो भी विद्यापति के वर्ण्य की विराट्ता की द ष्टि से यह पक्ष दुर्बल लगता है। हाँ, यह बात जरूर है कि कवि ने कुछ गिने-चुने पदों में परमसत्ता की महिमा तथा मानव की मरणधर्मिता की सत्यता जानकर उन्होंने पद के माध्यम बतलाई है-

'तातल सैकत बारि बिन्दु सम,
सुत मित रमनि समाजे।
तोहे बिसारि मन तोहे समरपलुं,
अब मझु होय कोन काजे।।
माधव, हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जगतारन दीन दयामय
अतएव तोहरि बिशायासा।'

जहाँ पर अपनी दैन्यस्थिति का निवेदन किया है, वहाँ उनकी गहन भक्ति-भावना अभिव्यक्त हुई है। यदि ऐसे कुछ भक्तिभावापन्न पदों के आधार पर विद्यापति की जीवनद ष्टि सुनिर्धारित कर दी जाए, तो उनके व्यापक व्यक्तित्त्व के एक व्यापक पक्ष के साथ अत्यंत अन्याय हो जाता है। इसलिए कवि का श ंगार रूप विवेचन सर्वथा आवश्यक होता है।

विद्यापतिः श्रंगारी कवि

पदावली के अधिकांश पदों के आधार पर अधिकतर विद्वान विद्यापति को श्रंगारी कवि ही मानते हैं। उनकी कविता का मूल उद्देश्य श्रंगारिक भावों की अभिव्यक्ति था। श्रंगार का जैसा रमणीय वर्णन उन्होंने किया है, अन्यत्र दुर्लभ है। पदावली में भी कृष्ण कामी नायक तथा राधा मुग्ध नायिका के रूप में ही चित्रित हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति की राधा-कृष्ण भक्ति रीतिकालीन कवियों की राधा-कृष्ण भक्ति - 'सुमिरन को बहानों' के समान है। उसमें वासना का श्रंगरिक रूप अधिक प्रधान है। उनकी पदावली में श्रंगार की भावना अधिक व्यक्त हुई है। कवि ने श्रंगार के सभी भाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का सुंदरता से वर्णन किया है। विद्यापति ने राधा के जो चित्र खींचे हैं, उनमें वासना का रंग ही प्रखर है। आराध्या के प्रति जो विचार होने चाहिए, वह उनमें लेश-मात्र भी नहीं। राधा को मुग्धा, विदग्धा एवं प्रोषितपतिका के रूप में दिखाया गया है। ऐसे पदों में आनन्द ही उद्देश्य है, और सौंदर्य कार्य-कलाप। कवि की कविता श्रंगार और विकास की वस्तु है, उपासना एवं साधना की नहीं। इसी से कवि की भक्ति का रूप वासना के आवरण में छिप जाता है। राधा और कृष्ण साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में परस्पर प्रेम करते हैं, जिनमें सदाचार की मात्रा न्यूनतम परिलक्षित होती है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विद्यापति श्रंगार-रस के कवि थे। उन्हें मानवीय हृदय के भावों और उनके क्रमिक विकास का पूर्ण ज्ञान प्राप्त था। उनकी रचनाएँ माधुर्य-भाव से परिपूर्ण हैं। कवि ने राधा-कृष्ण के रूप में सामान्य नायक-नायिका का ही केलि-वर्णन प्रस्तुत किया है। विद्यापति को श्रंगारी सिद्ध करनेवाले पर्याप्त विद्वान थे। विद्वानों की चिंताधारा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० बाबूराम सक्सेना, महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद, शास्त्री, गोपालकृष्ण राय, पंडित शिवनंदन ठाकुर, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, डॉ० उमेश मिश्र तथा रामव क्ष बेनीपुरी आदि के नाम प्रमुख हैं। विद्यापति के पदों में श्रंगार के आलंबन रूप राधा और कृष्ण हैं। इन पदों में नख-शिख वर्णन, सद्यः स्नाता, क्यः-संधि, मान, मिलन, सखीशिक्षा तथा अभिसार-रूपों से संबंधित पारस्परिक प्रेम-भावना की सच्ची अनुभूति हुई है। विद्यापति के पदों में ऐसे समस्त रूप मांसलता, मादकता तथा ऐन्द्रिकता के सुखातिरेक के ही पारावार लहराते रहते हैं। इसीलिए डॉ० रामकुमार वर्मा उनके श्रंगार-वर्णन का उद्देश्य आनन्द ही मानते हैं।

विद्यापति को श्रंगारी माननेवाले विद्वानों ने अपने समर्थन की पुष्टि के लिए प्रबल तर्कों को प्रस्तुत किया है-

1. इन समीक्षकों का प्रथम तर्क विद्यापति का दरबारी कवि होना है। सामान्य रूप से, दरबारी कवियों ने साहित्य के उदात्त उद्देश्य और लोकमंगलकारी रूप के साथ व्याभिचार-जैसा व्यवहार किया है। ये दरबारी कवि दरबारी जीवन के चकाचौंध में, भोग-वैभव में आपादमस्तक डूबते, जूझते और रमते रहे हैं। उनका मनोरथ श्रंगार-सर्जना के द्वारा अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करना था। विद्यापति भी कई राजाओं के आश्रय में रहे और विलासी राजाओं की वासनात्मक व त्ति को उत्कर्षित करने के लिए तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिए रसिक रंजन स्वरूप राधा-कृष्ण को माध्यम बनाकर श्रंगारी काव्य का स जन किया। ये श्रंगारी काव्य अश्लील एवं वासनात्मक भावनाओं को त प्त करने के साधन माध्यम रूप में स्वीकृत हैं।

घनघोर छटा बिखेरने वाला श्रं गारिक उदाहरण द्रष्टव्य है-

'सुरति समापि सुतल गिरधारी पानि पयोधर आपी।
कनक संभु जनि पूजि पुजारी, धरए सरोरुह झाँपी।
सखि हे, माधव केलि विलासे।
मालति रमि अलि ताहि अगोरए, पुनु रति-रंगक आसे।।
बदन मेराए धयल मुख-मंडल कमल मिलन जनि चन्दा।
भमर चकोर दुअओ अरसाएल पीबि अमिय मकरन्दा।।
भनइ अर्मीकर सुनह मधुरपति, राधा चरित अपारे।
राजा सिबसिंध रूपनरायन, लखिमा देइ कंठहारे।।'

कोई भी भक्त क्या अपने आराध्य का ऐसा चित्रण प्रस्तुत कर सकता है? मर्यादा एवं आदर्श कभी अनुमति नहीं देंगे। साथ-ही-साथ पद के अंत में जो मुद्रांकन है, वह भी उन्हें शृंगारी कवि सिद्ध करता है।

2. विद्यापति ने पदावली में सौंदर्य का अत्यंत शरीरी चित्रण प्रस्तुत किया है। वह सौंदर्य के मर्म को जानने-समझने वाले कवि-आचार्य थे। उन्होंने सौंदर्य को अत्यंत विदग्धता तथा सूक्ष्मता के साथ देखा-परखा था, लेकिन उन्होंने उसका प्रस्तुतिकरण मांसल और ऐन्द्रिक रूपों में किया है। विद्यापति के रूप वर्णन से संबंधित समस्त पद स्थूल और काम की भावना को जाग्रत करनेवाले हैं। सम्पूर्ण पदावली में काम भाव से परिपूर्ण पदों की पुष्पलता है। इसी संबंध में सद्यः स्नाता कामिनी नायिका का एक रूप द्रष्टव्य है-

'जाइल पेखलि नहाएलि गौरी। कत सयं रूप धनि आनलि चोरी।।
सजल चीर रह पयोधर सीमा। कनक बेले जनि पड़ि गेलि हीमा।।
तूल कि करइते चाहे के देहा। अबहूँ छोड़बि मोहे तेजबि लेहा।।
ऐछे फेरि रस ना पाओब आर। इथे लागि रोइ गलये जल धार।।
विद्यापति कह सुनह मुरारि। बसने लागल बाल रूप निहारि।।'

यह भक्त की आत्मा की पुकार नहीं हो सकती, क्योंकि वह अपनी आराधना की अधीश्वरी देवी का नग्न रूप में चित्रण कभी देख ही नहीं सकते। ये ही नहीं उसके मन में ऐसा विचार भी नहीं आ सकता, स्वयं देखने और दूसरों को दिखाने की बात ही और है।

3. विद्यापति को रस सिद्ध शृंगारी मानने का तीसरा आधार, उनका वयः संधि वर्णन है। शृंगार के उच्छल उद्गाता विद्यापति ने नायक और नायिका के बाल-जीवन की झाँकी प्रस्तुत नहीं की है। वे राधा के वयः संधि से लेकर उसके यौवन के रूपों का ही गुणगान करते हैं; ऐसे रूपों में सर्वत्र स्थूलता के ही दर्शन होते हैं-

'खने खने नयन कोन अनुसरई। खने खने बसन धूलि तनु भरई।।
खने खने दशन छटा छुटि हास। खने खने अधर आगे करु बास।।
हिरदय-मुकुल हेरि हेरि थोर। खने आंचर दय खने होय भोर।।'

ऐसे रूप का गुणगान कवि ने किसी धार्मिक भावना से प्रेरित होकर नहीं किया है, वरन् इसकी आधारभूमि में उनका उत्तेजक शृंगार भाव ही था।

4. विद्यापति पर शृंगारी कवियों तथा संस्कृत के रीतिकाव्य-प्रणेताओं का भी प्रभाव उन्हें शृंगार की परिधि में समेटता है। विद्यापति का नाम संस्कृत के कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, भारवि, अमरूक तथा जयदेव की परम्परा में लिया जाता है। विद्वानों का मत है कि विद्यापति अपने पूर्ववर्ती कवियों से प्रभावित-अनुप्राणित होकर ही शृंगारपरक पदों के

स जन में लगे थे। इसी का परिणाम है कि उक्त संदर्भित अधिकांश कवियों का स्फूट प्रभाव उनकी रचनाधर्मिता पर पड़ा है। चाहे वह अनुभूतिगत हो, या शैलीगत। जयदेव का वास्तविक दाय विद्यापति को ही मिला है, इस दाय पर विद्वानों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। स्थापना के पुष्टि के लिए विद्यापति को जयदेव से मिलाकर देखा जा सकता है। जैसा वसंत वर्णन जयदेव ने किया है वैसा ही विद्यापति भी करते हैं -

'मलय पवन बह। बसन्त विजय कह।।
भमर करइ रोल। परिमल नहि ओल।।
ऋतुपति रंग देला। हृदय रभस भेला।।
अनंग मंगल मेलि। कामिनी करथु केलि।।
तरुन तरुनि संगे। रइनि खेपब रंगे।।
विरहि विपद लागि। केसु उपजल आगि।।

उपर्युक्त तथ्यों एवं तर्कों के आधार पर हिन्दी के अधिकांश विद्वान विद्यापति को एक समर्थ-सशक्त श्रंगारी कवि के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके विद्वानों के मत निम्नलिखित हैं-

1. **महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री** - शास्त्री ने 'कीर्त्तिलता' की प्रस्तावना में विद्यापति को श्रं गारी कवि सिद्ध करते हुए विस्तार से अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया है-जिसके मुख्य अंश हैं -

   (i) 'यह बड़े आश्चर्य की बात है कि संस्कृत-भाषा में लिखे हुए विद्यापति के स्म ति-ग्रंथों में शिव, गंगा और दुर्गा हैं; किन्तु कृष्ण का नाम कहीं भी नहीं है। ...मुझे तो इसका एक ही अर्थ मालूम पड़ता है कि विद्यापति जब आदि (श्रं गार) रस का गाना लिखते थे तब राधा-कृष्ण का नाम विशेष रूप से स्वयं आ जाता था। यह स्वाभाविक है।'

   (ii) 'विद्यापति के करीब-करीब 200 वर्ष पश्चात् कीर्तन की स ष्टि हुई। विद्यापति के पद कीर्तन के लिए नहीं बनाए गए थे।'

   (iii) 'विद्यापति ने कीर्तन का गान नहीं लिखा है, तो भी विद्यापति के पद कीर्तन में मिला लिए गए हैं। विद्यापति वैष्णव नहीं थे, किन्तु पंचदेवोपासक थे, विद्यापति सौंदर्य के कवि थे, उन्होंने सौंदर्य की स ष्टि की है। आदि रस (श्रंगार रस) सौंदर्य की खान है। उस रस में विद्यापति ने अनेक गीत लिखे। आदि रस में राधा-कृष्ण का प्रेम-वर्णन अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है, इसलिए विद्यापति ने उसका यथेष्ट रूप से व्यवहार किया है। अनेक जगह राधा-कृष्ण का नाम ऐसे ही दे दिया गया है। श्रंगार रस ही उसका प्रधान लक्ष्य है।'

2. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** - 'विद्यापति के अधिकांश पद श्रंगार के ही हैं, जिनमें नायिका और नायक राधा-कृष्ण हैं। इन पदों की रचना जयदेव के गीत गोविन्द के अनुकरण पर ही शायद की गई हो। इनका माधुर्य अद्भुत है। विद्यापति शैव थे। उन्होंने इन पदों की रचना श्रंगार काव्य की द ष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्ण भक्तों की परम्परा में न समझना चाहिए। आध्यात्मिक रंग के चश्में आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने 'गीत गोविन्द' के पदों को आध्यात्मिक संकेत बनाया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्ण-भक्तों के श्रंगारी पदों की भी

ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। उनकी इन बातों से यह पता नहीं चलता कि वह बाल-लीला के पदों का वे क्या करेंगे। इस संबंध में यह अच्छी तरह समझना चाहिए कि लीलाओं का कीर्तन कृष्ण-भक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएँ वर्णित हैं, उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी गई हैं, जहाँ व ंदावन, यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्य रूप हैं। इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।'

3. **डॉ० रामकुमार वर्मा** - राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है। आनन्द ही उसका उद्देश्य है और सौंदर्य ही उसका कार्य-कलाप। विद्यापति के इस बाह्य संसार में भगवत् भजन कहाँ? इस वयः संधि में ईश्वर से संधि कहाँ? सद्यः स्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ और अभिसार में भक्ति का सार कहाँ? उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं। उससे हृदय मतवाला हो सकता है, शांत नहीं।'

2. **डॉ० बाबूराम सक्सेना** - 'विद्यापति के पदों के अध्ययनोपरांत पता लगता है कि वे अत्यंत शृं गारी कवि थे। इन पदों को 'राधा-कृष्ण' की भक्ति पर आरोपित करना पद-पदार्थ के प्रति अन्याय है। कवि विद्यापति के रसिक होने का परिचय उनके प्रथम ग्रंथ कीर्तिलता पढ़ने से ही हो जाता है। जौनपुर की वेश्याओं का और वहाँ की बनैनियों का जो वर्णन उन्होंने किया है, वह उनके रसिक शृंगारी होने का पूर्ण परिचायक है।'

3. **डॉ० उमेश मिश्र** - 'जितनी कविताएं राधाकृष्ण को लेकर कवि ने बनाई प्रायः सभी शृंगारिक हैं और कवि ने संसार के स्त्री-पुरुष को राधा-कृष्ण के नाम में अन्योक्ति रूप में मिथिलादेशीय सब प्रकार के मनुष्यों के उचित आचार-विचार तथा व्यवहार के अनुकूल शृंगारिक-मात्र सभी बातों का संग्रह अपने पदों में किया है। राधा-कृष्ण के नाम मात्र से यह न समझना चाहिए कि लेखक केवल भक्ति-रस की परकाष्ठा पर पहुँचकर जीव-ब्रह्म के ऐक्य ही को शृंगारिक शब्दों में कह रहा है।' डॉ० मिश्र ने विद्यापति के पदों की प्रभाव सीमा का विश्लेषण करते हुए भी उनके पदों को शृं गारी सिद्ध किया है - 'शृंगारिक जीवन व्यतीत करनेवाली मैथिली स्त्रियों में ही विद्यापित की शृं गारिक कविताएँ अधिक प्रिय रही हैं। उन्होंने ही सबसे अधिक इन कविताओं को अपनाया है। मिथिला की स्त्रियों ने इन कविताओं को अपनी रुच्यानुसार प्रधान रूप से चार भागों में विभक्त कर लिया है। प्रेम की प्रायः सभी कविताओं को ये 'तिरहुति' कहती हैं तथा इन्हीं में जो विरह-वियोग के संबंध में है, उन्हें 'वरगवती' कहती हैं। इन्हें वैवाहिक अवसर पर ही गाती हैं। कुछ कविताएं, शृंगारिक होते हुए भी 'नायिका की विरह-दशा के नाश करने के उपायों से युक्त होती हैं इन्हें 'योग' कहती हैं तथा जिनमें नायिका के अनुनय तथा विनय भरे हुए हैं, उन्हें वे 'उचिती' कहती हैं। मिथिला की परंपरा में विद्यापति शृंगारी कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं, वैष्णव कवि के रूप में नहीं।

6. **रामव क्ष बेनीपुरी** - 'इनकी कविताएं विशेषतः राधा-कृष्ण विषयक हैं। अतः लोगों की धारणा है कि वे वैष्णव ही रहे होंगे। बंगाल में भी पहले यही धारणा थी। बाबू ब्रजनंदन सहाय ने अपने समर्पण पत्र में इन्हें 'वैष्णव कवि चूड़ामणि' लिखा है, किन्तु जनश्रुति और प्रमाण इसके विरूद्ध हैं।'

बात यों है कि ये शृंगारिक कवि थे। शृं गार के आराध्य देव श्रीकृष्णजी थे। अतः शृंगारिक वर्णन में राधा कृष्ण के रास के विलास का ही सहारा लिया जाता है। सभी भारतीय शृंगारिक कवियों ने भी इस युगल-मूर्ति को लक्ष्य करके, शृंगारिक रचनाएं की हैं, किन्तु

इससे कवि को वैष्णव मान लेना ठीक नहीं। इनके पिता शैव थे। शिव की उपासना के बाद ही उन्हें यह पुत्ररत्न प्राप्त हुआ था। ऐसी अवस्था में इनका शैव होना बहुत संभव है। जनश्रुति भी ऐसी ही है। यही नहीं इनका पद भी इसी ओर संकेतित करता है-

'आन चान कमलासन सब गनहरि परिहरि हम देवा।।
भगत-बछल प्रभुवान महेसर जान कएलि तुअ सेवा।।'

7. **डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित** - 'मैथिल कोकिल' की प्रसिद्ध रचना 'पदावली' उन्हें भक्त सिद्ध नहीं करती। हमारा विश्वास है कवि विद्यापति की श्रंगारी कविताओं को पसंद करके उन्हें आश्रयदाताओं और जनता ने जो उपाधियाँ वितरित की थीं, उनका खुला प्रयोग कवि ने अपनी पदावली की श्रंगारिक भावनाओं से ओत-प्रोत पदों में जिस निष्ठा से किया है, उसी निष्ठा से वे उन उपाधियों का भी प्रयोग करते जो उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें मिलती। न वे भक्त थे, न पुरस्कार स्वरूप उन्हें वैसी उपाधियाँ मिलीं और न ही उसका वे प्रयोग कर पाए। विद्यापति तो वास्तव में रस-सिद्ध कवि थे, इसीलिए जिस भाव की कविता में जब जिस कारण से भी उनका मन रमा, उन्होंने उस भाव की कविता तभी लिख डाली और अपने सिद्धत्व से उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। विद्यापति मूलतः एक श्रंगारी कवि थे। विद्यापति ने यौवन के अत्यन्त मनोरम चित्र अंकित किए हैं। ये चित्र मांसल, स्वस्थ और मनोरम हैं। उनका यह वर्णन जयदेव की परंपरा में है। गीत-गोविन्द के विलास, कुतूहल का विद्यापति की पदावली पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। विद्यापति ने नायिका के नख-शिख, सद्यः स्नाता, मानवती, अभिसारिका, विरह से व्यथित आदि विभिन्न रूपों का अंकन किया है।

8. **पंडित शिवनंदन ठाकुर** - पंडित शिवनंदन ठाकुर ने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों का खंडन करते हुए विद्यापति को श्रं गारिक कवि सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत प्रमाण निम्नलिखित हैं-

(i) यदि विद्यापति अपने समय की परिस्थिति के प्रतिकूल किसी भी नवीन भक्तिमार्ग का प्रचार करना चाहते तो समसामयिक दार्शनिक मैथिल विद्वानों के द्वारा उस मत की गवेषणापूर्ण आलोचना अवश्य होती। परन्तु आलोचना की बात तो दूर रही, मिथिला की किसी पुस्तक में पति के रूप में ईश्वर की उपासना की चर्चा भी नहीं है।

(ii) विद्यापति के समय से लेकर आज तक मिथिला को यह भी मालूम नहीं है कि इस तरह का भी एक भक्तिमार्ग है।

(iii) जिस प्रकार उदना की कथा किंवदंती के रूप में मिथिला में प्रसिद्ध है, उसी प्रकार यदि विद्यापति पति के रूप में ईश्वर के उपासक होते तो उनकी उपासना, उसका प्रतिवाद, समर्थन की कथा भी प्रसिद्ध रहती।

(iv) विद्यापति या अन्य किसी मैथिल कवि की रचना में पति के रूप में ईश्वर की उपासना की ओर संकेत नहीं पाया जाता।

विद्यापति श्रंगारी कवि थे, इस विषय में पंडित शिवनंदन ठाकुर के प्रबल तर्क द्रष्टव्य हैं-

(a) उस दार्शनिक युग में किसी विद्वान के किसी ग्रंथ में पति के रूप में ईश्वर की उपासना का समर्थन या समालोचना नहीं है। उदना की कथा की तरह किंवदंती के रूप में भी यह प्रसिद्ध नहीं है।

(b) तांत्रिक उपासना की तरह इस उपासना का थोड़ा भी अनुकरण मिथिला में नहीं पाया जाता।

(c) विद्यापति की पदावली श्रंगार रस-प्रधान आर्यासप्तशती आदि ग्रंथों के आधार पर रची गई है।

(d) विद्यापति के प्रथम काव्य 'कीर्तिलता' में वेश्याओं तथा बनिनियों का श्रं गार-रसमय विशद् वर्णन है।

(e) विद्यापति के पदों को सुनकर महाप्रभु चैतन्य का मूर्छित हो जाना केवल राधा-कृष्ण नाम के कारण और महाप्रभु की अतिशय संवेदनशीलता के कारण है।

(f) 'कीर्तिपताका' में विद्यापति ने कहा है कि राम को सीता की विरह वेदना सहनी पड़ी। इसलिए उन्हें कामकला-चतुर अनेक रमणियों के साथ रहने की उत्कट अभिलाषा हुई। इसी कारण उन्होंने कृष्णावतार लेकर गोपियों के साथ अनेक प्रकार के विहार किए। इससे यह स्पष्ट होता है कि राधा-कृष्ण के श्रंगार-वर्णन में कोई दार्शनिक गूढ़ रहस्य नहीं है, बल्कि राधा का अर्थ नायिका और कृष्ण का अर्थ नायक है।

इन तर्कों के पश्चात् इस द्विविधा के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि विद्यापति भक्त कवि हैं अथवा श्रंगारी कवि? वरन् यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति विशुद्ध रूप से श्रंगारी कवि ही हैं।

एक समालोचक के मार्मिक शब्दों में 'विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो वर्णन किया है, वह एक मिलनातुर नर-नारी का ही स्वस्थ, मांसल रूप प्रस्तुत करता है। संयोग के समय मुक्त होकर केलि-क्रीड़ा करते हैं और बिछोह के समय पुनः मिलने के लिए व्याकुल और व्यथित बने रहते हैं। राधा-कृष्ण संबंधी पदों में कहीं इसका आभास तक नहीं मिलता कि कृष्ण मानव-रूप ब्रह्म हैं और राधा उनकी नारी-रूप शक्ति। उनका रूप वही रहा है जो एक स्वस्थ, सुन्दर और विलास-लिप्सु नर-नारी का होता है। विद्यापति ने इन दोनों के संदर्भ में संयोग और वियोग-श्रं गार की दोनों स्थितियों का चित्रण किया है, परन्तु इसमें भी प्रधानता संयोग की ही रही है। उन्होंने संयोग के ऐसे मादक चित्र अंकित किए हैं, जिनमें कुंठाहीन उन्मुक्त सुख-भोग अपने संपूर्ण सौंदर्य, मादकता और प्रभाव के साथ सजीव और साकार हो उठा है। कुछ नीति-वादी आलोचकों को इन पदों में विलास की तीव्र गंध और सामाजिक मर्यादा की अवहेलना दिखाई पड़ी, इसीलिए उन्होंने विद्यापति को घोर श्रंगारिक चित्रण करनेवाला ऐसा कवि घोषित किया था जो समाज में विकृतियों को जन्म देनेवाला है। मानव-मनोविज्ञान की अवहेलना कर स्वस्थ श्रं गार को घातक सिद्ध करनेवाले आलोचक स्वस्थ श्रंगार के चितेरों की हमेशा इसी प्रकार उपेक्षा और भर्त्सना करते आए हैं, परन्तु जन-समाज पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विद्यापति के मांसल श्रंगार संबंधी पद आज भी उनके पाठकों में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं और समाज में जब तक यौवन की स्वाभाविक चेतना और आकर्षण रहेगा, तब तक बराबर लोकप्रिय बने रहेंगे। इन नीति-व द्धों को जंग की यह जवानी हमेशा इसी तरह अखरती रहेगी और श्रंगार का चित्रण भी सदा इसी प्रकार होता रहेगा।'

विद्यापति का प्रतिपाद्य श्रंगार था। यह उनकी परिस्थितियों के अनुरूप था। वे राज्याश्रित कवि थे, उन्हें अनेक राजाओं के आश्रय में रहना पड़ा। तत्कालीन मुस्लिम काल के प्रारम्भ में राजा विलासी और वीर होते थे। विद्यापति ने अपने आश्रयदाता राजाओं की विलास में लीन कुत्सित प्रव त्ति को शांत करने के रसराज युगलमूर्ति राधा-कृष्ण के माध्यम से अश्लील श्रंगारी काव्य की रचना की।

विद्यापति पर संस्कृत साहित्य की श्रंगारपरक रचनाओं का भी व्यापक प्रभाव पड़ा है। जयदेव के 'गीत-गोविन्द' की परम्परा का विकास विद्यापति की पदावली से स्पष्ट होता है। 'गाथा-सप्तशती' और 'आर्या-सप्तशती' द्वारा जो श्रंगार की परम्परा चली थी, उसी के अनुरूप विद्यापति ने भी मुक्तक काव्य शैली में राधा-कृष्ण की प्रेमलीला को माध्यम बनाकर श्रंगारिक भावना की अभिव्यक्ति की।

विद्यापति का श्रंगार वर्णन स्थूल है। उन्होंने बहुत से ऐसे श्रंगारी पदों की रचना की है, जिनमें राधा और कृष्ण का नाम भी नहीं है। अतः वे पद भक्ति-भाव संपन्न न होकर श्रंगारी हैं।

उपर्युक्त विवेचन एवं पदावली के अध्ययनोपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति प्रारंभ में श्रंगारी कवि थे, किन्तु अपनी साहित्य-सर्जना के प्रौढ़काल में वे भक्ति-भावना की ओर उन्मुख होते गए। प्रारम्भ में शुद्ध श्रंगारी कवि थे और उनकी रचनाएँ विलास का साधन थीं, किन्तु आगे चलकर वे युगलमूर्ति के प्रति उपास्य भाव से उन्मुख हुए और माधव से अपना उद्धार करने की विनती करने की ओर प्रव त्त हुए। अतः इससे यह सिद्ध हो गया है कि विद्यापति रस सिद्ध श्रंगारी कवि हैं।

अध्याय-5
विद्यापतिः श्रंगार वर्णन

श्रं गार को रसराज कहा गया है। प्रथमतः मात्र एक रस करुण था। 'एको रसो करुणेव।' उसके पश्चात् करूण, वीर, श्रंगार एवं शांत चार रस हुए। चार से नौ तथा नौ से सूर द्वारा प्रतिपादित वात्सल्य रस, तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित भक्ति एवं प्रेम रस तीन रसों के समावेश से हिंन्दी साहित्य में रसों की संख्या बारह हो गई। श्रंगार इन सभी रसों में श्रेष्ठ अर्थात् रसराज है। रस का अर्थ आनन्द होता है। इसी द ष्टि से इसे ब्रह्मानंद स्वाद सहोदर कहा गया है।

महर्षि पत जलि ने योग को चित्त व त्ति का निरोध कहते हुए लिखा है - 'योगश्चित्तव त्ति निरोधः।' अर्थात् अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष और अभिनिवेश ये पाँच प्रकार के क्लेश, मनुष्य को जीवन-मरण के चक्र में फँसाए रखते हैं और वह योग साधना करके ही इन क्लेशों से बचकर ईश्वर में मिल अथवा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। उसे संसार से विरक्त होकर प्राणायामपूर्वक ईश्वर का ध्यान करना चाहिए और समाधि लगानी चाहिए। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग कहे गए हैं। योग के द्वारा साधक अणिमा, गरिमा, लघिमा आदि आठ प्रकार की विभूतियाँ या सिद्धियाँ भी प्राप्त कर सकता है और अंत में मोक्ष या कैवल्य प्राप्त कर लेता है।

श्रंगार रस में भी प्रेमी-प्रेमिका अथवा पति-पत्नी के योग हो जाने पर परिवार एवं संसार से विरक्ति हो जाती है। श्रं गार के दोनों पक्ष संयोग (सम् + योग) तथा वियोग (वि + योग) 'सम्' एवं 'वि' उपसर्ग के योग से बने हैं।

'श्रंगार' की व्युत्पत्ति देखने से ज्ञात होता है कि 'श्रं ग' और 'आर' के योग से 'श्रंगार' शब्द बना है। 'आर' प्रत्यय गतिमयता का द्योतक है जो 'श्र' धातु में लगा है। 'ऋ' धातु का आर एवं अर् रूप हो जाता है यण संधि में । यथा महा+ऋषि = महर्षि। इस द ष्टि से श्रंगार का अर्थ काम-प्राप्ति या व द्धि है। श्रंगार रस का स्थाई भाव 'रति' है। जिस प्रकार श्रंगार रस ही नहीं महारस है उसी प्रकार 'काम' भाव ही नहीं 'महाभाव' है। जो श्रंगार रस के रसराजस्व को प्रमाणित करता है। श्रं गार जीवन की सार्थकता है जो संसार को संचादित करता है। श्रं गार जीवन का सार है। श्रंगार रस अंगी है जिसके अन्य सभी रस अंग हैं। इसमें न केवल अधिकांश संचारी भाव अपितु अन्य समस्त रस भी संचारी रूप में सन्निहित रहते हैं। भोज राज करुण के स्थान पर श्रंगार को ही रस की कोटि में स्वीकारते हैं। अन्य रस, उनकी द ष्टि में, श्रंगार की समग्रता की मध्यवर्ती स्थितियों के रूप में होते हैं। उसकी प्रभावकता एवं संप्रेषणीयता असंदिग्ध है।

आचार्यों ने श्रंगार के दो भेद स्वीकारें हैं - संयोग, वियोग। इन दोनों से पूर्व नायक-नायिका में वैचारिक समानता रहती है जिसे संयोग से पूर्व समयोग की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि समयोग के अभाव में संयोग होना संभव नहीं है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 'म' को हलंत् मुक्त करके उसे अनुस्वार का रूप देकर 'समयोग' को 'संयोग' में समाहित कर लिया गया है।

विद्यापति की पदावली का प्रधान प्रतिपाद्य शं गार रस है। कवि ने पदावली में शं गार के दोनों पक्षों का अत्यंत मार्मिक निरूपण किया है। श ंगार वर्णन की द ष्टि से महाकवि विद्यापति अनुपम हैं। श ंगार तत्त्व ने पदावली के गीतों को सरसता प्रदान कर उन्हें जीवन्त बनाने का श्रेय प्राप्त किया है। श ंगारत्व ने पदावली के सहृदय को प्रेम रत्नाकार की उत्ताल तरंगों के द्वारा पागल बना दिया है। वह श ंगार रस में आकंठ सराबोर हो जाता है। इसमें ऐंद्रिक रूप रचना एवं अनुभाविक भावना का ऐसा सुंदर समावेश हुआ हे कि सहृदय को मंत्रमुग्ध कर देता है। वियोगिनी राधा का हृदय विदारक दुख सामान्य प्राणी को भी अपार पीड़ा प्रदान करता है। विद्यापति में मानों श ंगार स जन में इसका कोना-कोना झांक लिया है इसलिए इसमें कहीं अधूरापन द ष्टिगोचर नहीं होता है। श ंगार रस के दोनों पक्षों-संयोग-वियोग की विभिन्न स्थितियों परिस्थितियों भावों-अनुभावों, का ऐसा अप्रतिम संश्लिष्ट एवं मर्मस्पर्शी रूप विद्यापति के श ंगार-वर्णन की अन्यतम विशेषता है।

संयोग श ंगार

विद्यापति संयोग श ंगार के मूर्धन्य कवि हैं। जिसमें नायक-नयिका के पारस्परिक मिलन, अवलोकन, आलिंगन, तत्जनित आनन्द और काम-क्रीड़ा का अद्वतीय वर्णन मिलता है। इसे संभोग या संयोग श ंगार कहा जाता है। संयोग श ंगार वर्णन की द ष्टि से विद्यापति की पदावली अति सफल काव्य है। रूप वर्णन में नखशिख, वेशभूषा, आकृति-प्रकृति, सकुमारता आदि का विवेचन होता है।

राधा पर कृष्ण आसक्त हैं। वे राधा का अनुगमन करते हुए कूंजों में मिल जाते हैं तथा राधा का मार्ग अवरूद्ध कर देते हैं इतना ही नहीं अपने मन की प्यास भी बुझाने को उद्यत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में राधा कहती है-

"कुंज-भवन सएं चलि भेलि रे, रोकल गिरिधारी।
एकहि नगर बसु माधव हे, जनु कर बटमारी।।
छोडु कन्हइया मोर आंचर हे, फाटल नव सारी।
अपजस होएत जगत भरि हे, जनु करिअ उधारी।।
संगक सखि अगुआइलि हे, हम एक-सरि नारी।
दामिनि आय तुलाइलि हे, एक राति अन्धारी।।"

'हम एकसरि नारी,' 'दामिनि आय तुलाइलि हे', 'एक राति अन्धारी' आदि के द्वारा न केवल राधा की कृष्ण के प्रति आसक्ति अपितु केलि-क्रीड़ा की व्यंजना होती है। राधा कभी अपनी प्रीति को हृदय में छिपा लेती है, कभी वह स्वयं स्पष्ट भाषिनी का रूप धारण कर कृष्ण पर प्रकट कर देती है। राधा के भाव-संचालन मं उसकी वाणी का मनोरम विलास विलसित होता है-

कर धरि करु मोहि पारे।
देब मैं अपरुब हारे, कन्हैया।।
सखि सबे तजि गेली।
न जानु कओन पथ भेली कन्हैया।।
हमे न जाएब तुअ पासे।
जाएब औघट घाटे, कन्हैया।।

विद्यापति ने अभिसारिका नायिका का अत्यधिक वर्णन किया है। सखी के बाधक रूप को देखकर नायिका अकेली भयंकर वर्षा की चिंता न कर प्रियतम से मिलने के लिए निकल पड़ती है। नायिका संकेत स्थल पर नायक से मिलने के लिए घसिटते-रपटते, गिरते-पड़ते कैसे चली जा रही है -

निअ मंदिर सएं पद दुइ चारि। घर घर बरसि मही भर बारि।।
पथ पीछर बढ़ गरऊ नितंब। खसुकत बेरि न किछु अवलंब।।
बिजुरि छटा दरसावए मेघ। उठए चाह जलधारक मेघ।।
एक गुन तिमिर लाख गुन भेल। उतरहु दखिन भानु दुर गेल।।
ए हरि करिअ मोहि जनि रोस। आजुक विलंब उइव दिअ क्षेस।।

विद्यापति की पदावली में संयोग श्रंगार के अति मनोरम, मदिर एवं आकर्षक चित्र अंकित किए गए हैं। संयोग श्रंगार की जीवंत अभिव्यक्ति के दर्शन मिलन, प्रथम-मिलन-गमन, पुनर्मिलन, अभिसार तथा केलि-क्रीड़ा आदि नाना रूपों में होते हैं।

अभिसार प्रसंगों में कवि ने मार्ग की बाधाओं आदि के वर्णन के उद्देश्य से काली पावस रातों का भयंकर वर्णन किया है जिसमें कवि की सूक्ष्मदर्शिता के दर्शन होते हैं-

"जलद सरिस जलधार
काजरे रांगलि राति
भमए भुजंगम भीम
पके पुरल चौसीम
दिग मग देखिए घोर
पयर दिअ बिजुरी अजोर।"

विद्यापति की अधिकांश रचनाएं श्रंगार-रस से ओत-प्रोत हैं। भारतीय श्रंगारी कवियों के प्रधान उपास्यदेव राधा-कृष्ण हैं। पदावली राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं से अटी पड़ी है-

"आलिंगए नीबि-बंध बिनु खोरि।
कर कुच परस सेह भेल थोरि।।
आचर लेइ बदन पर झांप।
थिर नति हो अइ थर थर कांप।।"

अथवा

हेरए बसन उधारि।।
भरवर सनमुख बोलइ सजनि गे
करे लागल सविलास।
नब रस रीति पिरीति मेल सजनि गे
दुहु मन परम हुलास।।

रति-क्रीड़ा के समय अंग-प्रत्यंगों का स्पर्श कामोत्तेजक होता है-

"सहए न पीर पयोधर हाथ।।
विघटल नीबी कर धर जांति।
अंकुरल मदन, धरए कत भांति।।
कोमल कामिनी नागर नाह।
कओन परि होएत केलि निरबाह।।
कुच-कोरक तब कर गहि लेल।
कांच बदरि अरुनिम रुचि मेल।।"

संभोग श ंगार में केलि-क्रीड़ा का वीभत्स रूप चित्रित करने में भी विद्यापति ने रंच मात्र संकोच नही किया है। नायक रति-क्रीड़ा से पूर्व नाड़ा खोल देता है, फिर हाथ से ढूंढता है। न मिलने पर दीपक जला लेता है। थकावट के कारण लंबी-लंबी सांसे लेने से मना करती है क्योंकि सखियां पास हैं-

निबि-बंधन हरि किए कर दूर।
एहो पर तोहर मनोरथ पूर।।
हेरने कओन सुख न बुझ बिचारि।
बड़ तुहु ढीठ बुझल वनमारि।।
× × × ×
बिहर से रहसि हेरने कौन काम।
× × × ×
करए विलास दीप लए जार।।
परिजन सुनि सुनि तेजब निसास।
लहु लहु रमह सखी जन पास।।

विद्यापति के संयोग श ंगार में संश्लिष्टता, प्रभावोत्पादकता, कलात्मकता एवं अनुभूति की प्रखरता हे। किशोरी राधा की मानसिक एवं शारीरिक तथा नायिका राधा की शारीरिक एवं भावनात्मक गत्वरता के रूपायन में कवि ने अपनी विराट कवित्व शक्ति का परिचय दिया है। वास्तव में राधा-कृष्ण के मिलन का मनोरथ रूप-रंग अत्यन्त उत्तेजक एवं ह्रदयाकर्षक है।

वियोग श ंगार

आचार्यों ने संयोग को सुषुप्ति एवं वियोग को जाग ति रूप में स्वीकारा है। वियोग श ंगार को विप्रलंभ श ंगार भी कहा जाता है इसके विषय में आचार्य विश्वनाथ की मान्यता है कि विप्रलंभ श ंगार के बिना संभोग श ंगार की पुष्टि नहीं होती है-

न बिना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।
काषायिते हि वस्त्राद्यौ भूयान्रागो विवर्ध्यते।।
साहित्य दर्पण।

वियोग का महत्व संयोग की अपेक्षा अधिक है। बिना श्रम एंव अनायास प्राप्ति उतना सुख नहीं देता है जितना सुख अत्यधिक प्रयत्न एवं कठिन परिश्रम के पश्चात् प्राप्ति से होता है। प्यासे को ही पानी के महत्त्व का ज्ञान होता है। आत प्त को रसगुल्ला भी स्वादिष्ट नहीं लगता है। सहज उपलब्ध वस्तु उपयोगी होने पर भी अनुपयोगी प्रतीत होती है। चिरप्रतीक्षा, चिरवियोगोपरान्त संयोग अति प्रेमोत्पादक एवं आनंदायक होता है।

संयोग एकांत चाहता है जब वियोग का रूप व्यापक एवं सार्वजनिक होता है। संयोग सुषुप्ति है वियोग जाग ति। संयोग में मात्र संयोग का आनंद होता है जबकि वियोग, वियोगानंद के साथ-साथ स्म ति संचारी भाव के द्वारा संयोग का भी आनन्द देता है। वियोग सांसारिक विरक्ति एवं परमात्मिक अनुरक्ति प्रदान करता है। इन सभी द ष्टियों से वियोग की महत्ता एवं श्रेष्ठता स्वयमेव प्रतिपादित हो जाती है।

विरह की सर्वमान्य दस अवस्थाएं मानी गई हैं अंतिम अवस्था मरण की है। इन दस अवस्थाओं को

वियोगिनी अकेली नहीं झेल पाती है इसलिए वियोगिनी अपने रूप एवं भावों का प्रस्तार-विस्तार एवं प्रचार तीनों लोकों में कर देती है जबकि संयोगिनी-संभोगिनी अकेली रहती है क्योंकि वे दो न होकर एक ही रहते हैं। 'दो शरीर एक प्राण' हो जाने से एकांत एवं अकेलापन आ जाता है। वियोगिनी के रूप एवं उसकी चेतना की व्यापकता के परिणामरूवरूप उदारता, सहृदयता, स्निग्धता, तथा विनम्रता उसकी अनुभूति को अत्यधिक मर्मस्पर्शी बना देते हैं।

वियोग श्रंगार के चार भेद हैं-

1. पूर्वराग
2. मान
3. प्रवास
4. करुण

विद्यापति की पदावली में वियोग के चारों रूपों का विशद चित्रण किया गया है।

1. **पूर्वराग** - मिलन से पूर्व प्रत्यक्ष, श्रवण, चित्र अथवा स्वप्न दर्शन से हुए प्रेम को पूर्वराग की संज्ञा दी गई है। सूफियाना विरह अधिकतर इसी प्रकार का है। विद्यापति में पूर्व राग का वर्णन प्रत्यक्ष दर्शन अथवा श्रवण द्वारा ही वर्णित है। नायक-नायिका परस्पर दर्शन अथवा दूतों द्वारा रूप-सौंदर्य का श्रवण कर प्रेमानुरक्त हो विरही हो जाते हैं। दूती राधा से कृष्ण की ऐसी ही प्रेमानुरक्ति का वर्णन करते हुए कहती है-

   "आसाए मंदिर निसि गमावए, सुखे न सूत सयान।
   जखन जतए जहि निहारए, ताहि ताहि तुम भान।।
   मालति सफल जीवन तोर।
   तोर विरहे भुवन भमए भले मधुकर भोर।।"

   नायक को सर्वत्र उसकी नायिका ही द ष्टिगोचर हो रही है जिसके परिणामस्वरूप अभिलाषा, चिंता, स्मरण, गुण कथन, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता एंव मूर्च्छा आदि विरह की नौ दशाओं का संकेत मिल जाता है। पूर्वराग का इसमें संश्लिष्ट एवं उत्कृष्ट वर्णन किया गया है।

   नायक की भांति नायिका भी पूर्वानुरागिनी है। नायिका राधा कृष्ण का पूर्ण परिचय प्राप्त किए बिना ही अपना दिल दे देती है जिसके फलस्वरूप विरहाग्नि में झुलसते हुए कह उठती है कि कृष्ण के अभाव में मेरा जीवन, यौवन एवं चतुराई आदि सभी बेकार हैं-

   "कि मोरा जौवने कि मोरा जीवने कि मोरा चतुरपने।
   मदनबान मुरुछलि अछओं सहओं जीवन अपने।।
   आध पयोधर ते मोर देखल नागर जन समाजे।
   कठिन हिरदय भेदि न भेले जाओ रसातल लाजे।।"

   पूर्वराग विरह के अंतर्गत विद्यापति ने नायक-नायिका की मनोव्यथा, पीड़ा, काम दशा आदि को अत्यंत स्वाभाविक एवं सजह चित्रण किया है।

2. **मान** - संयोगोपरांत किसी कारण अथवा अकारण रूठने से हुए वियोग को मान कहते

हैं। नायक-नायिका पास-पास रहकर भी कार्य-कलाप या व्यवहार बंद कर देते है। वास्तव में नायिका ज्ञान या आशंका हो जाने पर यह सुनिश्चित कर बैठती है कि नायक अन्य नायिका पर आसक्त हो गया। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण क्रिया-कलाप बंद कर कोपभवन में जा बैठती है। वास्तव में मान का वियोग-वर्णन की द ष्टि से विशेष महत्व नहीं है। मात्र सखी या दूती की वाक्पटुता की कलात्मकता में अभिव द्धि होती है तथा नायक-नायिका के प्रेम में सर्वथा नवीनता का संचार होता रहता है। प्रेम के साथ दुख एवं मान का अन्योन्याश्रम संबंध है। राधा को दारुण मानिनी के रूप में चित्रित किया गया है। सखी आकर राधा के मान का वर्णन करती हुई कृष्ण से कहती है कि हे कृष्ण राधा तुमसे इतनी नाराज है कि वह तुम्हारा नाम भी नहीं सुनना चाहती है -

"माधव, दुरजए मानिनि-मान
विपरित चरित्र पेखि चकरित भेल, न पूछलि आधहु बानि।।
तुअ रूप साम आखर नहिं सुनए, तुअरूप रिपु सम मानि।
तुअ जन संग सम्भास करए नहिं, कइसे मिलाइव आनि।।"

अंतरंगिनी सखी राधा का मान समाप्त करने हेतु प्रयत्नशील रही। उसने कहा कि हे राधा कृष्ण की बुराईयों पर ध्यान न दे क्योंकि पति-प्यार से वंचित कभी सुखी एवं प्रसन्न नहीं रह सकती।

नागरी राधा इस तथ्य से भली-भांति अवगत है कि वियोग कितना ह्रदय-दावक एवं दर्ददायक है। कृष्ण के व्यवहार से अत्यधिक दुखी राधा सखी से कहती है मुझे समझाने का व्यर्थ प्रयास कर नाहक तंग मत करो-

सजनी अपद न मोहि परबोध।
तोड़ि जोड़िअ जहां, गांठ पड़ए तहां, तेज तम परम निरोध।।

राधा ईश्वर से प्रार्थना करती है कि पुत्री का जन्म न हो। यदि जन्म हो भी, तो वह युवती न हो। यदि युवती हो, तो कामिनी न हो, यदि कामिनी हो, तेा कुलवंती हो। हे परमात्मा मेरी प्रार्थना स्वीकारें मुझे स्थायित्व प्रदान करें। मेरा स्वामी चतुर एवं रसिक हो तथा वह पर नारी का वशीभूत न हो। राधा के मान से अवगत हो कृष्ण भी आकुल-व्याकुल हो जाते हैं-

''बिरह व्याकुल नकुल तरुतर, पेखल नंद कुमार रे।
नील नीरज नयन सएं सखि, ढरए नीर अपार रे।।
पेखि मलयज-पंक म गमद, तामरस घनसार रे।
निज पानि पल्लव मूंदि लोचन, धनि पड़ि असंमार रे।।''

कृष्ण-मान से संबंधित अनेक पद हैं जिनमें कृष्ण राधा से नाराज होकर मान कर बैठते हैं। राधा उनको मनाती हुई कहती है-

''कत परि माधब साधब मान।
बिरही जुबति मांगि दरसन दान।।
जल-मध कमल, गगन-मध सूर।

आंतर चान कुमुद कत दूर।।

प्रवासः प्रिय के विदेश गमन के कारण नायिका की मानसिक स्थिति को प्रवास वियोग की संज्ञा दी गई है। प्रोषित पतिका राधा सर्वत्र-सदैव दया, प्रेम, सहयोग एवं सहानुभूति की कामना करने वाली विरहिनी स्वरूप चित्रित है।

कृष्ण के मथुरा गमन से हंसों की जोड़ी बिछुड़ गई-

''मधुपुर मोहन गेल रे, मोरा बिहरति छाती।
गोपी सकल बिसरलनि रे, जत छत अहिबाती।।''

कृष्ण के बिना राधा का कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में भाग्य को कोसने के अलावा अन्य उपाय नहीं है।

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसजि।
की सरसिज बिनु सूरे।
जौबन बिनु तन तन बिनु जौनन।
की जौबन पिय दूरे।।

राधा को प्रियतम द्वारा दी गई अवधि नख-गणना के द्वारा व्यतीत कर रही है। पाषाण हृदय प्रियतम के न आने पर व्याकुल-व्यथित राधा रो उठती है। संयोग के समय मोर का सुखद कूकना वियोगावस्था में हृदय में कांटा बनकर चुभ रहा है। राधा कृष्ण को चारों ओर निहारती है किन्तु कृष्ण के दर्शन नहीं होते-

लोचन धाए फेधायल,
हरि नहिं आयल रे।

मास-मास करके अनेक वर्ष बीत गए। जीवन की आशा, निराशा में परिवर्तित होने लगी। पाषाण हृदय प्रवासी का आगमन न होने से निरंतर कृष्ण का स्मरण करती हुई राधा कृष्णमय हो गई तथा स्व आचार-व्यवहार एवं दैनिक कार्य कर्मों का पूर्ण-रूपेण परित्याग कर दिया-

अनुखन राधा-राधा रटइत, आधा आधा बानि।
राधा सयं जब पुनतहि माधव, माधव सयं जब राधा।
दारुन प्रेम तबहिं नहीं छूटत, बाढ़त बिरहक बाधा।।

राधा को किसी सांत्वना की अपेक्षा नहीं रह गई है। उसका हृदय विदीर्ण हो गया है। वह "हा हरि, हा हरि" कहकर जीवन लीला समाप्त कर देना ही श्रेयस्कर समझती है।

करुण विरह

काम की अंतिम दशा अर्थात् मरण पर पहुंचकर भी म त्यु नहीं होती है तथा भविष्य में मिलनाशा बनी रहती है। यही करुण विरह की स्थिति होती है। नायक या नायिका की म त्यु का आभास करुण विरह होता है। विद्यापति पदावली में करुण विरह नगण्य है क्योंकि विद्यापति श ंगार के कवि हैं दिव्य लोकीय श ंगार के नहीं, लौकिक श ंगार के।

बारह मासा

संयोग में षड्ऋतु वर्णन किया जाता है क्योंकि संयोग में समय शीघ्रता से व्यतीत होता है। विरहावस्था का समय तिल-तिलकर काटना पड़ता है। वर्ष के बारह महीने बिताने अति दुष्कर होकर जाते हैं। वियोगाभिव्यक्ति हेतु कवियों ने बारहमासे का वर्णन अति स्वाभाविक एवं चित्ताकर्षक ढंग से किया है। विद्यापति के बारहमासा का श्रीगणेश आषाढ़ मास से ही परंपरानुसार किया गया है। प्रकृति को उद्दीपन रूप में ग्रहण किया है। राधा प्रकृति की प्रतिकूलता के कारण विरह व्यथिता हो गई है-

"भादव मासि बरस घनघोर।
समदिसि कुहुकए दादूर-मोर।
चेहुंक-चेहुंक पिया कोद समाय।
गुनमति सूतलि अंक लगाय।"

बारह मासे में नायिका के दशानुकूल प्रकृति का रूप दर्शन होता है, परन्तु विद्यापति के पदों में ऐसे पदों का अभाव है क्योंकि विद्यापति का विरह वर्णन विशुद्ध भारतीय है जिसमें मात्र रति का चित्रण ही वांछित है। उनका वियोग वर्णन भौतिक है। आध्यात्मिक नहीं। कवि नायक-नायिका के मिलन, भाव-मिलन एवं विरह तक ही नहीं रह जाता, वरन् वह और भी आगे बढ़कर, भारतीय काव्य परम्परा का अनुकरण करते हुए, उनके केलि-विलास का भी अद्वितीय वर्णन प्रस्तुत करता है।

पदावली के वियोग वर्णन में काम की समस्त अंतर्दशाओं का चित्रण किया गया है। आचार्यों ने प्रायः ग्यारह दशाओं का उल्लेख किया है-

1. अभिलाषा
2. चिंता
3. स्मरण
4. गुण कथन
5. उद्वेग
6. प्रलाप
7. उन्माद
8. व्याधि
9. जड़ता
10. मूर्च्छा
11. मरण।

विद्यापति ने अनेक पदों में काम दशाओं का चित्रण किया है। यथा-

1. **अभिलाषा** - वियोगावस्था में प्रियतम के संयोग की कामना 'अभिलाषा' कहलाती है। क्योंकि नायक के विदेश चले जाने पर नायक-नायिका का परस्पर विछोह हो जाता है। इसलिए नायिका के मन में प्रियतम से मिलने की प्रबल उत्कंठा होती है। वह चाहती

है कि शीघ्रातिशीघ्र उसे नायक के दर्शन हों और उसके संसर्ग से उत्पन्न सुख का भोग करे-

'कल दिन प्रिय मोर पूछब बात,
कबहु पयोधर देहब हाथ।
कत दिन लेई बैठाइब कोर,
कत दिन मनोरथ पूरन मोर।'

2. **चिंता** - प्रियतम के संदर्भ में सोचना, प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होना 'चिंता' कहलाती है। प्रवासी प्रियतम के विरह के कारण नायिका सदैव चिंतातुर रहती है। वह अहर्निशि उससे मिलने के लिए छटपटाती रहती है जिसके परिणामस्वरूप उसकी शारीरिक कांति चली जाती है, शक्ति क्षीणता आ जाती है। इसी द ष्टि से चिंता को चिता से बड़ा माना गया है क्योंकि चिता मुर्दे को जलाती है चिंता जिंदे को जलाकर राख कर देती हे। राधा चिंतातुर हो कांति विहीन हो गई है मानो विरह व्यथा से पीड़ित होकर उसने अपने मुख की शोभा शरद कालीन चंद्रमा नेत्रों की चंचलता हिरण और केश पास चमरी गाय को सौंप दिया हो-

'सरदक ससधर मुखरुचि सोंपलक,
हरिनक लोचन लीला।
केस-पास लए चमरिक सोंपलक,
पाए मनोभव पीला।'

3. **स्मरण** - स्मरण को स्म ति भी कहा जाता है क्योंकि वियोग दशा में संयोगवस्था की अनुकूलता आनंददायक कार्य-व्यापारों की स्म ति को ही 'स्मरण' कहते हैं। संयोगावस्था में नायक-नायिका अनेक प्रकार की आनंदमयी रंगरेलियां करते रहते हैं। वियोगावस्था में इन आनन्ददायक केलि-क्रीड़ाओं की स्म ति नायिका के हृदय में शूल बनकर चुभने लगती है। इन्हीं क्रीड़ाओं का बार-बार स्मरण करना स्म ति अवस्था कहलाती है। आनन्दमयी क्रीड़ाओं को स्म ति में लाती हुई राधा अपनी सखी से कहती है कि कल शाम ही प्रियतम ने मुझसे कहा था कि मैं मथुरा जाऊंगा। मैं अभाग्यशालिनी उनके कथन को नहीं समझ सकी, अन्यथा योगिनी वेश-धारणा कर जैसे सीता राम के साथ बन गई थी मैं भी मथुरा कृष्ण के संग चली जाती। मेरा हृदय अति कठोर है जो प्रियतम के विरह में चूर-चूर नहीं हो जाता है। मैं रात में प्रियतम के संग बिस्तर पर सोई थी। पर न जाने कब वह गौतम का रूप धारण कर मुझे सोती छोड़ चला गया। इस प्रकार चकवा की जोड़ी बिछुड़ गई-

'कालि कहल पिया सांझहि रे, जाएब मोय कारुअ देस।
हमे अभागिन नहिं जानत रे, जइतओं जोगिनि बेस।
हृदय मोर बड़ दारुन रे, पिया बिनु बिहरि न जाए।
एकहि सयन सखि सूतल रे, अछल बालम्भ निसि मोर।
न जानत लखन तेजि गेल रे, बिछुरल चकेवा जोर।'

4. **गुण कथन** - परदेशी प्रियतम के गुणों का वर्णन करना 'गुण कथन' कहलाता है। विहरिणी राधा कृष्ण के अपार प्रेम का वर्णन करती हुई कहती है कि संयोगावस्था में मेरे

प्रियतम मेरे मुख को देख-देखकर अपार सुख का अनुभव करते थे और एक पल को भी मुझसे अलग नहीं होते थे। उन्होंने अपने अपूर्व प्रेम-पाश में मुझे बांध लिया था किंतु अब वे ही मेरा साथ छोड़कर चले गए हैं-

'पहिले पिया मोर सुख मुख हेरि-हेरि,
तिलयक छोड़ल न अंग।
अपहव पेम-पास तन-गांथल
अब तेजल मोर संग।'

5. **उद्वेग** - प्रियतम वियोग की अतिशय व्याकुलता को 'उद्वेग' की संज्ञा दी गई है। इस दशा में विरहिणी अपने मन एवं शरीर का नियंत्रण खो बैठती है क्योंकि उसमें नियंत्रण की सामर्थ्य अवशिष्ट नहीं रह जाती है। विरहिणी राधा भी इतनी उद्वेगमयी बन जाती है कि उसे कृष्ण के प्रत्यावर्तन तक अपने जीवित रहने की कोई आशा ही नहीं रह जाती है -

"सजनी! के कह आओब मधाई।
विरह पयोधि पार किए पाओब, मझु मन नहि पति आई।
एखन-तखन करि दिवस गमाओत, दिवस-दिवस करि मासा।
मास-मास करि बरस गमाओल, छाड़लि जीवन-आसा।"

6. **प्रलाप** - विरह व्यथा के कारण विरहिणी इतनी अस्थिर हो जाती है कि वह पागलों जैसी बातें करने लगती है। उसी दिशा को प्रलापावस्था कहा गया है। इस अवस्था में राधा अपने समस्त श ंगार प्रसाधनों को उतारकर फेंकने के लिए आतुर द ष्टिगोचर होती है -

"पिय यदि तेजल सौलह सिंगार सब,
युमन-सलिल सब डार रे।
सीसक सेंदुर साजनी दुर करुं,
पिय बिनु सकल निसार रे।"

7. **उन्माद** - विरहिणी विरह-व्यथा की अतिशयता के कारण पागलों जैसा व्यवहार करने लगती है। उसकी यह दशा उन्मादावस्था कहलाती है। राधा निरंतर कृष्ण को स्मरण करते-करते स्वयं कृष्णमय हो जाती है तथा वैसा ही व्यवहार करने लगती है-

"अनुखन माधव माधव सुमरइल,
सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहिं विसरल,
अपने गुन लुबधाई।"

8. **व्याधि** - आदि शारीरिक तथा व्याधि मानसिक रुग्णता का नाम है। विरह-व्यथा से उत्पन्न मानसिक बीमारी को व्याधि कहा गया है। इस अवस्था के दाहमयी एवं शैत्यमयी दो भेद हैं। नायिका का दाहमयी वर्णन दाहमयी व्याधि कहलाता है। शीतलता के कारण शारीरिक कंपनादि का वर्णन शैत्यमयी व्याधि कहलाता है। दाह-शैत्य का मानसिक प्रभाव देखा जाता है। विद्यापति ने राधा की इन दोनों व्याधियों का वर्णन किया है।

दाहमयी व्याधि

चंद चंदन तन अधिक उतापए,
उपबन अति उतरोल रे।
समय बंसत कंत रहु दुर देस,
जानल विधि प्रतिकूल रे।

यहां चंद्रमा, चंदन और वसंत का दाहक रूप वर्णित है। यह मानसिकता के कारण है अन्यथा में कभी भी दाहक नहीं होते हैं। अतः यहां दाहमयी व्याधि है।

शैत्यमयी व्याधि - शारीरिक कंपन का वर्णन शैत्यमयी व्याधि कहलाता है-

सखि हे! कतहु न देखिअ मधाई।
कांप शरीर थीर नहिं मानस, अबधि नियर भेलि आई।

कहीं शीत का प्रभाव नहीं है। अवधि की निकटता शरीर को कंपायमान मानसिकता के कारण बना रही है।

9. **जड़ता** - प्रिय या अप्रिय वस्तु का अचानक दर्शन या श्रवण बौद्धिक एवं शारीरिक, निष्क्रियता एवं शून्यता ला देता है। ऐसी अवस्था को जड़ता की संज्ञा दी गई है क्योंकि इस दशा में विरहिणी चेतना खोकर जड़वत हो जाती है। कृष्ण के विरह में राधा इतनी दुर्लब एवं निष्किम हो गई है कि बैठ जाने पर उसमें उठने की शक्ति या चेतना नहीं रह जाती है। आंखों से निरंतर अश्रुधारा प्रवाहित करती रहती है-

"तुअ गुन सुंदरि अति भेल दूबरी,
गुनि-गुनि प्रेम तोहाब।
धरती धारि धानि कत बेररि बइसए,
पुन लहि उठए न पारा।"

10. **मूर्च्छा** - मूर्च्छा को प्रायः आचार्यों ने काम दशा के अंतर्गत न लेकर दस अवस्थाओं का ही वर्णन किया है किन्तु कुछ आचार्य दस अवस्थाएं न मानकर विरह की ग्यारह अवस्थाओं को मान्यता देते हैं। अपनी स्थिति को भूल जाना 'मूर्च्छा' या 'मूर्च्छित' कहलाता है -

अकमिक मंदिर भेलि बहार। चहु दिस सुनलक अमर-झंकार।
मुसदि खसलि महि न रहलि थीर। न चेहए चिकुर न चेतएं चीर।

11. **मरण** - एक स्थिति ऐसी आती है जब नायक या नायिका अथवा दोनों विभोग की स्थिति को सहन करने में असमर्थ हो जाते है एवं मरने के लिए तत्पर द ष्टिगोचर होते हैं उसी को 'मरणावस्था' कहा गया है-

माधव जानल न जिउति राही।
जतबा जकर ले ले छल सुंदरि
ते सब सोंपलक ताही।

अनेक आचार्यों ने मरण का बहिष्कार करके विरह की नौ अवस्थाएं ही स्वीकारी हैं

क्योंकि मरण तुल्य दशा को ही मरण माना गया है। यह भी पता नहीं लगता है कि नायिका जीवित है या मर गई।

विद्यापति ने राधा के विरह-वर्णन में वियोग की ग्यारहों दशाओं की विशेषताओं का मार्मिक वर्णन किया है उनके विरह वर्णन की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इनका विरह-वर्णन उभय पक्षी है। अर्थात् मात्र राधा ही कृष्ण के विरह से व्यथित नहीं हैं अपितु कृष्ण भी राधा विरह में उतने ही आकुल-व्याकुल हैं। अपनी व्याकुलता का वर्णन करते हुए वे राधा की सखी से कहते है कि एक ही शैया पर किसी ओट को मन में क्षण भी नहीं सह पाता था तथा हम दोनों के शरीर भिन्न रहते थे। मन एक होता था। उस अवस्था में पुलक का अंतर भी पर्वत के अंतर के समान कष्टकारक अनुभव होता था। आज राधा मुझसे दूर है। मेरे प्राण जीवित रहकर इस कठोर वेदना को सह रहे हैं। राधा बिना तो मुझे मथुरा का अपार वैभव भी सूना एवं दुखदाई प्रतीत होता है -

तिला एक सयन ओट जिब न सहए, न रइह दुहु तनु भीन।
मांझे पुलक गिरि अंतर मानए, अइसन रह निसि दीन।
सजनी! कओन परि जीवए कान।
राहि रहलि दुरि हमे, मथुरापुर, एतहु सहए प्रश्न।
अइसन नगर अइसनि नव नागरि, अइसन संपद मोर।
राधा बिनु सब बाधा मानिअ, नयन न तेजिए तोर।

विद्यापति ने पदावली में श्रंगार के दोनों भेदों के मर्म-स्पर्शी चित्र उकेरे हैं। उनका संयोग वर्णन जहां अत्यंत मदिर, मधुर, ऐंद्रिय एवं एकांतिक है वहीं वियोग का वैभव तलस्पर्शी विस्त त एवं व्यापक हे। उसमें गहन वेदना, पीड़ा और व्यथा का सफल सामंजस्य है तथा करुणा एवं सहानुभूति की अपार उद्रेक शक्ति है। उनके तत्संबंधी प्रत्येक, चित्र अद्वितीय हैं। पदावली के अधिकांश पद उत्कट वियोग को प्रकट करने की सामर्थ्य रखते हैं। मिलन का स्वर्गिक उल्लास एवं विरह की मर्मांतक वेदना, दोनों के चित्र उकेरने में विद्यापति को अपूर्व सिद्ध हस्तता प्राप्त है। उनकी ऐसी द्विरुचक रचनाएं अन्य साहित्यों के बड़े-बड़े कवियों के समक्ष रक्खी जाती हैं। विद्यापति के काव्य में संयोग-वियोग का वर्णन अत्यंत उत्कृष्ट कोटि का है। कवि की भाव-प्रवणता अति सराहनीय है। कवि ने श्रंगार-रस के दोनों पक्षों संयोग एवं वियोग का इतना मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है कि मात्र हिंदी साहित्य का ही नहीं, वरन् वे विश्व साहित्य की अमूल्य निधि बन गए हैं।

अध्याय-6
विद्यापतिः सौंदर्य-चेतना

सुंदर होने की अवस्था, गुण या भाव को सौंदर्य कहते हैं। किसी वस्तु या व्यक्ति का वह गुण या तत्व समूह जो उसके आकार या रूप को आकर्षक एवं नेत्रों के लिए सुखदायक बनता है। इसी को सुंदरता या ब्यूटी कहते हैं। किसी सुंदर वस्तु को देखकर हमारे मन में जो आनंददायिनी अनुभूत होती है उसके स्वभाव एवं स्वरूप का विवेचन तथा जीवन की अन्यान्य अनुभूतियों के साथ उसका समन्वय स्थापित करना सौंदर्यशास्त्र का मुख्य उद्देश्य होता है।

सौंदर्य-चेतना की उपयोगिता के विषय में अध्यात्मवादी आलोचकों ने अन्य प्रकार से चिंतन किया है। उनका कथन है कि प्रकृति अराजकता का समूह नहीं है, उसके प्रत्येक स्पंदन में एक निश्चित नियम या ऋतु की प्रेरणा कार्य करती है। रचनाधर्मों कवि प्रकृति के अंदर निहित इसी सत्य का अन्वेषण करता है। प्रकृति स्वतः एक महती कला हैं साहित्य ससीम-असीम के मध्य की श्रंखला है। कवि अपनी सीमित शक्ति से प्रकृति के खंडशः प्रस्तुत चित्रों के माध्ययम से अखंड सत्ता को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करता है। कवि प्रकृति की संपूर्ण संपदा को अपना साधन बनाकर सार्वभौम अद श्य सत्ता का अभिव्यक्तिकरण करता है।

वर्गीकरण

सौंदर्य को मुख्य रूप से स्वर्गिक एवं लौकिक दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। लौकिक के पुनः प्राकृतिक एवं मानवीय दो उपभेद किए जा सकते हैं। मानवीय सौंदर्य को पुरुष एवं नारी सौंदर्य में बांटा जा सकता है। दोनों के बाह्य एवं आंतरिक सौंदर्य कोटियां निर्धारित की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य आधारों पर भी सौंदर्य को वर्गीकृत किया जा सकता हैं यथा-रूप, भाव एवं कर्म सौंदर्य।

विद्यापति ने प्रकृति के नाना उपकरणों को उसके सौंदर्य के विविध आकर्षणों को उसी द ष्टि से देखा-परखा था। मध्ययुगेर साधना में श्री क्षिति मोहन सेन ने लिखा है-

''चंडीदास दुनिया के ऊपर के पक्षी हैं; जहां लौकिक सौंदर्य बिखर जाता है, किंतु वहां स्वर्ग छूता है, विद्यापति दिन भर धूप से स्नात गुफाओं, पुष्पित उद्यानों में घूमते हैं और शाम को उनकी लालसा इतनी ऊपर उठ जाती है कि वे प्रथम कवि को लांघ जाते हैं।

प्रकृति सौंदर्य के आलंबन या वर्ण्य विषय तथा उद्दीपन दो रूप होते हैं। विद्यापति की पदावली एवं अन्य काव्यों में प्रकृति के दोनों रूप वर्णित हैं।

हमारे देश में ऋतुओं का विवरण प्रकृति के समष्टिगत विवरण में प्रासंगिक रूप से किया जाता था। वैदिक मंत्रों में ऋतु या प्रकृति का चित्रण अलंबन रूप में ही होता था। वह स्वयं वर्ण्य थी, आकर्षण एवं सौंदर्य की अधिष्ठात्री होने के कारण उसे यह महत्ता प्राप्त थी। वैदिक ऋषियों में वर्ण्य विषय के रूप में ही प्रकृति का चित्रण नहीं किया है अपितु जहां वह प्रकृति के उस उग्र रूप का अनुभव करता था एवं प्रलंयकारी प्रकृति की उग्रता से भयातुर हो जाता था वह

उसकी स्तुति भी करता था। आचार्य राम चंद्र शुक्ल का कथन प्राकृतिक सौंदर्य चेतना में अवलोकनीय है-

''कालिदास के समय सा उसके कुछ पहले से ही द श्यवर्णन के संबंध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल वर्णन में तो वस्तु वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया, जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथन मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन जान पड़ता है कि ऋतु-वर्णन जैसे ही फुटकल पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे, जैसे 'बारहमासा' पढ़ा जाता है।''

सौंदर्य न विषयगत है न विषयीगत अपितु आत्मगत है जो समन्वयवादी द ष्टिकोण में निहित हैं। आचार्यों की विभिन्न मान्यताएं रही हैं। कोई वस्तुगत सौंदर्य चेतना को स्वीकारता है, कोई आत्मगत। कुछ आचार्यों की यह मान्यता है कि सौंदर्य चेतना की जड़ें कामोत्तेजन की धरिती में समाई हुई है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल सौंदर्य चेतना में समन्वयवादी हैं। उनका कथन द्रष्टव्य है-

''कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उनका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अंतरसत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है.....जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुंदर कही जाएगी।''

अंर्तात्मा की तदाकार परिणति की संभावना तभी हो सकती है जब कोई सुंदर वस्तु, सुंदर व्यक्ति, सुंदर द श्य या स्थान, अथवा सुंदर कार्य या भाव अर्थात् कोई भी सुंदर संज्ञा हमारे ह्रदय को अपनी प्रीति की स्नेहिलता से आप्लावित कर दे। सौंदर्य की लौकिकता, अखंडता, आकर्षण, कान्तता, पवित्रता, रागिक सांद्रता तथा अत प्ति की भावना निश्चित रूपेण सहृदय एवं स जनात्मक प्रव त्ति वाले को प्रभावित करती है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि जो मानव मन में प्रीति उत्पन्न करें, आकर्षण को जाग त करें तथा अपनी नित्यनवीनता को अत प्त बनाए रखे उसे सौंदर्य की संज्ञा दी गई है। संस्कृत में कहा गया है-

''क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपेति तदैव रूपं रमनीयतायाः।''—माघ

अर्थात् जो प्रतिक्षण अपना रूप परिवर्तन करता रहे उसी के रूप को रमणीयता या सौंदर्य की संज्ञा दी गई है। प्रकृति को प्रकृति सुंदरी कहा गया है क्योंकि "Change is the unchange full law of nature." अर्थात् प्रकृति के परिवर्तनशील नियमों में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

''प्रकृति पल रूकती नहीं है एक।
किए है परिवर्तन में टेक।।'' —पंत

विद्यापति सौंदर्य चेतना के मर्मी कवि ही नहीं अपितु प्रकांड आचार्य भी थे। सौंदर्य के मर्म का उद्घाटन करते हुए उन्होंने सौंदर्य अवधारणा की अप्रतिम अवतारणा पदावली में की है-

''सखि हे, कि पुछसि अनुभव मोय।
सेहो पिरीत अनुराग बखानइत
टिले तिले नूतन होय।।
जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न पिरपति भेल।''

'जनम अवधि हम रूप निहाल' परंतु 'नयन न तिरपित भेल' ही सौंदर्य की वास्तविक कसौटी है।

आजीवन परमात्मा के स्वरूप का दर्शन करने वाला कभी भी रूप दर्शन से संतुष्ट नहीं होता है अपितु दर्शन की कामना में दिन-प्रतिदिन अभिव द्धि हो जाती है इसी को अत प्ति कहा गया है। विद्यापति ने पदावली में ऐसे ही प्रतिक्षण परिवर्तित नवीनता को धारण करने वाले नित्य नूतन सौंदर्य चेतना की अभिव्यक्ति की है।

समस्त मानव समुदाय सौंदर्य का उपासक है। कवि सौंदर्य चेतना से कैसे वंचित रह सकता है क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण है।

वास्तव में सौंदर्य-चेतना मानवता को ताजगी प्रदान करती है। सौंदर्य सुंदर संज्ञाघारी का गुण है। सुंदरता उसका भाव है।

रससिद्ध कविवर बिहारी लाल ने सौंदर्य को परिभाषित करते हुए लिखा है-

''समै-समै सुंदर सवै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय।'' **—सतसई**

अर्थात् सौंदर्य मानव हृदय में विद्यमान रहता है। कोई भी वस्तु सुंदर या असुंदर नहीं होती है जिसके मन की रुचि जिसमें जितनी होती है उतना ही वह रुचिकर या सुंदर होता है। समयानुसार वस्तु का सौंदर्य निखरकर सामने आता है। सौंदर्य को निखारने का श्रेय रसिकता को है। रसिक का भाव रसिकता है। रसिकता मानव-हृदय का विषय है। 'मुंडे मुंडे मतिभिन्न'।' प्रत्येक बुद्धि की बुद्धि भिन्न होती है। बुद्धि के अनुरूप ही हृदय भी भिन्नता की प्रतीति कराता है। ऐसी स्थिति में सौंदर्य चेतना की वास्तविकता में विवचेना करना आसान कार्य नहीं है क्योंकि सौंदर्य का मापदंड एक नहीं, अनेक है। वह द ष्टि का विषय नहीं बल्कि सहृदय के हृदय का विषय है। विद्यापति सौंदर्य चेतना के कवि हैं 'अपरुब रुप'। उनकी द ष्टि में सर्वश्रेष्ठ सौंदर्य है।

''अपरुब रुप मनोभव मंगल
त्रिभुवन विजयी माला।''

अर्थात् सौंदर्य वहीं है जो अपूर्व हो। सौंदर्य हृदय को आह्लाद एवं मंगल प्रदान करता है। सौंदर्य प्राप्त मानव मानो तीनों लोकों का विजयी हो जाता है। अपर्वू सौंदर्य त्रैलौक का विजयी बनाने वाला होता है।

विद्यापति की पदावली में अलौकिक, लौकिक-प्राकृतिक मानवीय, मानवीय-राधा-रूप, भाव, कर्म, कृष्ण-रूप, भाव, कर्म; श ंगारिक तथा कलात्मक सौंदर्य आदि अनेक रूप विद्यमान हैं-

1. अलौकिक

अलौकिक पारलौकिक या दिव्य भी कहते हैं। जो इस लोक का नहीं अपितु परलोक से संबंधित पारलौकिक या दिव्य है। दिव्य का अभिप्राय यहां नायक-नायिका अथवा राधा-कृष्ण के लौकिक सौंदर्य की दिव्यता से नहीं है। राधा-कृष्ण अपूर्व सुंदर होकर भी भूलोकवासी नायक-नायिका के रूप में चित्रित किए गए हैं। उन्हें सामान्य नर-नारी भी कहा जा सकता है। अतिशय रूप में किंचित अलौकिकता का अंश किसी पद में आ गया हो परंतु विद्याति ने उनकी छवि को दिव्य या अलौकिक रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। विद्यापति की अलौकिकता, अलौकिक, पारलौकिक या दिव्य देवी-देवताओं के प्रति है जहां उनकी भक्ति भावना प्रस्तुत है। शिव, विष्णु, शक्ति की देवी दुर्गा, गणेश, सूर्य, अग्नि एवं गंगा आदि देवी-देवताओं को उन्होंने अपनी श्रद्धा का विषय बनाया है जिनके अलौकिक सौंदर्य को कवि ने प्रस्तुत किया है। **आधादेवी** की विचित्र शक्ति एवं अलौकिक

सौंदर्य का चित्रण करते हुए कवि कहता है-

'कनक-भूधर-शिखर वासिनि
चंद्रिका चय चारु हासिनि
दशन कोटि विकास, बंकिम-
तुलित चंद्रकले।
क्रुद्ध-सुररिपु बलनिपातिनि
महिष-शुंभ-निशुंभ-घातिनि
भीत-भक्त भयापनोदन
पाटल प्रबले।।''

विभिन्न रूपा शक्तिमती तथा सर्वगुण संपन्ना है उसका स्वरूप एक नहीं वह तो विभिन्न रूपों में अपना सौंदर्य बिखेरती हुई विश्व से पूजित एवं अर्चित है।

अद्‌र्ध नारीश्वर शंकर का अलौकिक सौंदर्य प्रस्तुत किया है, आधापुरुष, आधा नारी; आधा श्वेत-आधा गोरा; आधा कुच-आधा कटोरा; आधा हड़माल-आधा गजमोती; आधा चंदन चर्चित आधा विभूति रमाए अलौकिक सौंदर्य है जो चेतन-वागल, रेशमी-मूंज, धारण किए योगी-भोगी, परिधान-नंगे, चंदन-सिद्‌ह तथा विद्रूप एवं मनोहारी है-

''जय जय शंकर जय जय त्रिपुरारि।
जय अध पुरुष जयति अध नारि।।
आध धवल तनु आधा गोरा।
आध सहज कुच आध कटोरा।।
आध हड़माल आध गजमोती।
आध चानन सोहे आध विभूती।।
आध चेतनमत आधा भोरा।
आध पटोर आध मुंज डोरा।।
आध जोग आध भोग बिलासा।
आध पिधान आध नग बासा।।
आध चान आध सिंदुर सोभा।
आधा विरुप आध जग लोभा।।
मने कविरतन विधाता जाने।
दुह कए बांटल एक पराने।।''

इतनी विषमताएं एक साथ शंकर के रूप सौंदर्य की अलौकिता का प्रतिपादन करती है। यह परमात्मा ही जान सकता है कि सभी के दो-दो रूप बांट कर प्राण एक ही दिया।

2. लौकिक

प थ्वी लोक के सौंदर्य को लौकिक सौंदर्य कहा गया है इसके प्राकृतिक एवं मानवीय दो रूप होते हैं।

(i) **प्राकृतिक** - प्रकृति अनादिकाल से मानव की सहचरी रही है। प्रकृति अपने सौंदर्य से सदैव मानव-ह्रदय को आकर्षित करती आई है। खाद्य सामग्री के साथ मानव प्रकृति के मनोरम सौंदर्य का पुजारी रहा है। प्राकृतिक सौंदर्याभाव में कवि संसार अधूरा हो जाता है। विद्यापति ने अपने पदों में प्रकृति का मनोरम एवं आह्‌लादकारी सौंदर्य प्रस्तुत किया

है। प्रकृति का यह सौंदर्य विद्यापति के पदों में आलंबन, उद्दीपन, आलंकारिक तथा प्रतीकात्मक रूप में द ष्टिगोचर होता है-

(क) **आलंबन** - प्रकृति सौंदर्य का समुच्चय है जिससे मानव मन आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता। वास्तव में प्रकृति सौंदर्य संवेष्टित होने के परिणामस्वरूप ही आनंदमूलक है। प्रकृति जब कवि की अंतःसत्ता पर पूर्ण प्रभाव जमा लेती है तब काव्य में प्रकृति के आलंबन रूप का रूपायन होता है अन्यथा वह प्रकृति के क्षण-क्षण परिवर्तित नित्य नव्य रूप-गतिविधियों का सूक्ष्म एवं सफल चित्रण नहीं कर सकता है। वास्तव में प्रकृति के आलंबन रूप के चित्रण में ही कवि की द ष्टि-विदग्धता, सूक्ष्म स जनशीलता, सचेतना एवं प्रकृति के प्रति प्रकृष्ट प्रेम के प्राकट्य का परीक्षण होता है। विद्यापति की पदावली में आलंबन प्रकृति सौंदर्य निम्नलिखित रूपों में द ष्टिगोचर होता है-

(अ) **ऋतु** - प्रकृत्ति प्रधान भारत देश मे छः ऋतुओं में वसंत को ऋतुराज कहा गया है।

"आएल ऋतुपति-राज वसंत।
धाओल अलिकुल माधवि-पंथ।।
दिनकर-किरन भेल पौगंड।
केसर कुसुम धएल हेमदंड।।"

(आ) **पशुपक्षी** - विद्यापति ने पदावली में पशु-पक्षियों एवं कीट-पतंगों की विशिष्ट नामावली प्रस्तुत की है जिनमें हाथी, घोड़ा, खच्चर, गधा, बैल, हिरण, श्‍ गाल, खरगोस आदि पशु तथा कोकिल, हंस, कौआ, भ्रमरादि कीट-पतंग-पक्षियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

(इ) **वन उपवन** - कहीं उपवन फूल, फल, पत्ती से हरा-भरा आम चंपक व क्षों से शोभित है। कहीं कानन पलाश फूले हैं कहीं नव कूंज-कुटीरों में कुसुम पुष्पित हैं और कहीं 'तरुण साल-रसाल कानन' अपना सौंदर्य बिखेर रहा है -

"तरुन साल रसा कानन
कुंज कुड्मल पुष्पिते।
पद्म पाटलि परम परिमल
बकुल संकल विकसिते।।
अरुन किसलय राग मुद्रित
मञ्जरी भर लम्बिते।
मधु लुब्ध मधुकर निकट मुद्रित
लोभ चुंबन चुम्बिते।।"

व दांवन का ह्रदयहारी सौंदर्य वर्णित है।

(ई) **नगर-ग्राम** - दरबारी कवि विद्यापति नगर जीवन के अभिलाषी थे जिनका स्वाभाविक सौंदर्य चित्रित किया है। जौनापुर, कीर्तिलता तथा राजमहल का सौंदर्य निरूपण दर्शनीय है। जिसमें कवि की रुचि-संपन्नता एवं रुचि-द ष्टि-प्रखरता की महत्ता द ष्टिगोचर होती है।

(उ) **सर-सरिता** - पदावली में वर्णित सरोवर रुचिकर एवं रमणीय है जिसमें कमल खिले रहते हैं तथा भ्रमर गुंजार किया करते हैं-

"ताल तड़ाग फुलल अरविंद
भूषक भमरा पिब मकरंद।"

गंगा की स्तुति तथा यमुना के सौंदर्य का वर्णन है क्योंकि यमुनाकूल राधाकृष्ण की मनोरम विहार स्थली रही है। नदी की भयंकरता भी कवि की द ष्टि से ओझल नहीं हो पाई है-

"नदिया जोरा भयउ अथाह
भीम भुअंगम पथ चललाह।"

(ऊ) **उत्सव-महोत्सव** - वसंतोत्सव सबसे उत्तम महोत्सव था। रास-लीला का सौंदर्य दर्शन अविस्मरणीय है-

"बाजति द्रिगि द्रिगि घोद्रिम द्रिमिया।
नटति कलावति माति स्याम संग, कर कर-ताल प्रबंधक ध्वनिया।।
उम उम उम्फ क्रिमिक द्रिमि मादल, रुन झुन म जीर बोल।
किंकिनी रनरनि बलआ कनकनि, निधुबने रास तुमुल उतरोल।।"

सौंदर्य का संपूर्ण वातावरण मंत्रमुग्ध बनाकर हृदय के पटल खोल देता है।

(ख) **उद्दीपन** - प्रकृत्ति का यह रूप संयोगावस्था में मदमस्ती में तीव्रता एवं उद्वेग उत्पन्न करता है। वियोगावस्था में स्म ति संचारी भावों द्वारा वियोगियों की वेदना को और बढ़ा देता है। संयोग के सुखदाई उपादान चंद की शीतल किरणें वियोग में दुखइाई सूर्य की किरणों का रूप धारण कर जलाती हैं।

प्रोषित पतिका को 'बारह मासा' अति दुख देता है जिसमें उसका दुखदाई सौंदर्य वर्णित है। प्रियतम विदेश चले गए हैं। नायिका ग ह में एकाकिनी है। मूसलाधार वर्षा में बादलों का गर्जना, मयूर का नाचना तथा कूकना विरहिणी की दुखदाई स्थिति का रूप सौंदर्य उपस्थित करते हैं-

"गगने गरज घन फुकूरे मयूर।
एकलि मंदिरे हाम पिया मधुपुर।।
सुनु सखि हामारि वेदन।
बड़ा दुख देल मोर दारुण मदन।।"

उद्दीपन रूप में प्रकृत्ति के उपकरणों के प्रयोग से मानवीय दुख की इतनी तीव्र-गहन व्यंजना किंचित ही अन्य कवि कर सका हो। दुख में भी सौंदर्य दर्शनीय बन जाता है-

"सखि हे हमारि दुखरे नाहि ओर।
ए भर बादर माह भादर, शून्य मंदिर मोर।।
झंपि घन गरजंति संतत, भुवन भरि बरिखंतिया।।
कंत पाहुन काम दारुन, सघन खर सर हंतिया।।"

× × × ×

तिमिर भरि भरि घोर जामिनि, न थिर बिजुरक पांतिया।।
विद्यापति कह कैछे गोआंयबि, हरि बिने दिन रातिया।।"

बादल से गगन घिरा है। मेरा घर सूना है। वर्षा ने भयंकर रूप धारण कर लिया है जिसको देखते ही कलेजा मुंह को आ जाता है। विद्युत का चमकना, छायान्धकार का नर्तन, मयूरों का कूकना, मेढ़कों का टर्राना, आंखों में घटाघोप अंधकार भरने वाली काली रात की भयावह स्थिति में पिय विहीन वियोगिनी को दिन-रात बिताना भारी हो गया है।

(ii) **मानवीय** - परमात्मा की स ष्टि में सौंदर्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मानव को ही प्राप्त है जिसमें नर-नारी की तुलना में नारी सौंदर्यों की खान है। विद्यापति ने शिव सिंह-लखिमा देवी के लिए पदावली का स जन किया किन्तु नायक-कृष्ण एवं नायिका-राधा को बनाया जिसमें राधा को विश्व सुंदरी नहीं अपितु त्रैलोक सुंदरी के रूप उसके सौंदर्य का चित्रण किया है।

मानवीय सौंदर्य के अंतर्गत राधा को निकष रूप में माना गया है उन्होंने राधा के अंग-प्रत्यगों के सौंदर्य का गुणगान किया है। विद्यापति की प्रतिपाद्य यह राधा इस वसुधा की जीवंत कविता है तथा कवि हेतु रूपाभिव्यक्ति तथा भावभिव्यक्ति का आधार है।

मानवीय सौंदर्य को नर-नारी अथवा नायक-नायिका के उपभेदों में विभक्त किया जा सकता है। सौंदर्य विश्लेषण को अधिक सार्थकता प्रदान करने के रूप सौंदर्य-बाह्य सौंदर्य, भाव सौंदर्य-प्रेम सौंदर्य तथा कर्म सौंदर्य-आंतरिक-गुण सौंदर्य के रूप में विभाजित किया जा सकता है।

रूप-सौंदर्य या बाह्य सौंदर्य का वर्णन करते समय कवि की द ष्टि आलंबन की आकृति की सुंदरता पर केंद्रित रहती है। **भाव सौंदर्य** या प्रेम सौंदर्य के निरुपण के समय रूप सौंदर्य की उपेक्षा कर आलंबन के भावों की सजलता एवं तरलता पर कवि की द ष्टि जम जाती है। **कर्म-सौंदर्य** या आतंरिक गुण सौंदर्य के अंतर्गत कवि की द ष्टि अपने आलंबन के लोक मंगलकारी उदात्त कर्मों पर टिक जाती है। ध्यान देने की बात है कि सौंदर्य के इन तीनों रूपों - रूप, भाव एवं कर्म का चित्रण मात्र प्रबंध काव्यों में ही उपलब्ध होता है। मुक्तक कवि के पास इतना अवसर एवं अवकाश नहीं होता है कि वह सौंदर्य चेतना का संश्लिष्ट निरुपण कर सके। विद्यापति की पदावली मुक्तक काव्य रचना है जिसके परिणामस्वरूप उसमें रूप सौंदर्य एवं भाव सौंदर्य का ही निरूपण है कर्म-सौंदर्य का अभाव है।

(क) **नायिका-राधा** - राधा विद्यापति के काव्य में उनकी वर्ण्य-सामग्री तथा कामनालोक की एक बहुमूल्य वस्तु के रूप में प्रस्तुत हुई है क्योंकि उनके समस्त पद राधा के मांसल-शरीरी सौंदर्य वर्णन की सुधा से स्नात हैं। नारीरत्ना राधा के रूप-सौंदर्य का वर्णन करना मानव के लिए असंभव है। विद्यापति नायिका राधा को इतने सुंदर रूप में चित्रित करना चाहते थे कि उस अनुपमा नारी के समक्ष भूलोक ही नहीं त्रैलोक में भी कोई सुंदरी न उपलब्ध हो सके। उन्हें स्वयं अपनी नायिका के विषय में आश्चर्य होता है कि ब्रह्मा बूढ़े हो चुके हैं फिर किसने राधा का इतना सुंदर रूप रचा-

"जुग-जुग के बिहि बूढ
निरस उर कामिनी कोन गढली?
रूप सरूप मोय कहइत
असंभव लोचन लागि रहली।।"

कवि का मानना है कि उसके सुंदर रूप का वर्णन करना मेरे लिए असंभव है अतः मेरे नेत्र ही उसके सौंदर्य का दर्शन लाभ लेते रहते हैं।

राधा का सौंदर्य अनुपम तथा अद्वितीय है। राधा के सौंदर्य वर्णन में कवि ने प्राकृतिक उपमानों का आश्रय ही नहीं लिया हे अपितु उसमें नूतनता का प्रतिपादन भी किया है। मुख का उपमान चन्द्र प्रसिद्ध है किन्तु विद्यापति ने राधा के मुख को चंद्रमा स्वीकारते हुए भी राधा के मुख को अत्यधिक सौंदर्यमय बतलाते हुए उन्होंने लिखा है-

चांद सार लए मुख घटना करु,
लोचन चकित चकोर।
अमिय धोय आंचर धनि पोन्छलि,
दह दिसि भेइल जोरे।।

अर्थात् नायिका-मुख-रचना हेतु चंद्र का समस्त सौंदर्य सार ग्रहण किया। फिर भी मुख-चंद्र नहीं। बल्कि चंद्र-सौंदर्य निचोड़कर उससे राधा-मुख का स जन किया गया है उसे अधिक सुंदर बनाने के लिए अम त से धोया-पोंछा गया है अन्यथा यह सुंदरतम सौंदर्य कहां होता। ऐसे मुख को सौंदर्य दशों दिशाओं में व्याप्त हो गया है-

"देख देख राधा रूप अपार।
अपरुव के बिहि आनि मिलाओल,
खितितल लावनि सार।।"

ब्रह्मा ने राधा-मुख स जन में अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर भूमंडल के समस्त सौंदर्य को एकत्रित करके उसमें से भी सारभूत सौंदर्य निकालकर क्रियाशीलता दिखलाई है।

राधा के अंग-प्रत्यंगों का रूप सौंदर्य द्रष्टव्य है-

मुख - सौंदर्य की प्रथम झलक मुख से प्राप्त होती है। राधा का मुख कमल, चंद्र एवं शरद कालीन चंद्र के समान है जिसमे सहजता तथा मनोहरता विद्यमान है। 'सुमुखि' एवं 'सुधा मुखि' का सौंदर्य विरह की तमिस्रा का नाशक है। हाथ से सौंदर्य को तुम कितने समय तक आच्छादित रख सकोगी? इसका सौंदर्य प्रतिक्षण विवर्धित हो जाता है-

"जनु बैससि रे बदना हाथ चढ़ाइ।
तुअ मुख चंगिक अधिक चपल भेल
कति खन धरव लुकाई।।"

नेत्र - नारी मुखाकर्षण में नेत्रों का विशेष योगदान है जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं मोहक मदिरता विद्यमान रहती है। राधा के नेत्र चकोर, भ ंग, कमलापि के

समान आह्लादक तथा मनोहारी हैं। राधा-नेत्रों में श्वेत-अम त, श्याम-विष, एवं रतनार-मदिरा तीनों का अप्रतिम समन्वय है। कानों तक फैले नेत्रों में विशालता एवं सुदीर्घता के साथ-साथ अस्थिरता एवं मतवालापन है।

अधर - राधाधर बिंबाफल तथा मधुर पुष्प के समान रक्तिमा लिए हुए हैं जो अम त-अधिवास के द्योतक हैं। उसका पान करने वाला अमरता का अधिकारी हो जाता है।

दांत - गजमुक्ता एवं दाड़िम बीज की अनुपम छवि राधा के दांतों के पंक्तिबद्ध सौंदर्य पर न्यौछावर हो जाती है।

नासिका - राधा-नाक-सौंदर्य कीर या गरुड़-चोंच का भ्रम उत्पन्न करने वाला है जिसमें तिल पुष्प का चिकपनापन एवं कोमलता विद्यमान है।

ग्रीवा - शंख जैसी ग्रीवा उतार-चढ़ावदार, सुडौल, एवं मनोहर है।

भौंह - भौंहाकार एवं सौंदर्य भ्रमर तथा धनुष को भी लज्जित करने वाला है ऐसा प्रतीत होता है मानो राधा की भौंह नहीं अपितु कामदेव के द्वारा संधानित कज्जल धनुष है।

केश - अंधकार, शैवाल तथा भ ंग जैसी केशराशि काली, सुंदर तथा कस्तुरी जैसी सुरभि बिखेरती है।

उरोज - बालिका को नारित्व एवं बाह्यरूपाकर्षण प्रदान करने में स्तनों का योगदान अक्षुण है जो कैशोर्यावस्था से युवावस्था तक के विकास पड़ाव में क्रमशः बेर, नारंगी, संतरा, कनककलश, श्रीफल, स्वर्ण पर्वत, कनक शंभु, चकोवा तथा कनक कटोरादि का रूपाकार धारण कर सौंदर्य विकीर्ण ही नहीं करते अपितु पुरुष वर्ग को अपनी ओर आकर्षित कर खुली चुनौती देते हैं। इनकी लघुता, पीनता, उन्नतता, विशालतादि सौंदर्य विभेदक रूप हैं।

कटि - कटि को कमर, देहयष्टि या मध्य भाग भी कहते हैं जो अति क्षीण है जो सिंह एवं क्षीण मणि को लज्जित करती है।

नितंब - कटि क्षीणता उरोज विशालता तथ गजकुंभ नितंब भार गुरुता को संभाल नहीं पाती है इसीलिए उसे गजगामिनी का रूपधारण करती है।

चरण - दोनों चरण 'पल्लवराज चरण-जुग शोभित' कमल की शोभा बिखेरते हैं।

गति - गत्वर सौंदर्य में गति का विशेष स्थान होता है। राधा गजगामिनी म दु एवं मंथर चाल वाली होते हुए भी समयानुसार राजहंस गामिनी मनोहर भी है।

वाणी - वाणी में पंचम स्वर की मधुरता विद्यमान है जिसमें अम त वर्षा की क्षमता विद्यमान है। उसकी हंसी एवं बोलने से सर्वत्र अम त का प्रसार-प्रचार हो रहा है।

वर कामिनी, स्वाभाविक रूप से क्षीण देहयष्टि वाली राधा अत्यंत सुंदर, शिरीष पुष्प के समान कोमलांगी एवं श्री संपन्न है। उसकी शारीरिक ज्योति शशिकिरण जैसी श्वेत एवं कांति आरुणिम तथा मालती-माल समान है। उसमें कनकलता,

ललिलता, विद्युल्लेखा, तथा कंचन रेखा जैसा हृदयहारी सौंदर्य विद्यमान है।

महाकवि विद्यापति नारी-सौंदर्य के चतुर चितेरे हैं। जिनका मन नारी-सौंदर्य का चित्रण करने में कभी नहीं अधाया है। वे क्षण-क्षण परिवर्तनीय, व द्धिमान, निरंतर नूतनता ग्रहण करने वाले सौंदर्य की भूरि-भूरि अर्चना करते रहते हैं। नारी-रूप का समन्वित वर्णन अति श्लाघनीय एवं संश्लिष्ट है। राधा के अंग-प्रत्यंग वही है। लेकिन सौंदर्य-दर्शन समग्रता की अपेक्षा करता है। विभक्तता अथवा खंडता में सौंदर्य न होकर अखंडता में होता है। विभिन्न अंगों का संयोजन तथा नियोजन करके जिस मनोज्ञ-मनोहर 'अपरूप' रूप की रचना विद्यापति द्वारा की गई है वह सर्वथा प्रंशसनीय है।

अत्यंत रूपवती राधा के निर्माण में ब्रह्मा ने संपूर्ण विश्व-सौंदर्य सार नियोनित कर दिया है जिसके परिणामस्वरूप राधा समस्त प्राणियों के मन में प्रीति का पारावार उड़ेल देती है तथा उन्हें आनन्द विह्वल बना देती है-

"देख-देख राधा-रूप अपार।
अपरुब के विहि आनि मिलाओल, खिति तल लाबनि-सार।
अंगहि अंग अनंग मुरछायत हेरए पड़ए अधीर।
मनमथ कोटि मथन करु जेजन से हेरि महि मधि गीर।।"

(ख) **नायक-कृष्ण** - विद्यापित एवं राधा के आराध्य कृष्ण हैं। कवि ने कृष्ण-सौन्दर्य-निरुपण मे सजगता एवं सरसता से काम लिया है। परम सुंदरी राधा की द ष्टि कृष्ण को अनुपम सौंदर्यवान स्वीकारती है-

कि कहब हे सखि कानुक रूप।
के पतियायब सपन सरूप।।
अभिनव जलधर सुंदर देह।
पीत वसन परा सौदामिनि रेह।।
सामर झामर कुटिलहि केस।
काजरे साजल मदन सुवेस।।
× × × ×
विद्यापति कह की कहब आर।
सून करलि बिहि मदन भंडार।।"

वयः संधि - वयः संधि वर्णन के अभाव में मानवीय सौंदर्य निरुपण पूर्णता को प्राप्त नहीं होता है। सौंदर्य चेतना के चारुत्व-विवर्धन में इसका विशेष योगदान है। वयः संधि की दशा का अवदान विशुद्ध सौंदर्य रूप रचना की द ष्टि से असंदिग्ध है। महाकवि विद्यापति ने बालिका, अज्ञात यौवना एवं मुग्धा राधा के तन-मन में होने वाले परिवर्तनों का अति यथार्थ स्वाभाविक, मोहक एवं चित्ताकर्षक सौंदर्य वर्णन किया है-

"सैसव-जीवन दुहु मिलि गेल, स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल।
वचनक चातुरि लहु-लहु हास, थरनिये चांद कएल परगास।।
× × × ×
पहिल बदरि सम पुन नवरंग, दिन दिन अनंग अगोरल अंग।
माधव पेखल अपरुब बाला, सैसव यौवन छुंहु एक भेल।।"

शैशव एवं युवावस्था का संधि स्थल वयः संधि कहलाता है, पहले उरोजों का आकार बेर के समान था कब इन्होंने नारंगी का आकार ग्रहण कर लिया यह अज्ञात-यौवना को पता नहीं है। दो अवस्थाओं का मेल अपूर्व सौंदर्यदायक हो जाता है।

सद्यःस्नाता - अवगाहन कर जल से निकलने वाली नारी के वस्त्रों से झांकने वाला उसका जवान, मांसल एवं पुष्ट शरीर अति मनमोहक लगता है। विशेष कर ऋतुमती नारी जब निश्चित समय के पश्चात् तुरन्त स्नान कर आती है उसे सद्यःस्नाता की संज्ञा दी गई है। उस समय शारीरिक कांति में चार चांद लग जाते हैं। अपूर्व मादकता शारीरिक सौंदर्य को द्विगुणित कर देती है-

कामिनि करए सनाने
हेरतहिं हृदय हनए पंचबाने।

सद्यःस्नाता गोरी को देखा। कहां से रूप सौन्दर्य की चोरी करके आ गई है। केशराशि से जलधारा नहीं अपितु मोतियों की वर्षा हो रही है-

"जाइत पेखल नहाएलि गोरी।
कति सयं रूप धति आनलि चोरी।।
केस निंगारत बह जल धारा।
चमर गरए जनि मोतिम-हारा।।"

भाव-सौंदर्य - इसे प्रेम सौंदर्य भी कहा जाता है। रूप सौंदर्य के पश्चात् मानव की द ष्टि भाव सौंदर्य या शील पर जाती हैं। शील अति सराहनीय है। नारी जीवन का सारांश एवं ऐश्वर्यशील ही है। नारी की गरिमा का आधार उसका कायिक सौंदर्य नहीं अपितु भाव जगत का वह सूक्ष्म सौंदर्य है जिसे प्रेम की संज्ञा दी गई है इसका अवंलबन प्राप्त कर स ष्टि का सुंदर एवं कोमल पक्ष सुरक्षित हो जाता है। प्रेम की अनेक स्थितियों - संयोग, मान, अभिसार, मिलन, विरहादि में भावोद्दीपिता द ष्टिगोचर होती है। राधा के स्वकीया-परकीया दो पुलिनों में उसकी प्रेमात्मक जलधारा बरसाती नदी की उफान पाकर तीव्र एवं मादक गति से प्रवाहित हुई है।

विद्यापति की नायिका सौंदर्य की सराहना तभी करती है जब उसका प्रेमी उसके प्रति लालायित रहे या वह प्रेमी को सदैव अपनी ओर आकर्षित करके प्रेमपाश में बांधे रहे। अन्यथा उसकी यौवन की उमंग या सौंदर्य-छटा उसी प्रकार निरर्थक है जैसे वन मे खिला हुआ पुष्प अनाघ्रतित मुरझाकर धराशाई हो जाता है। इसी ओर संकेत करती हुई विद्यापति की नायिका कहती है-

"सरासिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
यौवन बिन तन, तन बिन यौवन,
की जीवन पिय दूरे।"

विद्यापति का सौंदर्य एवं प्रेम साधारण को भी असाधारण बना देता है। पारसमणि अपने स्पर्श से लोहे को सोना बना देती है किन्तु पारस रूप सौंदर्य अति विचिंत है। नायिका का सौंदर्य, प्रेम-रूपी पारसमणि से उसकी ओर खिंच जाता है

जिसका प्रभाव न केवल शरीर पर पड़ता है अपितु हृदय भी प्रभावित हो जाता है -

"मन करे तहां उड़ि जाइअ
जहां हरि पाइअ रे।
प्रेम-परस मनि जान
अनि उ लाइ अरे।"

वास्तव में प्रेम का आधार प्रायः सौंदर्य होता है जिसके परिणामस्वरूप सौंदर्य के साथ प्रेम की अभिन्नता प्रतिपादित होती है। प्रेम नायक अथवा नायिका या दोनों ओर से हो, उसका आधार सौंदर्य अपरिहार्य रूप से होता है। विद्यापति की नायिका राधा भी श्रीकृष्ण के सौंदर्य के प्रति उतनी ही आकर्षित है जितना नायक-श्रीकृष्ण, नायिका-राधा के सौंदर्य पर लट टू हैं। परस्पर दोनों उठते-बैठते, सोते-जागते, स्वप्न में, खाते-पीते एक दूसरे के सौंदर्य में उलझे रहते हैं। आजीवन एक दूसरे के सौंदर्य का पान करते रहते हैं उनकी कभी त प्ति नहीं होती है-

"लाख-लाख जुग हिम-हिम राखल,
तइयो हि जुड़ला न गेल।
कत विदगध जन-रस अनुमोदई
अनुभव काहु न पेख।।"

विद्यापति ने संयोग एवं वियोग दोनों दशाओं में प्रेम-सौंदर्य का अटूट संबंध दर्शाया है। नायक-नायिका संबंधी सौंदर्य का आधार प्रेम ही रहा है जिसके परिणामस्वरूप पदावली के पदों में भावमूलक या प्रेममूलक सौंदर्य प्रायः सर्वत्र द ष्टि गोचर होता है।

राधा का नायिका के रूप में सर्वांग सौंदर्य ही चित्रित नहीं किया है अपितु उसके हावों-भावों अर्थात् प्रेम को अंकित करते हुए उसके सौंदर्य को द्विगुणित कर दिया है। सौंदर्य की अभिव द्धि करने वाले नायिका के अनुभावों को भी विद्यापति ने चित्रित करते हुए राधा को अनुपम एवं अनिद्य सुंदरी के रूप में प्रस्तुत किया है।

3. **श ंगारिक** - श ंगार रसराज है। विद्यापति श ंगारी कवि पदावली के जितने पद श ंगार रस से संबंध हैं उतने अन्य रसों से नहीं। श ंगार कवि की मूलभावना है। विद्यापति को मिथिला का कालिदास कहना अन्यथा नहीं है। वे श ंगारिक उद्भावना खुलकर बेझिझक करते हैं। श ंगारिक सौंदर्य का निरुपण नायक-नायिका के द्वारा अथवा स्वयं कवि द्वारा किया गया है।

विद्यापति रससिद्ध श ंगारी कवि हैं। प्रेम एवं सौंदर्य प्रमुख रूप से उनके वर्ण्य विषय रहे हैं। प्रेम और सौंदर्य का चित्रण श ंगार रस के अंतर्गत ही निहित है। श ंगारी-रसात्मक-सौंदर्य चित्रण भी विद्यापति की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है जो उनके काव्य का आह्लादकारी रूप बन गया है। श ंगारिक सौंदर्य का प्रस्तुतीकरण करते हुए कवि ने आलंबन के द्वारा नायिका से अपने अनुभव कहलवाए हैं। ऐसी स्थिति में विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों की प्रभावशाली योजना होने के परिणाम स्वरूप रति नामक, स्थाई भाव ही श ंगार रस के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त कर सका है-

"अवनत आनन कए हय रहिलहुं
बारल लोचन चोर।
पिया-मुख-रुचि पिबए धाओल,
जनि से चांद चकोर।।
माधव बोलल मधुर वानी,
से सुनि म दु मोम कान।
ताहि अवसर गम बाम भेल,
धरि धनु पंचवान।।"

श ंगारिक सौंदर्य काव्य के भाव पक्ष का सौंदर्य है। कवि की सौंदर्य भावना श ंगारिक चित्रण में पूर्ण रूपेण प्रस्फुटित हुई है।

4. **कलात्मक** - विद्यापति मात्र भक्ति-श ंगार के कवि नहीं थे अपितु मूलतः वे सौंदर्य एवं प्रेम के कवि थे। काव्य के कलापक्ष को भी उन्होंने नीरसता, शुष्कता तथा कठोरता से पूर्ण रूपेण सुरक्षित रखा है। वे मैथिल जैसी कोयल भाषा के ज्ञाता ही नहीं अपितु सच्चे गायक थे। उनके पद गीत, संगीत एवं विविध राग-रागिनियों के अक्षय कोष हैं। रसराज श ंगार के अनुकूल ही उन्होंने पदावली में कोमलता, सरलता, लालित्य, मधुरता, तरलता, संक्षिप्तता, संगीतात्मका तथा मनोरयता का पूर्ण निर्वाह किया है। आलंकारिक सौंदर्य अयत्नज है। भावाभिव्यक्ति सहज एवं स्निग्ध शब्दों में मधुर एवं कोमल मैथिली के माध्यम से हुई है।

"विद्यापति में लय और तर्ज की मौलिकता तो है ही, एक अछूती भाव संवदेना को व्यक्त करने में नैसर्गिकता भी दिखाई पड़ती है। इसी कारण विद्यापति के गीत एक व्यापक जन समाज के कंठहार बन सके।" -डॉ० शिव प्रसाद सिंह

संस्कृतज्ञ विद्यापति ने संस्कृत भाषा में अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। प्राकृत भाषा की नीरसकता को देखते हुए उन्होंने देशी भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा मैथिली में पदावली का स जन किया। उन्होंने स्वयं कहा है-

'देसी बेना सब जन मिट्ठा।'

आज भी मिथिला में त्योहारों, उत्सवों तथा विवाहादि के समय पदावली के पदों को गाया जाता है जो इसकी लोकप्रियता को प्रतिपादित करता है। बंगाल में भी मंदिरों में पदावली के पदों का वाद्य यंत्रों पर सस्वर गायन होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति के पद सहज, स्वाभाविक, मधुर, ललित, सरस एवं गेयात्मक हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि विद्यापति सौंदर्य के वास्तविक सर्जक, साधक एवं आराधक थे। सौंदर्य की सांद्रता उनका शील एवं शक्ति थी। उनके पदों में सौंदर्य चेतना अप्रतिम हैं उनकी राधा अपूर्व सुंदरी थी कृष्ण अपूर्व के अपूर्व थे। जिसके परिणाम स्वरूप विश्व सुंदरी राधा की आंखें उनको देखते कभी भी संत प्त नहीं हुई। उनका प्रेम अमर है। श ंगारिकता लौकिक होते हुए भी अलौकिक है। राधाकृष्ण के सौंदर्य ने पदावली के पदों को ऐसा अपूर्व सौंदर्य प्रदान किया है कि आज भी मिथिला एवं बंगाल में विभिन्न अवसरों, उत्सवों तथा विवाहादि के समय उन्हें गाया जाता है एवं उनके सौंदर्य का वर्णन करते हुए कभी थकते था त प्त नहीं होते हैं।

अध्याय-7
विद्यापतिः गीति योजना

काव्य और संगीत का अनादिकाल से घनिष्ट संबंध रहा है। जहां भावना नहीं, वहां काव्य नहीं है और जहां काव्य में भावना है वहां संगीत स्वभावतः विद्यमान है। काव्य में गीत और गीत में संगीत का स्वर स्वतः स्फुरित होता है। दोनों की उत्पत्ति ध्वनि से होती है। दोनों ही मानव-हृदय की रागात्मक व त्ति से उत्पन्न होते हैं, और दोनों ही मानव हृदय का उच्छ्वास हैं। काव्य और संगीत में श्रवण-मधुर नाद का प्राधान्य है।

साहित्य-क्षेत्र में विद्यापति को सुमधुर एवं कोमल भावनाओं का गायक कहा गया है। काव्य और संगीत का अनादि एवं शाश्वत संबंध है। काव्य शब्दों के रूप में संगीत और संगीत स्वर के रूप में कविता है।

गीति-काव्य में संगीत की चरम अभिव्यक्ति होती है। मुक्तक रचनाओं में गीत का प्रधान स्थान रहता है। प्रत्येक गीत स्वतःपूर्ण होता है। छंदों एवं शब्दों का चयन पूर्णयता कवि की इच्छा पर निर्भर है, परन्तु उसमें संगीत आवश्यक है। इन्हीं प्रगीतों को अंग्रेजी में Lyric कहते हैं। भारत में गीति-काव्य की परम्परा सामवेद से उपलब्ध होती है। गीति-काव्य के सुंदर उदाहरण कालिदास की रचनाओं - 'ऋतु-संहार' और 'मेघदूत' में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

महाकवि विद्यापति का आविर्भाव जयदेव की परम्परा से हुआ। जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष-धारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कंठ से प्रकट हुई। विद्यापति ने सामान्यतया संस्कृत की सभी गीतधाराओं और विशेषतया जयदेव की शैली को अपनाया है।

हिन्दी में विद्यापति गीति-काव्य के जनक माने जाते हैं। उससे पूर्व गीति-काव्य का इतना पुष्ट, सुंदर और कलात्मक रूप अन्यत्र उपलब्ध न था। जयदेव का अनुसरण करने पर भी विद्यापति में मौलिकता का अभाव नहीं। विद्यापति के गीति-काव्य की मौलिकता एवं सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है, उनकी 'पदावली' की स्वर लहरी, जो हिन्दी और बंगला, दोनों ही भाषाओं में समान रूप से अपनाई जाती है। दूसरी बात, श्रंगार और शांत-रस के पाठक विद्यापति को समान रूप से प्रेम और चाव से पढ़ते हैं।

विद्यापति की कविता गीति-काव्य के स्वरों में है। गीति-काव्य का लक्षण है - व्यक्तिगत विचार, मनोन्माद तथा आशा-निराशा की धारा का अबाध रूप से प्रवाह। विद्यापति के काव्य में व्यक्तिगत विचार नहीं हैं, किन्तु उनके भावोन्माद की प्रचंड धारा वर्षाकालीन नदी के वेग से किसी प्रकार कम नहीं। वयःसंधि, अभिसार, विरह, मिलन आदि से कवि की भावनाएं एकदम संबद्ध हो गई हैं, अर्थात् नायक-नायिका के कार्य-व्यापार कवि की वासनामय प्रव त्ति के अनुसार ही रहे हैं। कवि के गीति-काव्य में विचार इतने तीव्र हैं कि उनके सामने राधा-कृष्ण सिर झुकाकर उन्हीं के विचारों के अनुसार कार्य करते हैं।

गीति का स्वरूप

भारतीय और पाशचात्य विद्वान गीत या गीति के विषय में प्रायः समान विचारधाराएं रखते हैं। उनके विचार द्रष्टव्य हैं-

1. **इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार** - 'Lyrical poetry a general term for all poetry which is or can be supposed to be, susceptable of being sung to the accompaniment of a musical instrument.' **अर्थात् गीतिकाव्य उस कविता के लिए प्रयुक्त है जो किसी वाद्य यंत्र के साथ गाकर प्रस्तुत की गई हो या की जा सकती हो।**

2. **पाश्चात्य विद्वान एच०टी० पेक ने गीतिकाव्य को काव्य का आदि रूप सिद्ध करते हुए लिखा है-**

   'गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक सहज प्रकार होने के कारण निश्चित रूप से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। अन्य दूसरे चेष्टाजन्य रूप निश्चय ही इसके बाद और इसी से उत्पन्न हुए।

3. **डॉ० चार्ल्स मिल्स** - **'वस्तुतः गीतिकाव्य को ही कविता कहा जा सकता है। किसी कृतिविशेष में काव्यात्मकता जितनी अधिक होती है, वह उसी अनुपात में गीतात्मक होती है। नाटक जितना ही काव्यात्मक होगा, वह उतना ही गीति-तत्त्व से पूर्ण होगा। महाकाव्य जितना ही अधिक काव्यात्मक होगा, वह उतना ही गीतात्मक होगा।'**

4. **हीगेल** - **गीति-काव्य का कवि जगत् के सारे तत्त्वों को अपने में समाहित करता है, अपने वैयक्तिक भावों के प्रभाव से इसे पूर्णतः आत्मसात् करता है और इस आत्मपरकता को सुरक्षित रखने वाली शैली में अभिव्यक्त करता है।'**

5. **ई० गोस** - **'गीतिकाव्य सामान्य कविता के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है जो किसी गीति-वाद्य के साथ गाई जाती हो, या गाई जा सके।'**

6. **आल्फेड आस्टिन** - 'No verse which is unmusical or obscure cannot be regarded as poetry, whatever other Qualities it may posses', **अर्थात् जिस पद्य में संगीत और अर्थ का सौंदर्य नहीं उसमें चाहे कितने ही गुण हों उसे कविता या पद्य नहीं कहा जा सकता।**

7. **हडसन** - **गीतिकाव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं, "गीतिकाव्य की सबसे बड़ी कसौटी वैयक्तिकता की छाप है किन्तु वह व्यक्ति-वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधारित होती है, जिससे प्रत्येक पाठक उसमें अभिव्यक्त भावनाओं एवं अनुभूतियों से तादात्मय स्थापित कर सके।"**

8. **कवीन्द्र रवीन्द्र** - **गीत के स्वरूप का निदर्शन करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र लिखते हैं, 'मन में जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है, तब कवि उसे गीतिकाव्य में प्रकाशित किए बिना नहीं रह सकता।'**

   इस प्रकार उनके अनुसार गीतिकाव्य मनुष्य (कवि) के मन में उत्पन्न हुआ वह वेगवान् भावावेग है, जिसका प्रकाशन हुए बिना नहीं रहता।

9. **कवि पंत** - **गीत का मूल स्रोत करुणा को माना गया है। इसीलिए आदिकवि का प्रथम श्लोक कौंच-वध से उत्पन्न करुणा से अनुस्यूत् ही माना जाता है। तभी तो कविवर पंत ने भी लिखा है-**

'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
निकलकर आंखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान।।'

10. **कवि शैली** - कवि शैली की भी निम्न पंक्तियां इसी का द्योतन करती है-

"Our sweetest songs are those,
that telleth sadest thought."

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि दुःखात्मक अनुभूतियों का ही गीत में प्रकाशन होता है। रागात्मक अथवा भावात्मक अनुभूति दुख-सुख दोनों में समान होती है। हां, यह अनुभूति अत्यंत सुकोमल होनी चाहिए; कारण गीत में हृदय की अत्यंत सरल भावातिरेकपूर्ण अवस्था का चित्रण होता है।

11. **डॉ० श्यामसुंदर दास** - 'इनके अनुसार गीतिकाव्य को आत्माभिव्यंजन संबंधी कविता कहा जाता है। गीति-काव्य के छोटे-छोटे गेय पदों मे मधुर भावापन्न स्वाभाविक आत्मनिवेदन रहता है। इन पदों में शब्द की साधना के साथ-साथ स्वरों की भी उत्कृष्ट साधना रहती है, इनकी भावना प्रायः कोमल होती है और एक-एक पद में पूर्ण होकर समाप्त हो जाती है। आधुनिक गीति-काव्य और प्राचीन गीतों में सबसे बड़ा अंतर यह है कि ये आत्माभिव्यंजना की श्रेणी में आते हैं और प्राचीन आल्हखण्ड बीसलदेव रासो आदि वस्तु-वर्णन-विषयक कविता के उदाहरण हैं।

12. **बाबू गुलाबराय** - 'इनके अनुसार गीतिकाव्य में नियोजन के साथ रागात्मकता रहती है और यह रागात्मकता भाव की एकता और संक्षिप्तता के साथ संगीत की मधुरलय में व्यक्त होती है। इसीलिए संगीत यदि गीतिकाव्य का शरीर है तो निजी भावातिरेक उसकी आत्मा है।'

13. **कविवर बच्चन** - बच्चन का कथन है-

'गीत कवि - उर का नहीं उपहार,
उसका विकलता है।'

14. **सूश्री महादेवी वर्मा** - पीड़ा का साम्राज्ञी महादेवी वर्मा गीति के विषय में कहती हैं कि सुख-दुखात्मक अनुभूति के गेय शब्द रूप को गीति-काव्य अथवा गीत कहती हैं। उनका विचार है, "गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

इस प्रकार महोदेवी वर्मा व्यक्तिगत अनुभूतियों के आरोह-अवरोह की भांति गीत में भी गेयता मानती हैं और साथ ही, यह आवश्यक है कि उसका जन्म तीव्र भावानुभूति के क्षणों में हुआ हो।

गीतिकाव्य परम्परा

गीति-काव्य कविता का सबसे अधिक लोक-प्रिय एवं लोक-मान्यता प्राप्त एक भेद है। गीति-काव्य के माध्यम से मानवीय दुःख-सुख, भावनाओं एवं अभिलाषाओं की सहज एवं सरल अभिव्यक्ति होती रहती है, इसीलिए कि कविता का यह प्रकार सर्वत्र अधिकांश जनता द्वारा ग्राह्य रहा है।

काव्य की ही भांति गीति-काव्य की परिभाषा के विषय में भी अनेकानेक मत प्रचलित हैं, जिनके आधार पर गीति-कविता की व्याख्या अवश्य की जा सकती है, किन्तु उसे किसी एक निश्चित

परिभाषा से बांधना संभव नहीं। गीति-काव्य भावना प्रधान एवं संवेदनात्मक अधिक होता है। इसी द ष्टि से डॉ० चार्ल्स मिल्स का कथन द ष्टव्य है - 'वस्तुतः गीति-काव्य को ही कविता कहा जा सकता है। किसी कृति विशेष में जितनी अधिक काव्यात्मकता होती है, उसी अनुपात में वह गीतात्मक होती है। नाटक जितना ही काव्यात्मक होगा, उतना ही गीति-तत्त्व से पूर्ण होगा। महाकाव्य जितना ही अधिक काव्यातमक रहेगा, उतना ही गीतात्मक होगा।'

काव्य के अन्य रूपों में विवरण, वस्तु-वर्णन ओर विचारों का महत्व हो सकता है, किन्तु गीति-काव्य में इन सबकी अपेक्षा भावात्मकता की प्रधानता होना अनिवार्य है। इसी से गीति-काव्य वैयक्तिक एवं आत्मपरक होता है इसी मत का समर्थन करते हुए हीगेल ने लिखा है - 'गीतिकार अपनी व्यक्तिगत भाव-प्रधान अनुभूतियों के कारण संसार के समस्त तत्त्व अपने में समेट लेता है।'

अंग्रेजी भाषा के Lyric शब्द का ही रूपांतरित रूप हिन्दी में 'गीति' कहलाता है। 'A poem to be sing to be lyre.' अर्थात् जो गाना 'लॉयर' बाजे के साथ गाया जा सके, वह Lyric अथवा गीति कहलाता है। इसके तीन भेद होते हैं-

1. समूह-गान (Choal)
2. एक व्यक्ति द्वारा गाया जाने वाला गीत (Monodic)
3. न त्य के साथ गाया जानेवाला (Dorian)।

व्यक्तिगत हर्ष-शोक, द्वेष-आवेश, आशा-निराशा, भावना एवं इच्छाओं से पूर्ण लोक-गीतों का साहित्यिक रूप ही गीतों या गीत-मुक्तकों में अभिव्यक्ति पाता है। इन लोक-गीतों द्वारा एक ओर महाकाव्यों में वैयक्तिकता तथा अंतदर्शन का समावेश हुआ और दूसरी ओर गीति-मुक्तकों की रचना के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई।

गीति-काव्य महाकाव्य, खंड-काव्य, प्रबंध-काव्य और यहां तक कि मुक्तक काव्य से भी सर्वथा भिन्न है। मुक्तक काव्य के लिए गेयता आवश्यक गुण नहीं माना जाता है, किन्तु गीति-कविता का प्रत्येक गीत परस्पर स्वतंत्र होते हुए भी गीतात्मकता से पूर्ण रहता है। यही उसकी मुख्य विशेषता एवं अनिवार्य गुण है। गीतिकाव्य कविता का नवीन रूप है, प्राचीन रूप मुक्तक ही है। मुक्तक काव्य के विषय में आचार्य अभिनवगुप्त ने लिखा है-

"मुक्तकमन्येलिंगितम्। तस्य संज्ञायां कन। पूर्वापरनिरपेक्षणापि
हि येन रसचवर्णा क्रियते तदेव मुक्तकम्।"

अर्थात् जो रचना परस्पर निरपेक्ष होते हुए भी रस-निष्पत्ति में सहायक हो उसे मुक्तक काव्य कहेंगे। अग्नि-पुराण के अनुसार-

'मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः शताम्।'

सच्चे एवं एक सफल गीति-काव्य के विषय में श्रीमती महादेवी वर्मा ने लिखा-

'जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके। अनुभूति को तीव्र बनाए रखने तथा उसे दूसरे तक पहुंचाने के लिए भाव की अभिव्यक्ति पर थोड़ा संयम भी आवश्यक हो जाता है। जल बंधी हुई नाली में ही गति के साथ बह सकता है। यह नियंत्रण एवं संयम बाहर से नहीं, वरन् स्वयं में ही प्राप्त हो जाता है।'

गीति-काव्य की उत्पत्ति के विषय में भी कोई निश्चित मत प्राप्त नहीं। 'The Lyrics of Tennyson' नामक पुस्तक में एच०टी० टेक ने लिखा है-

'गीति-काव्य कविता का सर्वाधिक सहज प्रकार होने के कारण निश्चित रूप से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। अन्य दूसरे चेष्टाजन्य रूप से निश्चित ही इसके बाद और इसी से उत्पन्न हुए।'

मानव-जाति के अत्यंत प्राचीन भावों एवं विचारों के साथ ही गीति-काव्य की उत्पत्ति की संभावना की जाती है। संवदेन की तीव्रता और भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले शब्द, अर्थ एवं उनकी पुनराव त्ति ही गीति-काव्य का आदि स्रोत माना जाता है।

इस विषय में श्रीमती महादेवी वर्मा का कथन है, "संभव है, जिस प्रकार प्रभात की सुनहरी रशिम छूकर चिड़ियां आनन्द से चहचहा उठती हैं, जिस प्रकार मेघ को घुमड़ता-फिरता देखकर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले-पहल अपने भावों का प्रकाशन ध्वनि और गीत द्वारा किया हो।"

गीति-काव्य के विषय में विभिन्न कथनों एवं परिभाषाओं के आधार पर उसकी विशेषताओं का ज्ञान तो प्राप्त हो ही जाता हैं स्वतंत्र पद-रचना, व्यक्तिगत भावों की व्यंजना, संगीतात्मकता एवं कोमलकांत पदावली, संक्षिप्तता, भाषा और भावों की स्पष्टता आदि गीति-काव्य के प्रधान गुण हैं, जो सर्वजन-मान्यता-प्राप्त हैं। ये ये गीत कई प्रकार के होते हैं-

(i) **प्रेम-गान** - जिसमें प्रेम की सुंदर तथा सफल अभिव्यक्ति होती है। यह साहित्य की सर्वाधिक प्राचीन निधि है।

(ii) **व्यंग्य-गीत** - हिन्दी-साहित्य में इन गीतों का प्रचलन कबीर आदि संतों अपने मतों की पुष्टि के लिए हुआ है। कुछ कवियों ने धर्म-गीत एवं शोक-गीतों का भी स जन किया है।

(iii) **युद्ध-गीत** - इस प्रकार के गीतों का हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वीरगाथा-काल की रचनाओं में यह रूप बहुतायत से देखने को मिलता है।

गीति-काव्य की परम्परा आर्यों की सबसे प्राचीन रचना-ऋग्वेद से आरंभ होती है। ऋग्वेद की रचनाओं के द्वारा ही सामवेद का संकलन हुआ, जो संगीत की विशेषता से संपन्न है। मानव-संस्कृति का प्राचीन गीति-ग्रंथ सामवेद ही है। इसी के आधार पर राग-रागिनी, स्वर, ताल आदि की स ष्टि हुई है। इसके पश्चात् बौद्ध युग में भी गीतों का प्रचलन था। बौद्धों की थेर गाथाओं में वैराग्य के प्रति उनके हृदय की भावुकता और उत्साह के दर्शन होते हैं। अंग्रेजी के बैलॉड्स की भांति गाथा में भी प्रसिद्ध राजा एवं वीरों का वर्णन तथा मनुष्य के साहसिक कार्यों का विवेचन विद्यमान रही है।

संस्कृत में गीति-काव्य की परम्परा का आरंभ जयदेव के 'गीत-गोविंद' से हुआ है। वास्तव में जयदेव एक सफल गीतिकार हैं, जिन्होंने कोमलकांत-पदावली के माध्यम से मनोमुग्धकारी सौंदर्य-प्रधान गीतों की रचना की, जिसमें उन्होंने राधा-कृष्ण की विलासमयी क्रीड़ाओं का ऐसा सुंदर वर्णन किया कि उनके परवर्ती कवि उनका अनुकरण करने पर विवश हो गए। इस ग्रंथ का प्रधान रस श्रंगार ही है।

हिन्दी में गीति-काव्य के जनक विद्यापति ही माने जाते हैं। उन्हें अपने काव्य के लिए प्रेरणा जयदेव से ही प्राप्त हुई, परन्तु मेरा विश्वास है, लोक-भाषा में पदावली की रचना कर विद्यापति कुछ अर्थों में जयदेव से भी आगे बढ़ गएं विद्यापति ने अपने गीतों में माधुर्य एवं कोमलता से पूर्ण संयोग एवं वियोग-श्रंगार-रस का वर्णन किया है। गीति-काव्य के सभी अनिवार्य गुण उनकी पदावली में पाए जाते हैं। उसका प्रत्येक पद एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र है। सभी पद प थक्-प थक् द श्यों की स ष्टि करने वाले हैं। उदाहरणार्थ-

"पथ-गति नयन मिलल राधा-कान।
दुहु मन मनसिज पूरल संधान।
दुहु मुख हेरइत दुहु भेल भोर।
समय न बूझए अचुतुर चोर।
बिदगधि संगिनि सब रस जान।
कुटिल नयन कएलन्हि समधान।
चलल राजपथ दुहु उरझाई।
कह कवि सेरवर दुहु चतुराई।
तथा
'सजनी, भल कए पेखल न भेल।
× × × ×
आध उरज हेरि, आध आंचर भरि,
तब धरि दगधे अनंग।'

उक्त दोनों पद पूर्ण रूप से असंबद्ध हैं। यही भाव-स्वातंल्य उनके गीतों की विशेषता है। प्रथम में राधा-कृष्ण के राजमार्ग पर मिलने का वर्णन है, और द्वितीय में राधा के राजमार्ग पर मिलने का वर्णन है, और द्वित्तीय में राधा के रूप-सौंदर्य को देखकर कृष्ण के हृदय में उत्पन्न होने वाले भावों को चित्र खींचा गया है। संयोग की अवस्था में राधा-कृष्ण के निजी भावों को अनेक रूप से व्यक्त करने में कवि को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

'नंद क नंदन कदंब क तरु-तर धिरे-धिरे मुरली बजाव।'

इसी प्रकार के वर्णन में कवि ने वैयक्तिक भावों का वर्णन किया है। निम्न पंक्तियों में राधा के विरह-व्याकुल हृदय की व्यथा फूट पड़ी है-

'लोचन धाए फेधाएल,
हरि नहि आएल रे।
सिब-सिब जिबओ न जाए,
आस अरुझाएल रे।
मन करे तहां उड़ि जाइअ,
जहां हरि पाइअ रे।
पेम परस मनि जानि,
आनि उर लाइअ रे।'

गेयता के कारण ही विद्यापति के पदों का भजन और कीर्तन के रूप मे बहुत प्रचलन हो गया। पदावली की रचना के पश्चात् ही हिन्दी में गीतिकाव्य की परम्परा आगे बढ़ी। हृदयगत भावों एवं अनुभूतियों का चित्रण जितने सुंदर और सफल रूप में विद्यापति ने किया है, उतना सूर तथा मीरा को छोड़ किसी अन्य हिन्दी-कवि की रचना में मिलना कठिन ही है।

विद्यापति के पदों में प्रसंग सामान्य हैं, अर्थात् वे इतने सुगम और जाने-पहचाने हैं कि पाठकों को उन्हें समझने में किसी भी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं होता। कृष्ण और राधा के प्रणय की कथा भारतीय जन-जीवन के अंग-अंग में व्याप्त ही है, फिर विद्यापति ने उन प्रसंगों को ही ग्रहण किया है जो मानव-मन के लिए आदि-काल से परिचित हैं। प्रेमानुभूति, सौंदर्य-भावना आदि ऐसी ही मनोव त्तियां है। यदि प्रसंग में थोडी गड़बड़ी भी हो जाए, अर्थात् पाठक उसे राधा-कृष्ण

का प्रेम या सौंदर्य न मानकर लौकिक नायिका-नायक की प्रेमानुभूति अथवा सौंदर्य-भावना मान लें, तो भी कवि की मूल अनुभूति में कोई अंतर नहीं पड़ता। यथा-

कुसुम तोरए गेलाहुं जहां। भमर अधर खंडल ताहां।
तें चलि अएलिहुं जमुना तीर। पवन हरल हृदयक चीर।
ए सखि सरूप कहल तोहि। आन किहु जनि बोलसि मोहि।
हार मनोहर बेकत भेल। उजर उरग संसअ लेल।
तें धसि मजुरे जोड़ल झांप। नरवर गड़ल हृदय कांप।
भन विद्यापति उचित भाग। बचन पांटबे कपट लाग।'

इस उक्ति को चाहे राधा की उक्ति माना जायें या किसी इतर-वाग्विदग्धा नायिका की, किन्तु कवि की मूल अनुभूति के बोध में और सम्प्रेषण में इससे कुछ भी अंतर नहीं पड़ता। श्रेष्ठ और सफल मुक्तक काव्य की यही तो उल्लेख्य विशेषता होती है।

किसी भी कवि के काव्य का यथार्थ मूल्यांकन केवल उसके द्वारा रचित काव्य से ही नहीं होता, वरन् पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों से उसकी तुलना करना भी अपेक्षित होता है। संस्कृत साहित्य में मुक्तक काव्य की परंपरा अत्यंत विशाल एवं सम द्ध है। अमरूक, गोवर्द्धनाचार्य, कालिदास, जगन्नाथ, जयदेव आदि कवि इस पंरपरा के आधार स्तम्भ माने जाते है।

विद्यापति के पद हिंदी साहित्य में पद-बद्ध-मुक्तक-गीत-काव्य के पथ-प्रदर्शक है। मुक्तककार के लिए आवश्यक है, उसकी भाव-धारा किसी भी ढाल पर पड़कर उसे रस मग्न कर दे। उनकी पदावली में श ंगार, भक्ति तथा वीर-रस के बहुत ही उत्कृष्ट गीतों की रचना हुई। जो आज भी अपना उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखतो है। इसमें कोई संदेह नहीं कि गीति-काव्य अथवा प्रगति-मुक्तक की सभी विशेषताएं उनके काव्य मे विद्यमान है, और हिंदी में विद्यापति ही गीति-परम्परा पर काव्य रचना करने वाले सर्वप्रथम तथा सफल कवि है।

पदावली में गीति तत्व- गीतिकाव्य में जितनी विशेषताएं होती है वे सभी विद्यापति के पदों में प्राप्त हो जाती है। अतः विद्यापति की पदावली का मूल्यांकन गीतिकला की द ष्टि से निम्न प्रकार किया जा सकता है।

(1) **आत्माभिव्यक्ति**- अन्य काव्य-रूपों में और गीति काव्य मे मूलभूत अंतर यही है कि अन्य काव्यों का प्रणयन करते समय कवि तटस्थ रहता है, किंतु गीतिकाव्य की रचना करते समय उसके लिए 'तटस्थ न होना' अनिवार्य है। जो कवि गीतिकाव्य में अपने व्यक्तित्व का समावेश नहीं कर पाता, उसे गीतिकार नहीं माना जा सकता और न उसकी ऐसी रचना को ही गीतिकाव्य की कोटि मे रखा जा सकता है।

गीतिकाव्य में आत्माभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है। एक तो वह जब कवि अपने विषय का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन करता है और दूसरा वह जब कवि अपने विषय को परोक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करता है। इन दोनों प्रकारों में दूसरा प्रकार अधिक समीचीन माना जाता है, क्योंकि व्यक्तिव के प्रत्यक्ष प्रक्षेपण के कारण गीतिकाव्य की कलात्मकता को क्षति पहुंचती है और उसका अपेक्षित प्रभाव कुंठित हो जाता है। जिस प्रकार किसी रमणी के अर्धाच्छन्न कुच ही शोभा-संपन्न होते है, उसी प्रकार आत्माभिव्यक्ति का साफल्य व्यक्तित्व को अर्ध-प्रच्छन्न रखने मे ही है।

विद्यापति के पदों में आत्माभिव्यंजना परोक्ष रूप से ही हुई है। संपूर्ण 'पदावली' के भाव एक ही व्यक्तित्व की अप्रत्यक्ष अभिव्यंजना है। राधा-कृष्ण के मधुर मिलन मे तथा उनकी प्रेमजन्य विविध क्रीड़ाओं एवं चेष्टाओं में कवि की आत्म-भावना मुखरित होती है। राधा के नखशिख-वर्णन में कवि की सौंदर्य-भावना जिस आवेग और आवेश से व्यक्त हुई है, इसे देखकर यह संभावना ही नहीं की जा सकती कि कवि किसी तटस्थ दर्शक की भांति उसका अवलोकन करके वर्णन कर रहा है, अथवा कल्पना के कगार पर खड़ा होकर केवल काव्य शास्त्रीय पंरपराओं का निर्वाह कर रहा है। यह सत्य है कि सौंदर्यानुभूति को व्यक्त करने वाले उपमान शास्त्र-सम्मत हैं, किंतु यह भी सच है कि वे कवि की हार्दिकता से भी संप क्त हैं। तभी तो कवि राधा के अनुपम सौंदर्य के इतने अधिक और मार्मिक चित्र प्रस्तुत करने मे सफल हो सका है। इन चित्रों में यथावसर कवि की भावना की विशालता तथा हृदय की विशालता भी संप क्त बनी द ष्टिगोचर होती है। यथा-

'जहां-जहां पग-जुग धरई। तहीं-तहीं सरोरूह भरई।
जहां-जहां झलकत अंग। तहीं-तहीं बिजुरि-तरंग।

सूफी कवि जायसी ने भी पद्मावती के सौदर्य का ऐसा ही विशद्-भावना से संप क्त वर्णन किया है-

'नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा, दसनः ज्योति नग-हीर।'

किंतु इन दोनों वर्णनों में मूलभूत अंतर यह है कि जायसी जिस समय पद्मावती के इस रूप सौंदर्य का वर्णन कर रहे होते है, उनका हृदय आध्यात्मिकता से परिप्रोत होता है। अतः उनका लक्ष्य पद्मावती रूपी ब्रह्म की सर्वव्यापकता की अभिव्यक्ति है, पर विद्यापति के रूप-सौंदर्य वर्णन में इस प्रकार की आध्यात्मिकता अथवा दर्शनिकता का कोई घटाक्षेप नहीं है, बल्कि कवि के हृदय में स्थित विशुद्ध सौदंर्य की अपार राशि की सहज व्यंजना है। इसी प्रकार, जब विद्यापति राधा के अद्वितीय सौंदर्य का वर्णन करते है, विधाता को भी ऐसी सुंदर रचना में अक्षम बताते है और परंपरागत सौंदर्य-उपमानों को भी मनोहारिणी कल्पना का सुरूचिपूर्ण रंग देकर प्रस्तुत करते हैं तो इनका लक्ष्य अपने की मानस में किल्लोलित अपार सौंदर्य-राशि की अभिव्यक्ति होता है-

'सुधामुखि को बिहि निरमिल बाला।
अपरूब रूप मनोभब मंगल, त्रिभुवन बिजयी माला।
सुंदर बदन चारू लोचन-जुग, काजर-रंजित भेला।
कनक-कमल पर काल-भुजंगिनि, संग दुइ खंजन खेला।
नाभि-बिबर संय निकसि रोमाबलि, भुजगि निसास पियासा।
नासा खगपति-चंचु-भरम-भय, कुच-गिरि-संधि निवास।

और सूरदास ने भी राधा के सौंदर्य को इसी प्रकार उपमित किया है-

'नाभि परस रोमावलि राजति कुच-जुग बीच चली।
मनहुं बिबर तैं उरग रिंग्यौ तकि, गिरि की संधि-थली।'

किंतु विद्यापति के वर्णन में जो हार्दिकता एवं आत्माभिव्यंजना की आवेशता व्यक्त होती

है, वह सूर के वर्णन मे अनुभूत नहीं होती है।

नायिका के विरह-वर्णन में कवियों को अपनी हार्दिकता, संवेदनशीलता और आत्माभिव्यंजना के यथेष्ट अवसर प्राप्त होते है। विद्यापति ने राधा के विरह-वर्णन करते समय इन अवसरों का पूर्ण लाभ उठाया है। राधा का विरह-वर्णन विद्यापति की कल्पना की स ष्टि नहीं वरन् निजी अनुभूति की परोक्ष अभिव्यक्ति है। किसी भी ईमानदार श्र ंगारिक कवि के लिए दैहिक सौंदर्य का जो मूल्य होता है, वह इतना अनाव त्त है कि उसे बताने की आवश्यकता बिल्कुल भी प्रतीत नहीं होती। विद्यापति ने मांसल-प्रेम के ऐसे अनेक वर्णन राधा के विरह-वर्णन के प्रसंग में किये है। उदाहरणार्थ-पद प्रस्तुत है-

'आसक लता लगाओलि सजनी, नयनक नीर पटाय।
से फल अब तरुनत भेल सजनी, आँचर तर न समाय।
काँच साँच पहु देखि गेल सजनी, तसु भेल कुह भान।
दिन-दिन फल तरूनल भेल सजनी, अहुरवन न करू गेआना।'

'हे सखि। मैने आशा की जिस बेल को लगाकर आँसुओं से सींचा था, वही अब तरुण हो गई है। उसके कुचरूपी फल अब तो इतने पुष्ट हो गए है। उसके कुचरूपी फल अब भी नहीं छिप पाते। यह ठीक है कि मेरे अपुष्ट कुचों को देखकर प्रियतम को गहरी निराशा हुई थी और वे उन्हें अपुष्ट दशा में छोड़कर ही विदेश गए थे, किंतु अब तो ये दिन प्रतिदिन पुष्ट होते जा रहे हैं। प्रियतम को अब भी इस बात का ज्ञान नहीं होता।'

भले ही इस पद में मांसलता की अभिव्यक्ति है, किंतु इस तथ्य को भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि यह उस ह्रदय की यथार्थ अनुभूति भी है, जिसने शैशव में यौवन के अनेक स्वर्णिम स्वप्नों का मनोहर निर्माण किया हो।

(2) **स्वाभाविकता:** गीत कवि के भावों की सहत या स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। ये गीत मानव मन के भावों के साथ इतनी जल्दी जुड़ जाते हैं जैसे हमारे मन की उपज हों। इनके लिए कवि को न तो शब्दों का चयन करना पड़ता है न अलंकार ढूढने पड़ते हैं और न पदों के निर्माण करने के लिए प्रयत्न आवश्यक है। विद्यापति राज्याश्रित कवि होकर भी तत्कालीन लोक संस्कृति को नहीं छोड़ सके। उनके गीतों मे लोकतत्व व सामाजिक रीतिरिवाज विद्यमान है। उन्होनें भावों को उसी रूप में व्यक्त किया है जिस रूप मे वे मौलिक बने रह सकें। उदाहरण के लिए विरहिन गोपी का यह स्वप्न है जिसमें वह प्रिय के स्पर्श के सुख का अनुभव करती है तथा प्रेम-लीला के समय नींद टूट जाने से वह गहन पीड़ा का अनुभव करती है। कवि कहता है-

'सुतति छलहुँ हम धरवा रे।
बरवा मोतीहार
राति जखनि भिनसुखा रे।।
पिया आएल हमार
कर कौसल कर कंपइत रे।।

यह पद कितना सहज और स्वाभाविक है। विरहिणी अपने प्रिय के स्पर्श का वर्णन कितनी ईमानदारी और सहजता से कर रही है।

विद्यापति के गीतों मे बनावटीपन या दिखावटीपन नहीं है, बल्कि स्वाभाविक उनके हृदय की आवाज है। उन्होनें तत्कालीन काव्यपरंपरा के अनुसार राधा और कृष्ण को नायक-नायिक मानकर एक ओर अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न किया तो दूसरी ओर अपने भावों की सहजाभिव्यक्ति प्रस्तुत की है।

(3) **रागात्मक अनुभूतिः** गीतिकाव्य आवेगमय भावों का सहज उच्छ्लन होता है, अतः रागात्मक अनुभूति भी इसका प्रमुख तत्त्व है। अकस्मात् कवि के हृदय में जो भावों की एक ज्वाला भभक उठती है, और जब उसके आकुल प्राण इस अंर्तज्वाला से झुलसने लगते है, तभी उसकी वाणी अंतर्वेदना का संबल लेकर अनायास की फूट पड़ती है। यही अनायास स्फुरण गीतिकाव्य की जननी है।

विद्यापति मूलतः श्रंगार रस के कवि है; अतः पदों में श्रंगार रस के जो अजस्त्र और मधुरतम उत्स फूटे है; वे अन्य कवियों के काव्यों मे दुर्लभ है। संयोग श्रंगार के अंतर्गत नायक और नायिका की जितनी भी चेष्टांए हो सकती है, उन सभी के इन्होनें अत्यंत भाव-प्रवण प्रयोग किए है, और सभी में कवि की रागात्मक अनुभूति मुखरित है।

विद्यापति ने नायिका के सौदर्य के अनेक चित्र उपस्थित किए हैं। उन सभी चित्रों में भावों की और अनुरागों की अपार भाव-राशियाँ सन्निहित है। यथा-

'चांद-सार लए मुख घटना करू, लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोए आंचर धंनि पोछल, दह दिसि मेल उंजोरे।
जुग-जुग के बिहि बूढ़ निरस उर, कामिनी कौने गढ़ली।
रूप-सरूप हमें कहए न पारिअ, लोचन लागि रहली।'

इन पंक्तियों में राधा के सौंदर्य का वर्णन हैं इस वर्णन में कवि ने जिस रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति की है, वह अद्वितीय है। युग-युग से बूढे और नीरस हृदय वाले विधाता से ऐसी अपूर्व सुंदरी की रचना संभव नहीं है, यह कहकर तो कवि ने मानो भावों की प्रवणता को चरम सीमा पर ही पहुँचा दिया है और यह सीमा तब और भी आगे बढ़ जाती है जब कवि कहता है-'रस-सरूप हमें कहए न पारिअ, लोचन लागि रहली।'

सद्यः स्नाता का वर्णन भी ऐसा ही रागात्मक और भावात्मक है। स्नान करने के पश्चात् वह नायिका इतनी सुंदर लगने लगती है कि उसे देखकर सजीव प्राणियों की तो कौन कहे, निर्जीव वस्त्र भी उसके वियोग की आंशका से उससे चिपटकर रोने लगता है-

'तितल बसन तनु लागू।
मुनिहुक मानस मनमथ जागू।'

किंतु रागात्मक और भावात्मक अनुभूतियों की पराकाष्ठा विद्यापति के विरह-वर्णन में दिखाई देती है। विरहिणी राधा अपनी सखी से कह रही है-

'सून सेज हिय सालए रे,
पिया बिनु मरब मोयं आजि।
मिनित करओं सहलोलिनि रे,
मोहि देर अगिहर साजि।'

प्रियतम के अभाव में सूनी सेज का सालना इतना चमत्कार नहीं है जितना चिता बनाकर उसमें जीवित ही जल जाने के लिए तैयार हो जाना। इसे रागात्मक अनुभूति की चरम सीमा की कहा जाएगा।

किसी रागात्मक अथवा भावात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति में मधुर एवं प्रवण कल्पना का भी अत्यंत योगदान है। विद्यापति के अनेक पदों मे ऐसी ही मधुरता तथा प्रवणता से संपन्न कल्पना परिलक्षित होती है जो कवि की कल्पना-शक्ति को ही सिद्ध नहीं करती, वरन् रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति में भी विशेष योग प्रदान करती है। ऐसी ही कल्पना के द्वारा कवि ने विरह व्यधिता राधा की कृशाकायता एवं सौंदर्यविहीनता का चित्रण इस पद में प्रस्तुत किया है-

'सरदक ससधर मुख-रूचि सोंपलक, हरिनक लोचन लीला।
केस पास लए चमरिक सोंपलक, पाए मनोभब पीला।
माधव! जानल न जिअति राही।
जतबा जकर तेल छलि सुन्दरि, से सब सोपलक नाहि।
दसन दसा दाड़िमक सोंपलक, बन्धुर अधर रूचि देली।
देह दसा सौंदामिनि सोंपलक, काजर सनि धनि भेली।
भौहक भंग अनंग चाप देल, कोकिलक देल बानी।
केवल देह नेह अद्द लओले, एतबा अएलहुं जानी।'

विद्यापति की भावना पर न तो आवेगों को संयत रखने की विवशता है, न चिंतन तथा कल्पना की प्रधानता है औन न परोक्ष सत्ता के प्रति लगाव है। इसीलिए इनके पदों में भावों का सहज उच्छ्त्सन और अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति सर्वत्र द ष्टिगोचर होती है।

(4) **संक्षिप्तता:** गीतिकाव्य सदा मुक्तक होते हैं उनमे प्रबंध काव्य के समान किसी कथा की उद्‌भावना नहीं कि जा सकती। उसका क्षेत्र सीमित होता है। एक पद या 10-15 पंक्तियों में भावों को समाहित करके रखा जाता है। प्रत्येक पद भावों की स्वतः पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करता है। विद्यापति के पदों में जहाँ ये विशेषताएँ हैं, वहाँ उनमें सरलता, सरसता, व संक्षिप्तता है। यद्यपि उनमें बिहारी के दोहों के समान कसावट नहीं हैं, परतुं वाग्वैदग्ध्य है। पदों में स्वाभाविकता, मधुरता व भावों की तीव्रता विद्यमान है। नायिका का नख-शिख वर्णन हो या श्रंगार-वर्णन, भक्ति विवेचन हो या प्रकृति-चित्रण प्रत्येक पद अपने में एक भाव, एक चित्र या एक नूतन अभिव्यक्ति है।

गीतिकाव्य में सक्षिप्तता का अर्थ सूत्रात्मकता नहीं है, बल्कि भावों की एकता, रसात्मकता व पूर्ण अर्थ की प्रस्तुति है जो विद्यापति के पदों में सर्वथा व्याप्त है। उदाहरणस्वरूप उनकी पदावली की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-

'नंदक नंदन कदम्ब क तरू-तट,
धिरे-धिरे मुरलि बजाव।।
समय संकेत - निकेतन बइसल,
बेरि-बेरि बोलि पठाव।।'

इस प्रकार की पदावली में कवि ने सुंदर चित्र प्रस्तुत किया है जिसमें राधा के वियोग मे कृष्ण की व्याकुलता अभिव्यक्त है। कवि विद्यापति ने सीमित और सरल शब्दों में ही

अपने सरस भावों को संजोकर पदों को प्रस्तुत किया है। संक्षिप्तता गीतिकाव्य का आवश्यक गुण है। जहाँ प्रबंध काव्य में भावों की प्रस्तुति, रस की अभिव्यक्ति व विचारधारा की दीर्घता प्रस्तुत की जा सकती है वहाँ गीतिकाव्य मुक्तक रचना होने के कारण इसमें नपे तुले शब्दों में ही कवि को अपनी भावना बाँधनी होती है वह भी सुंदरता, सरसता और संगीतात्मकता के साथ। कवि विद्यापति के पदों में यह गुण सर्वदा विद्यमान है।

(5) **कोमलकांत पदावली:** गीतिकाव्य संगीतात्मक होते है तथा सुंदर और मनोरम भावों की अभिव्यक्ति करते हैं अतः यह आवश्यक है कि उनमे कठोर या कटु वर्णों की योजना न रहे। भावों के अनुरूप शब्दों या पदों को प्रस्तुत किया गया हो। विद्यापति कोमल भावों के कवि थे उनके पद भक्तिपरक हो या श ंगारिक दोनों में ही कोमल भावों की योजना रहती है। इसीलिए विद्यापति ने इन भावों के लिए न तो जयदेव के समान संस्कृत का चयन किया और न अवहठ्ठ भाषा का प्रयोग किया है, बल्कि जैसा कि उन्होनें कहा है:-

'देसिल बयना सब जन मिट्ठा।'

अर्थात् देशी भाषा सभी को मीठी लगती है। उन्होनें मिथिला निवासी होने के कारण मैथिल भाषा का प्रयोग किया है जो स्वभावतः मीठी है जिसमें कटु वर्णो का प्रायः अभाव है। विद्यापति की गीति-कविता कोमलकांत पदावली में लिखी गई है। सरसता एवं माधुर्य उसकी विशेषता है। उनके काव्य में सर्वत्र संगीत की कोमल स्वर-लहरी गुंजित हो रही है। उनका पद अवतरण पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है, मानों सौदंर्य-सुरा पान कर कवि का रोम-रोम नाच उठा हो-

'संसन-परस खसु अंबर रे,
देखल धनि देह।
नवजलधर-तर संचर रे,
जनि बिजुरि-रेह।
आज देखल जनि संचर रे,
मोहि उपजल रंग।
कनक-लता जनि संचर रे,
महि निरअवलंब।

उनके इस प्रकार क पद अवतरणों में लालित्य विद्यमान रहता हैं भाषागत रमणीयता और कोमलकांत पदावली की द ष्टि से उनके गीत परवर्ती कवियो के लिए आदर्शस्वरूप हो गए है।

(6) **काल्पनिकता:** गीतिकाव्य साहित्यिक विद्या है जिसका उद्देश्य सदा उदात्त और उच्च होता है किसी कथा या इतिहास को दोहराना नहीं है। अतः काव्य में कल्पना का आश्रय देकर कवि जिन सुंदर भावों की योजना करता है वे पाठक के मन को पूर्णतः प्रभावित करते है। जिससे रचना सार्थक सिद्ध होती है। विद्यापति ने अपने पदों के विशेष रूप से आश्रयदाताओं को समर्पित किया है अधिकाँश पद राजा शिवसिंह और उनकी पत्नी लखिमा देवी के लिए लिखे गए हैं। उनके नामों का उल्लेख भी प्रत्येक पद की अंतिम

पंक्ति या पंक्तियों में किया है, परंतु जब कवि उनका श्रंगारिक चित्रण करता है तो राधा-कृष्ण को आरोपित करके उनकी शं गारिकता व्यक्त करता है अथवा राजा शिवंसिह के वियोग में रानी लखिमादेवी की विरह भावना व्यक्त करते समय भी उन्होंने नायिका या राधा की विरह से उत्पन्न वेदना को प्रस्तुत किया है। विद्यापति के पदों में कल्पना और भावों का समवेत योगदान है। परंतु कही पर भी कोरी कल्पना नहीं, बल्कि वहाँ कल्पना वास्तविकता सी दिखाई पड़ती है। यही कल्पना की विशेषता उनके पदों में है। उदाहरण के लिए वियोगिनी नायिका कहती है-

'चौदिसि भमर भ्रम कुसुमे-कुसुमे रम,
नीरस मांजरि पिबइ।
मंद पवन वह, पिक कुहु कुहु कह,
सुनि विरहिनि कइसे जीवइ।'

नायिका इसमे इधर-उधर घूमने वाले भ्रमर की कल्पना करके श्रीकृष्ण या प्रियतम को कहते हैं कि एक ओर मेरा प्रियतम इधर-उधर भ्रमण करके त प्त नहीं होता दूसरी और इस माधव माह मे मैं कोयल की कूक सुनकर और मंदपवन के झोंके सहनकर पीड़ित हो रही हूं।

विद्यापति की ये कल्पनाएँ काव्य में भावों की सुंदरता अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करती है जो पाठको के हृदय को आकर्षित करनेवाली है।

(7) **गेयात्मकता:** गेयात्मकता गीतिकाव्य का सर्वाधिक प्रमुख तत्व है। इसी तत्व के आधार पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में गीति को 'लिखि' का नाम दिया गया है। इसका कारण यह है कि जो रचना इतनी गेय हो कि वह 'लायर' पर गाई जा सके। कुछ गीतों में तो संगीत के निश्चित आयाम पाए जाते हैं अर्थात् उनका निर्माण संगीत के नियमों के आधार पर किया जाता है। सूर व कबीर आदि के कुछ पद निश्चित राग-रागिनियों पर आधारित है। विद्यापति संगीतज्ञ नहीं थे, परंतु गायक अवश्य थे। उन्होनें स्वयं अपने पदों मे इस बात का उल्लेख किया है कि मैं इन्हें गा-गाकर प्रस्तुत कर रहा हूँ। इस संबंध में उनकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-

'विद्यापति कवि गाओल रे।
× × × ×
भनइ विद्यापति गाओल सजनी।
× × × ×
विद्यापति कविवर ये हो गाओल।
× × × ×
नव बसंत-रितु अगुसर जौवति,
विद्यापति कवि गावे।

ये पंक्तियाँ प्राय: पद के अंत में आई है। इस प्रकार के उनके गीत संगीतात्मक अवश्य है। कुछ विद्वानों ने अनेक गीतों में मालवराग, असावरी राग, मालारी राग, केदार राग, सारंगी राग आदि रागों की खोज की है। परंतु विद्यापति ने कहीं पर भी रागों का उल्लेख नहीं किया। संभव है ये राग उनके पदों में अनायास ही आ गए है। इतना अवश्य है कि

विद्यापति ने अपने गीतो में कभी-कभी वाद्यों का भी उल्लेख किया है जैसे-

'बीन खाब मुरज स्वर मण्डल,
सा. रि. ग. म. प. ध. नि. सा. बहु निधि भाव।
घटिता घटिता धुनि म दंग गरजनि,
चंचल स्वर मंडल करू राव।।'

इस प्रकार के पदों से ज्ञात होता है कि विद्यापति संगीत प्रेमी थे तथा अपने पदों को राजदरबार मे गाकर पढ़ा करते थे। वे तो मिथिला में प्रचलित जयदेव के पदों के समक्ष अपने देशी भाषा के गीतों को प्रस्तुत करना चाहते थे। उनके संगीतात्मक या गेयात्मक पदों का ही प्रभाव है कि उन्हें 'अभिनव जयदेव' की उपाधि मिली थी। जयदेव के गीत निश्चित संगीत नियमों पर आधारित थे परंतु संस्कृत में थे। विद्यापति के गीतों में संगीत की सुंदर झंकार है। उदाहरणार्थ रतिक्रीड़ा में रमण करते हुए राधा-कृष्ण का मुधर गीत इस प्रकार है-

'दुहु क अधर दसन लागल।
दुहु क मदन चौगुण जागल।।
दुअओं अधर करए पान।
दुहु क कंठ आलिंगन दान।।'

इस प्रकार के गीतों में विषयानुसार लय और स्वर है। विद्यापति के गीतो में निश्चित स्वर व ताल आदि पर आधारित राग-रागिनियाँ प्रतीत नहीं होती। उन्होनें कभी भी जयदेव के समान इनका संकेत नहीं किया है इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे गाकर अपने पदों को राजदरबार में प्रस्तुत करते थे। अतः विद्यापति के गीत संगीत है उनके विषय व भावों के अनुरूप लय और स्वर है। अतः डॉ० शिवप्रसाद सिंह के शब्दों में कहा जा सकता है-

'विद्यापति के गीत एक व्यापक जनमानस के गले के कंठहार बन सकें। इन गीतों मे इतनी आत्मीयता और निकटता भरी है कि अनपढ़, गंवार व्यक्ति भी इनका पूरा-पूरा प्रभाव ग्रहण कर लेता है। यह एक अद्‌भूत कौशल है क्योंकि विद्यापति जैसा बहुपठ और शास्त्रीय ढंग के अनेक ग्रंथों के रचयिता बहुत प्रयत्न से ही लोक जीवन की अभिव्यक्ति-सहजता को कायम रख सकता है।'

(8) **लोकगीतिः** अभिव्यंजना के आधार पर गीतो के दो भेद होते हैं - कलात्मक गीति और लोकगीति। श्री. फ्रांसिस बी. गूमर ने लोकगीतो के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए लिखा है -

'लोकगाथाओं का महत्व केवल इसी बात मे नहीं है कि उनमें अक त्रिम काव्य-भावना उपलब्ध होती है। वे परंपरा की भाषा में ही अपनी अभिव्यक्ति नहीं करते, बल्कि जन-समूह की वाणी द्वारा प्रकाशन करते हैं। उनमें किसी प्रकार की गोपनीयता नहीं पाई जाती। जो वस्तु जैसी है, उसका वर्णन वे उसी रूप में करते है। वे स्वतंत्र है तथा खुली हवा की भाँति ताजे हैं। वायु और सूर्य का प्रकाश उनसे खेल करता है।

इस वक्तव्य के अनुसार लोकगीतों की विशेषताएं ये हैः-

(1) लोकगीत अनुभूति के सहज उच्छ्लन होते हैं, इसीलिए उनमें किसी प्रकार की अभिव्यंजना की कृत्रिमता नहीं होती।

(2) लोकगीत विषय का यथातथ्य वर्णन करते है, क्योंकि उस पर किसी भी प्रकार का सामाजिक अंकुश नहीं होता।

(3) लोकगीत किसी भी प्रकार के शास्त्रीय बंधन से उन्मुक्त होते है; इसीलिए उनमें वायु की सी प्राणदायिनी शक्ति और सूर्य प्रकाश के समान उल्लास निहित होता है।

विद्यापति के लोकगीतों मे ये सभी विशेषताएँ सहज ही उपलब्ध है। इनके गीतों में अनुभूति के सहज उच्छ्लन है। यथा-

'अम्बर बदन झपावह गोरि।
राज सुबइ छिअ चांदक चोरि।
घरे घरे पहरि गेल अछ जोहि।
एखने इखन लागत तोहि।।'

राधा की कोई सखी राधा के सौदर्य का वर्णन कर रही है। समवयस्का किस प्रकार अपनी सखी से परिहास के माध्यम से उसके अपूर्व सौदंर्य का वर्णन कर रही है, इस द ष्टि से यह कथन नितांत स्वाभाविक है। यद्यपि इस कथन में कलात्मकता तो है किंतु अभिव्यंजना की कृत्रिमता का पूर्ण अभाव है।

'सखि हे! बालम्भ जितब बिदेसे।
हमें कुल-कामिनि कहइत अनुचित, तोहहूँ दे हुन्हि उपदेसे।
ई न बिदेसक बेलि।
दुरजन हमर दुख न अनुमापब तें तोहे पिया जाह एलि।
किहु दिन काधु निबासे।
हमें पूजल जे सेहे पए भुंजब राखधु पर-उपहासे।
होएताह किए बध-भागी।
जेहि खन हुन्हि मने माधब चिन्तन हमहु मरब धसि आगी।'

इस पद में नायिका की भावनाओं का यथातथ्य चित्रण है, इस चित्रण में किसी प्रकार का सामाजिक अंकुश नहीं है। कवि ने स्वतंत्र होकर विरहिणी नायिका के भावों को अभिव्यक्ति दी है।

विद्यापति के सभी गीत शास्त्रीय बंधन से मुक्त तो नहीं कहे जा सकते क्योंकि सभी गीत किसी न किसी राग से आबद्ध हैं हाँ, इतना अवश्य है कि यह शास्त्रीयता कवि की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाती है, वरन् उनकी संप्रेषणीयता में सहायक ही सिद्ध होती है।

कहीं-कहीं तो विद्यापति ने अपने गीतो में लोकगीतों के ही भावों को उन्ही की लयों में प्रस्तुत किया है। लोक में यह विश्वास किया जाता है कि जब कोई प्रियजन आनेवाला होता है तो घर की मुंडेर पर कौवा आकर बोलने लगता है। अनेक लोकगीतों मे इस प्रसंग को अत्यंत मार्मिकता से समायोजित किया हुआ है। ऐसा ही यह पद विद्यापति का भी

है। जिसमें लोक-संवेदना और लोकलय का अत्यंत सफलतापूर्वक समन्वय है-

'मोरे रे अँगनवाँ चनन केरि गहिया,
ताहि चढ़ि कुररय काग रे।
सोने चोंच बांधि देब तोयं बायस,
जओं पिया आवत आज रे।।

यहाँ कौवे के शकुन-अपशकुन आदि का चित्रण किया है। लोक जीवन की प्रचुरता के कारण ही विद्यापति के पद मिथिला और बंगाल में लोकप्रिय हुए। उनके गीत मिथिला में सामाजिक उत्सवों, वार्षिक त्यौहारों, विवाह के शुभावसरों, उपनयन संस्कार की मांगलिक बेला में गाए जाते हैं। यद्यपि मिथिला में और भी गीतकार हुए है, परंतु वहाँ पर जितना विद्यापति के गीतों के प्रति लगाव है उतना अन्य किसी कवि के गीतों के प्रति झुकाव नहीं है। विद्यापति के गीत जनमानस में समाए हुए है। इसी कारण बंगाल में भी उनके गीतों की पर्याप्त लोकप्रियता है। उनके समय से ही मिथिलावासी जयदेव को मानों भूलने लगे थे।

इस प्रकार विद्यापति के गीतों में गीतिकाव्य की समस्त विशेषताएँ विद्यमान है। आलोचक उन्हें हिंदी साहित्य का प्रथम और अमर गीतकार कहते है। डॉ० गोविन्द राम शर्मा के शब्दों में-

''मैथिल कोकिल विद्यापति के गीतों की पीयूषधारा केवल मिथिला की अमराइयों में ही प्रभावित नहीं हुई, उसने उत्तर भारत के असंख्य, काव्य-रसिकों, वैष्णव भक्तों तथा संगीत-प्रेमियों के हृदय को भी आप्यायित किया है। विद्यापति के गीतों में एक साथ ही विदग्धहृदय एवं जनमानस को मुग्ध करने की क्षमता है। भाव और शिल्प की द ष्टियों से उनकी सफलता असंदिग्ध है।''

अध्याय-8
विद्यापतिः द ष्टकूट-पद

मध्य युगीन कृष्णोपासक कवियों में द ष्टकूट लिखने की शैली प्रर्याप्त थी। सूरदास के द ष्टकूट अति प्रसिद्ध हैं। भक्ति काल में कबीर जैसे संत कवियों ने द ष्टकूट शैली न अपनाकर समाज, प्रकृति या स्वभाव में प्रचलित पद्धतियों से उल्टा वर्णन किया जिसे उल्वासी के नाम से जाना जाता है किंतु इससे भी पूर्व कितने ही द ष्ट कूटों की रचना विद्यापति द्वारा की जा चुकी थी।

शब्द पर्याय अर्थ एवं विश्लेषण

द ष्ट कूट को द ष्टि कूट भी कहते हैं। **'द ष्ट'** शब्द का अर्थ देखा हुआ, दिखाई पड़ने वाला, प्रकट या व्यक्त होने वाला होता है। **'द ष्टि'** शब्द का अर्थ आँखों से देखकर ज्ञान प्राप्त करने या जानने समझने का भाव, व त्ति या शक्ति। अवलोकन। देखने के लिए खुली हुई अथवा देखने में प्रव त्त आँखें आदि अर्थ होते हैं। **'कूट'** कूट सं० [√कूट् (आच्छादित करना, जलाना आदि) + अच] प्रत्यय से व्युत्पत्ति हुई है जिसका अर्थ पहाड़ की ऊँची चोटी। साहित्य में ऐसा पद या रचना, जिसके अर्थ पहाड़ की ऊँची चोटी। साहित्य में ऐसा पद या रचना, जिसमें श्लिष्ट अथवा संबंध सूचक सांकेतिक शब्दों का प्राधान्य हो और इसीलिए जिसका ठीक अर्थ जल्दी सब लोगों की समझ में न आता हो। कोई ऐसी रहस्यमय बात जिसका आशय या मतलब जल्दी समझ में न आता हो। वह हास्य या व्यंग्य, जिसमें कोई गूढ़ अर्थ या आशय छिपा हो। आदि होते हैं। ये कूट के साभिप्राय अर्थ हैं जिनका साहित्यगत प्रयोग होता है।

अभिप्राय यह हुआ कि द ष्टकूट का सामान्य अर्थ न लेकर 'कूटार्थ' लिया जाता है। 'कूटार्थ का भी यही अर्थ होता है कि जिसका अर्थ महज में न जाना जा सके। 'द ष्टि कूट' पर्याय से 'द ष्ट कूट' औचित्य पूर्ण एवं वैज्ञानिक प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट हो गया है कि 'द ष्ट' एवं 'कूट' दो शब्दों के योग से 'द ष्ट कूट' का निर्माण हुआ है जिसका अर्थ है पहेली। साहित्य में ऐसी कविता जिसका अर्थ या आशय उसके शब्दों के वाच्यार्थ से नहीं अपितु रूढ़ अर्थों में से निकलता हो और इसीलिए जिसे साधारणतः सब लोग नहीं समझ सकते।

उपर्युक्त अर्थ विवेचन में तीन शब्दों—गूढ़ रूढ़ तथा वाच्यार्थ का प्रयोग किया गया है जिनका अर्थ 'गूढ़' का अर्थ 'कूट' जैसा ही है। छिपा हुआ, गुप्त। क्लिष्ट या पेचीदा बात। जिसका अभिप्राय या आशय सहज में लोग न समझ सकते हों। **रुढ़** [सं०√रूह् (उद्भव) + क्त] प्रत्यय से व्युत्पन्न हैं। ख्यात्, प्रसिद्ध, प्रचलित आदि अर्थ होते हैं। **'वाच्यार्थ'** वाचक अर्थ या अभिधेयार्थ।

निष्कर्षतः कह सकते हैं 'द ष्टकूट' में सामान्य अर्थ न होकर क्लिष्ट अर्थ होता है एक ही शब्द एक से अधिक बार प्रयुक्त होता है उनके अर्थ भिन्न-भिन्न एवं विशिष्ट होते हैं। इस द ष्टि से यह यमक अलंकार के निकट होता है। एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं इसलिए श्लिष्ट भी कहा जा सकता है।

क्लिष्ट एवं रहस्यमय शब्दों के द्वारा नवीन पद रचना को द ष्टकूट कहा जा सकता है।

विद्यापति विद्वत एवं पंडित समाज के संसर्ग में रहते थे, जहाँ हृदय पक्ष की अपेक्षा मस्तिष्क पक्ष को ही अधिक आदर-सम्मान प्रदान किया जाता है। भाव पक्ष के स्थान पर बुद्धि पक्ष को प्रधानता दी जाती है। यही कारण है कि विद्यापति के पदों में क्लिष्ट कल्पना भी द ष्टिगोचर होती है। राधा के सौंधर्य और प्रेम-विरह संबंधी विषयों पर उन्होंने द ष्ट कूट पदों की रचना की है। उपमा अलंकार के सहोर एक नारी-चित्त प्रस्तुत करने में कवि ने उपमानों की स्थापना इस ढंग से की है कि वे उपमेय के स्थान की पूर्ति कर सकें। उनका प्रसिद्ध द ष्टकूट पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

माधव, की कहब सुंदर रुपे।
× × × ×
पल्लव राज चरन-जुग सोमित, गति गज़राज क भाने।
कनक-कदलि पर सिंह समारल,ता पर मेरु समाने
× × × ×
अधर बिंव सन, दसन दाड़िम-बिजु, रवि-ससि उगथिक पासे।
राहु दूरि बसु नियसे न आबथि, तै नहिं करथि गरासे।
सारंग नयन, वयन पुनि सारंग, सारंग तसु समधाने।
सारंग ऊपर उगल दस सारंग, केलि करथि मधुवाने।।"

अर्थात् युग-चरण कमल, गजगामिनी, सुंदर स्वर्णिम या केले के दोनों खंभों पर क्षीण कटि, उसके ऊपर-उरोज-मेरु, अधर-बिंबा कल, दसन-दाड़िय, चक्षु, रवि-शशि, तक सामान्य रूप वर्णन उपमान द्वारा किया गया है तत्पश्चात् 'सारंग' शब्द का भिन्नार्थक प्रयोग कर अन्य अंगों का वर्णन किया गया है। अर्थ की क्लिष्टता सारंग शब्द में है। चक्षु-सारंग (हरिण), बयन-सारंग (कोयल), सारंग (कामदेव), सारंग तसु समधाने—उसके संधान में कटाक्ष में काम निवास करता है। ललाट सारंग (कमल) दस (बहुबाची), भौंरा-केशराशि-सारंग (भौंरे रूपी लटें) लटकी हैं जो मधुपान कर केलि कर रहे है। उक्त पंक्तियों में नख-शिख सौंदर्य का चमत्कार पूर्ण वर्णन के साथ ही 'सारंग' के श्लेष से कूट को अधिक क्लिष्ट एवं गूढ़ बनाने का यत्न किया गया है। इस पद में कूट की दो शैलियों का समन्वय किया गया है।

विद्यापति ने कुछ ऐसे कूट पदों की रचनाएँ भी प्रस्तुत की है जिनके अर्थ संदर्भ से निकलते हैं तथा कभी-कभी शब्द संदर्भों को बराबर मिलाते-मिलाते अर्थ-सिद्धि होती है। ऐसे पदों का प्रथम शब्द अत्यंत गूढ़ार्थ युक्त होता है। उसका स्पष्टीकरण हो जाने पर शेष अर्थ-प्राप्ति सरलता से हो जाती है—

"माधव, जाइति देखबि पथ रामा।
गरुड़ासन सख तात क वाहन ता सम गति अभिरामा।।
दच्छ सुता, चारिम-पति-भगिनी-तनय-धरनि समरूपा।
सुरपति-अरि-दुहिता-पति-बैरी तें भरि भैलि अनूथा।।
× × × ×
मनहि विद्यापति, सुनु बरजौवति, अपरुब रुपक रंगे।
रावन-अरि-पतनी तात-क तप सह पाबिअ अंगे।।"

इस द ष्टकूट में अति गूढ़ विश्लेषण नियोजित किया गया है। गरुड़ की सवारी करनेवाले अर्थात् क ष्ण के सखा अर्थात् अर्जुन के पिता अर्थात् इंद्र के वाहन अर्थात् ऐरावत हाथी के समान चलने वाली अर्थात नायिका जो नितंब भार वहिनी है। इसी प्रकार दक्ष की चतुर्थ पुत्री अर्थात् रोहिणी के पति अर्थात् सोम अथवा चंद्रमा की भगिनी अर्थात् कामदेव की पत्नी रति के समान जो रूप

सुंदरी है। कवि ने परंपरागत रूढ़ सामग्री का ही सर्वत्र औचित्यपूर्ण प्रयोग किया है किंतु प्रयोग में प्रणाली की नवीनता का प्रतिपादन किया है। ऐसा करने से सौंदर्य-व द्धि के स्थान पर सहृदय को अर्थ समझने में व्यर्थ की बौद्धिक कवायत करनी पड़ती है तभी कवि की अभिव्यक्ति को आत्मसात करने में सफल होता है।

विरह-वर्णन-संबंधी पदों में सर्वथा विचित्रतामय कूट का प्रयोग किया गया है। ऐसा प्रयोग विद्यापति की अपनी प्रमुख विशेषता है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी कवि के काव्य में ऐसा प्रयोग द ष्टिगोचर नहीं होता है। ऐसे कूट पदों में कवि ने गणितसता की प्रकांडता का प्रदर्शन किया है। संख्या वाचक शब्द अर्थ की प्रतीति कराते हैं। वर्णाक्षरों की संख्या को क्रम-बद्ध करने से नवीन शब्द का निर्माण होता जो अर्थ का बोध कराता है। ऐसे पदों में लक्षणा शब्द शक्ति का प्रयोग करके अत्यधिक विचित्रता का प्रतिपादन किया गया है—

"भरम भवन तेनि गेलाह मुरारि।
जे देखि गेलाह, त्रेकर गुन चारि।।
प्रथम एगारह, फेरि दिअ पांच।
तीसक तेगुन थोड़े दिन सांच।।
जेकर चगुन सम तिअक विचारि।
तैं तेहि भल नहि कहथि मुरारि।।
चालिस काटि अधा हरि देल।
तैं मोर जीवन रहन-सन भेल।।"

ये द ष्टकूट ऐसे प्रेम पत्र हैं जो नायिका के द्वारा नायक को किसी सखी के द्वारा प्रेषित किए जाते हैं। इसमें पूर्ण गोपनीयता बनाई जाती है जिससे रहस्योद्घाटन न हो जाय। इसका अर्थ लिखने वाला अथवा प्राप्त करने वाला ही जान सकता है। इसे प्रेमियों की कोड भाषा भी कहा जा सकता है। नायिका राधा अपने नायक क ष्ण से कहती है, हे क ष्ण तुम भ्रमवश ही घर छोड़ कर चले गए हो जिस अवस्था को देखकर गए थे अब मेरी अववस्था उसकी चारगुनी हो गई है। यह सत्य है कि नव वय अर्थात् यौवन थोड़े दिन ही रहता है क्योंकि यह क्षणभंगुर है। तुमने यह नहीं सोचा-विचारा कि जिसका चार गुना सौ होता है। ऐसी 25 वर्ष की आयु तक ही अर्थात जबानी में ही जीवन के सुख प्राप्त किए जा सकते हैं क्योंकि युवावस्था ही विलास काल होता है। यही कारण है कि तुम्हारे कार्य को देखते हुए कोई तुम्हे भला या अच्छा नहीं कहता। चालीस का आधा 'बीस' अर्थात् हरस्व इकार के हरस्वीकरण से 'बीस' 'बिष' बन गया है। यह विष (विरह रूपी जहर) तुम मुझको देकर चले गए हो किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें भी आधुनिकता की मिलावट आ गई अन्यथा इससे मेरी म त्यु हो गई होती जबकि मैं अब भी जीवित हूँ। मेरा जीवन ऐसा हो गया है। ठीक ऐसा ही अन्य द ष्ट-कूट पद द्रष्टव्य है—

"प्रथम-एकादस दै पहु गेला,
से हो वितित मोर कतदिन भेलाः
रति अवतार-वयस मोर मेल,
तइओ न पहु मोर दासन देल।"

इस पद में विद्यापति की श्रंगारिक अश्लीलता तथा अति गोपनीयता का उद्घाटन किया गया है जिसके सहारे यह द ष्टकूट कहा गया है। इस द ष्ट-कूट में कवि की श्रं गारिक-भावना पूर्ण रूपेण रस केलि के पारावार में अवगाहन कर रही है। हिंदी वर्णमाला में व्यंजनों का प्रथम वर्ण 'का' है। तवर्ग का प्रथम वर्ण 'त' एकादश है। 'क' 'त' के संयोग से 'कत' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'अवधि' होता है। कृष्ण ने कहा था -

"आवहिगे दिन चार पाँच में
हम हलधर दो भैया।"

गोपियों ने चार पाँच को घंटा, दिवस, मास, वर्ष की अवधि मानकर प्रतीक्षा करती रही किंतु अवधि व्यतीत नहीं हुई क्योंकि उस 'चार-पाँच' में भी कृष्ण राधा से 'चार पाँच' कर गए। अर्थात् धोखा दे गए।

कुछ द ष्ट-कूट पदों की रचना विद्यापति ने 'सुधी जन' अथवा 'बुध-जन' के लिए की है क्योंकि उनका संबोधन उसी ओर है। वास्तव में विद्यापति का काव्य इतना गूढ़ एवं पांडित्यपूर्ण है कि उसी वर्ग का व्यक्ति उससे पूर्ण आनंद की प्राप्ति कर सकता है। सामान्य पदों की तुलना में द ष्ट कूट पद अति गूढ़ एवं पांडित्य पूर्ण हो गए हैं–

"कुसुमित कानन कुंजे बसी,
नयन क काजर घोरि मसी।
नख सों लिखिलन्हि नलिन क पात,
लीखि पठोलन्हि आखर सात।
प्रथम लिखिलन्हि पहिल वसंत,
दोसरह लिखिलन्हि, तेसर क अंत।
लिखि नहि सकलन्हि पहिल वसंत,
पहिलह पद अछ जीव क अंत।
मनइ विद्यापति आखर-लेख,
बुध-जन होथि, से कहिक विसेख।।"

कुसुमित कानन में आँख की मसि से धुलकर बनी अर्थात् नील जलधार यमुना प्रवाहित है। जिसमें कमल खिलें हैं, कमल के पातों पर नाखुन से पत्र लिखकर कृष्ण को भेजा। सात अक्षर लिखे। प्रथम प्रथम वसंत, दूसरा तीसरे का अंत लिखा। पहला वसंत लिख नहीं सकी। पहले पद में ही जीव का अंत हो गया। अंत में 'बुधजन' को संबोधित करते हुए कवि कहता है कि समझदार इसका विशेष अर्थ भाषित करेंगे।

विद्यापति की पदावली का छलना शीर्षक का अंतिम पद द ष्ट कूट शैली का है जिसमें अर्थ प्रसंगानुसार अथवा रूढ़ अर्थ के द्वारा ही समझा जा सकता है। वाच्यार्थ से अर्थ नहीं निकलता है।

"जाहि लागि गेलि हे ताहि कहां लइलि हे
ता पति बैरि पितु कहां।
अछल हे दुख सुख कहइ अपन मुख,
भूषण गमओलह जाहां।।
सुंदरि, कि कए बुझाओव कंते
जन्हिका जनम होइत तोहि गोलिहु
अइलि हे तन्हिका अंते।
जाहि लागि गेलहु से चलि आएल
तें मोयं धाएल नुकाई।"

अर्थात् जिसके लिए (जल के लिए) यमुना तट पर गई थी वह जल कहाँ लाई अर्थात् नहीं लाई। क्योंकि 'तापति बैरि पितु कहाँ' अर्थात् उस जल के पति या यमुना के पति जिससे मिलने हेतु वह

भागी-भागी जाती है अर्थात् समुद्र, समुद्र को सुखा देने वाले उसके बैरी या शत्रु अगस्त्य ऋषि, अगस्त्य का पिता घड़ा जिसे पानी लेने के लिए लेकर गई थी वह कहाँ है। कृष्ण के साथ रति क्रीड़ा की मस्ती में क्या सुख, क्या दुख मिला उसका वर्णन अपने मुख से कैसे कर सकती हूँ। केलि स्थल पर भूषण अंगसग आदि नष्ट हो गए। हे सखि अपने पति को कैसे समझाऊंगी जन्हिका जनम होइत अर्थात् दिन का जन्म होते ही अर्थात् प्रातः काल जल लेने गई थी। उसी दिन का अंत आ गया है अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त आ गया है संध्या हो गई। जिस जल के लिए गई थी वह जल अर्थात् वर्षा आ गई है जिसके कारण मुझे भाग कर छिपना पड़ा है।

'हरि' शब्द को श्लेष रूप में प्रयुक्त करके उसको अनेक अर्थो में प्रयुक्त करके द ष्ट कूट पद लिखा गया है-

''हरि सम आनन, हरि सम लोचन
हरि तहां हरि बर आगी।
हरिहि चाहि हरि हरि न सोहाबए
हरि हरि कए उठि जागी।।
माधव हरि रहु जलधर छाई।
हरि नमनी धनि हरि-धरिनी जनि
हरि हेरत दिन जाई।।
हरि भेल भार, हार भेल हरि सम।
हरिक बचन ने सोहाबे।
हरिहि पइसि जे हरि जे नुकारल
हरि चढ़ि मोर बुझाबे।।
हरिहि बचन पुनु हरि सपं दासन
सुकावि विद्यापति माने।
राजा शिव सिंह रूप नारायण
लखिमा देवि रमाने।।''

अर्थात् मुख एवं लोचन हरि के समान है। हरि वहाँ और आगे विद्यमान है। हरि की कामना है। हरि अच्छे नहीं लगते। हरि-हरि कहकर सोते से जाग उठती है। बादलों में हरि है। स्त्री की आँखे हरि-हरिणी के समान है। किंतु हरि की पत्नी नहीं। विष्णु सीता की खोज में दिनरात बिता रहे है। हरि के समय भार स्वाश्य तो गया है। सीता का हार-सर्प हो गया है। काटने दौड़ता है। हरि का बचन माता नहीं है। हरि में प्रव ष्ट होकर भी हरि से छिपा रहा है। हरि-वाहन पर सवार होकर मुझे बतलाता है। हरि के बचन और हरि दर्शन की कामना है।

गिनती की महत्ता का प्रतिपादन करनेवाला अन्य द ष्ट-कूट पद पदावली से प्रस्तुत है-

''माधव, आब बुझल तुअ साजे।
पंच इन दह दह गुन सए गुन
से देलह कोन काजे।।
चालिस चारि काटि चौठा
से हम सेपिया मोरा।
से निरखत मुख-पेखत चौदिस
करत जनम के ओरा।।
साठिहु मह दह बिंदु बिबरजित

के से सहत उपहासे।
हम अबला अब पहुल दोससं
दुइ बिंदु करब गरासे।।
नव बुंदा दए नवए बाम कए
से उर हमर पराने।
कपटी बालम हेरि न हे रए
कारन के नहि जाने।।''

प्रस्तुत द ष्टकूट पद में 'पंच दून', 'दह दह गुन', 'चालीस चारि काटि चौठा', 'साठिहु मह दह बिदु', 'दुइ बिंदु', 'नव बुंदादए नवए बाम', आदि में गणित से संबंधित विभिन्न अंकों तथा शून्य के प्रतिपादन के द्वारा अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति कराई गई है।

संकेत स्थल, अभिसारिका नायिका का नाम, पहचानादि का कूट द्वारा परिचय कराते पद प्रस्तुत किया गया है-

''द्विज आहर, आहर सुत नंदन।
सुत आहर सुत रामा।
वनज-बधु सुत सुत दए सुंदरि।
चलिलि संकेतक ठामा।।
माधब बूझल कथा बिसेखी।
तुअ गुन लुबुधलि प्रेम पिआ सलि
साधस आइलि उपसखी।।
हरि अरि अरि पति ता सुत बाहन
जुवति नाम तसु होई।
गोपति पति अरि सह मिलु बाहन
बिरमति कबहु न होई।।
नागर नाम जोग धनि आबए
हरि अरि अरि पति जाने।
नैमि दसाह एक मिलु कामिनि
सुकवि विद्यापति माने।।''

विद्यापति की पदावली में क्लिष्ट अर्थ युक्त द ष्टकूट पदों का यथेष्ट समावेश हुआ है। तुलनात्मक द ष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि सूरदास एवं विद्यापति के कूट-पदों में यद्यपि कुछ शैली-साम्य देखने को मिलता है तथापि उनकी भावनाओं में पर्याप्त भिन्न्ता द ष्टिगोचर होती है। विद्यापति के द ष्ट कूटों का प्रमुख उद्देश्य श ंगार-भावना की अभिव्यक्ति तथा पांडित्य-प्रदर्शन की प्रव त्ति परिलक्षित होती है। इसके विपरीत सूरदास के कूट-पद मधुर रस को स्थिर करने के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते है। 'युगल दंपति' की विलास-पूर्ण भाव भंगिमाओं को धार्मिक आधार प्रवन्त करते हुए धारण-ध्यान की वस्तु स्वरूप प्रस्तुति सूर की विशेषता है। विद्यापति अपने द ष्ट कूटों में कौतुक, चमत्कार, पांडित्यादि की भावनाओं से अग्रसर नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि विद्यापति का द ष्टकूट उत्तम काव्य की श्रेणी तक पहुँचने में सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर सका।

अध्याय-9
विद्यापति की भाषा

भाषा भावों की संवाहिका होती है। यह काव्य का व्यवहार पक्ष है। कविता की रचना केवल विचार और भाव से नहीं हो सकती है। वह तो अपनी रूपाक ति तब ग्रहण करेगी, जब भाव और विचार भाषा में अनुकूल ढंग से अभिव्यक्त हों। उसी प्रकार जब तक कविता की भाषा-शैली या कलापक्ष मनोहर व मधुर नहीं होगा तब तक कविता आह्लादकारी नहीं हो सकती। कवि जब अपने मार्मिक भावों को प्रस्तुत करता है तो वह उसकी अभिव्यक्ति अत्यंत सुंदर रूप में चाहता है। अभिव्यक्ति का यही साधन, भाषा-शैली या काव्य का कलापक्ष है। भाषा ह्रदय के भावों का मूर्त रूप है। कविता को भाषा में ही उन्मुक्त रूप से विचरण करने का अवसर मिलता है।

विद्यापति 'पदावली' की भाषा विषयक विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा। उसका प्रमुख कारण था दीर्घकालीन परंपरा से विद्यापति के पद हिंदी, बंगला और मैथिली में ही अपनाए जाते रहे हैं, तथा तत्कालीन भाषा के संबंध में प्रामाणिक सामग्री का अभाव रहा। विद्यापति की प्रसिद्धि का महत्वपूर्ण कारण उनकी भाषा ही रही है। बंगाली वैष्णव भक्तों ने उनके पदों को कीर्तन के रूप में अपनाया था। उनके काव्य की भाषा बंगला से कुछ भिन्न थी, जिसके कारण उसे 'ब्रजबुलि' कहा गया। इसी आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने बंगला को हिंदी की उपभाषा माना है। इसी भाषा में रवीन्द्रनाथ ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की। 'ब्रजबुलि' का संबंध कुछ विद्वानों ने ब्रज-भाषा और कुछ ने बंगला से स्थापित किया, परंतु अंततोगत्वा शोध के आधार पर यह निश्चय हुआ कि 'विद्यापति-पदावली' की भाषा न बंगला है, न ब्रज-भाषा, वह एक स्वतंत्र मैथिली भाषा है, जो पाँच सौ वर्ष पूर्व प्रचलित थी।

मैथिली एवं बंगला भाषा का जन्म मागधी-प्राक त' से हुआ माना जाता है, किंतु दोनों मे भिन्नता है। बिहार की भाषा उसकी पश्चिमी प्राकृत से प्रभावित रही है, जबकि बंगला का विकास शुद्ध मागधी से हुआ है। वर्तमान मैथिली हिंदी से अत्यधिक मात्रा में प्रभावित रही है। 'कीर्तिलता में विद्यापति ने 'अवहट्ठ' भाषा का प्रयोग किया। इसके पश्चात् उन्हें अनुभव हुआ कि संस्कृत-वाणी बुद्धिमानों को अच्छी लगती है और प्राकृत भाषा में सरसता नहं है अतः उन्होनें अवहट्ठ की देसिल बयना' भी कहा है। डॉ. सुनीतिकुमार के मतानुसार 'अवहट्ठ' शौरसेनी प्राकृत है, किंतु पं. शिवनंदन ठाकुर उसे मागधी-अपभ्रंश' से होकर विद्यापति की भाषा में आए है। प्राचीन बंगला में भी इन रूपों का उद्गम-स्थल वही है।

पदावली के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि विद्यापति को भाषा पर पूर्ण अधिकार था। विद्यापति केवल भावों के ही समर्थ कवि नहीं, भाषा के सबल कलाकार है। ये स्वयं भी अपने भाषा सामर्थ्य से परिचित थे, अतः इन्होनें कीर्तिलया में अपनी भाषा के विषय में यह घोषण की है-

''बालचंद बिज्जावई भासा।
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन-हासा।

ओ परमेसर हर सिर सोहइ।
ई णिच्चम नागर मन मोहइ।।'

अर्थात् बाल-चंद्रमा (द्वितीया का चंद्रमा) और विद्यापति की भाषा इन दोनों का दुर्जन परिहास नहीं कर सकतें, क्योंकि बाल-चंद्र भगवान् शंकर के सिर पर सुशोभित होता है और विद्यापति की भाषा रसिकों के मन को मुग्ध करनेवाली है।

यह घोषणा विद्यापति की गर्वोक्ति नहीं, वरन् अपनी समर्थ भाषा का वास्तविक मूल्यांकन है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि विद्यापति-जैसा भाषा का परम कुशल शिल्पकार अन्यत्र मिलना सुलभ नहीं और विद्यापति जैसा भाषा-सामर्थ्य बिरले ही कवियों की भाषा में मिल सकता है।

मैथिली का जो रूप आज मिलता है, उससे विद्यापति की मैथिली पर्याप्त पीछे है और मैथिली के आदि रूप से पर्याप्त आगे है। इन बातों को संज्ञान में रखकर विद्यापति की पदावली के आधार पर भाषागत वैशिष्ट्य द्रष्टव्य है-

(1) विद्यापति के गीतों के स्वर में कहीं लोप दिखाई पड़ता है, कहीं विपर्यय। इस प्रकार आगम, लोप और विपर्यय ये तीन स्वर-परिवर्तन हुए है। उदाहरणार्थ-अवस्थान के लिए 'बथान', मन्मय के लिए 'मनमथ', जन्म के लिए 'जनम', कर्म के लिए 'करम' आदि शब्द विशेष द्रष्टव्य है। 'बथान' में 'अ' का लोप हुआ है औद बाद के शब्दो में 'अ' का आगम।

(2) विद्यापति की मैथिली भाषा में 'ऐ' के लिए 'अइ' तथा 'औ' के लिए 'अउ' का प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ - 'एत दिन अछल' 'अइसन' भान', 'पिआ सओ', 'पउरूष' कहें तोअ बोलालए'।

(3) विद्यापति के गीतों में 'क्र ' के स्थान पर 'रि' का प्रायः प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ-भनइ विद्यापति 'रितु' बसन्त।

(4) विद्यापति-पदावली में आनुनासिकता का प्रयोग-बाहुल्य है। उदाहरणार्थ-'जंओ', 'तबहूँ', 'साहसँ', 'हेरितहुँ', 'रहितहुँ', 'तोहे', कैं, काँहा आदि।

(5) पदावली में य के स्थान पर 'ज' का व्यवहार मिलता है। उदाहरणार्थ-मधुर, 'जुवति' 'जनसंग', 'जमुनाक' तिर उपवन उदवेगल, 'जौवन' रतन उछल दिन चारि।

देशी भाषा का प्रयोगः विद्यापति संस्कृत के प्रकांड पंडित थे उन्होंने इस भाषा में अनेक ग्रंथों का स जन किया था। वे अवहट्ठ भाषा के भी ज्ञाता थे इसी भाषा में उन्होनें 'कीर्तिलता' व 'कीर्त्तिपताका' नामक ग्रंथों का स जन किया। इसके पश्चात् उन्हें अनुभव हुआ कि संस्कृत-वाणी बुद्धिमानों को अच्छी लगती है और प्राकृत भाषा में सरसता नहीं है अतः उन्होनें देशी भाषा को अपनाते हुए कहा था-

'देसिअ बयना सब जन मिट्ठा।'

इसी कारण विद्यापति ने मिथिला प्रदेश मे बोली जानेवाली देशी बोली अर्थात् मैथिली भाषा में ही पदों को लिखा है। यह उस समय जनसाधारण की भाषा थी अतः वे अपनी भावधारा सभी के हृदयों में प्रवाहित करना चाहते थे। अत्यधिक संभव है कि विद्यापति ने मैथिल भाषा के साहित्यिक रूप को न अपनाकर तत्कालीन बोलचाल की भाषा में पदावली की रचना की हो। यही कीर्ति उनकी कीर्तिपताका फहराने में सफल सिद्ध हुई है। विद्यापति भाषा के सम्राट थे और उसी के अनुकूल

शब्दों को यथेष्ट तोड़ा-मरोड़ा है, किंतु अत्याचार में कही भी शब्दों का इतना विक त रूप होने नहीं दिया कि वह कर्ण-कटु लगने लगे, वरन् उन्होनें यही प्रयास किया कि कर्ण-कटु शब्दों का प्रयोग यथासंभव न होने पाए। इसी प्रयास में सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से समास-पूर्ण पदों और संयुक्ताक्षरों का बहुत कम प्रयोग किया हैं शब्दों को कर्ण-श्रुति-मधुरता प्रदान करने के लिए ही कवि ने संस्क त के क्लिष्ट शब्दों के स्थान पर देशी शब्दों का प्रयोग किया है। भाषा की कोमलता का कवि ने सदा ध्यान रखा है। उदाहरणार्थ माघ की निम्नपंक्ति कर्ण-कटुत्व दोष से युक्त है-

'किमपैति रजोभिरौर्ववकीर्णस्य मणेर्महार्घता।'

इसे श्रुति मधुर बनाकर कवि ने सरल रूप में प्रस्तुत किया है-

'मनिका दो लपटाय रे
ते कि तकर गुन जाय रे।'

इसी पद की सुंदरता एवं सुघड़ता से प्रभावित होकर डॉ० गुणानंद जुआल ने लिखा है कि 'विद्यापति के पदों में जयदेव से भी अधिक माधुर्य है।' महाकवि विद्यापति शब्दो के पारखी थे। उन्हें इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि कौन सा शब्द किस स्थान पर प्रयुक्त होकर अधिकाधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। उन्होनें ऐसे-ऐसे शब्द चुनकर प्रयुक्त किए हैं, जिनके स्थान पर किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ-

'मुनहि क मानस मनमथ जागू।'

में ' मनमथ' शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है। मन को मथ डालने वाला ही मनमथ है यदि मनमथ के स्थान पर मनसिज का प्रयोग किया जाता तो कदाचित् इतना सौंदर्य और माधुर्य न रह जाता।

पदावली का शब्द-भंडार-विद्यापति की भाषा पर उनके संस्कार, समय, परिस्थिति, देश, रुझान, तथा आवश्यकता का अतिशय प्रभाव पड़ा है। अतएव उसमे विविधता का होना स्वाभाविक है। दूसरे इनका शब्द-भंडार अत्यंत विस्त त और व्यापक होगा, तभी उनकी भाषा उतनी ही सम द्ध होगी। विद्यापति समर्थ और संपन्न भाषा के सशक्त कवि है उसमें तत्सम, तद्भव, देशज एवं विदेशी शब्दों का बहुल प्रयोग द्रष्टव्य है-

(1) **तत्सम-** विद्यापति संस्क त के निष्णात आचार्य थे। इसी विदग्धता के कारण उन्होनें संस्कृत में कई रचनाएँ की। संस्कृत के ज्ञान-प्रगाढ़ता के कारण उनकी कविताओं में तत्सम शब्दों की भरमार हो गयी है। स्तुतिपरक पदों में द ष्टकूट पदों में अप्रस्तुत-विधान में सामान्य रूप से भी विद्यापति ने उन्मुक्त भाव से तत्सम शब्दावली का व्यवहार किया है। उनके स्तुतिपरक पदों को देखने से ऐसा लगता है कि वे मैथिली भाषा के गीत न होकर संस्कृत के श्लोक ही हैः-

'कनन-भूधर-शिखर, वासिनी
चन्द्रिकाचय चारू हासिनी
दशन कोटि विकास बंकिम तुलित चन्द्रकले।।
कुछ सुर रिपु बल निपातिनि
महिष शुम्भ निशुम्भ घातिनी'
भीत भक्त भयापनोदन पाटल प्रबले।।'

अनंग, अनूप, अवधान, अवसान, कानन, कंचन, कुसुम, कवि, कनक, कुंज, तनया, रिपु, श्रीफल, गजपति, गगन, गति, चित्त, चंदन, जगत्, दिगम्बर, नवल, नव, प्रथम, प्रेम, भवन,

मधुकर, वंसत, मदनानल, महीप, सुरतरंगिणी आदि कतिपय द्रष्टव्य तत्सम शब्द हैं। पदावली में तत्सम शब्दों को गिनना-गिनाना एक व्यापक एवं व्यर्थ कार्य है। पूरी पदावली तत्सम् शब्दों से भरी पड़ी है।

(2) **तद्भव** - तद्भव शब्दों को ही बोलचाल के शब्द कहते हैं। विद्यापति व्यवहार प्रधान भाषा-प्रस्तुति के प्रबल पक्षपाती थे। इसीलिए उन्होनें तत्सम शब्दों को मैथिली भाषानुरूप तद्भव में परिणत कर उसका प्रयोग किया है। तद्भव शब्दों के कारण मैथिली भाषा अपनी म दुता, मदिरता, लालित्य एवं जीवंन्तता के लिए जग में प्रसिद्ध है और भाषा शिरोमणि बनी है। मैथिली भाषा के तद्भव शब्दों, विद्यापति की गीतियों में तत्कालीन मैथिली भाषा की संरचना तथा तत्कालीन मिथिला की सांस्कृतिक चेतना रची-बसी है।

इसके बावजूद औपचारिकता के निर्वहण हेतु मैथिली भाषा के तद्भव शब्द द्रष्टव्य हैः-

अभिन्न, अद्दत, आंगन, आंचर, कालि, चान्दक, मझु, तीनि, पचसर, दरसन, राखथि, बसथि, बरिख, होयत आदि-आदि।

(3) **देशज शब्द** - ऐसे शब्द लोक-व्यवहार में स्वतः ही विकसित होते हैं, इसलिए इनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं होता है। मिथिला, विद्यापति की जन्मभूमि व कर्मभूमि होने के कारण वहाँ के देशज शब्दों का उनकी भाषा में प्रयोग होना संगत ही है क्योंकि विद्यापति लोकजीवन के अत्यंत समीपी कवि हैं, अतएव ऐसे शब्दों का प्रयोग कवि की लोकजीवन से अंतरंगता प्रदर्शित करता है। विद्यापति की पदावली मे औघट (असामान्य), ननुमि (छोटी), हुलना (हुल्लड़), चेंगना (बच्चे), सरिआओं (ठीक क्रम में करना) आदि सैकड़ो शब्दों का प्रयोग उनके पदों मे देखा जा सकता है।

(4) **विदेशी** - विद्यापति ने अपने गीतो में विदेशी शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है। हाँ, यह अवश्य है एक आध शब्द 'पातिसाह' अवश्य ही दिखायी पड़ जाते हैं, लेकिन वे उल्लेखनीय नहीं है। 'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका' में ऐसे शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया है।

(5) **ध्वन्यात्मक** - विद्यापति की भाषा हिंदी से अधिक प्रभावित है या बंगला से जब तक यह प्रमाणित नहीं हो पाता तब तक उनकी मैथिली भाषा में बंगाली अपनी भाषा के उच्चारण के प्रयोग करते जा रहे थे, जिसके फलस्वरूप भाषा में ध्वन्यात्मक और रूपात्मक वर्णन हो रहे थे। निम्न उदाहरणों से इस बात की पुष्टि हो जाती है-

'शुन-शुन ऐ सखि, कहन न होई।
राहि-राहि कय तनु-मन खोई।।'

इसमें बंगला उच्चारण के आधार पर ही 'सुन-सुन' के स्थान पर 'शुन-शुन' कर दिया गया है।

भाषा की अभिव्यंजना शक्ति के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग निश्चित रूप से महत्वपूर्ण होता है। ऐसे शब्दों के विनियोग से भाषा की चारूता एवं जीवंत्तता में गुणात्मक अभिव द्धि हो जाती है। ससन, नहाएलि, किंकिनि, कनकनि, रनरनि, घनघन, दरपन, बिजुरि, समारल, कन्हाइया, गरासल आदि अनेक शब्दों में विद्यापति की ध्वन्यात्मक शब्दावली के रूप में उल्लेख किए जाते है। ध्वन्यात्मक शब्दों का बिंब द्रष्टव्य है-

'किंकिन किनकिन कंकन कनकन, घनघन नूपुरे बाजे।
रति-रन मदन पराभव मानल, जय-जय दुंदुभि बाजे।।
तथा
'बाज द्रिगि द्रिगि धोद्रिम द्रिमिया।
नटति कलावति माति स्याम संग, कर करताल प्रबंधक ध्वनियां।

वाद्य, न त्य एवं वातावरण की मादकता-मुखरता आदि सब कुछ सामने आ जाती है।

(6) **द ष्टकूट शब्दावली** - शब्दों के मर्म को जाननेवाला अधिकारी कवि ही द ष्टक ट पदों का स जन कर सकता है। ऐसे पदों की रचनात्मक प ष्ठभूमि में कवि का मनोरथ केवल चमत्क त करने का होता है। विद्यापति का ही अनुसरण कर सूरदास ने द ष्टकृत पदों की रचना की।

विद्यापति ने केवल सात पदों में ये शब्दावली अपनाई है। 'सारंग' शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है -

'सारंग-नयन बयन पुन सारंग
सारंग तसु समुधाने
सारंग ऊपर उगल दस सारंग,
केलि करथि मधु पाने।'

यहां 'सारंग' से तात्पर्य म ग, कोकिल, कामदेव, कमल और भ्रमर से है।

अलंकार योजना - अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाते है। विद्यापति की कविता-कामिनी भी उतने अलंकार धारण करती है। जिससे उसमें स्वाभाविक सौंदर्य की अभिव द्धि हो जाए। विद्यापति के पद गेयात्मक होने के कारण उनमें अनुप्रासादि शब्दालंकारों का समावेश स्वाभाविक है, कहीं-कहीं यमक अलंकार भी सुंदर रूप में प्रयुक्त हैं जैसे-

'मन विद्यापति सुकवि भान।
कवि के कवि कहं कवि पहचान।।'

अर्थात् कवि विद्यापति कहते है कि कोई चतुर व्यक्ति ही यह जान सकता है कि कवि के काव्य की सच्ची पहचान कवि को ही होती है।

यहाँ यमक अलंकार की सुंदर योजना है। शब्दालंकारों के अतिरिक्त पदावली मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, असंगति, विरोधाभास, रूपकातिश्योक्ति आदि अलंकारों का पर्याप्त समावेश है। विद्यापति अलंकारों के ज्ञाता होकर भी कविता को सायास अलंकृत करने का प्रयास नहीं करते थे। उनकी कविता स्वाभाविक रूप से इतनी सुंदर थी कि वह अलंकारों की मोहताज नहीं रही। नख-शिख वर्णन में प्रायः प्राकृतिक उपमानों को प्रस्तुत किया है, कहीं अपने कथन को स्पष्ट करने के लिए द ष्टांत या उदाहरण अलंकार प्रस्तुत किए है। कहीं-कहीं पर एक ही स्थल पर कई अलंकारों का समायोजन किया है। जैसे-

'म गमद, चानन, परिमल, कुंकुम,
के बोल सीत चंदा।
पिया बिसलेख अनल जो बसिए,
विपति चिन्हिए भल मंदा।।'

यहाँ पर वक्रोक्ति, विरोधाभास, रूपक, अर्थान्तरन्यास अलंकारों का संवेत प्रयोग है जो भावों की अभिव्यक्ति में अधिक सहायक सिद्ध होता है। विद्यापति की अलंकार-योजना अत्यंत सार्थक तथा सफल थी।

अप्रस्तुत विधान - काव्य की भाषा अन्य कृतियों अथवा बोलचाल की भाषा से भिन्न होती है, क्योंकि रमणीयता इसका अनिवार्य तत्व है। अतः प्रत्येक कवि अपनी भाषा में रमणीयता का आधान करने के लिए उसमें अप्रस्तुतों का विधान करता है। अतः कहा जा सकता है कि काव्य के वर्ण्य को अधिक संप्रेषणीय बनाने के लिए जो विधि-विधान किया जाता है, उसे अप्रस्तुत विधान कहते है। अप्रस्तुत दो प्रकार के होते हैं-वास्तविक और कल्पना प्रसूत। जिनकी सत्ता लोक में संभव है, उन्हें वास्तविक अप्रस्तुत कहते हैं और जिनकी सत्ता नहीं है, उन्हें कल्पना प्रसूत अप्रस्तुत कहते है। जैसे-

'अम्बर विघटु अकामिक कामिनी,
कट कुच झांपु कुछन्दा।
कनक-सम्भु सम अनुपम सुन्दर,
हुई पंकज दस चन्दा।।'

यहाँ पर 'कनक-सम्भु' अप्रस्तुत है जो प्रस्तुत (कुचों) की रमणीयता की व द्धि हेतु है। 'कनक-सम्भु' (स्वर्ण शिव) की सत्ता लोक में संभव है, अतः यह वास्तविक उपमान है। यथा-

'सुन्दर बदन सिन्दुर बिन्दु,
सामर चिकुट भार।
जनि रबि-ससि संगहि ऊगल,
पाछ कय अन्धकार।'

इसमें नायिका के सौंदर्य का वर्णन है। उसका मुख सुंदर है, जिस पर सिंदूर की बिंदी लगी हुई है। उसकी वेणी श्यामल है। ऐसा प्रतीत होता है मानो अंधकार को पीछे धकेल कर सूर्य और चंद्रमा एक साथ ही उदित हो गए हो। लोक में सूर्य और चंद्रमा का एक साथ उदित होना संभव नहीं है। अतः यह कल्पना-प्रसूत अप्रस्तुत है।

अप्रस्तुतों का अथवा अलंकारों का प्रयोग काव्य में दो प्रकार से किया जाता है-साद श्य संघ साधर्म्म के आधार पर। साद श्य के आधार पर प्रयुक्त अप्रस्तुतों की अपेक्षा साधर्म्म के आधार पर प्रयुक्त अप्रस्तुत अधिक चमत्कारक होते है। प्रतिभा-संपन्न कवि अधिकतया साधर्म्ममूलक अप्रस्तुतों का अथवा अलंकारों का ही प्रयोग करते हैं। विद्यापति का काव्य भावप्रधान है, इसीलिए इसमें अर्थालंकारों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। ध्वन्यार्चा आनंदवर्द्धन ने अलंकारों का विवेचन करते हुए कहा है कि समर्थ कवियों के काव्य में अलंकार प्रयोगों को देखकर यह कहना अन्यथा नहीं है कि विद्यापति ऐसे ही समर्थ कवि है और इनका काव्य इसी प्रकार के अलंकार से मंडित है।

विद्यापति का प्रमुख प्रतिपाद्य है श्रंगार रस। सौंदर्य-चित्रण श्रंगार रस का अनिवार्य तत्व है। इसीलिए विद्यापति के काव्य में सौंदर्य के इतने बिंब है कि यदि इसे सौंदर्य का तत्व कह दिया जाए तो अनुचित न होगा। विद्यापति की सौंदर्यानुभूति भी इतनी प्रबल है कि इसकी अभिव्यक्ति के लिए वास्तविक और कल्पना प्रसूत दोनों ही प्रकार के अप्रस्तुत होड़ाहोड़ी दौडकर चले आते से प्रतीत होते हैं। नायिका के प्रत्येक अंग के चित्रण के लिए

विद्यापति ने परंपरागत और नवीन दोनों प्रकार के उपमानों का प्रचुरता से प्रयोग किया है। कुछ प्रयोग प्रस्तुत है-

मुख- चन्द्रमा, शशि, निशाकर, कलंकहीन चन्द्र, कमल आदि।

अधर- बिंबफल, प्रबाल, राग विद्रुम, पल्लव आदि।

वेणी- राहु, फणि, भ ंग, शैवाल, तम, यमुना, जलधर आदि।

नेत्र- हरिण, सांरग, नलिनी, मधुकर, खंजन, कमल आदि।

स्तन- कमल, चकोर, श्रीफल, हेमकलश, कनक, सम्भु, सुमेरू।

इन उपमानों का प्रयोग विद्यापति ने इतने कौशल से किया है कि ये सर्वत्र वक्तव्य को रमणीयता प्रदान करते हैं।

लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग- लोकोक्ति और मुहावरों के प्रयोग से भाषा में चमत्कार एवं प्रभावोत्पादकता की व द्धि होती है। विद्यापति लोकोक्तियों के प्रयोग में सिद्धहस्त थे। उदाहरण स्परूप कुछ लोकोक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

(क) 'बारि बिहुंन सर केओ नहि पूछ।'

(ख) 'समय न बुझए अचतुर चोर।'

(ग) 'अवसर देल सहस हो लाख।'

(घ) 'पानि-तेल नहि निबिड़ पिरीति।'

(ड) 'हिय-सम कुलिस, बचन मधु-धार,
बिष-घट ऊपर बुध उपहार।'

जब दो जातियों में संपर्क होता है, तब पारस्परिक विनियम आवश्यक है। यही कारण है कि विद्यापति की भाषा में अरबी, फारसी शब्दों का भी कुछ प्रयोग अवश्य हुआ है, परंतु काव्य सौंदर्य पर आँच नहीं आने पाई।

कवि विद्यापति निसर्ग-सिंह कवि थे। वह मानव-स्वभाव एवं समाज की रीति-नीति से पूर्णतया परिचित थे। उनकी भाषा सरल, सुबोध एवं ग्रामीण क्षेत्रों में रमी हुई है, इसी से अनपढ़ जनता को भी उसे अपनाने में कठिनाई नहीं होती। उनकी भाषा मे फबते हुए मुहावरों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। जिस भाषा में स्वाभाविकता के साथ-साथ प्रवाह की मात्रा प्रबल रहती है, उसी में मुहावरों का उचित एवं स्वाभाविक प्रयोग भी हो पाता है। विद्यापति की भाषा में यह विशेषता विशेष रूप से दर्शनीय है। उनकी भाषा के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैः-

(क) 'भिन्न-भिन्न राग, भिन्न बेवहार।'
(ख) 'कतय भीति, जो द ढ़ अनुराग।'
(ग) 'एक क रवीन, अओ क अवलंब।'
(घ) 'आरति गाहक महग बेसाह।'
(ड़) 'धाबि चोरि जौ चेतन चोर।'
(च) 'बिनु साहस अभिमत नहि पूर।'

इसी तरह के न-जाने कितने मुहावरों का यथोचित यथास्थान तथा सुंदर प्रयोग विद्यापति के पदों में देखने को मिलता है। विद्यापति ने इनका प्रयोग करके भाषा को अप्रतिम और सरस बना दिया था।

लाक्षणिक और व्यंग्यात्मकता - कवि अपने भावों को प्रस्तुत करते समय उसकी सुंदर अभिव्यक्ति के लिए लक्षणा और व्यंजना का सहारा लेता है। यही कारण है कि जहाँ सामान्य व्यक्ति अभिधा का प्रयोग करता है वहाँ कवि अपने कथन को सामान्य रूप में नहीं प्रस्तुत करता। उदाहरण के लिए कवि कहता है।

'अविरल नयन गरए जलधार।'

यहाँ पर 'जलधार' का अर्थ है-निरंतर आंसू गिरना, अतः जलधार लाक्षणिकता है। इसी प्रकार वियोगिनी राधा विदेश में रहने वाले पति के लिए कामना करती है-

'जुग-जुग जीवथु वसथु लाख कोस।'

'मेरे प्रियतम युग-युग तक जीवित रहें, भले ही लाख कोस दूरी पर रहें।।

युग-युग का लाक्षणिक अर्थ है-बहुत समय तक। 'लाख-कोस का अर्थ है-बहुत दूर। इस प्रकार की लाक्षणिकता विद्यापति के पदों में भावों को सरस और सुंदर बनाती है।

कभी-कभी विद्यापति अपने पदों में व्यंजना शक्ति का प्रयोग करते थे जो काव्य का सर्वोत्तम रूप माना जाता है। जैसे राधा कृष्ण से कहती है-

'तुअ गुन गौरव, सील-सोभाव।
सुनि कए चढलिहुं तोहरि नाब।।
हठ न करिअ कान्हु कर मोहि पार।
सब तहं बड़ थिक पर उपकार।।
आइलि सखि सब साथ हमार।
से सब भेलि तिकहिं विधि पार।।'

इसमें व्यंग्य है कि हे कृष्ण। तुम तो रसिक शिरोमणि हो। सभी तुम्हारी रसिकता को जानते हैं अतः मैं भी तुम्हारे साथ रमण करने आई थी और तुम्हारी नौका पर बैठी हूँ। तुम्हीं मुझे कामुक रस प्रदान करों। मुझे पराई मत समझो क्योंकि अब मैं अकेली हूँ। मेरी सभी सखियाँ पार चली गई है।

इस प्रकार की व्यंग्यात्मकता काव्य का प्राण-तत्व है या काव्य का सर्वोत्तम रूप है जहां भावों की गहनता है। विद्यापति में पर्याप्त व्यंग्य विद्यमान है।

चित्रात्मकता: कवि अपने भावों को प्रस्तुति करण कहते हुए कभी-कभी ऐसी प्रस्तुति करता है कि उसमें चित्रात्मकता आ जाती है। पाठकों के सामने उसका चित्र मानों अंकित हो जाता है। पदावली में 'नखशिख वर्णन' 'संद्यः स्नाता' 'वयः संधि' आदि मे कवि ने अनेक चित्र अंकित किए है। राधा कृष्ण प्रेम के अवसर पर उनके अनुभावों को प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है-

'अवनत आनन कए हम रहिलहुँ
बारल लोचन चोर।
पिया मुख रूचि पिठाए धाओल
जानि से चांद चकोर।।'

यहाँ कवि ने नायिका का चित्रात्मक विवेचन कर भाषा को सुंदर बनाया है।

बिंबात्मकता: बिंब कलात्मक अभिव्यक्ति का साधन है। इसके द्वारा कवि अपनी अनुभूति को पाठक के मानस-पटल पर अंकित कर देता है। वास्तव में अमूर्तभाव को सफल रूप में अंकित करना बिंब है। पदावली में विद्यापति की अभिव्यक्ति अनेक बार बिंबात्मक रूप में भी प्रस्तुत है। बिंबात्मकता पदावली में विभिन्न रूपों में पाई जाती है। कहीं चाक्षुण बिंब है तो कही मानस-बिंब है। उदाहरण के लिए कवि कृष्ण की आँखों से नायिका राधा के सौंदर्य की झलक प्राप्त करके कहता है-

'सजनी, भल कए पेखल न भेल।
मेघमाल संय तड़ित लता, जनि,
हिरदय सेल दई गेल।'

जैसे मेघमाला में बिजली चमक कर छिप जाता है उसी प्रकार राधा की एक झलक नायक ने पाई थी कि वह चली गई परंतु नायक उसे देखकर उस पर इतना आकर्षित हुआ कि बार-बार उसे देखने को मन करता रहा अतः राधा के सौंदर्य की छटा का नायक के हृदय पर जो प्रभाव पड़ा उसकी पाठक हृदय पर आकृति ही बिंब है।

कोमलकांत पदावली- विद्यापति के पद संगीतात्मक है। संगीत में कोमल शब्दों का प्रयोग ही गीतों की मधुरता को प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। मैथिली भाषा में कटु शब्दों का प्रायः अभाव है। इस कारण उनके गीतो में ललित पदावली प्रयुक्त है। प्रमुखतया विद्यापति ने अपने गीतो में श्रंगार रस के संयोग व वियोग पक्ष को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के रसात्मक वर्णन करने के लिए भाषा की कोमलता स्वाभाविक है। कवि की वाणी में माधुर्य गुण है, कहीं-कहीं प्रसाद गुण संपन्न सुबोधगम्य शब्दावली प्रयुक्त है। उदाहरण के लिए राधा के विरह का चित्रण करते हुए कवि कहता है-

'चौदिसि मगर भ्रम, कुसुम-कुसुम रम,
नीरसि मांजरि पीबई।
मंद पवन चल, पिक कुहु-कुहु कह,
सुनु बिरहिनि कइसे जीबइ।'

इस प्रकार की कोमलकांत पदावली उनके पक्षों में सर्वत्र द ष्टिगोचर होती है जो भावों की संप्रेषणीयता को बढ़ाती है और काव्य के सौंदर्य में चार चाँद लगाती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विद्यापति संस्कृत, अपभ्रंश आदि के प्रकांड पंडित होते हुए भी उन्होनें बोलचाल की मैथिली भाषा में ही पदावली की रचना की थी। उनके पदों में संगीत है, गीत है तथा माधुर्य और ललित पदों का समावेश है। जैसे उनकी राधा समस्त लोक की अद्वितीय सुंदरी और अनुपम मूर्ति थी उसी प्रकार विद्यापति की पदावली भी विभिन्न काव्य गुणों से विभूषित मनोहारी रचना है। जिस प्रकार विद्यापति ने राधा के मनोरम रूप और श्रंगारिक हाव-भावों को अंकित कर अपने आश्रय-दाताओं को मुग्ध कर लिया था उसी प्रकार विद्यापति की भाषा ने अलंकृत, व्यंग्यात्मक, माधुर्य एवं प्रसाद गुण संपन्न होकर पाठकों के आकर्षण का केन्द्र बनी। उनके पदों की मनोहरता केवल मिथिला प्रांत में ही नहीं बल्कि संपूर्ण हिंदी साहित्य में बेजोड़ है।

खण्ड (ख)

व्याख्या

व्याख्या

।।१।।

नन्दन नन्दन कदम्बक तरू-तर।
धिरे धिरे मुरलि बजाव।।
समय संकेत-निकेतन बइसल।
बेरि बेरि बोलि पठाब।।
सामरि, तोरा लागि।
अनुखन विकल मुरारि।।
जमुनाक तिर उपवन उदवेगल।
फिरि फिरि ततहि निहारि।।
गोरस बेचए अबइत जाइत।
जनि जनि पुछ बनमारि।।
तो हे मतिमान, सुमति ! मधुसूदन।
बचन सुनह किछु मोरा।।
भनइ विद्यापति सुन वरजौवति।
वन्दह नन्द-किसोरा।।

शब्दार्थ- नंदक नंदन - नंद के पुत्र, क ष्ण। क-के। तर-तले, नीचे छाया में। मुरलि-मुरली। संकेत-प्रेमी-प्रमिका के छिपकर मिलने का पूर्व-निश्चित स्थान। निकेतन-स्थान। संकेत निकेतन-अभिसार के लिए पूर्व-निश्चित स्थान। बइसल-बैठे हुए। बेरि बेरि-बार बार। पठाव-मिलन का समय जान संकेत स्थान पर जाने के लिए संकेत अथवा संदेश देना। सामरि-श्यामा, सुंदरी-शीतकाल में जिसके सभी अंगों से उष्णता तथा ग्रीष्मकाल में शीतलता का सुख प्राप्त हो। ऐसी तप्त कंचन वर्ण की आभा वाली स्त्री श्यामा कहलाती है-राधा। तोरा-तेर। लागि-कारण। अनुखन-अनुक्षण, प्रतिक्षण, निरंतर। तिर-तीर, किनारे। उदवेगल-व्याकुल, उद्विग्न होकर। ततहि-उसी ओर। जनि-जनि -प्रत्येक स्त्री या गोवी से (पुल्लिंग जन स्त्रीनिंग-जनि)। बेचए-बेचने। अबइत जाइत-आती जाती। बनमीर-बनमाली-क ष्ण। तोंहे-तुम्हारी ओर। मतिमान-बुद्धिमान, अनुरक्त। सुमति-बुद्धिमान (यहां संज्ञा रूप में प्रयुक्त करके उसे संबोधन किया गया है) भमइ-कहते है। किछु-कुछ। वर जौवति-युवतियों में श्रेष्ठ युवती। वन्दह-वंदना करो।

संदर्भ- मैथिल कोकिल कवि शेखर कविरंजन, कवि कंठहार, अभिनव जयदेव संस्क त, अवह्दठ एवं मैथिली के रचना कार विद्यापति ने संस्क त में दर्जनों, ग्रंथों की रचना की। अवहट्ठ में कीर्तिलता

तथा कीर्तिपताका जैसे, अनुपम ग्रंथों का प्रणयन किया। लोक भाषा मैथिली में भक्ति एवं श्रंगारी लगभग पौने तीन सौ पदों की स जना की जिन्हें मदिरों मे वर्तमान समय मे भी भाव विभोर होकर अपने इष्ट देव की आराधना पूजा में भक्तजन झूम-झूमकर गाते है। उन्हीं पदों का संकलन ''विद्यापति की पदावली'' के नाम से किया गया है। इन पदों के विषयानुसार बीस वर्गो में नामित किया गया है। प्रथम वर्ग 'वंदना' का है। प्रस्तुत पद 'वंदना' का प्रथम पद है।

प्रसंग- वंदना में 'राधा की वंदना' एवं 'देवी-वंदना' से पूर्व यह प्रथम पद है। जिसका कोई शीर्षक नहीं दिया गया है। यह वंदना रसिक बिहारी क ष्ण से संबधित है। रसराज के सिद्हस्त कवि विद्यापति ने पदावली के पदों में श्रंगार रस की संपूर्ण अवस्थाओं का विशद चित्रण किया है। उन्हों कृष्ण को रस राज श्रंगार का देवता स्वीकारा है। अतः पदावली का श्रीगणेश रसिया, प्रेमी कृष्ण की वंदना से किया है। श्रीक ष्ण संकेत स्थल पर विराजमान मंथर गति से मादक मुश्लिका वादन कर रहे है। राधा के पूर्व निश्चित समय पर आने के कारण आकुल-व्याकुल क ष्ण की परिस्थिति को संदर्भित कर राधा को संबोधिती हुई दूतिका सखी कहती है।

भावार्थ- हे राधा! नंद के नंदन तुम में 'पूर्ण रूपेण अनुरक्त वंसरी वादक कृष्ण तुम्हारी प्रतीक्षा में रत शनैः शनैः मद मस्त मुरलिका ध्वनि प्रतिपादित करने के लिए यत्नशील है। किंतु पूर्व निश्चित समय पर तुम्हारे संकेत स्थल पर न पहुंचने से व्याकुल होकर मुरली वादन द्वारा संदेश या संकेत प्रेषित करने के लिए बार-बार बांसुरी बजा रहे है। संकेत स्थल कदंब व क्ष है जिसकी छाया में क ष्ण बैठे है। मिलन का पूर्व निश्चित समय बीतता हुआ जानकर उनकी व्याकुलता बढ़ती जा रही है जिसके परिणामस्वरूप क ष्ण पूर्व निश्चित स्थान अर्थात् यमुना के किनारे स्थित कदंब व क्ष की सघन छाया में बैठकर अनेक बार बांसुरी के स्वर में तुम्हारा आह्वान कर चुके है अर्थात् क ष्ण मुरली के स्वरों में तुम्हें पुकार रहे है।

हे श्यामा सुंदरी राधे! तुम्हारे कारण मुरारी क्षण-क्षण अधिक विकल होते जा रहे है। यमुना तट पर स्थित उपवन में अत्यंत तीव्र व्याकुलता से बारंबार उसी और टकटकी लगाए अपलक देख रहे है जिधर से तुम्हारे आने की संभावना है। हे राधे! गोरस बेचने के लिए आती-जाती प्रत्येक गोपी से वे तुम्हारे विषय में पूछ रहे है कि राधा को आते हुए देखा है।

हे चतुर सुजान! सुमति! युवतिश्रेष्ठ राधे। मेरी कुछ बातें सुनों! मधुसूदन तुम पर अनुरक्त है। इसी लिए विद्यापति कहते हैं कि हे युवतियों में सर्वश्रेष्ठ राधे! तुम नंद किशोर क ष्ण की वंदना आराधना कर, उनकी इच्छा को पूर्ण कर जीवन लाभ की प्राप्ति करो तुम्हारे लिए यही श्रेयस्कर है।

काव्य सौंदर्यः-

1. सरस, प्रवाहयुक्त कोमलकांत पदावली।
2. माधुर्य का प्राधान्य
3. लोक भाषा मैथिली का भव्य प्रयोग।
4. संगीतात्मकता।
5. दूती की वचन वक्रता तथा वाग्वैदग्ध्य।
6. 'धिरे धिरे मुरलि बजाव' में क ष्ण की आतुरता-व्याकुलता के साथ-साथ लोक लज्जा के भय की अभिव्यक्ति।

7. 'सामरि' शब्द सांवरी अर्थात् 'श्यामा' नायिका अर्थात् राधा के लिए प्रयुक्त हुआ है जिससे राधा की अनुपम छवि संकेतिक की गई है। श्यामा पारिभाषिक शब्द है। इसे परिभाषित करते हुए आचार्य मल्लिनाथ ने लिखा है-

''शते सुखोष्णसर्वागी ग्रीष्मे च सुखशीलता।

तप्त का चनवर्णाभा सा स्त्रीश्यामेति कथ्यते।।''

8. 'बेलि पठाव' वंशी में पुकार रहे है-

'नाम समेतम् क त संकेतम् वादयते म दुवेणुम्।''

9. पुनरूक्तिप्रकाश - अनुप्राप्त तथा वीप्सा अलंकार-नंदक नंदन, तरू-तर, धिरे-धिरे, फिरि-फिरि, जनि-जनि।

10. यमक, पर्यायोक्ति तथा परिकरांकुर अलंकार।

11. श्लेष-वंदह-वंदना करों, इच्छा पूर्ण करो।

।।२।।

देख देख राधा रूप अपार।
अपुरूब के बिहि आनि मिला ओल,
खिति-तल, लावनि-सार।।
अंगहि अंग अनँग मुरछायत,
हेरए पड़ए अथीर।
मनमथ कोटि-मंथन करू जे जन,
से हेरि महि-मधि गीर।।
कत कत लखिमी चरन-तल ने ओछए,
रंगिनी हेरि विभोरि।
करू अभिलाख मनहि पद पंकज,
अहोनिसि कोर अगोरि।।

शब्दार्थ- अपुरूब-अपूर्व। बिहि-बिधि, ब्रह्मा। आनि मिला ओल-लाकर मिला दिया, रच दिखाया। खिति-तल-क्षिति-तल, प थ्वी पर लावनि-लावण्य, सौदंर्य। अनंग-काम देव। मुरछायत-मुर्छित हो जाता है। हेरए-देखकर। अथीर-अस्थिर, चंचल। मनमथ-काम देव। अंग-तन, गात्र। जे जन-जो व्यक्ति। से-वह। हेरि-ढूंढंकर। महि मधि-प थ्वी के मध्य, प थ्वी पर। गीर-गीर पड़ते है। लखिमी-लक्ष्मी। नेओछए-न्यौछावर करते है। रंगिनि-सुंदरी, रंगीली। मनहि-मन ही मन। अहोनिसि-अहर्निश, रात दिन, नित्य। कोर-गोद। अगोरि (मैथिली) यत्नपूर्वक रखना, सुरक्षित रखना, पहरे मे रखना।

प्रसंग- अपार सौदंर्य की राशि राधा विद्यापति की पदावली की नायिका है। उसी की वंदना की गई है। ऐसा प्रतीत होता है मानो राधा की दिव्य सौदंर्य छवि को देखकर कवि इतना विमुर्ग्ध हो गया कि वह पुकार 'उठा-देख-देख राधा-रूप अपार।' राधा के रूप लावण्य से अभिभूत होकर उन्हीं की वंदना करते हुए कहता है।

भावार्थ- देखिए तनिक राधा के अपूर्व सौंदर्य को देखिए। ऐसा प्रतीत होता है मानो विधाता ने प थ्वी पर उपलब्ध समस्त लावण्य को समन्वित करके उसका सार रूप ग्रहण करके श्रीराधा का स जन

किया है। यह निश्चित कर पाना कठिन है कि किस विधाता को हस्त कला ने प थ्वी पर ऐसे सौंदर्य सार का विधान किया है जिससे राधा का स्वरूप दिव्यता एवं अनुपमता का प्रतीक बन गया है। श्रीराधा का अंग-प्रत्यग शोभा की खान बन गया है जिसे देखकर सौंदर्य का देवता कामदेव स्वयं अस्थिर होकर मूर्च्छावस्था को प्राप्त हो गया है। करोड़ो कामदेव के सम्मिलित सौंदर्य को अपने अनुपम सौंदर्य से लज्जित करने वाले श्रीक ष्ण भी श्रीराधा के अंग-प्रत्यंग की शोभा को देखते मूर्छित होकर धराशायी हो जाते हैं। जिन श्रीक ष्ण के चरण-कमलों की अपूर्व सुंदरता पर लक्ष्मी स्वंय को न्यौछावर कर देती है वे श्रीक ष्ण भी राधा के सौंदर्य को देखकर मूर्छित हो जाते है। मन में अभिलाषा होती है कि इस पद-कमल को दिन-रात गोदी में 'अगोर कर' रक्खें।

न जाने कितनी-कितनी लक्ष्मियां राधा के चरण के तलुओं को देखकर उन पर बलिहारी जाती है कितनी सुंदरिया होश-हवाश खो बैठती है जिससे उनके मन में बलवती लालसा जाग त हो उठती है कि वह इन चरण-कमलों को अपनी गोद मे रखकर रात-दिन उसकी रखवाली किया करें।

काव्य सौंदर्यः-

1. राधा का दिव्य, अलौकिक सौंदर्य वर्णित।
2. कोमल कांत, सरस पदावली।
3. माधुर्य गुण की प्रधानता।
4. लोकभाषा मैथिली भाषा की सुंदर पदावली।
5. अनुप्रास एवं अत्युक्ति तथा अतिशयोक्ति अलंकार योजना।
6. 'देख रेख', 'कत कत' में वीप्सा अलंकार।
7. 'अपुरूब के विहि आन मिलाओल
   खिति-तल लावनि सार।।'' - उत्प्रेक्षा अलंकार।
8. मनमथ - परिकरांकुर।

भाव साम्य-

नैना भीतर आवहुरे नैन झांपि मै लेंव।
न मैं देखू और को न तोहि देखन देंव।।

तथा

''जुग-जुग के बिहि बूढ़ निरस उर,
कामिनी कोने गढ़ली।
रूप सरूप हम कहए न पारिअ
लोचन लागि रहली।।''

-विद्यापति की पदावली

।।३।।

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल।
स्रवन का पथ दुहु लोचन लेल।।
बचन क चातुरि लहु-लहु हास।
धरनिये चाँद कएल परगास।।
मुकुर लई अब करई सिंगार।
सखि पूछइ कइसे सुरत-विहार।।
निरजन उरज हेरइ कत बेरि।
हसई से ऊपन पयोधर हेरि।।
पहिल बदरि-सम पुन नवरंग।
दिन-दिन ऊनँग अगोरल अंग।।
माधव पेखल अपुरूब बाला।
सैसव जौवन दुहु एक भेला।
विद्यापति कह तुहु अंगे आनि।
दुहु एक जोग हइ के कह संयानि।।

शब्दार्थ- सैसव-शैशव, बचपन। जौवन-जवानी। गेल-गए। लेल-लिया, पकड़ी। लहु-लहु, मंद। हास-हंसी। धरनिए-प थ्वी पर। कएल-कर रहा है। परगास-प्रकाश। मुकुर-दर्पण। सुरत-विहार-काम क्रीड़ा, रसकेलि। निरजन-निर्जन, एकांत। उरज-उरोज, स्तन। हरेड्-देखती है। कत बेरि-कितनी ही बार, बार-बार। हसइ-हंसती है। पयोधर - स्तन। बदरि-बेर का फल। नवरंग-नारंगी, नीबू। अगोरल-अगोरता है, पहरा देता है, सुरक्षा की। पेखल-देखा। अपुरूब, अपूर्व। भेला-भेंट, मुलाकात भया-हुआ। अगेआनि-आगे होकर, प्रमुख रूप से। जोग-योग्य। के कह-कौन कहता है?

प्रसंग- वयः संधि के प्रथम पद में वय-संधि के अवसर पर नायिकास के हृदयस्थ भावों का अत्यधिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। किशोरावस्था के पश्चात् अचानक यौवनागम पर नायिका में स्वाभाविक संकोच एवं लज्जा का अविर्भाव हो जाता है। अपने शारीरिक विकास से परेशान हो जाती है। बर्धित अंग को छिपाने का यत्न करती है। शारीरिक मानसिक परिवर्तनों के कारण वह समझ नहीं पाती कि उसे क्या करना चाहिए वय-संधि के स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक स्वरूप का प्रस्तुतीकरण करते हुए कवि कहता है।

भावार्थ- मानव के शारीरिक एवं मानसिक विकासानुसार शैशव, बाल्य, कैशौर्य, युवा तथा ब द्धा पाँच अवस्थाएं होती है। जन्म से म त्युपर्यन्त इनका स्वाभाविक विकास होता रहता है। एक के बाद दूसरी अवस्था का विकास होता रहता है प्रत्येक दो अवस्थाओं के अंत-आदि के मिलन को संधि काल कहा जाना चाहिए। 'वय' का अर्थ अवस्था तथा 'संधि' का अर्थ मेल होता है। कैशोर्य एवं युवा अवस्था के मेल को ही 'वय-संधि' की संज्ञा दी जाती है क्योकि स्वाभाविक विकास अचानक तीव्र शारीरिक एवं मानसिक विकास हो जाता है जिसका आभास या ज्ञान नहीं होता है। इसीलिए ऐसी युवती को अज्ञात यौवना की संज्ञा दी गई है। यहां शैशव का कवि अभिप्राय कैशोरोवस्था से है। कैशौर्यावस्था एवं युवावस्था के मेल हो जाने के परिणामस्वरूप अर्थात् वयःसंधि में दोनों आंखे कानों का मार्ग ग्रहण कर लेती है अर्थात् कटाक्ष करना या आंख मारना प्रारंभ कर देती है युवती। कैशौर्यावस्था में कान कथा-वार्ता श्रवण करने के लिए उत्सुक होते थे। कैशोर एवं युवा के मिलन से कान और आंखे एक रंग हो जाती है। नेत्रों में भी उत्सुकता या चाँचल्य का आगमन हो जाता है क्योकि श्रवणों के मार्ग का अनुसरण करना प्रांरभ कर दिया है। प्रेमालाप कोई

देख-सुन न ले इस लिख वाणी की मुखरता स्थान नयनों को दे दिया है। आंखों के संकेत में वार्ता संपन्न हो रही है। वार्तालाप में चातुरी आ गई है। क्या कहना है क्या नहीं कहना है। पर्याप्त सोच-विचार के बाद बोला जाता है। कैशोर्यावस्था के मुक्तहास या अट्ठहास का स्थान मंद-मंद हंसी या म दु मुस्कान ने ले लिया है। मर्यादा, संयम, लज्जा मे अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया है। उच्छ ंखलता गंभीरता में बदल गई है। इस समय इस अपूर्व सुंदरी राधा की मुस्कान से ऐसा प्रतीत होता है मानो चंद्र आकाश से उतरकर अपना स्निग्ध प्रकाश प थ्वी पर फैला रहा हो अथवा प थ्वी-चंद्र के प्रकाश अर्थात् राधा के सौंदर्य के समक्ष आकाशीय चंद्र का प्रकाश ओझल हो गया है तथा प थ्वी-चंद्र-राधा का प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ है। उसकी मुस्कान ऐसी लगती है, मानो प थ्वी पर चांदनी फैल गई हो। वयः संधि में श्र ंगार-प्रियता की भावना जाग त हो जाती है तथा अपनी सौंदर्य दर्शन की लालसा उत्क ष्ट रूप धारण कर लेती है जिसके परिणामस्वरूप अज्ञात यौवना दर्पण के सामने खड़ी होकर या हाथ में शीश लेकर अब अपने सजने-संवारने अर्थात् श्र गांरित करने लगी है। ऐसा प्रतीत होता है मानो काम-क्रीड़ा में उसका श्र ंगार विखंडित हो गया है। किसी को उसकी रति-क्रीड़ा का पता न चल जाए इसलिए अपने को व्यवस्थित करने लगी है। चतुर सखी पूछ लेती है कि कामक्रीड़ा कैसी रही। अथवा इस अवस्था में कामदेव भी अपना अति प्रभाव दिखाना प्रारंभ कर देता है जिसकी उत्सुकता एवं जिज्ञासा पूर्ति के लिए सुंदरी अज्ञातयौवना काम-क्रीड़ा तथा रति-विलास के आनंद के विषय मे अपनी प्रिय सखी से प्रश्न करती है कि काम-क्रीड़ा का आनंद क्या है? कैसा होता है?

निर्जन एकांत स्थान में जाकर बार-बार अपने ह्रदय से जन्मे अर्थात् उठे हुए उरोजों को देखती है अपने स्तनों के उभार को देखकर अति प्रसन्न होकर हंसती है। नव प्रस्फुटित उरोजों स्पर्श कर आनंद विभोर हो जाती है। अज्ञात यौवना के नवजात उरोज प्रारंभ में बहुत छोटे आकार के थे वे बेर के फल के समान लघु आकारी थे। शनैः शनैः विकसित होकर नीबू (कागजी) तथा नारंगी के आकार के हो गए। यौवनागम के फलस्वरूप उसकी शरीरिक पुष्टता को देखकर ऐसा प्रतीत होने लगा है मानो स्वयं कामदेव ने अपनी इस अपूर्व निधि पर पहरा देना प्रारंभ कर दिया है अर्थात् कामदेव ने युवती के शरीरागों में अपना आश्रय स्थल बना लिया है। प्रतिदिन रक्षाकार्य में संलग्न है।

श्रीकृष्ण से दूती कह रही है, हे माधव मैनें ऐसी अपूर्व सुंदरी, अज्ञात यौवना, मुग्धा बाला को देखा जिसमें शैशव (कैशोर्य) एवं यौवन परस्पर मिलकर एकाकार हो गए है। अर्थात् यह बालिका अपनी कैशोर्यावस्था को पार कर युवावस्था में पदार्पण कर चुकी है अर्थात् वयः संधि की स्थिति में है। विद्यापति कहते है कि क ष्ण दूती को संबोधित करते हुए कहते है कि हे दूती तू अज्ञानी है भला कौन सयानी होकर कहेगा कि शैशव (कैशोर्य) एवं यौवन दोनों ही समान रूप से प्रशंसा के पात्र है। अथवा कवि विद्यापति राधा-माधव की जोड़ी देखकर उन्हें एक दूसरे के योग्य बतलाते हुए कहते है कि इस संबंध में समस्त समाज का वही मत होगा, जो उनका स्वयं का मत है। प्रथम अर्थ उचित प्रतीत होता है।

काव्य सौंदर्यः-

1. वयः संधि में अचानक शरीरिक एवं मानसिक परिवर्तनों का कवि ने स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है।
2. संयोग श्र ंगार की पूर्व पीठिका का मनोरम वर्णन।
3. विभिन्न अनुभावों का सम्यक विवेचन।

4. 'धरनिये चाँद कएल परगास'-उत्प्रेक्षालंकार।

5. 'बदीर-सम'-उपमालंकार।

6. 'दुहु एक जोग हद् के कह संयानि'-काकु वक्रोक्ति।

7. कोमलकांत पदावली, माधुर्य भाव युक्त।

भाव साम्य

1. छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जौबनु अंग।
दीपति देह दुहन मिलि, दिपति ताफता रंग।।

2. खेलन सिखए अलि भले, चतुर अहेरी मार।
कानचारी नैन म ग, नागर नरन सिकार।।

-बिहारी

3. ''गिरा अनयमन, नयन बिनु वाणी''

-तुलसी

4. ''गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव भाषण।''

-पंत

5. ''पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पून्योई रहत, आनन ओप उजास।।

-बिहारी

6. ''स्मित किंचिद्वक्र सरल तरलों द ष्टि विभवः।
परिस्पदों वाचामपि नव विलासोक्ति सरसः।।
गतीनामारम्भः किसलयिति लीला परिकरः।
स्प शन्त्यास्तारूण्यं किमिह न हि रम्यं म ग द शः।।

।।४।।

पहिल बदरि कुच पुन नवरंग।
दिन दिन बाढ़ए पिड़ए अनंग।।

से पुन भए गेल बीज कपोर
अब कुज बाढ़ल सिरिफल जोर।
माधव पेखल रमनि संधान।
घाटकि भेटल करत सिनान।।

तनसुक सुबसन हिरदय लागि।
जे पुरूष देखन तेकर भागि।।

उर हिल्लोलित चाँचर केस।
चामर झाँपल कनक महेस।।

भनई बिद्यापति सुनह मुरारि।
सुपुरूख बिलसए से बरनारि।।

शब्दार्थ- बदरि-बेर का फल। नवरंग-नारंगी। पिड़ए-पीड़ा देता है। बीजक पोर-बीजपुर, बड़ा नीबू, गलगल। सिरिफल-श्रीफल, बेल। जोर-समान, वयः-संधि। पेरवल-देखा। सिनान-स्नान। तनसुक-एक प्रकार का बारीक सुदंर कपड़ा। तेकर-उसका! भागि-भाग्य। हिल्लोलित-झुमता हुआ। चांचर-चंचल। चामर-चंवर, झाँपल-ढक दिया हो। बिलसए-विलास करे।

प्रसंग- वयःसंधि में कुच प्रस्फुटित होते हैं उनका प्रारंभिक रख बेर के फल के समान लघु आकार का गुठली दार अर्थात् गांठ वाला होता है। शनैः शनै विकसित होकर बेल के फल के समान विशालाकार का हो जाता है। कुचों के क्रमिक विकास का वर्णन करते हुए कवि कहता है।

भावार्थ- वयःसंधि अज्ञात यौवना बाला के कुच पहले बेर के फल के समान छोटे होते है। फिर बढ़कर कागजी नीबू या नारंगी के समान हो जाते है। कुचों में प्रतिदिन बढ़ोत्तरी होती रहती है। उनकी व द्धि से कामदेव पीड़ित होता रहता है परिणामतः कामदेव कुचों के विकास के क्रम से बाला के शरीर मथकर उसे पीड़ा देना प्रारंभ कर देता है। स्पर्शन एवं मरदन की अभिलाषा पीड़ादायक होती है जैसे बीज उपयुक्त वातावरण प्राप्त कर क्रमशः विकासमान होकर मोटे, गांठ दार व क्ष का रूप धारण कर लेता है। उसी प्रकार कुच भी द ढ़ और मोटे हो गए है। कुछ ही दिनों में कुच बढ़ते बढ़ते बेल के फल के समान विशाल आकार के हो जाते है। अब इस बाला के कुचों ने विकसित होकर बेल के फल का स्वरूप धारण कर लिया है। जैसे-जैसे बाला पूर्ण युवावस्था को प्राप्त होती है। उसकी काम वासना भी वैसे वैसे बढ़ती जाती है। काम भावना की उत्तेजना ही बेर के फल को बेल के फल का रूप प्रदान कर देती है। कृष्ण उस बाला की खोज करते हुए यमुना तट पर जा पहुंचे जहां वह स्नान कर रही थी। माधव ने वयः-सन्धि वाली रमणी को देखा। परस्पर एक दूसरे को देखने से यमुना के घाट पर स्नान करते हुए दोनों का मिलाप हुआ। उस समय रमणी की रेशमी बढ़िया किस्म की बारीक साड़ी उसके ह्रदय से चिपक रही थी। नारी की ऐसी अपूर्व छवि को दर्शन मात्र वे ही कर सकते हैं, जिनके भाग्य में ब्रह्मा ने विशेष रूप से इसके दर्शन का उल्लेख कर दिया हो। सर्वसाधारण के लिए उसका दर्शन सुलभ नहीं है ंउस समय बाला के भीगे हुए चंचल केश बिखर कर उसके वक्षस्थल पर फैले हुए थे जो उसके उरोजों को ढंक रहे हो। उन उरोजों का केशों पर ढंका हुआ रूप ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो किसी ने स्वर्णिम शिव लिंग को चंवर से ढंक दिया हो। कवि विद्यापति मुरारी को संबोधित करते हुए कहते हैं! हे मुरारी! सुनो ऐसी सर्वश्रेष्ठ सुंदरी बाला से समागम या विलास केवल वही कर सकता है जो स्वयं सर्वश्रेष्ठ पुरुष हो। सामान्य मानव की पहुंच से परे है।

काव्य सौन्दर्य

भाव साम्य

1. ''उद्भेदं प्रतिपद्म पक्व बदरी भाव समेता क्रमात।
   पुन्नागाकृतिमाप्य पूग पदवीमारुह्य विल्बश्रियम्।।
   लबधा तालफलोपमा च ललितामाद्य भयोधुना।
   चंचत् कांचन कुम्भ जम्भनमिमावस्याःस्तनौ विभ्रतः।।''
2. विद्यापति ने वयः-सन्धि में कुचों का क्रमिक-विकास अति मनोरम ढंग से किया जो उनकी सूक्ष्म श ंगारी निरीक्षण का परिचायक है।
3. कोमल कांत पदावली।
4. लोक भाषा मैथिली का सुष्ठु प्रयोग।
5. यहां कवि भक्त नहीं श ंगारी है क्योंकि एक शिव लिंग के स्थान पर दो-दो शिवलिंगों का वर्णन करता है।

6. ''पहिल बदरि कुच पुन नवरंग।''
   'अब मुच बाढ़ल सिरिफिल जोर।' - उपमा अलंकार
7. 'उर हिल्लोलित चांचर केस।
   चामर झांपला कनक महेस।।' -उत्प्रेक्षा अलंकार
8. श्रंगार रसाभास।
9. 'जे पुरुख देखब, तेकर भागि।' -पर्यायोक्ति अलंकार

।।५।।

खने खन नयन कोज अनुसरई।
खने खन बसन धूलि तनु भरई।।

खने खन दसन-छटा छुट हास।
खने खन अधर भागे गहु वास।।

चउँकि चलए खने खन चलु मन्द।
मनमथ-पाठ पहिल अनुबन्ध।।

हिरदय-मुकुल हेरि हेरि थोर।
खने आँचर दए खने होए भोर।।

बाला सैसव तारुन भेट।
लखए न परअ जेठ कनेठ।।

विद्यापति कह सुन वर कान।
तरुनिम सैसव चिन्हइ न जान।।

शब्दार्थः खने खन-क्षण क्षण। नयन कोन-आंखों के कोने। अनुसरई-अनुसरण करती हैं। नयन कोन अनुसरई-कटाक्ष करती है। बसन-वस्त्र, आंचल। तनु-शरीर। हास-हास्य। छुटहास-हंसी छूटती है। बास-वस्त्र। चउँकि-चौंककर। गहु-रख लेती है। मनमथ-पाठ-काम-शिक्षा। अनुबन्ध-भूमिका, कार्य से पूर्व समझौता या करार। हिरदय-मुकुल-हृदय की कलियां, कुंच। भोर-विभोर, भूल जाना। तारुन-तारुण्य, जवानी। भेट-मुकाबला। जेठ-ज्येष्ठ, बड़ा। कनेठ-कनिष्ठ, छोटा। कान-कान्ह, कृष्ण। तरुनिमि। तरुनाई, यौवन, जवानी। चिन्हइ-पहचान।

प्रसंगः इस पद में वयःसन्धि का वर्णन किया गया है। बाला में शारीरिक एवं मानसिक स्वाभाविक, त्वरित परिवर्तन दिखलाई पड़ने लगते हैं। परिवर्तनशीलता को रेखांकित करता हुआ कवि कहता है कि नायिका शैशव एवं यौवन के प्रभाव से पूर्णरुपेण प्रभावित है। यौवन के प्रताप से उसका हृदय उमंग और उत्साह से परिपूरित हो जाता है।

भावार्थः प्रेमी-प्रेमिका पारिवारिक सदस्यों के मध्य बैठे हुए परस्पर नयनों से नयनों में संभाषण करते है। क्षण-क्षण नायिका के नयन आंखों के कोने का अनुसरण करते हैं। अर्थात् सीधी देखती हुई आंखों को तिरछी करके कटाक्ष पात करती हैं अर्थात् आंखें मारती हैं। कभी विभोर होकर धराशायी होकर वस्त्रों को धूलि धूसरित कर लेती है। क्षण-क्षण धूल धूसरित वस्त्रों से अपना शरीर धूल से भर लेती है। धूल से लथपथ शरीर का उसे एहसास भी नहीं होता है। क्षण-क्षण पीठ पीछे हंसने से दांतों की आभा दिखलाई पड़ने लगती है। हंसी को रोकने का अत्यधिक प्रयास करती हुई असफल रह जाती है तथा हंसी छूट जाती है। उसकी हंसी कोई देख न ले ऐसी भावना के आते ही अत्यधिक लज्जा

का अनुभव करती है जिसके परिणामस्वरूप हंसी को छिपाने के लिए क्षण-क्षण अपने होठों के सामने वस्त्र कर लेती है अर्थात् कपड़े से मुंह ढकती रहती है। मुख के समक्ष आंचल करके पकड़ती रहती है।

किशोरावस्था का अनुभव आने पर चौंककर, उछल-उछल कर चमक-चमक कर चलती है। युवावस्था का ध्यान आते ही उसकी चाल मंद हो जाती है इस प्रकार क्षण-क्षण मंदगामिनी हो जाती है। बाला के ऐसे व्यवहारों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसे कामदेव की पाठशाला में अभी प्रवेश लिया है। काम-शिक्षा का पहला पाठ या भूमिका का अध्ययन प्रारंभ किया है। अथवा कामदेव को रति-शिक्षा के करारनामे का पहला पाठ ही पढ़ा है कि युवावस्था के आगमन पर नतमस्तक होकर मंथर गति से चला।

हृदय मुकुलित हो जाता है अर्थात् उर से उरोजों का नव प्रस्फुटन हो गया है। अपने वक्षस्थल पर उभरते हुए कुचों को कभी-कभी अज्ञात यौवना देखने लगती है और कभी लज्जा का अनुभव कर अन्यों की द ष्टि से बचाने के लिए वस्त्र से ढांक लेती है। ढके हुए कुचों को अन्तःचक्षुओं से देखकर नवविकसित कुचों की सुंदरता तथा विचित्रता का अवलोकन कर आश्चर्यचकित हो आत्म-विभोर हो उठती है।

विद्यापति कहते हैं, हे पुरुष श्रेष्ठ कृष्ण! सुनो बाला का व्यवहार इतना विचित्र है कि उसका शरीर उस समय युद्ध-स्थल बन गया है जहां शैशव (किशोरावस्था) तथा यौवन से परस्पर भीष्ण प्रतिस्पर्धा चल रही है। कैशोर्यावस्था एवं युवावस्था का ऐसा मेल हुआ है कि इस वयः-सन्धि में दोनों अपना-अपना अस्तित्व एवं वर्चस्व प्रदर्शित करते हुए एक-दूसरे पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए यत्नशील है। दोनों में इस बात की होड़ लगी है कि कौन ज्येष्ठ (बड़ा) कौन कनिष्ठ (छोटा) है? यह निर्णय कर पाना कठिन कार्य हो गया है। क्योंकि किशोरावस्था का अस्तित्व अभी समाप्त नहीं हुआ है। यौवन का पूर्ण आगमन नहीं हुआ। कौन निर्बल है? कौन सबल है? यह जान नहीं पड़ता है।

ऐसी स्थिति में विद्यापति पुरुष श्रेष्ठ कृष्ण से कहते हैं, हे कान्ह सुनो, बाला का चरित्र इतना विचित्र है कि उसकी चेष्टाओं को देखते हुए यह जान पाना कठिन है कि इस समय अर्थात् वर्तमान में उस पर शैशव (कैशोर्य) अथवा यौवन दोनों में से किसका प्रभुत्व है? वास्तविकता यह है कि शैशव (कैशोर्य) एवं यौवन दूध-पानी के समान परस्पर सम्मिलित हो गए हैं। कृष्ण तुम में इनकी पहचान नहीं है।

काव्य सौंदर्यः-

1. कोमल कांत पदावली।
2. माधुर्य भाव की प्रधानता।
3. लोक भाषा मैथिली भाषा का सौष्ठव।
4. अनुप्रास की छटा।
5. 'हिरदय-मुकुल' -रूपक अलंकार
6. संपूर्ण पद में स्वभावोक्ति अलंकार।
7. 'तरुनिम सैसव चिन्हए न जान।' -मीलित अलंकार
8. वयः-सन्धि का अति सूक्ष्म चित्रण।

भाव साम्य–

''नैक मंद मधुर कपोल मुसक्यान लागे,
नैक मंद गमन गयन्दन की चाल भौ।

रंचक न ऊंचो लगो अंचल उरोजन के,
अंकुरनि वंक-दीठि नेक सौ विसाल भौ।

मतिराम सुकतव रसीले कछु वैन भए,
बदन सिंगार रस बेलि-आल बाल भौ।

बाल तनु जोबन रसाल उलहत सब,
सौतिन को साल भौ निहाल नंदलाल भौ।''

-**मतिराम**

।।६।।

कि आरे! नव जौबाने अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ
छओ अनुपम एक ठामा।।
हरिन इन्दु अरविन्द करिनि हेम
पिक बूझल अनमानी।
नयन बदन परिमल गत तन रुचि
ओ अति सुललित बानी।।
कुच जुम परसि चिकुर फुजि परसल
ता अरुझाथल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चाँद बिहुन सब तारा।।
लोल कपोल ललित मनि-कुंडल
अधर बिम्ब अध जाई।
भौंह भ्रमर, नासापुट सुन्दर
से देखि कीर लनाइ।।
भनइ विद्यापति से बर नागरि
आन न पावए कोई।
कंसदलन नारयन सुन्दर
तसु रंगिनी पए होई।।
आहे-हे अहा! कि-कैसा।

शब्दार्थः अभिरामा-सुंदर। जत-जैसा। पारिआ-सकता हूं। छओ अनुपम-छः अनुपम पदार्थ। अनुमानी-विचार, भावना। रुचि-शोभा। अओ-भोर। परसि-स्पर्श करके। परसल-फैल गए। परिमल-सुगंधि। तनु रुचि-शारीरिक सौंदर्य। हरिन-आंख, इंदु (चंद्र)-मुख, अरविंद (कमल)-शरीर की सुगंधि, करिनि (हथिनी)-मस्तानी चाल, हेम (सोना)-शारीरिक कांति, पिक (कोयल)-मीठी बोली। चिकुर-कोश। फुनि-खुलकर। बिहिनु-विहीन। लोल-चंचल। कपोल-गाल। अधर-ओष्ठ। बिम्ब-लाल रंग का बिम्बाफल। अध-अधः, नीचे। भ्रमर-भौंरा। भौंह-भ्रमर-भ्रमर के समान काली भौंहें। नासापुट-नाक। कीर-तोता। आन-अन्य। कंसदलन नारायण-मिथिली के राजा, श्री कृष्ण। तसु-उसका। रंगिनी-स्त्री।

प्रसंगः नख-शिख वर्णन के अंतर्गत कवि ने नायिका की अनुपम सुंदरता का वर्णन करती हुई दूती कृष्ण से कह रही है।

भावार्थः अहा! कैसा दिव्य, रम्य एवं मनोहरी नवयौवन है। जैसा देखा है वैसा वर्णन नहीं कर सकता। क्योकि 'गिरा अनयन, नयन बिनु वाणी' के अनुसार नयनों ने जैसा देखा है वाणी विहीन होकर अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। वाणी के आंख नहीं है। वह दूसरे की देखी हुई बात यथार्थ रूप में कहां व्यक्त कर सकती है। देखने कहने में स्वाभाविक रूप से अंतर आ जाएगा। इसलिए यथार्थ यही है कि जैसा देखा है वैसा कहा नहीं जा सकता है। उसके सौंदर्य में छओ अनुपम सौंदर्य एकत्रित होकर एक ही स्थान पर आ गए हैं। भली भांति समझ-बूझकर देखा जाए तो सुंदरता के छः उपमान-म ग, चंद्र, कमल, हथिनी, स्वर्ण तथा पिक है। उस नवयौवन में छओं का समावेश हो गया है। ये छओ वस्तुएं हरिण-नेत्र, इंदु-मुख, अरविंद-शारीरिक सुगंधि, हस्तिनी-मस्तानी चाल, गज गामिनी, स्वर्ण-शारीरिक सौंदर्य तथा कोयल-मीठी बोली के प्रतीक हैं। ये सभी उसमें विद्यमान हैं। अर्थात् राधा म गनयनी, चंद्रवदनी, कमलगंधा, गजगामिनी, स्वर्णकांता तथा पिक वयनी है।

लंबे, काले एवं घुंघराले बाल जो उसके मुख पर लटकते हुए उसके उरोजों का स्पर्श कर रहे हैं। उरोजों के नुकीले होने के काण केश राशि खुल कर बिखर गई है। गले में सुंदर मोतियों का हार पहन रखा है बाल उसमें उलझे हुए हैं। स्तनों पर आती हुई केश राशि का हार में उलझा हुआ रूप दिव्य द श्य का स जन कर रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो सुरेरु पर्वत (उरोज) पर चंद्रमा के अतिरिक्त संपूर्ण तारागण एक साथ मिलकर उदय हुए हो। मुख चंद्र केश राशि में छिप गया है। उरोज मेरु गिरि, केश जाल नीला आकाश तथा मोती के हार की मोतियां तारागज का सौंदर्य विकीर्ण कर रही हैं।

नव यौवना बाला ने कानों में मणि जटित कुंडल पहन रखे हैं। हिलते-डुलते मणि खचित कुंडल लालिमामय कपोलों का स्पर्श करके अपूर्व शोभा को जन्म दे रहे हैं। अधरों की लाली न केवल कपोलों की लाली को कांतिविहीन बना रही है, अपितु लाल-लाल बिंबा फल भी अधोमुखी हो गया है। रक्त रंजित बाला के अधरों के समक्ष बिंबा फल में भी हीनता की भावना आ गई है। इसलिए उदास होकर उसने मुंह लटका लिया है।

भौंह की कालिमा भ्रमर के कालेपन के घुमान को लज्जित कर रही है। नाक लंबी और आगे से मुड़ी हुई अतीव आकर्षक स्वरूप धारण कर रही है। उसके उभार एवं आकार को देखकर तोता लज्जा का अनुभव कर रहा है। विद्यापति कहते हैं कि नव यौवना अभिरामा बाला ऐसी अनुपम है कि कोई अन्य युवती उसकी समानता कर ही नहीं सकता है क्योंकि उसके समान वही है। इसकी समानता करने वाली यदि कोई बाला या स्त्री हो सकती है तो वह मात्र कंसदलन नारायण कृष्ण की स्त्री ही हो सकती है। कंसदलन नारायण विद्यापति के आश्रयदाता है। किसी अन्य स्त्री से राधा की तुलना नहीं की जा सकती है अंगों के उपमान संभव है किंतु अंगी का उपमान नहीं है।

अन्य अर्थ इस प्रकार लिया जा सकता है कि उस श्रेष्ठ नागरी नारी को अन्य कोई प्राप्त नहीं कर सकता है वह रंगिनी नारी एकमात्र कृष्ण की ही हो सकती है जो कंस का वध करने वाले नारायण कृष्ण हैं। श्रेष्ठ नारी की उपलब्धि श्रेष्ठ पुरुष को ही होती है। यह अर्थ अधिक औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है।

काव्य सौंदर्यः–

1. रूप सौंदर्य वर्णन सरस है।
2. नखशिख वर्णन का सुंदर पद है।

3. भाषा में कोमलता है।

4. परम्परागत उपमानों का चयन नवीनता लिए हुए है। नेत्रों के लिए हरिण, मुख के लिए चंद्र चुना है। कमल को मुख का उपमान न बनाकर शारीरिक सुगंधि के लिए चुना है। काव्य-सौष्ठव एवं भाव गांभीर्य की द ष्टि से प्रस्तुत पद अद्वतीय एवं कवि प्रतिभा का परिचायक है।

5. दण्डी का पद लालित्य है।

6. जयदेव की संगीतात्मकता एवं अभिनव है।

7. 'छओ अनुपम एक ढामा।' -'संबंधातिशयोक्ति

8. 'हरिन इन्दु अरबिन्द करिनि हेम पिक बूझल अनुमानी।
नयन बदन परिमल गति तन रुचि अओ अति सुललित वानी।।'
-यथासंख्य अलंकार

9. ''जानि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चाँद बिहिनु सब तारा।।'' -उत्प्रेक्षालंकार

10. 'अधर बिम्ब अध जाई।''
भौंह भ्रमर, नासापुट सुन्दर
से देखि कीर लजाई।'' -व्यतिरेक अलंकार

।।७।।

माधव की कहब सुन्दरि रूपे।
केतेक जतन बिहर आनि समारल
देखल नयन सरुपे।।
पल्लव-राज चरन-युग सोभित
गति गजराज क भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल
तापर मेरु समाने।।
मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल
नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि
तओ नहि कमल सुखाई।।
अधर बिम्ब सन, दशन दाड़िम बिजु
रवि ससि उगथिक पासे।
राहु दूर बस नियरो ने आबथि
तैं नहि करथि गरासे।।
सारंग तसु समधाने।
सारंग ऊपर उगल दस सारंग
केलि करथि मधुपाने।।
भनई विद्यापति सुन बर जौबति
एहन जगत नहि आने।
राजा सिवसिंघ रूप नारायण
लखिमा देइ पति भाने।।

शब्दार्थः की-क्या। कहब-कहा जाए, वर्णन किया जाए। कतेक-कितने। बिहि-विधाता। समारल-संवारा है। सरुपे-प्रत्यक्ष, सत्य। पल्लवराज-कमल। गजराज-ऐरावत हाथी। कनक-कदलि-स्वर्णिम केले का खंभा (जंघा)। दुइ कमल-दो कमल (दोनों कुच)। फुलायल-खिला हुआ, विकसित हुए हैं। नाल-डंडी। रुचि-शोभा। सरसरि-गंगा। बहु-बह रही है, अनेक। तओ-इस कारण। सन-ऐसा। दशन-दांत। दाड़िम-अनार। बिहु-बीजु दाना। उंगथिक-उदय हुए हैं। राहु-एक नक्षत्र जिसका वर्ण काला माना गया है, केश। नियरो-निकट। आबथि-आता है। बयन-बाणी। समधाने-कटाक्ष। सारंग-ऊपर-मुख कमल पर। अगल-उदित। दस सारंग-भ्रमर के समान काली केशराशि।

सारँग-(1) हरिण। सारँग-(2) कोयल। सारँग-(3) कामदेव। सारँग-(4) कमल। सारँग-(5) भौंरा। दस-बहुबाची। मधुपाने-रस पीकर। एहन-ऐसा। आने-अन्य, दूसरा।

प्रसंगः नख-शिख वर्णन में अंग-प्रत्यंगों का समवेत रूप चित्रित किया गया है। नायिका के सर्वांग का वर्णन सांग रूपक की भांति किया गया है।

भावार्थः हे माधव! उस अनुपम, अपूर्व एवं दिव्य सुंदरी के रूप का मैं तुमसे कैसे, किन शब्दों में वर्णन करूं? उस सुंदरी के रूप के विषय में क्या कहूं? ब्रह्मा ने अनेक सौंदर्य सारों को एकत्रित करके अनेक प्रकार से यत्न करके उसका स जन कार्य संपन्न किया है। मैंने उसे प्रत्यक्ष रूप से देखा है। यदि मेरे पर विश्वास न हो तो स्वयं अपने नेत्रों से उसके स्वरूप का दर्शन कर लो। ब्रह्मा की कारीगरी का वह विश्व का एक विचित्र आदर्श है। सुकोमल कमल जैसे उसके दोनों चरण शोभायमान हैं। वह गजगामिनी है उसकी चाल मस्त ऐरावत हाथी के समान है। उसकी जंघाएं सुवर्ण स्वर्ण के कदली खंभ के समान हैं जिसके ऊपर सिंह जैसी पतली कटि विराजमान है। कमर के ऊपर छाती का भाग इतना उभरा हुआ तथा विशाल है जो सुमेरु पर्वत की होड़ करता हुआ प्रतीत होता है मेरु रूपी छाती पर उरोज रूपी दो कमल खिले या विकसित हुए हैं। इन कमलों की नाल नहीं है फिर भी शोभा विकीर्ण कर रहे हैं। पता नहीं कमल नाल बिहीन जल कहां से और कैसे ग्रहण कर रहे हैं? गले में मणि जटित हार पहन रखा है जिसकी आभा अनेक गंगा की धाराएं प्रतीत होती है अथवा मणिमाला रूपी गंगा की धारा बह रही है, इसी से उसके स्त्रोत में बिना नाल के भी दोनों कुच रूपी कमल मुरझाते नहीं है। सर्वथा विकसित रहते हैं। कुचों पर पड़ी हुई मुक्ता माल सुमेरु पर्वत के चारों ओर लिपटी हुई पतित पावनी गंगा की पवित्र धारा के समान ज्ञात होती है। कदाचित इसी संजीवनी धारा के स्त्रोत से विकसित होने के परिणामस्वरूप बिना नाल के भी दोनों कमल पुष्प मुरझाते नहीं है। उर से उत्पन्न उरोजों को निरंतर हृदय रस की प्राप्ति हो रही है। इसी कारण दोनों उरोज रूपी कमल सूखते नहीं अपितु खिले हुए शोभायमान रहते हैं।

उसके होंठ बिंबाफल अर्थात् पके हुए कुंदरु के समान लाल-लाल हैं। लाल अधरों के पीछे दांत अनार के दाने के समान लालिमामय हैं। सफेद दांतों पर अधरों की लाली की छाया पड़ रही है इसलिए वे अनार के दानों के समान भासमान हैं। चंद्रमुखी बाला ने माथे पर सिंदूर का टीका लगा रखा है जो सूर्य के रूप में चमक रहा हैं मुख-चंद्र एवं सूर्य-सिंदूर को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो सूर्य-चंद्र दोनों का एक साथ ही उदय हो गया है जबकि सूर्य दिन में एवं चंद्रमा रात में प्रकाश फैलाते हैं। अभिप्राय यह है कि उसके सौंदर्य के समक्ष रात-दिन, दुःख-सुख एवं अज्ञान-ज्ञान का विलग अस्तित्व समाप्त हो गया है। दोनों का अस्तित्व मिलकर महानंदायक हो गया है। सूर्य-चंद्र के अस्तित्व में ही राहु-केतु का उदय होता है। राहु रूपी काले केश अति दूर हैं मानो सूर्य-चंद्र के साथ-साथ होने से पास आने का उसमें साहस नहीं रहा गया है भयभीत होकर दूर भाग गया है। ऐसी स्थिति में ग्रास का प्रश्न ही नहीं उठता है अर्थात् मुख-चंद्र को ग्रहण नहीं लगता है। व्यवहार में प्रचलित है कि काला टिका लगाने से नजर नहीं लगती। यहां तो लाल

टीका या सिंदूर की बिंदी लगाने से राहु की ग्रहण-क्षमता नष्ट हो जाती है सूर्य को अग्नि का गोला समझ कर भयभीत हो, पास ही नहीं फटकता है। शास्त्रों में राहु का वर्ण श्याम माना गया है, केश भी श्याम होते हैं।

सुंदरी की आंखें चकित हरिणी समान इधर-उधर दौड़ती रहती हैं आंखों में चांचल्य हैं उसकी वाणी में कोयल की म दुता है। नेत्रों के समक्ष देखते ही उसके नयनों से कामदेव के बाण छूटते मालूम होते हैं अर्थात् सुंदरी के संधान अर्थात् कटाक्ष में कामदेव का वास है। कटाक्ष कामोत्तेजनक शक्ति से परिपूर्ण हैं। बाला के कमल समान ललाट पर अनेक सारंग अर्थात भ्रमरों के समान काली केश राशि लहरा रही है। मुख पर लटके हुए बोलों के गुच्छे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो कमल पर बैठने वाले भौंरे मधुबान के पश्चात् जवानी की अलहढ़ता में केलि-क्रीड़ा में संलग्न है। कवि विद्यापति उक्त सुंदरी को संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे बाले! हे सर्वश्रेष्ठ युवती हे सौंदर्य सुंदरी! इस समस्त विश्व में महारानी लखिमी देवी के पति राजा शिवसिंह रूपनारायण सुकवि के आश्रयदाता के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति तुम्हारे योग्य नहीं है। अथवा यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि हे श्रेष्ठ युवती! सुनो, विश्व में ऐसी अन्य रमणी नहीं है। लखिमी देवी के पति रूप नारायण राजा शिव सिंह यह जानते हैं। प्रथम अर्थ उचित प्रतीत होता है।

काव्य सौष्ठवः—

1. राधा के आलंकारिक वर्णन में कवि की कल्पना का प्राधान्य द ष्टिगोचर होता है, जिसके आधार पर उपमान ग्रहण किया हैं
2. कोमल कांत पदावली का माधुर्य भाव से परिपूर्ण है।
3. राधा के अंग-प्रत्ययों के वर्णन में कवि ने परंपरागत उपमानों का आश्रय लिया है।
4. राधा का रूप वर्णन परंपरित नख-शिख वर्णनानुसार है।
5. ''पल्लव-राज चरन-युग सोभित,
   गति गजराज क भाने।'' -उपमलंकार
6. ''कनक-कदालि पर सिंह समारल
   तापर मेरु समाने।'' -रूपकातिश्योक्ति अलंकार
7. 'नाल बिना रुचि पाई।' -विभावनालंकार
8. 'सारंग ऊपर उगल दस सारंग
   केलि करबि मधुपाने।' -यमक एवं उत्प्रेक्षालंकार
9. 'राहु दूर बस नियरो न आबथि
   तैं नहि करिय गरासे।' -विशेषोक्ति अलंकार

भाव साम्य

1. ''सारंग, सारंग धरहि मिलावहु।
   सारंग विनय करत सारंग सौ, सारंग दुख विसराबहु।।
   सारंग-समय दहति अति सारंग, सारंग तिनहि दिखावहु।
   सारंग गति सारंगधर जे हैं, सारंग जाइ मनावहु।।
   सारंग चरन सुभग कर सारंग, सारंग नाम वुलावहु।
   सूरदास सारंग उपकारिनि, सारंग मरत जिवावहु।।'' -सूरदास

2. ''सारंग-सम कर नीक-नीक, सम, सारंग सरस बखाने।
सारंग-बस भय भय, वस सारंग, सारंग विसमै माने।।
सारंग हेरत उर सारंग ते सारंग-सुत आवे।'' -सूरदास

3. हरि-सम आनन, हरि-सम लोचन, हरि तह हरि थइ आगी।
हरिहि चाहि, हरि न सोहावए, हरि हरि कए उठि जागी।। -सूरदास

4. राधा के स्वरूप निरधारण में सूरदास ने मानो विद्यापति का अनुसरण किया है-

राधे! यह छवि उलटि भई।
सारंग ऊपर सुंदर कदली, ता पर सिंह ठई।।

ता ऊपर हवै हाटक बरनौ, मोहन कुंभ मई।
ता पर कमल, कमल बिच विद्रुम ता पर कीर लई।।

ता ऊपर द्वै मीन-चपल हैं सउती साध रही।
सूरदास, प्रभु देखि अचंभो कहत न परत कही।। -सूरदास

5. नाक का मोती अधर की कांति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रांति से।
देखता शुक यह मौन है,
अन्य शुक यह कौन है? -मैथिलीशरण गुप्त

6. अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंध करत अनुराग।।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहु पर अम त फल लाग।।
फल पर पुहुप, पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, म ग-मद, काग।।
खंजन धनुष-चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग।।
अंग-अंग प्रति और और छबि, उमप ता को करत न त्याग।।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस, मानहु अधरानि के बड़ भाग।। -सूरदास

विद्यापति के सर्वांगीण वर्णन एवं सूरदास के रूपक में कितनी समानता है यह उपर्युक्त पदों से स्पष्ट हो गया। सूरदास का 'अद्भुत एक अनुपम बाग' वाला पद विश्व प्रसिद्ध हो गया है। यह पद सूरदास को कितना यश प्रदान कर चुका है। उस यश का कितना अंश विद्यापति को मिलना चाहिए इसका निर्णय स्वयं पाठकों पर छोड़ देता हूं। विद्यापति आदि काल के कवि हैं। सूरदास भक्तिकाल के विद्यापति का समय सूरदास से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व है।

।।८।।

चाँद-सार लए मुख घटना करु
लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि
दह दिसि भेल उँजोरे।।
कामिनि कोने गढ़ली।
रूप सरुप मोयँ कहि इत असंभव
लोचन लागि रहली।।

गुरु नितम्ब भरे चलए न पारए
माझ-खानि खीनि निमाई।
भागि जाइत मनसिज राखलि
त्रिबलि लता अरुझाई।।
भनइ विद्यापति अद्भुत कौतुक
ई सब वचन सरुपे।
रूपनारायण ई रस जानथि
सिवसिंध मिथिला भूपे।

शब्दार्थः सार-तत्व। लए-लेकर। करु-की। अमिय-अम त। धनि-बाला। आँचर-आंचल। धनि-स्त्री। दह-दश। काने-किसने। गढ़ली-गढ़ा, रचना की। गुरु-भारी, विशाल। नितम्ब-कमर के नीचे का पिछला भाग (चूतड़)। भरे-भार से, बोझ से। पारए-पाती है। माझ-मध्य भाग, कमर। खानि-क्षीण, पतली। खीनि-क्षीण। निमाई-निर्माण किया है। मनसिज-कामदेव। राखलि-रख लिया, रोक लिया। त्रिबलि-पेट की तीन रेखाएं जो पेट की मांसलता से द ष्टिगोचर होती है। भागि जाइत-भंग हो जाती, टूट जाती। लता-बेल।

प्रसंगः नख-शिख वर्णन के अंतर्गत सखी-दूती नायक-कृष्ण से नायिका-राधा के रूप लावण्य का विवरण प्रस्तुत करती हुई कहती है।

भावार्थः ब्रह्मा ने चंद्रमा का सार भाग ग्रहण करके नायिका-राधा के मुख की रचना की है जिसे देखते ही चंद्र प्रेमी चकोर की आंखें चकाचौंध हो जाती हैं। बाला ने अपने चंद्रमुख को आंचल से पौंछा। उसके पौंछने से चंद्र की अम त धारा प्रवाहित हो गई। प्रवाहित धारा ने दशों दिशाओं में प्रकाश का रूप धारण किया। दशों दिशाएं प्रकाशमान हो गईं। युगों-युगों से स जन कार्य करते हुए ब्रह्मा व द्धावस्था को प्राप्त कर रस विहीन हृदय वाले हो गए हैं फिर ऐसी कामिनी को ऐसा कामोत्तेजक रूप भंगिमा प्रदान करने का श्रेय किसको है? अर्थात् इस रूप सौंदर्य का निर्माण किसने किया? बाला के रूप सौंदर्य का वर्णन करना हमारे लिए कठिन नहीं अपितु, असंभव कार्य है। मात्र मेरी आंखें उस रूप सौंदर्य का निरंतर रसपान करती रहती हैं। उसका स्वरूप तथा सौंदर्य अनुपम एवं लावण्यमय है जो वर्णनातीत है। उस बाला के सौंदर्य का वर्णन करने के लिए अनेक कवियों ने अथक प्रयत्न किया किंतु उन्हें सफलता नहीं मिल सकी क्योंकि वर्णन करने के अभिलाषियों की आखें एकदम उसकी ओर जाती हैं तथा उसके सौंदर्य में ऐसा रम जाती हैं कि लौटने का नाम ही नहीं लेती हैं। बाला का सौंदर्य पोटैशियम साइनाइट का स्वाद हो गया जिसके चखने वाला स्पर्शाधर को आराम की महानींद में सुला देता है फिर लौटकर उसका वर्णन कौन करे। यह तो गूंगे का गुड़ है।

निलंबभारवाहिनी बाला गजगामिनी को भी लज्जित करने वाली है। उसकी मंथर गति को चलने की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अभिप्राय यह है कि विशाल नितंबों का भार इतना अधिक है कि वह चल नहीं पाती है। चलने की चेष्टा भी नहीं कर सकती है क्योंकि विधाता ने उसका मध्य भाग अर्थात् कमर इतनी पतली और कमजोर बना दी है कि उसके टूटने का अंदेशा सदा बना रहता है। कामदेव ने पेट पर तीन रेखाएं खींच रखी हैं वही मानो तीन सबल लताएं हैं जिनमें बाला को उलझा रखा है अर्थात् कमर के निम्न भाग तथा उच्च भाग को जोड़ने का कार्य यह सबल बेलि कर रही है अन्यथा कमर कब की टूट जाती। कामदेव की त्रिबली लता में उलझी हुई बाला की कमर टूटने से बची हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कामदेव ने कमर की रक्षा के लिए ही उदर में तीन रेखाओं का निर्माण किया है तथा कमार को उसी में फंसा रखा है। व्याख्याकारों ने अन्य अर्थ भी दिया है-बाला के पेट पर पड़ने वाली त्रिबली की तीन रेखाएं ऐसी प्रतीत होती हैं

मानो उनकी स ष्टि ही इस कारण की गई है कि यदि कामदेव बाला के शरीर को त्याग कर भागना भी चाहे तो भाग नहीं सकता। त्रिबली की इस लता में उलझा लिया जाएगा। यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि कमर एवं त्रिबली के सौंदर्य का वर्णन कवि को अभिप्रेत है। कामदेव वर्ण्य विषय नहीं है नख-शिख वर्णन में। ऐसा प्रतीत होता है भ्रम वंशात 'भागि जाइत' का अर्थ 'भाग जाने' से लगकर ऐसा हुआ है। 'भागि' की व्युत्पति भग्न > भग्नि (भोजपुरी) > (क्षतिपूरक दीधीकरण) भागि (अवधी) बना है। इस प्रकार 'भागि जाइत' का अर्थ 'टूट जाती' है।

काव्य सौष्ठवः—

1. नख-शिख वर्णनांतरर्गत राधा के सौंदर्य वर्णन में कवि की अभिनव कल्पनाशीलता का परिचय मिलता है।
2. कोमल कांत पदावली।
3. माधुर्य भाव की प्रधानता।
4. श ंगार रसाभास।
5. मुग्धा नायिका।
6. 'चांद-सार लए मुख घटना करु
   लोचन चकित चकोरे।' -दीपक अलंकार
7. 'लोचन चकित चकोरे।' -व्यतिरेकालंकार
8. 'अमिय धोय आंचर धनि पोछलि
   दस दिसि भेल उंजोरे।' -अतिशयोक्ति अलंकार
9. ''गुरु नितंब भरे चलए न पारए
   माझ-खानि खीनि निमाई।
   भागि जाइत मनसिज धरि राखलि
   त्रिबली लता अरुझाई।।'' - संबंधातिशयोक्ति अलंकार

भाव साम्यः—

1. ''लिखन बैठि **जाकी सबिहिं,** गहि गहि सबर गरुर।
   भये न केते जागत के, चतुर चितेरे कूर।।'' -बिहारी
2. 'सूर उदित हू मुदित मन, **मुख-सुखमा की ओर**।
   चितै रहत चहं ओर तें, **निश्चल, चखनि चकोर**।। -बिहारी
3. पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर के चहुं पास।
   नितप्रति पून्योई रहत, **आनन ओप उजास**।'' -बिहारी
4. ''अस्याः सर्वविधौ प्रजापीतर भूच्चन्द्रो नु कांतिप्रदः,
   श ंगारैकरसः स्वयं स्वयं नु मदनौ मासो नु पुष्पाकरः।
   वेदाभ्यासा जड़ः कथं नु विषय व्याव त्त कौतूहलो,
   निर्मातुं **प्रभवेन्मनोहरमिदं** रूप पुराणो मुनिः।। -कालिदास
5. '**श्रोनीभारः** अलस वदनः। -कालिदास

।।६।।

जहां-जहां पग जुग धरई। तहिं-तहिं सरोरुह झरई।।
जहां-जहां झलकत अंग। तहिं-तहिं बिजुरि-तरंग।।
कि हेरल अपरुब गोरी। पइठल हिय मधि मोरी।।
जहां जहां नयन बिकास। तहिं तहिं कमल-प्रकाश।।
जहां लहु हास-संचार। तहिं तहिं अमिय-बिकार।।
जहां जहां कुटिल कटाख। ततहिं मदन-सर लाख।।
हेरइत से धनि थोर। अब तिन भुवन अगोर।।
पुनु किए दरसन पाब। अब मोहे इत दुख जाब।।
बिद्यापति कह जानि। तुअ गुन देहब आनि।।

शब्दार्थः पग-जुग-दोनों पैर। धरई-धरती है, रखती है। सरोरुह-कमल। तहिं-वहां। झरई-झड़ते हैं। झलकत-झलकते हैं, चमकते हैं। अंग-शरीर। बिजुरि-तरंग-बिजली का प्रकाश। कि-क्या। हेरल-देखा। गोदि-गोरे-वदना, सुंदरी। पइठल-बैठ गई, प्रवेश किया, घुस गई। हिय-मधि-हृदय में। मोरि-मेरे। लहु-लघु, मंद। हास-हंसी। अमिय-अम त। कुटिल-टेढ़े। कटाख-कटाक्ष। ततहिं-वहां ही। मदन-कामदेव। सर-बाण। हेरइत-देखते ही। से-वह। धनि-बाला, सुंदरी। अगोर-प्रतीक्षा करना। पुनु-पुनः, पुण्य। किए-करके, क्या। जाब-जाऊंगा। मरूंगा। तुअ-तुम्हारे। देहब-दूंगा। आनि-ला दूंगा।

प्रसंगः कृष्ण 'प्रेम-प्रसंग' वर्णन में राधा के अपूर्व एवं दिव्य सौंदर्य के विषय में अपे सखा-मित्र से कहते हैं।

भावार्थः अतींद्रिय सौंदर्यशालिनी राधा अपने दोनों चरण जहां-जहां रखती है वहां-वहां कमल की वर्षा हो जाती है अर्थात् उसके चरण-कमलों के प्रभाव से कमल खिल जाते हैं। उसके पैरों की लालिमा से रक्त कमल खिलते हैं। राधा ने अपने सुन्दर अंगों को वस्त्राभरण से आच्छादित कर रखा है किंतु कभी-कभी जब उसका अंग खुल जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो बादलों में बिजली चमक उठती है। जहां-जहां उसके अंगों की झलक द ष्टिगोचर होती है वहां-वहां बिजली की लहर-लहर ही दिखलाई अंग की झलकन बिजली की तरंग प्रतीत होती है। गौरवर्ण पर गहरे नीले रंग की साड़ी सौंदर्य को द्विगुणित कर देती है। काव्य में नीले-श्याम में अंतर नहीं माना जाता है। साड़ी बादल का प्रतीक बन जाती है। मैंने उस अपूर्व सुंदरी को क्या देखा है कि देखते ही क्षण मात्र में वह मेरे हृदय में प्रवेश करके हृदय की रानी बन बैठी है। जिस ओर राधा अपने नयनों को घुमाती है वहां-वहां मानो कमल खिल जाता है। जहां राधा का लघु म दु हास संचरित होता है वहां-वहां मानो अम त-वर्षा हो जाती है अभिप्राय यह है कि वातावरण अम त-मय हो जाता है। जिसकी ओर राधा आंख मारती है या कटाक्ष करती है वहां मानो कामदेव के पांच बाण ही नहीं अपितु लाखों बाणों की वर्षा हो जाती है संपूर्ण वातावरण कामोत्तेजनक हो जाता है। आंखों का हलाहल प्राणलेवा बन जाता है। जिस सुंदरी बाला की खोज में स्वर्ण, म त्यु एवं पाताल लोक तीनों भुवनों की प्राणी उसकी प्रतीक्षा कर रहे कि कब उन्हें उसका दर्शन हो जाए वह बाला अर्थात् राधा मुझे थोड़े ही देखेगी। वह मुझे भला क्यों देखेगी। अब क्या करें कि उसका दर्शन मुझे हो जाए। अभिप्राय यह है कि अत्यधिक पुण्य कार्य करने से ही उसका दर्शन संभव है। उसका दर्शन न प्राप्त कर सकने के कारण मेरे प्राण पखेरू उड़ने को तैयार हैं अर्थात् दर्शन विहीनता में प्राणांत होने वाला है। एक बार मुझे उसका दर्शन हो गया है। अब पुनः उसका दर्शन पाना असंभव हो रहा है। अतः यह निश्चित है कि अब मैं इसी दुःख से मरूंगा। कविवर विद्यापति निश्चयपूर्वक कहते हैं कि तुम

अपार गुणों की खानि हो। तुम्हारे गुणों के कारण मैं उस बाला अर्थात् राधा को तुम्हारे पास लाकर तुम्हें दूंगा।

काव्य सौष्ठवः—

1. प्रेम-प्रसंग के अंतर्गत राधा-कृष्ण प्रेम का वर्णन
2. राधा का अपूर्व एवं दिव्य सौंदर्य वर्णित।
3. कोमल कांत पदावली।
4. माधुर्य भाव की प्रधानता।
5. 'जहां-जहां ..... झरई।'
   'जहां-जहां ..... बिजुरि-तरंग।'
   'जहां-जहां ..... अमिय-विकार।'
   'जहां-जहां ..... लाख।' -अतिशयोक्ति अलंकार
6. पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार।
7. अनुप्रासालंकार की अपूर्व छटा।
8. 'अब मोहे इत दुख जाब।' -अत्युक्ति अलंकार

भाव साम्यः

1. ''अमिय हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
   जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहिं चितवत एक बार।''
   -रसनिधि
2. ''नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर समीर।
   हंसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर।।''
   -मलिक मुहम्मद जायसी
3. ''जहं बिलोकि म ग सावक नयनी।
   जनु तहं बरसि कमल सित स्रेनी।।'' -गोस्वामी तुलसीदास
4. ''पग पग मग अगमन परति, चरन असन दुति झूलि।
   ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया ते फूलि।।'' -बिहारी
5. ''दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुपरी सादी सेत।
   कवि अंकन के अर्थ लों, प्रगट दिखई देत।।'' -बिहारी

।।१०।।

अवनत आनन कए हम रहलिहुँ
बारल लोचन चोर।
पिया मुख-रुचि पिबए धाओल
जनि से चांद चकोर।।
ततहु सयं हठ हटि मो आनल
धएल चरन राखि।

मधुप मातल उड़ए न पारए
तइअओ पसारए पांखि।।
माधब बोलल मधुर बानी
से सुनि मुंदु मोयँ कान।
ताहि अबसर ढाम बाम भेल
धरि धनू पंचबाण।।
तनु पसेब पसाहनि भासलि
पुलक तइसन जागु।
चूनि चूनि भए काँचुअ फाटलि
बाहु बलआ भाँगु।।
भन बिद्यापति कम्पित कर हो
बोलल बोल न जाय।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
साम सुन्दर काय।।

शब्दार्थः अबनत-नीचे। आनन-मुख। बारल-बारण, निवारण किया, टोका, रोक रखा। रूचि-शोभा। पिबए-पीने के लिए। धाओल-दौड़ पड़ा। जनि-मानो। से-वह। ततहु-वहां। सयँ-से। हटि-हटाकर। मो-मैं। आनल-लाया। धएल राखि-पकड़ रखा। मधुप-भौंरा। मातल-मत्त बना, पागल। उड़ए-उड़। पारए-सकता। तइअओ-तो भी। पसारए-पसारता है। पाखि-पंख। मुंदु-बंदकर लिया। ठाम-स्थान। बाम भेल-बिरुद्ध हुआ, बैरी हुआ। पँचबान-पंचबाण, कामदेव। तनु-शरीर। पसेन-पसीना। पसाहनि-प्रसाधनी, ललाट की सजावट, अंगराग। भासलि-बह गया, धो उठा। पुलक-रोमांच। तइसन-उसी प्रकार। चूनि चूनि भए-चूर्ण चूर्ण होकर, खंड-खंड होकर, चिथड़े-चिथड़े होकर। कँचुल-कंचुकी, चोली। बलआ-चूड़ी। भाँगु-फूट गई। बोलल बोल न जाय-बात कही नहीं जाती।

प्रसंगः प्रेम-प्रसंग में राधा अपनी स्थिति से अपनी सखी को अवगत कराते हुए कहती है।

भावार्थः प्रेम-प्रसंग में सात्विक भावों का उल्लेख करते हुए राधा अपनी सखी से कहती है कि लज्जा के काण मैंने अपना मुख नीचा कर लिया था। पहले मैं सोचती थी कि कृष्ण मिलते तो मैं उनसे खूब बातें करती। वह नयन भर देखती। लेकिन हुआ उलटा। कृष्ण के सामने आते ही लज्जा गई। यद्यपि मैं मुख नीचा ही किए रही तथा चोरी-चोरी कृष्ण को देखने वाले चोर-नेत्रों को मैंने बहुत रोका। परंतु हे सखी, प्रीतम के मुख की शोभा का पान करने के लिए नेत्र पुनः उस ओर दौड़ पड़े, मानो चोकर अधीर होकर चंद्रमा की ओर टकटकी लगाए बैठे हों। हे सखी! प्रीतम के मुख की ओर से मैं अपने नेत्रों को हठपूर्वक, बलात रोककर हटा लाई और उन्हें अपने चरणों पर रख दिया। अर्थात् अपनी द ष्टि को चरणों पर केंद्रित कर नीचे देखने लगी। परंतु हे सखी! जिस प्रकार भ्रमर मधुपान करके, मदहोश उड़ने की क्षमता खोकर भी उड़ने का प्रयत्न करता हुआ अपने पंख फड़फड़ाता रहता है उसी प्रकार मेरे नेत्र बार-बार पलकें पसार कर प्रीतम के मुख की ओर दौड़ने का प्रयत्न करने लगे। अर्थात् चंचल आंखें उधर ही देखती रहीं। अभिप्राय यह है कि वहां से मुख की ओर से मैं आंखों को हठपूर्वक रोककर हटा लाई और अपने चरणों पर रख दिया-नीचे की ओर देखने लगी। किंतु जिस प्रकार मधु पीकर मस्त बना भौंरा उड़ नहीं सकता तो भी पंख पसारता है उसी प्रकार मेरे नेत्र निरंतर उसी दिशा में जाने लगे हैं। उस समय हे सखी! माधव मधुर वाणी में मुझसे बोले परंतु उनकी वाणी को सुनते हुए ही लज्जावश मैंने अपने दोनों कान बंद कर लिए। परंतु हे सखी! मेरे कान बंद करते ही कामदेव उस समय, उसी स्थान पर मेरे विरुद्ध होकर मेरा बैरी हो गया और उसने अपना धनुष बाण संभालकर मेरे ऊपर पंचपुष्प बाणों की बौछार

करने लगा अर्थात् मुझमें काम भावना उद्दीप्त करने में संलग्न हो गया। हे सखी! कामदेव के इस अचानक आक्रमण करने से मेरा संपूर्ण शरीर पसीने से सराबोर हो गया जिसके परिणामस्वरूप ललाट पर लगा हुआ अंगराग धुलकर बह गया। हे सखी मैं रोमांचित हो उठी। प्रेमाधिक्य से मेरा सारा शरीर फूल गया। फलतः मेरी कंचुकी खंड-खंड या चिथेड़े-चिथड़े हो गई। शरीर के फैलने से कंचुकी में तनाव आ गया और वह फट गई। हाथ में पहनी हुई चूड़ियां भी चरमरा कर टूट गईं।

कवि विद्यापति कहते हैं कि राजा शिवसिंह रूपनारायण के सुंदर श्याम शरीर को देखकर तथा तत्काल उत्पन्न स्वाभाविक चेष्टाओं के परिणामस्वरूप मेरे हाथों की कंपन अभी तक गई नहीं। अभी भी हाथ कांप रहे हैं। मैं बोलना चाहती हूं किंतु बोला नहीं जा रहा है। अभिप्राय यह कि भली-भांति बात भी नहीं की जा रही है। विह्वलास्था ने मुझे अवाक बना दिया है।

काव्य सौष्ठवः—

1. श्रंगार रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। आलंबन-कृष्ण, उद्दीपन-मुरली ध्वनि, संचारी-भाव-व्रीड़ा एवं हर्ष आदि, अनुभावस्वेद, पुलक, कंपन आदि, स्थायी भाव-रति नामक स्थायी भाव की रस निष्पत्ति में परिणति हुई है।
2. कोमल कांत पदावली।
3. माधुर्य भाव प्रधान।
4. राधा की प्रेमानुभूति का सजीव चित्रण।
5. सात्विक भावों की सफल अभिव्यक्ति।
6. ''पिया-मुख .....चांद चकोरे।'' -उत्प्रेक्षालंकार
7. 'मधुप-मातल.....पांखिं' -निदर्शनालंकार
8. 'ताहि अवसर ठाम बाम भेल'। -विभावनालंकार
9. चूनि-चूनि.....भांगू। -अतिशयोक्ति अलंकार
10. 'लोचन-चोरा' -रूपक अलंकार
11. अनुप्रास की छटा।

भाव साम्यः—

1. ''तद्वक्त्रामिमुखं विनमितं द ष्टः कृता पादयोः
तस्यालाप कुतुहलाकुलतरे श्रोते। निरुद्धे मया।
पाणिभ्या च तिरस्कृतः सपुलकः स्वदोद्गमो गण्डयोः
सख्यः किं करवाणि यान्ति शतथा यत्कंचुके सन्धयः।।''

-अमरु शतक

2. ''हला अनसूये! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया द ढं
पीडितास्मि, तत शिथिलय तावदेनम् [अन-शिथिलयति]

प्रियं-[सहासम्] अत्र तावत्पयोधर विस्तारहेतुकम् आत्मनो यौवनारम्भम् उपालभस्व, मां किमुपालभसे?''

-अभिज्ञानशाकुन्तलम्

।।११।।

प्रथमीहि अलक तिलक लेब साजि।
चंचल लोचन काजर आँजि।।

जाएब बसन आँग लेब गोए।
दूरहि रहब तें अरथित होए।।

मोरि बोलब सखि रहब लजाए।
कुटिल नयन देब मदन जगाए।।

झाँपब कुच दरसाओब आध।
खन खन सुद ढ़ करब निबि-बाँध।।

मान करए किछु दरसब भाब।
रस रखब ते पुनु पुनु आब।।

हम कि सिखा ओबि अओ रस रंग।
अपनहि गुरु भए कहत अनंग।।

भनइ बिद्यापति ई रस गाब।
नागरि कामिनि भाब बुझाब।।

शब्दार्थः अलक-बाल, केशराशि। तिलक-टीका, बेंदी। लेब-लेना। आँजि-लगा देना। जाएब-जाँऊगी। बसन-वस्त्र, कपड़ा। आँग-अंग। गोए-छिपा लेना। ते-इससे। अरथित-अर्थित, लालायित, चाहक। मोदि-मुख मोड़कर। बोलब-बोलूंगी। रहब-रहूंगी। लजाए-लज्जित होना। कुटिल-टेढ़े। झाँपब-ढंकना। निबि बंध-नीबी बंध, कमर का नाड़ा। दरसब-दिखलाऊंगी। पुनु पुनु आब-पुनःपुनः आए। अओ-और। रस-रंग-कामक्रीड़ा का आनंद। अनंग-कामदेव। नागरि-नगर की चतुर नायिका। कामिनि-काम रस की अभिलाषिणी।

प्रसंगः उसकी कामविदग्धा सखियां नायिका को समझाती हुई कह रही है। सखी शिक्षा प्रसंग में सखी द्वारा दी गई राधा की शिक्षा है। विलास-ग ह में जाने की शिक्षा राधा को देती हुई कहती है।

भावार्थः हे सखी सर्वप्रथम अपने बालों को सजाने के लिए उनमें तेलादि लगाओ तथा कंघी करके बालों की साज-सज्जा करो। माथे पर तिलक लगाओ जिससे आभा में अगणित व द्धि हो जाती है। चंचल आंखों में काजर लगाओ। अपने अंग प्रत्यंगों को भली-भांति वस्त्रों में छिपाकर नायक के पास जाओ। इस तथ्य का विशेष ध्यान रखना कि चाहे व्यक्ति से दूरी बनाए रखो क्योंकि जो जितना दूर होता है वह उतना पास होता है। अधिक निकटता अनादर को बढ़ावा देती है। इस प्रकार दूरी रखना उसमें तुम्हारे पास आने की लालसा बढ़ाएगा। हे राधे! मोहन से मुख मोड़कर बातें करना। बार-बार लज्जा भाव का प्रदर्शन करते रहना। नयनों के कटाक्ष से नायक में कामदेव को जाग त करके उसमें कामोत्तेजना को उद्दीप्त करना। अपने कुचों को अच्छी प्रकार से ढके रखना। कभी-कभी अधखुला करके झलक मात्र दिखा देना जिससे पुनः देखने की जिज्ञासा बढ़े। हे राधे! कमर में बांधने वाले पेटीकोट या सलवार के नाड़े को ढीला न होने पर भी क्षण-क्षण कसने का प्रयत्न करते हुए रहने का प्रदर्शन करना। यह भी कामोत्तेजना होता है। इसके अतिरिक्त हे राधे नायक की सारी बातें सीधे-सीधे न स्वीकार कर लेना। किसी-किसी बात पर रूठकर न बोलने के मान-भाव का प्रदर्शन करना। मानिनी नायिका को नायक मनाने का यत्न करते हुए अनेक प्रकार से अनुनय, विनय, कसमें तथा वायदे करता है। इससे नायिका सम्मान होता है। इस प्रकार

रस-रीति को नियंत्रित करने से नायक में काम भावना की व द्धि होती है। रस-रीति में नियंत्रण रखने से नायक बार-बार तुम्हारे पास आएगा। बार-बार तुम्हें यह कहते रहना चाहिए कि अच्छा अब मैं जाती हूं। इसमें श ंगार रस सर्वथा नवीन बना रहता है। सखी कहती है कि और अधिक रस रंग की शिक्षा मैं तुम्हें क्या दे सकती हूं। इस संबंध में स्वयं कामदेव ही तुम्हारा गुरु बनकर तुम्हें संपूर्ण काम शास्त्र की शिक्षा में पारंगत बना देगा। अर्थात् काम-क्रीड़ा का अभ्यास तुम्हें पूर्णता प्रदान करेगा। विद्यापति रसरीति का गान करते हुए कहते हैं कि हे चतुर बाला, विदग्ध रमणी रति-रीति के इस भाव से तुम सम्यक रुपेण परिचित हो ऐसी धारणा अपने मन में बना लो।

काव्य सौष्ठवः—

1. कुच प्रदर्शन एवं कटाक्ष पात नायिका में काम-भावना के उत्पन्न होने का द्योतन करता है।
2. तिलक तथा चंचल लोचनों में काजल आंजना परंपरा है।
3. कोमल कांत पदावली है।
4. माधुर्य भाव की प्रधानता।
5. मुग्धा नायिका का वर्णन।
6. श ंगार रस का पूर्ण परिपाक।
7. ''प्रथमहि .....काजर आंजि।'' -व त्यानुप्रास अलंकार
8. 'दूरहि रहब, तें अरथित होए।' -अर्थांतरन्यास अलंकार
9. कामोद्दीपन का अति सहज एवं मार्मिक चित्रण।
10. सखी की काम शास्त्र निपुणता।
11. विलास-ग ह में प्रवेश से पूर्व सखी द्वारा राधा-शिक्षा।

भाव साम्यः

1. 'कहत सबै **बेंदी** दिये, आंक दस गुनो होत।
   तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत।।'' -बिहारी
2. ''नील परिधान बीच सुकुमार
   खुल रहा म दुल अधखुला अंग।
   खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
   मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।'' -कामायनी
3. ''अँखियान सिंगार-सिंगारि सबै, बिहँसै रति की द्युति धारति है।
   मन माझ नयी बतिया सुनिबे कों, कछूक विनोद विचारति है।।
   'ससिनाथ' सुजान को सामने पाइ, सदा फुँफुँदी की संभारति है।
   तिय नार नवाइ बिहारति है, दुरि मैं पिय-पंथ निहारति है।''
   -शशिनाथ

।।१२।।

सुन्दरि चललिहु पहु-घर ना।
चहुदिस सखि सब कर धर ना।।

जाइतहु लागु परम डर ना।
जइसे ससि काँप राहु डर ना।।

जाइतहि हार टुटिए गेल ना।
भूखन बसन मलिन मेल ना।।

रोए रोए काजर दहाए देल ना।
अदकँहि सिंदूर मेटाए देल ना।।

भनइ बिद्यापति गाओल ना।
दुख सहि सहि सुख पाओल ना।।

शब्दार्थः चललिहु-चली। पहु-स्वामी। चहुदिस-चारों ओर। कर-हाथ। धर-पकड़कर। जइतहु-जाने में। ससि-चन्द्रमा। काँप-कांपता है। भूखन-भूषण। रोए-रोकर। दहा देल-दहा दिया, बहा दिया। अदँकहि-अंदेशे से, डर से, आतंक से। मेटाए-पोंछ डाला। गाओल-गाकर। पाओल-प्राप्त किया।

प्रसंगः 'मिलन' प्रसंग के वर्णन में प्रथम समागम के अवसर पर नायिका की अंतर्दशा का अतीव सुंदर चित्रण किया गया है, जो युवती होने पर भी काम-कला अथवा काम-शास्त्र से पूर्णरुपेण अपरिचित है।

भावार्थः हे सुंदरी प्रियतम के घर चलो। ऐसा कहकर चारों ओर से सखियां बाला को पकड़कर मानो डोली में बिठाने के लिए चल पड़ीं। प्रिय घर जाते हुए बाला अज्ञात भय से ऐसे कांप रही है, जैसे राहु के डर से चंद्रमा कांपता है। मार्ग में जाते हुए बाला के गले में पहना हुआ हार टूट गया। उसके भूषण-वस्त्र सभी अस्त-व्यस्त हो गए। ऐसी स्थिति में बाला ऐसी रोई कि रो-रोकर अपने आंख में लगा हुआ काजल भी धो दिया। भयभीत होकर उसका संपूर्ण शरीर पसीने में भीग गया। परिणाम यह हुआ कि माथे पर लगी सिंदूर की बिंदी भी मिटकर साफ हो गई। विद्यापति गा-गाकर कहते हैं कि हे सुंदरी! बिना दुःख के सुख की प्राप्ति नहीं होती है। दुःख सह-सह कर ही सुख की प्राप्ति होती है। रात के बाद ही दिन का आगमन होता है।

काव्य सौष्ठवः—

1. रहस्यवादी दर्शन का चित्रण।
2. लोक भाषा मैथिली भाषा की प्रचलित टेक 'ना' का प्रयोग।
3. भय संचारी भाव की सुंदर अभिव्यक्ति।
4. संगीतात्मकता।
5. लोक गीत की लयात्मकता।
6. अनुप्रासिक छटा।
7. 'जइसे ससि कांप राहु डर ना।'' -उपमालंकार
8. 'जाइतहु.....डर ना।' -उपमालंकार
9. पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार।
10. 'दुख सहि सहि सुख पाओल।' -लोकोक्ति

भाव साम्यः—

1. ''दुःख के **डर** से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,

काम से झिझक रहे हो आज
भविष्यत् से बनकर अनजान।'' -कामायनी

2. ''दुःख की विछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात।'' -कामायनी

।।१३।।

बिरह व्याकुल बकुल तरुतर
पेखल नन्द-कुमार से।
नील नीरज नयन सयँ सखि
ढरइ नीर अपार रे।।
पेखि मलयज-पंक म गमद
तामरस घनसार रे।
निज पानि-पल्लव मूँदि लोचन
धरनि पड़ असँभार रे।।
बहइ मन्द सुगन्द सीतल
मन्द मलय-समीर रे।
जनि प्रलय कालक प्रबल पाबक
दहइ सून सरीर रे।।
अधिक बेपथ टूटि पड़ खिति
मस न मुकुता-माल रे।
अनिल तरल तमाल तरुवर
मुंच सुमनस जाल रे।।
मानि-मनि तजि सुदति चलु जहि
सए रसिक सुजान रे।
सुखद स्रुति अति सरस दण्डक
कवि विद्यापति भान रे।।

शब्दार्थः बकुल-मोलिश्री, मनसरी। पेखल-देखा। नीरल-कमल। सयँ-से। मलयज-चंदन। म गमद-कस्तूरी। तामरस-कमल। घनसार-कपूर। पानि-पाठी, हाथ। पाबक-पावक, सून-शून्य। बेवथ-व्यथित। खिति-क्षिति, प थ्वी। मस न-चिकना। अनिल तरल-वायु द्वारा आंदोलित। मंच-गिरना। सुमनस-फूल। सुदति-सुंदरी। स्रुति-सुनने में। दंडक-इस छंद का नाम दंडक है।

प्रसंगः सखी विहराकुल कृष्ण का वर्णन करते हुए राधा से मान त्याग कर कृष्ण के पास जाने का आग्रह करती है। 'मान' प्रसंग का वर्णन है। उत्कंठित कृष्ण राधा की प्रतीक्षारत् हैं। राधा आने का नाम नहीं लेती है क्योंकि वह रूठकर मान करके मानिनी नायिका बनी बैठी है। इसीलिए सखी को राधा से मान त्याग कर कृष्ण से मिलने का आग्रह करना पड़ता है। वह कहती है।

भावार्थः हे सखी! आज मैंने विरह से व्याकुल नंद कुमार अर्थात् कृष्ण को मौलिश्री व क्ष की छाया में बैठा हुआ देखा है। सखी वे इतने दुःखी थे कि उनके नील कमल रूपी आंखों से आंसू की धारा बह रही थी। हे सुंदरी! तेरे शरीर को और सौंदर्यमय तथा सुगंधित बनाने वाले अंगराज, कस्तूरी, कपूर तथा कमल पुष्प आदि विभिन्न सौंदर्य प्रसाधनों को देखते अपने दोनों हाथों से नेत्रों को बंद

कर लिया जिसे उन प्रसाधनों को देखकर और दुःखी न हो सकें किंतु अंतर्वेदना से पीड़ित होकर व्याकुल होकर प थ्वी पर गिर पड़े। संयोगावस्था में सुख तथा आनंददायक तत्व विरहावस्था में दुःखदायी रूप धारण कर लते हैं। यही कारण है कि शीतल, मंद, सुगंधित मलयाचल से आने वाला पवन अब भी प्रवाहित हो रहा है किंतु यह सुख देने वाला न होकर ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रलंयकारी प्रबल अग्नि का रूप धारण उनके शून्य शरीर को जलाता चला जा रहा हैं सुखदायक पवन ने दाहक रूप धारण कर लिया है। उनकी अत्यधिक व्याकुलता के परिणामस्वरूप गले में पहनी हुई मोतियों की चिकनी, कोमल माला टूटकर प थ्वी पर गिरी पड़ी है। जिस प्रकार वायु से आंदोलित, उनके झकोरे तथा थपेड़े न सहन कर पाने के कारण तमाल पुष्प प थ्वी पर गिरकर बिखर जाते हैं उसी प्रकार विरह-विरहित, व्याकुल, विपन्न कृष्ण भी प थ्वी पर धराशायी हुए पड़े हैं। कवि विद्यापति कहते हैं कि राधा-सखी राधा से आग्रह करती हुई कहती है कि हे दंडक छंद के समान कर्ण प्रिय, मधुर भाषिनी, रसिक सुजान, सुंदरी राधे! मान छोड़ दे और माधव के पास चल।

काव्य सौष्ठवः–

1. गीत गोविंद में नायक का चित्रण भी इसी प्रकार हुआ है।
2. कृष्ण की मानवीय विरह-व्यथा का स्वाभाविक चित्रण।
3. मानिनी नायिका को समझाने का यत्न।
4. प्रकृति का उद्दीपक रूप चित्रित किया गया है।
5. छंद दंडक है जो कर्ण-प्रिय होता है।
6. कोमल कांत पदावली।
7. माधुर्य भाव का प्राधान्य।
8. विरह..... तरुतर।' -व त्यानुप्रास अलंकार
9. 'नील मलयज.....अपार रे।' -व त्यानुप्रास अलंकार
10. 'पानि-पल्लव' -रूपक अलंकार
11. 'पेखि मलयज.....असंभार रे।' -अतिशयोक्ति अलंकार
12. 'बहइ मंद.....सून शरीर रे।' -उत्प्रेक्षा अलंकार
13. रसिक-सुजान -परिकर अलंकार

।।१४।।

मधु सम बचन कुलिस सम मानस
प्रथमहि जानि न भेला।
अपन चतुरपन पिसुन हाथ देल
गरुअ गरब दुर गोला।।
सखि हे, मन्दप्रेम परिनामा।
बड़ बए जीवन कएल अपराधिन
नहि उपचर एक ठामा।।
झाँपल कूप देखहि नहि पारल

आरति चललहु धाई।
तखन लघुगुरु किछु नहि गूनल
अब पछताबक जाई।।
एक दिन उछलहु आन मान हम
अब बूझिल अबगहि।
अपन मूँड़ अपने हम चाँछल
दोख देब गए काहि।।
भनइ विद्यापति सुनु वर जौबति
चित्त गनब तहि आने।
पेमक कारन जीउ उपेखिए
जग जन के नहि जाने।।

शब्दार्थः कुलिस-वज्र। मानस-मानती है। पिसुन-दुष्ट। देल-दिय। दुर गेला-दूर कर दिया। उपचर-उपचार, शांति। आरति-शीघ्रता में। ठामा-स्थान। झाँपल-बंद। कूप-कुआं। पारल-पड़ा। तरवन-उसी क्षण। लघुगुरु-छोटा बड़ा। किछु-कुछ। गूनल-गुना, समझा। आन-भान-अनजान, नासमझ। चांछल-छील लिया। उछलहु-बिना छल-कपट के, सीधे-सरल स्वभाव से। अबमाहि-अंतः प्रवेश करके। चांछल-छील दिया। दोख-दोष। देब-दें। काहि-किसको। पेमक-प्रेम के। उपेखिए-उपेक्षण, उपेक्षा की।

प्रसंगः नायिका अपनी सखी से कृष्ण के प्रतिकूल व्यवहार की अभिव्यक्ति करते हुए कहती है।

भावार्थः विरहिणी राधा अपने द्वारा कृष्ण को आत्मसमर्पण करने पर भी कृष्ण के व्यवहार में अनुकूलता न देखकर पश्चाताप करती हुई कहती है कि मुझे पहिले कहां ज्ञान था कि माधव जैसा म दुभाषी हृदय से वज्र के समान कठोर होगा। यह तो बदरी फल निकला जो बाहर से कोमल और मधुर होते हुए भी अंदर से कुलिस के समान कठोर है। मैं अपने को अत्यधिक चतुर एवं कुशल समझती थी कि मेरी वह चतुराई कहां चली गई थी जब मैंने अपनी समस्त चतुरता पशु समान, हृदय विहीन पिसुन व्यक्ति के हाथों में सौंप दी थी जिसके परिणामस्वरूप मेरा समस्त गर्व चकनाचूर हो गया। हे सखी! यह तो मैं जानती हूं कि प्रेम करने वाले का, परिणाम बहुत बुरा होता है, ठीक नहीं होता है। इस जीवन में मैंने कृष्ण से प्रेम क्या किया है मानो बहुत बड़ा अपराध करके अपराधिन बन गई हूं। प्रेम रूपी अपराध कोई उपचार नहीं है। मुझे किसी भी स्थान पर शांति नहीं मिल रही है। यदि मुझे ज्ञात होता कि प्रेम इतना बड़ा अपराध है जिसके कारण वर्तमान काल में भी लोग प्रेमी-प्रेमिका की सरेआम हत्या करने को अपराध नहीं समझते हैं तो मैं कृष्ण से प्रेम क्यों करती? मुझसे बहुत बड़ी भूल हो गई है जिसका मुझे अत्यधिक पश्चाताप हो रहा है। हे सखी प्रेम मार्ग पर चलते हुए मैंने रंचमात्र भी चिंतन, सोच विचार, भले बुरे की पहचान नहीं बड़ी तेज गति से भागती रही रास्ते में बंद कुआं है यह मैं जान नही सकी और उसमें जा गिरी। तीव्रता से दौड़ते समय छोटे-बड़े का चिंतन नहीं किया कुछ गुना-चुना नहीं। कुछ भी सोच-विचार नहीं किया अब पश्चाताप करने से क्या होता है? हे सखी, उस समय तो मैं अनजान, नासमझ थी। एक दिन बिना छल-कपट के, सरल-सीधे स्वभाव से अनजाने में कृष्ण से मुझे प्रेम हो गया। परंतु अब तो प्रेम की अतल गहराइयों में खूब डूब गई तब भली-भांति समझ में आया कि प्रेम करना कितना घातक होता है। मैंने स्वयं ही अपने हाथों अपना सिर छील दिया। अब इसका दोषी किसको बना सकती हूं। दोषी मैं स्वयं हूं। कवि विद्यापति कहते हैं, हे सर्वश्रेष्ठ सुंदरी! सुन, तू अपने में अन्यथा विचार न कर, कुछ और न समझ। विश्व का ऐसा कौन प्राणी है जो यह नहीं जानता है कि तुमने प्रेम

के लिए अपने प्राणों तक की चिंता नहीं की। यह तो प्रेम का उत्सर्ग है। प्रेम बलिदान चाहता है। प्रेम अमर होता है। विश्व का सार प्रेम ही है।

काव्य सौष्ठवः—

1. प्रेम की असफलता पर पश्चाताप।
2. राधा द्वारा कृष्ण को उलाहना।
3. प्रेम का बुरा परिणाम।
4. प्रेम की महत्ता।
5. विरहावस्था का चित्रण।
6. कोमल कांत पदावली।
7. माधुर्य भाव की प्रधानता।
8. 'मधु सम.....न भेला।' -लुप्तोपमालंकार
9. ''अपन चतुरपन.....परिनामा।'' -अर्थांतर न्यास अलंकार
10. ''तखन.....पछताबरु जाई।'' -निदर्शनालंकार
11. प्रेमक कारन.....नहि जाने।'' -अर्थापत्तिअलंकार

भाव साम्यः—

1. ''जौ मैं जानती रे प्रीति किए दुख होय रे।
   जगत ढिढोरा पीतती प्रीति न करिए कोय रे।।'' -मीराबाई
2. ''करता था सो क्यों किया, अलकरि क्यों पछिताय।
   बोया पेड़ बबूल का, आम कहां ते खाय।।'' -कबीर
3. 'है प्रेम जगत में सार और कुछ सार नहीं।'' -कबीर
4. 'जा घट प्रेम न संचरे सो घट जान मसान।'' -कबीर

।।१५।।

माधव, दर्ज्जय मानिनि-मानि।
बिपरित चरित पेखि चकरित भेल
न पुछल आधहु बानि।।
तुअ रूप साम अखर नहि सुनए
तुअ रूप रिपु सम मानि।
तुअ जन सयँ सम्भास न करई
कइसे मिलाइब आनि।।
नील बसन बर, कँचन चुरि कर
पौतिक माल उतारि।
करि-रद चुरिकर मोति माल बर
पहिरल अरुनिम सारि।।
असित चित्र उर पर छल, मेटल

मलयज देह लगाय।
म दपद तिलक धोइ द गंचल, कच
सयँ मुख लए छपाइ।।
एक तील छल चारु चिबुक पर
निन्दि मधुप-सुत सामा।
त न-अग्रें करि मलयज रंजल
ताहि छपाओल रामा।।
जलधर देखि चन्द्रातप झाँपल
सामरि सखि नहि पास।
तमाल तरु गन चूना लेपल
सिखि पिक दूरि निबास।।
मधुकर उर धनि चम्पक-तरु तल
लोचन जल भरिपूर।
सामर चिकुर हेरि मुकुर पटकल
टूटि भए गेल सत चूर।।
तुअ गुन-गाम कहए सुक पंडित
सुनतहि उठल रोसाइ।।
पिंजर झटकि फटकि पर पटकत
धाए धएल तह जाइ।।
मेरु सम मान सुमेरु कोप सम
देखिभेल रेनु समानी।।
बिद्यापति कह राहि मनाबए
आपु सिधारह कान।।

शब्दार्थः दुर्ज्जय-अजय। बिपरित-उल्टा। चकरित-चक्रित, चक्कर आ गया। साम-श्याम, कृष्ण। अखर-अक्षर। सुनए-सुनती है। सयँ-से। सम्भास-संभाषण, बातचीत। काँचन-कांच की। चुरि-चूड़ी। कर-हाथ। पौतिक-विरोजा, नील मणि, पेरोन। कदि-रद-हाथी दांत। अरुनिम-अरुण, लाल। सारि-साड़ी। असित चित्र-काला गोदना। छल-था। मेटल-मिटा दिया, छिपा दिया। मलयज-चंदन। म ग-मद-कस्तूरी (काली होती है)। द गंचल-आंख के कोने। कच-केश, बाल। तील-तिल। चारु-सुंदर। चिबुक-टुड्ढी। निन्दि-निंदा करता था, लज्जित करता था। त न-अग्रे- तिनके की नोक, तिनके के आगे या नोकीला भाग। रंजल-लगा दिया। जलधर-मेघ, बादल। चन्द्रातय-चंदोवा। लेपल-लेप दिया, पोत दिया। सिखि-शिखी, मोर। पिक-कोयल। दूरि-भगा दिया। चम्पक-चंपा। सामर-श्यामल, काले। चिकुर-बाल। हेरि-देखकर। मुकुर-दर्पण। पटकल-पटक दिया। गोल-गया। रोसाइ-क्रोधित होकर, रूष्ट होकर। पिंजर-पिंजड़ा। फटकि-स्फटिक पत्थर। तहि-वहां से। मेरु सम-सुमेरु पर्वत के समान। सुमेरु-विशाल। रेनु-रेनु, धूल। राहि-राधा। कान-कान्हा, कृष्ण।

प्रसंगः मानिनी राधिका की सखी कृष्ण से उसके मान के विषय में बता रही है। कृष्ण आपने राधिका के प्रति ऐसा कौन सा विपरीत, अक्षम्य, महान अपराध, व्यवहार या कार्य किया है जिससे वह भयंकर नाराज एवं क्रोधित हो गई है। कृष्ण के नाम तथा वर्ण से उसे घ णा हो गई है सभी काली वस्तुओं को मिटाने में लगी है। ऐसी मानिनी राधिका किसी के मनाने पर नहीं मान रही है इसलिए राधा की सखी कृष्ण से आग्रह करती हुई कहती है, हे कृष्ण आप ही स्वयं राधा के पास जाएं और राधा को मनाकर उनका मान भंग करें।

भावार्थः हे माधव! मानिनी राधा का मान अजेय है उसे जीता नहीं जा सकता है। क्योंकि उसका मन दुर्जय तथा कठोर हो गया है। मैं उसके एकदम परिवर्तित स्वभाव एवं प्रतिकूल चरित को देखते ही आश्चर्यचकित हो गई कि आपने उसके साथ कैसा व्यवहार किया कि उसमें महान उलटा बदलाव आ गया है। वह किसी से बात नहीं करती है किसी से आधी-अधूरी बात भी नहीं पूछती है। 'श्याम' शब्द से तुम्हारे स्वरूप को बोध होता है। तुम्हारे रूप को अपना घोर शत्रु मान लिया है। तुम जैसे श्याम वर्णी व्यक्तियों को देखना नहीं चाहती है बात करना तो दूर की बात है। तुम कहते हो मैं उसे मानकर तुम्हारे पास लाऊं। मुझे बता दो मैं किस प्रकार उसे मनाकर तुम्हारे पास लाऊं? वह तुम्हारे जैसे से संभाषण नहीं करती है। कैसे उसे लाकर तुमसे मिला दूं? नीले और काले में अंतर न मानते हुए उसने नीले वस्त्रों को भी तुम्हारे स्वरूप के अनुरूप होने के कारण अपने सुंदर नीले वस्त्रों, नीले रंग की चूड़ियों तथा नीलमणि की माला को उतार कर फेंक दिया है तथा हाथों में हाथी दांत की सफेद चूड़ियां, गले में श्वेत मोती की माला तथा लाल रंग की साड़ी पहन ली है। उसके हृदय पर एक काला तिल था, काला गोदना था। उन्हें मिटाने के लिए उस पर सफेद मलयगिरि चंदन घिसकर लगा लिया है। कहीं से वह दिखलाई न पड़ जाए इसलिए संपूर्ण शरीर पर चंदन का लेप कर लिया है। म गमद अर्थात् कस्तुरी का रंग काला होता है। कस्तूरी का काला तिलक माथे पर लगा रखा था। आंखों में काजल लगा रखा था। काले रंग का होने के कारण दोनों को धो दिया। तिलक एवं अंजन विहीन मुख को अपने बालों से छिपा लिया।

राधा की ठुड्ढी पर एक अतीव सुंदर तिल था जो अपनी श्यामता से भ्रमर के बच्चे की श्यामता को लज्जित करता था। काले होने के कारण राधा ने एक तिनका लिया तथा तिनके के आगे के नुकीले भाग को चंदन में डुबोकर उसे चंदन के रंग में रंग दिया। हे राम! राधा ने उस तिल को छिपा दिया। काले बादलों को तुम्हारे अनुरूप समझती है। इसलिए जब कभी काले बादल आते हैं, उनकी छाया से बचने के लिए सफेद चंदोवा अर्थात् चांदनी तनवा लेती है। चंद्रमा के आतप से भी अपने को छुपा लेती है। उसकी एक सखी नाम मात्र की श्यामा थी उसे दूर भगा दिया है वह भी उसके पास नहीं है। तमाल के व क्ष काले होते हैं। सभी तमाल व क्षों के तनों पर सफेद चूने की सफेदी करवा दी है। मोर का रंग नीलिमामय होता है। मोर तथा कोयल को अति दूर उड़ा दिया है वे वहीं निवास करते हैं। इसके निवास के निकट नहीं आते हैं। भौंरे का रंग काला होता है। राधा का मुख कमल के समान है कहीं भ्रमर रसपान करने न आ जाए इसलिए भ्रमर के डर से राधा चंपा व क्ष के नीचे बैठी राधा की आंखों से आंसुओं की जलधारा बह रही है। चंपा का व क्ष सफेद होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राधा को आशंका है कि कहीं कृष्ण न आ जाएं इसलिए संकेत स्थल तमाल के व क्षों की छाया का परित्याग कर भ्रमर रूपी कृष्ण से बचाने के लिए चंपा तरु तल आ गई है।

कभी घर पर रहते हुए जब अपने बालों को संवारने के लिए शीशे के सामने खड़ी होती है उसे श्यामवर्णी केश राशि देखते ही क्रोध आ जाता है। क्रोधित होकर दर्पण पटक देती है। क्योंकि बालों में उसे कृष्ण का प्रतिबिंब दिखलाई पड़ता है। शीशा सैकड़ों टुकड़े अर्थात् चूर-चूर हो गया। राधा ने पिंजरे में एक महापंडित तोता पाल रखा था जो तुम्हारा गुणगान किया करता था। एक दिन पंडित तोता महाराज को क्या सूझा उन्होंने जैसे ही तुम्हारा गुणगान प्रारम्भ किया वैसे राधा वहां आ गई और उसने तोते को गुणगान करते सुन लिया। सुनते ही वह आगबबूला हो गई। एक झटके में उठी और तोते समेत पिंजरा उठाकर स्फटिक शिला पर पटक दिया। मुड़कर देखा भी नहीं कि उसके प्यारे तोते के साथ क्या घटना घटी। मरा कि जीवित बचा? उसी आवेग में उसे वहीं छोड़कर स्वयं अन्यत्र चली गई। विद्यापति कहते हैं कि राधा की सखी कृष्ण से

कहती है कि हे कृष्ण! सुंदरी मानिनी राधा का सुमेरु पर्वत जैसा मान तथा मेरु के समान विशाल क्रोध यदि वास्तव में देखा जाए, तो तुम्हारे लिए रेणु अर्थात् धूल के कण के समान है। इसलिए हे कान्ह! राधा को मनाने के लिए आप स्वयं जाइए। अन्य के मनाने से नहीं मानेगी। आपके मनाने से मान जाएगी।

काव्य सौष्ठवः—

1. मानिनी नायिका का विशाल रूप चित्रित। मान का चरमोत्कृष्ट रूप।
2. कृष्ण ही नहीं उनके अनुरूप समस्त जीव-जंतु, पशु-पक्षी एवं प्रकृति से ईर्ष्या एवं घ णा।
3. 'श्याम' शब्द भी सुनना असह्य।
4. विरह की विक्षिप्तावस्था का चित्रण।
5. मान का नैसर्गिक रूप वर्णित।
6. मान के बहाने राधा के वस्त्राभरण अतीव सुंदर चित्रण।
7. 'मेरु सम.....रेनु समान।' -उपमालंकार। -रिपु-सम।
8. 'तुअ रूप.....रिपु-सम मानि।' -स्वभावोक्ति अलंकार
9. **बिपरित, चरित, चकरित** -अनुप्रास की छटा। -**झटकि फटकि** पर **पटकल**
10. प्रतीप, निदर्शना एवं समुच्चय अलंकार।
11. संगीतात्मकता
12. वियोग श ंगार का भव्य रूप।
13. कोमल कांत पदावली।
14. माधुर्य भाव की प्रधानता।
15. मैथिली संस्कृति का स्वरूप वर्णित।

।।१६।।

माघ मास सिरि पंचमी गँजाइलि
नवम मास पंचम हरुआई।
अति घन पीड़ा दुख बड़ पाओल
वनसपति भेलि घाई है।।
सुम खभ बेरा सुकुल पक्ख हे
दिनकर उदित-समाई हे।
सोरह सम्पुन बतिस लखन सह
जनम लेल ऋतुराई हे।।
नाचए जुवतिजना हरखित मन
जनमल बाल मधाई हे।
मधुर महारस मंगल गाबए
मानिनि मान उड़ाई हे।।
वह मलयानिल ओत उचित हे
नवघन भओ उजियारा।

माधबि फेल भेल मुकुता तुल
ते देल बन्दनबारा।।
पीअरि पाँडरि महुअरि गाबए
काहरकार धतूरा।
नागकेसर-संखि धून पूर
तकर ताल समतूरा।।
मधु लए मधुकर बालक दरहलु
कमल-पंखरी लाई।
पओनार तोरि सूत बाँधलि कटि
केसर कएलि बघनाई।।
नव नव पल्लव सेज ओछावल
सिर देल कदम्बक माला।
बैसलि भमरी हरउद गाबए
चक्का चन्द निहारा।।
कनक केसुअ सुति-पत्र लिखिए हलु
रासि नछत कए लोला।
कोकिल गनित-गुनित भल जानए
रितु बसन्त नाम थोला।।
× × ×
बाल बसन्त तरुन भए धाओल
बढ़ए सकल संसारा।
दखिन पवन घन अंग उगारए
किसलय कुसुम परागे।
सुललित हार मंजरि घन कज्जल
अखितौ अंजन लागे।।
नव बसन्त रितु अगुसर जौबति
बिद्यापति कवि गावै।
राजा सिवसिंध रूपनरायन
सकल कला मनभावै।।

शब्दार्थः सिरि पंचमी-श्री पंचमी, माघ शुक्ल पंचमी, बसंत पंचमी। गँजाइलि-पूर्वगर्भा हुई। नवम मास-बेसाख में बसंत का अंत है, ज्येष्ठ से माघ तक नौ महीने हुए। पंचम हरुआई-पांचवां दिन होने पर (वैद्यक के अनुसार नौ मास पांच दिन का बालक पुष्ट पैदा होता है)। घन-अधिक। खन-क्षण। बेरा-बेला, समय। सुकुल पक्ख-शुक्ल पक्ष। दिनकर-सूर्य। उदित समाई-सूर्योदय के समय। सोरह सम्पुन-सोलह अंगों से परिपूर्ण। बतिस-बत्तीस। लखन-लक्षण। सह-सहित। ऋतुराई-ऋतुराज बसंत। जनमल-जन्म लिया। मधाई-माधव, बसंत। ओत-ओट, आड़। उड़ाई-उड़ा ले गया, नष्ट किया। तुल-तुल्य, समान। पीअरि-पीयरी, पीली। पाँडरि-कुंद पुष्प। महुअरि-पुत्र जन्म पर गाया जाने वाला गीत विशेष, राग विशेष। काहरकार-तुरही बजाना। तकर-उसका। समतूरा-समतुल्य, समान, एक साथ। दएलहु-ला दिया। पओनार-पद्मनाल, पौनार। कएल-बनाई, रचना की। बघनाई-बघनखा। ओछाओल-बिछाई। बैसलि-बैठकर। हरउद-लोरी, पालना-गीत। कनअ-कनक, स्वर्ण। केसुअ-केसू या टेसू-पुष्प, पलाश-पुष्प। सुति-पत्र-जन्म पत्री। हलु-हल करके, गणना करके। लोला-जीभ। भसरी-भ्रमरी। नछत-नक्षत्र। भल-भली प्रकार। थोला-रक्खा, खोज निकाला। उगारए-अंगराग लगाता है, उबटन मलता है, मंजरि-मंजरी, पुष्प गुच्छ। अखितौ-आंखों में।

प्रसंगः वसंतागमन का स्वागत करना प्राचीन परंपरा है, उस परंपरा का अनुसरण विद्यापति ने भी किया है। इसका शीर्षक ही बसंत है, उसका यह प्रथम पद है। बसंत के आगमन से संपूर्ण प्रकृति में हर्ष एवं उल्लास छाया हुआ रहता है। प्रकृति के उसी रूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है। क्यों विद्याति प्रकृति के उन्मत्त एवं सुंदर गायक हैं। बसंत का सांग रूपक शिशु रूप में किया गया है। भारतीय संस्कृति में जन्म से पूर्व भी उत्सव मनाए जाते हैं। शिशु जन्म के पश्चात् जन्मोत्सव, पालन, साज सज्जा आदि रूपों का वर्णन करते हुए कवि कहता है।

भावार्थः माघ मास की श्री पंचमी अर्थात् बसंत पंचमी को प्रकृति रूपी नारी पूर्णगर्भा हुई। नव मास पांच दिन व्यतीत हो जाने पर प्रकृति ने आसन्न प्रसवा का रूप धारण कर लिया। प्रसव के पूर्व लक्षण द ष्टिगोचर होने लगे। नवम मास बैसाख में बसंत का अंत होता है ज्येष्ठ से माघ तक नौ मास हुए। वैद्यकानुसार नौ मांस पांच दिन पश्चात् जन्मा शिशु पूर्ण विकसित एवं पुष्ट होता है। प्रकृति प्रसव पीड़ा एवं दुःख का अनुभव करने लगी। ब्राह्म मुहूर्त की शुभ घड़ी तथा शुभ मुहूर्त में सूर्योदय के समय सोलहों अंगों तथा बत्तीसों लक्षणों से परिपूर्ण माघ-मास की शुक्ल पक्ष की पंचमी को ऋतुराज रूपी बसंत शिशु का जन्म हुआ। युवतियां बसंत के जन्म लेने की खुशी में झूम उठीं और मांगलिक गीतों तथा मंगल-वाद्यों की ध्वनि से समस्त वातावरण गूंजने लगा। मंगल-सूचक अवसर पर मानिनी नायिकाओं के मान भी नष्ट हो गए तथा वे भी प्रसन्नचित्त होकर मांगलिक कार्यों में सम्मिलित हो गई। वनस्पति ने धाई का कार्य भार ग्रहण कर लिया। मलय-पवन प्रवाह मान है, उसकी शीतलता से शिशु वसंत की रक्षा करने हेतु उसे ओट में रखना चाहिए। मानो आकाश में नवीन मेघों का आगमन इसी द ष्टि से हुआ है। पुत्र जन्म पर घर आंगन वंदनवार से सजाया जाता है। मानो इसी द ष्टि से प्रकृति ने वसंत रूपी पुत्र के जन्म के उपलक्ष में मुक्ता समान शुभ माधवी पुष्पों की वंदनवार चारों ओर सजा रखी है। पुत्र-जन्म के अवसर पर मंगल गीत जाए जाते हैं। द्वार पर शहनाई बजती है। औरतें पीली साड़ियां पहनकर मांगलिक गीत गाती हैं। प्रकृति भी भारतीय परंपरा एवं संस्कृति का निर्वाह कर रही है मानो पीले रंग वाले पाड़रि फूल विशेष की साड़ी पहनकर भ्रमरी मैथिली को गीत विशेष महुअरि गा रही है। धतूरे के फूल का आकार तुरही के समान होता है, मानो वह तुरही बजा रहा है। नागकेसर की कली शंख के समान होती है उसकी कलियां मानो शंख ध्वनि कर रही हैं। शंख बजाना मंगलकारी होता है। तुरही एवं शहनाई में विशेष अंतर नहीं माना गया है। शहनाई की ध्वनि से ध्वनि मिलाकर चारों दिशाओं में शंख-ध्वनि गुंजार कर रही है। शहनाई के स्वर से स्वर मिलाकर शंख के आकार के नागकेसर-पुष्प भी गीत में ताल लगा रहे हैं। गाते समय कुछ औरतें जो किसी प्रकार का वाद्य यंत्र नहीं बजा रही होती हैं वे दोनों हाथों से ताल पर ताल देने के लिए तालियां बजाती हैं, वही कार्य नागकेसर कर रही है।

शिशु को प्रथम आहार के रूप में शहद चटाया जाता है। अतः बाल-बसंत को चटाने के लिए मधुकर ने नवीन खिले पुष्पों से मधु लाकर दिया तथा कमल अपनी कोमल कोपलों अर्थात् पत्तियों से बसंत-शिशु को शहद चटाने लगा। प्रारंभ में शिशु का शरीर अति शिथिल होता है। शरीर के आंतरिक अंग-प्रत्यंगों को यथास्थान जकड़े रखने के लिए कलाई में पहुंची, पैर में पायल तथा कमर में करघनी सूत के धागे की बांधी जाती है। शिशु की शक्ति बढ़ाने के लिए बघनखा अर्थात् बाघ (शेर) के नाखून के आकार का वस्त्र पहनाया जाता है। यह शिशु की कमर में पहनाया जाता है। प्रकृति ने शिशु बसंत के हाथ, पैर और कमर में बांधने के लिए कमल नालों को तोड़ने से निकलने वाले तंतु को सूत का रूप दे दिया। केसर की खौरि का बघनखा उसकी कमर में पहना दिया।

शिशु का बिछौना अति कोमल होता है क्योंकि नवजात शिशु का शरीर अत्यधिक मुलायम तथा नाजुक होता है। अतः प्रकृति ने शिशु-बसंत को सुलाने के लिए पालने में बिछोने के लिए नवीन

कोमल किसलयों अर्थात् पत्तियों को एकत्रित करके बिस्तर का निर्माण किया। शिशु का सिर लंबा या चपटा न हो जाए तथा घुमाने में आसानी रहे इसके लिए सरसों का छोटा सा तकिया बनकर सिर के नीचे लगा दिया जाता है। प्रकृति ने कदंब पुष्पों की माला को सिरहाने पर रखने के लिए तकिए का रूप दिया है। शिशु प्रायः संगीत प्रेमी जन्म से होता है। इसलिए सोने के लिए संगीत की अपेक्षा करता है। मां उसे लोरी अर्थात् सुलाने या पालने का गीत गाकर सुलाती है। मंद-प्रकाश अर्थात् चंद्र ज्योत्सना को टकटकी लगाकर निहारने का स्वभाव होता है क्योंकि शिशु नौ मास तक अंधेरे में रहकर अचानक प्रकाश में आता है इसलिए चंद्र का मंद प्रकाश ही सहन कर पाता है। ऐसी स्थिति में शिशु-बसंत अपनी कोमल शय्या पर लेटे-लेटे चकित होकर चंद्रमा को निहारता है। सोने का नाम नहीं लेता। शिशु-बसंत को सुलाने के लिए भ्रमरियां उसके पास आकर बैठ गई है तथा मधुर ध्वनि से गुन-गुनाकर लोरी सुना रही है। पंडिताप्रवर कोकिला गणतीय गणना में प्रवीण थी उसी ने बसंत नाम रखा। नामकरण से पूर्व राशि-नक्षत्रादि की बिना पंचाग के गणना की। तत्पश्चात् सुनहले पलाश-पुष्पों से शिशु-बसंत की जन्म-पत्री बनाई। बाल बसंत त्वरित गति से विकास करता हुआ मानो धावतेन तरुनाई प्राप्त कर ली। मानवतावादी बसंत ने मात्र अपना ही विकास नहीं किया अपितु सामाजिकता का निर्वाह करते हुए संपूर्ण विश्व को व द्धि प्रदान की। बसंतागम से विश्व के समस्त, प्राणी, जीव-जंतु, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे विकसित एवं प्रसन्न हो जाते हैं। दक्षिण दिशा से आने वाला मलयानिल कपूर लगाता है जो शीतल एवं सुगंधित होता है। अंग को पुष्ट करने के लिए उबटन लगाने का कार्य मलय पवन कर देता है। आंखों को निरोग एवं सुंदर बनाने के लिए काजल आंजा जाता है। काले हल्के मेघों ने आंखों में काजल आंज दिया। मधुर, कोमल, हल्के लावण्यमय बादलों ने मानो नेत्रों में काजल लगा दिया है। बालक सजाने-संवारने के लिए प्रकृति माता ने बसंत-शिशु के गले में मंजरियों का हार पहना दिया है। विद्यापति कवि कहते हैं कि बसंत ऋतु तरुनाई को पार कर यौवन की ओर अग्रसर होने लगी है। इस समय उसकी वया-संधि है। वयः-सन्धि का बालिकाओं के लिए विशेष महत्व होता है। बसंत ऋतु युवती रूप धारण करने वाली है इसलिए उसका विकास एवं सौंदर्य पूर्ण निखार पर हैं बसंत युवक के सौंदर्य में भी इस अवस्था में अपूर्व दिव्यता स्वाभाविक रूप से आ जाती है। राजा शिवसिंह रूप नारायण को बसंत की समस्त कलाएं अति प्रिय तथा मनभावनी है। सौंदर्य किसको प्यारा नहीं लगता विशेषकर युवावस्था का सौंदर्य। सौंदर्य सत्य एवं प्रेम का साक्षात रूप है।

काव्य सौष्ठवः—

1. वात्सल्य रस का पूर्ण परिपाक।
2. बसंत का मनोवैज्ञानिक ढंग रूपायन किया गया है।
3. भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के बाल जीवन का समग्र रूप चित्रित किया गया है।
4. नैसर्गिक सुषमा का मनोहर चित्रण।
5. प्रकृति चित्रण स्वाभाविक रम्य रूप।
6. सांगरूपक एवं मानवीकरण से संपूर्ण पद ओत प्रोत।
7. प्राकृतिक उपमानों को उपमेय का रूप प्रदान किया गया है।
8. सांगरूपक एवं मानवीकरण का सचेत वर्णन।
9. 'वनसपति भेलि धाई हे।' -उपमालंकार
10. माधवि ..... मुकुता तुल।' —ललित उपमालंकार
11. 'नागकेसर..... पुर।' —रूपक अलंकार
12. 'नव-नव' -वीप्सालंकार

13. 'चक्का-चंद' छेकानुप्रास अलंकार

14. समस्त पद में समासोक्ति अलंकार

15. लोक भाषा, संस्कृति का मैथिली रूप वर्णित।

16. माधुर्य भाव की प्रधानता।

भाव साम्यः—

1. ''डार द्रुग पलना, बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झंगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी नीर बहरावै देव,
कोकिल हलावै, हुलरावै करतारी दै।।
पूरित पराग सों उतारै करै राई लौन,
कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै।। -देव

2. जसोदा हरि पालनै झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौ आउ निदरिया काहै न आनि सुवावै।
तू काहै नहिं बेगिहि आवै, तोकौ कान्ह बुलावै।
कबहुं पलक हरि मूंदि लेत हैं, कबहुं अधर फरकावै।
सोवत जानि गौन ह्वै के रहि, करि-करि सैन बतावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभ, सो नंद-भामिनि पावै।। -सूरदास

3. जसुमति लै पलिका पौढ़ावति।
मेरौ आजु अतिहिं बिरुझानौ, यह कहि-कहि मधूरैं सुर गावलि।
पौढ़ि गई हरुएं करि आपुन, अंग मोरि तब हरि-जंभुआने।
कर सो ठोंठके ..... सुतहिं दुलरावति, चटपटाई बैठे अतुराने।
पौढ़ौ लाल, कथा इक कहिहौं अति मीठी, स्रवननि कौं प्यारी।
यह सुनि सूर स्याम मन हरषे, पौढ़ि गए हँसि देत हुँकारी।।

।।१७।।

नव व न्दावन नव नव तरुगन
नव नव विकसित फूल।
नवल बसंत नवल मलयानिल
मातल नव अलि कूल।।
विहरइ नवल किशोर।
कालिंदी-पुलिन कुंज वन सोभन
नव नव प्रेम-विभोर।।
नवल रसाल-मुकुल-मधु मातल
नव कोकिल कुल गाय।
नवयुवती गन चित उमता अई
नव रस कानन धाय।।

नव जुबराज नवल बर नागरि
मीलए नव नव भांति।
निति निति ऐसन नव नव खेलन
विद्यापति मति माति।।

शब्दार्थः नव-नवीन। विकसित-खिले हुए। मलयानिल-मलय पवन। मातल-पागल हुआ। अलि कूल-भौंरे। कालिंदी-यमुना। पुलिन-किनारे। सोभन-सुशोभित। विभोर-बेसुध। रसाल-आम। मुकुल-बौर। उमताअई-उन्मत्त हो जाता है। ऐसन-इस प्रकार। खेलन-क्रीड़ा। माति-मस्त।

प्रसंगः बसंत ऋतु सर्वत्र सौंदर्यमयी होती है किंतु कृष्ण की लीला स्थली व ंदावन का सौंदर्य बसंत ऋतु में विशेष रूप से निखार पर आ जाता है। कवि उसी दिव्य छटा का वर्णन करते हुए कहता है।

भावार्थः ऋतुराज बसंत के आगमन से व ंदावन की प्रकृति में जवानी आ गई है जो पेड़-पौधों, पत्तों-पुष्पों, जीव-जंतुओं, यमुना आदि सभी पर प्रत्यक्ष द ष्टिगोचर हो रही हैं व ंदावन मानों एकदम नया हो गया है। नए-नए व क्ष नवीन पुष्पों से आच्छादित हो गए है। वसंत ऋतु भी अभी नई है अर्थात् अभी इसने तरूनाई को पार कर युवावस्था में प्रवेश किया है। प्रलय पर्वत से आने वाले नवीन भ्रमरावलि मस्ती में पागल हो गई है। यमुना के तटवर्ती कुंज एवं वन अपनी शोभा विकीर्ण कर रहें है। कुंजो में विहार करने वाली नव युवतियां एवं नव युवक प्रेम में बेसुध हो रहे है। नवल आम के पुष्पों अर्थात् आम्र मंजरी का रस पान कर भौंरे मदमस्त हो गए है। कोकिल शावकों का समूह नव्य गीतों द्वारा आम के बागों गुंजायमान किए हुए है। नवयुतियों का झुंड उन्मन्त हो गया है। युवती मन प्रेमाधिक्य से विह्वल, आकुल-व्याकुल हो गया है। उनका समूह नवीन रस अर्थात् रतिरस की खोज में कुजों, बागों की ओर त्वरित गति से भागा जा रहा है। नए नए युवक तथा नवयुवती श्रेष्ठ नगर निवासिनी सुंदरी बालाएं अर्थात् नवल किशोर एवं नवल नागरि किशोरियां परस्पर मिलकर प्रेमालाप एवं काम-क्रीड़ा की नई-नई पद्धतियों का क्रियान्वयन कर रहे है। भांति-भांति के मिलाप द्वांरा नवीनता का प्रतिपादन कर रहे है। विद्यापति वसंत ऋतु के इस मादक वातावरण से पूर्ण रूपेण प्रभावित होकर यही कामना करते है कि राधा-माधव भी इस समय का पूर्ण सदुपयोग करें। दिन-प्रतिदिन वे दोनों भी नव नव क्रिया-कलापों में संलग्न रहकर जीवन लीला का महानंद प्राप्त करें।

काव्य सौष्ठवः—

1. वसंत का उद्दीपक रूप चित्रित।
2. वसंतागम पर सौदंर्य का वर्णन।
3. वसंत के प्रभाव का स्वाभाविक चित्रण।
4. 'नव' एवं 'नवल' की अनेक बार आव त्ति होने पर नवीनता में कमी या अप्रियता नहीं आई है।
5. कोमल कांत पदावली।
6. माधुर्य भाव की प्रधानता।
7. लोक भाषा मैथिली भाषा का सुंदर प्रयोग
8. 'नव नव' - वीप्सालंकार
9. अनुप्रास की छटा।
10. पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार की भरमार।

भाव साम्यः—

1. ''नव मति, नवलय, ताल छंद नव,
नवल कंठ, नव जलद-मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहण - व न्द को
नव पर नव स्वर दे।'' -पं० सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

2. ''भए कामबस जोगीस तापस पावँरन्हि की को कहै।
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्मय देखत रहे।।
अवला विलोकहि पुरूषमय जगु पुरूष सब अवलामयं।
दुइ दंड भरि ब्रह्माड भीतर कामक त कौतुक अयं।।
-मानस - गोस्वामी तुलसी दास

।।१८।।

नाचहु रे तरूनी तजहु लाज।
आएल बसन्त रितु बनिक राज।।
हस्तिनि, चित्रिन, पदुमिनि नारि।
गोरी सामरी एक बूढ़ि बारि।।
बिबिध भाँति कएलन्हि सिंगार।
पहिरल पटोर ग म झूल हार।।
के ओ अगर चंदन घसि अर कटोर।
ककरहु खोइदाँ करपुर तमोर।।
के ओ कुमकुम मरदाब आँग।
ककरहु मोतिअ भल छाज माँग।।

शब्दार्थः बनिक राज-व्यापारी श्रेष्ठ, बणिक राज। बारि-छोड़कर, अलावा, बाला, नवयुवती। पटोर-रेशमी वस्त्र। म ग - गले में। केओ-किसी ने। घसि-घिसकर। ककरहु - किसी के। मरदाब-मर्दान कराती है। मलवाती है। करपुर-कपूर। तमोर-पान। कुम कुम-केशर। मोतिअ-मोती। आँग-अंगं। भल-भली प्रकार। छाज-शोभता है। माँग-सीमांत।

प्रसंगः समस्त प्रक ति वसंतोल्लास मे मग्न है इसलिए कवि भी युवतियों को उत्तेजित करता है कि वे भी वसंत ऋतु का सदुपयोग करे। वसंत का उद्दीपक रूप वर्णित करते हुए कवि कहता है।

भावार्थः हे नवयुवतियों। हे बालाओ। हे तरूणियों! लोक लाज, मर्यादा का त्यागकर निर्भीक होकर नाचो-गाओं क्योंकि आज व्यापारी-श्रेष्ठ ऋतु-राज वसंत वर स्वरूप पधारे है। नवयुवती के प्रमुख रूप से हस्तिनी, चित्रिनी तथा पद्मिनी तीन रूप होते है जिनमें पद्मिनी सर्वश्रेष्ठ होती है। महां कवि का अभिप्राय सभी प्रकार की नारियों से है। इसलिए सभी को संबोधित करते हुए कवि कहता है। हे हस्तिनी, चित्रिनी एवं पद्मिनी नारियो। हे गोरी सांवली, वयः प्राप्त व दघ महिलाओ! तथा बाला नवयुवतियों। हे सुलक्षण नारियों। हे गोपियों। सभी मिलकर मंगल कार्य करों सभी युवतियों और बालाओं ने विभिन्न प्रकार से अपना श्र ंगार किया। अपने को सजाया-संवारा। बढ़िया रेशमी सड़िया एवं वस्त्र धारण किया। सुदंर शंख जैसी ग्रीवाओं में दिव्य मालाएं पहन ली तथा हार झुला या पहन लिया। किसी ने चंदन घिसकर कटोरा भर लिया। चंदन तथा अगर का लेप किया। किसी ने अपने आंचल में कपूर और ताम्बूल या पान रख लिया। कोंछ (अवधी) का महा प्रणत्व रूप 'खोइँछा' (आँचल) से यह अर्थ निकलता। पान एवं कपूर आंचल में रखना मंगल का द्योतक है।

किन्तु पान के साथ शीतलता एवं सुगंधि के लिए पिपर-मिन्ट आज खाया जाता है पहले कपूर खाया जाता था। बंगला 'खाबे' का भोजपुरीकरण 'खोइँछा' (खाने के अर्थ में) हो जाता है इसलिए अर्थ-किसी ने कपूर डालकर पान खाया-अधिक औचित्यपूर्ण एवं तार्किक प्रतीत होता है। किसी ने अंग-प्रत्यंगों में केशर का मर्दन करवा रखा है अर्थात् केशर युक्त तेल की मालिश करवा ली। किसी की मांग में मोतियों का चूर्ण सिंदूर के रूप में भली-भांति शोभायमान हो रहा है। अर्थात् किसी ने मोतियों से मांग भर रखी है जो अतीव शोभा बिखेर रही है।

काव्य सौष्ठवः—

1. वसंतागम पर युवतियों की साज-सज्जा एवं हर्षोल्लास का सजीव चित्रण किया गया है।
2. 'आएल वसन्त रितु बनिक-राज'। रूपक अलंकार।
3. 'हस्तिनी, चित्रिनि, मदुमिनि नारि। - अनुप्रास-छटा।
4. 'खोइँछा' - श्लेषालंकार।
5. कोमल कांत पदावली।
6. माधुर्य भाव की प्रधानता।
7. बंसत का उद्दीपक रूप वर्णित।

भाव साम्यः—

1. ''दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम धरि आये हो राजा रांम भरतार।।
तनरत करि में मन रत करि हूं, पंचतत बराती।
रांमदेव मोरै पांहुनै आये, मैं जोबन मैं मोती।। -कबीर

।।१६।।

मधुपुर मोहन गेल रे
मोरा विहरत छाती।
गोपी सकल बिसरलनि रे
जल छल अहिबाती।।
सूतल छलहुँ अपन ग ह रे
निन्दइ गेलउँ सपनाई।
करसौं छुटल परसमनि रे
कोन गेल अपनाई।।
कत कहबो कत सुमिरब रे
हम मरिए गरानि।
आनक धन सों धनबंति रे
कुबजा भेल रानि।।
गोकुल चान चकोरल रे
चोरी गेल चंदा।
बिछुड़ि चललि दुहु जोड़ी रे
जीब दद गेल धंदा।।

काक भाख निज भारवह रे
पहु आओत गोरा।
खीर खाँड़ भोजन देब रे
भरि कनक कटोरा।।
भनइ विद्यापति गाओल रे
धैरज धर नारी।
गोकुल होयत सोहाओन रे
फेरि मिलत मुरारी।।

शब्दार्थः मधुपंर-मथुरा। गेल-गया। मोरा-सेरी। बिहरत-फटती हैं बिसरलनि-विस्मरण हो गए। जत-जितनी। छल-थीं। अहिबाती-सौभाग्यवती। सूतति-सोई। छलहुँ-(मैं) थीं। अपन-अपने निन्दइ-नींद में। गेलउँ सपनाई-स्वप्न देखने लगी। करसौं-हाथ से छूटल-छूट गया। परस मनि-स्पर्श मणि, पारस मणि। कोन-कौन। गेल-गया। अपनाइ-अपनाया। कत-कितना। कहबो-कहूंगी। सुमिरब-स्मरण करूंगी। मरिए-गर गई। गरानि-ग्लानि। आनक-अन्य का। सों-से। भेल-हुई। चान-चंद्र। चकोरल-चकोर बन गया। चंदा-संदेह। काक-कौआ। भाख-बोलों भाखह-भाषा, बोली। पहु-प्रियतम प्रभु। आओत-आएगा। खीर-क्षीर। खाँउ-मीठा। सोहाओन-शोभायमान।

प्रसंगः विरह वर्णन के अंतर्गत क ष्ण के मथुरा गमन के पश्चात् वियोग जनित वंदना को राधा अपनी सखी से कहती है कि उसने क ष्ण को मथुरा न जाने लिए लाखों प्रयत्न किए किंतु क ष्ण को रोकने में सफल नहीं हो सकी। क ष्ण चले गए। क ष्ण के वियोग में विलाप करती हुई राधा सखी से कहती है।

भावार्थः हे सखी। लाख कोशिशें करने पर भी मथुरा जाते क ष्ण को रोक नहीं सकी। मोहन मथुरा चले गए जिनके विरह में मेरी छाती फटी जाती है यह सोचकर जितनी भी गोपिकाएं सोभाग्यवती बनी हुई थी, मोहन ने उन सबको भुला दिया। मैं अपने घर में सो रही थी। सोते हुए अर्ध निद्रा में स्वप्न देखने लगी। स्वप्न में मैनें देखा कि पारस मणि मेरे हाथ से छूटकर गिर गई। उसे कोई और उठा ले गया अर्थात् मेरी पारस मणि पराए हाथ लग गई। किसने उसे अपना लिया? इस विषय में किसी से कितना कहुँ तथा कितना स्मरण करूं? मैं ग्लानि से मरी जा रही हूं। अन्य के धन को अपना कर, धनवंती होकर कुब्जा रानी बन गई। गोकुल का चंद्रमा चकोर बन गया। जो अन्यों का आश्रयदाता अर्थात् समस्त गोकुल वासियों रूपी चकोर का चंद्र या अब स्वयं चकोर बनकर कुब्जा रूपी चंद्रमा का आश्रय पाने के लिए लालायित है। मेरे चंद्र की चोरी हो गई है। दुर्भाग्य के विषय में कितना कहा जाय? कितना चिंतन किया जाए? भाग्य की विचित्रता तो देखों कि कुब्जा आज दासी से रानी बन बैठी है। मेरी और माधव की युगल जोड़ी के बिछुड़ जाने से और उनके ब्रज से मथुरा चले जाने से मुझे अपने जीवन पर भी संदेह हों हमारे प्राणों में संदेह दे गया। हे सगुन विचारक कागा। अपनी भाषा में बोलकर यह तो तनिक बतलाओं कि मेरे प्रियतम कृष्ण मथुरा से कब आएंगे? हे काग! यदि तेरी भविष्यवाणी पूर्ण हो गई तो मैं तुझे स्वर्ण के कटोरे में भरकर तुम्हारे खाने के लिए खीर-खांड का भोजन दूंगी। गा-गाकर विद्यापति कहते हैं कि राधा की सखी राधा से कहती है कि हे राधा! धैर्य धारण करो। गोकुल पुनः शोभायमान होगा। मुरारी और तुम्हारा पुनः मिलन होगा।

काव्य सौष्ठवः—

1. कौए का आंगन में बोलना किसी प्रिय व्यक्ति या प्रिय संदेश आगमन का सूचक समझा जाता है। इस सामाजिक मान्यता के आधार पर इस पद में राधा कौए से बोलने का आग्रह करती है जिससे कृष्ण आ जाएं।

2. ग्लानि, ईर्ष्या, उलाहना, विवाद एवं औत्सुक्य आदि संचारी एवं व्याभिचारी भावों की व्यजंना की गई है।
3. क ष्ण के प्रति उलाहना।
4. कुब्जा के प्रति ईर्ष्या।
5. अपने प्रति ग्लानि।
6. व्याभिचारी भावों में भावसबलता अलंकार।
7. अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार
8. पर्यायोक्ति अलंकार
9. 'गोकुल चान ... चंदा'-रूपकातिशयोक्ति।
10. 'मधुपुर मोहन ... अपनाई।' अर्थातंरन्यास अलंकार।
11. अनुप्रास अलंकार की भव्य छटा।

भाव साम्यः—

।।२०।।

सरसिज बिन सर, सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
जीवन बिनु तन, तन बिनु जीवन
की जीवन पिय दूरे।।
सखि हे मोर बड़ दैव विरोधी।
मदन बेदन बड़ पिया मोर बोलडछ़
अबहु देहें बरबोधी।।
चौदिस भमर मम कुसुम-कुसुम रम
नीरति माँजरि पीवई
मेद पवन चल पिक कछु कछु कह
सुनि बिरहिनि कैसे जीबइ।।
सिनेह अछल जल हम भेव न टूटत
बड़ बोल जत सब थीर।
अइसन के बोल दहु निज सिम तेजि कहु
उछल यथोनिधि नीर।।
भनइ विद्यापति अरेरे कमलमुखि
गुनगाहक पिया तोए।
राजा सिव सिंघ रूपनरायन
सहजे एको नहि भारो।।

शब्दार्थः की-क्या? सूरे-सूर्य। बोलछड़-प्रतिज्ञा भंग करने वाला। देहे-देती है। भमर-भौरां। भंग -भ्रमण कर रहें हैं। सिनेह-स्नेह। अछल-था। जत - जिसे। भेव - समझना। नटूरत-अटूटं बड़े-बड़े व्यक्ति। जत-जो कुछ। थोर-स्थिर होता है, पक्का होता है। भाँजरि-मंजरी। सिड़-सीमा। कि-कौन?

प्रसंगः वियोगिनी नायिका विरह का वर्णन करती हुई अपनी सखी से कहती है।

भावार्थः हे सखी। जिस प्रकार कमल विहीन सरोवर सूना लगता है और सरोवर के जल सूख जाने से कमल सूख जाता है। जिस प्रकार कमल की शोभा सूर्य से होती है अर्थात् सूर्योदय के पश्चात ही कमल खिलता है उसी प्रकार मन कमल मोहन के दर्शन के बिना कुम्हलाया हुआ है। यौवन के बिना शरीर का सौंदर्य नहीं होता है तन के बिना यौवन का अस्तितव नही है। प्रियतम के बिना जीवन निरर्थक हो जाता है। उस जीवन का क्या महत्व है जिसका जीवन पास न होकर प्रवासी हो गया हो। मोहन बिना मेरा जिसका जीवन पास न होकर प्रवासी हो गया है। विरह में जीवन की सार्थकता जीवन भी व्यर्थ हो गया है। विरह में जीवन की सार्थकता समाप्त हो जाती है। हे सखी। विधाता मेरा धोर विरोधी हो गया है। ईश्वर मेरा दारून शत्रु बन गया है। प्रियतम के प्रवासी हो जाने से उनकी अनुपस्थिति में मुझे अकेला पाकर कामदेव अतीव पीड़ादायक हो गया हैं कामदेव प्रदत्त पीड़ो से मुझे उतना दुख नहीं हो रहा है जितना दुःख मुझे यह जानकर हो रहा है कि प्रियतम अर्थात् क ष्ण प्रतिज्ञा छोड़ने वाले या प्रतिज्ञा भंग करने वाले हो गए है। ऐसी विषम परिस्थिति में भी हे सखी! तुम मुझे सांत्वना देने का प्रयत्न कर रही हो। चारों ओर अर्थात् दशों दिशाओं में भौरें घूम घूम कर पुष्पों का रस पान कर रहे हैं। भ्रमर पुष्पों के साथ रंगरेलियां कर रहे है मेरा भ्रमर-क ष्ण प्रवासी हो गया है। एक पुष्प दूसरे पुष्प पर विचरण करते मनभाए पुष्प का दिल खोल कर रसपान कर। कुछ भ्रमर ऐसे भी है जो रसविहीन मंजरियों से चिपके हुए रस विहीनता में भी रस प्राप्त करने का यत्न कर रहे हे। मंजरियों का रस चूसकर उन्हें रस विहीन बना रहे हैं उनकी स्थिति मरूस्थल के म ग की है जो प्यासा हो म ग मरीचिका के भ्रम में इधर भाग रहा है अथवा कुत्ते की भांति है जो सूखी रक्त विहीन हड्डी को चबाकर अपना मुख घायल कर अपना रक्त ही चुसता हुआ ऐसा मान रहा कि यह खून उसके मुंह से नहीं अपितु हड्डी से निकल रहा है। कृष्ण कुब्जा-अस्थि में रमे हुए है। शीतल मंद पवन की झकोर चल रही है। वातावरण मनभावन बना हुआ है अमराई में कोयल कुहू-कुहू की रट लगाए हुए है। कोयल की ऐसी मधुर ध्वनि सुनकर विरहिणी को प्रियतम की याद आना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में वह जीवित कैसे रह सकती है? विरह में उसकी दशमावस्था मरण सन्निकट प्रतीत हो रहा है। कृष्ण के साथ अटूट संबंध गहन प्रेम था कि आंशका ही नहीं होती थी कि ऐसा घनिष्ठ प्रेम संबंध भी समाप्त हो सकता है किंतु वह अटूट प्रेम भी टूट गया। महान व्यक्तियों का कथन स्थिर अर्थात् सत्य होता है, पक्का होता है बड़े लोग जो कुछ कहते हैं उसका पालन करते है। इसका मुझे अब भली भंति ज्ञान हो गया हैं। हे बाले! प्रचंड तूफान द्वारा आंदोलित होते हुए समुद्र की जलराशि के समान अपने धैर्य की सीमा का उल्लंघन न करो। अर्थात् धैर्य में काम लो। धैर्य एवं संयम धारण करो। विद्यापति कहते है कि राधा की सखी राधा को संबोधित करती हुई कहती है कि हे कमल मुखी बाले! सुन। तेरा प्रियतम क ष्ण निष्ठुर न होकर गुण गाहक है। राजा शिव सिंह रूप नारायण और तुम्हारें प्रियतम कृष्ण में से कोई एक भी सहज रूप से भूलने वाला नहीं है। क ष्ण तुम्हें विस्म त कैसे कर सकते है? क्योंकि तुम तो सर्वगुण संपन्न प्रेमिका हो।

काव्य सौष्ठवः—

1. विरह का सुंदर चित्रण।
2. विरह की दशमावस्था मरण का उल्लेख।
3. कोमल कांत पदावली।
4. माधुर्य भाव की प्रधानता।
5. विप्रलंभ श्रंगार का परिपाक।
6. नायिका विरहित स्थिति का मनोवैज्ञानिक निरूपण।
7. प्रक ति उद्दीपक रूप में चित्रित।

8. प्रोषित पत्रिका नायिका का स्वरूप।
9. 'सरसिज... दूरों-विनोक्ति एवं द ष्टांताअलंकार।
10. 'कुसुमे कुसुमे' पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार।
11. 'कमलमुखि'-उपमालंकार।
12. अनुप्रास की अनुपम छटा।

भाव साम्यः—

1. 'पयसा कमलं कमलेन पयः।
पयसा कमलेन विभाति सरः।
मणिना बलयं बलयेन मणिः
मणिना बलयेन विभाति करः।।
शशि ना च निशा, निशया च शशिः,
शशिना च निशयाच विमाति नभः।
भवतां च सभा सभया च भवाम्,
भवता समयेन विभाति वयम्।।

2. ''जल से कमल, कमल से जल,
जल कमल से शोभा, सा की है।
जौवन से तन, तन से जौवन,
तन यौवन से शोभा, पिय की है।
-स्वरचित

।।२१।।

सरिन हे हमर दुखक नहि ओर।
ई भर बादर माह भादर
सून मंदिर भोर।।
झंपि घन गरजंति संतत
भुवन भरि वरसंतिया।
कन्त पाहुन काम दारून
सघन खर सर हंतिया।।
कुलिस कत सत पात मुद्रित
मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक
फाटि जायत शतिया।।
तिमिर दिग भरि पोरियामिनि
अथिर बिजुरिक वाँतिया।
बिद्यापति कह कइसे गमाओब
हरि बिना दिन-रातिया।।

शब्दार्थः भर-भरा हुआ। हमर-हमारे, मेरे। ओर-अंत। बादर-बादल। भादर-भादों। सून-शून्य। मंदिर-घरं। मोर-मेरा। झंपि-छाकर, झुकाकर। संतत-लगातार। भुवन-घर। भर-सारे। बरसंतिया-बरसता है। कन्त-प्रियतम। पाहुन-अतिथि, प्रवासी। खर-तीक्ष्ण, तेज। सुर-बाण।

हितियों मारता है। कुलिस-व्रज। कत-कितने, कई। सत-सौ। पात-गिरता है। मुदित-प्रसन्न मातिया-मतवाला होकर। दादुर-मेढ़क। डाक-पुकारता है। डाहुक-एक बरसाती पक्षी। छातिया-छाती। दिग-दिशा। यामिनि-रात। अथिर-चंचल, अस्थिर। बिजुरिक-बिजली की। कइसे-किस प्रकार गमाओव बिताऊगीं। रतिया-रात।

प्रसंगः भादव मास में राधा अकेली है। बिजली का चमकना, बादल का गरजना राधा की विरहाग्नि को उद्दीप्त कर उसे भयभीत किए हुए है। अपनी आंतरिक व्यथा की अभिव्यक्ति वह अपनी सखी से कर रही है।

भावार्थः हे सखी! मेरे दुखों की कोई सीमा नहीं है। भाद्र मास की घटा उमड़ कर चारों ओर छाई हुई। ऐसा प्रतीत होता है मानों ये बादल पर लगाकर इधर-उधर उड़ रहे है। ये बादल जल से भरपूर है। ऋतु अति सुहावनी है। किंतु प्रियतम विहीन मेरा मन एवं भवन सब सूना-सूना सा है। चारों और छाए हुए बादल निरंतर गर्जन-जर्तन में तल्लीन है। उनकी घनघोर वर्षा से समस्त प थ्वी जल मग्न हो उठी है। वर्षा ऋतु उनके लिए अत्यंत सुखदायक एवं मनोरम होती है जिनके प्रियतम उनके साथ होते है। परंतु इस सुखमय में मेरा प्रियतम प्रवासी हो गया है जिस अवसर का पूर्ण लाभ उठाते हुए कामदेव निष्ठुर रूप धारण कर मुझ पर अपने तेज बाणों का प्रहार करने से नहीं चूक रहा है। मुझे बेमौत मारे डाल रहा है। बादलों में बिजली चमक रहीं है बिजली गिराने के बहाने बादल सैकड़ों वज्र मुझ पर गिरा रहा है। सैकड़ों वज्र पात कर मुझ को चकनाचूर किए जा रहा है। मदमस्त मारे प्रसन्नचित वर्षा ऋतु में बादलों की गर्जना सुनकर मोर मतवाले होकर नाचने लगते है। मदमस्त मेढक निरंतर टर्र-टर्र की रट लगाए है। डाहुक पक्षी आनंदित हो बोल रहे है मानों दोनो पक्षी मुझे ही पुकार रहे है। उनकी पुकार भरी बोली सुन-सुन कर दुख से मेरी छाती फटी जा रही है। काले-काले बादलों के छाने एवं लगातार वर्षा होने से घटाटोप अंधेरा छा गया है। मानो अंधकार पूर्ण रात्रि ने वर्षा होने से घटाटोप अंधेरा छा गया है। मानों अंधकार पूर्ण रात्रि ने चारों ओर अपना एक छत साम्राज्य है तथा बिजली का अस्थिर प्रकाश चारों और फैल-फैलकर अंधकार को और भी भयावह बना रहा है। विद्युत की पक्तियां चमक-चमक कर वातावरण को डरावना बना रही है। विद्यापति कहते है कि भयभीत विरहिनी राधा अपनी सखी से कहती है कि कृष्ण प्रवासी हो गए है उनके बिना दिन-रात किस प्रकार व्यतीत करूं। वर्षा ऋतु ने दिन को भी रात का रूप देकर भयकारी बना दिया है।

काव्य सौष्ठवः—

1. विरहिणी प्रवासी पतिका नायिका के वर्षा ऋतु के विरह के मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है।
2. भाद्र मास की अंधेरी भयावह रात्रि का सुंदर वर्णन।
3. संयोगवस्था का सुखदायक वातावरण वियोग में दुखदायी रूप धारण कर लेता है।
4. विप्रलंभ श्रंगार की सफल आयोजना।
5. वर्षा का उद्दीपक रूप वर्णित।
6. राधा के संत्रोस, शंका तथा व्यथा की सफल व्यंजना।
7. राधा की मर्मातँक पीड़ा साकार हो उठी है।
8. नायिका प्रोषित पतिका एवं परकीया है।
9. कोमल कांत पदावली।
10. माधुर्य भाव की प्रधानता।
11. लोक भाषा मैथिली भाषा सफल प्रयोग।

12. संगीतात्मकता।
13. शब्दावली ध्वन्यात्मक।
14. मुहावरे के प्रयोग ने कथन को गहनता प्रदान की है।
15. अनुप्रास अलंकार।

भाव साम्यः—

'भा भादौ दूभर अति भारी। कैसे भरौ रैनि अंधियारी।।
मंदिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिरि फिरि डसा।।
रहौ अकेलि गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी।।
चमक बीजु धन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा।।''

-मलिक मोहम्मद जायसी

।।२२।।

अनुखन माधव माधब सुमरइत
सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि विसरल
अपने गुन लुबुधाई।।
माधव अपरूब तोहर सिनेह।
अपने बिरह अपन तनु जरजर
जिबइत भेलि संदेह।।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छल-छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि।।
राधा समँ जब पुनतहि माधव
माधव सयँ जब राधा।
दारून प्रेम तबहि नहि टूटत
बाढ़त बिरहक बाधो।।
दुहु दिस दारू-दहन जैसे दगधई
अकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि
कबि बिद्यापति भान।।

शब्दार्थः अनुखन-प्रतिक्षण। सुमरइत-स्मरण करती है। मधाई-माधव हो गई। बिसरल-भूल गई। लुबुधाई-मोहित हो गई। तोहर-तुम्हारा। सिनेह-स्नेह। अपन-अपना। जिबइत-जीवित रहने में। पानि-आसूं रटइल रहती है। बानि-वाणी। सयँ-से। दारून-भयानक। दगधई-जलाता है। दारू दहन - भयानक अग्नि, लकड़ी की अग्नि। भोरहि-प्रातः काल ही, या विभोर होकर, विह्वल होकर। दारून - भयानक। दुहुदिसि - दोनों दिशाओं या दोनों स्थितियों में। आकुल-दुखी। कीट-कीड़ा। परान्-प्राण। ऐसन-ऐसा। बल्लभ-पति। हेरि-खोजकर। सुधामुखि-चंद्रमुखी।

प्रसंगः प्रेम की पराकाष्ठा का वर्णन किया गया है। विरह के वशीभूत हो राधा प्रेम में तल्लीन हो स्वयं को ही क ष्ण मानकर 'राधा-राधा' कहकर चिल्लाने लगती है। होश में आने पर पुनः कृष्ण के लिए व्याकुल हो उठती ह। इन दोनों अवस्थाओं में राधा को मार्मिक वेदना का सहन करना पड़ता है।

विरह वर्णन के अंतर्गत राधा की विरहावस्था का वर्णन करती दूती क ष्ण से कहती है।

भावार्थः सखी कृष्ण से राधा की शोचनीय दशा का वर्णन करते हुए उनका संवेदनात्मक चित्रण करती है। हे माधव! राधा क्षण - क्षण तुम्हारा स्मरण करते हुए तुम्हारे प्रेम में इतना विह्वल या विभोर हो जाती है कि वह विक्षिप्तावस्था में स्वयं को ही माधव समझने लग जाती है इतना ही नहीं अपना अस्तित्व खो बैठती है अर्थात् राधोचित स्वभाव तथा गुणों को विस्म त करके स्वयं को साक्षात माधव मानती हुई अपने गुणों पर ही मुग्ध हो जाती है। माधव! राधा का तुम्हारें प्रति प्रेम अति विचित्र एवं अद्‌भूत है। राधा अपने विरह में अपने शरीर को क्षीण एवं कमजोर बना रही है। उसे दुगुनी, दो तरफा विरह यंत्रणा सहनी पड़ रही है। एक राधा की स्वयं की विरह-व्यथा दोनो सहना पड़ता है। राधा रूप मे माधव-विरह-यंत्रण तथा माधव रूप में राधा-विरह इस दोहरे प्रपंच से हे माधव। राधा इतनी क श, क्षीण तथा विक्षिप्त हो गई कि मुझे तो उसके जीवित रहने में भी संदेह होने लगा है।

आज प्रातःकाल से ही अपनी सखी राधा की प्रेम-तनमयता तथा विभोरावस्था को देखकर सभी सखी-सहेलियों की आखें से करूणार्द्र आंसू की झड़ी लग गई है। राधा की ऐसी विषम स्थिति का अवलोकन कर सभी सहचारियां कातर द ष्टि से बार-बार उन्हें निहारकर अश्रुधारा प्रवाहित कर रही है। राधा प्रेम-तन्मयता के परिणामस्वरूप स्वयं को माधव समझती हुई बार-बार 'राधा' नाम का स्मरण कर रही है। उसके मुख से निरंतर धाराप्रवाह 'राधा' 'राधा' शब्द का ही उच्चारण हो रहा है। मानो वह स्वयं माधव हो गई है और राधा के विरह में उसी के नाम का जाप कर रही है। यह उसकी प्रबल व्याकुलता का परिचालक है। उसकी शारीरिक क्षीणता बड़ती जा रही हैं। जिसके कारण पूरा बोलने की क्षमता नहीं रह गई है। आधी वाणी से ही राणा, राधा की रट लगाए हुए है। उसकी ऐसी भयंकर स्थिति है कि कभी राधा से अपने को माधव मान लेती है तत्क्षण पुनः माधव से राधा स्वरूप की स्थिति में आ जाती है। दोनों अवस्थाओ में उसका असीम प्रेम, तथा उत्क ष्ट लगन तुमसे ही लगी रहती है। किसी भी प्रकार एक पल के लिए भी तुम्हारा स्वरूप उसके मन से विलग नहीं होने पा रहा हैं वह तुममें ही तल्लीन हो गई है। उसकी प्रेम तन्मयता भंग नहीं हो रही है। राधा की विरह-पीड़ा मे कोई भी तत्व अवरोधक नही बन पा रहा है। उसकी विरह-व्यथा क्षण-क्षण बढ़ती ही जा रही है। दोनों अवस्थाओं मे ही दारून-विरह-वेदना राधा के तन-मन को जलाती चली जा रही है। इस समय राधा की स्थिति उस कीड़े के समान हो गई है। जो ऐसी लकड़ी पर बैठा है या ऐसी लकड़ी के टुकड़े में प्रविष्ट है जो दोनो किनारों से जल रही है। बीच में निकलने या चलने का कोई मार्ग नहीं है। विद्यापति कहते हैं कि राधा की सहचरी क ष्ण से कहती है कि हे माधव! राधा के प्राण वल्लभ! चंद्रमुखी राधा को अपना दर्शन देकर ऐसा कुछ करें कि उसकी विरह-वेदना का अंत हो जाए। उसे प्राण दान दो। अन्यथा वह विरह की दशमावस्था को प्राप्त करने की सन्निकटता को पार कर उसका स्पर्श करने वाली है। अर्थात् म त्यु को प्राप्त करने वाली है।

काव्य सौष्ठवः–

1. विरह में प्रेम की पराकाष्ठा एवं अनन्यता।
2. विरह की विक्षिप्तावस्था का चित्रण।
3. विरह की मार्मिक भावना का चित्रांकन।
4. विप्रलंभ श्रंगार की सफल आयोजना।
5. प्रेषित पतिका नायिका।
6. कोमल कांत पदावली।
7. माधुर्य भाव प्रधान भाषा।

8. लोक भाषा मैथिली भाषा एवं संस्क ति का प्रयोग।
9. अनुप्रास एवं अतिशयोक्ति अलंकार की अनुपम छटा।
10. ''दुहुदिस दारूं ... परानं '' - उपमालंकार।
11. ''राधा संय ... बाधा।'' -विशेषोक्ति अलंकार।

भाव साम्यः—

''सुनों यह बात और कोउ क्यौ समुझाय कहै।
दुहु दिसि की रति विरह विरहनि कैसे कै जु सहै।
जब राधे तबही मुख माधो रटति रहै।
जब माधो होइ जात सकल तनु राधा विरह दहै।
उभय उग्र दोउ दारू कीट ज्यों सीतल ताहि चहै।
'सूरदास' अति विकल विरहिनी कैसेहु सुख ने लहै। -सूरदास

।।२३।।

नहि करब बर हर निरमोहिया।
बित्ता भरि तन, बसत न तिन्हका
बघछल काँख तर रहिया।।
बन बन फिरषि मसान जगबधि
घर आँगन ऊ बनोलिनि कहिया।
सास ससुर नहि ननद जेठौनी
जाए बैसत धिया केकरा ठहिआ।
बूढ़ बड़द उकपाल गोल एक
सम्पत्ति भाँगक झोरिया।।
भनइ विद्यापति सुनु हे मनाइन
शिव सन ढाली जगत के कहिया।।

शब्दार्थः करबा-करूगीं। हर -महादेव। निरमोहिया-निर्मोहिया। वित्ता-भरि एक बलिश्त का। बसन-वस्त्र। बघछल-बाघ की खाल। काँख तर-वगल में, हाथ के नीचे। फिरथि-फिरते हैं। मसान-श्मसान। जगाबथि-जगत हुआ। बनोलनि-बनाया। कहिया-कब। धिया-पुत्री, बेटी। केकरा-किसके। ठहिया-स्थान, ठाम, पास। बड़द-बैल, बूढ़-बूढा। दरूपोल-डमरू भाँगक-भाग की। मनाइन-मेना, मेनावर्ती सन-से।

प्रसंगः यह शिव कथा से संबंधित पद हैं जो 'प्रार्थना और नाचारी' शीर्षक से उद्घ त है शिव अशिव वेशधारी है। उनका घर-परिवार कुछ नहीं हैं ऐसा मानते हुए पार्वती की मां मैना अपनी पुत्री पार्वती का विवाह शंकर के साथ करने में आनाकानी कर रही हैं इस पद में मैना के द्वारा मात हृदय की अनुभूति की अभिव्यक्ति की गई है वह कहती है।

भावार्थः मैं निर्मोही शिव को पार्वती के वर रूप में कभी नहीं स्वीकारूगीं जिसके शरीर पर चार अंगुल कपड़ा नहीं है। मात्र बाघ की खाल पहने रहते है अथवा बगल में दबाए रहते है। जिन शिव को अपने स्वयं के छोटे से शरीर को लोक लज्जा से बचाने के रंच मात्र वस्त्र नही मिलता वह मेरी पुत्री पार्वती को क्या पहनाएगें? इसलिए किसी किंचित प्रेम न करने वाले शिव को में अपना यमाता कैसे बना सकती हूँ। वे मेरे दामाद बनने योग्य नहीं हैं। शिव श्मशान जगाते या अस्मरण जगाते हुए अड़ग-भडगं, भांग-धतुरा खाते हुए वन-वन, इधर-उधर घूमते रहते हैं। उन्हों ने अपना घर-द्वार या आंगन कब बनाया? अर्थात् आवास के नाम पर उनके पास कहीं एक भी कमरा नहीं

है तो आंगन कहां से होगा क्योंकि आंगन उस खाली स्थान को कहा जाता हैं जिसके चारो ओर भवन निर्मित होता है अर्थात् चारो तरफ कमरे बने होते हैं बीच में खाली-खुली जगह होती है जहां ग हणियां बैठती है अथवा ग ह-कार्य करती है। गांवों में अब भी आंगन होते है नगरों में आंगन स्थान स्थानाभाव में लाबी ने ले लिया है जो खुला न होकर छत द्वारा बंद होता हैं ग हस्थी में घर में ही घरनी रहती है। पत्नी पति के साथ जंगल-जंगल नहीं घूमती हैं जंगल ही शिव का घर हैं। विवाह के बाद मेरी लाडली बेटी पार्वती कहां रहेगी? कहां सोएगी? कहां बैठेगी? वर के माता-पिता, भाई-बहन होना आवश्यक है। अन्यथा बहू को सासु-ससुर, देवरानी-देवर, जेठानी-जेठ, ननद-ननदोई कहां से मिलेगें जो आजीवन सुख दुःख के साथी होते है। महादेव इस विश्व में सर्वथा एकाकी है। इसलिए विवाहोपरांत मेरी बेटी किसके पास जाकर बैठेगी? शिव मेरी कन्या को कहा ठहराएगें? किस स्थान पर बैठाएगें? मैं अपनी कन्या का विवाह ऐसे एकाकी शिव के साथ कदापि नहीं करूंगी। शंकर के चल-अचल संपत्ति के नाम पर एक बूढ़ा बैल, एक पोल को ढकने वाला ढकपोल अर्थात् डमरू तथा त्रिशूल मात्र हैं गोल एक डमरू के अलावा सब गोल है अर्थात् कुछ नहीं हैं उनके पास संपत्ति के नाम पर भांग एक झोरी या थैली अवश्य है। विद्यापति कहते है मैनावती! यही निध ान तथा ग हविहीन शिव विश्व का सर्वश्रेष्ठ औघड दानी है। शिव समाज समस्त विश्व में संपन्न एवं दानी कोई नहीं हैं अर्थात् शिव के समान किस अन्य व्यक्ति को दानी की संज्ञा दी जा सकती है।

काव्य सौष्ठवः—

1. मेनका एवं मैनावती के माध्यम से व्यक्त वैचारिक भावना समस्त मात जगत का प्रतिनिधित्व करती है।
2. शिव का अद्भूत एंव दिव्य रूप वर्णित है।
3. उनकी विलक्षण दानशीलता का उल्लेख।
4. समस्त पद में व्याज स्तुति अलंकार।
5. कन्या पक्ष की द ष्टि से बर के अपेक्षित अनिवार्यताएं।
6. पौराणिकता का प्रतिपादन।
7. लोकभाषा मैथिली के शब्दों का आधिक्य।
8. लोक संस्क ति का पुट।
9. बोल चाल की सामान्य स्वाभाविक भाषा।
10. संगीतात्मकता।

भाव साम्यः—

अब सुख सोवत सोच नहिं, भीख माँगि भव खाहिं।
सहज एकाकिन्ह के भवन, कबहूँ नारि खटाहि।। -गोस्वामी तुलसी दास।

।।२४।।

माधव, बहुत मिमति कर तोय।
दए तुलसी तिल देह समर्पितु
दया जनि छाड़बि मोय।।
गनइल दोसर गुन लेख न पाओवि
जब तुहुँ करबि विचार।

तूहूं जगत जगनाथ कहाओसि
जग बाहिर जड़ छार।।
किए मानुस मसु पास्वि भए जनभिए
अथवा कीट पंतग।
करम-विपाक गतागत पुनु पुनु
मति रह तुअ परसंग।।
भनइ विद्यापति अतिसय कातर
तरइत इह भव-सिंधु।
तुअ पद पल्लव करि अवलम्बन
तिल एक देह दिन बन्धु।।

शब्दार्थः मिनति-विनती। तोय-तुमसे। नए-देकर। देह-शरीर। जनि-मत। मोय-मुझको। गनइत-गिनोगे, सोच-विचार करोगे। दय-दया। दोसर-दोष और बुराइयां और दोस+र←दोष+अरू (और)। लेख-लेशामान, आभास मात्र, चिह्न। पाओबि-पाओगे। तुहु-तुम। जगनाथ-जगन्नाथ जगत के स्वामीं। कहाओसि-कहलाते हो। हार-क्षार, धूल, भस्म, शून्य। मानुस-मनुष्य। परित-पक्षी। नइ-न (नहीं) + इ (है)। किए-चाहिए बनाए। करम-कर्म। विषाक-फल, परिणाम दोष से। करमविषाक-कर्म के दोष से। गतागत-आवागमन, जन्म-मरण। मति-ध्यान। परसंग-प्रसंग, बात, वार्ता, विषय। अतिसय-अतिशय, अत्यधिक। कातर-कायर। तरइत- तर जाता है उद्‌भार हो जाता है। भवसिंध J - भवसागर, म त्युलोक।

प्रसंगः प्रार्थना और नाचारी के प्रसंग में क ष्ण-कीर्तन शीर्षक के अंतर्गत वर्णित पद है। विद्यापति बैष्णव भक्त कवि थे। उन्होंने न पदावली के पदों में भगवान स्वरूप क ष्ण की पूजा-अर्चना की है। कवि का पूर्ण विश्वास है कि विश्व में उसके समान दीन-हीन प्राणी अन्य नहीं है तथा दीनहितकारी एवं विराट कृष्ण के समान परमात्मा का दूसरा कोई रूप या अवतार नहीं है। इसलिए कवि शक्तिशाली एवं विराट कृष्ण के समक्ष अपनी दीनता का प्रतिपादन करते हुए तारने की प्रार्थना करते हुए कहता है।

भावार्थः हे माधव! मैनें तुम्हारी बहुत मिन्नत अर्थात् विनती की है। अर्थात् आपसे मेरी बहुत बड़ी प्रार्थना है कि आप मुझे अपने चरणों से प थक न करना। क्योंकि मैनें अपने को तुम्हें दे दिया है अर्थात् तुलसी-दल तथा तिल-चामरी से पूजा अर्चना संपन्न करके अपना शरीर भी आपकों समर्पित कर दिया है मुझे अपनी दया से वंचित न करना और अपनी दया भावना से मुझे विलग मत करना। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि आप मेरे गुण-दोषों की गणना करेंगे या उन पर चिंतन-मनन, सोचविचार कर देखेगें तो मुझमें दोष अर्थात् बुराइयों का भंडार ही मिलेगा और मुझमें दोष अर्थात् बुराइयों का भंडार ही मिलेगा और मुझमें गुण का लेशमात्र आभास भी आपको नहीं मिलेगा। कोटानुकोटि बुराइयों में आपको गुण का चिह्न या नामोनिशान कही दिखलाई नहीं पड़ेगा। तुम जगन्नाथ हो। सम्पूर्ण विश्व के स्वामी कहलाते हो। इस विश्व से बाहर शून्य के अलावा और कुछ द ष्टिगोचर नहीं होता है अर्थात् यही जगत ही वास्तविक और सत्य है शेष सब कल्पना एवं असत्य है। आपसे प्रार्थना है कि आप जगतपति अर्थात् जगत की रक्षा एवं पालन-पोषण का भार आप ही संभालते है। इसलिए मेरी रक्षा एवं पालन का भार आप पर ही है मुझे आपके चरणों के अलावा और कोई आश्रय नहीं है। अपने चरणों से अलग न करना। मैं अधम पापी हूँ। मेरा अस्तित्व तुच्छ क्षार के समान है जो इस जगत से बाहर नहीं। अपने शुभाशुभ-कर्माकर्मानुसार पुनर्जन्म अर्थात् दूसरे जन्म में मानव का शरीर मिले अथवा मैं पशु-पक्षी होकर जन्म धारण करूं, या मुझे कीट-पतंगों की योनि में जन्मना पड़े। अभिप्राय यह है कि अपने कर्मो के परिणाम स्वरूप मुझे इस संसार में पुनः पुनः जन्म ग्रहण करना पड़े तो भी हे माधव! मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि आप मुझे ऐसा

वरदान दीजिए जिससे मेरी मति सदैव आपके चरणों में विलीन रहे तथा आपके वार्तालाप का आनंद प्राप्त करता रहूं। अर्थात् आपके मधुर बचनों का श्रवणकर श्रवण अपने को आनंदित करते रहें। अपने कर्मो के फल के विषय में सोच-विचार या चिंतन करते ही विद्यापति भयातुर एवं कातर होकर कहते हैं कि आपके कर्मफलों से अत्यधिक भयभीत हूँ। क पया मुझे इस दुःखदायी संसार सागर से पार उतार दीजिए। संसार सागर को पार करने का आपके अलावा मेरा अन्य साधन एवं आश्रम नहीं है। मात्र आपके चरण-कमलों के सहारे हे दीनबंधु। मुझे रंचमात्र आश्रम प्रदान कर, अपना क पा पात्र बनाकर, मुझे इस भव सागर से पार कर दीजिए।

काव्य सौष्ठवः—

1. प्रार्थना और नाचारी के अंतर्गत क ष्ण-कीर्तन किया गया है।
2. कवि ने अपनी दीनता तथा क ष्ण की शक्तिमयता एवं विराटता वर्णित की है।
3. कोमल कांत पदावली चयनित है।
4. लोकभाषा मैथिली भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है।
5. भाषा में प्रसाद गुण विद्यमान है।
6. शांत रस एवं भक्ति रस विवेचित है।
7. दास्य भक्ति प्रतिपादित है।
8. अनुप्रास की छटा।
9. 'पुनु पुनु' - पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार।
10. 'भवसिंधु' तथा 'पद-पल्लव' - रूपक अलंकार।

।।२५।।

तातल सैकत बारि-बिन्दु सम
सुत-मित-रमनि-समाज।
तोहे बिसरि मन ताहे समरपिनु
अब मझु हो कोन काज।।
माधव, हम परिनाम निरासा
तुहुँ जगतारन दीन दयामय
अतय तोहर बिसबास।
आध जनम हम नींद गमायनु
जरा सिसु कत दिल गेला।
निधुबन रमनिरभस रंग मातनु
तोहे भजब कोन बेला।।
कत चतुरानन भरि भरि जाओत
न तुअ आदि अवसाना।
तोहे जनम पुन तोहे समाओत
सागर लहरि समाना।।
भनइ विद्यापति सेष समन मय
तुअ बिनु गति नहिं आरा।
आदि अनादिक नाथ कहाओसि उब
तारन भार तोहारा।।

शब्दार्थः तातल-उष्ण, गर्म। सैकत-रेत, बालू। बारि-बिन्दु-जल की बूंद। सुत-बेटा। मित-मित्र। रमनि-स्त्री। तोहे - तुमको। विसारि - भुलाकर। ताहे इनको समरपिनु -समर्पित कर दिया। मझु -मेरा। काज-कार्य। तुहुँ-तुम। उतम-अतएवं, इतना। तोहार-तुम्हारा। गमायनु-गंवाई है, व्यतीत की है। जरा - व द्धावस्था। शिसू-शैशव। कत-कहां। गेला-गया। निधुबन-यौवन। रमनि-रमस-रमण-केलि-क्रीड़ा। मातनु-मस्त। चतुरानन-ब्रह्मा। जाओत-जाते है। तुअ-तुम्हारा। अवसाना-अवसान, अंत। तोहे-तुम। समाओत-समा जाते है, लीन हो जाते है। सेष-शेष नाग। शयन -शायी, सोने वाले। आरा-अन्य। कहाओसि-कहलाते हो। तारन-तारने का। तोहारा-आपका।

प्रसंगः सांसारिक क्षणभंगुरता एवं परमात्मा की विशालता एवं शक्तिमयता की अभिव्यक्ति करते हुए कवि कहता है।

भावार्थः जल-बिंदु अतिशीघ्र नाशवान है। उसके अस्तित्व में रंचमाल भी स्थायित्व नहीं। उष्ण बालू के ढेर पर पड़ते ही विलीन हो जाती हैं। हे माधव। जिस प्रकार गर्म रेत पर पड़ते ही जल-बिन्दु नष्ट हो जाती है अर्थात् नष्ट्र होकर अपना अस्तित्व विलीन कर देती है परिवार में वही स्थिति पुत्र, मित्र एवं स्त्री की हैं संसार की क्षणभंगुरता का अनुसरण करते हुए ये तीनों समाप्त प्रायः है। नियति के तनिक से संकेत मात्र से ही जल-बिंदु की भांति वे भी क्षणभर में विलीन हो जाने वाली वस्तुओं का रूप धारण कर लेते है तथा संसार से अद श्य हो जाते है। मैं कैसा अधम हूं कि आपको विस्मरण करकें मैनें इस क्षणभंगुर संसार के निर्यात के खिलौनो को अपना मन समर्पित कर दिया है। ऐसी स्थिति में अब मुझसे क्या कार्य हो सकता है। समस्त जीवन मैं आपको भूलकर माया मोह के घोर जाल में उलझा रहा हूं। इसलिए आपनी क पा द ष्टि-प्राप्ति की आशा, दुराशा मात्र रह गई है। हे माधव। हम परिणाम के प्रति निराश हो गए है। हे दीनबंधु। दुखियों पर दया करने वाले विश्व के समस्त प्राणियों को जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा दिलाकर मोक्ष दिलाने वाले हो, अतएव मुझे आप पर पूर्ण विश्वास है कि आप मेरे कारनामों अर्थात् कालीकरनी पर ध्यान न देकर मुझ जैसे पापी पर दया करेंगे।

हे माधव। मैनें अपना आधा जन्म अर्थात् ब्रहमचर्य एवं युवावस्था मस्ती में व्यतीत कर दिया। शेष आयु का अधिकांश व दधावस्था व्यतीत हो गई है। जीवन का स्वर्णिक काल यौवनावस्था को रमणियों के संग रासरंग, केलिक्रीडा तथा विलासिता में बिता दिया ऐसी व्यस्तता में आपकी पूजा अर्चना का अवसर गवां दिया। मुझे आपकी पूजा, अराधना एवं भक्ति का समय नहीं मिला। किस समय में आपका भजन - कीर्तन करता? जीवन का आधा समय सो-सोकर नींद में खो दिया व द्धावस्था भी सिसकते-सिसकते अर्थात न रोते-रोते बीतने वाली है। अथवा आधा जीवन सोने में तथा आधा रोने में शैशव से व द्धावस्था तक बिता दिया। अब बुढापा आ गया। इसके अतिरिक्त आपकी लीला भी ऐसी अगम है। न तुम्हारा आदि किसी को मालूम है न अंत का किसी को ज्ञान है। तुम्हारा आदि-अंत ही नहीं है। आप अनंत हैं उस अंनत के रहस्य को खोजते-खोजते न जाने कितने विद्वान, ज्ञानी, ऋषि, मुनि तथा ब्रह्मा अपनी जीवन लीला समाप्त कर चुके अर्थात् आपका ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न में मर-मर गए। जब महान खोजियों की यह स्थिति है तो मैं किस खेत की मूली हूं अर्थात् मेरी गति कहां है।

हे माधव! दार्शनिकों की यही धारणा और विश्वास है कि आपकी माया अपरंपार है। आपसे ही माया की उत्पत्ति होती है तथा वह माया आप में ही विलीन हो जाती है। समस्त विश्व के आप ही जन्मदाता है। जीवन लीला समाप्त कर विश्व के समस्त प्राणी, जीवन, जंतु, चर, अचर आपमें ही विलीन हो जाते है। जिस प्रकार वायु के वेग से सागर-जल में उत्ताल तंरगें उत्पन्न होती है, पुनः सागर-जल में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार आपकी माया है आपसे ही उत्पन्न होती है और स्वयमेव आप में ही लीन हो जाती है। जिस प्रकार जल-तरंग एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं केवल आदोंलन होने पर प थक दिखलाई पड़ती है, उसी प्रकार हे माधव! आपकी माया का आपसे प थक अस्तित्व नहीं है।

कवि विद्यापति कहते हैं कि हे शेषशायी माधव! तुम्हारीं क पा के अतिरिक्त मुझे किसी और दूसरे

का सहारा नही हैं तुम्हारें बिना मेरी गति संभव नहीं है। केवल और दूसरे का सहारा नहीं है। तुमहारें बिना मेरी गति संभव नहीं है। केवल आप ही तक मेरी पहुंच हैं। हे माधव। आप अनादि-अनंत हो सभी यही कहते है। अतः सर्वशक्तिमान होने के कारण मेरे भव-सागर से तारने का समस्त भार आप पर ही है। सर्वशकित मान होने के कारण मुझ जैसे पापी-अधम को तारने की सामर्थ्य एवं क्षमता आप में ही है। आप ही मुझे मोक्ष प्रदान कर सकते है।

काव्य सौष्ठवः—

1. असार संसार की क्षणभंगुरता, नश्वरता एवं ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया गया है।
2. कवि की ईश्वर में अपार श्रद्धा एवं अटूट विश्वास है।
3. समस्त सांसांरिक अन्य संबंध अस्तित्व हीन हैं।
4. आराध्य -आराध्या की वैधानिक उपासना।
5. हार्दिक ग्लानि एवं वेदना की अभिव्यक्ति।
6. पश्चाताप जीवन व्यर्थ गंवाने का।
7. करूण रस का परिपाक।
8. भक्ति भावना।
9. कोमल कांत पदावली।
10. भाषा का प्रसाद गुण।
11. तातल सेंकत बारि-बिन्दु सम, सुत-मित-रमनि समाज।
    तोहे बिसारि मन ताहि समरपिनु, अब मुझ होब कोन काज।। - अनुप्रासलंकार
12. तुअ बिनु गति नहिं आरा। - बिनोक्ति अलंकार
13. तातल सैकत बारि-बिन्दु सम, सुत-मित-रमनि समाज। - उपमालंकार
14. तुहुँ जगजारन दीन दयामय काव्यलिंग अलंकार।

भाव साम्यः—

1. आध .... गेला। ''रात गंवायो सोय कर, दिवस गंवासो खाय।
   हीरा जनम अमोल था, कोड़ी बदले जाय।। -कबीर
2. तोहे .... समाना
   "जल में कुंभ, कुंभ मे जल है, बाहर भीतर पानी।
   फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तथ्य कथोपज्ञानी।।" —कबीर
3. ''ऊपर हिम था नीचे जल था
   एक तरल था एक सघन।
   एक तत्व की ही प्रधानता
   किसे कहें जड़ या चेतन।। - जयशंकर प्रसाद

कबीर

(खण्ड-क)

आलोचना

1. हिन्दी संत काव्य परम्परा
2. कबीर : व्यक्तित्व और कृतित्व
3. कबीर : सामाजिक विचारधारा
4. कबीर : धार्मिक चिंतन
5. कबीर के राम
6. कबीर की भक्ति भावना
7. कबीर की दार्शनिकता
8. कबीर की रहस्य साधना
9. कबीर की प्रासंगिकता
10. कबीर की भाषा

(खण्ड-ख)

व्याख्या

क. साखियाँ

ख. पद

कबीर

1. हिन्दी संत काव्य परम्परा

नामकरण

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में भक्ति की दो धाराए-सगुण तथा निर्गुण प्रवाहित हुई। सगुण धारा के अन्तर्गत राम-कृष्ण भक्ति की शाखाएं आती है। निर्गुण के अंतर्गत सन्त तथा सूफियों का काव्य आता है। आचार्य राम-चन्द्र शुक्ल ने नामदेव एवं कबीर द्वारा प्रवर्तित भक्ति-धारा को 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा' की संज्ञा से अभिहित किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे 'निर्गुण भक्ति साहित्य' तथा डा० रामकुमार वर्मा ने इसे 'सन्त-काव्य-परम्परा' का नाम दिया। सन्तो को ज्ञानाश्रयी कहना भी भ्रममूलक है। वे वास्तव में भक्त थे। उनकी द ष्टि में भक्ति रहित सभी साधनाएँ निष्फल है। सन्तों ने तथाकथित ज्ञानियों का उपहास किया है इन सन्तों ने ज्ञान की उस सर्वोच्च दशा का समर्थन किया है, जहाँ भक्ति से उसका कोई विरोध न हो। वस्तुतः सन्त शब्द अपनी व्यापकता और अर्थ-गम्भीर्य के कारण हिन्दी साहित्य के निर्गुण और सगुण दोनो काव्यधाराओं को समेटे हुए है। अतः इस धारा को सन्त काव्य की संज्ञा देना अपेक्षाकृत संगत प्रतीत होता है।

सन्त शब्द की परिभाषा

1. पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्र 'कशम्यां वभयुस्तितुचसः' के अनुसार 'शम' शब्द 'त' प्रत्यय से संयुक्त होकर 'शान्त' बन जाता है । इसी का अपभ्रंश संत शब्द है । संत ब्रह्मानन्दसम्पन्न व्यक्ति होता है ।

2. 'सत्' शब्द का प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'संतः' रुप बनता है । उसी का अपभ्रंश संत शब्द सत्पुरुषों के लिए हिन्दी में प्रयुक्त होता है ।

3. वैदिक निघन्टु में 'सन' शब्द जल का भी पर्याय माना गया है । वहां टीकाकार ने 'सन्' का अर्थ है , 'सर्वदा विद्यमान प्रलयेअपि नाशाभावात '। प्रलय काल में भी जल का अभाव नहीं होता । ध्यान से देखने से यह स्पष्ट होता है कि सन्त लोग भी जल की ही भांति होते है , जिनका नाश नहीं होता ।

4. 'पणु दाने' धातु से 'क्तिचक्तो च संज्ञायाम 'पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'क्तिच' प्रत्यय होकर 'सन्ति' शब्द बना है । जिसका अर्थ 'सनोति प्रर्थितं फलं प्रयच्छति 'आशय फलदाता से है । इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में बहुत से स्थलों पर हुआ है , जैसे-

गार्हपत्येन सन्त्व ऋतुना यज्ञनरिसि ।

5. गीता में भगवान श्रीक ष्ण ने संतों की चर्चा करते हुए कहा है कि जो सुख एवं दुःख दोनो को ही समान भाव से देखता है, जिसे अपने मान-अपमान स्तुति एवं निन्दा की चिन्ता नहीं रहती, जो धैर्य से काम लेता है वही संत है :-

समदुःख सुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मका चनः।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्य निन्दात्म संस्तुतिः।।

6. आचार्य विनयमोहन शर्मा के अनुसार व्यवाहारिक द ष्टि से इसका अर्थ है जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन - भाव को साध्य मान कर लोकमगंल की कामना करता है। संकुचित अर्थ में निर्गुणोपासकों को ही संत कह दिया जाता है जबकि सगुणोपासकों को भक्त हिन्दी साहित्य में सन्त काव्य से कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास आदि के काव्य का ग्रहण होता है।

7. कबीरदास ने कहा है कि जिसका कोई शत्रु नही है, जो निष्काम है, ईश्वर से प्रेम करता है और विषयों से असम्प क्त रहता है, वही संत है।

इस प्रकार समस्त प्राचीन साहित्य में 'संत' शब्द का जो प्रयोग मिलता है उसमें संत तथा भक्त में कोई विशेष अन्तर नही किया गया है ।

संत काव्य : परम्परा और विकास

हिन्दी साहित्य में सन्त काव्य का महत्वपूर्ण स्थान है तथा इस प्रकार की रचना का सूत्रपात उस समय हुआ जब हिन्दी स्वयं बाल्यावस्था में थी। संत-साहित्य के उत्स का पता उसी समय से लगता है जब हिन्दी अपभ्रंश के गर्भ में अल्प रूप सें वर्तमान थी। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने संत साहित्य सूत्रपात के सम्बन्ध में लिखा है "संत परम्परा का प्रथम युग वस्तुतः संत जयदेवसे आरम्भ होता है और उनके पीछे दो वर्षो तक के संत अधिकतर पथ-प्रदर्शकों के ही रूप में आते हुए दिख पडते हैं। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर साहब का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने सर्वप्रथम संतमत के निश्चित सिद्धान्तों का प्रचार विस्तार के साथ एवं स्पष्ट शब्दों में आरम्भ किया।

जहाँ परशुराम चतुर्वेदी नें जयदेव से ही संत परम्परा का प्रारंभ माना है वहां दूसरी ओर आचार्य राम चन्द्र शुक्ल जी ने नामदेव से। शुक्ल जी ने लिखा है, 'महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव ने हिदूं-मुसलमान दोनों के लिए सामान्य भक्तिमार्ग का आभास दिया। उसके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुणपंथ' के नाम से चलाया।" उक्त दोनों विचारों के अनुशीलन से यह विचार निकलता है कि संत साहित्य का श्रीगणेश गीतगोविन्द के रचियता जयदेव से हुआ है । किन्तु प्रारम्भ में उनकी रेखा क्षीण, धूमिल और अव्यवस्थित थी । वस्तुतः संतधारा की यह क्षीण और अव्यवस्थित रेखा संत नामदेव द्वारा व्यवस्थित, प्रांजल और प्रशस्त बनायी गयी । अतः व्यवस्था प्रांजलता और प्रशस्तता की द ष्टि से नामदेव को प्रधान मानकर उन्हीं से संतधारा का आविर्भाव मानना उचित प्रतीत होता है ।

बहुत से विद्वानों ने संतमत का प्रर्वतक कबीर को माना है । किन्तु यह मत तर्कयुक्त नहीं है। जयदेव एवं नामदेव की रचनाओं में संत संप्रदाय के प्रायः सभी लक्षण पाये जाते हैं। कबीर, सेन, पीपा, धन्ना, रैदास आदि संतो का साहित्य इस परम्परा में अपना अप्रतिम स्थान रखता है। इन संतो ने स्वामी रामानन्द के उपदेशों से प्रभावित होकर संत परम्परा का विकास किया। कालान्तर में नानकदेव ने 'नानकपंथ', दादूदयाल ने 'दादूपंथ', हरिदास ने 'निरंजनी सम्प्रदाय तथा मलूकदास ने 'मलूकपंथ' की स्थापना की। कबीरदास के नाम पर भी 'कबीरपंथ' की स्थापना हुई।

यह परम्परा आधुनिक काल तक बराबर चलती आ रही है, किन्तु मध्य युग की समाप्ति के साथ ही संत काव्य की गतिशीलता जाती रही। किन्तु यह धारा अवरूद्ध और निष्प्राण हो

गई । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "कबीरदास दादू इत्यादि के परवर्ती संतो की घर जोड़ने की माया है अपना नवीन सम्प्रदाय चलाने का उत्साह उन्हें पुरानी रूढियों से जकड़कर उनकी प्रगतिशील क्रान्तिकारी वाणी की परम्परा सें एक ऐसी सडांध पैदा कर देती है कि उसमें संतो की मौलिकता, विशेषता, सहजपन इत्यादि के दर्शन भी नही होते' इस प्रकार संत साहित्य को निम्न प्रकार से तीन कालों में विभाजित कर सकते हैः-

(1.) प्रारम्भिक युग (सं० १२०० से 1550 तक)

(2.) मघ्य युग (सं० 1850 से 189 तक)

(अ) पूर्वार्द्ध (सं० 1550 से 1700 तक)

(ब) उत्तरार्द्ध(सं० 1700 से 1850 तक)

(आधुनिक युग सं० 1850 से अब तक)

संत काव्यः विविध सम्प्रदायों का प्रभाव

संत मत के सिद्धान्तों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और आचार्यो की छाप पडी हुई है। इन भिन्न- भिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का संत मत में बड़ा ही सुन्दर तथा सफल समन्वय हुआ है। इसका विशेष कारण यही है कि संत मत का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ है। जब समन्वय की बड़ी आवश्यकता थी। संत मत पर जिन-जिन सम्प्रदायों ने प्रभाव डाला, वे निम्नलिखित हैं :-

(1) सिद्धों और जैनों का प्रभाव

सिद्ध साहित्य की अनेक प्रव तियाँ संत साहित्य में विकसित हुई, जैसे-जाति-भेद,रूढियों, अन्धविश्वासों, तथा बाह्याडम्बरों का खण्डन, निजी अनुभूतियों की अभिव्यंजना, मुक्तक पद-शैली, उलटवासियों एवं प्रतीकों का प्रयोग सन्त-काव्य पर जैन मुक्तक काव्य का प्रभाव भी परिलक्षित है ।

(2) नाथपंथ का प्रभाव

नाथ सम्प्रदाय का संत काव्य पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। नाथ-पंथियों ने बाह्य पूजा,जाति-पाँति तीर्थाटन, शास्त्राभ्यास आदि को निस्सार बताकर उनका खण्डन किया है। यही परम्परा आगे चलकर सतों ने भी जारी रखी है। पिण्ड-ब्रह्याड़, वायु-साधना, मुद्रायें, षट्चक, बह्म-रध्रं, कुण्डलिनी जागरण, सुरति-निरति आदि की अभिव्यक्ति संत साहित्य में हुई है। जैसे :-

अरध उरध की गंगा-जमुना मूल कवच कौ घाट।

षटचक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट।।

(3) वैष्णवों का प्रभाव

वैष्णव भावना की सबसे महत्वपूर्ण बात ईश्वर की कल्पना और उसकी भक्ति है । हिन्दी में सन्त-कवियों पर वैष्णव भक्ति आन्दोलन का प्रभाव प्रायः तीन रूपों में देखा जा सकता है -

(क) यदि वैष्णव भक्ति केन्द्रों के इन संतो का सम्पर्क स्थापित न होता तो बहुत सम्भव है कि वे हिन्दू मत, अध्यात्मिकता और भक्ति की ओर अग्रसर ही नही होते। कबीर का कथन है-

भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हाँणि।

दीपक द ष्टि पतंग ज्यूँ, पड़ता पूरी जाँणि।।

(ख) दूसरी बात यह है कि इन संतो ने राम, क ष्ण, गोविन्द अवतारी रूप को अधिक महत्व नहीं दिया, फिर भी इन्होनें अपने आराध्य को प्रायः इन्हीं नामों से स्मरण किया है। उन्होनें 'राम' का अर्थ बदल दिया है, वे 'दशरथ सुत राम' नहीं है, पर यह उन्हें मूलतः वैष्णव गुरू (रामानंद) से ही प्राप्त हुआ था, जिसे वे क तज्ञतापूर्वक स्वीकार करते है-

राम नाम के पटंतरै, देवे को कुछ नाँहि।

क्या ले गुर संतोषिए, हौस रही मन माँहि।।

(ग) वैष्णवों के आत्म-समर्पण की भावना का भी प्रभाव इन पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है-

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।

गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउँ।।

इस प्रकार हिन्दी के प्रारम्भिक संतों को भक्ति की प्रथम दीक्षा देकर उन्हें मत की ओर जाने वाले मार्ग पर अग्रसर करने का श्रेय बहुत-कुछ अंशों में तत्कालीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के उन्नायकों को दिया जा सकता है।

(4) मुस्लिम प्रभाव

संत मत पर मुसलमानी प्रभाव तीन रूपों में द ष्टिगत है-

(क) राजनीतिक परिस्थितियों के कारण- संत-मत के आविर्भाव के समय मुसलमानों का शासन उत्तर भारत में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया था, जिसके कारण हिन्दुओं के धर्म तथा संस्क ति पर आघात होने की आशंका थी। उस समय एक ऐसे सामान्य धर्म की स्थापना की आवश्यकता थी, जिसमें न तो हिन्दू धर्म का ही अस्तित्व मिटे और न उनका मुसलमानी धर्म से ही कोई विरोध हो। इसके लिए संतों को कुछ मुसलमानी प्रभाव को भी ग्रहण करना पड़ा।

(ख) मूर्ति-पूजा की उपेक्षा के रूप में - मूर्ति-पूजा की विधियों और बाह्यडम्बरों का तिरस्कार सिद्धों और हठयोगियों दोनों ने किया। इनके प्रभाव के कारण संत-मत में बाह्य-विध ानों के प्रति घोर उपेक्षा का प्रचार था। मुसलमानों के कारण संतों की इस प्रव ति को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार संत-मत पर मुसलमानी प्रभाव मूर्ति-पूजा के खण्डन के रूप में भी मिलता है।

(ग) सूफी-मत के प्रेमवाद के कारण- सूफी फकीर संतों से पहले भारतवर्ष में आकर बस गये थे। अतः इन फकीरों का हिन्दू जनता पर प्रभाव पड़ना, स्वाभविक ही था। संतो ने भी सूफियों से प्रेमवाद ग्रहण किया। यदि संत सूफियों की इस प्रेम की पीर को न अपनाते तो उनका मत भी नाथमत की तरह शुष्क और नीरस रह जाता। बाबू गुलाबराय ने लिखा है,"ब्रह्मवाद पर सूफी प्रेमवाद की उन्होनें बड़ी सुन्दर कलम लगाई है। किन्तु हमारा विश्वास है कि संत-काव्य में जो प्रेम-तत्व पाया जाता है वह केवल सूफी प्रेम-भावना का ही प्रभाव नहीं था, बल्कि उसके मूल में महाराष्ट्र के विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमाशक्ति भावना का प्रभाव ही अधिक था।"

इन प्रभावों के होते हुए भी संत कवियों की विचार-द ढ़ता और मौलिकता में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। उन्होने " सार-सार को गंहि रहा थोथा दिया उड़ाय" की प्रव त्ति का

सर्वत्र निदर्शन प्रस्तुत किया है। संत मत किसी विशेष की शास्त्रीय व्याख्या नहीं, अपितु उनकी सहज अनुभूतियों का सुन्दर समुच्चय है।

संत - काव्यः प्रव त्तियाँ

संत-काव्य देश की राजनीतिक, धार्मिक, सांस्क तिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप विरचित भावनात्मक एंव अनुभूतिप्रवण जन काव्य है। आलोच्यकालीन साहित्य आध्यात्मिक अनुभूतियों का लेखा-जोखा मात्र नहीं है। उसमें तत्कालीन जन-जीवन का प्रतिबिम्ब भी विद्यमान है। धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक-सांस्क तिक परम्पराओं का अन्धानुसरण न कर इन्होनें वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोध, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा आदि की निन्दा, सदाचारादि गुणों की प्रतिष्ठा, शास्त्रीय ज्ञान की अनिवार्यता के निषेध, आत्मानुभूति की प्रामाणिकता आदि पर बल दिया । इस प्रकार संत काव्य-साधना में तत्पर एवं सर्वजन की मंगल कामना करने वाला भक्तों के सरल हृदय की सहज अनुभूति का चित्रण मात्र है। संक्षेप में संत-साहित्य की प्रव तियां निम्नलिखित हैं :-

(1) निर्गुण साधना

संत-काव्य-धारा की मूल भावना निर्गुण की उपासना है। उनका निर्गुण बौद्ध साधकों के शून्य से प थक है। वह संसार के प्रत्येक कण में व्याप्त है, वही प्रत्येक सांस में है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वह केवल अनुभव-गम्य ही है। कबीर ने स्पष्ट लिखा है-

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान।।

यद्यपि संतों ने अपने इस निर्गुण निराकार ब्रह्म को पौराणिक नाम ही प्रदान किया है, जैसे राम, क ष्ण, केशव, गोपाल, गोविन्द आदि, परन्तु इन पौराणिक महापुरूषों से उनका साम्य केवल नाम-साम्य के रूप में ही है, अन्य बातों में वह इनसे नितान्त भिन्न है। कबीर ने इसी भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है :-

राम नाम तिहुँ लोक बरताना।
राम नाम का मरम है आना।।

(2) गुरू-महत्ता

सभी संतों ने ब्रह्म-साधना के लिए सद्गुरू का पथ-प्रदर्शन अनिवार्य माना है। सदगुरु ही उन्हें परम तत्व के रहस्य से परिचित करा, उनके हृदय में उसके प्रति अनन्य प्रेम की भावना उत्पन्न करता है । नामदेव ने गुरू महिमा को व्यक्त करते हुये लिखा है :-

सुफल जन्म मो को गुरू कीना । दुख बीसार सुख अंतर दीना ।
ज्ञान जान मोको गुरू दीना । राम नाम बिन जीवन हीना ।।

(3) बाह्याडंबर विरोध

प्रायः सभी संतो ने रूढियों, मिथ्याडम्बरों तथा अन्धविश्वासों की कटू आलोचना की है,इसका कारण इन लोगों का सिद्धों और नाथपंथियों से प्रभावित होना है। कबीर ने तिलक, छापा, माला, रोजा, नमाज, योग की क्रिया आदि को व्यर्थ ठहराया और इनके मानने वालो को फटकारा। उनकी भर्त्सना में चिढ़ या खीझ नहीं, परोक्ष रूप सें उपदेश का भाव है।

जैसे :-

दुनिया कैसी बावरी, पाथर पूजन जाय ।

घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय।।

(4) अवतारवाद-खण्डन

सभी संतो राम तथा कृष्ण अथवा अन्य किसी भी रूप के अवतार लेने को मिथ्या और भ्रामक बताया है। बहुदेववाद का भी खण्डन किया है। सभी संतोने ब्राह्मा विष्णु तथा महेश की निन्दा की है कि वे भी माया -ग्रस्त है। इस प्रकार की विचारधारा इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद के भी निकट है तथा शंकर अद्वैत के अनुरूप भी है।हिन्दू स्थापना के लिए उन्होनें एकेश्वरवाद का संदेश सुनाया ।

यह सिर नवे न राम कूं , नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नाहि परासिये, यह तन जायो छूट।।

(5) जाति-पाँति का विरोध

संत कवि जाति-पाँति के नियमों के कट्टर विरोधी थे। इनकी द ष्टि में सब मनुष्य बराबर के तथा सबको भगवद्-भक्ति का समान अधिकार था।

जाति-पाँति पूछै नांहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।

संत सामाजिक क्रान्तिकारी थे। उन्होंने सामाजिक अन्याय का विरोध किया था। छुआछूत, हिन्दू-मुसलमान में विद्वेष और भेदभाव की उन्होंने खुलकर निन्दा की थी और मानव-मात्र को समान बनाने की आवाज उठाई थी।

(6) लोक-कल्याण की भावना

संतो की साधना में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। नाथ सम्प्रदाय की साधना व्यक्तिगत और पद्वति शास्त्रीय थी, जबकि संतो की साधना सामाजिक और पद्वति स्वतन्त्र हैं इन्होंने जन-सामान्य में आत्म-गौरव की दीप्ति भर दी थी, जिसके कारण उन्होंने प्रत्येक प्रकार के अन्याय-अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति प्राप्त कर ली थी।

(7) नारी भावना

संत कवियों ने सती एवं पतिव्रता नारियों की प्रशंसा की है। नारी के सत् पक्ष का निरुपण करते हुए कबीर नेक लिखा है-

पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर, वारौं कोटि सरूप।।

वे नारी की कभी निन्दा नहीं कर सकते थे। उन्होंने नारी के केवल कामिनी रूप की निन्दा की है,उसे माया, अतः पथभ्रष्ट करने वाली माना है।

(8) नाम महिमा

संत कवियों ने ईश्वर -प्राप्ति के लिए भजन तथा नाम स्मरण को परमावश्यक माना है। इसीलिए उन्होंने अजपा जाप को श्रेष्ठ माना है यथा-

सहजो सुमिरन कीजिए, हिरदै माहिं छिपाइ।
होठ-होठ सूँ न हिलै, सकै नही कोई पाइ ।।

संत कवि बाह्य-विधानों से परिपूर्ण किसी भी साधना पद्धति मे आस्था नहीं रखते। मानसिक चिन्तन अर्थात् अपने आराध्य का, मन को एकाग्र कर, स्मरण करना ही उनके यहाँ अभिप्रेत रहा है।

(9) रहस्यवादिता

संत कवियों की रहस्य भावना सूफी कवियों के रहस्यवाद से भिन्न है, क्योंकि संतो ने आत्मा के सम्बन्धों की समानता पति-पत्नी के सम्बन्धों से करते हुए स्पष्ट रूप में यही माना है कि आत्मा- परमात्मा से मिलने के लिए आतुर हो उठती है। सूफी कवियों ने आत्मा को पति माना है और परब्रह्म को प्रेमिका मानते हुए प्रियतमा के विरह में व्याकुल प्रेमी की मनोदशा का चित्रण किया है। इस प्रकार संतो की रहस्यात्मक पद्धति भारतीय परम्परा के अनुकूल है। इस रहस्यवाद का मूल कारण अद्धैतवादी चिन्तन है कबीर ने लिखा हैः-

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी,
फूटा कुम्भ जलहि समाना, यह तत् कहो गयानी।।

संतो के रहस्यवाद पर योग का भी स्पष्ट प्रभाव है जहाँ कि इंगला पिंगला और सहसदल कमल आदि प्रतीकों का प्रयोग है। इनमें रहस्यवाद वहाँ भी मिलता है, जहाँ के उलट वासियों के रूप में गुह्य साधना का दर्शन करते हैं।

(10) युग बोध

डा॰ त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने लिखा है,'संतो का व्यक्तित्व सच्चे अर्थों में संवेदनशील था। उनका मानस स्वच्छ और उदार था। इसीलिए उनका साहित्य जन -भावनओं की सहज प्रव तियों, परिस्थितियों, विकृतियों और विडम्बनाओं का एक विशाल चित्र है। दूसरे शब्दों में तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र अंकित किया है। संत काव्य आत्मविश्वास, आशावाद और आस्था की भावना संस्थापित करने में सहायक साहित्य है। यह जीवन शक्ति का अजस्त्रोत है। इस काव्य का प्रमुख प्रयोजन है संत प्त, उपेक्षित, उत्पीड़ित मानव को परिज्ञान प्रदान करना । इसमें जीवन का स्वरूप, विश्लेषण और व्याख्या उपलब्ध होती है। संक्षेप में, निर्गुण काव्य आचरण की पवित्रता का संदेश लेकर जनता के सम्मुख आया। उसमें सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक समस्याओं का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। वस्तुतः संतों ने अपने समय के मानव समाज को दोषमुक्त कर परिष्कृत बनाने की चेष्टा की है।

(11) भाषा-शैली

अधिकांश संतों ने अपने समय की भाषा 'संतभाषा' अर्थात् प्रदेश विशेष की बोली के साथ ब्रज, अवधी, राजस्थानी, पंजाबी, हरियाणवी आदि शब्दावली को प्रयुक्त किया है, जिसे अधि ाकांश विद्वानों ने 'सधुक्कडी' भाषा कहा है। वस्तुतः तत्कालीन परिवेश के अनुरूप संत वाणी की रचना मुख्यतः जनता के अशिक्षित, उपेक्षित और पिछड़े हुए वर्गों के लिए हुई थी। अतः संतो की भाषा आवश्यकतानुसार सरल, कृत्रिमताविहीन और सहज है।

संत कवि अंलकारवादी भी नही थे, किन्तु उनकी कविता में अनेकानेक शब्दगत और अर्थगत अलंकार सहज रूप से आ गये हैं। उपमा, रूपक, द ष्टांत, तद्गुण, स्वभावोक्ति, सहोक्ति, अत्युक्ति, विशेषोक्ति, रूपकातिश्योक्ति, अन्योक्ति, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, विरोध ाभास, असंगति, श्लेष, यमक, अनुप्रास, काव्यलिंग, विभावना आदि अलंकार उनके काव्य को चमत्कार प्रदान करते है । संतो के रूपक, जीवन की सामान्य प्रव तियों एवं घटनाओं पर आधारित हैं। कबीर आदि के रूपक और प्रतीक बड़े सशक्त हैं और जीवन के व्यापक क्षेत्र से लिये गये हैं ।

संतो के काव्य में छंदो का वैविध्य भी नहीं मिलता । छंद इनके लिये साधन है साध्य नहीं । अपने विचारों की अभिव्यक्ति इन्होने मुख्यतः साखी और 'सबद' के माध्यम से की

है - साखियों की रचना दोहा छंद में हुई और 'सबद' से तात्पर्य गेय पदों से है। सुन्दरदास सवैया की रचना करने में सिद्धहस्त थे। चौपाई, कवित्त, हसंपद आदि छन्दों का भी संत काव्य में प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं पर छंद-दोष भी मिल जायेगे।

संतो का साहित्य लोक-भावना का यथार्थ बिम्ब प्रस्तुत करता है। जीवन में आस्था और विश्वास का संदेश देता है वस्तुतः मध्ययुगीन सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं के भावनात्मक निरूपण में यह काव्य अप्रतिम है। यथार्थः संतो ने अपने समय के मानव-समाज को दोषमुक्त कर परिष्कृत बनाने की चेष्टा की है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में संत काव्यधारा का अविस्मरणीय योगदान है।

2. कबीर : व्यक्तित्व और कृतित्व

कबीर का जीवन परम् अनुप्ररेक है। उन पर चर्चा करना आवश्यक है। उनके व्यक्तित्त्व के भास्वर तथ्यों पर चर्चा करना आवश्यक है। उनके व्यक्तित्त्व और कृतित्व की विवेचना इस प्रकार है :-

क. रुपाकृति या शारीरिक गठन ,

ख. वेश-भूषा और रहन-सहन ,

ग. चरित्र एवं स्वभाव की प्रमुख विशेषताएं ,

घ. कबीर द्धारा रचित कृतियां ,

1. रुपाकृति या शारीरिक गठन

इस सम्बन्ध में कोई समुचित निर्देश तो नहीं मिलते, हाँ उनके जो चित्र उपलब्ध हुए है, उनकी भी प्रामाणिकता संदिग्ध ही है। उनके आधार पर उनकी रुपाकृति के विषय में श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा प्रदत्त निम्नांकित वर्णन अवलोकनीय है। कबीर-चौरा (काशी) के चित्र में :-

कबीर साहब एक मंझले कद के व्यक्ति जान पडते हैं। उनके मुखाक ति बहुत लम्बी नहीं है और इनके पायजामे आदि की बनावट से सूचित होता है कि ये कदाचित पछहिं के रहने वाले है, किन्तु प्रायः इस प्रकार के एक अन्य चित्र से जिसमें कबीर साहब अकेले ही दिखाए गए हैं और जो राम रहस्यदास के प्रसिद्ध ग्रन्थ ' पंचग्रन्थी ' के बडौदा वाले सटीक संस्करण में दिया गया है। प्रतीत होता है कि इनका शरीर बहुत लम्बा था। इनका चेहरा भी काफी लम्बा था और इनके पहनावे में धोती आदि को देखने से समझ पडता है कि ये किसी पूर्वी प्रांत के निवासी रहे होंगे।

इसी प्रकार ऐसे ही एक अन्य चित्र को देखकर जो मद्रास में छपी एक पुस्तक में दिया गया है इनके कद और आक ति की लम्बाई का अनुमान उक्त दूसरे चित्र के समान किया जा सकता है ,किन्तु इसमें प्रदर्शित कबीर के कानों में नाथ पंथी कुंडल तथा सामने रखी हुई पोथी को देखकर इनकी प्रामाणिकता में संदेह भी होने लगता है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने आगे कहा है :-

"ऐसे चित्रो में कबीर साहब को तुलसी की मालाएं पहनायी गयी है और इनके ललाट पर लम्बा तिलक लगाया गया है। जिनका इनके अनुसार कोई महत्व न था। इनके सिर के चतुर्दिक प्रदर्शित प्रकाश-मंडल तथा ऊपर के छत्र से सूचित होता है कि चित्रकार ने इन्हें महानता की एक विशेष भावना के साथ चित्रित किया है और कबीर चौरा वाले चित्र में दिखाए गए सुरत गोपाल व धर्मदास जैसे शिष्य एवं चंवरधारी कमाल के कारण यह भी बोध होता है कि इन चित्रों के बनाने वालों का मुख्य उद्देश्य इन्हें कोई निश्चित साम्प्रदायिक रूप देना ही रहा होगा। इनके कल्पना का अंश बहुत अधिक है।"

कबीर को करधे पर काम करते हुए प्रदर्शित करने वाले जो चित्र मिलते हैं, श्री चतुर्वेदी

के अनुसार उनसे भी हम निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते । उदाहरण के लिए ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित ऐसे चित्र में कबीर साहब के शरीर पर कोई कपड़ा नहीं है, केवल कमर में धोती और सिर पर एक मोटे कपड़े की टोपी है, सिर दाढ़ी एवं मूंछ के बाल छोटे छोटे पके और बराबर दीख पडते हैं और चित्र में इनकी आयु का अनुमान साठ वर्ष किया जा सकता है। इसी प्रकार कलकता म्यूजियम के चित्र से कबीर मंझौले कद के जान पडते हैं और इनके मुख की मुद्रा प्रायः एक ही प्रकार की है।

अर्जुनदेव के लाहौरवाले गुरूद्धारे में फ्रेस्कों के रूप में विद्यमान चित्र मे कबीर साहब छोटे कद के दिखाए गए है और इनका सिर भी लम्बे की जगह कुछ चौडा और चपटा सा है। शरीर पर कुछ साधारण पहनावा है और सिर पर एक समले के ढंग की टोपी या पगड़ी दी गई हैं दाढी व मूछें कुछ बड़ी-बड़ी है और अवस्था प्रायः 50 वर्ष की होगी। इस चित्र में भी कबीरसाहब के गले माला पड़ी हुई है और एक माला इनकी दहिनी कलाई में कदाचित् बंधी हुई है। स्पष्ट है कि उक्त तीनों चित्र इनके ग हस्थ रूप के परिचायक हैं।"

कबीर के कुछ चित्र सूफी वेशभूषा वाले मिले हैं, जिनमें वे सिर पर ऊँची नुकीली टोपी तथा शरीर पर ढीला ढाला ऐसा चोगा पहने दिखाए गए हैं जो विभिन्न रंगो के टुकडों को सीकर बनाया गया है। इन चित्रों में उनके माथे के तिलक तथा गले की तुलसी माला को स्थान नहीं दिया गया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार इन चित्रों मे से " उनको कोरी या जुलाहे के रूप में प्रस्तुत करने वाले चित्र ही स्वाभाविक हैं। यद्यपि कबीर के सिद्धान्तों में माला और तिलक के लिए कोई गौरवमय स्थान नहीं है, तथापि वैष्णव भक्त मण्डली में उन्होने कभी इनको भी धारण किया हो तो आश्चर्य नहीं।''

कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण डा० छाबड़ा ने निम्नांकित रूप में किया है, जो हमें भी बहुत कुछ उचित प्रतीत होता है :-

"कबीर का चित्र सामने रखकर यदि मैं उनके व्यकितत्व का विश्लेषण करूं तो कहूंगा कि कबीर साढे पांच-पौने छः फुट का शरीर, निर्मल किन्तु मजदूरों की-सी काया, लम्बे-लम्बे बुद्ध जैसे कान जिनमें नाथों के प्रभाव का दिग्दर्शन कराती झूलने वाली बालियां, चेहरे पर लहराती हुई दाढी-मुंछे और उनके बीच में अपना मन्तव्य कहने वाला अधखुला-सा मुख, सूगे की-सी आगे को उभरी हुई नाक, जिसने अपने स्वाभिमान के आगे झुकना न सीखा हो, नाक के ऊपर उनीदी-उनीदीं सी आँखे जिन्होंने न रात को सोकर देखा न दिन में चैन पाया बल्कि जो बार-बार कबीर के मन्तव्य को स्वयं ही इन शब्दों में उद्घोषित करती रही-

"कबीर सूता क्या करे, उठि के जपो दयार ।
एक दिना है सोवना, लम्बे पांव पसार ।।"

नेत्रों के कुछ ऊपर झुकी हुई भवें जो स्वयं अन्तसंघर्ष में भले ही जुटी रहें किन्तु अन्य को समाचार बताती रहती थी और मस्तक विराट एवं स्पष्ट, सारे अन्त संघर्ष को धरोहर के रूप में भीतर रख लेने वाला किन्तु बाहर शिकन भी न लेने वाला। सब-कुछ मिलाकर एक मुस्कराता हुआ, चिन्तित, फक्कड़ किन्तु विक्षिप्त, सैलानी किन्तु अडिग निरक्षर किन्तु पंडितों का भी गुरू और मजदूर किन्तु मनीषियों का आदर्श-ऐसा कुछ चेहरा लगता है कबीर का। इसके आस-पास कबीर पंथियों ने एक प्रभा-मण्डल खींच रखा है। गले में एक माला भी डाल रखी है और माथे पर शालों जैसा तिलक भी है और सिर पर पगड़ी के बीच में एक मोर पंख भी है। सम्भवतः यह सब आडम्बर कबीर ने नही रचे होंगे क्योंकि जो स्वयं ही आडम्बरों का समूल विनाश करने पर तुला हो वह भला छापा, माला आदि के चक्कर में कहां फंसेगा। किन्तु चित्र

बनाने वालों ने उनकी समन्वयात्मक व् त्ति के रूप में उन्हे कंठी माला से सज्जित किया होगा।"

वेश-भूषा और रहन सहन : इस सम्बन्ध में डा सरनामसिंह शर्मा ने लिखा है :-

"कबीर के रुप और आकार को बताने वाला कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। वे क्या पहनते-ओढते थे, क्या खाते पीते थे और कैसे रहते थे, इस सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नही मिलता है। इस सम्बन्ध में न तो उनके समकालीनों ने कुछ कहा और न कबीर पंथ के लोगों ने ही। परिचइयों के लेखकों ने भी इस विषय मे कोई चर्चा नही की है। हाँ, कबीर के कुछ चित्र अवश्य मिलते हैं किन्तु जब तक वे चित्र प्रामाणिक न हो, तब तक उस परिचय से क्या लाभ । अन्तः-साक्ष्य से इसके अतिरिक्त कबीर वाणी में कुछ ऐसे क्षीण संकेत मिलते हैं। जिनका सम्बन्ध कबीर से जोङा जा सकता है। उदारण के लिए इस पद को ले सकते है : -

"कारनि कौन संवारे देहा, पहु तन जारि वरि हुवे है षेहा ।
चोबा चन्दन चरचत अंगा, सो तन जरत काठ के संगा ।
बंहुत जतन करि देह मुय्याई, अगिनि देहै के जंबुक खाई।
जा सिरि रचि रचि बांधन पाया, सिरि चंच संवारत कागा।
कहि कबीर तन झूठा भाई, केवल रास रह्यौ ल्यौ लाई ।"

डा० सरनामसिंह शर्मा के अनुसार यद्यपि यह पद कबीर की वैराग्य भावना का द्योतक है, किन्तु इसकी तीसरी पंक्ति का प्रथमार्द्ध बहुत महत्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि कबीर मोटी देह को पसन्द नहीं करते थे। इससे यह अनुमान लगाना भी अनर्गल न होगा कि उनकी काया स्थूल नही थीं। निन्न उदाहरण उनके केशों के सम्बन्ध में प्रकाश डालता है :-

हमारे कौन सहे सिरि भारा
सिर की सोभा सिरजन हारा
टेढी पाग बङ जूरा, जारी भए भस्म को कूरा,
कहे कबीर राम राया, हरि कै रंगै मूंड मुङाया।

इससे ऐसा प्रकट होता हे कि कबीर सिर पर कोई भार पसन्द नही करते थे । वे न तो टेढी पगङी को पसन्द करते थे और न केश रखना ही उनको रूचि-कर था । अन्तिम पंक्ति के द्वितीयार्द्ध से यह आभास मिलता है। उन्होंने आगे लिखा है :-

" अधोवस्त्र के स्थान पर कबीर धोती पहनते थे। उन्होंने कुछ स्थानों पर धोती ही का नाम लिया है। उनके एक चित्र में धोती ही दिखाई गयी है। धोती के साथ वे कोपीन का प्रयोग करते होंगे क्योकिं साधु के सम्बन्ध से उन्होने ' सतगंठी कोपीन ' की चर्चा स्वयं की है । कबीर ने अधोवस्त्र के ऊपर चोलना की बात कही है, किन्तु उसका उल्लेख नीच के प्रसंग मे आया है। क्या वस्त्र धारण करते थे ? ठीक-ठीक नही कहा जा सकता। हां ओढने के लिए उन्होंने पछेवङा का उल्लेख किया है सम्भवतः यह आजकल के पिछोरा या चादर शब्द का पर्याय है। पैरों में खड़ाऊ और जूती दोनों पहनी जाती थी, किन्तु जूती का उपलाभ संभवतः विशेष लोग ही लोग करते थे सामान्य लोग तो खड़ाऊं का ही प्रयोग करते थे । खड़ाऊ का प्रयोग सामान्य लोगों में आज भी है। सम्भवतः कबीर भी खड़ाऊ ही पहनते थे।"

चरित्र एवं स्वभाव की विशेषताएं

श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार, "कबीर बड़े सरल एव निश्छद्म साधू थे । वै जो भीतर थे वही बाहर थे । भीतर और बाहर के विरोध को वे घ णा करते थे ।" उन्होंने उनके जीवन में सहजता और सादगी की प्रधानता दिखाते हुए कहा कि-

"सहज उनका सिंद्धान्त था, सादगी उनका जीवन था । दाल रोटी से त प्त रहनें वाले उस साधु को न तो नानाप्रकार के सरस व्यंजनों की कामना थी और न दूध तथा फलों के आहार का आग्रह। अन्न छोङने वाले को ये अच्छा नहीं समझते थे।

डा० सरनाम सिंह शर्मा के शब्दों में

' नाम-जप की भांति वे अन्न-जप का भी उपदेश देते हैं। वे न तो महल मेंडी चाहते थे और न ही गिलम-गेंदुआ। उन्होंने एक पद मे सामान्यतय जीवन की आवश्यकताएं निवेदित करके अपनी सादगी को प्रमाणित कर दिया है ।"

उनके चरित्र एवं स्वभाव के विषय में डा० सरनाम सिंह शर्मा ने लिखा है

"कबीर एक सरल मनुष्य, ऊंचे संत तथा विकट आलोचक थे। विषय, स्पष्टवादिता, निर्भयता और परदुःखकातरता उनकी सरलता के प्रमुख अंग थे। उनकी सरलता मे भक्ति का भी योग था। उनके स्वभाव के विकास में कामुकता, हीनता की ग्रन्थि और म त्यु के स्थान अविस्मरणीय है। उनका सादा रहन-सहन और सादा खुराक थी। वे सत्य प्रेमी और दयालु प्रक ति के मनुष्य थे । वे अनुभव को छिपा नहीं सकते थे ।

कबीर की सरलता में उनकी हीनता की ग्रन्थि का बड़ा योग रहा था। उनकी ओछी जाति और ऊंचे कर्मों के लिए भक्ति या सन्तता ही उपयुक्त स्थली है । भक्ति कबीर की सन्तता का भूषण थी । वे म त्यु से भीत थे । म त्यु-पंथ ने उन्हें विरक्ति दी और विरक्ति ने संसार की आसक्ति व कामुकतादि से मुक्ति दी। उसके सन्तत्व में भक्ति का आग्रह, परोपकारिता, अहिंसकता, परदुःखकातरता, समता की भावना तथा कथनी और करनी का समुचित संयोग है।"

उनके चरित्र एवं स्वभाव की मुख्य विशेषताएं निम्नाकित थीं :-

(क) **अक्खड़पन**

कबीर की उक्तियों में उनके स्वभाव के अक्खङपन की स्पष्ट झलक मिलती है । जहां कहीं वे किसी अवधूत या पंडित मौलवी से बातें करते हैं, उनके स्वर में अक्खड़ता का स्वतः समावेश हो जाता है । डा० रामजीलाल सहाय ने उचित ही कहा है कि-

'अक्खड़पन कबीर का गुण नहीं था वरन् परिस्थितियों की मांग थी, जिसकी पूर्ति कबीर को करनी पङी। 'एकसभ्य आलोचक के शब्दों में :-

' कबीर की अक्खङता का विग्रह रुप तब सामने आता है जब वे किसी अवधूत से बात करते है क्योंकि वे जानते थे कि यदि किसी अवधूत के सामने विनम्रता से बात की गई तो वह उसके सिर पर चढ़कर बोलेगा और यदि एक बार उसे अपने व्यक्तित्व को ऊपर उठा ले जाने की छूट दे दी गई तो उससे पार पाना कठिन है । इसलिए अवधूत से बात करते समय वे निर्भयता से इस प्रकार अपने मत की स्थापना किया करते थे :-

"अवधू अच्छर हूंसों न्यारा।
जो तुम पवना जगंना चढ़ावो, करो गुफा में वासा।
मयना, पवना दोनों विनसै, कहं गया जोग तुम्हारा।
x x x x x x
इंगला विनसै, पिगला बिनसै, सुघमनि नाङी।
जब उनमनि की तारी टूटे, तब कहं रही तुम्हारी।

इस प्रकार वे ब्राह्मण-पंडित से दबते नही हैं, किन्तु अपने ज्ञान पर गर्व करते हुए उसे चुनौती

देते हैं -

" तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलाहा व झहु मोर गियाना। "

इसी प्रकार पंडित को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं :-

"पांडे कौन कुमति तोहि लागी,
वेद पुरान पढत अरु पांडे, खर चन्दन जैसे मारा ।
x x x x x x
जीव बधत अरु धरम कहत हो, अधरम कहां है भाई
आपनि तो मुनिजन है बैठ, कासनि कहौं कसाई । "

इसी प्रकार काजी को ललकारते हुए वे अक्खड़तापूर्वक कह उठते हैं :-

" काजी कौन कतेब वषानैं ।
पढत-पढत केते दिन बीते, गति एकै नहिं जांनै ।
x x x x x x
जानि कतेब राम कहि काजी, खून करत हौ भारी ।

कबीर की इस अक्खड़ता के विषय में डा० सरनाम सिंह शर्मा के इस कथन से हम भी सहमत है कि :-

" कबीर की उक्तियों में यह प्रखरता तथाकथित योंगियों और वैष्णवों के प्रति ही नही, नर-नारियों के प्रति भी व्यक्त हुई है। शाक्तों के दुराचार के प्रति तो कबीर ने प्रखरतम् उक्ति-प्रहार किये है । इससे कबीर की विनय शीलता कलंकित नही होती है । कबीर सत के प्रति झुकते है, असत् के प्रति नही। कबीर का अक्खड़पन उनके विनय को सुरक्षित रखता है। सत्य समर्थ को स्पष्टवादिता का योग मिल जाने से कबीर के अक्खड़पन का प्रादुर्भाव होता है, जो उनके शील का लांछन नही है।"

(ख) फक्कड़ एवं मस्तमौला :- डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के विषय में उचित ही लिखा है ।

''वे सिर से पैर तक मस्तमौला थे । मस्त, जो पुराने कृत्यों का हिसाब नही रखता वर्तमान कर्मों को सर्वस्व नहीं समझता और भविष्य में सब कुछ झाड़ फटकार कर निकल जाता है।''

यह तथ्य कबीर के अक्खछड़पन और मस्तमौलापन का अच्छा परिचायक है कि वे हमें घोषणा करते मिलते है कि मैंने अपना घर तो जला ही दिया है (यह माया सम्बन्धी अर्थ के साथ-साथ अभिधार्थ में भी ही है क्योंकि उनके द्वारा ग ह के काम-काज छोड़कर साधु संतो की संगति में रहने के कारण उनकी माता, पिता आदि सभी परेशान रहते थे।) और अब उनका घर मैं जलाऊँगाा जो मेरे साथ चलेगा-

"हम घर जारा अपना, लिया मुराङा हाथ।
अब घर जारों तासुका, जो चलै हमारे साथ।"
x x x x x
"कबिरा खड़ा बजार में लिए लकुटिया हाथ।
जो घर जारो आपनों, सो चले हमारे साथ।"

कबीर के मस्तमौलापन की निम्नांकित पद में कैसी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है :-

" हमन हैं इष्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ।
रहे आजाद या जग से, हमरन दुनिया से यारी क्या ।
x x x x x x
हमारा यार है हममें, हमन को इन्तजारी क्या ।
खलक सब नाम अपने को बहुत कर सर पटकता है।
हमन गुरु नाम साचां है , हमें दुनिया से यारी क्या ?"
x x x x x x
कबीरा इश्क का मारा, दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हम सिर बोझ भारी क्या ?''

(ग) **विनम्रता**

कबीर एक ओर जहां अवधूत , पंडित-मौलवियों के प्रति अक्खड़ मिलते हैं। वहीं सच्चे सन्तों का वे स्वयं को घास घोषित करते हुए अपने स्वभाव की विनम्रता का प्रकटन कर देते है :-

"कबीर चेरा सन्त का , दासनि का परदास।
कबीर ऐसे है रहया , ज्यू पाऊं तल घास।"

हाँ , कबीर की इस विनम्रता के विषय में " यह अनुमान लगाने की भूल नहीं होनी चाहिए कि कबीर'ओछे-कुल 'और कमीन-जाति में उत्पन्न एवं पालित-पोषित होने के कारण इतने दीन और विनम्र थे। वस्तुतः यह उनका सत्संग जन्म गुण था। वे परम संत प्रेमी थे। सन्त सेवा को वे अपना परम सौभाग्य समझते थे।"

(घ) क्रान्तिकारिता

" कबीर ऐसी परिस्थितियों में जन्में थे जब विषमताएं, नैराश्य, विश्वासघात, न शंसता और विध्वंस अपना ढोल पीट-पीटकर हिन्दुओं के दुर्बल मन को भयभीत कर रही थीं। समाज में कुत्सित विचारों एवं बाह्याडम्बरों का प्राबल्य था। धर्म के दावेदार मठाधीश बनकर अनाचार की लीलाएं कर रहे थे। सामाजिक विषमताओं से तंग आकर लोग जाति परिवर्तन को उतारु हो गये तथा आर्थिक संकट से सामान्य जनता की रीढ ही टूट गई थी। भावुक कबीर से समाज की यह दशा न देखी गई। बाह्याडम्बर, असत्य, अनाचार, व्यभिचार, वर्णविभेद आदि के प्रति उद्‌भूत यही प्रतिक्रिया ही कबीर के हृदय की वास्तविक क्रान्ति भावना थी। उनकी यह क्रान्ति भावना, घ णा अथवा राग द्वेष से परे की वस्तु तथा बहुत ऊँची थी। वस्तुतः यह उनकी अहिंसक क्रान्ति भावना थी। चूँकि उनकी क्रान्तिवादी विचारधारा किसी स्वार्थ पर टिकी हुई नहीं थी। इसलिए वे जिस भी कुरीति पर चोट करते थे, बड़े धड़ल्ले से करते थे।" उनके क्रान्तिकारी विचारों में व्यंग्य भाव की प्रधानता है। डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में तो-

"आज तक हिन्दी में ऐसा जबरदस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नही हुआ ।"

उनके कतिपय ऐसे क्रान्तिकारी विचार अवलोकनीय हैं, जिसमें व्यंगय का भी ऐसा तीव्र पुट है कि सुनने वाला तिलमिला जाए :-

(क) "मूंड मूंडाए हरि मिलैं सब कोई लेइ मुंडाइ
बार-बार के मूंडते भेइ न बैकुंठ जाइ ।"

(ख) "ना जाने तेरा साहब कैसा है ?
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है ।
x x x x x x
पंडित होइ के आसन मारे, लम्बी माला जपता है ।
अन्दर तेरे कपट-कतरनी सो भी साहब लखता है ।

(ग) "बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल
जो नर बकरी खात हैं, तिनके कौन हवाल ?

(ड़) आत्मविश्वासी और स्वाभिमानी :-

कबीर की रचनाओं में उनके आत्मविश्वासी और स्वाभिमानी स्वभाव का स्पष्ट परिचय मिलता है। डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "जहां कबीर में लापरवाही और मस्ती थी वहां अखंड आत्मविश्वास की भावना भी थी । अतः अपनी इन विशेषताओं के बल पर इन्होंने प्रलोभन रहित भावना से हिन्दू और मुसलमान दोंनो की विषाक्त परम्पराओं पर वज्रपात किये और पूरे स्वाभिमान से कुत्सित रूढियों का विरोध करते हुए पूरे आत्मविश्वास के साथ यह बताया कि जिस शरीर को 'सुर, नर, मुनि' ने ओढ़कर मैला कर दिया था उसे कबीरदास ने बड़े यत्न से ओढ़ा और जैसा का तैसा रख दिया।"

डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आगे लिखा है :-

"ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्त मौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड, दिल के साफ, दिमाग से दुरूस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्प श्य, कर्म से वन्दनीय'' उनके आत्मविश्वास की परिचायक निम्नांकित उक्ति अवलोकनीय है जिसमें वे स्वराम को वेद-शात्रों से भी बढ़कर बताते है :-

''मेरा तेरा मनुआ कैसे इक हौइ रे
मैं कहता हूँ आंखन की देखी
तू कहता कागद की लेखी
मैं कहता सुरझावनहारी,
तू राख्यो असझाउ रे ।''

(च) नारी के प्रति अनुदार द ष्टिकाण

वैसे तो कबीर द्वारा ग हस्थ जीवन व्यतीत करने की ही नही, उनके दो पत्नियाँ होने का अनुमान किया जाता है, फिर भी नारियों के विषय में उनका द ष्टिकाण बड़ा अनुदार मिलता है। इसका कारण कदाचित् यही है कि वे नारी को माया का प्रतिरूप समझते थे और जहाँ कहीं उन्होंने नारी-निन्दा की उस के मूल में साधना में बाधक समझने की भावना क्रियाशील रही है। उनकी कुछ उक्तियाँ अवलोकनीय है -

(क) "एक कनक आस कामिनी दुर्गम घाटी दोय। "
(ख) "एक कनक अस कांमनी, विष फल कीए उपाइ।
देखे ही में विष चढ़े, खाये सूं मरि जाइ
(ग) "नारी की झांई परत अंधा होत भुजंग,
कबिरा तिनकी कौन गति जे नित नारी के संग। "
(घ) "नारी नसावै तीनि सुख, जाना पासै होई।
भगति मुगति निज ग्यांन में पैसि न सकइ कोइ। "

(छ) परदुःखकातरता

कबीर का हृदय परदुःखकातरता से ओत-प्रोत रहता था। जब वे देखते है कि संसार पर दुःख के अंगार बरस रहे हैं और वह उनमे दग्ध हुआ जा रहा है तो उनका हृदय-करूणाप्लावित हो उठता है :-

" ऊंनमि विसाई बादली, बर्सण लगे अंगार,
उठी कबीरा धाह दे, दाझत है संसार। "

(ज) परोपकार की भावना

कबीर के स्वभाव में सच्चे सन्तों जैसी परोपकारी भावना के दर्शन होते हैं। वे तो अपकारी का भी उपकार करने पर बल देते है :-

" जो तोकू कांटा बुवै ताहि बोइ तू फूल
तोकू फूल के फूल है, बाकू है तिरसूल। "

उन्होंने गो-वध की इस द ष्टि से बड़ी निन्दा की है कि जिस गाय का माता के समान दूध पीते हैं, अहमक उसका ही वध करने में लज्जित नहीं होते :-

"गाफिल गरब करैं अधिकाई,
स्वारथ अरधि बधैं ए गाई।
जाको दूध धाइ करि पीजै।
ता माता कौ वध क्यों कौजै।
लहुरें थकें दुहि पीया खीरो,
ताका अहमक भखैं सरीरो।"

डा० सरनाम सिंह शर्मा के शब्दों में हम कह सकते हैं :-

" कबीर अपने समय के सच्चे प्रतिनिधि थे। उनका वास्तविक रूप साधक का था। वे एक ही साथ निर्भीक, स्पष्टवादी और विनीत थे। दंभ और पाखंड उनको अरूचिकर थे। अंहकार और अनाचार को वे शत्रु मानते थे। भयभीतों और पीड़ितों को भक्ति का आकर्षण देकर वे उन्हें प्रेरणा और प्रोत्साहन देते थे। वे लोक-जीवन के अति निकट थे। सामान्य व्यक्ति को उनका चरित्र अति सामान्य प्रतीत हो सकता है, वस्तुतः वह बहुत ऊंचा था उनके स्वभाव का सही परिचय 'सन्त' शब्द से ही दिया जा सकता है। सन्तता उनके व्यक्तित्त्व की सरलतम् अवस्था थी।"

वे आगे लिखते हैं :-

"कबीर का व्यक्तित्व जितना गूढ़ प्रतीत होता है उतना ही सरल था और जितना सरल दीखता है उससे कही अथिक गूढ़ था ! जिस प्रकार नारियल या बादाम को ऊपर से देखकर उसके भीतरी स्वरूप का विश्लेषण नही किया जा सकता उसी प्रकार कबीर के बाह्य रूप को देखकर, उनकी भर्त्सनामयी कठोर वाणी को पढ़कर, उसके कोमल दयालु अन्तर का अनुमान नही लगाया जा सकता। सच तो यह है कि वह एक सन्त और ऊंचे दर्जे के महात्मा थे। इसलिए उनके व्यक्तित्व की भावनाओं में सरल और गूढ़ दोनों रेखाओं का अनूठा मिलन है।"

डा॰ गोविन्द त्रिगुणायत ने थोड़े से ही शब्दों में उनके व्यक्तित्त्व का बड़ा सुष्ठु अंकन किया है :-

" सत्य के उस अनन्य उपासक में श्रेष्ठ दार्शनिक बुद्धिवादिता और चिन्ता, कट्टर क्रांति

और कठोरता, अनन्य भक्त की विनम्रता और प्रेम अनुभूति, सच्चे आलोचक की स्पष्टता, सच्चे साधु की आचरण प्रियता, आदर्श पुरूष की कर्तव्य परायणता, योगियों की अक्खड़ता तथा पक्के फकीर की साधना थी। "

डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उचित ही कहा है :-

" हजार वर्ष के इतिहास मे कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर लेखक उत्पन्न नही हुआ।

क तियां : - यह तो प्रसिद्व है कि कबीर ने

" मसि कागद छूऔ नही कलम गही नही हाथ। "

अतः उनकी रचनाएँ उनके शिष्यों द्वारा लिपिबद्ध की गयी हैं। कहा जाता है कि गुरू मुख से निकले शब्दों में कबीर के शिष्यों ने अपनी रचनाएँ भी मिला दी हैं। इसके साथ ही उसका कोई प्रामाणिक लिपिबद्ध रूप न होने के कारण उनमें पाठ-भेद भी बहुत मिलता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि :-

" गाने वालों के मुख में पड़कर उनका रूप भी एक-सा नही रह गया है। अतः कबीर की प्रामाणिक रचानाओं और उनके शुद्ध पाठ का पता लगाना कठिन कार्य है। " प्रो० एच० एच० विल्सन ने कबीर की मात्र आठ रचनाएं बताई थी, जबकी पादरी वेस्टकाट ने इस संख्या को बढ़ाकर बयासी तक पहुंचा दिया। हां, संख्या में उन्होंने कबीर की जीवनी या कबीर पन्थ से सम्बन्धित ग्रन्थों को भी सम्मिलित कर लिया था तथा कुछ ग्रन्थों को भूल से दो या तीन बार भी गिन लिया था। मिश्रबन्धुओं ने कबीर के नाम से रचित 75 ग्रन्थों की नामावली दी है, तो स्वर्गीय गौड़ ने 71 । डा० रामकुमार वर्मा ने भी कबीर द्वारा रचित ग्रन्थों की लम्बी सूची दी है। गौड़ साहब और डा० वर्मा की सूचियों में निम्नांकित रचनाओं का उल्लेख दोनों ही विद्वानों ने किया है।

इन दोनों विद्वानों की सूचियों में भिन्न भिन्न नाम वाली निम्नांकित रचानाएं भी कबीर-रचित बताई गई हैं। गौड़ साहब की सूची में दिए नाम इस प्रकार हैं -

1. अनुरागसागर	2. अठपहरा
3. अमरमूल	4. अर्जनामा
5. अक्षर खण्ड की रमैनी	6. अलिफनामा
7. आरती	8. अक्षर भेद की रमैनी
9. उग्र गीता	10. उग्र ज्ञान
11. मूल सिद्वान्त	12. कबीर और धरमदास की गोष्ठी
13. कबीर अष्टक	14. कबीर की बानी
15. कबीर गोरख गोष्ठी	16. कबीर जी की साखी
17. कर्मकाण्ड रमैनी	18. कबीर-परिचय की साखी
19. कायापजी	20. चौका पर की रमैनी
21. छप्पय	22. चौंतीसा
23. जन्म बोध	24. तीसा मन्त्र
25. निर्भय ज्ञान	26. नाम महातम् की साखी

27. पिथ पहचानवे कौ अंग
28. पुकार
29. बीजक
30. बीजक
31. भक्ति का अंग
32. ब्रह्मनिरूपक
33. रमैनी
34. भक्ति का अंग
35. रामरक्षा
36. राम सार
37. विचारमाला
38. रेखता
39. शब्द अहलटुक
40. विवेकसार
41. सन्त कबीर
42. शब्द वंशावली
43. सतनामा
44. बदी छोर
45. साधो का अंग
46. हंसमुक्तावली
47. हिंडौरा
48. ज्ञान गूदड़ी
49. ज्ञान सरोदय
50. ज्ञान सागर
51. ज्ञान स्रोत
52. ज्ञान सबोध ।

3. कबीर : सामाजिक विचारधारा

भक्ति-आन्दोलन मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है । एकान्तिक साधना के साथ-साथ मध्ययुगीन भक्तों की वाणी मे लोक-कल्याण की भावना का स्वर प्रमुख है। उत्तर भारत में भक्ति को सर्वजन ग्राह्य बनाने का सफल प्रयास महात्मा कबीर ने किया । वे समाज के सच्चे पथ प्रदर्शक थे। कबीर का युग सांस्क तिक और सामाजिक संक्रान्ति का युग था। भारतीय समाज भ्रष्टाचार, दुराचार अन्ध-विश्वाश और निराशाजनित भावनाओं का केन्द्र बन गया था । मुसलमानों के राज्य स्थापित हो जाने से जनता के मन में स्वाभिमान और उत्साह कि कमी आ गयी थी। विलासिता और नैतिकता कि द ष्टि से हिन्दू और मुसलमानों दोनों पतित हो रहे थें। हिन्दुओं के समक्ष उनके भगवान की मूर्तियां ध्वस्त हो रही थी। सिकन्दर लोदी धार्मिक दूष्टि से अत्यन्त असहिष्णु था। इन परिस्थितियों में निराशा, व्यग्रता, हीनता, उच्छ ंखलता एवं पीड़ा का साम्राज्य चतुर्दिक व्याप्त था। समाज में हिन्दू और मुसलमान आत्मिक रूप से एक दूसरे के निकट नही आ सके थे, क्योंकि शासकों, सामन्तों, पुरोहितों, पंड़ितों, मुल्ललओं आदि के द्वारा उनमें वैमनस्य की भावना बढ़ती ही जा रही थी। आतंक के बल पर धर्म परिवर्तन हो रहे थे। कट्टर विरोधी प्रव तियों के फलस्वरूप हिन्दू-मुसलमान में सामीप्य भावना कठिन थी। ऐसे समय में एक युगान्तरकारी व्यक्तित्व वाले लोक पुरूष की आवश्यकता थी जो विश ंखलित और संशयग्रस्त को समानता और एकता के सूत्र में बांध सके। इसी समय कबीर जैसे मनस्वी ने मानवता की व्यापक भावनाओं से परिपूर्ण एक ऐसे उदात्त धर्म का सूत्रपात, किया और ब्रह्म की निर्गुण उपासना पर बल दिया जिसमें जातीयता, साम्प्रदायिकता, पाखण्डों व रूढ़ियों आदि के नाम पर शोषण सम्भव नहीं था। निर्गुण पंथ की यह साधना मानवतावाद पर आधारित आत्म साधना की पोषक थी। हिन्दू -मुसलमानों के धर्मो और बाह्याचराणों की बुराइयों को लक्षित करते हुए स्पष्ट रूप से उन्होंने निर्भीक होकर सत्य कहने का साहस किया और अपने क्रान्तिकारी उपदेशों एवं समाज सुधारक मान्यताओं के द्वारा दोनों को एक दूसरे के समीप लाने का सार्थक प्रयास किया।

वैसे तो कबीर का काव्य वैयक्तिक साधना का काव्य माना जाता है, परन्तु वे मानव मात्र के कल्याण के लिए संघर्ष करने वाले साधक के रूप में विख्यात हैं। विश्व बन्धुत्व की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने जन कल्याणार्थ सामाजिक बुराईयों की कटु भर्त्सना की और सात्विक आचरण द्वारा मन की शुद्धि पर विशेष बल दिया। किसी भी विचार या सिद्धान्त के प्रसार के लिए समाज का व्यवस्थित होना आवश्यक है, इस तथ्य को कबीर भली-भाँति जानते थे। अतः उनके काव्य में सामाजिक कुरीतियों पर द ढता से प्रहार है। कथनी और करनी में भेद कबीर को असह्य था। अतः कहीं-कहीं उनके कथन तीखे और मर्म पर प्रहार करने वाले हैं जो सामाजिक परिवर्तन के लिए अभीष्ट थे।

स्वान्तः सुखाय भक्ति को परान्तः परिणित करना ही सच्ची मानवतावादी भूमि है। कबीर की भक्ति सामाजिक समता तथा मानवीय संवेदना पर आधारित है। व्यवसाय के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए कबीर ने धर्म और जाति के आधार पर मानव मात्र में कोई अलगाव न रखा। समाज में किसी भी व्यवसाय को वे हीन नही मानते थे तभी तो उन्होंने अपने को जुलाहे

के व्यवसाय से असम्प क्त नही किया। जुलाहे के व्यवसाय को गर्व के साथ स्वीकार करते हुए कबीर का कथन है-

जाति जुलाहा मति को धीर । हरषि-हरषि गुण रमै कबीर ।
मेरे राम की अभै पद नगरी कहै कबीर जुलाहा।
तू बांमन मैं काशी का जुलाहा।।

कबीर की यह कर्म निष्ठा उनके द ढ़ विश्वास की प्रतीक थी । हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "उन्होंने कभी अपने ज्ञान को, अपने गुरू को और अपनी साघना को सन्देह की नजरों से नही देखा। अपने प्रति विश्वास कहीं डिगा नहीं।"

समाज के प्रति कबीर की जागरूकता, निर्भयता और समाजिक अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना अनुपम है। कबीर को हिन्दुओं में प्रचलित वर्ण व्यवस्था, जाति-पाँति तथा ब्राह्मणों के मिथ्याभिमान से घ णा थी। उन्होंने इनकी कड़ी निंदा करते हुए उपहास किया है। जाति-पाँति, अस्प श्यता, ऊँच-नीच के भेदभाव की समाप्ति के लिए कबीर ने आध्यात्मिक मान्यता का आधार ग्रहण किया । जब स्रष्टा समान रूप से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है तब भेदभाव की सम्भावना कहाँ रह जाती है

एकहि जोत सकल घट व्यापक दूजा तत्त न होई।
कहै कबीर सुनो रे संतो भटकि मरै जनि कोई।।

जन कल्याणार्थ सहिष्णुता, प्रेम, त्याग, दया, अपरिग्रह, निरभिमानता और परोपकार अत्यन्त आवश्यक हैं। महात्मा गौतम बुद्ध ने लोककल्याण के लिए इन्हीं मानवीय मूल्यों पर विशेष बल दिया था। अतः उन्होंने सामाजिक विषमताओं और कुरीतियों का प्रत्यक्ष विरोध किया था और 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' के मूल मंत्र को प्रतिपादित कर के भी हृदय को कष्ट न पहुँचाने का उपदेश दिया था। कबीर का स्पष्ट मानना था कि जब तक समाज में असमानता है तब तक मानव मात्र का कल्याण सम्भव नही है'। अतः उन्होंने समाज के लोगो को वैज्ञानिक रूप से भौतिक धरातल पर समझाने का प्रयास किया कि साम्प्रदायिक तथा वर्ण जातिगत विरोध मानव निर्मित हैं और इनका कोई वास्तविक आधार नहीं है। सब उस परब्रह्म की संतान हैं जो सम्पूर्ण स ष्टि का स ष्टा एवं नियंता है। मुसलमानों के शासनकाल में मुस्लिम कट्टरता और बाह्याडम्बरों का खण्डन, काशी मे रहकर हिन्दू समाज की बुराइयों का स्पष्ट रेखाकंन कबीर जैसे निर्भीक और साहसी महात्मा के ही वश कार्य था। कबीर जैसा कटु यथार्थवक्ता कवि हिन्दी साहित्य में दूसरा पैदा नही हुआ जो साम्प्रदायिक कट्टरता और विभेदों का खुलकर पर्दाफाश कर सकता। उन्होनें हिन्दू-मुसलमानों के लिए समान रूप से घोषित किया कि सम्पूर्ण विश्व का स्रष्टा एक है। सभी प्राणी समान हैं। जन्म से न कोई हिन्दू है, न मुसलमान, न ब्राह्मण, न शूद्र। सब मनुष्यों में एक ही रक्त प्रवाहित होता है। अतः ये विभेद ईश्वरीय न होकर मानवकृत हैं। अज्ञानी लोग ही ईश्वर और प्राणियों में विभेद करते है :-

हम तौ एक-एक करि जाँनाँ।
दोइ कहै तिनही को दोजग जिन नाहिन पहिचाँनाँ।।
एकै पावन एक ही पानी एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भाँडे एक ही सिमरन हारा ।।

कबीर हिन्दुओं की वर्ण व्यवस्था और जाति-पाँति के सिद्धान्त के प्रबल विरोधी थे । उनका स्पष्ट मत था कि यदि स ष्टिकर्ता का उद्धेश्य ब्राह्मणों को महत्त्व देना होता तो वह इनकी पहचान के लिए माथे पर तीन रेखाएं बनाकर इन्हें उत्पन्न करता -

जो पै करता बरन बिचारै।
तौ जनमत तीनि डांडी किन सारै ।।

कवि का मानना है कि यदि ब्राह्मण जन्म से श्रेष्ठ और पवित्र हैं तो वह उसी तरह क्यों जन्मा, जिस प्रकार अन्य जातियाँ जन्म लेती हैं। वह जन्म लेते समय किसी अन्य मार्ग से क्यों नहीं उत्पन्न हुआ। यदि ब्राह्मण भी शूद्रों की तरह अपवित्र मार्ग से जन्म लेता है तो फिर वह कैसे पवित्र हुआ ? इसी तरह उन्होंने मुसलमानों को शुद्ध वैज्ञानिक रीति तथा सतर्क पद्धति से बताया कि यदि खुदा को मनुष्य से अलग मुसलमान को बनाने की आवश्यकता प ड़ती तो वह स्वयं गर्भ के भीतर खतना करके मुसलमान को पैदा करता। इसलिए मानव क त इन विभेदों को स्वीकार करना निरर्थक है। अतः कोई हीन नही है, हीन वही है जो ईश्वर की भक्ति नही करता :-

जे तूँ बांमन बमनी जाया। तो आन वाट ह्वै काहे न आया।
जे तूँ तुरक तुरकनी जाया। तो भीतरि खतनॉ क्यूँ न कराया।।
कहै कबीर मधिम नहिं कोई । सो मधिम जा मुखि राम न होइ।।

जब एक ही ज्योति से सब उत्पन्न हैं और एक ही बिन्दु ,एक ही मूत्र, एक ही चर्म और एक ही गुदा है तो कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र, कौन हिन्दू है और कौन तुर्क ? अर्थात् सब समान है -

ऐसा भेद बिगूचन भारी।
बेद कितेब दिन अरू दुनियॉ कौन पुरिष कौन नारी।।
एक बूँद एकै मल मूतर एक चाँम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उत्पनॉ कौन कौन सूदा।।
x x x x x
कहैं कबीर एक राम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई।।

हिन्दू और मुसलमानों में भेद करने वाला मूर्ख है, क्योंकि उनमें निवास करने वाली आत्मा न हिन्दू है न मुसलमान -

कहै कबीर चेतहु रे भोंदू। बोलन हारा तुरक न हिन्दू ।।

कबीर ने पण्डितों और मुल्लाओं की अपेक्षा अवधूत या योगी पर सावधानीपूर्वक आक्रमण किया है। उन्होने सावधानीपूर्वक योगियों और अवधूतों की साधना देखी है। अतः इन पर किया गया आक्रमण अधिक उग्र नही है। पण्डित और मुल्लाओं को तो वे आक्रमण योग्य भी नही समझते । अतः उनकी मौज-मस्ती से किये गये ये आक्रमण सहज ,जीवन्त और कालजयी बन गये हैं। यह सहजता कबीर के व्यंग्यों का प्राणतत्व है। इनके व्यंग्यों में भी एक रस है। योगियों और सिद्धों ने भी ब्रह्माचारों की निंदा की है। परन्तु प्रत्यक्ष प्रहार करने वाली सहज और स्वाभाविक भाषा कबीर के पहले कम ही दिखाई देती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "व्यंग्य वह है, जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों में हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने आपको और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीर दास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे।" मुल्ला और पण्डितों पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा-

ना जोने तेरा साहब कैसा है।
मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है?

चिऊँटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।।
पण्डित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता है।
अन्तर तेरे कपट-कतरनी सो भी साहब लखता है।।
x x x x x x
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे को तैसा है।।

सीधी-सादी भाषा में करारी-चोट करने वाले कबीर प्रतिरक्षी की ओर से एकदम निश्चिन्त है, क्योंकि निर्भय व्यक्ति ही इतना बड़ा व्यंग्य कर सकता है।

काजियों और पण्डितों के अज्ञान का रेखांकन भी कितना सजीव और मर्म पूर्ण है। भाषा भी अलंकार विहीन भावों की सर्वथा अनुगामिनी है-

काजी कौन कितेब बखानै।
पढत-पढत केसै दिन बीते, गति एकै नहिं जानै।।
x x x x x x
पढि-पढि पंडित बेद बषानै। भीतरि डूती बसत न जाँने।।

बाह्याडम्बर की अपेक्षा कबीर ने चित शुद्धि पर विशेष बल दिया। कपड़ा रंगाकर घूमने वाले जोगियों को फटकारते हुए वे तीखी भाषा में कहते है-

मन न रँगाये जोगी कपरा।

जितनी कठोर और आक्रामक भाषा मे कबीर ने जातिवाद, वर्णवाद, सम्प्रदायवाद, पाखण्डवाद तथा अन्धविश्वासों पर प्रहार किया, वह अप्रतिम है। इससे कवि की मानवतावाद के प्रति द ढ़ आस्था तथा सामाजिक न्याय की भावना प्रमाणित होती है।

धर्म के नाम पर अधर्म, आचार के नाम पर अनाचार, जनता को प्रवंचित करने के लिए मिथ्याचार कबीर के लिए असह्य था। इसलिए हिंसा में रत, कुटिलता से परिपूर्ण, पाखण्ड और द्वेष से युक्त मनुष्यों के लिए उन्होंने सहज ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया। उस समय धर्म के मूल स्वरुप को बाह्याडम्बरों एवं रुढ़ियों ने आच्छादित कर रखा था। उन्होंने माना कि पुस्तकीय ज्ञान मानव को भटकाता है अतः वे पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभवजन्यज्ञान को महत्त्व देते थे। उन्होने हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक ग्रन्थों की कटु आलोचना की-

वेद किताब दोय फंद सवारा।
ते फंदे पर आप विचारा।।

बाह्याडम्बर के प्रति कबीर का रुख सर्वथा कठोर था। उन्होंने साहसपूर्वक हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की भर्त्सना की थी। वैष्णवों की सहनशीलता की सराहना करते हुए भी उन्होंने तिलक, छापा, माला आदि का प्रबल विरोध किया-

कहा भयो तिलक गरै जयमाला।
मरम न जानै मिलन गोपाला।।

कवि ने मूर्तिपूजा के विरोध में भी पर्याप्त लिखा है। उनका स्पष्ट कथन है कि यदि पत्थर पूजने से ब्रह्म की प्राप्ति हो तो वे पहाड़ पूजने को तैयार हैं इससे तो चक्की अच्छी है जिसका पीसा हुआ आटा सारा संसार खाता है-

पाहन पूजे हरि मिलै तौ मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली पीस खाय संसार ।।

इसीलिए शालिग्राम की मूर्तिपूजा की अपेक्षा मन को स्थिर करना आवश्यक है। शालिग्राम की पूजा से मन को शांति नही मिल सकती :-

सेवैं सालिगराँम कूँ मन की भ्रान्ति न जाइ ।
सीतलता सुपिने नही दिन-दिन अघ की जाइ ।।

कबीर ने बाँग, रोजा, नमाज आदि की व्यर्थता पर भी पर्याप्त कहा है। वे मस्जिद में नमाज पढने और बाँग देने के भी स्पष्ट विरोधी थे :-

यहु सब झूठी बंदगी बरियाँ पंच निवाज।
साचै मारै झूठ पढ़ि काजि करै अकाज।।
x x x x x
कांकर पाथर जोरी कर मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय।।

कबीर ने तीर्थ यात्रा, हज आदी की निस्सारता को समझा था। उनके आचरण की शुद्धता प्रमुख थी। अतः उन्होंने मथुरा काशी और द्वारका जैसे तीर्थों को शरीर के अन्तर्गत ही माना है। इसलिए ईश्वर का अन्वेषण अन्यत्र व्यर्थ है। कबीर वैष्णवों के परोपकारी स्वभाव के प्रशंसक थे और शाक्त ब्राह्मण की अपेक्षा चांडाल वैष्णवों को अधिक महत्व देते थे। तात्पर्य यह कि मानवतावाद पर आधारित वैष्णव धर्म का वे आदर करते थे, फिर वैष्णवों के मिथ्याडम्बर सें उन्हें चिढ़ थी ।

बैष्नों भया तौ का भया बूझा नही बबेक ।
छापा तिलक बनाय करि दगया या लोक अनेक ।।

सिर मुंडाये फिरने वाले संन्यसियों पर तीव्र प्रहार करते हुए मन की शुद्धता तथा जितेन्द्रियता के महत्त्व का उन्होंने प्रतिपादित किया -

केसों कहा बिगाड़िया जे मूड़े सौ बार ।
मन को काहे न मूँडिये जामें विषै बिकार ।।।

बाह्याचरण में गुमराह व्यक्तियों का उपहास करने में उन्हें आनंद आता था। वे जानते थे कि मन से अपवित्र व्यक्ति तीर्थ में स्नान करने से पवित्र नही होता। जल में स्नान करने से यदि मुक्ति मिलती तो सर्वप्रथम मछलियाँ मोक्ष की अधिकारिणी होती, क्योकि वे नित्यप्रति जल में स्नान करती हैं :-

जल कै मंजन जो गति होइ, मीननित ही न्हावै ।
जैसा मीनां तैसा नरा फिरि फिरि जोनी आवै ।।
मन में मैल तीरथ न्हावै तिनि बैकुण्ठ न जाना ।।

तभी तो वे सिर पर गठरी रखकर, गंगा स्नान करने वालों के खिलाफ थे। पथभ्रष्ट लोगों की त्रुटियों को दिखाने में उन्हें रस की प्रप्ति होती थी। निम्न पद में सजधज कर गंगा स्नान करने वाली स्त्री पर कसकर व्यंग्य किया गया है

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय।
सतुआ कराइन बहुरी भुँजाइन, घुँधट ओढ़े मसकत जाय ।।
x x x x x x
गंगा न्हाइन जमुना न्हाइन, नौ मन मैल लिहिन चढ़ाय ।
पाँच-पचीस कै धक्का खाइन, घरहुँ की पूँजी आई गँवायं ।

कह कबीर हेत कर गुरू सो, नहिं तोर मुकुती जाइ नसाय ।।

कबीर ने आचरणकी शुद्धता पर विशेष बल दिया था। वे जानते थे जिसका मन शुद्ध है, वही वास्तव में योगी है । तन की अपेक्षा यदि मन वश में किया जाता है तो अनायास ही सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है -

तन को जोगी सब करै मन को बिरला कोई ।

सब सिधि सहजै पाइये, जे मन जोगी होइ ।।

कबीर का स्पष्ट मत था कि ब्रह्मा उपादानों से ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे व्यक्ति सत्य से विमुख हो जाता है। वे ब्रह्मा को सर्वव्यापक, निरंजन, अनंत और निराकार मानते थे। कस्तूरी म ग नाभि में निवास करती है, परन्तु म ग उसे जानता नहीं, इसी प्रकार प्राणिमात्र में ब्रह्मा का निवास है, परन्तु भ्रमवश मनुष्य उसे पहचानता नहीं-

कस्तूरी कुंडलि बसै म ग ढूँढ़े बन माँहि ।
ऐसे घट-घट रामहै दुनिया देखै नाहि ।।

कबीर जानते थे कि अवतारवाद का कोई अंत नही है। अतः उन्होंने ब्रह्मा के सगुण रूप को नकारते हुए निर्गुण उपासना को स्वीकार किया। उन्होंने पुराणों में वर्णित तथा हिन्दुओं में मान्य अवतारों का प्रत्यक्ष विरोध किया। राम के सम्बन्ध में उनका अभिमत है कि ब्रह्मा हैं, परन्तु उन्होंने साकार रूप नहीं धारण किया। इसलिए वे दशरथ पुत्र राम को ब्रह्म मानने का विरोध करते हैं। उनका स्पस्ट कथन है :-

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना ।
राम नाम कर मरमु है आना ।।

धर्म साधना के क्षेत्र मे कबीर ने किसी भी भटकने वाले क त्रिम आचरण का विरोध किया। वे जानते थे कि मानव मन गुमराह करने वाले मार्ग पर चल रहा है जिससे सत्य की खोज नहीं हो सकती। तभी तो मन को सम्बोधित करते हुए वे कहते है कि हे मन ! तूने संसार के अधिपति की भक्ति नही की, अतः तेरा कोई कार्य नही बन सकता। वेद, पुराण, स्म तियों को पढ़कर तूने उनके मर्म को नही समझा। संध्या, गायत्री और षट्कर्म व्यक्ति को ईश्वर से दूर ले जाते है। वन खंड में जाकर तप करते हुए तूने कंदमूल फल खाये। ब्रह्मा ज्ञान और ध्यान में निमग्न रहकर तूने यम के पट्टे लिखवाये। रोजा रखे, नमाज पढ़ी और बांग देकर लोगों को बुलाया, काबा गया ; किन्तु हृदय में कपट होने के सांई के दर्शन से वंचित रहा :-

मन रे सर्‌यो न एकौ काजा ।
ताथैं भज्यों न जगपति राजा ।।
वेद पुराण सुम त गुन पढ़ि पढ़ि गुनि मरम न पाया ।
संध्या गायत्री अरू षट् करमां तिन थैं दूरि बतावा ।।
बन खंडि जाइ बहुत तप कीन्हाँ कन्दमूल खनि खावा ।
ब्रह्म गियांनी अधिक धियाँनी जम कै पटैं लिखावा ।
रोजा किया निवाज गुजारी बंग दे लोग सुनावा ।
हिरदै कपट मिलै क्यूं साई क्या हल काबै जावा ।।

इसलिए कबीर ने कर्म की शुद्धता तथा पवित्रता को विशेष महत्त्व दिया। स्वर्ण का कलश यदि सुरा से भरा हुआ है तो साधु जन निन्दित है। तथाकथित ऊँची जाति में जन्म लेने वाला व्यक्ति भी अधमता के कारण निन्दनीय है -

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ करनी ऊँच न होइ ।
सोवन कलस सुरे भर्या साधु निन्दा सोइ ।

कबीर ने सामाजिक रीतिरिवाजों की भी वैज्ञानिक एवं तर्क सम्मत विवेचना की है। कबीर एक ऐसे समाज के पक्षपाती थे जिसमें समतापूर्ण द ष्टि हो तथा पारिवारिक सम्बन्धों में यथोचित आचार-विचार का पालन हो। वे इस बात से दु:खी थे कि जीवित पिता पर डन्डों से प्रहार करने वाले, मरने पर पिता को मोक्षार्थ गंगा में प्रवाहित करते हैं। यह पाखण्ड और दिखावा मात्र है। लोकरीतिवश कर्मकाण्डों का पालन उन्हें सह्य न था। उनका मानना था कि आर्थिक रूप से विपन्न व्यक्तियों के लिए श्राद्ध कर्म और म त्यु भोज कितना कष्ट साध्य होता है। अतः उन्होंने इन सभी क्रियाओं को निरर्थक तथा हास्यास्पद बताया है, जब कि धर्म ग्रन्थ इन कर्मों का समर्थन करते हैं। कबीर इस बात पर आश्चर्यचकित है कि कौवे का खाया अन्न पितर कैसे प्राप्त करते हैं? कितनी अव्यावहारिक और अप्रामाणिक परम्परा समाज में व्याप्त है :-

जीवित पित्रहिं मारहिं डंडा। मूँवा पित्र लै घालहिं गंगा ।
जीवित पित्र कूँ अन न ख्वावै। मूँवा पीछे प्यंड भरावै ।।
जीवित पित्र कूँ बोलै अपराद्य। मूँवा पीछे देहिं सराध ।
कहै कबीर मोहिं अजरज आवै। कउवा खाइ पित्र क्यूँ पावै ।।

कबीर सामाजिक अनुशासनहीनता पसन्द नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने पिता के अपमान की भर्त्सना की है। यदि पिता के लिए कुछ करना है तो आत्मीयता पूर्ण व्यवहार करते हुए उनका सम्मान करना चाहिए। जीवित प्राणी का अपमान करके मरने के बाद म त्युभोज, श्राद्ध आदि कर्म ढकोसला है।

कबीर किसी भी प्रकार की हिंसा के सख्त विरोधी थे। बलि कर्म का विरोध करते हुए वे कहते हैं कि यदि जीव हिंसा धर्म है तो फिर अधर्म क्या है ?

जीव बधत अरूधर्म कहत हौ अधरम कहों है भाई ।
आपन तौ मुनिजन ह्वै बैठे कासनि कहों कसाई ।।

तत्कालीन समाज के रहन-सहन तथा आचार-विचार का वर्णन भी कबीर साहित्य में उपलब्ध है। मीर-मलिक और छत्रपति राजा उस समय प्रभुता सम्पन्न थे। प्रभुता सम्पन्न व्यक्तियों की मायाग्रस्तता के कारण कबीर सर्वथा उनसे असम्प क्त थे। कबीर लोक जीवन के कवि थे, अतः उनके रूपको में लोक जीवन के रीति-रिवाजों का प्रयोग मिलता है। आँधी का रूपक उनके लोक जीवन के उपादानों के प्रति अनुराग को व्यक्त करता है । निम्न वर्ग के घर छप्पर और मिट्टी से निर्मित होते थे। घर के अन्दर मिट्टी के पात्रों से द ष्टि से विपन्न व्यक्ति किसी तरह से जीविका का निर्वाह करते थे। आँधी तूफान में इनके घर गिरते देखकर कबीर का अन्तर्मन व्याकुल हो उठता है इसलिए वे ज्ञान विवेचना हेतु लोक संवेदना से ग हीत उपमान आँद्यी का प्रयोग करते हैं, जिससे लोक चेतना साकार हो उठी है :-

संतो भाई आई ग्यान की आंधी रे ।
भ्रम की टाटी सवै उडानी माया रहै न बांधी रै ।।
दुचिते की दोइ थुनी गिरानी मोइ बलींडा टूटा ।
त्रिस्नां छानि परी घर ऊपरि कुबुधि का भांडा फूटा ।।

आँधी से होने वाली क्षतियों का आत्मिक शत्रुओं से रूपक बाँधकर कवि ने अपने व्यापक लोकावेक्षण का परिचय दिया है। छप्पर के निर्माण और उसके विध्वंसन की प्रक्रिया से

जनमानस भलीभाँति परिचित है। मन की स्थिरता को द ढ़ करने तथा ज्ञान की महत्ता को सिद्ध करने में उक्त रूपक पूर्ण सफल है। कवि का साहित्यिक वैभव भी यहां पूर्ण उत्कर्ष पर है। अमूर्त उपमेयों के लिए यहां मूर्त उपमानों का विधान किया गया है। सामाजिक सम्बन्धों में पति-पत्नी का सम्बन्ध मधुरतम संबंध है। कवि साधना के रहस्यों को सरस शैली में व्यक्त करने के लिए लोक जीवन के आधारभूत दाम्पत्य प्रेम को माध्यम बनाता है।

दुलहिनि गावहु मंगलचार।
हम घर आये हो राजाराम भरतार।।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचातत्त बराती।
रामदेव मोरे पाहुने आये मैं जोबन मैं माती।।

कबीर समाज में व्याप्त आर्थिक शोषण तथा सामन्तों के शोषण के भी सर्वथा खिलाफ थे। धन-सम्पत्ति का लोभ सगे-संबंधियों से भी संबंध-विच्छेद कर देता है। भौतिक सुख साधनों की स्प हा समाज में ईर्ष्या-द्वेष की भावना प्रबल करती है। कबीर ने इस तथ्य को भलीभाँति देखा था। अतः वे चाहते थे कि परिवार की सुख-सम द्धि के लिए निक ष्ट साधन न अपनाए जायें, क्योंकि निकृष्ट कर्मों का फल कर्त्ता को ही प्राप्त होगा, अन्य कुटुम्बी उसका साथ नहीं देंगे :-

कुटुम्ब कारणि पाद कमावै तू जाणे घर मेरा।
ए सब मिले आप सवारथ इहाँ नही कौ तेरा।।

चित्त जब ऊर्ध्वगामी हो जाता है तब व्यक्ति भौतिक सुख-सम द्धि से सर्वथा मुख मोड़ लेता है। विषय-वासनाएँ उसको आक ष्ट नहीं कर पाती। पारिवारिक व्यक्तियों के प्रति भी उसका मोह समाप्त हो जाता है। वह मानवीय मूल्यों पर आधारित संत समाज का आश्रय ग्रहण करता है जहां अर्थ, लोभ, अहंकार आदि के लिए कोई स्थान नहीं है, परन्तु ज्ञानी व्यक्ति का यह आचरण पारिवारिक सदस्यों को नहीं सुहाता; तभी तो कबीर की माता कहती है :-

कबिरा संत नदी गयो बहि रे।
ठाठी माइ करारे टेरै है कोई ल्यावै गहि रै।

कबीर की कल्पना वर्ग विहीन समाज पर आधारित समाज के निर्माण की थी जिसमें वैर विहीन, स्वार्थविहीन, विषय वासनाओं से रहित होकर मनुष्य सौमनस्य पूर्वक अपना आत्मिक विकास कर सके। इसलिए कबीर ने अपने मार्ग को सहज मार्ग का नाम दिया। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं-

सहज सहज सब कोइ कहै सहज न चीन्हे कोइ।
जिन सहजै विषया तजी सहज कहीजै सोइ।।

यह मार्ग मानव का सबसे सुखद और स्वाभाविक मार्ग है। इस पथ पर आरूढ़ हो व्यक्ति जागतिक प्रपंचादि से मुक्त हो जाता है। उनके शिष्यों ने तत्कालीन आवश्यकता वश कालांतर में उनके नाम से पंथ का प्रवर्तन कर दिया, किन्तु कबीर को यह भी अभिप्रेत नहीं था। कबीर ने खण्डनात्मक शैली में जो कुछ भी कहा, वह वास्तव में समाज में व्याप्त बुराइयों के उन्मूलन और मानव मात्र के कल्याण हेतु कहा है किसी धर्म से द्वेषवश नही। वे मानव मात्र में ईश्वरीय सत्ता को अन्तर्भूत मानते थे। अतः उनका सिद्धांत सर्वव्यापक और सर्वजनहितकारी था।

सारांशतः कबीर का सम्पूर्ण जीवन चुनौतियों से भरा हुआ था। धार्मिक और सामाजिक

अराजकता के युग में जन सामान्य में सदाचरण का भाव जाग त कर शांति लाना कठिन समस्या थी। कबीर ने बहुत सोच-समझकर सामाजिक और धार्मिक प्रश्नों की तह तक जाने का प्रयत्न किया और अपने शिष्यों को कथनी और करनी में एकता रखने के लिए सदैव प्रेरित किया। उन्होंने प्रचलित धर्मों के मूल सिद्धान्तों का विरोध नही किया, वरन् बाह्याडम्बरों एवं कर्मकाण्डों की भर्त्सना की। अकारण ऊँच-नीच की भावना से ग्रस्त लोगों को क्षमा करना उन्होंने नही सीखा। भगवान के नाम पर छलावा करने वालों का उन्होंने खुलकर विरोध किया। समाज को गुमराह करने वालों पर भी उन्होंने तरस नहीं खाया। ऐसे लोगों के लिए वे उग्र और कठोर थे। युग परिवर्तन की शक्ति और विश्वास का उनमें मणिकांचन योग था। युग प्रवर्तक की क्षमता से वे ओत-प्रोत थे। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में" वे सिर से पैर तक मस्तमौला थे-बेपरवाह, द ढ़, उग्र, कुसुमादपि कोमल, बज्रादपि कठोर।

कबीर सम्प्रदायों, जातियों, आडम्बरों में जकड़ी हुई गुमराह मानव जाति को सद्मार्ग पर लाने के लिए प्रयत्नशील थे। एक सशक्त रचनाकार के रूप में उन्होंने युग के यथार्थ को पहचाना था। विरक्त संत होते हुए भी वे समाज के सर्वतोन्मुखी कल्याण के पक्षधर थे। ज्ञानमार्गी होते हुए भी प्रेम की महता को उन्होंने पहचाना था। वे एक क्रान्त द्रष्टा कवि थे जिन्होंने लोक संवेदना का साक्षात्कार समग्र रूप मे किया था। उनकी आध्यात्मिक साधना सामाजिक उत्कर्ष की पूरक थी। दया, करूणा, ममता, अपरिग्रह, अहिंसा, प्रेम, विनय, निरभिमानता आदि मानवीय मूल्य उनकी साधना के प्रमुख अवयव थे। उनके विचार और मान्यताएँ युग-युगान्तर तक मानव जाति का पथ प्रशस्त करती रहेंगी। भक्त होते हुए भी वे समाज सुधारक और मानवतावादी चिन्तक के रूप में सदैव स्प हणीय रहेंगे। इस सन्दर्भ में डा० रामकुमार वर्मा का मत सर्वथा समीचीन है :-

"कबीर अनुभूति सम्पन्न कवि और संत होते हुए भी समाज की अनिश्चित परिस्थितियों के प्रति उदासीन न रह सके, और वे भक्ति आन्दोलन के प्रमुख प्रवर्त्तकों में होते हुए भी समाज सुधार में अग्रणी बने।"

वर्णाश्रम धर्म, षट्दर्शन, योग, यज्ञ, व्रत, दान, रोजा, नमाज, हज, तीर्थयात्रा की निस्सारता को स्पष्ट और आक्रामक भाषा में कबीर से पहले और बाद में भी किसी ने व्यक्त नही किया। इनके वचनों में अनुभूत सत्य की गहराई और प्रखरता थी कि परस्पर विरोधी आचरण वाले हिन्दू और मुसलमानों दोनों ने श्रद्धा और प्रेम पूर्वक उनके शिष्यत्व को स्वीकार किया। नाभादास जैसे वैष्णव भक्त ने कबीर की निर्भीकता, स्पष्टवादिता और अनुभव की सच्चाई की भूरि-भूरि प्रशंसा की है-

भक्ति विमुख जो धर्म सु सब अधरम करि गायो।
योग यज्ञ व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।।
हिन्दु तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पक्षपात नहिं बचन सबन के हित की भाखी।।
आरूढ़ दशा है, जगत पर मुख देखी नाहिंन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दर्शनी।।

डॉ० राधाक ष्णन ने कबीर का मूल्यांकन करते हुए यथार्थ लिखा है :- "He laid stress on the inner purity of life without which fasts; pilgrimage and rites of no avail." अर्थात् उन्होंने हृदय की आन्तरिक विशुद्धता पर अधिक बल दिया, जिसके बिना व्रत, तीर्थयात्रा और कर्मकाण्ड का महत्त्व नहीं था।

4. कबीर धार्मिक चिन्तन

"सन्तौं ! राह दुओ हम दीठा ।
हिन्दू तुरक हटा नहिं मानैं। स्वाद सबन को मीठा ।।
हिन्दू बरत एकादशि साधे। दूध सिंधारा सेती ।।
अन्न को त्यागै मनको न हटकै। पारन करै सगोती।।
तुरक रोजा नमाज गुजारैं। बिसमिल बाँग-पुकारैं ।।
इनको बिहिस्त कहाँ से होवै। जो साँझै मुरगी मारैं।।
हिन्दु की दया मेहर तुरूकन की। दोनों घट से त्यागी।।
ई हलाल वै झटका मारैं । आग दोऊ घर लागी।।
हिन्दू तुरूक की एक राह है। सतगुरू सोइ लखाई।।
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तों। राम न कहूँ खुदाई ।।

'राह' का अर्थ हिन्दू-मुसलमान दोनों के मार्ग मत से है । कबीर कहते हैं, हे संतो ! हमने विवेकपूर्ण एवं वैचारिक द ष्टि से चिन्तन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दू-मुसलमान दोनों के मार्ग या मत एक ही हैं किन्तु दोनों की उपासना पद्धति एवं जीवनचर्या के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। मैंने दोनों राहों को देख लिया है और यह निश्चय किया है कि हिन्दू-तुरूक दोनों बड़े हठवादी एवं पक्षपाती हैं। कोई किसी विचारवान, सत्य, न्यायी, आप्तवक्ता के वचन नही मानता। श्रुति, स्म ति, कितेब एवं कुरान आदि द्वारा जो-जो युक्त मार्ग निकाले गये है ये सब जिह्वा के स्वाद हैं। इन दोनों को वे सभी मीठे लग रहे हैं। हिंसा करने में लेशमात्र भी दोनों को संकोच नही है। अन्त में कबीर कहते है कि हिन्दू-मुसलमान की पूजा पद्धति एवं जीवनचर्या अलग-अलग या दो नही अपितु एक ही है । सच्चे गुरू ने एक ही मार्ग दिखलाया है। इसी प्रकार के कुछ अन्य शब्द भी तुलना के लिए प्रस्तुत है :-

"हम तौ एक-एक करि जाना ।
दोई कहै तिन हीं कौं दोजग, जिन नाहिन पहिचाना ।
एकै पवन एक ही पानी ,एक ही जोति संसारा ।
एक ही खाक गढे सब भांड़े , एक ही सिरजन हारा ।।
जैसे बाढ़ी काष्ठ ही काटै ,अगिनि न काटै कोई ।
सब घटि अंतरि तूही व्यापक ,धरै सरुपै सोई ।।
माया मोहे अर्थ देखि करि ,काहै कूं गरबांना ।
निरभै भया कछू नहीं ब्यापै ,कहै कबीर दिवाना ।।"

हिन्दू-मुसलमान दोनों का स जक एक ही पंचतत्व एवं एक ही स जक द्वारा हुआ है ।

"अरे भाई दोइ कहाँ सो मोहि बतावौ ।
बिचिही भरम का भेद लगावौ ।।
जोनि उपाइ रची द्वै धरनी; दीन एक बीच भई करनीं ।।

राम रहीम जपत सुधि गई ,उनि माला तसबी लई ।।
कहै कबीर चेतहु रे भौंदू बोलनहार तुरक न हिन्दू ।।"

हिन्दू राम की उपासना माला जपकर करते हैं। मुसलमान रहीम की पूजा तसबी फेर कर करते हैं। वास्तव में राम-रहीम एवं माला-तसबी में कोई अन्तर नहीं है।

"ऐसा भेद बिगुर्चन भारी ।
बेद कतेब दीन अरु दुनिया ,को पुरुषों को नारी ।।
एक बूँद एकै मल मूतर ,एक चाम एक गूदा ।।
एक जोति थैं सब उतपनां, को बाह्यन को सूदा ।।"

ब्राह्मण अपने को ऊँचा एवं शूद्रों को नीचा मानते थे। कबीर ऊँच-नीच या ब्राह्मण-शूद्र में अन्तर नही मानते। इसलिए कहते हैं दोनों का स जन पंचतत्व से ही से हुआ है। विभेदक तो वेद एवं कतेब या पुराण-कुरान हैं। अन्यथा कोई हिन्दू नहीं, कोई मुसलमान नहीं। सभी इन्सान हैं। मरणोपरान्त कोई नाम-जाति नहीं होती है।

"हमरै राम रहीम करीमा केसो , अलह राम सति सोई।
बिसमिल कोटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।"

मुसलमानों के काजी, मुल्ला, पीर , पैगम्बर हैं जो रोजा रखने एवं पश्चिम दिशा को मुखातिब हो मस्जिद में नमाज अदा करने की हिदायत करते हैं। हिन्दू पूर्वाभिमुख हो देवी, देवता, ब्राह्मण आदि की पूजा मन्दिरों में करते हैं। वास्तव में परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। अन्यथा जहाँ मन्दिर-मस्जिद नहीं हैं वहाँ किसकी ठकुराई है ? कबीर ने मन्दिर-मस्जिद , पूरब-पश्चिम आदि की पूजा का खण्डन किया है ।

"काजी कौन कतेब बषानैं।
पढत पढत केते दिन बीते , गति एकै नहीं जानैं।।"

मुसलमान की सुनति प्रक्रिया की निन्दा करते हुए कबीर कहते हैं कि परमात्मा किसी को मुसलमान नहीं उत्पन्न करता अन्यथा सुनति की प्रक्रिया या मुसलमानी क्यो करनी पड़ती? स्वयं ही खतना हो जाता । स्त्रियों की सुनति नहीं की जा सकती। वे तो हिंदू ही रहती हैं। अर्थात मुसलमानों का अर्द्ध शरीर या अर्द्धांगिनी हिन्दू ही रहती है। इस प्रकार मुसलमान भी आधे हिन्दू रहते हैं।

"मुलां कहा पुकारै दूरि , राम रहीम रह्या भरपूरि।।
यहु तो अलह गूंगा नाहीं , देखै खलक दुनी दिल माहीं।।
हरि गुन गाई बंग मैं दीन्हां, काम क्रोध दोऊ बिसमिल कीन्हां ।
कहै कबीर यह मुलनां झूठा, राम रहीम सबनि मैं दीठा ।।"

मुसलमानों की बांग की निन्दा करते हुए कहते हैं कि क्या परमात्मा गूँगा-बहरा या दूर है जो मस्जिद पर चढ़कर बांग देते हो। वह सर्वत्र व्याप्त है तथा 'चींटी के पग नेउर बाजै सो भी साहेब सुनता है।'

"अलह ल्यौ लायै काहे न रहिये ।
अहनिसि केवल राम नाम कहिए।।
गुरमुखि कलमा ग्यान मुखि छुरी। हुए हलाल पंचू पुरी।।
मन समीति मैं किनहूँ न जानां। पंच पीरं मालिम भगवानां।।
कहै कबीर मैं हरि गुण गाऊँ। हिन्दू तुरक दोऊ समझाऊँ।।''

मुसल मानों के कलमा पढ़ने एवं हलाल की निन्दा की है।

"एक निरंजन अलह मेरा।
हिन्दू तुरक दुहूँ नहीं नेरा।।"

कबीर का मानना है कि निरंजन से मन लग जाने से व्रत-रोजा , पूजा , नमाज , हज या तीर्थ स्थान जाने की आवश्यकता नही। ये सभी निराधार एवं पाखण्ड हैं।

"आसण पवन कियै दिढ रहु रे।
मन का मैल छाडि दे बौरे।।
क्या सींगी मुद्रा चमकायै। क्या बिभूति सब अंग लगायै।।
सो हिन्दू सो मुसलमान। जिसका दुरस रहै ईमान।।
सो ब्रह्म जो कथै ब्रह्म गियान । काजी सो जाने रहिमान ।।
कहे कबीर कछू आन न कीजै । रांम नांम जपि लाहा लीजै ।।

प्रस्तुत शब्द में प्राणायाम, सींगी बाजा, मुद्रा तथा शरीर एवं बालों में राख मलने की निंदा की गई है ।

"भींतर थैं जब बाहरि आवा । सिव सकती द्वै नांव धरावा ।।
भूलै भरमी परै जिनि कोई । हिन्दू तुरक झूठ कुल दोई।।

जननी के जठर से जब शिशु का जन्म होता है उस समय वह पक्का इंसान होता है। संसार के लोग ही हिन्दू-मुसलमान की संज्ञा देते हैं । वास्तव में हिन्दू-मुसलमान दोनों कुल झूठे हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संत कबीरकालीन समाज में विदेशी मुस्लमान भारत में आकर शासक बन गये थे । बलात् धर्म परिवर्तन करवा कर हिन्दूओं को मुसलमान बना रहे थे । अपने धर्म को ऊँचा एवं हिन्दू धर्म को नीचा मानते थे । हिन्दूओं के समक्ष धर्म परिवर्तन से बचने एवं अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए देवी-देवताओं की उपासना, व्रत, पूजा, तीर्थाटन आदि बाह्यचारों एवं आडम्बरों की शरण में जाने के अलावा कोई उपाय न था । परिणामतः हिन्दू-मुसलमानों ने आडम्बरों एवं बाह्यचारों कों अपनाना प्रारम्भ ही नही कर दिया था अपितु इनमें अटूट विश्वास रखने लगे थे।

कबीर ने उस समय दोनों प्रमुख जातियों-हिन्दू-मुसलमान के आडम्बरों की निन्दा ही नही की है अपितु उनका घोर विरोध भी किया है जिनमें जाति-पाति, मुसलमानी, पूज्य दिशाएँ, मन्दिर-मस्जिद, व्रत, पूजा, सिर मुढ़ना, जप-तप, रोजा-नमाज,हज, पाहन पूजा, सालिग्राम, स्नान, माला, छापा, तिलक, तसबी, सींगी, मुद्रा, विभूति, पडित, शेख, मौलवी, काजी, पाण्डेय, परमात्मा,अल्लाह, राम, रहीम, खुदा, अलह, बिसमिल तथा देवी-देवता, दाह-दफन, दया-मेहर, बध -बकरी, बकरा, मुर्गी, भैंसा, गो तथा हलाल -झटका, कथा सुनाकर नीच कर्म करवाना, तीर्थ स्थान मक्का, मदीना, काबा, कर्बला, काशी, द्वारिका, मथुरा, मगहर, वेद-पुराण, कुरान, कतेब, बांग देना, स्वर्ग-नरक, बहिस्त, दोजख आदि को लेकर जितने बाह्यचार एवं आडम्बर प्रचलित थे उनका घोर विरोध एवं खंडन किया है :-

जाति-पाँति मुसलमानी संत कबीर नें उस समय की दोनों प्रमुख जातियों का विरोध किया है। उनका जाति-पाँति की व्यवस्था में विश्वास नही है। ब्राह्मणों की उच्चता को फटकारते हुए कहते है -

'जे तूँ बाँभन बमनी जाया,
तौ आन बाट ह्वै। काहे न आया ।।'

मुसलमानों को तीखे स्वरों में डाँट बताते हुए कहा है-

जे तूँ तुरकनी, तुरक जाया,
तौ भीतरि खतनां क्यूं न कराया ।।'

मुसलमानों पर तीखे प्रहार करते हुए कहते हैं कि यदि अपने आप को मुसलमान कहते हो, तो स्वंय ही खतना क्यों नही हो जाता परमात्मा किसी का खतना नही करता है अन्यथा अपने आप क्यों नही कट जाता है। मुसलमान पुरूषों का खतना तो कर लेते हैं स्त्रियों का क्यों नही करते। अर्द्धांग्नि कहलाने वाली स्त्रियाँ कभी साथ नही छोडती है। इस प्रकार आधे हिन्दू तो रहते ही हैं :-

'काजी कौंन कतेब बषांनै।
पढ़त पढ़त केतेदिन बीते, गति एकै नही जानै ।।'

अन्यत्र भी कबीर ने संतो की जाति के विषय में पूछे जाने पर कहा है :-

'जाति न पूछौ साधु की, पुछि लीजियो ज्ञान।
मोल करो तरवारि का, पड़ा रहन दो म्यान।।'

कबीर ने कहीं अपने को हिन्दू-मुसलमान नही कहा है अपितु जाति जुलाहा और कोरी कहा है।

पूज्य दिशाएँ

हिन्दू-मुसलमानों की क्रमशः पूरब और पश्चिम दो पूज्य-दिशाएँ हैं। इसी ओर मुख करके पूजा करते हैं। हिन्दूओं में पूरब दिशा इसलिए पूज्य है। क्योंकि उसी दिशा में सूर्यादय होता है सूर्य आर्यसमाजियों का सबसे बड़ा देवता होता है। देवताहो न हो सूर्य सबसे बडी शक्ति है। उसके बिना अधंकार या अज्ञान की कल्पना नही की जा सकती है। मुसलमान हिन्दुओं के विपरीत काम करते है इसलिए हिन्दूओं को पूरब को पूज्य मानने पर उन्होंने पश्चिम को परमपूज्य माना है अन्यथा यह भी हो सकता है कि उनके तीर्थ स्थान - काबा, कर्बला ,मक्का ,मदीना आदि भारत के पश्चिम में ही स्थित हैं। हिन्दू एकादशी गंगा ब्राह्मण की पूजा पूर्वभिमुख हो कर करता है, मुसलमान रोजा, नमाज पश्चिम दिशा की ओर मुख करके करता है-

'इनकै काजी मुला पीर पैकंबर, राजा पछिय निवाजा ।
इनकै पूरबदिसा देव द्विज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा।।
'पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकांमां।
दिल ही खोजि दिलै दिल भींतरि इहां राम रहिमांनां।।

मन्दिर - मस्जिद

दोनों के पूज्य स्थान मन्दिर -मस्जिद की संत कबीर ने कटु आलोचना की है। उनका कहना है जहाँ मन्दिर -मस्जिद नहीं हैं वहाँ किस की व्यवस्था है ? परमात्मा सर्वव्यापी है ऐसा काई स्थान नही जहाँ वह न हो फिर मन्दिर -मस्जिद की क्या आवश्यकता?

'कांकर पाथरजोरि करि मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बागं दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।
'जोगी जती तपी सन्यासी। मठ देवल बसि परसै कासी।।

तीन बार जे नित प्रति न्हावै। काया भींतरि खबरि न पावै।
देवल देवल फेरीदेहीं नाव निरंजन कबहुं न लेहीं।।

परमात्मा कहीं अन्यत्र नहीं अपितु मानव शरीर रूपी मंदिर में ही निवास करता है, जिसके दस दरवाजे है :-

'एकै मसीति दसौ दरवाजा ।
मन करि मका कबिला कर देही बोलनहार जगत गुर एही ।
उहां न दोजग भिस्त मुकांमां इहां ही रांम रहिमांनां।।

शरीर रूपी मंदिर मेंजब आत्मा का निवास रहता है तब तक वह ऐसा दीपित रहता है जैसे दीपक की ज्योति। आत्मा रूपी हंस के उड़ जाने पर लाश को छूत मानकर या भूत मानकर शीध्र ही घर से निकाल देते हैं :-

मंदिर माही झलकती, दीवा की सी जोति ।
हंस बटाऊ चलि गया, अभ काढौ घर की छोति

सिर मुड़ाना कपड़े रँगना

हिन्दू सन्यासियों के लिए कहा गया है।

'कबीर मूंड मुंडात दिन गये, अजहूँ न मिलाया राम।
राम नाम कहु क्या करै, जे मन के औरे काम।।

सन्यासियों की दूसरी पहचान गेरूआ वस्त्र होता है जिसके लिए कबीर ने कहा है :-

'तन न रंगयों, रंगयों जोगी कपड़ा।'
'स्वांग जती का बनाइकै, घर घर मागै भीख।'

कबीर का कहना है कि सिर मुड़ाना कपड़े रगँना आदि भेषाडम्बर हैं। इनमें परमात्मा की प्राप्ति नही अपितु भीख मिलती है जो पेट पूजा हेतु है।

व्रत-पूजा-जप-नमाज-रोजा-हज-पाहन पूजा-सालिग्राम पूजा

हिन्दुओं में व्रत, पूजा, जप-तप, पाषाण पूजा की पद्धति प्रचलित थी। मुसलमानों में रोजा, हजादि को प्रमुखता दी जाती थी। कबीर ने इनका घोर विरोध एवं खंडन किया है क्योंकि व्रत रखने के लिए व्रत नही किया जाता है अपितु स्वादिष्ट भोजन से पेट पूजा करना ही व्रत का उद्देश्य है :-

'तुरूक रोजा निमाज गुजारैं। बिसमिल बाँग पुकारै।।
इनको बिहिस्त कहाँ से होवै। जो साँझै मुरगी मारैं।।''
''ब्राह्मण ग्यारसि करै चौबीसौ, काजी माह रमजान।
ग्यारह मास जुदे क्युं कीये, एकहि मांहि समान।।

हज से प्रत्यावर्तित होकर मुसलमान कुछ दिन मौन साधना का दिखावा करते हैं मानो उनको खुदा मिल गया है। इसी कारण समस्त विश्व की ओर उनका ध्यान ही नही जाता है-

हज काबै है है गया, केती बार कबीर। मीरां मुझमें क्या खता, मुखां न बोलै पीर।।

उजू करने, जप करने, मंजन करने या मस्जिद में सजदा करने से कुछ नही होता है :-

"क्या उजू जप मंजन कीये, क्या मसीजि सिर नायें ।।"

कबीर का कहना है कि मैं भी मूर्ति पूजक होता। सद्गुरू की मुझ पर अतीव कृपा हुई जो उन्होंने मेरे सिर पर से भार उतार दिया है ।

हम भी पाहन पूजते, होते बन के रोझ ।
सतगुर की किरपा भई, डारा सिरतैं बोझ।।

हिन्दू काले पत्थर की गोलाकार आकृति को विष्णु का प्रतीक मानते हैं जैसे लिंगाकार पत्थर की पिन्डी को शिव का प्रतीक मानते हैं। शिव की अपेक्षा शिवलिंग की ही अधिक पूजा होती है शिवलिंग कैसे कबीर की द ष्टि से ओझल हो गया। उसके खण्डन-मण्डन के विषय में कुछ नही मिलता किन्तु सालिग्राम की कटु आलोचना की है ।

''सेवै सालिगरांम कौं, मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सुपिनै नही, दिन दिन अधिकी लाइ।।

स्नान-माला-छापा-तिलक-सींगी-मुद्रा-विभूति एवं तसबीहः

हिन्दूओं में स्नान, गंगा स्नान, पर्वस्नान, माला, छापा, तिलक, सींगी, मुद्रा तथा शरीर पर विभूति या राख मलने की परम्परा प्रचलित थी। मुसलमान भी माला जपते है किन्तु उसे तसबी की संज्ञा से अभिहित किया गया हैं। कबीर ने इन सब का घोर विरोध एवं अतीव खडंन किया है।

"कंठी बाँधे हरि मिलै तौ बंदा बाँधे कुँदा ।।"
"राम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई ।।"

पंडित-पांडेय-शेख-मौलवी-काजी-मुल्ला-मींया

हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों के धर्म एवं समाज के ठेकेदार पंडित, पांडेय, शेख, मौलवी, काजी थे । कबीर ने इनका घोर विरोध एवं खंडन किया है । ब्राह्मण अपने को मुसलमानों से इसीलिए श्रेष्ठ मानता है कि मुसलमान गोवध करता है तो ब्राह्मण उससे कम कहाँ है ? जो बकरा और भैंसे की बलि चढ़ाता है। पाँडे की निन्दा करते हुए कबीर उन्हें कसाई कहने में भी नही हिचकिचाते :-

''संतो! पाँडे निपुण कसाई।
बकरा मारि भैसां पर धावै। दिल में दर्द न आई।।
करि अस्नान तिलक दै बैठे। बिद्य सो देवि पुजाई।
आतमराम पलक में बिनसे। रूधिर की नदी बहाई।।।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये। सभा माहि अधिकाई।
इन्हते दीक्षा सब कोई मांगै। हँसि आवै मोहिं भाई।
पाप कटन को कथा सुनावैं। कर्म करावै नीचा।
हम तों दुनों परस्पर देखा।यम लायेहैं धोखा।।
गाय बधेते तुरूक कहिये । इनते वै क्या छोटे।
कहहि कबीर सुनो हो संतो कलिमा ब्राह्मण खोटे।।

देवी-देवता, परमात्मा-अल्लाह-राम-रहिम-खुदा-अलह-बिसमिल

देवी-देवताओं में कबीर का विश्वास नही है । इसलिए उनका घोर खंडन किया है । उनका एक मात्र विश्वास अलख निरंजन, निरगुण निराकार परमात्मा में है । जिसके लिए परमात्मा, अल्लाह, राम, रहिम, अलह, बिसमिल आदि अनेक नामों से का उल्लेख किया है ।

राम संसार प्रसिद्ध दशरथ के बेटे नही है ।

"कहहिं कबीर सुनों हो संतो। राम न कहूं खुदाई ।।
हिन्दू मूये राम कहिं मुसलमान खुदाई ।
काबा फिर कासी भया, राम भया रहिम ।"
राम रहिम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबीह लई ।
"हमरै राम रहीम करीमा केसो, अलह रांम सति सोई ।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और नं दूजा कोई ।। "
"कहै कबीर यह मुलनां झूठा, रांम रहिम सबनि मैं दीठा ।।"
"दिल ही खोजि दिलैं दिल भीतरि, इहां रांम रहिमांना ।।"

दया-मेहर

हिन्दूओं में दया नाम की चीज नहीं रह गई है । मुसलमान किसी पर मेहरबानी नहीं कर सकते हैं क्योंकि दोनों ने अपने मन से दया-मेहर नामक स्थायी भाव को त्याग दिया है अन्यथा वे झटका-हलाल का नाम देकर पशुओं की हिंसा क्यों करते :-

"हिन्दू की दया मेहर तरूकन की । दोनों घट सों त्यागी ।।
ई हलाल वै झटका मारैं । आग दुनों घर लागी ।। "
वध- बकरी-बकरा-मुर्गी, भैंसा, गो तथा झटका-हलाल

हिन्दु-मुसलमान दोनों जातियों में पशु हिंसा वीभत्स रूप धारण कर चुकी थी। बलि के नाम पर हिंसा हो रही थी। कबीर ने इसका विरोध एवं डटकर खण्डन किया है :-

बकरी पाती खात है ताकर काढ़तखाल।
जो नर बकरी खात है उनका कौन हवाल ।
संतो पांड़े निपुण कसाई।
बकरा मारि भैसां पर धावैं। दिल में दर्द न आई।।
करि अस्नान तिलक दै बैठे। बिद्य सो देवि पुजाई।
आतमराम पलक में बिनसे। रूधिर की नदी बहाई।।
गाय बधेते तुरूक कहिये । इनते वै क्या छोटे।
कहहि कबीर सुनो हो संतो। कलिमा ब्राह्मण खोटे।।

मुसलमान गो वध करते हैं तो ब्राह्मण बकरा भैंसा की बलि चढ़वाते हैं, ये क्या उनसे कम हैं। दोनों एक दूसरे से बढ़कर हैं :-

''कहौ हलाल क्या कीता।
x x x
कुकडी मारै बकरी मारै। हक्क हक्क करिबोलै।।
जाकौं दूध धाइ करि पीजै। ता माता कौ बध क्यूँ कीजै।।
लहुरै थकैं दुहि पीया खीरा। ताका अहमक भषैं सरीरा।।
''तुरूक रोजा निमाज गुजारैं। बिसमिल बाँग पुकारैं।।
इनको बिहिस्त कहाँ से होवै। जो साँझै मुरगी मारैं।।
x x x x x x
ई हालल वै झटका मारैं आग दुनों घर लागी ।।
''जीव बधत अरू धरम कहत है, अधरम कहां है भाई।

आपन तौ मुनिजन ह्वै बैंठे, का सनि कहौ कसाई।।

कथा सुनाकर नीच कर्म करवाना

हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों में पाप मोचन का एक मात्र उपाय कथा श्रवण करवाना था। मनगढ़न्त काहनियाँ बनाकर लोगों को सुनाकर उनको बेवकूफ बनाते थे तथा नीच कर्म करवाते थे। कबीर ने इसका खण्डन करते हुए कहा है :-

पाप कटन को कथा सुनावै। कर्म करावैं नीचा।

जगन्नाथ-तीर्थस्थान

मक्का - मदीना - काबा - कर्बला - काशी - द्वारिका - काशी - मगहर

तीर्थस्थानों का कबीर ने जमकर विरोध किया है उनका इनमें विश्वास नहीं है। तभी तो आजीवन काशी में रहकर मरने के लिए मगहर चले गये। उन्होंने कहा है :-

जौ काशी तन तजै कबीरा तौ रामहिं कौन निहोरा रे।।

x x x x x x

जस काशी तस मगहर ऊसर,हिरदै राम सति होई।।

''काबा फिर कासी भया राम भया रहीम।।

वेद-पुराण-कुरान-कतेब

विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। वेद और पुराण हिन्दूओं के धर्म ग्रन्थ हैं। मुसलमानों का धर्म ग्रन्थ कुरान है। उसी को कहीं कतेब भी कहां है। इन धार्मिक ग्रन्थों की कबीर ने निन्दा नही की है अपितु जो इन पर विचार नही करते हैं, उनकी निन्दा की है :-

पढ़ि पढ़ि पंड़ित बेद बषांणैं, भींतरि हुती बसत न जांणै।
बेद कतेब दीन अरू दुनियां कौन पुरिष कौन नारी।।
काजी कौन कतेब बषानै ।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते गति एकै नहीं जानै।।

x x x x x x

छांड़ि कतेब राम कहि काजी, खून करत हौ भारी ।।
बेद कतेब कहौ क्यूं झूठा, झूठा जों न विचारै।

बाँग देना

मुसलमान दिन में पाँच बार या प्रतिदिन कम से कम एक बार नमाज पढ़ते हैं। एक मौलवी मस्जिद के ऊपर चढ़कर ध्वनि विस्तारक यंत्र पर जोर-जोर से बोल कर नमाज पढ़ता है जिसे बाँग देना कहते हैं। कबीर ने तीव्र स्वरों में इसका विरोध करते हुए कहा है :-

कांकर पाथर जोरि करि मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।

श्राद्ध

हिन्दुओं एवं मुसलमानों दोनों में मरणोपरान्त अनेक कर्म किये जाते हैं जिनमें दान-भोजन आदि प्रमुख हैं। जीवित माता पिता की सेवा नही करते, मरणोपरान्त समाज में अपनी प्रतिष्ठा व द्धि हेतु भोजन करवाते है व वस्त्र-धनादि का दान करते हैं। कबीर ने खुलकर इनका विरोध करते हुए कहा है :-

''ताथें कहिऐ लोकाचार। बेद कतेब कथै व्यौहार ।।
जारि बारि करि आवै देहा। मूवां पीछै प्रीति सनेहा।।
जीवत पित्रहि मारहिं डंगा। मूवां पित्र ले घालैं गंगा।।
जीवत पित्र कूं बोलैं अपराध। मूवां पीछैं देहि सराध।।
कहै कबीर मोहि अचिरज आवै। कऊवा खाइ पित्र क्यूं पावै।।

स्वर्ग-नरक-बहिस्त-दोजख

हिन्दुओं एवं मुसलमानों दोनों में मरणोपरान्त स्वर्ग-नरक में जाने की कल्पना कर रखी है जिसमें उनका द ढ़ विश्वास है कि अच्छे कर्मों का परिणाम स्वर्ग एवं बुरे कर्मों का परिणाम नरक होता है। कबीर को बहिस्त-दोजख या स्वर्ग-नरक में किंचित मात्र भी विश्वास नहीं है अपितु वे इसकी घोर निन्दा एवं तीव्र खण्डन करते हुए कहते हैं -

''योजन एक परमिति नहिं जानै, बातन ही बैकुंठ बंखानै।।
''मन करि मका,कबिला करि देही। बोलन हार जगत गुर येही।
उहाँ न दोजग भिस्त मुकांमा, इहां ही रांम इहां रहिमांना।।
''दिल नही पाक पाक नही चीन्हां उसदा खोज न जांनां।
कहै कबीर भिसति छिटकाई, दोजग ही मन मांना।।
''तुरूक रोजा निमाज गुजारैं। बिसमिल बाँग पुकारै।
इनको विहिस्त कहाँसे होवै। जो साँझैं मुरगी मारैं।
''कबीर उतथैं कोइ न आवई,जाकौं बूझौं धाइ।
इतथैं सबै पठाइयैं,भार लदाइ लदाइ।।

संक्षेप में कह सकते है कि तत्कालीन समाज में विशेषकर हिन्दुओं एवं मुसलमानों में जितने आडम्बर एवं बाह्याचार प्रचलित थे उनका कबीर ने तीव्र स्वरों में विरोध किया और प्रबल खण्डन करते हुए अपने को परमात्मा बतलाते हुए ' अहं ब्रह्मास्मि' की उक्ति को चरितार्थ किया है :-

''हम सब माहि सकल हम माही।
हम थे और दूसरा नाही।।
तीनि लोक में हमर पसारा आवगमन सब खेल हमारा ।।
खट दरसन कहियत हम भेखा।हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा ।।
हम ही आप कबीर कहावा । हमहीं अपनां आप लखावा ।।

5. कबीर के राम

एक युग था जब भारतवर्ष में उपासना और भक्ति जीवन का अंग समझी जाती थी। राजा से रंक तक, विशिष्ट से साधरण तक इससे प्रभावित थे और उपासना का एक न एक पक्ष सभी को अपने जीवन में अपनाना ही होता था । उपासना में निर्गुण और सगुण विषयक मत वैषम्य पुराने हैं, पर एक समय ऐसा आया जब कि सगुण रूप कुछ अधिक संकीर्णता से घिर गया और निर्गुण को अपने अन्तर्गत धारण न कर सका । सगुण का अवतारी और मूर्तिपूजा का रूप धीरे- धीरे इतना रूढ हो गया कि पूजारी जड़ प्रतिमा की आराधना और पूजा करते करते स्वंय जड़ हो गया। प्रतिमा में स्थित भगवान का दर्शन, दर्शन-लोभी, स्वच्छ-हृदय, परिष्क त जीवनवालों को भी अस्प श्य वर्ग में होने के कारण, आराधना, दर्शन, पूजा और प्रसाद सभी से वंचित कर दिया गया किन्तु उन वंचित करने वालों को अजामिल, व्याध, गणिका के उद्धार की बातें यथार्थतः समझ में न आईं और न यही समझ में आया कि क्या भगवान् उस मूर्ति या मन्दिर में कैद रह सकता है, जिसका कि पुजारी रखवाला है । अतः इस प्रव ति के कारण निर्गुण और सगुण विषयक मतभेद और भी अधिक गहरा हुआ ।

यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि निर्गुण और सगुण शब्दों के यथार्थ और प्रयुक्त अर्थ क्या थे और हमारे हिन्दी काव्य में उनका किन अर्थों में साधारणतः प्रयोग हुआ है। निर्गुण का अर्थ है जिससे गुण निकल गए हों निर्गताः गुणाः यस्मात् स निर्गुणः अतः ईश्वर के इस विशेषण का अर्थ हुआ, गुणों से रहित, गुणो से परे। पर उसका यह अर्थ नही कि निर्गुण वह वस्तु है जिसमें कोई गुण ही न हो, बेकाम हो। ईश्वर गुणों से रहित नहीं गुणों से परे है। उसमें गुण है, असंख्य गुण हैं, अलौकिक गुण हैं। जब अलौकिक गुण है, तब हम उसे निर्गुण नहीं कह सकते, वह सगुण अवश्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर निर्गुण होते हुए भी सगुण है। इनमें से एक को भी भुला देने से हम भ्रम में पड़ जायेंगे। यह मेरा अपना निष्कर्ष नही; तुलसी और कबीर सगुण और निर्गुण धाराओं के सबसे बडे दो खेवनहारों की भी अपनी यही राय है। तुलसी कहते है

हिय निरगुण नयनन्हि सगुण, रसना नाम ललाम ।
मनौ पुरट संपुट धरे, तुलसी ललित ललाम ।।

हृदय निर्गुण पर विश्वास करता है, नेत्रों को सगुण रूप अच्छा लगता है, जिह्वा 'राम नाम के रत्न को ग्रहण करती है, तुलसी कहते है कि यही सोने के संपुट में रखे रत्न की यथार्थ पूजा है और कबीर भी यही कहते हैं :-

सरगुण की सेवा करो, निरगुण का करू ज्ञान ।
निरगुण सरगुण के परे, तहाँ हमारा ध्यान ।।

सेवा करने के लिए सगुण अच्छा है और ज्ञान के लिए निर्गुण, पर यथार्थ में हमारा, निर्गुण सगुण के भ्रम से परे होकर परमात्मा में होना चाहिए। यह परमात्मा न अकेले निर्गुण विशेषण से बंधा है और न अकेले सगुण विशेषण सें ही।

सगुण का यथार्थ अर्थ प्रक ति के तीन गुण-सत्-रज्, तम् से संयुक्त और निर्गुण का

यर्थाथ अर्थ इन तीन गुणों से परे है। किन्तु निर्गुण और सगुण का परंपरागत और जन साधरण में अर्थ, निराकारी और साकार का ही समानार्थी बन गया और धीरे धीरे यह मत वैषम्य अवतारी और निराकार के रूप में ही सीमित रह गया । ईश्वर को एक सप्रदाय निर्गुण, निराकार और आजन्मा मानता था और दूसरा अनेक प्रकार के अवतार लेने वाला मानकर उसकी मूर्ति की पूजा करने वाला था । दोनों का विरोध भी काफी विकराल रहा और यहाँ तक कि तत्वतः जो धारणाएँ एक दूसरे की पूरक थीं, एक दूसरे की विरोधी समझी गई।

वैष्णव भक्तों में निर्गुण सगुण के सामंजस्य का सबसे अधिक श्रेय सांप्रदायिक द ष्टि से रामानंद को प्राप्त हुआ था। उनकी द ष्टि में दोनों का ही महत्व है और सम्बन्धित धारणाओं के दोनों रूपों का विकास हमें रामानंद की शिष्य मंडली के दो सन्तों तुलसी दास और कबीर की रचनाओं और उपदेशों में देखने को मिलता है और यहाँ पर भी समझने की बात है कि दोनो के विचार और प्रचार का उद्देश्य, दोनों रूपों का सामंजस्य करना था, विरोध करना नही, अन्तर केवल इतना है कि कबीर ने ईश्वर का निर्गुण रूप ही ग्रहण किया और परम्परागत रूप और धारणा का तिरस्कार किया जबकि तुलसी ने परम्परागत रूप लेते हुए भी निर्गुण और सगुण का सामंजस्य स्थापित किया ।

राम का परम्परागत रूप, राजा, महापुरूष और ईश्वर के अनेक अवतारों में से एक अवतार है। तुलसी ने इन सबको मानते हुए भी निर्गुण परब्रह्म से (जिसका रामनाम सबसे अधिक महत्व का है) इन सभी रूपों को एक में मिला दिया है। कबीर ने परम्परागत रूप का बहिष्कार करके कहा है :-

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना ।
राम नाम कर मरम है आना ।।

कबीर केवल 'राम' नाम के 'आन' अन्य दूसरे मर्म पर ही अपनी उपासना केन्द्रित करते हैं दशरथ सुत का नाम राम इसी प्रकार से है जैसे कि कोई राजा अपने लड़के का नाम परमेश्वर रख दे, परन्तु इस नाम से वह परमेश्वर नही हो जाता।

पर तुलसी की धारणा राम के विषय में कुछ दूसरे प्रकार की है। नामकरण के अवसर पर :-

जो आन्नद सिंधु सुख रासी । सीकर ते त्रैलोक सुपासी ।।
सो सुखधाम राम अस नामा । अखिल लोक दायक विश्रामा ।।

अतः यह राम नाम सार्थक है। उसके गुणों के अनुसार है, केवल अनुसरण मात्र नही है। शंकर-पार्वती-संवाद में गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट कह दिया है कि यहाँ राम जो कि दशरथ-कौशल्या के पुत्र और अयोध्या के राजा है, पर ब्रह्म, निर्विकार, अजन्मा ईश्वर हैं। उनका विचार है कि अत्याचार और अधर्म के बहुत अधिक बढ जाने पर और भक्तों के पीड़ित होने पर, भक्तों के विश्वास के अनुसार वह ईश्वर साकार रूप धारण करता है। राम वहिं साकार रुप है। इन्हीं का निराकार रूप परब्रह्म है। राम के परब्रह्म स्वरुप के विषय में तुलसी की अनेक उक्तियाँ कबीर के समान ही हैं। जैसै :-

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनिय सयानि ।।
राम ब्रह्म चिनमय अविनासी। सर्वरहित सब उर पुर बासी।।
अन्त कोई जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा।
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै विधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भेागी। बिनु बानी वकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। गहई ध्रान बिनु बास असेषा।।

यह रुप बुद्धि संयत है, यथार्थ रुप है और ज्ञान गम्य है, पर ऐसा ब्रह्म भक्तों पर करूणा या दया तब तक नहीं कर सकता जब तक उसमें हृदय पर प्रभाव डालने वाले कुछ गुण न हों। अतः वह कह सकते हैं -

जेहिं इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दशरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान।।

परन्तु यह बात कि ईश्वर अवतार लेता है, भक्तों का दुःख दूर करता है, सगुण और साकार रुप में उन्हें दर्शन देता है और दशरथ के पुत्र राम या देवकीनंदन क ष्ण वही परब्रह्म थे, कबीर नहिं मानते। वे इन बातों को झूठा विश्वास कहते हैं। उनका विचार है कि ईश्वर बहुत बड़ी शक्ति है और यदि कोई राजा प थ्वीभर का शासक हो सके, सब पर प्रभाव डाल सके तब भी ईश्वर नही हो सकता। वह तो मनुष्य ही होगा। हाँ, वह अधिक शक्तिवान, सौंदर्यवान, शीलवान हो सकता है, पर ईश्वर तो इन सबसे परे है। जन्म लेना और मरना उसका काम नही। किसी अत्याचारी का नाश करने के लिए उसे अवतार लेने की क्या आवश्यकता है ? वह तो इच्छामात्र से जिसका संहार चाहे कर सकता है। यदि यह कहा जाय कि वह लीला करने के लिए ऐसा करता है, तो भी ठीक नही है; उसकी लीला तो यों ही सम्पूर्ण विश्व में चला करती है। उसे अवतरित होकर लीला करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह जो कुछ भी है वह उसकी माया है, ईश्वर नही है। कबीर कहते हैं :-

संतो आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके ना कहुं गया न आया।
वे कर्ता न बराह कहावै, धरणि धरैं नहिं भारा।
ई सब काम साहेब के नाहीं, झूठ गहै संसारा।।
x x x x x
सिरजनहार न ब्याही सीता जल पखान नहि बंधा।
वे रघुनाथ एक कै सुमिरै जो सुमिरै सौ अंधा।।
दस अवतार ईसरी माया कर्ता कै जिन पूजा।
कहै कबीर सुनो हो संतो उपजै खपै सो दूजा।। ५

उत्पन्न होने वाला और भरने वाला व्यक्ति परब्रह्म नहीं हो सकता; वह राम नहीं है, यह कबीर की मान्यता है। यों देखा जाय तो कबीर जिस तर्क को लेकर चलते है वह वही संदेह है जो सती के हृदय में राम को सीता-वियोग में विलाप करते हुए देखकर हुआ था और जिसकी शंका पार्वती को भी थी, जिसका मोह गरूड़ का राम के नागपाश में पड़ने पर हुआ था। तुलसी ने अपने मानस में इस शंका का निवारण तर्क द्वारा नही किया वरन् उन्होंने धार्मिक भय या परम्परा का विश्वास जाग त करके किया है कि जिससे शंका का समाधान केवल यह कहकर होता है कि यह विलाप, भी उनके लिए एक लीला है और लीला के समर्थन में वे स्थान -स्थान पर राम की अलौकिकता और ब्रह्मत्व की और संकेत करते चलते हैं और विराट रुप और अद्‌भुत शक्ति का वर्णन भी करते हैं। किन्तु तुलसी का सघन विश्वास ही है जिसको उन्होंने बड़ी ही युक्ति द्वारा जगाया है। शंकरजी पार्वती से कहते है :-

उमा प्रश्न तवे सहज सुहाई। सुखद संत संमत मोहि भाई।।
एक बात नहि मोहि सुहानीं। जदपि कोह बस कहेउ भवानी।।
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहि मुनि ध्याना।
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोहं पिसाच।

पाखंडी हरि पद विमुख जानहि झूठ न साँच।।
जिसके सूझ न लाभ न हानी । कहहि ते वेद असंमत बानी।।
जिनके अगुन न सगुन विवेका। जल्पहि कल्पित बचन अनेका।।

तुलसी की द ष्टि से यह शंका सज्जनों के ह्रदय में नहीं उठनी चाहिए ; किन्तु यह शंका का उत्तर नही हुआ । किसी प्रश्न का उत्तर यह नहीं होता कि यह प्रश्न ही न करो । तुलसी का यह उत्तर पौराणिक, धार्मिक एवं भक्तों को सतुंष्ट कर सकता है, पर सबको संतुष्ट करने का गुण इसमें नहीं है। इसको सत्य मानने के लिए सभी तैयार नही हैं क्योंकि बिना आत्मानुभव हुए किसी बात को मान लेने में कभी कभी हानी भी होती है। अतः जिस शंका का तुलसी ने इस प्रकार समाधान किया है कबीर ने उसी को उठाकार अपने ईश्वर को, अपने राम को निर्गुण बताया ओर उन्हे अवतार लेने वाले राम से भिन्न कहा है।

यह निर्गुण या निराकार ईश्वर जिसे कबीर राम कहते हैं ज्ञान का आधार ही हेा सकता है , भाव का आधार नहीं। कबीर ने अपने निर्गुण राम को भी भावगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। इसी निर्गुण राम की उपासना या भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले कबीर के उद्‌गार ही रहस्यवादी उद्‌गार हैं।

कबीर का निर्गुण ब्रह्म का निरुपण यथार्थ में सगुण और साकार रुप या अवतारवाद की धारणा के विरोध में ही आया है। कबीर इसको बराबर कहते हैं कि उसका वर्णन नही हों सकता । वह रामतत्व इन्द्रियगोचर नही हैं, उसका कोई रुप नहीं, वह अत्यन्त सूक्ष्म है। वे कहते हैं :-

जाके मुँह माया नहीं, नाहीं रूप कुरुप।
पुहुप बास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप।।
देहि माह विदेह है, साहब सुरति सरूप।।
अनत लोक में रमि रहा जाकें रंग न रूप।।

उसका वर्णन करना कठिन है जो कुछ भी उसके लिए कहा जाएगा, वह पूर्ण रुप से सत्य नहीं है इसी के कारण उसके विषय में कथन और विश्वास बडी सावधानी से ग्रहण करने चाहिए। वह विरोधी गुणों वाला है। तुलसी ने उसे निर्गुण और सगुण दोनो ही माना है। कबीर कहते हैं कि वह इन दोनों से परे है अर्थात इनमें से किसी एक मे बँधता नहीं है। कथन अनेक कहे गए हैं, परब्रह्मं के लिए जितने कथन है उन्हे कान खोलकर विवेक के साथ ही ग्रहण करने चाहिए।कोई भी रुढ धरणा भ्रमात्मक हो सकती है। अतः वे कहते हैं :-

संतो धोखा कासूं कहिए।
गुण में निर्गुण निर्गुण में गुण।
बाट छाँड़ि क्यों बहिए।
अजरा अमरा कथै सब कोई,
अलख न कथणां जाइ,
नाहि सरूप वरण नहि जाके,
धरि धरि रह्यो समाई।
पिंड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई,
वाके आदि अरु अंत न होई।
पिंड ब्रह्मण्ड छोड़ि जे कथिए ,
कहै कबीर हरि सोई।

जिसका वर्णन करना ही कठिन है, उसका अनुभव करना तो औार भी कठिन है। पर कबीर का विचार है कि साधक नित्य प्रति सत्य नियमों का पालन करते रहने पर उसका अनुभव कर सकता है। यथार्थ में वह अनुभव गम्य व भावगम्य ही है इन्द्रिगयम्य नहीं और अनुभव प्राप्त करने के लिए उन्होंनें हठयोग का सहारा लिया। कुंडलिनी को जगाकर अष्टकमलों और छः चक्रों द्वारा सहस्र कमल पर पहुँचकर ज्योति के दर्शन करना, और अनहद नाद का सुनना आवश्यक माना है। पर यह सब समझने की बात नहीं, करने की बात है और इस क्रिया के साथ -साथ 'सहज' अनुभव का प्रयोग बराबर चलना चाहिए, अन्यथा साधक फिर रुढि में पडकर उसका अनुभव नही कर सकता, बीच में ही रह जायेगा। 'सहज' अनुभव प्रत्येक साधक का अपना है। यह एक प्रकार की समाधि है, एक प्रकार की मनोव ति है, एक प्रकार की लगन और तन्मयता है जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य की द ष्टि ही बदल जाती है। इस सहज समाधि को कबीर यों कहते हैं-

संतो सहज समाधि भली।
साई ते मिलन भयो जा दिन तें सुरत न अंत चली।
आंख न मूँदूँ कान न रुँधूँ, काया कष्ट न धारुँ।
खुले नैन मैं हँस-हँस देखूँ, सुन्दर रुप निहारुँ।
कहूं सो नाम सुंनू सो सूमिरन, खाउँ पियौं सो पूजा।
गिरह उजाडे एक सम लेखौं, भाव न मानौं दूजा।
जहँ जहँ डोलौं सो पैकरमा, जौ कुछ करौं सौं सेवा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, पूजौं और न देवा।

कह कबीर यह उन्मुनि रहनी सो परगट कर भाई।
दुख सुख से कोई परे परम पद तेहि पद रहा समाई।।

इस प्रकार समाधि अवस्था की प्राप्ति होती है तभी राम का अनुभव प्राप्त होता है। इस प्रकार के अनुभव का वर्णन नहीं हो सकता। यह दशा कबीर ने इसी भाँति वर्णित की है जैसी कि गुंगे की गुड़ या शक्कर खाने की अवस्था में होती है। उसे जो आनंद होता है उसका जो वह अनुभव करता है पर कहने में सर्वथा असमर्थ है।

निर्गुण और निराकार मानते हुए भी 'कबीर' ने 'राम' की शक्ति, उनके तेज और देश का वर्णन किया है।वह वर्णन अलौकिक है। उसकी माया की शक्ति अपार है जिसके वश में होकर बडे- बडे ज्ञानी और ऋषि मुनि तक नाचते है। राम का रुप अलौकिक है। कबीर कहते हैं कि जिस आत्मा को उस रुप की एक झलक मिल गई वह उसी रुप पर मुग्ध हो गई। उसने उसे पति मान लिया- स्वामी समझा और ऐसी दशा में यह लौकिक जीवन एक विरहणी का सा जीवन है जो कि सदा ही प्रिय से मिलने के लिए छटपटाती रहती है। प्रिय के रुप वर्णन के साथ इस छटपटाहट का भाव नीचे के पद में व्यक्त हुआ है :-

ऋतु फागुन की नियरानी हो, कोई पिया से मिलावे।
पिया को रुप कहाँ लग बरनु, रूपहिं माहिं समानी।
जो रंग रंगे सकल छबि छाकैं, तन मन सबै भलानी।
यों मत जाने यहि रे फाग है, यह कुछ अकह कहानी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह गत बिरले जानी।।

इस प्रकार का अनुभव साधक का है। उसकी दशा राम के वियोग में विरहिणी की सी है। संसार में मन नहीं लगता, वह उसी आनंदमय, परमात्मा पति के पास जाना चाहती है। उस

निर्गुण, निराकार, अलौकिक अमिट तेज वाले को अपना पति समझना, उसे प्रिय कहके पुकारना यह रहस्यवादी प्रव ति है। कबीर अपने प्रिय के वियोग में कहते हैं-

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहि चैन रात नहिं निंदिया, तलफ के भोर किया।
तन मन मोर रहँट अस डौले, सून सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भए पंथ न सूझै, सोई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरो पीर दुख जोर किया ।

यह उस राम के विरह की दशा धीरे धीरे ऐसा रूप ग्रहण करती है कि उस निर्गुण और आनंदमय, ज्योतिर्मय से विछोह की भावना ही नित्य प्रति की प्रमुख भावना हो जाती है और इस लौकिक जीवन का अन्त भी आध्यात्मिक विरह की दशा में उसी प्रकार आंनददायी है जैसा कि किसी प्रेमिका विरहिणी का, जिसका अपने सुरुप और गुणवान पति से परिचय हो गया है, विवाह का अवसर होता है। पर उस अवसर के पूर्व की दशा बडी ही कठिन होती है। यह विरह परमात्मा से रागात्मक संबंध का द्योतक है और साधक की पहिचान है। निर्गुण को प्रेमभाव से भजने वाले साधक या रहस्यमार्गी भक्त इस प्रकार की विरह भावना को बडा आवश्यक समझते हैं। जायसी ने भी साधक के इन लक्षणों की ओर संकेत करते हुए कहा है :-

गुरु विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला।।

गुरु वही है जो आध्यात्मिक विरह की चिंगारी डाल दे और चेला वही है जो उसे सुलगा कर प्रज्ज्वलित कर ले। साधक रतनसेन ने इसी आग को प्रज्ज्वलित कर लिया था। जायसी उसके लिए कहते हैं -

एतना बोल कहत मुख उठी विरह कै आग।
जौ महेस न बुझावत जाति सकल जग लाग।।

अतः यह आध्यात्मिक विरह विषम अवस्था है। लौकिक सुखों में कोई सार नही, एक वहीं ध्यान रहता है। कबीर ने अपने शब्दों में उसका वर्णन किया है-

आँखड़ियाँ झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या नाम पुकारि पुकारि।।
सब रंग ताँत रबाब तन,विनह बनावै नित्त।
और न कोई सुनि सुकै कै साई कै चित।।

इस प्रकार की अवस्था कबीर ने साधक की कही है। इस दशा में साधक प्रेमिका है और ईश्वर उसका पति है। उस पति का दर्शन वह आत्मा करना चाहती है। वह जानती है कि उसके समान रूपवान और गुणवान संसार में कोई नही है। विकलता के अधिक बढ़ जाने पर दर्शन और उसी के नाम रटने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। विरहिणी के रूप में कबीर का निवेदन सुनिए :-

अविनासी प्रियतम कब मिलि हौ भगतन के रछपाल।
जल उपजी जल ही सों नेही रटत पियास पियास।।
मैं ठाढी बिनहिन मग जोऊँ, प्रियतम तुमरी आस।
छोड़े गेह नेह लगि तुमसों,भई चरन लवलीन।
तालाबेलि होत घर भीतरी, जैसे बिन मीन।
दिवस न भूख रैन नहि निद्रा, घर अंगना न सुहाय।

सेजरिया बैरिन भई हमकों, जागत रैन बिहाय।
कै हम प्रान तजन दै प्यारे, कै अपनी कर लेव।
दो कबीर विरह अति बाढ़ेब, हमको दरसनदेव।।

कबीर के द्वारा कही गई यह आध्यात्मिक विरह दशा लौकिक विरह दशा के समान होते हुए भी कुछ भिन्न है,उससे अधिक गहरी है क्योंकि उसमें मिलन के समय भी व्यक्ति का अपना अस्थित्व रहता है, स्त्री पुरुष चाहते हुए भी मिलकर एक नहीं हो पाते। पति के लुभाने के लिए काजल, सिंदूर का श्रंगार करना पड़ता है और फिर विरह कि दशा में भी पत्र व्यवहार से संतोष मिलता है, खबर लगती है। पर यह आध्यात्मिक विरह अविनाशी, निराकार, सर्वव्यापी, राम का विरह उससे भिन्न है। इस मिलन में कबीर दोनों को एकाकार होना माँगते हैं और विरह में चिट्ठी पत्री डालने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार का भाव इन दोहों में सुनिए :-

(१) नैना अंतरि आव तूँ , ज्यूँ हौ नैन झँपेउँ।
ना हौं देखौं और कूँ, ना तोहि देखन देउँ।

(२) कबिरा रैख स्यंदुर की काजल दिया न जाय।
नैन रमइया रमि रहा, दुजा कहाँ समाय।।

(३) प्रीतम को पतिया लिखूँ , जो कहुँ होई विदेस।
तन में मन में नैन में ताको कहा संदेस।।

नेत्रों में उसके समा जाने पर फिर कोई समा नही सकता और सम्पूर्ण विश्व उसके लिए तिरोहित हो जाता है। मिलन की घड़ी बडी ही आनंददायी होती है। वह यथार्थ मिलन से भी बढकर होती है। यह लोक का तथ्य है। किंतु अलौकिक वस्तु, मानव की कल्पना, निर्मित वस्तु से भी बढकर है। कबीर अविनाशी, निराकार 'राम' के देश' का वर्णन करते है। वह बड़ा कठिन ही लुभावना हैं । उसका देश बडा सुन्दर है पर उस तक पहुँचना बड़ा कठिन है। वह देश अगम्य है। पर विरहिणी आत्मा ने उसी में जाने का निश्चय किया है। कबीर दुख और उमंग के साथ उस देश का वर्णन करते है :-

साँई मोर बसत अगम पुरवा जहँ गमन हमार।
आठ कुआँ नव, बावली सोरह पनिहार।।
भरल घयलवा ढरकि गै रे धन ठाढ़ी मन मार।
छोट मोट डँडिया चंदन कै, हौं छोट चार कहार।।
जाय उतरिहै वहि देसवा हो, जहं कोउ न हमार।
ऊँची महलिया साहब कै हो, लागी विषमी बजार।
पाप पुन्न दोउ बनिया हो, हीरा लाल अपार।
कह कबीर सुन साइयाँ मोर याहिय देस ।
जो गए सो बहुरे ना, को कहत संदेस।।

उस बेगम अर्थात् अगम्य और दुःख रहित देश का ओर वर्णन सुनिए :-

जँहवा ते आयो अगम वहि देसवा।
पानी न पौन न धरती अकसवा।
चाँद न सूर न रैन न दिवसवा।
ब्राह्मण छत्रि न सूद्र वयसवा।
मुगल पठान औार सैयद सेखवा।

आदि जोति नहि गौरि गनेसवा।
ब्रह्मा विष्णू महेस न सेसवा।
जोगी न जंगम मुनि दरवेसवा।
दास कबीर ले आए संदेसवा।
सार सब्द गहि चलु-वहि देसवा।।

अतः वह देश वर्णनातीत, कल्पनातीत है, जिस रुप में ससांर में अनेक व्यक्ति है,जिस रुप में हम अपने को एक-दूसरे से भिन्न समझते है, वह रूप उस देश में नहीं है। वह लोक पुराणों ब्रह्म लोक, इन्द्रपुरी के समान भी नही हैं। यह बड़ा ही सुक्ष्म लोक है और वह दूर नही है। इसी देह के भीतर है। उस देश में महल में रहने वाले प्रिय राम के दर्शन हो सकते हैं यदि गुरु की क पा हो जाय। उस महल का दर्शन कीजिए :-

पिय ऊँचीरे अटरिया तोरी देखन चली।
ऊँची अटरिया जरद किनरिया लगी नाम की डोरिया।
चाँद सुरज सम दियना बरतु है ताबिच भूली डगरिया।
पाँच पचीस तीन घर बनिया मनुआँ है चउधरिया।
मुन्शी है कातवाल ज्ञान को चहुँ दिसि लगी बजरिया।
आठ मरातिब दस दरबाजा नौ में लगी किवरिया।
खिरकि बैठि गोरि चितवन लागी उपराँ झाँप झोंपरिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो गुरु चरनन बलिहरिया।
साधु संत मिलि सौदा करि है झींखै मुरुख अनरिया।

ऐसा विचित्र देश राम का है और अपना भी है। यथार्थ देश वही है। इस दुनिया को तो मनुष्य भ्रम से अपना समझता है। स्वच्छ आत्मा उसी देश को जाती है। जैसे - हंस मानसरोवर को। अपनी पवित्र आत्मा को सम्बोधित कर कबीर ने कहा है :-

चल हंसा व देस जंहँ पिया बसे चित चोर
सुरत सौआगिन है पनिहारिन, भरे ठाढ बिन डोर।
बहि देसवाँ बादरना उमड़ै रिमहझिम बरसै मेह।
चौबारे में बैठ रहो ना जा भीजूहंफ निर्देह।।
वहि देसवा मा नित पूर्निमा, कबहुँ न होय अंधेर।
एक सुरज कौन चलावै, कौटिन सुरज उजेंर।।

जहाँ करोड़ों सूर्य का-सा प्रकाश है वही देश राम का है। उसी देश में जाने के लिए विरहिन की आत्मा छटपटाती है। उसी देश और उस ज्योति की ओर संकेत करते हुए पहेली के ढगं पर 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार द्वारा कहते हैं कि उस लोक में उस ज्योति रुप राम के दर्शन कि एक झलक मात्र मिलती है अधिक नहीं।

सुनिए -

कासों कहौं कौसुनै कौ पतियाय।
फुलवा के छुवत भँवर-मरि जाय।
गगन मँडल महँ फूल एक फूला।
तरि ओडार उपर भो मूला।
जोतिए न बोइए सिचिए न सोय।
बिनु डार बिनु पात फूल एक होय।

फूल भल फूलल मालिनि भल गाँथल।
फुलवा बिनसिगैल भँवरा निरासल।
कहै कबीर सुनहु सन्तो भाई।
पडिंत जन फूल रहत लीाई।।

यहाँ पर व क्ष शरीर है, फूल ब्रह्मांड या मस्तिष्क में स्थित सहस्त्रार कमल है और भँवरा मन है। कमल के दर्शन करते ही वह अपना मन खो कर उसी में मिल जाता है, पर जब उसकी झलक नष्ट हो जाती है तब भँवरा वहाँ से निकल जाता है और स्वच्छन्द हो जाता है। पंडित उस ज्योति रूप कमल पर मुग्ध होते हैं। इसमें पहेली भी है और तथ्य भी। यह कबीर की शैली है। इसमें केवल रूखा तत्व या योग क्रिया भी कितना सरस रुप ग्रहण किए है। कबीर की सबसे बडी विशेषता यही है कि उन्होंने नीरस एवं शुष्क हठयोग की क्रियाओं के उपदेंशों को साध के के लिए अतीव सरस बना दिया है और उनमें काव्य का-सा आनन्द मिलता है। पर यह मानना पड़ेगा कि उनका तत्त्व रूप में बहुत -कुछ आधार हठयोग था। गोरखनाथ के अनेक उपदेशों के साथ मिलान करने पर कबीर और गोरख की बानियों में बडी समता जान पडती है पर कबीर अनुभव पर बहुत अधिक जोर देते हैं।

इस प्रकार हमने देखा है कि कबीर अपने निर्गुण राम का अनेक रूपों, अनेक भावों, रूपकातिशयाक्ति, अन्योक्ति रुपक आदि का सहारा लेकर वर्णन करते हैं उनकी सफलता इस बात में है कि निर्गुण वर्णन में भी अपनी शैली और कथनों के द्वारा वे हमारे भावों को आंदोलित कर देते हैं। पर अपने उद्देश्य में सफल नहीं हैं क्योंकि उस निर्गुण के साथ प्रत्येक व्यक्ति अपने एक स्थायी भाव का लगाव नहीं कर सकता । मनुष्य अपनी सीमा और निर्बलता के कारण ईश्वर का भी वही रूप ग्रहण कर सकता है जो सिमित हो और उसके मनोविकारों, वासनाओं, हृद्गत भावों को जगा सके। मनुष्य किसी रुप में उससे सम्बन्ध स्थापित करके अपने जीवन के नैतिक कर्तव्यों में भी उससे बल और अपनी विषम मात्रा में उसका सहारा और संबल प्राप्त कर सके । अतः इसी कठिनाई के कारण सूर ने भक्ति- भावना के लिए :-

अविगत गति कछु कहत न आवै।
सब विधि अगम अगोचर ताते सूर सगुन लीला पद गावै।

कह कर उसका सगुण मानव रूप ग्रहण किया है इसी से तुलसी ने भी उसका रूप दसरथ,अजिर, बिहारी और कौशल्या की गोद में विचरण करने वाले बालक राम से सम्बन्धित किया और मीरा ने इस विश्व के अकेले पुरुष क ष्ण के रूप में उसका ध्यान किया।

कबीर के निर्गुण राम- कबीर ऐसे कुछ ही व्यहक्तियों की ही भक्ति-भावना का स्त्रोत बहा सके और निर्गुण धारा के अनुयायियों में भी भक्ति के अनेक अंगो के साथ साथ सगुण राम और निर्गुण राम का भेद मिट-सा ही जाता है। किन्तु कबीर की अपनी निजी अनुभूति पर किसी को सन्देह नही हो सकता है। वे यथार्थ में ही अपने को राम की पत्नी के रुप में मानकर 'म त्यु' की प्रतीक्षा कर रहे है। यह म त्यु का अवसर (द्विरागमन) गौने का अवसर है। गौने का वर्णन कबीर यों करते है-

आयो दिन गोने कै हों मन होत हुलास।
पाँच भीट कै पोखरा हों जामें दस द्वार।।
पाँच सखी बैरिन भई हों कस उतरब पार।
छोटे मोटे डोलिया चंदन कै हों लोग चार कहार।।
डोलिया उतारै बीच बनवाँ हों जहँ कोई न हमार।

पइयाँ तोरी लागौं कहरवा हों, डोली घर छिनवार।
मिलि लेउँ सखियाँ सहेलरिं हों मिलों कुल परिवार।
साहेब कबीर गावै निरगुन हो साधो करिलौ विचार।
नरम गरम सौदा करिलौ हो, आगें हाट न बजार।।

यह मानव देह की मुक्ति का अवसर है, फिर अन्य देहों में ईश्वर प्राप्ति का कोई प्रश्न नहीं। अतः इसी देह में उस निर्गुण साहेब का कुछ नरम -गरम, ऊँच -नीच सौदा करना आवश्यक है नहीं तो फिर पछताना ही होगा।

इस प्रकार कबीर के निर्गुण राम परमतत्व के रूप में हैं। हम उन्हें किसी मूर्ति में सीमित नहीं कर सकते, हम उन्हें एक अवतार से भी सीमित नही कर सकते। वे घट-घट मे जड़ चेतन में, लोक-लोक में, व्याप्त है और उनसे किसी भी आत्मा का यथार्थ मिलन तभी हो सकता है जब वह मनुष्य जीवन में परम शुद्धि प्राप्त करे और तभी देहावसान के उपरान्त उस 'राम' में समा सकती है। इसी कारण कबीर ने आत्मा को राम कि स्त्री के रूप मे माना है। इस लोक का जीवन उसका एक विरहिणी स्त्री का जीवन है और मरण-उस परम तत्व से मिलने का मुहूर्त, स्त्री के विवाह या द्विरागमन के उपरान्त पति से मिलन के मुहूर्त के समान है। इसी तत्त्व द ष्टा कबीर की सूक्ष्म द ष्टि में आत्मा-परमात्मा के बीच, स्त्री-पुरुष के बीच का मधुर सम्बन्ध ही स्थापित हो सकता है और इसी सम्बन्ध के कारण कबीर की निर्गुण उपासना में भी भाव, काव्य और भक्ति का विशद और आनन्ददायी रूप देखने को मिलता है। कबीर के निर्गुण रूप 'राम' इस शरीर के रहते अविवाहिता या विरहिणी स्त्री के कल्पनागत पति रुप में है और म त्यु के बाद आत्मा का उनसे पति-पत्नी के रुप में मिलन होता है लौकिक रूप में भाव रूप में - निर्गुण राम के सम्बन्ध का इतना ही निरूपण इसी प्रकार का वर्णन संभव और भावगम्य हो सकता है, अधिक नही। यह कबीर का विश्वास था। कबीर के वर्णन का कबीर की द ष्टि से ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

6. कबीर की भक्ति-भावना

भक्त-प्रवर संत कबीर को मध्ययुगीन साधरण धर्म-प्राण जनता को सिद्धादि की विविध वीभत्स साधनाओं के दलदल से तथा नाथों की नीरस यौगिक प्रक्रियाओं के पंकिल-गर्त से निकालकर भाव-भक्ति की आलौकिक एवं पावन पयस्विनी में अवगाहन कराने का पूर्ण श्रेय है। यह भावभक्ति उनके अंर्तजगत की अन्यतम विभूति थी। उनके गुरू की दिव्य देन थी। इसी को पाकर कबीर, कबीर हुए थे। आज भी उनकी भक्ति-भावना भारत के हृदय का हार है ।

भक्त-प्रवर कबीर द्वारा भक्ति-भावना को सात-द्वीप ओर नव खण्ड में प्रसारकर्ता घोषित किया गया है, ज्ञानमार्गी स्वीकार किए जाने वाले कबीर की भक्ति-भावना की उद्‌घोषणा के साथ-साथ उसकी स्वीक ति भी व्यंजित हो रही है

"भक्ति द्राविड़ उपजी, लाए रामानन्द ।
परगट-किया कबीर, सात द्वीप नौ खण्ड ।"

कबीर की भक्ति-भावना के संदर्भ में डा॰ पारसनाथ तिवारी ने तो यह विचार व्यक्त किया है कि :-

पाश्चात्य शैली के शिक्षित समुदाय के सम्मुख सर्वप्रथम कबीर का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले ईसाई मिशनरी थे और आरम्भ में कबीर की प्रामाणिक रचनाओं के नाम पर उनके हाथ 'बीजक' का ही संकलन लगा। खण्डनात्मक उक्तियों की प्रधानता होने के कारण लोग कबीर के समाज-सुधारक रूप को ही ले उड़े और बहुत समय तक उनके सम्बन्ध में भ्रान्तिपूर्ण धारणा चलती रही। किन्तु कालान्तर में प्रकाशित उनकी अन्य वाणियों के अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि कबीर सबसे पहले वस्तुतः भक्त हैं बाद में वे चाहे जो कुछ भी हों। परम्परा से भक्ति-साहित्य में एक दोहा प्रचलित रहा है जो इस प्रकार है- भक्ति द्राविड़ .....नौ खण्ड।

इससे यह ज्ञात होता है कि साधरण जनता में कबीर उसी भक्ति के प्रचारक माने जाते रहे हैं जिसका आन्दोलन द्रविड़ देश में उभार पर आया और जिसे दूसरे शब्दों में वैष्णव भक्ति कह सकते हैं। गुरू ग्रन्थसाहब आदिप्राचीन सन्तवाणी -सग्रंहो में भी कबीर के साथ भगत विशेषण जुड़ा हुआ है। जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि मध्यकाल से ही कबीर की ख्याति भक्त के रूप में अधिक थी, समाज-सुधारक या योगी के रूप में नहीं।''

किन्तु जैसाकि डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विचार व्यक्त किया है- कबीर की भक्ति-भावना के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि निर्गुण अद्वैत के साथ भक्ति कैसे चल सकती है।

''कबीरदास की इस भक्ति की व्याख्या करने का प्रयास बहुतों ने किया है । पर या तो उन्हें अनपढ़ गंवार समझकर इस प्रकार समाधान कर लिया गया कि उन्हें निर्गुण-सगुण और द्वैत-अद्वैत आदि किसी भी विषय का ठीक-ठीक ज्ञान नही था, या फिर उन्हें सर्वज्ञ सर्वनियन्ता समझकर उनके नाम पर विचित्र -विचित्र बातों का 'सागर' निर्माण किया गया और

मनमानी कथाएं तैयार करके सम्प्रदाय के लोगों को भुलावा देने का प्रयत्न किया गया है। दोनों ही राहें गलत हैं। प्रथम पक्ष तो यही नही समझ पाता कि निर्गुण अद्वैत के साथ भक्ति कैसे चल सकती है ? कबीर तात्विक द ष्टि से अद्वैतवादी नही थे और उरके 'निर्गुण राम' में और वेदान्तियों के पारिभाषिक 'निर्गुण ब्रह्म' में मौलिक भेद है। फिर भी, इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कबीरदास राम को रूपरेखा, आकार प्रकार, द्वैत-अद्वैत, भाव-अभाव से परे समझते थे। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा रूपातीत भगवान् भक्ति का विषय हो सकता है ? इस प्रश्न के समाध ाान स्वरूप डा॰ द्विवेदी ने निम्नांकित तथ्य प्रस्तुत किए है :-

(1) ''सर्ववादि सम्मत मत यह है कि भक्ति भगवद्विषयक प्रेम को ही कहते हैं।

(2) "अद्वैत-भावना भक्ति के मार्ग में बाधक नहीं हैं, इसके प्रमाण है तुलसीदास, शंकराचार्य और अन्यान्य बहुतेरे शैव और तान्त्रिक साधक। इस भावना के अनुसार जीव वस्तुतः भगवान् का ही रूप है, जो भ्रमवश अपने को प थक् समझ रहा है। इस अंश की अपने स्वाभाविक रूप में फिर जाने की जो चेष्टा है, वह अभेदमूलक आकर्षण है। नदी के प्रवाह का प्रत्येक बिन्दु जो समुद्र की महान् सता में विलीन होने के लिए दौड़ लगा रहा है, वह इसी अभेद-प्रतीत जन्य प्रेम के कारण।"

(3) भक्ति के आचार्य मानते हैं कि भगवान् का स्वरूप मानवीय चिन्तन शक्ति के वश का नही है। वह अचिन्त्य है, अनन्त है उसकी शक्ति और अगम्य है उसकी मूर्ति। कबीरदास ने इसी बात को समझाने के लिए भगवान् को अविगत अकल-अनुपम कहा है।

(4) भक्त लोग मानते हैं कि इस अनन्त अचिन्त्य भगवान् को सच्चिवदानन्द कहकर यद्यपि विधिरूप से कदाचित् समझाया जा सकता है (क्योंकि श्रुतियों में नेति-नेति कहकर उसे निधिरूप में ही समझाया गया है केवल सत्-चित् आनन्द कहकर ही उसके विधिरूप की और इशारा किया गया है) फिर भी हम नही जानते कि सता (सत्), चैतन्य (चित्) और आनन्द के अतिरिक्त उसमें और क्या है? कितने ही भक्त होते हैं जो उसके अंश-विशेष के साथ ही अपनी अभिन्नता अनुभव करके आत्माराम हो रहते है। वे भगवान् के केवल चैतन्य अंश के साथ अपने चित्स्वरूप को अभिन्न समझ लेते हैं। ऐसे ही भक्त अद्वैत-वेदान्ती हैं। यद्यपि वे अपने को ज्ञानमार्गी कहते है तथापि वे भी वस्तुतः भगवान के परम प्रेम के ही साधक हैं।

(5) भक्तों का यह भी दावा है कि वेदान्त में जिसे ब्रह्म-जिज्ञासा या ब्रह्म की जानकारी की इच्छा, कहा गया है, वह वस्तुतः भक्ति ही है, क्योंकि कठोपनिषद् (2122) में साफ-साफ कहा गया है कि 'परमात्मा में जिसकी भक्ति-श्रद्धा है उसी से परमात्मा प्रसन्न हौते है, और वे जिससे प्रसन्न होते हैं वही जिज्ञासाआदि के द्वारा उन्हें प्राप्त करता हैं''''' इसीलिए मानो 'वेदान्त दर्शन ' के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की कमी को पूरा करने के लिए ही भक्ति सूत्रकार ने कहा है :-

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। सा परानुरक्ति ईश्वरे'

(अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासा और कुछ नही है, ईश्वर विषयक परम-अनुरक्ति ही है)।

(6) जैसा कि गोस्वामीतुलसी दास जी ने कहा है कि हरि भी अनन्त है, उनकी कथा भी अनन्त है और श्रुति तथा सन्त उसका अनन्त भांति से भजन भी करते है :-

" हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता
बहु प्रकार गावहिं श्रुति सन्ता। "

सो गुरूपदाश्रम प्रुभ ति जो भेद भक्ति शास्त्रों में बताए गए हैं वे अन्तिम और पूर्ण नही

हैं। श्रवण कीर्तन आदि प्रकार भी उपलक्षण भर ही हैं। भक्ति के लिए केवल एक ही बात आवश्यक है- अनन्य भाव से भगवान् की शरणागति, अहेतुक प्रेम, बिना शर्त आत्म-समर्पण। कबीर में इन बातों की चरम परिणति हुई है। वह गोविन्द को बार बार पुकारकर कहता है :-

' गोब्यंदे, तुम्ह थै डरपों भारी

सरणाई आयौ क्यूं गहिए, यह कौन बात तुम्हारी।'

भक्ति की परिभाषाएं- भक्ति के विविध आचार्यों ने अनेक प्रकार से परिभाषाएं प्रस्तुत की है। 'नारद भक्ति सूत्र' में अनेक अचार्यों के मत दिए गए है; यथा, व्यास जी के अनुसार पूजा आदि में प्रगाढ़ प्रेम होना ही भक्ति है :-

" पूजादिष्वानुराग इति पाराशर्यः। "

मुनि गर्ग के अनुसार ईश्वर के गुण-कीर्तन आदि के प्रति प्रगाढ़ प्रेम ही भक्ति है-

''कथादिष्विति गर्गः।''

'शान्डिल्यभक्ति-सूत्र के अनुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है-

'सा परानुरक्तिरीश्वरे।'

स्वामी रामानुचार्य के अनुसार स्नेहपूर्वक किए गए भगवद्-ध्यान को भक्ति कहा जाता है-

'स्नेह पूर्वकमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।' तथा-'ध्रुवानुस्म तिरेव भक्तिशब्देन अभिधीयते'-अर्थात् परमात्मा के निरन्तर स्मरण को भक्ति कहते हैं।

नारद ने ईश्वर के प्रति परम-प्रेम को भक्ति माना है :-

''सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, अम तस्वरूपा, च।'' ....यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अम तो भवति, त प्ती भवति।'' भक्तराज प्रहलाद के शब्दों में -

''या प्रीतिरिव्विेकानां विषयेष्वनपायिनी।

त्वामनुस्मरतः सा में हृदयान्मापसर्पंतु।।''

अर्थात् ''अविवेकी पुरुष की जैसी तीव्रासक्ति इन्द्रिय-विषयों के प्रति होती है, उसी प्रकार की प्रभु-स्मरण के प्रति आसक्ति होना भक्ति है।''

कहना न होगा कि इन परिभाषाओं में भक्ति के लिए ईश्वर के प्रति शरणागति, प्रेम, अनन्य-निष्ठा और आत्म-समर्पण की उन्हीं भावनाओं पर बल दिया गया है, जिनका पीछे डा० द्विवेदी ने कबीर काव्य में प्राचुर्य होने का मत व्यक्त किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भक्ति सम्बन्धी यह आधुनिक परिभाषा द्रष्टव्य है-

''श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।

जब पूज्यभाव की व द्धि के साथ श्रद्धाभाजन के सामीप्य लाभ की प्रव त्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों में साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। जब श्रधेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि में आनन्द का अनुभव होने लगे-जब उससे सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे तब भक्तिरस का संचार समझना चाहिए।''

कबीर की भक्ति भावना

कबीर की भक्ति भावना नारदी-भक्ति से प्रभावित है, जिन्होंने परमात्मा के प्रति

परम-प्रेम को भक्ति बतलाया है। स्वयं कबीर के शब्दों में :-

''भगति नारदी मगन सरीरा
इहि विधि भव तिर कहै कबीरा।''

प्रस्तुत पंक्तियों में कबीर ने स्वयं को जहां नारदी-भक्ति-मार्ग का पथिक बताया है, वहां प्रेमा-भक्ति-जो प्रकारान्तर से नारदी भक्ति ही सिद्ध होती है-निम्नलिखित आत्मोद्‌गार व्यक्त किए हैं-

''हिंडोलनां तहां झूलै आतमराम।
प्रेम भगति हिंडोलनां, तब सन्तनि को विश्राम।''

तथा

प्रेम भक्ति ऐसी कीजिए, मुनि अम त बरिषै चंद।
आपही आप विचारिये, तब केता होइ आनंद रे।''

कबीर मूर्ति पूजा के तो विरोधी थे ही, उनकी भक्ति भावना में वैधी भक्ति या साकारोपासना के लिए कोई स्थान नहीं रहा है।

डा० त्रिगुणायत ने कबीर की भक्ति-भावना पर नारदी भक्ति के प्रेमतत्व तथा सूफियों के इश्क और खुमार का प्रभाव बताते हुए यह व्यक्त किया है कि :-

''भक्ति के क्षेत्र में कबीर पर नारद का बहुत प्रभाव पड़ा है। उन्होंने बार-बार नारदी भक्ति का उपदेश दिया है। नारदी-भक्ति का प्रेमत्व कबीर की भक्ति का भी आधारभूत तत्व है -

'कहु कबीर जन भये खलासी प्रेम भगति जिन जानी।

नारद के अतिरिक्त कबीर पर सूफियों का भी प्रभाव पड़ा है। उनकी प्रेम-भावना सूफियों के इश्क और खुमार के असरात से भी साराबोर है। कबीर ने कई स्थानों पर 'प्रेम-पियाले' तथा 'तज्जनित खुमार' की चर्चा की है :-

'हरिरस पीया जानियै, कबहुं न जाय खुमार।'

प्रेम को रसायन-रूप में कल्पित करने की इच्छा उनमें सूफियों के अनुकरण पर ही उत्पन्न हुई होगी :-

'राम रसायन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।'

कबीर की भक्ति का यह मधुरतम प्रेमतत्व ही प्रियतम के साक्षात्कार के द्वार खोलना है :-

'ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उधाड़ी पौलि।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौड़ि।'

कबीर ने प्रेम में अनन्यता और त्याग पर विशेष बल दिया है :-

''जो जावौ (ध्यावों) तो केवल राम।
आन देव सूं नांहीं कांम।''

त्याग के सम्बन्ध में तो वे यहां तक कहते हैं कि यदि तेरे हृदय में प्रेम की साध है तो अपना सिर काटकर छिपा ले :-

''कबीर जो तुइ साध पिरम की, सीस काटि कर गोइ।''

कबीर ने अन्यत्र भी कहा है :-

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नांहिं।
सीस उतारैं भुइ धरैं, तब पैठे घर मांहिं।

कबीर ने यह भाव भी व्यक्त किया है कि भक्तों के वशीभूत होकर ईश्वर अवतार भी धारण करता है :-

''ओहि पुरुष देवाधिदेव।
भगति हेत नरसिंह भेव।''

ऐसे गोविन्द की सेवा को उन्होंने राज्य-सुख से बढ़कर बताया हैं :-

''जो सुख प्रभु गोविन्द की सेवा,
सो सुख राज न लहिये।''

कबीर की भक्ति-भावना श्रीमद्भागवत की नवधा-भक्ति के स्थान पर जिसमें भक्ति से निम्नांकित नौ अंग बताए गए हैं :-

''श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्।''

अर्थात् १. श्रवण, २. कीर्तन, ३. स्मरण, ४. पाद सेवन, ५. अर्चन, ६. वंदन, ७. दास्य, ८. सख्य और ९. आत्मनिवेदन, नारदीय भक्ति से साम्य रखती है। 'नारद भक्ति' सूत्र में भगवान् के प्रति ग्यारह प्रकार की आसक्तियां बताई गई हैं, जिनमें से कुछ नवधा भक्ति से साम्य भी रखती हैं-

1. गुणमाहात्म्यासक्ति, 2. रूपासक्ति, 3. पूजासक्ति, 4. स्मरणासक्ति, 5. दास्यासक्ति, 6. सख्यासक्ति, 7. कान्तासक्ति, 8. वात्सल्यासक्ति, 9. तन्मयासक्ति, 10. परम विरहासक्ति और 11. आत्मनिवेदनासक्ति। कबीर की भक्ति भावना में इनमें से प्रथम, द्वितीय, त तीय, चतुर्थ, पंचम्, सप्तम्, अष्टम्, नवम्, दशम् और ग्यारहवीं आसक्तियां परिलक्षित होती हैं, उदाहरण आगे दिए जा रहे हैं-

1. गुणमाहात्म्यासक्ति–

''निरमल निरमल राम गुण गावै; सो भगता मेरे मन भावै।
जे जन लेहिं राम को नाऊं, ताकी मैं बलिहारी जाऊं।''

2. रूपासक्ति–

''अविनासी की सेज का कैसा हैं उनमान,
कहिवे कूं सोभा नहीं, देखे ही परमान।
अविनासी की सेज पर केरै आनन्द,
कहै कबीर वा सेज पर, विलसत परमानन्द।''

3. पूजासक्ति–

''जो पूजा हरि नाही भावै,
सो पूजन हार चढ़ावै।
जेहि पूजा हरि मन भावै,
सो पूजन हार न जानै।

इसमें कबीर द्वारा पूजा करने का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है, हां, यह इंगित अवश्य है कि हरि को पूजा भाती है।

4. स्मरणासक्ति-

''काम परे हरि सिमिरियै ऐसा सिमिरौ नित्त।
अमरापुर बासा करहु हरि गया बहोरे वित्त।''

5. दास्यासक्ति :–

''कबीर कूता राम का मूतिया मेरा नाऊं।
गले राम की जेवड़ी जित खींचै तित जाऊं।''

6. वात्सल्यासक्ति :–

''हरि जननी मैं बालक तोरा,
काहे न अवगुन बकसहु मेरा।''

7. कान्तासक्ति :–

कबीर की भक्ति-भावना में कान्तासक्ति और परम विरहासक्ति की ही प्रधानता है। ईश्वर को कान्ता-भाव से स्मरण करते हुए अर्थात् स्वयं को पत्नी और ईश्वर को पति मानते हुए कवि ने अनेकानेक पदों में ईश्वर के साथ अपना दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित किया हैं। उदाहरण अवलोकनीय है :-

''दुलहिन गावहु मंगलाचार,
हम घर आएहु राजा राम भरतार।''

8. तन्मयासक्ति :–

कबीर ने जिन स्थलों पर ऐसा भाव व्यक्त किया है कि उन्होंने आंखों-रूपी कोठरी में पुतलियां रूपी पलंग बिछाकर तथा पलकों-रूपी चिक डालकर प्रियतम् को रिझा लिया है-

''आंखिन की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाइ।
पलकनि की चिक डारिके पिय को लिया रिझाइ।''

9. परम विरहासक्ति :–

कबीर की भक्ति भावना में परम विरहासक्ति की भावना का ही प्राधान्य है और अपनी इस भावना के कारण ही वे प्रेम की पीर के गायक सूफियों के समकक्ष माने जाते हैं। ईश्वर को पति और जीवात्मा को विरहिणी पत्नी मानते हुए कबीर ने अनेक पदों में जीवात्मा की जिस तड़पन को अभिव्यक्त किया है, वह उनकी परम विरहासक्ति की भावना की ही अभिव्यंजक है :-

''आइ सकों ना तुज्झ पै, सकौं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा योंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ।''

10. आत्म निवेदनासक्ति :–

इस भावना की भी कबीर की अनेक उक्तियों में अभिव्यंजना हुई है, जो मार्मिकता की द ष्टि से भक्त-शिरोमणि तुलसी

और सूर के समतुल्य है-

''माधौ मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति हेत नहिं साधी।
कारन कवन आइ जग जनम्यो, जननि कवन सचु पायो।''

भक्ति के प्रेरक कारण :-

'नारद भक्ति-सूत्र' के अनुसार भगवत्प्रेम और भक्ति की जाग ति के मूलाधार निम्नांकित तथ्य हैं :-

(क) विषयों का परित्याग,

(ख) कुसंग से बचना,

(ग) अखण्ड भजन करना,

(घ) महात्माओं की संगति और अनुकम्पा,

(ङ) भगवान् का अनुग्रह,

कबीर ने संदर्भगत सभी तथ्यों पर बल दिया है–

(क) विषयों का परित्याग :-

''पुत्र कलत्र लच्छमी माया, इहै, तजौ जिय जानी रे।
कहत कबीर सुनहु रे सन्तो मिलि है सारंग पानी रे।''

(ख) कुसंग से बचना :-

''मारे मरु कुसंग की कैला काठै बेरि।
वो हालै वो चीरिए, साषित संग न बेरि।''

(ग) अखण्ड भजन करना :–

''काम परे हरि सिमरियै ऐसा सिमरौ नित्त।
अमरापुर बासा करहु हरि गया बहोरे वित्त।''

(घ) महात्माओं की संगति और अनुकम्पा :–

''कबीर सेवा को दुइ भले इक सन्त एक राम।
राम जो दाता मुकति को सन्त जपावै नाम।''

(ड़) भगवान् का अनुग्रह :–

''पहली बुरा कमाई करि, बांधी विष की पोट।
कोटि करम पलै पलक मैं जब आया हरि औट।।''

भक्ति की विशेषताएँ :–

डा० त्रिगुणायत के शब्दों में ''कबीर की भाव-भक्ति की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता प्रपत्तिपरता है। यों तो प्रपत्ति-भाव का वर्णन गीता तथा उपनिषदों तक में मिलता है किन्तु उसके प्रमुख प्रचारक स्वामी रामानुजाचार्य थे। प्रपत्ति का रूढ़ अर्थ है आत्म-निवेदन। भक्ति क्षेत्र में प्रपत्ति शब्द शरणागति के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भक्त का सब धर्मों और साधनों को छोड़कर भगवान् की शरण में जाना प्रपत्ति है।

रामानुज की शिष्य-परम्परा में होने के कारण कबीर ने प्रपत्ति-मार्ग को पूर्णतः अपनाया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर भगवान् की शरण में जाने का उपदेश

दिया है। वे कहते हैं-

''जन कबीर तेरी सरन आयो राखि लेहु भगवान।''

तथा

''कहत कबीर सुनहु रे प्रानी, छाड़हु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे प्रानी, परहु एक की सरना।''

यह प्रपत्ति की भावना ही कबीर की भक्ति भावना का प्राण है। इस प्रपत्ति में जात पांत की बाधकता का कोई प्रश्न नहीं है। कबीर ने स्वयं कहा है :—

''कबीर का स्वामी अनद विनोदी जाति न कोई की मानी।''

इस प्रपत्ति भावना के छः अंग बताए गए हैं।

'अहिर्बुध्न्य संहिता' में कहा गया हैं -

''आनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्त त्वे वरणं तथा
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।''

अर्थात् आराध्य की इच्छा के अनुकूल कार्य करना, उसके प्रतिकूल कार्य न करना, उसके राक्षस-रूप में पूर्ण प्रतीति रखना, एकांत में उसके गुणों का वर्णन करना, आत्मसमर्पण तथा कार्पण्य या दैन्य भाव की अभिव्यक्ति-प्रपत्ति के ये छः अंग हैं। निम्नलिखित उदाहरण से ज्ञात हो जाएगा कि कबीर की भक्ति में ये सभी अंग विद्यमान हैं :-

(क) अनुकूल का संकल्प :-

''प्रीति रीति तौ तुज्झ सौं, मेरे बहु गुनियाले कंत।
जौ हंसि बोलूं और सौं, तो नील रंगाऊं दंत।''

(ख) प्रतिकूल से बचना :—

''मूरिख संग न कीजिए, लोहा जल न तिराइ।''

(ग) ईश्वर के रक्षक-रूप में विश्वास :—

''चिन्ता छांड़ि अचिन्त रहु, सांईं है समरत्थ।''

(घ) एकान्त में गुण-वर्णन :—

''बहु बिचारि करि देखिया, कोहु न सारिख राग।''

(ड़) आत्म-समर्पण :—

''कहा करउं कैसे तिरउं भव जलनिधि भारी।
राखि राखि मेरे बीठुला जनु सरनि तिहारी।''

(च) दीनता-प्रदर्शन :—

डा० त्रिगुणायत के शब्दों में—

''(प्रपत्ति का) छठा अंग कार्पण्य है। इसका अर्थ है दीनता। अपनी दीनता दिखलाकर ही भक्त भगवान् की शरण में जाता है। इसके अन्तर्गत ही आत्म-निवेदन भक्त की अकिंचनता एवं क्षुद्रता और भगवान की महानता आदि के वर्णन आते हैं। अन्य भक्तों की

भांति कबीर में इस अंग के भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं। भक्त की अनन्यता और नम्रता का एक उदाहरण देखिए :—

''सुपनेहु बरराई के, जिहि मुख निकसे राम।
ताके पग की पावरी मेरे तन को चाम।''

कबीर की भक्ति क पासाध्य अधिक है, क्रियासाध्य कम। कबीर सदैव ही इसे भगवान की क पा का ही परिणाम समझते हैं। इसलिए उन्होंने प्रपत्ति को साधना से ऊंचा स्थान दिया है। कबीर द्वारा रचनाओं में स्थान-स्थान पर भक्ति की क पासाध्यता ही ध्वनित की गई है :—

''कहि कबीर उबरै द्वै तीनि जा परि गोविन्द क पा कीन्ह।''

डा० त्रिगुणायत के अनुसार कबीर की भक्ति की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता उसकी योग विशिष्टता है। बहुत से स्थलों पर कबीर ने भक्ति और योग का मिश्रण कर दिया है :-

''प्रेम भगति हिडोलनां सब संतन कौ विश्राम।
चन्द सूर दोइ खम्भवा, बंक नालि की डोरि।
झूले पंच पियारियां, तहां झूले जीय मोरि।''

कबीर के भक्ति भाव की तीसरी विशेषता सदाचरण पर बल मानी जा सकती है। 'नारद भक्ति सूत्र' में कहा गया है कि 'स्त्री, धन और नास्तिकों की बातें कभी नहीं सुननी चाहिए'' और कबीर ने भी स्त्री और धन (कंचन) की भरपूर निन्दा की है-

''एक कनक अरु कामिनी दुर्गम घाटी दोय।''

अथवा

''नारि नसावै तीन सुख जा नर पासे होय।
भगति मुकति निज ग्यान में, पैसि न सकई कोय।

मन के विकारों को दूर करने :-

''मन मारे बिन भगति न होई।''

तथा काया को अनावश्यक कष्ट न देने के तथ्य को महत्व देने को उनकी भाव भक्ति की अन्य विशेषताएँ माना जा सकता है :-

''कबीर की भक्ति के उपास्य निर्गुण 'सुनि मण्डलवासी' पुरुष के होते हुए भी सगुण और साकार हो गए हैं। ज्ञान क्षेत्र में जो परात्पर हैं, वे ही भक्ति क्षेत्र में 'तीन लोक की पीर जानने वाले गरीब निवाज' बन जाते हैं। कबीर का यह उपास्य 'आनन्द विनोदी ठाकुर' है। वे जातिगत भक्ति भावना में विश्वास नहीं करते। उनकी भक्ति की इस विशेषता ने उसके प्रचार और प्रसार में बड़ी सहायता पहुंचाई है।

कबीर की भक्ति की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं । वह नारदी होकर भी सार्वलौकिक, और सार्वभौमिक है। वह अत्यन्त सहज और सरल होकर भी 'खाँडे की धार' के समान कठिन और कष्टसाध्य है। इसका कारण यही है कि वह भाव प्रधान है। बाह्य विधि-विधानों का उसमें कोई स्थान नहीं है। इसमें सर्वत्र सदाचरण, सत्याचरण, सहजोपासना आदि पर ही विशेष जोर दिया गया है। कनक और कामिनी उनकी भक्ति के सबसे बड़े बाधक हैं। भक्ति या भगवान् की सेवा में उन्होंने कामना या फलेच्छा को बाधक माना है (जब तक भगति सकामता तब तक निष्फल सेव)। उनकी भक्ति भागवती और निष्काम है।

कबीर ने अपनी भक्ति में प्रपत्ति पर विशेष बल दिया है। प्रपत्ति भारतीय देन है। 'वायु पुराण' में वर्णित प्रपत्ति के सभी अंगों का विकास कबीर की वाणी में मिलता है। कबीर की भक्ति में मन साधना, मानसिक पूजा, मानसिक जप तथा सत्संगति को विशेष महत्व दिया गया है। अपनी इन विशेषताओं के साथ कबीर की भक्ति अपने युग की सबसे बड़ी देन थी। इनके अभाव में हिन्दू-समाज न मालूम किस अवस्था को पहुँच गया होता।''

7. कबीर की दार्शनिकता

हिन्दी साहित्य की संत-काव्य-धारा में कबीरदास का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि इन्होंने कोई दार्शनिक मत प्रस्तुत नहीं किया। तथापि ईश्वरीय भक्ति में प्रेम की भाव-व्यंजना करते उन्होंने ब्रह्म, जीवन जगत् तथा माया आदि के बारे में जो विचार व्यक्त किये, इन्हीं के आधार पर उन के दार्शनिक विचारों का मूल्यांकन किया जा सकता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुये लिखा, '' कबीरदास ऐसे मिलन बिन्दु पर खड़े थे जहां एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी और अशिक्षा, जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वह खड़े थे। वह दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरूद्ध दिशा में गए हुए मार्गों के गुणदोष उन्हें स्पष्ट दिखाई देते थे।''

इस प्रकार कबीर की वाणी में विभिन्न विद्वानों ने दार्शनिक विचारों को खोजने का भरसक प्रयास किया है। यदि गहराई से देखा जाये तो कबीरदास न केवल क्रान्तिकारी समाज सुधारक थे, वे एक दार्शनिक कवि भी थे। इस सम्बन्ध में महादेवी वर्मा ने लिखा भी है- ''कवि में दार्शनिकता को खोजना बहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूलरूप का संबंध है वे दोनों एक दूसरे के अधिक निकट हैं अवश्य, पर साधन और प्रयोग की द ष्टि से उनका एक होना सहज नहीं। बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज आरंभ करके उसे सूक्ष्म बिन्दु तक पहुंचाकर दार्शनिक सन्तुष्ट हो जाता है। उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए वही बौद्धिक दशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत् का सारा वैभव परखकर सत्य का मूल आंकने का उसमें अवकाश नहीं, भाव की गहराई में डूबकर जीवन की चाह लेने का अधिकार उसे नहीं...।''

कबीर के दार्शनिक द ष्टिकोण का आधार उनके काव्य के मुख्य विषय मन, आत्मा, माया, मुक्ति, जगत् इत्यादि में द ष्टिगत होता है। जिसका विवेचन निम्नलिखित है :-

1. **ब्रह्म संबंधी द ष्टिकोण :-**

कबीर उच्च कोटि के महात्मा एवं भक्त थे। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था, परब्रह्म का अनवेषण करके उससे साक्षात्कार करना यद्यपि कबीरदास को विभिन्न धर्मग्रन्थों का ज्ञान था लेकिन ब्रह्म के विषय में उन्होंने जो विचार व्यक्त किए हैं वे उनकी स्वानुभुति का परिणाम हैं। उन्होंने जो कुछ भी कहा, वह बुद्धि तथा ह दय के योग से कहा। ब्रह्म के साक्षात्कार का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं :-

''लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।''

कबीर का ब्रह्म संबंधी ज्ञान उपनिषदों के अद्वैतवाद से प्रभावित है। आदि से अंत तक उनकी ब्रह्म भावना अद्वैत से संबंधित है। परन्तु जब वह प्रिय से विमुक्त होकर अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं तब वे द्वैत का सहारा लेते हैं। परन्तु ये द्वैत मात्र अज्ञान है। अपनी

अद्वैतानुभुति को अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं :-

''कस्तुरि कुंडल बसे, म ग, ढूंढे बन मांहि।
ऐसे घट-घट राम है, दुनियां देखे नाहिं।।''

अद्वैतवादियों के समान कबीरदास का विश्वास है कि ब्रह्म से ही संसार की उत्पत्ति हुई है और वही ब्रह्म उसे नष्ट भी कर देता है। वह ब्रह्म पूरी तरह निराकार, रूपहीन और संसार के कण-कण में व्याप्त है। एक स्थल पर वे कहते हैं-

''पानी ही ते हिम भया, हिम है गया बिलाय।
कबीर जो था सो भया, अब कुछ कहा ना जाय।।''

डा० सरनाम सिंह ने कबीरदास के ब्रह्म के विषय में कहा कि, ''उसी अद्वैत तत्व को कबीर ने अनेक नामों से अभिहित किया है। परब्रह्म, ब्रह्म, परमात्मा, हरि, निरंजन, अलख, खालिक, निर्गुण, भगवान, राम, पुरूषोत्तम आदि अनेक नामों से वे उसी अद्वैत तत्त्व की ओर संकेत करते हैं। वह गुण विहीन है। उसका न कोई रूप है, न रंग है, उसमें न ही कुछ देखने की कोइ चीज है। उसका कोई नाम भी नही रख जा सकता, क्यों कि वह निर्गुण और निराकार है।''

यद्यपि कबीरदास ने ब्रह्म के लिए अनेक नामों का प्रयोग किया है। परन्तु उनकी वाणी में राम तथा हरि शब्दों का प्रयोग ही सर्वाधिक प्राप्त होता है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे विष्णु के अवतारवाद में विश्वास रखते थे उनका राम न तो दशरथ पुत्र है तथा न ही देवकी पुत्र। सत्य तो यह है कि वे प्रभु का स्मरण करने के लिए इन नामों का सहारा लेते हैं। कुछ आलोचकों का विचार है कि स्वामी रामनन्द के कारण उन्होंने बार-बार राम शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु अन्यत्र वे निरंजन तथा अलख नामों से ब्रह्म को याद कर उठते हैं। लेकिन हमे यह भी याद रखना होगा कि कबीर के ब्रह्म का कोइ स्वरूप नहीं है। परन्तु जो साधक उसे पहचान लेता है वह पुनः ब्रह्म के समान हो जाता है।

कबीर का विचार था कि ब्रह्म के मूल तत्व को समझना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जो लोग ऐसा नही कर पाते वे ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर पाते। ऐसे लोगों को फटकारते हुए कबीरदास कहते हैं :-

''न जानै साहब कैसा है।
मुल्ला होकर बाँग जो दैवे,
क्या तेरा साहब बहरा है।
कीड़ी के पग नेवर बाजे,
सो भी साहब सुनता है।
माला फेरी तिलक लगाया,
लम्बी जटा बढ़ाता है।
अन्तर तेरे कुफर-कटारी,
यो नहीं साहब मिलता है।''

कबीरदास ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वह सारे संसार में व्याप्त है। उस परब्रह्म के न तो हाथ हैं। वह सत्त रज, तम आदि गुणों से परे है। उसका कोई आदि अंत नहीं। वह न पथ्वी है, न वायु है, न आकाश है। अग्नि या पानी में भी वह नहीं रहता। सरस्वती, गंगा, यमुना जैसी पावन नदियों में भी वह नहीं है। समुन्द्र की लहरों में भी वह निवास नही करता। वह पाप-पुण्य से अलग-थलग, वेद पुराण तथा शास्त्रों से भी परे है। कबीर जी तो घोषणा करते

है कि उस परमतत्त्व को न कोई देख सकता है, न प्राप्त कर सकता है। वह न खाता है, न पीता है, न जीता है, न मरता है। उसका कोई रूप रंग अथवा वेशभूशा नहीं है। वह असीम, अनन्त, अनिर्वचनीय, अरूप तथा सर्वव्यापी है। कबीरदास जी कहते भी हैं :-

'' प्रथम एक तो आयै आप। निराकार निर्गुण निर्जाप।।
नहिं तब आदि अन्त मध तारा । नहि तब अंध धुंध उजियारा।।
नहिं तब भूमि पवन अकासा। नहिं तब पावक नीर निवासा।।
नहिं तब सुरसरि जमुना गंगा। नहिं तब सागर समुंद्र तरंगा।।
नहिं तब पाप-पुन्न नहिं वेद पुराना। नहिं तब भये कतेव कुराना।।
कहैं कबीर विचारि कै, तब कुछ किरपा नाहिं।
परम पुरूष तहं आपही अगम अगोचर माहिं।।''

डा० सरनाम सिंह ने ब्रह्म के दो स्वरूप माने हैं :- व्यक्त तथा अव्यक्त। प्रायः ब्रह्म का अव्यक्त रूप आध्यात्मिक ही हुआ करता है। कबीर का ब्रह्म रूप पूर्णरूपेण आध्ययत्मिक है। उन्होंने सर्वत्र अव्यक्त ब्रह्म का ही वर्णन किया है। लेकिन एकाध स्थल पर उन्होंने ब्रह्म के व्यक्त रूप का भी वर्णन किया है।

कबीर में पाए जाने वाले अव्यक्त ब्रह्म के वर्णन आध्यात्मिक होते हुए भी आधिदैविक बन गए हैं। इसका प्रमुख कारण कबीर की रहस्य भावना तथा भक्ति भावना है। यही कारण है कि उनका उपास्य मात्र निर्गुण ब्रह्म है जिसकी न तो उन्हें पूजा करनी पड़ती है तथा न उपासना। वे तो उस निराकार ब्रह्म को ह दय से ही प्रणाम कर भक्ति कर लेते हैं।

कबीर का ब्रह्म अपार महिमाशाली है। उसकी शक्ति, प्रकाश तथा रूप स्वरूप तक कोई नहीं पहुँच सकता। कबीर ने अपने परब्रह्म के साथ मधुर संबंधों की स्थापना की है। तथापि वे दांपत्य प्रेम पद्धति का सहारा लेते हैं। वे अपने हैं। प्रेमी-प्रेमिका का रूपक प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं :-

''बालम आउ हमारे गेह रे।
तुह बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मोको यह सन्देह रे।
एकमेक हयै सेज न सौवे, तब लगि कैसा स्नेह रे।
अन्न न भावै नींद न आवै, जिह बन धरै न धीर रे।
जयों कार्मी कौ कांमिनी प्यासी, ज्यों प्यासे कौ नीर रे।
है कोई ऐसा पर-उपगारी पिय सो कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भयो है, बिना देखे जिव जाय रे।

इस प्रकार कबीरदास ने निर्णुण निराकार और निर्विकार ब्रह्म की भक्ति पर ही बल दिया है। परन्तु कहीं-कहीं वे सगुण भावनाओं का भी आश्रय ले लेते हैं।

2. माया संबंधी द ष्टिकोण :-

कबीरदास ने अद्वैतवादियों से प्रभावित होकर माया को मिथ्या माना है। शंकराचार्य से पहले उपनिषदों तथा श्रीमद् भगवत् गीता आदि ग्रंथों में माया को ब्रह्म की स्त्री बताया गया है। परतु शंकराचार्य ने माया को भावमय ब्रह्म कहा है। वह सभी को भ्रमित करती है। कबीरदास सांख्यवादियों की विचार धारा से प्रभावित होकर माया के बारे में चिंतन करते हैं। वे तो स्पष्ट कहते है कि रजस, तमस और सत्व ये सब तेरी माया है। स ष्टि का जन्म इसी माया या प्रक ति से होता है। परन्तु यह माया समूचे संसार को अपने वश में करके उसे चरित्र भ्रष्ट कर देती

है। अतः कबीरदास इसे व्यभिचारिणी कह कर सम्बोधित करते हैं यथा :-

तू माया रघुनाथ की खेलड़ चढ़ी अहेडै।
चतुर चिकारे चुणि मारे, कोई न छोड़या नेडै।।
मुनियर पीर दिगंबर मारे, जतन करता जोगी।
जगत महि के जंगम मारे, तू रे फिरै बलिवंती।।
वेद पढ़न्ता ब्राह्मण मारा, सेवा करता स्वामी।
अरथ करता मिसर पछाड़या, तू रे फिरै मैंमती।।

माया संसार में अज्ञान का अंधकार फैलाती है। इसीलिए इसे उन्होंने पापिनी, विश्वासघातिनी, मोहिनी, सांपिणी, ठगिणी, डाकिनी आदि कहा है। आत्मा संसार में आकर इसी के जाल में फँसती है। स ष्टि के सारे संबंध माया-जन्य हैं, समस्त स ष्टि मायामय है :-

''कबीर माया पापणी फंद लै बैठी हाटि,
सब जग तो फंधै पाड़या फासियां गया कबीरा काटि।।''

कनक और कामिनी माया के प्रधान प्रतीक हैं। काम, क्रोध, मोह, लोभ त ष्णा आदि मानसिक विकार माया के मित्र हैं। इन्हीं के सहयोग से माया जीव को फाँसती है। उपनिषद के समान कबीर ने भी ब्रह्म को माया के 'खसम' के रूप में चित्रित किया है :-

''एकै पुरूष, एक है नारी, ताकर करहु विचारा।''

कबीरदास जी ने माया को परिवर्तनशील माना है। वह उत्पन्न तथा नष्ट होती रहती है। इसी भ्रम का शिकार होने के कारण जीव ईश्वर से विमुख हो जाता है और वह आवागमन के चक्कर में पड़ कर दुःख भोगता रहता है माया सभी को दुःख देती है। स्वयं कबीरदास भी उस माया से बहुत दुःखी हैं। जीव को सदैव 'मोर-तोर' के बंधन में डाले रहने वाली माया अज्ञान रूपिणी है। मुक्ति प्राप्त करने के बाद ही जीव इस 'मोर-तोर' की समस्या से छुटकारा प्राप्त कर सकता है और यह मुक्ति राम की शरण में जाने पर ही प्राप्त होती है। परन्तु माया के बंधन में बंधा मानव हमेशा अपने बारे में सोचता है तथा परमात्मा से विमुख रहता है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए इस माया रूपी ममता को त्यागना पड़ता है। इसी भाव को द ष्टिगत कर कबीरदास जी कहते हैं :-

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहिं

इसलिए एक सच्चे ज्ञानी को माया को छोड़ना पड़ता है। माया का निवास तो पाखंडियो के पास है। कबीरदास जी माया को कहते है कि वहां जाओ जहाँ बाह्याडम्बर है तथा भक्त लोग चंदन घिसकर टीका लगाते हैं। कबीरदास जी भक्तों को माया से बचने का उपाय बताते हैं :-

''औंधा घड़ा न जल में डूबे, सूधा सूभर भरिया।
जाकौ यह जग घिन करि चालै, ना प्रसादि निस्तरिया।।''

3. जगत् संबंधी द ष्टिकोण :-

कबीरदास ने अद्वैतवादियों के समान ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या माना है। वे बार-बार संसार की सत्ता को नश्वर कहते हैं। कबीरदास जी संसार को बाजीगर का खेल कहते हैं। उनके अनुसार यह भ्रामक है। जैसे दिखाई देता है वैसा है नहीं।

जो दिसें सो तो है नाहिं, है सो कहा न जाई।

वे संसार के मिथ्या भाव को प्रकट करने के लिए उसे सेम्बल का फूल, आकाश निलिमा, धुआँ-धरोहर आदि कहते हैं। वे स्पष्ट घोषणा करते हैं :-

''यहूँ ऐसा संसार है, ज्यों सेम्बर का फूल,
दिन दस के व्यवहार में झूठै रंग न भूल।।''

प्रायः मानव के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ। कबीरदास भी स ष्टि को देखकर उसके रहस्य को जानना चाहते हैं। एक स्थल पर वे अपनी जिज्ञासा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :-

''कहौ भइया अम्बर कासूं लागा। कोई जानेगा जाननहार सभांगा
अम्बर दीसै केता तारा। कौन चतुर ऐसा चितरन हारा।''

कबीर ने स ष्टि की उत्पत्ति और लय का कारण तो परमात्मा को माना है। परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नही किया कि स ष्टि कैसे उत्पन्न हुई तथा किस क्रम से हुई। यह जिज्ञासा होने पर भी कबीरदास संसार को रहस्यमय घोषित करते हैं। परन्तु उन्हें यह अहसास भी होता है कि स ष्टि में कोई अव्यक्त सत्ता निवास करती है :-

''जो तुम देखा सो यहु नांही यहु पद अगम अगोचर माँही।
कहै कबीर जे अम्बर जाने ताही सूं मेरा मन मानै।।''

कबीरदास जी कहते हैं कि मैंने अपनी इन दोनों आँखों से संसार को देखने का प्रयास किया है। लेकिन मुझे प्रभु के सिवाय कुछ भी नजर नही आता। मेरे नेत्र उसी प्रभु के रंग में रंग गए हैं। इस प्रकार कबीरदास के विचानुसार सम्पूर्ण स ष्टि उस आलौकिक नटवर की लीला है। उस परमात्मा ने कहने सुनने के लिए इस संसार की रचना की है। वह स्वयं इसमें छिपा है, पर वह दिखाई नही देता। सत्त, रज तथा तम के योग से इसने संसार की रचना की है तथा अपने को इससे छिपा रखा है। वह स्वयं तो आनन्द रूप है तथा संसार उस आनन्दरूप पल्लव रूपी गुणों का विस्तार है। पाँच तत्त्व उसकी शाखाएँ हैं। राम-नाम उसका सुंदर फल है। जो व्यक्ति संसार के इस रहस्य को जान लेता है। उसके लिए संसार आनन्ददायक है :-

''कहन सुनन को जिहि जग कीन्हा। जग भुलान सो किनहुँ चीन्हा।।
सत रज तम थै कीन्हीं माया। आपण माझै आप छिपाया।।
ते तौ आहि आनन्द सरूपा। गुन पल्लव विस्तार अनूपा।।
साखा तत थैं कुसुम गियानों। फल सो आछा राम का नामाँ।।''

स ष्टि के बारे में कबीरदास के विचार वेदांत तथा सांख्य दर्शनों से प्रभावित हैं। लेकिन एकाध स्थल पर वे सूफी तथा इस्लाम की धारा से भी प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। कबीर, एक स्थल पर कहते हैं कि- 'अल्लाह ने नूर से स ष्टि बनाई है।' यह निश्चय से सूफी प्रभाव है। परन्तु यह भी सच्चाई है कि सूफी मत कुछ सीमा तक वेदान्त से प्रभावित है। उपनिषदों में भी स्वीकार किया गया है कि ज्योति से स ष्टि की उत्पत्ति हुई है। फिर भी हमें यह मान कर चलना होगा कि कबीरदास एक जन कवि थे और उन्होंने जन साधारण की द ष्टि से ही जगत् के बारे में अपने विचार व्यक्त किए। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि कबीरदास इस संसार को भी नश्वर और अस्थिर मानते हैं। यथा :-

''रामां बिनां संसार धुंध कुहेरा,
सिरि प्रगटया जंम का फेरा।''

4. जीव तत्त्व सम्बंधी द ष्टिकोण :-

कबीरदास जी परमतत्त्व को ही सर्वोपरि मानते हैं। उनका कहना है कि उसके अतिरिक्त कोई तत्त्व नही है यहां तक कि 'जीवात्मा' नामक तत्त्व भी उसी में समाहित है। इस प्रकार हरि में पिंड है और इस पिंड में हरि हैं और वही सबमें हैं तथा निरन्तर विद्यमान है। शरीर के भीतर समझी जाने वाली आत्मा तत्त्व के बारे में वे कहते है कि न तो यह मनुष्य है, न देव, न योगी, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न ग हस्थी है, न उदासी, न राजा, न रंक, न ब्राह्मण, न बढ़ई, न तपस्वी और न शेख है :-

ना इहु मानुस ना इहु देउ ना इहु जती कहावै सेउ।।
न इहु जोगी न अवधूत। ना इहु माइ न काहू पूता।।

कबीरदास इसे उस राम का केवल अंश मानते है। यह उसी प्रकार नहीं मिट सकता जैसे कागज के ऊपर से स्याही का चिन्ह् नहीं मिटता। कभी-कभी लगता है कि कबीर का ब्रह्म तथा आत्मा एक ही है। कुम्भ के रूपक द्वारा उन्होंने सिद्ध किया है कि आत्मा शरीर बद्ध होने के कारण ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होने लगती है, पर यह अलग नहीं :-

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ कथ्यो ग्यानी।।

कबीरदास आत्मा को जीव, प्राण, दीपक की ज्योति, अद्वैती तत्व, निरंजन ज्ञान स्वरूप, स्वयं प्रकाश चेतन रूप आदि मानते हैं। जो लक्षण उन्होंने ब्रह्म के दिए हैं, वहीं आत्मा के दिए हैं। वे कहते हैं :-

मन्दिर मांहि झपूकती दीवा कैसी जोति।
हंस बटाऊ चलि गया काढ़ौ घर की छोति।।

अथवा ''अबरन एक अलक अविनाशी घट-घट आप रहे'' -कह कर के आत्मा को परमात्मा मान लेते हैं। यह आत्मा को कभी अमर मानते हैं तो कभी ब्रह्म के समान मानते हैं, क्योंकि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है, अतः आत्मा भी आनन्द स्वरूप है। वह भी अनादि और सनातन है। मुल्ला द्वारा जीव हत्या की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि इस ज्योति स्वरूप आत्मा का हनन नहीं हो सकता।

पकटि जीउ आन्या देह निवासी माटी को बिसमिल किया।
ज्योति सरूप अनाहत लागै कहु हलालु क्यों किया।।

इस प्रकार कबीर ने आत्मा के जिस स्वरूप का वर्णन किया है, वह भारतीय वेदान्त परम्परा के अनुसार है। अद्वैतवादी के समान वे भी आत्मा को प्रकाश रूप मानते हैं। इस संदर्भ में कबीर जी कहते है कि लोग आत्मा परमात्मा को अलग-अलग मानते हैं उनकी बुद्धि मोटी है और वे नरक के अधिकारी हैं। वे तो आत्मा-परमात्मा के अंश-अंशी सम्बंध को स्वीकार करते हैं। इस सम्बंध में वे कहते भी हैं :-

''हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराई।
बूँद समानी समद मैं, सो कह हेरी जाइ।।
हेरत हेरत हे सखी, रहया कबीर हिराइ।
समंद समाना बूँद में, सो कत हेरय जाइ।।''

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का दार्शनिक द ष्टिकोण वेदों, उपनिषदों आदि से प्रभावित है, जो विशुद्ध भारतीय है। इस पर किसी विदेशी विचारधारा का प्रभाव नहीं है। वे आत्मा-परमात्मा को एक मानते हुए अंश अंशी का सम्बंध स्वीकार करते है।

8. कबीर की रहस्य साधना

प्रारंभ से ही मनुष्य की जिज्ञासु प्रव ति रही है, जिसके कारण वह व्यक्त एवं द श्यमान जगत् के भीतर अव्यक्त और अद श्य व्यापक सत्ता को खोजने का प्रयत्न करता है। मानव अनेक विधियों द्वारा उस अव्यक्त और अद श्य के साथ एकत्व स्थापित करने का प्रयत्न करता है। लेकिन फिर भी वह उसे जान नहीं पाता। ऋग्वेद आदि प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के अद्वैतमूलक एवं रहस्यात्मक विचार अनेक स्थलों पर मिलते हैं। वैदिक ऋषियों ने तत्व-चिन्तन के समय यह अनुभव किया है कि इस द श्यमान जगत् के नाम रूपों में कोई सूक्ष्म सत्ता अवश्य विद्यमान है। पर वह सूक्ष्म सत्ता अवर्णनीय है। वही सत्ता समूचे संसार का नियमन करती है। विश्व की इसी अव्यक्त की जिज्ञासा से रहस्यवाद सम्बंधित है। ''जब मानव आत्मा उस अव्यक्त सत्ता तक पहुँचने का प्रयास करती हुई विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों को प्राप्त करती है और उन्हें भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करती है तो इस प्रकार के भाव समूह को साहित्यिक शब्दावली में रहस्यवाद कहते हैं।''

इसी प्रकार जब मानव मन लौकिकता से विमुख होकर किसी अज्ञात रहस्य मय अलौकिक शक्ति के प्रति राग, उत्सुकता, विस्मय, जिज्ञासा, लालसा एवं मिलन की आतुरता की अभिव्यक्ति करता है तो मानव मन की यह अवस्था रहस्यानुभूति कहलाती है।

हमारे जीवन में रहस्यात्मकता है। कविता जीवन से सम्प क्त है। अतः कविता में भी रहस्यात्मकता अनिवार्यतः समाविष्ट हो जाती है। आज तो रहस्यवाद के नाम से एक काव्य धारा भी स्वीक त हो चुकी है।

1. रहस्यवाद-अर्थ एवं व्युत्पति :-

रहस्यवाद अंग्रेजी भाष के मिस्टिसिजम का पर्यायवाची है। यह 'रहस्य' और 'वाद' दो शब्दों के मिलने से बना है 'रहस्य' शब्द के अनेक अर्थ है- अज्ञात, रहस्यमयी बात, छिपा हुआ या गुप्त। श्रीमद्भगवद् गीता में रहस्य शब्द भक्त तथा ईश्वर के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है।- ''भक्तोअसि में सखा चेति।'' संस्क त कवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक ' अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में रहस्य शब्द का प्रयोग अर्थ-गोपन के अर्थ में किया है। रहस्य शब्द रह धातु में 'असुन्' प्रत्यय लगाने से 'रहस्' तथा 'यत्' प्रत्यय जुड़ने से 'रहस्य' बना है। व्युत्पत्ति लटय अर्थ के अन्तर्गत इसका अर्थ प्रतीयमान सत्ता से सम्बंधित है। अमरकोष में रहस् शब्द का अर्थ एकान्त, निर्जन, गुप्त, गुह्य आदि बताया है उसी से सम्बंधित वस्तु को रहस्य की संज्ञा दी जाती है। साहित्य के संदर्भ में रहस्यवाद का अर्थ काव्याधारा विशेष, प्रव ति विशेष और शैली विशेष होगा। उदाहरण के रूप में कबीर की वाणी में उसी अज्ञात एवं अद श्य शक्ति को जानने की जिज्ञासा देखी जा सकती है :-

चीन्ह चीन्ह क्या गाबहू, वाणी पटी न चीन्ह।
अदि अन्त उतपति प्रलय, आ पुहिं कै कै लीन्ह।।

2. रहस्यवाद की परिभाषाएँ :-

क. डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार, ''रहस्यवाद जीवात्मा की उस अर्न्तनिर्हित

प्रव त्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्छल संबंध ा जोड़ना चाहती है। यह सम्बंध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अंतर नही रह जाता।''

ख. महादेवी वर्मा के अनुसार, ''असीम का ससीम से सम्बंध ही रहस्यवाद है।''

ग. परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार, ''रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा विशेष को सूचित करता है। प्रधानतः उसमें लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गंभीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है। इस अनुभूति का वास्तविक आधार अन्तर्हृदय हुआ करता है जो वैयक्तिक चेतना का मूल स्त्रोत है और इसमें 'अहम्' एवं 'इदम्' की भावना का क्रमशः लोप हो जाता है।''

घ. डा० गोविन्द तिगुणायत के अनुसार, ''जब साधक भावना के सहारे आध यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमयी चित्रों से सजाकर रखने लगता है तभी साहित्य में रहस्यवाद की स ष्टि होती है।''

ड. डा० सरनाम सिंह की रहस्यवाद सम्बंधी परिभाषा कुछ भिन्नता लिए हुए है। आचार्य शुक्ल की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि, ''यह कहना कुछ विशेष समीचीन नहीं दीख पड़ता कि जो ज्ञान के क्षेत्र में अद्वैतवाद कहलाता है, वही भावना के क्षेत्र में अद्वैतवाद कहलाता है, क्योंकि भावना के अतिरिक्त रहस्यवाद का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के एक विशेष रूप से भी होता है जिसमें शब्द का अर्थ की ओर संकेत होता है।''

3. कबीर के काव्य में रहस्यवाद :-

कबीर हिन्दी के प्रथम रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं। उनके असंख्य पदों तथा साखियों में उस अज्ञात अव्यक्त तथा अद श्य परम्शक्ति के प्रति नाना प्रकार की अभिव्यक्तियां मिलती हैं। कवि यत्र-तत्र उस परमात्मा की अनुभूति का परिचय भी देता है। यदि कबीर के रहस्यावाद के बारे में गहराई से चिन्तन किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रहस्यवादी भावना, वेदांत, हठयोग तथा सूफियों के प्रेम तत्त्वों पर आधारित है। वे एक सच्चे अद्वैतवादी के समान समस्त जगत में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। शंकराचार्य ने भी इसी का समर्थन किया था। फिर भी कबीरदास जी उस परब्रह्म का वर्णन करने में असमर्थ हैं। वे कहते भी हैं :-

''पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहिं देख्या हि परमान।।

अद्वैतवादी आत्मा परमात्मा की एकता की चर्चा करते हैं। कबीरदास भी इसी की चर्चा करते हुए स्वीकार करते हैं कि आत्मा परमात्मा का ही अंश है, परन्तु उसमें भेद उत्पन्न करने वाली माया है। इसकी चर्चा करते हुए कबीर जी कहते है-

''ना इहु मानसु न इहु देउ।
ना इहु जति कहावै सेउ।।
ना इहु जोगी ना अवधूता।
ना इहु माइ न काहू पूता।।
.....
'' कहै कबीर इहु राम को अंसु।
जस कागद पर मिटै न मंसु।।''

अज्ञान तथा अविद्या के कारण सांसरिक प्राणी अंश-अंशी के सम्बंध को पहचान नही

पाता। माया उसे बार-बार भ्रमित कर देती है। माया तो संसार के सभी प्राणियों को भ्रमित करती है। कबीरदास ने माया को 'महाठगिनी' कहा है इससे छुटकारा पाना सहज नहीं है। परन्तु जिन साधको पर सद्गुरू की क पा होती है वे उस माया के जाल से मुक्त हो जाते है। माया से मुक्ति ही सभी प्रकार के विकारों से मुक्ति हैं। माया की निन्दा करते हुए कबीर जी कहते हैं कि :-

कबीर माया पापणी हरि सूं करै हराम।
मुख कड़ियाली कुमति की, कहन न देइ राम।।''

4. कबीर के रहस्यवाद के रूप :-

कबीर हिन्दी के पहले रहस्यवादी कवि हैं। उनकी रहस्यवादी भावना पर जहाँ एक ओर वेदों तथा उपनिषदों का प्रभाव है तो दूसरी ओर सिद्धों तथा नाथों का प्रभाव भी देखा जा सकता है। यही नहीं सूफियों की प्रेम भावना ने भी उनके रहस्यवाद को प्रभावित किया है। फिर भी कबीर की रहस्यवादी भावना काफी उलझी हुई और अस्पष्ट है। इसके दो कारण हैं - एक तो वे भावना की अपेक्षा साधना को अधिक महत्व देते हैं। दूसरा हठयोग की भावना भी उनके रहस्यवाद को दुरूह बना देती है। कबीर के रहस्यवाद के दो रूप हैं :- भावनात्मक रहस्यवाद तथा साधनात्मक रहस्यवाद। परन्तु डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर की रहस्य भावना के चार रूप माने हैं :-

क. भावात्मक रहस्यवाद

ख. यौगिक रहस्यवाद

ग. पारिभाषिक रहस्यवाद

घ. अभिव्यक्ति मूलक रहस्यावाद

वस्तुतः उन चार रूपों में से अन्तिम तीन साधानात्मक रहस्यावाद के ही अंग है। उधर डा० सरनाम सिंह ने कबीर की रहस्य भावना के चार उपादान स्वीकार किए हैं- आस्तिकता, प्रेम भावना, गुरू तथा मार्ग।

(क) भावात्मक रहस्यवाद :-

कबीर के भावात्मक रहस्यवाद की तीन अवस्थाएँ स्वीकार की जा सकती हैं-

अनुराग- यह कबीर के रहस्यवाद की प्रथम अवस्था है जिसकी परिणति विरह में होती है। ईश्वर के प्रति अनुराग की जाग ति गुरू क पा से होती है। गुरू क पा से साधक के दिव्य चक्षु खुल जाते हैं तथा उसे अनन्त के दर्शन होते हैं। परमतत्व की झलक मात्र से ही कबीर का हृदय आनन्द विभोर होता है। गुरू क पा की महीमा का गुणगान करते हुए कबीर जी कहते हैं

''सतगुरू हम पर रीझि कर एक कह्या प्रसंग।
बरसया बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग।।
ग्यान प्रकास्या गुरू मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ।
जब गोविन्द क पा करी, तब गुरू मिलिया आइ।।''

यहाँ अनुराग की परिणति प्रेमानुभूति में हो जाती है। संसार के मोह माया साधक को काटने दौड़ते हैं। इससे बचने का एक मात्र उपाय है 'हरि स्मरण' परन्तु जीवात्मा अभी तक सांसरिक मोह माया से मुक्त नहीं हो पाई। अभी तक संसार के आकर्षण उसे बार-बार अपनी ओर खींचते हैं। अतः जीवात्मा न तो परमात्मा के पास जाने योग्य है तथा न ही उसे अपने पास बुला सकती है। कबीरदास जी कहते भी हैं :-

''आइ न सकौं तुज्झ पैं, सकूं न तुझै बुलाइ
जियरा यौं ही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ।।''

कबीर की यह प्रेमानुभूति धीरे धीरे विरहानुभूति में बदल जाती है। अब विरहिणी आत्मा अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने के लिए बहुत आतुर है। वह रात-दिन उसके पथ पर खड़ी उसकी प्रतीक्षा करती रहती है। प्रियतम से मिले बिना उसे पलभर का चैन नहीं है। कबीरदास कहते भी हैं :-

"बिरहनि ऊभी पथ सिरि, पंथी बूझै धाई ।
एक सबद कहिं पीव का कबदे मिलैंगे आई।।
बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।"
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहि विश्राम।।

कबीर की द ष्टि में विरहानुभूति के बिना ईश्वर की प्राप्ति नही हो सकती ? इसलिए 'विरह कौ अंग में कबीर' साहित्य अद्वितिय बन पड़ा है। ऐसा लगता है कि मानो कबीर की सी अनुभुति हिन्दी के अन्य कवियों में बहुत कम देखने को मिलती है। प्रियतम को पाने के लिए वे शरीर को स्याही तथा लेखनी बनाकर प्रभु को प्रेम-पत्र भेजना चाहते हैं :-

1. यह तनु जारौ मसि करौ लिखौ राम का नाम ।
लेखनी करू करंक की लिखि-लिखि राम पठाऊ ।।

2. बहुत दिनन की जोहति बाट तिहारी राम ।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं मन नाही विश्राम ।।

(ख) परिचय :-

कबीर के रहस्यवाद की यह दूसरी अवस्था है । ज्ञानी इसे ' आत्माज्ञान' की संज्ञा भी देते है । सूफी इसे 'फना' कहते हैं। कबीर ने इसके लिए 'वर-वधू' के विवाह का रूपक प्रयुक्त किया है । 'परचा कौ अंग' मे इसी अवस्था का मार्मिक वर्णन किया गया है । इसमें कबीर जी ने आत्मा तथा परमात्मा के परिचय का सुन्दर वर्णन किया है। कबीर जी कहते हैं :-

'' कबीर तेज अनंत का मानौ ऊगी सूरज सेणि।
पति सँगिजागी सुन्दरी कौतिग दीठा तेणि ।।''

इस अवस्था में आत्मा परमात्मा का पूर्ण वरण कर लेती है । कवि इसे ' रवि ससि बिना उजास कहता है । परन्तु कबीर जी कहते हैं कि परिचय की अनुभूति व्यक्त करके भी उन्हे सन्तोष नही है। वे कहते भी हैं :-

''पार ब्रह्म के तेज का केसा है उनमास ।
कहिबे कूं सोभा नहि, देख्या ही परमान।।''

परिचय की यह अवस्था ऐसी प्रतीत होती है मानों जीवात्मा रूपी प्रेमिका परमात्मा रूपी प्रियतम में लीन हो रही है। इस अवस्था को प्राप्त कर विरह की ज्वाला शांत हो गई है। परिचय की अवस्था में कबीर एक ज्ञानी भक्त तथा रहस्यवादी प्रतीत होने लगता है। पानी तथा हिम के रूपक द्वारा कबीर ने परिचय की स्थिति को व्यक्त किया है :-

'' पानी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिला ।
जो कुछ था सोही भया, अब कुछ कहा न एल जाए।। ''

अब कबीर के हृदय में ईश्वरीय प्रेम प्रकाशित हो गया है। आत्मा परमात्मा का जो सनातन सम्बंध था, वह जाग उठा है । प्रेम भावना के जाग त होने के कारण अज्ञान से उत्पन्न

भ्रम भी अब नष्ट हो गया है। कबीरदास जी इसी को स्पष्ट करते हुए कहते है कि :-

'' प्यजंर प्रेम प्रकासिया, अतंरि भया उजास ।
मुख कसतूरी महमहीं, बाणी फूटी बास ।।''

(ग) मिलन :-

कबीर के भावात्मक रहस्यवाद की यह अन्तिम अवस्था है। इसे 'सिद्धावस्था' भी कहा जाता है। इसी स्थिति में पहुँचकर 'मैं' और 'तू' का भेद मिट जाता है। यह अवस्था आत्मा परमात्मा के पूर्ण विलय की अवस्था है। 'बूंद समानी समुंद में ' और ' समुंद समाना बूंद में' की स्थिति लगभग ऐसी है। मिलन की अवस्था में कवि ने आत्मा तथा परमात्मा के मिलन के बड़े हृदयाकर्षक चित्र अंकित किए हैं। अब जीवात्मा के आराघ्य उसके पास आ गए हैं तथा उसके जीवन की साधना अब सफल हुई है। जीवात्मा इस मिलन से उत्पन्न उल्लास तथा आह्लाद के कारण आनन्दित हो उठती है। वह गाती हुई कहती है :-

''दुलहिन गाबहु मंगलाचार,
हम घर आये हो राजा राम भरतार ।
रामदेव मोरे पाहुन आए हौं जोबन मदमाती ।।''

अब साधक को प्रियतम की प्राप्ति हो गई है। वह किसी भी स्थिति में अपने प्रियतम रूपी परमात्मा से अलग नहीं होना चाहता तथा अनुनय-विनय करके अपने प्रियतम् को रिझाने का प्रयास करता है। मिलन की स्थिति में जीवात्मा के सभी सशंय दूर हो गए हैं ओर उसे आनन्द की प्राप्ति को गई है। यह जीव और ब्रह्म की अभेदमयी अवस्था है। इस अवस्था में दोनों एकात्मक हो गए है और साधक को ब्रह्ममयी दिव्य आभा के दर्शन होने लगते हैं। इसी स्थिति का वर्णन करते हुए कबीर जी कहते है :-

1) '' लाली मेरे लाल की जित देंखू तित लाल ।
लाली देखन मैं गया मैं भी हो गई लाल ।।

2) तूं तूं करता तूं भया मुझ में रही न हूँ
वारी तेरी बलि गई जित देखो तित तूं ।।

कबीर के रहस्यवाद में आस्तिकता का विशेष महत्व है। इसीलिए उसमें प्रेम भक्ति स्वतः समा जाती है। उनके रहस्यवाद को किसी विशेष कोटि में नही रखा जा सकता, क्योकि कबीर ने पूर्व सत्य को पहचानने का प्रयास किया है। पुनः उनके रहस्यवाद में प्रव त्यात्मकता है, एकान्तिकता नही है। उसमें गुरू का विशेष महत्व है और माया के प्रति सावधानता दर्शायी गई है। क्योंकि माया आत्मा तथा परमात्मा के मिलन में बाधा उत्पन्न करती है। अन्ततः कबीर के रहस्यवाद में जहाँ एक और आध्यात्मिकता है वहाँ दूसरी और आत्मा तथा परमात्मा के सम्बंध ा में दाम्पत्य भावना का सुन्दर रूपक भी अपनाया गया है।

घ) साधनात्मक रहस्यवाद :-

कबीर पर नाथों, सिद्धों तथा योगियों की विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव रहा है। उन्होने आत्मा तथा परमात्मा के ऐक्य के लिए योग साधना के विभिन्न तत्वों का भी प्रयोग किया है। महर्षि पतं जलि ने भी स्वीकार किया है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है। अतः ईश्वर प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की साधनाएँ शरीर में भी की जा सकती है। परन्तु कबीरदास ने ढ़ोंगी योगियों तथा हठसाधना करने वालो की कड़ी आलोचना भी की है। कबीरदास की रचनाओ में मन की उलटी चाल, उन्मनावस्था, षट्चक्र, अनहदनाद, गगन-गुफा, और सुषम्ना

नाड़ियों, ब्रह्मारंन्ध्र आदि का वर्णन मिलता है । यथाः-ञ

१) 'नहद बाजै नीझर सरै, उपजै ब्रह्म गियान ।
अवगति अन्तरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान ।।

२) गगन गरजै बरसै अमी, बादल गहिर गम्भीर ।
चहुं दिसि दमके दामिनि भीजै दास कबीर ।।

कबीरदास जी उस परम् सत्ता के लिए कहीं-कहीं विभिन्न रूपकों, उलटबांसियों, पारिभाषिकृशब्दों तथा प्रतीकों का भी प्रयोग करने लगते है। ऐसे में भावनाओं की अपेक्षा यौगिक क्रियाओं की चर्चा अधिक रहती है। इसलिए कबीर का रहस्यवाद जटिल हो गया है ।

हठयोग की प्रकिया का वर्णन करते समय कबीर जी योग साधना के विभिन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के सिद्धों तथा योगियो से प्रभावित हैं यथा :-

''अष्ट दल कवंल निवासिया, चहु को फेरि मिलाई रे ।
रहूँ मैं बीच समाधिया, तहा काल न पावै आह रे ।।

(11) इस प्रकार से कबीरदास ने योग सम्बन्धी अनेक पारिभाषिक शब्दों जैसे अनहदनाद, अजपाजाप बिन्दु शुन्य, सुरति निरति आदि का प्रयोग किया है। डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी के शब्दों में ' कबीर ने स्थान-स्थान पर अनेक रहस्यपूर्ण पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है । सम्भवतः इन शब्दों के प्रयोग के पीछे नाथों तथा सिद्धों का हठयोग कार्य रहा था। इन शब्दों के प्रयोग में उलटवासियो, चौंसठ क्रियाओं, चौदह चन्द्रमा, सोलह पवन आधारों, बावन कोठरियों, सोलह चक्रों तथा दस दरवाजों का वर्णन हुआ है । ये सभी शब्द हठयोग की विभिन्न क्रियाओं में प्रयोग आने वाले स्थानों तथा वस्तुओं के प्रतीक हैं। एक उदाहरण देखिएः-

'' सुरित समानी निरत मैं, अजपा मोहे जाप ।
लेख समाणां अलेख मैं, यूं आना मोहे आप ।।''

(12) कबीरदास की अटपटी उलटवासियो में हमें उनकी अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद के दर्शन मिलते है। कभी- कभी वे अन्योक्तियों तथा रूपको का भी सहारा लेते है। ऐसी उक्तियो का रहस्यमय अर्थ होता है जिसे कोई विरला साधक समझ सकता है। अराधक को ये उक्तियाँ उल्टी प्रतीत होती है। अतः ये सामान्य साधक की समझ से परे है। इनमें न तो मधुरता है न सरसता। परन्तु जब कोई इनके गहन अर्थ को जान लेता है तब वह चमत्कृत हो उठता है। दो एक उदाहरण द षटव्य है :-

(क) नाव विच नदिया डूबी जाए ।
(ख) बरसे कम्बल भीजै पानी ।
(ग) बैल बियाये बाँझ भयी गाय ।

इस विवेचन से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की वाणी में भावात्मक तथा साधनात्मक दोनो प्रकार का रहस्य देखा जा सकता है। परन्तु जहाँ उन्होने साधनात्मक रहस्यवाद का सहारा लिया है, वहाँ उनकी कविता शुष्क हो गई है। किन्तु भावनात्मक रहस्यवाद में कबीर ने स्वयं को ईश्वर की पत्नी मानकर जो विचार व्यक्त किये है, वे सर्वथा अनूठें है। उनके रहस्यवाद पर अद्वैतवाद का सर्वाधिक प्रभाव है। यद्यपि उन्होने ईश्वर के निर्गुण निराकार रूप की वन्दना की है, परन्तु प्रेम तत्व के मिश्रण के कारण उनका काव्य भावनात्मक हृदय को छू लेता है ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि कबीर हिन्दी के प्रथम परन्तु उत्कर्ष रहस्यवादी कवि थे। उनके रहस्यवाद में जो अनुभुति की तीव्रता तथा गहनता है, भावो की मधुरता तथा विरह की व्यापकता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । केवल जायसी तथा महादेवी ही उनकी रहस्यानुभूति का स्पर्श करते दिखाई देते है। श्यामसुन्दर दास ने उचित ही कहा है - '' रहस्यवादियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। निशुद्ध रहस्यवाद केवल उन्ही का है।'' निश्चय ही कबीर काव्य में अनूठा अनुकरणीय रहस्य है। सरल भाषा में जैसा रहस्य कबीर काव्य में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

9. कबीर की प्रासंगिकता

कबीर भारतीय इतिहास के मध्य युग के उन महापुरूषों मे से हैं जिन्होंने उस युग के भारतीय जनमानस को अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से बहुत गहराई तक प्रभावित किया। उन्होंने तत्कालीन धर्म और समाज को विवेकपूर्ण द ष्टि से देखा और परखा। उन्होने परम्परागत म त जीवन मूल्यों, विचारों रूढियों और शास्त्र की निरर्थक जकङबन्दियों से मनुष्यों को मुक्त कर के उसे विचार की स्वतन्त्रता प्रदान की। महात्मा बुद्ध की तरह इन्होंने भी स्वानुभूति के बल पर सत्यानवेषण का यत्न किया। कबीर ने अपने अनुभूत सत्य को परखने के लिए न तो वेद की साक्षी ली और न ही परम्परा को प्रमाण माना। उन्होंने अपने अनुभव और विवेक की तुला पर अपने युग की स्थापित आस्थाओं और विश्वासों को तोला और जो कुछ उन के विश्वासों के अनुरूप खरा उतरा उसे उन्होनें स्वीकारा और जो कुछ खरा नहीं लगा उसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। इस सत्यानेवषण की क्रिया में वे अकेले हैं। इस का उन्हें दुख नही। क्योंकि वे जानते हैं कि जिस ड़गर पर वे चले हैं वह कोई आसान रास्ता नहीं है। इस रास्ते पर कोई विरला ही चल सकता है और वे स्वयं विरले ही व्यक्ति थे जिन्होंने अपने अनुभूत सत्य को प्राप्त करने के लिए अकेलेपन के दंश को सहन किया। यह अकेलापन आज के व्यक्ति की नियति है। कबीर की तरह आज के व्यक्ति के पास भी अपने सत्य को परखने के लिए अपने विवेक के सिवाए कोई दूसरी कसौटी नही है। आज वेद, पुराण अर्थहीन हो गए। परम्परा कोई स्थाई नहीं और धर्म संकुचित विचारों व सम्प्रदायों में बँट गया हैं ऐसी स्थिति में उसे अपनी विवेक की अग्नि मे ही जलना है और उसी के आलोक में अपना मार्ग निश्चित करना है। जिस प्रकार मध्य युग में कबीर ने किया था। कबीर ने अपने युग मे आत्मानुभव के आलोक मे समसामयिक यथार्थ की तर्कपूर्ण और भावुकता रहित व्याख्या की जिससे मनुष्य में आत्मविश्वास की भावना का संचार हुआ। कबीर चाहे दार्शनिक चर्चा करे अथवा खण्डन मण्डन की प्रक्रिया से गुजर रहे हो, उन की आँख हमेशा वर्तमान पर जमी रही और पाँव धरती पर टिके रहे। इसी कारण कबीर की टिप्पणियों और व्याख्याओं ने भारतीय धर्म साधन में नए आयाम स्थापित किए।

कबीर की तरह आधुनिक युग का मनुष्य आत्मानुभव को सबसे ऊँचा स्थान देता है इस अनुभव और चिन्तन को पराभूत करने वाले किसी भी तत्व को वह नकार देता है। अपने अनुभव को स्थापित करने के लिए उसे अनुकूल निर्णय भी लेने होते हैं। ये निर्णय मानव जाति के इतिहास का निर्माण हैं। इन क्षणों में व्यक्ति को ज्ञान के आगे घुटने टेकने होंगे और उसे अपनी स्वतन्त्रता गिरवी रखनी होगी। कबीर को शताब्दियों पहले इस बात का एहसास था कि करनी के बिना कथनी अर्थहीन है इसीलिए कबीर कहते हैं :-

कथनी कथी तौ क्या भया ,जो करनी नां ठहराइ ।
कालबूत के कोट ज्यूं देवतहीं ढांइ जाइ ।।

कबीर न तो अपने आत्मानुभव को गिरवी रखते हैं और न ही कर्म के आभाव में गलत परम्पराओं को स्वीकारते हैं। वे कर्म को ज्ञान से भी ज्यादा महत्व देते हैं। उन की नजर में जो लोग केवल ग्रन्थ ज्ञान तक अपने को सीमित रखते हैं वे चन्दन का भार ढोते हैं कबीर कहते हैं :-

वेद पुरान पड़े का किया गुनु खर चन्दन जस भरा ।

आत्मानुभव और आत्मानुसार चलन का अर्थ है अपने अनुभवों के आधार पर निर्णय लेना और उन के परिणाम को स्वीकार करना। यह कार्य बड़ा कठिन है। आज का व्यक्ति यह जानता है इसीलिए वह निर्णय लेने और परिणाम ओड़ने से डरता है। परिणाम स्वरुप वह त्रिशंकु की भान्ति निर्णय और अनिर्णय के दो छोरों के बीच भटक रहा है। इसीलिए आज क्रान्ति का स्वर कहीं सुनाई नही पड़ता। इसीलिए आज कबीर की महत्ता और अधिक शिद्दत से महसूस होती है। अकेलेपन और भय सन्त्रास की स्थितियां भी आधुनिक व्यक्ति की नियति है। सन्त्रास की ऐसी स्थितियां व्यक्ति को मानवता के सम्मुख उपस्थित समस्याओं के समाधान के प्रति सजग रखती है। महायुद्धों की विभीषिका ने आधुनिक व्यक्ति के मन में म त्यु का भय पैदा कर दिया है लेकिन प्राचीन भारतीय आचार्यों की तरह अस्तित्ववादी चिन्तकों ने भी म त्यु को जीवन की वास्तविकता कहा है और उन के विचार में म त्यु संत्रास से जीवन कें आत्मन्वेषण की प्रक्रिया गतिमान रहती है। कामू ने म त्यु की अनिवार्य दूर्निवारता में खुशी के महत्व को आंका है। कबीर भी कहते हैं :-

जिस मरनै थै जग डरै, सो मेरे आनन्द
कब मरिहूं कब देखिहूं पूरन परमानन्द !

अस्तित्व वादियों की तरह कबीर भी म त्यु सन्त्रास में आनन्द को ढूंढते हैं क्योंकि म त्यु ही जीवन का अन्तिम पड़ाव है और म त्यु के भय के कारण वे प्रतिक्षण आत्म परीक्षण में लगे रहते हैं। आधुनिक व्यक्ति की भान्ति कबीर ने भी अपने युग की परिस्थितियों और परिवेश के संत्रास को भोगा है लेकिन वे इस संत्रास से त्रस्त नहीं है। उन्होंने अपने विचार की स्वतन्त्रता को कायम रखते हुए तन मन और प्राण की निष्ठता लेकर अपने आप को अपने ईष्ट के प्रति समर्पित कर दिया और है संसार के भय चिन्ता और सन्त्रास को हंसते हंसते झेल लिया। यह झेलना आज के व्यक्ति की मजबूरी भी है और कामना भी। कबीर ने जिस समय जन्म लिया उस समय भारतीय समाज, हिन्दु समाज और मुस्लिम समाज में बँटा हुआ था। दोनों समाज धार्मिक और व्यावहारिक आडम्बरों के शिकार हो रहे थे। हिन्दु राजनैतिक द ष्टि से पराजित हो कर निराश और हीन भावना से ग्रस्त थे और कठोर वर्ण व्यवस्था रहते अनेक जातियों और उपजातियों में विभाजित होकर बिखर रहे थे। उच्च वर्ण के व्यवहार से हिन्दु समाज का एक वर्ग हमेशा के लिए और हर परिस्थिति में अस्प श्य और अछूत बन गया। इसी प्रकार मुस्लिम समाज विजयी होने के कारण उदण्ड एवं अत्याचारी बन गया । इस्लाम शिक्षाओं को छोड. कर 'सुरा और सुन्दरी' के चक्र में पड. गया । मुल्ला और मौलवी साधारण जनता को हिन्दुओं के विरुद्ध भड.का कर अपना उल्लू सीधा कर रहे थे । उन के इस व्यवहार से दोनों समाजों में वैमनस्य की गहरी रेखा खिंचती चली जा रही थी ।

ऐसे समय, देश में साधु सन्तों की एक जमात आगे आई जिस ने दोनों समाजों की खाई को पाटने का कार्य किया। मानव को मानव के रूप में स्थापित करने का यत्न किया। जिस वर्ण व्यवस्था को तोड़ने का यत्न नाथ, सिद्ध और योगी प्रारम्भ कर चुके थे उसे कबीर जैसे व्यक्ति ने समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाया और कहा :-

'जात न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान ।
जात-पात पूछे नाहि, हरि को भजे सो हरि का होई ।।'

कबीर ने समाज में फैले भ्रष्टाचार और वामाचार पर खुल कर प्रहार किया और समाज के ठेकेदारों को आड़े-हाथों लिया। कबीर के जमाने की वर्ण व्यवस्था, ऊँच नीच की भावना पर

आधारित थी लेकिन आज की जाति प्रथा पूँजी पर आधारित है। सामन्ती व्यवस्था की समाज व्यवस्था आज अपना रूप खो चुकी है। तथा उस के स्थान पर पूँजीवादी व्यवस्था स्थापित हो चुकी है और आज समाज उच्च, मध्य और निम्न वर्ग में विभाजित हो रहा है और नई समाज व्यवस्था पनप रही है। इस व्यवस्था का अपना एक व्याकरण है और उसी के अनुरूप अब व्यक्ति के लिए संघर्ष की अपेक्षा वर्ग संघर्ष की प ष्ठभूमि तैयार हो रही है। आज के वातावरण में कबीर जैसे जन नायक की आवश्यकता है जो पूंजीवाद के मायाजाल से साधारण व्यक्ति को बचा सके और उसे उसका सुरक्षित भविष्य दे सके। आज देश में कुछ राजनैतिक दल अपनी सत्ता प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति के लिए समाज को उसी आधार पर बाँटने की चेष्टा कर रहे हैं जिसका विरोध शताब्दियों पूर्व कबीर कर चुके थे। यदि इन प्रव त्तियों को जन आन्दोलनों के माध्यम से न रोका गया तो एक बार फिर व्यक्ति विचार शून्य हो उन्हीं परम्पराओं और आस्थाओं का दास बन जाएगा जिसे मध्यकाल में संतो ने अपने आचार और व्यवहार से नकार दिया था।

भारतीय इतिहास का मध्ययुग जिस प्रकार राजनैतिक द ष्टि से पराजय का युग है, समाज शास्त्रीय द ष्टि से यह युग अन्ध विश्वासों का युग है। इस समय हिन्दु धर्म अनेक मत-मतान्तरों में विभक्त हो गया था। जिन में शैव, वैष्णव, शाक्त आदि अनेक सम्प्रदाय थे जिन की अपनी अपनी दार्शनिक तथा धर्माचरण की पद्धतियाँ थी। योगी, सन्यासी आदि अनेक प्रकार से जीवन की साधना, आचरण और नीति का उपदेश देते फिर रहे थे। इन सब मान्यताओं के मूल में एक रस समन्वय की धारा तो थी, पर उनके बाह्य विरोध इतने उग्र थे कि उन में एक रस समन्वय धारा का एहसास अत्यन्त कठिन था। इसलिए सामान्य जन इन सम्प्रदायों के विरोध स्वरूप की भूल-भूलैइयों में सामान्य स्तर के चिन्तनशील व्यक्ति के लिए अपने मंगल का मार्ग बना लेना कठिन प्रतीत होता था।

ऐसे समय दक्षिण से जो भक्तिधारा उत्तर की ओर आई उस ने भक्ति के प्रचार और प्रसार को एक नई दिशा दी।

शंकराचार्य का उदय भारत के धार्मिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। उन के प्रभाव से सुप्त ब्राह्मण धर्म पुनः जाग त हो उठा। उन के दर्शन के सामने बौद्धधर्म के पैर न टिके और बुद्ध धर्म सिमट कर साधारण धर्म बन गया और बाद में सहजयान, वज्रयान और निरंजन पथ में विभाजित हो गया। बुद्ध धर्म के यही सम्प्रदाय कुछ समय पश्चात् वाममार्गीय साधना पद्धतियों में परिवर्तित हो गए। 11वीं शती में उतरी भारत में इन साधना पद्धतियों के विरोध में नाथ पंथ का उदय हुआ और दक्षिण में लिंगायत धर्म पनपे। कबीर तथा रामानन्द ने वाममार्गीय साधनों का प्रतिकार बड़े जोर से किया।

शंकराचार्य के प्रभाव से ब्राह्मण धर्म पुनः जाग त हुआ था। इसी धर्म के विरोध में रामानुजाचार्य, निम्बाकाचार्य तथ माधवाचार्य जैसे आचार्यों ने अपनी विचारधाराएं स्थापित की। शंकराचार्य ने साधना के क्षेत्र में ज्ञान को महत्व दिया और परवर्ती आचार्यों ने भक्ति की विशिष्टता को प्रतिपादत किया।

मुसलमान आक्रमणकारी काजी और मुजाहद बनने के लिए मूर्तियों और मन्दिरों को तोड़ रहे थे जिससे लोगों के मन में सगुण उपासना के प्रति मोह भंग होने लगा था। इसलिए नामदेव जो पहले मूर्ति पूजक थे, बाद में निर्गुण उपासक हो गए। इन निर्गुण संतो ने कर्म तथा वैराग्य में समन्वय स्थापित करते हुए जाति-पाति के भेद-भाव को दूर करने की चेष्टा की। आचार्य रामचन्द्र शुक्त के शब्दों में - ''इन संतो ने हिन्दु और मुसलिम दोनों के लिए एक

सामान्य भक्ति मार्ग का भी आभास दिया। इस प्रकार महाराष्ट्र के संत सम्प्रदाय में भक्ति का प्रेम तत्व, नाथ सम्प्रदाय का चिन्तन और मुसलमानी प्रभाव से मूर्ति पूजा के वर्जित वातावरण का श्री गणेश हुआ जो उतरी भारत के संत सम्प्रदाय का पूर्वाद्ध कहा जा सकता है ।

कबीर से पूर्व संतो ने बुद्ध धर्म के सिद्धांतो को सिद्ध और नाथों के द्वारा ग्रहण कर कबीर के लिए एक प ष्ठभूमि तैयार कर दी थी । जिस में कर्म और वैराग्य का सुन्दर समन्वय था और निर्गुण ब्रह्म की उपासना और नाम साधना की महता थी ।

कबीर पढ़े लिखे नहीं थे किन्तु उन्होंने सभी धर्मों की व्याख्या को सुना था और उन का मनन किया था और उस मनन के वाद उन्हें प्रत्येक वाद की एक एक धारा और उपधारा को अपने अनुभव के तराजू पर तोला और जो खरा लगा उसका प्रचार किया और जो अच्छा नहीं लगा उसे अस्वीकारा ही नहीं बल्कि उस का खण्डन भी किया ।

महात्मा बुद्ध की तरह कबीर ने भी वैदिक कर्मकाण्ड और बहुदेववाद का विरोध किया और निगुर्ण ईश्वर का गुणागान किया है । आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान कबीर की एकेश्वरवादी विचारधारा को वैष्णवी सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। कबीर साहित्य का अध्ययन करते समय ये दोनों धाराणाएं भ्रमपूर्ण लगती हैं क्योकि वैष्णवों की तरह मुसलमानों का ख़ुदा साँतवे आसामान पर रहता है और उस का मुख है और दो-दो हाथ है और वैष्णवों के प्रभु चुतर्भुजी है। किन्तु कबीर को ईश्वर के ये दोनो रूप स्वीकार नहीं। कबीर का ब्रह्म अनिर्वचनीय तत्व है। कबीर कहते है :

जैके मुह माया नहीं, नाही रूप कुरूप
पुहुप बास तै पातरा ऐसा तत्त अनूप ।

उन का यह ब्रह्म अद्वैतवाद की भावना के अनुकूल है । कबीर ने वेदों की भान्ति ब्रह्म की एकता और अद्वैतता दोनो को एक साथ ध्वनित किया है -

हम तो एक एक करि जाना
दोइ कहे तिनही को रोजग,जिन नाहिन पहचाना
एकै पवन एक ही पानी एक जोति संसारा
एक ही खाक पड़े सब भाँडे एकाह सिरजन हारा।।
जैसे कढ़ी काष्ट ही काटै अगिनि न काटै कोई।
सब घटि अन्तर तू ही व्यापक घटै सरुपै सोई।।

कबीर रामानन्द के शिष्य थे और राम नाम का गुरु मंत्र उन्हें रामानन्द से ही मिला था। किन्तु कबीर का राम रामानन्द के राम से भिन्न है। कबीर का राम राजा दशरथ का बेटा नहीं है। और न ही उस ने लंका के राजा रावण का वध किया और न ही उस ने दूसरे अवतार रुपों में जन्म लिया। कबीर का राम सत्य स्वरूप है। कबीर जीवन भर सत्यानवेशन में लगे रहे और उन्हें सत्य मिला राम के नाम में। जीवन में जहां भी उन्होनें सत्य के दर्शन किए वहीं उनका सिर श्रद्धा से झुक गया और उसे उन्होंने राम के रूप में स्वीकार किया। कबीर ने राम को 'रूप' नही 'गुण' के रूप में स्वीकारा है। रूप नश्वर है और गुण सत्य है। यही गुण कबीर की सब से बड़ी उपलब्धि है।

कबीर वैष्णवों की भान्ति राम के अवतारी रूप को नहीं स्वीकारते। उन के लिए जन्म और मरण के चक्र में धंसा जीव ब्रह्म नहीं हो सकता। वह कर्ता नहीं है। ऐसा राम मोक्ष नहीं दे सकता। इसलिए कबीर निर्गुण राम को भजने का उपदेश देते है। राम का नाम हिन्दू व मुसलमानों के लिए एक समान पूजनीय है। वे कहते हैं, ''कहै कबीर एक राम जपु रे ,हिन्दु

तुरक न कोई''। इसलिए कबीर की भक्ति का आधार राम नाम है। इसी नाम को जप कर लोग भव सागर पार हो गए। कबीर बार-बार यह स्पष्ट करते हैं कि उन का राम निर्गुण राम है, सगुण नहीं। वे कहते हैं -

साधो करता करम तें न्यारा
आवै न जाई मरै नहिं जनमै ताका करो विचारा।

कबीर के राम का स्वरूप कोई भी हो उसे प्रेम द्वारा पाया जा सकता है, वह अपने भक्तों के सुख दुःख की पूरी खबर रखता है। उसे सब की चिन्ता है। वह कण कण में व्याप्त है। उसे किसी रूप धारण करने की आवश्यकता नहीं है। वह परम प्रेम स्वरूप हो जाता है। इस भावभूमि पर पहुँच कर साकार और निराकार एक हो जाते हैं और कबीर का राम ब्रह्म स्वरुप हो जाता है।

कबीर ने अपनी भक्ति को नारदी भक्ति कहा है। निश्चय ही नारद की प्रेम भाव प्रधान भक्ति कबीर का लक्ष्य है। नारद के अतिरिक्त सूफियों के 'इश्क' तत्व ने भी कबीर के भक्ति रूप को संवारा है। वह मधुर से मधुरतम् हो गई। कबीर की भक्ति पर योगियों की भी छाया है।

कबीर की भक्ति नारदी हो कर भी सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वभौमिक है। वह सहज और सरल होकर भी 'खाण्डे की धार' के समान कठिन और कष्ट साध्य है। इस का कारण यही है कि वह भाव प्रधान है। बाह्य विधि विधानों का उस में कोई स्थान नहीं। इस में सर्वत्र सदाचरण, सहजचरण, सहजोपासना आदि पर ही विशेष जोर दिया गया है। कबीर की भक्ति में मन साधना, मानसिक पूजा, मानसिक जप तथा सत्संगति को विशेष महत्व दिया गया है।

कबीर ने अपनी आस्थाओं का निर्माण अपनी सत्यानुभूति पर किया था उसी प्रकार उन के सहज धर्म में विश्वास बुद्धिवादिता पर टिके हैं। इसी लिए अन्धविश्वासों से उन्हें घ णा है। लोक और वेद का अन्धानुकरण उन्हें पसन्द न था। धार्मिक और सामाजिक आडम्बरों पर जो उन्होंने प्रहार किए वे सब तर्कपूर्ण और बुद्धिवादी है। वास्तव में उन का धर्म हृदय की निष्कपटता, चरित्र की आचार प्रवणता और मन की शुद्धता पर आधारित है। वे कहते है, ''काम क्रोध त ष्णा तजै ताहि मिलै भगवान''।

कबीर के सहजधर्म में मध्यमार्गानुसरण को भी ऊँचा स्थान दिया गया है। महात्मा बुद्ध ने भी मध्य मार्ग पर चलने का उपदेश दिया था। कबीर ने बुद्ध के इस उपदेश को ग्रहण कर मध्य मार्ग को अपने उपदेश का आधार बनाया और समरसता को विशेष महत्व दिया। वे समाज में, धर्म में, और साधना में सर्वत्र एक समरसता चाहते थे। कबीर की क्रान्ति भावना इसी समरसता की भावना को लेकर आगे बढ़ी। उन्होनें जीवन भर विविध विषमताओं को सम करने के लिए संघर्ष किया। उनका द ढ़ विश्वास था कि विश्व में तभी शान्ति आएगी जब सर्वसाधारण व्यक्ति की द ष्टि सम हो जाएगी। सम द ष्टि वाले व्यक्ति को ही भगवान मिलते हैं। वे कहते हैं : -

लोहा कंचन सम कार जानहि, ते मूरत भगवान

कबीर की भक्ति भावना मध्य युगीन बोध से अनुप्राणित है लेकिन उस भक्ति का व्यावहारिक रूप आधुनिक काल में अधिक प्रासंगिक है। कबीर मानव-मानव की समता और एकता के पक्षपाती हैं। उन्हें वर्गगत या जन्मजात ऊँच नीच की भावना से तीव्र घ णा है। उन की द ष्टि में मानव की उद्मता का आधार जन्म अथवा सम्प्रदाय नहीं, नैतिकता और सदाचार

है। कबीर का यह सन्देश उस युग में भी सत्य था और आज भी इस सन्देश की उपयोगिता है।

कबीर वर्ग और सम्प्रदायों में बँटी हुई मानवता को देखकर व्यथित थे। उन की यह व्यथा किसी वर्ग विशेष की व्यथा नहीं थी, वह व्यापक मानवता की व्यथा थी। उस व्यथा का स्वर मूलतः आध्यात्मिक एवं नैतिक था। उनकी साधना का मूल मानव मात्र था, आध्यात्मिक कल्याण था। इस कल्याण में सामाजिक कल्याण अन्तर्भूत है। कबीर संत थे और प्रेम, भक्ति और सदाचार के द्वारा भगवान की प्राप्ति का संदेश देते हैं। इस संदेश के लिए हिन्दु-मुसलमान, ब्राह्मण और शूद्र सब बराबर हैं। मानव को भगवान रूप में देखना ही कबीर दर्शन का लक्ष्य है।

मानव को मानव बनाना ही कबीर भक्ति की प्रासंगिकता है।

10. कबीर की भाषा

भाषा भावाभिव्यक्ति का साधन है। हर साहित्यकार की अपनी भाषा होती है। कबीर की भाषा को लेकर विद्वानों में ठीक उसी प्रकार मतभेद व्याप्त हैं जिस प्रकार से उनके जन्मकाल के विषय में विषयागत विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कबीर के भाषा विषयागत विद्वानों की मत प्रस्तुति है -

'' कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योकिं वह खिचड़ी है। ''

डॉ० श्याम सुन्दर लाल

'' इसकी (साखी की) भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी पंजाबी मिली खड़ी बोली है पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रज भाषा और कहीं-कहीं पूर्वी बोली का भी व्यवहार है।''

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

'' कबीर अवधी के प्रथम संत कवि है। ''

डॉ० बाबूराम सक्सेना

'' कबीर की बोली 'पूरबी' ही अधिक होनी चाहिए, क्योंकि उन्होंने कहा भी है कि उनका सारा जीवन शिवपूरी (काशी) में व्यतीत हुआ। प्रधान रूप में हमें पूर्वी हिन्दी (अवधि) व्याकरण के रूप ही मिलते हैं। कहीं-कहीं खड़ी बोली, पंजाबी और ब्रज का भी रूप दिखाई देता है ''

डॉ० राजकुमार वर्मा

'' भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे जिस बात को उन्होनें जिस रूप में कहना चाहा उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया - 'बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर'। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाईश को पूरा नहीं कर सके और अकह कहानी को रूप देकर, मनाग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। असीम अनन्त ब्रह्मनन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। ''

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

कबीर की भाषा में अधिकांशतः दूसरी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग है परन्तु उनकी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले शोधकर्ताओं ने अपने निष्कर्ष में डॉ॰ श्याम सुन्दरदास के मतका समर्थन किया है। शोधकर्ताओं ने अपने-अपने ढंग से कबीर की भाषा में दूसरी भाषा के शब्दों के अनुपात में कमी या बढोतरी दर्शाई है परन्तु सभी ने इस बात का समर्थन किया है

कि कबीर की भाषा में पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, ब्रज भाषा आदि के शब्दों का प्रयोग हुआ है।

1. कबीर की भाषा का स्वरूप :-

कबीर की भाषा का अध्ययन करते समय यह तथ्य ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि जिस समय कबीर काव्य रचना कर रहे थे, उस समय आधुनिक भारतीय आर्य भाषा का इतने स्पष्ट रूप में विभाजन नही था जितना कि आज है। उन्होंने अपने समय की प्रचलित भाषा में काव्य की रचना की है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि ''कबीर-युग मे संस्कृत ही धर्माधिकारियों की भाषा थी परन्तु लोक-जीवन में संस्कृत एक जीवित भाषा के रूप में प्रचलित नहीं थी। इस विषय की ओर संकेत करते हुए कबीर ने वर्णित किया है -

कबीरा संस्कृत कूप-जल, भाखा बहता नीर।

यहाँ पर भाखा का तात्पर्य बोलचाल की भाषा से ही है वैसे भी स जनात्मक भाषा सदैव बोलचाल की भाषा के निकट होती है। इस बोलचाल की भाषा में यद्यपि खुसरो काव्य-रचना प्रारम्भ कर चुके थे। यदि कबीर को हिन्दी का प्रथम कवि सच्चे अर्थों में कहा जाय तो अतिश्योक्ति न होगी।

कबीर ने स्वयं को पूर्वी हिन्दी भाषी बताया है-
बोली हमारी पूरब की, हमैं लखे नहीं कोय,
हमको तो सोय लखै, धर पूरब का होय।।

आधुनिक भाषा विज्ञान भाषा पूर्वी अवधि अन्तर्गत अवधि, बघेली व छतीस गढ़ बोलियाँ ही स्वीकारी है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह वर्गीकरण लगभग डेढ़ सौ वर्ष से लागू किया गया है जबकि कबीर-युग बीते लगभग पांच सौ वर्ष बीत चुके हैं। इसलिए आधुनिक भाषा विज्ञान की कसौटी पर कबीर की भाषा को परखकर इसे पूर्वी हिन्दी से केवल इसलिए बाहर नहीं किया जा सकता क्योंकि कबीर की भाषा हिन्दी की बोलियों से भिन्न है वस्तुतः कबीर काशी के रहने वाले थे और काशी में भोजपुरी बोली ही प्रयोग में व्यवहृत होती थी। अतः तत्कालीन युग में भोजपुरी पूर्वी हिन्दी की ही एक बोली मानी जाती थी।

2. शब्द सामर्थ्य :-

शब्द भण्डार की द ष्टि से कबीर की भाषा अत्यन्त सम द्ध है उनकी रचनाओं में भोजपूरी के 'खटोलवा' पहरवा 'पाऊवा', 'खम्भवा' आदि संज्ञा-पद तथा 'सूतल', 'लूटल', 'राखल', 'पावल' आदि क्रियापद मिलते हैं।

'' कबीर के पद मूल रूप से सम्भवतः भोजपुरी में ही थे। बाद में उन्हे पछाही भाषा में परिवर्तन कर दिया गया था। कथनानुसार उस की पुष्टि कबीरदास जी ने स्वयंमेव की है -

मसि कागद छुयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ जुग को महातम, मुखहिं जनाई बात।।

स्पष्टतया कबीरदास जी ने स्वयं तो पद लिखे ही नहीं थे उनके शिष्यों ने ही पूर्वी भाषा में कही गयी उनकी बानियों को संकलित किया। उन्होंने पश्चिम भाग के लोगों के लिए इन रचनाओं को बोध-गम्यता के साथ पश्चिमी भाषा में परिवर्तित किया इसलिए यह कहा जा सकता है कि उनकी मूल बानियाँ पूर्वी हिन्दी में ही रही होंगी। अभी तक कबीर की बानियों के उपलब्ध रूपों के विषयागत उनकी बानियों के दो ही प्रमाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें सबसे

पहला ग्रन्थ डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली' है जिसका संस्करण 1561 व संस्करण 1881 को हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर तैयार किया गया है। दूसरा प्रमाणिक ग्रन्थ डॉ० रामकुमार वर्मा द्वारा सम्पादित 'सन्त कबीर' है।

उक्त ग्रन्थों में कबीर की भाषा अनेक बोलियों के मिश्रण से युक्त है उसमें कहीं पर पंजाबी भाषा के शब्दों का प्रयोग हुआ है ऐसे पंजाबी शब्दों में अखणियाँ, हूणाँ, जीभड़ियाँ, कसाइयाँ, प्रीतड़ी, रतड़ियाँ, दुखड़ियाँ आदि शब्दों को लिया जा सकता है यही नहीं कही-कहीं उन्होनें पंजाबी मुहावरों का भी सार्थक प्रयोग किया है यथा -

मन लगा उनमन सो, उनमन मनहिं विलण।
मारणहारा जानि हैं, कै जिंहि लागि सोय।

इसी प्रकार कहीं पर उन्होंने अपनी रचना में राजस्थानी भाषा शब्द- 'बिसरणां', 'रोवणं', 'सजवाँ', 'जाणि', 'छाणि', 'संताणि', 'आपणा', 'रैणा' आदि का भी प्रयोग किया है।

उदाहरणार्थ :-

चोट संताणी बिरह की, सब तन जर-जर होय।
मारण हारा जानि है, कै जिहि लागि सोय।।

कबीर की भाषा में ब्रजभाषा युक्त शब्दों का प्रयोग है जिनमें लेट्यौ, घट्यौ, पकर्यौ, चल्यौ, फिरयौ, रह्यौ लीन्हौ आदि शब्दों की बार-बार आव त्ति हुई है यथा -

करता था तौ क्यूँ रह्या, अब करि क्यूं पछताय।
बौवै पेड़ बबूल का, आम कहाँ तै खाय।।

कबीर ने अपनी रचनाओं में खड़ी बोली शब्द को प्रयुक्त किया उन्होने खड़ी बोली जाऊगाँ, आऊगाँ, लागा, भागा, मिलाऊगाँ, चित्त लाऊँगा, धागा टूटा आदि शब्दों का कई बार प्रयोग किया है। यथा-

आऊगाँ न जाऊगाँ, मरूँगा न जीऊँगा।
गुरु के सबद में, रमि रमि रहूँगा।।

इसी प्रकार उन्होनें अवधी भाषा के प्रचलित शब्दों - मोर, तोर, मंदला वजावा, दुख पाव आदि शब्दों का अपनी रचना में वर्णित किया है -

कहा तिन सौ कहों दया जिनकी नहीं, घात बहुत करैं बकुल पवानी।
दुर्गति जीवन की दुबिध छटे नहीं, जन्म जन्मात पड़े नर्क खानी।

कबीर की रचनाओं में पूर्वी हिन्दी का कही-कहीं प्रयोग स्पष्ट झलकता है जिनमें भोजपुरी शब्दों का बाहुल्य है -

दात यल मोर पान खात।
केस गयल मोर रंग नहात।।

यही नहीं उनकी भाषा में बंगाली शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 'आछिलो' शब्द बंगला के 'छिला' शब्द का रूपान्तर है जो कि 'था' के अर्थ में प्रयुक्त होता है इस शब्द का प्रयोग करते हुए कबीर कहते है -

कहू कबीर कुछ आछिलो जाहिया।

इसी प्रकार 'पारना' शब्द क्रिया के रूप में बंगला भाषा में प्रयुक्त होता है जो कि

'सकना' अर्थ की अभिव्यक्ति करता है कबीर ने कुछ एक स्थलों पर इस बंगला शब्द का भी प्रयोग किया है -

गाँइ कुठाकर खेत कु नेपै, कइथ खरच न पारै।

कबीरदास जी ने अपनी रचनाओं में अरबी व फारसी भाषा के शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है कुछ पक्षों में उन्होंने अरबी व फारसी शब्दों की बाहुल्यता कर दी है।

हम रफत रह बरहु समाँ मै खुदी समाँ बसियार।
हम जमीं आसमाँ खालिक, गुँद मुसकिल कार।।
असमान म्यानैं लहँग दरियाँ, तहाँ गुसल करदा बूद।
करि फिकर रह सालकजठम, जहाँ स तहाँ मौजूद।।

(सं० श्यामसुन्दर दास - कबीर ग्रन्थावली पदावली - 258)

ऐसा भी नहीं कि कबीर ने अपनी रचनाओं में केवल प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया है उन्होंने विषयानुसार तत्सम् व तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया है। तत्सम् शब्दावली से युक्त एक दोहा उदाहरणार्थ प्रस्तुत है -

गगन गरजि अम त चबै, कदली कवल प्रकाश।
तहाँ कबीरा बंदगी, कै कोई निजदास।।

इसी प्रकार तद्भव शब्दों से युक्त उनका एक दोहा प्रस्तुत है :-

कबीर यहु जग अंधला, जैसी आंधी गाइ।
बछा था सो मरि गया, ऊभी चाम चटाइ।।

३. सर्व स्रोतीय शब्दावली :-

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की भाषा शब्द भण्डार की द ष्टि से अत्यन्त सम द्ध है फिर भी कबीर की भाषागत विशेषता यह है कि जब किसी साधक को सम्बोधित करते हैं तो वह साधनात्मक शब्दावली से युक्त हो जाती है

चित तरउवा पवनषेदा, सहज मूल बांधा।
ध्यान धनक जोग करम, ग्यान बान सांधा।।
षटचक्र कंवल देधा, जारि उजारा कीन्हा।
काम क्रोध लोभ मोह, हाकि स्पावज दीन्हा।।

इस प्रकार कबीर जब हिन्दुओं को सम्बोधित करते हैं तो उनकी भाषा हिन्दू-धर्म की शब्दावली से युक्त हो जाती है तथा उसमें सूचा, भोजन, अग्नि आदि शब्दों का समावेश है -

कहु पंडित सूचा कवन ठाँउ। जहां बंसिहउ भोजन खाउ।
माता जूठी पिता भी जूठा, जूठै ही फल लागै।
आवहिं जूठै जाहिं भी जूठै, जूठहि मरेहि अभागे।
अगिनि भी जूठी पानी जूठा जूठै वैसि पकाया।
जूठी करछी अन्न परोसा जूठै-जूठा खाया।।

कबीरदास जी एक संत कवि थे उनका मुख्य उद्देश्य धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्ड के प्रति जनसाधारण को सचेत करना था। यही कारण था कि जब वे मुस्लिम सम्प्रदाय से बात करते है तब उनकी भाषा स्वतः इस्लमिक साधनात्मक शब्दों से युक्त हो जाती है -

बंदे खोजु दिल हर रोज नां फिर परेसानी माहि।

यह जु दुनिया सिहरू मेला कोई दस्तगारी नाहि।।
वेद कदेब इफतरा भाई दिल का फिकरू न जाई।
टुकदम करारी जउ करहु हाजिर हजूर खुदाइ।।

४. जन सामान्य की भाषा :-

कबीर की भाषागत विशेषता प्रमुखतः तत्सम्, अरबी, फारसी आदि शब्दों को हिन्दी प्रव त्ति के अनुकूल बनाकर प्रयोग में लाते है उनकी भाषा में प्रवेश पाकर संस्कृत अरबी, फारसी, तुर्की आदि शब्द हिन्दी-भाषागत शब्द बन जाते हैं। उदाहरणार्थ तत्सम्, विदेशज शब्दों को हिन्दी भाषा प्रव त्ति में घुल-मिल गयी है -

आऊँगा न जाऊँगा मरूँगा न जिऊँगा।
गुरु के साथि अमरिस पीऊँगा।
कोई फेरे माला कोई फेरे तसवी।
देखो रे लोगा दोनौं कसबी।

यहाँ पर तत्सम् शब्द 'अम त' का अमीरस विदेशज शब्द 'तस्बीह' को तसबी बनाकर प्रयोग किया। कबीरदास ने जिस प्रकार सभी धर्मों में वाह्याचार, पाखण्ड, कर्मकाण्ड आदि त्यागकर सहज-साधना अपनाने पर बल दिया है उनकी भाषा शब्दागत प्रायोगिक सहजता की पक्षधर द ष्टिगत है। वे प्रत्येक सम्पूर्ण जन-मानस में अपनी बात चरितार्थ करना चाहते थे। उनकी भाषा में तत्कालीन नीच जातियों व उनके व्यवसाय से सम्बन्धित शब्दावली का अधिकाधि ाक प्रयोग है उन्होनें जुलाहा, कुम्हार, कसाई, लुहार, नट आदि जातियों के पेशा सम्बन्धी रूपकों का प्रयोग किया है -

झीन-झीनी रे बीनी चदरिया (जुलाहा)
x x x x x x
मति बसि पड़ौ लुहार के जालै दूजी बार (लुहार)
x x x x x x
माहि मलणि कुंहार की घणी सौ सिरिलात (कुम्हार)
कुंभरा ह्वै करि बासन धरिहू, धोबी ह्वै मल होऊँ।
चमरा ह्वै करि रंगौ अधौरी, जाति पांति कुल खोऊँ।।
तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौ, पाप पुंनि दाऊ पीरौ।
पंच बैल जब सूध चलाऊं, राम जेवरिया जोरूँ।।

कबीर ने तत्कालीन सामान्य-लोक-जीवन में प्रचलित परम्पराओं, व्यवसाय आदि से अपनी भाषा में शब्दों का चयन किया है। तत्कालीन युग के लोक-जीवन, रीति-रिवाज पद, उत्सव, रहन-सहन आदि से जुड़े शब्दों का कबीर की रचनाओं में प्रयोग हुआ है।

5. भाषा विलक्षणता :-

कबीर की भाषागत विशेषता उसकी सरलता व दो टूकपन है। वे अपनी बात को स्पष्ट रूप से रखते हैं। उनकी बात कटु-सत्य व्यंगात्मक व बिना घुमाव के कही गयी है। भाषा की विलक्षणता उनके निर्भीक व्यक्तित्व के स्वामित्व को सिद्ध करती है। भाषा में दो-टूकपन लाने के लिए लोकोक्तियों, मुहावरों का प्रयोग है। मुहावरे सामान्य भाषा में लोकोचित्त संवेदनात्मक शक्ति भर देते हैं। कबीर ने भाषा में मुहावरों को इतना घुला-मिला दिया है कि वे भाषा के ही अभेद्य अंग बन गये है। उदाहरणार्थ

आहे दिन पाछे गये हरि सै किन हेत।
अब पछताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गयी खेत।

अथवा

पांव कुल्हाड़ी मारिया, मूरख अपने हाथ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की भाषा एक मिश्रित भाषा है उसमें विभिन्न सम्प्रदायों, बोलियों व व्यवसायिक युक्त शब्दों का प्रयोग हुआ है। किवदन्ति है कि कबीरदास जी स्वयं तो पढ़े-लिखे नहीं थे उनकी बोलियों को लिखित रूप प्रदान करने वाले शिष्य-प्रशिष्य उत्तर भारत के विभिन्न भागों से सम्बन्धित थे। उनकी वाणीगत भाषा लिखते समय शिष्यों ने अपनी मात भाषा के प्रभावगत उनकी रचनाओं में अपनी अपनी भाषा के शब्दों का समावेश किया ।

कबीर युग में अपभ्रंश भाषाऐं साहित्य क्षेत्र से दूर व लोक भाषाऐं धीरे-धीरे उनका स्थान ले रही थी। लोकभाषाएँ विशेषतया विकसित थीं परन्तु अपने-अपने सीमित व संकुचित क्षेत्र में सिमटी हुई नहीं थी। अतः इन लोक भाषाओं को बोलने समझने वाले लोग विस्त त क्षेत्र में फैले हुए थे। कबीर जैसे संत कवि की भाषा में इन लोक भाषाओं के शब्दों का समावेश हो गया।

उपर्युक्त विवेचनात्मक विश्वसनीयता के अतिरिक्त अन्य कारण भी है। कबीरदास जी संत कवि थे उन्होंने पर्याप्त मात्रा में देशाटन किया था। वे जिस भी स्थान पर जाते, वहाँ पर प्रवचन करते समय उसी लोक-भाषा के शब्दों को अपना लेते थे। पंजाबी भाषा के क्षेत्र में पंजाबी, मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्र में अरबी, फारसी, राजस्थान में राजस्थानी, ब्रज भाष के क्षेत्र में ब्रज शब्दों का प्रयोग करने से उनकी भाषा मिश्रित रूप में प्रकट होती है। यहाँ पर एक तथ्य ध्यान देने योग्य है कि कबीरदास के प्रवचन उनकी रचना आदि का मुख्य लक्ष्य जनसाधारण में चेतना लाना था। उनकी रचनाओं में सम्पूर्ण उत्तर भारत के जनसाधारण की बोली व भाषा के शब्दों का प्रयोग है।

कबीर की भाषा विद्वानों को सधुक्कड़ी या पंचमेल खिचड़ी दिखाई दे या उसे वे 'साध य-भाषा' के नाम से पुकारें अथवा उसे ऊबड़-खाबड़ माने परन्तु सत्य तो यह है कि कुछ उल्ट वासियों को छोड़कर उनकी भाषा जन साधारण में चेतना को जाग त करना था। उन्होंने अपनी रचनाओं में विभिन्न व्यवसायों, धर्मों, समुदायों के लोगो के जीवन से जुड़े शब्दों का प्रयोग कर, स्वयं को एक लोक नायक के रूप में प्रस्तुत किया है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि कबीर न केवल वाणी के डिक्टेटर हैं बल्कि वे उत्तर भारत की जनभाषा से जुड़ी होने के कारण उनका प्रतिनिधित्व करती है।

व्याख्या

(क) पाठ्य साखियाँ

हौं तो सबही की कहों, मोको कोउ व जान।
तबौ भला अब भी भला, जुग-जुग होउँ नआन ॥1॥
कलि खाटा, जग आँधरा, सब्द न मानै कोय।
जाहि कहौं हित आपुना, सौ उठि बैरी होय ॥2॥
मसि-कागज छुयो नहिं, कलम गही नहिं हात।
चारिउ जुग को महातम मुखहि जनाई बात ॥3॥
बोली हमरी पूर्व की, हमें लखै नहिं कोय।
हम को तो सोईं लखै, धुर पूरव को होय ॥4॥

शब्दार्थ - हौं = मैं। जुग = युग। मसि = स्याही। हात = हाथ। मुखहि = मुखसे। सब्द = ब्रह्म का नाद।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत साखियाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त हैं। इन साखियों में संत कबीर दास जी ने अपने जीवन से जुड़े कुछ पहलुओं की ओर संकेत किया है।

व्याख्या - कबीर दास जी कहते हैं कि मैं तो सभी लोगों से कहता हूँ परन्तु मुझे कोई भी नहीं जानता। ये दोनों ही बातें ठीक हैं क्योंकि युगों-युगों तक किसी को सम्मान नहीं मिलता। यह सम्पूर्ण कलियुग खाटा अर्थात् विसंगतियों से युक्त है। यह सम्पूर्ण संसार अज्ञानता के अन्धकार में अन्धा (द ष्टिहीन) बना बैठा है इसलिए कोई भी मनुष्य शब्द अर्थात् ब्रह्म के अनहदनाद की बात को स्वीकार नहीं करता। इस संसार में जिस भी मनुष्य को उसके हित की बात समझाओ वही हितैषी का शुभ बन जाता है। तीसरी साखी में कबीरदास अपनी शिक्षा आदि के विषय में वर्णित कर कहते हैं कि मैंने तो कभी भी अपने जीवन में स्याही और कागज को हाथ से छुआ ही नहीं और न ही मैंने कलम अथवा लेखनी को अपने हाथों में पकड़ा है अर्थात् मैंने कभी भी विधिवत् शिक्षा नहीं ग्रहण की है। मैंने तो अपने मुख से ही चारों ओर युगों-युगों की बातों की महत्व की व्याख्या की है। अर्थात् मैंने कोई भी रचना अपने स्वयं के हाथों से लिपिबद्ध नहीं की है। भाषागत संकेत करते हुए कबीर दास जी कहते हैं कि मेरी बोली अर्थात् मात भाषा तो पूर्व दिशा की है और मैंने कभी भी अपनी रचनाओं या विचारों को अपने हाथों से नहीं लिखा है मेरे लिए तो जो इन्हें लिखता है वही पूर्व का हो जाता है।

विशेष -1. पहली, दूसरी साखी में कबीर दास जी ने अपनी सामाजिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों की ओर संकेत किया है तथा तीसरी, चौथी साखी में उन्होंने अपने निरक्षर होने व पूर्वी भाषा से जुड़े होने के तथ्यों को उद्घाटित किया है।

2. साखियों में अभिधा शब्द शक्ति विद्यमान है।

3. प्रसाद गुण का समावेश है।

4. तद्भव व देशज् शब्द प्रयुक्त हैं।

5. भाषा विषयागत है।

6. सरस मेयता है।

7. 'जुग-जुग' में पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार है।

8. महातम् मुखहि में अनुप्रास अलंकार है।

अगिनी जु लागी नीर में, कंदू जालिया झारि।
उत्तर-दखिन के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥1॥
गुरू दाझा चेला जला, बिरहा लागी आगि।
तिणका बपुरा ऊबर्‌या, गलि पुरे कै लागि ॥2॥
अहेड़ी दौं लाइया, मिरग पुकारे रोइ।
जा बन में क्रीड़ा करी, दासत है बन सोई ॥3॥
पार्णी माहै पर जली भई अप्रबल आगि।
बहती सलिला रह गई, मच्छ रहे जल त्यागि ॥4॥
समँदर लागी आगिर, नदियाँ जलि कोयला भई।
देखिक बीरा जागि, मच्छी रूखा चढ़िं गई ॥5॥

शब्दार्थ - अगिनी = आग। नीर = जल। कंदू = कीचड़। उत्तर-दखिन के पंडिता = उत्तर के ज्ञान मार्गी योगा और दक्षिण के वैष्णव मार्गी आचार्य। दाझा = आग लगाई। गुरू = भगवान। चेला = जीव का अहंकार भाव। तिणका = निराभिमान भक्त। गलि = गले से। पूरैके = पूर्ण के साथ। अहेड़ी = अहेड़ी-गुरू। दौ = दावाग्नि (विराहाग्नि)। मिरग = म ग यहाँ मन से अभिप्रायः है। दाझत है = जलता है। परजली = प्रज्वलित हुई। अप्रबल = बलवान। मच्छ = जीव। समँदर = भवसागर रूपी समुद्र। नदियाँ = प्रव तियाँ रूपी नदियाँ। मच्छी = मछली। रूखा = व क्ष रूपी उर्ध्व ब्रह्माण्ड में।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत साखियाँ डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्‌ध त है। इन साखियों में संत कबीरदास जी ने उलट बासियों का प्रयोग करते हुए मनुष्य को ईश्वर के प्रतिध्यान लगाने का आह्‌वान किया है।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि भवसागर रूपी जल में भगवान के विरह से उत्पन्न अग्नि में कल्पना रूपी कीचड़ तक जल गया है अर्थात् उसका कोई अवशेष नहीं रह गया है, परन्तु आज तक उत्तर के ज्ञानमार्गी व दक्षिण के वैष्णव मार्गी आचार्य इस संसार, मन, जीव, आत्मा आदि पर विचार करते रहे अर्थात् वे इस मर्म को न समझ सके।

कबीरदास जी कहते हैं कि भगवान रूपी गुरू ने जीव के अहंकार रूपी चेले को अपनी विरह रूपी अग्नि से जला दिया है परन्तु जो भी निरभिमान भक्त थे वे उस पूर्ण अर्थात् परमात्मा के गले लग कर बच गये। कहने का तात्पर्य यह है कि निरभिमान भक्त कभी भी स्वयं को ईश्वर से दूर नहीं पाता।

कबीरदास जी कहते हैं कि अहेरी अर्थात् गुरू ने अब अपने शिष्य के शरीर रूपी वन में ईश्वर के प्रति विरहाग्नि रूपी दावानल को भड़का दिया है। जिसका मन रूपी हिरण बार-बार रोकर पुकारता है कि अब तक जिस शरीर रूपी वन में मैंने क्रीड़ा की थी, वही वन अब जल रहा है कहने का तात्पर्य यह है कि अब भक्त ने अपने समस्त शारीरिक सुखों को त्याग कर केवल ईश्वर की भक्ति में लीन रहना आरम्भ कर दिया है।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस शरीर रूपी जल में भगवद्विरह रूपी अग्नि जो प्रज्वलित हुई थी अब उसने भयानक अर्थात् प्रबल रूप धारण कर लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि भगत भगवान की विरहाग्नि में स्वयं को जलता हुआ पाता है। इस प्रबल अग्नि में सद्व त्तियों की जो नदी बह रही थी वह तो शेष रह गई जबकि उसमें रहने वाले विकार रूपी जीव जल को त्याग कर नष्ट हो गये।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार रूपी सागर में ज्ञान रूपी आग लग गई है जिससे विषय-वासना, मन की प्रव तियाँ आदि रूपी नदियाँ जलकर कोयले के समान शुष्क पड़ गई हैं कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार में सच्चे भक्त रूपी मछलियाँ इस आग को देखकर अपनी साधना के द्वारा ऊर्ध्व ब्रह्माण्ड रूपी व क्ष पर चढ़ गई। अतः तू इस स्थिति को देखकर जाग और साधना द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर।

विशेष -1. कवि ने उल्टबाँसियों के द्वारा मनुष्य को ईश्वर के प्रति साधना, ध्यान आदि धारण करने का आह्वान किया है।

2. अविधा, लक्षणा शब्द शक्तियों का प्रयोग है।

3. प्रसाद गुण का समावेश है।

4. भाषा सरल, सहज व बिम्बात्मक है।

5. दोहा छन्द है।

6. प्रतीत्कात्मक शैली प्रयुक्त है।

7. 'अहेड़ी----------सोई' में अन्योक्ति अलंकार है।

8. विचारि विचारि में पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार है।

चंद-सूर दोई खंभवा, बंकनालि को डोरि।
झूल पंच पियारियाँ तहँ झूलै पिय मोर ॥1॥
द्वादस गम के अंतरा, तँह अम त को ग्रास।
जिनि यहु अम त चाषिया, सो ठाकुर हम दास ॥2॥
सहज सूनि कौ नैहरौ, गगन-मँडल सिरि मौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हम झूलैं हिंडौल ॥3॥
अरध-उरध की गंगा यमुना, मूल कवल को घाट।
षष्ट चक्र की गागरी, त्रिवेणी-संगम बाट ॥4॥
नाद-बिंद की नाव री, राम नाम कनिहार।
कहै कबीर गुण गाइले, गुरूगमि उरारौ पार ॥5॥

शब्दार्थ - चंद = चन्द्रमा, यहाँ इड़ा से अभिप्रायः है। सूर = सूर्य पिंगला। बंकनालि = कुंडलिनी। पंच पियारियाँ = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। पिय = परम तत्त्व। द्वादसगम = बारह अंतराल (पाँच कर्मेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँए मानव बुद्धि। अम त चाषिया = अम त चखा, निज रूप को समझ सका। नैहरौ = पीहर। गंगा-जमुना = इड़ा, पिंगला। मूल कवल = अग्नि चक्र। षष्ट चक्र = मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य व आज्ञा चक्र। नाद-बिंद = नांद और बिंदु। कनिहार = कर्णधार, पतवार पकड़ने वाला। गुरू गमि = गुरू के बताये मार्ग से।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत साखियाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। इन साखियों के माध्यम् से संत कवि कबीरदास जी ने हठ योग व नाथ पंथ की साध ाना पर प्रकाश डाला है।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि मेरे शरीर में चन्द्रमा अर्थात् इड़ा और सूर्य अर्थात् पिंगला नामक दो खम्बे हैं जो कुंडलिनी रूपी डोरी से जुड़े हुए हैं। इस डोरी पर पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी झूला पड़ा हुआ है जिस पर मेरा परम तत्त्व रूपी पिया झूलता रहता है।

कबीरदास जी कहते हैं कि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, मन व बुद्धि इन बारह अंतराल के पार ईश्वर के प्रति प्रेम रूपी अम त का कौर या अंश रखा हुआ है। जिस भी भक्त ने उस अम त को चख लिया है वह साधक ही हमारे ठाकुर अर्थात् गुरू हो गया है और हम उसके दास अर्थात् शिष्य हो गये हैं।

कबीरदास जी कहते हैं कि सहज शून्य मेरा पीहर अर्थात् नैहर है और मेरे सिर पर गगन-मण्डल की मौर है अर्थात् गगन मण्डल मेरी ससुराल है। मैं तो दोनो ही कुल की आगरी हूँ और इसी लिए सहज ध्यान व समाधि दोनो ही सामान्यतय आवश्यक हैं।

कबीरदास जी कहते हैं कि इड़ा और पिंगला रूपी गंगा व जमुना हैं और अग्निचक्र रूपी घाट है। छहों चक्र (मूलधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य, आज्ञा चक्र) रूपी घड़ा है और ब्रह्मरन्ध्र रूपी त्रिवेणी है। कहने का तात्पर्य यह है कि कबीरदास प्रयाग की त्रिवेणी के स्थान इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना के त्रिवेणी-संगम में स्नान करने का आह्वान करते हैं।

कबीरदास जी कहते हैं कि ईश्वर को प्राप्त करने की इच्छा (नाद) और क्रिया (बिन्दु) की नाव है और उस पर 'राम-नाम' का स्मरण रूपी कर्णधार अथवा उस नाव की पतवार को पकड़ने वाला बैठा है कबीरदास जी कहते हैं कि अब तो गुरू द्वारा बताये गये मार्ग से ही इस नाव के द्वारा उस पार जाया जा सकता है।

विशेष -1. कबीर दास जी ने साधना व ध्यान की महिमा को ईश्वर प्राप्ति का साधन मानकर उनका वर्णन किया है।

2. प्रसाद गुण का समावेश।

3. प्रतीकात्मक शैली।

4. लक्षणा शब्द शक्ति का प्रयोग।

5. हठयोग साधना की शब्दावली से युक्त भाषा है।

6. साखियों में रूपक अलंकार है।

7. 'पंच पियारियों', 'सहजसुनि', 'गुण गाइले' आदि में अनुप्रास अलंकार है।

रेख-रूप जेहि है नहीं, अधर धरो नहिं देह।
गगन-मँडल के मध्ये, रहता पुरूष विदेह।।
साँई मेरा एक तू और न दूजा कोई।
जो साहब दूजा कहै, दूजा कुल को होइ।।
सर्गुण को सेवा करौ, निर्गुण करू ज्ञान।
निर्गुण के परे, तहँ हमारा ध्यान।।

शब्दार्थ - रेख-रूप = रूप रेखा। विदेह = देह रहित। सर्गुण = सगुण।

संदर्भ प्रसंग -प्रस्तुत साखियाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर वाणी' से उद्ध ा त हैं। इन साखियों में संत कबीरदास जी ने परमात्मा के बाह्याकार, रूप-रेखा आदि के सम्बन्ध ा में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि जिसके शरीर की कोई रूप-रेखा नहीं है तथा जो कभी भी किसी देह को धारण नहीं करता। जो शून्य चक्र रूपी गगन मण्डल के मध्य बिना देह के रहता है। वही पुरूष परमात्मा है। कहने का तात्पर्य यह है कि परमात्मा मनुष्य के अन्दर ही रहता है। कबीरदास जी परमात्मा से कहते हैं कि हे प्रभु! मेरे लिए तो आप ही स्वामी हैं और कोई दूसरा मेरा स्वामी नहीं है अर्थात् आप मेरे ही शरीर में विद्यमान हैं और इस प्रकार मैं और आप अलग-अलग नहीं हैं। परन्तु जो व्यक्ति अपने आप को परमात्मा से अलग मानता है वह किसी दूसरे कुल अर्थात् नीचकुल का व्यक्ति होगा। कबीरदास जी इस संसार में सगुण व निर्गुण भक्ति के भेद पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि कोई धर्मावलम्बी कहता है कि निर्गुण ब्रह्म का ध्यान धारण करो तभी परमात्मा मिल सकता है परन्तु मैं तो कहता हूँ कि मेरा परमात्मा तो इस सगुण व निर्गुण ब्रह्म के परे मेरे शून्य चक्र में विद्यमान है और मैं उसी का ध्यान करता हूँ।

विशेष -1. प्रस्तुत साखियों में संत कबीरदास जी ने मनुष्य को ईश्वर का अंश मानकर उसमें ही ईश्वर के होने को भाव दर्शाया है।

2. साखियों में अभिधा शब्द-शक्ति विद्यमान है।

3. दोहा छंद प्रयुक्त है।

4. प्रसाद गुण का समावेश है।

5. भाषा सहज और सरल है।

कर पकरैं अंगुरी गिनै, मन धावै चहुँ ओर।
जाहि फिरायाँ वो मिलै, सो भया काठ की ठौर।।
केसाँ कहा बिगाड़िया, जो मूँड़ै सौ बार।
मन कौ काहे न मूँडिए, जामैं विषै-विकार।।
बैस्नो भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक।
छापा-तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक।।

शब्दार्थ - कर = हाथ। अंगुरी = अँगुली। धावै = दौड़ता है। जाहि = जिसे। केसाँ = केश-राशि, सिर के बाल। कहा = क्या। विषैविकार = विषय-विकार। बैस्नौ = वैष्णव। बूझा = समझा। दग्धा = जला दिया।

संदर्भ प्रसंग -प्रस्तुत साखियाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर वाणी' से अवतरित हैं। इन साखियों में प्रख्यात समाजसुधारक संत सिरोमणि कवि कबीरदास जी ने ध ार्मिक पाखण्डों का विरोध किया है।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि मनुष्य! तूने हाथ में काठ के मनकों की माला पकड़ रखी है और अंगुलियों से तू बार-बार उन्हें गिन रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे पाखण्डी का सारा ध्यान तो माला के एक सौ आठ मनकों को गिनने व उन्हें सरकाने में लगा रहता है

और उसका मन चारों ओर दौड़ता हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि जो जिसको फिराता है, उसे वैसा ही काठ का ठिकाना मिलता है।

कबीरदास जी अपने सिर के बाल मुँडवाकर स्वयं को साधु बताने वाले पाखण्डियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तुम्हारे बालों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जिन्हें तुम बार-बार मुंडवा देते हो। तुम अपने मन को क्यों नहीं मुंडवाते जिसमें अनेक प्रकार की विषय-वासनाएँ भरी हुई हैं।

कबीरदास जी वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी के पाखण्ड पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि यदि तू वैष्णव है तो भी क्या हुआ? तूनें कभी भी अपने विवेक का तो प्रयोग किया ही नहीं। तूने अपने मस्तक पर तिलक आदि लगवाकर अपने संसार को पाखण्डों में बार-बार जला दिया है।

विशेष -1. कबीरदास जी ने इन साखियों में धार्मिक पाखण्डों पर करारा व्यंग्य किया है।

2. दोहा छन्द है।

3. अविधा, लक्षणा शब्द शक्तियाँ प्रयुक्त हैं।

4. प्रसाद गुण का समावेश।

5. भाषा सरल, सहज, प्रवाहमयी है।

6. 'केसाँ कहा', 'विषै-विकार' में अनुप्रास अलंकार है।

7. 'बैस्नो----------विवेक' में वक्रोक्ति अलंकार है।

पूजा-सेवा-नेम व्रत गुड़ियन का सा खेल।
जब लग पिउ परसै नहीं, तब लग संसय मेल।।

शब्दार्थ - परसै - स्पर्श करना। संसय - संदेह।

संदर्भ-प्रसंग - विवेच्य पद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर-वाणी' से अवतरित है। कबीर भक्तियुगीन संत काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। कबीर काव्य की प्रत्येक पंक्ति किसी न किसी दार्शनिक चिन्तन से युक्त है। भक्त कवि सामाजिक धार्मिक विसंगति से दुखी थे। धर्मभ्रष्टता व सामाजिक पाखण्ड को वे ध्वस्त कर देना चाहते थे। असत्य-अनाचार के प्रति अद्‌भुत प्रक्रिया कवि हृदय की सच्ची क्रान्तिकारी भावना थी। कबीर, विश्वासघात, शास्त्रगत-रूढ़ीवादिता को छिन्न-भिन्न कर विवेकपूर्ण मार्ग के पथ प्रदर्शक बने। धर्म के बाह्य विधि-विधान में उलझे लोगों को धार्मिक मर्म का बोध कराया।

व्याख्या - कबीर दास जी कहते हैं कि मूर्तिपूजा करते हुए मन का इधर-उधर भटकना परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग नहीं है अपितु सेवा करना बाहरी विधान है। धार्मिक स्वरूप नियमानुसार जीवन व्यतीत करना ईश्वर प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय नहीं। व्रत करने से भी परमपिता परमात्मा मिलन सम्भव नहीं है अपितु सम्पूर्ण विधि-विधान गुड्डे गुड़ियों के खेल (क्रीड़ा) समान है। क्षणिक प्रसन्नता युक्त है। जैसे गुड़ियों गुड्डों की शादी खेल-खेल में होती है सच में नहीं होती उसी प्रकार बाह्य धार्मिक क्रियाएँ क्षणिक बाह्य सुख की अनुभूति कराती हैं।

जिस प्रकार जब तक प्रिय प्रत्यक्षः प्रिया को गले लगाकर स्पर्श नहीं करता तब तक सच्चा सुख नहीं मिलता, इसी प्रकार परमात्मा जब तक स्वयं आकर आत्मा का आत्मसात् नहीं करता तब तक प्रभु मिलन में संशय बना रहता है।

विशेष -1. धर्म के बाहरी विधान को गुड़ियों की शादी वाले खेल की उपमा दी गयी है।

2. प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा के प्रयोग से प्रभु मिलन की प्रक्रिया को सरल और सरस बना दिया है।

जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार पड़ा रहन दो म्यान।।
हस्ती चढ़िए ज्ञान की, सहज दुलीचा डारि।
स्वान रूप संसार है, भुँकन दे झक मारि।।

शब्दार्थ - हस्ती = हाथी, मन। सहज = साधना मार्ग। दुलीचा = गलीचा। स्वान = काम, क्रोध आदि।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर-वाणी' से उद्ध ा त है। कबीरदास जी भक्ति कालीन संतकाव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। कबीर काव्य की प्रत्येक पंक्ति दार्शनिक चिन्तन संयुक्त है। भक्त कवि सामाजिक विसंगतियों को देखकर दुखी थे। जाति वर्ग में बँटे समाज को सचेत करते हुए पाखण्ड, अनाचार व भटके हुए लोगों को ज्ञान और भक्ति के सच्चे स्वरूप को समझाना चाहते थे। उन्होंने लोक-शास्त्र की रूढ़िवादिता को समाप्त किया। तत्युगीन पस्थितियों के अनुकूल भ्रष्ट समाज को विवेकपूर्ण सम्मति की राह दिखाई है। धर्म के बाहरी विधि-विधान में उलझे लोगों को भक्ति मार्ग की ओर प्रेरित किया है।

व्याख्या - कबीर दास जी कहते हैं कि सच्चे साधु की श्रेष्ठता की परख उसके ज्ञान से की जाती है। उच्च जाति में जन्म लेकर भी जो परमात्मा के सच्चे स्वरूप को नहीं जानता वह सच्चा साध J नहीं है। जाति, कुल, वर्ग तो मनुष्य समाज ने बनाये हैं। उच्च जाति में जन्म लेने से कोई उँचा नहीं हो जाता। इसके लिए उन्होंने तलवार म्यान की उपमा दी है जिस प्रकार सच्चा शूरवीर पुरूष तलवार से ही उसका मूल्यांकन करता है, म्यान को देखकर नहीं। म्यान तो बाहरी आवरण है। इसी प्रकार सच्चा साधु भी शरीर को महत्व नहीं देता। वह तो मनुष्य की आत्मा से उसकी परख करता है।

कबीरदास जी कहते हैं कि मनुष्य को ज्ञान के हाथी की सवारी करनी चाहिए अर्थात् शक्तिशाली मनको आत्मतत्व के ज्ञान से नियन्त्रित करना चाहिए। जैसे गलीचा डालकर हाथी की सवारी की शोभा बढ़ती है वैसे ही सहज मार्ग की भक्ति पद्धति से आत्म तत्व की श्रेष्ठता प्राप्त होती है।

हाथी की सवारी आगे बढ़ती रहती है कुत्ते पीछे भौंकते रहते हैं। इसी प्रकार ज्ञान और सहज भक्ति द्वारा संयमित श्रेष्ठ मन ईश्वर भक्ति के मार्ग पर बढ़ता रहता है और सांसारिक मोह-माया रूपी बाधा उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। ज्ञान की उपलब्धि हाथी की सवारी के समान है। साधक को चाहिए कि ज्ञान के हाथी पर सहज साधना का गलीचा डालकर ध यान मग्न हों। इस अवस्था में काम, क्रोध आदि प्रव तियाँ उस पर असर नहीं डाल सकती उदाहरणार्थ कुत्तों का भौंकना हाथी पर।

विशेष -1. ज्ञान तत्व और सहज साधना का महत्त्व प्रतिपादित है।

2. जाति-पाति का खण्डन है।

3. प्रसाद गुण समावेश।

4. भाषा सरल सहज व प्रवाहमयी है।

5. ज्ञान का हाथी और सहज दुलीचा में रूपक अलंकार है।

नैना अंतिर आव तूँ, ज्यों हौं नैन झपऊँ।
ना हौं देखौं और कौं न तुझ देखन देऊँ।।
कबीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैनू रमइया रामे रह्या, दूजा कहाँ समाई।।
मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढ़ंग।
क्या जाणों उस पीव सूँ कैसे रहसी रंग।।

शब्दार्थ -अन्तरि = हृदय में। झपऊँ = पलकों को झपका लेना। परतीति = प्रतीति, विश्वास। रंग = प्रेम व्यवहार।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत दोहा पद्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर-वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन ज्ञानश्रयी निर्गुण संत काव्य के प्रतिनिधित्व कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति दर्शन-चिन्तन से भरपूर है। वे कोरे दार्शनिक नहीं है। वे भावुक भक्त और रहस्यवादी कवि हैं। कबीर ने अपने रहस्यवादी कविता में आत्मा-परमात्मा के अनन्य प्रेम, विरह भाव को अभिव्यक्त किया है। निर्गुण ब्रह्म व प्रेम भाव को समझाने के लिए उन्होंने परमात्मा को प्रियतम् और आत्मा को पत्नी स्वरूप माना है। साधारण जन को निर्गुण की उपासना समझाने हेतु इन प्रतीकों का सहारा लिया है।

व्याख्या - कबीर दास जी कहते हैं कि हे प्रभु! तुम मेरी आँखों के भीतर आ जाओ। जैसे ही तुम मेरी आँखों से मेरे हृदय में प्रवेश कर जाओगे, मैं पलकों को झपकाकर बन्द कर लूँगा। तेरा रूप आँखों में भरकर मैं आँखें बन्द कर लेना चाहता हूँ। इस प्रकार न मैं किसी और को देखूँगा और न तुम्हें दूसरे को देखने दूँगा।

कबीरदास जी कहते हैं कि जिस माँग में सिंदूर भरा जाता है वहां काजल की रेखा नहीं लगाई जाती अर्थात् जिन आँखों में प्रभु श्री राम का निवास है वहाँ काजल जैसे काले विषयों के लिए कहाँ स्थान है। यह भी हो सकता है कि जिन आँखों ने श्री राम की साधना की है उन आँखों से अन्य देवी-देवताओं की साधना सम्भव नहीं है। वस्तुतः श्री राम रूप से द ष्टिगत विषयागत काजल द ष्टि दोष पैदा करता है।

कबीर सरल भाव से नम्रता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि न तो मेरे मन में परमात्मा के मिलने का पूर्ण विश्वास है और न ही भगवान के प्रति प्रेमभाव। न मुझे भक्ति का रंग-ढ़ंग विधि-विधान ही मालूम है। पता नहीं प्रिय प्रभु मेरे साथ कैसा व्यवहार करेगें? अब जैसे भी हो, मैंने तो प्रभु के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण कर ही दिया है।

विशेष -1. पहले दोहे में प्रिय के प्रति अनन्य प्रेम उदाहरण प्रस्तुत है।

2. दूसरे दोहे में काजल, सिन्दूर प्रतीकात्मक शब्द हैं। काजल विषयवासना का और सिन्दूर का लाल रंग प्रेमाभाव का प्रतीक है।

3. तीसरे दोहे में सरल, सहज, प्रेमाभाव उदाहरण की प्रस्तुति है।

4. प्रसाद गुण का समावेश।

5. भाषा गूढ़, प्रेमभाव सरल शैली में व्यंजित है।

नैनों की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारिकै, प्रिय को लिया रिझाय।।
प्रीतम को पतियाँ लिखूँ जो कहूँ होय विदेश।
तन में मन में नैन में तको कहाँ संदेश।।

शब्दार्थ - पुतरी = पुतली। पतिया = पत्र।

संदर्भ प्रसंग - प्रस्तुत पद्यांश आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति कालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी संतकाव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। काव्यगत पंक्तियाँ दर्शन व चिन्तन युक्त हैं लेकिन वे कोरे दार्शनिक नहीं हैं अपितु वे भावुकतापूर्ण भक्तिगत रहस्यवादी कवि हैं। उन्होंने अपनी रहस्यवादी कविता में आत्मा-परमात्मा के अनन्य प्रेमाभाव और विरहभाव को अभिव्यक्ति किया है। उनकी कविता में साधनात्मक,भावनात्मक अ ा ै र रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। उन्होंने भक्तिगत भावना कांताभाव के माध्यम से व्यक्त किया है। निर्गुण ब्रह्म के प्रति अपने प्रेमाभाव को समझाने के लिए परमात्मा को अपना प्रियतम् और आत्मा को पत्नी स्वरूप माना है। साधारण जन में निर्गुण की उपासना समझाने हेतु उन्होंने रूपकता, प्रतिकात्मकता का सहारा लिया है।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार प्रियतम् को रिझाने के लिए पत्नी पलंग और सेज सजाती है उसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती है। कबीरदास जी कहते हैं कि मैंने अपने आँखों की कोठरी बना ली है और पुतलियों को पलंग की तरह बिछा लिया है तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण संसार की उपेक्षा पूर्ण समर्पित भाव से मैंने अपने प्रियतम् को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया है।

विशेष -1. आत्मा-परमात्मा के अलौलिक भाव को रूपक द्वारा व्यक्त किया है।

2. प्रतीकात्मकता, भावाभिव्यंजना का सुन्दर चित्रण है।
3. 'तन में, मन में, नैन में' अनुप्रास और वर्णमैत्री की छटा दर्शनीय है।
4. भाषा सरल और सहज ।
5. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
6. भक्ति रस का प्रयोग।
7. 'पुतली-पलंग' में छेकानुप्रास अलंकार।

आँखियाँ तो झाई परी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़या, नाम पुकारि पुकारि।।
विरह कमण्डल कर लिये वैरागी दो नैन।
माँगे दरस मधुकरी, छके रहैं दिन रैन।।
सब रग ताँत रकाब तन, विरह बजावै निन्त।
और न कोई सुन सकै, कै साई कै चित्त।।

शब्दार्थ - झाई - काली छाया। जीभड़िया - जीभ में। मधुकरी - शिक्षा। रकाब - एकतारे की तरह तंतु वाद्य। रग - नसें। तंत्र - तंत्री।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्यांश आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी संपादित 'कबीर-वाणी' से उद्ध त है कबीरदास जी भक्ति कालीन, निर्गुण ज्ञानाश्रयी संतकाव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति दर्शन एवं चिन्तन युक्त है। वे दार्शनिक नहीं है अपितु भावुक भक्ति युक्त कवि हैं। कबीरदास जी ने रहस्यवादी कविता में आत्मा-परमात्मा के प्रेम-विरह को व्यक्त किया है। उनमें साधनात्मक-भावात्मक रहस्यवाद निहित है। भक्तिगत भाव की कान्ताभाव से अभिव्यक्ति है। निर्गुण ब्रह्म के प्रति प्रेमभाव के लिए उन्होंने परमात्मा को प्रियतम् और आत्मा को पत्नी स्वरूप माना है। साधारणतया निर्गुण भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने प्रतिकात्मकता का

सहारा लिया। आत्मा-परमात्मा की विरहानुभूति प्रेमी-प्रमिका की वियोगनुभूति द्वारा प्रतिपादित है। प्रस्तुत दोहे 'विरह के अंग' से लिये गये हैं जो प्रेमसाधनात्मकता कठिन मार्ग के सम्बन्ध में वर्णित है।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि हे प्रियतम! तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा करते-करते मेरी आँखों में अंधेरा छा गया है। तुम्हारा नाम पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये हैं। विरह बहुत दुःखदायी है क्योंकि आप के दर्शन अभी तक नहीं हुए।

विरही जीवात्मा ने सांसारिक रूप से पूर्णतः वैराग्य धारण कर लिया है। विरह से ही उसने अपना कमण्डल भर लिया है। दोनों आँखे वैराग्य की तरह प्रिय दर्शन की आस में इधर-उधर भटकती रहती है। दिन-रात उसका मन प्रेम-रस से विभोर रहता है।

विरह में विरही जीव का शरीर तंतु वाद्य की तरह हो जाता है। शरीर की सारी नसें उस बाजे के तारों के समान हो जाती हैं। विरह सदैव इस शरीर रूपी बाजे को बजाता रहता है। इनसे जो अनहद नाद निकलता रहता है, उसे दूसरा कोई नहीं सुन सकता। इसे या तो परमात्मा सुनता है या साधक के मन-मस्तिक में उसकी गूँज सुनाई देती है।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. भाषा सहज, सरल विम्बात्मक है।

3. रूमक के प्रयोग से भावाभिव्यंजना की सशक्त सार्थकता है।

4. विरहानुभूति की सूक्ष्म अभिव्यंजना है।

5. लाक्षणिक शब्द-शक्ति का सुन्दर समन्वय है।

पैछा-पछी के कारने सब जग रहा भुलान।
निरपछ ह्वै के हरि भजै, सोई संत सुजान।।
अम त केरी मोटरी सिर से धरी उतार।
जाहिं कहौं मैं एक है, मोहि कहैं दो-चार।।

शब्दार्थ - पैछा-पछी - पक्ष-विपक्ष। निरपक्ष - निष्पक्ष। मोटरी - पोटली।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्तियुगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी संतकाव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति दर्शन-चिन्तनयुक्त तत्व से भरपूर है। उन्होंने भावुकता पूर्ण लोक-शास्त्र द्वारा रूढ़वादिता को पूर्णतः ध्वस्त किया। पाखण्डी पथ भ्रष्ट लोगों को सही दिशा दिखाने के लिए व्यंग्यात्मक प्रहार भी किये और उन्होंने तत्युगीन स्थितियों के अनुकूल भ्रष्ट समाज को विवेक सम्मत राह दिखाई है। धार्मिकता के बाह्य विधिविधान व व्यर्थ के वाद-विवाद में उलझे कट्टर पंथियों को धार्मिक मर्म समझाने का प्रयत्न उन्होंने अपनी वाणी से किया। ब्रह्म-स्वरूप वाद-विवाद में उलझेलोगों को उन्होंने निरपेक्षता की राह दिखाई।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि प्रियतमा तुम्हारे आने की प्रतीक्षा करते हुए मेरी आंखों में अंधेरा छा गया है। तुम्हारा नाम पुकारते हुए जीभ (जिह्वा) छालों से युक्त हो गयी है यह विरह दुःखदायी है क्योंकि आपके दर्शन अभी तक नहीं हुए।

विरही जीवात्मा ने संसार से पूर्णतयः वैराग्य ले लिया है विरह से उसने अपना कमण्डल भर लिया है दोनों आँखें वैरागी की तरह प्रिय के दर्शनार्थ प्यासी भटकती रहती हैं। दिन-रात उसका मन प्रेम रस से पूरित है।

विरह में विरही जीवात्मा शारीरिक तंतुवाद्य की तरह हो जाता है। शारीरिक नसें उस वाद्य के तारों के समान हो जाती हैं विरह सदैव इस शरीर रूपी बाजे से बजता है इनसे जो अनहद नाद निकलता है उसे दूसरा कोई नहीं सून सकता इसे या तो परमात्मा सनते हैं अथवा साधक के मन में उसकी गूँज सूनाई देती है।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. भाषा सहज सरल विम्बात्मक है।

3. प्रसाद गुण का समावेश।

4. लाक्षणिक शब्दावली का सुन्दर समन्वय है।

5. तर्कयुक्त वाद-विवाद निरपेक्षता भक्त की श्रेष्ठता है।

"कबीर भाटी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तो पिया न जाई।।
हरि रस पिया जाणिये, जै कबहुँ न जाय खुमार।
मैंमता घूमत रहै, नाही तन की सार।।
सबै रसायण मैं किया, हरिसा और न कोई।
तिल इक घट में संचरै तो सब बचन होइ।।"

शब्दार्थ - भाटी = भट्ठी। कलाल = शराब बनाने और बेचने वाला (प्रतीकार्थ गुरू)। खुमार = नशा। मैमंता = मदमाता, मस्त। सार = सुध। घट = प्रतीकार्थ-शरीर।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा संमादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीर दास जी भक्ति युगीन ज्ञानाश्रयी निर्गुण संत काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी काव्य पंक्तियाँ दार्शनिक चिन्तन युक्त तत्व से भरपूर हैं। उनकी कविता भावनात्मक, साधनात्मक, रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतिकात्मकता का आश्रय लिया है उनकी कविता
निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति व प्रेम के भक्तिगत मार्ग का प्रातिपादन है। उन्होंने प्रेम भक्ति को रसायन व नशे के रूप में प्रस्तुत किया है। इसी संदर्भ में उन्होंने गुरू की महिमा का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है ये दोहे 'रस कौ अंग' में से लिए गये हैं।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि सद्गुरू रूपी भट्ठी के निकट बहुत से शिष्य आकर बैठे हैं लेकिन जो शिष्य सिर सौंप देता है अर्थात् अहंकार को त्याग करते हुए अहं का पूर्ण विसर्जन कर देता है, जो प्रणत भाव से स्वीकार करता है उसे ही सद्गुरू कृपा से भगवद् भक्ति प्रेम-रस की प्राप्ति सम्भव है।

साधक ने भगवत् भक्ति प्रेम-रस का रसास्वादन करते हुए ईश्वरीय चेतना में लीन होकर भ्रमण (घूमता) करता है। यह खुमार ऐसा है जो कभी भूलाया नही जा सकता। ऐसा मतवाला कि अपने शरीर की सुधि भी नहीं रहती। उस भक्ति रस में विभोर हो शारीरिक वासना से मुक्त रहता है।

आर्युवैदिक कायाकल्प की प्रक्रिया द्वारा भगवद् भक्ति के प्रेमभाव का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत कर कबीरदास जी कहते हैं कि मैंने कायाकल्प के लिए सम्पूर्ण रसायनिक क्रियाओं का प्रायोगिक अध्ययन किया किन्तु भगवद् भक्ति प्रेम रस के समान कोई औषधि नहीं है। इस प्रेमरस का तिल जितना अंश शरीर में संचरित होने पर शरीर स्वर्ण (सोना) हो जाता है। घट का प्रतिकार्य शरीर में रहने वाला मन है, तन स्वर्ण युक्त होने का अर्थ तन-मन की अशुद्धि व पवित्रता से है।

भगवद् भक्ति प्रेम रस से तन ही नहीं अपितु मन भी वासनामुक्त हो जाता है। शरीर में नई क्राँति की जाग ति होती है।

विशेष 1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. भाषा सरल, सहज विम्बात्मक है।

3. प्रसाद गुण का समावेश।

4. लाक्षणिक शब्दावली का सुन्दर समन्वय है।

5. प्रतीकात्मक पदावली द्वारा भगवद् प्रेमभक्ति का सूक्ष्म चित्रण है।

6. तीनों दोहों में रूपकातिशयोक्ति अलंकार का सौन्दर्य है।

7. 'सिर सौंपे सोई' में अनुप्रास अलंकार प्रयुक्त है।

पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगे थैं सतगुरू मिल्या, दीपक दीया हाथि।।
दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आवैं हट्ट।।
कबीर गुरू गरवा मिल्या, रलि गया आटे लूण।
जाति-पाँति कुल सब मिटै, नाँव धरोगे कौंण।।
सतगुरू हमसू रीझ करि एक कह्या पर संग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग।।

शब्दार्थ - अघट्ट = कभी न घटने वाली, अक्षय आत्मा। बिसाहुणा = खरीद बिक्री, सांसारिक व्यापार। गरवा = महत्वपूर्ण। लूँण = नमक। नाँव = नाम। रलिगया = एक हो गया। प्रसंग = प्रस्ताव, रहस्य। भीजि = प्रभावित।

संदर्भ-प्रसंग :- प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीर दास जी भक्ति युगीन ज्ञानाश्रयी निर्गुण संतकाव्य के प्रतिनिधित्व कवि हैं उनकी कविता भावनात्मक, साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीर दास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूपों को प्रतिपादित करने हेतु रूपकता व प्रतिकात्मकता का आश्रय लिया है। उनकी कविता में निर्गुण ब्रह्म व प्रेम के भक्तिगत मार्ग की प्राप्ति का प्रतिपादन है। कबीर दास जी ने अपनी साखी में 'गुरूदेव कौ अंग' मैं सद्गुरू की अनन्त महिमा का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। सद्गुरू ही आत्मा-परमात्मा के मिलन का सच्चा पथ प्रदर्शक है।

व्याख्या - कबीरदास जी शिष्य के रूप में कहते हैं कि मैं भगवद् प्रेम की प्राप्ति के लिए लोकाचार के माध्यम् से चल रहा था वेद शास्त्रों द्वारा दिखाये गये मार्ग पर भी चलकर मैंने देख लिया किन्तु इससे मुक्ति नहीं मिली और नहीं बार-बार जन्म-मरण चक्र से ही मुक्ति मिली। मार्ग में भटकते हुए जब सद्गुरू के दर्शन हुए तब कृपा कर उन्होंने सच्चे ज्ञान का दीपक हाथ में दिया। तब हमारा बाह्य व आन्तरिक अन्धकार दूर हुआ। यहाँ वेद से तात्पर्य शास्त्र और लोकार्थ परम्परा से है।

कबीर दास जी वर्णित कर कहते हैं कि सद्गुरू ने तन-मन रूपी दीपक में भगवद् प्रेम का तेल भर दिया है। उसमें कभी न घटने वाली आत्मा रूपी बत्ती प्रज्वलित कर दी जिससे जीवात्मा की आन्तिरिक अज्ञानता अन्धकारहित हो गयी। क्रय-विक्रय का सांसारिक व्यापार पूर्ण हुआ। अब जीवात्मा को इस सांसारिक भव सागर में पुनः प्रवेश नहीं करना होगा।

कबीरदास जी वर्णित कर कहते हैं कि सद्गुरू अत्यन्त गम्भीर और गुरूत्वपूर्ण मिले। उनकी कृपा से साधक और साध्य, आत्मा-परमात्मा आटे में नमक के समान एक हो गये। इससे सांसारिक जाति-पाँति, आत्मा-परमात्मा, भक्त और भगवान का अलगाव भी समाप्त हो गया। अब ये अलग-अलग नाम नहीं रहे। प्रेम-भक्ति के कारण भक्त भी भगवान के जाति कुल का हो गया।

कबीरदास जी कहते हैं कि सद्गुरू ने मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे कृपण बना दिया उन्होंने ही मुझे भगवद् प्रेम भक्ति का रहस्य समझाया। प्रेम भक्ति प्रसंग में ऐसा अनुभव हुआ जैसे बादलों से प्रेमरस की वर्षा हो रही हो इससे हमारा तन-मन भीग गया, अन्तर्मन भगवद् प्रेम भक्ति से परिपूर्ण हो गया है।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. भाषा सरल सहज विम्बात्मक है।

3. प्रसाद गुण का समावेश है।

4. लाक्षणिक शब्दावली का सुन्दर समन्वय है।

5. प्रतीकात्मक पदावली द्वारा भगवद् प्रेम भक्ति के सूक्ष्म चित्रण की प्रस्तुति है।

6. दूसरे दोहे में रूपकातिशयोक्ति अलंकार, तीसरे दोहे में प्रतिवस्तूपमा, चौथे दोहे में रूपक अलंकार का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत हुआ है।

परबति परबति मैं फिरया, नैन गँवाए रोइ।
सौ बूटी पाऊँ नहीं, जातैं जीवन होई।।
नैन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ै तुज्झ।
नाँ तू मिलै न मैं सुखी, ऐसी बेदन मुज्झ।।
सुखिया सब संसा है खाये अरू सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरू रोवै।।

शब्दार्थ - परबति = पहाड़। लोड़ै = आँसू बहाती रहती है। बेदन = वेदना।

संदर्भ-प्रसंग :- प्रस्तुत अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन ज्ञानाश्रयी निर्गुण संतकाव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कविता भावनात्मक, साधनात्मक, रहस्यवाद से प्रतिपादित है। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है। उनकी कविता में निर्गुण ब्रह्म व प्रेम के भक्तिगत मार्ग की प्राप्ति का प्रतिपादन है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा के प्रेम-भाव को अभिव्यंजित करने के लिए पति-पत्नी के संयोग-वियोग का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। भक्तिगत कातांभाव आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति का साधना मार्ग 'विरह के अंग' में साधिका की विरह दशाओं का मार्मिक चित्रण है।

व्याख्या - विरहिणी साधिका के रूप में कबीर दास जी कहते हैं कि मैं तपस्वियों, सन्यासियों और पहाड़ों पर तपस्या करने वाले गुरूओं के पास गया। सच्चे साधकों की खोज में वन, पहाड़ों में भटकता रहा। रो-रोकर मैंने अपनी आँखें गँवा दी किन्तु जीवन दायिनी संजीवनी बूटी नहीं मिली। वह बूटी और कोई नहीं स्वयं परमात्मा ही हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि सम्पूर्ण संसार विषयागत सुख में लीन है। विषयागत होकर स्वाद पूर्वक खाता है और सुख की निद्रा (नींद) सोता है। उसे अपने जीवन के नष्ट होने की चिन्ता नहीं है। उनकी चिन्तनीय मनोदशा का

मार्मिक चित्रण कर कबीर दास जी दुःखित हैं। वे दुःखित हो साधना में लीन जागते रहते हैं। वे परम् पिता परमेश्वर की प्राप्ति के लिए सांसारिक जीवों के उद्धार हेतु द्रवित हैं।

कबीरदास जी विरहणी साधिका के रूप में कहते हैं कि हे स्वामी! तुम्हारी बाट जोहते-जोहते हुए मेरी आँखें जल गयी हैं। ये आँखें तुम्हारे लिए हर समय आँसू बहाती रहती हैं। न तुम मुझे मिले और न ही मुझे किसी प्रकार के मिलन की प्रसन्नता की अनुभूति हुई। यह गहरी वेदना मुझे दिन-रात सताती रहती है।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. प्रसाद गुण का समावेश है।

3. लाक्षणिक शब्दावली का सरस समन्वय है।

4. प्रतीकात्मक पदावली भगवद् प्रेम भक्ति आध्यात्मिक विरह के सूक्ष्म चित्रण की प्रस्तुति है।

आई न सकौं तुज्झ पै, सकूँ न तुज्झ बुलाई।
जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाई तपाई।।
यह तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ जाई सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावे अग्गि।।
यह तन जालौं मसि करौ, लिखौं राम का नाँउ।
लेखणि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाऊँ।।
इस तन का दीवा करौं, बाती मेलू जीव।
लोही सींचौ तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव।।
कै बिरहिन कूँ मींचु दे, कै आपा दिखलाई।
आठ पहर का दाझणाँ, मोपै सहया न जाइ।।

शब्दार्थ - मसि = काख, स्याही। सरग्गि = स्वर्ग। मति = मत करे। लोही = लहू। मींचु = म त्यु। दाझणा = दाह, जलन। लेखणि = कलम। करंक = हड्डी।

संदर्भ-प्रसंग :- प्रस्तुत पद्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन ज्ञानाश्रयी निर्गुण संत काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कविता भावनात्मक, साधनात्मक, रहस्यवाद से प्रतिपादित है। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतिकात्मकता का आश्रय लिया है। उनकी कविता में निर्गुण ब्रह्म व प्रेम के भक्तिगत मार्ग की प्राप्ति का प्रतिपादन है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा के प्रेम-भाव को अभिव्यंजित करने के लिए पति-पत्नी के संयोग-वियोग का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। भक्तिगत कातांभाव आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति का साध्य मार्ग 'विरह कौ अंग में' में साधक की विरह व्यथा के मार्मिक चित्रण की प्रस्तुति है।

व्याख्या - साधिका के रूप में अपनी विरह व्यथा को व्यक्त करते हुए कबीर दास जी कहते हैं कि हे प्रियतम् मैं तुम्हारे पास आने में असमर्थ हूँ। तुम्हे अपने पास बुलाना मेरे लिए अत्यन्त दुर्लभ है। हे राम! क्या आप इसी भाँति विरहाग्नि में जला-जला कर मेरे प्राण लोगे?

कबीरदास जी साधिका विरहणी जीवात्मा के रूप में कहते हैं कि इस तन को विरह की अग्नि में जला कर मैं राख कर दूँगी। इससे निकला धुंआँ स्वर्गाकाश तक जायेगा जहाँ

परमात्मा का वास है। इस धुएँ से बादल बनेगा और सम्भवतः परम पिता परमात्मा कृपणता के साथ उसी बादल को बरसाकर मेरे विरह की अग्नि को बुझा देगें।

कबीरदास जी स्वयं को विरहणी साधिका के रूप में वर्णित करते हुए कहते हैं कि विरह की अग्नि में इस तन को जला दूँगीं। उस राख की स्याही बनाऊँगी। अपनी हड्डियों (अस्थि) की कलम बनाऊँगी। इस प्रकार के कलम और स्याही से मैं अपने प्रियतम् राम के नाम वियोग भरे संदेश पूर्ण पत्र लिखूँगी।

कबीरदास जी विरहणी साधिका के रूप में वर्णित करते हुए कहते हैं कि मैं इस शरीर का दीपक बनाऊँगी और प्राण को बत्ती बनाऊँगीं। अपने शरीर के सम्पूर्ण रक्त को तेल के रूप में डालूँगी। ऐसे दीप के प्रकाश से अर्न्तमन का अन्धकार दूर कर वहाँ परम प्रिय का मुख देखूँगीं।

कबीरदास जी की विरहणी साधिका असहनीय विरह का वर्णन करती हुई कहती है कि हे परम प्रिय! विरहणी को म त्यु प्रदान करो या आत्म तत्व का दर्शन कराओ। इसी प्रकार विरहाग्नि में दिन-रात जलते रहना अब असहनीय है। मेरी सहन शक्ति निसक्रिय हो चुकी है।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. प्रसाद गुण का समावेश है।

3. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

4. प्रतीकात्मक पदावली व भगवद् भक्ति, प्रेम के सूक्ष्म आध्यात्मिक विरह चित्रण की प्रस्तुति है।

5. दूसरे, तीसरे दोहे में अतिशयोक्ति अलंकार प्रयुक्त हैं।

6. चतुर्थ दोहा उपमा अलंकार की सार्थकता से प्रयुक्त है।

कबिरा प्याला प्रेम का, अंतर दिया लगाय।
रोम रोम में रमि रह्या, और अमल क्या खाय।।
राता माता नाम का, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का, माँगे मुक्ति बलाय।।

शब्दार्थ - अन्तर = ह्रदय। अमल = नशा। राता = रंगा हुआ। माता = मस्त। दीदार = दर्शन। अघाय = त प्त हुआ।

संदर्भ-प्रसंग :- प्रस्तुत पद्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन ज्ञानाश्रयी निर्गुण संत काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित है। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतिकात्मकता का आश्रय लिया है। उनकी कविता में निर्गुण ब्रह्म व प्रेम के भक्तिगत मार्ग की प्राप्ति का प्रतिपादन है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा के प्रेम-भाव को अभिव्यक्ति करने के लिए पति-पत्नी के संयोग-वियोग का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। भक्तिगत कातांभाव आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति का साध नात्मक मार्ग 'विरह के अंग' में साधक की विरह दशा का मार्मिक चित्रण है।

व्याख्या - कबीरदास जी वर्णित करते हुए कहते हैं कि प्रभु प्रेम भक्ति नशे के प्याले से युक्त है। वह भी ह्रदय में जाकर प्रभावित करता है। यह प्रेम-रस तो भक्त के रोम-रोम में रमणीय है। यह नशा स्थाई और प्रभावशाली है इसके समक्ष अन्य नशा निसक्रिय है।

कबीरदास जी वर्णित करते हुए कहते हैं कि जो साधक श्री राम नाम के रंग में मदमस्त हो जाता है वह यही प्रेम-युक्त भक्ति रस पीकर त प्त हो जाता है। ऐसा साधक तो मात्र प्रभु दर्शन का मतवाला हुआ रहता है उसकी उपलब्धि मुक्ति से भी बड़ी है। इसके समक्ष तो वह मुक्ति को बला समझकर छोड़ देता है।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. प्रसाद गुण का समावेश है।

3. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

4. प्रतीकात्मक शब्दावली व भगवद् भक्ति प्रेम के सूक्ष्म आध्यात्मिक विरह चित्रण की प्रस्तुति है।

5. 'रोम रोम में रमि रह्या' में अनुप्रास अलंकार की छटा अवलोकनीय है।

ऐं कबीर तैं उतरि रहु, संबल परो न साथ।
संबल घटे न पगु थके, जीव बिराने हाथ।।
कबीर का घर सिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न टिके पिपीलिका, खलकन लागे बैल।।

शब्दार्थ - संबल = पथिक की सामग्री। बिराने = पराये। सिलहली = फिसलन भरी। गैल = गली। खलकन = दुनियाँ। पिपीलिका = चींटी। सिखर = चोटी।

संदर्भ-प्रसंग :- प्रस्तुत पद्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा संपादित 'कबीर वणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन ज्ञानाश्रयी निर्गुण सन्त काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित है। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतिकात्मकता का आश्रय लिया है। उनकी कविता निर्गुण ब्रह्म व प्रेम के भक्तिगत मार्ग की प्राप्ति का प्रतिपादन है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा के प्रेमाभाव को अभिव्यंजित करने के लिए पति-पत्नी के संयोग-वियोग का प्रतिकात्मक वर्णन किया है। भक्तिगत कांताभाव आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति का साधनात्मक मार्ग 'विरह के अंग' में साधक की विरह दशा का मार्मिक चित्रण है।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त दुर्लभ है लेकिन इस मार्ग पर चलने के लिए तैयार होने पर वस्तुतः यात्रा में किसी संबल (पथिक सामाग्री) की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा है इस लिए इसमें न तो सम्बल घटने की सम्भावना है और नही पैरों के थकने की। प्रायः यहाँ तो जीवात्मा पराधीन होती है अर्थात् परमात्मा की शक्ति और प्रेरणा से ही इस यात्रा में सफलता पाई जा सकती है।

कबीरदास जी वर्णित करते हुए कहते हैं कि हमारा असली (मूल) घर जहाँ हमें पहुँचना है, बहुत उँचाई पर है। वह जैसे पहाड़ का सर्वोच्च शिखर है। सहस्त्र दल कमल का स्थान सर्वोच्च है। वहाँ का मार्ग अत्याधिक फिसलन युक्त है। योग मार्ग की इस अन्तर्यात्रा में कई विचलन हैं। इस संसार में सांसारिक आकर्षण हैं जो भक्तिगत मार्ग के विचलन कारक हैं। यह राह इतनी फिसलन युक्त है कि यहाँ तो चींटी का पाँव भी नहीं टिक सकता और यह जग सांसारिक विषय वासनाओं को बैल की भाँति लादे फिरता है। तात्पर्य यह है कि निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के साधनात्मक मार्ग पर चलने वाले साधक भी भटक जाते हैं, जो विषय-वासना के भार से युक्त है। वे इस मार्ग पर दो कदम भी नहीं चल सकते हैं।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. प्रसाद गुण का समावेश है।

3. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

4. प्रतीकात्मक शब्दावली और भगवद् भक्ति प्रेम के सूक्ष्म आध्यात्मिक विरह चित्रण की प्रस्तुति है।

5. 'रूपक अलंकार' सौन्दर्य प्रयुक्त है।

काल खड़ा सिर ऊपरे, जागु बिराने मीत।
जाका घर है गैल में सो कस सो निचीत।।

शब्दार्थ - काल = म त्यु। बिराने = पराये। मीत = मित्र। गैल = दास। निचीत = निश्चिंत।

संदर्भ-प्रसंग :- प्रस्तुत पद्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा संपादित 'कबीर वणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन ज्ञानाश्रयी निर्गुण सन्त काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिवादित है। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतिकात्मकता का आश्रय लिया है। उनकी कविता निर्गुण ब्रह्म व प्रेम के भक्तिगत मार्ग की प्राप्ति का प्रतिपादन है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा के प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग-वियोग का प्रतीकात्मक वर्णन है। भक्तिगत कांताभाव आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति का साधनात्मक मार्ग 'विरह के अंग' में साधक की विरह दशा का मार्मिक चित्रण है।

व्याख्या - कबीरदास जी उक्त दोहे में मनुष्य को चेतावनी देकर जाग त करना चाहते हैं कि अनुभवी मनुष्य मोह माया में आसक्त होकर जीवन के लक्ष्य को भूल गया है। वे कहते हैं कि मनुष्य के सिर पर म त्यु हमेशा सवार है। उसका समय अनिश्चित है इसलिए अज्ञानता की निद्रा से जागो। जहाँ अपना घर भी उसी गली में, उसी के पास हो, वह कैसे निश्चिन्त हो सकता है। अतः यथाशीघ्र प्रभु मिलन के मार्ग को प्रसस्थ करो।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. प्रसाद गुण का समावेश है।

3. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

4. म त्यु का सहज अंकन प्रतीकात्मक शब्दावली द्वारा प्रयुक्त है।

मैं भँवरा तोहि बजरिया, बन बन बास न लेय।
अटकेगा कहुँ बेल से तड़पि-तड़पि जिय देय।।
बाड़ी के बिच भँवरा था, कलियाँ लेता बास।
सो तो भँवरा उड़ि गया, तजि बाड़ी को आस।।

शब्दार्थ - भँवरा = मुग्ध जीवात्मा। बरजिया = मना किया। बाड़ी = वाटिका संसार।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीर दास जी भक्ति युगीन ज्ञानाश्रयी निर्गुण संतकाव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्यगत पंक्तियाँ गहन चिंतन और दार्शनिक से प्रयुक्त है। वे दार्शनिक ही नहीं अपितु भावुक भक्त कवि भी हैं। उनकी कविता भावनात्मक, साधनात्मक रहस्य से प्रतिपादित है। कबीर दास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने हेतु रूपकता व प्रतीकात्मता का आश्रय लिया है। कबीर दास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव

की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग-वियोग का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। जीवन-म त्यु संसार-प्रकृति तथा परमात्मा के रहस्य को उन्होंने सरल रूप में सरल भाषा में चित्रित करते हुए कली और भँवरें का उदाहरण प्रस्तुत किया।

व्याख्या - कबीर दास जी मनुष्य को चेतावनी देते हुए स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार भँवरा रस का लोभी होता है और फूल की सुगन्ध के पीछे वन-वन भटकता रहता है इसी प्रकार भँवरा जीवात्मा है और यह आकर्षक संसार रूपी पुष्प छणिक सुख देने वाला है। इस प्रकार कबीरदास जी कहते हैं कि हे भँवरे! मैंने तुझे पुष्प की सुगन्ध और उसके रस के पीछे वन-वन भटकने को मना किया था। तात्पर्य यह है कि कबीर जैसे संत जीवात्मा को सांसारिक आकर्षणों में भटकने से मना करते हैं। वे कहते हैं कि पुष्प के साथ काटें भी होते हैं। यानि संसार में सुख के साथ दुःख भी अनिवार्य है यदि भँवरा किसी काँटें में अटक गया तो तड़प-तड़प कर प्राणों की आहूति दे देगा। इस प्रकार जीव की दुःखद परिस्थितियों में फँसने पर उसका प्राणांत होना स्वाभाविक है।

कबीरदास जी चेतावनी देते हुए कहते हैं कि इस वाटिका रूपी संसार में भँवरा रूपी जीवात्मा पुष्प (कलियों) की सुगन्ध लेता फिरता है, लेकिन उसे असली रस कहीं नहीं मिलता है। इस लिए इस वाटिका रूपी संसार से अपनी मनोकामना पूर्ण न होने कि स्थिति में वह वाटिका से आशा छोड़ कर उड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि संसार से सच्चा सुख न मिलने कि स्थिति में मनुष्य अपने नश्वर शरीर को त्याग कर चला जाता है।

विशेष 1. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

2. प्रसाद गुण का समावेश है।

3. प्रतीकात्मक पदावली में संसारिक मोहमाया का आकर्षण व मनुष्य की त ष्णा के सूक्ष्म चित्रण की प्रस्तुति है।

4. रूपकातिशयोक्ति अलंकार सौन्दर्य सराहनीय है।

5. दोहे अत्यन्त सारगर्भित हैं। वन-वन में पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार है।

चलती चक्की देख के, दिया कबीरा रोय।
दुइ पट भीतर आये के, साबुत गया न कोय।।
भाई, बीर, बटाउआ, भरि-भरि नयन न रोय।
जा का था सो ले लिया, दीन्हा था दिन दोय।।

शब्दार्थ - दुई = दो। बटाउआ = बटोही, यात्री।

संदर्भ-प्रसंग :- प्रस्तुत अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा संपादित 'कबीर वणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन ज्ञानाश्रयी निर्गुण सन्त काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित है। रूढ़िवादिता का खण्डन, वाह्याडम्बार, असत्य, अनाचार के प्रति अद्भुत प्रतिक्रिया कवि हृदय की सच्ची क्रान्तिकारी भावना थी। विश्वासगत शास्त्र रूढ़िवादिता को छिन्न-भिन्न करते हुए युगीन परिस्थितियों को परख कर स्वानुभूति चिन्तन से समाज और धर्म का पथ प्रदर्शन किया। जीवन व सांसारिक क्षण भंगुरता के सम्बन्ध में मनुष्य को सचेत किया।

व्याख्या - कबीर दास जी वर्णित कर कहते हैं कि यह संसार चक्की के समान है। चक्की के दो पाटों की तरह इसके भी पाट हैं। आवागमन, जन्म म त्यु सुख-दुख सत्य-असत्य से बना यह

संसार द्वन्द्वात्मक है। जिस प्रकार चक्की के दो पाटों के बीच पड़ने वाला दाना साबूत नहीं रह सकता उसी प्रकार इस द्वन्द्वात्मक संसार में आने वाला व्यक्ति भी सही-सलामत नहीं रह सकता उसका पिसना निश्चित है। यही आश्चर्य है कि फिर भी इस सांसारिक बन्धन से मुक्ति कोई भी नहीं चाहता। काल रूपी चक्की सबको पीसती है।

कबीरदास जी कहते हैं कि भाई-भाई बिछुड़ जाते हैं, वीर पुरूष का जीवन क्षणिक होता है। यह जीवन एक बटोही (यात्री) के समान है। यहाँ वियोग अवश्यंभावी है। जीवन देने व लेने वाला तो कोई और ही है। यह हमारे पास अमानत की तरह है। इसे सुरक्षित रखना हमारा पूर्णदायित्व है जिसकी जो अमानत होती है वह निश्चित ही उसे ले लेता है। यह जीवन परमात्मा द्वारा प्रदत है। वह तो लेगा ही इस लिए इस प्रकार अफसोस (चिन्तन) करके अश्रुपूरित नैन भर-भर कर रोना व्यर्थ (बेकार) है क्योंकि यह जीवन तो केवल दो दिन के लिए निहित था। इस पर पश्चाताप करना व म त्यु पर क्रन्दन (रोना) अज्ञानता है।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. प्रसाद गुण का समावेश है।

3. भाषा सहज, सरल प्रवाहमयी है।

4. प्रतीकात्मक शब्दावली भगवद् भक्ति सांसारिक क्षणभंगुरता का सहज सूक्ष्म चित्रण है।

5. रूपक अलंकार का सौन्दर्य प्रयुक्त है।

देह धरे का दण्ड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगते ज्ञान करि, मूरख भुगते रोय।।
तकत तकावत तकि रहे, सके न बेझा मारि।
सबै तीर खानी परे, चले कमानी डारि।।

शब्दार्थ - बेझा = बेध्य, लक्ष्य।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है कबीरदास जी निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि संत कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्यात्मक पंक्तियाँ गहन चिन्तन और गंभीर दार्शनिकता से अनुप्राणित हैं लेकिन वे दार्शनिक ही नहीं अपितु भावुक भक्त कवि और समाज सुधारक भी हैं। समकालीन सामाजिक धार्मिक दुर्दशा उनसे देखी नहीं जाती। रूढ़ियों का खण्डन, बाह्याडम्बर, असत्य, अनाचार आदि के प्रति प्रतिक्रिया कवि के हृदय की सच्ची क्रान्तिकारी भावना थी। उन्होंने विश्वास के साथ शास्त्रानुसार रूढ़िवादिता को, माया-जाल से युक्त समाज को छिन्न-भिन्न किया है, मुक्त किया है। युगीन परिस्थितियों को परख कर स्वाभाविक चिन्तन से समाज व धर्म के पथ प्रदर्शक बने। जीवन, संसार, शरीर की नश्वरता के सन्दर्भ में मनुष्य को चेतावनी देते हुए ज्ञान प्राप्ति से ईश्वर भक्ति का सन्देश देते हैं।

व्याख्या - कबीरदास जी वर्णित कर कहते हैं कि यदि देह धारण की है तो दुःख-कष्ट भी साथ ही लगेगें। देह की दुःखद सजा को भुगतना ही पड़ेगा इससे छुटकारा सम्भव नहीं है। ज्ञानी लोग शरीरिक कष्टों से दुःखित नहीं होते अपितु परम पिता परमात्मा की देन समझकर सहर्ष स्वीकारते हैं। मूर्ख लोग शरीरिक धर्म को समझते नहीं है अपितु रो-रोकर दुःखित होते हैं।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार में सभी लोग अपने लक्ष्य के प्रति सचेत हैं। सभी

प्रयत्नशील हैं कि हम ठीक निशाने पर धनुष-बाण से ठीक निशाना साधें। इस प्रकार समस्त लक्ष्यों के प्रतीक परम् पिता परमेश्वर ही हैं किन्तु साधना मार्ग व साधना पद्धतियाँ अलग-अलग हैं। ठीक निशाने पर किसी का तीर नहीं लगता। जो अपने आप को बहुत कुशल धनुर्धारी समझता है वह भी असफल हो कमान छोड़ जाता है अर्थात् म त प्रायः हो जाता है। वस्तुतः ब्रह्म प्राप्ति तो धनुष विद्या से भी कठिन है। इसमें सफलता संदिग्ध है परन्तु सद्गुरू की भगवद् भक्ति आवश्यक है।

विशेष 1. दोहा छन्द में सारगर्भित, स्वानुभूति, चिंतन की प्रस्तुति है।

2. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

3. प्रतीकात्मक पदावली में देह, धर्म और म त्यु के सूक्ष्म चित्रण की प्रस्तुति है।

4. दूसरी साखी में रूपकातिशयोक्ति अलंकारिक सौन्दर्य का मार्मिक चित्रण है।

सुपने में साई मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता, मन सुपना है जाय।।
साँई केरे बहुत गुन, लिखे जो हृदय माँहिं।
पिऊँ न पानी डरपता, मत के धोये जाँहि।।

शब्दार्थ - डरपता = डरता हुआ। हिरदे = हृदय।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी निर्गुण ज्ञानाश्रयी निर्गुण सन्त काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्यगत पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से युक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग-वियोग, श्रृंगार का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। जीवन-म त्यु, संसार-प्रकृति तथा परमात्मा के रहस्य की सरल रूप व सरल भाषा में प्रस्तुति है।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि स्वप्नावस्था में मुझे अपने स्वामी के दर्शन हुए मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि उन्होंने मुझे सोते हुए जगा लिया। मैं उनके दर्शनार्थ आनन्द से वंचित नहीं होना चाहता था। मैं इसी भय से आँखें नहीं खोल रहा था कि मेरी आँखों के सामने से वे ओझल न हो जाँए। कहीं यह दर्शन स्वप्न में न बदल जाय। वस्तुतः यह संसार स्वप्न की भाँति ही है। हम अज्ञानता की अवस्था में है। परम् तत्त्व का दर्शन तो जाग ति है जो परमेश्वर की कृपा से ही सम्भव है। आत्मज्ञान की अवस्था में ऐसा अनुभव होता है कि हम पुनः सांसारिक आकर्षण में न उलझ जाँय।

कबीरदास जी कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म का अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म गुणहीन है अपितु उसके गुण तो अनन्त हैं जो हृदय में लिखे हुए हैं क्योंकि पानी के संसर्ग से लिखा हुआ मिट जाता है। कबीर दास जी कहते हैं कि मैं पानी पीने से डरता हूँ क्योंकि पानी हृदय में प्रवेश करेगा तो परमात्मा के वे गुण जो हृदय में लिखे हुए हैं मिट जायेगें। तात्पर्य यह है कि कबीर अपने हृदय में परम् पिता परमात्मा (प्रभु) के अनन्त गुणों के स्थायित्व को संजोकर रखते हुए उनके प्रति प्रेमाभाव बनाये रखना चाहतें हैं।

विशेष 1. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

2. दोहा छन्द में सारगर्भित, स्वानुभूति चिन्तन की प्रस्तुति है।

3. प्रतीकात्मक पदावली में देह, धर्म और म त्यु के सूक्ष्म चित्रों की प्रस्तुति है।

4. दूसरे दोहे में अविधा में व्यंजना का प्रयोग सारगर्भित है।

5. 'सपना हो जाना' मुहावरे के प्रयोग की सार्थकता है।

6. 'सुपना' में यमक अलंकार द ष्टव्य है।

हद चले तो मानवा, बेहद चले सो साथ।
हद बेहद दोऊ तजै, ताकर मती अगाध।।

शब्दार्थ - हद = सीमा। बेहद = सीमाओं से रहित। ताकर = उसका। अगाध = अत्यन्त गहरा। मती = बुद्धि।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है कबीरदास जी निर्गुण ज्ञानाश्रयी सन्त काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से युक्त हैं। वे दार्शनिक ही नहीं भावुक भक्त व समाज सुधारक संत कवि भी हैं। रूढ़िवादिता का खण्डन, बाह्याडम्बर, असत्य, अनाचार के प्रति अद्भुत प्रक्रिया कवि के हृदय की सच्ची क्रान्तिकारी भावना थी। उन्होंने विश्वासगत शास्त्रगत रूढ़िवादिता को माया-जाल से मुक्त किया। समकालीन परिस्थितियों के अनुकूल धर्म और समाज के लिए उपयुक्त पथ-प्रदर्शक बने। उनका चिन्तन व मनन स्वानुभूत है। वे मनुष्य, साधु और असाधारण संत के चिन्तन आचरण पर विचार करते हैं।

व्याख्या - कबीरदास जी मनुष्य, साधारण साधु और असाधारण संत के सन्दर्भ में वर्णित कर कहते हैं कि इन तीनों के वैचारिक आचरण में सूक्ष्म अन्तर होता है। साधारण मनुष्य समाज के साधारण अनुशासन में रहकर जीवन व्यतीत करता है। साधु पुरूष साधारण समाज के सांसारिक नियमों की सीमाओं से परे जाकर अपना आध्यात्मिक जीवन बिताते हैं असाधारण पुरूषों की बुद्धि-ज्ञान अत्यन्त गहन होती है। ऐसे सद्विचार (सद्गुरू) साधारण सीमाओं, असीमाओं से परे होते हैं। उन्हें किसी प्रकार की सीमा-अपने बन्धन में नहीं बाँध पाती है।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. प्रसाद गुण का समावेश है।

3. भाषा सहज, सरल प्रवाहमयी है।

4. प्रतीकात्मक पदावली में कबीर ने साधारण-असाधारण के चिन्तन और आचरण का सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट किया है।

गगन दमामा बाजिया, पड़त निसाने घाव।
खेत पुकारे सूरमा, अब लड़ने का दाव।।
जा मरने से जग डरै, सो मेरे आनंद।
अब मरिहौं, कब देखि हौं पूरन परमानंद।।

शब्दार्थ - दमामा = ढ़ोल। निसाने = बाजा। घाव = चोट। गगन = शून्य।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी निर्गुण ज्ञानाश्रयी निर्गुण सन्त काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्यगत पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से युक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक

व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है कबीरदास जी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग-वियोग और श्रंगार का प्रतीकात्मक वर्णन है। जीवन-म त्यु, संसार-प्रकृति तथा परमात्मा के रहस्य को सरल रूप व सरल भाषा में चित्रित करते हुए ज्ञान प्राप्ति से ईश्वर भक्ति का संदेश देते हैं। उन्होंने साधक जीवात्मा की तुलना शूरवीर पुरूष से की है - 'सूरा तन कौ अंग' में ऐसी साखियों का संग्रह है यहाँ वीर रस के माध्यम से साधनात्मक रहस्यवाद की अभिव्यंजना है।

व्याख्या - कबीरदास जी साधक जीवात्मा को शूरवीर पुरूष की उपमा देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार आकाश में डंके की आवाज सुनते ही शूरवीर पूरूष अपने अपने लक्ष्य पर प्रहार करने के लिए तैयार हो जाता है। उसे अनुभव होता है कि मानो रणभूमि उसे लड़ने के लिए बुला रहीं है। वह रण-कौशल दिखाने के लिए तैयार हो जाता है इसी प्रकार योगी अपनी साध ाना प्रक्रिया में कुण्डलिनी को जाग त कर शून्य में अर्थात् **सहस्त्रार** में पहुँचा देता है तब वहाँ उसे अनहद नाद सुनाई देता है। सद्गुरू के शब्दों की चोट खाकर विषयों से लड़ने के लिए मैदान में डट जाता है।

कबीरदास जी वर्णित कर कहते हैं कि शूरवीर पूरूष की मरने की इच्छा है साधक के लिए मरने की इच्छा का अर्थ है मुक्ति की इच्छा। सम्पूर्ण संसार म त्यु से भयभीत रहता है। म त्यु वीर पुरूष के लिए आनन्द विषयक है जैसे वीर पुरूष को युद्ध में वीरगति पर स्वर्ग मिलता है वैसे ही साधक के मरने पर मुक्ति मिलती है। साधक तो मरना चाहता है क्योंकि म त्यु उपरान्त उसका मिलन परमात्मा से होगा, उसे पूर्णतया आनन्द ही आनन्द मिलेगा। शरीर का त्याग कर ही उसकी आत्मा-परमात्मा में विलीन होगी।

विशेष 1. दोहा छन्द की सारगर्भित सार्थकता है।

2. प्रसाद गुण का समावेश।
3. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।
4. प्रतीकात्मक पदावली में कबीर के भावनात्मक, साधनात्मक रहस्यवाद का समन्वय है।
5. 'निसाने' में 'श्लेष अलंकार' का अर्थ लक्ष्य और एक प्रकार के बाजे से है।

अब गुरू दिल में देखिया, गावन को कछु नाहिं।
कबिरा जब हम गावते, तब जाना गुरू नाहिं।।
सुन्न मँडल में घर किया, बाजै सबद रसाल।
रोम-रोम दीपक भया, प्रकटे दीनदयाल।।
सुन्न सरोवर मीन मन, नीर तीर सब देव।
सुधा सिंधु सुख बिल सहिं, बिरला जाने भेव।।

शब्दार्थ - सुन्न मँडल = शून्य मण्डल, ब्रह्मरंध्र। बिलसहिं = शोभा पाता है। रसाल = सरस। भेव = रहस्य।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी निर्गुण ज्ञानाश्रयी सन्त काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्यगत पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से युक्त हैं। वे दार्शनिक ही नहीं अपितु भावुक भक्त कवि भी हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित

हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी की साखी में आत्मा-परमात्मा प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति पति-पत्नी के संयोग-वियोग व श्रंगार का प्रतीकात्मक वर्णन है। आत्मा- परमात्मा से मिलन में सद्गुरू की अहम भूमिका है।

व्याख्या - कबीरदास जी सद्गुरू की महिमा का गुणगान करते हुए कहते हैं कि जब से मैंने सद्गुरू से आत्मसात करते हुए उनको प्रत्यक्ष रूप में देखा है। तब से मुझे अपनी वाणी द्वारा गुणगान करना कुछ भी तो शेष नहीं रहा है। गीत गाना भक्तिगत साधन है तब साध्य ही मिल गया तो उसके बाद गुण गान करने के लिए कुछ भी तो नहीं रहा। भक्तिगत प्रक्रिया में जब हम गाते हैं तो गुरू का स्मरण भूल जाते हैं और अहंकारी मनोव ति धारण करते हुए सद्गुरू को मनोहृदय में पाने के पश्चात् अहंकारी अहंभाव विलीन हो गया अद्वैत्य भाव की जाग ति हुई।

कबीरदास जी योगिक क्रिया (योग-साधना) की सरल प्रक्रिया की प्रस्तुति करते हुए कहते हैं कि साधक कुण्डलिनी शक्ति को जाग त कर लेता है। षष्ट चक्रों का भेदन शून्य मण्डल अर्थात् संसार में पहुँचता है तब योगी को ब्रह्मनंद प्राप्ति की अनुभूति होती है। उसे मधुर अनहद नाद (ध्वनि) सुनाई देता है। उसे लगता है कि उसके रोम-रोम में दीप प्रज्वलित हो गए है अर्थात् वह स्वयं प्रकाश स्वरूप हो जाता है उसे ऐसा अनुभव होता है कि जैसे परमेश्वर स्वयं प्रकट हो गये हैं।

कबीर दास जी कहते हैं कि शून्य आकाश अर्थात् संसार आलौकिक सरोवर है। इस सरोवर में मन रूपी मछली सदैव विहार करती रहती हैं। अन्य देवात्मा (देवी-देवता) तो पानी और किनारे की तरह हैं संसार में जो अम त झरता है वह तो अम त-सागर है उसमें जो अलौकिक आनन्द है उसके रहस्य की अनुभूति कोई बिरला ही प्राप्त कर सकता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मानन्द की प्राप्ति सरल नहीं है।

विशेष 1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. भाषा सहज, सरल, प्रवाहमयी है।
3. प्रसाद गुण का समावेश है।
4. प्रतीकात्मक पदावली भगवद् भक्ति व प्रेम के सूक्ष्म आध्यात्मिक चित्रण की प्रस्तुति है।
5. रूपक अलंकार युक्त सौन्दर्य चित्रण की प्रस्तुति है।

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुलहा दुलहिन मिलि गये, फीकी परी बरात।।
कागत लिखे सो कागदी, की व्यवहारी जीव।
आतम द ष्टि कहा लिखै, जित देखे तितपीव।।

शब्दार्थ - दुलहा = परमात्मा। दुलहिनी = आत्मा।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्यगत पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से युक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के हेतु रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय (सहारा) लिया

है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग-वियोग और श्रंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। जीवन-म त्यु, संसार-प्रकृति व परमात्मा के रहस्य को सरल रूप व सरल भाषा में चित्रित करते हुए ज्ञान प्राप्ति से ईश्वर भक्ति का संदेश देते हैं।

व्याख्या - कबीरदास जी का निर्गुण ब्रह्म और उसके प्रेम सम्बन्ध में जो शास्त्रों में निहित है, उस पर विश्वास नहीं होता क्योंकि आलौकिक अनुभव लिखा ही नहीं जा सकता। वह अनिर्वचनीय है। प्रमाणिकता, जिससे उसका स्वयं साक्षात्कार हुआ हो शास्त्रगत सार नहीं है। जिस प्रकार दूल्हा-दुल्हन का मिलन हो जाता है तो बारात की न कोई शोभा रह जाती है और न ही सार्थकता ही, इसी प्रकार परमात्मा के मिलन से संसार निस्सार प्रतीत होने लगता है।

कबीरदास जी वर्णित कर कहते हैं कि ईश्वर (परमात्मा) के प्रेम और स्वरूप को अनुभव विहीन जो लोग लिखते हैं वे तो महज कागज काले करते रहते हैं। दोनों को परमात्मा और प्रेम की उपलब्धि नहीं मिलपाती है जो परमात्मा को आत्मज्ञान और आत्मानुभूति से प्राप्त कर लेते हैं उनके लिए लिखने-लिखाने की सार्थकता समाप्त हो जाती है क्योंकि उन्हें तो सर्वत्र अपने प्रियतम की प्रीति प्रतीत होती है। इसके पश्चात् तो लिखने-लिखाने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती है।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. भाषा सहज, सरल, प्रवाहमयी है।
3. प्रसाद गुण का समावेश है।
4. प्रतीकात्मक शब्दावली में कबीरदास जी ने आध्यात्मिक प्रेम और आत्मा-परमात्मा के मिलन का सूक्ष्म, सरल चित्रण किया है।
5. 'दुल्हा-दुलहिन' में रूपक अलंकार का सौन्दर्य बोध है।

लाली मेरे लाल की जित देखों तिल लाल।
लाल देखन मै गई मै भी हो गई लाल।।
जिन पावन भुइँ बहु फिरे, घुमे देश विदेश।
पिया मिलन जब होइगा, आँगन भया विदेश।।

शब्दार्थ - लाली = प्रेम भक्ति का रंग। लाल = परमात्मा। पावन = पैरों से। भुइँ = भूमि।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्यगत पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से युक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने हेतु रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय (सहारा) लिया है कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग-वियोग और श्रंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन म त्य, संसार, प्रकृति व परमात्मा के रहस्य को सरल रूप व भाषा में चित्रित करते हुए ज्ञान प्राप्ति से ईश्वर भक्ति का संदेश देते हैं। उक्त दोहों में प्रेम साधना की सर्वव्यापकता की ओर सांकेकतिक यौगिक क्रिया द्वारा ध्यान को बाहर से हटाकर भीतर की ओर देखते हैं।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि साधक जीवात्मा को विश्व (संसार) में सर्वत्र ईश्वर प्रेम

का एकमात्र लाल रंग ही दिखाई देता है। वह स्वयं भी उसी प्रेमभक्ति के रंग में डूब जाती है। उसे उस प्रेम के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता है सर्वत्र प्रिय परमात्मा की सत्ता का अनुभव होने लगता है वह स्वयं परमात्मामय हो जाता है।

कबीरदास जी कहते हैं कि साधक परमात्मा को प्राप्त करने के लिए अपने पैरो से धरती पर यत्र-तत्र भटकता रहता है अर्थात् अनेक तीर्थ यात्रा करते हुए मन्दिर मस्जिद घूमता रहता है लेकिन जब परमात्मा से मिलन का समय आता है तब वह उसे उसके आँगन में ही मिल जाता है अर्थात् उसे मन में ही प्राप्त कर लेता है और तब आँगन ही विदेश के समान प्रतीत होता है वह साधक स्वयं को ही भूल जाता है। तात्पर्य है कि परमात्मा बाहर नहीं स्वयं अपने अन्तःकरण में व्याप्त है।

विशेष 1. दोहा छन्द सारगर्भित भाव युक्त है।

2. भाषा सहज सरल तथा प्रवाहमयी है।

3. प्रतीकात्मक शब्दावली में कबीरदास जी ने आध्यात्मिक प्रेम और आत्मा परमात्मा के मिलन का सूक्ष्म सरल चित्रण प्रस्तुत किया है।

उलटि समाना आप में पगटी जोति अनंत।
साहेब सेवक एक संग, खेलैं सदा बसंत।।
जोगी हुआ झलक लगी, मिट गया ऐंचातान।
उलटि समाना आप में, हुआ ब्रह्म समान।।

शब्दार्थ - ऐंचातान = आंतरिक दुविधा।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से युक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने हेतु रूपकता व प्रतिकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग - वियोग और श्रंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन, म त्यु, संसार, प्रकृति व परमात्मा के रहस्य को सरलतम भाषा व रूप में चित्रित करते हुए ज्ञान प्राप्ति से ईश्वर भक्ति का संदेश देते हैं। इन दोहों में उन्होंने उस आध्यात्मिक आनंदानुभूति की ओर संकेत किया है जो योगी को साधना की प्रक्रिया में मिलती है।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि साधक जब ब्रह्म साधना विधियों को आन्तिरिक बना लेता है अर्थात् आन्तरिक योग साधनात्मक प्रणाली अपनाते हुए कुण्डलिनी शक्ति जाग त कर षष्ट चक्र भेद कर **सहस्त्रार** में पहुँचा देता है तो अपने भीतर ही निर्गुण ब्रह्म की अनन्त ज्योति को प्राप्त करता है। उस अवस्था में उसे ऐसी आनन्दानुभूति होती है जैसे साधक जीवात्मा सेवक है और परम प्रिय स्वामी ने उसे गले लगा लिया है। जैसे बसंत व होलीकोत्सव के समय परमात्मा सम्पूर्ण प्रकृति और जीवात्मा के साथ आनन्दमय हो एक रंगी हो जाता है।

साधक जब योगी हो जाता है अर्थात् योग के मार्ग के द्वारा ज्ञान साधना के माध्यम से निर्गुण ब्रह्म को पा लेता है तो उसके सारे बाहरी और आन्तरिक द्वंद समाप्त हो जाते हैं, दुविधा भ्रम मिट जाते हैं। वह आन्तरिक साधनात्मक प्रक्रिया द्वारा अपनी अन्तरात्मा में परमात्मा को प्राप्त

कर लेता है उसे ऐसी आध्यात्मिक आनन्दानुभूति प्राप्त होती है जैसे स्वयं ब्रह्म साक्षात् रूप मे उसके अन्तर में आत्मसात् हो गया हो।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. भाषा सहज, सरल और प्रवाहमयी है।

3. प्रसाद गुण का समावेश है।

4. प्रतीकात्मक शब्दावली में सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूति की सरल रूप में प्रस्तुति है

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समुन्द में, सो कत हेरी जाय।।
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराय।
समंद समाना बूँद में सोकत हेर्‌या जाइ।।

शब्दार्थ - हेरत = खोजते हुए। हिराई = खो गया।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्‌ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से प्रयुक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के हेतु रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग - वियोग व श्रंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन-म त्यु, संसार, प्रकृति व परमात्मा के रहस्य को सरल भाषा में चित्रित करते हुए ज्ञानार्जन ईश्वर भक्ति का सन्देश देते हैं। इन दोहों में उन्होंने उसी आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति का संकेत दिया है।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि साधक जीवात्मा को परमात्मा की निरन्तर तलाश रहती है। वे कहते है कि परमात्मा को खोजते-खोजते कबीर स्वयं खो गये। साधक का अहंकार समाप्त हो गया सो परमात्मा की प्राप्ति हुई। साधक जीवात्मा जो परमात्मा रूपी सागर का ही अंश था पुनः उसी में विलीन हो गया। जिस तरह बूंद समुद्र से ही निकली और समुद्र में ही विलीन हो गयी वैसे ही आत्मा परमात्मा से अलग हो कर संसार में आती है और फिर उसी में मिल जाती है। अब उसकी खोज नहीं की जा सकती। ईश्वर की खोज में कीट भंगी न्यायिक तदाकारता हो गयी। तात्पर्य यह है कि अंश-अंशी, व्यष्टि, समष्टि, आत्मा-परमात्मा परस्पर विलीन हो गये।

कबीरदास जी कहते हैं कि परमात्मा को खोजते-खोजते खोजने वाला साधक उसी में विलीन हो गया। खोजने पर साधक को अनुभव हुआ कि समुद्र बूँद में समाहित है। अर्थात् परमात्मा व्यक्ति आत्मा के अन्तर्गत समा गया है। ऐसी आन्तरिक एकाग्रता की स्थिति में उसे कहीं बाहर ढूढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

उक्त सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि गीता में भी बूँद में समुद्र का समा जाना बताया गया है जहाँ श्री कृष्ण जी कहते हैं कि सबके भीतर मैं ही हूँ।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. भाषा सहज, सरल व प्रवाहमयी है।

3. प्रसाद गुण का समावेश है।

4. प्रतीकात्मक शब्दावली में कबीरदास जी ने आध्यात्मिक प्रेम व आत्मा-परमात्मा के सूक्ष्म, सरल चित्रण की प्रस्तुति की है।
5. द ष्टान्त अलंकारिकता का सौन्दर्य बोध है।

हदे छाड़ि बेहद गया, हुआ निरन्तर बास।
कँवल जु फूल्या फूल, बिन को निरषे निज दास।।
कबीर मन मधुकर भया, भया निरन्तर बास।
कँवले जु फूल्या जलह, बिन को देखे निज दास।।
अंतरि कँवल प्रकासिया ब्रह्म-बास तँह होई।
मन भँवरा तहँ लुबधिया जाणैगा जन कोई।।

शब्दार्थ - निरषै = देखे। जलह = सागर। मधुकर = भँवरा। लुबधिया = लुब्ध हुआ।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से प्रयुक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति पति-पत्नी के संयोग - वियोग व श्र ंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन, म त्यु, संसार, प्रकृति व परमात्मा के रहस्य को सरल भाषा में चित्रित करते हुए ज्ञानार्जन ईश्वर भक्ति का सन्देश देते हैं। इन दोहों में उन्होंने उसी आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति का संकेत दिया है।

व्याख्या - कबीर दास जी वर्णित कर कहते हैं कि साधक असीम है वह सीमित गोचर जगत् प्रपंच से मुक्त होकर असीम ब्रह्म में जा मिला। वहीं उसका स्थायी निवास हो गया। वहां निर्गुण ब्रह्म सहस्त्र दलकमल में वास करता है। स ष्टि कमल साकार न होकर निराकार है। इस कमल को केवल दास यानी भक्त ही देख सकता है।

कबीरदास जी कहते हैं कि मन रूपी भंवरा निर्गुण निराकार सहस्त्र दल कमल में अर्थात् ब्रहन कमल में निरन्तर निवास कर रहा है। यह कमल बिना किसी जल के सदैव खिला रहता है। इसको भी कोई दास या भक्त ही देख सकता है साधारण व्यक्ति नहीं।

कबीरदास जी वर्णित कर कहते हैं कि हृदय में जो कमल प्रकाशित हुआ वह सहस्त्र दल कमल है जहाँ ब्रह्म का निवास होता है। जिस प्रकार भौंरा कमल के भीतर रसपान में लीन होता है, उसी प्रकार मन का भौंरा उसी ब्रह्म कमल में लुप्त हो रहा है। इस बात को भी कोई भक्त ही जान सकता है।

विशेष 1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।
2. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।
3. प्रसाद गुण का समावेश है।
4. प्रतीकात्मक शब्दावली में कबीरदास जी ने आध्यात्मिक प्रेम व आत्मा परमात्मा के सूक्ष्म, सरल चित्रण की प्रस्तुति की है।

5. पहले दो दोहों में विभावना अलंकार है तीसरे में रूपक का सौन्दर्य बोध है।

हद्द छाँडि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जल महल न पावई, तहाँ किया विसराम।।
देखौ कर्म कबीर का कछू पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख।।

शब्दार्थ - सुन्नि = शून्य। असनान = स्नान। दोसत = मित्र। अलेख = अद श्य निर्गुण ब्रह्म।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से प्रयुक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतिकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग - वियोग व श्रंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन, म त्यु, संसार, प्रकृति व परमात्मा के रहस्य को सरल भाषा में चित्रित करते हुए ज्ञानार्जन ईश्वर भक्ति का सन्देश देते हुए उक्त दोहों में उन्होंने उसी आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति का संकेत किया है।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि असीम आत्मा में ससीम शरीर और संसार को त्याग कर वहाँ से ध्यान हटाते हुए असीम ब्रह्म से अपना ध्यान केन्द्रित किया यह शून्य में अर्थात् सहस्त्रार में पहुँचकर सर्वत्र होने वाले अम त में स्नान किया। यह महल इतनी ऊँचाई पर स्थित है कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि के लिए भी दुर्लभ है। वहाँ साधक की आत्मा स्थायी विश्राम करती है। इस दुःखित संसार में शान्ति नहीं मिलती, शान्ति वहीं है जिसे गोरखनाथ जी ने गगन शिखर (आशमा पर्वत) स्वरूप वर्णित किया है।

कबीरदास जी कहते हैं कि कर्म देखो, पूर्व जन्म के कर्म भाग्य का फल देखो, जिस कारण बड़े-बड़े महान ऋषि-मुनियों को भी उस ऊँचे महल में प्रवेश सम्भव नहीं हैं। उस पार ब्रह्म परमेश्वर (निर्गुण ब्रह्म) के यहाँ कबीर दास जी ने अपना स्थायी मित्र अद श्य निर्गुण ब्रह्म में समाहित कर लिया।

विशेष -1. दोहा छन्द प्रयुक्त है।

2. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

3. प्रसादगुण का समावेश है।

4. प्रतीकात्मक शब्दावली में कबीरदास जी ने आध्यात्मिक प्रेम, आत्मा-परमात्मा के सूक्ष्म सरल चित्रण की प्रस्तुति की है।

5. सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकारिक सौन्दर्यता समाहित है।

नींव बिहूँणा देहुरा, देह बिहूँणा देव।
कबीर तहाँ विलुंबिआ करै अलख की सेव।।
देवल माँ है देहरी तिल जे हैं बिसरात।
माँ है पाती माँहि जल माहें पूजणदार।।

शब्दार्थ - बिहूँणा = बिना। देहुरा = मन्दिर। बिलंबिआ = स्थित है। अलख = अलक्ष्य, निराकार ब्रह्म। सेव = सेवा। देवल = देवालय। देहुरी = दलहीज। माँहें = में। पूजणदार = पुजारी।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्‌ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से प्रयुक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक, साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति पति-पत्नी के संयोग - वियोग व श्रंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन, म त्यु, संसार, प्रकृति व परमात्मा के रहस्य को सरल भाषा में चित्रित करते हुए ज्ञानार्जन ईश्वर भक्ति का सन्देश देते हैं। इन दोहों में उन्होंने उसी आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति का संकेत दिया है।

व्याख्या - कबीदास जी वर्णित करते हुए कहते हैं योगिक ज्ञान साधना के द्वारा साधक शून्य अर्थात् सहस्त्रसार चक्र युक्त मन्दिर (देवालय) का आत्म साक्षात्कार करता है जो भौतिकता की नींव के बिना केन्द्रित है। इस देवालय का देवता देवरहित अर्थात् निर्गुण निराकार ब्रह्म स्वरूप है। संत शिरोमणि कबीर दास जी उक्त स्थान पर रूककर अलख जगाते हुए निर्गुण, निराकार, ईश्वर (ब्रह्म) को निरन्तर सेवा सत्कार आदर भर रखते हैं।

कबीर दास जी कहते हैं कि भक्ति युक्त प्रणाली शरीर में निहित है। मन्दिर और देहलीज अन्तस्तल में ही हैं। वह तिल जैसा छोटा (सूक्ष्म) आकार अधिक विस्त त है। जिसकी आराधना (पूजा) के लिए भौतिक फूल-पती व जल की आवश्यकता नहीं है अपितु पूजा करने वाला तत्व, मन्दिर (देवालय) पूज्य साधन सूक्ष्म निर्गुण, निराकार, अमूर्त है। इस मानसी पूजा का चित्रण व सन्देश कबीर दास जी का स्वानुभुतिपूर्ण है।

विशेष : 1. दोहा छन्द में दार्शनिकता सारगर्भित है।

2. प्रतीकात्मक शब्दावली में अमूर्त तत्व में मूर्त तत्व की अभिव्यक्ति है।

3. प्रसार गुण का समावेश है।

4. प्रथम दोहे में विभावना अलंकारिक सौन्दर्यता का सुन्दर समन्वय है।

तूँ तूँ करता तुझ गया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ।।
लम्बा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार।
कहो संतों क्यूँ पाइए, दुरलभ हरि दीदार।।

शब्दार्थ - हूँ = अहंकार। वारी = न्योछावर जाना। दीदार = दर्शन। विकट = कठिन। मार = कामदेव।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्‌ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से प्रयुक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के

स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग - वियोग व श्रंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन, म त्यु, संसार, प्रकृति व परमात्मा के रहस्य को सरल भाषा में चित्रित करते हुए ज्ञानार्जन ईश्वर भक्ति का सन्देश देते हैं। उक्त दोहों में उन्होंने उसी आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति का संकेत दिया है।

व्याख्या - कबीर दास जी वर्णित कर कहते है कि परमात्मा स्मरण तो तू ही है, तू ही है से आरम्भ है अर्थात् भक्तिगत आरम्भ तू का भेद था। निरन्तर स्मरण करने से, तुम्ही सर्वस्व विद्यमान हो। मेरे मैं की तो बलि हो गयी अर्थात् अहम् भाव विलीन हो गया। अब केवल तुम्हारा ही अस्तित्व है। मेरा अस्तित्व विलय हो आप में निहित हो गया है। अहम् का त्वम् में विसर्जन परिणामस्वरूप अब सर्वत्र (हर जगह) केवल तुम ही तुम हो अर्थात् ब्रह्म की अनुभूति है।

कबीर दास जी कहते हैं कि ईश्वरीय साधनात्मक मार्ग व्यापक है। ईश्वरीय निवास अदूर है। वहाँ तक पहुँचना अत्यन्त दुलर्भ है। जैसे जंगल युक्त मार्ग पर डाकू-लुटेरे आदि होते हैं उसी तरह से भक्तिगत मार्ग में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि बहुत से कामदेव घात लगाये बैठे हैं। कबीर दास जी कहते हैं कि ऐसी स्थिति में आँखों के लिए दुलर्भ ईश्वर (भगवान) परमेश्वर को पाना व दर्शन दुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि भगवद् भक्ति ईश्वर की कृपा के बिना दुर्लभ है।

विशेष -1. दोहा छन्द सारगर्भित सार्थक है।

2. प्रतीकात्मक शब्दावली में आध्यात्मिक प्रेम निर्गुण ब्रह्म आत्मा-परमात्मा के सरल, सूक्ष्म चित्रण की प्रस्तुति है।
3. प्रसाद गुण का समावेश है।
4. अनुप्रास अलंकार के अनुपम सौन्दर्यमयी चित्रण की प्रस्तुति है।

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति।
जहाँ कबीरा बंदगी, पाप पुन्न नहीं छोति।।

शब्दार्थ - अगम = जहाँ पहुँचा न जा सके। अगोचर = ज्ञानेन्द्रियों से परे गमि नहीं = जिस तक पहुँच न हो। बंदगी = भक्ति। छोति = भेदभाव।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से प्रयुक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतिकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग - वियोग व श्रंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन, म त्यु, संसार, प्रकृति व परमात्मा के रहस्य को सरल भाषा में चित्रित करते हुए ज्ञानार्जन ईश्वर भक्ति का सन्देश देते हैं। उक्त दोहों में उन्होंने उसी आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति का संकेत दिया है।

व्याख्या - संत शिरोगणि कबीर दास जी वर्णित कर कहते हैं कि परम् ब्रह्म तक पहुँचना अत्यन्त

कठिन है। वह ज्ञानेन्द्रिय की पहुँच से दूर है। वहाँ किसी प्रकार का गमन सम्भव नहीं है। वहाँ हमेशा अनन्त अखण्ड ज्योति प्रकाशवान है। कबीर दास जी के अखण्ड ज्योति की भक्तिगत प्रकाश पुंज की प्राप्ति स्थल में पाप-पुण्य आदि का भेद
भावनात्मकता से परे है। यह सांसारिक अनुभूतियों से विलक्षण अनुभूति है।

विशेष -1. दोहा छन्द सारगर्भित सार्थक है।

2. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

3. प्रतीकात्मक शब्दावली मे आध्यात्मिक प्रेम, आत्मा-परमात्मा के सूक्ष्म सरल चित्रण की प्रस्तुति है।

4. अनुप्रास अलंकार के सुन्दर सौन्दर्यमयी चित्रण की प्रस्तुति है।

दौकी दाधी लाकड़ी ठाढ़ी करै पुकार।
मति बसि पड़ौ लुहार कै जालै दूजी वार।।
जो ऊग्या सो आँथ बै, फूल्या सो कुम्हलाइ।
जो चिणिया सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ।।

शब्दार्थ - दौकी = दावाग्नि की। दाधी = जलाई गई। ठाढ़ी = खड़ी-खड़ी। उग्या = उदय हुआ। आँथबै = अस्त होना। चिणिया = चिणा गया, बनाया गया। ढहि पड़ै = गिर पड़ना।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से प्रयुक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लेते हैं। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग - वियोग व श्र ंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन, म त्यु, संसार, प्रकृति व परमात्मा के रहस्य को सरल भाषा में चित्रित करते हुए ज्ञानार्जन ईश्वर भक्ति का सन्देश देते हैं। उक्त दोहों में उन्होंने उसी आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति का संकेत दिया है।

व्याख्या - कबीरदास जी वर्णित कर कहते हैं कि दावग्नि में जंगल में खड़े व क्ष जल कर कोयला बन जाते हैं। उन कोयलों को लुहार भट्ठी में पुनः दुबारा जलाता है। तत्पश्चात् कोयला जल कर राख का रूप धारण कर लेता है। मानो वह जली हुई लकड़ी प्रभु (ईश्वर) से प्रार्थना करती है कि उसे लुहार के हाथ में मत पड़ने दें क्योंकि वह पुनः जला देगा। इस प्रकार कर्मों का भोग, दुःख जन्म जन्मातर तक भोगने पड़ते हैं।

इस प्रकार सांसारिक नश्वरता की विवेचना करते हुए संत शिरोमणि कहते हैं कि विनाश प्रकृति का शाश्वत नियम है। उदय और अस्त सुनिश्चित है। जो पुष्प (फूल) खिलता है उसका कुम्हलाना भी अवश्यम्भावी है। भवन का सुद ढ़ निर्माण का ढहना भी सुनिश्चित है। इस प्रकार सांसारिक उत्पत्ति व विनाशता भी सुनिश्चित है। जन्म-म त्यु द्वन्द्व सांसारिक नियम है, अतः परमात्मा की ईश्वरीय भक्ति ही लक्ष्यता का प्रतीक है।

विशेष -1. दोहा छन्द सारगर्भित सार्थक है।

2. प्रसाद गुण का समावेश है।

3. प्रतीकात्मक शब्दावली आध्यात्मिक प्रेम, आत्मा-परमात्मा के सूक्ष्म सरल चित्रण की प्रस्तुति है।

4. अनुप्रास और रूपक अलंकारिक सौन्दर्यता समाहित है।

मालन आवत देखकर कलियाँ करी पुकार।
फूले फुले चुनि लिए, काल्हि हमारी बार।।
फागुन आवत देखिकर बन सूना मन माहिं।
ऊँची डाली पात हैं, दिन-दिन पीले थाँहिं।।
पात अड़ता यौं कहै, सुन तरवर बनराइ।
अब के बिछुड़े न मिलै, कहिं दूर पड़ेगे जाइ।।

शब्दार्थ - कल्हि = कल। पात = पत्ता।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से प्रयुक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति, पति-पत्नी के संयोग - वियोग व श्रंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन, म त्यु, संसार, प्रकृति व आत्मा-परमात्मा के सरल भाषा में चित्रिण करते हुए ज्ञानार्जन व ईश्वर भक्ति का सन्देश देते हैं। उक्त दोहों में उन्होंने आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति का संकेत दिया है।

व्याख्या - कबीर दास जी वर्णित कर कहते हैं फल-फूल युक्त बाग में फूल चुनने वाली मालिन विकसित फूलों को चुनती हुई कलियों को छोड़ देती है। मालिन को देखकर कलियों को अनुभूति होती है। वे मानो स्थिति का चित्रण प्रस्तुत करती हुई कहती हैं कि जो कलियाँ विकसित होकर पुष्प (फूल) बन गये उनको मालिन ने चुन लिया, जो अविकसित है अगले दिन उनकी बारी है। भावनात्मक रूप से कुछ बड़े लोगों की म त्यु आज नहीं तो कल अवश्यम्भावी है। म त्यु एक शाश्वत सत्य है।

कबीर दास जी वर्णित कर कहते हैं। बगीचा बसंत ऋतु में पूर्णतयः विकसित हो खिल उठता है। उसके पश्चात् फागुन माह के प्रारम्भ में धीरे-धीरे व क्ष से पत्ते पीले होकर गिरने लगते हैं। तब सम्पूर्ण जंगल की मानसिक उदासीनता बढ़ जाती है उनका अनुभव यह दर्शाता है कि सम्पूर्ण व क्ष के पत्ते झड़ चुके हैं। डालियों पर ही कुछ नये पत्ते शेष हैं वे भी धीरे-धीरे पीले पड़ते जा रहें और झड़ने ही वाले हैं। बसंत ऋतु में खिलना, पतझड़ में झड़ जाना यही प्रकृति का शाश्वत नियम है। इस प्रकार संसार में जन्म-म त्यु सुनिश्चित है। कबीर दास जी कहते हैं कि जिस प्रकार पेड़ से झड़ता हुआ पत्ता मानों जंगल से कह रहा है कि अब के बिछुड़े न जाने कहाँ मिलेगें। जीवन में जन्म-म त्यु चक्र चलता ही रहेगा, मिलन-वियोग का क्रम जारी रहेगा।

विशेष -1. दोहा छन्द की सारगर्भित सार्थकता है।

2. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

3. प्रतीकात्मक शब्दावली में सांसारिक द्वन्द्वात्मकता, जन्म-म त्यु, आध्यात्मिक प्रेम, आत्मा-परमात्मा, सुख-दुख, विनाश-स जन के सूक्ष्म सरल चित्रण की प्रस्तुति है।

4. प्रसाद गुण का समावेश है।

5. रूपकातिशयोक्ति अलंकारिक सौन्दर्यमयी चित्रण की प्रस्तुति है।

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहा न जाय।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहर समाय।।
उनमुनि सो मन लागिया, गगनहिं पहुँचा आय।
चाँद विहूना चाँदना, अलख निरंजन राय।।
गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गँभीर।
चहु दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर।।

शब्दार्थ - उनमुनि = समाधि दशा। चाँद बिहूना चाँदना = अखण्ड ज्योति। अमी = अम त। दामिनी = बिजली।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से प्रयुक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति पति-पत्नी के संयोग - वियोग व श्र ंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन, म त्यु, संसार, प्रकृति व आत्मा-परमात्मा के सरल भाषा में चित्रिण करते हुए ज्ञानार्जन व ईश्वर भक्ति का सन्देश देते हैं। उक्त दोहों में उन्होंने उसी आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति का संकेत दिया है।

व्याख्या - कबीरदास जी वर्णित कर कहते हैं कि साधक की जीवात्मा जब परमात्मा में विलीन हो जाती है तब प्रेम युक्त समरसता में आत्मा-परमात्मा द्वैत समाप्त हो जाता है। वह अपनी अलौकिकता की अनुभूति को शब्दगत व्यक्त नहीं कर पाता है क्योंकि उसके पास कुछ कहने को रह ही नहीं जाता है। तब मात्र परमात्मा का आश्रय ही शेष रह जाता है उसका मिलन उसी तरह होता है जैसे कि प्रेमाभाव युक्त लहर में सम्पूर्ण समुद्र समाहित हो गया हो। उक्त आनन्दानुभूति की अद्वैता युक्त वर्णन कैसे सम्भव है।

कबीर दास जी ने साधक की समाधि अवस्था को उनमुनि कहा है उनमुनि (समाधि) मनोवस्था में साधक की एकाग्रता चेतना शून्य में पहुँच जाती है। उस अखण्ड समाधि का दिव्य प्रकाश ऐसा होता है मानो चन्द्रमा बिनु चाँदनी हो। माया रहित अलख-अगोचर ब्रह्म के मिलन की अनुभूति अनिवर्चनीय है।

कबीरदास जी समाधि अवस्था को वर्णित करते कहते हैं कि आकाश में बादलों की गर्जना से अनहद नाद श्रवणित (सुनाई) देता है जैसे बादल गम्भीरता पूर्ण घरराते हैं वैसे ही आनन्द की लहरें हिलोरे लेती हुई उमड़ती हैं। चारों दिशाओं में बिजली चमकने से दिव्य प्रकाश प्रज्वलित हो उठता है बादलों से जल की व ष्टि से ब्रह्माण्ड में अम त वर्षा से साधक सुधासक्त हो जाता है।

विशेष 1. दोहा छन्द की सारगर्भित सार्थकता है।

2. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

3. प्रतीकात्मक पदावली में आध्यात्मिक प्रेम, आत्मा-परमात्मा के सूक्ष्म सरल चित्रण की प्रस्तुति है।

4. प्रसाद गुण का समावेश है।

5. रूपक अलंकारिकता के माध्यम से वर्षा अनुभूति, आध्यात्मिक आनन्दमयी चित्रण की प्रस्तुति है।

बाजन दे बाजंतरी कलि-कुकुही जनि छेड़।
तुझे बिरानी का परी, अपनी आप निबेड़।।
देस विदेसन हैं फिरा, गाँव गाँव की खोरि।
ऐसा जियरा न मिला, लेवे फटकि पिघेरि।।

शब्दार्थ - बाजंतरी = जंत्रीवीणा। कलि-कुकुही = निकृष्ट वाद्य। विरानी = परायी। निबेड़ = निपटा। खोरी = गली।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सन्त कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्तियाँ गहन चिन्तन और दार्शनिकता से प्रयुक्त हैं। उनकी कविता भावनात्मक व साधनात्मक रहस्यवाद से प्रतिपादित हैं। कबीरदास जी ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने के लिए रूपकता व प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है। कबीरदास जी ने अपनी साखी में आत्मा-परमात्मा, प्रेमाभाव की अभिव्यक्ति पति-पत्नी के संयोग - वियोग व श्रंगारिकता का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर जी जीवन, म त्यु, संसार, प्रकृति व आत्मा-परमात्मा के सरल भाषा में चित्रिण करते हुए ज्ञानार्जन व ईश्वर भक्ति का सन्देश देते हैं। उक्त दोहों में उन्होंने आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति का संकेत दिया है।

व्याख्या - कबीर दास जी वर्णित कर कहते हैं कि हे मनुष्य (मानव) तू अपनी अन्तर्आत्मा में ध्वनित उत्कृष्ट वीणा को बजने दे, उसी के ध्वनित की धुन को निरन्तर सुन। तू कलिपुक के निकृष्ट वाद्य को मत छेड़। तूझे दूसरे अन्य लोगों से क्या लेना-देना वे कुछ भी कहते रहें। तू केवल अपनी सम्हालते हुए, अपने भविष्य के बारे में सोच। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भी इस सन्दर्भ में वर्णित किया है कि 'यह शरीर यन्त्र है और बजाने वाले के अधीन है, वह जैसा चाहेगा वैसे बजायेगा।'

कबीरदास जी वर्णित कर कहते है कि मैं विदेश में इधर-उधर भटकता फिरा, गाँव-गाँव की गली में भी भटकता फिरा परन्तु मुझे ऐसा कोई सहृदय मनुष्य नहीं मिला जो मेरे मन के ज्ञान, दूर्भावनात्मक भावों को धोकर स्वच्छ कर दे अर्थात् उसमें अज्ञान के प्रकाश पु जकों प्रज्वलित कर दे।

विशेष -1. दोहा छन्द की सारगर्भित सार्थकता है।

2. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।

3. प्रतीकात्मक शब्दावली में आध्यात्मिक प्रेम, आत्मा-परमात्मा के सूक्ष्म सुन्दर सरल चित्रण की प्रस्तुति है।

4. प्रसाद गुण का समावेश है।

5. आकर्षक अभिव्यक्ति है।

(ख) पद

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठे जहँ समुझि परै सब ध्यान धरै।
बिना ताल जहाँ कँवल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चन्दा उँजियारी दस्सै जहँ-तँह हंसा नजर परै।
दसवें द्वारे तारी लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नही आवै , काम क्रोध मद लोभ जरै।
जुगन जुगन की त षा बुझानी, कर्म-भर्म-अथ व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहुँ न मरै।

शब्दार्थ :- गगन-गुफा = कपाल कुहर, मस्तिष्क के भीतर एक छिद्र। अजर = नित्य, नवीन, जो कभी बूढ़ा न हो। हंसा = शुद्ध-जीवात्मा। दसवें-द्वार = सहस्त्रनार के नीचे कपाल कुहर से लेकर तालु तक विस्त त बंकनाल (वक्रनाल)। जिससे सोमरस टपकता है। ताड़ी = ध्यान, समाधि। उजियारी = प्रकाश। अलख = अलक्ष्य। भिषा = घास, विषय-वासना। अर्थ = घन की कामना। व्याधि = शारीरिक रोग।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। उक्त पद में संत शिरोमणि कबीर दास जी ने परमपद को स्पष्ट करते हुए अजपाजाप व ध्यान योग द्वारा कुण्डालिनी को सहस्त्रसार में पहुँचाने का मार्मिक चित्रण किया है। कबीरदास जी भक्तियुगीन संत काव्य परम्परा के प्रतिनिधि कवि हैं रूढ़िवादिता, वाह्याडम्बर, खण्डन-मण्डन असत्य अनाचार के प्रति कवि के हृदय में सच्ची क्रान्तियुक्त भावनायें व्याप्त थी।

व्याख्या - कबीरदास जी वर्णित कर कहते हैं कि पिण्ड के सर्वोच्च स्थान अर्थात् कपालकुहर में स्थित सहस्त्रसार से एक नित्य नवीन जीवन का श्रवण होता है। जब साधक ध्यान केन्द्रित करता है तब उसे बोध होता है कि वहाँ बिना किसी वाद्ययन्त्र के अनहद नाद अर्थात ध्वनि तरंग उत्पन्न होती रहती है। वहाँ पर बिना किसी सरोवर (तालाब) के कमल पुष्प प्रफुल्लित दिखाई देते हैं। जिन पर चढ़कर जीवात्मा रूपी हंस क्रीड़ा करता है वहाँ पर बिना चन्द्रमा के प्रकाश पुं ज प्रत्यक्ष रूप से जीवात्मा के चारों ओर प्रकाश मय ज्योति बिखेर देता है। दसवाँ द्वार, गगन गुफा का वह छिद्र जिससे महारस टपकता है, वहाँ पर समाधि, ध्यान लगाने से अलौकिक पुरूष को द ष्टिगत होने पर योगी योग साधना में लीन हो जाते हैं। उस अलख पुरूष के दर्शन के पश्चात् महाभयानक विशालकाय काल मनुष्य की निकटता से दूर हो सांसारिक आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, अहं आदि विकारों से मुक्त उस अलख पुरूष के दर्शनार्थ मनुष्य के आन्तिरिक मन में युगों-युगों से व्याप्त विषय-वासनात्मक प्यास बुझ जाती है। कबीर दास जी साधु-सन्तों को सम्बोधित करते हुए वर्णित कर कहते हैं कि हे सन्तो सुनों, जिस साधक ने उस अलख पुरूष के दर्शनोपरान्त परम् पद् प्राप्त किया वह म त्यु से अमरत्व

को प्राप्त हो गया।

विशेष -1. उक्त पद में कवि ने योग-साधना के द्वारा अमरत्व प्राप्ति का भावनात्मक चित्रण प्रस्तुत किया है।
2. भाषा सधुक्कड़ी सारगर्भित है।
3. अविधा लक्षणा शब्द शक्तियों का प्रयोग है।
4. ''बिना बाजा----------परै'' में उलटवासी है।
5. प्रसाद गुण का समावेश है।
6. पद में गेयता है।
7. 'बिना बाज' 'दसवें द्वारे' 'काल कराल' आदि में अनुप्रास अलंकार है।
8. 'जुगन-जुगन' में पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार है।

रहना नहीं देस बिराना है,
यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े धुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी उलझ-पुलझ मरि जाना है।
यह संसार झाड़ और झाँखर, आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सूनो भाई साधो, सतगुरू नाम ठिकाना है ॥130॥

शब्दार्थ -देश = देश यहाँ पर संसार से अभिप्रायः है। बिराना = पराया। कागद = कागज। काँट की बाड़ी = काँटों से भरा बाग। उलझ-पुलझ = बुरी तरह से उलझकर। मरि जाना = मर जाना। झाड़ और झाँखर = कटीले पेड़ और कटीली झाड़ियाँ। बरिजाना = जल जाना। सतगुरू = सद्गुरू। ठिकाना = आश्रय।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है इस पद में संत शिरोमणि कवि कबीर दास जी ने संसार की नश्वरता आश्रयता का संकेत गुरू की महिमा मण्डित महत्वा की दार्शनिकता की प्रस्तुति है।

व्याख्या - कबीरदास जी मनुष्य को सचेत करते हुए कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम्हें इस देश अर्थात् संसार में सदैव नहीं रहना है क्योंकि यह तो पराया है कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को म त्योपरान्त इस जग (संसार) को त्यागना पड़ता है। यह सम्पूर्ण संसार तो कागज की पुड़िया के समान है इस पर जब भी म त्यु रूपी बूँद पड़ती है तो यह नष्ट हो जाता है। यह सम्पूर्ण संसार (जग) दुःख, कष्ट, पाप, रोग माया आदि काँटों से युक्त भरे बाग के समान है। मनुष्य इन काँटों में पूर्णतया उलझ कर म त्यु को प्राप्त होता है। परन्तु वह इनसे मुक्त नहीं हो सकता। यह सम्पूर्ण जगत (संसार) सूखे पेड़ व कटीली झाड़ियों युक्त वन के समान है जो आग लगते ही जल कर नष्ट हो जाता है। अतः कबीरदास जी कहते हैं कि हे संत मुनि! सुनों, यदि तुम संसार में माया, कष्ट आदि काँटों में उलझे बिना और कागज की पुड़िया के समान गले बिना ही रहना चाहते हो तो तुम्हें सद्गुरू भक्ति का सहारा लेना चाहिए। वे ही तुम्हें सही पथ प्रदर्शक प्रदान करेगें।

विशेष 1. कबीरदास जी ने संसार को नश्वर व निस्सार मान कर गुरू की महत्ता को अभिव्यक्त किया है।
2. भाषा सरल सहज प्रवाहमयी है।
3. अविधा, लक्षण शब्द शक्ति का सुन्दर समन्वय है।
4. प्रसाद गुण का समावेश है।

5. पद में सुन्दर गेयता है।
6. 'कहत कबीर' 'साधो सतगुरू' में अनुप्रास अलंकार है।
7. दूसरी, तीसरी, चौथी पक्तियों में 'रूपक अलंकार' है।

मया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँसि लिए करडोले, बोलै मधुरी बानी।।
केशव के कमला होई बैठी, सिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरत होय बैठी, तीरथ हूँ मैं पानी।।
जोगी के जोगिन होई बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कौड़ी कानी।।
भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो भई साधो, यह सब अकथ कहानीं ॥134॥

शब्दार्थ - तिरगुण = सत्व, रजस व तमस तीन गुण। फाँसी = फंदा। कर = हाथ। केशव = विष्णु। कमला = लक्ष्मी। हीरा = रूपवती स्त्री।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्‌ध त है। उक्त पद में संत शिरोमणि कवि 'कबीरदास' जी ने माया की सर्वव्यापकता का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है।

व्याख्या - कबीरदास जी वर्णित कर कहते हैं कि मैं तो यह जान गया हूँ कि माया तो एक महाठगिनी है वह अपने हाथों में सतोगुण, रजोगुण व तमों गुण का फंदा लिए फिरती है। अपनी मीठी वाणी से सभी को अपने फंदे में फँसा लेती है। यह माया भगवान विष्णु के साथ लक्ष्मी के रूप में और भगवान शिव के साथ भवानी अथवा पार्वती का रूप धारण कर बैठी हुई हैं। पण्डा के लिए मन्दिर में मूर्तिवान है वहीं धर्मांध लोगों के लिए तीर्थ-स्थलों में पवित्र-जल के रूप में विद्यमान हैं। योगिराज के साथ यागिनी और राजा के साथ रानी के रूप में उपस्थित हैं। किसी के ग ह (घर) में रूपवती स्त्री या पत्नी के रूप में विराजमान हैं तो किसी के ग ह (घर) में कोढ़ी, कानी का रूप धारण किए हुए है। भक्त के घर में वह भक्तिनी के रूप में विद्यमान है तो वहीं ब्रह्मा के साथ ब्रह्माणी के रूप में सुशोभित हैं। कबीर दास जी कहते हैं कि हे संतमुनि! सुनो, यह माया सर्व व्यापक है अतः इसकी गाथा का बखान जितना भी किया जाए कम है।

विशेष -1. कवि ने माया के विविध रूपों की रोचकता की अभिव्यक्ति की है।
2. अभिधा शब्द शक्ति का सुन्दर समन्वय है।
3. प्रसाद गुण का समावेश है।
4. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।
5. पद में सरस गेयता है।
6. 'माया महाठगिनी' 'भवानी भवानी' 'हीरा होई' कौड़ी-कानी' आदि में अनुप्रास अलंकार की अनुपम प्रस्तुति है।

बहुरि नहिं आवना या देस।
जो जो गये बहरि नहिं आये, पठवत नहिं संदेश।
सुर-नर-मुनि औ पीर औलिया देवी-देव-गने

धरि-धरि जनम सबै भरमे हैं, ब्रह्मा-विस्नु-महेस।
जोगी जंगम और सन्यासी, दीगम्बर दरबेस।
चुंडित-मुंडित-पंडित लोई, सुर्ग-रसातल सेस।
ग्यानी गुनी चतुर और कविना, राजा-रंक-नरेस।
कोई रहीम कोई राम बखावै, कोई कहै आदेस।
नाना भेष बनाय सबै मिलि, ढूँढ़ि फिरे चहुँ देस।
कहैं कबीर अंत ना पैहौं, बिन सतगुरू उपदेस ॥137॥

शब्दार्थ - बहुरि = पुनः, फिर। पठवत = भेजना। जंगम = घुमक्कड़। दिगंबर = निर्वस्त्र रहने वाले। दरबेस = फकीर, साधु। चुंडित = चुटिया वाला। मुंडित = मुंडे हुए सिर वाला। सुर्ग = स्वर्ग। रसातल = पाताल। नरेश = राजा। आदेश = गोरखपंथी अपने नियमों को आदेश कहते हैं। पैहौं = मिलता।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। उक्त पद में संत शिरोमणि कवि ने समस्त धार्मिक मूल तत्वों का सांकेतिक विवेचन, गुरू की महत्वाकांक्षा, सिद्धगत मार्मिक चित्रण की प्रस्तुति है।

व्याख्या -कबीरदास जी वर्णित कर कहते हैं कि अब इस जगत् (संसार) में पुनः नहीं आना है। इस संसार से जितने भी मनुष्य गये हैं वे पुनः इस जगत् (संसार) में वापस नहीं आये और न हीं उन्होंने अपना कोई सन्देश भिजवाया है। देवता, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि इस सांसारिक शरीर को धारण कर भ्रमित हो ज्ञान की खोज में भटकते रहे हैं। योगी, घुमक्कड़, साधु-सन्यासी, निर्वस्त्र फकीर, साधु, चोटी धारण करने वाले, सिर को मुँडाए रखने वाले, पंण्डित से लेकर स्वर्ग व पाताल में रहने वाले सभी ज्ञानी, गुणवान, चतुर, काव्य-प्रतिभा से युक्त व्यक्ति, अमीर-गरीब, राजा-रंक आदि सभी उस परमात्मा को कोई तो राम कहकर पुकारता है तो कोई उसे रहीम कहता है तो कोई उसे ईश्वरीय आदेश कहता है। संसार में ये सभी लोग अपने-अपने मतानुसार विभिन्न वेश धारण कर उस अजर-अमर परमात्मा को खोजते हुए चारों ओर इधर-उधर भटकते हैं। परन्तु उन्हें परमात्मा नहीं दिखाई देता। कबीर दास जी कहते हैं कि जब तक मनुष्य सद्गुरू के उपदेश को ग्रहण नहीं करता तब तक उसके द्वारा परमात्मा के लिए की जाने वाली खोज समाप्त नहीं होगी। अर्थात् गुरू के उपदेश से ही व्यक्ति परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है।

विशेष 1. कवि ने विभिन्न धर्मों के अनुयायियों को परमात्मा की प्राप्ति के लिए सद्गुरू की शरण में जाने का आह्वान किया है।
2. अविधा व लक्षण शब्द शक्ति का प्रयोग है।
3. प्रसाद गुण का समावेश है।
4. भाषा सरल सहज प्रवाहमयी है।
5. पद में सुन्दर गेयता है।
6. 'जो-जो' 'धरि-धरि' में पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार है।
7. 'जोगी-जंगम' 'राजा-रंक' 'देवी-देव' आदि में अनुप्रास अलंकार की सुन्दर चित्रण की प्रस्तुति है।

मन बनियाँ बनिज न छोड़ै।
जनम-जनम का मारा बनियाँ अजहूँ पूर न तौले।

पासँग के अधिकारी लैले, भूला भूला डोलै।
घर में दुविधा कुमति बनी है, पल-पल में चित तोरै।
कुनबा वाके सकल हरामी, अम त में विष घोलै।
तुमही जल में तुमही थल में, तुमी घटघट बोलै।
कहै कबीर या वा सिष को डरिये, हिरदै गाँठि ने खोलै॥153॥

शब्दार्थ - मन बनियाँ = मन रूपी बनिया। बनिज = व्यापार। अजहूँ = अभी भी। पूर = पूरा। पासँग = खाली तराजू के दोनों पलड़ों को बराबर करने के लिए किसी एक पलड़े पर रखा गया अतिरिक्त बोझ। कुनबा = परिवार।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्‌ध त है। उक्त पद में संत शिरोमणि कवि ने मन रूपी बनिये के विविध क्रिया-कलापों का सुन्दर मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है।

व्याख्या - कबीरदास जी के कथनानुसार यह मन रूपी बनिया किसी भी तरह व्यापार करना नहीं छोड़ता अर्थात् वह हमेशा सुखःदुःख, हानि-लाभ, मोह-माया आदि में लीन रहता है। यद्यपि यह मन रूपी बनिया, जन्म-जन्मान्तर से इस संसार के दुःखों को सहता आ रहा है परन्तु अभी भी वह अपनी तराजू पर पूरा तौल नहीं तौलता है अर्थात् वह परम पिता परमेश्वर (ईश्वर) के प्रति अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाता है। वह अपने-परायें भावना युक्त तराजू के दोनों पलड़ों को बराबर करने के लिए बार-बार उसके पासंग में डालने के लिए भूला-भूला सा घूमता है। अर्थात् वह पाप-पुण्य के चक्र में फँसा रहता है उस मन रूपी बनिये के घर में कुमति अर्थात् बुरे विचार बने रहते हैं जो पल-पल में उसे चंचल बना देते हैं। उस मन रूपी बनिये का सम्पूर्ण परिवार दुष्ट प्रव ति का है और वह सदैव अम त में विष (जहर) घोलते रहते हैं। अर्थात् सद्‌गुण को दुर्गुण में बदलते रहते हैं। वह बनिया बार-बार कहता है कि तुम्ही जल, थल व आकाश में। कबीर दास जी कहते हैं कि यदि कोई उस मन रूपी बनिया को अपना शीश भी काट कर चढ़ा दे तो भी वह अपना मनोभाव को नहीं व्यक्त करेगा।

विशेष -1. कबीर दास जी ने बनिये के क्रिया व्यापार के माध्यम से मनोदशा का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है।
2. लक्षणा, व्यंजन शब्द शक्ति का सुन्दर समन्वय है।
3. 'हृदय की गाँठ न खोलना' मुहावरे का सार्थक प्रयोग हुआ है।
4. प्रसाद गुण का समावेश है।
5. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।
6. सुन्दर गेयता है।
7. 'जनम-जनम' 'भूला-भूला' 'पल-पल' में पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार है।
8. 'मन बनियाँ' में रूपक अलंकार है।
9. 'बनिया बनिज' 'कहै कबीर' में अनुप्रास अलंकार है।

लोका मति के भोरा रे
जो कासी तन तजे कबीरा तौ रामहि कहा निहोरा रे।
तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा रे।
राम भगत परि जाकौ हित चित ताकौ अचिरज काहा रे।
गुरू परसाद साध की संगति, जग जीतें जाइ जुलाहा रे।

कहै कबीर सुनहु रे संतो, भ्रमि परै जिनि कोई रे।
जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै राम सति सोई रे ॥160॥

शब्दार्थ - निहोरा = कृपा। ऊसर = बंजर। लाहा = लाभ।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन संत-काव्य परम्परा के प्रतिनिधि कवि हैं। काव्यगत पंक्तियाँ दार्शनिक चिन्तन युक्त हैं लेकिन संत कबीर कोरे दार्शनिक ही नहीं अपितु भाव सम्पन्न कवि भी हैं। रूढ़वादिता, खण्डन-मण्डन, बाह्याडम्बर, असत्य अनाचार आदि के प्रति कवि के हृदय में सच्ची क्रान्तियुक्त भावनायें व्याप्त थीं। सविश्वास, शास्त्रानुसार रूढ़िवादिता के मायाजाल को पूर्णतयः छिन्न-भिन्न करते हुए तत्युगीन परिस्थितियों के अनुकूल समाज का पथ प्रदर्शन किया है।

व्याख्या - कबीर दास जी के कथनानुसार लोग तो बुद्धि के भोले हैं अगर कबीर काशी में शरीर छोड़ दें तो इसमें प्रभु राम की कौन सी कृपा होगी। काशी में तो मरकर सभी मुक्त होते हैं। कबीर को तो मर्यादापुरूषोत्तम भगवान श्री राम की कृपा चाहिए। हम तो जैसे थे वैसे ही हैं। यहीं जन्म लेने का लाभ है। जो राम भक्ति में मन लगायें हैं उनके लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। गुरू की कृपा और साधु की संगति से संसार को जीत कर जुलाहा कबीर जा रहा है। संत कबीर कहते हैं कि किसी को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि काशी में मोक्ष मिलता है और मगहर में नहीं मिलता। सच्ची बात यही है कि जिनके मन में राम का निवास है, उनके लिए तो काशी और ऊसर मगहर दोनों एक जैसे हैं।

विशेष -1. काशी और मगहर में म त्यु के सन्दर्भ में लोक प्रचलित विश्वास का खण्डन कर कबीर निर्गुण राम की महत्ता प्रतिपादित करते हैं।
2. सहज सरल लोक भाषा लोक रूढ़ि का खण्ड है इसमें सहज तर्क शक्ति स्पष्ट अंकित है।
3. लक्षणा व्यंजना शब्द शक्ति का सुन्दर समन्वय है।
4. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।
5. प्रसाद गुण का समावेश है।
6. सुन्दर गेयता है।

मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होई रे
मैं कहता आखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यौ उरझाई रे।
मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे।
मैं कहता निर्मोही रहियो, तू जाता है मोही रे।
जुगत जगत् समुझावत हारा, कही न मानत कोई रे।
तू तो रंडी फिरै बिहंडी, सब धन डारे खाई रे।
सतगुरू धारा निर्मल बाहै, वामै काया धोई रे।
कहत कबीर सूनो भाइ साधो तब ही वैसा होई रे ॥163॥

शब्दार्थ - बिहंडी = विखण्डित। निर्मोही = मोह रहित।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा संपादित 'कबीर

वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन संत-काव्य परम्परा के प्रतिनिधि कवि हैं। काव्यगत पंक्तियाँ दार्शनिक चिन्तन युक्त हैं लेकिन संत कबीर कोरे दार्शनिक ही नहीं अपितु भाव सम्पन्न कवि भी हैं। रूढ़वादिता, खण्डन-मण्डन, बाह्याडम्बर, असत्य, अनाचार आदि के प्रति कवि के हृदय में सच्ची क्रान्तियुक्त भावनायें व्याप्त थीं। सविश्वास, शास्त्रानुसार, रूढिवादिता के मायाजाल को पूर्णतयः छिन्न-भिन्न करते हुए तत्युगीन परिस्थितियों के अनुकूल समाज का पथ प्रदर्शन किया है।

व्याख्या - कबीरदास जी शास्त्रगत समाज को बहकाने वाले अज्ञानी साधु-संतो को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तुम्हारा और मेरा मन संयुक्त रूप से कैसे एक हो सकता है? परमात्मा को आत्मा से मिलाने का रास्ता भिन्न-भिन्न है तुम शास्त्रों में बताये हुए मार्ग पर चलने की बात कहते हो मैं जो कहता हूँ वह साफ तौर पर सुलझाने वाली (तर्क संगत) है। मेरी बातें मोह माया से जगाने वाली हैं और तुम साक्षात् सत्य से आँखें मूँदे रहते हो परिणामतः इस जगत (संसार) को भी सुलाएं रहते हो। मैं संसार को ईश्वरीय भक्ति का सहज-सरल उपाय समझाते हुए हार गया हूँ, लेकिन कोई मानता ही नहीं। तुम्हारा विभिन्न मार्गो पर भटकना, इधर-उधर भटकती वेश्या की तरह है जो सबका धन समाप्त करती है परन्तु किसी एक के प्रति आस्था पूर्वक समर्पित नहीं होती। सद्गुरू द्वारा दिया गया आध्यात्मिक संदेश तो उस निर्मल धारा की तरह है जो तन-मन को पवित्र कर देता है। संत कबीर कहते हैं कि हे साधु जन! सुनो, तभी आत्मा उस परमात्मा जैसी हो सकती है जो मेरे सहज भक्तिगत मार्ग का अनुसरण करेगा।

विशेष 1. शास्त्रों के पाखण्ड का खण्डन है।
2. सहज मार्ग का प्रतिपादन है।
3. प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा में भक्ति संदेश सुबोधगम्य है।
4. लक्षणा व्यंजना शब्द शक्ति का सुन्दर समन्वय है।
5. सरस गेयता है।
6. 'तू तो रंडी' में 'रूपक अलंकार' है।
7. 'सद्गुरू की निर्मल विचारधारा' में रूपक अलंकार है।

साधो देखो जग बौराना
साची कहौ तो मारन धावे झूठे जग पतियाना
हिन्दू कहत हैं राम हमारा मुसलमान रहमाना
आपस मैं दोऊ लड़े मरतु है, मरम कोई नहीं जाना।
बहुत मिले मोहि नेमी धर्मी प्रात करैं असनाना।
आतम छाड़ि पषाने पूजैं तिनका थोथा ज्ञाना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना।
पीपर पत्थर पूजन लागे तीरथ बर्त भुलाना।
माला पहिरे टोपी पहिरे छाप तिलक अनुमाना।
साखी सब्दै गावत भूले, आतम खबर न जाना ॥168॥

शब्दार्थ - बौराना = पागल हो गया। पतियाना = विश्वास करना। मरम = रहस्य या भेद। असनाना = नहाना। पाषानै= पत्थर। डिंभ धरि बैठे = दंभ करके बैठे हैं। गुमाना = अभिमान।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'कबीर वाणी' से उद्ध त है। कबीरदास जी भक्ति युगीन संत-काव्य परम्परा के प्रतिनिधि कवि हैं। काव्यागत

पंक्तियाँ दार्शनिक चिन्तन युक्त हैं। संत कबीर कोरे दार्शनिक ही नहीं अपितु भाव सम्पन्न कवि भी हैं। रूढ़िवादिता, खण्डन-मण्डन, बाह्याडम्बर, असत्य, अनाचार आदि के प्रति कवि के हृदय में सच्ची क्रान्तियुक्त भावनायें व्याप्त थीं। सविश्वास, शास्त्रानुसार रूढ़िवादिता के मायाजाल को पूर्णतयः छिन्न-भिन्न करते हुए तत्युगीन परिस्थितियों के अनुकूल समाज का पथ प्रदर्शक बने। धर्म के बाह्य विधि-विधान में उलझे धार्मिकों को धर्म का मर्म समझाने का प्रयास किया है।

व्याख्या - कबीरदास जी साधु-संतों को दिशा निर्देश देते हुए कहते हैं कि यह संसार दिग्भ्रमित है। धर्म और ईश्वरीय झूठी बातों पर विश्वास तो कर लेता है परन्तु वास्तविकता से परिचित कराने पर मारने का दौड़ता है। हिन्दू धर्म अनुयायी कहते हैं कि हमारा ईश्वर राम है, मुसलमान लोग तो कहते हैं कि रहमान ही हमारा खुदा है। वे दोनो धर्मों के लोग धर्म का असली तत्व तो जानते ही नहीं और बाहरी विधि-विधान पर आपस में लड़ते-मरते रहते हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि मैंने तो बहुत से लोग देखे हैं जो प्रातः स्नान करने को ही धर्म का नियम मान बैठे हैं। पत्थर की जड़ मूर्ति की पूजा करना, शास्त्रों का कोरा ज्ञान बघारना तो वे जानते हैं लेकिन जीवित आत्मा तत्व की वे उपेक्षा करते हैं। अपने-अपने मन में धर्म का घमण्ड करके ऊँचे-ऊँचे आसनों पर बैठे हुए हैं उनके मन में अभिमान की अधिकता है। वे जड़ पत्थर और पीपल व क्ष की पूजा करते हैं। तीर्थों में स्नान करने को धर्म मान बैठे हैं। व्रत करने में अपने आप को भुलाये बैठे हैं। माला धारण, टोपी पहनना, रंगीन छपा वस्त्र पहनना और तिलक लगा लेने को ही वे धर्म समझ बैठे हैं। साखी या शब्दों का ज्ञान करने में धर्म के वास्तविक रहस्य को भूल बैठे हैं। धर्म के बाहरी स्वरूप में उलझे हुए ये लोग आत्म तत्व की खोज खबर से दूर हैं। न यह सच्चा ईश्वर है और न ही सच्ची भक्ति।

विशेष -1. अन्धविश्वासों का खण्डन किया गया है।
2. लक्षणा, व्यंजना, शब्द शक्तियों का सुन्दर समन्वय है।
3. प्रसाद गुण का समावेश है।
4. भाषा सहज, सरल प्रवाहमयी है।
5. सरस गेयता है।
6. 'पीपर-पत्थर पूजन' में 'अनुप्रास अंलकार' का प्रयोग है।
7. 'घर-घर' में पुनरूक्ति अलंकार है।

हमरी ननँद निगोड़िन जागे
कुमति लकुटिया निसिदिन व्यापै, सुमति देखि नहिं भावै।
निसिदिन लेत नाम साहब को, रहत रहत रंग लागै।
निसिदिन खेलत रही सखियन संग, मोहि बड़ो डर लागै।
मोरे साहब की ऊँची अटरिया, चढ़त में जियरा काँपे।
जो सुख चहे तो लज्जा त्यागै, पिय से हिल मिल लागै।
घूँघट खोल अंग भर भेटै, नैन आरती साजै।
कहै कबीर सुनो भई साधो चतुर होय सो जानै।
निज प्रीतम की आस नहीं है, नाहक काजर पारै ॥184॥

शब्दार्थ - ननँद = माया की प्रतीक। निगोड़िन = निकम्मी। अटरिया = अट्टालिका। काजर = काजल।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के द्वारा संपादित

'कबीर-वाणी' से उद्‌ध त है। कबीर दास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानमार्गी शाखा के प्रतिनिधि संत शिरोमणि कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्यगत पंक्तियाँ दार्शनिकता व चिन्तनशीलता से प्रयुक्त हैं। वे दार्शनिक ही नहीं अपितु भाव भक्ति युक्त कवि भी हैं। उनकी कविता भावनात्मक, साधनात्मक, रहस्यवाद से युक्त हैं। निर्गुण ब्रह्म आत्मा-परमात्मा के प्रेम को व्यक्त करने के लिए उन्होंने पति-पत्नी के प्रेम प्रतीकों का आश्रय लिया है। उन्होंने अपनी भक्ति भावना को कांताभाव से अभिव्यक्त किया है। निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप के प्रेम को प्रकट करने के लिए उन्होनें परमात्मा को अपना पति और स्वयं को उनकी पत्नी कहा है। उक्त पद में उन्होनें प्रिय मिलन में बाधक तत्वों का मार्मिक चित्रण किया है।

व्याख्या - कबीरदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार पति-पत्नी के प्रेम व्यापार में निकम्मी ननद जागकर बाधक बनी रहती है, इसी प्रकार माया-आत्मा परमात्मा के प्रेम में बाधक बनी हुई अज्ञानता की लकड़ी दिखाकर डराती रहती है। सुमति तो उसे फूटी आँख नहीं सुहाती। मैं तो दिन रात अपने प्रियतम् प्रभु का नाम स्मरण करती हुई उसी के प्रेम में डूबी रहती हूँ। तब धीरे-धीरे बहुत समय पश्चात् कहीं जाकर मन पर उनके प्रेम का रंग चढ़ने लगता है। पहले तो मैं रात-दिन सखियों के साथ खेलती रही अर्थात् पहले तो साधक इन्द्रिय सुखों के आकर्षण में फँसा रहता है तत्पश्चात् परमात्मा के पास जाते हुए भयभीत होता है। अर्थात् आध्यात्मिक साधना की उच्च अवस्था में पहुँचते हुए साधक डरता है। लज्जा भी कदम आगे बढ़ाने से रोकती है परन्तु प्रिय मिलन का सच्चा आनन्द पाने के लिए जिस प्रकार लज्जा, संकोच आदि छोड़ना पड़ता है, इसी प्रकार परमात्मा के मिलन का आध्यात्मिक आनन्द पाने के लिए मोह-माया और सांसारिक बन्धनों को छोड़ना ही पड़ता है। जिस प्रकार दुल्हन को घूँघट का परदा हटा कर प्रिय से आलिंगन करना पड़ता है, तभी पत्नी की आँखों में प्रियतम् के लिए प्रेम के दीप जलते रहते हैं। कबीर दास जी कहते हैं कि हे साधु! सुनो, परमात्मा के इस प्रेम को वही अनुभव कर सकता है जो स्वयं ज्ञानवान हो, जैसे चतुर नारी अपने प्रिय के प्रेम को जान सकती है जिस पत्नी को अपने पति से प्रेम पाने की आशा नहीं है, उसका काजल लगाना आदि अन्य श्रंगार व्यर्थ हैं।

विशेष -1. भावनात्मक रहस्यवाद का सुन्दर समन्वय है।
2. ननँद, सखी, घूँघट आदि प्रतीकात्मक पदावली से रहस्यवाद व प्रेम भक्ति की सुन्दर अभिव्यंजना है।
3. लक्षणा, व्यंजना शब्द शक्तियों का सुन्दर समन्वय है।
4. प्रसाद गुण का समावेश है।
5. भाषा सहज सरल प्रवाहमयी है।
6. सुन्दर गेयता है।

''वै दिन कब आवेंगे माई।
जा कारनि हम देह धरी हैं मिलिबो अंग लगाई।
हौं जाँनू जे हिलि मिलि खेलूँ, तन-मन प्रान समाई।
या कामना करौं परि पूरन, समरथ हौं रामराई।
माहि उदासी माधौ चाहै चितवन रैनि बिहाई।
सेज हमारी स्यंघ भई हैं जब सोऊँ तब खाई।
यहू अरदास की सूनिये, तन की तपन बुझाई।
कहै कबीर मिलै जे साईं, मिलिकर मंगल गाई।''॥192॥

शब्दार्थ -स्यंघ = सिंह। अरदास = प्रार्थना। बिहा = बीत गई।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद्य अवतरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के द्वारा संपादित 'कबीर-वाणी' से उद्‌ध त है। कबीर दास जी भक्ति युगीन निर्गुण ज्ञानमार्गी शाखा के प्रतिनिधि संत शिरोमणि कवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्यगत पंक्तियाँ दार्शनिकता व चिन्तनशीलता से प्रयुक्त हैं। वे दार्शनिक ही नहीं अपितु भाव भक्ति युक्त कवि भी हैं। उनकी कविता भावनात्मक, साधनात्मक, रहस्यवाद से युक्त हैं। निर्गुण ब्रह्म आत्मा-परमात्मा के प्रेमाभाव को व्यक्त करने के लिए उन्होंने पति-पत्नी के प्रेम प्रतीकों का आश्रय लिया है। उन्होंने अपनी भक्ति भावना को कांताभाव से अभिव्यंजित किया है। निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप के प्रेम को प्रकट करने के लिए उन्होंने परमात्मा को अपना पति और स्वयं को उनकी पत्नी कहा है।

व्याख्या - जिस प्रकार कन्या अपनी माँ से पूछती है वे दिन कब आयेगें जब मैं अपने प्रियतम के घर जाऊँगी। जिस प्रियतम् से मिलने के लिए मैंने देह धारण किया है, उससे कब मिलूँगी इसी प्रकार जीवात्मा अपने सद्‌गुरू से पूँछती है कि जिस परमात्मा से मिलने के लिए मैंने शरीर धारण किया है उससे मेरा मिलन कब होगा? यदि यह मैं जान लूँ तो मैं उससे हिल-मिल कर खेलूँ और उसे तन-मन प्राण में समा लूँ। हे राजा राम! तुम तो समर्थ हो। मेरी यह मनोकामना पूर्ण कर दो। हे माधव! तुम मेरी ओर से उदास न हों। प्रिय की प्रतीक्षा में ही रात्रि व्यतीत हो जाती है सेज तो जैसे सिंह हो गयी है पास जाते ही खाने को दौड़ती है। हे परमात्मा! इस दास की मनोदशा विनयवत सुनते हुए शरीर की विराहाग्नि को शान्त कीजिए। कबीर दास जी कहते हैं कि यदि स्वामी की प्राप्ति हो जाये तो मंगल गीत गाओ।

विशेष -1. आत्मा-परमात्मा के विरह मिलन व प्रतीकात्मक शब्दावली का सुन्दर समन्वय है।
2. प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा में काव्य सौन्दर्य का समावेश है।
3. भाषा सहज, सरल प्रवाहमयी है।
4. लक्षणा, व्यंजना, शाब्दिक शक्तियों का सुन्दर समन्वय है।
5. सरस गेयता है।
6. 'सेज-स्यंघ' में रूपक अलंकार है।

नैहर में दाग लगाय आई चुनरी
ऊ रंगरेजवा कै मरम न जानै।
नहीं मिले धोबिया कौन करै ऊजरी।
तन कैं कूंडी ज्ञान के सौंटन
साबुन महंग बिकाय या नगरी।
पहिरि ओढ़के चली ससुरिया।
गौंवाँ के लोग कहैं बड़ी फुहरी ॥207॥

शब्दार्थ :- नैहर - संसार। धोबी - प्रतीकार्थ-गुरू। सौंटन - सोटा। ससुरिया - ससुराल। फुहरी - फूहड़। रंगरेजवा -प्रतीकार्थ परमात्मा।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया है। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानामार्गी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन और गंभीर चिंतन दर्शन युक्त है। वे कोरे दार्शनिक नहीं, भावुक भक्त कवि भी हैं। उनकी कविता में भावनात्मक रहस्यवाद के माध्यम से साधनात्मक रहस्यवाद अभिव्यंजित हुआ है। कबीर ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को अभिव्यंजित करने के लिए और उनके प्रेम को

प्रतिपादित करने के लिए अनेक रूपकों का आश्रय लिया है। उनकी कविता में निर्गुण ब्रह्म प्राप्ति के लिए भी मार्ग का प्रतिपादन किया है। आत्मा और परमात्मा के प्रेमभाव को अभिव्यंजित करने के लिए उन्होंने पति-पत्नी के संयोग-वियोग व श्रंगार का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। उनका भक्तिभाव कांताभाव भी है और आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति का साधना मार्ग भी। इस मार्ग का सच्चा और सही मार्गदर्शक सद्गुरु है और उनकी महिमा का बखान भी कबीर का उद्देश्य है।

व्याख्या - कबीर कहते हैं कि परमात्मा ने मनुष्य को शुद्ध आत्मा के रूप में सुन्दर चुनरी दी थी लेकिन मनुष्य ने उस पर इस संसार में आकर माया के दाग लगा लिये। परमात्मा रंगरेज की तरह हैं जिसके रहस्य को न जानकर मनुष्य ने अपना चरित्र अपवित्र कर लिया। जिस प्रकार कोई धोबी मैली चुनरी को धोकर साफ कर देता है वैसे ही सद्गुरू मनुष्य के मन से विषय वासनाओं को मैल निकालकर इसे शुद्ध कर देता है। जैसे साबुन लगाकर कुण्डी में सोटे से पीटकर वस्त्र को साफ किया जाता है वैसे तन-मन को ज्ञान और भक्ति से पवित्र किया जा सकता है। जो दुल्हिन मैली चुनरी ओढ़कर ससुराल जायेगी उसे गाँव के लोग तो फूहड़ ही कहेंगे। इसी प्रकार अज्ञान से अपवित्र हुई आत्मा को भक्ति के क्षेत्र में साधु समाज मूर्ख ही कहेगा। जिस प्रकार धोबी चुनरी को शुद्ध करता है, इसी प्रकार आत्मा को विषय-वासनाओं के मैल से मुक्त कराने वाला गुरु ही है, उसके बिना भक्तिमार्ग में आत्मा का उद्धार संभव नहीं है।

काव्य-सौन्दर्य -1. भक्तिमार्ग में गुरु की महत्ता का प्रतिपादन प्रसाद गुण युक्त भाषा में किया गया है।
2. प्रतीकात्मक पदावली में प्रेमभक्ति का सूक्ष्म चित्रण किया गया है।
3. रूपक अलंकार का सौन्दर्य सराहनीय है।
4. सरल एवं प्रवाहमयी भाषा का प्रयोग।
5. सुन्दर बिम्ब-विधान।
6. सरस गेयता।
7. ध्वन्यात्मकता।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. श्रेष्ठ अभिव्यक्ति।

अपनपौ आप ही बिसरो
जैसे सोनहा काँच मंदिर मैं भरमत भूँकि मरो।
जो केहरि वपु निरखि कूप जल प्रतिमा देखि परो।
ऐसे ही मदगज फटिक शिला पर दसननि आनि अरो।
मरकट मुठी स्वाद ना बिसरै, घर घर नटत फिरो।
कह कबीर ललनी के सुवना तोहि काने पकरो ॥209॥

शब्दार्थ - सोनहा - कुत्ता। भरमत - भ्रम में। केहरि -शेर। मदगज - मस्त हाथी। फटिक - स्फटिक। दसन - दाँत। मरकट - बंदर। ललनी - स्त्री। सुवना - तोता, प्रतीकार्थ-जीव।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया है। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानामार्गी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन एवं गंभीर दर्शन से अनुप्राणित है। वे कोरे दार्शनिक नहीं, भावुक भक्त कवि भी

हैं। उनकी कविता में भावनात्मक और साधनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद के तत्व मिलते हैं। उनकी कविता में निर्गुण ब्रह्म प्राप्ति के लिए भी प्रेम भक्ति मार्ग का प्रतिपादन है। कबीर ने निर्गुण ब्रह्म के प्रेम सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के लिए अनेक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय लिया है। उन्होंने भक्ति में बाधक तत्व माया को माना है। माया से मुक्त होकर जीवात्मा यदि शुद्ध आत्मा को पहचान ले तो वह निर्गुण ब्रह्म को प्रेमभक्ति से प्राप्त कर सकता है।

व्याख्या - कबीर कहते हैं कि मनुष्य ने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने की बजाय अहंकार, अज्ञान और भ्रम में ही अपने आप को भुला दिया है। जैसे काँच के मंदिर में कुत्ता अपने प्रतिबिम्ब को देखकर भौंकते-भौंकते मर जाता है इसी प्रकार जीव भी संसार में अपने ही प्रतिबिम्ब को अपने से भिन्न समझकर लड़ता फिरता है। सिंह अपनी परछाई को देखकर उससे लड़ने के लिए अहंकार और अज्ञानवश कुएँ में कूद पड़ा था। इसी प्रकार मदमस्त हाथी स्फटिक शिला में अपनी परछाई देखकर लड़ने के लिए दाँत अड़ा देता है। जिस प्रकार हांडी में रखे चनों के लोभ में बंदर उसमें मुट्ठी फँसा देता है और घर घर नाचता फिरता है। जैसे पालतू तोता स्वयं को पिंजरे से मुक्त नहीं कर पाता, इसी प्रकार इन सब जीवों की तरह मनुष्य भी अज्ञान और अहंकार वश माया के बन्धनों में जकड़ा हुआ भ्रमित होता रहता है। अपने माया रहित शुद्ध स्वरूप को पहचानने की बजाय अपने ही प्रतिबिम्ब से लड़ता रहता है।

काव्य-सौन्दर्य -1. समस्त पद उदाहरण अलंकार का उदाहरण है।

2. उपमा और रूपक का सुन्दर प्रयोग द ष्टव्य है।
3. प्रतीकात्मक पदावली से माया के विभिन्न रूपों को सूक्ष्म रूप में चित्रित किया है।
4. सरल भाषा प्रयोग।
5. आकर्षक बिम्ब-विधान।
6. सहज गेयता।
7. ध्वन्यात्मता।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. मन-भावन अभिव्यक्ति।
10. भक्ति रस का परिपाक।

गगन की ओट निसाना है
दहिने सूर चन्द्रका बाएँ, तिनके बीच छिपाना है।
तन की कमान सुरत का रोदा, सबद बान ले ताना है।
मारत बन बेधा तन ही तन, सतगुरू का परवाना है।
मार्‌या बान घाव नहिं तन में, जिन लागा तिन जाना है।
कहै कबीर सूनो भाई साधो, जिन जाना तिन माना है ॥211॥

शब्दार्थ - गगन - शून्य, ब्रह्मरंध्र। सूर - इड़ा नाड़ी। चन्द्रका - पिंगला नाड़ी। कमान - धनुष। सूरत - ध्यान की अवस्था। रोदा - डोरी।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया है। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन और गंभीर दर्शन से युक्त है। वे कोरे दार्शनिक नहीं, भावुक भक्त कवि भी हैं। कबीर ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए और उसके प्रेम को अभिव्यंजित करने के लिए अनेक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय लिया है। उनका भक्तिभाव कांताभाव भी

है और आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति का मार्ग भी। उनके काव्य में भावनात्मक और साधनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद के उदाहरण मिल जाते हैं।

इस पद में हठयोग की साधना प्रक्रिया और उसके स्वरूप का निदर्शन किया गया है। संत कबीर की यह आंतरिक दुनिया की खोज है। निर्गुण निराकार क्षेत्र को पाना कबीर का उद्देश्य है। सद्गुरू यहाँ पहुँचाने में सहयोगी होता है। इस प्रक्रिया को कबीर स्पष्ट करते हैं।

व्याख्या - निर्गुण निराकार ब्रह्म को पानेवाले योगी का लक्ष्य गगन अर्थात् शून्य महल में पहुँचना होता है। मेरुदण्ड के दाहिनी ओर सूर्य नाड़ी इड़ा और बायीं ओर चन्द्र नाड़ी पिंगला होती है। इन दोनों के बीच सुषुम्ना नाड़ी होती है। इस लक्ष्य वेध के लिए शरीर की कमान पर सूरत अर्थात् ध्यान की डोरी चढ़ाई जाती है। इस पर शब्द बाण द्वारा संधान किया जाता है। गुरु द्वारा दिये गये संदेश के शब्दों से ऐसा संधान किया जाता है कि आंतरिक तौर पर पूरे तन ही तन में लक्ष्य वेध हो जाता है। इस बाण का घाव बाहरी तौर पर कहीं नहीं दिखाई देता। यह तो पूर्ण रूप से अन्तः प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से गुजरने वाले साधक को ही इसकी अनुभूति होती है वही इस सत्य को मान लेता है, अन्य कोई नहीं।

काव्य-सौन्दर्य -1. यहाँ हठयोग की साधना प्रक्रिया को पारिभाषिक शब्दावली द्वारा प्रतिपादित किया गया है।
2. रूपक अलंकार का सूक्ष्म सौन्दर्य सराहनीय है।
3. सरल भाषा प्रयोग।
4. आकर्षक बिम्ब-विधान।
5. सहज गेयता
6. ध्वन्यात्मकता।
7. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले।
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले।
सूरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले।
तेरा साहब है घट माँही, बाहर नैना क्यों खोले।
कहै कबीर सूनो भाई साधो, साहब मिलि गये तिल ओले ॥212॥

शब्दार्थ - गठियायो - गाँठ बाँध लिया। कलारी - शराब बेचने वाली। मदवा - मदिरा, प्रेम रस। तिल ओले - तिल की ओट में।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया है। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानामार्गी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन और गंभीर दर्शन से युक्त है। वे कोरे दार्शनिक नहीं, भावुक भक्त कवि भी हैं। उनकी कविता में निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए और उसके प्रेम को अभिव्यंजित करने के लिए अनेक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय लिया गया है। उनका भक्तिभाव कांताभाव भी है और आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति का मार्ग भी। उनके काव्य में भावनात्मक और साधानात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद का समन्वय है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए भी प्रेमभक्ति का प्रतिपादन किया है। यह प्रेमानुभूति अलौकिक और अनिर्वचनीय

है। इस आंतरिक प्रक्रिया को भी कबीर ने सूक्ष्म रूप में अभिव्यंजित करने की कोशिश की है।

व्याख्या - कबीर कहते हैं कि जब साधक प्रेम रस को पीकर मस्त हो जाता है तब वह उस प्रेमानुभूति को बोलकर बता नहीं पाता मन ही मन उस आनन्द में मग्न हो जाता है। उसकी यह उपलब्धि अनमोल हीरे को लेने के समान होती है। जिसे अनमोल हीरा मिल जाता है वह विस्मित होकर बार बार उसे खोलकर देखना चाहता है। कबीर कहते हैं कि ऐसे हीरे को तो गाँठ बाँधकर रख लेना चाहिए। जब आत्मा ज्ञान के अभाव में थी हलकेपन का अनुभव करती थी, तब वह सांसारिक विषय-वासनाओं की तराजू पर अपने आपको तोलती रहती थी। परंतु अब आत्मा को परमतत्व की उपलब्धि हो गयी है अब वह क्यों तुला पर चढ़े, अपने आपको क्यों तोले? जिस प्रकार मदिरा बेचनेवाली मतवाली हो जाए और अमाप मद पी जाए इसी प्रकार साधक की आत्मा अमाप प्रेमरस पीकर मदमस्त हो गई है। उसे ऐसा अनुभव हो रहा है कि वह अब मानसरोवर में तैर रही है तब वह छोटे-मोटे ताल-तलैया पर क्यों भटकेगी? आत्मा को परम तत्व की प्राप्ति हो गई तो सांसारिक सुखों में भटकने की क्या आवश्यकता। योग साधना के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति साधक को प्रेमभक्ति द्वारा ही हो गयी है। और जब आन्तरिक तौर पर ब्राह्मा की प्राप्ति हो गयी है तब उसे बाहरी दुनिया में खोजने की आवश्यकता ही नहीं है। कबीर कहते हैं कि साधक जीवात्मा को परमात्मा तिल की ओट में सूक्ष्मरूप में, अन्तरात्मा में ही मिल गया है। यही साधक का उद्देश्य है और उपलब्धि भी।

काव्य-सौन्दर्य -1. कबीर ने लाक्षणिक भाषा के माध्यम से साधनात्मक रहस्यवाद की सूक्ष्म प्रक्रिया को अभिव्यंजित किया है।

2. बार-बार में पुनरूक्तिप्रकाश, 'हीरा' में रूपकातिशयोक्ति, 'हंसा' में श्लेष आदि अलंकारों का सौन्दर्य सराहनीय है।
3. क्यों बोले, क्यों खोले, क्यों तोले में वक्रोक्ति का सार्थक प्रयोग है।
4. साधनात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति।
5. भाषा सरल एवं सहज है।
6. सुन्दर बिम्ब-विधान है।
7. ध्वन्यात्मकता।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. आकर्षक गेयता।

इब न रहूँ माटी के घर मैं,
अब मैं जाइ रहूँ मिलि हरि मैं।
छिनहर घर अरु झिरहर टाटी
घन गरजत कंपै मेरी छाती।।
दसवैं दारि लागि गई तारी।
दूरि गवन आवन भयौ भारी।।
चहु दिसि बैठे चारि पहरिया
जागत मूसि गये मोर नगरिया।।
कहै कबीर सुनहू रे लोई
भाँनड़ घड़ण सँवारन सोई ॥215॥

शब्दार्थ - माटी का घर - भौतिक शरीर। छिनहर - छेदों वाला, टूटा फूटा। झिरहर - जर्जर।

दसवैं दारि - दसवाँ द्वार, ब्रह्मरंध। चार पहरिया - चार पहरेदार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। भाँनड़ - भंग करना। घड़ण - गढ़ना।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया है। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन और गंभीर दर्शन से युक्त है। वे कोरे दार्शनिक नहीं, भावुक भक्त कवि भी हैं। उनकी कविता में भावनात्मक रहस्यवाद के माध्यम से साधनात्मक रहस्यवाद प्रतिपादित है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप, उसके प्रेम को प्रतिपादि करने के लिए अनेक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय लिया है। उनकी कविता में निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के प्रेमभक्ति के मार्ग का प्रतिपादन है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के प्रेम को पति-पत्नी के प्रेम और विरह के रूप में अभिव्यक्त किया है। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति का एक मार्ग योग मार्ग भी है। यह पद इसी संदर्भ में है।

व्याख्या - कबीर कहते हैं कि अब मैं इस मिट्टी से बने घर में नहीं रहूँगा अर्थात् प्रभु मिलन के लिए इस भौतिक शरीर के प्रति आसक्ति को छोड़ना ही पड़ेगा। यह नश्वर शरीर छोड़े बिना परमात्मा की प्राप्ति संभव नहीं। यह घर अनेक छेदों वाला और टूटा-फूटा है। इसमें हवा प्रवेश करे ऐसी टाटी लगी हुई है। यमदूत बादल गरज रहा है। ऐसी भंयकर गर्जना सुनकर टूटे-फूटे मिट्टी के घर और झोंपड़ी वाला डरता है, वैसे म त्यु के नाम से ही मेरी छाती काँप रही है। मैंने कुण्डलिनी शक्ति को जाग त कर ब्रह्मरंध में पहुँचा दिया है। वहीं तारी लगी हुई है अर्थात् वहीं ध्यान को अवस्थित कर दिया है। क्योंकि मैं बहुत उच्च आध्यात्मिक स्थिति में पहुँच गया हूँ, दूर चला गया हूँ, वहाँ से मेरा लौटना संभव नहीं है। अभी और दूर जाना है। जिस प्रकार नगर का चारों दिशाओं से पहरेदारों का घेरा होते हुए भी चोरी हो जाती है, इसी प्रकार चित्त, बुद्धि, अहंकार ने इस शरीर को घेर रखा है। जागते ही जैसे चोर भरे नगर में चोरी कर ले इसी प्रकार वासना ने इस घर में सेंध लगा दी। कबीर लोगों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि लोगों सुनो! गढ़ने, मिटाने और सँवारने वाला वही प्रभु है अतः पूर्णतः उसी को समर्पित हो जाना ही श्रेयकर है।

विशेष -1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार का सौन्दर्य सराहनीय है।
2. पारिभाषिक शब्दावली से योगमार्ग की प्रक्रिया को अभिव्यक्त किया गया है।
3. प्रतीकात्मक पदावली से आध्यात्मिक साधना पद्धति की सूक्ष्म अभिव्यंजना है।
4. सरल भाषा प्रयोग।
5. सुन्दर बिम्ब-विधान।
6. आकर्षक गेयता।
7. ध्वन्यात्मकता।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. रस, अलंकार प्रयोग।
10. ईश्वर भक्ति का सुन्दर चित्रण।

खेल ले नैहरवा दिन चार।
पहिली पठौनी तीन जन आये, नौवा बाम्हन बारि।
बाबुल जी मैं पैंया तोरी लागौं, अबकी गवन दे टारि।
दुसरी पठौनी आपै आये, लेके डोलिया कहार।
धरि बहियाँ डोलिया बैठारिन, कोइ न लागै गोहार।
ले डोलिया जाइ वन में उतारिन, कोई नहीं सगी हमार।

कहैं कबीर सूनो भाई साधो, इक घर हैं दस द्वार ॥218॥

शब्दार्थ - नैहर - पिता का घर। पठौनी - भेजने की रस्म। नौवा - नाई। बाम्हन - ब्राह्मण। बाबुल - पिता। गोहार - प्रार्थना।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया है। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन और गंभीर दर्शन से युक्त है। वे कोरे दार्शनिक नहीं, भावुक भक्त कवि भी हैं। उनकी कविता में भावनात्मक रहस्यवाद के माध्यम से साधनात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति हुई हैं। कबीर ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए, उसके प्रेम को प्रतिपादित करने के लिए अनेक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय लिया है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के प्रेमभाव व्यक्त करने के लिए पति-पत्नी के प्रेम और विरह का भी प्रतीकात्मक वर्णन किया है। जीवन और म त्यु के गम्भीर दार्शनिक रहस्य को उन्होंने सरस रूप में और सरल शैली में प्रस्तुत कर दिया है। यहाँ वे इसी संदर्भ में उदाहरण दे रहें हैं।

व्याख्या - कबीर ने जीवात्मा की तुलना कन्या से की है जो पिता के घर थोड़े समय के लिए रहती है, बाद में उसका ससुराल जाना अनिवार्य होता है। इसी प्रकार जीवात्मा को इस संसार में कुछ समय के लिए ही रहना है, अन्ततोगत्वा तो म त्यु उसे निश्चय ही इस संसार से उठा ले जाती है। कबीर जीवात्मा को सावधान करते हुए कहते हैं कि कन्या की तरह तुम भी चार दिन पिता के घर खेल लो। पहली बार ससुराल ले जाने के लिए नाई, ब्राह्मण आये तो लड़की ने पिता से प्रार्थना की कि इस बार मेरा ससुराल जाना टाल दो। जिस प्रकार ससुराल जाना टलता नहीं इसी प्रकार म त्यु टलती नहीं। दूसरी बार जिस प्रकार स्वयं पति कहारों के साथ डोली लेकर आ जाते हैं। बाजुओं से पकड़कर डोली में बिठाते हैं। वे किसी की अनुनय-विनय नहीं सुनते इसी प्रकार दूसरी बार म त्यु नहीं टलती, काल देवता स्वयं उपस्थित हो जाते हैं और अपने साथ ले जाते हैं, तब वे किसी प्रार्थना आदि पर ध्यान नहीं देते। पालकी जंगल में उतार देते हैं जहाँ कोई संगी-साथी नहीं होता। कबीर चेतावनी देते हुए कहते हैं कि इस शरीर में प्राणवायु को किसी प्रकार बाँधकर नहीं रखा जा सकता क्योंकि इस शरीर रूपी घर में दस द्वार हैं, प्राण कहीं से भी निकल सकते हैं।

विशेष -1. सांग रूपक का सुन्दर और सार्थक प्रयोग हुआ है।

2. प्रतीकात्मक पदावली में जीवन-म त्यु के दार्शनिक रहस्य को सरस रूप में और सरल भाषा में सूक्ष्मतः चित्रित कर दिया गया है।
3. जीवात्मा की तुलना कन्या से मन को छूने वाली है।
4. भाषा सरल एवं सहज है।
5. मन भावन अभिव्यक्ति है।
6. सुन्दर बिम्ब विधान।
7. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।
8. सुन्दर गेयता।
9. 'पहिली पठौनी', 'आपे आये' में छेका अनुप्रास अलंकार का सुन्दर प्रयोग।
10. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
11. नश्वर शरीर की सुन्दर अभिव्यक्ति।

तोको पीव मिलेंगे, घूँघट के पट खोल रे।

घट घट में वह साई रमता, कटुक वचन मत बोल रे।
धन जोबन को गरब न कीजै, झूठा पंचरंग चोल रे।
सुन्न महल में दियरा बार ले, आसन सो मत डोल रे।
जोग जुगत सो रंगमहल में, पिय पायो अनमोल रे।
कहै कबीर आनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे ॥224॥

शब्दार्थ - पीव - प्रिय। कटुक - कड़वे। पंचरंग - पंच तत्त्वों-प थ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश से निर्मित शरीर। सुन्न- शून्य। दियरा - दीपक। बार ले - जला ले। रंगमहल - ब्रह्मरंध्र, आत्मा और परमात्मा का मिलन स्थल।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया है। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानामार्गी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन एवं गंभीर दर्शन से अनुप्राणित है। वे कोरे दार्शनिक नहीं, भावुक भक्त कवि भी हैं। कबीर ने आत्मा और परमात्मा के प्रेम को अपनी रहस्यवादी कविता से अभिव्यंजित किया है। इनमें भावनात्मक रहस्यवाद के साथ ही साधनात्मक रहस्यवाद भी मिलता है। उन्हों ने अपने भक्तिभाव को कांताभाव से अभिव्यक्त किया है। निर्गुण ब्रह्म से अपने प्रेम को समझाने के लिए उन्होंने परमात्मा को अपना पति माना है और आत्मा को पत्नी। साधारण जन को समझाने के लिए उन्होंने इन प्रतीकों का आश्रय लिया है। इस पद में उन्होंने योग साधना और प्रेम साधना को समन्वित कर दिया है।

व्याख्या - कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार घूँघट का परदा हटाने से प्रिय के दर्शन हो जायेंगे उसी प्रकार आत्मा पर पड़ा हुआ माया का आवरण हटाने से ही परमात्मा के दर्शन होंगे। आत्मा को माया से मुक्त कर उसके शुद्ध स्वरूप की पहचान से ही परमात्मा की प्राप्ति की जा सकती है। क्योंकि हम सब आत्माएँ उसी परमात्मा के अंश हैं, अतः सब एक ही हैं। सब के भीतर एक ही परमात्मा का वास है। अतः किसी के प्रति भी कडुवे वचन मत बोल। हमें सबके साथ आत्मवत् प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। जिस प्रकार यह शरीर नश्वर है और इसके क्षणिक साथी हैं धन और यौवन। इन अस्थाई वस्तुओं पर भी हमें घमण्ड नहीं करना चाहिए। जो शरीर प थ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पाँच तत्त्वों से मिलकर बना है उससे मोह कैसा? यह नश्वर है और म त्यु के बाद इन्हीं पाँच तत्त्वों में मिल जाता है अतः इस पर अभिमान नहीं करना चाहिए। सांसारिक आशा आकांक्षाओं से विचलित होने की अपेक्षा शून्य महल में दीपक जलाओ अर्थात् अन्तरतम् में ज्ञान की ज्याति प्रकाशित करो। योगी जन जिस प्रकार योग मार्ग के उपायों से कुण्डिलिनी शक्ति को ब्रह्मरंध्र में पहुँचाते हैं तब उन्हें ब्रह्म मिलन के अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। कबीर कहते हैं कि योग साधना द्वारा जब ब्रह्मनंद की अनुभूति होती है, तब असीम, अनहद नाद की अनुगूँज सूनाई देती रहती है।

विशेष 1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार का सौन्दर्य सराहनीय है।
2. प्रतीकात्मक पदावली में योगसाधना और प्रेम साधना को सूक्ष्म रूप में समन्वित कर देना कबीर की भाषा शैली का वैशिष्ट्य है।
3. योग याधना की पारिभाषिक शब्दावली से पद की गरिमा बढ़ी है।
4. सुन्दर बिम्ब विधान।
5. सरल सहज भाषा प्रयोग।
6. आकर्षक गेयता।
7. मन भावन अभिव्यक्ति।

8. ध्वन्यात्मकता।
9. प्रभु भक्ति का सुन्दर चित्रण।
10. घट घट में पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार प्रयोग।
11. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
12. भक्ति रस का प्रयोग

पिया ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।
ऊँची अटरिया जरद किनरिया, लगी नाम की डोरी।
चाँद सूरज सम दियना बरतु है, ता बिच झूली डगरिया।
पाँच पच्चीस, तीन घर बनिया, मनुवाँ है चौधरिया
मुन्सी है कुतवाल ज्ञान को, चहुँ-दिसि लागी बजरिया।
आठ मरातिब, दस दर्वाजा, नौं में लगी किवरिया।
खिरकी बैठ गोरी चितवन लागी, उपराँ झाँप झोपरिया।
कहत कबीर सूनो भाई साधो, गुरू के चरण बलिहरिया।
साध संत मिलि सौदा करि हैं, झींखे मूरक अनरिया ॥227॥

शब्दार्थ - बजरिया - बाजार। दियना - दीपक। डगरिया - पगडंडी। मरातिब - महल का भाग। बलिहरिया - न्योछावर होना। मूरक - मूर्ख। अनरिया - अनाड़ी। पाँच - प्राण। पच्चीस - तत्त्व। तीन - गुण।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया है। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानामार्गी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन एवं गंभीर दर्शन से अनुप्राणित है। लेकिन वे कोरे दार्शनिक नहीं अपितु भावुक भक्त कवि भी हैं। कबीर ने आत्मा और परमात्मा के प्रेम को अपनी रहस्यवादी कविता में व्यक्त किया है। उन्होंने अपने भक्तिभाव को कांताभाव के द्वारा अभिव्यक्त किया है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म के प्रेम को समझाने के लिए परमात्मा को अपना पति माना है और आत्मा को पत्नी। उन्होंने प्रेम साधना और योग साधना को समन्वित कर दिया। उन्होंने भावनात्मक रहस्यवाद और साधनात्मक रहस्यवाद दोनों को अपने काव्य में अभिव्यंजित किया है। इस पद में पारिभाषिक शब्दावली में उन्होंने योग मार्ग के सिद्धान्त और प्रक्रिया को प्रतिपादित किया है।

व्याख्या - कबीर साधिका जीवात्मा के रूप में कहते हैं कि मैं तुम्हारे ऊँचे महल की अट्टालिका देखने चली हूँ, जो हमारा मिलन स्थल है। उस ऊँची अट्टालिका में पीली अर्थात् सुनहली किनारी लगी हुई प्रतीत होती है। नाम की डोरी के सहारे ही इतनी ऊँचाई पर चढ़ा जा सकता है। वहाँ चन्द्रमा और सूर्य जैसे दीपक जलते हैं। दोनों के बची सुषुम्ना की झूलती पगडंडी है। अर्थात् पिंगला और इड़ा के प्रकाश के साथ सुषुम्ना की डगर से उस मिलन स्थल तक पहुँचा जा सकता है। यह घर अर्थात् शरीर अनेक तत्त्वों से मिलकर बना है। पाँच प्राणों में है - प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। तीन गुण हैं - सत्व, रज और तम। पच्चीस तत्त्वों में आकाश के पाँच, वायु के पाँच, अग्नि के पाँच, जल के पाँच, प थ्वी के पाँच। इस महल के आठ भाग हैं अर्थात् सात धातुएँ - चर्म, रूधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य तथा आठवीं धातु-केश। सबका स्वामी मन है। ज्ञान कोतवाल है जो सबको अनुशासित कर सकता है। चारों दिशाओं में सर्वत्र माया का बाजार फैला हुआ है। इस किले में नौ द्वार हैं जो शरीर के नौ छिद्र हैं। दसवाँ द्वार ब्रह्मरंध्र है। जिस प्रकार खिड़की में बैठकर गोरी महल के सबसे ऊँचे भाग पर नजर

रखती है इस प्रकार जीवात्मा का लक्ष्य शून्य महल में पहुँचना होता है। कबीर कहते हैं कि साधु-संतों सुनो वहाँ पहुँचने के लिए ज्ञान योग का मार्ग ही एकमात्र मार्ग है और उसका मार्गदर्शक सद्गुरू ही है, उसके चरणों में बलिहारी जाने से ही वह निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय बताता है। जिस प्रकार बाजार में दुनियादार व्यक्ति मिल-जुलकर सौदा खरीदने में सफल हो जाता है और मूर्ख और अनाड़ी झिक-झिक करते रहते हैं। इसी प्रकार जो सद्गुरू की शरण में जाकर ज्ञान और योग मार्ग को अपना लेते हैं वे तो ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं अन्यथा अज्ञानी लोग झींकते रह जाते हैं।

विशेष -1. रूपक अलंकार का सौन्दर्य सराहनीय है।

2. पारिभाषिक पदावली का प्रयोग कर योगमार्ग की जटिल प्रक्रिया को सरल किन्तु सूक्ष्म रूप में समझाया है।
3. प्रतीकात्मक पदावली द्वारा साधनात्मक रहस्यवाद को अभिव्यंजित किया गया है।
4. सरल, सहज भाषा प्रयोग।
5. साधनात्मक रहस्यवाद का सुन्दर चित्रण।
6. सुन्दर बिम्ब विधान।
7. मन भावन गेयता।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।
10. 'पाँच पच्चीस', 'कहत कबीर' में छेकानुप्रास अलंकार का सुन्दर प्रयोग।

जहवाँ से आयो अमर वह देसवा।
पानी न पान धरती अकसवा, चाँद न सूर न रैन दिवसवा।
बामन छत्री न सूद्र बैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा।
आदि जोति नहिं गौर गनेसवा, ब्रह्मा, बिस्नु महेश न सेसवा।
जोगी न जंगम मुनि दुरबेसवा, आदि न अंत न काल कलेसवा।
दास कबीर ले आये संदेसवा, सार शब्द गहि चली वहि देसवा ॥228॥

शब्दार्थ - जहवाँ - जहाँ से। देसवा - देश। अकसवा - आकाश। रैन - रात। दिवसना - दिन। छत्री - क्षत्रिय। बैसवा - वैश्य। सेखवा - शेख। गौर - गौरी। गनेसवा - गणेश। सेसवा - शेषनाग। दुरबेसवा - देरवेश, फकीर। कलेसवा - क्लेश। संदेसवा - संदेश। सार शब्द - सबका सार तत्त्व-परमतत्त्व। गहि- ग्रहण कर। पान - हवा।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया है। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानामार्गी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन एवं गंभीर दर्शन से अनुप्राणित है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के प्रेम को अभिव्यंजित करने के लिए अनेक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय लिया है। उन्होंने ब्रह्मा को गुणातीत माना है और उसकी प्राप्ति के लिए योग, ज्ञान और प्रेम भक्ति का मार्ग दर्शाया है। उनकी वाणी में भावात्मक रहस्यवाद और साधनात्मक रहस्यवाद के दोनों प्रकार मिलते हैं। उन्होंने दोनों का समन्वय कर जनसाधारण को सहज भक्ति का मार्ग दिखाया है। उनका मत है कि आत्मा परमात्मा से वियुक्त होकर इस संसार में आती है। उसका लक्ष्य पुनः उसी परमात्मा में जाकर मिल जाना है। परमात्मा के उस अलौकिक लोक का चित्रण कबीर ने इस पद में किया है।

व्याख्या - कबीर परम ब्रह्म के उस दिव्य लोक का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस देश से यह आत्मा परमात्मा से अलग हुई है और वहीं जाकर फिर उससे मिलना है, वह देश म त्यु लोक से भिन्न अमर देश है। वहाँ न पानी है, न हवा है, वहाँ न धरती है न आकाश है। वहाँ सूर्य चन्द्रमा की तरह उदय और अस्त नहीं है अतः वहाँ न दिन होता है न रात। उस लोक में इस लोक की तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की तरह वर्णव्यवस्था नहीं होती। वहाँ तो सब एकात्मक होते हैं। यहाँ की तरह धर्म जाति का कोई भेद वहाँ नहीं होता। वहाँ मुगल, पठान सैयद और शेख जैसे मुसलमानों के ऊँचे-नीचे वर्ग भी नहीं होते। वहाँ न आदिम ज्योति होती है, न गौरी और गणेश। वहाँ न ब्रह्मा, विष्णु और महेश होते हैं, न शेषनाग। वहाँ न देवी-देवता होते हैं न जन्म म त्यु। वहाँ न योगी होते हैं न भ्रमणकारी संत। वहाँ मुनि और दरवेश भी नहीं होते। वहाँ आदि-अंत, जन्म-म त्यु कुछ नहीं होता। वहाँ न काल की प्रतीति होती है न किसी प्रकार का क्लेश ही। कबीर ने उस अलौकिक लोक की अनुभूति प्राप्त की है और वहाँ से जो आध्यात्मिक संदेश वह लाये हैं उसी को संसार को बता रहे हैं। उसका सार तत्त्व नाद ब्रह्म है उसी अमर, अलौकिक देश में सबको चलना है।

विशेष -1. प्रतीकात्मक पदावली में कबीर ने अध्यात्म लोक का सूक्ष्म व सुंदर चित्रण किया है।
2. प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा के द्वारा कबीर ने अमूर्त लोक को मूर्त कर दिया है।
3. प्रवाहमयी भाषा प्रयोग।
4. पद में आकर्षक गेयता।
5. मन-भावन अभिव्यक्ति।
6. सुन्दर बिम्ब विधान।
7. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. काल कलेसवा में छेका अनुप्रास अलंकार का सुन्दर प्रयोग।
10. परमात्मा के दिव्य लोक का सुन्दर चित्रण।
11. भक्ति का सुन्दर परिपाक।

साहेब है रँगरेज चुनरी मेरी रंग डारी।
स्याही रंग छुड़ायके रे, दियो मजीठा रंग।
धोय से छूटै नहीं रे, दिन दिन होत सुरंग।
भाव के कुंड नेह के जल मैं प्रेम रंग देइ बोर।
दुख देह मैल लुटाय दे रे, खूब रंगी झकझोर।
साहिब ने चुनरी रंगी रे, प्रीतम चतुर सुजान।
सब कुछ उनपर वार दूँ रे, तन मन धन और प्रान।
कहैं कबीर रँगरेज पियारे मुझ पर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढ़ि के रे भइ हों मगन निहाल ॥229॥

शब्दार्थ - साहेब - स्वामी। रँगरेज - कपड़े रंगनेवाला। चुनरी - तन, मन। मजीठा - प्रेम का प्रतीक लाल रंग। सुरंग - अच्छा, पक्का रंग। बोर - डुबो दी। सुजान - विवेकी।

संदर्भ-प्रसंग - प्रस्तुत पद हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया है। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानामार्गी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति

गहन चिंतन एवं गंभीर दर्शन से अनुप्राणित है। लेकिन वे कोरे दार्शनिक नहीं अपितु भावुक भक्त कवि भी हैं। कबीर ने आत्मा और परमात्मा के प्रेम को अपनी रहस्यवादी कविता में अभिव्यंजित किया है। उनमें भावनात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद का सुन्दर समन्वय मिलताहै। उन्होंने अपने भक्तिभाव को कांताभाव से अभिव्यक्त किया है। निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप और उसके प्रति प्रेमभक्ति को समझाने के लिए उन्होंने अनेक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय लिया है। यहाँ उन्होंने स्वामी निर्गुण ब्रह्म को रँगरेज और स्वयं के तन मन को चुनरी के रूपक के माध्यम से अभिव्यंजित किया है।

व्याख्या - कबीर कहते हैं कि मेरे प्रभु कपड़े रँगनेवाले की भाँति रँगरेज हैं। जिस प्रकार रँगरेज कपड़े को अन्दर-बाहर से पूरी तरह रंग देता है इसी प्रकार मेरे प्रभु ने मेरे तन मन को अपने प्रेम के रंग में पूरी तरह रंग दिया है। जिस प्रकार कपड़े को रँगने के लिए पहले उसकी कालिख छुड़ानी पड़ती है तभी उस पर दूसरा रंग अच्छी तरह चढ़ता है इसी प्रकार प्रभु ने ज्ञान के द्वारा माया की कालिख को छुड़ा दिया और उसे प्रभु प्रेम के गहरे लाल रंग में रंग दिया है। वह प्रेम रंग ऐसा पक्का है कि धोने से भी नहीं छूटता बल्कि दिन-ब-दिन और भी अच्छा और पक्का होता जाता है। उस प्रभु रूपी रँगरेज ने भाव कुण्ड में और स्नेह के जल में मेरे तन मन को पूरी तरह प्रेम रंग में डुबो दिया। कपड़े को रँगते समय उसकी मैल निकालकर उसे खूब खंगालकर रँगते रहते हैं, इसी प्रकार प्रभु ने मेरे तन-मन के दुखों की सारी मैल छुड़ा दी और खूब झकझोरकर प्रेम रंग में रंग दिया क्योंकि मेरे प्रिय बहुत कुशल और विवेकी हैं। इसी प्रेम के अनुभूति में मैंने भी अपने प्रियतम पर अपना तन मन धन प्राण आदि सर्वस्व न्योछावर कर दिया है। कबीर कहते हैं कि मेरे स्वामी मुझे अत्यन्त प्रिय हैं और वे मुझ पर बहुत दया भी करते हैं। उनके प्रेम रंग के कारण मेरा तन मन अत्यंत शांत हो गया, जिसे धारण कर साधिका जीवात्मा उनके प्रेम में मग्न और उन पर निहाल हो गई है।

विशेष -1. रूपक अलंकार का सौन्दर्य सराहनीय है।

2. प्रतीकात्मक पदावली में प्रेमसाधना का आत्यंतिक प्रभाव कबीर ने सूक्ष्मता और सहजता से अभिव्यंजित किया है।
3. आत्मा एवं परमात्मा के रहस्यवाद का सुन्दर चित्रण।
4. प्रभु भक्ति का सुन्दर चित्रण।
5. प्रवाहमयी भाषा प्रयोग।
6. मन-भावन अभिव्यक्ति।
7. सुन्दर गेयता।
8. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।
9. मन-भावन बिम्ब-विधान।
10. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
11. 'दिन दिन' में पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार का सुन्दर प्रयोग।

सखि वह घर सबसे न्यारा, जहँ पूरन पुरूष हमारा।
जहाँ न सुख-दुख साँच-झूठ, नहिं पाप न पुन्न पसारा।
नहिं दिन रैन चंद नहिं सूरज बिना जोति उजियारा।।
नहिं तहँ ग्यान ध्यान नहिं जप-तप बेद-कितेब न बानी।
करनी-धरनी रहनी गहनी ये सब उहाँ हेरानी।।
धर नहि अधर न बाहर भीतर, पिंड ब्रह्मांड कछु नाहिं।

पाँच तत्त गुन तीन नहीं तहँ साखी सब्द न ताहीं।।
मूल न फूल बेल नहिं बीजा, बिना व च्छ फल सोहे।
ओहं सोहं अध ऊरध नहिं, स्वासा लेखन को है।।
नहिं निरगुन नहिं अविगत भाई नहिं सूछम अस्थूल।
नहिं अच्छर नहिं अवगत भाई, ये सब जग के मूल।।
जहाँ पुरूष तहँवा कछु नाहीं, कह कबीर हम जाना।
हमरी सैन लखे जो कोई, पावै पद निरवाना।।128।।

शब्दार्थ - कितेब - कुरान। हेरानी- खो जाती है। ओहं- ओंकार। सोहं- वह मैं हूँ। ऊरध - ऊर्ध्व। सैन - संकेत। निरवाना - निर्वाण।

संदर्भ-प्रसंग - विवेच्य पद कबीर द्वारा विरचित है, जिन्हें हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन और गंभीर दर्शन से अनुप्राणित हैं। लेकिन वे कोरे दार्शनिक नहीं अपितु भावुक भक्त कवि भी हैं। उन्होंने आत्मा परमात्मा के प्रेम को अपनी रहस्यवादी कविताओं में अभिव्यंजित किया है। उनमें भावनात्मक रहस्यवाद के साथ साधनात्मक रहस्यवाद भी मिलता है। उन्होंने अपने भक्तिभाव को कांताभाव से अभिव्यक्त किया है। साधारण जन को अपनी सहज साधना समझाने के लिए उन्होंने अनेक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय लिया है। कबीर की सहजावस्था की अनुभूति अतींद्रिय है। भीतर की दुनिया को भीतर जाकर कबीर ने देखा है। उसी भेद द ष्टि रहित अलौकिक लोक का दिग्दर्शन वे कराते हैं।

व्याख्या - कबीर कहते हैं कि हमारा पूर्ण पुरूष, परम ब्रह्म जहाँ निवास करता है वह लोक विश्वेतर विश्व है, सभी से विशिष्ट है। वह लोक द्वन्द्वातीत है, जहाँ न सुख-दुख, न सच-झूठ और न पाप-पुण्य। वहाँ दिन-रात का चक्कर नहीं, सूर्य-चन्द्र नहीं। वहाँ तो बिना ज्योति के अलौकिक प्रकाश होता है। वह अवस्था ज्ञान-ध्यान से ऊपर है। वहाँ जप-तप की, वेद-पुराण आदि शास्त्रों की आवश्यकता नहीं है। वहाँ करना, धरना, रहना-सहना, ग्रहण-त्याग सब स्थितियाँ लुप्त हो जाती हैं। वहाँ ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, पिंड-ब्रह्माण्ड कुछ नहीं। वहाँ न तो पंच तत्त्वों की कोई सत्ता होती है, न सत्व, रज, तम, गुणों का अस्तित्व होता है। वहाँ किसी साक्षात् शब्द ज्ञान या उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ मूल-फूल, बेल-बीज कुछ नहीं होता। वहाँ बिना व क्ष के ही अमर फल सम्पूर्ण आनन्द हैं। वहाँ ओंकार और वह मैं हूँ जैसे कोई बाह्य साधना नहीं होती। वहाँ ज्ञात-अज्ञात, निर्गुण-सगुण, स्थूल-सूक्ष्म के भेदाभेद स्वयं समाप्त हो जाते हैं। क्षर और अक्षर आदि तत्त्व सांसारिक हैं। कबीर कहते हैं मैं उस लोक का वर्णन कर रहा हूँ जहाँ सिर्फ परम ब्रह्म होता है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं, जिसे मैंने स्वयं अनुभव से जाना है। मैं उसी अगम अतीन्द्रिय लोक की ओर संकेत कर रहा हूँ, और इसको जो समझ सकता है वही परम पद निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। तात्पर्य यह कि हमारा अगम अमरपुर सगुण-निर्गुण से भी परे है। यही परमपद या निर्वाण कबीर की सहजावस्था है।

विशेष -1. प्रतीकात्मक पदावली के माध्यम से कबीर ने अतीन्द्रिय अगम अमरपुर का सूक्ष्म चित्रण किया है।
2. प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा में कबीर ने अनिर्वचनीय को अभिव्यक्त कर दिया है।
3. ईश्वर रहस्य का सुन्दर चित्रण।
4. सरल भाषा प्रयोग।

5. श्रेष्ठ अभिव्यक्ति।
6. आकर्षक बिम्ब-विधान।
7. सुन्दर गेयता।
8. ध्वन्यात्मकता।
9. 'पूरन पुरूष', 'पुन्य पसारा', 'नहिं निर्गुण' में छेकानुप्रास अलंकार का प्रयोग।

अरे इन दोहु न राह न पाई।
हिंदू अपनी करे बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेस्या के पाइन तर सोवै यह देखो हिंदुआई।
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी मुर्गा खाइ।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहि में करै सगाई।
बाहर से इक मुर्दा लाये, धोय धाय चढ़वाई।
सब सखियाँ जेंवन बैठी घर भर करै बड़ाई।
हिंदुन की हिंदुवाई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहैं कबीर सुना भाई साधो, कौन राह है जाई ।।247।।

शब्दार्थ - वेस्या - वेश्या। पाइन तर - पैरों के नीचे। खाला - मौसी। जेवन - भोजन करना।

संदर्भ-प्रसंग - विवेच्य पद कबीर द्वारा विरचित हैं, जिन्हें हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन और गंभीर दर्शन से अनुप्राणित हैं। लेकिन वे कोरे दार्शनिक नहीं, भाव सम्पन्न सुधारक संत कवि हैं। भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के वह प्रतिनिधि कवि हैं। रूढ़ियों का खण्डन, बाह्य आडम्बर, असत्य, अनाचार आदि के प्रति अद्‌भूत प्रतिक्रिया कवि के हृदय की सच्ची क्रांतिकारी भावना थी। उन्होंने विश्वासगत, शास्त्रगत रूढ़ियों के मायाजाल को बुरी तरह छिन्न-भिन्न किया है। उन्होंने विसंगतियों को विदीर्ण कर समाज का सच्चा पथ प्रदर्शन किया है। यहाँ तत्कालीन हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के धर्म गुरूओं द्वारा बताये गये बाह्याचरणों का खण्डन किया है।

व्याख्या - हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मोचार्यो को चेतावनी देते हुए कबीर कहते हैं कि दोनों को ईश्वर को प्राप्त करने का सही मार्ग नहीं मिला है। हिन्दू अपनी जातिगत विशेषताओं मान्यताओं की प्रशंसा बहुत करते हैं, किंतु छुआछूत में डूबे रहते हैं। अपना घड़ा छूने नहीं देते कि जल अपवित्र हो जाएगा। वही हिन्दू अपनी काम वासना की आग बुझाने के लिए वेश्याओं के पैरों में सोते हैं तब उनकी पवित्रता-अपवित्रता कहाँ चली जाती है। मुसलमानों के पीर तथा औलिया आदि धर्मगुरु मांस भक्षण करते हैं, सगी मौसी की बेटी से विवाह कर लेते हैं। मुर्दा लाकर धो-धोकर पकाते हैं। सब मिलकर उसे खाने बैठते हैं और स्वाद की प्रशंसा करते हैं। कबीर कहते हैं कि मैंने हिन्दुओं का हिन्दुत्व भी देख लिया और मुसलमानों को भी देख लिया, दोनों को नहीं मालूम कि ईश्वर को पाने का सच्चा-सही रास्ता कौन-सा है।

विशेष -1. अनुप्रास की छटा द ष्टव्य है।
2. प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा में कवि ने दोनों धर्म के बाह्याचार और पाखण्ड पर व्यंग्य किया है।
3. हिन्दू धर्म एवं मुसलमान धर्म पर तीखा व्यंग्य।
4. सहज भाषा प्रयोग।

5. सुन्दर बिम्ब-विधान
6. दिल को छू लेने वाली अभिव्यक्ति।
7. सहज गेयता।
8. ध्वन्यात्मकता।
9. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
10. 'धोय-धाय' छेकानुप्रास अलंकार का सुन्दर प्रयोग।
11. व्यंग्य का तीखा स्वरूप।

संतो, राह दुनो हम डीठा।
हिन्दू-तुरूक हटा नहिं मानैं, स्वाद सबनि को मीठा।।
हिन्दू बरत एकादसि साधैं दूध-सिंघारा सेती।
अन को त्यागैं मन को न हटके बारन करें सगोती।।
तुरूक रोजा-निमाज गुजारै, बिसमिल बाँग पुकारैं।
इनकी भिस्त कहाँ ते होइ है, साँझैं मुरगी मारैं।।
हिन्दू की दया, मेहर तुरकन की दोनों घट सो त्यागी।
वे हलाल, वे झटके मारैं आगि दुना घर लागी।
हिन्दु-तुरूक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई।
कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, राम न कहेउ खुदाई।।250।।

शब्दार्थ - दुनो - दोनों। हटकै - मना करना, नियंत्रित करना। संगोती - रिश्ते-नाते मिलकर। बिसिमल - ईश्वर का नाम। भिस्त - बहिश्त, स्वर्ग। मेहर - कृपा। हलाल - गर्दन धीरे-धीरे काटना। झटकै - एक ही बार गर्दन काट डालना। दूना - दोनों। डीठा - देखा।

संदर्भ-प्रसंग - विवेच्य पद कबीर द्वारा विरचित है, जिन्हें हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन और गंभीर दर्शन से अनुप्राणित हैं। लेकिन वे कोरे दार्शनिक नहीं भावुक भक्त कवि हैं। कबीर ने भावनात्मक रहस्यवाद और साधनात्मक रहस्यवाद को समन्वित कर दिया है। उन्होंने शास्त्र और लोक दोनों की रूढ़ियों के मायाजाल को छिन्न-भिन्न कर दिया है। उनका चिंतन स्वानुभूत चिंतन है। उन्होंने सभी प्रकार के भेदभाव और बाह्याचारों का खण्डन कर एकमात्र परमब्रह्म की प्राप्ति का साधन सहज साधना को बताया है। परमब्रह्म के स्वरूम और प्रेमभक्ति को समझाने के लिए उन्होंने अनेक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय लिया है। उनकी सारी करनी और कथनी हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रति केन्द्रित है।

व्याख्या - कबीर कहते हैं कि हमने हिन्दू और मुसलमान दोनों की भक्ति को गहराई से देखा है। दोनों धर्म के अनुयायी मना करने से भी नहीं मानते। वे अपनी स्वाद पूर्ति के लिए और रूढ़ियों का पालन करने के लिए धर्म मार्ग अपनाते हैं। हिन्दू समाज के लोग एकादशी का व्रत करने के नाम पर अन्न न खाकर दूध, सिंघाड़ा आदि आहार लेते हैं। अन्न का तो त्याग कर देते हैं परन्तु मन की व त्तियों पर नियंत्रण नहीं कर पाते। सगे-सम्बन्धियों के साथ मिलकर व्रत आदि के साथ पाठ-पारायण करते और अल्लाह का नाम जोर-जोर से पुकारेते हैं। ये सब स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से करते हैं, लेकिन शाम को रोजा खोलने के समय मुर्गियाँ हलाल करते हैं, तब कैसे इन्हें स्वर्ग मिलेगा। हिन्दू जिसे दया कहते हैं और मुसलमान मेहर परन्तु दयाभाव को

दोनों ने शरीर से ही निकाल दिया है। दया अहिंसा आदि भावों से दोनों शून्य हैं। हिंसा दोनों करते हैं, मांस दोनों खाते हैं। जीव मारने का तरीका अलग-अलग है। मुसलमान जीव की गर्दन हलाल करते हैं अर्थात् धीरे-धीरे काटते हैं। हिन्दू एक झटके में जीव की गर्दन धड़ से काटकर अलग कर देते हैं। वस्तुतः स्वाद, लोभ, वासना, हत्या आदि की आग दोनों तरफ बराबर लगी हुई है। कबीर का कहना है कि धर्म के नाम पर ये सब आडम्बर अनुचित हैं। सद्गुरू का मार्गदर्शन यही है कि दोनों का रास्ता एक है, लक्ष्य एक है, चाहे उसको राम के नाम से पुकारों या खुदा के नाम से सबका मालिक एक ही है।

विशेष -1. स्पष्ट शब्दावली में कबीर ने दोनों धर्मों के बाह्याचारों पर व्यंग्य किया है।
2. प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा में दोनों को एक परमब्रह्म की राह बताई है।
3. सहज सरल भाषा का प्रयोग।
4. आकर्षक बिम्ब-विधान।
5. सुन्दर ध्यन्यात्मकता।
6. सरस गेयता।
7. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. सहज भावाभिव्यक्ति।
9. गंभीर उद्बोधन।

मन, तुम नाहक दुंद मचायो।
करि असनान, छुवो नहि काहू, पाती फूल चढ़ाये।
मूरति से दुनिया फल माँगे, अपने हाथ बनाये।
यह जग पूजे देव-देहरा, तीरथ वर्त अन्हाये।
चलत फिरत में पाँव थकित भे, यह दुख कहाँ समाये।
झूठी काया, झूठी माया, झूठे झूठे झूठल खाये।
बाँझिन गाय दूध नहिं दैहे, माखन कहँ सै पाये।
साँच के संग साँच बसत हैं, झूठ मारि हटाये।
कहै कबीर जहँ साँच वस्तु है, सहजै दरसन पाये ।।253।।

शब्दार्थ - नाहक - व्यर्थ। दुंद - द्वन्द्व। असनान - स्नान। भे - हुए। बाँझिन - बिना बच्चे वाली।

संदर्भ-प्रसंग - विवेच्य पद कबीर द्वारा विरचित है, जिन्हें हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन और गंभीर दर्शन से अनुप्राणित हैं। लेकिन वे कोरे दार्शनिक नहीं अपितु भावुक भक्त कवि हैं। उनका चिंतन स्वानुभूत चिंतन है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म जीव, जगत्, माया आदि को अभिव्यंजित करने के लिए अनेक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय लिया है। रूढ़ियों का खण्डन, बाह्य आडम्बर, असत्य, अनाचार आदि के प्रति उद्भूत प्रतिक्रिया कवि के हृदय की सच्ची क्रांतिकारी भावना थी। उन्होंने विश्वासगत, शास्त्रगत रूढ़ियों के मायाजाल को बुरी तरह छिन्न-भिन्न किया है। पाखण्ड पर व्यंग्य करना और एकमात्र परम ब्रह्म के प्रति समग्र निष्ठा ही उनका मुख्य उद्देश्य है।

व्याख्या - कबीर अपने मन को समझाते हुए कहते हैं कि तुम व्यर्थ ही आत्मा और परमात्मा के विषय में दुविधा में पड़े रहते हो। इस संसार में ऐसे लोग भी हैं जो स्नान करके, मन्दिर

में मूर्ति पर फूल, पत्ती आदि चढ़ाकर समझते हैं कि वे पवित्र हो गये हैं और दूसरों को छूने भी नहीं देते कि वे अपवित्र हो जायेगें। मनुष्य स्वयं अपने हाथ से बनाई हुई पत्थर की मूर्ति से अपने लिए फल की याचना करता है। मनुष्य तीर्थ यात्राएँ करता रहता है, व्रत करता है, मन्दिरों में पूजा पाठ करता है। ईश्वर प्राप्ति के प्रयत्न में वह भटकते-भटकते थक जाता है और अनेक दुख-कष्ट भोगता है। मनुष्य का शरीर क्षणभंगुर है और वह क्षणभंगुर मोहमाया में फँसा रहता है। एक झूठ से दूसरे झूठ को पाना चाहता है। माया से परमात्मा की प्राप्ति ऐसे ही है जैसे बाँझ गाय से दूध ा पाने की कोशिश और उस दूध से मक्खन पाने की असफल कोशिश। सत्य के साथ ही सत्य रहता है, सत्य से ही सत्य को पाया जा सकता है। झूठे को तो नष्ट करके रास्ते से ही हटा देना चाहिए। कबीर कहते हैं कि जिसके मन में सत्य के लिए प्रेम है उसे सहज ही परम सत्य प्राप्त हो सकता है, उसे ही सत्य परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

विशेष -1. 'यह दुख कहाँ समाये' में वक्रोक्ति अलंकार का प्रयोग है।
2. 'मन' को सम्बोधित करने के कारण मानवीकरण अलंकार है।
3. 'साँच संग साँच' में अनुप्रास की छटा है।
4. 'बाँझिन गाय' के प्रतीकात्मक उपमान का सुन्दर प्रयोग है।
5. प्रतीकात्मक पदावली में अर्थ गाम्भीर्य है।
6. भाषा सरल एवं सहज है।
7. आकर्षक गेयता।
8. मनभावन बिम्ब-विधान।
9. ध्वन्यात्मकता।
10. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
11. देव-देहरा में छेकानुप्रास 'झूठे-झूठे' में पुनरूक्ति प्रकाश अलंकारों का सुन्दर प्रयोग।

यह जग अंधा, मैं केहि समझावों।
इक-दुई हों उनहें समझावों, सब ही भुलाना पेट के धंधा।
पानी के घोड़ा पवन असवरवा ढरिक परे जस ओस के बुंदा।
गहरी नदिया अगम बहै धरवा खेवनहारा पड़िगा फंदा।
घर की वस्तु निकट नहिं आवत, दियना बारि के ढूँढ़त अंधा।
लागी आग सकल बन जाएगा, बिन गुरु ज्ञान भटकिया बन्दा।
कह कबीर सुन भई साधो, इक दिन जाय लंगोटी झार बन्दा।।

शब्दार्थ - पानी के घोड़ा - क्षणभंगुर शरीर। असवरवा - सवार। पवन - वायु। ढरकि - ढुलकना। गहरी नदी - माया प्रवाह। खेवनहारा - जीवात्मा। दियना - दीपक।

संदर्भ-प्रसंग - विवेच्य पद कबीर द्वारा विरचित है, जिन्हें हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कबीर' से लिया गया। कबीर भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि संतकवि हैं। इनकी प्रत्येक काव्य पंक्ति गहन चिंतन और गंभीर दर्शन से अनुप्राणित हैं। लेकिन वे कोरे दार्शनिक नहीं अपितु भावुक भक्त कवि हैं। उनका चिंतन स्वानुभूत चिंतन है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म जीव, जगत्, माया आदि को अभिव्यंजित करने के लिए अनेक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय लिया है। रूढ़ियों का खण्डन, बाह्य आडम्बर, असत्य, अनाचार आदि के प्रति उद्भूत प्रतिक्रिया कवि के हृदय की सच्ची क्रांतिकारी भावना थी। उन्होंने विश्वासगत, शास्त्रगत रूढ़ियों के मायाजाल को बुरी तरह छिन्न-भिन्न किया है। संसार की नश्वरता और परम् ब्रह्म

के प्रति अनन्य प्रेम यही उनकी चिंता के केन्द्र में है।

व्याख्या - कबीर कहते हैं कि यह सारा संसार तो अज्ञान के कारण अन्धा हो रहा है। मैं किस-किस को समझाऊँ। एक दो अज्ञानी हो तो उन्हें समझाया जा सकता है लेकिन यहाँ तो सभी ने पेट भरने के धन्धे के कारण ईश्वर को बिल्कुल भुला दिया है। वे यह नहीं जानते कि उनका शरीर पानी के घोड़े पर सवार पवन की तरह है जो क्षणभर में ही नष्ट हो जाता है जैसे प्रातःकालीन सूर्य किरणों से ओस की बूँदे क्षण भर में ही अद श्य हो जाती हैं। इस संसार में माया की गहरी नदी में जीवात्मा खेवनहार के गले में तो सांसारिक बन्धनों का फँदा पड़ गया है अब वह कैसे पार जा सकता है? उसकी जीवन नौका, संसार सागर पार, मंजिल तक पहुँचनी मुश्किल है। यह अत्यन्त विचित्रता और विस्मय की बात है कि मनुष्य को घर में पड़ी वस्तु दिखाई नहीं देती और उसे वह दीपक जलाकर बाहर खोजता रहता है। तात्पर्य यह कि मनुष्य कितना मूर्ख है कि अंतर में स्थित आत्मा को तो पहचानता नहीं और तीर्थ-व्रत, मंदिर-मस्जिद में परमात्मा को ढूँढता फिरता है। यह संसार जंगल की तरह है जिसमें आग लगी हुई है अर्थात् मुनष्य सांसारिक वासनाओं की आग में जल रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य बिना सद्गुरु के सत्य और ज्ञान के रास्ते से भटक गया है। कबीर कहते हैं कि हे साधुओं सुनो! एक दिन ऐसा आता है कि मनुष्य को सब कुछ यहीं छोड़कर यहाँ तक कि लंगोटी तक को छोड़कर जाना पड़ेगा, फिर भी मनुष्य सावधान नहीं होता।

विशेष -1. 'पानी के घोड़ा पवन असवरवा' में रूपक अलंकार का सौन्दर्य द ष्टव्य है।

2. 'जस ओस के बुंदा' में उपमा का सौन्दर्य सराहनीय है।
3. प्रतीकात्मक पदावली में शरीर और संसार की नश्वरता का सरस और सूक्ष्म चित्रण किया है।
4. सरल एवं सहज भाषा का प्रयोग।
5. सहज गेयता।
6. आकर्षक बिम्ब-विधान।
7. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. ध्वन्यात्मकता।
9. नश्वर शरीर का सुन्दर चित्रण।
10. सामाजिक विषमता का गंभीर चित्रण।

प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य

(ब)

सूरदास
तुलसीदास
बिहारी

प्रथम प्रश्न-पत्र
Paper - 1

एम.ए. हिंदी (उत्तरार्द्ध)
M.A. Hindi (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

सूरदास

(खण्ड-क) आलोचना

1. व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व 5
2. भाषा 20
3. भक्ति भावना 40
4. श्रंगार वर्णन 51
5. वात्सल्य 67
6. सहृदयता और भावुकता 80
7. गीति तत्व 89
8. भ्रमरगीत परंपरा 100
9. भ्रमरगीत प्रतिपाद्य 114
10. राधा 122

(खण्ड - ख) व्याख्या 131

तुलसीदास

(खण्ड-क) आलोचना

1. तुलसीदास का जीवन परिचय 237
2. तुलसीदास की काव्य कला 246
3. तुलसीदास की भक्ति भावना 254
4. तुलसीदास की दार्शनिक भावना 263
5. युगीन परिस्थितियाँ 272
6. तुलसीदास की सामाजिक चेतना 278
7. रामचरितमानस में लोकमंगल की चेतना 284
8. रामचरितमानस की प्रबन्ध कल्पना 293
9. तुलसीदास की विनय भावना 303
10. तुलसीदास का समन्वयवाद 308
11. तुलसीदास का प्रकृति चित्रण 316
12. रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड का सारांश 322
13. रामचरितमानस में उत्तरकाण्ड का महत्त्व 332
14. भरत का चरित्र 335
15. तुलसीदास की रामराज्य की कल्पना 340
16. तुलसी की काव्य भाषा 347
17. तुलसी की सांस्कृतिक योजना 353
18. तुलसीः यथार्थ बोध 359

(खण्ड-ख) व्याख्या 367

बिहारी

(खण्ड-क) आलोचना

1. बिहारी का जीवन परिचय 455
2. बिहारी का प्रकृति वर्णन 466
3. बिहारी की भाषा 475
4. बिहारी की अलंकार योजना 489
5. बिहारी की युगीन परिस्थितियाँ 502
6. बिहारी की भक्ति-भावना 509
7. बिहारी की बहुज्ञता 517
8. सतसैया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर।
   देखने में छोटे लगे धाव करे गम्भीर।। 522
9. सतसई परम्परा में बिहारी सतसई का स्थान 527
10. बिहारी का संयोग श्रं गार 536
11. बिहारी का वियोग श्रं गार 552
12. बिहारी की समास-शक्ति/समाहार शक्ति 569

(खण्ड-ख) व्याख्या 576

एम.ए. हिंदी (उत्तरार्द्ध)
प्रथम प्रश्न-पत्र
प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य

समय : 3 घण्टे
पूर्णांक : 100

निर्देश :

1. पहले प्रश्न में खण्ड 'क' (I) में निर्धारित कवियों से संबंधित पाठ्य पुस्तकों में से एक-एक व्याख्या पूछी जाएगी, जिनमें से परीक्षार्थियों को किन्हीं तीन की व्याख्याएं करनी होंगी। प्रत्येक व्याख्या दस अंकों की होगी तथा पूरा प्रश्न दस अंकों का होगा।
2. खण्ड 'क' (II) में निर्धारित आलोच्य विषयों से संबंधित चार आलोचनात्मक प्रश्न पूछे जाएंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को दो प्रश्न करने होंगे। प्रत्येक प्रश्न 15-15 अंकों का होगा।
3. छठे प्रश्न में खण्ड 'ख' से आठ लघूत्तरी प्रश्न पूछे जाएंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को पांच प्रश्न (प्रत्येक लगभग 250 शब्दों में) के उत्तर लिखने होंगे। प्रत्येक प्रश्न चार अंकों का और पूरा प्रश्न बीस अंकों का होगा।
4. सातवें प्रश्न में दस अति लघूत्तरी प्रश्न पूछे जाएंगे। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर (प्रत्येक लगभग 50 शब्दों में), देना अनिवार्य होगा। प्रत्येक प्रश्न दो अंकों का होगा और पूरा प्रश्न 20 अंकों का होगा।

पाठ्य विषय

1. **सूरदासः** भ्रमरगीत सार-सम्पादकः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

   भक्ति-भावना, श्रंगार वर्णन, भ्रमरगीर परम्परा, सूर के भ्रमरगीत का प्रतिपाद्य, सहृदयता और भावुकता, सूर की राधा, गीतितत्व।

   पाठ्यपद-21 से 70 = 50 पद

2. **तुलसीदास**

   भक्ति-भावना, सामाजिक, सांस्कृतिक द ष्टि, लोकमंगल की भावना, तुलसीदास की सार्थकता, मानस की प्रबन्ध कल्पना।

   रामचरित मानसः उत्तरकाण्ड (81 - 130 = 50 दोहे-चौपाइयाँ)

3. **बिहारीः** बिहारी रत्नाकार-सम्पादकः जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

   मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी, सतसई परम्परा और बिहारी, श्रंगार वर्णन, सौन्दर्य बोध, बहुज्ञता।

लघूत्तरी प्रश्नों के लिए निर्धारित कवि

अमीर खुसरो, जायसी, रैदास, मीराबाई, रसखान, नन्ददास, दादू, रहीम, भूषण, घनानन्द = 10 कवि

सूरदास

(खण्ड-क)

आलोचना

1. व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व
2. भाषा
3. भक्ति भावना
4. श्रंगार वर्णन
5. वात्सल्य
6. सहृदयता और भावुकता
7. गीति तत्व
8. भ्रमरगीत परंपरा
9. भ्रमरगीत प्रतिपाद्य
10. राधा

(खण्ड-ख)

व्याख्या

अध्याय 1
व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व

व्यक्तित्व

हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य महात्मा सूरदास ने इस जगती-तल पर प्रकट होकर साहित्य, संगीत और कला को अपूर्व प्रकाश प्रदान किया किंतु आश्चर्य और खेद इस बात का है कि ऐसे महापुरुष की जीवन-गाथा का बहुत कम अंश ही ऐतिहासिकों को ज्ञात हो सका। अब से प्रायः 20 वर्ष तक सूरदास की अधिकांश जीवन घटनाएं अज्ञानांधकार से आच्छादित थी। उनके जीवन की जो थोड़ी-बहुत घटनाएं उस समय प्रकट थी; उन पर भी बिल्वमंगल आदि अन्य सूरदासों की जीवन घटनाएं इस प्रकार छाई हुई थीं कि उनका वास्तविक जीवन व त्तांत अप्रमाणिकता के निविड़ अंधकार में कठिनता से द ष्टिगोचर होता था। उन्होंने अपने संबंध में 'साहित्य-लहरी' के एक पद के अतिरिक्त कहीं कुछ भी खुलकर नहीं लिखा, न उनके जन्म संवत् और न निधन संवत् का ही आज तक निर्णय हो सका। यह समस्या इसलिए और भी जटिल हो गई है कि लगभग एक ही समय में अनेक सूरदास हुए हैं और उनके चरित्र एक दूसरे से मिल गए है।

इधर कुछ वर्षों से सूर-साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन होने के परिणामस्वरूप सूर का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने इनकी रचनाओं के अंतर्साक्ष्य एवं समकालीन और परवर्ती रचयिताओं के बाहिर्साक्ष्य का विश्लेषण कर जीवन की अनेक घटनाएं निश्चित की हैं।

पुष्टिमार्ग की मान्यताओं के अनुसार वल्लभाचार्य जी का जन्म वैशाख कृष्ण एकादशी रविवार, संवत् 1535 विक्रमी और म त्यु आषाढ़ शुक्ल 3 संवत् 1587 विक्रमी है और उन्होंने गौ-घाट पर सूरदास को अपना शिष्य बनाया था। इसी संप्रदाय की अन्य मान्यताओं के अनुसार सूर महाप्रभु से अवस्था में 10 दिन छोटे थे और गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी सूर की म त्यु के समय जीवित थे। विठ्ठलनाथ का गोलोकवास संवत् 1642 है। अतः सूर का जन्म समय संवत् 1535 वैशाख शुक्ल 5 हुआ और म त्यु संवत् 1640 विक्रमी के लगभग मानी गई है। सूर के जीवनचरित का संज्ञान हमें उपलब्ध समसामयिक एवं परवर्ती सामग्री के विचारोपरांत ही होता है।

जीवन-सामग्री

सूर के संबंध में प्राप्त सामग्री के दो रूप है :-

(1) बाह्य-साक्ष्य,

(2) अंतः-साक्ष्य।

बाह्य-साक्ष्य में अधिगत सामग्री भी दो प्रकार की है—प्रथम कोटि में सूर के जीवन से संबद्ध वे घटनाएं आती हैं जिनका उल्लेख समसामायिक तथा परवर्ती प्राचीन लेखकों तथा कवियों ने अपनी कृतियों में किया है। इसके अंतर्गत सांप्रदायिक साहित्य, वार्ता-साहित्य, परवर्ती कवियों तथा भक्तों द्वारा उल्लेख तथा तत्कालीन इतिहास ग्रंथ आते हैं। दूसरी कोटि में आधुनिक सामग्री आती है जो हिंदी-साहित्य के इतिहास ग्रंथों तथा आलोचनात्मक प्रबंधों में है।

अंतः-साक्ष्य में उपलब्ध सामग्री के अंतर्गत सूर के आत्मकथन आते हैं जो उनके पदों में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। अनुमानित तिथियों के उल्लेख के कारण ये कथन अधिक सहायक नहीं हैं। क्योंकि दैन्य-भाव से प्रेरित प्रायः सभी भक्त कवियों के आत्म-प्रवंचना तथा आत्म-भर्त्सना संबंधी पद एक

से मिलते हैं जिनके आधार पर उनके भौतिक जीवन तथा जीवन के आध्यात्मिक पक्ष की कल्पना करना उनके प्रति घोर अन्याय होगा।

सूर कवि से पूर्व भक्त थे और फिर कृष्ण के परमद्याम ब्रज में निवास करते हुए वे अलौकिक बंधनों को विच्छिन्न कर अपने जीवन का स्वरूप ही बदल चुके थे।

बाह्य-साक्ष्य—बाह्य-साक्ष्य में अधिगत सामग्री में अत्यधिक महत्वपूर्ण सांप्रदायिक साहित्य तथा वार्ता साहित्य है, जिसमें सूर का उल्लेख हुआ है। वार्ता-साहित्य में (1) चौरासी वैष्णवन की वार्ता, (2) निज वार्ता तथा (3) श्री हरिराय जी कृत भाव-प्रकाश आते हैं। इनके अतिरिक्त सूर के जीवन पर प्रकाश डालने वाले संप्रदाय संबंधी निम्नलिखित ग्रंथ है :—

(1) वल्लभ-दिग्विजय।

(2) संस्कृत-वार्ता-मणि-माला।

(3) अष्ट-सरवाम त।

(4) संप्रदाय-कल्पद्रुम।

(5) भाव संग्रह आदि।

संप्रदाय साहित्य के अतिरिक्त जिन समकालीन अथवा परवर्ती भक्तों के ग्रंथों में सूर का उल्लेख हुआ है, वे निम्नलिखित हैं—

(1) भक्तमाल (नाभादास) तथा भक्तमाल की टीका (प्रियादास),

(2) भक्त नामावली (ध्रुवदास),

(3) राम रसिकावली (ठा० रघुराज सिंह),

(4) भक्त-विनोद (कवि मियां सिंह),

(5) नागर-समुच्चय (नागरी दास),

(6) व्यास वाणी (हरिराम व्यास)।

जिन ऐतिहासिक ग्रंथों में सूर अथवा उनके पिता का उल्लेख हुआ, वे निम्नलिखित हैं :—

(1) आइने अकबरी।

(2) मुंतखिब-उल-तवारीख़।

(3) मुशीयात-अबुल-फ़जल।

इनके अतिरिक्त अनेक आलोचनात्मक तथा शोध-ग्रंथ हैं, जिनमें परंपरा के अनुकूल सूर के जीवन-व त्त का उल्लेख किया गया है।

संपूर्ण सामग्री के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अपनी कीर्ति-ज्योति से दिग्दिगंत को समुद्भासित करने वाले अंधे कवि के जीवन की कहानी अंधकार में ही तिरोहित है। अन्तः साक्ष्य में उपस्थित किए जाने वाले पदों में केवल दो पद ही ऐसे हैं, जिनमें काल-प्रमाण का उल्लेख है। बाह्य-साक्ष्य में सूर संबंधी सर्वाधिक उल्लेख वार्ता-साहित्य में मिलते हैं। इसलिए सूर के जीवन-व त्त का निर्धारण करने में प्रथम तो संपूर्ण वार्ता-साहित्य में दिए हुए सूर संबंधी अध्ययन की थोड़े-बहुत अंतर के साथ अन्विति मिल जाती है, दूसरे कुछ सामयिक रचनाओं को छोड़कर सूरदास का सर्वाधिक एवं सर्वप्रथम उल्लेख इसी वार्ता-साहित्य में है।

नाम—हिंदी-साहित्य की सुदीर्घ परंपरा में सूरदास नाम वाले कई कवि हो गए हैं। इनमें सूरदास, मनमोहन, सूरदास बिल्वमंगल तथा अष्टछापी सूरदास विशेष प्रसिद्ध हैं। सूर या सूरदास शब्द चक्षुविहीन व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है। नेत्रविहीन कविताकार को सूरदास की संज्ञा दी जाती है। विभिन्न सूरदासों के कारण हिंदी के प्रसिद्ध महाकवि का व्यक्तित्व भी उलझ गया था किंतु अब वैज्ञानिक अनुसंधानों से प्राप्त प्रमाणों एवं तथ्यों के प्रकाश में आ जाने से सरल हो गया है। उनके जीवन संबंधी समस्त गुत्थियां सुलझती दिखाई देने लगी हैं।

जन्मतिथि—सूर की जन्मतिथि के संबंध में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद हैं। उनके जन्म के बारे में वार्ता साहित्य में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, वास्तव में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूर की कथा का आरंभ होता है जब वे आगरा-मथुरा के बीच गौ-घाट पर रहते थे। गौ-घाट पर रहने से पहले की श्रंखला हरिराय जी ने अपने 'भाव-प्रकाश' में मिलाई है।

नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर उनके जन्म-समय का निर्णय हुआ। पुष्टि संप्रदाय की मान्यतानुसार सूर की जन्मतिथि वैशाख शुक्ला 5 मंगलवार, सवत् 1535 विक्रमी है। संप्रदाय के अन्य लेखों से भी इस तिथि की पुष्टि होती है। सूरदास के दीक्षागुरू वल्लभाचार्य के वंशज श्री गोपीकालंकार भट्ट जी महाराज ने भी सूर की जन्मतिथि के संबंध को स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित किया है-

'प्रगटे भक्त-शिरोमणि राय।
माधव शुक्ला पंचमि ऊपर पंचमि ऊपर छट्ट अधिक सुखदाय।।'

श्री द्वारिकेश के भाव संग्रह और श्री गोकुलनाथ जी के 'निज-वार्ता' से भी इस तिथि की पुष्टि होती है। श्रीनाथ द्वारे में सूरदास का जन्मोत्सव श्री वल्लभाचार्य के जन्मोत्सव से दस दिन पश्चात् मनाया जाता है।

हिंदी विद्वानों ने सूर का जन्म प्रायः संवत् 1540 माना है और सभी इतिहासकारों ने इसे दुहराया है। मिश्रबंधुओं ने अनुमान से सूर का जन्म संवत् 1540 लिखा था, फिर सभी विद्वानों ने उसी को मान्य समझा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूरसारावली के पदानुसार सूरदास का जन्म संवत् 1620 के आस-पास अनुमानित किया है। पद द्रष्टव्य है-

'गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।'

सूर का जन्म संवत् 1540 मानने वालों ने 'सूर सारावली' और 'साहित्य-लहरी' की रचना लगभग साथ-साथ ही मानी है, क्योंकि 'साहित्य-लहरी' का रचनाकाल 'मुनि-पुनि रसन के रस लेख' पद से संवत् 1607 ठहराया है, इसलिए सूर-सारावली की आयु 97 वर्ष थी, इसीलिए उनका जन्म संवत् 1540 अनुमानित किया गया है। सूर-निर्णय के लेखकों ने अंतः साक्ष्य के आधार पर सूर का जन्म संवत् 1535 विक्रमी ही निश्चित किया है। उन्होंने लिखा है कि वल्लभ संप्रदाय की सेवा-प्रणाली के इतिहास की संगति से 'सूर-सारावली' का रचना काल संवत् 1602 में से 67 साल कम कर देने से संवत् 1535 आता है, अतः अंतः साक्ष्य सूर-निर्णय के लेखकों के अनुसार सूर का जन्म संवत् 1535 सिद्ध होता है।

श्री वल्लभाचार्य के सबंध में अभी तक 'वल्लभ-दिग्विजय' ही प्रामाणिक है और उसमें सूर का जन्म संवत् 1535 माना है। इसलिए सूर की जन्मतिथि वैशाख शुक्ल 5 मंगलवार संवत् 1535 विक्रमी ही ठहरती है।

जन्म स्थान—महाकवि सूरदास का जन्म कहां हुआ, इस संबंध में आलोचकों में गतिरोध रहा है। सूर की जन्मभूमि को लेकर मुख्यतया चार स्थानों की प्रसिद्धि है—गोपाचल, मथुरा प्रांत में कोई ग्राम, रुनकता तथा सीही। गोपाचल और गोपाद्रि ग्वालियर के प्राचीन नाम हैं। 'साहित्य-लहरी' के वंश परिचय वाले पद में सूर के पिता का निवास स्थान गोपाचल माना गया है। डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने ग्वालियर का नाम 'गोपाचल' सिद्ध किया है और इसे ही सूर की जन्म-भूमि माना है। कवि मियांसिंह—कृत्त 'भक्त-विनोद' में सूर की जन्म-भूमि के विषय में लिखा हैं-

'मथुरा प्रांत विप्र कर गेहा। भो उत्पन्न भक्त हरि जेहा।।'

इस पद में किसी स्थान विशेष का उल्लेख न होने के कारण सूर के आलोचकों में पर्याप्त भ्रांति रही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में सूर का जन्म स्थान रूनकता लिखा है तथा डॉ० श्याम सुंदरदास ने अपने ग्रंथ 'हिंदी भाषा और साहित्य' सूर की जन्मभूमि स्वीकारी है। इस भ्रांति का कारण सूर का गौ-घाट पर रहना है।

वार्ता-साहित्य के अनुसार सूर का जन्म-स्थान 'सीही' है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के भाव प्रकाश में श्री हरिराय जी ने सबसे पहले सूर का जन्म स्थान दिल्ली से चार कोस की दूरी पर 'सीही' स्थान बतलाया था। उससे पहले कहीं वार्ता-साहित्य में सूर के लौकिक जीवन की ओर संकेत नहीं हैं। गोकुलनाथ जी के समकालीन प्राणनाथ कवि ने भी 'अष्ट-सरवाम त' में सूर का जन्म-स्थान सीही ही माना है। सीही की स्थिति हरिराय जी ने अपने 'भाव-प्रकाश' में बताई है-

'दिल्ली के पास चार कोस उरे पर एक सीही ग्राम है, जहां परीक्षित के बेटा जन्मेजय ने सूर्य-यज्ञ किया है।' आज अधिकांश विद्वानों के सीही को सूर का जन्म स्थान मान लेने से कवि मियां सिंह वाले मत की संगति बैठ जाती है इसलिए सूर का जन्म-स्थान सीही ठहरता है।

जाति तथा वंश—महाकवि सूर की जाति तथा वंश भी विवादग्रस्त है। सूरदास के वंश-व क्ष तथा माता-पिता का उल्लेख करने वाला एक पद 'साहित्य-लहरी' में मिलता है। इस वंश-व क्ष की पुष्टि महामहोपाध्याय श्री हरिप्रसाद शास्त्री ने भी की है। इस वंश-व क्ष में सूर का नाम और साहित्य-लहरी के वंश से बहुत साम्य रखता है। वार्ता में भी सूर को सारस्वत ब्रह्मण ही लिखा है।

सूरदास की जाति के संबंधों में आलोचकों ने स्वेच्छापूर्वक भांति-भांति के अनुमान लगाए है, किंतु प्राचीन प्रमाण उन्हें सारस्वत ब्राह्मण ही सिद्ध करते हैं। वल्लभाचार्य के पौत्र गोस्वामी यदुनाथ ने सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण ही कहा है-

'ततोऽलर्कपुरे समागतः। तत्रावासः कृतः। ततो व ज समागमते सारस्वत यूस्दासो नुग हीतः।'

—वल्लभ दिग्विजय-प ० ५०

संस्कृत साहित्य से इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। वस्तुतः भक्त अथवा साध ान कवि की उक्तियां स्वान्तः सुखाय होते हुए भी सर्वभूत-हिताय होती है; क्योंकि आत्मसाक्षात्कार अथवा मुक्त हृदयत्व के कारण उसके 'स्व' का इतना विस्तार हो जाता है कि वह समस्त विश्व को अपनी बांहों में समेट लेता है, व्यष्टि-समष्टि में लीन हो जाता है और वह इस प्रकार की वैराग्यपरक उक्तियां प्रस्तुत करता है जो सर्वसाधारण के लिए पथ-प्रदर्शिका सिद्ध हों। इस प्रकार के कथन जहां एक ओर उसकी स्वयं की भक्ति को द ढ़ करते हैं वहां दूसरी ओर जनसाधारण के कल्याण का भी वहन करते हैं। सूर के संबंध में कहा जाता है कि वे सीही ग्राम में रहने लगे थे, वहां उनके पास यथेष्ट वैभव, शिष्य, सेवक और गाने-बजाने का प्रबंध हो गया था, जिसका उल्लेख हरिराय जी ने 'भाव-प्रकाश' में किया है। भक्ति का उदय होने पर उन्हें उस जीवन से विरक्ति हुई और वे उसका पश्चाताप बहुत दिनों तक करते रहे। तीसरा, विरक्ति-विषयक पद उनके दैन्य-विनय और शील को ही प्रकट करने वाला है, इसलिए उन पदों को आधार मानकर उनके जीवन के विषय में अन्यथा कल्पना करना समुचित नहीं।

अंधत्व—सूरदास नेत्रविहीन थे, यह निर्विवाद है किंतु वे जन्मांध थे अथवा बाद में अंधे हुए यह विवादग्रस्त है। सूर के काव्य में द श्य जगत का ऐसा यथार्थ और सर्वांगपूर्ण वर्णन मिलता है जैसा आंखों से देखे बिना किसी कवि द्वारा संभव नहीं होता इसलिए आजकल के अनेक विद्वान सूर की जन्मांधता पर विश्वास नहीं करते, अन्यथा उनके पास जन्मांधता के विरुद्ध कोई ठोस प्रमाण नहीं है। वार्ता-साहित्य में सूर को न केवल साधारण जन्मांध ही माना है अपितु सलपट अंध भी, अर्थात् उनके चक्षु नाम मात्र को भी न थे, बल्कि कुहर रूप में केवल चक्षु चिह्न थे। वार्ता के अतिरिक्त गोस्वामी हरिराय जी, जिन्होंने सर्वप्रथम सूर का विस्त त व तांत लिखा है सूरदास को जन्मांध मानते है। बाह्य-साक्ष्य भी सूर को जन्मांध सिद्ध करते हैं—

(1) सूरदास के समकालीन श्रीनाथ भट्ट ने संस्कृत मणिमाला में इन्हें जन्मांध कहा है।

'जन्मांधो सूरदासो भूत।'

(2) श्री हरिराय जी ने सूरदास की म त्यु के लगभग सौ वर्ष पश्चात् की रचना 'भाव-प्रकाश' में सूर की जन्मांधता का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया हैं।

'सो सूरदास को जन्म ही सों नेत्र नाहीं हैं।'

(3) प्राणनाथ कवि ने भी स्पष्ट जन्मांध कहा है :—

'बाहर नैन-विहीन सो, भीतर नैन विसाल।
जिन्हें न जग कहु देखिवो, लखि हरि रूप निहाल।।'

(4) मियांसिंह के 'भक्ति-विनोद' का कथन द्रष्टव्य हैं-

'जन्म अंध द ग ज्योति-विहीना।'

प्रचलित सूर-विषयक जन-श्रुतियों में भी सूर के अंधत्व की बात दुहराई गई है, किंतु आज के अधिकांश आलोचक उनके विचित्र रूप वर्णन, अंग-प्रत्यंगों के सौंदर्य का ब्योरेवार संश्लिष्ट चित्रण एवं विभिन्न प्राकृतिक द श्यों की अवतारणा को देखकर उन्हें जन्मांध मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं।

सूरसागर से अनेक पद सूर के अंधत्व के प्रतिपादन में प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं जो द ष्टव्य हैं—

'रास रस की रीति नहिं बरनि आवै।
इहै मंत्र, यह ज्ञान यह ध्यान है, दरस दंपत्ति भजन सार गाऊँ।
इन्हें मांगौ बार-बार प्रभु, सूर के नयन हुवै रहो, नर देह पाऊं।।'

तथा

'कहावत ऐसे त्यागी दानि।
चार पदारथ दिये सुदामहिं, अरु गुरु के सुत आनि।।
रावन के दस मस्तक छेदे, सर गहिं सारंग पानि।
लंका दई विभीषन जन कों, पूरबली पहिचानि।।
विप्र सुदामा कियौ अजाची, प्रीति पुरातन जानि।
सूरदास सौ बहुत निदुरता, नैननि हू की हानि।।'

अन्तिम पंक्ति स्पष्टतः सूर के अंधत्व की सूचक है और अत्यंत निष्ठुरता जन्मांधत्व को ही सूचित करती है।

सूरसागर के पद सूर के जन्मांधत्व का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं—

'नाथ मोहि अबके बेर उबारौ।
करम-हीन जन्म को आंधो मोते कौन न कारो।।'

सूर-निर्णय के लेखकों ने सूरदास के जन्मांधत्व को सिद्ध करने के लिए अंतः साक्ष्यों का आश्रय लिया जो उपर्युक्त पद में द्रष्टव्य है किंतु इन पदों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। अतः इनके आधार पर सूर को जन्मांध कहना असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता।

यह कल्पना की जा सकती है कि पद-रचना के समय सूरदास नेत्र विहीन हो गए हों, जन्म से अंधे न हों जैसाकि आधुनिक विद्वानों ने माना है। इस प्रकार रुप-वर्णन, रंगों एवं विभिन्न वस्तुओं का चित्रण करने वाले पदों की अन्विति तो बैठ सकती है किंतु इस नितांत मौलिकतावादी द ष्टिकोण को अपनाने पर सूर की दिव्य आध्यात्मिक शक्ति की अवहेलना और उपेक्षा भी द्योतित होती है। यह अनिवार्य नहीं कि सूर ने जिन वस्तुओं का चित्रण किया है, उनका उपभोग भी किया हो या चर्म-चक्षु से देखा हो। इस प्रकार का वर्णन जिसमें अमूर्त भावों के आंतरिक पक्ष का भी उद्‌घाटन किया गया हो; सांत के प्रसार में झलकते हुए अनंत का पूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है। मोहाधंकार को भेदकर शांति का शुभ संदेश लाने वाली विरक्ति-ऊषा की अरुण आभा का विकिरण हो, प्रव त्ति और निव त्ति का मधुर योग हो, विलास और साधनों के विकास का सुंदर विश्वास हो, स्वर्ग और वसुधा का समन्वय हो और मानवता में देवत्व की प्रतिष्ठा हो; केवल दिव्य-द ष्टि संपन्न महात्मा ही कर सकता है। जन्मांध व्यक्तियों के अंतसचक्षु उन्मीलित हो जाते हैं और वे आंतरिक नेत्रों से ही बाह्य जगत का साक्षात्कार

करते हैं। आज भी ऐसे महापुरुष देखे जाते हैं; जिनकी जन्मांधता प्रत्यक्ष प्रमाणित है जो अपनी क्रियाओं से चक्षुष्मान् व्यक्तियों को भी आश्चर्य-चकित कर देते है। फिर सूर तो सूर थे, भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर चुके थे, प्रकाशमय आराध्य में विलीन होकर स्वयं तेजोमय हो चुके थे फिर उनके लिए संसार में कौन सी वस्तु अप्रकाशित रह जाती ? वे भक्ति द्वारा उस सिद्धावस्था पर पहुंच चुके थे, जहां पहुंचकर भक्त के लिए समस्त ब्रह्मांड हस्तामलकवत् हो जाता है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि बाह्य-साक्ष्य के अनुसार सूर का जन्मांध होना ही सिद्ध है। अंतः साक्ष्य में यत्र-तत्र उनके अंधत्व पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है किंतु जन्मांधत्व से संबंधित प्रामाणिक पदों की उपलब्धि नहीं हुई। जन्मांधता अथवा बाद में अंधा होने के संबंध में न कहीं साक्ष्य है और व हत् सूरसागर में न कहीं कोई झलक ही हैं। अतः सूरदास को जन्मांध मानना ही तर्कसंगत एवं प्रामाणिक प्रतीत होता है।

संप्रदाय-प्रवेश—सूर अल्पायु में ही विभिन्न विद्याओं और कलाओं में निपुण हो गए थे। गायन-वादन में विशेष रुचि थी। उनका कंठस्वर अत्यंत मधुर था वे संगीत-कला के दक्ष थे, अतः उनका गायन इतना प्रभावोत्पादक था कि सुनने वाले मंत्रमुग्ध हो जाते थे।

सीही के निकट एक ग्राम में तालाब के किनारे रहते हुए एक दिन उनके हृदय में अकस्मात् विचार उठा कि मैं भगवद्भजन के लिए विरक्त होकर घर से निकला था, किंतु यहां माया के चुंगल में फंस गया। यह विचार आते ही आत्म-ग्लानि हुई और अपना समस्त वैभव वहीं छोड़ ब्रज चल दिए। इस समय उनकी आयु केवल 18 वर्ष थी। इस प्रकार सीही के निकटवर्ती ग्राम में संवत् 1553 तक रहे।

वहां से चलकर वे मथुरा पहुंचे, जहां उन्होंने कुछ समय विश्राम किया। उनका मन स्थायी रूप से मथुरा निवास का था, लेकिन वहां की भीड़-भाड़ अशांति और कोलाहल का अनुभव कर वे वहां से चलकर मथुरा-आगरा मार्ग पर स्थित गौ-घाट नामक स्थान पर पहुंचे। यमुना नदी के तट पर निर्जन स्थल पर स्थान ग्रहण किया। यहां 12 वर्ष तक रहे। वहां रहते हुए वे दीनता- विनय और ज्ञान-वैराग्य के पद गाया करते थे। वे पद सूर की आरंभिक रचना के हैं, जो सूरसागर के प्रथम तथा द्वितीय स्कंधों में मिलते हैं। गौ-घाट पर जाने के बहुत दिन पश्चात् संवत् 1567 के लगभग पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्त्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य जी गौ-घाट पर आए। सूर का वल्लभाचार्य से साक्षात्कार हुआ। वल्लभाचार्य ने सूर को कृष्ण-लीला देखने के लिए दिव्य द ष्टि प्रदान कर उनका हीनता भाव नष्ट कर दिया-

'सूर ह्वै घिघियात काहे कू है, कुछ भगवत्लीला वर्णन करो।'

तत्पश्चात् सूर आचार्य जी के साथ गोकुल आए और नवनीतप्रिया जी को अपने सरस काव्य का रसास्वादन कराने लगे। कालांतर में वल्लभाचार्य ने पूरनमल खत्री द्वारा नवनिर्मित श्रीनाथ मंदिर में प्रतिष्ठित किया और पुष्टि संप्रदाय के प्रमुख आराधक के कीर्तन आरंभ किया था। यह घटना संवत् 1568 के लगभग की है। इस प्रकार सूर 33 वर्ष की आयु में पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित हुए होंगे तथा अंतिम समय तक संप्रदाय की सेवा में संलग्न रहे अपने सुदीर्घ जीवन काल में उन्होंने प्रायः एक लाख पदों की रचना की थी। वे समस्त पद कालांतर में 'सूरसागर' तथा सूरदास की अन्य कृत्तियों में संकलित हुए हैं।

सम्राट अकबर से भेंट—महात्मा सूरदास के विषय में इधर-उधर जाने की जो जनश्रुतियां प्रचलित हैं उनकी प्रामाणिकता संदेह के गर्भ में अवस्थित हैं। 'सूरदास की वार्ता प्रसंग' 3 में उनकी अकबर के साथ भेंट का उल्लेख मिलता है। जिसमें अकबर के सद श उदार व्यक्तित्व, सहिष्णु एवं कला-प्रेमी का सूरदास के प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक है, किंतु सूर के हृदय में अपने उपास्य के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए स्थान न था-

'प्रेम-गली अति संकरी वामें दो न समायं।'

सूरदास के संगीत की प्रसिद्धि दूर-दूर तक हो गई थी। अति विख्यात गायक भी उनके पदों का गायन करने लगे। एक बार तानसेन ने सूर का पद अकबर बादशाह के दरबार में गाया। अकबर

उस पद की रचना-माधुरी से अत्यधिक प्रसन्न हुआ और सूर से मिलने का विचार बनाया। इसके कुछ समय पश्चात् अकबर राजकीय कार्य से मथुरा गए। पता चला कि सूर भी कुछ समय के लिए श्रीनाथ जी के स्वरूप के साथ कुछ समय के लिए मथुरा आए थे। अतः संवत् 1623 सन् 1566 में मथुरा में अकबर बादशाह की आग्रह से एक उपदेशात्मक पद का गायन उनके सम्मुख किया जो 'सूर पच्चीसी' के नाम से प्रसिद्ध है।

डॉ० दीनदयाल गुप्त का अनुमान है कि 'अकबर सूर से सन् 1575 ई० से सन् 1582 ई० के बीच मिला होगा। गुप्त जी का मत द ष्टव्य है :-

'लेखक का अनुमान है कि अकबर या तो सन् 1577 की अजमेर यात्रा से लौटकर मिला हो या सन् 1579 की अजमेर यात्रा से फतेहपुर सीकरी को लौटता हुआ रास्ते में मथुरा में उनसे मिला हो। सन् 1579 में मिलना अधिक संगत लगता है क्योंकि अकबर ने उसी साल धार्मिक आचार्यों की बहसें सुनी थीं और अपने दरबार में भिन्न-भिन्न मतों के महात्माओं को बुलाया था।'

अकबर सूर-मिलन के संबंध में सूर-निर्णयकार ने लिखा है—

'हमारे अनुमान से सूरदास और अकबर का मिलन संवत् 1623 (सन् 1566) में मथुरा में हुआ था। सांप्रदायिक इतिहास से ज्ञात होता है कि संवत् 1623 की फागुन कृष्णा सप्तमी को गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी की अनुपस्थिति में उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरधर जी श्रीनाथ जी के स्वरूप को गोवर्धन ले गए थे। उस समय श्रीनाथ जी दो माह बाईस दिन पर्यन्त मथुरा में रहे थे और उस अवधि ा में सूरदास को भी उनकी कीर्त्तन सेवा करते हुए मथुरा में रहना पड़ा था।'

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अकबर-सूर-मिलन सन् 1574 से सन् 1582 के बीच हुआ होगा।

सूर-तुलसी भेंट—सूर और तुलसी की भेंट का उल्लेख भी कतिपय ग्रंथों तथा जनश्रुतियों में मिलता है। इन ग्रंथों में तीन मुख्य हैं—(1) वार्ता, (2) 'भक्तमाल' की टीका में तथा (3) मूल गुसांई चरित्र।

'मूल गुसांई चरित' के अनुसार संवत् 1616 में श्री गोकुलनाथ की प्रेरणा से सूरदास तुलसीदास से चित्रकूट में मिले। एक मत यह भी है कि सूर-तुलसी की भेंट पारसौली में सूरदास के निवास-स्थान पर संवत् 1626 में हुई थी, जबकि तुलसीदास इसी समय अपने अनुज नंददास से मिलने आए थे। सुर-तुलसी-मिलन संबंधित ब्रज में कई जनश्रुतियां प्रचलित हैं; किंतु प्रामाणिकता संदिग्ध है। अरस्तु, तुलसी और सूर की भेंट घटना सत्य प्रतीत होती हैं, किन्तु उसकी तिथि एवं स्थान आदि के विषय में असंदिग्ध रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

गोलोकवास—सूरदास का जितना काव्य अभी तक प्रकाश में आया हैं, उसी के कारण वे हिंदी कवियों के मुकुटमणि माने जाते हैं। सूर को भगवद्भक्ति और कीर्तन-सेवा करते हुए बहुत समय हो गया था। उनके महाप्रयाण का समय आ गया था। जन्मतिथि की भांति सूर के गोलोकवास के संबंध ा में अत्यधिक मतभेद रहा है। उनकी निधनतिथि संवत् 1620 से संवत् 1642 तक दोलायमान रही है।

मिश्रबंधु तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार सूर की म त्यु संवत् 1620, डॉ० रामकुमार वर्मा संवत् 1620, सूर-निर्णयकार संवत् 1640 हैं। इस प्रकार सूर का देहावसान संवत् 1640 सिद्ध होता है। सूर ने अपना अंतिम समय निकट जानकर निवास स्थान पारसौली में श्रीनाथजी के मंदिर की ध्वजा को भक्तिभाव से प्रणाम किया और चबूतरे पर लेट गए। उन्होंने अपना मन समस्त लौकिक क्रियाओं से हटाकर एकाग्र भाव से श्रीनाथ जी और गुसांई जी के ध्यान में लगा दिया और अपने अंतिम काल की प्रतीक्षा करने लगे। गोसांई विठ्ठलनाथ को सूर की अवस्था का समाचार मिला। वे शीघ्र ही अपने शिष्यों-सेवकों सहित सूरदास के निवास स्थान पर आ गए। सूरदास के अंतिम समय में गोसांई विठ्ठलनाथ ने अपने भक्तों से कहा पुष्टिमार्ग का जहाज जा रहा है, जिसकी जो कामना हो वह इनसे प्राप्त कर सकता है-

'पुष्टि-मार्ग कौ जहाज जात है। जाय कछु लैनो होय सो लेऊ।'

गोसांई जी के मुख से "सूरदास जी! कैसे हो ?" शब्दों के सुनते ही सूर ने अपने नेत्र खोले और गुसांई जी को अंतिम प्रणाम किया। इसके उपरांत उन्होंने इस पद को गुनगुनाते हुए अपना भौतिक शरीर छोड़कर संवत् 1640 में कृष्ण के नित्य लीलाधाम में प्रवेश किया-

'खंजन नैन रूप रस माते।
अतिशय चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि पलटि तातंक फंदाते।
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ जाते।।'

कृत्तित्व

वार्ता-साहित्य अथवा सूर के सम-सामयिक इतिहास-ग्रंथों में उनकी रचनाओं के संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। वार्ता-साहित्य में सूर के सहस्रावधि पदों अथवा असाक्षात् रूप से सवा लाख पदों की ओर संकेत अवश्य किया गया है, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट, इतिहास-ग्रंथ एवं पुस्तकालयों में सुरक्षित ग्रंथों की नामावली के अनुसार सूरदास के नाम पर अभी तक 25 रचनाएं प्राप्त हुई हैं इनमें कुछ रचनाएं प्रकाशित हैं कुछ अप्रकाशित हैं जिनमें अनेक रचनाओं की प्रामाणिकता भी संदिग्ध हैं। इन ग्रंथों में कई ग्रंथ ऐसे हैं, जो प्रायः सूरसागर के ही अंश हैं, वे ग्रंथ निम्नलिखित हैं -

(1) सूरसागर।
(2) सूर-सागर सार।
(3) सूर-सारावली।
(4) सूर-साठी।
(5) साहित्य-लहरी।
(6) भागवत भाषा।
(7) सूर-रामायण।
(8) गोवर्धन लीला।
(9) भंवर गीत।
(10) प्राण प्यारी।
(11) सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद।
(12) एकादशी-माहात्मय।
(13) दशम स्कंध भाषा।
(14) मान-लीला।
(15) नाग-लीला।
(16) द ष्टि कूट के पद।
(17) सूर-पच्चीसी।
(18) नल दमयंती।
(19) राधा-रस केलि-कौतूहल।
(20) दान-लीला।
(21) व्याहलो।
(22) सूर शतक।
(23) सेवा फल।
(24) हरिवंश टीका।
(25) राम-जन्म।

इन ग्रंथों के बारे में डॉ० हरवंशलाल शर्मा के कथन अत्यधिक प्रचलित हैं-

'ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास के पदों एवं उनके नाम से प्रचलित पदों का संग्रह करके कुछ महानुभावों ने सुरक्षित रखा और जब अनुसंधानकार्य प्रारंभ हुआ, तब वे हस्तलिखित प्रतियां 'सूर' के नाम से अलग ग्रंथ मान ली गई।

डॉ० दीनदयालु गुप्त ने केवल सूरसागर, सूर-सारावली और साहित्य-लहरी ही सूर के प्रामाणिक ग्रंथ माने हैं, 'प्राण-प्यारी' को उनकी संदिग्ध रचना माना है और 'नल-दमयंती', हरिवंश-टीका, रामजन्म और एकादशी-माहात्मय को अप्रामाणिक माना हैं।

द्वारिकादास पारीख और प्रभुदयाल मीतल ने 'सूर-निर्णय' में सूर की सात रचनाएं प्रामाणिक मानी हैं—सूर सारावली, साहित्य, लहरी, सूरसागर, सूरसाठी, सूर पच्चीसी, सेवाफल और सूरदास

के विनयादि के स्फुट पद। उन्होंने हरिवंश टीका, एकादशी-माहात्मय, नल-दमयंती और राम जन्म को अप्रामाणिक तथा शेष ग्रंथों को डॉ० गुप्त के अनुसार सूरसागर के अंतर्गत माना है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूरकृत केवल तीन रचनाओं का उल्लेख किया है, जो उनके मतानुसार प्रामाणिक है-सूरसागर, साहित्य-लहरी और सूर सारावली।

डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने २५ ग्रंथों का उल्लेख करके केवल सूरसागर, साहित्य-लहरी और सूर सारावली को प्रामाणिक माना है।

उपर्युक्त सभी ग्रंथ सूर द्वारा रचित नहीं हैं। कुछ ग्रंथ 'सूर सागर' से किए गए संग्रह मात्र हैं। सूर की भाषा, शैली और अभिव्यक्ति उपर्युक्त सभी ग्रंथों में नहीं मिलती। इस दिशा में पर्याप्त अनुसंधान करने की आवश्यकता है। इन्हीं पदों के संकलन आजकल विभिन्न ग्रंथों के रूप में सूर के नाम से प्रसिद्ध हैं। सूर के केवल तीन ग्रंथ ही हैं जिन पर सभी आलोचक एकमत हैं वे ग्रंथ इस प्रकार हैं—सूरसारावली, साहित्य लहरी और सूरसागर।

सूरसारावली—यह ग्रंथ सूरसागर के प्रारंभ में संकलित है। इसके दोनों संस्करणों का प्रकाशन 'वेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई' और 'नवलकिशोर प्रेस लखनऊ' में प्रारंभ में छपा है। यह कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं वरन् सूरसागर की भूमिका तथा सारांश के रूप में प्रस्तुत हुआ हैं। परंतु वास्तव में वह न सूरसागर की भूमिका है और न उसका सारांश ही। इसमें 1107 पद हैं। ग्रंथ के प्रारंभ में लिखा हैं—

अथ 'श्री सूरदास' जी रचित सूर-सागर-सारावली तथा सवा लाख पदों का सूचीपत्र'। ग्रंथ का श्रीगणेश 'वन्दों श्रीहरिपद सुखदाई' से किया है जबकि सूरसागर का प्रारंभ भी कुछ शाब्दिक हेर-फेर के साथ इसी पद से हुआ है। सूरसागर का पद है—**'चरण कमल बन्दों हरिराई'।** मंगलाचरण का श्लोक प्रसिद्ध हैं, क्योंकि सूरसारावली के प्रारंभ में मंगलात्मक पद दूसरा है-

'अविगत आदि अनंत अनुपम अलख पुरुष अविनाशी' और मंगलाचरण के प्रारंभ में एक अर्धाली होली के रूपक की हैं-

'खेलत यह विधि हरि होरी हो, होरी हो वेद-विदित यह बात।'

सूर के पद से प्रतीत होता है कि उन्होंने इस संसार को होली के खेल का रूपक माना है जिसमें लीला-पुरूष की अद्‌भुत लीलाएं निरंतर चलती रहती हैं। सूर सारावली के 16 वें पद में इस रूपक का विस्तार किया गया है-

'आज्ञा करी नाथ चतुरानन करो सृष्टि-विस्तार।
होली खेलन की विधि नीकी, रचना रचे अपार।।'

सूर ने इसी क्रम में सृष्टि की रचना कर उसके स्वरूप को दर्शाया है और रूपक का विस्तार किया है। उनके 358–359 पदों में सृष्टि की रचना और स्वरूप द्रष्टव्य हैं-

'सुर अरु असुर रची हरि रचना सो जग प्रकटहि कीन्हीं।
क्रीड़ा करी बहुत नाना विधि, निमग बात कछु-चीन्हीं।
यहि विधि होरी खेलत बहुत भांति सुख पायो।
धरि अवतार जगत में नाना भगतनि चरित दिखायो।।'

अनंतर फिर वे लिखते हैं-

'अंश कला अवतार बहुत विधि रामकृष्ण अवतारी।
सदा विहार करत ब्रजमंडल, नंद सदन सुखकारी।।'

उन्होंने संपूर्ण ग्रंथ में होली खेल का ही दृश्य प्रस्तुत किया है। इसी दृश्य में उन्होंने होली के रूपक में सृष्टि की उत्पत्ति का सुंदर तथा विशद् वर्णन किया है। यह सृष्टि वर्णन श्रीमद्‌भागवत तथा अन्य पुराणों के आधार पर ही किया गया है। सूरसारावली-सार संक्षेप में कुछ इस प्रकार हैं-

'क्रीड़ा करते भगवान् को स ष्टि-रचना का विचार आया। उन्होंने अपने आप ही विनाश पुरुष की अवतारणा की, जिसमें माया ने क्षोभ उत्पन्न किया और प्रकृति के सत्व, रजस् और तमस् तीन गुण प्रादुर्भूत हुए। इन तीनों गुणों से पंच महाभूत, पंच तन्मात्रा, चार अंतःकरण और दस प्राणों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार 28 तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ। तत्पश्चात् नारायण की नाभि से कमल और कमल से ब्रह्मा का उद्‌भव हुआ। ब्रह्मा ने 200 वर्ष तक तप किया तत्पश्चात् हरि-दर्शन हुए। फिर उन्होंने ब्रह्मा को स ष्टि-स जन की आज्ञा दी और ब्रह्मा ने 18 लोक बैकुंठ पाताल की रचना होली खेल के रूप में कर डाली। ब्रह्मा के दस पुत्र हुए तब शतरूपा और स्वयंभू का जन्म हुआ। भगवान ने प थ्वी की रक्षा के लिए वाराह अवतार धारण किया। कपिलरूप में सांख्य शास्त्र का प्रवचन देवहूति को किया। आठ लोकपालों की उत्पत्ति की और सात लोक, नौ खंड़, सात द्वीप, वन, उपवन, नदी, पर्वत आदि का निर्माण किया। इसके पश्चात् 24 अवतारों का वर्णन होता है। बीच-बीच में ध्रुव की कथा और हयग्रीव का वर्णन आता है, हिरण्यकशिपु और प्रहलाद की कथा आती है। छंद 360 से कृष्णावतार की कथा प्रारंभ होती है और कृष्ण से संबंद्ध समस्त लीलाओं का समावेश हैं। छंद 937 से 966 तक द ष्टिकूट पदों की सूची हैं। इसके पश्चात् रासलीला वर्णन है। इस लीला के आनंद में विभोर कवि गुरू का स्मरण करता है जिसकी कृपा से वह इस अनिर्वणनीय आनंद का अधिकारी बना।

'गुरु प्रसाद होत यह दर्शन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप करेऊ बहुत दिन तऊ पार नहि लीन्ह।।'

पद 1013–1017 तक में विविध राग-रागनियों के नाम गिनाए हैं। तत्पश्चात् वसंत और होली के आंदोत्सवों का वर्णन है जो 1028 वें पद पर समाप्त होता है। इसके पश्चात् कृष्ण-कथा के गायकों, श्रोताओं और वक्ताओं का परिचय है। तत्पश्चात् युगलस्वरूप के उस महान आनंद का उल्लेख है, जिसमें विचरण करके कोटि कल्प भी निमेष सद श व्यतीत हो जाता है। अंत में जिस तरह होली की ज्वाला में जलकर सब कुछ भस्मसात् हो जाता हैं उसी प्रकार आनंद की समाप्ति भी संकर्षण के वदन से उत्पन्न हुई अग्नि से हो जाती हैं। सूर सारे वेदांत के तत्त्व को संकेतित करते हुए हरिलीला को सर्वोपरि मानते हैं-

'कर्म-योग पुनि ज्ञान उपासना सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरू तत्व सुनायो, लीला भेद बतायो।
ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद।
ता को सार सूर-सारावली, गावत अति आनंद।।

सूर के अंतिम चार पदों में 'सारावली' के पाठ-माहात्मय का निर्देश किया गया है।

सूरसारावली के संबंध में अध्ययन करने से यह निश्चित हो जाता है कि यह ग्रंथ न सूरसागर की भूमिका है और न ही उसका सारांश।

सूरसारावली एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में हैं। इस संबंध में डॉ० मुंशीराम शर्मा का स्पष्ट कथन द्रष्टव्य हैं-

"'सारावली' एक व हद होली गीत है, जिसकी टेक है **'खेलत यह विधि हरि होरी, हो हरि होरी हो वेद विदित यह बात'** इसी गीत की 107 कड़ियां हैं जो 'सारावली' के छंदों के रूप में प्रकट की गई हैं'।"

साहित्य-लहरी—यह ग्रंथ द ष्टिकूट पदों का संग्रह कहा जाता है। जो रस, अलंकार और नायिका-भेद वाली रचना शैली से संबंद्ध है। यह शास्त्रीय ग्रंथ है। इस ग्रंथ में अपेक्षाकृत पांडित्य अधिक हैं। इसमें 118 पद हैं। हिन्दी के रीतिकाल के बीच सर्वप्रथम इसी ग्रंथ में प्राप्त होते हैं। पद 109 से 118 में ऐतिहासिकता के संकेत मिलते हैं। इस ग्रंथ की कोई प्राचीन-हस्त-लिखित प्रति नहीं मिलती किंतु नागरी प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट में सूर की द ष्टिकूट 'सटीक' तथा 'सूरशतक' रचनाओं

का उल्लेख हैं। इस ग्रंथ की दो टीकाएं भी प्रकाशित हो चुकी हैं। नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सरदार कवि की टीका दो भागों में प्रकाशित हो चुकी है, जिसके प्रथम भाग में 118 तथा दूसरे में 63 पद हैं। इस ग्रंथ का नाम 'श्री सूरदास के द ष्टिकूट सटीक' है और इसके अंत में 'इति श्रीसुकविसददारकुता साहित्य-लहरी समाप्ता' लिखा हैं। इस ग्रंथ की दूसरी टीका 'खंड विलास' प्रेस बांकीपुर से प्रकाशित हुई जिसके संग्रहकर्त्ता भारतेंदु हरशिचन्द्र तथा प्रकाशक बाबू रामदीन सिंह हैं। विचारणीय यह है कि 'साहित्य-लहरी' एक स्वतंत्र रचना है अथवा सूरसागर में सम्मिलित हुए द ष्टिकूट पदों का संकलन मात्र। सूरसागर में साहित्य-लहरी के द ष्टिकूट पदों के विषय और शैली से साम्य रखते हुए कुछ पद अवश्य मिलते हैं। कांकरौली विद्या-विभाग में सूर के द ष्टिकूट पदों की अन्य दो टीकाएं हैं। इन सब मतों से ऐसा अनुमानित है कि सूर ने द ष्टिकूट पदों की रचन स्वतंत्र रूप से की थी और संभवतः उनका संकलन सूर के जीवनकाल में ही हो गया था किंतु साहित्य-लहरी का जो रूप इस समय है उसमें कुछ पद प्रक्षिप्त अवश्य हैं। इस ग्रंथ के अधिकांश पदों में नायिका-भेद अलंकार आदि का विस्त त विवेचन हुआ है। प्रारंभ में 104 पदों तक उनके वर्ण्य-विषय तथा आगे के पदों में अस्पष्ट रूप में काव्यांगों का विवेचना हुआ है इससे सूर की भक्तिभावना का चरमोत्कर्ष लक्षित होता है।

साहित्य-लहरी की प्रामाणिकता भी आधुनिक आलोचकों के लिए आलोचना का विषय बनी रही हैं। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के अतिरिक्त साहित्य-लहरी का पद 109 अवश्य विचारणीय हैं-

'मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनंद का लिखि सुबल संवत् पेख।
नंद-नंदन मास छै ते हीन त तीया वार।
नंद-नंदन जनम ते हैं बान सुख आगार।
त तीय ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि सूर प्रवीन।
नंद-नंदन-दास-हित साहित्य-लहरी कीन।।'

सूर के पद में साहित्य-लहरी के रचना-काल को संकेतित किया गया हैं। इसमें दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। (1) काल-निर्देश, (2) नंद-नंदन-दास हित। सूर की इन दोनों बातों के विषय में आलोचकों में पर्याप्त मतभेद हैं। इस संबंध में आचार्य मुंशीराम शर्मा का कथन द ष्टव्य है-

'रसन का अर्थ रसना के व्यापारों के आधार पर दो मानकर साहित्य लहरी का रचना काल संख्या 1627 माना हैं।'

किंतु आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'पुनि' के स्थान पर 'सुनि' (शून्य) पाठ मानकर संवत् 1607 निध ारित किया है।

वार्ता-साहित्य के अनुसार जब नंददास वल्लभ संप्रदाय में प्रविष्ट हुए तब सूर ने उन्हें नंद-नंदन-दास कहा था और वे पहले सूर की संगति में छः मास तक चंद्र सरोवर पर रहे थे, और यह घटना संवत् 1607 की है।

नंददास ने स्वयं भी काव्यांगों की रचना की थी। साहित्य-लहरी के आधार पर, नंददास की भक्तिभावना को अनेक विद्वानों ने श्रंगार के कदम से लांछित और दूषित भी ठहराया है, क्योंकि इसमें सूरसागर से भी उन्मुक्त श्रंगार के अनेक चित्र प्रस्तुत किए गए हैं, किंतु इस आधार पर भक्त-शिरोमणि महाकवि सूर की रचना पर भौतिक वासना का आरोप उनके पवित्र हृदय में छिन्द्रावेशषण की चेष्टा ही कहा जाएगा क्योंकि पवित्र भक्ति भावना के बल पर सांसारिकता के धरातल से बहुत ऊंचे उठे हुए सूर ने आराध्य-युगल की अनेक प्रणय-लीलाओं के मधुर गान का स्वर उठाया है। उसमें सरसता है किंतु कर्दम नहीं, विह्वलता है पर वासना नहीं, सौंदर्य रसपान की आकुल पिपासा है लेकिन ऐंद्रियिक लोलुपता नहीं, वाष्प की तरलता है किंतु द ढ़ता के साथ, मुस्कान की मादकता है पर चेतनता के साथ, अनुभूतियों की चपलता हैं किंतु स्थिरता के साथ, तथा लौकिकता भी है अलौकिकता के साथ।

सूरसागर—यह सूर की सर्वमान्य महत्वपूर्ण प्रमाणिक रचना है। ऐसा माना जाता है कि इसका प्रणयन सूरदास के जीवन-काल में किसी न किसी प्रकार संकलन किया गया हो। गोकुलनाथ कृत सूरदास की वार्ता में इस बात का उल्लेख हैं कि सूर ने सहस्राावधि पदों की रचना की सूर सागर नाम से सारे संसार में प्रसिद्ध हुआ। हरिराय जी ने अपने 'भावप्रकाश' में इसकी पुष्टि करते हुए बतलाया है कि इस रचना में ज्ञान-वैराग्य के प थक्-प थक् भक्तिभेद, अनेक भगवद्-अवतार और उन सभी की लीलाओं का वर्णन हैं। सूरदास-वार्ता प्रसंग 4 में भी यह उल्लेख है कि अकबर बादशाह ने सूरदास के पदों का संकलन करवाया था। वार्ता-साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूर के कीर्तन-पदों का संग्रह उनके जीवन काल में हो चुका था, परंतु अत्यंत दुःख की बात है कि उनके समय की कोई प्रति अब उपलब्ध नहीं है। सूर की हस्तलिखित और मुद्रित प्रतियों की दो परंपराएं मिलती हैं। एक में श्रीकृष्ण के केवल ब्रजचरित संबंध पदों का लीला-क्रम के अनुसार संकलन है। सूरसागर की यह परंपरा कदाचित् अत्यंत प्राचीन हैं। नवलकिशोर प्रेस का सूरसागर इसी परंपरा की प्रतियों के आधार पर प्रकाशित किया गया था। सूरसागर की दूसरी परंपरा में पदों तथा खंडकाव्यों के रूप में प्राप्त महाकवि सूर की समस्त रचनाओं को एकत्रित कर तथा श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कंधी क्रम के अनुसार क्रमबद्ध किया गया था। यह परंपरा वेंकटेश्वर प्रेस तथा नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करणों से मिलती है। सूरसागर की इस परंपरा में भी श्रीकृष्ण के ब्रजलीला संबंधी पद ही प्रधान हैं। भागवत् के अन्य स्कंधों से संबंधित सामग्री अत्यंत संक्षिप्त हैं तथा काव्य-स्तर की द ष्टि से महत्त्वूपर्ण भी है। 'सूर सागर' में यद्यपि श्रीमद्भागवत् की कथा कही गई हैं परंतु वह भागवत का अनुवाद नहीं हैं। इसमें बारह स्कंध हैं।

(1) **प्रथम स्कंध**—इसमें विनय-पद व मंगलाचरण के पश्चात् शुकदेव के जन्म की कथा है। इसके बाद कौरव-पांडव का वर्णन तथा परीक्षित की कथा हैं। इस स्कंध में व्यास अवतार भी शामिल हैं।

(2) **द्वितीय स्कंध**—इसमें नाम महिमा, सत्संग की महिमा, चौबीस अवतारों की सूची तथा भक्ति एवं वैराग्य का वर्णन है। अध्याय के अंत में ब्रह्मा जी की उत्पत्ति का वर्णन है।

(3) **त तीय स्कंध**—इसमें शुकदेव जी के उपदेश के पश्चात् उद्धव के पश्चाताप, दक्ष-प्रजापति तथा स्वायंभुमनु की उत्पत्ति, सनकादि, बाराह तथा कपिलदेव के अवतार का उल्लेख है। अंत में भक्तों की महिमा का वर्णन है।

(4) **चतुर्थ स्कंध**—इसमें दत्तात्रेय, यज्ञपुरुष, हरि अथवा ध्रुववरदेन तथा प थु अवतार और भक्त ध्रुव की कथाएं हैं।

(5) **पंचम स्कंध**—इसमें ऋषभदेव के अवतार और जड़ भरत की कथा का वर्णन हैं।

(6) **षष्ठ स्कंध**—इसमें राजा परीक्षित के प्रश्न और शुकदेव जी के उत्तरों का उल्लेख तत्पश्चात् अजामिल उद्धार व अहिल्या कथा हैं।

(7) **सप्तम स्कंध**—इसमें न सिंह तथा नारद अवतार की कथा है।

(8) **अष्टम स्कंध**—इसमें गजमोचन, कूर्मावतार, वामन, धंवंतरि और मत्स्य अवतारों की कथाएं वर्णित है।

(9) **नवम स्कंध**—इसमें राजा पुरुखा, च्यवन ऋषि तथा राम एवं परशुराम अवतारों की कथाएं वर्णित हैं।

(10) **दशम स्कंध**—इसमें कृष्ण अवतार व उनकी लीलाओं का विस्त त उल्लेख हैं। दशम स्कंध ा के पूर्वाद्ध में ब्रजचरित की घटनाओं जैसे-पूतना वध से लेकर भ्रमरगीत तक की कथा है। दशम स्कंध उत्तरार्द्ध में कृष्ण के द्वारिका चरित, सुदामा-मिलन, कौरव-पांडवों के साथ श्रीकृष्ण के सम्पर्क की कथाओं का वर्णन है।

(11) **एकादश स्कंध**—इस स्कंध में नारायण और हंसावतार की कथा का उल्लेख है।

(12) **द्वादश स्कंध**—इसमें बुद्ध एवं कल्कि अवतारों तथा जनमेजय की कथा का वर्णन है। सूर ने व्यास जी द्वारा वर्णित भागवत के द्वादश स्कंध तक की कथाओं का वर्णन किया है। इस विषय में सूरसागर में उपलब्ध उनका कथन द्रष्टव्य हैं-

'व्यास कहे शुकदेव सों द्वादश स्कंध बनाई।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ।।

'सूरसागर' में दशम स्कंध सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। यह सूरसागर का प्राण है।

इस प्रकार सूरसागर की परंपरा के लगभग 5000 पदों में 4000 से अधिक पद श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं से संबंधित हैं; तथा शेष 1000 पदों में श्रीकृष्ण का द्वारिका चरित, विनय पद, राम अवतार संबंधी पद तथा 22 अवतारों का संक्षिप्त वर्णन है। यहां इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि सूर ने सवा लाख पदों की रचना की थी, इस किंवदंती का कोई भी प्रामाणिक आधार नहीं हैं। कवि की पद रचना पांच-छह हजार पदों के बीच ही रही होगी, जो लगभग प्राप्त हैं।

द्वादश-स्कंधी परंपरा के सूरसागर में दशम-स्कंध के पद-समूह के बाद अधिक संख्या में प्रथम-स्कंध के विनयपद तथा नवम स्कंध के रामावतार संबंधी पद पाए जाते हैं। विनय के पदों में दास्य भक्ति तथा दैन्य भावना प्रधान है। अत्यधिक संभावना है कि इन पद-समूहों में महाकवि की कुछ प्रारंभिक रचनाएं हों जब वे गौ-घाट पर रहते थे, और महाप्रभु वल्लभाचार्य के संपर्क में नहीं आए थे, तब के कुछ पदों की प्रौढ़ शैली को देखकर ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यह उनकी व द्धावस्था की रचनाएं होनी चाहिए। रामावतार का विस्त त वर्णन होना स्वाभाविक है, क्योंकि कृष्णावतार के अतिरिक्त भगवान के अवतारों में यह मुख्य है। सूर ने द्वारिकावासी श्रीकृष्ण-चरित्र का वर्णन भी अत्यंत संक्षेप में किया है। आकार एवं स्तर दोनों द ष्टिकोणों से यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं के गान में कवि की वास्तविक अभिरुचि थी।

इसमें संदेह नहीं कि सूरसागर में वर्णित श्रीकृष्ण-लीलाओं का मूलाधार श्रीमद्भागवत् दशम स्कंध का पूर्वाद्ध हैं, किंतु इस आधार पर सूरसागर को श्रीमद्भागवत् का उल्था अथवा स्वतंत्र अनुवाद मानना भारी भूल होगी। महाकवि ने असाधारण प्रतिभा के द्वारा परिचित लीला-वर्णनों में अनेक मौलिक कल्पनाओं का समावेश किया है, इसके अतिरिक्त अन्य नई लीलाओं तथा चरित्रों को भी बढ़ाया है जो भागवत में नहीं मिलते। उदाहरणस्वरूप श्रीमद्भागवत में राधा के नाम का उल्लेख तक नहीं हैं, जबकि सूरसागर में राधा-कृष्ण प्रेम का प्रारंभ, विकास तथा परिणति का अति सजीव, आकर्षक और महत्वपूर्ण चित्रण है। इसी प्रकार, 'भ्रमरगीत' अथवा 'गोपी-उद्धव' संवाद वाले अंश में श्रीमद्भागवत में उद्धव-श्रीकृष्ण का संदेश गोपियों को सुनाते हैं और वे उसे शिरोधार्य कर लेती हैं। सूरसागर का भ्रमरगीत सगुण-निर्गुण वादों और कर्म, ज्ञान तथा भक्ति मार्गों के सिद्धांतों के साथ-साथ प्रौढ़ ध्वनि काव्य का एक अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण है।

रस की द ष्टि से सूरसागर में प्रधान रस केवल श्रंगार रस के संयोग और वियोग पक्ष के चित्रण में हैं, किंतु इस रस की जिस बारीकी और गहराई में महाकवि की पैठ है वह उसकी असाधारण प्रतिभा का परिचायक है। मुख्य रस के चित्रण के साथ-साथ अनुभावों तथा व्याभिचारी अथवा संचारी भावों के भी सैंकड़ों सजीव उदाहरण सूरसागर में बिखरे पड़ें हैं। सब मिलाकर महाकवि की रचना का क्षेत्र समस्त द ष्टि से सीमित कहा जा सकता हैं। श्रीकृष्ण की ब्रजलीला, श्र ंगार रस तथा पद-शैली, किंतु इस सीमित क्षेत्र में महाकवि की समकक्षता क्या निकटवर्ती को भी कोई अन्य कवि नहीं पहुंच सका।

हिंदी में सर्वप्रथम सूर ने ही वात्सल्य रस का विस्त त निरूपण करके उसे स्वतंत्र रस की सीमा तक पहुंचाया। सूर ने श्रीकृष्ण के बाल-रूप को मानस-पटल पर रखकर अनेक छंदों की रचना की हैं। ये छंद रस-परिपाक की द ष्टि से तथा वैभिन्नत्व एवं व्यापकत्व की द ष्टि से भी अप्रतिम हैं। सभी

विद्वानों ने सूर के वात्सल्य-वर्णन की प्रशंसा एकजुट होकर की है। इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य हैं।

'वात्सल्य के क्षेत्र में जहां तक सूर द ष्टि पहुंची वहां तक अन्य किसी कवि की नहीं। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना विशाल भंडार और कहीं नहीं मिलता है।'

सूर के अंतर्गत शुक्ल जी ने उनके व्यक्तित्व के बारे में महत्वपूर्ण बात कही हैं।

'इनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्त त और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालकों की अंतः प्रकृति में भी प्रवेश किया है और अनेक बाल्य भावों की सुंदर स्वाभाविक व्यंजना की है।

पुष्टि-संप्रदाय से प्रेरणा तथा श्रीमद्भागवत से आधार लेकर सूर ने कृष्ण के ब्रह्म रूप और बालरूप के साथ समन्वय कर यशोदा एवं नंद के वात्सल्य भाव की सरस एवं मार्मिक अभिव्यक्ति की हैं।

पुष्टि-संप्रदाय में संख्य भाव की भक्ति का अत्यधिक महत्व है। इसमें आत्मीयता, स्नेह की मधुरिमा, बाल-सुलभ चापल्य आदि और भी अधिक आस्वाद्य हो उठते हैं। इसमें क्रीड़ाओं की सरलता के साथ कर्त्तव्य की भावना का गौरव भी स्पष्ट रूप से झलक मारने लगता है। मनोवैज्ञानिक द ष्टि से देखा जाय तो वात्सल्य भाव भक्ति-भावना का अधिक सबल एवं स्वाभाविक पोषक प्रतीत होते हुए भी सूर को माता का ह्रदय मिला था और इसी कारण वह वात्सल्य रस की अनुभूति के द्वारा भक्ति को परिपुष्ट स्वरूप प्रदान कर सकें। इस संबंध में डॉ० हरवंशलाल शर्मा का कथन द्रष्टव्य है -

'कृष्ण की बाल-लीलाओं का यशोदा के साथ साक्ष्य करने वाला यह प्रज्ञाचक्षु संत भक्ति-भाव के अतिरेक से अपने अस्तित्व को इसके व्यक्तित्व में घुला-मिला देता था और फिर यशोदा की आंखों में कृष्ण लीला का आनंद लेता था।'

सूर ने वात्सल्य रस की सर्वाधिक मार्मिक एवं विशद् व्यंजना यशोदा के माध्यम से ही की हैं। यशोदा में ही वात्सल्य की परिपक्वता है, जो भक्ति रस की कोटि तक पहुंचा हैं। वात्सल्य भाव के आलंबन कृष्ण है और इनकी लीलाएं उद्दीपन का कार्य करती हैं। सूर ने वात्सल्य रस के अंग-अंग का प्रत्येक अवयव के सांगोपांग वर्णन पूरे मनोयोग के साथ चित्रित किए हैं।

इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन दर्शनीय है-'वात्सल्य के क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आंखों से किया है उतना किसी और कवि ने नहीं। सूर इसका कोना-कोना झांक आए हैं।

सूरसागर की भाषा ब्रजभाषा है। यद्यपि एक संग्रह ग्रंथ होने के कारण इसमें इस भाषा के अनेक स्तर मिलते हैं किंतु सूरसागर के मुख्य भाग की भाषा-शैली अत्यंत प्रौढ़ तथा साहित्यिक है। सूरदास के लगभग एक शताब्दी पहले से ब्रजभाषा में साहित्य-रचना होने लगी थी, किंतु ब्रजभाषा को साहित्यिक भाषा के उच्च सिंहासन पर पदारुढ़ करने का श्रेय इस महाकवि को ही प्राप्त है।

वल्लभ-संप्रदाय में सूरसागर महत्वपूर्ण धार्मिक ग्रंथ माना जाता है किंतु कवि की रचना में संकुचित सांप्रदायिकता का पूर्ण अभाव है। वल्लभ संप्रदाय के शुद्ध-द्वैतवाद दर्शन का विस्तार भी 'सूरसागर' में नहीं मिलता। धर्म अथवा दर्शन के कुछ मूल सिद्धांतों का महाकवि ने अवश्य उल्लेख किया है जैसे श्रीकृष्ण को साक्षात् परब्रहम् अथवा उनका अवतार मानना, राधा को परब्रह्म की शक्ति के रूप में समझना, गोपियों को आत्मा का प्रतीक मानना, श्रीकृष्ण अथवा परब्रह्म की प्राप्ति के उपायों में प्रेम-भक्ति के मार्ग को सर्वश्रेष्ठ समझना इत्यादि किंतु इन मूल सिद्धांतों की अभिव्यक्ति कवि ने उत्कृष्टतम् काव्य के रूप में की हैं। यही कारण है कि भावुक कृष्णभक्तों तथा सहृदय काव्य-रसिकों, दोनों ही की पूर्ण तुष्टि करने में महाकवि की यह असाधारण कृति समान रूप से पूर्णतया सफल हुई है।

अध्याय 2

भाषा

ब्रजभाषा स्वरूप निर्माण में सूर का योगदान

सूर-काव्य की भाषा ब्रजभाषा है। उनका जन्म स्थान, साधना-क्षेत्र और उपासना क्षेत्र तीनों ब्रज-प्रदेश के अंतर्गत आते हैं। अतः स्वाभाविकतया उन्होंने ब्रजभाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाया। सूर ने इसका नाम ब्रजभाषा कहीं नहीं कहा। इन्होंने तुलसी के कथन

'भाषा भनित मोरि मति थोरी।'

रामचरितमानस 'बालकांड' का अनुसरण करते हुए इसे 'भाषा' ही कहा है-

श्री मुख चारि स्लोक दए ब्रह्मा कौ समझाइ।
ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद व्यास सुनाई।
व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादश स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाई।।'

उर्दू के प्राचीन लेखक भी ब्रजभाषा को 'भाखा' नाम से पुकारते थे। डॉ० हरवंश लाल शर्मा के 'सूर और उनका साहित्य' में ब्रजभाषा के संबंध में मिर्जा खां द्वारा लिखित एक प्राचीनतम पुस्तक का उल्लेख किया गया है। जिसमें ब्रज और उसके आस-पास की बोली को 'भाखा' कहा गया है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के कथनानुसार 'साहित्य में इस भाषा का सर्वप्रथम प्रवेश चंदबरदाई रचित प थ्वीराज रासो में माना जाता है। इस ग्रंथ के पश्चात् दीर्घकाल तक ब्रजभाषा का प्रयोग साहित्य में नहीं मिलता। ब्रजभाषा गद्य के प्रथम लेखक गोरखनाथ की बानियों में अवश्य ही ब्रजभाषा का प्रथम रूप मिलता है-

'अवधू जाप जपौ जपमाली चीन्हौं, जाप जप्यां फल होई।
अगम जाप जपीला गोरष, चीन्हत बिरला कोई।।

क्रिया-पद ही भाषा के परिचायक होते हैं। उक्त पद में 'जपों', 'चीन्हौ'; 'जप्या', 'जपीला', 'चीन्हत', ब्रज के क्रिया-पदों का ही रूप है। गोरखवासी की भाषा का ही रूपांतर कबीर में मिलता है। कबीर आदि की सधुक्कड़ी भाषा में ब्रज-प्रयोग अत्यधिक मात्रा में मिलता हैं। संतों की बानियों में ब्रजभाषा के कुछ रूप अवश्य मिल जाते हैं किंतु खड़ी बोली, अवधी, राजस्थानी और पंजाबी के मिश्रित रूप से उनका स्थान नगण्य-सा है। इस प्रकार सूर से पूर्व उपलब्ध साहित्य में ब्रजभाषा को सम्यक् स्थान न मिलना इस बात का प्रमाण है कि सूर ने ही सर्वप्रथम ब्रज को साहित्यिक रूप दिया।

परिस्थितियां—सूर की प्रचलित बोली को साहित्यिक रूप देना स्वाभाविक था। सूर को ऐसे सुयोग प्राप्त हुए कि अनायास ही उनके द्वारा भाषा का परिष्कार हो गया। सूर बचपन से ब्रज-प्रांत में निवास करते थे। श्री वल्लभाचार्य जी के मिलन से पूर्व वह कबीर आदि की परंपरा में भगवद्भजन करते थे। विचार की द ष्टि से उनके गीतों और कबीर आदि संतों के गीतों में अंतर न था। भाषा की द ष्टि से इसका विकास विक्रम की 12 वीं शताब्दी में ही हो गया था। तब इसका

शौरसेनी अपभ्रंश रूप विकसित हुआ। बाद में इसे ब्रजभाषा कहा गया। इस भाषा के स्वाभाविक माधुर्य के कारण सूर के पदों की भाषा शुद्ध ब्रज थी, तत्कालीन संतों एवं संगीतज्ञों ने इसे अपनाया, और तत्पश्चात् उसके प्रयोग की एक क्रमबद्ध धारा ही दिखाई देती है। कबीर आदि संतों की भाषा मिश्रित थी किंतु उसमें साहित्यिकता का पुट विशेष न था। खुसरो, कबीर, नामदेव आदि संतों के काव्यों में हमें ब्रजभाषा के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इन कवियों ने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इसी कारण सूर को ब्रजभाषा का बाल्मीकि कहा जाता है और ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप देने का श्रेय सूर को हैं।

इस संदर्भ में विद्वानों का मत द्रष्टव्य है-'जिस प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के कवियों ने खड़ी बोली की सत्ता पहले रहने पर भी, उसे भावनाओं का वाहक बनाया, उसी प्रकार ब्रजभाषा के परिष्कार और अलंकृत करने में सूर का बहुत बड़ा हाथ है।'

सूर की ब्रजभाषा अत्यंत स्वाभाविक एवं प्रवाहमयी हैं। वह सानुप्रास सजीव भावों के अनुरूप, व्यावहारिक, आडंबरहीन एवं अंतस्तल का स्पर्श करने वाली है। सूर की भाषा का अनुपम उदाहरण द्रष्टव्य हैं :-

'मुरली मधुर बजाई स्याम।
मन हरि लियो भवन नहिं भावै, व्याकुल ब्रज की बाम।।
भोजन, भूषन की सुधि नाहीं, तनु की नहीं सम्हार।
ग ह गुरु-लाज सूत सौं तोरयौ, डरीं नहीं व्यवहार।।
करत सिंगार बिबस भई सुंदरि, अंगनि गईं भुलाइ।
सूर-स्याम बन बेनु बजावत, चित हित-रास रमाइ।।

सूर वैराग्य, दास्य भक्ति एवं आत्मनिवेदन युक्त पदों की रचना करके ही पद-गायक के नाम से प्रसिद्ध थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रेरणा से उनकी विचारधारा में भगवान कृष्ण की रसमय लीलाओं का आविर्भाव हुआ। लीला-प्रसंग की रसमय अवतारणा से सूर की भाषा ने स्वतः ही साहित्यिक रूप धारण कर लिया।

सूर की सहज-भाषा के साहित्यिक बन जाने का दूसरा कारण यह था कि अब वह पहले जैसे गायक-संत नहीं थे जिनके समाज में अशिक्षितों, असाहित्यिकों या अशास्त्रीय गवैयों का बहुमत होता है। स्वामी वल्लभाचार्य जी के स्थायी ब्रज निवास का ब्रजभाषा के विकास पर निश्चय ही गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रज प्रांत साहित्य, संगीत, दर्शन और धर्म का केन्द्र बन गया। पुष्टिमार्गीय भक्तों के साथ ही गौड़ीय, राधावल्लभीय, निम्बार्कीय और हरिदासी भक्तों ने ब्रज को अपना कला केन्द्र बनाया तथा भक्ति और संगीत का शास्त्रीय रूप प्रस्तुत किया। भक्ति को पहले केवल भाव माना जाता था। श्री रूपगोस्वामी जी ने 'उज्जवल नील मणि' और 'भक्ति रसात्मक सिंधु' ग्रंथों में भक्ति की गणना रसों में की और उसकी शास्त्रीय विवेचना प्रस्तुत की। परिणामस्वरूप भक्तों की भाषा शास्त्रीय पक्ष की ओर उन्मुख हो गयी।

भक्ति-क्षेत्र के बाहर भी काव्य-शास्त्रीय अध्ययन होने लगा था और इस अध्ययन का माध्यम ब्रजभाषा बन चुकी थी। इसका प्रमाण सूर के समकालीन कृपाराम जी ने 'हित-तरंगिनी' जैसे ग्रंथ की रचना संवत् 1568 में प्रस्तुत की। 'हित-तरंगिणी' की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है।

साहित्य-लहरी में अलंकार, नायिका-भेद और रसावयवों का शास्त्रीय क्रम में नियोजन भी इसी तथ्य का बोधक है कि उस काल में काव्य-शास्त्रीय अभिरुचि सभी काव्य-जिज्ञासुओं में उत्पन्न हो चुकी थी।

सूर की भाषा का साहित्यिक हो जाने का कारण यह भी है कि वे वल्लभाचार्य के पश्चात् रसिकवर श्री विठ्ठलनाथ जी की उस रसज्ञ गोष्ठी के रत्न बने जिसमें आठ प्रतिष्ठित वीणाओं की शास्त्रानुमोदित रागनियां गूंजा करती थी। अष्टछाप की गोष्ठी के सभापति 'श्रृंगाररस मंडन' के रचयिता शास्त्रज्ञ गोसाईं विठ्ठलनाथ जी थे और उसमें नंददास, परमानंददास जैसे काव्य-कलाविद् थे। अतः यह स्वाभाविक है कि इस सभा में प्रस्तुत होने वाले पदों की भाषा में कवि की द ष्टि परिष्कार और कलात्मकता की ओर हो गई होगी।

सूरदास सौभाग्यशाली थे कि उन्हें महाप्रभु वल्लभाचार्य की कृपा एकाएक प्राप्त हुई। गौ-घाट के गायक को गुरू-चरणों का आश्रय मिला। वे वहां से एकदम श्रीनाथ जी के मंदिर में नियुक्त किए गए और आज्ञानुसार वे लीला पदों की नई-नई रचनाओं से प्रभु का कीर्तन करने लगे। लोक-गायक प्रतिष्ठित समाज का गायक बन गया। नैत्यिक और नैमित्तिक लीला के क्रम में वे ब्रजभाषा में पदों का स जन करने लगे। अभ्यास बढ़ जाने से उनकी भाषा परिष्कृत होती गई। सूरसागर में भाषा परिष्कार का यह क्रम-विकास नहीं मिलता क्योंकि इसका संपादन बहुत समय पश्चात् हुआ, जिसमें पूर्व-रचित स्फुट पद विषय क्रम में रखे गए है।

सारांश में कह सकते है कि सूर से पूर्व ब्रजभाषा-काव्य की कोई स्थिर परंपरा नहीं थी। ब्रजभाषा में या तो रचना हुई नहीं थी और यदि हुई भी थी तो नगण्यतावश एकदम काल-कवलित हो गयी। सूर को यह परम सौभाग्य प्राप्त हुआ कि ब्रजभाषा में सर्वप्रथम प्रचुर साहित्य का निर्माण करें। उनकी भाषा में जन साधारण लोकगीत से लेकर चमत्कारप्रधान द ष्टकूट-पद-रचना तक की विविधता मिलती है इसलिए सूर को 'ब्रजभाषा का बाल्मीकि' कहना सर्वथा उचित ही हैं। सूर ने ब्रजभाषा को जो स्वरूप दिया वह स्थाई रूप से परवर्ती साहित्यकारों द्वारा ग्रहण किया गया। आगे चलकर द ढ़ हुई ब्रजभाषा की सामान्य विशेषताओं का श्रेय सूरदास को ही है।

भाषा-सम द्धि

(1) **शब्द-कोश**—भाव-प्रकाशन का माध्यम शब्द है। जिस कवि का शब्द-भंडार जितना विशाल होगा उसकी भाषा और शैली उतनी ही सम द्ध होगी। कलाकार कला के विभिन्न अंगों का समन्वय करके आधारभूत वस्तु को हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाने का प्रयत्न करता है, परंतु उसकी शैली का सौंदर्य विशेषकर भाषा की सम द्धि पर ही आधारित है। वह शब्दों का प्रयोग इस प्रकार करता है कि वे हमारे भावों और विचारों को व्यवस्थित कर देते हैं। सर्वोत्तम भावाभिव्यक्ति के निमित्त कवि चारों ओर से शब्द-ग्रहण का आवश्यक कांट-छांटोपरांत उनका प्रयोग करता है। ऐसा करने से भाव-प्रकाशन अत्यंत सुंदर हो जाता है। सूर से पूर्व ब्रजभाषा काव्य की कोई प्रतिष्ठित परंपरा न थी। सूर ने ही बोली को साहित्यिक क्षेत्र में उतारा, परिणामस्वरूप उनकी भाषा में विभिन्न प्रकार के शब्द आ गए। भाषा का संस्कार करने के उद्देश्य से उन्होंने संस्कृत से अत्यधिक शब्द लिए है। वास्तव में हिंदी में संस्कृत के ही तत्सम और तद्भव शब्द सबसे अधिक है। बोलचाल में संस्कृत शब्दों के विकृत रूप प्रयुक्त होते रहते हैं। सूर ने प्रचलित शब्दों में प्रायः परिवर्तन नहीं किया है इसीलिए संस्कृत के तद्भव शब्द सूर की भाषा में अधिक मात्रा में हैं। तत्सम शब्द अधिकांश वहां है जहां उन्हें अप्रस्तुत योजना करनी पड़ी है या जहां भागवत आदि के आधार पर कुछ तथ्यकथन करना पड़ा है या किसी और प्रकार का वर्णन करना पड़ा है। तत्सम और तद्भव शब्दों से भी भाषा के अन्य शब्द बन जाते हैं। व्युत्पत्ति की द ष्टि से उनका मूल मनोरंजक होता है। सूर के द्वारा प्रयुक्त हिंदी-शब्द कुछ समस्त हिंदी प्रदेश में प्रयुक्त होते हैं और कुछ से हैं जो केवल ब्रज में ही प्रयुक्त होते हैं। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो सूर के समय में प्रचलित थे किंतु कालांतर में उनका प्रयोग ब्रज प्रांत में तथा ब्रजभाषा-काव्य की परंपरा में न चल सका। इतना अवश्य है कि इन शब्दों का प्रयोग अपने स्थल पर अत्यधिक उपयुक्त है। सूर ने पर राष्ट्रीय, अरबी-फारसी शब्दों का भी प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया है। शब्दों का प्रयोग करते हुए सूर ने इन पर ब्रजभाषा की कलई कर रखी है। यही कारण है कि शब्दों का स्वरूप हिंदी के इतने अनुरूप

हो गया है कि उनका पर-राष्ट्रीय लक्षण लक्षित नहीं होता। अर्थ की द ष्टि से इन शब्दों का सौंदर्य अनुपम है। सूर ने पात्र और परिस्थिति के अनुरूप जो शब्द पाया उसका उसी प्रकार प्रयोग किया। राष्ट्रीय-परराष्ट्रीय, साहित्यिक-असाहित्यिक, शिष्ट-अशिष्ट जैसा भी उपयुक्त शब्द उन्हें प्राप्त हुआ, उन्होंने उसको सहर्ष स्वीकार किया। इससे भाषा की व्यंजकता और अर्थ-वैभव में व द्धि हुई है।

इस प्रकार सूर की शब्द-योजना मनोरंजक तथा अत्यंत महत्वपूर्ण हो गई है। उनकी शब्द योजना का एक पक्ष उसका स्वरूप है, दूसरा उसका अर्थ-विस्तार।

(2) **तत्सम शब्द**—सूर ने तत्सम शब्दावली का प्रयोग उन पदों में किया है जिनमें उन्हें सिद्धांत-निरूपण करना था या अप्रस्तुत योजना करनी थी। लीला-पदों में तत्सम शब्दावली का प्रयोग अपेक्षाकृत कम है। सूर ने सिद्धांत-कथन में संस्कृत-ग्रंथों का आधार लिया और साहित्यिक अप्रस्तुत योजना में संस्कृत-काव्य-परंपरा का। लीला-गायन में अपेक्षाकृत आधार कम लिया है स्वानुभूति या मौलिक उद्भावना के बल पर ही सूर ने पदों की रचना की है। इन पदों की शब्दावली में सहज बोल-चाल का परिमार्जित रूप मात्र है।

(*i*) **सिद्धांत-निरूपण में**—संस्कृत रचनाओं का आधार लेने से जहां तत्सम शब्दावली का प्रयोग दुर्निवार हो गया है वहां भी सूर ने तत्सम शब्दों का बोल-चाल रूप देने का प्रयत्न किया है। सूर-सारावली सिद्धांत-ग्रंथ है। उसमें संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग सूर के अन्य ग्रंथों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं, किंतु उसके तत्सम शब्दों को भी सरल बनाने का प्रयास किया गया है। जैसा कि उनके छंद की भाषा में द्रष्टव्य है—

'अवगति आदि अनन्त अनूपम, अलख पुरूष अविनासी। (सूरसारावली छं० 1, 2)
पूरण ब्रह्म प्रकट पुरूषोत्तम, नित निज लोक विलासी।।
जहं व न्दावन आदि अजर जहं, कुंज लता विस्तार।
तहं विहरत प्रिय प्रियतम दोऊ, निमग भ ंग गुंजार।।
शोभा अमित अपार अखंडित, आप आतमाराम।
पूरण ब्रह्म प्रगट पुरूषोत्तम, सब विधि पूरण काम।।
आदि सनातन एक अनूपम, अविगत अल्प अहार।
ओम्कार आदि वेद असुरहन, निर्गुण सगुर अपार।।

उपर्युक्त छंद की सभी पंक्तियों में तत्सम शब्द हैं किंतु इनमें से कुछ पर सूर ने बोली का रंग चढ़ाया है। 'अनूपम', 'अलख', 'अविनासी', 'पूरण', 'विहरत', 'आतमाराम', 'असुरहन' ऐसे ही शब्द हैं। अत्यल्प परिवर्तन के द्वारा ये तत्सम शब्द ऐसे प्रतीत होते हैं मानो तद्भव हों। यही प्रव त्ति सूरसागर के पदों में भी परिलक्षित होती है। विनय के पदों में जहां शास्त्र का प्रभाव है तत्सम शब्दावली का प्रयोग अधिक है। कहीं वर्णों के अत्यल्प परिवर्तन से ही शब्दों की रंगत बदल दी गई है। जैसे सूर के प्रथम स्कंध पद में द्रष्टव्य हैं-

'भ ंगीरी भजि स्याम-कमल-पद, जहां न निसि कौ त्रास।
जहं विधु-भानु समान एक रस, सो वारिज सुख-रास।।
जहं किंजल्क भक्ति नव-लच्छन, काम-ज्ञान रस एक।
निगम, सनक, सुक, नारद, सारद, मुनि-जन भ ंग अनेक।।
सिव, विरंचि खंजन-मन रंजन, छिन-छिन करत प्रवेस।
अखिल कोष तहं भरयो सुकृत-जल, प्रगटित स्याम-दिनेस।।
सुनिमधुकरि, भ्रम तजि कुमुदिन कौ, राजिव वर की आस।
सूरज प्रेम-सिन्धु में प्रफुलित, तहं चलि करै निवास।।

पद पर वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगीत का ऐसा प्रभाव है कि शब्दों की तत्समता का भास पहले नहीं होता यद्यपि अधिकांश शब्द अपने तत्सम रूप में ही प्रयुक्त हैं। अपनी पद्धति से कवि ने 'श्याम' को 'स्याम', 'निशि' को 'निसि', 'राशि' को 'रास', 'लक्षण' को 'लच्छन', 'शिव' को 'सिव', 'क्षण' को 'छिन', 'प्रवेश' को 'प्रवेस', 'आशा' को 'आस' तथा 'प्रफुल्लित' को 'प्रफुलित' कर दिया है। परिवर्तन अत्यल्प है किंतु इतने ही से शब्दों की रंगत सर्वथा बदल गई है।

(*ii*) **स्त्रोत-पद्धति की स्तुतियों में—**सूर ने कुछ स्तुतियां स्त्रोत-पद्धति में लिखी हैं। इन स्त्रोतों में तत्सम शब्दावली अत्यधिक मिलती है। तत्सम शब्दावली के आधिक्य से महाकवि को शब्दों में परिवर्तन लाने का अवसर कम मिला है फिर भी जहां कहीं उन्हें तनिक भी अवसर प्राप्त हुआ वहां उन्होंने संस्कृत शब्दों पर ब्रजभाषा का माधुर्य चढ़ा ही दिया है। 'सूरसागर' का गोवर्धन-लीला के उपरांत इंद्र की स्तुति का पद द्रष्टव्य है-

'जयत्ति नंदलाल जय जयति गोपाल, जय जयति ब्रजबाल आनंदकारी।
कृष्ण कमनीय मुख-कमल राजित-सुरभि, मुरलिका-मधुर-धुनि वन बिहारी।।
स्याम घन दिव्य न पीत पट दामिनी, इंद्र धनु मोर कौ मुकुट सोहै।
सुभग उर-माल-मनि कंठ चंदन अंग, हास्य ईषद जु त्रैलोक्य मोहे।
सुरभि-मंडल-मध्य भुज अंस दियैं; त्रिभंगि सुंदर लाल अति बिराजै।।
× × × × ×
सूर की गोपाल सोइ सुख-निधि नाथ आपुनौ जानि कै सरन आयौ।।

इस स्त्रोत में भी सूर ने 'कृष्ण' को 'कृष्न', 'ध्वनि' को 'धुनि', 'श्याम' को 'स्याम', 'मयूर' को 'मोर', 'मणि' को 'मनि', 'अंश' को 'अंस', 'शरण' को 'सरन' कर दिया है।

वास्तव में सूर को ब्रजभाषा का सहज मधुर स्वरूप ही प्रिय था। इसीलिए वे प्रायः तत्सम शब्दावली के स्थान पर तद्भव शब्दावली को अधिक प्रयोग किए हैं। सूर को जहां सिद्धांत-प्रतिपादन करना था, स्तुति करनी थी या भागवतीय कथन करने थे वहां विषयानुरूप शब्दावली रखने के लिए उन्होंने तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया है पर ब्रजभाषा के मार्दव और उसकी प्रकृति को प्रधानता देने के लिए ब्रज में प्रयुक्त शब्दों का विशेष और अन्य शब्दों को सामान्यतया रूप परिवर्तन कर दिया है। सूर के पदों में तत्सम शब्दावली कट-छंटकर ब्रजभाषा की मधुर ध्वनि में मिल जाती है और भाषा के सुवर्ण-आधार में जड़ित पुखराज की भांति और भी सुदीप्ति प्रसारित करती है।

(*iii*) **अप्रस्तुत योजना में—**तत्सम शब्दावली का दूसरा प्रयोग सूर के उन पदों में मिलता है जिनमें उन्होंने अप्रस्तुत-योजना की है। सूर ने प्रभु श्रीकृष्ण के रूप-चित्रण में अनेक उपमान जुटाने में महाकवि-कर्म की पराकाष्ठा कर डाली है। सूर को संस्कृत काव्य की संपन्न-परंपरा का पूर्णरूपेण ज्ञान था। उन्होंने अप्रस्तुत योजना में प्रायः कवि-परंपरा का अनुपालन किया है। इसीलिए उसी प्रकार भी कल्पना के पंख पसारते हुए सूर की शब्द-योजना भी संस्कृतमयी हो गई है। इन पदों में सूर का कवि-पक्ष अत्यधिक प्रबल है। सूर के काव्यत्व ने इन पदों में विशेष चमत्कार उत्पन्न किया है। धार्मिक पदों में तत्समता कटने-छंटने पर भी उभरी हुई स्पष्ट दिखाई पड़ती है पर साहित्यिक पदों में तत्सम-शब्दावली का बाहुल्य होते हुए भी, वर्ण-मैत्री, वर्ण-संगीत और अलंकरण के कारण ब्रजभाषा संस्कृत तत्समता पर प्रबल होती है। जैसा कि सूर के पद में द्रष्टव्य है-

'धन्य नंद जसुदा के नंदन।
धनि सीखंड-पीड़ सिर-लटकाने, धनि कुंडल, धनि म गमद चंदन।।
धनि राधिका, धन्य सुंदरता, धनि मोहन की जोरी।
ज्यों धन मध्य दामिनी की छवि, यह उपमा कहौं थोरी।।

उपर्युक्त पद की सभी पंक्तियों के शब्द—'धन्य', 'कुंडल', 'म गमद', 'चंदन', 'धन', 'मध्य', 'दामिनी', 'छवि' लुप्त सी शोभायमान होती है। सूर के निम्न पद में तत्सम शब्दावली और भी अधिक द्रष्टव्य हैं-

देखौ माई रूप सरोवर साज्यौ।
ब्रज-बनिता-बर-बारि ब ंद में, श्रीब्रजराज बिराज्यों।।
लोचन जलज, मधुप अलकावलि, कुंडल मीन सलोल।
कुच चकवाक बिलोकि बदन-बिधु, बिहुरि रहे अनबोल।।
मुक्ता-माल, बाल-बग प्रंगति, करत कुलाहल-कूल।
पूरइनि कपिस निचोल, विविध अंग, बहुरति रूचि उपजावैं।
सूर स्याम आनंद कंद की, सोभा कहत न आवै।।'

यह पद सांगरूपक में ग्रथित सुंदर कला-गीत का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें तत्सम शब्दावली स्पष्ट प्रकट होती है। रूपक के उपमान संस्कृत-काव्य परंपरा के हैं, इसीलिए शब्दावली तत्सम है। तत्समता के प्रभाव को कम करने के लिए जिस चतुराई का प्रयोग महाकवि ने किया हैं, वह दर्शनीय है। गीत की टेक 'देखौ माई रूप सरोवर' में शुद्ध भाषापन है। क्रिया 'साज्यौ' विशेषतया उसमें भाषा की सहजता और ब्रज माधुर्य का समावेश अत्यंत प्रभावित करता है। 'टेक', गीत में महत्वपूर्ण होती हैं, गीत में अनेक बार चरणांत में दुहराई जाती है। इसके द्वारा भाषापन का प्रसार अन्य पंक्तियों पर होता है। दूसरी पंक्ति का प्रत्येक शब्द तत्सम है किंतु कवि ने अत्यंत चतुराई से प्रत्येक 'व' को 'ब' कर दिया है। 'ब' ब्रजभाषा की प्रिय-प्रचलित ध्वनि है। इसके पश्चात् प्रत्येक दो पंक्तियां साथ-साथ पढ़ी जाती है। इनमें भी अनेक तत्सम शब्द हैं। तत्पश्चात् अगली पंक्ति में 'कुच-चकवाक बिलोकि बदन-बिधु', में 'ब' का व त्यानुप्रास तथा अंत में ब्रज के तीन शब्द 'बिहुरि रहे अनबोल' दोनों पंक्तियों की तत्समता का निराकरण कर देते हैं। शेष पंक्तियों में तत्समता प्रबल नहीं हैं। 'बाल-बग-पंगति', 'कुलाहल', 'मोर', 'शुक-स्रेनी' ब्रज-बाना धारण करके पंक्ति में भाषा की स्वाभाविकता उत्पन्न कर देते हैं। अंतिम पंक्ति में तत्समता का प्रभाव न्यून होता जाता है। इससे यह प्रतीत होता है कि सूर की भाषा का प्रभाव अंत तक पहुंचकर तत्समता की प्रबलता को स्वतः ही मंद कर देता है। यही कारण है कि सूर-पद में तत्सम शब्दावली की बहुलता है जिसके कारण ब्रज की बोली सामान्य म दुता संस्कृत-तत्समता के माधुर्य को अपने ही रंग में मिला लेती है। सूर की इसी कला ने ब्रजभाषा शब्द-योजना को निराला रूप प्रदान किया है। परवर्ती ब्रज-कवियों ने सूर के इसी गुण में विशेष म दुता भरने का प्रयास किया है, तदुपरांत ब्रजभाषा-काव्य का माधुर्य संस्कृत की समास-गर्भित सानुप्रासिक ध्वनि-आपूरित माधुर्य से भिन्न हो गया। ब्रजभाषा के माधुर्य में जहां एक ओर सहज मिठास दिखाई देती हैं वहीं दूसरी ओर संस्कृत-तत्सम शब्दावली में कृत्रिम माधुर्य की गंध भी आने लगती हैं। सूर ब्रज-काव्य-परंपरा के प्रथम कलाकार थे जिन्होंने साहित्यिक ब्रजभाषा में ऐसी शब्दावली का प्रचलन किया जिसमें तत्सम शब्दावली का आधिक्य होने पर भी संस्कृतता के स्थान पर भाषापन की मिठास का प्राधान्य है।

सूर ने तत्सम शब्दावली का अत्यधिक प्रयोग बाल-छवि-वर्णन मुरली-प्रसंग, कृष्ण-छवि वर्णन, रास-लीला में श्याम-श्यामा के रूप-वर्णन में, रास-(न त्य) वर्णन, व ंदावन-विहार, यमुना-जल-विहार प्रसंग में कृष्ण का रूप-वर्णन, राधा का नशशिख वर्णन तथा युगल समागम आदि में किया है।

(2) **तद्भव**—सूरदास ने तद्भव शब्दों का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में किया है। इसका कारण उनका व्यवहारिक भाषा को अधिक महत्त्व देना था। तद्भव शब्दावली की बहुलता के कारण भाषा का आडंबरहीन सहज सौंदर्य स्वाभावतः ही बढ़ गया है। संस्कृत के शब्दों को ऐसा कर्ण-प्रिय सरल रूप दिया गया हैं कि वे ब्रजभाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल हो गये हैं और उनसे भाषा की ग्राम्यता भी जाती रही है। उदाहरण रूप में सूर द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्द प्रस्तुत हैं :-

'अंकवारि (अंकमाल), अंचरा (आंचल), अंधियारो (अंधकार), आंगन (प्रांगण), अनत (अन्यत्र), अनैस (अनिष्ट), अमराई (आम्रराजि), औसर (अवसर), कान्ह (कृष्ण), दही (दधि), लवन (नवनीत), टक (त्राटक), बिसारि (विस्म त), निठुराई (निष्ठुरता), नेम (नियम), पंखी (पक्षी), सुरति (स्म ति), सौंहे (सम्मुख), हियरौ (हृदय)।

तद्भव शब्दों में अनेक शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत धातु और शब्दों के आधार पर बने हैं, किंतु उनका रूप हिंदी में स्वतंत्र रूप से हुआ है। जैसे 'अघाइ' शब्द है जिसका अर्थ त प्त होता है। शब्द की व्युत्पत्ति सूर-शब्दकोश में संस्कृत आघ्राण-नाक तक-से बतलायी गई है। वास्तव में इस प्रकार के हिंदी-शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत से निकाली जाती है किंतु प्रयोग में ये अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। इनकी बनावट, ध्वनि और अर्थ अपने ढ़ंग का होता है। इन शब्दों के प्रयोग से भाषा में बोली का सहज रूप निखरता है, किंतु इनका आधिक्य भाषा को असाहित्यिक बना देता है। इसका उदाहरण ब्रज की बोलचाल में गिराने के स्थान 'गेरना' शब्द प्रयुक्त होता है। यहां इसका प्रयोग भाषा को स्वाभाविक भले कर दे किंतु उसमें असाहित्यिकता की स्पष्ट झलक दर्शाता है। सूर ने भी 'गेरना' क्रिया का प्रयोग किया है जो द्रष्टव्य है-

'सोवत मैं जागत मनमोहन, बात सुनत सबकी, अवसेरत।
बारम्बार जगावति माता लोचन खोलि पलक पुनि गेरत।'

सूर ने इस प्रकार के प्रयोग अल्प मात्रा में किए हैं। यहां पर भी तुक के लिए इसका प्रयोग किया गया है। प्रायः हिंदी शब्दों का अपना अर्थ है जो कि किसी तत्सम, तद्भव या पर-राष्ट्रीय शब्दों द्वारा उतनी सुंदरता से प्रकट नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए 'अंजोरि' शब्द का अर्थ छीनकर है। 'अंजोरि' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'अंजलि' शब्द से है। हथेलियों के मिलाने पर अंजलि बनती है, उससे बना हुआ शब्द 'अंजोरि' 'हथियाने' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है किंतु जहां हथियाने में छीना-झपटी, बर्बरता और अन्याय की ध्वनि है वहां अंजोरि में हृदय हरने की मिठास भरी भावना का चित्रण सूर ने किया है। प्रयोग द्रष्टव्य है :-

'सूरदास ठग रही ग्वालिनी, मन हरि लियो अंजोरि।'

उपर्युक्त पंक्ति के शब्द प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि 'अंजोरि' के समान अर्थ-सौरस्य और स्वर-माधुर्य का चमत्कार उत्पन्न करने वाला अन्य कोई भी समानार्थक शब्द नहीं हो सकता है। ऐसे ही शब्दों का बाहुल्य सूर के पदों में मिलता है। और इन्हीं शब्दों के कारण सूर की भाषा-शैली हिंदी-साहित्य जगत में अनोखी है। परवर्ती ब्रजभाषा कवियों ने साहित्यिकता के मोह में पड़कर लोक-भाषा के प्रचलित रत्नों की म दु कांति नहीं पहचानी है। चमक-दमक के निर्माण हेतु उन्होंने कृत्रिम अलंकरण से शब्दों के सहज गुण को विलीन कर दिया। उनके औज्जवल्य में कांच या मुक्ताओं की चकाचौंध तो आ गयी किंतु 'सीजज' का सहज मार्दव उसमें नहीं आ सका। सूर के द्वारा चुने गए तद्भव शब्द रत्नों का संसार द्रष्टव्य है :-

अंटक्यो, अकबकात, अघाइ, अनमने, अवढेरि, असवारि, इंगुर, उजड़नों, उनहारि, उबरनो, ऐंड़ानी, ओढर, औघाई, कचपची, काछोटी, कनौड़े, कमोरी, कलमलात, कलेऊ, कसमसात, कीक, खतियानो, खनावै, गारी, घटत घबरानो, घिरावत, चपरि, चंड़ाई, चितई, चीन्ही, छहरि, छांड़ि, छाक, छाकी, जनाए, ठकुराइत, ठग, ठानी, ठौर, डगमगाति, डगर, ढरन, ढेरि, तरसायौ, तलफति, नेवज,

पटतर, पचि, पयान, पांवरि, बाछैं, बियाहन, भाड़ौ, मसान, महतारी, मीड़ै, रीझे, ल्यावहु, विथकी, विसूरति, सकुचात, सठिया, सविताई, साघ, सिंगार, सिखवै, सौंज, हिय, हेरी।

(3) **अनुकरणात्मक शब्द**—अनुकरणात्मक शब्द भाषा की व्यंजकता बढ़ाने के लिए अत्यंत उपयुक्त होते हैं। इनकी ध्वनि अर्थध्वनन युक्त होती है। सूर के शब्द-कोश में अनुकरणात्मक शब्दों का अधिक्य है। संदेह नहीं कि इनमें से अनेक साहित्यिक शब्दावली में प्रवेश न पा सके किंतु इन शब्दों के प्रयोग से सूर के भाव-सौन्दर्य और कला में अत्यंत अनूठापन आ गया है। सूर द्वारा प्रयुक्त इन शब्दों की सूची द्रष्टव्य है।

'अरबराइ, अररात, कलमलात, किलकिलात, कीकैं, खरभरयो, खलबली, खुनखुना, गहगहात, धुरकि, चटचटात, चमचमात, चुचकारे, झंकोरा, झझकि, झपटिझपटत, झुनक-झुनक, टकटोरत, टनटनात, डगमगाइ, ताकि, दररात, फुंकार्यौ, भहरात, सकसकात्, हररात हहरे आदि।

(4) **देशी शब्द**—सूर ने अनेक राष्ट्रीय शब्दों का प्रयोग किया है। ब्रज-प्रांत में जीवन-पर्यन्त रहने के कारण ब्रज प्रांत के राष्ट्रीय शब्द उनकी वाणी में रम गए थे। इनकी अर्थ-व्यंजना किसी समानार्थक साहित्यिक शब्द से संभव न थी। इसीलिए सूर ने इन शब्दों का प्रयोग किया हैं । यही कारण है कि सूर के पदों में राष्ट्रीय शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत कम हैं। सूर के कुछ राष्ट्रीय शब्द द्रष्टव्य हैं-

'अकूहल, अमात, अहीठ, आरोगत, औचट, उल्हरत, उपरफट, करवर, कैंती, करोवति, खरिक, खुनुस, खोही, खांगी, गिंडुरी, गैसी, गोहन, गोसों, घैया, चाढ़ी, चभोरी, छाक, जोहर, झंगुआ, झारी, झूसी, डहकायौ, डोंगरी, ढूकी, ढौरी, दुर, दौचि, धारी, नरजी, नैसी, फचोर, फेफरी, फोकट, बगदाइ, बाइ, बाखरि, बुड़की, लड़बौरी, लठबांसी आदि।

(5) **परराष्ट्रीय शब्द**—सूर काल में अनेक फारसी, अरबी और तुर्की शब्द भाषा की संपत्ति बन चुके थे। फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग प्रायः सभ्य और प्रतिष्ठित समाज में हुआ करता था क्योंकि तत्कालीन शासन की राज्यभाषा फारसी थी। फारसी और अरबी के ज्ञात सहृदय मुसलमानों ने ब्रज-भाषा के माधुर्य की प्रशंसा की और उसे अपनाया भी। उधर ब्रजभाषी कवियों ने भी रहीम और रसखान जैसे कवियों का समुचित सम्मान किया। इस आदान-प्रदान के कारण फारसी और अरबी के शब्द हिंदी में समाहित हो गए। इन शब्दों के कारण ब्रज बोली में नागरिकता की छाप लगी इसीलिए सूर ने ब्रज-बोली की व्यंजकता बढ़ाने तथा उसे प्रतिष्ठित और साहित्यिक स्वरूप देने के लिए फारसी और अरबी शब्दों का स्वतंत्र प्रयोग किया। सूर द्वारा प्रयुक्त परराष्ट्रीय शब्दों में उन की निजी रुचि द्रष्टव्य है। निश्चय ही फारसी-अरबी के तत्सम रूप ही शिष्ट समुदाय में प्रतिष्ठा की द ष्टि से देखे जाते रहे होंगे क्योंकि नागरिकों की द ष्टि में शब्दों का शुद्ध रूप वही होता है जो तत्सम होता है। सूर ने फारसी और अरबी के तत्सम रूप की प्रतिष्ठा की परवाह न की। उन्हें शब्द का वह रूप प्रिय था जो उनकी ब्रज-माधुरी में समाहित हो सकती हो। उन्होंने अरबी और फारसी के शब्दों को काट-छांटकर ऐसा सरल और म दु बना दिया कि ब्रज भाषा शब्दों के बीच प्रयुक्त अरबी और फारसी शब्दों की पहचान भी कठिन हो जाती है। उदाहरण के लिए फारसी शब्द 'अंदेशा' है, सूर ने इसे 'अंदेस' करके लिखा है-

'सूर निर्गुन ब्रह्म उर धरि तजहु सकल अंदेस।'

यह शब्द ब्रज-माधुरी के इतना अनुरूप है कि ऐसा प्रतीत होता है मानों शुद्ध ब्रजभाषा का ही कोई शब्द हैं। इसी प्रकार फारसी का 'कुलाह' शब्द 'कुलही' बनकर ब्रज का देशी शब्द प्रतीत होता है। इस प्रकार सूर ने बिना किसी परिवर्तन के पर राष्ट्रीय शब्दों को नहीं स्वीकार किया है। किसी में स्वर परिवर्तन है तो किसी में ध्वनि परिवर्तन, किसी में स्वरागम है तो किसी में स्वर लोप। कभी हिंदी प्रत्यय आदि लगते हैं तो कभी वर्णों का मस ण कर दिया जाता है। फारसी और अरबी के कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं-

फारसी—अंदेस, अवाज, अजाद, अबेस, आब, कंगूरा, कमान, कुरख, कुलही, खराद, खाक, खुमारी, गहर, गिलकरना, गुदारा, गुनहगार, गुलामी, गुंजाइश, चंग, चुगली, चीज, जरद, जहाज, जोर, तलफ, तगीरी, तुरसी, दस्तक, दर, दरजी दरद, दरवाजे, दस्तार, दाग, दिवानी, दुश्मन, नकली, निवाज, निसान, नी, परवाह, परदा, परवाना, बकसाना, बजाज, बरामदा, बुन्यादि, बेसरम, मुजरा, यारी, रुख, रेसम लश्कर, सरदार, सरमात, साऊ, साफ, सहर, सिकार, सिरपाव, सेहरो, सोर, हरज्यौ, हरामी।

अरबी—अकस, अदाई, अमल, अमीन, असल, आखिर, आदमी, उजीर, उमर, उमराव, कलक, कलकानि, कसम, कसाई, कसूर, कहर, कागद, कागर, कातिल, कुरबानी, कुल्ल, कैद, खता, खबरि, खबास, खसम, गरज, गरीब, गाफिल, गुलाम, जमा, जिम्मा, ज्वाब, तनकीर, तमासौ, दगा, दगाबाज, नजीर, नफा, निहाल, फरद, फौज, बाकी, मसखरा, मसाहत, मिलकियत, मिलिक, मुजमिल, मुस्तकी, मोहरिल, मौज, राजी, रुक्का, लायक, वासिल, सदकी, स्याहा, साविक, साहिवी, सुलतान, हकीम, हजूर आदि।

(6) **समानार्थक शब्द**—समर्थ कवि एक ही अर्थ के अनेक समानार्थक शब्द प्रयुक्त करता है। वह समानार्थक शब्दों का प्रयोग पर्याय-ध्वनि के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए न करके पुनरुक्ति मात्र को बचाने के लिए और अर्थगत नवीनता प्रस्तुत करने के लिए करता है। इससे उक्ति में प्रतिवस्तुपमा अलंकार की शोभा आ जाती है। सूर के क्रियापदों में यह कौशल विशेष रूप से द ष्टिगोचर होता हैं। इसको दर्शाने के लिए सूर के क्रियापदों के तीन उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

(*i*) **देखना**—कृष्ण-राधा की छवि-वर्णन करने के सूर को अनेक अवसर मिले हैं। सर्वत्र 'देखना' क्रिया अनिवार्य रूप से आयी है। आंख, नैन को लेकर ही कवि ने संयोग और वियोग दोनों स्थितियों में पदों की रचना कर डाली है। 'देखने' के अर्थ में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ वह द्रष्टव्य हैं—

'तब तैं नैन रहे इकटकहीं।
जब तैं द ष्टि परे नंदनंदन, नैंकु न अंत मटकहीं।।
मुरली धरे अरुन अधरनि पर, कुंडल झलक कपोल।
निरखत इकटक पलक भुलाने, मनौ बिकाने मोल।।
हमकौ वै काहें न बिसारैं, अपनी सुधि उन नाहिं।
'सूर' स्याम-छबि-सिंधु समाने, व था तरुनि पछिताहिं।।'

(*ii*) **भाना (अच्छा लगना)**

'बने बिसाल अति लोचन लोल।
चितै-चितै हरि चारु विलोकनि, मानौ, मांगत हैं मन ओल।।
अधर अनूप, नासिका सुंदर, कुंडल ललित सुदेस कपोल।
मुख मुसुक्यात महा छवि लागति, स्रवन सुनत सुठि मीटे बोल।।

(*iii*) **शोभा पाना**—सूर ने 'शोभा पाने' का प्रयोग कई पदों में किया है। दशम स्कंध की पद संख्या 645 इस संबंध में द्रष्टव्य हैं-

विराजति, अति राजति, मदन छवि लाजति, यह उपमा कछु लागत, अनुरागत, सोहत, मोहत आदि।

7. मुहावरे और लोकोक्तियां—मुहावरे एवं लोकोक्तियां बोलचाल की सबल भाषा के अनिवार्य उपकरण है। यह मानव-जाति की परंपरागत संपत्ति है। समाज के सम्मिलित अनुभव अपने लक्ष्यार्थ में रूढ़ होकर अभिव्यक्ति के प्रमुख साधन बन जाते हैं। परिस्थिति विशेष में लोग इन लाक्षणिक उक्तियों का अवलंबन लेकर अत्यंत सरलता से भाव व्यक्त करते हैं। जब किसी को अपने प्रियजन के प्रति कोई कटु या अप्रिय-सत्य कहने की इच्छा होती हैं तो वह विषम स्थिति में

पड़ जाता है। अपने प्रिय या सम्मान्य-जन के प्रति ऐसा कथन कैसे कहे, न केवल कहे जाने वाले व्यक्ति की अप्रसन्नता का प्रश्न है वरन् ऐसा कथन अशिष्ट भी होता है। बात दिल से उठकर होठों पर आकर रुक जाती हैं। ऐसी अवस्था में लोकोक्तियां और मुहावरे साहाय्य उपस्थित होते हैं। वह अपनी बात न कहकर परंपरागत वाक्यांश या वाक्य के प्रयोग से वह भाव भी स्पष्ट कर देता है, शिष्टता की पूरी रक्षा होती है, कटु-सत्य प्रिय बन जाता है। मीठी-मार दूसरे व्यक्ति के मन पर अमिट छाप छोड़ती है, बेचारा मुस्कराकर आहत होकर असहाय सा रह जाता है और प्रहारकर्त्ता अपने कथन का भरपूर प्रभाव देखकर मुग्ध हो जाता है। सूर की गोपियों और उद्धव की परिस्थिति ऐसी ही थी इसीलिए सूर के मुहावरों और लोकोक्तियों का चमत्कार देखते ही बनता है।

मुहावरे और लोकोक्तियों में भेद—मुहावरे और लोकोक्तियों में पर्याप्त अंतर हैं। मुहावरे शब्दों और क्रिया-प्रयोगों के योग से बनते हैं। इसका विशिष्ट रूप बन जाता है जो वाक्यांश बनकर वाक्यों में प्रयुक्त होते हैं। मुहावरे में पूरी बात नहीं कही जा सकती किंतु लोकोक्ति विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति होती हैं। लोकोक्तियों के पीछे अंतर्कथा होती है इसीलिए इसका नाम कहावत है। इन अंतर्कथाओं के पीछे समाज में जटिल घटनाएं रही होगी जो इस समय काल कवलित हो चुकी हैं किंतु उनका सारभूत अंश कहावतों है। इन अंतर्कथाओं के पीछे समाज में घटित घटनाएं रही होगी जो इस समय काल कवलित हो चुकी हैं किंतु उनका सारभूत अंश कहावतों के रूप में आज भी प्रयुक्त होता है। सूर-तुलसी जैसे श्रेष्ठ लोक-कवियों की सूक्तियां भी कहावतों का रूप धारण कर चुकी हैं। जैसे 'कोउ न प होउ हमें का हानी', 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे', 'लौंडी की डौंडी जग बाजी', 'सुर सुकत हठि नाव चलावत ये सरिता है सूखी' आदि।

मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग में भी पर्याप्त अंतर है। मुहावरे स्वतः अभिव्यक्ति बन जाते हैं। किंतु कहावतें उक्ति की पुष्टि में कही जाती हैं। जैसे-

'तारे गनत गगन के सजली बीते चारों जाम।'
यहां गगन के तारे गिनने का प्रयोग स्वतः उक्ति है किंतु-
'इनके कहे कौन डरकावै, ऐसी कौन अनारी।
अपनो दूध छांडि को पीवै, खारे कूप को बारी।।'

में लोकोक्ति प्रथम पंक्ति की पुष्टि में कही गई है।

सूर के मुहावरों और लोकोक्तियों के विशिष्ट प्रयोग—सूर-साहित्य में प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों की दीर्घ परंपरा विराजमान है किंतु मुहावरों की बहुलता सूर-भाषा में सर्वत्र समान रूप से व्याप्त नहीं हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों के स्थल निश्चित हैं। इनका अत्यधिक प्रयोग भ्रमरगीत में उद्धव और कुब्जा के प्रति कहे गए गोपियों के वचनों में मिलती हैं। सूर ने सर्वाधिक मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग भ्रमरगीत-प्रसंग में ही किया है। गोपियों के विरह-वर्णन, संदेश या उद्धव-कृष्ण-वार्ता आदि प्रसंग में इनका प्रयोग नहीं मिलता। सूर ने शेष मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग मुरली के प्रति गोपियों के वचन, नैन समय के पद, मान-लीला तथा ऐसे स्थल जहां किसी प्रकार मानसिक आकुलता या विवशता की स्थिति में किया है। वास्तव में सूर ने मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भाषा के सामान्य प्रवाह में निष्प्रयोजन नहीं किया है।

मुहावरे—सूर ने मुहावरों का प्रयोग दो रूपों में किया है, (1) परिस्थिति विशेष में पीड़ित हृदय के सहजोद्‌गार के रूप में, (2) उक्ति वैचित्य के प्रसाधन रूप में।

सहजोद्‌गार रूप में—सूर ने गोपियों की विरहव्यथित वेदना का चित्रण किया है। उनकी गोपियां उद्धव के वचन सुनकर अत्यंत दुखी थीं। विरह-वेदना में दुखित गोपियां उद्धव पर व्यंग्य-बाण का प्रहार करती हैं। उनकी गोपियों ने मुहावरों को तीर बनाकर संधान किया है। कुब्जा को लेकर लिखे गए पदों में यह भाव विशेष रूप से द ष्टिगोचर होता है-

'सिर पर सौति हमारैं कुबिजा, चाम के दाम चलावै।
कछु इक मंत्र कयौ चंदन मैं, तातैं स्यामहि भावैं।
अपने ही रंग रचे सांवरे, सुक ज्यों बैठि पढ़ावै।।
तब जो कहत असुर की दासी, अब कुल बधू कहावै।
नटिनी लौ कर लिए लकुटिया, कपि ज्यौं नाच नचावै।।
टूटयौ नातौ या गोकुल कौ, लिखि लिखि जोग पठावै।
'सूरदास' प्रभु हमहिं निदरि, दाढ़े पर लोन लगावै।।

उपर्युक्त पद में 'चाम के दाम चलाना', दाढ़े पर लोन लगाना' मुहावरे में गोपियों की खीझ के सहजोद्‌गार की अनुपम अभिव्यक्ति सूर ने की है। उपर्युक्त मुहावरे इसी तथ्य को द्योतित करते है कि कुब्जा की अनाधिकार चेष्टा और दुस्साहस उन्हें सह्य नहीं है वे अत्यंत दुःखी है।

गोपियां के उद्धव के प्रति उपालंभ में भी मुहावरों का प्रयोग कर गोपियों को सहजोद्‌गार का प्रकाशन किया गया है-

'सूर इतै पर समुझत नाहीं, निपट दई को खोयो।'

इससे यह स्पष्ट है कि उद्धव के प्रति कहे हुए वचनों में वैसा ही रोष है जैसा कि कुब्जा के प्रति कहे हुए वाक्यों में। भेद केवल इतना है कि इसमें हीन भावना नहीं है। भ्रमरगीत में इस प्रकार के अन्य मुहावरे दशम स्कंध से द्रष्टव्य हैं–

'हियरौ सुलगावत (3545), बार खसौ मत न्हातै (3547), ताकी जननी छार (3816), सहद लाइ कै चाटौ (3926), गुर चींटी ज्यों पागी (3958), फिरतिं धतूरा खाए (4040), हंस काग को संग (3418) दई प्रेम को फांसी (3707) आदि। इनके अलावा सूर ने अन्य प्रसंगों में मुहावरों का सहजोद्‌गार रूप प्रस्तुत किया है उनमें पीड़ा, विवशता, आकुलता तथा दैन्य भाव है।

उक्ति-वैचित्य रूप में–उद्धव के प्रति गोपियां जब अपनी मनोदशा का व्यक्तीकरण करने के लिए विनोद, उपहास या कटूक्ति प्रस्तुत करती हैं तब प्रायः मुहावरों का प्रयोग उक्ति-वैचित्य रूप में करती हैं। मुरली-प्रसंग तथा नैन-समय के पदों में मुहावरों के रूप इसी तरह द्रष्टव्य हैं-

'तिनको क्यों मन विस्मय कीजै, औगुन लौ सुख सांति।
तैसेइ 'सूर' सुने जदुनंदन, बजी एक ही तांति।।'

विनोद में 'बजी एक ही तांति' अत्यंत सहायक है। शिष्टता के साथ यदुनंदन के प्रति उपालंभ भी है और कम से कम शब्दों में हृदय की कटूक्ति का प्रकाशन भी। इस प्रकार के अन्य कुछ मुहावरे द्रष्टव्य हैं।

'फिरि न चढौ रंग (3547), खारै कूप कौ बारी (3665), गगन कूप खनि बोरै (3600), धुर ही ते खोटो खायो है (3665), पढ़े एक परिपाटी (3565), रतन छंडाई गहावत माटी (3565), अपने ही सिर मानि लियो (1828), इतनो कहा गांठि को लागत (2570), गूंगे गुर की दसा (2526), काहे को द्वै नाव चढ़ावत (1287) आदि।

लोकोक्तियां–लोकोक्तियों का प्रयोग सूर ने सर्वत्र कथन की पुष्टि में किया है। उक्ति की वक्रता इनका अनिवार्य गुण है। सूर ने प्रायः लोकोक्तियों का परिष्कार भी किया है। सूर की अनेक वक्रोक्तियां भी लोकोक्तियों का रूप ले चुकी हैं। इस प्रकार सूर की अनेक लोकोक्तियों के तीन रूप हैं-

(*i*) प्रचलित कहावतैं, (*ii*) परिष्कृत लोकोक्तियां तथा (*iii*) सूर कृत उक्तियां जो आगे चलकर लोकोक्तियां बन गई हैं।

(*i*) **प्रचलित कहावतें**—वही जाति मंगल उतराई (3599), एक पंथ द्वै काज, करवत लेहों कासी (3558), इतकी भई न उतकी (2935), दूध दूध पानी कौ पानी, एक आंधरों दौरत पहिरि खराऊ (4126), कैसे समहिंगे एक म्यान दो खांड़े (3604), जूठे खये मीठे कारन, दाई आगे पेट दुरावति, काकी भूख गई मन लाहू (3569) आदि।

(*ii*) **परिष्कृत लोकोक्तियां**—स्वान पूंछ कोऊ कोटिक लागै सूधी कहुं न करी, सूर मिले मन जाहि जाहि सौं, अपनो दूध छांड़ि को पीवे खारे कूप को वारी, ताको कहा परेख्यौ कीजै जाने छाछ न दूधो, लेवा देइ बराबरि में है कौन रंग को भूप आदि।

(*iii*) **सूरकृत लोकोक्तियां**—सूर सुकत हठि नाव चलावत ये सरिता हैं सूखी (3557), प्रेम कथा सोई पै जानै जापै बीती होई (4160), कहौ कौन पै कढ़त कनूका जिन हठि भुसि पछौरी (4171), जाहि लगै सोई पै जानै। तब सुनि सूर मीन कौ जल बिनु नाहिन और उपाउ (4226), सुमेरु त ण ओट दुरावत। सूरदास जे मन के खोटे अवसर परैं जाहिं पहिचाने (4366), मनी श्याम छांड़ि कै घुंघुचि गांठ को बांधै। सूर परेखो काकौ कीजै बाप कियो जिन दूजो (4268) आदि।

इनके अलावा सूर ने लोक-प्रचलित उपमाओं, मुहावरों और लोकोक्तियों का आश्रय लेकर भाषा को अभीष्ट भावों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त बना लिया है। उनके इस पद से स्पष्ट हो जाएगा कि प्रेम-विह्लता ब्रजबालाएं असद श उपदेश देने वाले उद्धव पर सीधी-सादी भाषा में ऐसा चुटीला व्यंग्य करती हैं कि वे अवाक् रह जाते हैं-

'आए जोग सिखावन पांड़े।
परमारथी पुराननि लादे ज्यौ बनजारे टांड़े।।
हमरे गति-पति कमल-नयन की, जोग सिखै तैं रोड़े।
कहौ मधुप कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खांड़े।।
कहु षटपद कैसे खैयतु हैं, हाथिन के संग गांड़े।
काकी भूग गई बयारि भाषि, बिना दूध घ त मांड़े।।
काहै कौं झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डांडे।
सूर तीनौ नहि उपजत, धनिया, धान, कुम्हांड़े।।'

वास्तव में सूर के मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग भी विशेष द ष्टिकोण युक्त हैं। भाषा रूढ़ता के सहज माध्यम मात्र न होकर सशक्त अभिव्यंजना के प्रसाधन हैं। सूर ने जिस प्रकार अलंकार-योजना और उक्ति-वैचित्य का प्रयोग विशिष्ट स्थलों पर किया है उसी प्रकार लोकोक्ति और मुहावरे भी विषयानुसार विशिष्ट स्थलों में प्रयुक्त हुए हैं। इनके द्वारा जहां सूर की भाषा सम द्धि का परिचय मिलता है वहां उनके सामाजिक अनुभव और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिज्ञान भी होता है, इसीलिए सूर की लोकोक्तियां और मुहावरे साहित्य में प्राप्त मुहावरों और लोकोक्तियों के सामान्य प्रयोग से सर्वथा भिन्न है।

(8) **रूप-रचना**—भाषा की प्रकृति का परीक्षण उसके शब्द-भंडार से उतना नहीं होता जितना कि व्याकरण से शब्दों में तो परिवर्तन होता ही रहता है क्योंकि भाषा की व्यंजकता बढ़ाने के लिए दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेना और अपनी भाषा के शब्दों में परिमार्जन करना वांछनीय है। व्याकरण में इसके विपरीत अधिक स्थिर होती है। दूसरी भाषा के शब्द-ग्रहण में भी व्याकरण के रूप अपनी भाषा के ही रखे जाते हैं। भाषा रूपों में परिवर्तन और परिवर्द्धन अत्यंत धीरे-धीरे होता है। फिर भी जब बोली साहित्य में प्रविष्ट होती है तो उसके सामान्य रूप में कुछ परिष्कार अवश्य होता है। बोली गद्य में होती है, पद्य में ढलते ही उसमें अद्‌भुत अभिव्यंजना क्षमता आ जाती है। ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप देने वालों में सूर अग्रणी हैं इसीलिए इन्होंने बोली में जो परिष्कार किए वे तत्कालीन साहित्यिक ब्रजभाषा के सामान्य गुण बन गए। अतः सूर साहित्य में प्राप्त संज्ञा, सर्वनाम आदि की रूप रचना सर्वथा नवीन है।

(*i*) **संज्ञा**—ब्रजभाषा की संज्ञाएं स्वरांत होती हैं। सूर-साहित्य में संज्ञा शब्द इस प्रकार मिलते हैं-

अकारांत	—	नंद, स्याम, करम, पंथ।
आकारांत	—	राधा, नैना, बछरा।
इकारांत	—	मोतिसरि, सौति, खनि, ससि।
ईकारांत	—	बांसुरी, सजनी, ठगौरी, इंद्री।
उकारांत	—	बेनु, तनु, मनु, वपु।
एकारांत	—	पैड़े, राधे।
ओकारांत	—	माधौ, ऊधौ, ज्यौं।

उपर्युक्त रूपों में से केवल दो रूपों में सूर की निजी छाप मिलती हैं। उकारांत तथा ओकारांत। अन्य रूप सामान्य बोली के रूप हैं, इनमें सूर ने कोई परिवर्तन नही किया। उकारांत रूप का उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'वपु जु दहत मिलि तीन।'

सूर-साहित्य में उकारांत शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। जैसा कि ब्रज-काव्य में मिलता है। सूर ने इनका प्रयोग वर्ण-मैत्री के लिए आरंभ किया था किंतु आगे चलकर साहित्यिक ब्रजभाषा की विशेषता बन गई। सूर ने ओकारांत शब्दों के स्थान पर औकारांत शब्द प्रायः प्रयुक्त किए हैं। ब्रजभाषा में ओकारांत शब्दों की संख्या बहुत है किंतु सूर की प्रकृति ओकारांत को औकारांत की रही है। जैसे-

'निहोरो से निहोरौ' सूरसागर दशम स्कंध पद (७३१)

(*ii*) **सर्वनाम**—सर्वनामों के प्रायः प्रचलित रूप ही मिलते हैं। उत्तम पुरूष सर्वनाम के मूल रूप में, हौं और हम ही मिलते हैं। जैसे-

'हौं अपने अभिमान रूप जोवन कै गर्व भरी।'

'हम अहीर अबला ब्रजवासी वे जदुपति जदुराई।'

'हौं' के असाहित्यिक रूप 'हो' या 'हूँ' का भी प्रयोग कहीं प्राप्त नहीं होता। तत्कालीन ब्रजभाषा गद्य में 'मैं' और 'हूँ' दोनों का प्रयोग मिलता है।

(*iii*) **अन्य पुरूष**—दूरवर्ती निश्चयवाचक में केवल साहित्यिक रूप ही प्राप्त होते हैं अर्थात् मूल रूप में वह, वे और वै तथा विक्रत रूप में वा, उन। जैसे-

'वह तौ मेरी गाइ न होइ।'

'वे कह जानैं पीर पराई।'

'वा पट पति की फहरानि।'

निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम के भी साहित्यिक रूप मूल में 'यह' 'ये' और विकृत रूप में 'या', 'इन' मिलते हैं। ऐसे ही संबंधवाचक सर्वनाम के मूल रूप 'जो' और 'जे' तथा विकृति रूप 'जा' और 'जिन' के प्रयोग मिलते हैं।

प्रश्नवाचक सर्वनाम के मूल रूप में 'को', 'कौन', 'कहा' और विकृत रूप में 'का', 'काहि', 'कहे' मिलते हैं। अनिश्चयवाचक सर्वनाम में मूल रूप 'कोऊ' और विकृत रूप में 'काहू' का प्रयोग मिलता है। 'कोई' का प्रयोग सूर-साहित्य में प्राप्त नहीं होता। अचेतन पदार्थों के लिए-'कछू', 'कछु' या 'कछुक' का प्रयोग मिलता है। जैसे-

कछुक अंग में उड़त पीत पट उन्नत बाहु विसाल।

ब्रजभाषा की रूप-रचना में सूर का योगदान—सूर की भाषा के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर ब्रज-साहित्य के प्रथम प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं जिन्होंने प्रचुर मात्रा में स्थिर रूप से साहित्य-रचना की। सूर ने ब्रजभाषा को सर्वथा सम द्ध किया। उसका शब्द-कोश व्यापक हो गया। उनके ब्रजभाषा भंडार में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द, अनुकरणात्मक शब्द, राष्ट्रीय शब्द, ब्रज तथा अवधी, बुंदेल, कन्नौजी आदि के प्रचलित शब्द, परराष्ट्रीय-अरबी और फारसी शब्द-सभी का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग हुआ है परिणामस्वरूप सूर के हाथों ब्रजभाषा लचीली हो गयी। मुहावरों और लोकोक्तियों का सम्यक् प्रयोग सूर ने किया है जिसके कारण उनकी भाषा की व्यंजकता बढ़ गई और उसके प्रवाह में, अपूर्व व द्धि हुई। व्याकरण के रूपों में सूर ने साहित्यिक द ष्टिकोण अपनाया है। बोली में प्राप्त विकल्पों में से अपेक्षाकृत काव्योचित रूपों को ही लिया फिर भी उसे किसी प्रकार द ढ़ बंधन में नहीं जकड़ा, बुंदेली और अवधी तक को अवसर दिया। इसके कारण सूर की ब्रजभाषा में स्थिरता के साथ-साथ व्यापाकता भी आ गई जिससे भिन्न मात भाषा वाले कवियों ने भी सूर की भाषा को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं की। भाषा में माधुर्य की ओर सूर का विशेष ध्यान था ब्रजभाषा का माधुर्य उसका सहज गुण रहा है। इस प्रकार सूर-कृत भाषा-संस्कार अमिट हो गया। सूर की भाषा ही आरंभ में ब्रजभाषा का आदर्श रूप बन गयी।

(9) सौष्ठव—

(*i*) **अनुप्रास**—अलंकरण सौष्ठव का आधार है। प्रत्येक कलाकार इसीलिए सजावट और अलंकृति पर विशेष ध्यान रखता है। भाषा की सजावट का एक साधन सानुप्रासिक पदावली है। सूर ने अनुप्रास के प्रयोग द्वारा भाषा को अलंकृत किया है। इस संबंध में विनय-पद द्रष्टव्य है-

'कामी कृपन कुचील कुदरसन कौन कृपा करि तारयो।'

एक व्यंजन विशेष से आरंभ होने वाले शब्दों की आव त्ति से पंक्ति सज उठी है सूर में यह सौंदर्य यत्र-तत्र ही मिलता है। सूर न कहीं भी एक ही व्यंजन से बनने वाले शब्दों का वैसा तांता नहीं बांधा जैसाकि परवर्ती ब्रजभाषा कवियों ने सप्रयास अनुप्रास का प्रयोग किया।

(*ii*) **अंत्यानुप्रास**—आद्यानुप्रास के साथ सूर ने अंत्यानुप्रास का प्रयोग भी पदबंधों के अलंकरण में किया है। अंत्यानुप्रास के कारण पद में एक प्रकार की लय स्वतः ही आ जाती है और पंक्ति आकर्षक लगती है। सूर गायक होने के कारण अंत्यानुप्रास की ओर विशेष रुचि रखते थे। अंत्यानुप्रास के उदाहरण सूरसागर के प्रत्येक पद है, एक द्रष्टव्य हैं-

'विहरत गोपाल राई, मनिमय रचे अंगनाइ,
लरकत परिरंगनाई घुटुरुनि डोलै।'

(*iii*) **तुक**—तुक अंत्यानुप्रास का विशिष्ट रूप है। अत्यानुप्रास का क्षेत्र विस्त त है किंतु तुक का क्षेत्र अत्यंत संकीर्ण है। तुक चरणों के अंतिम शब्दों में ही होता है। तुक हिंदी की विशेषता है। संस्कृत-काव्य में तुक का नितांत अभाव-सा है। बंगला, गुजराती आदि भाषाओं में भी तुक का अधिक प्रयोग नहीं मिलता। प्राकृत तथा पर-राष्ट्रीय भाषाओं फारसी-अरबी में भी तुक को स्थान प्राप्त नहीं हुआ। सूरदास ने तुक को न केवल परंपरा के निर्वाह रूप में ग्रहण किया है वरन् इसे अलंकरण का मुख्य प्रसाधन बनाया है। सूर के तुकांत प्रयोग पंक्ति के माधुर्य में व द्धि कर लय की रक्षा करते हैं। संगीतज्ञ को पद की अन्य पंक्तियों को टेक से मिलाकर गाया जाता है अतएव तुक-प्रधान पद-रचना गायन के अत्यधिक अनुरूप बन जाती हैं। सूर के तुक के लिए शब्दों को तोड़ने, मरोड़ने और विकृत करने में किसी भी प्रकार सोच-विचार नहीं किया। इसी प्रकार 'सांची' से तुक जोड़ने के लिए 'मांची', 'रांची', 'बांची', 'कांची', और 'खांची' शब्दों का प्रयोग कर सूर ने भाषा के सौन्दर्य में अभिव द्धि की हैं-

'कहि राधिका बात अब सांची।
तुम अब प्रगट कहीं मो आगे, स्याम-प्रेम-रस मांची।
तुम को कहां मिले नंदनंदन, जब उनके रंग रांची।
खरिक मिले, की गोरस बेचत, की जब विषहर बांची।
कहे बनै छांड़ो चतुराई, बात नहीं यह कांची।
सूरदास राधिका सयानी रूप-रासि-रस खांची।।

अर्थ और रूप-रचना की द ष्टि से इन शब्दों की दुर्दशा हो गई है। ऐसा होने पर ये शब्द नादात्मक सौंदर्य बढ़ाने वाले हैं।

तुक के तीन रूप माने जाते हैं-उत्तम, मध्यम और अधम तुक।

उत्तम तुक में छंद के चरणांत के कई (स्वरों या व्यंजनों) की एक ही क्रम में आव त्ति होती है। द्रष्टव्य हैं-

'बनावत, मनावत, बुलावत, आवत, गावत।'

इनमें 'आवत' की आव त्ति प्रत्येक शब्द में हैं।

मध्यम तुक में छंदों के चरणांत के दो या एक ही वर्ण की आव त्ति होती है। जैसे-

'प्यारी, गिरिधारी, हारी, दुलारी, भारी, हितकारी।'

यहां 'आरी' की आव त्ति शब्दों में हुई हैं।

अद्यम तुक में वर्णाव त्ति का कोई नियम नहीं रहता और इसके उदाहरण सूर साहित्य में नहीं मिलते।

सूर के अत्यधिक पदों में तुक आदि से अंत के चरणों में मिलती है। अनेक पद ऐसे भी है जिनमें दो-दो पंक्तियों की तुक मिलती है, विशेषकर लंबे पदों के सभी चरणों में तुक का निर्वाह करना संभव नहीं है। सामान्य रूप से सूर ने दस पंक्तियों तक के छोटे पदों में तुक का निर्वाह सफलता से किया है।

वीप्सा में शब्द की आव त्ति से भाषा में गति उत्पन्न की जाती है। सूर के पदों में वीप्सा का उपयोग भाव के उच्छलन के सहज रूप में हुआ है, अलंकरण के लिए वीप्सा का सचेष्ट प्रयोग कहीं नहीं है। फिर भी वीप्सा के कारण भाषा का सौष्ठव बढ़ गया है, पद द्रष्टव्य है-

'मुरि-मुरि चितवति नंद गली।
बार-बार मोहन मुख कारन, आवति फिरि-फिरि संग अली।
चली पीठि दे द ष्टि फिरावति, अंग-अंग आनंद रली।।
कीर-कपोत-मीन पिक सारंग, केहरि-कदली छवि बिदली।
सूरदास-प्रभु पास दुहावति, धनि-धनि श्री व षभानु ललली।।

पद में 'मुरि-मुरि', 'फिरि-फिरि', 'अंग-अंग' तथा 'धनि-धनि' की आव त्तियां विशेष गति उत्पन्न करती हैं। सूरसागर में वीप्सा के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

(*iv*) **पुररुक्ति-प्रकाश**—वीप्सा में पुनरुक्ति होती है किंतु शब्द केवल दो बार ही प्रयुक्त होता है, पुनरुक्ति-प्रकाश में पुनरुक्ति अनेक बार होती है। पुनरुक्ति काव्य-दोष है पर जब पुनरुक्ति ही रुचिरता का कारण बनती है तो अलंकार बन जाती हैं।

'एक शब्द बहु बार जहं, परें रुचिरता अर्थ।

पुनरुक्ति परकाश गुन, बरनै बुद्धि समर्थ।। काव्य निर्णय (भिखारीदास) प० १६८

यहां पुनरुक्ति न केवल भाषा को रुचिरता प्रदान करती है वरन् अर्थ का भी उत्कर्ष करती है। इसके मनोरम उदाहरण सूरसागर में यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। जैसे-

'धन्य राधा धन्य बुद्धि तेरी।

धन्य माता, धन्य पिता, धनि भगति तुव, धिक हमहिं, नहीं सम, दासि तेरी।।

धन्य तुव ज्ञान, धनि ध्यान, धनि परमान, नहिं जानति आन ब्रह्म-रूपी।

धन्य अनुराग, धनि मान, धनि सौभाग्य, धन्य जोवन रूप अति अनूपी।।

उपर्युक्त पद में 'धन्य' शब्दों की पुनरुक्ति का सौंदर्य प्रस्तुत किया गया है। पुनरुक्ति प्रकाश को सभी आलंकारिकों ने अलंकार नहीं माना है। किंतु सूर के पदों में इसने भाषा-सौष्ठव और भावोत्कर्ष निश्चय ही उपस्थित किया है।

अर्थ-ध्वनन—भाषा के अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका निर्माण उनकी ध्वनि विशेष के आधार पर हुआ है। ये शब्द अपनी ध्वनि से अर्थ व्यक्त करते हैं। कुशल कवि शब्दों के इस गुण के प्रयोग से भाषा में सौंदर्य उत्पन्न करता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में ऐसे ओनोमेटोपाइआ नाम से स्वतंत्र अलंकार माना है। भारतीय काव्यशास्त्र में इसे अनुप्रास में ही अंतर्भूत किया है। आधुनिक युग में अंग्रेजी प्रभाव के कारण आधुनिक कवियों का झुकाव अर्थ-ध्वनन की ओर है। कविवर 'पंत' और 'निराला' में इसके उदाहरण मिलते हैं। सूर संगीतज्ञ थे अतः शब्दों के नादात्मक सौंदर्य से वे सुपरिचित थे। इसीलिए उन्होंने ऐसे शब्दों का विशिष्ट प्रयोग किया है जो अर्थ-ध्वनन के वैभव से युक्त थे। सूर ने बाल-क्रीड़ा विषयक पदों में अनेक स्थलों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनमें ध्वनि अर्थ को देने वाली होती हैं। उनका पद इस संदर्भ में दर्शनीय हैं-

'ललित आंगन खेलै, ठुमुकि-ठुमुकि डोलै,

झुनुक-झुनुक बोलै, पैजनी म दु मुखर।।'

'ठुमुकि-ठुमुकि' तथा 'झुनुक-झुनुक' शब्दों का प्रयोग कर सूर ने भाषा अर्थ-ध्वनन युक्त नादात्मक सौंदर्य की अभिव्यक्ति की है।

अर्थ-ध्वनन का सर्वश्रेष्ठ प्रयोग सूर के ओज-प्रधान प्रसंगों दावानल-पान और गोवर्धन-धारण में मिलता है। शब्दावली और पंक्तियों की ध्वनि मात्र से ही अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो जाती है।

'भहरात झहरान दवा (नल) आयौ।

× × ×

झपटि झपटत लपट, फूल फल चट चटकि, फटत लट लटकि, द्रुम-द्रुम नवायौ।।

बरत बन पात, महरात, झहरात, अररात, तरु महा धरनी गिरायौ।।

भहरात, झहरात, अररात आदि शब्दों की ध्वनि प्रचंड अग्नि की भीषणता की बोधक है। इसी प्रकार झपटि, झपटत, लपट आदि की ध्वनि, आधी की लपेट और व क्ष आदि के टूटने का चित्र प्रस्तुत करती है।

कांति-गुण—कुशल कवि शब्द चयन के पश्चात् उस पर पालिश चढ़ाकर औज्ज्वल्य एवं मस णता का समावेश कर देता है। ऐसा करने से भाषा का खुदरापन जाता रहता है और उसमें आशा आ जाती है। इसी का नाम कांति गुण है। ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवियों-बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर और घनानंद ने इस गुण पर विशेष द ष्टि रखी है इसीलिए उनकी भाषा की

कमनीयता अत्यधिक बढ़ गई है। सूर ब्रजभाषा के प्रथम श्रेष्ठ कवि हैं। उनकी द ष्टि भाषा की कलात्मकता की ओर उतनी नहीं थी जितनी परवर्ती कवियों की थी, फिर भी कांति-गुण उनके श्रेष्ठ पदों में अनायास ही मिल जाता है।

(*i*) **औज्ज्वल्य**—कांति-गुण नागर पदावली पर अवलंबित होता है। अनुनासिक ध्वनियों की बहुलता से माधुर्य का संचार होता है। जैसे-

'मानो माई धन-धन अंतर दामिनी।
घन-दामिनी, दामिनी-घन-अंतर, सोभित हरि ब्रज भामिनि।।
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई जामिनि।
सुंदर ससि गुन रूप रागनिधि अंग-अंग अभिरामिनि।।
× × × ×
खंजन, मीन, मयूर, हंस, पिक, भाइ भेद गज गामिनि।
को गति गनै सूर मोहन संग, काम विमोह्यो कामिनि।।'

उपर्युक्त पद में आदि से अंत तक अनुनासिक ध्वनियों की गूंज विद्यमान है। इससे पद पंक्तियां दमकती द ष्टिगोचर होती हैं।

(*ii*) **मस णता**—शिल्पकार कलाकृति की रचना करने के उपरांत उसमें घिसाई करके उसे समतल करता है, ऐसा करने से ही उसमें चमक उत्पन्न हो जाती है। कुशल कवि भी इसी प्रकार अपने शब्दों के खुरदरेपन को निकालकर उसमें एकरूपता उत्पन्न करता है। ऐसा करने से पंक्ति में स्वाभाविक मिठास उत्पन्न हो जाती है। सूर-काव्य में मस णता सर्वत्र व्याप्त है। कांति गुण के लिए यदि कवि को बोली वाला रूप रूचता है तो वह उसे ले लेता है और यदि तत्सम शब्दावली अनुपम प्रतीत होती है तो उसे ग्रहण कर लेता है। वर्णों को थोड़ा-बहुत विकृत कर देने से भी वह हिचकता नहीं। उसे पंक्ति में एकरूपता और उज्जवलता चाहिए, जैसे-

'नैननि उहै रूप जो देखौ।
तौ ऊधौ यह जीवन-जग को, सांच सुफल करि लेखौ।।
लोचन चपल चारु खंजन, मन-रंजन ह्रदय हमारे।
सुरंग कमल, म ग, मीन मनोहर, सेत, अरुन अरु कारे।।'

उपर्युक्त पद में 'उहै' शब्द बोली का है फिर भी 'वहै' की अपेक्षा पंक्ति की ध्वनि के लिए अनुकूल है। इसलिए कवि ने अंगीकार कर लिया है। इसी प्रकार 'सांच' 'सत्य' की अपेक्षा अधिक मधुर है। 'स्वेत' शब्द को 'सेत' बनाकर उसे अत्यंत कोमल बना दिया गया है। शिल्पकार पहले वस्तु की मस ण बनाता है और फिर उस पर कांति का आरोप करता है। उपर्युक्त पद की प्रथम दो पंक्तियों में सूर ने मस णता भरी और फिर अंतिम दो पंक्तियों में कांति-गुण की अवतारणा कर दी है।

सूर में सहज गुण की प्रधानता है, अपनी रचनाओं में बहुत अधिक संशोधन और परिवर्द्धन नहीं किया। गान के माध्यम से प्रस्तुत करने के कारण उनके शब्द-वर्ण प्रायः ध्वनि के अनुरूप स्वतः घिस-घिसकर निकले तथा संगीत के स्वर विधान ने पंक्तियों में औज्ज्वल्य का आविर्भाव भी अपने आप कर लिया। इसीलिए सूर ही ब्रजभाषा के कांति-गुण के भी प्रवर्तक माने गये है।

दोष—निर्दोष रचना काव्य का महान् गुण है किंतु निर्दोष-रचना दुर्लभ है। रस काव्य की आत्मा है। रससिद्ध कवि रसवत्ता में मग्न होने के कारण भाषा के बाह्य रूप पर उतना ध्यान नहीं देख पाता, जिसके कारण उसमें भाषागत दोष रह जाते हैं। सूर की भाषा का सदोष होने का कारण यही था। उनकी रचना में भाषागत दोष पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। सूर की भाषा में कतिपय दोष हैं जो द्रष्टव्य हैं :-

(*i*) **च्युत संस्कृति**—व्याकरण की स ष्टि से सूर की भाषा अनेक स्थलों पर सदोष मिलती है। सूर ने भाषा के मोह में पड़कर तुक और वर्ण-मैत्री, लिंग, कारक-चिह्नों और क्रियारूपों में नियमोल्लंघन किया हैं -

लिंग संबंधी दोष—'विस्मय मिटी ससि पेखि समीपहिं, कहि अब सूर उभय हरि गार्ज्या।।

'विस्मय' शब्द पुल्लिंग है किंतु सूर ने स्त्रीलिंग रूप में प्रयोग किया है।

तुक के लिए अनेक स्थलों पर लिंग-दोष मिलता है। जैसे-

'जसुमति कहति कहा मैं कीनों, रोवत मोहन अति दुख पाकर।
सूर स्याम कौं जसुमति बांधति, गगन चिरैयां उड़त दिखावत।।'

विशेषण के कारण भी कहीं उनके लिंग अशुद्ध हो गए हैं। जैसे-

'नख शिख लौं यह मेरी देही, है पाप की जहाज।'

इसमें गीत की लय के लिए 'देही' में 'ई' का प्रयोग आवश्यक था और 'देही' के कारण सूर को 'जहाज' को भी स्त्रीलिंग प्रयोग करना पड़ा।

सूर के कृदंती रूप प्रयोग के कारण भी अशुद्धि व्याप्त हो गई है। जैसे-

'रसिक राधे, बोली नंद कुमार।'

यहां 'बोली' का अर्थ 'बुलाई गई' है, अर्थात् हे राधे, तू हरि या नंदकुमार के द्वारा बुलाई गयी है, किंतु पंक्ति में 'बोली' शब्द भूतकालिक कृदंत स्थान पर क्रिया के भूतकाल में प्रयुक्त प्रतीत होता है, इसीलिए इसमें लिंग-दोष लगता है।

(*ii*) **विभक्तियों का अनियम**—विभक्तियों के प्रयोग में सूर ने अत्यंत स्वच्छंदता दिखाई है। इसीलिए अनेक स्थलों पर उनकी भाषा विकृत हो गई है। जैसे-

'अधर अम त की पीर मुई हम।
बाल दसा तैं जोरि।।

'अधर-अम त की पीर' करण कारक में है अतः इसकी विभक्ति 'से' या 'तें' होनी चाहिए थी जिसका प्रयोग नहीं हुआ है।

(*iii*) **ग्राम्यत्व**—यद्यपि सूर की द ष्टि काव्योचित प्रयोगों पर अधिक रही फिर भी परिस्थिति दोष से अधिक ग्राम्य-प्रयोग उनकी भाषा में स्वतः आ गए हैं। जो पद लोक गीतों के रूप में हैं उनमें ग्राम्यत्व है ही, कला गीतों में भी अनेक ग्रामीण शब्दों का प्रयोग लिया गया है। उनमें ग्राम्यत्व है ही, कला गीतों में भी अनेक ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया गया है उनमें से कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं -

'हीलर (166), मूंड (331), बांभन (675), गौड़ (839), गेरत (1023), चंड़ाइ (1062), मौंडा (1099), डहरि (2039), लड़बौरी (2563), भरुहाने (2871), बूतैं (4534)।

ग्रामीण मुहावरे और लोकोक्तियां भी स्वभावतः आ गई हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख किया गया है। अत्यधिक ग्राम्य-प्रयोगों से भाषा अपने सौष्ठव को खो देती है। जहां तक गोपियों की स्वभावोक्ति है वहां तक ये प्रयोग युक्तियुक्त हैं किन्तु इस प्रकार के प्रयोगों की अति भाषा में ग्राम्यत्व उत्पन्न करती है।

(*iv*) **अप्रतीतत्त्व**—शास्त्र विशेष में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली जब काव्य भाषा में प्रयुक्त होती है तो सामान्य जनों के लिए दुर्बोध होने से उसमें अप्रतीतत्व दोष माना जाता है। यदि ग्राम्यत्व भाषा को अति साधारण करता है तो अप्रतीतत्त्व उसे असाधारण बनाता है। सूर में यह दोष कम विराजमान है। विनय-पदों में से कुछ इस प्रकार के पद हैं। जिनमें से एक पद द्रष्टव्य है-

'सांचौ सो लिखहार कहावै।
काया ग्राम मसाहत करि कै, जमा बांधि ठहरावै।
महमहतो करि कैद अपने में, ज्ञान जहतिया लावै।।'

उपर्युक्त पद में मसाहत, जमा, महतो, जहतिया आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये सब अप्रतीतत्त्व दोष के अंतर्गत आते हैं।

(*v*) **क्लिष्टत्व**—सूर ने द ष्टकूट पदों की रचना की है। इनमें से अधिकांश क्लिष्टत्व दोषयुक्त हैं।

(*vi*) **पुनरुक्ति**—यह सूर का प्रधान दोष है। सूरसागर में न केवल प्रसंगों की अनेक आव त्तियां हैं वरन् उक्तियां, उपमाओं और पंक्तियों की भी पुनरुक्तियां होती गई है। कारण यह है कि सूरदास अंधे गायक थे, वे कीर्तन के लिए प्रतिदिन पदों की रचना करते थे। सूर को अपने पदों का संशोधन करने का अवसर नहीं मिलता था। विषय उपमानों के साथ-साथ कथन की भी अनेक पुनरुक्तियां हैं। जैसे

'जब तें आंगन खेलत देख्यौ, मैं जसुदा को पूत री।
तब तें ग ह सो नातौ टूटौ, जैसे कांचो सूत री।।'

(*vii*) **अधिकपदत्व**—परिमार्जन का विशेष अवसर सुलभ न होने के कारण पुनरुक्ति की भांति अधिकपदत्व और न्यूनपदत्व दोष भी प्रचुर मात्रा में है। जैसे-

'हृदय हरषित प्रेम गद-गद, मुख न आवत बैन।'

यहां 'गद्गद्' और 'मुख न आवत बैन' एक ही अर्थ के द्योतक हैं। अतः 'मुख न आवत बैन' का अधिक पदत्व है।

(*viii*) **न्यूनपदत्व**—जहां अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त शब्दों का अभाव होता है और अर्थ की प्रतीति में कठिनाई होती है वहां न्यूनपदत्व दोष माना जाता है। जैसे-

'मुख छवि कहौं कहां लगि माई।
भानु उदै ज्यौं कमल प्रकासित, रवि ससि दोऊ जात छपाई।।'

यहां मुख-छवि के वर्णन में दो कथन हैं—(1) मुख इस प्रकार प्रफुल्लित है जैसे सूर्योदय पर कमल तथा, (2) मुख-छवि के सम्मुख रवि और शशि की ज्योति छिप गई हैं। किंतु उपर्युक्त पंक्ति में इन दो भिन्न कथनों के पार्थक्य दिखाने के लिए कोई शब्द नहीं हैं। इससे भानु के उदय में ही रवि-शशि का छिपना अर्थ निकलता है और भ्रम उत्पन्न करता है।

(*ix*) **श्रुति-कटुत्व**—श्र ंगार, वात्सल्य आदि कोमल रसों में मधुर सा प्रसाद गुण वाले वर्ण शोभित होते हैं। उनके बीच में जब पुरूष वर्ण आ जाते हैं, तो कानों को अप्रिय लगते हैं। मधुर वर्णे के मध्य कर्कश वर्षों का योग श्रुति-कटुत्व कहा जाता है, सूर श्रंगार के मनोरम प्रसंग के कर्कश वर्णों का प्रयोग कर इस दोष के भागीदार हुए हैं-

'चटकीलौ पट लपटानौ कटि पर, वंसीवट जमुना के तट राजत नागर नट।
मुकुट की लटक, मटक भ कुटी की लोल, कुंडल चटक आछी, सुबरन की लुकट।।
उर सोहें बन माल, कर टेके द्रुम डाल, टेढ़े ठाढ़े नंदलाल सोभाभई घट घट।
सूरदास-प्रभु की बानक देखें गोपी ग्वाल निपट निकट, पर आवे सौंधे कीपट।।'

वर्ण-योजना में सूर ने मधुर वर्णों के साथ पुरूष वर्णों का प्रयोग कर श्रुति-कटुत्व दोषमयी अभिव्यक्ति की है।

(*x*) **अश्लीलत्व**—क्रीड़ा विषयक अश्लीलत्व सूर के सुरति वर्णनों में कहीं-कहीं मिल जाता है। साहित्य में सुरति वर्णन त्याज्य नहीं हैं किंतु कवि को उसे लक्षणा और व्यंजना से ही करना

चाहिए जहां वह अभिद्या से वर्णन करता है, उसमें अश्लीलता आ ही जाती है। सूर ने अभिद्या से ऐसा ही वर्णन किया-

'हरषि पिय प्रेम तिय अंक लीन्हीं।
प्रिया बिनु वसन करि, उलटि धरि, भुजन भरि, सुरति रति पूरि अति निबल कीन्हीं।

वास्तव में सूरदास का ब्रजभाषा पर आधिपत्य निर्विवाद है। सूर की भाषा-सम द्धि, साधु-प्रयोग, वर्ण-योजना, शब्द-शक्ति, अलंकरण आदि इसके प्रमाण हैं। सूर ने असाहित्यिक भाषा को साहित्यिक बनाया। अतः प्रयोगात्मक रूप होने के कारण उसका बहुत सा अंश आगे न चल सका। अंधे होने के कारण उसका बहुत सा अंश आगे न चल सका। अंधे होने के कारण सूर की भाषा को मार्जन का विशेष अवसर प्राप्त नहीं हुआ। कीर्तन के क्रम में नित्य नए पदों की रचना करना उनका कार्य था इसलिए अनेक पदों की भाषा सुगठित और सुव्यवस्थित भी नहीं हो सकती थी। भाषा-संबंधी दोषों का उसमें आ जाना इसीलिए स्वाभाविक हो गया। इतना होते हुए भी उनका भाषा पर व्यापक अधिकार सिद्ध हैं। तुक-प्रियता ने सूर की भाषा को विश्रं खल किया है किंतु तुक उनके भाषाधिकार का प्रमाण भी है। सूर के पदों में बारह, पंद्रह और बीस पंक्तियों तक सुंदर तुक निर्वाह मिलता है। साधारण विकृति चाहे हो जाए पर शब्द न तो निरर्थक होते हैं और न रसहीन। विकृत होते हुए भी संगीत के अनुरूप होने के कारण सूर के तुक सरसता की अभिव द्धि करने वाले हैं।

सूर की भाषा का सबसे बड़ा गुण भावानुकूलता है। यही कारण है कि सूर की भाषा के अनेक रूप मिलते हैं। वर्णनात्मक प्रसंगों में जहां सूर ने भागवत के भावानुवाद रूप में कथा-कथन किया है वहां भाषा लचर और गद्यात्मक है। उसमें न तो कसाव हैं और न सौष्ठव। द्रष्टव्य है-

'दच्छ के उपजी पुत्री सात। तिनमें सती नाम विख्यात।
महादेव कौ सो तिन दई। पुनि सो दच्छ-यज्ञ में मुई।
तहं कियौ जज्ञ पुरूष अवतार। सूर कहयौ भागवत अनुसार।।'

— सूरसागर, चतुर्थ स्कंध, पद-४

इस प्रकार के पदों में भाषा पंडिताऊ और निरलंकार है। गद्य की सी भाषा है। इसके विपरीत कला-गीतों में भाषा संयत है और थोड़े शब्दों में अधिक भाव प्रकाशन की क्षमता विद्यमान हैं। शब्दावली सरल होते हुए भी अर्थ-गांभीर्य से युक्त है। अर्थ की द ष्टि से शब्द जितने मार्मिक हैं और विविध व्यापारों से समन्वित चित्र प्रस्तुत करने वाले हैं, उतने ही स्वाभाविक हैं एवं माधुर्य और कांति-गुण से समुज्जवल हैं-

'नैना नाहि न कछु विचारत।
सनमुख समर करत मोहन सौं, जद्यपि हैं हठि हारत।।
अवलोकत, अलसात, नवल-छवि, अमित तोष अति आरत।
तमकि-तमकि तरकत म गपति ज्यों, घूंघट पटहिं विदारत।।
बुधिबल, कुल-अभिमान, रोष-रस, जोवत भंवहिं निवारत।
निदरे व्यूह समूह स्याम अंग, पेखि पलक नहिं मारत।।

वस्तुतः कह सकते हैं कि सूर की भाषा में ब्रजभाषा का प्रौढ़ और शिष्ट रूप है। प्रसंगानुकूल उसमें भाषा के विविध रूप के दर्शन होते हैं। साधारण बोल-चाल की भाषा से लेकर अलंकृत और नाद-वैभव से संपन्न भाषा सूरसागर में मिलती है। रास में जहां न त्य की रूनझुन सुन पड़ती है वहां दावानल में भीषणता भी साकार हो आती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भाषा सूर के हाथ की पुत्तलिका रही है जैसा उन्होंने चाहा वैसा रंग उन्होंने उसमें भर दिया है।

अध्याय 3
भक्ति-भावना

सूर की भक्ति भावना

सूरदास हिंदी साहित्य की सगुणधारा की कृष्ण भक्ति शाखा के सर्वप्रमुख कवि हैं। वल्लभ संप्रदाय के गोसाई विठ्ठलनाथ जी द्वारा संगठित अष्टछाप के कवियों में सूरदास का स्थान सर्वोपरि है। सूर जहां एक ओर महान कवि थे वहां दूसरी ओर एक उच्चकोटि के भक्त। उनके पद आज भी भक्तों के कंठहार बने हुए हैं। उनमें भक्ति भाव की स्त्रोतस्विनी विभिन्न धाराओं में प्रवाहित हुई है।

सूरदास वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गी सिद्धांत में दीक्षित हुए थे। इस सिद्धांतानुसार श्रीकृष्ण परमब्रह्म परमेश्वर, निर्गुण-निराकार ईश्वर है और भक्तों हेतु अवतरित होते हैं। इस प्रकार एक ओर वे ही परब्रह्म है; दूसरी ओर भक्तवत्सल मानुषरूप-धारी एवं लीला-बिहारी श्रीकृष्ण हैं। श्री वल्लभाचार्य के अनुसार 'कृष्णानुग्रहस्माद्धि पुष्टि'; अर्थात् कृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। उनके अनुग्रह से ही भक्ति प्राप्त हो सकती है। वल्लभाचार्य ने पुष्टि के चार रूप बताए हैं-प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्ठ पुष्टि और शुद्ध पुष्टि। शुद्ध पुष्टि ही भक्ति का अंतिम लक्ष्य माना गया है, जहां भक्त परम विरहासक्ति को प्राप्त होता है और परमपद प्राप्त करके अंत में गोलोक में निवास करता है। महात्मा सूर ने उसी अनन्य भाव से कृष्ण की उपासना की है। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने से पूर्व के पदों में भी सूर का भक्त हृदय स्पष्ट झलकता है जहां उनकी दैन्य भावना के दर्शन होते हैं -

'प्रभु हौं सब पतितन को टीकौं।
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तो जनमत ही कौ।।'

भक्ति का सामान्य विवेचन

भागवत् में भक्ति को सर्वोपरि माना गया है, परंतु ज्ञान और कर्म को भी अपनाया है। पराभक्ति या प्रेमरूपा भक्ति को महत्व देते हुए वैद्यी-भक्ति को उसकी प्राप्ति का साधन माना है। सूरदास जी ने भागवत्कार की भांति भक्ति को तो महत्व दिया है परंतु ज्ञान और कर्म की प्रतिष्ठा नहीं की। सूर के मत से इस प्रपंचात्मक संसार से बचने का एकमात्र उपाय हरि भक्ति हैं, जिसके बिना समस्त जीवन भारस्वरूप है। भक्ति ही जीवन की मुक्ति का आधार है। कलियुग के संतापकारी तापत्रय का शमन भक्त के कोमल हृदय से बहते हुए भगवद्भक्ति इस के शीतल स्त्रोत से ही संभव है।

भौतिक विषयों के दुष्परिणामों का उद्घाटन और प्रभु-प्रेम का प्रतिपादन उन्होंने इस खूबी के साथ किया कि लोग हरि-लीलागान में अनायास ही रत हो गये और भक्ति के बिना समग्र साधनों को बंधन समझने लगे। ज्ञान और वैराग्य का साधन बनकर उन्होंने भक्ति के पद की प्रतिष्ठा की और ज्ञान एवं योग द्वारा अगम्य तत्व को भी भक्ति के सरल मार्ग द्वारा गम्य बनाया। भक्ति स्वतः पूर्ण है, वह साधन नहीं साध्य है। उसकी प्राप्ति सब कामनाओं की इतिश्री है। हरि भक्त स्वयं हरिस्वरूप हो जाता है, वह ब्रह्मा और महादेव से भी महान हैं :-

'हरि के जन सब ते अधिकारी।

ब्रह्मा, महादेव तें को बढ़, तिनकी सेवा कछु न सुधारी।।'

जिस पर हरि की कृपा हो जाती है, उसे फिर किस बात की कमी ? भक्ति का विशाल क्षेत्र जाति-पांति के क्षुद्र बंधन से बांधा नहीं जा सकता। बड़े-बड़े महाराज, ऋषिराज और मुनिराज भी हरि-भक्ति के समक्ष सिर झुकाकर वंदना करते हैं और उसके तेज को देखकर आश्चर्यचकित होते हैं-

'हरि के जन की अति ठकुराई।

महाराज रिषिराज महामुनि देखत रहे लजाई।'

कलियुग में केवल हरिनाम का ही आधार है और सब व्यवहार झूठे हैं। हरि-भक्ति के बिना सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं और न ही मुक्ति संभव है। विषयों के बंधन हरि भजन से ही कट सकते हैं।

भगवान के भजन से नीच व्यक्ति भी उच्च पद प्राप्त कर लेता है-

'हे हरि भजन को परमान,

नीच पावैं ऊंच पदवी बाजते नीसान।'

प्रभु के यहां ऊंच-नीच की गिनती नहीं की जाती।

भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म व्यर्थ हैं; इस तथ्य को प्रदर्शित करने के लिए सूरदास ने एक सुंदर द ष्टांत उपस्थित किया है। उनका कथन है जिस प्रकार पतंगा दीपक से प्रेम करता है और उसकी लौ से भी न डरता हुआ उस पर आसक्त होता है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरूष भी अपने ज्ञानरूपी दीपक से सांसारिक दुःखरूपी कूप का ज्ञान होते हुए भी उसमें मिलने को तत्पर होते हैं।

सूरदास ने जहां एक ओर हरि भजन की आवश्यकता पर बल दिया है वहां दूसरी ओर भक्त के विचारों में वैराग्य भी अनिवार्य बताया है क्योंकि वैराग्यपूर्ण भक्ति से ही सांसारिक बंधनों से मुक्ति संभव है और भक्त के हृदय में पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना जाग्रत होती है।

'जौ लौं मन कामना न छूटै।

तौ कहा जोग जज्ञ ब्रत कीन्है, बिनु कन तुस को कूटै।

कहा स्नान किये तीरथ के, अंग भस्म जटजूटै।

कहा पुरान जु पढै अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूंटैं।।

जग शोभा की सकल बड़ाई, इनतै कछु न खूटै।

करनी और कछु औरे, मन दश हूं दिश टूटै।

काम, क्रोध, मद, लोभ सत्रु हैं, जो इतननि सौं छूटै।।

सूरदास तबही तम नासै ज्ञान अग्नि झर कूटै।

सूरदास ने भक्ति के लिए वैराग्य की आवश्यकता बताई है वैराग्य आत्मज्ञान से ही हो सकता है। जब तक मनुष्य को सत् स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक वह म ग की भांति सांसारिक वन में घूमता रहता है। आत्मज्ञान के अभाव में आदमी सब कुछ भूला रहता है और उसके हृदय में अंधकार छाया रहता है और इसलिए उसमें वैराग्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अंततः यही निष्कर्ष निकलता है कि आत्मज्ञान और तज्जन्य वैराग्य ही भक्ति का एकमात्र साधन है।

सूरदास के भक्ति विवेचन की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने उस समय प्रचलित योग मार्ग की निंदा की है। उनके बहुत से पदों में भक्ति के सामने योग मार्ग की निरर्थकता का प्रतिपादन किया गया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है-

"भक्ति बिना जौ कृपा न करते तौ हौं आस न कर तौ।

× × × × × ×

साधु-सील सद्रूप पुरूष कौ अपजस बहु उच्चरतौ।

औधड़ असत कुचीलनि सों मिलि, मायाजाल में तरतौ।"

इसी प्रकार भक्ति-पंथ का निरूपण करते हुए वे कहते हैं-

"भक्तिपंथ कौं जो अनुसरै, सो साष्टांग जोग कौं करै।

यम, नियमासन, प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम।

प्रत्याहार, धारना, ध्यान। करै जु छांड़ि वासना आन।

क्रम क्रम सौं पुनि करै समाधि। 'सूर' स्याम भजि मिटै उपाधि।।"

सूरदास यह भाव प्रकट करते हुए कहते हैं कि भगवान के भजन के बिना योग आदि क्रियाएं व्यर्थ हैं। उनकी धारणा से सिद्ध होता है कि सूरदास योगमार्ग के विरुद्ध नहीं हैं परंतु उन दूषित भावनाओं और क्रियाओं के विरुद्ध हैं जिन्हें योगमार्गी साधुओं ने अपना लिया था।

सूरदास के भक्ति विवेचन में यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने संत-मत के तत्वों को भी अपनाया। संत-मत का मुख्य आधार जाति-पांति का विरोध है। यही सिद्धांत सूर के इस पद में प्रतिबिंबित होता है-

"जाति-पांति कोउ पूछत नाहीं श्रीपति के दरबार।"

हिंदु धर्म के बहुत से संप्रदायों में स्त्री को भक्ति का अधिकार नहीं दिया गया, संतों ने इस सिद्धांत का विरोध किया और सूर ने उनका समर्थन किया-

'हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ,

नारि पुरूष हरि गनत न होई।'

पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व सूरदास संत मत को पूर्ण आदर से देखते थे। कबीर की भांति उन्होंने भी माया के मिथ्या-तत्व का प्रतिपादन किया हैं और भगवान के परमधाम की ओर संकेत किया है। सूर आरंभ से ही निर्गुण पंथ के प्रति उदासीन थे। परंतु संप्रदाय में दीक्षित होने के बाद उनकी भक्ति का आदर्श बदल गया। इसके बाद उन्होंने इस सहज भक्ति-धर्म का निरूपण किया, जिसका आधार कृष्ण की रूप-माधुरी लीलाएं हैं। इसलिए वहां निर्गुण पंथ के प्रति उनकी उदासीनता ही नहीं, स्पष्ट विरोध भी है।

सूर के भक्ति विवेचन से यह पता चलता है कि वल्लभाचार्य के मिलने से पहले उनका मन स्थिर नहीं था। यही कारण है कि उनके भक्ति विवेचन में उत्तरोत्तर निश्चित रूप से अंतर आता गया है। निर्गुण पंथ के प्रति प्रारंभ में उनकी सहिष्णुता उदासीनता के रूप में परिणत होती हुई भ्रमरगीत में पूरे विरोध का रूप धारण कर लेती है।

सूरसागर के देवहुति-कपिल संवाद में सूर ने भक्ति की विस्त त व्याख्या की है। त्रिगुण भक्ति को सुधासार भक्ति कहा है यही प्रेमाभक्ति है। भक्तों की उन्होंने दो कोटियां मानी हैं-सकाम भक्त, अन्नय भक्त। कर्म, ज्ञान एवं योग के संबंधानुसार तीन प्रकार के भक्त माने गए हैं-कर्मयोगी भक्त, ज्ञानयोगी भक्त एवं भक्तियोगी भक्त। कर्मयोगी भक्त अधर्म आचरण से दूर रहता हुआ वर्णाश्रम नियमों का पालन करता है, उसे मर्यादायुक्त भक्त कहा जा सकता है। ज्ञानयोगी भक्त सबको ब्रह्म

समझकर सबसे प्रेम करता है। भक्तियोगी भक्त प्रभु से प्रीति रखता हुआ उसके स्मरण और अर्चन में अपना पूर्ण समय लगाकर मुक्ति प्राप्त करता है। भगवद्गीता में इस प्रकार की भक्ति का सुंदर वर्णन द्रष्टव्य है-

'चतुर्विद्या भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो र्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।'

सूरदास यद्यपि भक्ति के साध्य रूप को ही महत्व देते थे और प्रेम ही उनकी साध्यरूपा भक्ति का आधार है तथापि स्थान-स्थान पर हमें सूरसागर में वैद्यी भक्ति के उदाहरण भी मिल जाते हैं। गोपियों को प्रेमाभक्ति का आश्रय मानकर उनके माध्यम से सूर ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

नवधा भक्ति—शास्त्रों में भक्ति के नौ प्रकार बताए गए हैं जो नवधा भक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं-श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पादसेवा, वंदन, अर्चन, दास्य सख्य और आत्म-निवेदन। भागवत में नवद्या भक्ति का विवेचन हुआ है किंतु सूरदास ने प्रेमस्वरुपा भक्ति का भी उल्लेख किया है-

'श्रवण कीर्तन पादरत, अरचन वन्दन दास।
सख्य और आत्म-निवेदन प्रेमलक्षणा जास।'

वल्लभाचार्य ने नवद्या भक्ति को प्रेमस्वरूपा भक्ति का साधन माना हैं। सूर ने साधन रूप में ही नवद्या भक्ति द्वारा प्रेमाभक्ति को संकेतित किया हैं। पहले तीन प्रकार की भक्ति भगवान् के नाम और लीला से संबंध रखती है, दूसरे तीन प्रकार की रूप से और अंतिम तीन प्रकार की मन से संबद्ध हैं। मन से संबद्ध भक्ति ही रस की कोटि तक पहुंचती है। सूर ने इसी का विशेष निरुपण किया है।

1. श्रवण, स्मरण, कीर्तन

इन तीनों में भगवन्नाम का ही महत्त्व है। नाम-महिमा का प्रतिपादन करने वाले सूर ने अनेक पद लिखे हैं। हरि-नाम का प्रभाव ही ऐसा है कि बड़े से बड़ा पापी भी इसका सहारा लेकर भवसागर तर जाते हैं-

"को को न तरयौ हरि नाम लियें।
सुआ पढ़ावति गनिका तारी, व्याध तरो सर घात कियें।
प्रभु ते जन-जन ते प्रभु बरतत, जाकी जैसी प्रीति हियें।।

प्रभु का यशोगान करने से भक्ति सहज ही प्राप्त हो जाती है। राम नाम का बड़ा सहारा है इसलिए वहीं धन्य है जो राम का गान करता है। हरि-स्मरण के बिना मुक्ति संभव नहीं, उसी से सारे सुखों की प्राप्ति होती है। भगवान् के साक्षात्कार का यही साधन है। सूर कहते हैं कि सौ बातों की एक बात यह है कि दिन-रात भगवान् का स्मरण करना चाहिए-

'सौ बातनि की एकै बात, सर सुमरि हरि हरि दिन राति।'

सूर ने इसी प्रकार कीर्तन के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। भगवान् के नाम, गुण, लीला, धाम आदि का प्रेम और श्रद्धा के साथ कथा-पाठ और गान कीर्तन कहलाता है। संगीत-कला विशारद सूर ने कीर्तन में संगीत का पुट देकर नवीनता उत्पन्न कर दी। कीर्तन में गान, वाद्य और न त्य तीनों ही सम्मिलित हैं। सूर पदों को 'रचते' या 'कहते' नहीं अपितु गाते हैं। "ताते सूर सगुन लीला पद गावै" कहकर वे अपनी संगीतज्ञता का परिचय देते हैं।

सूर को भगवान के लीलागान में ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। उसी रसना को रसना कहते हैं; जो भगवान के गुणों का कीर्तन करती है और उन्हीं कानों को कान कहते हैं जो हरि कथा का श्रवण कर अम तरस का पान करते हैं।

भगवान् के गुण, यश, लीला आदि का सुनना सुनाना ही श्रवण-भक्ति है। सूर भगवान् की लीला का वर्णन करके प्रायः अंत में कह दिया करते हैं-

'जो यह लीला सुनै सुनावै। सो हरिभक्ति पाइ सुख पावै।'

अथवा

'जसे पदस्तुति सुनै सुनावै। सूर सो ज्ञान-भक्ति को पावै।

सूरसागर में स्थान-स्थान पर इसी प्रकार लीला-श्रवण का माहात्म्य बताया गया है। एक स्थान पर सूर कहते हैं, "मैं रसमयी रासलीला को गाकर सुनाता हूँ। जो रासलीला के रस का गान और श्रवण करते हैं, उनके चरणों में मैं अपना मस्तक नवाता हूँ। मैं एक रसना से लीला के कथन एवं श्रवण के फल का वर्णन करने में असमर्थ हूँ। उसके सामने अष्टसिद्धि और नवनिधि की सुख संपत्ति भी कुछ नहीं हैं। भगवान् की कथा के श्रोता और वक्ता धन्य हैं, क्योंकि भगवान् कृष्ण सदा ही उनके निकट रहते हैं।

2. पाद-सेवन, वंदन और अर्चन

यह तीनों प्रकार की भक्ति-साधन भगवान् के रूप में संबंध रखते हैं और पुष्टि संप्रदाय की सेवा-विधि में इनका बहुत महत्त्व है। पाद-सेवन में मूर्ति- पूजा, गुरू-पूजा और भगवद्भक्त पूजा भी सम्मिलित हैं। इन पूजाओं के अनन्तर भक्त में दास्य प्रेम का आविर्भाव होता है, फिर भक्त मानसिक पाद-सेवन की कोटि तक पहुंचता है और भगवान् के अभौतिक चरणों की सेवा करता है। सूर गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी के मंदिर में भगवान् की पूजा करते थे, जिसमें तीनों प्रकार के भक्ति-साधन थे। इनके अनेक पदों में नंद-नंदन-चरणों की वंदना की बात कही गई हैं। सूरसागर के प्रथम पद में ही भगवान् के चरण कमलों की वंदना से प्रारंभ है :-

"चरन-कमल बन्दौं हरिराइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कुछ दरसाइ।
बहिरौ सुनै मूक पुनि बौले, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बन्दौं तिहिं पाइ।।"

भगवान के चरणों का वंदन करके न जाने कितनों जनों का उद्धार हो गया ? सूर कहते हैं-भगवन् मैं आपके कमलरूपी चरणों की वंदना करता हूँ। वे चरण शिव, यमुना आदि के सर्वस्व हैं। जिन चरणों की भक्ति से प्रहलाद भक्त प्रहलाद बनकर मुक्ति को प्राप्त हुआ, अहिल्या, बलि, न ग आदि का उद्धार हुआ, जिनके ऊपर गोपियों ने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया, जिनके प्रसाद से पांडवों के समस्त कार्य सिद्ध हुए और जो तीनों प्रकार के तापों को हरने वाले हैं। सूर अपने मन को संबोधित करके कहते हैं- हे मन! नंद-नंदन के चरणों की सेवा कर जो बड़े सुंदर और पवित्र हैं तथा जिनके प्रसाद से बहुत से पापी मानव तर गए।"

अर्चन के विषय में कहा जा सकता है कि श्रद्धा-सहित भगवान के स्वरूप की उपासना 'अर्चन-भक्ति कहलाती है। 'हरि-भक्ति रसाम त सिन्धु' में अर्चन का लक्षण इस प्रकार दिया गया है -

'अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रोपपादनम्।
परिचर्या तु सेवोपकरणादिपिरिष्क्रिया।।

वल्लभ-संप्रदाय में अर्चन-भक्ति का बहुत महत्व है और इस संप्रदाय के मंदिरों में आठों पहर की सेवा में अर्चन के प थक-प थक रूप विधान हैं। सूर ने भगवान् के विराट् स्वरूप और आरती का मनोहर चित्रण किया है। वंदन और अर्चन दोनों भक्तियों में व्यापार साथ-साथ चलते हैं क्योंकि वंदन में भी भक्त के दास्यरूप की अभिव्यंजना है सूर के दैन्यभाव के पद वंदना के ही पद कहे जा

सकते हैं। वह भावुक और भक्त कवि थे, यही कारण है कि उनकी भावुकता वंदना के पदों में शतमुखी होकर प्रवाहित हुई है। आराध्य देव से संपर्क रखने वाली चेतन अथवा अचेतन प्रत्येक वस्तु सूर के लिए वंदनीय है। संबंध-निर्वाह की यह भावना श्रीमद्भागवत में स्थान-स्थान पर द्रष्टव्य है।

3. दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन

ये तीनों मानसिक भाव हैं और भक्ति रस के मूल हैं। प्रेम भक्ति की दो दशाएं होती है-प्रेमावस्था, भावास्था। जब कृष्ण के प्रति भक्त का चिद्विषयक रतिभाव सांद्र हो जाता है। 'रूप गोस्वामी' ने मुख्य रूप से पांच भक्तिरस मानकर इन तीनों भावों को उन्हीं के अन्तर्गत मान लिया है। भक्ति के अनेक मानसिक भाव हैं और वे सभी भगवान् के संबंध से अलौकिक हो जाते हैं परंतु यह पांच भाव ही प्रधान है।

4. शांता भक्ति

'भक्ति रसाम त सिंधु' में भक्ति-विषयक पांचों रसों का सांगोपांग विशद विवेचन हुआ है। सूर ने शास्त्रीय ढ़ंग से कहीं इनका विवेचन नहीं किया। उसमें उनके भक्त-हृदय से उत्पन्न स्वाभाविक उक्तियों में इनके अनेक चिह्न मिलते हैं। शांत रस का स्थायी भाव निर्वेद हैं, यह तत्वज्ञान से उत्पन्न होता है। वैराग्य, दैन्य, विनय आदि भाव से प्रेरित होकर सूर ने जो पद लिखे हैं उन्हें शांता भक्ति-विषयक पद कहा जा सकता है। संसार के नाना रूपों और व्यवहारों का तिरस्कार और भगवान् की अनुकंपा तथा भक्तवत्सलता का वर्णन करता है तथा अपनी हीनता का परिचय देता है। भक्त के शांत और दास्य दोनों ही भाव समन्वित होकर चलते हैं। उसे संसार में विरक्ति ही नहीं; आत्मग्लानि भी हैं, जिसके कारण वह दुःखी होकर प्रभु को पुकारता है- 'हे नाथ ! मेरी रक्षा करो' साथ ही साथ वह अपनी उद्योग-हीनता और भगवान की भक्त-वत्सलता का तुलनात्मक विवेचन भी करता है।

सूर ने भक्तों के चरित्र का वर्णन जहां भी किया है वहां भगवान् की भक्त-वत्सलता का भी विवेचन किया है। प्रह्लाद-चरित्र, कालिय-दमन, चीर-हरण, गोवर्द्धन-लीला आदि प्रसंगों में, भगवान की भक्त वत्सलता और भक्त के दैन्य भावों का साथ-साथ अनुपम वर्णन हुआ है।

5. सख्य भक्ति

पुष्टि संप्रदाय में सख्य-भाव की भक्ति का बड़ा महत्व है। अष्टछाप के आठों कवियों ने भी सख्य-भाव को ही अपनाया था। सूर के सख्य भाव में यह विशेषता है कि उसमें मनोवैज्ञानिक रूप से मानवीय संबंधों का निर्वाह किया गया है। साथ ही भक्ति-भाव की पूर्ण तल्लीनता और भावात्मकता की अनुभूति भी की गई है। कृष्ण की ओर से सखाओं के प्रति प्रकटित आत्मीयता और घनिष्ठता स्वाभाविक है, जिससे स्नेह की मधुरिमा बाल-सुलभ चापल्य से प्रेरित वाद-विवाद के बाद भी अधिक आस्वाद्य हो उठती है तथा जिसमें क्रीड़ाओं की तरलता के साथ कर्त्तव्य की भावना का गौरव भी स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता हैं। सूर का सख्य वर्णन विश्व-साहित्य में बेजोड़ हैं। भगवान कृष्ण स्वयं सखाओं को अपने गौरव से आक्रांत करना नहीं चाहते।

सूरसागर में बाल-लीलाएं, गोचारण-लीलाएं और सुदामा के दरिद्र का विदारण ये तीनों स्थल सख्यभक्ति के हैं। इसमें कृष्ण के कुछ सखा उनसे छोटे हैं; जो उनके स्नेह के पात्र हैं। ये दोनों ही प्रकार के सखा कृष्ण की गोपी-केलियों के सहयोगी नही है। उनके समव्यस्क सखा ही उनके पूर्ण विश्वास-पात्र हैं, जो उनके साथ सब प्रकार की केलियों में रहते हैं और उनके सभी रहस्यों को जानते हैं। ये समव्यस्क सखा ही भगवान के सच्चे भक्त हैं। इनकी संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं का वर्णन कवि ने किया है। इन ग्वाल-बालों के सख्य भाव और उनके प्रति कृष्ण के प्रेम को देखकर ब्रह्मा का गर्व भी नष्ट हो जाता है और वे कृष्ण की स्तुति करते हुए

ब्रजवासियों के भाग्य की सराहना करते हैं और स्वयं भी यही कामना करते है कि वे ब्रज में उत्पन्न हों और ग्वालों के जूठे अन्न से उन्हें पेट भरना पड़ें।

उसमें स्वाभाविकता का समावेश है जिसके दर्शन हमें कृष्ण की प्रत्येक अलौकिक लीला से पहले होते हैं। कालिय-दमन, गोवर्द्धन-धारण, व षमासुर वध आदि लीलाओं के स्थलों पर कृष्ण के सखा उनके अलौकिकत्व को भूले हुए है।

राधा और कृष्ण की गोपनीय लीलाओं से भी ये सखा अनभिज्ञ नहीं थे। स्वयं राधा ने कृष्ण से इस बात की शिकायत की है कि 'तुम मुझे सखाओं में लज्जा से क्यों मारे डालते हो ?' गोपसखा मोहन की मुरली से भी अत्यंत प्रभावित हैं। मुरली की ध्वनि सुनने के लिए वे लालयित हो उठते हैं और कहते हैं :- **"छबीले मुरली नैंकु बजाउ।"**

संयोग में ही नहीं, वियोग में कृष्ण के मथुरा चले जाने पर और वहां राजा हो जाने पर भी सूर ने सख्य भाव को बनाए रखा है।

6. वात्सल्य

सख्य भाव की भक्ति के समान ही सूर की वात्सल्य-भक्ति भी महत्त्वपूर्ण है। वात्सल्य-भक्ति अन्य सभी प्रकार की भक्तियों में उच्च स्थान रखती है, क्योंकि वात्सल्य-भाव में किसी भी प्रकार के स्वार्थ की गंध तक नहीं होती। इसे निष्काम भक्ति का पोषक कहा जा सकता है। सूर का वात्सल्य-भाव विश्व-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। सूर ने पुरूष होते हुए भी माता का हृदय पाया था, तो यह कहना असंगत न होगा।

सूर के वात्सल्य वर्णन को संकेतिक करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है-

"यशोदा के वात्सल्य में वह सब कुछ है, जो 'माता' शब्द को इतना महिमाशाली बनाए हुए है। यशोदा के बहाने सूर ने मात -हृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। माता संसार का ऐसा पवित्र रहस्य है, जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नहीं। सूर जहां पुत्रवती जननी के प्रेमपेलव हृदय को छूने में समर्थ हुए है; वहीं दूसरी ओर वियोगिनी माता के करुणा-विगलित हृदय को भी छूने में समर्थ हुए हैं।"

सूर कहते हैं कि यशोदा में ही वात्सल्य की परिपक्वता है जो भक्ति-रस की कोटि तक पहुंचा है। केवल वात्सल्य ही भक्ति का सर्वशुद्ध भाव है जिसमें न तो विरक्ति की भावना है और न इंद्रिय सुख की कामना ही, लोकधर्म का उल्लंघन इसमें नहीं होता है।

वात्सल्य भाव के आलंबन बालकृष्ण है और उनकी लीलाएं उद्दीपन का कार्य करती हैं और स्वाभाविक होने के कारण आश्रय में भाव की द ढ़ता स्वतः करती जाती है। सूर ने वात्सल्य के दोनों ही संयोग तथा वियोग पक्षों में रखकर यशोदा को देखा है। कृष्ण के मथुरा जाने तक यशोदा में संयोगात्मक भाव की द ढ़ता हो जाती है और मथुरा गमन की सूचना से ही वियोग की अनुभूति प्रारंभ हो जाती है। वह पागल-सी होकर कहती है, 'यह सुफलक सुत हमारा बैरी है, यह हमारी संपत्ति को लूटे ले जा रहा है, अरे ! ब्रज में हमारा कोई हितू है, जो मेरे जाते हुए गोपाल को रोक ले। जब नंद कृष्ण को मथुरा पहुंचाकर वापस लौटे तो यशोदा ही उन्हें लिवाने के लिए सर्वप्रथम पहुंची, क्योंकि उनका अनुमान था कि उनका गोपाल भी नंद के साथ आया होगा। जब उन्होंने नंद को अकेला देखा तो वह उन पर क्रोधित होकर अपनी सुध-बुध खो बैठी। सुत-वियोग-विक्षिप्तता यशोदा की पूज्य पति के प्रति भी वक्तव्यावक्तव्य विचार-मूढ़ता उनके वात्सल्य के उमड़ते ज्वार की सूचक है। उन्हें विश्वास ही नहीं है कि उनके लाल की देखभाल कोई अन्य व्यक्ति कर सकता है ? यह एक शाश्वत, सार्वभौम, मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसकी अभिव्यंजना सूर ने इस पद में बखूबी कर दिखाई है-

'संदेसो देवकी सौं कहियौ।
हौं तो धाइ तिहारे सुत की, दया करत ही रहयौ।
× × × × ×
प्रात होत मेरे लाल लडैंतें, माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ-जोइ मांगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि कै न्हाते।
सूर पथिक सुनि, मोहिं रैनि दिन, बढ़यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतों मोहन है करत संकोच।'

इस प्रकार यशोदा के वात्सल्य में सूर ने इतनी तन्मयता और मनौवैज्ञानिकता भर दी है कि कृष्ण के अतिप्राकृत कार्यों को प्रत्यक्ष देखते हुए भी उस भाव में परिवर्तन अथवा विकार नहीं आने पाया। यशोदा के वात्सल्य भाव में हृदय का पूरा संयोग है।

7. मधुर-भक्ति

सूर के समकालीन रूप-गोस्वामी ने मधुर-भक्ति-रस का विशद विवेचन किया है। इस भक्ति को वल्लभ-संप्रदाय में स्थान मिला है परंतु इसका शास्त्रीय विवेचन उस समय नहीं हुआ। विठ्ठलनाथ के समय में इस भक्ति को बहुत महत्व दिया गया। युगल-उपासना का महत्व भी संप्रदाय में उन्हीं के समय में बढ़ा। माधुर्य भाव की भक्ति श्रंगार-प्रेम की भक्ति कही जा सकती है। लौकिक प्रेम के जितने स्वरूप हो सकते हैं, वे सभी मधुर भक्ति में आ जाते है; अंतर केवल इतना है कि लोक से हटाकर उन्हें ईश्वर से जोड़ दिया जाता है। भक्त के मन को ऐंद्रिय विषयों से हटाने के लिये वह एक उत्तम साधन बताया है। इसीलिए मधुर भक्ति के संबंधों में अच्छे-बुरे का ध्यान नहीं रहता। सभी संबंध परमात्मा के साथ हो सकते हैं। लोकपक्ष में जिसे हम श्रं गार रस कहते हैं; भक्ति-पक्ष में उसे मधुर रस कहते है। आलंकारिकों के मत से अनौचित्यपूर्ण रति में श्रंगाराभास होता है, जबकि भक्ति रस में औचित्य अनौचित्य का विचार नहीं होता। उसमें स्वकीया भाव के साथ परकीया भाव की रति भी है, एवं संयोग और वियोग दोनों पक्ष भी श्रं गार रस की भांति हो सकते हैं। भक्ति रस में कांतारूपा प्रीति कामरूपा भी हो सकती है और संबंधरुपा भी। सूर की भक्ति भी ऐसी ही है यही कारण है कि हम भक्त सूरदास की अंतरात्मा का अंतर्भाव राधा में देखते हैं। कृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण ऐंद्रिय है, इसलिए उनकी प्रीति को सूर ने कामरूपा माना है। सूर की भक्ति का उद्देश्य भक्त को संसार के ऐंद्रिय प्रलोभनों से बचाना है, यही कारण है कि उनकी भक्ति-भावना स्त्री-भाव से आपूरित हैं, जिसका प्रतिनिधित्व गोपियां करती है। वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी कामरूपा प्रीति भी निष्काम है। इसीलिए संयोग-वियोग दोनों ही अवस्थाओं में गोपियों का प्रेम एक रूप है। आत्मसमर्पण और अनन्यभाव मधुर-भक्ति के लिए आवश्यक है, जो सूरसागर की दानलीला, चीरहरण और रासलीला में पूर्णता को प्राप्त हुए है।

सूर की विरह संयोग से भी अधिक उज्जवल और प्रबल है। मधुर भक्ति की आश्रयस्वरूपा गोपियां कृष्ण में इतनी तल्लीन हो जाती हैं कि उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-योग-साधन उन्हें निरर्थक प्रतीत होते हैं और वे उनका परिहास करती हैं। सूर ने ज्ञान, योग, यज्ञ, पूजा आदि की अपेक्षा माधुर्य-भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

माधुर्य-भाव की भक्ति का पूर्णतया निरूपण कर सूर ने कृष्ण के संयोग-विप्रयोगात्मक श्रंगार-रसरूप इष्टदेव की उपासना को ही प्राधान्य दिया। सूर की भक्ति-भावना उनकी वैराग्य-समन्वित भक्ति-भावना से नितांत भिन्न है। इससे प्रमाणित होता है कि वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् उन्होंने अपना भक्ति-विषयक द ष्टिकोण ही परिवर्तित कर दिया।

सूर पर तत्कालीन व ंदावन के संप्रदायों का भी प्रभाव पड़ा था। चैतन्य संप्रदाय के अतिरिक्त राधावल्लभीय और निंबार्क संप्रदाय में भी युगल उपासना को महत्त्व दिया गया है।

8. आत्म-निवेदन

आत्म-निवेदन माधुर्य भाव की अंतिम सीढ़ी है। इसी का एक पक्ष शरणगति है। सूर की भक्ति साधना में शरणगति का बहुत महत्व है। विनय के पदों में सूर की भक्ति-भावना द्रष्टव्य है : -

'शरण आए की प्रभु लाच धरिए।'

'शरण गये कौ को न उबारयौ।'

'सरन अब राखि लै नन्ददाता।'

'सरन परि मन वच कर्म विचारी।'

सूर ने श्याम के चरणों में आत्म-विनेवदन किया है। आत्म-निवेदन उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति ही किया है।

उन्होंने विद्या, जाति आदि सभी का अभिमान त्याग कर भगवान् को अनन्य भाव से निवेदन है। यही आत्म-निवेदन का शुद्ध, परिमार्जित स्वरूप है।

9. प्रेमरूपा-भक्ति

यह माधुर्य भाव की भक्ति है और गोपियां उसका प्रतिनिधित्व करती हैं। सूर ने प्रेम-भक्ति की अधिगति नवद्या भक्ति द्वारा ही मानी है। वल्लभ-संप्रदाय में प्रेम-भक्ति का साधन हरिकृपा अथवा प्रभु-अनुग्रह बताया गया है। सूरसागर में सूर प्रेम-भक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैंः-

'प्रेमभक्ति बिनु मुक्ति न होइ, नाथ कृपा करि दीजै सोइ।

और सकल हम देख्यौ जोइ, तुम्हारी कृपा होइ सो होइ।।'

वास्तव में प्रेम की बड़ी महत्ता है। प्रेम से ही ऐहिक और पारलौकिक कार्य सिद्ध होते हैं। इस प्रेम का मूल ही प्रेम ही है। प्रेम से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है-

"प्रेम प्रेम ते होए प्रेम ते पारहिं पइये।

प्रेम बंध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहिये।

एकै निश्चय प्रेम को जीवनमुक्ति रसाल।

सांचौ निश्चय प्रेम को जेहि तें मिलें गोपाल।।"

सूर ब्रजधाम के वास को ही प्रेमभक्ति का फल मानते हैं, जिसके प्राप्त होने पर भक्त को कुछ प्राप्य नहीं रहता और न ही उसकी कोई अन्य कामना रहती है। इस भक्ति के प्राप्त होने पर सूर को भी समस्त संसार कृष्णमय दीख पड़ता था।

सूर की गोपियां उद्धव से कहती हैं-"हमारे मन में कोई स्थान अवशिष्ट नहीं हैं। हमारे हृदय में, नंद-नंदन के होते हुए किसको स्थान मिल सकता है ? हमारा हृदय कृष्ण के प्रेम से लबालब भरा है। मन दस-बीस तो होते नहीं, एक था सो वह श्याम के साथ चला गया। अब ईश की आराधना-योग की साधना-कौन से मन से की जाय ? प्रेम की गति विचित्र होती है, वह किया नहीं जाता, हो जाता है। प्रिय के असाधारण गुणों पर रीझकर प्रेम होता हो ऐसी बात भी नहीं हैं। उससे भी अधिक गुणवान् वस्तु हो सकती है पर वह प्रेमी के हृदय को नहीं लुभा सकती। संसार में कितनी ही सुंदर और मधुर वस्तुएं हो सकती हैं, पर जिस व्यक्ति को जो वस्तु अच्छी लगती है वही उसके लिए सुंदर होती है।

'दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सिता पि मधुरैव।
तस्य तु तदेव मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्।।'

यही प्रेम की अनन्यता है जो सूर की गोपियों में देखी जाती है तभी तो वे उद्धव से कहती हैं -

"ऊधौ मन माने की बात।
दाख हुहारा छांड़ि अम त फल विषकारा विष खात।
× × × × ×
सूरदास जाको मन जासों ताको सोइ सुहात।।"

सूर का प्रेम किसी भी वाद की झंझा में हिमालय की भांति अटल रह सकता है। उद्धव के लाख बार समझाने पर भी प्रेममयी गोपियों का मानस स्नहेरस से परिपूर्ण लहराता रहा।

प्रेमभक्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन हरिकृपा और सत्संग ही है। सूर ने कहा कि भगवान् के सभी अवतार उनकी भक्तवात्सलता और कृपा के प्रमाण है; उनकी कृपा के आगे सब तुच्छ है। जिस पर हरि कृपा करते हैं उसी की जीत होती है, किसी को व्यर्थ अभिमान नहीं करना चाहिए। भक्ति-पथ में साधन-स्वरूप सत्संगति की प्रशंसा और बाधक-रूप कुसंगति की निंदा सूर ने अनेक स्थान पर की है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद का त्याग करने, सांसारिक विषयों से विरक्त रहने, हरिविमुखों का संग छोड़ने, सत्संग और हरिभजन करने आदि का उपदेश सूर के पदों में मिलता है। उनकी प्रेमभक्ति साधना में अष्टांग योग व्यर्थ हैं, मन : कामना बाधक है। सत्संगति के समान ही सदाचार को भी महत्त्व दिया है। सूरसागर में सदाचार की विशेषताओं का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रतिपादित किया गया है। गोपियों के संबंध में जो लोक-लाज और कुल-मर्यादा का उल्लंघन है, वह कृष्ण के प्रति अनन्यता स्थापित करने के लिए है, अन्यथा कवि ने अनेक स्थानों पर लोक-व्यवहार और सदाचार की आवश्यकता बताई है।

गोपियां सांसारिकता से बहुत ऊंची उठ चुकी हैं। वे प्रेम-भक्ति की चरमावस्था को पहुंच चुकी हैं। कवि का लक्ष्य उन्हें आत्म-समर्पण की अंतिम कोटि तक ले जाना है, जो प्रेम भक्ति का सर्वोच्च रूप है। सूर की प्रेमरूपा भक्ति अपने आप में पूर्ण है। गोपियों का विरह-प्रेम की उसी पूर्णावस्था का प्रतीक है। वे उद्धव से कहती हैं :-

'ऊधौ विरहौ प्रेम करै।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंग कौ, रंग न रसहिं परै।
ज्यौं धर दहै बीज अंकुर गिरि तौ सत फरनि फरै।।
ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि मय अमी भरै।।
ज्यौं रन सूर सहै सर सन्मुख, तो रवि रथहु अरै।
सूर गुपाल प्रेम पथ चलि करि क्यों दुख सुखनि डरैं।।'

सूर की भक्ति में सामयिक प्रभाव और मौलिकता का पुट है। सूर की प्रेम-भक्ति साधन नहीं, साध्य है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् कुछ प्राप्य ही नहीं रह जाता। सूर ने अनेक स्थान पर भक्ति प्राप्ति की प्रार्थना की है। सूर की भक्ति में भक्ति के शताब्दियों से चले आते हुए उस रूप का भी दर्शन होता है जो समाज में प्रचलित लोकगीतों और परंपराओं में विद्यमान था।

एक युगजीवी की भांति सूर ने धार्मिक पक्ष में अपने युग का प्रतिनिधित्व किया। उनकी भक्ति में जहां एक ओर विभिन्न वैष्णव-संप्रदायों के सिद्धांतों का समन्वय हुआ है वहीं दूसरी ओर अन्य प्रचलित मत-मतांतरों का प्रभाव दीख पड़ता हैं।

सूर एक विशिष्ट संप्रदाय में दीक्षित भक्त कवि थे। उनके पदों में भक्तिभाव का प्राधान्य है। इनके भक्ति निरूपण में सामयिक प्रभाव एवं मौलिकता का पुट है। रहस्यवादी कवियों की भांति उनकी कल्पना कभी-कभी इस लोक का अतिक्रमण करके आदर्श लोक की ओर संकेत करती हुई दिखाई देती है। सूर की भक्ति अन्तःकरण की प्रेरणा और हृदय की अनुभूति थी। भक्त होने के साथ-साथ वे कवि भी थे; इसलिए उनकी भक्ति में कविसुलभ कल्पना का योग स्वाभाविक ही था। विनोदी प्रकृति के होने के कारण हास्य और व्यंग्य का पुट उनके भक्ति संबंधी पदों में आ गया है और संगीत के प्रकांड पांड़ित्य ने लय, स्वर, तान आदि का उचित ध्यान रख उनके पदों को गेय बना दिया। वे आशुकवि थे और संकीर्त्तनाचार्य भी।

भक्ति और साहित्य के उन्मुक्त वातावरण में सूर की कल्पना ने व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव के पंख खोलकर इतनी ऊंची और लंबी उड़ान भरी है कि दर्शकों को कभी-कभी यह आभास हो जाता है कि वह किसी अन्य लोक की यात्रा कर रही है, परंतु सत्य यह हैं कि इतने ऊंचे पर उड़ते हुए भी उसकी द ष्टि सदैव धरा पर ही लगी रही हैं।

अध्याय 4
शृंगार वर्णन

शृंगार का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना कि जीवन का, क्योंकि जिस प्रकार जीवन में अनेक बार उत्थान-पतन, सुख-दुःख, हानि-लाभ के अवसर आते हैं। उसी प्रकार शृंगार के अनेक अवयव मानव में सुख-दुःख के भावों को संयोग तथा वियोग पक्ष में बांधे रखते हैं। जीवन के अधिकांश भाग को यही रस बांधे रखता है। जीवन की व्यापकता एवं उपयोगिता की दृष्टि से शृंगार रस का महत्वपूर्ण स्थान है। सूर शृंगार-वात्सल्य रसों के वर्णन में प्रायः अद्वितीय रहे हैं। इन्होंने अन्य रसों से संबद्ध रचनाएं भी लिखी हैं।

सूर ने दाम्पत्य-रति के अतिरिक्त भगवद्विषयक रति और वात्सल्य रति को भी रस की कोटि तक पहुंचाया है और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शृंगार रस-संबद्ध संचारियों के अतिरिक्त अन्य कितनी मनोदशाओं की अभिव्यक्ति कर के शृंगार को रस-राजत्व प्रदान किया है। सूर हिंदी साहित्य के भक्तिकाल के कवि हैं। अपनी परिस्थितियों के कारण उनका विस्तृत और गहन शास्त्रीय अध्ययन न हो सका था, परंतु अपनी प्रतिभा के बल पर, जिस क्षेत्र को भी उन्होंने अपनाया उसका कोना-कोना झांकने में वे समर्थ हो सके। उनकी इस ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा में उनके अभ्यास एवं सहज शक्ति ने बहुत सहयोग प्रदान किया है। लोक के सामान्य अनुभव भी उनके सहायक बनकर आए हैं। पदों की ग्रहणीयता भी उनके क्षेत्र-चयन में सहयोगिनी सिद्ध हुई। ब्रजभाषा का माध्यम भी शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में उन्हें सम्राट की पदवी दिलाने में प्रयत्नशील रहा है। यही सूर का सूरत्व है। वैसे कृष्ण-कथा का प्रचार पांच सहस्त्र से अधिक वर्षों से अनेक वक्ताओं की वाणी से अभिव्यक्ति पाता आ रहा है इस कारण ये पिष्टपेषण सा प्रतीत होता है। सूर ने इसमें भावरस का सम्मिश्रण कर कल्पना के अलौकिक सौंदर्यमयी सफल प्रतिकृति का जनमानस में चित्रांकन किया है। सूर ने मानव हृदय की व्यथा का चित्रण करते हुए कहा है कि हृदय में प्रेम की अनंत उत्ताल तरंगें उठती हैं पर कोलाहल नहीं होता; आंखों में वियोग के काले बादल उमड़ते हैं पर गर्जन नहीं होता, भावों का जमघट होता है परंतु होंठों में स्पंदन नहीं होता, जहां आग्रह के साथ संकोच, औत्सुक्य के साथ संतोष, किशोर चपलता के साथ यौवन की गंभीरता और साधना के साथ साध्य का असीम सामंजस्य द्रष्टव्य होता है।

भगवान् की शील-शक्ति और सौंदर्य-विभूतियों में सूर ने केवल सौंदर्य का ही चित्रण किया है। सूर का वर्ण्य विषय सीमित हैं क्योंकि इन्हीं दोनों अवस्थाओं से संबंद्ध वात्सल्य और शृंगार रसों की अभिव्यक्ति-बाल्य और यौवन अवस्थाओं के भावों और व्यापारों के चित्रण से ही उन्होंने सरोकार रखा है। उन्हें न समाज से कुछ मतलब था, न लोक मर्यादा का ध्यान। सूर ऐतिहासिक साधक थे। उनकी मथुरा तीनों लोकों से न्यारी थी, जिसमें कृष्ण, गोपियां, उनकी क्रीड़ाएं, बाल-सुलभ चापल्य, नंद और यशोदा का वात्सल्य, मुरली, रास, यमुना, वृंदावन, कालिंदी-तट के निकुंज आदि ही सम्मिलित थे। प्रेम की सांकरी गली में सूर और उनके ब्रज नारी-वल्लभ श्याम के अतिरिक्त कोई अन्य कैसे समा सकता था।

शृंगार रस के दो पक्ष हैं-(1) संयोग शृंगार तथा (2) विप्रलंभ शृंगार दोनों का ही स्थायी भाव प्रिय विषयक रति हैं। प्रिय से संबंधित वस्तुएं एवं स्मृतियां उद्दीपन विभावों के अंतर्गत आती है एवं रस की स्थिति जिस हृदय में होती है वह आलंबन विभाव होता है।

(1) **संयोग श ंगार**—सूर का संयोग-वर्णन अन्य कवियों के संयोग वर्णन से विशिष्ट है। अन्य कवि अपने नायक नायिकाओं में प्रेम-भावना का विकास समझदारी की अवस्था में दिखाते हैं तथा हृदय की स्वच्छता एवं सरलता का अभाव रहता है, परंतु सूर की गोपियों का प्रेम-वर्णन इस प्रकार का नहीं हैं।

इसी संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा हैं :-

'सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी बहती धारा है, जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता।' सूर के संयोग-वर्णन वातावरण पूर्णतया विशिष्टता लिए हुए है—बाल्य जीवन से ही प्राकृतिक उपादानों का सायुज्य प्राप्त करते हुए प्रकृति के विस्त त प्रांगण में कृष्ण के साथ खेलते-खेलते ही गोपियों की अनुराग-भावना प्रेम में परिवर्तित हो गई थी और बाल्यपन के सखा-सखी युवावस्था में प्रेमी-प्रेमिका के रूप में परिणत हो गए थे। स्वाभाविक रूप से विकसित होने के कारण इसमें किसी प्रकार का छलछिद्र तथा बनावट की गंध नहीं आती। इस संदर्भ में शुक्ल जी की विवेचना उल्लेखनीय हैं-

'इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं जिसमें कि अनेक प्रकार के प्रतिबंधों और विध्न-बाधाओं को पार करने की लंबी-चौड़ी कथा खड़ी होती है। ..... सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूपालिप्सा और साहचर्य दोनों का योग हैं।'

संयोग-काल में प्रेमी अपने प्रिय पर पूर्ण अधिकार चाहता है और उसकी क्रियाओं एवं रूप माधुर्य में अपने आपको पूर्णरूपेण निमाज्जित कर देना चाहता है। रूप लिप्सा भी संयोग काल की एक विशेष प्रव त्ति है सूर रूप चित्रण के धनी हैं। सूरसागर में संयोगवर्णन के अवसर कृष्ण के प्रवास के पूर्व ही आते हैं, जबकि कृष्ण गोपियों के साथ रासलीला, दानलीला, वंशीवादन एवं अन्य प्रकार की क्रीड़ाएं करते थे। वैसे गोपियों के साथ भी कृष्ण के संयोग श ंगार के उदाहरण मिल जाते हैं परंतु विशेष रूप से राधा के साथ ही उनका प्रेम पुष्ट हो सका है।

संयोगकाल में वियोग के दर्शन नहीं होते हैं परंतु मान वर्णन के समय विरह की किंचित झलक मिलती है। सूर यद्यपि बाह्य चक्षुओं से हीन थे परंतु उनके अंतस् की दिव्य द ष्टि सजग थी उसी द ष्टि के बल से वे अनमोल चित्रण कर हिंदी-साहित्य अनेक चित्र प्रदान कर गए। उनके रूप माधुर्य के चित्र द्रष्टव्य हैं-

'देखो भाई सुंदरता को सागर।

बुधि विवेक बल पार न पावत, मगन होत मन नागर।।'

बाल्यावस्था से ही पल्लवित होता हुआ प्रेम अचानक नहीं तोड़ा जा सकता, इसलिए सूर की गोपियां कहती हैं :- 'लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटै।' साहचर्य तो पशु-पक्षी, वन-उपवन, व क्ष-लता, यहां तक कि ईंट-पत्थर के साथ ही हमारे हृदय में अनुराग उत्पन्न कर देता है।

कृष्ण का सौंदर्य वैसे ही ब्रज में सार्वजनीन चर्चा का विषय था, फिर उनकी कैशौर्यजन्य चपलता और वेणु-वादन-निपुणता ने मिलकर गोपियों पर टोना ही कर दिया। कृष्ण के सौंदर्य का प्रभाव अति व्यापक है। उनके शरीर के प्रत्येक अंग से छवि फूटती है। गोपियां उनके सौंदर्य पर सर्वस्व न्यौछावर करने को प्रस्तुत हैं :-

'तरुनी निरखि हरि-प्रतिअंग।
कोउ निरखि नख-इंदु भूली, कोउ चरण-जुग रंग।
कोउ निरखि नूपुर रहि थकि कोउ निरखि जुग जानु।
कोउ निरखि जुगजंघ-सोभा करति मन-अनमानु।
कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचिकारि।
कोउ निरखि ह्रदनाभि की छवि उार्यौ तन-मन वारि।।

श्याम के सौंदर्य का वर्णन सूर ने किया उसमें कृष्ण के विशाल लोचन, चारु कपोलों पर डोलते हुए चंचल कुंडल, अरुण अधरों पर थिरकती हुई माधुर्यवाहिनी मुरलिका, नीले मेघ और धूमपटल-सी रोमराजि, कमल-कोमल-चरणः आदि इतने मादक हैं कि इनकी सौंदर्य-सुरा के खुमार में ब्रज-नारियां मत हैं :-

'तरुनी स्याम रस मत वारि।
प्रथम जोबन-रस चढ़ायौ, अतिहि भई खुमारि।
दूध नहिं, दधि नहीं, माखन नहीं रीतौ माट।
महारस अंग-अंग पूरन, कहां घर कहं बाट।
मातु-पितु गुरूजन कहां के, कोन पति, को नारि।
सूर प्रभु कै प्रेम-पूरन छकि रही ब्रजनारि।।'

माखन-चोर कृष्ण को राधा के अलौकिक सौंदर्य की छटा को निहारने का अवसर यमुना के किनारे प्राप्त हुआ, कृष्ण को वहीं राधा का प्रथम दर्शन हुआ :—

'खेलन हरि निकसे ब्रजखोरी।
गये स्याम रवि तनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी,
औचक ही देखी तहं राधा, नैन बिसाल भाल दिये रोरी।
नील बसन-फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी,
संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी अति छवि तनगोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझै, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी।।'

राधा भी कुछ कम सुंदरी नहीं थी। उसके अपूर्व सौंदर्य ने कृष्ण को आकृष्ट कर लिया। तब कृष्ण राधा के साथ प्रथम परिचय पाते हैं। इस प्रसंग का वर्णन अत्यंत स्वाभाविक है :-

'बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहां रहति, काकी तू बेटी, देखी नाहिं कबहूं ब्रज खोरी।
काहे कौ हम ब्रजतन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्रवननि नंद-ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम लहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी।।'

प्रथम परिचय के पश्चात् ही साथ-साथ खेलना, एक-दूसरे के घर आना-जाना और परस्पर कार्य में हाथ बंटाना आदि बातें उस परिचय को प्रेम के रूप में परिणत करने लगीं। हास-परिहास, मनोविनोद और नोंक-झोंक में मंद-तेज, शीत-उष्ण वातावरण में प्रेमरस के मधुर रीति-नीतियों में राधा की प्रेम के पल्लवित पुष्पित होने लगी। यहां तक कि कृष्ण को राधा की गाय भी दुहनी पड़ गई, यह तो मिलन का मार्ग है, इसलिए यहां सब कुछ सह्य है-

'हाथ धेनु-थन, बदन तिया-तन छीर छांटि छल छोरे।'

राधा को मजाक सूझी। वह बिगड़ गई, कृत्रिम मान धारण किया और बोली-

'तुम पै कौन दुहावै गैया।
इत चितवत उत धार चलावत, यहै सिखायौ मैया।।'

इस प्रकार प्रतिदिन पनघट-प्रस्ताव, यमुना-विहार, भरे घर में संकेतों द्वारा वार्तालाप, हिंडोला, रास आदि लीलाएं होती रहीं जिसके द्वारा विकसित होता हुआ वह स्वच्छंद प्रेम रमण के साम्राज्य में जा उतरा। इस प्रकार सूर ने राधाकृष्ण बालक्रीड़ाओं के वर्णन में न जाने कितने भावों की कल्पना की है। उनका संयोग-वर्णन रीति-कालीन कवियों की भांति गुलगुली गिलमों और गलीचों तक ही नहीं रह गया है, उसमें प्रकृति का अनंत प्रसार है; सीमित संचारियों की कृत्रिम ध ाारा के स्थान पर सरस हृदय का उन्मुक्त भाव-वर्णन है।

इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन कितना सत्य है-

'उनकी उमड़ती हुई बाग्धारा उदाहरण रचने वाले कवियों के समान गिनाये हुए संचारियों से बंधकर चलने वाली न थी।'

सूरदास पहले भक्त थे, बाद में कुछ और। उन्होंने जो कुछ कहा है, माधुर्य-भक्ति के आवेश में। उनकी रचनाएं श्ंगार-रस से संबद्ध उदाहरणों के उद्देश्य से नहीं लिखी गई। सूर को तो बस इतना ध्यान था कि वे अपने प्रभु के सौंदर्य का गान कर रहे हैं। उन्होंने यह कभी न सोचा होगा कि आगे चलकर उनके साहित्य का क्या प्रभाव पड़ेगा। अथवा उनकी रचनाओं में काव्य शास्त्र के लक्षणों के उदाहरण भी आए है ? इतना जरूर मानना पड़ेगा कि वे जयदेव, विद्यापति आदि भक्त-श्ंगारी कवियों से प्रभावित अवश्य थे, अतः अनायास ही उनके मुंह से जो श्ंगारमयी उक्तियां निकलीं, उनमें काव्यशास्त्र के अनेक लक्षणों का समन्वय हुआ है।

प्रेममार्गी कवियों ने प्रक्रिया के प्रेम की बाधाओं के वर्णन द्वारा प्रेममार्ग की कठिनाइयों का वर्णन किया है। किंतु पुष्टि-संप्रदाय में स्वकीया प्रेम को ही प्रश्रय दिया गया है। वल्लभ-संप्रदाय के अनुसार राधा स्वकीया और चंद्रावली परकीया है। संप्रदाय की मान्यता के अनुसार सूरदास ने भी स्वीकीया का ही अधिक वर्णन किया है, परंतु परकीया भक्ति के भी अनेक उदाहरण उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं। नायिका-भेद के उदाहरण बहुत ही कम द्रष्टव्य हैं। नायिका-भेद में प्रमुख नायिकाएं निम्न हैं :-

(1) **अज्ञात यौवना नायिका**—गोपियों के यौवन-विकसित अंगों की ओर कृष्ण उपमानों द्वारा संकेत करते है, पर उन्हें अभी अपने अंदर इस परिवर्तन की मानसिक अनुभूति नहीं हुई। वे कृष्ण की टेढ़ी बात को समझ नहीं पाती हैं। अज्ञात यौवना नायिका की वय कैशोर्यावस्था होती है जहां किशोरावस्था का अंत एवं युवावस्था का संधि स्थल होता है। नायिका यौवन के आगमन से अवगत नहीं होती है। उनकी उक्ति 'अज्ञात यौवना' की उक्ति प्रतीत होती है :-

'यह सुनि चकित भई ब्रजबाला।
तरुनी सब अपुस में बूझति, कहा कहत गोपाला।
कहां तुरग, कहां गज, केहरि, हंस सरोवर सुनियै।
कंचन-कलस गढ़ाये कब हम, देखौ धौ यह गुनियै।।'

(2) **वचन-विदग्धा**—भावों की अभिव्यक्ति में शारीरिक अंगों के तोड़ मरोड़कर अभिनय करने के अतिरिक्त वाणी का प्रमुख महत्व है। वचन में व्यंग्य, हास्य एवं पर-पीड़न की अभिव्यक्ति करने वाली नायिका वचन-विदग्धा नायिका कहलाती है। उदाहरण द्रष्टव्य है :-

'तब राधा इक भाव बतावत।
मुख मुसकाइ सकुचि पुनि सहजहिं, चली अलक सुर झावति।
एक सखी आवति जल लीहें, तासौं कहति सुनावति।
टेरि कह्यौ मेरैं घर जैहौं, मैं जमुना तैं आवति।
तब सुख पाइ चले हरि घर कौं हरि प्रियतमहिं मनावति।
सूरज-प्रभु बितपन्न-कोक-गुन, तातैं हरि-हरि ध्यावति।।'

(3) **क्रिया-विदग्धा**—नायक-नायिका को पीड़ित करने हेतु व्यंग्य की अभिव्यक्ति विभिन्न क्रियाकलापों द्वारा करती हैं। जैसे रोना, हंसना, सिसकना आदि क्रिया-विदग्धा नायिका की विशेषताएं हैं :-

'स्याम कौ भाव दै गई राधा।
नारि नागरिनि काहूं लारव्यौ, कोउ नहीं; कान्ह कछु करत हैं बहुनु राधा।
चितै हरि-बदन याकौं हंसत मैं लखी, वै उतहिं गए कछु हरषि कीन्हें।
भावते भाव के संग नाहीं सुने, ये महाचतुर चतुराई लीन्हैं।
आजुहीं रैनि दोउ संग ये मिलैंगे, हरैं कहि परस्पर मनहिं जानी।
सूर ब्रजनागरी नारि नागरिनि संग, फिरी ब्रज तुरत लै जगुन पानी।"

(4) **बासकसज्जा**—वह नायिका है जो स्वयं को सजा-संवारकर अपने घर, बिस्तर, बैठक आदि को भली-भांति सुसज्जित करके प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा में दत्तचित्त होकर बैठ जाती है। इसका अति सुंदर उदाहरण अंकित है :-

'राधा रुचि-रुचि सेज संवारति।
तापर सुमन सुगंध विछावति, बारम्बार निहारति।
भवन गवन करिहैं हरि मेरैं, हरषि दुखहिं निरुवारति।
आवैं कबहुं अचानक ही कहि, सुभग पांवड़े डारति।
इहिं अभिलाखहिं मैं हरि प्रगटे, निरखि भवन सकुचानी।
वह सुख श्री राधा माधौ को, सू उनहिं जिय जानी।।'

(5) **खण्डिता**—खण्डिता नायिका वह युवती है जिसका पूर्व प्रेम प्रसंग टूट गया हो तथा सतीत्व का विनाश हो चुका हो ऐसी नायिका को खण्डिता नायिका कहा जाता है। कृष्ण के सतीत्व का खंडन करके आए हैं -

'प्यारी चितै रही मुख पिय कौ।
अंजन अधर, कपोलनि चंदन, लाग्यौ काहू तिय को।
तुरत उठी दर्पन कर लीन्हें, देखौ बदन सुधारौ।
अपनौ मुख उठि प्रात देखिकै, तब तुम कहूं सिधारौं।
काजर चंदन, अधर कपोलनि, सकुचे देखि कन्हाई।
सूर स्याम नागरि-मुख जीवत, बचन कहयौ नहिं जाई।।'

(6) **मतिनी (सखी की शिक्षा)**—प्रेमी या प्रियतम के किसी कार्य से रुष्ट हुई नायिका खाना-पीना, वार्तालाप आदि का त्यागकर यह अपेक्षा करती है कि उसका प्रेमी उसे मनाए, उसके गुण गाए,

उसकी प्रशंसा करे, उससे विनती एवं आत्मनिवेदन कर क्षमायाचना करें। यह मान वास्तविक रूप धारण कर लेता है। ऐसी मानिनी नायिका को मनाने के लिए नायिका की सखी को ही नायक दूतिका के रूप में भेजता है।

'मन-मन पछितायौ रहि जैहैं।
सुनि सुंदरि यह समौ गए तैं; पुनि न सूल सहि जैहैं।
मानहु मैन-मजीक प्रेम-रंग, तैसे ही गहि जैहैं।
काम हरष, हरेरे हरि अंबर, देखत ही बहि जैहैं।
इते भेद की बात सखी री, कत कोऊ कहि जैहै।
बरत भवन खनि कूप सूर त्यौं, मदन-अगिनि दहि जैहै।।'

(7) **उत्कण्डिता**—प्रेम मुख्य रूप से प्रथमतः मानसिक होता है यह मानसिकता शारीरिकता के अभाव में नायिका में स्रवण, दर्शन, स्पर्शन, आलिंगन आदि की प्रबल उत्कण्डा उत्पन्न करता है। ऐसी नायिका को जो अपने प्रेमी या प्रियतम से मानसिकता से जुड़ी हुई भी शारीरिक रूप से कभी मिली नहीं है मिलने की प्रबल आकांक्षा है उत्कण्डिता नायिका कहलाती है।

'ललिता कौ सुख दै गए स्याम।
आजु बसेंगे रैनि तिहारैं, प्रान-पियारी हौ तुम बाम।
यह कहिकै अनतहिं पगु धारे, बहु नायक के भेद अपार।
सांझ समय आवन कहि आए, सौहं बहुत करि नंदकुमार।
वह बैठी हरि-मारग जीवति, इकइक पल बीतत इक जाम।
सूर स्याम आवन की आसा, सेज संवारति व्याकुल काम।।'

(8) **प्रोषित पतिका**—सामाजिक जीवन में जीविकोपार्जन का कार्य मध्यकाल तक पुरूष ही करता था स्त्री जीविकोपार्जन के साधनों से सर्वथा भिन्न रहती थी। कमाई के लिए पुरूष पत्नी या प्रेमिका को छोड़कर दूसरे स्थान पर या विदेश चला जाता है। ऐसी अवस्था में विरह-व्यथित नायिका प्रोषित पतिका कहलाती है, क्योंकि जीविका उपार्जन हेतु उसी ने पति को अन्य स्थान पर जाने के लिए प्रेरित किया है अर्थात् उसी ने पति या प्रेमी को अन्यत्र प्रेषित किया है। इसीलिए प्रोषितपतिका कहलाती है :-

'बिछुरे री मेरे बाल-संघाती।
निकसि न जात प्रान ये पापी, फाटति नाहिन छाती।
हौं अपराधिनि दही मथति ही, भरि जोबन मदमाती।
जो हौं जानति हरि कौ चलिबौ, लाज छांड़ि संग जाती।
ढरकत नीर नैन भरि सुन्दर, कछु न सोह दिन-राती।।

(9) **विप्रलब्ध**—विप्रलब्धा वह नायिका है जिसे धोखा देकर वचन भंग कर धूर्त और धोखेबाज नायक या प्रेमी ने छला हैं। जिससे वादाखिलाफी की गई हो, जो निराश एवं वंचित रही हो, जिसका प्रिय से समागम न हुआ हो। ऐसी वियुक्त नायिका को विप्रलब्ध या विप्रलब्धता नायिका कहते हैं। मुख्य रूप से वह नायिका जिसका प्रिय उसे वचन देकर भी संकेत स्थल पर न आया हो संकेत स्थल पर न मिलने के कारण दुःखी नायिका को विप्रलब्धा की संज्ञा दी गई है-

'राधा की चकृत भई मनमाहीं।
अबही स्याम द्वार ह्वै झांके, ह्यां आये क्यों नाही।
आपु न आइ तहां जो देखै, मिले न नंद-कुमार।
आवत ही फिरि गए स्याम-घन अति भयौ विचार।
सूनै भवन अकेली मैं ही, नीकैं उझकि निहारयौ।
मोते चूकि परि मैं जानी, तातैं मोहिं बिसारयौ।
इक अभिमान ह्रदय करि बैठी, एते पर झहरानी।
सूरदास प्रभु गए द्वार ह्वै, तब व्याकुल पछितानी।।'

(10) **कलहान्तरिता**—स्त्री स्वाभाविक रूप से वाचाल, चतुर एवं कलहप्रिय होती है जो अपने स्वभावानुसार अपने प्रेमी या प्रियतम से भी लड़ाई करने में मौका पाने पर नहीं चूकती/कलह उसका स्वाभाविक गुण बन जाता है। ऐसी नायिका को कलहान्तरिता नायिका कहते हैं-

'सखि मिलि करौ कहुक उपाउ।
मार मारन चढ्यौ बिरहिनि, निदरि पायौ दाउ।
हुतासन-धुज जात उन्नत, चल्यौ हरिदिसि बाउ।
कुमुम-सर-रिपु-नंद-वाहन, हरषि हरषित गाउ।
बार अबकी प्रानप्रीतम, विजय सखा मिलाउ।
रति विचारि जु मान कीन्हौ, सोउ बहि किन जाउ।
सूर सखि सुभाउ रहिहौं, संग सिरोमनि-राउ।'

सापत्न्य डाह का प्रसंग भी इसी संयोग वर्णन में आता है। प्रेमी अपने प्रिय पर पूर्ण अधिकार चाहता है। गोपियों के भाव मुरली, प्रवास होने पर कुब्जा के प्रति प्रकट हुए हैं। सूर के संयोग वर्णन के अंतर्गत सौंदर्य तथा विस्त त प्रेम क्रीड़ाएं दर्शनीय हैं -

'सूरदास कछु कहत न आवे गिरा भई गति पंग।'

इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि सूर द्वारा वर्णित संयोग क्षणिक घटना न होकर संगीतमय जीवन की प्रवहमान धारा है।

ब्रज में श्याम और गोपियों का संपूर्ण वांड़मय क्रीड़ामय है-वह जीवंत संयोग श ंगार है। संयोगी की विशेषताओं का वर्णन करते हुए डॉ० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है-

"श ंगार के अंतर्गत भाव तथा विभाव दोनों पक्षों के अत्यंत अनूठे और विस्त त वर्णन सूरसागर में मिल जाते हैं। सूरदास के संयोग श ंगार वर्णन में भाव पक्ष और विभाव पक्ष की विशेषताओं का उद्घाटन आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अधिक सूक्ष्मता के साथ किया है।'

'भ्रमरगीतसार' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि, 'संयोग पक्ष के अंतर्गत विभावों की परिपूर्णता, कृष्ण और राधा के अंग-प्रत्यंग की शोभा के अत्यंत प्रचुर और चमत्कारपूर्ण वर्णन में तथा व ंदावन के करील कुंजों की लोनी लता, हरे-हरे कद्दारों, खिली हुई चांदनी, कोकिल कूजन में देखी जाती है, अनुभावों और संचारियों का अति व्यापक चित्रण सूर के काव्य के अलावा और कहां मिलेगा ? निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सूर ने संयोग-सुख के जितने प्रकार के क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं वे सब उन्होंने सूरसागर में लाकर एकत्रित कर दिए हैं।

सूर का संयोग श ंगार वर्णन रस की द ष्टि से सर्वथा सांगोपांग एवं परिपूर्ण है शास्त्रीय कसौटी पर वह पूरी तरह खरा उतरता है। वह इतना पूर्ण एवं श्रेष्ठ है कि परवर्ती कवियों के कहने के लिए

उसमें कुछ शेष नहीं रह गया। इतना अवश्य है कि उसमें समय के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं वासना की गंध आ गई है।

(2) **विप्रलंभ श्रंगार**—संयोग की अपेक्षा वियोग-श्रंगार को कवियों ने अधिक उच्च स्थान दिया है क्योंकि जहां संयोग में प्रिय सान्निध्य से प्राप्त सुख हृदय की अनेक सात्विक व त्तियों को तिरोहित किए रहता है; वहां वियोग उन्हें उद्बुद्ध कर भावों के प्रसार के लिए समस्त विश्व का क्षेत्र खोल देता है। संयोग में प्रेमी-युगल एकांत चाहते हैं उन्हें अन्य की सहानुभूति की आवश्यकता नहीं रहती, पर वियोग में उनकी आत्मा का प्रसार हो जाता है और वे प्राणिमात्र के साथ ही नहीं जड़ पदार्थों के साथ भी तादात्मय स्थापित कर लेते हैं।

'विरह प्रेम की जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है।'

प्रसाद के ये शब्द वियोग के भाव को प्रकट करने में समर्थ हैं। प्रथम प्रेम करना ही कांटों के पथ पर चलना है क्योंकि उस पर चलकर सांसारिक लोक-लाज एवं मर्यादा का परित्याग करना पड़ता है उस पर जब वियोग काल होता है तब वह तलवार की धार पर ही चलने के समान है। वियोग को प्रेम का सजग प्रहरी कह सकते हैं क्योंकि इसी समय प्रेम की वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान हो पाता है। वियोगी व्यक्ति अपनी स्थिति को भूलकर उस सामान्य भावभूमि पर आ जाता है, जहां से उसकी द ष्टि प्रत्येक छोटी छोटी वस्तुओं की सत्ता पर पड़ती है। उसके हृदय की अनुभूति रेचन का साधन न मिलने के कारण घनीभूत और तीव्र होती चली जाती है। समस्त संसार में उसे उसका प्रिय ही दिखायी पड़ता है। इसी भाव के कारण सहृदय कवियों ने संयोग की अपेक्षा वियोग को ही अधिक महत्व दिया है। इस काल में भावों का पूर्ण परिष्कार हो जाता है, कपटी प्रेम कलई की भांति अलग हो जाता है इसीलिए वियोग काल को प्रेम-परीक्षा-काल कहते है।

विप्रलंभ श्रंगार के चार भेद हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास एवं करुण।

पूर्वराग वियोग श्रंगार मिलने से पूर्व का वियोग माना जाता है। मिलन की अवस्था में जब नायक-नायिका रुष्ट हो जाते हैं, तो मान वियोग होता है। नायक जब विदेश चला जाता है, तब प्रवास विप्रलंभ-श्रंगार होता है। मिलन के पूर्व, मिलन के समय तथा मिलन के पश्चात् प्रत्येक स्थिति में विप्रलंभ श्रंगार की संभावना एवं स्थिति रहती है। विप्रलंभ श्रंगार की स्थिति के लिए 'रति' स्थायी भाव का होना आवश्यक है अथवा नायक-नायिका परस्पर अनुरक्त होने चाहिए। पूर्वराग, मानप्रवास एवं विछोह प्रत्येक स्थिति मे ंनायक-नायिका को प थकत्व की वेदना का अनुभव होना चाहिए।

वियोग सात्विक अवस्था है, जिसमें मानव हृदय से दुराव का आवरण हट जाता है और वह अपने स्वाभाविक निर्मल रूप में उक्तियों के साथ लिपटा चला जाता है। पशु-पक्षियों और लता-पादपों के साथ संबंध जोड़ने की प्रेरणा देने वाला यह भाव धन्य है। इसी दशा में कालिदास के यक्ष ने अपनी प्रियतमा को संदेश भेजने के लिए आषाढ़ के प्रथम मेघ को रोक लिया। जायसी की रूपगर्विता नागमती ने भौरों और काग के हाथों प्रिय को 'संदेशड़ा' भेजने का विचार किया और तुलसी ने राम 'खग म ग' ओर 'मधुकर श्रेणी' से सीता का पता पूछते फिरते हैं। श्रंगार को रसराजत्व प्रदान करने वाला तत्व वियोग ही है क्योंकि संयोगजन्य सुख के सद श उथलापन नहीं रहता, अपितु अनुभूति की गहनता रहती है।

संयोग-श्रंगार के समान वियोग का भी सूर ने व्यापक वर्णन किया है। कृष्ण के चलने के समय ब्रज-युवतियों को वियोगजन्य जड़ता घेर लेती है। उसके पश्चात् उनके वियोग में गोपियों की दशा दयनीय हो जाती हैं। उनका समय कृष्ण की क्रीड़ाओं के वर्णन में व्यतीत होता है। ब्रज में सब कुछ पहले की भांति है लेकिन कृष्ण के न होने से वह ब्रज भी सूना लगता है।

गोपियों के वियोग की तीव्र अनुभूति अक्रूर के ब्रज आगमन से प्रारंभ होती है। यही विरह तीव्र से तीव्रतर होता गया है। कृष्ण मथुरा चले गये और वहीं रह गए। गोपियां उनके आगमन की प्रतीक्षा करती रहीं। जैसे ही कृष्ण की आकृति-प्रकृति के ही उद्धव निराकार-ब्रह्म की आराधना का संदेश लेकर ब्रज में पधारे तो अवसर पाते ही उनका विरह ज्वालामुखी के रूप में फूट पड़ा। वियोग का यही अजस्र-प्रवाह भ्रमरगीत के नाम से प्रख्यात है।

भ्रमरगीतसार सूर की विप्रलंभ रस प्रधान रचना है। इसमें श्रीकृष्ण और गोपियों के वियोग का वर्णन है। इसमें गोपियां कृष्ण वियोग में रोती रहती हैं। श्रीकृष्ण उद्धव को गोकुल-वासियों को सांत्वना देने के लिए भेजते हैं। गोपियों को उद्धव ज्ञान-योग का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि वे व्यर्थ ही माया-मोह के वशीभूत होकर श्रीकृष्ण के वियोग में दुःखी हैं। गोपियां उनकी एक भी बात नहीं मानती हैं। भ्रमर को लक्ष्य करके वे उद्धव और श्रीकृष्ण को जी भरकर उपालंभ देती हैं और अपने हृदय की समस्त वियोग व्यथा उड़ेल देती हैं। उद्धव गोपियों के प्रेम द्वारा पराभूत हो जाते हैं और अश्रुपूरित नेत्रों से मथुरा वापिस आ जाते हैं। इसी विषय का सूरदास ने भ्रमरगीत काव्य में प्रणयन किया है। इसमें एक ओर गोपियों के विरह का सांगोपांग वर्णन है और दूसरी ओर निर्गुण के ऊपर सगुण की तथा ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है।

कृष्ण जानते है कि गोपियां उनके वियोग में विरह-सरिता में डूब रही हैं। इधर वह उद्धव का भी हित साधन करना चाहते हैं और उद्धव को ब्रज-गमन के लिए प्रेरित करते हैं-

'यह मत दे गोपिन कह आबहु बिरह नदी में भासति।
सूर तुरत यह जाय कहौ तुम ब्रह्म बिना नहिं आसित।।'

'भ्रमरगीत' में सूर ने विरह की समस्त दशाओं का सजीव उद्‌घाटन किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने यहां तक लिख दिया है कि 'न जाने कितने प्रकार की मानसिक दशाएं ऐसी मिलेंगी जिनके नामकरण तक नहीं हुए।

सूर ने वियोग वर्णन में अत्यंत ही मार्मिक भावों से अभिव्यक्ति कर ब्रजबालाओं की दशा का वर्णन करते हुए लिखा हैं :-

'विचारत ही लागे दिन जान।
तुम बिनु नंद-सुवन इहिं गोकुल, निसि भइ कल्प समान।
मुरलि सब्द, धुनि की गुंजनि, सुनियत नाहीं कान।
चलत न रथ गहि रही स्याम कौ अब लागी पछितान।
है कोउ जाय कहै माधौ सौं, धीरज धरहि न प्रान।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरसन विनु फुरत नहीं औसान।।'

गोपियां अपना सर्वस्व कृष्ण पर न्यौछावर कर बैठी थी। उनके वियोग में उनका तन, मन, यौवन सब विषधर की फुंकार के समान है। कालिदास के 'प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता' के अनुसार रमणी का सौंदर्य और श्रंगार प्रिय को लुभाने के लिए ही होता है। जब प्रिय ही नहीं तो श्रंगार ही कैसा ?

प्रकृति का उद्‌दीपन विभावान्तर्गत वर्णन—मानव हृदय के भावों का प्रकृति के साथ सभी भारतीय कवियों ने सामंजस्य स्थापित किया है। वह मनुष्य के सुख-दुख में हंसती रोती है। पाश्चात्य आलोचक चाहे इसे 'पैथेटिक फैलैन्सी' कहकर अनुपयुक्त ही मानें, परंतु जड़ और चेतन जगत् की एक ही ब्रह्म से उत्पत्ति मानने वाले भारतीय मनीषी उनमें अभेद देखते हैं। कृष्ण की उपस्थिति में जो वस्तुएं प्रिय एवं सुखदायक लगती हैं; वे ही अब उनके वियोग में दुःखदायी लगने लगती हैं। जो वस्तुऐं उन्हें शीतलता प्रदान करती थी; वे ही अब काट खाने को दौड़ती हैं। विप्रलंभ

श्रंगार का यह उद्दीपन विभाव सूर के वियोग-श्रंगार की अनुपम देन है। यही कारण है कि वियोगिनी गोपियों को यमुना नदी भी कृष्ण के वियोग-ज्वर से काली पड़ी हुई दिखाई पड़ती है। विरह-त प्ता यमुना का मानवीकरण रूप देखते ही बनता है।

'देखियत कालिंदी अति कारी।
अहौ पथिक कहियौ उन हरि सौं, भयी बिरह जुर जारी।
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धंसि, तरंग तरफ तन भारी।
तट बारु उपचार चूर, जल-पूर प्रस्वेद प्रनारी।
बिगलित कच कुस कांस कुल पर पंक जू काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, निसि दिन दीन दुखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास-प्रभु जो जमुना गति, सो गति, भई हमारी।।'

कृष्ण के वियोग में गोपियों की दशा चिंतनीय हो जाती है। कृष्ण की उपस्थिति में जो वस्तुएं उन्हें सुख का अनुभव कराती हैं, वियोग में वही सब दुःख अनुभूति कराने लगती हैं। विप्रलंभ श्रंगार का यह उद्दीपन विभाव विधान विशेष दर्शनीय है जो सूर की देन हैं -

'बिनु गुपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब वै लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
ब था बहति जमुना, खग बोलत, ब था कमल-फूलनि अलि गुंजैं।
पवन, पान, घनसार, सजीवन, दधि-सुत किरनि भानु भईं भुंजैं।
ऊधौ! कहियौ माधौ सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग-जीवत अंखियां भईं भुंजैं।।'

गोपियां कहती हैं कि मधुबन अब भी हरा-भरा खड़ा है। वही मधुबन, जिसने गोपी-वल्लभ की अगणित क्रीड़ाओं का साक्षात्कार किया था, जिसके निकुंज कृष्ण की वंशी के मधुर स्वर के साथ कामिनी-कलकंठों से निर्गत कोमल ध्वनियों से गूंजते रहते थे, जिस के हृदय में रासकर्त्ता मोहन के पदचिह्न आज भी बने हुए हैं, कृष्ण के वियोग में गोपियों का साथी न बना। साथी वही है, जो दुःख में साथ दें। सुख में तो कोई भी साथ दे सकता है। मधुबन की यही विषमता गोपियों के विरह को और बढ़ाती हैं और वह उसे कोसने लगती हैं -

'मधुबन तुम क्यों रहत हरे।
बिरह बियोग स्याम सुंदर के, ठाढ़े क्यों न जरे।
मोहन बेनु बजावत द्रुम तर, साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि जन ध्यान टरे।
वह चितवनि तू मन न धरत है फिरि फिरि पुहुप धरे।
सूरदास प्रभु बिरह दावानल, नख सिख लौं न जरे।।'

विरह की अवस्था में चित्त स्थिर नहीं रहता। अतः एक ही वस्तु कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल दिखाई पड़ने लगती हैं। अभी-अभी जो यमुना गोपियों को अपने ही समान विरह जुर जारी लग रही थी, अब यम के समान लगने लगी क्योंकि वह गोपियों और कृष्ण के बीच में बाधा बनकर बह रही है। विरह-जन्य-चित्त-विनम्र के अभिव्यंजन में कवियों ने प्रायः ऐसी ही उक्तियों का सहारा लिया हैं-

'मो कौं माई जमुना जम ह्वै रही।
कैसैं मिलौं स्याम सुंदर कौं बैरिनि बीच बही।'

जाग्रतावस्था की तो बात ही क्या है-हमेशा रोते ही बीतता है। स्वप्न में भी कृष्ण का विरह उनके कलेजे में कसकता रहता है। न जागते चैन है, न सोते। वस्तुतः उन्हें नींद आती ही नहीं हैं। दुःख के दिन को तो वे किसी भांति व्यतीत कर लेती हैं, परंतु विरहागम रात्रि तो रो-रोकर ही कटती है-उनकी व्यथा को कौन जाने ! वे रात को सोती हैं अथवा बैठी हुई रोती रहती हैं।

'हमकौं सपनेऊ में सोच।
जा दिन तैं बिछुरे नंद-नंदन ता दिन ते यह पोच।
मनु गुपाल आए मेरे ग ह हंसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भई निंदिया निमिष न और रही।।'

विरह की उद्दीपकता में गोपियों को संपूर्ण प्रकृति विरह में जलती प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार चातक भी कभी तो उन्हें जीवनदाता और कभी विरहिणी नारी के रूप में दिखाई पड़ता है, कभी जली हुई को और जलाता हुआ ज्ञात होता है। पी-पी रटने वाला बेचारा चातक स्वयं विरह में काला पड़ गया। पपीहा भी प्रिय का नाम ले रहा है, कभी वे उसकी तरफ स्नेह से सहानुभूति प्रदर्शित करती हुई कहती हैं-

'बहुत दिन जीवौ पपिहा फारौ।
बासर रैनि नाम लै बोलत, भयौ विरह जुर कारौ।
आपु दुःखित जानि जिय, चातक नाम तुम्हारौ।
सूरदास प्रभु स्वाति बूंद लगि, तज्यौ सिंधु करि खारौ।।'

और कभी-कभी उसकी उद्दीपक 'पी-पी' की वाणी सुनकर वे तिलमिला उठती हैं और उसकी अदूरदर्शिता पर उसे उलाहना देती हैं-

'विरह जरी रे तू कत जारत।
रे पापी तू पंखि पपीहा पिय-पिय करि अधराति पुकारत।'

आत्यंतिक विरह-वर्णन—कृष्ण जब से मथुरा गए हैं, तब से गोपिकाओं के नेत्रों में पावस ने स्थायी निवास बना लिया है। उनकी आंखें रात-दिन श्रावण-भादों के रूप में बरसती रहती हैं नयनों की नदी बढ़ी है जो पलक कणों को डुबाए जाती है। एक क्षण को भी आंसू बंद नहीं होते हैं। पद में इस प्रकार की लाक्षणिक व्यंजना द्वारा अत्यधिक विरह की व्यंजना अनायात ही हो जाती है -

'निसि दिन बरषत नैन हमारे।
सदा रहति बरषा रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे।
द ग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूं, उर बिच बहत पनारे।
आंसू सलिल सबै भइ काया, पल न जात रिस टारे।
सूरदास प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहैं बिसारे।।'

तथा-

'तुम्हरे विरह ब्रजनाथ, अहो प्रिय! नयनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष-कूल दोउ, एते मान चढ़ी।।'

सूरदास ने इस प्रकार के मर्मस्पर्शी विरह-वर्णनों की एक माला-सी पिरोकर दी है। इस माला का प्रत्येक पुष्प समान रूप से मोहक है।

गोपियों की विरह-व्यथा कहीं-कहीं सहन शक्ति की सीमा को पार कर जाती हैं।

गोपियों की विरह-व्यथा इतनी गहन गंभीर है कि उसके द्वारा उद्धव सद श ज्ञानी भी पाराभूत हो जाते हैं। वे गोकुल से लौटकर श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं-

दिन दस घोष चलहु गोपाल।
गैयन की अवसेर मिटावहु भेंटहु भुज भरि ग्वाल।
नाचत नहीं मोर ता दिन तें आए बरसा काल।।'

सूर का विरह-वर्णन हिंदी-साहित्य में बेजोड़ है। भ्रमरगीत में गोपियों के तर्क के सामने उद्धव भले ही कुछ उत्तर दे सके, पर उनके प्रेम विह्वल अटपटे वचनों से उन्हें ही हार माननी पड़ी। उनकी प्रेम-रस धारा में उद्धव के ज्ञान की गुरू-गठरी न जाने कहां बह गई ? इस प्रसंग में गोपियों की अन्तर्दशा का जैसा वर्णन सूर ने किया है, अन्यत्र दुर्लभ हैं।

कृष्ण के वियोग में ब्रजवासियों की दशा दयनीय हो गई। कृष्ण ने अद्वैत का राग अलापने वाले ज्ञानी उद्धव को गोपियों को समझाने के लिए भेजा और उन्हें योग-साधना का संदेश दिया। उद्धव को योग-साधना के संदेश-वाहक के रूप में भेजने का विशेष कारण था उनके ज्ञानरूपी अहंकार को समाप्त करना क्योंकि वे भगवान कृष्ण के प्रिय थे। भला भगवान अपने प्रिय को अहंकार जैसे घातक शत्रु से आक्रांत कैसे देख सकते थे। उन्होंने उस अहंकार को दूर करने के प्रयोजन से गोपियों के समीप भेद दिया। उद्धव ने कृष्ण का संदेश और पाती गोपियों को दी-

'कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छांड़ि विषय-विकार।
सूर पाति दई लिखि मोहि, पढ़ौ गोपकुमारि।'

प्रिय-प्रेषित वस्तु के दर्शन से हृदय में प्रेम का अंतःस्त्रोत फूट पड़ता है और वियोगावस्था में घनीभूत अनुभूति सात्विक भावों के रूप में विकास पाती है। कृष्ण की पत्रिका प्राप्त कर गोपियां निहाल हो जाती हैं और प्रेम के अतिशय संचार के कारण उद्धव की पहली बात को भूल जाती हैं। कृष्ण की पाती उनके लिए अपूर्व संपत्ति है, जिसे प्राप्त कर वह फूली नहीं समाती हैं। भवसागर का मंथन करने वाले सूर ने गोपियों की इस मानसिक दशा की अभिव्यक्ति के लिए प्रभावपूर्ण अनुभव कल्पना की है-

'निरखति अंक स्याम सुंदर के बार बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।।'

कृष्ण से संबंध विच्छेद कराने की चेष्टा कराने वाले उद्धव के प्रति झल्लाहट उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है चाहे वह प्रिय का कितना ही प्रिय क्यों न हो। उद्धव के कृष्ण को त्याग देने का उपदेश निर्गुण उपासना को सुनकर गोपियां झुंझला उठी। इस झुंझलाहट को व्यक्त करने के लिए सूर ने भ्रमर की कल्पना की, जो उड़ता हुआ गोपियों और उद्धव के निकट जा निकला। फिर तो गोपियों ने भ्रमर के बहाने उद्धव के ऊपर व्यंग्य बाणों की खूब वर्षा की। भला उन्हें निर्गुण से क्या लेना ?

'रहु रे मधुकर मधु मतवारे।
कौन काज या निरगुन सौ चिर जीवहु कान्ह हमारे।'

अंतिम शब्दों में मानो गोपियों का चिरसंचित प्रेम मुखरित हो उठता है। प्रेम की उच्च अनुभूति में स्वार्थ, वासना आदि की गंध तक नहीं रहती, केवल प्रिय के हित की कामना होती है, वह चाहे

जितना निष्ठुर हो, चाहे जितना अन्याय करे, चाहे सुधि तक न ले, परंतु प्रेमी यही चाहता है-

'जहां रहौ तहं कोटि बरष लगि जियौ स्याम सुख सौं ही।'

अभी-अभी जो गोपियां कृष्ण और उद्धव को खरी-खोटी सुना रही थीं संयोग-घटनाओं की स्म ति में उद्दीप्त वियोग-संताप में उनकी दशा कितनी शोचनीय हो गई है। वे दीनतापूर्वक कृष्ण के दर्शन की याचना करती हैं। उन्हें और कुछ अभीष्ट नहीं -

'ऊधौ हमरौ दोष नहिं कछु, वै प्रभु निपट कठोर।
हम हरिनाम जपति हैं निसदिन, जैसे चंद-चकोर।
हम दासी बिन मोल की ऊधौ, ज्यौं गुड़िया बिनु डोर।
सूरदास प्रभु दरसन दीजै, नाहीं मनसा और।।'

अतीत की मधुर स्म ति से विह्वल गोपिकाओं के मानस से विप्रलंभ रस की जो निर्मल धारा बही, उसमें उद्धव के ज्ञान का अहंकार-मैल धुल गया। गोपियों को कुछ नहीं सुहाता। जिसे प्रेम-बाण की कठिन चोट लगी ही नहीं, वह उनका दुःख-दर्द क्या जाने ? अंधे के आगे रोने से क्या लाभ ? वे अनेक प्रकार से अपनी दीनदशा का वर्णन करती हैं और अंत में उद्धव के दास कृष्ण को अपनी पत्रिका और संदेश भेजती हैं-

'ऊधौ इक पतिया हमारी लीजै।
चरनि लागि गोबिंद सौं कहियौ, लिखौ हमारौ दीजै।
हम तौ कौन रूप गुन आगरि, जिहिं गुपाल जू रीझै।
निरखत नैन नीर भरि आए, अरु कंचुकि पट भीजै।
तलफत रहति मीन चातक ज्यौं, जल बिनु त षा न छीजै।
अति व्याकुल अकुलाति विरहिनी, सुरति हमारी कीजैं।
अंखिया खरी निहारति मधुबन, हरि बिनु ब्रज विष पीजैं।
सूरदास प्रभु कबहि मिलेंगे, देखि देखि मुख जीजैं।।'

गोपियों की अभिलाषा यही है कि कृष्ण उन्हें याद करते रहें। नैराश्यपूर्ण प्रेमी हृदय के संतोष का यह कितना सूक्ष्म और द ढ़ आधार है। यद्यपि प्रेमी के लिए प्रिय का वियोग असह्य होता है और वह सर्वदा उसे अपने साथ देखना चाहता नहीं चाहता। यदि कहीं दुःखमय स्थान पर उसे रहना पड़े तो वह अकेला रहकर वियोग जनित असह्य पीड़ा को सहने के लिए तैयार हो जाता है किंतु अपने प्रिय को उस स्थान के दुःखों में डालना नहीं चाहता। गोपियां कृष्ण के दर्शन के लिए तड़पती हैं फिर भी यह नहीं चाहती कि वे वियोगी ब्रज की विषम परिस्थिति से उद्भूत दुःख में पड़ें।

सूर के वियोग-वर्णन की पूर्णता देखे ही बनती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सम्मति है- 'वियोग की जितनी अंतर्दशाएं हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और वे सामान्यतः हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं।' रीति आचार्यों ने विरह की एकादश अवस्थाओं का उल्लेख किया है-(1) अभिलाषा, (2) चिंता, (3) स्मरण, (4) गुण कथन, (5) उद्वेग, (6) प्रलाप, (7) उन्माद, (8) व्याधि, (9) जड़ता, (10) मूर्च्छा और (11) मरण।

(1) **अभिलाषा**—विरहावस्था में प्रिय से मिलने की इच्छा को ही अभिलाषा कहते हैं। अभिलाषा में उत्तरोतर व द्धि होती रहती है। जिसकी समाप्ति पर विरह की दूसरी अवस्था आ जाती है।

'ऐसे समय जो हरि जू आवहिं।
निरखि निरखि वह रूप मनोहर, नैन बहुत सुख पावहिं।
कबहुंक संग जु हिलि मिलि खेलहिं, कबहुंक कुंज बुलावहिं।
बिछुरे प्रान रहत नहिं घट मैं, सो पुनि आनि जियावहिं।
अबकैं चलत जानि सूरज-प्रभु, सब पहिलैं उठि धावहिं।।'

(2) **चिंता**—प्रिय मिलन में विलंब होने से मन अनेक प्रकार के विकल्पों में उलझ जाता है। आशा का स्थान आशंका ले लेती है। उसे यह विश्वास नहीं रह जाता है कि आगामी भविष्य में मिलन सुख की प्राप्ति संभव हो सकेगी। विभिन्न प्रकार के अवसादक चिंतन का नाम ही चिंता है। देव लोकवासी मनु जलप्लावन के परिणामस्वरूप, इसी चिंता के शिकार हो जाते हैं कामायनी के प्रथम सर्ग का नामकरण विरह की द्वितीयावस्था के आधार पर किया गया है-

'ऊधौ अंखियां अति अनुरागी।
इक टक मग जीवतिं अरु रोवतिं, भूलेहूं पलक न लागी।
बिनु पावस पावस करि राखी, देखत हौ बिदमान।
अब धौं कहा कियौ चाहत हौ, छांड़ौ निरगुन ज्ञान।।'

(3) **स्मरण**—संयोगावस्था में हुए विभिन्न क्रियाकलापों तथा उनकी वस्तुस्थिति स्म तियों संचारी भाव के रूप में विरहिणी को उद्वेलित करती रहती हैं। उसे सुषुप्तावस्था से जाग्रतावस्था में अवस्थित कर देती हैं। इसी द ष्टि से उसकी यादाश्त् प्रबलतर रूप धारण करती चली जाती है। इसी तथ्य को द ष्टिगत रखते हुए विरह को जाग्रत एवं संयोग का सुषुप्तावस्था कहा गया है। सुषुप्तावस्था की घटनाएँ जाग तावस्था में दुःखदायी रूप धारण कर लेती हैं। यह स्मरण वियोगी को दुःख देता है-

'मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियां छतियां लिखि राखीं, जे नंदलाल कहीं।।'

(4) **गुण कथन**—प्रेमिका को प्रेमी के दोष भी गुण स्वरूप प्रतीत होते हैं अर्थात् प्रिय में गुण के ही दर्शन होते हैं। वियोगावस्था में वियोगिनी उन गुणों का कथन करते करते कभी नहीं अघाती है। गुण-कथन में ही उसकी संत प्ति झलकती है। इसी को गुण-कथन अवस्था की संज्ञा दी गई है।

'संदेसो देवकी सौं कहियौ।
हौ तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ।
जदपि टेव तुम जानतिं उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतैं, माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ मांगत सोइ सोइ देती, क्रम करि कैन्हाते।
सूर पथिक सुनि मोहिं रैनि दिन, बढ्यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन, ह्वै हैं करत संकोच।।'

(5) **उद्वेग**—चिंता, मरण, गुण-कथन करते-करते प्रव त्तियां सामान्य नहीं रह जाती हैं। उनमें उद्वेगावस्था की प्रधानता आ जाती है। जिसे उद्वेगावस्था से अभिहित किया जाता है।

'तुम्हारी प्रीति किधौ तखारि।
द ष्टि-धार धरि हती जु पहिलैं, घायल सब ब्रजनारि।
गिरी सुमार खेत व न्दावन, रन मानी नहिं हारि।
विह्वल विकल संभारति छिनु-छिनु, बदन-सुधा-निधि वारि।।'

(6) **प्रलाप**—उद्वेगावस्था में सामान्य स्थिति के विकृत हो जाने पर मानसिकता में घोर परिवर्तन आ जाता है। जिससे उल्टे-सीधे कथन वाणी से स्वतः स्वाभाविक रूप से निःस त होने लग जाते हैं। जिन्हें प्रलाप कहा जाता है। अत्यधिक ज्वर से पीड़ित व्यक्ति की जो स्थिति संन्निपातावस्था में होती है, वही वियोग की प्रलापावस्था में होती हैं।

'सखि मिलि करौ कछुक उपाउ।
मार मारन चढ्यौ विरहिनि, निदरि पायौ दाउ।
हुतासन-धुज जात उन्नत, चल्यौ हरि-दिस बाउ।।'

(7) **उन्माद**—प्रलाप क्रमशः बढ़ते-बढ़ते उन्मादावस्था को पहुंच जाता है जिसे पागलपन की संज्ञा दी गई है। किसी भी कथन या कार्य के कारण या परिणाम का चिंतन किए बिना कुछ भी बोलना या करना जो समाज के लिए हानिकारक होता है उसे उन्मादावस्था कहा गया है।

'ऊधौ इतनी कहियौ जाइ।
अति कृसगात भई ये तुम बिनु, परम दुखारी गाइ।
जल समूह बरषतिं दोउ अंखियां, हुंकति लीन्हैं नाउं।
जहां जहां गो दोहन कीन्हौ, सूंघतिं सोई ठांउ।।'

(8) **व्याधि**—मानसिकता में आधि घेर लेती है जिससे शारीरिक विकृति आने लग जाती है जिसे व्याधि अवस्था के नाम से जाना जाता है। बीमारी मानसिक एवं शारीरिक दो प्रकार की होती है। व्याधि शारीरिक रूप से अंग-प्रत्यंगों की क्षीणता का द्योतक है। इसे रूग्णावस्था भी कहते हैं।

'बिनु गुपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
व था बहति जमुना, खग बोलत, व था कमल-फूलनि अलि गुंजैं।
पवन, पान, घनसार, सजीवन, दधि-सुत किरनि भानु भईं भुंजैं।
यह ऊधौ कहियौ माधौ सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग-जोवत अंखियां भईं धुंजैं।।'

(9) **जड़ता**—शारीरिक क्षीणता एवं मानसिक विकृति के परिणामस्वरूप खाने-पीने तथा अभिव्यक्ति आदि की सभी क्रियाएं समाप्त प्रायः हो जाती हैं। वियोगी की चेतना शक्ति समाप्त हो जाती है। वह जड़वत् हो जाता है। यहां तक कि आंख-कान खुले रहने पर भी देखना-सुनना बंद हो जाता है, जिसे जड़तावस्था के रूप में जाना जाता है।

'देखी मैं लोचन चुबत अचेत।
मनहुं कमल ससि त्रास ईस कौ, मुक्ता गनि गनि देत।
कहुं कंकन कहुं गिरी मुद्रिका, कहुं टाड़ कहुं नेत।
चेतति नहीं चित्र की पुतरी, समुझाई सॉचेत।।'

(10) **मूर्च्छा**—शारीरिक एवं मानसिक क्रियाकलापों की समाप्ति श्वास-प्रश्वास को भी बाधित कर देती है। ऐसी अवस्था को मूर्च्छावस्था का नाम दिया गया है। भंयकर बीमारी, अवसाद, संत्रास या भय के समक्ष आते ही सामान्य मानव मूर्च्छित हो जाता है।

'जबहिं कह्यौ ये स्याम नहीं।
परीं मुरछि धरनी ब्रजबाला, जो जहं रही सु तहीं।
सपने की रजधानी ह्वै गइ, जो जागीं कछु नाहीं।
बार-बार रथ ओर निहारहिं, स्याम बिना अकुलाहीं।
कहा आइ करिहैं ब्रज मोहन, मिली कूबरी नारी।
सूर कहत सब ऊधौ आए, गईं काम-सर मारी।।'

(11) **मरण**—कभी-कभी क्रियाकलापों के समाप्त हो जाने पर शारीरिक शून्यता आ जाती है। यहां तक कि धमनियों में रक्तसंचार भी सामान्य ने रहकर बाधित हो जाता है, जिसे हृदयगति का रूक जाना या प्राणपखेरू का उड़ जाना कहा गया है। यह विरह की अंतिम अथवा एकादश अवस्था है।

'अति मलीन व षभानु-कुमारी।
हरि स्रम-जल भींज्यौ उर-अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी।
अध मुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौ गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुट बदन कुम्हिलाने, ज्यौ नलिनी हिमकर की मारी।
हरि संदेस सुनि सहज म तक भई, इक बिरहिनि, दूजे अलि जारी।
सूरदास कैसैं करि जीवैं, ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी।।'

हिन्दी साहित्य में गोपियों के विरह-वर्णन में सूर का प्रमुख स्थान है। इसका लौकिक महत्व ही नहीं हैं अपितु आध्यात्मिक महत्व भी है। इसमें एक ओर विप्रलंभ श ंगार की उद्दाम सरिता का अबाध प्रवाह ब्रजनारियों के नयनांबु से पूरित होकर उमड़ता हुआ पाठक की मनोभूमि को आप्लावित करता है और दूसरी ओर सगुणकार-भक्ति का निर्झर ऊंची-नीची और समतल भाव-भूमि में योग-मार्ग की कठोर प्रस्तर शिलाओं को तोड़ता और निर्गुण उपासना के घास-फूंस को आत्मसात् करता हुआ प्रवाहित होता है।

सूर के भ्रमरगीत में विप्रलंब श ंगार का अत्यंत पुष्ट एवं उत्कृष्ट चित्रण हुआ है। विरह-भावना की अभिव्यक्ति जितने विस्त त रूप में मिलती है, उतने विस्तार के साथ अन्य किसी हिंदी कवि की रचना में नहीं। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में, 'भ्रमरगीत में तो जैसे वियोग-श ंगार की प्रत्येक भावना गोपिकाओं के आंसुओं में साकार हो गई। विरह की एकादश अवस्थाओं का चित्रण सूर की कुशल लेखनी से अत्यंत स्वाभाविकता के साथ हुआ हैं।'

सूरदास की गोपियों के विरह-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता है- 'रुदन का हंसना ही तो गान।' विरह-वर्णन को व्यंग्य-विनोदपूर्ण बना देना सूर की ही सामर्थ्य हैं। अन्य कवियों के विरही तो केवल रोते, कलपते हैं। सूर ने केवल नारी-पक्ष के विरह का वर्णन, परंपरा का अनुकरण मात्र नहीं किया है। केवल नारी को ही पुरूष के विरह में अधीर नहीं दिखाया हैं; अपितु पुरुष (कृष्ण) को भी नारी (गोपियों) के विरह में व्यथित दिखाया है। सूर के श ंगार वर्णन में नारी हृदय के जिस पवित्र, निश्चल एवं सरल प्रेम का दर्शन करते हैं, वह हिंदी काव्य को सूर की मौलिक देन है।

अध्याय 5

वात्सल्य

भक्त प्रवर सूरदास ने वात्सल्य को रस में अति उच्च स्थान प्रदान किया है। वात्सल्य-स्नेह मनुष्य मात्र की एक सहज प्रव त्ति है मानव को संसार में लिप्त कराने वाला संतान-मोह ऐसा प्रबल आकर्षण है जिसका अतिक्रमण करना अत्यंत कठिन है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार भक्त सूरदास को श्री वल्लभाचार्य ने दीक्षित करके श्रीकृष्ण की बाल-लीला पर ही उनका ध्यान आकृष्ट कराया। श्रीमद्भागवत की श्रीकृष्ण बाल-लीला को सूर ने सूरसागर का आधार बनाया। वल्लभाचार्य से प्रेरित तथा भागवत को आधार स्वरूप ग्रहण करके सूर ने कृष्ण की बाल-लीला संबंध ी पदों की रचना की हैं। वल्लभाचार्य ने बाल-लीलाओं पर जितना बल दिया उतना अन्य किसी संप्रदाय ने नहीं। लीला-गान ही उनकी भक्ति विशेषता थी। सूर ने वात्सल्य भाव के पदों की रचना करके उन्हें सुनाए। सूर ने यशोदा एवं नंद के वात्सल्य भाव की सरसता तथा मधुरिमा की विशद् सांगोपांग और मनोरम अभिव्यक्ति की है।

इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन दर्शनीय हैं-

'वात्सल्य और श ंगार का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आंखों से किया है उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का वे कोना-कोना झांक आए हैं। उक्त दोनों रसों के प्रवर्त्तक रति-भाव विश्व का कोई अन्य कवि नहीं कर सका।'

वात्सल्य रस-भेद—वात्सल्य रस से संबंधित संयोग वात्सल्य और वियोग वात्सल्य दो प्रकार के होते हैं। संयोग वात्सल्य से तात्पर्य है उस कथा से है जब कृष्ण यशोदा के साथ ब्रज में थे। वियोग-वात्सल्य कथा का संबंध कृष्ण के मथुरा चले जाने के पश्चात् का है। सूर-काव्य में दोनों प्रकार के वात्सल्य रस परिपाक की अवस्था तक पहुंचे हैं।

अवयव—रस की निष्पत्ति में स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव व संचारी भावों की आवश्यकता होती है। इन सभी के सहयोग से रस निष्पत्ति होती हैं। वात्सल्य रस में बाल्य-प्रेम स्थायी भाव होता हैं। आलंबन श्रीकृष्ण और आश्रय यशोदा हैं। श्रीकृष्ण का शारीरिक सौंदर्य, उनका बुद्धि-कौशल तथा बाल-केलि चेष्टाएं उद्दीपन हैं। अनुभाव, प्रसन्नता, हास्य, गोद लेना, चूमना आदि संचारी भाव पुलक, स्म ति हर्ष आदि हैं। सूर ने वात्सल्य रस के सभी अंगों का पूर्ण सहयोग प्राप्त कर वात्सल्य रस का अत्यंत स्वाभाविक एवं मनमोहक चित्रण कर समस्त संसार में अनुपम स ष्टि का स जन किया है।

रूप-सौंदर्य वर्णन—महाकवि सूर ने श्रीकृष्ण के बाल-लीला विषयक वर्णन के अंतर्गत उनका रूप वर्णन किया हैं। कृष्ण के रूप-सौंदर्य पर कवि मुग्ध हैं। रूप सौंदर्य के वर्णन में सूर ने नवीन उपमाएं तथा उत्प्रेक्षाएं एकत्रित की हैं उन्हें देखते ही बनता है। सूर ने अंग-प्रत्यंग का इतना सुंदर चित्रण किया जिससे सहृदय नेत्रों के समक्ष श्रीकृष्ण के रूप-सौंदर्य का चित्र साकार हो उठता है। अनेक उपमाओं से अलंकृत कृष्ण के श्यामल शरीर का वर्णन, अपार ज्योति संपन्न कृष्ण के नखों का आकर्षक वर्णन, अवस्था और परिस्थिति के अनुसार वस्त्राभूषणों का वर्णन किस पाठक को अपनी ओर आकर्षित न कर लेगा ? श्रीकृष्ण ने सुंदर वस्त्राभूषण धारण किए हुए हैं। उन्हें देखकर यशोदा के हृदय में सुख का सागर हिलोरें भरने लगता है-

'आंगन श्याम नचावहिं, जसुमति नंद रानी।
तारी दै-दे गावहिं, मधुरी मीठी बानी।।
पायन नुपुर बाजहिं कटि किंकिनि कूजैं।
नन्हीं एड़ियन असिलता फल बिंब न पूजै।।'

(क) संयोगजन्य-वात्सल्य

सूरदास ने माता यशोदा और पिता नंद के मात-पित हृदय की भावनाओं को पदों में सुंदर मणिकांचन की भांति पिरोया है। बालक की प्रारंभिक विकास-अवस्था, शरीर-विकास, क्रीड़ा कौतुक, बाल-सखाओं का लीला-वर्णन, खेलना, गोचारण आदि विषयों का मनोविज्ञान तथा जीवन की सहजता पर आधारित वर्णन किया है। सूर संसार से संबंध त्यागकर ही प्रभु के विश्वासपात्र बन सके थे। उनके आराध्य का जीवन भी उतना सामाजिक नहीं था, जितना तुलसी के राम का। इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन दर्शनीय है-

'पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच सूर के बाल-लीला स्वरूप को थोड़ा बहुत देखते हैं। कृष्ण के बाल चरित्र का प्रभाव नंद यशोदा आदि परिवार के लोगों और पड़ोसियों पर दिखाई पड़ता है। इसी बाल-लीला वर्णन के अंतर्गत कृष्ण को लोकपक्ष अत्यधिक विराजमान है; जैसे कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों को बचाना, काली नाम को बांधकर उसके भय से लोगों को मुक्त कराना। कृष्ण के चरित्र में यह जो थोड़ा बहुत लोकसंग्रह दिखाई पड़ता है, उसके स्वरूप में सूर की व त्ति लीन नही हुई हैं। जिस शक्ति से बाल्यावस्था में ऐसे प्रबल शत्रुओं का उन्होंने दमन किया, उसके उत्कर्ष का अनुरंजनकारी और विस्त त वर्णन उन्होंने नहीं किया, जिस ओज और उत्साह से तुलसीदास ने मारीच, ताड़का, खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है, उस ओज और उत्साह से सूर ने बकासुर, अधासुर और कंस आदि के वध और इंद्र के गर्व-मोचन का वर्णन नहीं किया। कंस और उसके साथी असुर भी कृष्ण के शत्रु रूप में ही सामने आते हैं, लोक-शत्रु या लोक-पीड़क के रूप में नहीं।'

सूर व्यक्तिगत साधना के कायल थे। उन्हें शहर के अंदेशे से दुबला होना इष्ट नहीं था। सूर-काव्य मुक्तक एवं प्रगति है, जिसमें प्रबंध काव्य के महान कांतार में उन्मुक्त रूप से विकसित होती हुई घटना वल्लरियों और व्यापार-पादपों की शाखाओं के प्रसार का आतंकमय स्वरूप नहीं मिलता, पर नियमित भावसुमन-वाटिका के मनोहारी द श्य की रमणीयता अवश्य मिलती है। अपने सीमित क्षेत्र में ही सूर की कला ने ऐसी कमनीय 'कला' का प्रदर्शन किया है। जिससे अन्य कलाकार ईर्ष्या करते हैं। उनकी कल्पना को उड़ने के लिए लंबा क्षेत्र नहीं मिला, पर वह पाठक को अपने साथ ऊंचा उड़ा ले जाती है, जहां पहुंचकर अन्य कवि की कल्पना निम्नतर दिखाई पड़ती हैं। सूर ने वात्सल्य और श ंगार रस की जो धारा बहाई, उसका प्रसार जितना कम है, गंभीरता उतनी ही अधिक है।

(1) **जन्मोत्सव**—यशोदा और नंद ही नहीं, सारे ब्रज के गोप-गोपी पुत्र के जन्म की सूचना पाकर वात्सल्य के आश्रय बन जाते हैं, सारा ब्रज आनंद से उन्मत्त हो उठता है। यशोदा पुत्र-जन्म के हर्ष को संभाल नही पा रही हैं, वह नंद को भी बुला लेती हैं-

'जागी महरि पुत्र-मुख देख्यौ, पुलकि अंग उर में न समाइ।
गदगद कंठ बोल नहिं आवै हरषवंत ह्वै नंद बुलाइ।।'

जन्मोत्सव का आनंद ब्रज में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। संपूर्ण ब्रज में मंगलाचार होने लगे, बधावे, बजने लगे, दान देना आरंभ हो गया ब्रजनारियां सारा काम-काज छोड़कर बालक-कृष्ण के

मुख को देखने की लालसा से नंद जी के घर पहुंच गयीं। पुरूष अपनी दिनचर्या छोड़कर उत्सव मना रहे है। सभी कह रहे हैं-

'आजु बन कोऊ वै जानि जाइ।
ढोटा है रे भयो महरि कै, कहत सुनाइ-सुनाइ।
सबहिं घोष मैं भयो कोलाहल, आनंद उर न समाइ।।'

ब्रज में अलौकिक प्रसन्नता का अवसर छाया है। सभी नर-नारियां प्रफुल्लित हैं। आनंद और उल्लास में मग्न सभी नाच उठते हैं। मानो सारा ब्रज उत्सव मना रहा हो। तभी असली सुंदरता अपूर्ण हो गई समस्त संसार की अनुपम छटा उसे प्राप्त हो गई है-

'शोभा-सिंधु न अंत लही री।
नंद-भवन भरि पूरी उमंगि चलि, ब्रज की बीथिन फिरति बही री।।'

समस्त ब्रजवासी आनंदमग्न है कृष्ण के दर्शन की लालसा से उत्कंठित हैं; ब्रजवासी जन नंद के घर पहुंचकर कृष्ण के सुंदर रूप-दर्शन से अपने नेत्र सफल कर रहे हैं। सभी शिशु कृष्ण को गोद में लेने को लालायित हैं। उनकी उत्कंठा दर्शनीय हैं-

'नैकुं गोपालहिं मौकौं दै री।
देखौ कमल-बदन नीकें करि, ता पाछै तू कनियां लै री।।'

पुत्र-जन्म की सूचना सुनकर दूर-दूर से भिक्षुक एवं याचक नंद के द्वार पर आकर दान लेकर संतुष्ट होते हैं, वे याचक ऐसे जा रहे हैं मानो कहीं के राजा हों-

'ते पहिरे कंचन मनिभूषन, नाना बसन अनूप।
..... मानो जात कहूं के भूप।।'

जब कृष्ण धीरे-धीरे शारीरिक द ष्टि से विकसित होते हैं। उस समय सूर ने बाल-विकास की सभी अवस्थाओं को सुंदर ढ़ंग से चित्रित किया है। नंद के घर में बालक के जन्म लेते ही कवि आनंदोत्सव में शामिल होकर कहता है-

'ब्रज भयो महर के पूत, जब ये बात सुनी।
सुनि आनंदे सब लोग, गोकुल गनक गुनी।।'

(2) **बाल-छवि**—कृष्ण की बाल-छवि के सूर ने विविध चित्र अंकित किए हैं। कृष्ण के सौंदर्य का प्रभाव गोपियों पर भी पड़ा और यशोदा पर भी किंतु गोपियों में इसके फलस्वरूप प्रेम की व द्धि हुई, जबकि यशोदा में वात्सल्य की। कृष्ण के बाल सौंदर्य का एक चित्र द्रष्टव्य है-

'ललन हौं या छवि ऊपर वारी।
बाल गोपाल लगौ इन नैननि रोग-बलाइ तुम्हारी।।'

(3) **बाल-विकास**—रूप सौंदर्य के अतिरिक्त सूर ने बाल-लीला के अत्यंत हृदयस्पर्शी चित्रण करके 'सूरसागर' में अनुपम छटा बिखेर दी है। संयोग जन्य वात्सल्य के वर्णन में कृष्ण की तुतलाती भाषा घुटुरूवन चलना, धीरे-धीरे खड़ा होना और फिर गिर पड़ना, नंद को बाबा कहना, शरीर पर धूल लपेटना, मुख पर दही का लेप कर लेना आदि बाल-सुलभ चेष्टाओं के बाल-मनोवैज्ञानिक पंडित महाकवि सूर ने अत्यंत मर्मस्पर्शी स्वाभाविक एवं आकर्षक वर्णन किया है। बालकों की रुचि का सूर को पूर्ण ज्ञान था। बालक कृष्ण के पालने पर आने के पश्चात् ही सूर के वात्सल्य की विविध धाराएं प्रवाहित होने लगती हैं। लोकोपकारक देव के रूप में कृष्ण दानवीय शक्तियों का विनाश करते हैं तथा दूसरी ओर मानवीय धरातल पर माता यशोदा की वात्सल्य भावना का आलंबन होकर बाल-लीलाएं करते हैं। सूर की अंधी आंखें अपने इष्टदेव को पालने में झूलते देखती है।

सूर की यह अनुपम विशेषता है कि वह स्वाभाविक बाल-दशाओं के चित्रण द्वारा पाठकों के मन में सहल ही रसोद्रेक कर देते हैं। यशोदा को कन्हैया को पालने में झुलाने का अनुपम चित्र प्रस्तुत कर सूर ने वात्सल्य की छटा बढ़ाई हैं-

'जसोदा हरि पालनै झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निदंरिया, काहैं न आनि सुवावै।
तू काहैं नहिं बेगहिं आवै, तोकों कान्ह बुलावै।
कबहुंक पलक हरि मूंदि लेत है, कबहुं अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि, करि करि सैन बतावै।
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावैं।
जो सूख सूर अमर मुनि दुरलभ, सो नंद भामिनी भावै।।'

यशोदा लोरी गा-गाकर कृष्ण को सुला रही हैं। कृष्ण के आंख बंद कर लेने पर मां समझती है कि पुत्र अब सो गया है। वह लोरी गाना बंद कर देती है और वहां से उठना चाहती है कि कृष्ण फिर अकुला उठते हैं और यशोदा लोरी गाने लगती हैं। उसे पुत्र के पास ही बैठा रहना पड़ता है।

छोटे से शिशु की छोटी-छोटी गतिविधि पर सूर की द ष्टि लगी हुई है। बालक की ये अत्यंत स्वाभाविक हलचलें भी उनसे छिपी नहीं है। यशोदा अपने पुत्र को सोया हुआ जानकर अन्य लोगों को इशारे से ही चुप रहने के लिए कहती हैं। कृष्ण थोड़े और बड़े हुए तो उनकी शारीरिक प्रव त्तियां भी बढ़ने लगीं-

'चरन गहे अंगूठा मुख मेलत।
नंद धनी गावति हलरावति पलना पर किलकित हरि खेलत।।'

कैसी स्वाभाविक झांकी है! संसार भर के बच्चे इस अवस्था को पार करते हैं। थोड़ा और बड़ा होने पर घुटनों के बल चलना अंगुली पकड़कर खड़ा होना, गिर पड़ना आदि अनेक बाल-सुलभ चेष्टाएं आनंदित कर देती है -

'किलकत कान्ह घुटुरूवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आंगन, बिंब पकरिबै, धावत।
कबहुं निरखि हरि आपु छांह कौं, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हंसत रजित द्वै दंतियां, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।
कनक भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजत।।'

यशोदा सुत की क्रीड़ाओं को देखकर फूली नहीं समाती। वह बार-बार नंद को इस सुख में शामिल होने के लिए बुलाती हैं। नारी की मात त्व-भावना स्वयं अकेले ही वात्सल्य का अनुभव कर संतुष्ट नहीं होती, उसकी पूर्ण संतुष्टि वात्सल्य का पूर्ण आस्वादन-यहां भी पति का योग चाहती हैं। मात त्व के साथ दांपत्य की यह संयोग-कामना नारी ह्रदय का गूढ़ रहस्य है, जिसका उद्घाटन सूक्ष्म निरीक्षण करने वाले सुकवि ही कर सकते हैं।

बाल-विकास के प्रति मां के ह्रदय में अदम्य उत्सुकता रहती है। उसकी समस्त क्रियाएं और भावनाएं उसी में केंद्रित हो जाती हैं। वह उस दिन को देखने के लिए लालायित रहती है जब उसका लाल घुटनों पर चलकर उसके पास आने लगेगा। प्रथम बार तोतली वाणी से निकले हुए 'मां' शबद के माधुर्य पर वह संसार की समस्त विभूति को न्यौछावर कर सकती है। त्याग की यह

भावना मात त्व की देन है, स्वार्थ की नहीं। वह अपने पुत्र को इसलिए प्यार करती है कि वह उसका पुत्र हैं, इन्हीं भावनाओं की जो अभिव्यक्ति सूर ने की है द्रष्टव्य है-

'लालन, वारी या मुख ऊपर।
माई मोरिहि दीठि न लागै तातै; मसि-बिंदा दियो भूपर।
सरबस मैं पिछले ही वारयौ, नान्हीं नान्हीं दुंतली दू पर।
अब कहा करौ निछावरि सूरज, सोचति अपने लालन लू पर।।'

बाल-कृष्ण पैरों के बल चल रहे हैं। यशोदा उन्हें देखकर स्वयं आनंदित होती है, नंद को भी यह द श्य देखने के लिए बार-बार बुलाती है कि देखो उनका पुत्र किलकारी मारता है, हंसता है, तब उसके दूध के दो दांत दिखाई देते हैं। अब बाल-कृष्ण में थोड़ा और विकास होने पर वह धरती पर दो-दो कदम चलने का प्रयास करता है गिरता हैं और पुनः उठता है। बालक-कृष्ण की इन सहज गतिविधियों का सूर ने सजीव चित्रण किया है-

'कान्ह चलत पग द्वै-द्वै धरनी।
जो मन में अभिलाष करत ही सो देखत नंदरानी।।
रूनुक छुनुक नुपुर बाजत पग यह है अति मन हरनी।
बैठि जात मुनि उठत तुरत हैं अति छवि जाति न बरनी।।'

सूर ने शिशु को सूक्ष्मतम प्रव त्ति का भी उल्लासपूर्ण चित्रण किया है। माता-पिता इन अभिव्यक्तियों को देखकर अपने ही आंगन में कृष्ण को खेलते देखने की कल्पना से आनंदित होते हैं।

(4) **बाल-क्रीड़ा**—श्रीकृष्ण बड़े होकर कुछ बोलने लगे हैं और आसपास की वस्तुओं तथा प्रकृति के साथ संबंध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। माता यशोदा उन्हें चंद्रमा दिखाती हैं। माता चुप कराने के लिए चंद्रमा को बुला-बुलाकर कृष्ण को बहलाती है, किंतु वे हठ कर बैठे है कि उन्हें 'चंद्र खिलौना' ही चाहिए। कृष्ण चंद्रमा को हाथ में ले करके उसे खाना चाहते हैं।

'लागी भूख चंद मैं खैहौ देहु लेहु रिस करि बिरुझावत।
जसुमति कहत कहा मैं कीनो रोवत मोहन दुख पावत।।'

यशोदा आकाश में उड़ती चिड़िया दिखाकर बालक का ध्यान बंटाना चाहती हैं, किंतु कृष्ण भी अड़ियल और जिद्दी बालक की तरह चंद्रमा लेने के लिए ही अड़े रहे हैं। यशोदा बर्तन में पानी भरकर चंद्रमा का बिंब कृष्ण को दिखाती हैं-

'जल-पुट आनि धरनि पर राख्यो गहि आन्यो चंदा दिखरावै।
सूरदास प्रभु हंसि मुसकाने, बार-बार दोऊ कर नावै।।'

माता का हृदय बहुत ही शंकालु होता है। घर से निकलते ही उसके बच्चे पर न जाने क्या आपत्ति आ जाए ? छोटा-सा बालक खेलने के लिए दूर चला जाए, तो न जाने कहां बहक जाए? पर बच्चे तो बच्चे होते हैं। उनकी जिद का क्या कहना ? मजबूर होकर माँ को साम छोड़कर दाम नीति का आश्रय लेना पड़ता है। माता की कल्पित भावना 'हाऊ' का कृष्ण को कैसा भय दिखाया जाता हैं। इस कथन को दर्शाने के लिए सूर का पद द्रष्टव्य हैं—

'खेलन दूर जात कत कान्हा।
आजु सुन्यौं मैं हाऊ आयौ, तुम नहिं जानत नान्हा।
इक लरिका अबहीं भजि आयौ, रोवत देख्यौ ताहि।
कान तोरि वह लेत सबनि के, लरिका जानत जाहि।।'

घर में मंगल करने वाले बच्चों को खेलते देखकर माता-पिता का वात्सल्य उमड़ता है वे तन्मय हो जाते हैं, उनका बचपन लौट आता है और वे अपने आप भी बच्चे के साथ में बच्चे की भांति खेलने लगते हैं, वहीं हार-जीत की संभावना से प्रेरित स्पर्धा का भाव माधुर्य का आवरण धारण करके उनके हृदय में आ बैठता है। नंद और यशोदा की प्रतियोगिता के कारण बेचारे कृष्ण की स्थिति 'नट के बेटा' की सी हो रही है, उन्हें खिलौना ही बना लिया गया है -

'कबहुंक दौरि घुटुरूवनि लपकत, गिरत उठत पुनि धावै री।
इततें नंद बुलाइ लेत हैं, उततैं जननि बुलावै री।
दंपत्ति होड़ करत आपुस में, श्याम खिलौना कीन्हौ री।।'

कृष्ण बड़े होकर गली में अपने साथियों के साथ खेलते समय सखाओं से बेइमानी करते हैं, कभी उनके साथ खेलने का आग्रह कर उनकी सभी शर्तें स्वीकार लेते हैं। आपस में सभी सखा लड़ते-झगड़ते हैं। माता दूर खेलने जाने से रोकती है, किंतु अपनी आयु के लड़कों की तरह कृष्ण अपने बाल सखाओं के साथ गांव में सर्वत्र क्रीड़ा करते फिरते हैं। बच्चे आपस में रूठते हैं अन्ततः मान जाते हैं। एक दिन बलराम अपने छोटे भाई को खूब खिझाते हैं। कृष्ण संध्या-काल में घर में घुसते ही बलराम की शिकायत मां से करते हैं। उनके इस भोलेपन पर सूरदास और भक्तजन अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं-

'मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल के लीनौ तोहि जसुमति कब जायो।।
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हौ नहि जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुमरो तात।।'

माता को सौगंध खाकर ही कहना पड़ता है कि बलराम सदा से ही धूर्त है, झूठ बोलता है। मैं सत्य कहती हूँ कि तू मेरा ही पुत्र है। कृष्ण उस बात से इतने दुःखी हो जाते हैं कि वे खेलने के लिए नहीं जाना चाहते-

'खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहि देखत लरिकन संग तबहीं खिझत बल भैया।।'

कृष्ण माता से कहते है कि मां बलराम भैया यहां तक कहते हैं कि वसुदेव और देवकी ही तेरे माता-पिता हैं। यह सुनकर बालक कृष्ण को असह्य पीड़ा होती हैं। श्रीकृष्ण खेल में हारकर बेईमानी शुरू कर देते हैं, तब उनके सखा उन्हें दुबारा खेल में शामिल ही नहीं करते हैं। बलराम यहां तक कह देते हैं कि इसके माता-पिता नहीं हैं, इसे हम अपने साथ खेल में शामिल नहीं कर सकते, तब कृष्ण वहां से लौटकर माता की गोद में जाकर रोने लगते हैं।

(5) **माखन-लीला**—'माखन चोरी' प्रसंग में कृष्ण का बुद्धि-चातुर्य देखते ही बनता है। वह मक्खन के लिए अत्यंत लालायित रहते हैं। ब्रज के घरों में घुस-घुसकर सखाओं के साथ मक्खन चुरा-चुराकर खाना उनकी आदत बन गई है। नित्य घरों में कमोरी साफ होने लगती है। कृष्ण का माखन चोरी कर पकड़ा जाना और चातुर्य का प्रयोग करना, इसका वर्णन अत्यंत ही विनोदपूर्ण है। कृष्ण मक्खन खाते कम थे, पर जमीन पर बिखेरते ज्यादा थे। नित्य मक्खन की हानि होने पर ब्रजनारियां परेशान हो गई। एक दिन कृष्ण मक्खन खाते पकड़े जाने पर कहते हैं-

'मैया मैं नहीं माखन खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।।'

कृष्ण अपनी निर्दोषिता के अनेक साक्ष्य देते हैं कि माता मैं छोटे-छोटे हाथों वाला छोटा-सा बालक और इतने ऊंचे मक्खन का पात्र छीकें पर टंगा था, भला मैं उसे कैसे पा सकता था। घर

आया ही नहीं, मैं दिन भर गायों के साथ मधुबन में घूम रहा था मैं भला इनका माखन कैसे चुरा सकता था। बालक की ऐसी भोली-भाली मुद्राओं पर यशोदा का मात -हृदय के विरूद्ध इस दोषोरोपण को नहीं मानता और अपने कृष्ण को सांटें फेंककर छाती से लगा लेती हैं। माता यशोदा कृष्ण के बुद्धि-चातुर्य को देखकर गद्‌गद् हो गई।

कृष्ण का उत्साह अधिक बढ़ जाता है, वे पक्के माखन-चोर बन गए। माखन के साथ उन्हें रस की भी प्राप्ति होती थी। कृष्ण माखन चोरी के साथ उत्पात भी करने लगे जिसमें ग्वालिनों की चूड़ियां और चोलियां तहस-नहस होने लगीं। वे यशोदा के पास आकर अपनी खाली मटकी दिखाती हैं, यशोदा उन्हें पुनः मक्खन से भर देती थीं। इस डर से कहीं कोई उसके लाल को कोसे नहीं। यशोदा का मात -हृदय अपने पुत्र के अनिष्ट की आशंका मात्र से ही पर्याप्त चिंतित हैं-

'करि मनुहर कोसबे के डर भरि-भरि देति जसोदा मात।'

अन्ततः एक दिन यशोदा को अपने पुत्र पर क्रोध आ ही गया। एक ग्वालिन शिकायत कर ही रही थी कि दूसरे मक्खन चोरी करते कृष्ण का हाथ पकड़ कर ही ले आई। यशोदा अपने पुत्र की इस लीला पर खीझ उठी, उसने कृष्ण को अखल से बांध दिया और सांटी लेकर सजा देना प्रारंभ कर दिया तब कृष्ण हिचकियां भर-भरकर रोने लगे, गोपियां परेशान होकर यशोदा को निष्ठुर कहने लगीं। वे यशोदा को भला-बुरा कहने लगीं। यह भी खूब रही, हम इसकी शिकायत करके तुम्हें मुर्ख बना रही हैं। यशोदा खीझ उठी, पर यशोदा की इस खीझ में सूर ने गोपियों के प्रति अमर्ष का मूल कारण कृष्ण-विषयक वात्सल्य ही बताया है और साथ ही यशोदा के मात -हृदय में पश्चाताप और व्याकुलता के सहज भाव की सुंदर अभिव्यक्ति की हैं-

'कहनि लगीं अब, बढ़ि बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहि बंधायौ, तनकइ माखन खात।
मेरे लाल को परम खिलौना ऐसे को ले जैहे री।
नेंक सुनन जो पेहों ताको, सौ कैसे ब्रज रहिहै री।।'

सूर के पद का एक-एक शब्द यशोदा के मात -हृदय का पूरा चित्र खींचने के लिए पर्याप्त है। गोपियों की झूठी सहानुभूति और यशोदा का उनके प्रति अमर्ष व्यंजित है। 'ढोटा' शब्द से कृष्ण की अबोधता और उसके प्रति यशोदा की वात्सल्य भावना का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है।

सूर ने माखन-चोरी प्रसंग के संबंध में एक से बढ़कर एक सुंदर द श्य प्रस्तुत कर अपनी लेखनी को सशक्त बनाया हैं-

'सखा सहित गए माखन चोरी।
देख्यों स्याम ग्वाच्छ पंथ है गोपी एक मथति दधि भेरी।।'

सूर ने कृष्ण की बाल्यावस्था का बहुत ही सुंदर और स्वाभाविक वर्णन किया है। उन्होंने बच्चों की मनोव त्तियों, व्यापारों और चेष्टाओं का सजीव चित्रण सूरसागर में किया है। सूर की अंतर्दृष्टि मानव-मानस की तह में गोता लगाकर भावरत्न लाने में बेजोड़ है। बालकों की दिनचर्या के सूक्ष्म भेद को छोटे से छोटे व्यापार को गूढ़ से गूढ़ अनुभूति को चित्रित करना कवि भूला नहीं। माखन खाते कृष्ण का धूलिधूसर चित्र प्रस्तुत कर सूर ने चित्रपटी का सौंदर्य दर्शाया है-

'सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरूनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।।'

(6) **भाव विकास**—ज्यों-ज्यों बालक कृष्ण का शरीर बढ़ता है त्यों-त्यों उसके भाव भी विकसित होने लगते हैं। बच्चों में स्पर्धा का भाव बहुत तीव्र होता है। वे किसी भी स्पर्धा में अपने हमजोलियों से पीछे नहीं रहना चाहते। बच्चों की यही भावना उन्हें उन्नत बनाने में योगदान करती

है। कृष्ण जैसे-जैसे बड़े होते है, वैसे-वैसे उनमें ईर्ष्या, क्रोध, स्नेह, आक्षेप आदि भाव भी बढ़ने लगते हैं। कृष्ण की चोटी से बलराम की चोटी बड़ी है, वे अपनी चोटी को स्पर्धा भाव के कारण बढ़ाना चाहते हैं। यशोदा उनकी इस प्रव त्ति का लाभ उठाकर उन्हें चोटी बढ़ाने का प्रलोभन देकर दूध पिलाती हैं, क्योंकि वे वैसे दूध नहीं पीते, यशोदा के प्रलोभन के पश्चात् भी उनकी चोटी नहीं बढ़ती, वे माता से शिकायत करते हैं-

'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूं है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी, ज्यों ह्वै है लांबी-मोटी।
काढ़त-गुहत-न्हावत जै है, नागिन सी भुईं लोटी।
काचौ दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन रोटी।।'

अब यशोदा निरूतर हो गई और उन्हें श्रीकृष्ण की प्रिय माखन रोटी देनी ही पड़ी। सूर ने इस पद में बाल-सुलभ स्वाभाविक वर्णन किया है। बाल-हठ और बालकों की ईर्ष्या-भावना के साथ माता का स्नेहस्निग्ध ह्रदय की अत्यंत सुंदर अभिव्यक्ति की है।

(7) **गोचारण**—बालक कृष्ण कुछ और बड़े हुए तो अन्य ग्वालों की देखा-देखी गाय चराने की जिद माता यशोदा से करने लगे माता ने इस प्रस्ताव का विरोध किया किंतु उन्होंने माता की समस्त आशंकाओं का खंडन करते हुए कहा-

'आजु मैं गाइ चरावन जैहौं।
वंदावन के भांति भांति फल अपने कर में खेहौं।।'

माता यशोदा बालक कृष्ण को डराती हैं कि गाय चराने वाले संध्या काल को घर लौटते हैं। उन्हें भूख सताती रहती है, किंतु कृष्ण यही चाहते हैं कि मुझे भूख-प्यास नहीं लगती है। मै तो गाय चराने जाऊंगा ही।

वे नंद बाबा से अनुमति प्राप्त करने के लिए माता यशोदा को सिफारिश करने के लिए कहते हैं-

'मैया हौं गाइ चरावन जैहौं।
तू कहि महर नंद बाबा सौ बड़ौ भयो न डरै हौ।।'

पुत्र-हठ के सामने मां को झुकना पड़ा। फलतः उसने कृष्ण को गाय चराने के लिए जाने तो दिया किंतु ह्रदय को वश में न रख सकी। अत्यंत कठिनाई से उमड़ते हुए ह्रदय को रोककर पुत्र को गाय चराने के लिए ग्वालों के साथ वंदावन जाने की अनुमति दे देती हैं।

प्रकृति की सुरम्य प ष्ठभूमि पर कृष्ण के गोचारण के अत्यंत सुंदर द श्य सूरदास जी ने चित्रित किए हैं। ग्वाल-बालों की स्वाभाविक सरल चित्त-व त्तियों के साथ उनके क्रियाकलापों के भी क्रमबद्ध अनेक चित्र सूरसागर में मिलते हैं। बलराम कृष्ण की गैया खुद घेरते हैं और उन्हें वन के फल तोड़-तोड़ कर देते हैं-

'मैया री मोहिं दाऊ टेरत।
मोकौं बन-फल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत।।'

खिझाने वालों के साथ न जाकर वनफल तोड़कर देने वाले दाऊ के साथ जाने का आग्रह कृष्ण की बाल-प्रकृति का द्योतक है, जिसके अनुसार बालक स्नेह का व्यवहार ही पसंद करता हैं। बालकों को अपने से बड़ों के कार्य करने में आत्मा के प्रसार से उद्भूत आनंद का आस्वादन होता है; अतएव उस कार्य के लिए उनके ह्रदय में बहुत ही अधिक उत्साह और चाव रहता है। कृष्ण

के हृदय में गोचारण की इतनी उत्सुकता है कि वे कलेऊ करते-करते भाग खड़े होते हैं; किंतु जब भूख सहन नहीं होती तो घर जाने वाले ग्वालों से यशोदा के पास खबर भेजते हैं।

यशोदा को जब पता चलता है कि मेरे पुत्र कृष्ण से ग्वाल बाल अपनी गायें उन्हीं से घिरवाते हैं। तब वह कहती हैं कि मैं कृष्ण को गोचारण के लिए भेजती थी कि उसका मन बहल जाय लेकिन ग्वाल-बाल उन्हें भगा-भगाकर थका देते हैं, कृष्ण यशोदा से बताते हैं तो मां की ममता जाग्रत हो जाती है, वह ग्वालों को गाली तक दे देती है। वास्तव में उसका हृदय इतना कठोर नहीं कि वह किसी का अनिष्ट चाहे। पुत्र की ममता के उसके प्रति असीम वात्सल्य के उफान का स्वाभाविक विकास हैं-

'मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ।

सूर स्याम मेरो अति बालक, भारत ताहि रिंगाइ।।'

सूर ने गोचारण प्रसंग में उत्पन्न आनंद का सरल तथा स्वाभाविक चित्रण कर कृष्ण तथा ग्वाल बालों के साथ तादात्मय स्थापित किया है कि कैसे गाय चराने का अपना अलग आनंद है सब मिलकर भोजन करते हैं। कृष्ण अन्य सखाओं से भोजन छीन-छीन कर खाते है और जुठन भी खा लेते हैं।

(8) **मात -हृदय**—सूर ने संयोग जन्य वात्सल्य के अंतर्गत बाल-लीला-विलास के वर्णन में आश्रय एवं आलंबन के विधि चित्र अंकित किए हैं। वे मात -हृदय के सबसे बड़े पारखी हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस संबंध को रेखांकित करते हुए लिखते हैं-

'सूर बाल-लीला वर्णन करने में अद्वितीय हैं, मैं कहूंगा सूरदास मात -हृदय का चित्र खींचने में अपना सानी नहीं रखते।' सूर ने यशोदा हृदय के साथ पूर्ण तादात्मय स्थापित कर लिया है। यशोदा के अत्यंत कोमल तथा क्षणिक कठोर हृदय का सूर ने पूर्ण स्वाभाविक वर्णन किया है। उनका हृदय अनगिनत अभिलाषाओं से परिपूर्ण है। यशोदा का हृदय जब लोक-विश्वासों और टोने-टोटकों की शरण लेता है तो स्वाभाविकता और भी अधिक हो जाती हैं। कृष्ण को किसी बात पर राजी करने के लिए मां विविध झूठे-सच्चे तर्कों का आश्रय लेती हैं।

(ख) वियोगजन्य-वात्सल्य

सूर का संयोगजन्य वात्सल्य जितना विस्त त एवं स्वाभाविक है, वियोगजन्य वात्सल्य उतना ही प्रभावशाली तथा मार्मिक हैं। संयोग की उत्कृष्टता वियोग के लिए समुचित प ष्ठभूमि तैयार करती है। वियोग की सहज, सरल अभिव्यक्ति मात -पित हृदय की विकलता, विह्वलता एवं अधीरता पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधार पर हृदय का स्पर्श करती हैं। 'सूरसागर' में संयोग के बीच भी कहीं-कहीं वियोग के छिट-पुट प्रसंग आ ही जाते हैं। कालियदमन के लिए जब कृष्ण यमुना में कूद पड़ते हैं, तब यशोदा की भाव विह्वलता दर्शनीय हैं-

'खन भीतर, खन बाहिर आवति, खन आंगन इहिं भांति।

सूर स्याम कौ टेरत जनती, नैंकु नहीं मन सांति।।'

वियोग वात्सल्य का प्रमुख अवसर कृष्ण के मथुरा-प्रवास प्रसंग में आता है। जो यशोदा कृष्ण को खेलने के लिए भी दूर जाने से रोकती थी, वहीं परिस्थिति के वात्याचक्र में पड़कर अपने पुत्र कृष्ण को अक्रूर द्वारा मथुरा ले जाना यशोदा के लिए असह्य है। तभी यशोदा नंद को भी साथ में मथुरा भेजा ताकि कृष्ण को कुछ ही दिनों में अपने साथ लेकर वह वापस आ जाएं, किंतु एक दिन पश्चात् नंद अकेले ही ब्रज में लौट आए। यशोदा पुत्र-वियोग की आशंका से सिहर उठी, पुत्र की सुकुमारता और कंस की दुष्टता को देखकर उसका वियोग और भी तीव्र हो उठा। वियोगजन्य वात्सल्य संबंधी इस वर्णन को चार भागों में बांटा जा सकता है-

(*i*) कृष्ण का मथुरा प्रस्थान;

(*ii*) नंद आदि का कृष्ण के बिना लौटना,

(*iii*) कुछ समय पश्चात् नंद यशोदा का वार्तालाप,

(*iv*) उद्धव का ब्रज आगमन आदि।

(*i*) **कृष्ण का मथुरा प्रस्थान**—माता यशोदा, नंद, गोप, गोपियां सब प्रसन्न थे पर अचानक रंग में भंग हुआ। अक्रूर कंस का निमंत्रण लेकर आए और कृष्ण एवं बलराम को ले जाने का प्रस्ताव रखा। यशोदा पुत्र वियोग की कल्पना से व्याकुल हो उठीं। पुत्र की सुकुमारता और कंस की दुष्टता को देखकर उनका वियोग अत्यधिक तीव्र हो उठा-

'देखि अक्रूर नर-नारि बिलखे।
धनुर्भजन जस हेत बोले इन्हें, और डर नहीं सब कहि संतोपे।
महरि व्याकुल दौरि पांइ गहि लै परी, नंद उपनंद संग जाहु लैकै।
कहत ब्रज-नारि नैननि नीर ढारि कै, इन्हनि कौ काज मथुरा कहा है ?
सूर न प क्रूर अक्रूर क्रूरै भए, धनुष देखन कह्यौ कपटी महा हे।।'

माता यशोदा के हृदय की सर्वाधिक मार्मिक तथा प्रभावशाली अभिव्यंजना कृष्ण के मथुरा-प्रस्थान के समय होती है। अक्रूर कंस के आदेश से कृष्ण और बलराम को लेने आए हैं। यशोदा पुत्रों के मथुरा-गमन की बात सुनते ही चिंतित हो जाती हैं। कृष्ण के भावी वियोग जन्य पीड़ा का अनुभव करके फूट पड़ती हैं। वह अपनी आंखों के तारे कृष्ण को अलग नहीं करना चाहती, चाहे प्राण ही क्यों न देना पड़े-

'मेरे माई निधनी कौ ध्न माधौ।
बारंबार निरखि सुख मानति, तजति नहीं पल आधौ।।'

सूर ने 'निधनी कौ धन' में निरीहता और विवशता का चित्रण कर वियोग की अवस्था को दर्शाया है। संतोष के शांत-सागर में पुत्र विक्षोभ-जनित तरंगों का संचार होने लगा है। जिन्हें गिना नहीं जा सकता। कृष्ण के लिए यशोदा का यह स्नेह नहीं है अपितु पुत्र के प्रति माता की ममता है। जिसकी गंभीर धारा में संसार के सारे संबंध और स्वार्थ डूब जाते हैं, माँ के हृदय से निकला हुआ निःश्वास है जो समस्त विश्व को प्राणवान् बनाता है, मात त्व का अदम्य त्याग है जिसमें स्वयं मिटकर भी पुत्र की कल्याण-कामना की पावन भावना अंतनिहित हैं।

लाड़-प्यार में पले हुए कृष्ण जो ब्राहमणों एवं गुरूजनों को प्रणाम करने का शिष्टाचार तक नहीं जानते, वे मथुरा की राजसभा का आचार-व्यवहार कैसे समझेंगे ? मथुरा के असिधारी असुर क्या इन बातों को सह सकेंगे ? यशोदा का मात -हृदय यह सोचकर व्याकुल हो उठता है-

'जसोदा बार-बार यौं भार्षै।
है कोऊ ब्रज में हितू हमारौ, चलत गोपालहिं राखै।।'

वे श्रीकृष्ण को सदैव अपने सामने देखते रहने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को प्रस्तुत हैं-

'बरु यह गोधन हरौं कंस सब, मोहि बंदि लै मेलौ।
इतनोई सुख कमलनयन मेरौ अंखियनि आगैं खेलो।।'

कृष्ण को मथुरा-प्रस्थान करता जानकर यशोदा मूर्छित हो जाती हैं और जब कृष्ण मथुरा जाने का उद्यत रथारूढ़ के प्रति यशोदा का कथन अत्यंत मार्मिक हैं-

''सूरदास' अवलोकि जसोदा, धरनी परी मुरझाई।।'

जब बालक कृष्ण अपनी माता यशोदा को संसार की निःसारता चार दिन फूलने वाली सायन बेल की संज्ञा देकर समझाते हैं, तो माता यशोदा का मात-हृदय ही टूट जाता है-

'यह सुनि गिरी धरनि झुकि माता।
कहा अक्रूर ठगौरी लाई, लिये जात दोउ भ्राता।।'

यशोदा यही कामना करती हैं कि उसका पुत्र कृष्ण उससे जननी का नाता रखे। लेकिन वह सब संबंध छोड़कर मथुरा प्रस्थान कर गए।

सुख-दुख की अनुभूति में एक दशा वह भी आती है, जब हृदय इतना भर आता है कि वाणी भावाभिव्यक्ति में असमर्थ होकर मूक हो जाती है, कंठ गद्‌गद् हो जाता है और टूटे-फूटे शब्द ही मुख से निकलते हैं। इस दशा में वाणी का कार्य आंखें करती हैं। सूर द्वारा विरह की चरम अनुभूति का चित्रण प्रस्तुत हैं-

'जब ही रथ अक्रूर चढ़े।
तब रसना हरि नाम भाषिकै, लोचन नीर बढ़े।
महरि पुत्र कहि सोर लगायौ, तरु ज्यौं धरनि लुटाइ।
देखति नारि चित्रसी ठाड़ी, चितये कुंवर कन्हाइ।।'

(*ii*) **नंद आदि का कृष्ण के बिना लौटना**—नंद ने कृष्ण को मथुरा पहुंचाकर कुछ दिन वहां रूककर, कृष्ण को लौटा लाने का बहुत प्रयास किया। उनके चरणों में पड़े किंतु निष्फल रहे-

'धाइ चरन परि हरिके, चलहु ब्रज को स्याम।'

नंद ने अंत में यहां तक कह डाला कि मैं तुम्हारे बिना गोकुल नहीं जाऊंगा, तुम्हारी माता यशोदा के प्रश्नों के उत्तर मैं कैसे दे पाऊंगा-

'(मेरे) मोहन तुमहिं बिना नहिं जैहौं।
महरि दौरि आगे जब ऐहै, कहा ताहि मैं कैहौं।।'

कृष्ण पर नंद बाबा की बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह निष्ठुर होकर ज्ञान का उपदेश सुनाकर उठ खड़े हुए। कृष्ण की उदासीन प्रतिक्रिया देखकर नंद बाबा अत्यंत दुखित हो गए-

'ठाढ़ौ थक्यौ उतर नहिं आवै, लोचन जल न समात।।'

नंद असह्य व्यथा को हृदय में लिए हुए अकेले चले आ रहे हैं, तो यशोदा पुत्र-वियोग की तीव्रता के कारण आपे में नहीं रहती। वेदना के आधिक्य के कारण यशोदा मूर्छित होकर गिर पड़ी जिस प्रकार तुषारापात से कमलिनी मुरझा जाती है। यशोदा सुध आने के पश्चात् नंद पर बरस पड़ी। दशरथ का उदाहरण सुनाकर उन्हें कोसने लगीं-

'कहं नवनीतचोर छांड़े बिनु देखत नार नई।
तेहिं खन घोष सरोवर मानौ पुरइनि हेम हई।।'

वियोग वेदन के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण यशोदा इस बात को भूल जाती हैं कि नंद भी विवश हैं, उनकी दशा भी यशोदा जैसी है वह उन्हें जी-भरकर बुरा-भला कहकर फटकारने लगीं-जैसे तुम यहां से कृष्ण को ले गए थे, वैसे लौटाकर ले भी क्यों नहीं आए-

'नंद कहौ हो कहं छांड़े हरि।
लै जु गए जैसे तुम ह्यांतै, ल्याए किन वैसाहिं आगैं धरि।।
पालि पोषि मै किए सयाने, जिन मारे गल मज्ज कंस अरि।
अब भए तात देवकी बसुधौ, बाहं पकरि ल्याये न न्याव करि।।'

यशोदा के कटुवचन पति के प्रति पत्नी की ध ष्टता नहीं, अपितु पुत्र वियोगिनी माता के हृदय की उस गहरी व्यथा को सूचित करते हैं, जिसमें प्रिय वस्तुएं भी अप्रिय लगती हैं। ये उसकी विक्षिप्त-मनोदशा का सुंदर चित्रण हैं, जिनका विश्लेषण करना किसी के बस की बात नहीं।

कृष्ण-विछोह का दुःख नंद हृदय ही जानता है। कृष्ण के न लौटने के विषय में ब्रजवासियों के पूछने पर उनकी दशा अत्यंत कारुणिक हो जाती है-

'कहौ नंद कहां छांडे कुमार।
कैसैं प्रान रहे सुत विछुरत, पूछत है गोपी अरु ग्वार।।
करुना करै जसोदा माता, नैननि नीर बहै असरार।
चितवत नंद ठगे से ठाढ़े, मानौ हारयौ हेम जुआर।।'

(*iii*) **कुछ समय पश्चात् नंद यशोदा का वार्तालाप**—पुत्र-वियोग में नंद यशोदा को अधीर कर दिया। यशोदा कहती हैं कि दशरथ ने पुत्र वियोग में तड़प-तड़प कर अपना जीवन समाप्त कर दिया और एक तुम हो जो पुत्र को छोड़कर मुझे संदेशा देने यहां आए हों। वे अपने पुत्र को याद करती हैं। पुत्र की याद में वे अपना शरीर घुला देती हैं। कृष्ण की प्रिय वस्तुएं अब उन्हें शूल के समान चुभती हैं। दूध, नवनीत आदि कृष्ण की प्रिय वस्तुएं यशोदा के वात्सल्य-वियोग को अत्यधिक उद्दीप्त करती हैं। वह कृष्ण की प्रिय वस्तुओं का स्मरण करती हुई कहती हैं-

'मेरे कुंवर कान्ह बिनु सब वैसे ही धरयौ रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन, को कर नेत गहै।।
सूने भवन जसोदा सुत के, गुनि-गुनि सूल सहै।'

यशोदा को पुत्र-वियोग इतना असह्यनीय हो रहा है कि वह ब्रज छोड़कर मथुरा में वसुदेव और देवकी की दासी बनकर रहने को तैयार है। प्रेम में आत्म-विस्म ति की भावना गहरी हो जाती है और मिलन की उत्सुकता का उद्रेक समस्त भावों को तिरोभूत कर देता हैं-

'हौं तौ माई मथुरा ही पै जैहौं।
दासी ह्वै वसुदेव राइ की, दरसन देखत रैहौं।।'

मात -हृदय का समूचा वात्सल्य उमड़ पड़ा, पुत्र कहीं भी हो, सकुशल रहे, यही माता की कामना होती है।

पुत्र के प्रिय खाद्य पदार्थों को देखते ही उसकी याद आ जाना स्वाभाविक ही है। माता को विश्वास नहीं होता कि उसके बिना अन्य कोई उसके पुत्र के खाने-पीने आदि की समुचित व्यवस्था कर सकता है। यह अविश्वास वात्सल्य-जनित ही है। कृष्ण राजा हो गए हैं, फिर भी यशोदा को चिंता है कि उन्हें प्रातःकाल ही कौन बिना मांगे माखन रोटी देता होगा-

'जद्यपि मन समुझावत लोग,
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।
प्रातःकाल उठि माखन रोटी को बिनु मांगे देहै।
को मेरे वा कान्ह कुंवर कौं छिनु-छिनु अंकम लैहैं।।'

(*iv*) **उद्धव का ब्रज आगमन**—उद्धव के आगमन की घटना ने यशोदा और सभी ब्रजवासियों की कृष्ण के आगमन की बची-खुची आशा-लता पर तुषारापात कर दिया। उद्धव आरंभिक औपचारिकताओं के बाद ब्रजवासियों को निर्गुण ब्रह्म, ज्ञान और योग साधना का उपदेश देने लगे। उद्धव के इस बज्र-प्रहार को झेलकर भी आशान्वित यशोदा पुनः कृष्ण के लिए संदेश भेजती हैं-

'कहियौ जसुमति की आसीस।

जहां रहौ वहां नंद लाड़िलौ, जीवौ कोटि बरीस।।'

यशोदा के कृष्ण-वियोग में उसकी निरीहता और पुत्र विषयक गाढ़ी रति उदासीनता के माध्यम से व्यक्त हुई है-

'संदेसो देवकी सों कहियो।

हौं तो धाय तिहारे सुत की, मया करत ही रहियो।

तुम तो टेव जानती ही हो तऊ मो पै कहि आवै।

प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि माखन रोटी भावैं।।'

उद्धव-आगमन प्रसंगों में वियोग-वात्सल्य वर्णन संक्षिप्त होने पर भी मर्मस्पर्शी हैं।

सूर का वात्सल्य वर्णन अत्यंत विस्त त तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षणपूर्ण हैं। उसमें सूर की मौलिकता की अमिट छाप है। यह चित्रण इतना क्रमबद्ध, सुश्ंखलित तथा पूर्ण है कि कोई भी पक्ष अछूता नहीं रह सका है। अनेक पदों में भावों की पुनराव त्ति अवश्य है किंतु वह भी नवीनता एवं प्रभावात्मकता लिए हुए हैं। सारांश में कहा जा सकता है कि सूर का वात्सल्य-वर्णन अभूतपूर्व तथा अद्वितीय है। कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन सूर ने बहुत ही मधुर तथा हृदयकारी पदों में किया है सूर बाल-मनोविज्ञान के प्रकांड पंड़ित थे। बाल-मानस की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व त्ति से भिज्ञ थे। बालक के मन में कब कौन सी भावना उठती है, उसके संवेदनशील मन पर अनुकूल घटनाओं की कैसी प्रतिक्रिया होती हैं- इन सबका सूर को सूक्ष्म तथा तलस्पर्शी ज्ञान था। कवि ने अपने वात्सल्य चित्रण में बाल एवं मात मनोव त्ति का सूक्ष्म, स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक तथा सांगोयांग चित्रण प्रस्तुत किया है कि यदि वात्सल्य-वर्णन संबंधित पद 'सूर-साहित्य' से प थक कर दिए जाएं तो महाकवि का व्यक्तित्व खंडित हो जाएगा।

अध्याय 6
सहृदयता और भावुकता

सूरदास का 'भ्रमरगीत' सरस भावुकता और सहृदयता एवं वाग्विदग्धता की द ष्टि से हिंदी-काव्य की अमूल्य निधि हैं। उनके काव्य में विनय के पद, बाल-लीला वर्णन, गोपियों के प्रेम प्रसंग और श्रीकृष्ण के मथुरा-प्रवासकाल में उनके वियोग की व्यथा को सहती हुई आंसू बहाने वाली गोपियों के कोमल हृदय की सरस अभिव्यक्ति मिलती है। विनय के पदों में भगवान का महत्व और अपनी दीनता का उल्लेख कर अपने भावुक हृदय से अनेक भाव, धाराओं का स जन किया है। वे कृष्ण की 'पद नौका की आए लगाए हुए कभी अपने को 'सब पतितन को राजा कहते हैं' और कभी कहते हैं 'सब पतितों का नायक' कभी 'एक-एक करि टरिहौं' तथा 'विरह बिनु' करने की धमकी देने लगते हैं और कभी 'जो हम भले बुरे तो तेरे' कहकर उद्धार की प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार विनय के पदों में भक्ति का सागर उमड़ पड़ा है। सूर ने पुरुष हृदय को भी गोपियों की तुलना में कठोर सिद्ध नहीं किया है। सूर-काव्य में श्रीकृष्ण एवं उद्धव दो प्रधान पुरुष पात्रों का दर्शन होता है। दोनों पात्रों का आरंभ में कठोरता का भाव मिलता है। श्रीकृष्ण कठोर प्रतीत होते है, क्योंकि वे गोपियों को विरह-सिंधु में डुबोकर स्वयं मथुरा रह रहे हैं और उद्धव इसलिए कठोर जान पड़ते हैं कि वे गोपियों की करुण दशा को आंखों से देखने के पश्चात् भी नीरस ज्ञानोपदेश देने के लिए उद्यत हैं किंतु यह सूर की अद्भुत प्रतिभा का ही चमत्कार है कि उन्होंने कठोर प्रतीत होने वाले इन दोनों पुरूषों के हृदय की समस्त कोमलता की अद्भुत कौशल के साथ अभिव्यक्ति की है। श्रीकृष्ण गोकुल लौटकर नहीं आते पर गोकुलवासियों की याद में छटपटाते हैं और 'ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं' कहकर अपने हृदय की वेदना को प्रकट कर देते हैं।

उद्धव अपने ज्ञान पर गर्व करते हुए मुस्कराकर गोकुल जाने को तैयार होते हैं। वे गोपियों के सम्मुख पहुंच अनेक नीरस उपदेश देते हैं, किंतु जब लौटकर श्रीकृष्ण से 'दिन दस घोष चलहु गोपाल' की प्रार्थना करते हैं, तब मानो कवि उनके हृदय की समस्त मानवोचित कोमलता से ओत-प्रोत कर देता है। इस कोमलता, सहृदयता एवं भावुकता का 'भ्रमरगीत' के किसी भी पात्र में अभाव नहीं मिलता। पुरुष-हृदय दूसरों की करुण दशा को देखकर द्रवित हो जाता है। नारी- हृदय स्वतः द्रवणशील तथा कोमल होता है। सूर इन दोनों वर्गों के पात्रों की भावनाओं के माध्यम से अपनी समस्त सहृदयता एवं भावुकता लेकर 'भ्रमरगीत' में अवतीर्ण हुए हैं।

पुरुष हृदय जो कठोरता के आवरण में नवनीत-सी कोमलता छिपाये रहता है को सहृदय एवं भावुक बनाने के लिए नारी हृदय की कोमलता मात्र पर्याप्त नहीं है, अपितु वाक्-चातुरी एवं वाग्वदग्ध्य के सरल आघात भी उसके लिए अपेक्षित हैं, तभी उसकी कठोरता का आवरण टूटकर विच्छिल हो सकता है। सूर की गोपियों में इन दोनों बातों का पर्याप्त विकसित रूप मिलता है। वे बहुत चतुरता एवं वाग्विदग्धता से उद्धव के कठोर उपदेशों का सरल व सरस तर्कों सहित उत्तर देती हैं और श्रीकृष्ण के लिए अनेक उपालंभ सुनाकर अद्भुत वक्रोक्तियों से उन्हें इतना छका देती हैं कि वे अपने निर्गुण ज्ञान का भारी आवरण उतार फेंकने की तैयारी करने लगते हैं। वस्तुतः सूर ने अपने समस्त 'भ्रमरगीत' को सहृदयता, भावुकता, चतुरता एवं वाग्विदग्धता की अनेक उक्तियों से युक्त कर अत्यंत सरस बना दिया है।

भाव-प्रवीण कलाकार अपनी अभिव्यक्ति अनूठे ढ़ंग से करता है, उसके कथन में चमत्कार और वैचित्र्य स्वभावतः आ ही जाता है। सूर के 'भ्रमरगीत' में जो चातुर्य, सहृदयता एवं भावुकता तथा वाग्वैदग्ध्यता पाई जाती है, वह उक्ति चमत्कार ही अतिशयता से प्रसूत नहीं हैं, अपितु उसमें भावातिरेक का स्पष्ट दर्शन है। जिस प्रकार किसी बाह्य कारण से सरोवर का जल हिल उठता है और उसमें उठने वाली वक्र तरंगें विभिन्न रूपों में स्पंदित होती हुई तट पर अपना रूप-सौंदर्य बिखेर देती है, उसी प्रकार सूर के हृदय में भी गोपियों की विरह-व्यथा को छेड़ने वाले उद्धव के कारण उठती हुई भाव-लहरियों की सरस वक्रोक्तियों के रूप में अभिव्यक्ति होती है। उन्होंने अपनी वाणी को जब गोपियों की विरह-व्यथा का रूप देकर भक्ति एवं प्रेम की रक्षा के लिए उद्धव के ज्ञान तथा योग को ललकारा है। बाल-लीलाओं तथा प्रेम-प्रसंग एवं क्रीड़ाओं के लिए सूर के पास आश्रय रूप में पर्याप्त घटनाएं थी; उनकी समस्त सहृदयता एवं भावुकता, चतुरता एवं वाग्विदग्धता का सहारा लेकर स्वतः अभिव्यक्त हो उठी हैं। विप्रलंभ में इन घटनाओं का प्रायः अभाव है। इसलिए अनेक विदग्धतापूर्ण अभिव्यक्ति प्रकारों का सहारा सूर को लेना पड़ा है। सूर का भ्रमरगीत वाग्वैदग्धता का भंडार है।

सहृदयता और भावुकता

भ्रमरगीत प्रसंग में सूर ने विप्रलंभ श्रंगार की सूक्ष्मता और गहराई को अनेक स्तरों पर काव्यमय बनाकर प्रकट किया है। भ्रमरगीत में प्राप्त भावुकता और सहृदयता गोपियों के विरह का प्राण है। सहृदयता के लिए सूर ने भावुकता और स जनात्मक कल्पना का सहारा लिया हैं। सूर ने स्वरूप निरूपण में सौंदर्य और साहचर्य को भी स्थान दिया है। प्रेम विषयक अनेक भावुक प्रसंगों और आह्नाद लीलाओं का चित्र सूर ने किया है। सूरसागर में चित्रित संयोग श्रंगार में भी भावुकता की प्रचुरता है। भ्रमरगीत वियोग प्रधान होने के कारण भावुकता से संपन्न है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, 'सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं हैं, प्रेम-संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करने पर दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई देता है।'

(1) **सूर की सहृदयता**—वल्लभ-संप्रदाय में वात्सल्यासक्ति और दांपत्यशक्ति को अत्यंत महत्त्व दिया गया है। नंद, यशोदा और राधा के साथ अपने हृदय का तादात्मय स्थापित कर सूर प्रेमभक्त रहते भला उनके हृदय के भावों को वे कैसे न निकाल लाते ? सूर ने वात्सल्य और दांपत्य-दोनों प्रकार की रतियों का अति मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, जिसमें संयोग और वियोग-दोनों पक्षों के अनेक हृदयगाही चित्र हैं। नंद के ग ह में खेलते, नाचते, डोलते कृष्ण का रूप द्रष्टव्य है-

'बलि गह बाल-रूप मुरारि।
पाइ पैंजनि रटति रुन-झुन, नचावति नंद-नारि।
कबहुं हरि कौं लाइ अंगूरी, चलन सिखवति ग्वारि।
कबहुं हृदय लगाइ हित करि, लेत अंचल उारि।
कबहुं हरि कौं चितै चूमति, कबहुं गावति गारि।
कबहुं ले पाछे दुरावति, ह्यां नहीं बनवारि।
कबहुं अंग भूषन बनावति, राइ-लोन उतारि।
सूर सुर-नर सबै मोहे, निरखि यह आनुहारि।।'

वात्सल्य रस के समस्त तत्वों के दर्शन इस पद में हो जाते हैं। कृष्ण आलंबन हैं; यशोदा, आश्रय, कृष्ण की अनुपम छवि, रुनक-झुनक पैजानियां बजाते हुए चलना, नाचना आदि उद्दीपन हैं। यशोदा का हरि को देखना, चूमना, आंचल में छुपाना, पीछे की ओर दुराना आदि अनुभाव है, और हर्ष संचारी भाव। सूर ने वात्सल्य रस की मार्मिक अभिव्यक्ति कर हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है।

बालक कृष्ण मणिमय आंगन में अपने प्रतिबिंब को पकड़ने की कोशिश में हैं। कभी वह अपनी छाया को पकड़ना चाहते हैं और कभी-कभी किलक-किलक कर अपनी दंतुलियों का सौंदर्य दिखाते हैं। यशोदा पुत्र की क्रीड़ाओं को देखकर फूली नहीं समाती। वह बार-बार नंद को इस सुख में शामिल होने के लिए बुलाती हैं। नारी को मात त्व-भावना अकेले ही वात्सल्य का अनुभव कर संतुष्ट नहीं होती, उसकी पूर्ण संतुष्टि-वात्सल्य का पूर्ण आस्वादन-यहां भी पति का योग चाहती है। मात त्व के साथ दांपत्य की संयोग-कामना नारी हृदय का गूढ़ रहस्य है, जिसका उद्‌घाटन सूक्ष्म निरीक्षण करने वाले सुकवि ही कर सकते हैं। क्षणिक हवाइयां छोड़ने वाले कविम्मन्यों के बस की बात कहां-

'किलकत कान्ह, घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आंगन बिंब पकरिषैं धावत।
कबहुं निरखि हरि आपु छांह कौं कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हंसत राजत द्वै दंतियां, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।
× × × × ×
अंचरा तर लैं ढांकि सूर के प्रभु कौं दूध पियावति।।'

सांसारिक अनुभवों से दूर रहते हुए भी सूर ने सांसारिक संबंधों का अप्रतिम वर्णन किया है। पुरूष होकर भी वे माता के हृदय से विभूषित थे और अंधे होते हुए भी सूक्ष्मदर्शी और दूरद्रष्टा थे। सूर ने मां के हृदय की कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति कर पदों में सुंदर स्फुरण किया है।

बाल विकास के प्रति मां के हृदय में अदम्य उत्सुकता रहती हैं। उसकी समस्त क्रियाएं और भावनाएं उसी में केन्द्रित हो जाती हैं। वह उस दिन को देखने को लालायित रहती हैं, जब उसका लाल घुटनों पर चलकर उसके पास आयेगा, प्रथम बार तोतली वाणी से निकले हुए 'माँ' शब्द के माधुर्य पर वह संसार की समस्त विभूतियों को न्यौछावर कर सकती है। त्याग की यह भावना मात त्व की देन है, इन्हीं भावनाओं की सुंदर अभिव्यक्ति सूर ने की है। मां का भीरु हृदय पुत्र की अनिष्ट की आशंका से विचलित हो उठता है, तभी वह अपने पुत्र की भौंह पर दिठौना लगा देती है। इस भाव को दर्शाने के लिए सूर का पद द्रष्टव्य हैं-

'लालन, वारी या मुख ऊपर।
माई मोरिहि दीठि न लागै तातैं मसि-बिंदास दियो भूपर।
सरबस मैं पहिले की वारयौ, नान्हीं नान्हीं दंतुली दूर पर।
अब कहा करौं निछावरि सूरज, सोचति अपने लालन जू पर।।'

बच्चे के नामकरण और अन्नप्रशान आदि संस्कारों के अवसर पर माता का हृदय फूला नहीं समाता। कर्मछेदन में उसके हृदय में मोद के साथ धुक-पुक भी होती रहती है कि उनके लाल को कान छिदाने में कष्ट होगा। कान छेदे गए। सूर ने उस समय की दशा का सहृदयता के साथ चित्रण किया है-

'लोचन दोऊ भरि-भरि माता कनछेदन देखत जिय मुरकी।'

सूर ने शंकालु मां के हृदय को अति रम्य चित्रण किया है वह कहते हैं कि घर से निकलते ही उसके लाल पर न जाने क्या विपत्ति आ जाए इस शंका से ग्रस्त मां का हृदय व्याकुल रहता है। छोटा सा बालक खेलने के लिए दूर चला जाय, तो न जाने कहां बहक जाय ? पर बच्चे तो बच्चे ही हैं। उनकी जिद का क्या कहना ? मजबूर होकर माता को साम छोड़कर दाम नीति का आश्रय लेना ही पड़ता है-

'खेलन दूर जात कत कान्हा।
आजु सुन्यौ मैं हाऊ आयौ, तुम नहिं जानत नान्हा।
इक लरिका अबहीं भजिआयौ, रोवत देख्यौ ताहि।
कान तोरि वह लेत सबनि के लरिका जानत जाहि।।'

यशोदा नंदन कृष्ण को बाल्यावस्था में माखन-चोरी की आदत पड़ जाती है, नित्य घर-घर कमोरी साफ करने लगते हैं; अकेले ही नहीं साथ में मित्रों का गिरोह भी बना लिया खाते कम थे, पर बिखेरते अधिक थे। अंततः गोपियों को यशोदा से शिकायत करनी पड़ी, पर क्या यशोदा का मात -हृदय कृष्ण के विरुद्ध उस अभियोग को सहज स्वीकारता। सूर ने माता की सहृदयता का परिचय करवाया है-

'मेरौ गोपाल तनक सौ, कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावति आवति ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी।
कब सींकै चढ़ि माखन खायौ, कब दधि-मटुकी फोरी।
अंगुरी करि कबहुं नहिं चाखत, घर ही भरी कमोरी।'

कृष्ण का उत्साह और भी बढ़ जाता है, वे पक्के चोर बन गए। माखन चुराने के साथ उन्हें रस की प्राप्ति होती है। अपने लाल के अनिष्ट-विषय में किसी के द्वारा कुछ शब्दों के प्रयोग की आशंका मात्र माता के हृदय को कंपा देने के लिए पर्याप्त है। सूर ने आशंकाग्रस्त मात -हृदय की अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है-

'करि मनुहर कोसबे के डर भरि-भरि देति जसोदा मात।'

कृष्ण बड़े भाई द्वारा चिढ़ाये जाने पर बच्चों के हृदय में जो आत्म-गौरव की भावना जाग्रत होती है, वह उन्हें शिकायत करने के लिए उत्तेजित करती है। बच्चे अपने सुख-दुःख की बात सबसे अधिक अपनी माता से ही कहना चाहते हैं, क्योंकि उनके लिए वही सबसे अधिक निश्छल स्नेह रखती है। यही कारण है कि खेल ही खेल में बलराम ने कृष्ण को मोल लिया हुआ बताया, तो कृष्ण ने घर आकर मैया से शिकायत की-

'मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ।
गोरे नंद जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत, हंसत सबै मुसकात।।'

ऐसे बच्चों के साथ न खेलना, और उनसे दूर रहने की चेष्टा करना, बाल-हृदय का स्वभाव है। बालक-हृदय स्नेह का भूखा होता है, वह उनके साथ क्यों खेले, जिनसे उसे खीझ और झुंझलाहट के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता है।

भ्रमरगीत प्रसंग सहृदयता का व्यापक रूप से चित्रण हुआ है। उद्धव की योगचर्या सुनकर गोपियां उनकी बातों का तर्कों से उत्तर नही देती, वे अपना हृदय ही खोल कर रख देती हैं-

'प्रान हमारे परम मनोहर कमल नयन सुखरासी।
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम-भजन तजि करत उदासी।।'

उनकी आंखें प्रतिक्षण हरि दर्शन की भूखी रहती हैं। दिन-रात उनके नेत्रों से उनके बिना अश्रु-वर्षा होती रहती है। कृष्ण उनके लिए 'हारिल की लकरी' के समान हैं। उद्धव के वचन यद्यपि उन्हें अत्यंत कटु प्रतीत होते हैं, किंतु तब भी वे नम्रता का ही व्यवहार करती हैं। वे कहती है कि हे ऊधौ! हम तो आपका जोग भी मान लेती हैं, पर विवशता तो यह है कि जोग मन से ही किया जायेगा और मन हमारे पास रहा नहीं, वह चला गया कृष्ण के साथ। फिर दस-बीस मन होने पर एक मन से जोग की साधना भी कर लेतीं। लेकिन मन एक ही है-

'ऊधौ मन नाहिं दस बीस।

एक हुतौ सो गयौ स्याम संग को अवराधै ईस।'

सूर की सहृदयता का परिचय भ्रमरगीत प्रसंग में विरहावस्था और तरलता के प्रस्तुतीकरण मिल जाता है। प्रिय की पाती प्राप्त करके गोपियों की जो दशा हुई, वह सूर जैसे सहृदय कवि की लेखनी से ही चित्रित हो सकती है-

'निरखति अंक स्याम सुंदर के, बार-बार लावतिं लै छाती।

लोचन जल कागद मसि मिलि कै, ह्वै गई स्याम स्याम जू की पाती।।'

संयोग कालीन कोई वस्तु वियोग में अच्छी नहीं लगती। यह चंद्रमा विरहिनियों को अधिक जलाता है। हरा-भरा मधुबन भी नहीं सुहाता-

'मधुबन तुम क्यों रहत हरे।

बिरह बियोग स्याम सुंदर के, ठाढ़े क्यों न जरे।

गोपियों की शिकायत में उनका हृदय बोलता है कि जड़ बादल तक अपनी अवधि जानकर बरसने आ गए, किंतु प्रिय तुम नहीं आए।

उद्धव गोपी संवाद के प्रायः सभी पद सहृदयता से ओत-प्रोत हैं कोयल के वन में कूहू-कूहू करने से प्रिय की लालसा बढ़ जाती है। वे उद्धव से कहती हैं-

'ऊधौ कोकिल कूजत कानन।

तुम हमकौं उपदेश करत हौ, भस्म लगावन आनन।।'

सहृदयता की इतनी सहज अभिव्यक्ति सूर की विचित्र प्रतिभा के फलस्वरूप है। उनकी गोपियां एक ओर उद्धव को चतुरता एवं वाग्विदग्धतापूर्ण उपालंभ सुनाती हैं और दूसरी ओर अपनी भावुकता की बाढ़ को भी नहीं रोक पातीं। उनकी वेदना हृदय की सीमाओं की बाढ़ को भी नहीं रोक पातीं। उनकी वेदना हृदय की सीमाओं को तोड़कर अत्यंत सहज भाव से रात्रि की तड़पन उद्धव को सुनाए बिना नहीं रहती-

'मधुकर! प्रीति किए पछितानी।

हम जानी ऐसैहि निबहैगी, उन कछु औरे ठानी।

वा मोहन कौं कौन पतीजै, बोलत मधुरी बानी।

हमकौं लिखि लिखि जोग पठावत, आपु करत रजधानी।

सूनी सेज सुहाइ न हरि बिनु, जागत रैनि बिहानी।

× × × × ×

'सूरदास' प्रभु मिलि के बिछुरे, तातैं भईं दिवानी।।'

सूर की गोपियों की सहृदयता मिश्रित चतुरता तथा वाग्विदग्धता अपने अंदर वह शक्ति रखती है, जिसके कारण अंत में कृष्ण को भी कहना पड़ता है कि-

'ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।

हंस सुता की सुंदर कगरी, अरु कुंजन की छाहीं।

वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।

ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल, नाचत गहि-गहि बाहीं।

यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं।

जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं।।'

इस उद्धव से स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमरगीत में विप्रलंभ श्रंगार की प्रवाहित सरिता उत्स सहृदयता और भावुकता ही है। गोपियों के मुख से निस त एक-एक क्षण इसके प्रमाण हैं।

सूर की भावुकता—सूर की भावुकता वियोग के क्षेत्र में अधिक मुखर हुई है। वियोग की वेदना ही काव्य की आत्मा है। वियोग की स्थिति में कवि के हृदय से निकलने वाले उद्‌गारों में सच्चाई होती है। भ्रमरगीत की स ष्टि गोपियों एवं राधा के विरह-चित्रण के लिए ही हुई है, साथ ही निर्गुण की खंडता और सगुण की मंडना हुई है।

कंस के आमंत्रण पर ब्रज से मथुरा जाने पर कृष्ण उसे मार कर वहीं रहने को विवश हो जाते हैं और ब्रज वापस नहीं आए। वे राज-काज में ऐसे उलझे कि गोपियों की विरह-व्यथा और प्रेम की अनुभूति को समझते हुए भी ब्रज न आ सके। सूर ने कृष्ण की भावुकता का अत्यंत मार्मिकता के साथ वर्णन किया है, कृष्ण गोकुलवासियों का स्मरण करते हैं

'सुनहुं उपंग-सुत मोहि न बिसरत ब्रजवासी सुखदाई

× × × × ×

यह चित होत जाउं में अब ही, यहां नहीं मन लागत।।'

किंतु उनकी इस भावुकता में सहृदयता एवं वाक्-चातुरी का सुंदर समन्वय हुआ है-

'कहियो नंद कठोर भए।
हम दोउ बीरै परधर मानौ सौंपि गए।
तनक-तनक तै पालि बड़े किए बहुतैं सुख दिखराए।
गोचारण को चलत हमारे पीछे कोसक धाए।।'

श्रीकृष्ण अत्यंत भावविभोर हो ब्रजवासियों के साथ अपने माता-पिता का भी स्मरण कर रहे हैं, किंतु साथ ही वे अपनी ब्रज न आने की भूल भी छिपाना चाहते हैं। बड़ी चतुरता एवं वाग्वैदग्ध्यपूर्ण युक्तियों से वे नंद को ही दोषी ठहराते हुए कहते हैं कि नंद ने हम दोनों भाइयों को शैशवास्था से पालकर बड़ा ही नहीं किया अपितु गाय चराने के लिए हमें अकेला नहीं जाने देते थे-कोसों तक हमारे पीछे दौड़े चले आते थे, वहीं इतने कठोर हो गए है कि हमें मथुरा छोड़कर हमारी याद भुला बैठे हैं। कृष्ण ने भावुकता के साथ अद्‌भुत वाक्-चातुरी का परिचय दिया है। गोपियों में सर्वाधिक भावुकता है।

सूर ने बाल भाव का अत्यंत सुंदर और स्वाभाविक वर्णन किया है। बच्चों की मनोव त्तियों, व्यापारों और चेष्टाओं का साकार और सजीव चित्रण सूरसागर में मिलता है। सूर की अंतर्‌ष्टि मानव-मान की तह में गोता लगाकर भावरत्न लाने में बेजोड़ हैं। बालकों की दैनिक चर्या के सूक्ष्म भेद, छोटे से छोटे व्यापार, और गूढ़ से गूढ़ अनुभूति को चित्रित करना कवि नहीं भूलता। एक के बाद दूसरा चित्र इतनी सफाई से सूर ने आंका है कि उसकी चित्रपाटी को सौंदर्य देखते ही बनता है। माखन खाते समय कृष्ण का धूलधूसरित स्वरूप द्रष्टव्य है।

'सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।'

यह कृष्ण का स्वाभाविक रूप है, जो उन्होंने स्वयं अपनी हरकतों से बनाया है।

कभी-कभी बच्चों में खेल-खेल में ही एक दूसरे को डराने के भाव आ जाते हैं परिणामतः ऐसी घटनाएं घट जाती है जिनके कारण कृष्ण को शिकायत भी करनी पड़ जाती है-

'मैया बहुत बुरौ बलदाऊ।
कहन लग्यौ बन बड़ौ तमासौ, सब मौड़ा मिलि आऊ।
मोहूं कौ चुचकारि गयो लै, जहां सघन बन झाऊ।
भागि चलौ कहि गयो उआं तै, काटि खाइ रे हाऊ।।'

कृष्ण अपने ज्ञानी-योगी सखा उद्धव को गोपियों को समझाने भेजते हैं। उद्धव ने स्वयं गोपियों की दयनीय विरह-दशा को देखा। कृष्ण की निष्ठुरता के लिए उपालंभों में विरह का सुंदर और विशद् चित्र प्राप्त होता हैं। डॉ० मुंशीराम शर्मा का कथन द्रष्टव्य है-

'सूर के हृदय की धड़कन और तड़पन विप्रलंभ के वर्णन में ऐसी प्रकट हुई हैं, मानो समस्त हृदय योग दे रहा है।'

भ्रमरगीत में उत्कृष्ट रसात्मकता है, जिसमें विरह व्यथित हृदय के गहन-से-गहन कोने तक का चित्रण है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में- 'उस विरह का कोई कूल किनारा नहीं, कोई हदो हिसाब नहीं।' ग्वाल-बाल भी कृष्ण के बिना ऐसे ही मूक, उदास, जड़, बेहाल हो रहे है। माता यशोदा अत्यंत दीन-हीन बनकर भावुकतापूर्ण संदेशा भेजती हैं-

'संदेसौ देवकी सौं कहियौ।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ।
जदपि टेव तुम जानतिं उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतैं, माखन रोटी भावै।
तेल उबटनौ अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ मांगत सोइ सोइ देती, क्रम क्रम करि कै न्हाते।
सूर पथिक सुनि मोहिं रैनि दिन, बढ़यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतो मोहन, ह्वै है करत संकोच।।'

गोपियों का विरह वर्णन सूर ने विशदता और सहृदयता के साथ किया है। मदन गोपाल के बिना संध्या, प्रभात, चांदनी, वनस्पतियां आदि प्रकृति के सुंदर द श्य भी मनहूस और उदास दिखाई देते हैं। संध्या होते ही उन्हें प्रिय की याद आती है-

'एहि बिरियां बनतें आवते।
दूरहि ते वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते।।'

गोपियां इतनी भावुक हो जाती हैं कि संयोग काल में सुख और आनंद देने वाली वस्तुओं को देख-देखकर प्रिय की स्म तियों में खो जाती हैं। उनका वियोग अत्यधिक करुण हो आता है उन्हें अब वे आनंद देने वाली वस्तुएं, प्राकृतिक उपकरण असह्य हो जाते हैं जिनसे उनकी भावुकता बढ़ जाती है-

'बिनु गुपाल बैरनि भईं कुंजैं।
तब वै लता लागति तन सीतल, अब भईं बिषम ज्वाल की पुंजैं।।
व था बहति जमुना, खग बोलत, व था कमल फूलनि अलि गुंजैं।
पवन, पान, घनसार, सजीवन, दधिसुत किरनि भानु भईं भुंजै।।
यह ऊधौ कहियौ माधौं सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग जोवत अंखियां भईं छुंजैं।।'

प्रिय ही नहीं, प्रिय का वर्ण साम्य तथा प्रिय से संबंधित वस्तुएं भी उन्हें प्रिय से मिलने का आनंद देती हैं। वे भाव-विभोर हो जाती हैं। तभी स्याम अंकों में लिखी स्याम की पाती को वे बार-बार छाती से लगाती हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने गोपियों की भावुकता के संबंध में लिखा हैं -

'यहां भावधिपति सूर ने भाव को और आधिक्य व्यंजित करने के लिए शब्द-साम्य की सहायता ऐसे कौशल से ली है कि एक बार शब्दों का साधारण अर्थ लेने से जिस भाव की अधिकता

सूचित हुई, आगे उनका श्लिष्ट अर्थ लेने से उसी भाव की और अधिकता व्यंजित हुई है। इससे जो लाघव हुआ है, मजमून में जो चुस्ती आयी है-यह तो है ही, साथ ही प्रेम की अंतमूर्त एक मानसिक दशा में चित्र का रंग चटकीला हो गया है।'

गोपियां बड़े ही कौशल के साथ कुब्जा को माध्यम बनाकर वाग्विदग्धता एवं चतुरता का परिचय देती हुई कहती हैं-

'बरु वै कुब्जा भलो कियो।
सुनि-सुनि समाचार ऊधौ मो कछुक सिरात हियो।।
जाको गुन, गति, नाम, रूप हरि हरियो, फिरि न दियो।
तिन अपनो मन रहत न जान्यो हंसि-हंसि लोग जियो।।
सूर तनिक चंदन चढ़ाय तन ब्रजपति बस्य कियो।
और सकल नागरि नारिन कौ दासी दांव लियो।।'

यह सुनकर गोपियों को अच्छा लगा कि कृष्ण को कुब्जा ने वश में कर लिया है, उन्हें संतोष हो रहा है। कृष्ण अत्यंत चतुर बनते थे वे हमें धोखा दे गए, किंतु वे धोखा देने का अच्छा फल भी पा गए। कुब्जा ने उनके मन को चुरा लिया है। सूर की गोपियों में इतनी समझ है कि उन्होंने चतुरतापूर्ण ढंग से अपनी भावुकता का परिचय दे दिया है।

भ्रमरगीत में गोपियों का कृष्ण-विरह अत्यंत विशद् और गंभीर है। विरह का प्रसार जड़-चेतन सभी तक है। शुक्ल जी लिखते हैं, 'सूर के निवरह में व्यापकता है। विरह-स्थल जिस प्रकार घर की चारदीवारी के भीतर तक ही न रहकर यमुना के हरे-भरे कछारों, करील के कुंजों और वनस्पतियों तक फैला है, उसी प्रकार गोपियों का विरह-वर्णन भी सर्वत्र व्याप्त हैं यथा-

'देखियति कालिंदी अति कारी।
अहौ पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई बिरह जुर जारी।।
गिरिप्रजंक तैं गिरति धरनि धंसि, तरंग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जलपूर प्रस्वेद पनारी।।
× × × × ×
'सूरदास' प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।।'

गोपियां अपनी प्रिय को वन-वन ढूंढती हैं, कहीं न पाकर निराश हो जाती हैं।' ऋतुओं का आना जाना लगा रहता है। प्रकृति पर उनका रंग वैसा चढ़ता-उतरता दिखाई देता है। भिन्न ऋतुओं की वस्तुएं देखकर गोपियों के हृदय में मिलने के भाव उत्पन्न होते हैं, वैसे ही भाव कृष्ण के हृदय में क्यों नहीं उत्पन्न होते ? जान पड़ता है, ये गोपियां उस तरफ जाती ही नहीं, जिधर कृष्ण की निवास स्थली है। सारी की सारी गोपियां व ंदावन में ही आ आकर अपना अड्डा जमाती हैं।' कृष्ण के वियोग में एक ओर बादल बरसते हैं, एक ओर गोपियों के नयन-अश्रु बरसते हैं, सूर ने दोनों की समानता का वर्णन विरह की चरमावस्था की अनुभूति कराने के लिए किया है-

'निसि दिन बरषत नैन हमारे।
सदा रहति बरषा रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे।।
द ग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भाए कारे।
कंचुकिपट सूखत नहिं कबहूं, उस बिच बहत पनारे।।
आंसू सलिल सबै भइ काया, पल न जात रिस टारे।
'सूरदास' प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहैं बिसारे।।'

सूरदास कहते हैं कि गोपियों के नयनों की अश्रु-जलधारा ने बादलों को भी परास्त कर दिया है, उनके सामने की घन भी अपमानित महसूस कर रहे हैं। इसी भाव को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है-

'सखि इन नैननि तैं घन हारे।
बिनहीं रितु बरषत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे।।'

व्यंग्योक्ति करते हुए गोपियां कृष्ण और उद्धव पर एक साथ आक्रमण करते हुए कुब्जा प्रसंग छेड़ देती हैं। वह उद्धव से कहती हैं कि तुम सीधी बात क्यों नहीं कहते कि कृष्ण कुब्जा के मोह-पाश में उलझकर गोकुल आने में असमर्थ हो गए हैं। निर्गुण ब्रह्म की आराधना का पाठ पढ़ाकर हमें क्यों भुलावे में रखना चाहते हों ? तुम हमें यहां योग की शिक्षा देने के लिए आए हो और वहां श्रीकृष्ण को कुब्जा के दर्शन-स्पर्श के लिए छोड़ आए हो। गोपियों ने भावपक्ष में अपूर्व वाक्चातुरी के साथ भावुकता का परिचय दिया है-

'आयो घोष बड़ौ ब्यौपारी।
खेप लादि गुरु ज्ञान जोग की, ब्रज मैं आनि उतारी।।
फाटक दै के हाटक मांगत, भोरौ निपट सुधारी।
धुरही तैं खोटौ खायौ है, लिए फिरत सिर भारी।।
इनकै कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अनारी।
अपनौ दूध छांड़ि को पीवै, खार कूप कौ बारी।।'

गोपियों की कृष्ण-विषयक रति की द ढ़ता उनके चतुरता भरे ज्ञान और योग के विरोध में स्पष्ट झलक रही है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है भ्रमरगीत में विरह का अथाह समुद्र लहराता है। गोपियां अपने प्रेम के कोमल पक्ष का ही उद्घाटन करती हैं। गंभीरता तथा प्रेमजन्य वेदना का वर्चस्व है। महाकवि सूर की विशेषता यही रही है कि इस अगाध विरह की अनुभूति, उन्होंने व्यंग्य-विनोद और उपालंभ के मधुर वातावरण में कराई हैं। आंसू और मुस्कान का संयोग सूर जैसे भावुक और सहृदय कवि ही करा सकते हैं। इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य हैं-

'यहां गोपियों के विरह-वचनों में यह सौंदर्य आ गया है मानो कोई शिशु रोता-रोता मुस्करा दें, किंतु फिर उसे अपनी वेदना का ध्यान आ जाए और फिर वह पुनः रोने लगे। वचन की भाव-प्रेरित वक्रता द्वारा प्रेम-प्रसूत न जाने कितनी अंतर्वत्तियों का मनोहर उद्घाटन है।'

उद्धव ज्ञानोपदेश देते हैं, गोपियां खीझ उठती हैं और उद्धव को अपनी व्यंग्यों से आहत करने लगती हैं। इस व्यंग्य में जहां एक ओर वक्रता है दूसरी ओर सहृदयता तथा भावुकता से पुष्ट विरह-भाव भी दिखाई देता है। प्रिय को न पा सकने की स्थिति में वे चरम निराशा के क्षणों में भी प्रिय के लिए मंगल कामना करती हैं। वे कृष्ण को निष्ठुर तथा छलिया मानती हैं, फिर भी इतनी सहृदय है कि बार-बार कामना करती हैं-

'जहं जहं रहौ, राज करौ, तहं तहं कोटि सिर भार।
यह असीम हम देति सूर सुनु, न्हाति खसै जनि बार।।'

सूर मन के सूक्ष्म भावों की वक्रता और विदग्धता की पूर्ण अभिव्यंजना में अपनी समता नहीं रखते। भाव-जगत के मर्मज्ञ सूर की कला कुशलता जितनी ही सहृदय है, भावुकता उतनी अनूठी है।

अध्याय 7
गीति-तत्व

'गीत' का अर्थ गाने से होता है, जिसके आधार पर गीत प्रमुख रूप से लोकगीत एवं साहित्यिक गीत दो प्रकार के होते हैं। गेयता गीत का प्रमुख तत्व है जिसे संगीतात्मकता की संज्ञा दी गयी है। संगीतात्मकता के आधार पर भावप्रधान प्रभावोत्पादक कोमलकांत पदावली युक्त वह संक्षिप्त रचना गीत कहलाती है, जो स्वर, लय तथा ताल युक्त होकर वाद्य यंत्रों के संयोग से सुगमता से गाया जा सकता है।

गीत में भावों का सहज एवं प्रवाहमान स्वरूप उपस्थित होता है। सफल गीतिकाव्य की द ष्टि से निम्न चार तत्त्व परमावश्यक हैं- (1) आत्मप्रकाशन, (2) भावों की गहनता, (3) संक्षिप्ति तथा (4) संगीतात्मकता। सूर ने वस्तुतः गीतिकाव्य की जिस पद्धति का अनुसरण किया है वह जयदेव और विद्यापति की गीति-पद्धति के सर्वाधिक निकट दिखाई देती है अथवा उसके साथ मेल खाती है।

सूर की रचनाओं में 'सूरसागर' गीति तत्त्व का प्रतिनिधि ग्रंथ है। इसमें भक्ति, वात्सल्य और श ंगार की त्रिवेणी मनमौजी ढंग से खुलकर कल्लौल कर रही है।

सगुण भक्ति धारा के कवियों ने गीति-काव्य की परंपरा को अपनाया है। सूर ने गीत परंपरा को अत्यधिक गौरवान्वित किया है इसमें उनका विशिष्ट स्थान है।

सूर में माधुर्य, प्रसाद ओज तीनों गुणों का समावेश मिलता है। इस संबंध में डॉ० मुंशीराम शर्मा का कथन द्रष्टव्य है-

"सूर की रचना यद्यपि प्रधान रूप से प्रसाद गुण संपन्न एवं माधुर्य भाव मंडित है तथा उसमें ओज की पर्याप्त मात्रा विद्यमान है। सूर ने अनेक स्थानों पर श ंगार के अंतर्गत वीर रस का वर्णन किया है।"

उनका गीति-साहित्य सभी द ष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। उनके काव्य में गीति-तत्त्व की सभी विशेषताएं पाई जाती हैं। अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी पद-साहित्य की रचना की है, किंतु उनमें से कोई भी सूर के समान तेजस्वी नहीं निकला। इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य हैं-

"उन आठ वीणाओं में सबसे ऊंचा स्वर सूर की वीणा का ही था।"

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हिंदी में गीतिकाव्य-परंपरा के क्षेत्र में सूर का अद्वितीय स्थान है। सूर के पदों में जिस स्वानुभूति, संगीत, कला और सहृदयता के दर्शन होते हैं वह अन्य कवियों के गीति-काव्य में दुर्लभ हैं।

(1) **आत्मप्रकाशन**—सूर की आत्मग्लानि का भाव उनके पदों में व्यक्त हुआ है। उनको इसी बात का क्लेष है कि वे अपने आप को सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त नहीं कर सके। उन्हें यह ज्ञात है कि जब तक उनका मन संसार के विषय-भोगों में लिप्त रहता है, तब तक प्रभु की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस द ष्टि से सूर के पद द्रष्टव्य हैं-

'ऐसै करत अनेक जन्म गए, मन संतोष न पायौ।
दिन-दिन अधिक दुरासा लाग्यो, सकल लोक भ्रमि आयौ।
सुनि सुनि स्वर्ग, रसातल, भूतल तहां-तहां उठि धायौ।
काम क्रोध मद लोभ अगिनि तै कहूं न जरत बुझायौ।
सुत तनया बनिता विनोद रस इहिं जुर जरनि जरायौ।
मैं अग्यान अकुलाई, अधिक लै जरत मांझ घ तनायौ।
भ्रमि भ्रमि अब हारयौ हित अपन, देखि अनल जग छायौ।
सूरदास प्रभु तुम्हारी कृपा बिनु, कैसे जात नझायौ।।'

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूर के पदों में प्रेम-तत्त्व की बहुलता है। सूर के पदों में वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग का स्वरूप प्राप्त होता है। इसी कारण सूर के पदों में जो सख्य-भाव और गोपी-भाव मिलता है वह अन्य किसी में नहीं मिलती। सूर अपने उपास्य भगवान श्रीकृष्ण के शील और मर्यादा की कहीं-कहीं उपेक्षा भी किए हैं। इस संबंध में सूर की गोपियों का कथन दर्शनीय है। उनकी गोपियां श्रीकृष्ण के प्रति कहती हैं-

'काहे को गोपीनाथ कहावत ?
जों पै मधुकर कहत हमारे गोकुल काहे न आवत ?
सपने की पहिचानि जानि कै हमहिं कलंक लगावत।
जो पै श्याम कूबरी रीझै सो किन नाम धरावत।
ज्यों गजराज काज के औसर औरै दसन दिखावत ?

सूर को संसार से उपेक्षा, परिवार से तिरस्कार और अपने आप से खिन्नता के कारण ईश्वर की भक्ति ही एकमात्र शरण के रूप में दिखाई दी, जो किसी अपंग, असहाय, निर्धन, निष्कासित, उपेक्षित, दीनहीन के लिए सुलभ है। अपनी अंतरात्मा से सूर ने अपने प्रभु को भाव सुमन अर्पित किए हैं। कंठों से निकलने वाला करुण संगीत, हाथ में इकतारा और करताल नेत्रों में असहायता के आंसू और अनन्य शरण पर अगाध विश्वास ने सूर को प्रतिदिन लोक में भक्तिमार्ग के यात्रियों में विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। वे अंतरतम की गहराई से प्रभु के समक्ष आत्मनिवेदन करते हैं।

सूर भगवान् की भक्ति करते हुए अपने आप आत्म-निरीक्षण करना उनकी भक्ति की अपनी विशेषता है। इनका विश्वास है कि अपने पतित जीवन को उघाड़कर प्रभु के सामने रख देने से प्रभु की उन पर अवश्य कृपा होगी। वे अपने दोष देखते हैं और अपनी बुराइयों व पापों के लिए भी लज्जित होते हैं-

"मो सम कौन कुटिल खल कामी
भरि भरि उदर विषय रस चाख्यौ
जैसे सूकर ग्रामी।"

यह दैन्य की मार्मिक अभिव्यक्ति है। सूर ऐसा अनुभव करते हैं कि वे स्वयं भ्रम में हैं। उन्हें अपनी आत्मा का सच्चा ज्ञान नहीं हैं। इसी कारण संसार में उन्हें दुःख उठाने पड़ रहे हैं-

"अनुनपौ अपुन ही बिसर्‌यो
जैसे स्वान कांच-मंदिर में भ्रमि-भ्रमि भूंक मर्‌यो।"

(2) **भावों की गहनता**—सूर ब्रह्म के साकार रूप के उपासक हैं। सूर ने श्रीकृष्ण की उपासना की है। सूर के ऐसे अनेक पद हैं जिनमें श्रीकृष्ण और श्रीराम का अभेदत्व प्रतिष्ठित किया

है। सूर ने मूलतः श्रीकृष्ण भक्त होते हुए भी श्रीराम की भक्तवत्सलता विषयक अनेक प्रसंगों का वर्णन किया है। इस द ष्टि से सूर का पद द्रष्टव्य है-

'गोविन्द प्रीति सबन की मानत।
जिह-जिह भाइ करत जन सेवा अंत की गति जानत।
सबरी कटुकबेर तजि मीठे चाखि गोर भरि ल्याइ।
जूठन की कछु संक न मानी, भच्छ किये सतभाई।
संतत भक्त-मीत हितकारी स्याम विदुर कै आये।
प्रेम विकल अति आनंद उर धरि कदली छिकुल खाये।
कौरव काज चले रिषि सापन साक पत्र सु अधाए।
सूरदास करुनानिधान प्रभु, जुग जुग भक्त बढ़ाए।'

इससे यह स्पष्ट होता है कि सूर ने श्रीराम और श्रीकृष्ण के मध्य अभिन्नता स्थापित की है।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेख है कि सूर ने संसार में कल्मष अर्थात् पापमयता स्वीकार की है। मनुष्य जब कभी अपने अंतर्मन में झांकता है और अपने कर्मों का विश्लेषण करता है तो उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका मन और उसके कर्म दोनों ही पाप व त्ति में ग्रस्त हैं ऐसी स्थिति में वह संसार के इस कल्मष से मुक्ति पाने के लिए छटपटाता है और इसी क्रम में वह किसी महान् शक्ति की शोध कर लेता है। जिस देवी देवता में उसे सर्वाधिक पाप-शामक शक्ति का परिचय मिलता है, उसी के प्रति वह सर्वात्मसमर्पण निवेदित करता है। वहां पहुंचकर वह अपने पापों की, अपने कर्मों की उन्मुख स्वीकृति करता है। पापों की स्वीकृति पापों से मुक्ति की पहली और अनिवार्य शर्त होती है। सूर के इस पद में यह भाव द्रष्टव्य है-

'प्रभु, हौं सब पतितनि कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तौ जनमत ही कौ।
बधिक अजामिल, गानिका, तारी और पूतना ही कौ।
मोहिं छांड़ि तुम ओर उधारे, मिटै सूल क्यौं जी कौ।
कोउ न समरथ अध करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितनि में, मोहूं तैं को नीकौ।।'

विद्वान आलोचक ने सूर के इस भाव-साम्य को व्यक्त करते हुए कहते हैं, 'महाकवि ने अपने आत्मनिरीक्षण द्वारा प्राप्त पातक निर्बलताओं को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हुए अपने प्रभु से उनसे त्राण की कामना की है। निश्चय ही इस कल्मष-स्वीकृति में कवि की भावना का स्तर भक्त के उस रूप को प्रकट करता है, जिसमें उसकी ग्लानि के परिणामस्वरूप मन के परिमार्जन और उदात्तता का परिचय मिलता है।'

सूर ने अपने आराध्य को उपालंभ दिये हैं। यद्यपि सूर ने अपने दैन्य और लघुता का ही वर्णन किया है फिर भी कहीं-कहीं इन का आक्रोश और नैराश्य भी व्यक्त हुआ है। निश्चय ही भक्त का यह आक्रोश सात्विक भाव से युक्त होता है और इसमें ईर्ष्यादि भावों का कल्मष नहीं होता। जब भक्त किसी प्रकार अपने आराध्य को रिझाने में असमर्थ रह जाता है तो वह स्वभावतः रुष्ट होकर अपने भीतर के सात्विक आक्रोश को व्यक्त करता है। इस द ष्टि से सूर का पद द्रष्टव्य हैं-

'प्रभू हौं बड़ी बेर की ठाढ़ौ।
और पतित तुम जैसे तारे तिनहीं मैं लाखि राखौ।
युग-युग यही विरद चलि आयो टेरि कहत हौं यातैं।
मरियत लाज यां पतितन मैं, हौं अब कहौ घटि का तैं।
कै प्रभु हारि मानि के बैठो, कै करौ बिरद सही।
सूर पति जौ झूठ कहत है, देखो खोजि बही।'

(3) **संक्षिप्ति**—गीतिकाव्य में पद का संक्षिप्त होना गेयता की द ष्टि से अनिवार्य तत्त्व हैं। लंबे पदों को गाने में गायक एवं वादक को थकावट की अनुभूति होती है। इसके अतिरिक्त पद का आयाम विस्त त होने से स्वर, लय, ताल अर्थात् आरोह-अवरोह में स्वाभाविक रूप से परिवर्तन हो जाता है। संक्षिप्तता में संपूर्ण पद में स्वर, लय, ताल की द ष्टि से ऐक्य बना रहता है। भाव-परिवर्तन भी नहीं हो पाता। संक्षिप्तता भाव ऐक्य में भी सहायक होती है यही कारण है कि सगुण एवं निर्गुण भक्ति के सूर, तुलसी, मीरा एवं कबीर आदि के पद भजन स्वरूप समाज में लोकगीत के रूप में तथा दूरदर्शन एवं आकाशवाणी से साहित्यिक गीत के रूप में प्रायः प्रतिदिन देखे एवं सुने जाते हैं क्योंकि मीडिया के इलेक्ट्रॉनिक माध्यम में समय की प्रतिबद्धता होती हैं इसलिए लंबे पदों की तुलना में संक्षिप्त पद अधिक उपयुक्त होते हैं।

सूरसागर के अधिकांश पद अत्यधिक संक्षिप्त हैं।

सूर ने संक्षिप्ति को ध्यान में रखकर कृष्ण की भक्ति और आराधना अत्यंत अनन्य भाव से की है, वात्सल्य वर्णन में सूर ने कृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं-रूठने, चलने, शैतानी करने, झूठी शिकायत करने आदि का सूक्ष्म एवं ह्रदयस्पर्शी चित्रांकन किया है। श ंगार की स्थिति में सूर ने श ंगार के दोनों पक्षों का वर्णन किया है। यद्यपि संयोग की अपेक्षा वियोग में सूरदास का कौशल अधिक निखरा है। किंतु संयोग श ंगार भी अत्यंत सरस व मार्मिक वर्णन वाला बन गया है। गोपियों की आंखें कृष्ण वियोग में निरंतर इतनी बरसती हैं कि इनसे होड़ में घन में हार जाते हैं। इस संबंध में सूर का संक्षिप्त पद द्रष्टव्य हैं-

'सखी, इन नैननि तैं घन हारे।
बिनु ही रितु बरसत निसि-बासर, सदा सजल दोऊ तारे।
ऊरध स्वास, समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन-सदन में बसे बचन-खग, रितु पावस के मारे।।'

संक्षिप्तता एवं भाव ऐक्य की द ष्टि से प्रस्तुत पद में मात्र तीन पंक्तियां एवं एक टेक है जिसमें प्रभु-चरण महत्ता वंदित है। श्रीकृष्ण के चरण-कमलों की वंदना करते हुए सूरदास कहते हैं कि कृष्ण के चरणों की इतनी महत्ता है कि उसकी वंदना मात्र से कृपा प्राप्ति के परिणामस्वरूप पंगु पर्वत पार कर जाता है, अंधे को सब कुछ दिखाई देता है, बधिर सुनता है, गूंगा बोलता एवं रंक सिर छत्र धारण करता है। इस संबंध में सूर का पद द्रष्टव्य है। इस पद में सभी असंभव क्रियाएँ श्रीकृष्ण के चरण कमलों की कृपा के परिणामस्वरूप संभव हो जाती हैं-

'चरण-कमल बंदौ हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधै कों सब कुछ दरसाइ।
बहिरौ सुनै, गूंग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बंदौ तिहिं पाईं।।'

तीन पंक्ति एवं टेक में परिसीमित पद में गोपियों के मध्य उद्धव-उपदेश के समय अचानक भ्रमर का प्रवेश हो जाता है। स्वाभाविक रूप से कृष्ण की श्यामता का आभास उन्हें अत्यधिक दुःखी

कर देता है। भक्ति-भावना से प्रेरित होकर भ्रमर की पूजा करने लगती हैं चेतना जाग त होते ही भ्रमर को कुब्जा द्वारा प्रेषित स्वीकारते हुए व्यंग्योक्ति करने लगती हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानो हमें संदेश देने के लिए भेजा है। पद में सभी भाव भ्रमर पर केन्द्रित एवं संक्षिप्त हैं-

'इहिं अंतर मधुकर इक आयौ।
निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै, सुंदर शब्द सुनायौ।
पूछन लागीं ताहिं गोपिका, कुबिजा तोहिं पहायौ।
कीधौं सूर स्याम सुंदर कौं, हमैं संदेसौ लायौ।।'

(4) **संगीतात्मकता**—सूर महान रससिद्ध कवि थे। वह भक्त थे, कवि थे और भगवान कृष्ण के समक्ष कीर्तन करने वाले थे। कीर्तन करने में राग, सुर और ताल संगीत के सभी तत्वों की आवश्यकता होती है। इसीजिए सूर ने ही नहीं बल्कि सभी कृष्ण और राम भक्तों ने संगीत का समाश्रय ग्रहण किया, क्योंकि वे अपने उपास्य देव के समक्ष कीर्तन करने में अपनी सफलता मानते थे और ऐसा करके वह अपने को धन्य समझते थे। यही कारण है कि भक्ति काल में संगीत और भक्ति अभिन्न हो गए थे। स्वामी विठ्ठल नाथ ने सूर को प्रातः सांय श्रीनाथ मंदिर में कीर्तन करने के लिए नियोजित कर दिया था। वे अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण का गुण-गान और उनकी लीलाओं को पदों मे रचकर उनका नित्य कीर्तन किया करते थे। सूर के काव्य में शास्त्रीय संगीत भी पाया जाता है। सूर संगीत के पंडित थे। सूर के गेय पद विभिन्न राग-रागनियों में बंधे हैं। आत्माभिव्यंजन की उत्कृष्ट शैली, अनुभूति की आकर्षक एवं मार्मिक अभिव्यक्ति, भाव की एक-एक श्ंखला को गुलदस्ते की भांति सजाकर प्रकट करना गीत-काव्य की विशेषताएं सूर के पदों में यत्र-तत्र बिखरी हुई दिखाई देती हैं।

सूर के गीति-काव्य की विशेषताएं उनके पदों की अत्यंत सरल भाषा है जो कि प्रसाद गुण से ओत-प्रोत है। उनके पद पढ़-सुनकर सरलतापूर्वक समझने योग्य तथा सस्वर गायन-वादन की क्षमतायुक्त है।

सूरदास के गीति-तत्व के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्त का कथन अत्यंत महत्वूपर्ण है-

'इन पदों के संबंध में ध्यानाकर्षित करने वाली बात यह है कि उस समय प्रयोग में आने वाली समकालीन ब्रजभाषा में पहली साहित्यिक रचना होने पर भी वह इतनी सुडौल और परिमार्जित है यह रचना प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे आने वाले कवियों की श्ंगार और वात्सल्य की उक्तियां सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य परंपरा का पूर्ण विकास-प्रतीत होता है।'

जिस प्रकार निर्मल आत्मा और स्वस्थ शरीर का समन्वय सुखद होता है, उसी प्रकार भाव और शैली जिसके अंतर्गत छंद भी हैं-का उचित समन्वय भी होता है। सूर की रचना में यह सामंजस्य पूर्णतः संतुलित रूप में मिलता है।

स्वरों के आरोह-अवरोह से काव्य में श्रुति-सुखदाता का संचार होता है और स्वरों के उतार-चढ़ाव का चरमोत्कर्ष राग-रागिनियों में मिलता हैं। इसी कारण हृदय की कोमलतम भावनाओं की अभिव्यंजना के लिए कवियों ने प्रायः गीति-शैली का ही आश्रय लिया है। हृदय की रागात्मिका-व त्ति के योग से जब सुख और दुःख की अनुभूति तीव्रतम होकर अनेक भावों की उमड़ती हुई धारा में समस्त परुषता और कलुषता का प्रक्षालन करती हुई अकस्मात् कल-कल ध्वनि से कवि के कंठ से फूट पड़ती है तो उसे 'गीत' की संज्ञा प्राप्त होती है। तभी तो कविवर सुमित्रानंदन पंत ने लिखाता है-

'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान।
उमड़ कर आंखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।।'

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में प्रगति का लक्षण देते हुए लिखा हैं-

'प्रगति-काव्य के तत्व इस प्रकार हैं-संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमलकांत पदावली निजी रागात्मकता 'जो प्रायः आत्म-निवेदन के रूप में प्रकट होती है, संक्षिप्तता और भाव की एकता, यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अंतःप्रेरित होता हैं और इसी कारण इसमें कलात्मकता होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।'

सूर की रचना में गीति-तत्त्व के सभी लक्षण पाए जाते हैं। वास्तव में यह कोई नई शैली नहीं थी, अपितु भारतीय साहित्य में युग-युगांतर से चली आती हुई एक परंपरा थी, जिसमें विशेष विभूतियों द्वारा समय-समय पर परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन होते रहे हैं। गीति-शैली का उद्‌भव कब हुआ, यह निर्णय करना अति दुष्कर हैं; किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसका इतिहास इतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं भाषा का। भाषा के मूल तत्वों में गीत के भी मूल तत्व निहित मिल सकते हैं। मनुष्य भाषा का आधार लिए बिना ही स्वान्तः सुखाय प्रायः कुछ न कुछ गुनगुनाता देखा जाता है। अपने भावों को प्रकट करने के लिए स्वर और लहजे में परिवर्तन कर लेते हैं-विशेषकर जब भाषा को अपनी मानसिक दशा की सूचना देने में असमर्थ पाते हैं। प्रारंभ में गीत वैयक्तिक रूप से मनोरंजन के साधन रूप में प्रचलित रहे फिर धीरे-धीरे वे सामाजिक रूप से जनता का मनोरंजन करने में प्रयुक्त होने लगे। विशेष अवसरों और उत्सवों पर लोकगीतों का आयोजन प्राचीन काल से चला आ रहा है। वैदिक कालीन यज्ञों में 'रथन्तरादि' अनेक प्रकार के गीत गाने की प्रथा थी। सामाजिक कार्यों और पर्वों पर भी इसी प्रकार के गीत गाए जाते रहे। जैसे-जैसे सामाजिकता का विकास होता गया, वैसे-वैसे ही गीत भी उत्तरोत्तर सामाजिकता की विस्त ततर परिधि में स्थान पाते रहे। समाज की प्रव त्तियों का प्रतिबिंब कला और साहित्य में झलकना स्वाभाविक है, अतः प्राचीन शांतिप्रिय, आध्यात्मिकतापरक और सरल-प्रव त्ति समाज के व्यक्ति भी शांति और विरक्ति के गीत गाते हुए चले। समय-चक्र के साथ-साथ समाज में भी परिवर्तन हुआ, जीवित रहने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को संघर्ष में पड़ना आवश्यक हो गया और शक्तिशाली ही जीने का अधिकारी माना जाने लगा, तो संघर्ष और उग्रता का समावेश भी गीतों में हो गया।

गीत-शैली हृदय की कोमल भावनाओं का व्यक्त करने के लिए नितांत उपयुक्त है, क्योंकि गीत लय की मधुर लहरियों को स्वरों के रेशमी सूत्र में बांधकर चलते हैं। प्राचीन गीतों में अधिकतर श्रंगार, करुण और शांत रसों की ही अभिव्यक्ति हुई है और वीर-रस के गीत बहुत कम मिलते हैं।

साहित्य में परंपरा से चली आती श्रंगार और प्रेम की भावना के साथ अनेक कवियों ने भगवत्प्रेम का समन्वय किया। अपने उपास्य का श्रंगार और प्रणय-वर्णन करने में कविगण भाव-विभोर होने लगे। इन्होंने अपनी वर्णन पद्धति के लिए गीत-शैली का ही चुनाव किया। श्रंगार, भक्ति और वात्सल्य की त्रिवेणी का अपने पदों में समावेश कर कवि ने पग-पग पर प्रयाग का स जन किया, जिसकी यात्रा करके साधारण जनता भी मन का मैल धोने लगी।

सूर को अपनी भक्ति-भावना व्यक्त करने के लिए परंपरागत विकसित गीत-शैली प्राप्त थी, परंतु उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों का अंधानुसरण नहीं किया है। उनके गेय पदों पर न तो वीरगाथाकालीन चारण और भाटों का ही प्रभाव लक्षित होता है और न नाथ और सिद्ध-संप्रदायों के प्रचारकों का ही; हां 'निर्गुनिये' संत कवियों का प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ता है। उनके विनय के पदों के भाव, भाषा, पद-विन्यास सभी संत काव्य से प्रभावित उन्होंने ये पद आचार्य बल्लभ द्वारा पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व ही लिखे थे। तब उनकी भक्ति-भावना में स्थिरता नहीं आ पायी थी। कभी तो वे संतों की भांति साकार और निराकार के बीच में खड़े हुए, कभी उनका झुकाव साकार तथा कभी निराकार के प्रति रहा और कभी तुलसी की भांति 'प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौं' कहकर प्रभु-चरणों में सिर टेक देते थे सूर कभी परमात्मा को भीतर और कभी बाहर खोजते थे।

परंतु पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने के उपरांत जब वे स्थितिप्रज्ञ होकर 'सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन-लीला पद गावै कहकर भगवान श्रीकृष्ण का चरित-गान करने बैठे, तो उनके पदों का चोला भी बदल गया और उनकी गीत-शैली जयदेव और विद्यापति की श्रंगार-भावना और कोमलकांत पदावली को आत्मसात् करती हुई विकसित हुई। सूर ने केवल भाव-पक्ष में ही नहीं, गीत-शैली के कलेवर में भी नवीनता का संचार किया है।

आचार्य मुंशीराम शर्मा भी इस विषय को संकेतित करते हुए लिखते हैं-

'इस गायन में ऐसी कौन सी रागिनी है, जो सूरसागर में न आई हो ? कहा जाता है कि सूर के गान ऐसे राग रागनियों में हैं, जिनमें से कुछ के तो लक्षण भी अब तक प्राप्त नहीं हैं। ऐसी राग-रागनियां या तो सूर की अपनी सृष्टि हैं या अब उनका प्रचार नहीं।'

सूर ने 'सूरसागर' में पदों के साथ संबंधित रागों का संयोजन जिस प्रौढ़ता और प्रचुरता से किया है, उसे देखकर तो अच्छे-अच्छे संगीतकार स्वयं को परास्त अनुभव करने लगते हैं। सूर की संगीतात्मकता, भावात्मक चरमोत्कर्षता और सहज प्रवाहशीलता उनके गीतों की विशेषता हैं-

'बिनु गुपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब वै लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
बथा बहति जमुना, खग बोलत, वथा कमल फूलनि अलि गुंजैं।
पवन, पानि, घनसार, संजीवनि, दधि-सुत किरनि भानु भईं भुंजैं।
यह ऊधौ कहियौ माधौ सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग-जोवत अंखियां भईं घुंजैं।।

गीतिकाव्यों के रचयिताओं की श्रेणी में सूर का स्थान निर्धारित करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती, क्योंकि सूर के गीत अपनी विलक्षणता के कारण सर्वोपरि ठहरते हैं। मार्मिकता और मिठास मात्र उन पदों में ही नहीं है जिनमें गोपियों के संयोग या वियोग का वर्णन है अपितु उन पदों में भी है जिनमें श्रीकृष्ण उद्धव के समक्ष ब्रज से संबंधित अपनी स्मृतियों के अविस्मरणीय होने की बात कहते हैं :-

'ऊधौ ! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुंदर कगरी, अरु कुंजनि की छाहीं।
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल, नाचत गहि गहि बाहीं।
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं।
अनगन भांति करी बहु लीला, जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहै मौन द्ववै, यह कहि-कहि-पछिताहीं।।'

सूरदास का काव्य, प्रबंध-काव्य नहीं है, उसमें कथा के प्रवाह का निर्वाह नहीं मिलता; भावात्मक स्थलों का ही अनुपम वर्णन मिलता है और कथा का तारतम्य जारी रखने के उद्देश्य से उन्हें जोड़ने के लिए यत्र-तत्र एकाध पद में घटनाओं का वर्णन भी कर दिया गया है। घटना-वर्णन में कवि की प्रवृत्ति रमी ही नहीं। वास्तव में सूर का उद्देश्य घटना-वर्णन अथवा कथा कहना नहीं था। उनका उद्देश्य अपने प्रभु के प्रेम में मत्त होकर उनके सौंदर्य का वर्णन करते हुए मानस-भाव-रसामृत को पदों के प्रवाह में बहा देना था जिससे सिक्त होकर जन-मनोभूमि में भगवद्-भक्ति का अंकुर फूट निकले। वे 'स्वामिनः सुखाय' नहीं, 'स्वांतः सुखाय' रचना करते थे।

आत्माभिव्यंजन के लिए मुक्तक-काव्य ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि कथा के बंधन में बंधे कवि के भाव बहुत दिनों से पिंजरे में बंद रहने वाले तोते के समान होते हैं, जो मुक्त हो जाने पर अधिक दूर या ऊंचाई तक नहीं उड़ सकता, शीघ्र ही पुनः पिंजरे में आ जाता है। इसलिए सूर ने मुक्तक-काव्य ही लिखा है। आत्माभिव्यंजना और मुक्तक-काव्य दोनों की द ष्टि से गीत-शैली ही अधिक उपयुक्त हैं। दूसरे वे पुष्टिमार्ग में दीक्षित थे, जिसमें कीर्तन-गान का विशेष महत्व था, इसमें कीर्तन के पद गाने की परिपाटी थी। इस प्रकार पुष्टि-मार्गीय भक्ति-पद्धति में आरती और कीर्तन की परंपरा के साथ संगीत का भी सामंजस्य हो गया था। इस द ष्टि से सूर की रचना गेय थी। काव्य और संगीत का जैसा सामंजस्य सूर के पदों में मिलता है। वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस संबंध में श्री शिखर चन्द जैन 'सूरः एक अध्ययन' का कथन द्रष्टव्य हैं-

'संगीत-विषयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते हैं, तब वह बहुत ऊंचे उठ जाते हैं। वास्तव में यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप से कर सका है तो वह सूर ही हैं।'

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गीत-शैली सूर के हाथों में पड़कर मंज-सी गई है। जितनी सफलता के साथ सूर ने विभिन्न गेय छंदों का प्रयोग किया है, उतनी सफलता के साथ अन्य कोई कवि नहीं कर सका है। उनके पदों की संगीतात्मकता सर्वतोभावेन स्तुत्य है। उनके समस्त पद संगीतमय हैं। प्रत्येक पद के साथ उसमें प्रयुक्त राग के नाम का उल्लेख है।

सूर की भक्ति साधना में भावों की प्रवणता, अनुभूति की तीव्रता और विश्वास की असंदिग्धता का चरमोत्कर्ष है, जिसके कारण उनके पदों में गीत की स्वस्थ आत्मा की प्रतिष्ठा हो सकी है। सूर के विशाल मानस में भाव-रस का इतना उद्रेक था कि वह हठात् वाणी के बंधनों को तोड़ता हुआ फूट पड़ा। कृष्ण के सौंदर्य, हाव-भाव और व्यापारों के चित्रण में, ब्रजवासी नर-नारियों की भावनाओं के प्रकाशन में; गोप-बालकों के बालसखा-सुलभ केलि-कौतुक के अंकन में, किशोरी, युवती और व द्धाओं के चापल्य, औत्सुक्य, वात्सल्य आदि के अभिव्यंजन में अपनी बंद आंखों और उन्मुक्त कल्पना से भावजगत् के द्रष्टा और स ष्टा सूर ने वह प्रसिद्धि प्राप्त की है। हिंदी के ही नहीं विश्व भाषाओं के गीतकारों के आगे भी वह अपनी प्रसिद्धि का लोहा मनवाते हैं। उनके पदों में उनकी 'सूरता' छिपाए नहीं छिपती।

वैयक्तिकता और आत्मभिव्यंजन, जो गीति-काव्य का सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख लक्षण है, सूर के गीतों में अथ से लेकर इति तक व्याप्त है। भाव की एकात्मकता, अनुभूति की स्वतः पूर्णता और अव्याप्त व्याप्ति, जो मुक्तक-काव्य की प्राणवायु है। सूर के गीतों में संचार करती हुई पाठक एवं श्रोता के ह्रदय पर अमिट छाप छोड़ती है। उनका एक-एक राग, एक-एक गीत अपने आप में पूर्ण और रस-स ष्टि में समर्थ है।

सूर के पदों में जो बात खटकती है वह दोष पौराणिक प्रसंगों के संकेतों की भरमार तथा वर्ण्य विषय, भाषा आदि की पुनराव त्ति है। कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक अलंकारों के भार से दबी उनकी भारती अपनी वीणा के तारों को झंकृत करने में भी अपने आपको असमर्थ पाती है। इन दोषों को धूमिल कालिमा 'सूरसागर' के जगमगाते रत्नों के प्रकाश को अधिकाधिक देदीप्यमान बनाने में सहायक सिद्ध होता है। भाव, कल्पना और सौंदर्य का जैसा समन्वय सूर के पदों में है ऐसा अन्यत्र दुष्प्राप्य है भावूपर्ण गीत-तत्व के शास्त्रीय परिष्कार में सूर ने सचमुच अत्यधिक योगदान किया है।

सूर-संगीत की विशेषता है कि उन्होंने राग-रागनियों का निर्वाचन विषयानुसार किया है। हर्ष और उल्लास के प्रसंग जहां आए हैं वहां उनका वर्णन एक प्रकार से राग-रागनियों में हुआ है। जैसे-राग धनाश्री, राग-कान्हारौ, राग टोड़ी आदि, जहां विप्रलंभ और गंभीरता को दिखाया गया है

वहां राग-जैतश्री, राग-सारंग, राग मलार में बांधकर उस प्रसंग को प्रस्तुत किया गया है। यही नहीं, दर्प और वीरता से संबंधित प्रसंग को विशिष्ट रागों में बांधा गया है।

सूर स्वीकारते हैं कि जीव उसी को कहते हैं जो हरि गुणगान करता है-

'सोई रसना जो हरि गुण गावे।'

सूर ने हरि-गुणगान ही किया है, मध्यकालीन संगीत शास्त्रीय संगीत का पर्याय है। इसलिए सूर ने अपने पदों में गान के लिए जिस संगीत का सहयोग लिया वह शास्त्रीय संगीत पर ही पूरी तरह से आधारित है। सूर को संगीत का अद्‌भुत ज्ञान था। इसका प्रमाण समकालीन किसी कवि की उक्ति से मिल जाता है-

'हाथ सितारौ सूर करयौ, मुख मधुरा बोल।
कान्हूरे के रंग में, सूरदास को चोल।।'

सूर वल्लभ संप्रदाय के भक्त थे, इसलिए अपनी रचनाओं में राग-रागनियों के प्रयोग श्रीनाथ मंदिर में आठों प्रहर की सेवा के रूप में किया है। इन राग-रागनियों के प्रयोग समयानुकूल हैं। सूरसागर के 'दशम-स्कंध' में 'राम-रामकली' और 'राग-ललित' को उद त किया गया है-

राग-रामकली : **'लालहिं जगाइ बलि गई माता।**
निरखि मुख-चंद छबि, मुदित भई मनहिं मन, कहत आधैं बचन भयौ प्राता।
नैन अलसात अति, बार-बार जम्हात, कंठ लागि जात, हरषात गाता।
बदन पौंछियौ जल जमुन सौं धोइ कै, कह्यौ मुसुकाइ कछु खाहु ताता।
दूध औट्यौ आनि, अधिक मिसिरी सानि, लेहु माखन पानि प्रान-दाता।
सूर प्रभु कियौ भोंजन विविध भांति सौं, पियौ पय मोद करि घूंट साता।।'

राग-ललित : **'उठे नंद-लाल सुनत जननी मुख बानी।**
आलस भरे नैन, सकल सोभा की खानी।
गोपी जन बिथकित ह्वै चितवतिं सब ठाढ़ी।
नैन करि चकोर, चंद-बदन प्रीति बाढ़ी।
× × × ×
सखा सहित जेंवहु, मैं भोजन कछु कीन्हौं।
सूर स्याम हलधर संग सखा बोलि लीन्हौ।।'

इन पदों में दोनों राग संगीत की द ष्टि से संधि प्रकाश राग हैं। जिन्हें प्रातःकाल गाया जाता है। इस तरह से इन रागों का प्रयोग समुचित रूप में हुआ है।

प्रातःकाल के पश्चात् दिन के प्रथम पहर में राग विलावल भी गाया जाता है। सूर्योदय हो जाने के पश्चात् जब श्रीकृष्ण गोचारण के लिए जाते हैं तो उस प्रसंग से संबंधित वस्तुओं को सूर ने राग 'विलावल' में ही लिखा है-

राग-विलावल : **'बन पहुंचत सुरभी लई जाइ।**
जैहौ कहा सखनि कौं टेरत, हलधर संग कन्हाइ।
जेंवत परखि लियौ नहिं हमकौं, तुम अति करी चंड़ाइ।
× × × ×
आजु चलौ व ंदाबन जैऐ, गैयां चरैं अघाइ।
सूरदास प्रभु हरषित भए, घर तैं छांक मंगाइ।।'

दोपहर के भोजन में कृष्ण के लिए दूध, दही, छाक आदि दिया जाता था। समयानुसार मध्यान्ह का राग 'सारंग' है। सारंग रागों में सर्वाधिक प्रचलित 'बिंद्रावनी सारंग' राग है। इसके अनुसार सूर ने कृष्ण के मध्यान्ह भोग के समय के समस्त वर्णनों को राग सारंग में बांधा है-

राग-सारंग : **'घर की इक ग्वारि बुलाई।**
छाक समग्री सबै जोरि कै, वाकैं कर दै तुरत पठाई।
कह्यौ ताहि व ंदावन जैऐ, तू जानति सब प्रकृति कन्हाई।
प्रेम सहित लै चली छाक वह, कहं ह्वैहैं भूखे दोउ भाई।
तुरत जाइ व ंदावन पहुंची, ग्वाल-बाल कहुं कोउ न बताई।
सूर स्याम कौं टेरत डोलति, कित हौ लाल छाक मैं लाई।।'

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि सूर ने रागों का प्रयोग समय को देखते हुए ही किया है।

'संगीत रत्नाकर' के अनुसार संगीत के तीन पक्ष होते हैं-गीत, वाद्य तथा न त्य।

सूर ने अपने संगीत में इन तीनों पक्षों का सम्यक समावेश किया है तथा निम्नलिखित पद में तो न त्य के बोल तथा श्री राग के स्वर का एक साथ समन्वय किया है। इस संबंध को दर्शाने के लिए सूर का पद द ष्टव्य है-

'घोष नागरी मण्डल नाचते गिरधारी लाल।
लेत गति अनेक भांति चरण पटकनी।
गिड़गिड़ता गिड़गिड़ता ताता तत ता तत थई-थई।
बीच-बीच मधुर-मधुर मुरलिका मढकनी।
भुज सौं भुज जोरि-जोरि लेत तान नव किसोर,
गावत श्रीराम मिलि ग्रीव लटकनी।
सूरदास प्रभु सुजान नंद नंदन कुंअर कान्ह,
मदन मोहन छबि निरखि काम सटकनी।।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि निश्चय ही सूर महान् संगीतज्ञ थे। उनका संगीत का शास्त्रीय ज्ञान उच्चकोटि का था। उन्होंने छह रागों, छत्तीस रागिनियों का वर्णन किया है और कहा है-

'मुरली हरि को भावे री।
छैहौ राग छत्तीसों रागिनी हूक इक नीके गावेरी।।'

'सूरसागर' प्रत्येक पद किसी न किसी राग-रागिनी में निबद्ध है। सूरसागर को अगर गीतों का सागर कहा जाए तो अनुपयुक्त नहीं होगा। सूर के गीत-काव्य में काव्य और संगीत का मणि-कंचन संयोग हुआ है। इन पदों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें स्वानुभूति-मूलक भावाभिव्यक्तियों के साथ-साथ कृष्ण-लीला में अनेक प्रसंगों को क्रमबद्ध कथारूप में रचा गया है। भारतीय गीत परंपरा में भावपूर्ण भजनों की जो शास्त्रानुमोदित लोकप्रिय गीत संगीत शैली विकसित हो गई, उसका सर्वाधिक श्रेय सूरदास को है। सूर ने संपूर्ण रागों को काल क्रमानुसार ही प्रस्तुत किया है। उनके पदों का अध्ययन करने से पता चलता है कि मंगला के अंतर्गत विभास, भैरव, देव-गंधार, सोहनी, ललित, टोड़ी, सूहा आदि रागों का प्रयोग किया गया है। श ंगार के प्रसंग में इसी प्रकार रामकली, आसावरी, बिलावल; ग्वाल में बसंत, नट, कामोद, सारंग, मालश्री, गुजरी राग;

राजभोग में पीलू, धानी, जोगिया, मारु, गौड़, सिंदूरा मुलतानी, जैतश्री, गौरी, ललित, गौड़-मल्हार, बसंत राग, जै-जैवंती, मल्हार, कान्हड़ा, भूपाली राग; शयन में राग बिहागरी का प्रयोग किया गया है। सूर को बिलावल राग बहुत प्रिय था। उन्होंने सूरसागर में बिलावल, सारंग और धनाश्री रागों के अत्यधिक प्रयोग किए हैं।

भाषा और संगीत के कारण सूरदास ने जिस गीत-परंपरा को व द्धिगत करने में सहयोग दिया है वह अत्यंत उच्चकोटि की है। वस्तुतः सूर पद साहित्य में अपना सानी नहीं रखते हैं। सूर काव्य और उसमें मिश्रित संगीत का अवलोकन करने पर यह कहने में कोई हिचक नहीं कि उनके काव्य में संगीत की जो मधुर धारा बही है वह काव्यास्वाद को मार्मिक और मीठा बना देती है। समस्त भक्ति कालीन कवियों में सूर का स्थान संगीत विषयक ज्ञान की द ष्टि से भी सर्वश्रेष्ठ है। सूर के संगीत ज्ञान के विषय में पद द्रष्टव्य है-

'किधौ सूर को सर लग्यौ, किधौ सूर की पीर।
किधौ सूर को पद लग्यौ, बेध्यौ सकल शरीर।।

अध्याय 8
भ्रमरगीत परंपरा

हिंदी साहित्य में भ्रमरगीत की एक दीर्घ-परंपरा विद्यमान है। भ्रमरगीत का मूलाधार श्रीमद्भागवत है, परंतु इसका पूर्ण विकास सूर के भ्रमरगीत से हुआ। भ्रमरगीत-परंपरा में सूरदास का नाम और स्थान सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित है। हिंदी में सूर भ्रमरगीत परंपरा के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं, जिन्होंने भागवत् के आधार पर भ्रमरगीत-प्रसंग को अत्यंत भावुकता और नवीनता के साथ प्रस्तुत कर भविष्य में इस प्रसंग पर काव्य स जन की प्रेरणा के द्वार खोल दिए। सूर ने भागवत से आधार तत्व ग्रहण किए और उन्हें अपनी उर्वर कल्पना के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किया कि सूर का भ्रमरगीत 'मौलिक' हो उठा, भागवत् के इस प्रसंग में भक्ति को प्रोत्साहन मिला है, जबकि सूर के भ्रमरगीत में सहज और सरल काव्यात्मकता अनुभूतियां उभरी हैं। सूर से लेकर आधुनिक काल के हिंदी कवियों तक 'भ्रमरगीत' की एक पुष्ट और विकसित परंपरा चली आ रही है। सूर के पश्चात् लिखे गये भ्रमरगीतों में द ष्टिकोण का थोड़ा बहुत अंतर भले ही रहा हो परंतु विषय और उद्देश्य सूर के भ्रमरगीत से पूर्ण रूप से प्रभावित है।

भ्रमरगीत का मूलाधार—भ्रमरगीत का मूल उद्भव स्त्रोत श्रीमद्भागवत् है। भागवत् दशम् स्कंध के पूर्वार्द्ध अध्याय 46–47 में भ्रमरगीत-प्रसंग का वर्णन है। श्रीमद्भागवत् में भ्रमरगीत कथा इस प्रकार है-श्रीकृष्ण उद्धव से निवेदन करते हैं कि वह उनके विरह में दुःखी माता-पिता तथा गोपियों को ब्रज जाकर सांत्वना प्रदान करें। उद्धव ब्रज जाकर नंद और यशोदा को उपदेश देते हैं। इसके पश्चात् 47 वें अध्याय में उद्धव तथा गोपियों के संवाद का वर्णन है। गोपियां कृष्ण के गुणों का स्मरण करके विलाप करने लगती हैं। इतने में ही एक भ्रमर कहीं से उड़ता हुआ वहां आ जाता हैं। बस उस भ्रमर में कृष्ण और उनके संदेशवाहक उद्धव के अभिन्न स्वरूप की कल्पना करके प्रेम-विह्वल गोपियां उपरोधिक भाषण करने लगती हैं। इसके पश्चात् उद्धव गोपियों से कृष्ण का संदेश कहकर उन्हें शांत कर देते हैं और अंत में ब्रज भूमि नंद तथा ब्रज बंधुओं की वंदना करते हुए लौट जाते हैं।

इस प्रसंग के अंतर्गत कृष्ण के चरित्र की अलौकिक झांकी दिखाने के लिए भक्त कवियों को काव्य की एक नई दिशा दिखाई दी। भागवत् की यही कथा समस्त भ्रमरगीतों का आधार रही है, किंतु प्रत्येक कवि ने अपनी कल्पना के अनुसार इसमें परिवर्तन किया है। हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम भ्रमरगीत के प्रसंग का महत्व और विस्तार सूरदास ने किया। इसलिए हिंदी साहित्य में भ्रमरगीत परंपरा का उद्भव सूर के भ्रमरगीत से ही माना जाता है।

सूर के भ्रमरगीत में भागवत् की अपेक्षा अनेक विशेषताएं और मौलिकताएं हैं।

हिन्दी काव्य में सूरदास द्वारा भ्रमरगीत का प्रणयन

जनमानस में भगवान के सगुण स्वरूप के प्रति आस्था उत्पन्न करने का सर्वाधिक श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को है। उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता और सरलता का सशक्त प्रतिपा दन किया-

'कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक।
होई घुनाच्छर ज्ञान ज्यों, प्रति प्रत्यूह अनेक।।
ग्यान पंथ कृपान कै धारा, परत खगेस होइ नहिं बारा।।'

गोस्वामी जी द्वारा किया हुआ ज्ञान-भक्ति का यह विवेचन कुछ गंभीर था और वह मनन अध्ययन के क्षेत्र की वस्तु था। वह बुद्धि पक्ष की वस्तु था और प्रायः पंडित वर्ग तक सीमित था; सामान्य अशिक्षित जनता का चित्त उसमें न रम सका। इस अभाव की पूर्ति महात्मा सूरदास ने की। उन्होंने ज्ञान के समक्ष भक्ति की श्रेष्ठ और सरलता का प्रतिपादन करने के लिए श्रीमद्भागवत् में वर्णित 'भ्रमरगीत' प्रसंग को लिया और अत्यंत नाटकीय शैली के द्वारा ज्ञान के ऊपर भक्ति का जय घोष कर दिया। उन्होंने ब्रज की गोपियों, गोकुल के गंवार ग्वालिनों को भक्ति का प्रतिनिधि बनाया और उद्धव को प्रस्तुत किया ज्ञान मार्ग के प्रतिपादक रूप में। अपने पारस्परिक सरस एवं सरल कथोपकथनों के क्रमिक विकास के द्वारा उन्होंने ज्ञान के ऊपर भक्ति की घोषणा कर दी। गोपियों की स्वाभाविक एवं व्यंग्य गर्भित उक्तियों के द्वारा उद्धव मंत्रमुग्ध तथा पराजित दिखाए गए। ज्ञान-मार्तण्ड से झुलसे हुए उद्धव भक्ति की सुधा व ष्टि द्वारा सरस सुहाए मथुरा लौटते हुए दिखाए गए। सूरदरस के काव्य का यह प्रसंग भ्रमरगीत कहलाया। सूर का भ्रमरगीत काव्य-रचना के लिए एक बहुत ही उपयुक्त एवं हृदयग्राही प्रसंग सिद्ध हुआ और अनेक परवर्ती कवियों ने इस प्रसंग को लक्ष्य करके काव्य-रचना की। इस प्रकार सूर ने भ्रमरगीत परंपरा का प्रणयन किया।

सूरदास का भ्रमरगीत—सूर ने तीन भ्रमरगीतों की रचना की।

प्रथम भ्रमरगीत भागवत के भ्रमरगीत का अनुवाद मात्र है। इसमें न तो नवीन मान्यताएं है और न ज्ञान-वैराग्य की चर्चा ही है। इसमें कृष्ण द्वारा गोकुल को भेजा गया संदेश है।

दूसरा भ्रमरगीत केवल एक ही पद में लिखा गया है। उसमें उद्धव का गोपियों के प्रति उपदेश, गोपियों के उपालंभ, कुब्जा-संदेश, उद्धव-मथुरा गमन एवं श्रीकृष्ण के समक्ष गोपियों का विरह-वर्णन तथा उसे सुनकर श्रीकृष्ण का मूर्च्छित हो जाना आदि सब वर्णित हैं। इसमें न तो भ्रमर का समावेश ही होता है और न गोपियां विशेष उपालंभ ही देती हैं।

तीसरा भ्रमरगीत सूरसागर के पद संख्या 4078 से पद संख्या 4710 तक चलता है। इसी में सूरदास ने भागवतकार की कथा को कल्पना द्वारा पूर्ण काव्य रूप प्रदान किया है। इसमें कथा एवं भाव-विकास का क्रमबद्ध संयोजन है। इसी में उद्धव-गोपी संवाद है और यही सर्वाधिक प्रचलित है।

सूर ने भ्रमरगीत में भ्रमर के माध्यम से श्रीकृष्ण और उद्धव के प्रति मन भर उपालंभ दिलाए हैं और अंत में उद्धव को निरुत्तर एवं गोपियों के प्रेम द्वारा अभिभूत दिखाकर ज्ञान के ऊपर भक्ति की विजय एवं श्रेष्ठता दिखला दी है।

प्रारंभ में श्रीकृष्ण ब्रज की लीलाओं का स्मरण करते हैं। इनकी हृदयद्रावक पीड़ा का वर्णन द्रष्टव्य है-

'ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुंदर कगरी अरु कुंजन की छांही।।'

सूर का भ्रमर प्रारंभ से ही उपस्थित रहता है और गोपियां प्रारंभ से ही अपनी व्यंग्योक्तियां करती हैं। वे गांव की भोली-भाली नारियां हैं। वे गांव की रहने वाली हैं, परंतु गांव की गंवार नहीं

हैं। वे अपनी सरल स्वाभाविक उक्तियों द्वारा हृदय के कोमल पक्ष का स्पर्श करती हैं और उद्धव के साथ-साथ पाठक एवं श्रोता को भी मंत्रमुग्ध कर देती हैं। उनकी ऋजु सरल उक्तियां मनोमुग्धकारी हैं। उनकी इस प्रवत्ति का चित्रांकन कुछ इस प्रकार है-

'अंखियां हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहें रूप रस राची ये बतियां सुनि रूखी।।'

× × × ×

'उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधौ, तिरछै ह्वै जु अड़े।।'

मथुरा निवासी गोपियों के प्रति सदैव निष्ठुर रहे हैं। पहले अक्रूर आए और कृष्ण को ले गए। वहां कुब्जा को अपने प्रेम-पाश में बांधकर रोक लिया और अब उद्धव कृष्ण को मन से निकालने की बात कहने के लिए पधारे हैं। इस पर गोपियां मथुरा-निवासियों के प्रति व्यंग्योक्तियां कहती हैं। ये व्यंग्योक्तियां प्रेम-प्रसूत हैं। द्वेष गर्भित नहीं। इन भावों को सूर ने अपनी विचित्र कला के माध्यम से कटूक्तियों द्वारा सरलता तथा वाग्वैदग्ध्य रूप में दिखाकर अपनी भाषा की विशेषता दिखाई है-

'बिलग जनि मानहु, ऊधौ प्यारे।
वह मथुरा बाजार की कोठरि, जे आवहिं ते कारे।।'

वाग्वैदग्ध्यता की सफलता के लिए उसके मूल में भावाकुलता आवश्यक होती है। 'विदग्धा-नायिका' की विदग्धता में काव्यात्मक सौंदर्य इसलिए होता है कि उससे रतिभाव घुला-मिला रहता है। इष्ट देवता के मधुर क्रीड़ाशील रूप के वर्णन का सुअवसर प्राप्त कर सकने के कारण 'सूर' ने जो वाग्वैदग्ध्य विकसित किया था, उसका भरपूर प्रयोग उन्होंने भ्रमरगीत में ही किया है। उद्धव का उपदेश सुनकर गोपियां सर्वप्रथम उपदेश के प्रति अपनी अज्ञानता और आश्चर्य प्रकट करती हैं बरबस उनके मुख से निकल पड़ता है, "यह आप क्या कह रहें हैं ऐसा कहने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता, भ्रमरगीत में 'प्रयत्नहीन विदग्धता' का सुंदर चित्र सूर ने प्रस्तुत किया है-

'हमसों कहत कौन की बातें ?
सुनि ऊधो हम समुझति नाहीं, फिरि-फिरि पूंछति हैं तातें।।

× × × ×

तू अलि कासों कहत बनाय ?

सगुण-पंथ सीधा रास्ता है, तथा निर्गुण का मार्ग कंटकाकीर्ण है। मालूम होता है कि तुमको कुब्जा ने सिखाकर भेजा है। इसीलिए जानबूझकर ये उल्टी बातें कर रहे हो। सूर की वाग्वैदग्धता पूर्ण तर्क शैली कुब्जा-प्रसंग में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई है। कहां कृष्ण को लोकोत्तर और कहां कुबड़ी दासी ? अतः सूर ने इस प्रसंग को लेकर कई कथन-पद्धतियों का अविष्कार किया है। इस कथन में सूर ने गोपियों की वाग्वैदग्धयुक्त तर्क शैली द्रष्टव्य है-

'काहे को रोकत मारग सूधौ।
सुनहु मधुप! निर्गुन कंटक ते राजपंथ क्यों खूधौ।
कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कै स्यामधन जूधौ।
वेद पुरान स्मति सब ढूंढ़ौ, जुवति न जोग कहूंधौ।
ताको कहा परेखौ कीजै, जानत छाछ न दूधौ।
सूर क्रूर अक्रूर ले गये, ब्याज निबेरत ऊधौ।।'

इस प्रकार सूरदास ने गोपियों के मन की अवस्थाओं का बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

सूर की गोपियां भ्रमरगीत में अपनी वाक्पटुता का पूरा परिचय देती हैं। ये बड़ी चतुराई से उद्धव जैसे तार्किक ज्ञानी-योगी को भी पराजित कर देती हैं। वे अपने मन की कामना को दूसरे रूप में व्यक्त करती हैं :-

'कोई सखि नई चाह सुनि आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति पै, मदन मिलिक कर पाई।
धन दावन, बग पांति पटो सिर, बैरख तड़ित सुहाई।
बोलन पिक चातक ऊंचे सुर, मनो मिली देत दुहाई।।'

वाग्वैदग्धता की सफलता के लिए सूर ने उसमें भावाकुलता का होना आवश्यक बताया है। कुब्जा के आकर्षण में श्रीकृष्ण का उलझना और मथुरा में रम जाना। गोपियां उसके प्रति मीठी-मीठी चुटकियां लेती हैं :-

'बरु वै कुबजा भलो कियो।
सुनि-सुनि समाचार ऊधो, मो कछुक सिरात हियो।।
जाको गुन, गति, नाम, रूप हरि हारयो फिरि न दियो।
तिन अपनो मन हरत न जान्यो, हंसि हंसि लोक जियो।।'

इस पद में भाव-प्रेरित वचन-विदग्धता के दर्शन होते हैं। कैसा मीठा परिहास है। गोपियां अपनी बात उलटी-सीधी, आड़ी-तिरछी लकीरों, मौन कथनों और विधि-निषेधमय शब्दावली से प्रकट करने में न चूकती हैं, न देर करती हैं। उन्हें तो बात-बात में अपने प्रेम पक्ष का पोषण करना उद्धव के ज्ञान पर हंसना, कृष्ण के कुब्जा-प्रेम पर प्रहार करना, संयोग की स्म तियां कुरेदनादि न जाने कितने ढ़ंगों से आता है। लक्षणा-व्यंजना की सीमा भी, गोपियों की विदग्धता के सामने संकुचित दिखाई देती है। शुक्ल जी ने उनकी विदग्धता के संबंध में सही निष्कर्ष निकाला है कि हवा से लड़ने वाली स्त्रियां तो शायद नहीं देखी गईं, किंतु हवा से बात करने वाली गोपियां को भ्रमरगीत में देखा जा सकता है। गोपियों की यही वचन-चातुरी विकसित होकर उपालंभ, परिहास और कटु-मधुर व्यंग्यों का रूप धारण कर लेती हैं। वे 'चित्त' भी अपनी 'पटट' भी अपनी ही रखती हैं। उनकी बातों के सामने ज्ञानी उद्धव की बेचारगी देखने योग्य है।

सूरदास ने गोपियों के मन की अवस्थाओं का बहुत ही सूक्ष्म विश्लेशण प्रस्तुत किया है। गोपियों के विप्रलंभ एवं उपालंभ के मध्य करुण वात्सल्य के पुट द्वारा यह वर्णन अत्यंत मार्मिक एवं रसासिक्त बन गया है। कृष्ण द्वारा यशोदा के लिए भेजे गए संदेश का वर्णन द्रष्टव्य हैं-

'नीके रहियो जसुमति मैया।
आवेंगे दिन चार-पांच में हम हलधर दोऊ भैया।।
× × × × ×
कहियो जाय नंद बाबा सों निपट कठिन हिय कीन्हों।
सूरस्याम पहुंचाय मधुपुरी बहुरि संदेश न लीन्हों।।'

माता यशोदा उद्धव के द्वारा जो संदेश भेजती हैं उसकी करुणा का क्या कहना ? वह सर्वथा अप्रतिम हैं।

'संदेसौ देवकी सों कहियो
हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो।
× × × × ×
तुम तो टेव जानतहि ह्वैं हो तउ कहे मोहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ेते माखन रोटी भावै।।'

भंवर को देखकर, उसके रंग, वर्ण तथा कार्य का विश्लेषण करके, गोपियां इसी निष्कर्ष पर पहुंची कि वह प्रिय भी इसी भंवर के समान कुटिल, स्वार्थी और तन-मन का काला है-

'वह मथुरा काजर की कोठरी, जो आवहिं ते कारे।।
तुम कारे, सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भंवारे।।
तिन के संग अधिक छवि उपजत, कमल नैन मनियारे।।
मानहुं नील माट ते काढ़े लै जमुना में पखारे।।'

यहां गोपियों के द्वारा स्पष्ट रूप से कृष्ण की हृदयगत कालिमा को कोसा गया है। गोपियां केवल काले शरीर को ही नहीं कोसती, उसमें समाविष्ट मन की कालिमा से उनकी शिकायत अधिक है। ऐसे काले लोगों के गुण निराले हैं। इसमें व्यंग्य का पुट ही उपालंभ को तीखा बनाता है।

गोपियों ने जब देखा कि कृष्ण जैसा सौंदर्य प्रेमी, अब कुब्जा जैसी कंस की विद्रुप दासी के प्रेमपाश में बंध गए हैं। उन्हें कृष्ण की सुरुचि पर व्यंग्य, उपहास भरा उपालंभ सूझ आया। कुब्जा के प्रेमपाश में बंधकर वे गोपियों को भूल गए, फिर अपना नाम और संबोधन 'गोपीनाथ' क्यों धारण किए हुए हैं ? यदि वे गोपीनाथ हैं, तो हमारे ही बनकर रहें, अन्यथा वे अपना नाम 'कुबरीनाथ' ही क्यों नहीं रख लेते हैं ? गोपियों की शिकायत कितनी वाजिब है। सुंदरी गोपियों के स्वामी कुबड़ी दासी के साथ रमण करें और अपना नाम गोपियों से जोड़े-

'काहे को गोपीनाथ कहावत ?
जो पै मधुकर ! कहत हमारे, गोकुल काहे न आवत ?
सपने को पहिचानि जानि कै, हमहि कलंक लगावत !
जो पै स्याम कूबरी रीझै, सो किन नाम धरावत।।'

कृष्ण का यह काम 'आंखों का अंधा, नाम नैनसुख' की कहावत को चरितार्थ करता है। यहां स्पष्ट ही कृष्ण की निष्ठुरता एवं कपट-प्रेम पर व्यंग्य किया गया है। गोपियों को दुःख केवल इसी बात का है कि उनसे स्नेह का नाता तोड़ने पर भी कृष्ण 'गोपीनाथ' कहलाते हैं। यह असंगति लज्जास्पद है और उपालंभ के सर्वथा योग्य भी है।

राधा और गोपियों का उपालंभ केवल कृष्ण और उद्धव के प्रति ही नहीं होता, अपितु प्रकृति के जड़ चेतन उपकरणों के प्रति भी है। वे मधुबन से भी शिकायत करती हैं कि तुम्हारा उपयोग करने वाला ही वह मेरा प्रिय यहां नहीं है तो तुम फिर तुम्हारा हरा-भरा होना ही व्यर्थ है। गोपियों और राधा की विरह-दशा का वर्णन सूर कुछ इस प्रकार से करते हैं-

'मधुबन, तुम कत रहत हरे।
विरह-वियोग स्याम सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे।।'

ब्रज के ग्वाल-बाल, गोप-गोपीजन की दशा देखकर उद्धव-उद्धव न रहे। वह प्रेम द्वारा अभिभूत और भक्ति द्वारा पराभूत हो गये। मानो भक्ति की भागीरथी में ज्ञान के झाड़ झंखाड़ बह गये अथवा प्रेमाश्रु की उष्णता में पाषाण भी द्रवीभूत हो उठे। भक्ति की भागीरथी में ज्ञान की इस कालिंदी का अन्तर्भाव सचमुच स्प हणीय है-

'जो कोउ पावै सीस दै ताको कीजै नेम।
मधुप हमारी सौं कहौ, हो जोग भलौ किधौ प्रेम।।
× × × × ×
सुनि गोपिन को प्रेम नेम ऊधौ को भूल्यौ।।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यौ।।
छन गोपिन के पग धरै धन्य तिहारो नेम।
धाय धाय द्रुम भेंटहीं हो ऊधो छाके प्रेम।।
× × × × ×
उपदेसन आयो हूतो मोहिं भयौ उपदेस।
ऊधौ जदुपति पै गए, हो किए गोप का बेस।।
× × × × ×
गोकुल को सुख छाड़ि कै कहां बसे हौ आय।
कृपावंत हरि जानि कै, हो, ऊधौ पकरे पाय।।
देखत ब्रज को प्रेम नेम, कछु नाहिंन भावै।
उमड़यो नयननि नीर बात कछु कहत न आवै।।
सूर स्याम भूतल गिरे रहे नयन जय छाय।
पोंछि पीत पट सों कह्यो, आए जो सिखाय।।'

सूरदास ने सीधे-सादे एवं अत्यंत स्वाभाविक शैली में विरह-संत प्त हृदयों की विभिन्न मनोदशाओं के सूक्ष्म एवं मार्मिक चित्रण करते हुए ज्ञान के समक्ष प्रेम-भक्ति की सरलता एवं श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है, जो कांतासम्यक उपदेश सद श सीधा हृदय को प्रभावित करता है। सूर के भ्रमरगीत के साथ हिंदी काव्य में भ्रमरगीत की एक क्रमबद्ध परंपरा ही आरंभ हो गई और आधुनिक काल तक के परवर्ती कवि उसमें अवगाहन करके अपनी वाणी को पवित्र करते रहे हैं।

भ्रमरगीत प्रसंग की लोकप्रियता—हिंदी काव्य से भ्रमरगीत-काव्य परंपरा के प्रवर्तक महाकवि सूरदास के 'भ्रमरगीत' के पश्चात् हिंदी काव्य में भ्रमरगीत की एक परंपरा ही चल पड़ी। अनेक कवियों ने भक्ति की इस भागीरथी में अवगाहन करके अपने आपको पवित्र किया। भ्रमरगीत परंपरा के प्रमुख कवि पुंगवों के कार्य और नाम निम्नलिखित हैं-

(क) भक्तिकाल—भक्तिकाल में राम भक्त गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रसंग की चर्चा करने के लिए 'श्रीकृष्ण गीतावली' का स जन कर श्रीकृष्ण के चरित्र का गुणगान किया। इसी परंपरा के अंतर्गत नंददास का 'भ्रमरगीत' ही क्रमबद्ध रचना है। इन कवियों ने कुब्जा-कांड पर विशेष बल दिया जिससे असूया संचारी वर्णन का अवसर मिला। भक्तिकाल के ही परमानंददास ने भी भ्रमरगीत परंपरा में योगदान किया।

(ख) रीतिकाल—रीतिकाल के श ंगारी कवियों ने भी अवसर पाते ही इस प्रसंग की चर्चा कर डाली। भले ही उन्होंने कुब्जा-प्रसंग को अपनाकर असूया संचारी भाव पर बल दिया, परंतु वे इस प्रसंग की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सके। रीतिकालीन कवियों में रहीम, देव, पद्माकर, मतिराम, चाचा व न्दावनदास, घनानंद, भिखारीदास, ब्रजनिधि, रसनायक, अक्षर, अनन्य तथा बरकतउल्ला आदि प्रमुख हैं। रीतिकाल में फुटकर छंद लिखकर ही इस परंपरा को बढ़ावा दिया गया। कुब्जा-प्रसंग के अंतर्गत असूया संचारी भाव वर्णन के बहाने कवियों को अशिष्ट हास्य का क्षेत्र प्राप्त हो गया। फलतः विरह-वर्णन में गोपी-हृदय की वास्तविक अनुभूतियों के स्थान पर मिथ्या कल्पनाओं और आडंबरपूर्ण अतिश्योक्तियों का आडंबर दिखाई देता है।

(ग) आधुनिक काल–'भ्रमरगीत' काव्य परंपरा का आरंभ ब्रजभाषा में हुआ और वह प्रायः ब्रजभाषा का ही विषय रहा। परंतु 'हरिऔध' जैसे खड़ी बोली के समर्थक कवि भी उसके मोह का संवरण नहीं कर सके, और अपनी खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्य 'प्रियप्रवास' में उन्होंने इस प्रसंग का समावेश कर दिया। आधुनिक काल में 'भ्रमरगीत' पर नवीन द ष्टि से विचार किया गया। इस काल के कवियों ने इस परंपरा को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया जो कि निम्न हैं-भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', जगन्नाथदास 'रत्नाकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', पं० अम तलाल चतुर्वेदी, डॉ० सत्यनारायण, द्वारिकाप्रसाद मिश्र तथा श्यामसुंदर दास दीक्षित। इनके अतिरिक्त और भी अनेक कवियों ने इस प्रसंग को लेकर फुटकल रचनाएं कीं। इस काल के कवि जन-जीवन के अधिक निकट आ गए। राधा और कृष्ण सामान्य नायिका-नायक न रहकर समाजसेवी नेता के रूप में प्रस्तुत किए गए। भ्रमरगीत के गठन में आवश्यक परिवर्तन कर दिए गए-यहां तक कि 'भ्रमर' का नाम भी समाप्त कर दिया गया, परंतु मूल कथानक वही रहा। इसी कारण इस कोटि के काव्यों को 'भ्रमरगीत' की परंपरा के अंतर्गत ही माना जाता है।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' द्वारा स जित ग्रंथ उद्धव-शतक है। इसके नामकरण में 'भ्रमरगीत' शब्द का अभाव है, पूरे ग्रंथ में केवल एक बार 'मधुप' शब्द का प्रयोग हुआ है-

'मिलि सो तिहारौ मधु मधुप हमारैं नेह,
देह में अछेह विष विषम बगारै हैं।' (छंद संख्या-75)

परंतु इसको भ्रमरगीत परंपरा का ग्रंथ माना जाता है, क्योंकि 'उद्धव-शतक' का विषय वही परंपरागत विषय-उद्धव-गोपी-संवाद एवं ज्ञान के ऊपर भक्ति की विजय है।

भक्तिकाल में भ्रमरगीत कवि–

(*i*) **भ्रमरगीत लिखने वाले अष्टछाप कवि–'**अष्टछाप' के कवियों में परमानंददास ने भ्रमरगीत की रचना की। उनके 'भ्रमरगीत' में सूर तथा नंददास के 'भ्रमरगीत' के समान विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया है-उनके कुछ ही पद भ्रमरगीत की काव्य-परंपरा में लिए जा सकते हैं। परमानंददास के भ्रमरगीत के पदों में सूर के पदों का विशेष प्रभाव है। इन्होंने साखी और चौपाई छंदों में रचना की है। परमानंददास ने 'मधुकर' शब्द का प्रयोग किया है, परंतु कहीं भी मधुप प्रवेश नहीं करता। इन्होंने सूर और नंददास की तरह सगुण भक्ति की स्थापना की है। गोपियों की विरह-कातरता का चित्रण इनके भ्रमरगीत की प्रमुख विशेषता है। भाव-व्यंजना की द ष्टि से परमानंददास के भ्रमरगीत के पद उच्चकोटि के हैं। इनकी श्रेष्ठता का उदाहरण द्रष्टव्य है-

"मोहन वह क्यों प्रीति बिसारी।
कहत सुनत समुझत उर अंतर दुःख लागत है भारी।।
एक दिवस खेलत वन भीतर बेनी सुमन संवारी।
बीनत फूल गयो चुभि कंटक ऐसी विथा बिचारी।।
हम पर कठिन हृदय अब कीनों लाल गोवर्धन धारी।
परमानंद बलबीर बिना हम मरत विरह की जारी।।

अष्टछाप के अन्य कवियों में कृष्णदास ने भ्रमरगीत-संबंधी कुछ पद लिखे, परंतु उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। चतुर्भुजदास के भ्रमरगीत संबंधी दो-तीन पद मिलते हैं।

'अष्टछाप' के सूर आदि कवियों ने भ्रमरगीत की जिस काव्य-परंपरा को जन्म दिया वह आज तक अबाध गति से चली आ रही है। भक्ति काल के इन कवियों ने 'भ्रमरगीत-काव्यधारा' में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया।

(*ii*) **नंददास का भ्रमरगीत**—सूर के पश्चात् नंददास का भ्रमरगीत महत्वपूर्ण है। इनका भ्रमरगीत नाटकीय प्रश्नोत्तर शैली में है। उद्धव गोपियों को ज्ञान का उपदेश देते हैं। गोपियां उनका खंडन करती हैं। इस प्रकार उद्धव अपने पक्ष के समर्थन में जो तर्क देते हैं गोपियां उनसे भी प्रबल तर्क देती हैं। इस प्रकार तर्क-वितर्क, उत्तर-प्रत्युत्तर, खंडन-मंडन के आधार पर कथानक का विकास होता है। गोपियों के तर्क से पराजित होकर उद्धव अपनी हार स्वीकार कर लेते हैं। नंददास की गोपियां ज्ञान-मंडिता विदुषी महिलाएं हैं। उद्धव अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि कृष्ण सर्वत्र व्याप्त हैं, वे निराकार हैं। वे अजन्मा, अनादि, हाथ पैर और मुख से रहित हैं, केवल ज्ञान के द्वारा ही उनको प्राप्त किया जा सकता है। गोपियां अपने प्रबल तर्क के साथ, सर्व अकाट्य युक्तियों के द्वारा उनके कथन का खंडन करती हैं-

'जो मुख नाहिन हुतो, कहौ किन माखन खायो ?
पांयन बिन गो-संग कहौ बन-बन को धायो ?
आंखिन में अंजन दियो गोवर्धन लियो हाथ।
नंद-यशोदा पूज हैं कुंवर कान्ह ब्रजनाथ।।
सखा सुन स्याम के ।।'

सूर की अपेक्षा नंददास के भ्रमरगीत में यह विशेषता है कि उसमें दार्शनिकता की प्रधानता है। सगुण रूप में पक्ष में इतने प्रत्यक्ष प्रमाणों के रहते हुए ब्रह्म के निर्गुण रूप को कैसे स्वीकार किया जा सकता है।

उद्धव निरुत्तर न हो जाते, तो करते ही क्या ? सूर के भ्रमरगीत में कुब्जा और राधा दोनों का नाम आया है परंतु नंददास के भ्रमरगीत में राधा का नाम ही नहीं है। नंददास की गोपियां जो व्यंग्य करती हैं उसमें भी सूर की गोपियां के व्यंग्य की अपेक्षा अधिक तीखापन है-

'कोई कहें री सुनौ और इनके गुन आली।
बलि राजा पै गये भूमि मांगन बनमाली।।
मांगत बावन रूप धरि नापत करी कुठांव।
सत्य धर्म सब छांड़ि कै धरयो पीठ पैं पांव।।
लोभ की नाव पै।।'

उद्धव अपनी ज्ञान गरिमा का प्रसार करते हैं और कहते हैं कि श्रीकृष्ण को योग के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। उद्धव की बात का उत्तर गोपियां बहुत ही स्वाभाविक ढंग से देती हैं। वे सूर की गोपियों के एकदम निकट आ जाती हैं-

'ताहि बताबहू जोग जोग ऊधौ जेहि भावै।
प्रेम सहित हम पास नंद नंदन गुन पावै।
नैन बैन मन प्रान में मोहन गुन भरपूरि।
प्रेम पियूषै छांड़ि कै कौन समेटे धूरि।
सखा सुनु स्याम के।'

नंददास की गोपियां जब कृष्ण का नाम सुनती हैं वे प्रेम-विह्वल एवं उसी में मग्न हो जाती हैं। इनकी गोपियां भावुकता में कम नहीं हैं। कृष्ण की स्म ति में वे कातर हो उठती हैं-

'ऐसे में नंदलाल रूप नैनन के आगे।
आय गए छवि छाय बने पियरे उर बागे।
ऊद्धव सों मुख फेरि कै बैठि सकुचि कह बात।
प्रेम अम त मुख तें स्रवत अंबुज नैन चुआत।।
तरक रस रीति की।'

गोपियों के प्रेम-नेम तथा उनकी वाक्पटुता का उद्धव के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है :-

'देखत इनको प्रेम-नेम उद्धव को भाज्यौ।
तिमिर भाव आवेश बहुत अपने मन लाज्यौ।।'

भक्ति की मूर्तिमती गोपियों के सम्मुख उद्धव नतमस्तक हो जाते हैं-

'मन में कह रज पाय कै लै माथे निज धारि।
हौं तो कृत-कृत ह्वै रह्यौ त्रिभुवन आनंद बारि।।
वंदना जोग ये।।'

नंददास का 'भ्रमरगीत' अपनी मौलिकता में महत्वपूर्ण है। उसमें तर्क-निपुणता और दार्शनिकता के साथ-साथ सरलता और भाव-व्यंजना भी है। नंददास ने दार्शनिक वाद-विवाद कराकर अंत में सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा की है। 'भ्रमरगीत' छंद का अविष्कार सर्वप्रथम नंददास के ही 'भ्रमरगीत' में मिलता है।

(*iii*) **तुलसी का भ्रमरगीत**—गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीकृष्ण गीतावली तथा कवितावली में 'भ्रमरगीत' प्रसंग का समावेश किया है। 'कवितावली' में इससे संबंधित केवल दो छंद-एक सवैया (छंद संख्या-134) और एक कवित्त (छंद संख्या-135) उत्तरकांड में मिलते हैं। कवितावली में गोपियों की मार्मिक व्यथा की अभिव्यक्ति हुई हैं। इन छंदों में गोपियों का सारा आक्रोश कुब्जा के प्रति है। वे कहती हैं कि उनके लिए कुब्जा ने ही योग की कथा भेजी है और स्वयं कृष्ण को वरण करके वह आनंद मना रही है।

'जोग कथा पठई ब्रज को सब सो,
सठ चेरी की चाल चालाकी।
ऊधौ जू ? क्यों न कहै कुबरी,
जो बरी नटनागर हेरि हलाकी।
जाहि लगै पर जानै सोई,
तुलसी सो सुहागिनि नंदलला की।
जानी है जानपनी हरि की अब,
बांधियैंगी कछु कोटि कला की।' (छंद 134, उत्तरकांड, कवितावली)

'श्रीकृष्ण गीतावली' में तुलसी ने इस प्रसंग का पर्याप्त विस्तार किया है। इसमें कुछ पद तो ऐसे मिलते हैं जिनमें सूर एवं तुलसी के नाम की छाप छोड़कर पूर्णरूप से शब्द साम्य है-अर्थात् यदि तुलसी, सूर नाम हटा दिए जाएं तो यह बताना कठिन है कि यह पद किसके द्वारा रचित है। तुलसी ने उद्धव के लिए 'मधुप', 'मधुकर' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। तुलसी के भ्रमरगीत में भ्रमर का प्रवेश नहीं होता, परंतु गोपी-उद्धव संवाद में भ्रमरगीत की समस्त विशेषताएं पाई जाती हैं। मर्यादा-स्थापन की प्रकृति तुलसी के भ्रमरगीत की मौलिक उद्भावना है। इनकी गोपियां सूरदास और नंददास की भांति निर्लज्ज और चंचल नहीं हैं। वे उद्धव के साथ बहुत ही विनम्र भाव से वार्तालाप करती हैं। वे न सूर की गोपियों की तरह वाक्पटु हैं और न नंददास की गोपियों की तरह तर्क ही करती हैं। गोपियां अपनी भक्ति संबंधी विनयशीलता की मर्यादा दिखाकर ही ज्ञान-गर्वित उद्धव का हृदय जीतती हैं।

भक्तिकाल में तुलसी के अतिरिक्त हरिराय, मलूकदास, मुकुन्ददास, घासीराम एवं रसखान आदि ने भी भ्रमरगीत प्रसंग पर स्फुट छंद लिखे। इस क्षेत्र में हरिराय की 'स्नेह लीला', मलूकदास की 'ऊधौ पचीसी' तथा रसखान के कुछ कवित्त सवैया उल्लेखनीय हैं।

तुलसी के पश्चात् भ्रमरगीत की परंपरा का विकास रहीम के काव्य में मिलता है। इन्होंने बरवै छंद में भ्रमरगीत की रचना की। इसमें गोपियों की मार्मिक मनोव्यथा का सुंदर चित्रण हुआ। रहीम के भ्रमरगीत के समान गोपियों की तन्मयता अन्यत्र नहीं मिलती। निम्न उदाहरण में 'हास्य' शब्द हृदय की मार्मिक व्यथा का सागर उड़ेल देता है-

'घेर रह्यौ दिन रतियां बिरह बलाय।
मोहन की यह बतियां ऊधौ हाय।।'

रीतिकाल के भ्रमरगीत—कवि

रीतिकाल के कई कवियों ने भ्रमरगीत प्रसंग पर फुटकर रचनाएं लिखीं। उनकी रचनाओं में 'मधुकर', 'मधुप', 'भ्रमर' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन रचनाओं में भावनुभूति है। परंतु श्रंगार की बातों को ही किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति है। इस काल में इस प्रसंग पर जो भी रचनाएं लिखी गईं उन पर सूर के भ्रमरगीत का स्पष्ट प्रभाव है। रीतिकाल में किसी भी कवि ने 'भ्रमरगीत' के प्रसंग को लेकर स्वतंत्र अथवा क्रमबद्ध रचना नहीं की है। इन छंदों में भावानुभूति है और उनके द्वारा श्रंगारिक भावनाओं को ही व्यक्त किया गया है। 'भ्रमरगीत' प्रसंग पर लिखने वाले कवियों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :-

(1) **मतिराम**—मतिराम के भ्रमरगीत संबंधी फुटकर छंदों में सूर आदि की परंपरा का ही पालन है। इन्होंने गोपियों के विरह का मार्मिक चित्रण किया है। मतिराम की गोपियां कृष्ण के प्रति झुंझलाहट प्रकट करती हैं। उनमें स्पष्टवादिता है। वे उद्धव के प्रति आदर भाव व्यक्त करती हैं। उनमें चपलता और बौद्धिकता है।

(2) **देव**—देव ने चमत्कारपूर्ण उक्तियों में गोपियों की मनोदशा का चित्रण किया है।

'सांवरे लाल को सांवरो रूप मैं नैनन कौ कजरा कहि राखो।'

× × × × ×

'या तन तें बिछुरे तो कहा,
मन ते अनतें जु बसौ तब जानों।।'

वे उद्धव के प्रति भी व्यंग्य करती हैं-

'को हमको तुमसे तपसा बिन जोग सिखावन आइ है ऊधौ।।'

देव की गोपियां कुब्जा के प्रति अद्भुत व्यंग्य करती हैं, उनके कथनों में सौतियाडाह की भावना अधिक है। वह 'असूया' संचारी भाव की सुंदर अभिव्यंजना करती है।

देव के इस प्रसंग के अंतर्गत सगुण और निर्गुण का द्वंद्व न होकर राग और विराग का द्वंद्व है। भ्रमरगीत काव्य के विकास में देव की मौलिक देन कही जाती है।

(3) **आचार्य भिखारीदास**—आचार्य भिखारीदास ने भी भ्रमरगीत प्रसंग पर कुछ फुटकर सवैया लिखे हैं। इनमें गोपियों की विरह-व्यथा का मार्मिक चित्रण हुआ है। इस छंद में गोपियां उद्धव को संबोधन करती हैं। उनके कथन में कुब्जा के प्रति असूया संचारी भाव की अभिव्यक्ति अधिक है -

'ऊधौ ! तंहाई ले चलौ हमैं, जहं कूबरी कान्ह बसे एक ठौरी।
देखिय दास अघाय-अघाय, तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी।
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र, लगाइए कान्ह सों प्रीति की डोरी।
कूबरी भक्ति बढ़ाइए 'बन्दि' चढ़ाइए चंदन-बंदन रोरी।।'

(4) **घनानंद**—घनानंद ने भ्रमरगीत-प्रसंग को लेकर स्फुट छंदों की रचना की है। इन्होंने गोपियों के समक्ष सगुण और निर्गुण के द्वंद्व को उपस्थित किया है। इस द्वंद्व में उन्होंने सगुण पक्ष की विजय दिखाई है। घनानंद के छंदों में रीतिकालीन भाव, भाषा, अलंकार की विशेषताएं स्पष्ट दिखाई देती है।

घनानंद की गोपियां भ्रमर को स्वार्थ में अंधा कहती हैं और अपनी निराशामय वेदना व्यक्त करती हुई कृष्ण के प्रति अपने अनन्य प्रेम की अभिव्यक्ति करती हैं।

(5) **पद्माकर**—रीतिकाल में 'भ्रमरगीत-प्रसंग' को लेकर रचना करने वाले कवियों में पद्माकर का स्थान महत्वपूर्ण है। इन्होंने इस परंपरा में महत्वपूर्ण योगदान किया है। पद्माकर की गोपियां कृष्ण के प्रति तन्मयता भी व्यक्त करती हैं। और कुब्जा को उपालंभ भी देती हैं-

'जैसे को तैसो मिलै, तब ही जुरत सनेह।
ज्यों त्रिभंग तन स्याम को, कुटिल कूबरी देह।'

इतना ही नहीं, पद्माकर की गोपियां प्रेम के उज्ज्वल पक्ष को सामने भी प्रस्तुत करती हैं :-

'ऊधौ वे गोविंद कोऊ औरै मथुरा में,
यहां तो गोविंद मोहि मांहि रहत हैं।'

(6) **सेनापति**—सेनापति ने भ्रमरगीत-प्रसंग को लेकर कुछ छंदों का स जन किया है। उनकी गोपियों में नंददास की गोपियों की तरह बौद्धिकता है। इनकी गोपियां तर्क करती हुई प्रेम को ही प्रधानता देती हैं। सेनापति ने इस प्रसंग में कुब्जा को ही महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

इनके अतिरिक्त भ्रमरगीत प्रसंग पर क्रमबद्ध रचना करने वालों में रसनायक, ग्वाल कवि और ब्रजनिधि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'रसनायक' ने 'विरह-विलास' की रचना की है। इसमें दोहे और कवित्त का क्रम रखा गया है। इनके काव्य में गोपियों के हृदय का अत्यंत स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया गया है।

'ग्वाल कवि' ने 'प्रेम-पच्चीसी' लिखी, जिसमें गोपियां उद्धव को जली-कटी सुनाती हैं। इसमें गोपियों की विरह-व्यथा की पीड़ा का मार्मिक वर्णन हुआ है।

'ब्रजनिधि' ने अपनी रचना 'प्रीति-पच्चीसी' में उद्धव-गोपी-संवाद में उद्धव की योग साधना का जोरदार परिहास करवाया है।

रीतिकाल के अन्य कवियों ने भी भ्रमरगीत-प्रसंग को लेकर कुछ स्फुट छंद लिखे हैं। इनके इन छंदों में भ्रमरगीत काव्य परंपरा के विकास में पर्याप्त योगदान किया।

आधुनिक काल के भ्रमरगीत—कवि

भक्तिकाल के कृष्ण भक्त कवियों ने भ्रमरगीत काव्य की जो धारा प्रवाहित की थी, वह रीतिकाल में क्षीण हो गई, परंतु आधुनिक युग में आकर भ्रमरगीत प्रसंग को पुनः नवीन शक्ति प्राप्त हुई। कुछ कवियों ने अपनी प्रतिभा से इस प्रसंग को नवीन आलोक प्रदान कर उसमें नवजीवन का संचार कर दिया है। आधुनिक युग के कवियों ने भ्रमरगीत-प्रसंग पर छंद लिखे और स्वतंत्र रूप में भी भ्रमरगीत-काव्य की रचना की। इनमें भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी, 'प्रेमधन', अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरणगुप्त, सत्यनारायण 'कविरत्न', जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त कवियों में भारतेंदु और प्रेमघन ने भ्रमरगीत प्रसंग पर स्फुट पद लिखे हैं जो सूर से बहुत अंशों में प्रभावित हैं। इनमें भारतेंदु में प्रेमघन की अपेक्षा अधिक भावुकता एवं गांभीर्य है।

(1) **भारतेंदु हरिश्चंद्र**—भारतेंदु ने 'भ्रमरगीत-प्रसंग' को लेकर कुछ स्फुट छंद लिखे हैं। इनके भाव पक्ष पर सूर तथा कला पक्ष पर रीतिकाल का व्यापक प्रभाव है। भारतेंदु की गोपियां प्रारंभ में सूर की गोपियों की तरह उद्धव के प्रति आदर व्यक्त करती हैं परंतु उनके योग का उपदेश

सुनकर वे क्रोधित हो भड़क उठती हैं। उनमें नियतिवाद अधिक है। इन गोपियों के कथन में गंभीरता और क्षोभ का वातावरण द्रष्टव्य है-

'तुम ऊधो यही कहियो उनसों, हम और कछु नहिं जानति हैं।
पिय प्यारे तिहारे बिना, अंखिया दुखिया नहिं मानति हैं।।'

(2) **बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'**—प्रेमघन जी ने सूर और भारतेंदु की शैली पर 'भ्रमरगीत' विषयक स्फुट छंद लिखे हैं। इनमें कुब्जा के प्रति भी मार्मिक व्यंग्य मिलता है। गोपियों के सरल स्वाभाविक तर्कों के सम्मुख उद्धव हतप्रभ हो जाते हैं।

(3) **सत्यनारायण कविरत्न**—कविरत्न सत्यनारायण ने आधुनिक युग में ब्रजभाषा में स्वतंत्र रूप से भ्रमरगीत की रचना की। परंपरागत विषय को सत्यनारायण ने मौलिकता पूर्ण तरीके से मोड़ दे दिया। उन्होंने यशोदा के माध्यम से मात -भूमि की व्यथा का चित्रण किया है। इस भ्रमरगीत में न तो कुब्जा पर व्यंग्य है और न निर्गुण-सगुण का खंडन-मंडन ही उपस्थित किया गया है। इसमें लोकहित को प्रमुखता दी गई है। यशोदा की व्यथा अपनी व्यथा मात्र न होकर समस्त ब्रज-भूमि की व्यथा है-

'या बिनु ग्वालिनि कों, को हित की बात सुझावै।।
अरु स्वतंत्रता समता, सह भ्रात ता सिखावै।।
यदपि सकल विधि से सहत दारुण अत्याचार।
पै न कछु मुख सो कहत, कोरे बने गंवार।।
कोऊ अगुआ नहीं।।'

(4) **अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध**—हरिऔध ने भ्रमरगीत-प्रसंग का वर्णन 'प्रियप्रवास' में बहुत विस्तार से किया है। उन्होंने वर्णन में मौलिकता का समावेश किया है। इन्होंने इस प्रसंग को आधुनिकता के रंग में रंग दिया है।

'प्रियप्रवास' के भ्रमरगीत की कथा क्रमबद्ध है तथा श्रीमद्भागवत के ही समान है। जैसे इसमें द्वारिका से लेकर ब्रज तक के पथ का विस्त त वर्णन व्याप्त है तथा यशोदा के द्वारा कृष्ण का मार्मिक गुणानुवाद है।

प्रियप्रवास की गोपियां गंभीर हैं। उनकी उक्तियों में न व्यंग्य है और न कोई उपालंभ। राधा के रूप में 'हरिऔध' ने आधुनिक भारतीय नारी का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। उक्तियों में गांधीवाद का प्रभाव है। उद्धव के उपदेश के फलस्वरूप राधा का कृष्ण-प्रेम विश्व-प्रेम में परिणित हो जाता है। राधा लोक-सेविका के रूप में सामने आती है। वह उद्धव से कहती है-

'मैं जैसी हूं निज दुख से कष्टिता शोक-मग्ना।
हूं वैसी ही व्यथित ब्रज के वासियों के दुख से।।'

राधा उद्धव के माध्यम से कृष्ण के लिए लोक-सेवा का संदेश भेजती है और कामना करती हैं कि, "प्यारे जीवें जगहित करें गेह चाहे न आवें।"

'प्रियप्रवास' की राधा की यह कामना वस्तुतः सूर की गोपियों की कामना का ही नवीन संस्करण है। सूर की गोपियां भी तो यह कहती हैं-

'जहं जहं रहौ राज करो सुख सों लेहु कोटि सिर भार।
सूर स्याम हम देत असीस हैं न्हात रवसै जनि बार।।'

उद्धव राधा के समक्ष निरुत्तर हो जाते हैं और उनकी चरण रज लेकर मथुरा को विदा होते हैं।

(5) **मैथिलीशरण गुप्त**—मैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' में भ्रमरगीत का प्रसंग उठाया है। इसमें उन्होंने परंपरा से चली आती हुई भ्रमरगीत की समस्त परंपराओं का सन्निवेश किया है। इसमें गोपियों की मार्मिक वेदना एवं अनन्य प्रेम की तन्मयता जो दिखाई गई है, वह मौलिक और अनूठी है। गुप्त की गोपियां यदि एक ओर शील, विनय की मूर्ति हैं, तो दूसरी ओर वाक्चतुर और स्पष्टवादिनी भी हैं। वे कहती हैं-

'अरे विहंग, लौट आ, तेरा नीड़ रहा इस वन में।
छोड़ उच्च पद की उड़ान वह, क्या है शून्य गगन में ?
× × × × ×
ज्ञान योग से हमें हमारा यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति; प्रकट, रूप गुण, नाट्य कवित्त कला है।'

'द्वापर' में यह प्रसंग केवल प्रासंगिक रूप में ही उठाया गया है।

(6) **जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'**—रत्नाकर का 'उद्धव-शतक' भ्रमरगीत काव्य-परंपरा की अंतिम महत्वपूर्ण कड़ी है। इसमें आध्यात्मिकता, लौकिकता, भावुकता, वाक्पटुता, विनम्रता आदि सभी कुछ एक साथ देखने को मिल जाती है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि कृष्ण और राधा एवं गोपियों को समान रूप से वियोग विह्वल दिखाया गया है। उभय पक्षीय प्रेम का परिपाक पाठक को आत्म-विभोर कर देता है।

इसमें यद्यपि भ्रमर का समावेश नहीं है, तथापि इसमें हमें सूर की गोपियों की उक्तियों से मिलने वाली भाव-भंगिमा के दर्शन होते हैं-

'केती मिली मुकुति वधू वर के कूबर में,
ऊबर भई जो मधुपुर में समानी ना।'

इस ग्रंथ में हमको ब्रज का वही पुरातन प्रेमासिक्त वातावरण देखने को मिलता है। कृष्ण कहते हैं-

'ऊधौ सुख-सम्पत्ति-समाज ब्रज-मंडल के,
भूले हूं न भुलैं हमको भूले हू भुलाइवो।'

ब्रज-प्रेम के साथ-साथ ब्रज का प्रेमासिक्त वातावरण-

'गोकुल के गांव की गली में पग पारत ही,
भूमि के प्रभाव भाव औरै भरिवै लगे।'

गोपियां उद्धव को बहुत ही स्पष्ट और करारा उत्तर देती है-

'चुप रहो ऊधो, सूधौ पथ मथुरा को गहो,
कहौ न कहानी जो विविध कहि आये हो।'

अंत में उद्धव के ज्ञान की पराजय दिखाकर भक्ति तथा प्रेम की विजय दिखाई गई है।

भ्रमरगीत-परंपरा श्रीमद्भागवत काल से लेकर अब तक चली आ रही है। सूर ने श्रीमद्भागवत को आधार अवश्य बनाया किंतु स्थान-स्थान पर उसमें अपनी छाप भी लगाई। भावगवतकार ने कृष्ण की व्यथा का चित्रण बिल्कुल नहीं किया है। उनका उद्देश्य गोपियों द्वारा उद्धव को शिक्षा दिलाना भी नहीं है। वे तो उद्धव को अपने माता-पिता यशोदा तथा नंद एवं गोपियों की विरह-व्यथा को दूर करने के लिए भेजते हैं। वहां कुब्जा अपना कोई संदेश नहीं भेजती है। श्रीमद्भागवत में उद्धव गोपियों के अनन्य प्रेम से प्रभावित होते हैं किंतु उन्हें उपदेश निर्गुण ब्रह्म का ही देते हैं। वे अंत तक ज्ञानी और योगी ही बने रहते हैं। इस प्रकार सूर ने 'उद्धव गोपी संवाद'

में सुरूच्यानुसार यथास्थान पर्याप्त परिवर्तन किये। उनके परवर्ती भ्रमरगीतकारों पर उनका अत्यधिक प्रभाव पाया जाता है। किसी कवि ने उनकी भावुकता को अपनाया तो किसी ने उनकी वाक् चातुरी को प्रमुखता दी और किसी ने उनकी तार्किकता को ही सर्वोपरि स्थान दिया। निर्गुणोपासना पर सगुणोपासना की प्रतिष्ठा की। सूर ने कृष्ण के संदेश रूप में उपदेश कहलाकर विषय को बहुत ही स्वाभाविक बना दिया है। सूरदास के 'भ्रमरगीत' में भ्रमरगीत के समस्त लक्षणों का निर्वाह एवं समस्त अनिवार्य अवयवों का समावेश दिखाई देता है। इसलिए भ्रमरगीत परंपरा में सूर के भ्रमरगीत का अप्रतिम स्थान है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमरगीत परंपरा में जो स्थान सूर को प्राप्त है, उस तक कोई अन्य कवि नहीं पहुंच पाया है। काव्य-क्षेत्र में सूर सूर्य बनकर चमकते हैं, उसी प्रकार भ्रमरगीत परंपरा में भी वे विशेष प्रकाशदीप्त हैं। सूर का भ्रमरगीत एक उपालंभ काव्य है, जिसमें नारी-मन की व्यथा, ऊहापोह तथा एकनिष्ठ प्रेम की तन्मयता फूट-फूटकर भरी है। आचार्य शुक्ल ने सूर की महानता को स्वीकार करते हुए लिखा है-

"सूर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्धतापूर्ण अंश भ्रमरगीत हैं, जिसमें गोपियों की वचन-वक्रता अत्यंत मनोहारिणी है। ऐसा सुंदर उपालंभ काव्य कहीं नहीं मिलता।"

इस प्रकार यदि सूर के भ्रमरगीत प्रसंग को इस परंपरा का आदर्श और सर्वाधिक प्रेरणास्पद आलोक-स्तंभ मान लिया जाए, तो तनिक भी अतिश्योक्ति नहीं होगी। सूर के अनुकरण पर ही आज तक भ्रमरगीत की परंपरा अनवरत रूप में चल रही है, यह सूर के भ्रमरगीत की महानता है।

अध्याय 9
भ्रमरगीत प्रतिपाद्य

भूमिका

'भ्रमरगीत' सूरसागर का अति महत्वपूर्ण अंश है जिससे काव्य और दर्शन दोनों पक्षों की पुष्टि होती है। काव्य-रस की द ष्टि से सूरसागर का यह अंश व्यंजना, माधुर्य एवं वियोग श ंगार की सर्वश्रेष्ठ रचना है। सूर भक्त थे। भगवत्-प्रेमाभक्ति-महिमा अनुभूति को व्यक्त किया करते थे। पुष्टि-संप्रदाय में दीक्षित सूर का उद्देश्य उसके सिद्धांतों का प्रतिपादन करना नहीं था, स्वभावतः सामयिक वातावरण और अभिव्यक्ति की सहज लपेट में सामान्य दार्शनिक बातें भी आ गई हैं, जिनका संबंध पुष्टि-संप्रदाय से अधिक है।

सूर के समय में ज्ञान योग, कर्मयोग और भक्ति योग का त्रिकोणीय संघर्ष चल रहा था। वेदांती आंतरिक शुद्धि, जप, तप आदि को प्रमुखता देते थे और नाथपंथी हठयोग को। संत निराकार निर्गुण की उपासना का प्रचार कर रहे थे और भक्ति-आंदोलन जोर पकड़ चुका था। भ्रमरगीत में निव त्ति और प्रव त्ति दोनों मार्गों का संघर्ष है।

सगुण की महत्ता

'भ्रमरगीत' के माध्यम से सूर ने निर्गुण पर सगुण भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया है। इस द ष्टि से कवि ने सीधे-सादे कथन द्वारा सिद्धांतों का प्रकटीकरण करके अपितु इसके लिए तर्क-बुद्धि से काम लिया है। उद्धव ज्ञान योग और निर्गुण भक्ति में गोपियों को दीक्षित करने आए थे। सगुण-भक्ति की मजीठा में रंगी हुई गोपियों को 'धोए मौ न छूटिये' वाली कहावत चरितार्थ होती है। सगुण-निर्गुण के संघर्ष में कवि ने सगुण की महत्ता स्वीकार की है। कृष्ण के विरह से मुक्ति पाने का मात्र उपाय उद्धव ने निर्गुण-उपासना और योग साधना को बताया, किंतु सगुण कृष्ण की उपासिकाएं निर्गुण को न समझ सकीं।

श्रीमद्भागवत की कथावस्तु

भ्रमरगीत-प्रसंग का सर्वप्रथम दर्शन श्रीमद्भागवत् में होता है। इसके अंतर्गत वह प्रसंग इस प्रकार है कि श्रीकृष्ण कंस के निमंत्रण पर अक्रूर जी के साथ गोकुल से मथुरा चले गए। वहां कंस को मारकर उन्होंने अपने पिता वासुदेव का उद्धार किया। उनको मथुरा में आए पर्याप्त दिन हो गए हैं। वे अवधि के बीत जाने पर भी गोकुल नहीं लौटे। इसी बीच कंस की कुब्जा नाम की दासी को कृष्ण ने उसकी सेवा से प्रसन्न हो अपनी भक्ति की अधिकारिणी बना लिया। गोकुल में नंद, यशोदा कृष्ण के बिना अत्यंत व्याकुल थे। गोपियों का तो कहना ही क्या ? जिनके साथ कृष्ण ने अनेक प्रेम-लीलाएं की थीं। बहुत समय बाद कृष्ण ने गोपियों को ज्ञानोपदेश द्वारा समझाने के लिए अपने सखा उद्धव को ब्रज प्रस्थान करने के लिए कहा। श्रीकृष्ण ने उद्धव को ही क्यों भेजा। इसका कारण यह था कि उद्धव को अपने ज्ञान का अत्यंत गर्व था। कृष्ण द्वारा उनको गोपियों के पास भेजने का मूल अभिप्राय निर्गुण पर सगुण की विजय करवाना तथा उद्धव को प्रेमदीक्षित कर उनके गर्व को चकनाचूर करना था।

ज्ञान

उद्धव गोपियों की विरह-व्यथा का कारण अज्ञान मानते हैं। वे गोपियों से कहते हैं :-

'ज्ञान बिना कहुंवै सुख नाहीं।
घट घट ब्यापक दारु अगिनि ज्यौं, सदा बसै उर माहीं।
निरगुन छांड़ि सगुन कौं दौरतिं, सुधौं कहौ किहिं पाही।
तत्त्व भजौ जो निकट न छूटै, ज्यौं तनु तैं परछाहीं।
तिहि तैं कहौ कौंन सुख पायौ, जिहिं अब लौं अवगाहीं।
सूरदास ऐसैं करि लागत, ज्यौं कृषि कीन्हें पाहीं।।'

वे परब्रह्म का ध्यान करने का उपदेश देते हैं, जिसे जीव अज्ञानवश नहीं देख पाता। तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करके ही गोपियां सोना बन सकती हैं :-

'तत्त्व भजैं वैसी ह्वै जैहौं, पारस परसें लोहु।
मेरो बचन सत्य करि मानौ, छांड़ौ सबको मोहु।।'

क्योंकि-

'जब लगि ज्ञान हृदै नहिं आवै।
तब लगि कोटि जतन कर कोऊ, बिन विवेक नहिं पावै।।'

प्रेम-रस से मत्त भक्ति की प्रतीक गोपियां ज्ञान के पारस को अपने लिए व्यर्थ समझती हैं क्योंकि वे स्वयं कृष्ण के प्रेम में सुवर्णमयी हो गई हैं। पारस का महत्त्व लोहे के निकट कुछ भी हो, सोने की उसको क्या जरूरत ?

'सोहत लौह परसि पारसि कौ, ज्यौं सुवरन बरवानि।
पुनि वह कहा चारु चुम्बक सौं लटपटाइ लपटानि।।'

भगवान्-वियोग में तड़पने वाले भक्त के नयनों के लिए उनके दर्शन ही पथ्य हैं, ज्ञान की बात शलाका का काम करती है जिनके कर्ण कृष्ण की वेणु का रसास्वादन किए हों, उन्हें ज्ञान की कथा की क्या जरूरत।

भक्ति

सूर ने निर्गुण की अपेक्षा सगुण का एवं ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का महत्व प्रतिपादित करने के लिए ही भ्रमरगीत की रचना की है।

उद्धव नंद-यशोदा से कृष्ण का संदेश देने के अनन्तर गोपियों की ओर उन्मुख होकर कृष्ण के संदेश के रूप में ज्ञान की चर्चा छेड़ते हैं। इसी बीच एक भौंरा उड़ता-उड़ता गोपियों के पास आकर गुनगुनाने लगता है, तो गोपियां उसी भ्रमर को संबोधित करके मन में जो आता है उद्धव को कहने लगती हैं-

'पूछन लगीं ताहि गोपिका कुब्जा तोहि पठायौ।
कैधौं सूर स्याम सुंदर कौ हमें संदेसौ लायौ।।'

इसीलिए इस प्रसंग का नाम भ्रमरगीत पड़ा। उद्धव उनके प्रेम भरे उलाहने सुनते हैं। इससे उनका ज्ञान गर्व चकनाचूर हो जाता है और वे अपनी विराग की तूमड़ी में प्रेम-रस भर लेते हैं।

सूर के भ्रमरगीत से यह स्पष्ट होता है कि वह निर्गुण की अपेक्षा सगुण का एवं ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित करना चाहते थे इसका अर्थ यह नहीं कि सूर ज्ञान-मार्ग से

अनभिज्ञ थे। उन्होंने निराकार ब्रह्म की महत्ता 'अविगत गति कछु कहत न आवै' कहकर स्वीकारी है, परंतु अपने युग की नवीन परिस्थितियों के कारण 'भ्रमरगीत' में सूर ने ज्ञान को निस्सार बताने की चेष्टा की है और उसके लिए गोपियों को आधार बनाया है।

उद्धव द्वारा प्रदत्त निर्गुण के ज्ञानोपदेश से गोपियों की विरह-वेदना और बढ़ जाती है। वे तो अपना सब कुछ कृष्ण के सगुण रूप पर अर्पित कर चुकी हैं, अब उनके पास और कुछ भी नहीं, जिससे निर्गुण की उपासना कर सकें। सुर की सगुणोपासिका गोपियों ने अपने पक्ष का मंडन करने के लिए उद्धव के सामने जो तर्क दिए हैं उनसे उद्धव निरुत्तर हो जाते हैं। गोपियां उद्धव से कहती हैं कि संसार में जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह सब सगुण ब्रह्म की सत्ता है, इतने भारी पहाड़ को तुम तिनके की ओट में छिपाने का प्रयास क्यों कर रहे हो ?

'सुनि है कथा निर्गुण की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन-सुमेरू प्रगट देखियत तू त न की ओट दुरावत।।'

साधना

उद्धव समझे कि ज्ञान की बात घनी बारीक है और गोपियों की बुद्धि मोटी। इसलिए पहले ज्ञान के स्थूल पक्ष 'साधना' को ही इनके गले उतारा जाए। इसीलिए वे योग के साधना-पक्ष की मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार की क्रियाएं अपनाने के लिए कहते हैं और फुनगी छोड़कर जड़ पकड़ लेते हैं-

'कर समाधि अन्तरगति ध्यावहु यह उनकौ उपदेश।
यह संदेश कह्यौ है माधौ, करि विचार जिय साधन साधौ।
इड़ा पिंगला सुषवन नारी, सुन्य सहज में बसत मुरारी।।'

अब तो गोपियों को हरि प्रेम का आस्वादन करने वाली गोपियों को संदेह हो गया। वे समझने लगीं कि उद्धव को कृष्ण ने नहीं भेजा क्योंकि जिस कृष्ण ने-

'अंग-अंग आभूषन अपने, कर करि हमहिं बनाए।
सूरदास प्रभु कैसे तुम कर, कंधा जोरि पठाए।।'

जरूर दाल में कुछ काला है। कहीं उद्धव परिहास ही तो नही कर रहे।

प्रेम

सूरदास योग की अपेक्षा भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, किंतु वे योग को सर्वथा हीन-द ष्टि से नहीं देखते। योग का मजाक उड़ाने में उनका तात्पर्य यही है कि भक्ति योग की अपेक्षा सहज साध्य है। योग की साधना कठिन है; अतः सुकुमार नारियों को योग साधन की सलाह देना एक विषमता मात्र है। उनके भावुक हृदय के लिए प्रेम मार्ग का अनुकरण ही श्रेयस्कर है :-

'आए हैं ब्रज के हित ऊधौ, जुवतिनि कौ लै जोग।
आसन, ध्यान, नैन मूंदै सखि, कैसे कढ़ै वियोग।।'

प्रिय से संबंधित बातें प्रिय लगती हैं। उद्धव के हाथ से श्याम की पाती राधा अपने हाथ में लेकर देखती है, सीने से लगाती है तथा रोने लगती है-

'निरखत अंक श्याम सुंदर के, बार-बार लावतिं छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलिकै, ह्वै गइ स्याम स्याम जू की पाती।।'

आंसुओं के गिरने से पाती की स्याही फैल गई और वह श्याम की तरह काली हो गई मानो श्याम-कृष्ण रूप हो गई। अन्य पदों में मनोहर भाव द्रष्टव्य होते हैं-

'संदेसनि मधुबन कूप भरे।
अपने तौ पठवत नहिं मोहन, हमरे फिरि न फिरे।
जिते पथिक पठए मधुबन कौं, बहुरि न सोध करे।
कै वै स्याम सिखाइ प्रमोधे, कै कहुं बीच भरे।
कागद गरे मेघ, मसि खूटी, सर दव लागि जरे ?'

कुब्जा के प्रति गोपियों की व्यंग्योक्ति व कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम दर्शनीय है। उद्धव अपनी बात कहे जाते हैं, पर गोपियां विश्वास ही नहीं करतीं कि यह श्याम का संदेश है। वे उनसे कहती हैं -

'ऊधौ ! जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यौ है नंदकुमार।
यह न होय उपदेश स्याम को कहत लगावन छार।।'

गोपियां उद्धव को भोला व्यक्ति समझकर अनुमान लगाती हैं कि कहीं कृष्ण ने उनके हाथ संदेशा भेजकर हंसी न की हो। अतः वह उनसे पूछती हैं -

'ऊधौ ! जाहु तुम्हें हम जाने।
× × × ×
सांच कहो तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हें पठायौ तब नेकहु मुस्काने।।'

गोपियां कभी अपने दुःख का वर्णन करती हैं-

'बिनु गुपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब ये लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।।'

इतना दुःख सहन करने के पश्चात् भी गोपियां कृष्ण का स्मरण करती ही हैं, कृष्ण के प्रेम को सर्वस्व समझती हैं। उद्धव उन्हें ज्ञान देते हैं, परंतु गोपियां उन्हें कहती हैं-

'मन मधुकर ! कौन मनायौ माने ?
सिखहु तिनहिं समाधि की बातें जे हैं लोग सयाने।
हम अपने ब्रज ऐसेहि बसिहैं बिरहि बाय बौराने।'

सूर की गोपियां निर्गुण-ब्रह्म एवं ज्ञान-योग की चर्चा को बैठे-ठाले की माथा पच्ची मानती हैं। ज्ञान-योग की चर्चा बे-सिरपैर की बात है। वह कहती हैं कि हमारे पास हे उद्धव ! तुमसे सिर खपाने का समय नहीं है। तुम्हारी निर्गुण नीति हमारे लिए व्यर्थ है।

गोपियां सगुण-कृष्ण की तुलना में उद्धव के निर्गुण-निराकार को तुच्छ मानती हैं। जिस निर्गुण ईश्वर का न कोई रूप है, न कोई वर्ण, जिसे देखा ही नहीं जा सकता, वह भला कृष्ण की सुमधुर छवि के समक्ष कहां टिक सकता है ? बेमेल अगम्य निर्गुण ईश्वर भला अम तरूप आनंदमय सगुण कृष्ण के समान अमूल्य कैसे हो सकता है ?

'मधुकर ! चल आगे तें दूर।
जोग सिखावन को हमैं आयो बड़ो निपट तू क्रूर।।
जो घट रहत स्याम घन सुंदर सदा निरंतर पूर।
ताहि छांदि क्यों-सून्य अराधैं, खोवैं अपनो मूर।।'

सूर की गोपियां ज्ञान की कितनी कद्र करती हैं यह बात उद्धव के प्रति उनके व्यवहार से स्पष्ट हो जाती है। उद्धव ज्ञान की गठरी लिए हुए ब्रज में घूमते हैं, गोपियों को वह मूर्ख एवं धूर्त जान पड़ते हैं। वह कहती हैं कि यह योग-साधना निस्सार, तथ्यहीन तथा निर्मूल तक कह डाला है। वह उद्धव को भारवाही चालाक व्यापारी के रूप में स्वीकार करती हैं :-

'आयौ घोष बड़ौ ब्यौपारी।
खेप लादि गुरू ज्ञान जोग की, ब्रज मैं आनि उतारी।
फाटक दै कै हाटक मांगत, भोरौ निपट सुधारी।।'

योग-साधना

उद्धव गोपियों को जब निर्गुण ब्रह्म की योग-साधना का उपदेश बार-बार देते हैं तब वे अति चतुरता से उत्तर देती हैं कि हृदय की वास्तविक शांति के लिए निराकार की उपासना सर्वश्रेष्ठ नहीं है। तुम अपने हृदय में परब्रह्म की अनुभूति करो-

'ऊधौ मन न भए दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम संग, को अवराधै ईस।।'

मन एक ही है उद्धव और वह भी कृष्ण ले गए, अब ईश्वर की आराधना कैसे करें। दुःख इस बात का है कि कृष्ण मन को भी अपने साथ लेकर चले गए-

'ऊधौ मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाइ हरि संग गए लैं, मथुरा जबहिं सिधारे।।'

अन्यथा हम गोपियां तुम्हारे योग को क्यों छोड़ती ? तुम उसे प्रेम से लाये हो। गोपियां उद्धव की योग-साधना में असमर्थता प्रकट करती हैं। वास्तविकता यह है कि वेदों और उपनिषदों के इस तत्त्व (योग) को बेचारी अबला कैसे साध सकती हैं ? समाधि लगाना साधारण मानव के बस की बात नहीं !

'यह तो वेद उपनिषद मत हैं, महापुरूष व्रतधारी।
हम अबला अहीर ब्रज-वासिन नाहीं परत संभारी।।

गोपियां उद्धव को मूर्ख बनाती हुई पूछती हैं कि तुम भी अजीब बुद्धिमान हो कि तुम्हें हम युवतियों का योगियों के समान वेश धारण कराना कैसे न्यायसंगत प्रतीत होता है-

'जो सिर फूल फुलेल मेलिकै, हरि-हरि ग्रंथै छोरी।
ता सिर भसम मसन पै सोवत, काहे करत अघौरी।
रतन जटित ताटक विराजत अरु कमलनि की जोति।
तिन श्रवनन पहिरावत मुद्रा तोइ दया नहिं होति।।'

निर्गुण-ब्रह्म

सूर की गोपियां उद्धव से कहती हैं कि भला निर्गुण ब्रह्म से कैसे प्रेम किया जाए-

'अति अगाध स्रुति वचन अगोचर, मनसा तहां न जाई।
जाकैं रूप न रेख वरन बपु, संग न सखा सहाई।
ता निरगुन सौ नेह निरंतर, क्यों निबहैं री माई।।'

जब उद्धव बराबर निर्गुण निराकार ब्रह्म का उपदेश देते हैं; तब गोपिकाओं को विनोद सूझता है और वे उनसे पूछने लगती हैं-

'निरगुन कौन देस कौ बासी ?
मधुकर कहि समुझाए सौंह दै, बूझतिं सांचि न हांसी।
को है जनक कौन हैं जननी, कौन नारि, को दासी ?
कैसो बरन भेष है कैसो, किहिं रस में अभिलाषी ?
पावैगौ पुनि कियौ आपनौ, जो रे कहौगौ हांसी।
सुनत मौन ह्वै रहयो बावरो, सूर सबे मति नासी।।'

निर्गुण निराकार ब्रह्म की योग साधना को अपने लिए निस्सार बताते हुए गोपियां उसे सामान्य जनता के लिए भी अनुपयुक्त बताते हुए कहती हैं :-

'ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार-ज्ञान कह जानै; कैसे ध्यान धराहीं।।'

गोपियां उद्धव का उपहास करती हुई कहती हैं कि हे उद्धव ! यह योग बहुत ही अमूल्य वस्तु है, इसे गांठ बांध लीजिए, कहीं यह खो न जाए। कहीं बाद में पछतावा न हो यह हमारे काम की वस्तु नहीं हैं यह तुम्हारे जैसे लोगों के लिए अमूल्य है। इसे संभालकर रखिए-

'ऊधौ जोग बिसरि जनि जाहु।
बांधौ गांठि छूटि परिहै कहुं, फिरि पाछै पछिताहु।
ऐसौ बहुत अनुपम मधुकर, मरम न जानै और।
ब्रज बनितनि के नहीं काम की, है तुम्हरेई ठौर।।'

कृष्ण-कथा

गोपियों के लिए कृष्ण-कथा के अतिरिक्त कुछ और सुनना भी पाप है। गोपियां उद्धव से कहती हैं कि हमारी द ष्टि में श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य की उपासना करने वाले व्यक्ति की माता को धिक्कार है कि उसने ऐसी संतान को जन्म दिया-

'जोग कथा पालागौं ऊधौ ना कहु बारम्बार।
सूर स्याम तजि और भजो ताकी जननी छार।।'

इसीलिए सूर की गोपियां निर्गुण-निराकार ब्रह्म् की अपेक्षा सगुण-साकार कृष्ण की ही उपासना करती हैं। वही उनके लिए साध्य हैं-

'ऊधौ निरगुनहिं कहत, तुमही सो लेहु।
सगुन मूरति नन्दनन्दन, हमहिं आनि देहु।
अगम पंथ परम कठिन, गौन तहां नाहिं।
सनकादिक भूलि फिरे, अबला कहं जाहिं।।'

उस निर्गुण के सगुण रूप को प्राप्त कर गोपियों का विचलित ह्रदय स्थिर हो गया। अब उन्हें अन्य निर्गुण की उपासना की आवश्यकता नहीं। चित्त की यह स्थिरता क्या किसी योग से कम है? उन्होंने सगुण के प्रकाश को पा लिया है, जिसके अभाव में उद्धव का जीवन स्वयं ज्ञान के अंधकार में डूबा हुआ हैं -

'इहिं ब्रज सरगुन दीप प्रकास्यौ।
सुनि ऊधौ त्रिकुटी त्रिवेद पर, निसिदिन प्रकट अभास्यौ।
सब के उर सरवास नेह भरि, सुमन तिली को बास्यौ।
गुन अनेक ते गुनि कपूर सम, परिमल बारह मास्यौ।
साधन भोग निरंजन तेरे, अंधकार तम नास्यौ।
वा दिन भयो तिहारौ आवन, बोलत हो उपहास्यौ।
रहि न सके तुम सींक रूप ह्वै, निरगुन काज उकास्यौ।
बाढ़ी जोति सुकेस देस लौं; टूट्यो ज्ञान मवास्यौ।
दुर्वासना सलभ सब जारे जे-छै रह्यौ अकास्यौ।।'

सूर का 'भ्रमरगीत' एक ओर गोपियों की वियोग-सरिता में सहृदयों को स्नान कराता है, दूसरी ओर सगुण उपासना की निर्झरिणी के रूप में निर्गुण उपासना के घास-फूंस को आत्मसात् करता हुआ प्रवाहित होता है।

उद्धव के ज्ञानयोग को पूरा सुनकर और उसे अपने सीधे-सादे प्रेममार्ग की अपेक्षा दुर्गम और दुर्बोध जानकर गोपियां कहती हैं-

'काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु मधुप निर्गुन-कंटक तें राजपंथ क्यों रूधो ?
ताको कहा परेखो कीजैं जानत छांछ न दूधौ।
सूर मूर अक्रूर गए लै व्याज निवेरत ऊधो।।'

हम अपने प्रेम या भक्ति के सीधे और चौड़े राजमार्ग पर जा रही हैं। उस मार्ग में तुम ये निर्गुण-रूपी कांटे क्यों बिछाते हो ? हमारा रास्ता क्यों रोकते हो ? जैसे तुम्हारे लिए रास्ता है वैसे हमारे लिए भी है। तुम अपने रास्ते चलो, मैं अपने रास्ते। एक दूसरे का रासता रोकने क्यों जाय ?

निर्गुण की नीरसता और सगुण की सरलता किस प्रकार अपने हृदय के सच्चे अनुभव के रूप में गोपियां उद्धव के सामने क्या, जगत के सामने रखती हैं-

'ऊनो कर्म कियो मातुल बधि मदिरा-मत्त प्रमाद।
सूर स्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद।।'

ज्ञानमार्ग का गोपियों ने तिरस्कार किया, परंतु यह सोचकर कि कहीं उद्धव का मन दुःखी न हो; वे उनका समाधान भी करती हैं। वे समझाती हैं कि आपके ज्ञानमार्ग को हम बुरा नहीं कहती हैं, वह अत्यंत श्रेष्ठ मार्ग है, पर अपनी रुचि को हम क्या करें ? वह हमारे अनुकूल नहीं पड़ता। रुचि-भिन्नता दो समान वस्तुओं में भेद करके एक ओर आकर्षित करती है और दूसरी से दूर रखती है।

अंत में ज्ञानी उद्धव को सगुण के समक्ष पराजित होना पड़ता है। उनका हृदय गोपियों की विरहाग्नि में पसीज जाता है।

गोपियों के इस कथन से सूरदास के मत का स्पष्टीकरण हो जाता है-

'उन्होंने ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति को प्रधानता दी है, और भक्ति के क्षेत्र में भी निर्गुण के स्थान में सगुण की उपासना का प्रतिपादन किया है। किंतु सूर के भ्रमरगीत का यह पक्ष सर्वथा गौण है। अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने के लिए सूर ने भ्रमरगीत की रचना नहीं की।

सूर का प्रमुख लक्ष्य है-प्रेम की पीर को अभिव्यक्त करना; जिसके साथ-साथ तत्कालीन समाज में प्रचलित अन्य धार्मिक विचारधाओं का उद्‌घाटन स्वतः ही हो गया है।

सूर के भ्रमरगीत में उद्धव को पराजय में भी विजय की प्रसन्नता प्राप्त हुई जो ब्रह्मानंद साद श्य थी। मथुरा जाकर कृष्ण के समक्ष उन्होंने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसमें गोपियों के पक्ष का ही पोषण किया। उद्धव का प्रतिवेदन ज्ञान-मार्ग की पराजय तथा सगुण-भक्ति की विजय का स्पष्ट जयघोष है।

सूर के भ्रमरगीत रचने का एक और महत्वपूर्ण प्रयोजन यह था कि इसके माध्यम से तत्संबंधी साहित्य में प्रचलित विविध मान्यताओं का खंडन-मंडन अत्यंत सरस एवं प्रभावोत्पादक शैली में किया है। सूर ने 'भ्रमरगीत' के मूल उद्देश्य को अपने युग की ऐतिहासिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में पूर्णरूपेण परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया हैं। उस समय में सिद्धों, योगियों और संतों की अटपटी बानी निर्गुण ब्रह्म की जो व्याख्या प्रस्तुत कर रही थी, वह सामान्य जनता के लिए एक अनबूझ पहेली थी।

इस संदर्भ में डॉ० ताराचंद शर्मा का कथन द्रष्टव्य है-'सूर के भ्रमरगीत का उद्धव ज्ञानमार्गियों का मानस पुत्र ही है, जिसका भाव जगत् कोरे ज्ञान से सूख सा गया था और जिसे गोपियों द्वारा प्रदत्त प्रेम सलिल की अत्यंत आवश्यकता थी।'

सूर के समन्वयवादी द ष्टि में ह्रदयपक्ष और बुद्धिपक्ष और दोनों की पूर्णता रहती है। सूर के उपास्य प्रेम-मूर्ति कृष्ण हैं और उनकी भक्ति प्रेम की चरमानंद की दशा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूर का दर्शन भक्ति-दर्शन ही है।

अध्याय 10

राधा

सूरसागर महाकाव्य की प्रधान नायिका राधा है। सूर ने अपने काव्यों में राधाकृष्ण की लीलाओं को अलौकिकता के आवरण से आच्छादित किया है। सूर के राधा विषयक अधिकांश वर्णन ब्रह्मवैर्क्त पुराण से प्रभावित प्रतीत होते हैं। सूर के भक्ति-मुग्ध अन्त : चक्षुओं ने राधा माधव की लीला का कोना-कोना झांका है। गद्‌गद कंठ से उन्होंने अपनी रागात्मक भावनाओं का आरोप आराध्यदेव पर करते हुए उत्तर-कालिन भक्तों के सम्मुख प्रतीकात्मक भक्ति प्रस्तुत की।

सूर-काव्यों में ब्रजभूमि ब्रह्म-लीला निकेतन है। जहां ब्रह्म (श्री कृष्ण) मुक्त जीवात्माओं (गोपियों) के साथ लीला करतें हैं। राधा ब्रह्म (कृष्ण) की आह्लादिनी शक्ति के रूप में अवतरित हुई है। शेष गोपियों आनंद-प्रसारिणी शक्तियां हैं किंतु मूल शक्ति राधा ही है। उसका कृष्ण से संबंध शक्ति और शक्तिमान का है। मूर्त रूप में राधा कृष्ण में कोई अंन्तर नहीं है किंतु लीला हेतु वह दूसरा रूप धारण करती है।

राधा की स ष्टि सूर ने अति उच्च परिकल्पना के आधार पर की है। जनसाधारण के धर्म-नयन भले ही उसे कोरे सांसारिक वर्णो से रंजित समझने का भ्रम करें किंतु सूर की राधा ब्रह्म से होली खेलती रही। यही है उसकी अलौकिकता का सबसे बड़ा प्रमाण। उसका स्वरूप वह उत्तरीय है जिसका एक छोर अलौकिक सत्ता ने थामा हुआ है दूसरा किनारा लौकिक धरातल का सतत् स्पर्श कर रहा है। यह दर्शक के द ष्टि विस्तार का प्रश्न है कि वह उत्तरीय का परिसीमित एक छोर देखकर ही संतोष कर ले अथवा द ष्टि के व्यापक प्रसार को ऊंची उड़ान का अवसर प्रदान करे।

राधा की लौकिक लीला में अद्‌भुत-अलौकिक का सफल मिश्रण द ष्टिगत होता है। दोनों तत्वों का संगुंफन इस पटुता से कवि ने किया है कि मध्यवर्ती रेखा खींचना कठिन ही नही वरन् असंभव है।

राधा-कृष्ण अतिमानव होते हुए भी पूर्ण मानव हैं। कवि ने उन्हें 'शून्य' अथवा 'गगन' से खींच सामान्य धरातल पर खड़ा किया है जहां वे भक्तों के साथ आंसू ढुलकाते हैं और स्मित की लहरों में खो भी जाते हैं। ऐसी आंख-मिचौनी खेलने वाला ब्रह्म का युगल रूप (राधा-कृष्ण) ही सूर का आराध्य है। लौकिक द ष्टि से राधा का जितना सुंदर वर्णन सूर की लेखनी से हुआ उतना शायद ही कोई अन्य कवि कर पाया है।

सूर ने राधा को कई रूपों में चित्रित किया है। बालिका, किशोरी, रतिप्रिया, चातुरी, वियोगिनी आदि नाना रूपों में राधा नारी हदय की सुंदर छटा लेकर सूर के काव्य में अवतरित हुई है। सूर ने राधा को अपूर्व सुंदरी के रूप में चित्रित किया है-

चंद्रमुखी भौहें कलंक बिच चंदन तिलक लिलार।
मनु बेनी भुवंगिनी परसत स्रवत सुधा की धार।
नैन मीन सरवर आनन में चंचल करत बिहार।
मानो कर्नफूल चारा कौं रबकत बारंबार।
बेसरि बनी सुभग नासा पर मुक्ता परम सुढार।
मनु तिल-फूल अधर बिंबाधर दुहुं बिच बूंद तुषार।

सूर की राधा बचपन का भोलापन लिए ब्रज के रंगमंच पर आती है और उसके चरित्र का अंत वहां होता है जहां वह कृष्ण से एकात्मय प्राप्त कर लेती है। सूर ने सर्वप्रथम राधा-कृष्ण को बाल-सखा के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके बालपन के अमूल्य क्षणों के जितने सुरम्य शब्द चित्र सूर के काव्य में मिलते हैं-शायद ही किसी और कवि की समर्थ लेखनी उसका वर्णन कर पाये।

ब्रज की गलियों में खेलते हुए जब कृष्ण पहली बार राधा को देखते हैं तब उनके हदय में सहज आकर्षण का भाव जाग त हो जाता है-

'खेलने हरि निकसे ब्रज खोरी।
गये स्याम रवितनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी।
औचक ही देखी तह राधा नयन विसाल भाल दिये रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठ रूलति झकझोरी।
संग लरिकनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छबि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझै नैन नैन मिली परी ठगोरी।'

कृष्ण-राधा को अपने साथ खेलने के लिए आमांत्रित करते हैं-

'तुम्हारे कहा चोरि हम लेहे' खेलने चलो संग मिलि जोरि।

× × × × ×

खेलने कबहुं हमारे आबहु नंद सदन ब्रज गाउं।
द्वारे आइ टेरि मोहि लीजौ कान्ह है मेरी नांऊ ।।
जो कहिरौ घर दूरि तुम्हारौ बोलत सुनिये टेर।
तुमहिं सौंह व षभानु बबा की प्रात सांझ एक फेर ।।
सूधी निपट देखियत तुमकौं तातें करियत साथ।
सूर श्याम नागर उत नागरि राधा दोउ मिलि गाथ।।

राधा-कृष्ण प्रतिदिन साथ-साथ खेलने लगे ओर दोनों के हदय में प्रेम-ज्वाला प्रज्ज्वलित हो उठी-

'प्रथम सनेह दुहुन मन जान्यौ।
सैन सैन कीनी सब बातें गुप्त प्रिति सिसुता प्रगटान्यौ।'

यह बाल्यकाल का स्वर्गिक प्रेम है जिसमें न झिझक है और न संकोच है। सूर के सेयोग वर्णन की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि उसमें 'राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं का विलासिता पूर्ण वर्णन नहीं किया गया है। इस प्रकार के प्रसंगों को घ्यान में रखते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है -

"सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमे अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कही कुछ नहीं दिखाई पड़ता।"

राधा-कृष्ण का प्रेम वन-सरिता की अतुल जलराशि की भांति गहन एंव विस्त त रूप धारण करता गया। इसी बीच नंदनंदन ने मां यशोदा से अपनी प्रेयसी राधा का परिचय करा दिया था। माता यशोदा अपने लाडले की प्रत्येक बाल-लीला में आनंद लेती थी। उसी सहज भाव से उन्होंने राधा को भी ग्रहण किया-अपनी भावी बहू के रूप में। यशोदा ने उसकी मांग गूंथी और नयी फरिया भेंट की। मन ही-मन वे इस सुंदर श्याम नवल जोड़ी को सराहती रहीं। नंद बाबा से साथ-साथ खेलने की अनुमति मिलने पर राधा हर्षातिरेक में कह उठी :-

'नंद बबा की बात सुनो हरि।
मोहिं छांड़ि के कबहुं जाहुगे ल्याउंगी तुमको धरि।।
भली भई तुम्हें सौंप गये मोहिं जान न देहौं तुमको।
बांह तुम्हारी नेक न छड़िहौं महरि खीझि हैं हमको।।
मेरी बांह छांड़ दे राधा कर न उपरफट बातें।
सूर स्याम नागर नागरि सो करत प्रेम की बातें।।

इस प्रकार भोले बचपन ने किशोरावस्था में अंतिम सांसे लीं। अल्हड़ राधा वाग्रविदग्धा गोपी बन गई। वह श्रीकृष्ण के विरह में व्याकुल रहने लगी और कृष्ण से मिलने के लिए अनेक बहाने बनाने लगी। कृष्ण के दर्शन हेतु वह सखियों के साथ पानी भरने के बहाने पनघट पर पहुंच जाती हैं -

'राधा सखियन लई बोलाइ।
चलहु यमुना जलहिं जैयै चलीं सब सुख पाइ।
सबनि इक-इक कलश लीन्हों तुरत पहुंची जाइ।
तहां देख्यो श्यामसुंदर कुंवरि मन हरषाइ।
नंदनंदन देखि रीझै चितै रहे चितलाइ।
सूर प्रभु की प्रिया राधा भरत जल मुसुकाइ।।'

इस तरह से राधा अपनी चातुरी भावना से अपने गुप्त भावों को छिपाने में सफल होती है। उसके हृदय के भाव सखियों पर प्रकट नहीं हो पाते।

कृष्ण सान्निध्य की हृदय में उत्कट अभिलाषा होने पर भी किशोरी कृष्णा (राधा) सखियों के मध्य कन्हैया के निमंत्रण को स्वीकार नहीं करती :-

'को जैहै इनके दर !'

बड़े आये हैं अपने घर बुलाने वाले-कौन जाता है भला-पर प्रीति को छिपाना इतना सहज नहीं। उसके चपल-चंचल नयनों ने बार-बार कालिंदी के कछार से आते वेणु-वादन का अनुसरण किया तो गोपियां भी उसकी प्रीति का परिचय पा गई, और वह 'ठगोरी' सी अपनी उलझन में स्वयं ही उलझ कर रह गई। ब्रजांगनाएं कब चूकने वाली थी उन्होंने छेड़छाड़ का अच्छा अवसर पाया। कभी कहती हैं कि-'के बैठी रहि भवन आपने काहे के बनि आवें ?' किंतु राधा इन उलाहनों में भी आनंदाभास पाती हैं।

सूरदास ने राधा-कृष्ण-मिलन एवं राधा से गोपियों की चुटकियों का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। परकीया-भाव में जितनी भी श्रृंगारिक चेष्टाएं हो सकती हैं, जितने भी गुप्त भावों और संकेतों की संभावना है, उन सबका पूरा चित्रण राधा-कृष्ण-मिलन में मिल जाता है। सुरत-केलियों के वर्णन भी यथेष्ट मात्रा में उच्च-कोटि के हैं। मिलन के लिए अनेक बहाने होते हैं, ये बहाने राधा ही नहीं, कृष्ण भी करते हैं। राधा श्याम के रंग में रंग गई और श्याम राधा के रंग में "राधा-श्याम, श्याम राधा रंग।"

सूर ने रतिप्रिया राधा मार्मिक वर्णन किया है-

'नवल गुपाल नवेली राधा नवे प्रेम रस पागे।
नव तरुवर विहार दोउ क्रीड़त आपु आपु अनुरागे।।

यहां सूर विद्यापति और चंड़ीदास के धरातल पर उतर आये है। बचपन के नटखटपन के चित्रण में सूर का स्थान अद्वितीय है, पर यौवन-विलासिनी राधा तक पहुंचते-पहुंचते उनके काव्य

में चंडीदास के पदों की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। समग्र सूर-साहित्य में किसी स्थान पर भी शायद राधिका का उच्छवसित रूप नहीं मिलेगा। प्रेम की आकंठपूर्ण कलशी में कभी भी छलक नहीं आई। सूर की राधिका न विलासिनी है, न ग्वालिनी। इन दोनों रूपों का विचित्र सामंजस्य ही मानो सूरदास का अभीष्ट प्रतिपाद्य हैं। इसमें कामुकता का आभास ही नहीं। यदि अनुराग के आरंभ में तीव्र आकर्षण, ऐकांतिक मिलनेच्छा और सामाजिक मर्यादोल्लघंन की प्रेरणाएं काम करती हैं किंतु प्रथम मिलन के पश्चात् तत्काल ही राधा में प्रेमगोपन, चातुरी, वाग्विलास आदि की सामाजिक भावनाएं जाग्रत हो जाती है, जो प्रेम के स्वस्थ विकास की परिचायक हैं-

'सोचति चली कुंवर घर ही तें खरिकहिं गइ समुहाइ।
कब देखौ वह मोहन मूरति, जिन मन लियौ चुराइ।।
देखौ जाइ तहां हरि नाहीं, चकृत भई सुकुमारि।
कबहूं इत, कबहूं उत डोलत, लागी प्रीति तुम्हारि।।'

सूर की राधा मनिनी और गौरवशालिनी के रूप में चित्रित की गई है, परंतु कृष्ण बहुनायक के रूप में ही दिखाए गए हैं। राधा के स्वकीया भाव के विषय में कृष्ण को प्रियतमा का रूप दिया है और दंपत्ति विहार का वर्णन कर कवि ने राधा के मान का विशद वर्णन किया है। 'खण्डिता' प्रकरण में राधा के मान का वर्णन चार बार किया गया हैं। पहला मान वर्णन साधारण-साथ है; क्योंकि राधा सखियों द्वारा श्याम को वश में करने की प्रशंसा से प्रभावित होकर मान करती है। परंतु जब कृष्ण आकर लौट जाते हैं, तब उसका मान कपूर की भांति उड़ जाता है और वह अपने अहंकारजन्य अपराध का अनुभव कर परम विह्वल हो उठती है। ललिता दूती बनकर कृष्ण को मनाने जाती है और राधा की विरह-दशा के साथ उसके रूप की प्रशंसा करती है कृष्ण आकर उसे हृदय से लगाकर उसका विरह ताप शांत कर देते हैं।

दूसरी बार मात्र भ्रमवश ही राधिका मान कर बैठती है, क्योंकि वह अपने प्रियतम के हृदय में अपना ही प्रतिबिंब देखकर दूसरी नारी का अनुमान कर लेती है-

'कियौ अति मान व षभानुबारी। देखि प्रतिबिंब पिय हृदय नारी।।'

कृष्ण की मनुहारें भी उसे मनाने में सफल न हो सकीं। अत्यंत व्याकुल होकर कृष्ण दूती को भेजते हैं। जब उसके भी सब प्रयत्न व्यर्थ होते हैं, तब वह राधा से कहती है-

'तुम चाहे कितना ही मान करो, पर अंत में तुम और मोहन एक हो। 'मोहन' का नाम सुनते ही राधा का मान चला गया और वह प्रसन्न हो गई।'

'मान करौ तुम और सवाई।
कोटि करौ एकै पुनि ह्वै हौ, तुम अरु मोहन माई।।
मोहन को सुनि नाम स्रवनहीं, मगन भई सुकुमारी।
मान गयौ, रिस गई तुरतहीं, लज्जित भई मन भारी।।
धाइ मिली दूतिका कंठ सौं, धन्य धन्य कहि बानी।
'सूर' स्याम बन धाम जानिकै, दरसन कौं अतुरानी।।'

राधा का त तीय मान वास्तविक कारणों से है। राधा की धारणा थी कि कृष्ण रात्रि में मेरे अथवा नंद के घर के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं जाते, किंतु एक दिन प्रातःकाल ही जब रति-रस चिह्नों से लांछित नटनागर का साक्षात्कार हुआ तो उनके विचित्र रूप को निहार कर राधा को हंसी आ गई, जो शीघ्र ही परिहास, कटाक्ष और तिरस्कार के क्षेत्र से निकलती हुई रोष के साम्राज्य में पहुंच गई। कृष्ण ने अपने आप को निरपराध सिद्ध करने में कोई कोशिश नहीं छोड़ी, पर राधा को

रोष आ गया। राधा की कुछ सखियों के आ जाने पर उसने सारा विवाद उनके समक्ष रखा और कहा :-

'स्याम गए तिय मान कियौ।
देखौ नाहिं दोष तुम देती उन मन चोरि लियौ।।
जाहु सदन तुमहूं सब अपनैं, मैं बैठी हौं धाम।
जान देहु अब ह्यां जनि आवैं, ऐसेनि कौ कह काम।।
अनतहिं बसत, अनतहीं डोलत, आवत किरनि प्रकास।
सुनहु 'सूर' पुनि तौ कहि आवै, तनगि गए ता पास।।'

तुम भी मुझे ही दोष देती हो, इन्हें देखो, ये रहते कहीं है और घूमते कहीं हैं; सवेरा होने पर यहां आते हैं।

राधा के इस मान से राधा और कृष्ण दोनों ही व्याकुल हैं, सखियां यत्न करती हैं पर राधा नहीं मानती। रसिकेश्वर स्वयं अनुनय-विनय करते हैं, पर राधा पर कोई प्रभाव नहीं होता, परंतु जब गुप्त-चरित्र का संकेत कृष्ण राधा के प्रति करते हैं तो उसका हृदय पसीज जाता है और वह कृष्ण के साथ 'निकुंज-सुख' के लिए चल देती है।

राधा की बड़ी मान-लीला अति विकट है; इस बार उसे कृष्ण के पर-ग ह गमन का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया इस घटना का वर्णन सूर ने कुछ इस प्रकार से व्यंजित किया हैं-

राधा सखियों के साथ यमुना-स्नान के लिए निकली और अकस्मात् उसी सखी को बुलाने के लिए जा पहुंची, जिसके हृदय में मोहन अपनी रसमयी कलियों से आनंद की हिलोरें उठा रहे थे। जैसे ही वह घर से निकले, राधा से भेंट हो गई।

राधा को इससे बड़ा क्या प्रमाण चाहिए ? राधा को मनाने के सभी उपाय व्यर्थ गए; न वह अपनी प्रशंसा सुनकर रीझती है और न कृष्ण की दीन दशा से पसीजती हैं; वर्षा-ऋतु, मंद-वायु तथा प्रकृति-सौंदर्य कोई उसकी मनोदशा को दूर नहीं कर पाता।

कृष्ण के स्वयं दूती का वेश धारण कर राधा मान भंग करने के लिए जाते हैं। सूर ने मान-लीला का विशद् वर्णन किया है-

'तब हरि रच्यौ दूती रूप।
गए जहां मानिनी राधा, त्रिया स्वांग अनूप।।
जाइ बैठे कहत मुख यह, तू इहां बन स्याम ?
मैं सकुचि तहं गई नाहीं, फिरी कही पति बाम।।
सहल बातैं कहति मानौ, अब भई कछु और।
तू इहां वै उहां बैठे, रहत एकहिं ठोर।।
कहौं मोसौं कहा उपजी, वै रटत तुम नाम।
सुनति है कछु बचन राधा, 'सूर' प्रभु बनधाम।।'

मानिनी राधिका का मान बहुत द ढ़ है; चाहे स्वर्ग डोल जाए, सुर और सुरपति समेत सुमेरु डिग जाय, रात्रि में रवि और दिन में निशाकर उदित हो जाए, नक्षत्र हिल उठें, सिंधु मर्यादा त्याग दे, धरा अधीर होकर उलट जाए, बंध्या पुत्रवती हो जाए, शुष्क-काष्ठ लहलहा उठे, विफल तरु फलने-फूलने लगें, बादलों के बिना ही वर्षा होने लगे और अचल चलायमान हो जाएं, पर राधा का मान-भंग नहीं होने वाला है। अंत में कृष्ण ने एक युक्ति सोचकर मणि-दर्पण राधा के सामने

लाकर रख दिया और स्वयं पीछे खड़े हो गए; प्रतिबिंब में दोनों के नेत्र मिल गए, राधा का चेहरा खिल उठा और उसे निश्चय हो गया कि कृष्ण का बहुनायकत्व तो बस दिखाने का है। मान-झंझावत के पश्चात् मिलन का शीतल मंदिर, गंभीर समीर बह निकला, जिसके स्पर्श ने युगल प्रेमियों के क्षुब्ध मानस में स्थैर्य और धैर्य को विचलित कर माधुर्य की लहरें उत्पन्न कर दी, प्रेम का बंधन और भी द ढ़ हो गया। इन मान-लीलाओं में गौरवशालिनी राधा की गंभीरता देखते ही बनती हैं; मान-भंग होने पर वह दूती के द्वारा आने का संदेश भेजती है और फिर वस्त्राभूषण धारण करके अति गौरव और गंभीरता के साथ केलि-कुंज में पदार्पण करती है।

चंडीदास की राधा मानिनी है पर उसका मान शीघ्र ही विलुप्त हो जाता है, सूर की राधा की भांति वह निकुंजों में कृष्ण से पैर नहीं दबवाती। दूसरी ओर विद्यापति की राधा है उसका जन्म मानो रति-क्रीड़ा के लिए ही हुआ है। उसके लिए कृष्ण का क्षणिक वियोग कितना दुर्लध्य है, फिर भला मान करने की बात ही और है। सूर ने श ंगार का अतिशय वर्णन किया, किंतु उसमें वासना का स्पर्श नहीं। कुछ प्रसंग ब्रह्म के प्रति निवेदन होने के कारण भक्ति की चुनरिया में समा जाते हैं।

राधा का एक रूप सूर ने बसंत और झूले के प्रसंगों पर चित्रित किया है। दोनों ही अवसरों पर राधा-कृष्ण दंपत्ति के रूप में हमारे सामने आते हैं -

'झूलत स्याम स्यामा संग।
निरखि दंपत्ति अंग सोभा, लजत कोटि अनंग।
मंद त्रिविध समीर सीतल, अंग अंग सुगंध।
मचत उड़त सुबास संग, मन रहे मधुकर बंध।
तैसिये जमुना सुभग जहं, रच्यौ रंग हिडोल।
तैसियै ब ज-बधु बनि, हरि चितै लोचन कोर।
तैसोई ब ंदा-बिपिन-घन-कुंज-द्वार बिहार।
बिपुल गोपी, बिपुल बनग ह, खन नंदकुमार।
नित्य लीला, नित्य आनंद, नित्य मंगल गान्ह।
सुर सुर-मुनि मुखनि अस्तुति, धन्य गोपी कान्ह।।'

वसंतकालीन फाग-क्रीड़ा का सूर ने बहुत ही सुंदर चित्रण किया है और वहां भी राधा-कृष्ण को नव-दंपत्ति माना है। वसंतलीला ब्रज के सुख का चरतोत्कर्ष हैं जहां सूर ने विधि-मर्यादा का अतिक्रमण कर राधा की विनोदी प्रकृति का स्वच्छंद और निर्बाध प्रतिपादन किया है।

सूर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने संयोग के साथ विप्रलंभ श ंगार के भी सुंदर चित्र प्रस्तुत किए हैं। वात्सल्य, संयोग श ंगार और विप्रलंभ के जिस पक्ष को भी उन्होंने अपने स्पर्श का सौभाग्य प्रदान किया, उसे सुंदरतम रूप प्रदान किया है। मिलन की हंसी-खुशी के फलक पर विरह के अश्रुरंजित चित्र अत्यधिक मुखर हो उठे हैं। दो विरोधी तत्वों का मिश्रण कवि की सुरम्य कलात्मकता का द्योतक हैं। कहां क्षणभर का विरह भी राधा के सुकोमल हृदय को अधीर कर डालता था और कहां विरह की अंतिम सीमा का निर्धारण करना भी असंभव हो गया। कौन जाने, कृष्ण कब आएंगे। वे अपरिमित समय के लिए मथुरा चले गए। राधा का विरह उसकी सबसे बड़ी पराजय है।

विप्रलंभ श ंगार के अंतर्गत राधा का चित्रण द्रष्टव्य है। अक्रूर-श्याम को मथुरा ले जाते हैं। राधा कृष्ण से सदैव के लिए बिछुड़ जाती हैं। वियोग की इस दशा में राधा का चरित्र और अधिक खिल उठता है। अक्रूर कृष्ण को ले जाने के लिए आए हैं, उनके मथुरा प्रवास की तैयारियां हो

रही हैं। उस रात को राधा बेचैन है, उसे नींद नहीं आती हैं, तारे गिनते-गिनते ही रात बीत जाती है -

'आजु रैनि नहिं नींद परी।
जागत गिनत गगन के तारे, रसना रटत गोबिंद हरी।
वह चितवनि, वह रथ की बैठनि, जब अक्रूर की बांह गही।
चितवति रही ठगी सी ठाढ़ी, कहि न सकति कछु काम दही।
इते मान ब्याकुल भइ सजनी, आरज पंथहुं तैं बिडरि।
सूरदास-प्रभु जहां सिधारे, कितिक दूर मथुरा नगरी।।'

वियोग में राधा की दशा का सूर ने अत्यंत मार्मिक चित्रण किया है। वह पथिक को मार्ग में देखकर उसे बुलाकर कहती है-

'कहियौ पथिक जाइ हरि सौं मेरौ मन अटकों नैन के लेखे।
इहै दोष दै दै झगरति हैं तब निरखत मुख लगी क्यों निमेखे।
कै तो मोहि बताय दबकियो लगी पलक जड़ जाके देखे।
ते अब सब इन पै भरि चाहत विधि जो लिखे दरसन सुख रेखे।।'

कृष्ण विरह में पीड़ित राधा-प्रेम की अत्यंत दयनीय मूर्ति के रूप में दिखाई पड़ती है। वह कृष्ण के पास अपना संदेश भेजती है, जिसमें गोपी, ग्वालों और गायों का दुख निवेदन करती है। यह प्रियतम कृष्ण को दोष नहीं देती। गोपियां उनको छली, कपटी और विश्वासघाती कहती हैं परंतु व षभानुजा कृष्ण को दोष नहीं देती। उसे लगता है कि उसके प्रेम में ही कहीं छिद्र रहा है-

'सखी री, हरिहिं दोष जनि देहु।
तातें मन इतनौ दुःख पावत, मेरौ कपट सनेहु।'

उसे आश्चर्य है कि प्रिय के इतने कठोर विरह में भी प्रकृति ज्यों-की-त्यों कैसे बनी रहीः-

'मधुबन तुम क्यों रहत हरे।
बिरह बियोग स्याम सुंदर के, ठाढ़े क्यों न जरे।
मोहन बेनु बजावत द्रुम तर, साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि जन ध्यान टरे।
वह चितवनि तू मन न धरत है फिरि फिरि पुहुप धरे।
सूरदास प्रभु बिरह दावानल, नख सिख लौं न जरे।'

पावस के मिस जैसे प्रकृति रो उठती है-वह मधु-ऋतु, जिसके सुरभित समीर और पुष्पित निकुंजों में राधा के अतीत जीवन की मधुरतम स्म तियां लिपटी हुई हैं-आज उसके मानस पर जाने कैसे विषाद की छाया अंकित कर देती है। निर्मम रात को कुछ कहना ही नहीं; वह नागिन की तरह लगती है-

'पिय बिनु नागिनि कारी रात।
जौ कहुं जामिनि उबति जुन्हैया, डसि उलटि ह्वै जात।
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि मुरि लहरैं खात।।'

सूर के भ्रमरगीत-प्रसंग में व षभानुजा की दयनीय मूर्ति देखते ही बनती है। कवि ने इस प्रसंग का अत्यंत मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। जो किसी भी सहृदय को अनायास ही आकर्षित कर लेता हैं। उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर ब्रज में आते हैं। गोपियां उनके सम्मुख अपनी विरह-दशा की असहयनीय पीड़ा प्रकट करती हैं। कुछ गोपियां उनसे तर्क करने लगती हैं और कुछ उनके निर्गुण ब्रह्म का खंडन कर उसके सगुण रूप की स्थापना करती हैं, पर इस वार्तालाप के मध्य व षभानुजा की वाणी की पीड़ा कहीं सुनाई नहीं पड़ती। वह उद्धव गोपी वाद-विवाद के बीच में नहीं आती। स्वयं गोपियां उसका विरह-निवेदन करती हैं कि व षभानुजा रात-दिन विरह की भीषण अग्नि में जल रही है-

'अति मलीन व षभानु कुमारी।
हरि श्रम-जल भी ज्यौं उर अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी।
अध्र मुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।
हरि संदेस सुनि सहज म तक भइ, इक बिरहिनि, दूजे अलि जारी।
सूरदास कैसें करि जीवैं, ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी।।'

गोपियों के प्रति संदेश देते हुए उद्धव ने राधिका की विरहावस्था का सबसे अधिक हृदय-विदारक चित्र प्रस्तुत किया है-

'चित दै सुनौ स्याम प्रवीन।
हरि तुम्हरैं बिरह राधा, मैं जु देखी छीन।।
तज्यौ तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर रहत नाहीं, टाड़ भुज गहि लीन।।
जब संदेसौ कहन सुंदरि, गवन मो तन कीन।
छुटी छुद्रावलि चरन अरुझी गिरी बल हीन।।

उद्धव को विश्वास हो गया कि राधा कृष्ण भगवान के बिना जीवित नहीं रह सकेगी। वे कृष्ण से कहते हैं कि आपके संदेश को सुनकर राधा मूर्छित हो गई है और उसे म तक समझकर उसके शारीरिक अंगों के प्रसिद्ध उपमान सर्प, म ग, कोकिल, सिंह और गजराज अति गर्व प्रकट कर रहे हैं। यदि आप वहां राधा की सहायतार्थ नहीं पहुंचे तो इन सभी का वहां राज्य होगा। अतः आपको राधा की प्राण रक्षा के लिए वहां अवश्य पहुंचना चाहिए।

उद्धव की बात सुनकर जब कृष्ण-रुक्मिणी के साथ ब्रज पहुंचे तो रुक्मिणी ने पूछा :-

'पिय, इनमें को व षभानु-किसोरी ?'

और उससे परिचय प्राप्त करके :

'रुक्मिणी राधा ऐसे भेंटीं।
जैसे बहुत दिनन की बिछुरी एक बाप की बेटी।'

अंत में महाकवि ने व षाभानुजा-कृष्ण के विरह की चरम सीमा का अंतिम 'महामिलन' कराया है :-

'राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, क्रीट भंग गति ह्वै जु गई।।
माधव राधा के रंग रांचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई।।
बिहसि कह्यौ हम तम नहिं अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।
'सूरदास' प्रभु राधा माधव, ब्रज बिहार नित नई-नई।।'

इस महामिलन में कृष्ण ने हंसकर कहा कि 'हम-तुम में कोई अंतर नहीं' उन्होंने राधा को फिर विरहानल में दग्ध होने के लिए ब्रज भेज दिया किंतु प्रेम की एकांत साधिका के मुख से एक भी शब्द नहीं निकला। इस महामिलन के विषय में राधा अपनी सखी से कह रही है—

'कहत कछु नाहीं आजु बनी।
हरि आए हौं रही ठगी-सी जैसे चित्त धनी।।'

सूर के राधा वर्णन में हमें सच्ची प्रेमिका का चित्रण मिल जाता है। जो विरह की असह्य पीड़ा सहन करती है, पर उफ् तक नहीं करती जिसका त्याग हिमाद्रि से भी उच्च है, परंतु नम्रता के कारण झुका हुआ सिर, जिसकी कर्त्तव्य-भावना प्रस्तर से भी अधिक कठोर है और हृदय नवनीतवत् कोमल, जिसे माखन-प्रिय नवनीत-चोर कृष्ण ने हंसते खेलते हुए ही चुरा लिया।

प्राचीनकाल से ही राधा के चरित्र का क्रमिक विकास होता रहा और सूर ने अपनी प्रतिभा के बल से उसे पूर्णता की ओर अग्रसर किया। जयदेव तथा विद्यापति की राधा में शारीरिकता अधिक है और हृदय पक्ष कम। वे अधिकतर उसके शरीर के सौंदर्य वर्णन में बह गए हैं उसके हृदय की कोमल भावनाओं की ओर उनका ध्यान अधिक नहीं गया, परंतु सूर की राधा जितनी सुंदर है उतनी ही सौम्य भी।

बालिका, किशोरी, रतिप्रिया, चतुर, वियोगिनी-राधा नाना रूपों में नारी हृदय की सुंदर छटा लेकर सूर के काव्य में अवतरित हुई है।

भारतीय संस्कृति से रंजित होने के कारण सूर की राधा स्वकीया है, परकीया नहीं। भारतीय परंपरा के अनुसार प्रेम की सार्थकता तभी है, जब वह परिणय का रूप धारण कर ले। एकपक्षीय असफल प्रेम को पुरातन काल से उत्कृष्ट नहीं माना जाता रहा।

राधा के द्वारा 'वास्तव में सूर ने विरहिणी के एक नवीन वर्ग की स ष्टि की है। इनमें हमें काव्यों की संस्कारमयी नायिका और लोकगीतों की निश्छल ग्राम वधूटियों का मध्यवर्ती रूप मिलता है। वह काल्पनिक विरह नहीं अपितु नैसर्गिक जीवन का सहज अंग है। इनमें न राजसी जीवन की गरिमा और न आभिजात्य है, और न नागरिक जीवन की विलास भावना। इसलिए उसके विरह में न नागमति और सीता का-सा गंभीर संयम मिलता है, और न रीति-काव्य की नायिकाओं जैसा प्रदर्शन ही। सीधी-सादी ग्वालिनी है जो न किसी प्रकार कृत्रिम मर्यादा का बंधन मानती है, और न विरह-निवेदन का ऊहात्मक शैली का ही प्रयोग करना जानती है। किसी प्रकार का छल न होने के कारण विरह उपालंभ से मुखर है।

राधा का इतना सर्वांगीण वर्णन हिंदी-साहित्य के किसी अन्य कवि ने नहीं किया। राधा-चरित्र के विकास में सूर का अद्वितीय स्थान है। राधा के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है-उनका सर्वस्व समर्पण। राधा के चित्रण में सूर ने एक उत्कृष्ट एवं मौलिक उद्भावना का परिचय कराया है। इन्हीं की परंपरा एवं उद्भावनाओं को उत्तरकालीन राधा-कृष्ण भक्तों ने भी ग्रहण किया है।

(खण्ड-ख)

व्याख्या

व्याख्या

।। 21 ।।

गोकुल सबै गोपाल उपासी।
जोग अंग साधत जो ऊधो ते सब बत ईसपुर कासी।।
यद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहति चरनन रस रासी।
अपनी सीतलताहि न छाँडत यद्यपि हैं ससि राहु-गरासी।।
का अपराध जोया लिखि पठवत प्रेम भजन तजि करत उदासी।
सूरदास ऐसी को बिरहिनि माँगति मुक्ति तजे गुनरासी।।२१।।

शब्दार्थः सबै = सभी। उपासी = उपासना करने वाले। जोग अंग = योग के आठ अंग। ईसपुर = शिवपुरी, महादेव की नगरी। तजि = छोड़कर। रस-रासी=रस में छंकी। ससि=चाँद। गरासी = ग्रसित। उदासी = उदास, विरागी। गुनरासी = गुण समूह।

प्रसंगः गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश और योग-साधना का विरोधकर अपनी प्रेम-साधना की प्रतिष्ठा कर रही हैं। उद्धव के ज्ञान-योग के उपदेश को सुनकर गोपियाँ बहुविधि प्रतिक्रिया करती हैं। उद्धव की योग-स्थापना के विरुद्ध गोपियाँ अपने प्रेम-मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करती हैं। उनके मत में श्रीकृष्ण की रूप-राशि और वंशी की धुन के आगे आठों महासिद्धियों से प्राप्त सुख भी बेकार है त्याज्य है। इस पद में वह उद्धव से पूछ रही हैं कि उनके किस अपराध के कारण कृष्ण ने उनके लिए योग का संदेश लिखकर भेजा है - गोपियाँ अपने प्रेम पर अटल हैं।

व्याख्याः गोपियाँ कहती हैं, हे उद्धव! गोकुल में सब नर-नारी गोपालक श्रीकृष्ण के उपासक है। उसी की रूप-राशि में रसलीन है जो जन अष्टांग योग की साधना करते हैं वे शिव नगरी, काशी में निवास करते हैं, यहाँ उनका कोई कार्य नहीं। यद्यपि श्रीकृष्ण नें हमें त्याग दिया है और इस प्रकार हम अनाथ हो गई हैं तो भी हमें उनके चरणों में रति है, उनके चरणों की रूप-राशि में हम ठगी हुई हैं, उनमें ही हमारा गहरा अनुराग है। यह उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार चन्द्रमा राहु द्वारा ग्रसित हो जाने पर भी अपना स्वाभाविक गुण-संसार को शीतलता प्रदान करना नहीं छोड़ता है। उसी प्रकार कृष्ण को यह अधिकार है कि वह हमें त्याग दें, किन्तु हम अपना स्वभाव धर्म नहीं छोडेंगी, उनके चरणों में ध्यानस्थ ही रहेंगी। हमारी समझ में नहीं आता कि हमारे किस अपराध के कारण दण्ड के रूप में कृष्ण ने हमारे लिए योग का संदेश लिख भेजा है? इस प्रकार हमें हरि-भक्ति छोड़ने को कहकर संसार से विरक्त करना चाहते हैं। सूरदास कहते हैं कि यहाँ ब्रज में ऐसी कौन-सी विरहणी है जो गुणों की खान श्री कृष्ण को छोड़कर मुक्ति की कामना करती हो। अर्थात् गोपियाँ कृष्ण-प्रेम के सम्मुख निर्गुणोपासना से प्राप्त मुक्ति का कोई महत्त्व नहीं, समझती। हम सबके लिए कृष्ण-प्रेम प्राण के समान है।

विशेषः-

1. अन्तिम पंक्ति मे निव त्ति मार्ग से प्रव त्ति मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। इससे प्रेम की ऋजुता की रक्षा हुई है। प्रव त्ति को ही महत्त्व देने के कारण गोपियाँ 'सायुज्य' नहीं अपितु 'सामीप्य' चाहती हैं। इस प्रकार भक्त मुक्ति की आकांक्षा न करके भगवत्-प्रेम में लीन रहना चाहता है। मुक्ति की कामना तो योग-मार्गी साधक ही करते हैं।
2. 'ईसपुर कासी' का अत्यन्त सुन्दर साभिप्राय प्रयोग हुआ है। काशी आरम्भ से ही योगियों की साधना स्थली बढ़ रही है। फिर शिव से इसका सम्बन्ध जोड़ने से इस पंक्ति की व्यंजना शक्ति बढ़ जाती है। क्योंकि योगियों के सभी सम्प्रदायों विशेषतया नाथों का शिव एवं शैव सम्प्रदाय से पर्याप्त सम्बन्ध रहा है।
3. रत्नाकर की गोपियों ने भी स्पष्ट कहा है कि जब वह 'मोहनलला' पर 'मन-मानिक' वर चुकी हैं तो उनके सम्मुख 'मुक्ति-मुक्ता' का 'मोल' ही क्या है। इसी कारण-

'वाही मुख मंजुल की चहति मरीयै सदा,
हमको तिहारी बह्म ज्योति करिबो कहा।'

4. वस्तुतः गोपियाँ ज्ञान-योग से प्राप्त निर्गुण ब्रह्म का विरोध न करके स्वयं को उसका अधिकारी नहीं समझती। इससे यह सिद्ध होता है कि सूर योग आदि से प्राप्त निर्गुण ब्रह्म के विरुद्ध न होकर उसके लिए अधिकारी भेद-स्वीकार करते थे।
5. 'जोग-अंग योग के अष्टांग-साधनों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो इस प्रकार है - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।
6. पौराणिक कथा का आकर्षक उल्लेख।
7. प्रभावी संगीतात्मकता।
8. राग-केदार का मनभावन रूप।
9. भक्ति-रस का प्रभावी परिपाक।
10. ब्रजभाषा का प्रयोग।
11. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर प्रयोग।

।। 22 ।।

जीवन मुँहचाही को नीको।
दरस परस दिनरात करति हैं कान्ह पियारे पी को।।
नयननि मूँदि मूँदि किन देखौ बँध्यो ज्ञान पोथी को।
आछे सुन्दर स्याम मनोहर और जगत सब फीको।।
सूनौ जोग को का लै कीजै जहाँ ज्यान है जी को।
खाटी मही नहीं रुचि मानै सूर खवैया घी को।।२२।।

शब्दार्थः मुँहचाही=प्रियतम को प्रिय लगनेवाली प्रिया। नीको=अच्छा। दरस-दर्शन। परस=स्पर्श। ज्ञान पोथी को=पुस्तकीय ज्ञान। आछे=अच्छे। मनोहर=मनमोहक। जगत=संसार। ज्यान=जियान, हानि। मही=मट्ठा, छाछ। खवैया=खानेवाला।

प्रसंगः उद्धव के निर्गुण के उपदेश सुनने के उपरान्त गोपियाँ चुप नहीं रहतीं बल्कि अनेक युक्तियों द्वारा अपने प्रेम मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करती हैं। उनका मत है कि कृष्ण ने यह योग का संदेश

उनके किसी अपराध के दण्डस्वरूप उन्हें लिखकर भेजा है, किन्तु वे मोक्ष की कामना न करते हुए भगवत्-रति में लीन रहना चाहती हैं। वे कृष्ण के प्रेम में सब कुछ छोड़ सकती हैं।

व्याख्या: गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि प्रियतम को अच्छी लगनेवाली प्रेमिका का जीवन अच्छा है, सफल है - अर्थात् प्रियतम के मन में समाने के कारण उसने संसार के जीवन का फल भोग लिया है। इस प्रकार के यहाँ कुब्जा से ईर्ष्या का भाव प्रकट करते हुए कहती है कि जीवन तो उसका अच्छा है, सफल है क्योंकि वह कृष्ण की चहेती प्रेमिका है। वह अपने प्रियतम कन्हैया का प्रतिदिन दर्शन प्राप्त करती है और उनके स्पर्श से उसे शारीरिक सुख आनन्द भी प्राप्त होता है, किन्तु उसे भी इतना सुख आनन्द प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह प्रेम करने की उचित रीति से परिचित नहीं। हे उद्धव! आँखे मूँद-मूँदकर किसने पुस्तक में निहित ज्ञान को प्राप्त किया है, उसे तो आँखे खोलकर अध्ययन से ही प्राप्त किया जा सकता है। उसी प्रकार प्रियतम के पास बने रहने से, दर्शन-स्पर्श से जीवन सफल नहीं होता। यह तो तभी सम्भव है। जब वह प्रेम की रीति से सुपरिचित हो और प्रियतम को रिझाने में समर्थ हो।

हमारे लिए तो श्यामसुन्दर कृष्ण ही एक मात्र सुन्दर एवं मनोहर है। उसके सम्मुख हमें समस्त संसार और उससे प्राप्त सुख बेकार प्रतीत होता है। अर्थात् हमारे लिए सुन्दर और परम मनोहर कृष्ण की तुलना में सारा सांसारिक सुख नीरस है। हे उद्धव! तुम हमारी बात सुनो। हम तुम्हारे योग-ध्यान को लेकर क्या करें। यह हमारे किसी काम का नहीं, क्योंकि इससे हमें प्राणहानि का भय है। कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि योग-साधना पर अमल करने से हमें अपने प्राणप्रिय श्री कृष्ण से बिछुड़ना पड़ेगा। उनके बिना हमारा जीवित रहना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार शुद्ध घी का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति खट्टी छाछ पीकर प्रसन्न नहीं रह सकता, उसी प्रकार कृष्ण के प्रेमाम त का पान करनेवाला हमारा यह हृदय तुम्हारी योग की नीरस बातें सुनकर आनन्दित नहीं होता। हम कृष्ण को नहीं भुला सकती हैं।

विशेष:-

1. 'जीवन मुँहचाही को नीकों' में गोपियाँ असमंजस ग्रसित हो कुब्जा के प्रति ईर्ष्या प्रकट कर रही हैं। कुब्जा के प्रति सूर-काव्य में ऐसे पदों ने ही रीतिकालीन सपत्नी कलह वर्णन को प्रोत्साहन प्रदान किया है। प्रेम भाव में उभरता विशेष भाव है।
2. 'ज्यान' शब्द प्रदेश विशेष से सम्बन्धित है और ज्यों-का-त्यों यहाँ आया है। इसका अर्थ है हानि, नुकसान।
3. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. 'पियारे पी' तथा 'स्यामसुन्दर में' छेकानुप्रास अलंकार।
5. सूक्ष्म भाव का स्पष्ट अभिव्यक्ति।
6. प्रसाद-माधुर्य गुण शैली।
7. सुन्दर भाव - अभिव्यंजना।

।। 23 ।।

आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेप गुन ग्यान जोग की ब्रज में आय उतारी।।
फाटक देकर हाटक माँगत भौरे निपट सुधारी।
धुर ही ते खोटो खायो है लये फिरत सिर भारी।।
इनके कहे कौन डहकावै ऐसी कौन अजानी।

अपने दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी।।
ऊधो जाहु सबार इहाँ ते वेगि गहरू जनि लावौ।
मुँहमाग्यौ पैहो सूरज प्रभु साहुहि आनि दिखावौ।।२३।।

शब्दार्थः घोष=अहीरों की बस्ती। खेप=माल का बोझ। फाटक=तत्त्वहीन पदार्थ, अनाज फटकने से निकला हुआ भूसा, फटकन। हाटक=स्वर्ण। धारी=समझकर। धुर=मूल। डहकावे=धोखा खाए। अजानी=मूर्ख अज्ञानी। खार=खारा, कड़ूआ। कूप=कुआँ। सवार=सवेरे। साहुहि=साहूकार, महाजन। आनि=आकर।

प्रसंगः निर्गुण ब्रह्मोपासना की शिक्षा देने के लिए आए ऊद्धव को गोपियाँ अपना व्यंग्य वाक्य सुनाती है। वे फिर आपस में चर्चा करती हैं और कहती हैं कि हमारे लिए तो कृष्ण-प्रेम ही सब कुछ है। हम निर्गुण ब्रह्म को तो जानती तक नहीं। इसी प्रकार जो कुछ वे आपस में उद्धव को लक्ष्य करके कहती है, उसी का वर्णन प्रस्तुत पद में किया गया है।

व्याख्याः आज हमारी इस अहीरों की बस्ती में एक अत्यन्त विचित्र व्यापारी आया हुआ है। उसने ज्ञान और योग के गुणों से युक्त सामान की गठरी यहाँ ब्रज में बेचने के लिए आकर उतार दी है। इसने यहाँ के निवासियों को अत्यन्त भोला और अज्ञानी समझ लिया है। जिससे फटकन के समान निस्सार वस्तु अर्थात् ज्ञान-योग समर्थित ब्रह्म को देकर उसके प्रतिकार स्वरूप अर्थात् स्वर्ण के समान बहुमूल्य एवं प्रिय कृष्ण माँगा है। इस व्यापारी का असबाब बिल्कुल व्यर्थ है जिसके कारण यह बिक नहीं रहा और इसे आरम्भ से ही हानि उठानी पड़ रही है। अर्थात् इसका सामान कोई भी नहीं खरीद रहा, अतः इसका भारी बोझ सिर पर लादकर यह इधर-उधर भटकता फिर रहा है। यहाँ ब्रज में हम ही कौन-सी नासमझ और अज्ञानी हैं जो इसका माल खरीदकर धोखा खा जाएँ। हमने तो आज तक ऐसा कोई मूर्ख नहीं देखा जो अपने घर का मधुर दूध त्यागकर खारे जल के कुएँ का पानी पीने जाए।

हे उद्धव! तुम यहाँ से अत्यन्त शीघ्र मथुरा चले जाओ और अपने महाजन अर्थात् ज्ञान-योग की गहरी भेजनेवाले साहूकार रूपी कृष्ण को यहाँ लाकर हमें उनके दर्शन करा दो तो तुम्हें मुँहमांगा पुरस्कार प्राप्त होगा अर्थात् तुम जो माँगोगे हम देंगी, तुम एक बार कृष्ण के हमें दर्शन करा दो।

विशेषः-

1. 'आयो घोष बड़े व्यापारी' के उद्धव के पति गोपियों का गंभीर व्यंग्य है।
2. सम्पूर्ण पद में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि है। उद्धव के ज्ञानयोगरूपी माल को निस्सार वस्तु घोषित करते हुए उसका तिरस्कार किया गया है।
3. कृष्ण-प्रेम अथवा कृष्ण को स्वर्ण के समान अमूल्य और स्प हर्ण तथा ज्ञान-योग से प्राप्त ब्रह्म को निस्सार वस्तु के समान उपेक्षणीय कहा गया है।
4. इसमें अभिव्यक्ति व्यंग्य निर्गुण-उपासना पर मार्मिक चोट करता है।
5. 'फाटक' एवं 'हाटक' मे अत्यन्त सुन्दर शब्द-शैली है।
6. धुर ही ते खोटो खायो है, सुन्दर मुहावरे का प्रयोग है।
7. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली है।
9. अलंकार-

(क) सम्पूर्ण पद में रूपक और अन्योक्ति का संकर रूप है।

(ख) 'फाटक'.....सुधारी' - में लोकोक्ति।

(ग) 'खार कूप को पानी' - में द ष्टान्त अलंकार है।

।। 24 ।।

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहैं।
यह व्योपार तिहारो ऊधो। ऐसोई फिर जैहे।।
जापै लैं आए, हौ मधुकर ताके उर न समैहै।
दाख छाँड़ि कै कटुक निवौरी को अपने मुख खैहै?
मूरी के पातन के केना की मुक्ताहक दैहै।
सूरदास प्रभु गुनहिं छाँड़िकै को निर्गुण निखैहै? ।।२४।।

शब्दार्थः ठगौरी=जादू, ठगाई से भरा सौदा। फिरि जैहै=लौटा दिया जाएगा। जापै=जिसके पास। कटुक=कड़वी। निवौरी=नीम का फल। खैहै=खाएगा। केना=सौदा, बदले में। मुक्ताहक=मोती। निखैहै=निवाएगा, साधन करेगा।

प्रसंगः गोपियाँ उद्धव के योग-ज्ञान को निस्सार बताकर उन पर गम्भीर व्यंग्य करती हैं! उद्धव का ज्ञान खारे जल के कुएँ के समान है, इसी कारण मधुर दूधरूपी कृष्ण को छोड़कर उसका पान कौन करना चाहेगा? वे कृष्ण में ही अनुराग रखना चाहती हैं।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-योग पर व्यंग्य करती हुई कह रही हैं कि हे उद्धव! तुम्हारा यह ज्ञान-योगरूपी ठगी और धूर्तता का माल ब्रज में नहीं बिक पाएगा। तुम्हारा यह सौदा यहाँ से इसी प्रकार लौटा दिया जाएगा। इसे यहाँ कोई नहीं खरीदेगा। तुम जिनके लिए यह सामान इतनी दूर तक लाए हो, उन्हें यह पसंद नहीं आएगा और न ही उनके ह्रदय में समा सकेगा। ऐसा कौन मूर्ख है जो अपने मुख के अंगूर के दानों को त्यागकर नीम के कड़वे फल को खाएगा। और मूली के तीखे पत्तों के बदले में मोतियों के दाने देगा कहने का तात्पर्य यह है कि तुम्हारा यह ब्रह्म नीम के फल के समान कड़वा और मूली के पत्तों के समान-समान तीखा अर्थात् तुच्छ, व्यर्थ और त्याज्य है और हमारे कृष्ण अंगूर के समान मधुर और मोतियों के समान बहुमूल्य हैं इसलिए हम ऐसी मूर्ख नहीं कि कृष्ण को त्यागकर निर्गुण ब्रह्म की साधना करें। सूरदास जी कहते हैं कि ऐसा कौन है जो सम्पूर्ण गुणों के भण्डार-सगुण रूप कृष्ण को छोड़कर तुम्हारे गुणहीन - निर्गुण ब्रह्म के साथ निर्वाह करें अर्थात् उसकी साधना करें।

विशेषः-

1. इस पद में व्यंग्य की छटा दर्शनीय है।
2. अलंकार
   (क) 'दाख ..... निबौरी' में अन्योक्ति अलंकार
   (ख) 'मूरी ..... मुक्ताफल' मे तुल्योगिता अलंकार
   (ग) 'गुन निर्गुन' - श्लेष अलंकार
   (घ) 'जोग ... बिकैहै' - रूपक अलंकार
3. वियोग श ंगार रस का सुन्दर परिपाक।
4. ब्रजभाषा का प्रयोग।

5. आकर्षक योग्यता।

6. स्पष्ट प्रभावी अभिव्यक्ति।

।। 25 ।।

आए जोग सिखावन पांडे।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँडे।।
हमारी गति पति कमलनयन की जोग सिखैं ते राँडे।
कहौ मधुप, कैसे समायेंगे एक म्यान द्वै खाँडे।।
कहु षटपद कैसे खैयतु है हाथिन के संग गाँडे।
काफी भूख गई वयारि भखि। बिना दूध घ त माँडे।।
काहे को झाला लै मिलक्त, कौन चोर तुम डाँडे।
सूरदार तीनों नहिं उपजत धनिया, धान, कुम्हाडे।।२५।।

शब्दार्थः जोग=ज्ञान योग। परमारथी=परमार्थ की शिक्षा देनेवाले। बनजारे=खानाबदोश, इधर-उधर घूमने वाला। पुराननि=पुराणों की, पुरानी, बासी। टाँडे=सौदा, व्यापार की वस्तु। राँडे=विधवा। खाँडे=तलवार। षटपद=भौंरा। गाँडे=गन्ना। बयारी=हवा। भखि=खाकर। माँडे=खाने, तैयार किए। झाल=बकवास, झल्ल। डाँडे=दंड। कुम्हाडे=कुम्हड़ा, काशीफल, कद्दू, पेठा।

प्रसंगः उद्धव के ज्ञान-योग की शिक्षा से गोपियाँ अत्यन्त उदास और नाराज हैं। उनकी धारणा है कि ज्ञान-योगरूपी व्यापार का सौदा अत्यन्त निस्सार की वस्तु है। इस ज्ञान के बदले श्री कृष्ण के बहुमूल्य प्रेम को छोड़ना ठीक नहीं है। वे योग की साधना की अपेक्षा श्री कृष्णरूपी प्रेमी भगवान से मिलकर अपना जीवन सफल करना चाहती हैं। इसीलिए वे उद्धव पर व्यंग्य-बाण की वर्षा करते हुए कहती हैं कि योग की शिक्षा देने के लिए पंडा बनकर आए हैं। वे कृष्ण के प्रति अटल प्रेम रखकर कहती हैं।

व्याख्याः हे उद्धव! तुम पंडा के समान परमार्थ की शिक्षा देनेवाले पुराणों में निहित ज्ञान के बोझ को उसी प्रकार अपने सिर पर लादे फिर रहे हो जिस प्रकार खानाबदोश लोग अपने सिर पर माल लादे बेचने के लिए घूमते-फिरते हैं। अथवा तुम योग को सिखानेवाले पंडे के समान, परमार्थरूपी पुरानी, बासी, व्यर्थ की वस्तु को लिए फिरते हो और हमारे ऊपर मढ़ना चाहते हो। हमारी गति अपने पति के साथ है और हमारे पति कमलनयन श्री कृष्ण हैं जो हमें शरण और प्रतिष्ठा देनेवाले है योग उन्हीं के लिए उचित है जो विधवा और अनाथ है। हमारे पति कमलनयन श्री कृष्ण जीवित हैं और हमें शरण एवं प्रतिष्ठा देनेवाले हैं, अतः योग हमारे लिए व्यर्थ की वस्तु है।

हमारे लिए योग सीखना उसी प्रकार है जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारों का समा जाना। जैसे एक म्यान में दो तलवारों का समा जाना असम्भव है उसी प्रकार हमारे लिए योग-ज्ञान की साधना करना असम्भव है क्योंकि कृष्ण हमारे हृदय में समाए हुए हैं। वहाँ निर्गुण ब्रह्म की समाई नहीं हो सकती। यह सम्भव नहीं। हे भ्रमर! हमें बताओ कि किस प्रकार हाथी के साथ गन्ने को खाया जा सकता है? क्योंकि हाथी तो एक बार में अनेक गन्ने को खा जाता है। जिस प्रकार हाथी के साथ गन्ना खाने में मनुष्य स्पर्धा नहीं कर सकता उसी प्रकार हम अबला-नारियों के लिए योग मार्ग की कठिन और दुरूह साधना करना कठिन है।

हे उद्धव! हमें यह बताओ कि बिना दूध, घी, रोटी खाए केवल वायु के भक्षण अर्थात् प्राणायाम करने से किसकी भूख मिट सकती है। जिस प्रकार यह असम्भव है, उसी प्रकार हमारे लिए योग की साधना करना भी असम्भव है। तुम किस कारण बातें बना-बनाकर व्यर्थ की पोथी बकवाद कर रहे हो? हम लोगों ने ऐसी आखिर कौन-सी चोरी की है जिसका तुम दंड देने आए हो। अथवा

तुम ऐसे महाजन हो जो हमें चोर समझकर दंड देने आए हो। वस्तुतः तुम स्वयं चोर हो क्योंकि हमारे प्रिय, मूल्यवान, सर्वस्व कृष्ण को, जो हमारे हृदय में विराजमान है, चुराने, हमसे छीनकर ले जाने के लिए आए हो। तुम भली-भाँति जानते हो कि जिस प्रकार धनिया, धान और काशीफल की खेती एक स्थल पर होनी असम्भव है, उसी प्रकार हमारे लिए कृष्ण को छोड़कर तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार करना असम्भव है।

विशेषः-

1. व्यंजना एवं लक्षण शब्द-शक्तियों से भाषा की वाग्धैदग्धता में व द्धि हुई है।
2. गोपियों के लिए कृष्ण को त्यागकर उद्धव के निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करना भी असंभव है।
3. धनिए की खेती शीत ऋतु में, धान की खेती पावस ऋतु में और काशीफल की खेती ग्रीष्म ऋतु में होती है, अतः तीनों की खेती एक स्थल पर एक समय होनी असम्भव है।....'तीनों नहीं उपजात' से कपितय विद्वान भक्ति, योग और ज्ञान का अर्थ लेते हैं किन्तु यह भ्रामक है क्योंकि इन तीनों का समन्वय कबीर जैसे ज्ञानमार्गी कवियों में उपलब्ध होता है।
4. 'एक म्यान दो खांडे' - लोकोक्ति का प्रयोग।
5. 'परमारथी ..... टाँडे' में उपमा अलंकार - योजना।
6. सुन्दर लयात्मकता।
7. आकर्षक गेयता।
8. ब्रजभाषा का आकर्षक रूप।
9. मुक्तक शैली का अनुप्रयोग।
10. प्रभावी अभिव्यक्ति।

।।। 26 ।।

ए अलि। कहा जोग में नीको?
ताजि रसरीति नंदनदन की सिखावत निर्गुन फीको।।
देखत सुनत नाहिं कछु स्रवननि, ज्योति-ज्योति करि ध्यावत।
सुंदरस्याम दयालु कृपानिधि कैसे हौ बिसरावत?
सुनि रसाल मुरली सूर की धुन सोई कौतुक रस भूलै।
अपनी भुजा ग्रीव पर मेलै गोपिन के सुख फूलै।।
लोककानि कुल को भ्रम प्रभु मिलि कै धर बन खेली।
अब तुम सूर खवावन आए जोग जहर की वैली।।२६।।

शब्दार्थः अलि=भौंरा। नीको=अच्छा, गुणवान। तजि=छोड़कर। फीको=बेकार। स्रवननि=कानों से। ध्यावत=ध्यान करते हैं। बिसरावत=भूलना। रसाल=मधुर, मीठे। ग्रीव=गर्दना। मैले=डालते थे। लोककानि=लोक की मर्यादा। खेली=खेल डाला, कुछ भी न समझा। वैली=बेल, लता, बूटी।

प्रसंगः उद्धव के योग के उपदेश से गोपियाँ खिन्न होकर गहन प्रतिक्रिया करती हैं। वे भ्रमर के माध्यम से उद्धव को खरी-खोटी सुना रही हैं। उनके मत में कृष्ण का प्रेम बहुमूल्य धरोहर है, उसके बदले में वे फटकने के समान व्यर्थ निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं कर सकती है। उन्होंने निर्गुण उपदेशक को चोर का दर्जा भी दे डाला है। वह उनके हृदय मे विराजमान कृष्ण को उनसे छीनकर

ले जाना चाहते हैं। उनमें कृष्ण के प्रति अटूट प्रेम है।

व्याख्याः हे उद्धव! तुम्हारे इस ज्ञान-योग में ऐसी कौन-सी अच्छाई है जिससे तुम हमें नंद-नंदन श्रीकृष्ण के सुन्दर प्रेम को त्यागकर इस फीके, गुणहीन, रसरहित, निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने की बात कह रहे हो। योगमार्गी भक्त न तो नेत्रों से कुछ देख ही पाते है और न ही कानों से कुछ सुन पाते हैं, केवल 'ज्योति-ज्योति' कहकर व्यर्थ उसका ध्यान करने का प्रयत्न करते रहते हैं। निर्गुण-ब्रह्म ज्योति-स्वरूप तो आवश्यक हो सकता है किन्तु वह न तो कृष्ण के समान सुन्दर दर्शनीय ही है और न ही मधुर सरस वचनों से कानों को सुख पहुँचा सकता है हम अपने ऐसे सुन्दर, दयालु, कृपा के भण्डार कृष्ण को तुम्हारे इस ब्रह्म के लिए किस प्रकार भुला दे। उस नीरस ब्रह्म के लिए सुन्दर रसयुक्त कृष्ण को भुलाना असम्भव है।

हे भ्रमर गुणी उद्धव! हम उनकी मधुर मुरली की ध्वनि को सुनकर उसके आनन्द में रसलीन हो, उनके प्रेम में हम स्वयं को भूल जाती थी, पूर्ण विस्त त हो जाती थी। हमारी ऐसी अवस्था को देखकर वे हमारे गले में अपनी भुजाएँ डाल देते थे, हमें अपने आलिंगन में बद्ध कर लेते थे, ऐसे सुख में हम फूली न समाती थीं। हमने कृष्ण के साथ प्रेमलीलाएँ करते हुए, उनके साथ क्रीड़ा-बिहार करते हुए लोक, समाज और परिवार के समस्त गौरव, मान-मर्यादा के भ्रम को विनष्ट कर दिया था, इस सबकी कुछ परवाह नहीं की। हमने कृष्ण के साथ प्रेम-क्रीड़ा करने में लोक और कुल की भ्रान्ति पूर्ण मर्यादाओं की तनिक चिंता नहीं की थी। अब तुम हमें उस अम त के समान मधुर-मादक कृष्ण-प्रेम को छोड़ने का उपदेश देकर अपने विष-फल उत्पन्न करनेवाली योगरूपी इस बूटी के फल को खिलाने यहाँ आए हो-अर्थात् तुम्हारा यह योग का उपदेश हमारे लिए विष के समान प्राणघातक होगा और कृष्ण का प्रेम हमारे लिए मधुर और जीवनदायक होगा।

विशेषः-

1. पुष्टिमार्गी भक्ति-सिद्धांत के अनुसार लोक-मर्यादा एवं कुल बंधन की सीमाओं को तोड़ गया है।
2. ज्ञान-योग का खण्डन है।
3. 'जोग जहर' की बोली में रूपक अलंकार है।
4. सुन्दर गेयता है।
5. ब्रजभाषा का सुन्दर रूप सूक्ष्म भाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
6. प्रेम का प्रतिपादन।
7. व्यंग्य की प्रधानता।

।। 27 ।।

हमरे कौन जोग व्रत साधै?
म गत्वच, भस्म, अधारि, जटा को को इतना अवराधै?
जाकी कहूँ थाह नहिं पैए, अगम, अपार, अगाधै।
गिरिधर लाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै?
आसन पवन भूति म गछाला ध्याननि को अवराधै?
सुरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै?।।२७।।

शब्दार्थः हमरे=हमारे। साधै=साधन करे। म गत्वच=हिरण की छाल। अवराधै=लकड़ी। अगाधै=अथाह। बाँध=बंधन। पवन=वायु, यहाँ प्राणायाम। विभूति=राख। मानिक=मोति। परिहरि=त्यागकर।

प्रसंगः उद्धव के ज्ञान के उपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप गोपियाँ अत्यन्त खिन्न है। उनका कहना है कि परम प्रिय सुन्दर कृष्ण को छोड़कर निर्गुण-ब्रह्म की साधना करना नितान्त असम्भव है। कृष्ण के साथ क्रीड़ा-विहार करते हुए उन्होंने लोक-मर्यादा और कुल की सीमा को तोड़ दिया था। ऐसे अम त को त्यागकर विष की बूटी के फल के रूप में निर्गुण ब्रह्म की आराधना करना हमारे लिए सम्भव नहीं।

व्याख्याः गोपियाँ योग - साधना की कठिनाइयों, बाहरी बंधनों और प्रयत्नों की आलोचना करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव! हमारे यहाँ तुम्हारे योग व्रत की साधना कौन करें? कौन म गछाला, भस्म, अधारी आदि वस्तुओं को इकट्ठा करता फिरे और फिर सिर पर जटा बाँधे? इतनी मुसीबतें मोल लेकर कौन तुम्हारे ब्रह्म की इतनी साधना करता फिरे? तुम्हारा ब्रह्म तो ऐसा है जिसकी कहीं भी थाह नहीं पाई जा सकती, जो अगम्य, अपार और अथाह है। फिर ऐसे ब्रह्म को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए ये सब प्रयत्न करना व्यर्थ है।

हमारे सुन्दर-सलोने कृष्ण के छबीले मुख के दर्शन करने के लिए आसान, प्राणायाम, भस्म, म गछाला आदि को एकत्र करना और फिर उनका ध्यान करना आदि बातों की तनिक भी जरूरत नहीं पड़ती, अर्थात् जब तुम्हारे ब्रह्म का ध्यान करने के लिए इन सारी वस्तुओं का जुटाना आवश्यक है तो फिर ऐसा कौन मूर्ख है जो इन सारे प्रपंचो में पड़ उसकी आराधना करता फिरे? यह बताओ कि ऐसा कौन मूर्ख है जो अपने माणिक्य को त्यागकर उसके स्थान पर राख को अपनी गाँठ में बाँधे? अर्थात् हमारे कृष्ण मणि के समान अमूल्य है, और तुम्हारा ब्रह्म राख के समान तुच्छ है।

विशेषः-

1. सूरदास जी ने यह स्पष्ट किया है कि सगुणमार्गीय भक्ति सहज और सरस है जबकि योग-मार्गी भक्ति, क्लिष्ट, कठिन और असहज है।
2. इस पद में अष्टांग योग के साधनो का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।
3. 'बाँध-बाँधना' आदि मुहावरों के प्रयोग से भाषा की व्यंजना शक्ति विस्तार हुआ है।
4. ज्ञान योग का खण्डन।
5. सुन्दर गेयता, लयात्मकता।
6. मुक्तक काव्य रूप।
7. ब्रजभाषा का प्रयोग।
8. ''अगम, अपार, अगाधै'' में व त्यानुसार अंलकार।
9. सम्पूर्ण पद में अन्योक्ति अलंकार है।

।। 28 ।।

''हम तो दुहुँ भाँति। फल पायो।
जो ब्रजनाथ मिलै तो नीको नातरू जग जस गायो।
कहँ वै गोकुल की गोपी सब बरनहीन लघु जाती।
कहँ वै कमला के स्वामी संग मिलि बैठी एक पाँती।
निगमध्यान मुनि ग्यान अगोचर, ते भए घोष निवासी।
ता ऊपर अब साँच कहौ धौं, मुक्ति कौन की दासी।
जोग-कथा पा लागों, ऊधो, ना कहु बारम्बार।
सूर स्याम तजि और भजै जौ ताकी जाननी छार।।२८।।''

शब्दार्थः हम तो=हमने तो। दुहुँ भाँति=दोनों तरह से। नीको=अच्छा आम। वरन हीन=नीच कुल की। लघु जाती=नीच जाति की। कमला के स्वामी=लक्ष्मी के पति। पाँति=पंक्ति। निगम=वेद। अगोचर=अप्राप्त। घोष निवासी=अहीरों की बस्ती में रहनेवाले। छार=राख।

प्रसंगः उद्धव के योग-उपदेश की प्रतिक्रिया स्वरूप गोपियाँ उन्हें खरी-खोटी सुना रही हैं। उनके मन में कृष्ण का स्थायी वास है और कुछ ध्यान नहीं देना चाहती। इसलिए गोपियों के मत में निर्गुण ब्रह्म की साधना करना अत्यन्त दुष्कर व्यापार है। इसके लिए आसन, म गछाला, भस्म, आधारी आदि साधनों को एकत्रित करना पड़ता है। फिर भी यह कहना कठिन है कि ब्रह्म के साथ साक्षात्कार भी हो सकेगा। किन्तु कृष्ण को प्राप्त करने के लिए इस सब आडम्बर की आवश्यकता नहीं, यहाँ तो केवल सच्चा प्रेम चाहिए।

व्याख्याः गोपियाँ कहती है हे उद्धव! कृष्ण-प्रेम का फल तो हमें दोनों प्रकार से प्राप्त हो सकेगा। यदि हमें अपने इस विरह के अंत में ब्रजनाथ श्री कृष्ण मिले तो यह अति उत्तम रहेगा क्योंकि हम ब्रह्म में लीन हो जाएँगी और यदि हमारी उनसे भेंट न हो सकी तो हमारे मरणोपरांत सारा संसार हमारा यशगान करेगा कि गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने प्रेम में सदा एकनिष्ठा रहीं वस्तुतः हमारी और कृष्ण की कोई समानता ही नहीं, कहाँ हम नीच जाति की कर्म-वर्णहीन, गोकुल की गोपियाँ और कहाँ वे लक्ष्मीपति ब्रह्मस्वरूप कृष्ण। वह तो हमारा परम सौभाग्य ही था, कि हमें उनसे प्रेम करने का अवसर मिला और उन्होंने भी हमें अपने प्यार के योग्य समझा और इस प्रकार हम उनके साथ एक पंक्ति में बैठी अर्थात् उन्होंने हमें अपने साथ समानता का दर्जा प्रदान किया।

वेद भी जिन भगवान का सदा ध्यान करते हैं, जिन्हें पूर्ण ज्ञानी मुनिगण भी प्रयत्न करने पर प्राप्त नहीं कर पाते, वही भगवान इस अहीरों की बस्ती में आकर रहे थे। इससे ऊपर तुम हमें यह बताओ कि मुक्ति किसकी दासी है? मुक्ति ब्रह्म की दासी है और वह ब्रह्म निश्चय ही कृष्ण है। हम तुम्हारे पाँव पड़ती हैं कि हे उद्धव! योग की कथा बार-बार हमें मत सुनाओ। सूरदास जी कहते है। कि गोपियों का यह निश्चय मत है कि जो कृष्ण को त्यागकर किसी अन्य की उपासना करता है, उसकी जन्म-दामिनी माता भी धिक्कार के योग्य है।

विशेषः-

1. प्रस्तुत पद में कृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य प्रेम और निर्गुण की चर्चा में उनके दैन्य भाव का अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत हुआ है।
2. दैन्य भाव के कारण परिवर्तित मनोदशाओं का मर्मस्पर्शी रूपायन हुआ है।
3. ज्ञान पर भक्ति की विजय स्पष्ट ही दिखाई पड़ रही है।
4. मुक्तक शैली में प्रस्तुति।
5. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
6. 'बैठी एक पाँती'' भाषा के मुहावरे का प्रयोग।
7. सूक्ष्म भावों की सहज और प्रभावी अभिव्यक्ति है।
8. भावसाम्यः

   पुत्रवती युवती जग सोई।

   रघुपति भगत जासु सुत होई।

।। 29 ।।

पूरनता इन नयन न पूरी।
तुम तो कहत स्रवननि सुनि समुझति ये याही दुख मरति विसूरि।।
हरि अन्तर्यामी सब जानत बुद्धि विचारत वचन समूरी।
वै रस रूप रतन सागर निधि क्यों मनि पाय खवायत धूरी।।
रहु रे कुटिल चपल मधु लम्पट, कितब संदेस कहत कटु कूरी।
कहँ मुनिध्यान कहाँ ब्रज युवती। कैसे जात कुलिस करि चूरी।।
देखु प्रगट सरिता, सागर रस सीतल सुभग स्वाद रुचि रूरी।
सूर स्वाँति-जल बसै जिय चातक चित लागत सब झूरी।।२६।।

शब्दार्थः पूरनता=पूर्णता। नयन=आँख। न पूरी=नहीं जँचती। स्रवननि=कानों से। यही=यह ही। बिसूरी=बिलख-बिलखकर। समूरी=पूर्णरूप से। धूरी=धूल-मिट्टी। कुटिल=छली। चपल=चंचल। मधुलंपट=रस के लोभी। कितब=धूर्त्त। कूरी=क्रूर, निष्ठुर। कुलिस=बज्र। सर=तालाब। सीतल=ठण्डा। सुभग=मधुर। रूरी=अच्छी। चित=मन। झूरी=नीरस।

प्रसंगः उद्धव के ज्ञानोपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप गोपियाँ नाराज और खीझी हुई हैं और उद्धव को खरी-खोटी सुनाकर अपने प्रेमपथ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहती हैं। अब उनकी खीझ दीनता में परिवर्तित होती जा रही है और उपालम्भ का तिरोधान हो रहा है उन्हें यदि श्री कृष्ण मिलते हैं तो श्रेष्ठ हैं, नहीं तो उनकी एकनिष्ठता का सारा संसार यशगान करेगा। वे नीच कुल और नीच जाति की हैं, किन्तु कमलापति विष्णु के अवतार श्री कृष्ण ने उनसे समानता का व्यवहार किया और अपने निकट उन्हें एक पंक्ति में बिठाया। यह भी उनके लिए परम सौभाग्य की बात है। प्रस्तुतः पद में गोपियाँ उद्धव पर व्यंग्य कर रही है क्योंकि उन्होंने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म कहा था।

व्याख्याः हे उद्धव! तुमने पूर्ण ब्रह्म का जो वर्णन किया है, उसकी वह पूर्णता हमारे इन नेत्रों में पूरी तरह समा नहीं पाती अर्थात् हमारे इन नेत्रों को वह पूर्णता जँचती ही नहीं। तुमने हमसे ब्रह्म की पूर्णता के विषय में जो-जो बातें कही हैं, उसे हम अपने कानों से सुनकर समझने का प्रयत्न कर रही हैं, परन्तु इस पर हमारी आँखें दुखती हैं और बिलख-बिलखकर मरी जा रही हैं। इस बिलखने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि इन्हें तुम्हारे द्वारा वर्णित ब्रह्म की पूर्णता कहीं भी द ष्टिगत नहीं होती अथवा इन्हें यह भय है कि कहीं हम तुम्हारी बातों में आकर कृष्ण को न त्याग दें और तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार न कर लें। ऐसा होने पर कृष्ण के सौन्दर्य में छकी हुई इन आँखों को ऐसी स्थिति में फिर कृष्ण के मधुररूप में दर्शन न हो सकेंगे।

गोपियों का कथन है कि सब जन को यह जानकारी है कि भगवान अन्तर्यामी हैं। बुद्धि द्वारा इस बात पर पूर्णरूप से विचार करने पर हमें भी तुम्हारा यह कथन सत्य प्रतीत होता है और इस पर विश्वास होने लगता है किन्तु हमारे कृष्ण तो प्रेम, रूप और रत्नों के सागर है, वे अति मूल्यवान हैं। ऐसे कृष्णरूपी माणिक को प्राप्त कर लेने पर तुम क्यों हमें धूल के समान तुच्छ अपने निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश दे रहे हो। तुम्हारा यह उपदेश व्यर्थ हो जाएगा। हम अपना धर्म बदलनेवाली नहीं। क्योंकि यह तो गाँठ की मणि को त्यागकर धूल फाँकने के समान मूर्खता ही होगी।

भ्रमर को सम्बोधित करते हुए वे उद्धव को खरी-खोटी सुनाती हुई कहती हैं कि रे छली, चंचल, रस के लोभी, धूर्त भँवरे ठहर जा। तू हमें ऐसा योग का कटु संदेश क्यो सुना रहा है? तू हमें यह तो बता कि कहाँ मुनियों की ब्रह्मविषयक कठोर साधना और कहाँ हम कोमलांगी ब्रज की युवतियाँ, कहीं भी तुम्हें समानता दिखाई देती है। हम ब्रज की कोमलांगनाएँ किस प्रकार योगविषयक क्लिष्ट साधना करने में समर्थ हो सकती है? जिस प्रकार कठोर बज्र को तोड़कर चकनाचूर करना असम्भव

है, उसी प्रकार हमारे लिए भी इस योग का करना असम्भव है। इस प्रकार संसार में सरिता, सागर तालाब का जल मीठा, निर्मल और शीतल होता है, यह देखकर भी स्वाति-जल के प्रेमी चातक के हृदय में तो केवल स्वाति-नक्षत्र के समय उपलब्ध जल के प्रति ही प्रेम होता है। वह उसी का पान करके अपनी त ष्णा को शांत करता है, उसके लिए अन्य स्रोतों से प्राप्त जल शीतल और मधुर होने पर भी नीरस और व्यर्थ है। इसी प्रकार तुम्हारा ब्रह्म निश्चय ही मुक्ति देनेवाला हो किन्तु हमें तो कृष्ण ही एकमात्र प्रिय लगते हैं, हम उन्हीं से प्रसन्न हैं, हमें मोक्ष की आकांक्षा नहीं, अतः हम तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार करने में असमर्थ हैं।

विशेषः-

1. गोपियों ने चातक का आधार बनाकर अपने प्रेम की अनन्यता की घोषणा की है। उनका कृष्ण-प्रेम चातक के समान अटल है। निर्गुण ब्रह्म की अवहेलना न करें, उसे श्रेष्ठ स्वीकारते हुए भी वे कृष्ण के सम्मुख उसे महत्त्व नहीं देती।
2. चातक के प्रेम की अनन्यता का आदर्श प्रतीक स्वीकार किया गया है। तुलसी ने भी चातक की अनन्यता पर अनेक दोहों की रचना की है। उदाहरणः-

   (क) **चरण चंगु गत चातकहि नेम प्रेम की पीर।**
   तुलसी परबस हाड़ पर परिहुँ पुहुमी नीर।।

   (ख) **''बघ्यो बधिक पर्‌यो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच।**
   तुलसी चातक प्रेम पर भरतहुँ लगी न खोंच।।''

3. **अलंकार**

   (क) सम्पूर्ण पद में छेकानुप्रास, व त्यानुप्रास अलंकार अनेक स्थलो पर आए हैं।

   (ख) 'कहँ मुनि.....चुरी' में निर्दशना अलंकार है।

4. ब्रजभाषा का प्रयोग।
5. आकर्षक लयात्मकता।
6. माधुर्य और प्रसाद गुणसम्पन्न।
7. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति है।

।। 30 ।।

हमतें हरि कबहूँ न उदास।
राति खवाय पिवास अधररस सो क्यों विसरत ब्रज को वास।।
तुमसों प्रेमकथा को कहिवों मनहुँ, काटिबों, घास।
बहिरों तान-स्वाद कह जानै, गूँगों बात मिठास।।
सुनु री सखी, बहुरि फिरि' ऐहैं वे सुख विविध विलास।
सूरदास ऊधो अब हमको भयों तेरहों मास।।३०।।

शब्दार्थः कबहूँ=कभी भी। राति=प्रेमपूर्वक। पिवास=पिलाकर। विसरत=भूलना। अधर=होंठ। काटिबो घास = घास काटना, बेकार मगज मारना। तान-स्वाद=संगीत का आनन्द। बात मिठास =बातों का मीठापन। बहुरि=फिर। तेरहों मास = अवधि बीत जाना।

प्रसंगः उद्धव के ज्ञानोपदेश की गोपियों के हृदय पर गहरी प्रतिक्रिया हुई है। वे अन्यंत खिन्न क्रेधित हैं। उद्धव को उन्होंने पर्याप्त खरी-खोटी सुनाई है। अब वे अपने एवं कृष्ण के प्रेम को

न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न कर रही हैं। उनका कहना है कि उनका कृष्ण के प्रति प्रेम चातक के समान अटल है। उन्हें यह भी विश्वास है कि कृष्ण भी उनसे उदासीन नहीं। उन्हें विश्वास है कि कृष्ण के मन में प्रेम भाव है। उन्हीं की उपासना करना चाहती हैं।

व्याख्या: हे उद्धव! हमारे प्रभु कृष्ण हमसे कभी भी उदासीन एवं विषम विचार में नहीं हो सकते क्योंकि उन्हें ब्रजभूमि का अपना निवास कभी भी विस्म त नहीं हो सकता। यहाँ जब वे हमारे सानिध्य में थे तो हमने उन्हें अत्यन्त प्रेमपूर्वक मक्खन खिलाया था। और प्रेमावस्था में अपने अध ारों में अम तरस का पान कराया था। परंतु तुम्हारे सम्मुख इस प्रेम-कथा का बखान करना तो घास काटने के समान व्यर्थ माथा-पच्ची करना है क्योंकि न तो तुम इसके महत्त्व को ही समझ सकते हो और न ही इससे आनन्दित हो सकते हो। तुम्हारी गति तो उस बहरे मनुष्य के समान है जो संगीत के उतार-चढाव से विस्म त मधुर तानों का स्वाद नहीं जानता अथवा उस गूँगे व्यक्ति के समान है जो प्रेमालाप से उपलब्ध रस को ग्रहण नहीं कर सकता।

तदुपरांत एक गोपी ने अपनी एक अन्य सखी से कहा कि हे सखी। सुन क्या हमारे जीवन में पुनः वही सुख अनेक प्रकार की प्रेम-कलियाँ फिर कभी आएगी? अर्थात् क्या कभी कृष्ण पुनः ब्रज वापिस आएँगे और हमारे साथ वहीं प्रेम-क्रीड़ाएँ करेंगे जिससे हमे पूर्ण सुख प्राप्त होगा। अब तो उनके आने का समय भी आ गया है क्योंकि जितनी अवधि के लिए वह मथुरा गए थे वह समाप्त हो रही है, अतः आशा है कि अब वह शीघ्र वापिस लौटेंगे।

विशेष:-

1. इस पद में सूरदास ने 'मनहुँ काटिबो घास', 'भयो तेरहों मास' आदि ग्रामीण मुहावरों का प्रयोगकर लोक-गीतों की छँटा उत्पन्न कर दी है।
2. 'बहिरो.....बात मिठास' में विदर्शना अंलकार, 'मनहुँ काटिबों घास' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।
3. एक वर्ष में बारह मास होते हैं। तेरहवें मास के लगने से यह अभिप्राय है कि अब अवधि समाप्त हो गई है। मिलन की आशा जगमगा गई है।
4. ब्रजभाषा का प्रयोग है।
5. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम् का उपयोगी प्रयोग।
6. कृष्ण के प्रति अटूट विश्वास।
7. तीव्र व्यंग्य का स्वरूप।
8. माधुर्य का आकर्षण भाव।

।। 31 ।।

तेरो बुरो न कोऊ मानै।
रस की बात मधुप निरस, सुनु, रसिक होत सो जानै।।
दादुर बसै निकट कमलन के जन्म न रस पहिचानै।
अलि अनुराग उड़न मन बाँध्यो कहे सुनत नहिं कानै।।
सरिता चलै मिलन-सागर को कूल मूल प्रभु भानै।
कायर बकै, लोह ते भाजै, लरै जो सूर बखानै।।३१।।

शब्दार्थ: मधुप=भौंरा। निरस=नीरस। रसिक=प्रेमी। दादुर=मेढक। अलि=भौंरा। अनुराग=प्रेम। मूल=जड़ सहित। भानै=नष्ट करना, तोड़ डालना। लोह=लोहा, हथियार। लरै=युद्ध करे। सूर=वीर। बखानै=वर्णन किया जाता है।

प्रसंगः उद्धव के योग की चर्चा के प्रभाव से मुक्त होकर गोपियाँ अब कुछ सम्भल गई हैं। अब वे अपनी पूरी शक्ति अपने प्रेम के महत्त्व का वर्णन करने में लगा रही हैं। उनका कहना है कि कृष्ण के प्रति उनका प्रेम चातक-प्रेम के समान अटल है। उन्हें विश्वास है कि कृष्ण भी उनके प्रति उदास नहीं है। अब उनके मथुरा-प्रवास की अवधि भी समाप्त हो रही है, आशा है कि वह लौटेंगे और हम पुनः उनके साथ आनन्द-विहार कर सकेंगी। प्रस्तुत पद मे वे पुनः उद्धव के ज्ञानोपदेश पर व्यंग्य कर रहीं हैं।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव को लक्ष्यकर भ्रमर को आधार बनाकर कहती हैं। हे नीरस स्वभाव वाले भ्रमर! सुन! तेरी बात का बुरा यहाँ कोई नहीं मानता क्योंकि प्रेम की रसभरी बातें वहीं सोच-समझ सकता है जो स्वयं प्रेमी और रसिक हो। तू तो मधु के लोभ में प्रत्येक पुष्प पर मँडराता फिरता रहता है। किसी एक पुष्प के साथ तुझे कोई लगाव नहीं। इसलिए तू प्रेम की बातें नहीं समझ सकता और न ही प्रेम की बातों में रस ले सकता है। मेढक अपने पूरे जीवन में कमल पुष्पों के निकट निवास करता है किन्तु फिर भी कमल के पराग से प्राप्त रस को पहचान पाने मे सर्वथा असमर्थ रहता है। किन्तु भ्रमर कमल के पराग की सुगंध को पहचानता है, वह उसका सच्चा पारखी है, तभी तो वह उससे अनुराग रखता है। वस्तुतः उसका मन कमल में बँध कर रह जाता है, तभी तो वह कहीं भी हो कमल के पास तत्काल उड़कर जाता है और मार्ग में किसी भी बाधा की तनिक भी परवाह नहीं करता। और न ही किसी के कहने की ओर कान देता है। कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि उद्धव का जीवन दादुर के समान व्यर्थ है। क्योंकि वह कृष्णरूपी कमल के पास निवास करता हुआ भी उसकी रसिक प्रव त्ति से परिचय प्राप्त न कर सका और जीवन भर प्यासा ही रहा जबकि हम गोपिकाओं का मन भ्रमर के संदेश उनके प्रेम मर्म को जानती हैं, उनमें निहित प्रेमरस से परिचित है तभी तो सदा उड़कर उनके पास जाना चाहता है और ऐसा करने में वह किसी लोक-मर्यादा, कुल, जाति के गौरव की किसी बाधा की तनिक भी परवाह नहीं करता।

सरिता की गति भी अलि जैसी ही है। जब वह अपने प्रियतम सागर के प्रेमवश उससे मिलने के लिए चल पड़ती है तो पथ की बाधाएँ-किनारे पर उत्पन्न लता-द्रूमो को उखाड़कर नष्ट कर देती है। तुम्हारे जैसा व्यक्ति ही प्रेम पथ पर चलता हुआ ऊँच-नीच पर विचार-विमर्श करता है परन्तु हम जैसी प्रेमी-जन सब लोक-मर्यादाओं को त्यागकर अपने प्रिय से एकाकार हो जाते हैं। कायर व्यक्ति केवल बातों के धनी होते हैं। हथियार देखकर भाग खड़े होते हैं, वास्तविक वीर वही हैं जो युद्ध में सम्मुख होकर संघर्ष करता है और वस्तुतः विजयश्री का वर्णन करता है। कवि का कहने का अर्थ यह है कि उद्धव वस्तुतः कायर है क्योंकि वह योग-ज्ञान से प्राप्त ब्रह्म सम्बन्धी कोरी बातों में विश्वास करते हैं, अपने निकट बसनेवाले कृष्ण के मर्म को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते, उन से प्रेम की लौ लगाकर अपना जीवन सफल करना नहीं चाहते। प्रेम करना रणक्षेत्र के युद्ध के समान साहस का कार्य है तभी तो कोरी बातों का सहारा लेनेवाले उद्धव प्रेम के क्षेत्र में गोपियों की समानता नहीं कर सकते।

विशेषः-

1. भ्रमर कमल का प्रेमी स्वीकार किया गया है। दादुर और अलि की इस प्रकृति के अन्तर को कवि जायसी ने भी स्पष्ट किया है।

   ''भंवर आइ बन खंड संग, लेहि कंवल कै वास।
   दादुर बास न पावई, भलई जो आछै पास।।''

2. दादुर और अलि की प्रतीकात्मक योजना अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़ी है।
3. इस पद में उत्तम रीति से अलि और सरिता का उदाहरण देकर प्रेममार्ग की द ढ़ता और एकनिष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।

4. ब्रजभाषा का प्रयोग है।
5. सुन्दर लयात्मकता।
6. सरल और बोधगम्य भाषा
7. शब्द-मोतियों का चयन।
8. मनभावन शैली।
9. अलंकार
   (क) 'तेरी.....मानै' - वक्रोक्ति।
   (ख) 'दादुर.....बखानै' - उल्लेख।
   (ग) 'सरिता.....मानै' - अप्रस्तुतप्रशंसा।
   (घ) 'कायर.....बखानै' - अर्थान्तरन्यास।
   (ड) 'अलि अनुराग' में छेकानुप्रास अलंकार।

।। 32 ।।

धर ही के बाढ़े रावरे।
नाहिं न मीत वियोगवस परे अनवउगे अलि वावरे!
भुख मरि जाय चरे नहिं तिनका सिंह को यहै स्वभाव रे!
स्रवन सुधा मुरली के पोषे जोग जहर न खवाब रे!
ऊधो हमहि सीख का दैहो? हरि बिनु अनत न टाँव रे!
सूरदास कहा लै कीजै थाही नदिया, नाव रे।।३२।।

शब्दार्थ: बाढ़े=बढ़-चढ़ कर बातें करनेवाले। रावरे=तुम/मीत-मित्र, प्रिय। अनवउगे=अंगवोग, सहोगे। अलि=भौंरा। बावरे=पगला। तिनका=घास। स्रवन=कान। सुधा-मुरली=मुरली की धुनि रूपी अम त। पोषे = पोषण किए गए। खवाब=खिलाओं। ठाँव=स्थान। थाही=उथली। नदिया=नदी।

प्रसंग: मथुरा से आए उद्धव के ज्ञानोपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप गोपियाँ अत्यन्त खिन्न हैं वे अपने प्रेम-मार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध कर रही हैं। उनके मत में उद्धव का जीवन उस मेंढक के समान है जो कृष्णरूपी कमल के निकट बसकर भी प्रेमरस को नहीं पहचानता, इसलिए तो हमें ज्ञान योग की शिक्षा दे रहा है।

व्याख्या: गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव! तुम तो घर के ही शेर हो। तुम्हारे जैसे ज्ञान-योग का गुणगान करने वाले घर पर बैठे-बैठे ही बड़ी-बड़ी बाते बनाते हैं, उनसे कोई क्रियात्मक कार्य करते नहीं बनता। सुन बावले भ्रमर। तुमने अभी तक अपने प्रिय का वियोग नहीं सहा। जब तुम्हारे लिए अपने प्रिय का वियोग सहने का अवसर आएगा, तभी तुम जान सकोगे कि यह कितना दुखदायी और प्राणान्तक होता है। सिंह का तो यह स्वभाव होता है कि स्वयं शिकार करके ही अपने शिकार के गोश्त से अपने पेट की क्षुधा को शांत करता है। वह भूखा मर सकता है, किन्तु घास अथवा किसी अन्य के किए गए शिकार या गोश्त नहीं खाता। सिंह की इस द ढ़ता के समान हम भी अपने कृष्ण प्रेम में द ढ़ हैं प्रेम की वियोग-व्यथा से चाहे हमारे प्राण निकल जाएँ, परंतु हम कृष्ण के प्रेम को नहीं छोड़ेगी और न ही तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करेंगी। हमारे लिए कृष्ण ही सब कुछ है।

सदा से ही हमारे इन कानों का पोषण कृष्ण की मुरली की अम त के समान मधुर तान से हुआ है।

ये उन तत्त्वों को सुनने के ही अभ्यस्त हो चुके हैं। अतः इन्हें तुम विष के सद श कटु योग की बातें सुनाकर व्यथित न करो। हे उद्धव! तुम भला हमें क्या शिक्षा एवं उपदेश दोगे, हमारे लिए तो भगवान श्री कृष्ण ही एक मात्र आश्रय हैं, उनके अतिरिक्त हमें जाने को अथवा शरण पाने को अन्य कोई स्थान नहीं है। हम कृष्ण प्रेम में निमग्न हैं। हमारे लिए यह संसार उस उथली नदी के समान है जिसे पार करने के लिए किसी नावरूपी सहारे की आवश्यकता नहीं होती, अतः हम तुम्हारे योगरूपी सम्बल को लेकर क्या करेंगी? वस्तुतः इसकी हमें कोई आवश्यकता नहीं। वह हमारे लिए निरर्थक है।

सूरदास जी के कहने का भाव है कि संसार उद्धव जैसे ज्ञानियों के लिए अथाह और अगम्य हो सकता है तथा उसे पार करने के लिए तुम्हें निर्गुण ब्रह्मरूपी सहारे की भी आवश्यकता होती है, परन्तु कृष्ण प्रेम मे लीन गोपियों के लिए यह संसार उथली नदी के समान सहज है, जिसे भक्ति और विश्वास पर ही तैरा जा सकता है इसमें उनकी द ढ़ भक्ति प्रकट होती है।

विशेषः-

1. योग-मार्गियों द्वारा भव-सागर को पार करना कठिन बताए जानेवाले सिद्धान्त पर व्यंग्य है प्रेम-मार्गी इस संसार को सरल, ग्राह्य एवं मधुर स्वीकार करते हैं। सहज प्रेम-भक्ति है।
2. मुक्तक शैली।
3. ब्रजभाषा का प्रयोग
4. गंभीर भावाभिव्यक्ति।
5. रस का परिपाक।
6. सरल और सहज भाषा का प्रयोग
7. प्रभावी लयात्मकता - गेयता।
8. आकर्षक बिम्ब-विधान।
9. अलंकार
   - (क) 'सुधा-मुरली', 'जोग-जहर' में रूपक अलंकार।
   - (ख) 'मुख-स्वभाव' में उदाहरण अलंकार।
   - (ग) 'स्रवन - ख्वाब', मे विषम अलंकार।
   - (घ) 'कहा-नाव', में तुल्योगिता एवं लोकोक्ति का प्रयोग
   - (ङ) 'अनवउगे अलि', में छेकानुप्रास अलंकार।

।। 33 ।।

स्याममुख देखे ही परतीति।
जो तुम कोटि जतन करि सिखवत जोग ध्यान की रीति।।
नाहिन कहू सयान ज्ञान में यह हम कैसे मानैं।
कहौ कहा कहिए या नभ को कैसे उर मे आनै।
यह मन एक, एक वह मूरति, भ ंगकीट सम माने।
सूर सपथ दै बूझत ऊधौ यह ब्रज लोग सयाने।।३३।।

शब्दार्थः परतीति=विश्वास। कोटि=करोड़। जतन=यत्न। सयान=चालाकी। उर मे आनै=विश्वास करें। नम=शून्य। आनै=लाए। भ ंगकीट=बिलनी नामक एक कीड़ा, जिसके सम्बन्ध में प्रचलित है कि वह अन्य कीड़ों को पकड़कर उन्हें अपने रूप में परिवर्तित कर लेता है। सम=समान। बूझत=समझते हैं।

प्रसंगः गोपियों के मत में उद्धव जैसे तथाकथित ज्ञानी पुरुष ही योग-ध्यान की बातें करते हैं क्योंकि ये लोग सार्थक समयानुकूल कार्य करने में असमर्थ होते हैं, इन्हीं के लिए यह भवसागर, अगम्य एवं अथाह है, और इससे पार उतरने के लिए ब्रह्मरूपी संबल की आवश्यकता है। गोपियाँ कृष्ण के प्रेमरस मे लीन हैं, उनके लिए यह संसार उथली नदी के समान सहज है।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव की सारी बातें सुनकर बड़े धैर्य से कहती हैं कि हे उद्धव! अब तो कृष्ण के दर्शन करने पर ही हमें विश्वास हो सकेगा कि वास्तविकता क्या है? तुम्हारे ज्ञान-योग के उपदेश की प्रामाणिकता भी तभी सिद्ध होगी। तुम अनेक प्रयत्नों के द्वारा हमें योग और ज्ञान की पद्धतियों की शिक्षा देना चाहते हो किन्तु इन पर हमारा मन स्थिर नहीं हो पाता। हम किस प्रकार यह स्वीकार कर लें कि तुम्हारे इस ज्ञानोपदेश में कहीं कोई खोट, चालाकी अथवा दुरभिसंधि का समावेश नहीं। हमें स्पष्ट यह लग रहा है कि तुम हम लोगों को कृष्ण-प्रेम से उदासीन करके अपनी कोई स्वार्थ-सिद्धि करना चाहते हो। इसमें तुम्हारा छल ही प्रकट होता है।

गोपियाँ फिर पूछती हैं कि यह बताओ कि इस आकाश जैसे विस्त त ब्रह्म को हम किस प्रकार अपने हृदय में समेंट लें, आत्मसात् कर लें? हमारा यह हृदय एक है और इसमें पहले से ही एक मूर्ति विराजमान है। हमारा हृदय और कृष्ण मूर्ति पहले से ही मिलकर भ ंग और कीट के समान एक हो चुके हैं। हमारे हृदय पूर्णरूप से कृष्णमय बन गए हैं। अतः अब यह ज्ञानवान ब्रजवासी तुम्हें शपथ देकर यह जानना चाहते हैं कि क्या इनके कृष्णमय हृदयों में निर्गुण-ब्रह्म के लिए कोई स्थान उपलब्ध हो सकता है? क्या इनके लिए निर्गुण ब्रह्म की साधना करना सम्भव है? जब इनका हृदय कृष्ण-मूर्ति के साथ एकरूप हो चुका तो हमें ब्रह्म की साधना असम्भव ही जान पड़ती है। इसे तुम्हें समझ लेना चाहिए।

विशेषः-

1. गोपियों द्वारा योग-साधना का तिरस्कार है।
2. इद पद में गोपियों के अनन्य प्रेम की व्यजंना हुई है।
3. प्रेम की अनन्यता में प्रेमी और प्रेमिका अथवा उपासक और उपास्य एकरूप हो जाते हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं रहता है। 'भ ंगकीट सम' से यही अभिप्राय है।
4. रूपकातिशयोक्ति।
5. 'भ ंगकीट सम' में उपमा अलंकार।
6. गीतात्मकता का आकर्षक रूप।
7. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
8. डर में आना मुहावरे का सुन्दर प्रयोग।
9. माधुर्य भाव की मनोरम अभिव्यक्ति
10. शब्द-मोतियों का चयन।
11. सुन्दर अभिव्यंजना।

।। 34 ।।

लरिकाई को प्रेम, कहौ अलि, कैसे करिकै छूटत?
कहा कहौं ब्रजनाथ-चरित अब अन्तरगति यो लूटत।।
चंचल चाल मनोरम चितवनि, वह मुसुकनि मंद धुनि गावत।
नटवर भेस नन्द-नन्दन को वह विनोद ग ह वन ते आवत।।
चरन कमल की सपथ करति हौ यह संदेश मोहि विष-सम लागत।
सूरदास मोहि निमिष न बिसरत मोहन मूरति सोवत जागत।।३४।।

शब्दार्थः लरिकाई=बचपन। अलि=भौंरा। ब्रजनाथ=कृष्ण। अन्तरगति=चित की व त्ति। चितवनि=चितवन, द ष्टि। भेस=वेष। सपथ=शपथ। मोहि=मुझे। निमिष=पल, क्षण। बिसरत= भूलता है। मूरति=रूप।

प्रसंगः उद्धव से संवाद करती हुई गोपियाँ अनेक द ष्टातों द्वारा अपने पथ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहती हैं। उनका कहना है कि कृष्ण की मोहिनी सूरत उनके मन में समाकर उनके मन के साथ एकरूप हो चुकी हैं, अब वहाँ निर्गुण-ब्रह्म की साधना के लिए कोई स्थान नहीं कृष्ण और गोपियों का सम्पर्क और प्रेम बालपन से ही रहा है, इसलिए इसे भुला पाना सरल नहीं, इसी बात को स्पष्ट करती हुई गोपियाँ अपने भाव पर द ढ़ हैं।

व्याख्याः गोपियाँ अपनी बात पर जोर देती हुई कहती हैं। हे उद्धव! यह बताओ कि बालपन से साथ-साथ रहते हुए उत्पन्न प्रेम किस प्रकार छूट सकता है। यह तो असम्भव है। हम ब्रजनाथ श्री-कृष्ण के चरित्रों अर्थात् क्रीड़ाओं का कहाँ तक वर्णन करूँ। उनके इन चरित्रों का ध्यान अब भी हमारे मन को सहजरूप में उनकी ओर आकर्षित करता रहता है। उनका स्मरण आते ही हम स्वयं को विस्म त कर बैठती हैं। उनकी वह चंचल गति, वह मनोहर चितवन, वह मोहक मुस्कान तथा मंद एवं मधुर स्वयं में गान हम कभी भी भुला नहीं सकती । नंदनंदन श्रीकृष्ण का नटवर वेष धारण किए हुए विनोद करते हुए वन से घर की ओर लौटना-हमारे मन में सदैव छाया रहता है। हम चरण-कमल की शपथ खाकर यह कहती हैं कि निर्गुण-ब्रह्म की साधना करने का उनके द्वारा भेजा हुआ यह संदेश हमें विष के समान अत्यन्त कड़वा एवं घातक प्रतीत होता है। हमें तो सोते-जागते शरीर की समस्त अवस्थाओं में श्री कृष्ण की मनोहर मूर्ति क्षण भर के लिए भी नहीं भूलती। वे ही मेरे आराध्य हैं और उन्हे भुला पाना असम्भव है।

विशेषः-

1. यह मनोवैज्ञानिक कि बालपन के साहचर्य सम्पर्क से जन्य प्रेम का छूटना सम्भव नहीं होता है, का प्रभावी रूप।
2. इस पद में गोपियों का ह्रदय उड़ेला हुआ है, वे कृष्ण की मनोहर छवि के प्रति आकर्षित हैं, सोते-जागते इसी का ध्यान उन्हें रहता है।
3. 'लरिकाई को प्रेम' में अत्यन्त सहजता, मार्मिकता और आत्मीयता की व्यंजना हुई है।
4. भक्ति रस का परिपाक।
5. ब्रजभाषा का प्रयोग।
6. सुन्दर गेयता।
7. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम् का योग।
8. माधुर्य भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति।

9. 'चरण-कमल' में रूपक अलंकार।

10. 'संदेश-विष-सम' में उपमा अलंकार।

।। 35 ।।

अटपटि बात तिहारी ऊधो सुनै सो ऐसी को है?
हम अहीरि अबला सठ, मधुकर! तिन्हैं जोग कैसे सोहै?
बूचिहि खुभी आँधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुंडली पाटी पारन चाहै, कोढ़ी अंगहि केसरि।।
बहिरो सो पति मतो करै सो उतर कौन पै आवै?
ऐसी न्याव है ताकों ऊधो जो हमैं जोग सिखावै।।
जो तुम हमको लाए कृपा करि सिर चढ़ाय हम लीन्हें।
सूरदास नरियर जो विष को करहिं वंदना कीन्हें।।३५।।

शब्दार्थः अटपटि=बेकार, व्यर्थ। बूचिहि=कनकटी, जिसका कान काट हुआ हो। खुभी=लौंग, कान का एक गहना। आँधरी=अन्धी। बेसरि=नथ। मुँडली=जिसका सिर मुँड़ा हो। पाटी पारन=बालों में माँग निकालना। मतो करै=सलाह करे। उतर=उत्तर। नरियर=नारियल।

प्रसंगः उद्धव से संवाद करती हुई गोपियों का गर्वभरा कथन है कि गोपियों का कृष्ण-प्रेम कोई आजकल की बात नहीं, अपितु यह बालपन से उत्पन्न हुआ है। वे प्रत्येक क्षण कृष्ण की मोहिनी मूर्ति के ध्यान में खोई रहती हैं। उनके पास इतना समय ही कहाँ है कि वे उद्धव की योग ज्ञान सम्बन्धी अटपटी बातें सुनें और उन पर विचार करें। प्रस्तुत पद में वे अपने और कृष्ण के प्रेम पर गर्व करती हैं।

व्याख्याः हे उद्धव! हम जैसी कौन खाली बैठी है जो तुम्हारे योग की अटपटी एवं व्यर्थ की बातों को सुने और उन पर ध्यान दे। हे दुष्ट भ्रमर! हम अहीर जाति की अबला नारियाँ हैं, हमें तुम्हारा यह योग किस प्रकार शोभा दे सकता है? यह बात उसी प्रकार अनहोनी और असम्भव है जिस प्रकार कनकटी हुई स्त्री कानों में लौंगरूपी गहन पहनने का प्रयत्न करे, अथवा अंधी स्त्री अपने नेत्रों में काजल डालने का, नाक कटी हुई नाक में नथ पहनने का, गंजी का अपने सिर पर बालों की पटियाँ काढ़ने का अथवा माँग काढ़ने का और कोढ़ी अपने कोढ़ से गलती अंगो का केसर से शृंगार करने का प्रयत्न करे। यदि एक पति अपनी बहरी पत्नी से किसी प्रकार का कोई विचार-विमर्श करने का प्रयत्न करे तो वह क्या उत्तर प्राप्त कर सकेगा। बहरी पत्नी कुछ भी न सुन पाने के कारण उत्तर क्या दे सकेगी? जिस प्रकार यह सब असम्भव है, उसी प्रकार हे उद्धव! योग साधना हमारे लिए भी असम्भव है और जो हमें योग सिखाने का प्रयत्न करेगा, उसकी स्थिति भी बहरी के पति के समान शोचनीय होगी। इस प्रकार तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है।

गोपियाँ वाक्पटु हैं। अपने प्रेम पर अटल हैं और आगे कहती हैं- हे उद्धव! तुम हमारे लिए श्री कृष्ण से जो कुछ लाए हो वह हमने सादर सिर पर चढ़ाकर अंगीकार किया है। परंतु तुम्हारा यह योग का उपदेश हमारे लिए उस विष भरे नारियल के समान है जिसे दूर से ही नमस्कार किया जाता है। जिसे यदि स्वीकार कर लिया जाए तो प्राण संकट में पड़ने अवश्यम्भावी है। अर्थात् तुम्हारा यह योग-संदेश हमारे प्रियतम कृष्ण द्वारा भेजा गया होने पर हमारे लिए वंदनीय तो है परन्तु यह स्वीकार करने के योग्य नहीं, क्योंकि यह हमें प्रियतम कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म की साधना करने को कहता है, इसलिए यह घातक है। इसलिए हम विष भरे नारियल के समान इसे दूर से ही प्रणाम करती हैं, इसे स्वीकार करने में असमर्थ हैं।

विशेषः-

1. योग-सन्देश श्री कृष्ण के साथ सम्बन्धित है इसलिए गोपियों ने उसे ससम्मान सुना है। यदि यह कृष्ण का संदेश न होता तो बिना सुनें ही यहाँ से लौटा देती।
2. ब्रजभाषा का प्रयोग
3. कृष्ण भक्ति का प्रबल रूप।
4. भक्ति रस का परिपाक।
5. सुन्दर लयात्मकता।
6. स्पष्ट अभिव्यक्ति।
7. राग सोरठा का स्वरूप।
8. माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति।
9. अनुप्रास के साथ नरिहर विष में - रूपक अलंकार है।
10. विष का नारियल का मुहावरा है, जिसका ब्रज में पर्याप्त प्रयोग मिलता है।

।। 36 ।।

वरू वै कुब्जा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार ऊधो मो कछुक सिरात हियो।।
जाको गुन, गति, नाम, रूप, हरि हार्‌यो, फिरि न दायो।
तिन आपनो मन हरत न जान्यों हँसि हँसि लोग जियो।।
सूर तनक चंदन चढ़ाय तन ब्रजपति वस्य कियो।
और सकल नागरि नारिन को दासी दाँव लियो।।३६।।

शब्दार्थः बरू=बल्कि। भलो=अच्छा। मो=मुझे, मेरे लिए। सिरात=शीतल होता है। हियो=हृदय। हार्‌यौ=हर लिया। तिन=उन्होंने वस्य किया=वश में कर लिया। सकल=सारी, सभी। नागरि=नगर में रहनेवाली नारियों। दासी=कुब्जा। दाँउ=दावँ, घात।

प्रसंगः यहाँ कुब्जा द्वारा कृष्ण को वश में किए जाने पर गोपियों को प्रसन्नता व्यक्त हुई है।

व्याख्याः गोपियाँ कृष्ण के कुब्जा-प्रेम पर व्यंग्य करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि उस कुब्जा ने बल्कि अच्छा काम किया। यह समाचार सुनकर हृदय शीतल हो जाता है। कृष्ण का तो यह स्वभाव रहा है कि उन्होंने एक बार जिसका तन, मन, प्राण, रूप, गुण का हरण कर लिया, उसे फिर लौटा कर नहीं दिया। वहीं कृष्ण (कुब्जा के द्वारा) अपने मन का हरण होता हुआ न जान सके। कृष्ण की इस पराजय को सुनकर सब लोग हँस-हँसकर जीवित रहते हैं। सूरदास कहते हैं। गोपी कह रही है कि उस कुब्जा ने तो कृष्ण के शरीर पर तनिक-सा चंदन का लेप करके ही अपने वश में कर लिया और इस प्रकार सम्पूर्ण नगर की स्त्रियों को पराजित कर उनके ऊपर विजय प्राप्त की। भाव यह हैं कि दासी कुब्जा सम्पूर्ण नगर की चतुर स्त्रियों को पराजित कर दाँव मार ले गई। एक दासी अन्य नागरिकाओं से जीत गई। इस प्रकार कुब्जा के प्रभाव के साथ गोपियों को भुलाने का भाव प्रकट किया गया है।

विशेषः-

1. इस पद में दुर्जन-दोष न्याय पद्धति द्वारा गोपियाँ कुब्जा की कृष्ण पर विजय पर व्यंग्य कर रही हैं? दुर्जन-दोष-न्याय से तात्पर्य है प्रति पक्षी को हराने के लिए उसके तर्क की

पुष्टि करना, उसी के दाँव पर उसे हरा देना। गोपियों के मत में कृष्ण अपने को बहुत कुछ समझते थे, अंत में उन्हें एक दासी के हाथों हार खानी पड़ी।

2. 'तनक चन्दन चढ़ाय' में भी गहन व्यंग्य निहित है। गोपियाँ तो कृष्ण पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर चुकी थीं, फिर भी वह उन्हें छोड़कर मथुरा चले गए और अपने उद्देश्य की सिद्धि हो जाने पर भी उनकी सुधि नहीं ली, किन्तु अब कुब्जा द्वारा उनके शरीर पर तनिक-सा चन्दन लेप चढ़ाने पर वह इतने अधिक उसके वश में हो गए हैं कि यहाँ आकर हमसे मिलने को छोटा-सा स्वतंत्र कार्य कर पाने में भी अपने आपको असमर्थ पा रहे हैं।

3. 'और सकल.....दाँव लियो' का यह अर्थ भी हो सकता है कि मथुरा नगर की समस्त चतुर नारियों का दाँव अर्थात् अधिकार केवल कुब्जा को ही प्राप्त हो गया है और अब वह उनकी एकमात्र प्रेमिका है।

4. कृष्ण की निष्ठुरता पर करारा व्यंग्य।

5. ब्रजभाषा का प्रयोग।

6. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।

7. वियोग श्र गांर का प्रबलस्वरूप।

8. 'सुनि सुनि समाचार' मे व त्यानुप्रास अलंकार।

।। 37 ।।

हरि काहे के अंतर्जामी?
जौ हरि मिलत नहिं यहि औसर, अवधि वतावत लामी।।
अपनी चोप जाय उठि बैठे और निरस बेकामी?
सो कह पीर पराई जानै जो हरि गरूड़ागामी।।
आई उधरि प्रीति कलई सी जैसे खाटी आमी।
सूर इते पर अनख मरति है ऊधों, पीवत मामी।।३७।।

शब्दार्थः अन्तर्जामी=सर्वज्ञ। यहि=इस। औसर=अवसर। अवधि=समय। बतावत=बताते है। लामी=लम्बी। चोप=चाह, चाव। निरस=नीरस। बेकामी=निष्काम। पीर=दर्द। पराई=दूसरे की। उधरि=खुली, स्पष्ट। खाटी=खट्टी। आमी=अमिया, आम। अनख=अनखनाकर, कुढ़कर। पीवत मामी=बात को पी जाना, चुप्पी साध जाना।

प्रसंगः गोपियों के कटु व्यंग्य को सुनकर उन्हें समझने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे में उन्होंने कहा कि भगवान अन्तर्यामी हैं। सबके हृदय की बात जानते हैं। इसका उत्तर देते हुए गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि यह बात गलत है। यदि ऐसा होता तो वह हमारे हृदय की भी बात जान लेते और हम जो उनके प्रेम में इतनी व्याकुल हो रही हैं, तो वह अवश्य आकर हमसे मिलते और हमारे हृदय की विरह-ज्वाला को शांत करते।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हरि कैसे अन्तर्यामी हैं कैसे सबके हृदय की बात जानने वाले हैं? यदि वह हमारे हृदय की बात जानते होते तो क्या वे इस अवसर पर आकर हमे मिलते नहीं? इसके विपरीत, वह तो अपने आने की और भी लम्बी अवधि बता रहे हैं। अर्थात् बहुत दिनों के बाद आने का संदेश भेज रहे हैं। वह तो यहाँ से अपनी ही इच्छानुसार उठकर वहाँ जा बैठे हैं और वहाँ जाकर पूर्णतः नीरस स्वभाव के और निष्काम बन गए हैं; अर्थात् उनके हृदय में हमसे मिलने की कामना ही नहीं रही। वास्तविकता तो ये है कि जो गरुड़ पर सवारी करनेवाले हैं, कभी

पैदल नहीं चलते, वह पैदल चलनेवालों के पैरों में फटी बिवाइयों के कष्ट को क्या जानें? भाव यह है कि कृष्ण को तो वहाँ कुब्जा का प्रेम प्राप्त हो गया और वह हमें भूल गए। इसलिए उन्हें हम लोगों की वेदना नहीं सताती। फिर वह विरह-वेदना के कष्ट को कैसे अनुभव कर सकते हैं?

जैसे खट्टे आम द्वारा बर्तन पर चढ़ाई कलई उतर जाती है और बर्तन का असली रूप सामने आ जाता है, उसी प्रकार अब उनके प्रेम की असलियत हमारे सामने खुल गई है अर्थात् असलियत यह थी कि वे हमसे प्रेम ही नहीं करते थे। प्रेम की बनावटी बातें कर हमें बहलाए रखते थे। यह सब जान लेने पर हम इस बात पर कुढ़-कुढ़कर मरी जा रही हैं कि वह हमारे प्रेम के सम्बन्ध में मौन साध कर बैठ गए हैं। न तो यह कहते कि हमसे प्रेम नहीं करते, और न यही कहते हैं कि हमसे प्रेम करते हैं।

विशेषः-

1. 'सो कह पीर पराई जानैं' आकर्षक लोकोक्ति-प्रयोग।
2. 'आई उधरि प्रीति कलई' के रूप में सुन्दर लोकोक्ति।
3. मुक्तक शैली
4. गीतात्मकता
5. ब्रजभाषा का प्रयोग
6. कृष्ण की विषम स्थिति का चित्रण।
7. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
8. भाव-प्रवणता।
9. विम्ब-विधान का आकर्षक रूप।

।। 38 ।।

विलगि जनि मानहु, ऊधो प्यारे।
यह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके सँग अधिक छवि उपजत कमलनैन मनि आरे।।
मानहु नील माट ते काढ़े लै जमुना ज्यौं पखारे।
ता गुन श्याम भई कालिंदी सूर श्याम गुन न्यारे।।३८।।

शब्दार्थः बिलगि=बुरा। जनि=मत। काजर=काजल। कोठरि=कोठरी, छोटा, कमरा। आवहिं=आते हैं। कारे=काले। सुफलकसुत=अक्रूर। मधुय=भौरां। उपजत=उत्पन्न होता है। मनिआरे=मणिधारी, काला सर्प। काढ़े=निकाले। पखारे=धोये। कालिन्दी=यमुना।

प्रसंगः गोपियाँ उद्धव के योग-सन्देश पर अत्यधिक क्षुब्ध हैं और प्रतिक्रियास्वरूप उन्हें अत्यन्त खरी-खोटी सुना रहीं है। प्रस्तुत पद में वे उन पर व्यंग्य करती हुई कहती हैं कि वह उनकी बात का बुरा न मानें। वस्तुतः उनका कोई दोष नहीं, यह मथुरा ही ऐसी काजल की कोठरी है, जहाँ से आनेवाले सभी काले तनवाले और खोटे मनवाले हैं।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव की बातों से तंग होकर व्यंग्य से कहती हैं कि हे प्यारे उद्धव! तुम हमारी बातों का बुरा न मानो। तुम हमें ज्ञानयोग की शिक्षा देने आये हो, उसमें तुम्हारा दोष नहीं है। यह तो उस काजल की कोठरी (मथुरा) का दोष है? कि उसमें से आनेवाले हर व्यक्ति का तन काला

होता है। अब देखों न तुम भी काले, अक्रूर भी काले हैं और यहाँ तक कि उधर से उड़कर आने वाले भ्रमर भी काले होते हैं। इन सभी काले लोगों के साथ कमल नेत्रोंवाले कृष्ण मणिधारी काले सर्प के समान हैं क्योंकि उन्होंने हमें डस कर अपने विरहरूपी विष से व्याकुल कर दिया है ऐसा लगता है कि तुम काले लोग अब तक किसी नीले मटके में पड़े थे और उसमें से निकालकर किसी ने तुम्हें यमुना जल से धोकर साफ करने का प्रयत्न किया है। तुम लोग साफ तो नहीं हुए, लेकिन यमुना का जल तुम लोगों के सम्पर्क से अवश्य काला पड़ गया। सूरदास जी कहते हैं कि गोपी कह रही है कि इन काले लोगों के गुण ही निराले होते हैं। स्वयं तो काले होते ही हैं दूसरों को भी काला कर देते हैं।

विशेषः-

1. सुर के समान अन्य कृष्ण - कवियों ने भी काले रंग को लेकर व्यंग्य किया है। रत्नाकर ने तो मथुरा की टकसाल के समस्त सिक्कों को खुहल घोषित किया है-

   'मधुपुर वारे एके ठार ठारे हो।'

   किन्तु सूर की विशेषता यह है कि अन्य कवियों ने जहाँ केवल वर्णमात्र पर व्यंग्य किया है, वहाँ सूर ने काले के अंतर में भी काला गुण बताया है-

   'सूर स्याम गुन न्यारे।'

2. शुक्ल जी को 'मनिआरे' शब्द का अर्थ 'सुहावना' अर्थात् रौनकदार किया है, परन्तु यह अर्थ संग्रह प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः इस पद में कवि मथुरा के काले लोगों में काले कृष्ण की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना चाहता है। प्रसिद्ध है कि मणिधारी सर्प भयंकररूप से काला और तेजस्वी होता है। इसी कारण यहाँ कृष्ण की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए 'मणिधारी सर्प' अर्थ ही उपयुक्त लगता है। प्रभाव की द ष्टि से भी यही अधिक संगत है। सौन्दर्य के लिए उसी पंक्ति में 'छवि' शब्द पहले ही प्रयुक्त हो चुका है।

3. अलंकार-

   (क) 'मानहु ..... काढ़ै' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

   (ख) 'तागून ..... कालिंदी' में तद्गुण का स्वरूप।

   (ग) 'स्याम' में श्लेष अलंकार।

4. मुक्तक शैली।
5. ब्रज भाषा का प्रयोग।
6. आकर्षक गेयता।
7. सुन्दर अप्रस्तुत विधान।
8. वाक्पटुता का सुन्दररूप।
9. सरल, बोधगम्य भाषा।
10. संवादात्मक शैली।
11. आकर्षक अभिव्यंजना।

।। 39 ।।

अपने स्वारथ को सब कोऊ।
चुप करि रहौ, मधुप रस लंपट! तुम देखे अरू वोऊ।।
औरों कछू संदेश कहन को कहि पठ्यो किन सोऊ।
लीन्हों फिरत जोग जुबतिन को बड़े सयाने दोऊ।।
तब कत मोहन रास खिलाई जो पै ज्ञान हुतोऊ?
अब हमरे जिय बैठो यह पद 'होनी होउ सो होऊ'।।
मिटि गयो मान परेखो ऊधो हिरदय हतो सो होऊ।
सूरदास प्रभु गोकुलनायक चित चिंता अब खोऊ।।३६।।

शब्दार्थः स्वारथ=स्वार्थ। कोऊ=कोई। मधुप=भौंरा। लंपट=लालची, लोभी। अरू=और। वोऊ=वह भी। किन=क्यों नहीं। सोऊ=वह भी। जुबतिन=युवतियाँ। सयाने=चतुर। जिय=प्राण। हुतोऊ=था। परेखो=पश्चाताप, दुःख।

प्रसंगः उद्धव जिद करते रहे कि योग करो। ऐसे में गोपियों ने अनेक प्रकार से उद्धव को समझाया कि उनका प्रेम-पथ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म से श्रेष्ठ है किन्तु उद्धव ने इस बात को न मानकर अपने योगज्ञान के उपदेश को जारी रखा। इस पर गोपियाँ अत्यन्त खिन्न होती है। और उद्धव को जली-कटी सुनाती हैं।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव! इस संसार में सब अपने ही स्वार्थ को देखने वाले है। दूसरों की कोई भी चिंता नहीं करता। हे रस-लोभी मधुप! तुम अब चुप रहो, ज्यादा बातें न बनाओ। हमने तुम्हें भी देख लिया है और उन्हें (कृष्ण) भी। तुम दोनों ही एक समान स्वार्थी हो। कृष्ण ने यदि तुम्हें हमारे पास और भी कुछ संदेश कहने के लिए भेजा हो तो उसे भी क्यों नहीं कह डालते? तुम दोनों बड़े चतुर मालूम पड़ते हो कि युवतियों के लिए योग लिए फिरते हो; अर्थात् तुम भी हमें योग का संदेश दे रहे हो और उन्होंने भी तुम्हे यही संदेश देने के लिए हमारे पास भेजा है।

यदि कृष्ण सचमुच ज्ञान को इतना महत्त्व देते थे तो उन्होंने हमारे साथ रास क्यों रचाया था? अब तो हमने यह द ढ़ निश्चय कर लिया है कि जो होगा सो देखा जाएगा, परन्तु हम कृष्ण के प्रेम को नहीं त्यागेंगी। हे उद्धव! कृष्ण की उपेक्षा और मौन के प्रति हमारे हृदय में अब तक जो कुछ भी मान और पश्चाताप की भावनाएँ थीं, वह अब जाती रहीं; अर्थात् अब कृष्ण के द्वारा अपने प्रेम की उपेक्षा किए जाने के कारण हमें कोई शिकायत नहीं है। हमारे कृष्ण तो गोकुल के स्वामी हैं, इसलिए तुम अपने मन की सारी चिंताएँ दूर कर दो। भाव यह है कि हमें यह पक्का विश्वास है कि कृष्ण गोकुल के स्वामी हैं, इसलिए हमारी सारी चिंताएँ स्वयं ही दूर कर देंगे। अतः तुम अपनी इस चिंता को दूर कर दो कि तुम हमें योग-मार्ग स्वीकार कराने में असफल रहे।

विशेषः-

1. इसमें कृष्ण की स्वार्थपरता और गोपियों के अनन्य प्रेम का एक साथ चित्रण हुआ है। साथ ही गोपियों का यह द ढ़ विश्वास भी व्यंजित हो रहा है कि कृष्ण हमारे ही हैं।
2. अमर्ष संचारी भाव की व्यंजना है।
3. मुक्तक शैली।
4. ब्रज भाषा का प्रयोग।
5. मुक्त शैली।

6. सुन्दर भावभि व्यंजना।
7. भक्ति रस का परिपाक।
8. ''होनी होई से होई'' लोकोक्ति प्रयोग।
9. बड़ा सयाना मुहावरे का प्रयोग।
10. माधुर्य भाव - प्रस्तुति।

।। 40 ।।

तुम जो कहते संदेसो आनि।
कहा करो वा नंदनन्दन सो होत नहीं हितहानि।।
जोग-जुगुति किहि काज हमारे जदपि महा सुखखानि।
सने सनेह श्यामसुन्दर के हिलि मिलि कै मन मानि।।
सोहत लोह परसि पारस ज्यों सुवरन बारह वानि।
पुनि वह चोपकहां चुम्बक ज्यों लटपटाय लपटानि।।
रूपरहित नीरस निरगुन हित निगमहु परत न जानि।
सूरदास कौन विधि तासों अब कीजै पहिचानि।।४०।।

शब्दार्थः संदेश=समाचार। आनि=अन्य। हितहानि=प्रेम की हानि। जदपि=फिर भी। किहि=किस। सने=भीगे हुए। सोहत=शोभा। परसि=स्पर्श। सुबरन=सोना। पारस=एक तरह का पत्थर जिसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है। बारह बानि=बारह कलाओं के साथ चमकनेवाले सूर्य के समान उज्ज्वल, खरा सोना। पुनि=फिर। चोप=चाह, इच्छा, आकर्षण। नीरस=निराशा। तासों =उसे।

प्रसंगः उद्धव के बार-बार के ज्ञानोपदेश के कारण गोपियाँ अत्यन्त क्षुब्ध हैं वे अपने प्रेम-पथ की श्रेष्ठता अनेक बार घोषित कर चुकी हैं। वे चाहती हैं कि उद्धव उनके साथ केवल कृष्ण की बात करें, उनके विषय में ही वार्तालाप करें किन्तु उद्धव बीच में निर्गुण ब्रह्म को ले आते हैं इसी कारण वे उद्धव से कह रही हैं कि तुम हमारे मनवांछित, संदेश को न कहकर दूसरी बात कहते हो जो हमें अप्रिय है।

व्याख्याः हे उद्धव! तुम हमें कृष्ण-प्रेम का संदेश न कहकर कोई अन्य योग ज्ञान से सम्बन्धित संदेश कह रहे हो जिसमें हमारी तनिक भी रुचि नहीं है। इस संदेश को सुनना हमारे लिए उचित नहीं क्योंकि इससे नंदनन्दन कृष्ण के साथ हमारे प्रेम की हानि होती है किन्तु हम उनसे प्रेम करना नहीं छोड़ सकती। तुम्हारें कथानुसार यद्यपि योग-साधना महान् सुखों की खान है - अर्थात् महान् सुखों को प्रदान करनेवाली है किन्तु वह हमारे किस काम की है। योग-साधना को अपनाने पर हमें कृष्ण-प्रेम को त्यागना पड़ेगा, जो हमारे लिए सम्भव नहीं, अतः तुम्हारा यह योग हमारे लिए व्यर्थ है हमारा समस्त सुख तो कृष्ण-प्रेम में ही निहित है। हमारा मन श्याम-सुन्दर के साथ हिलमिल कर उनके स्नेह में पूर्णरूप में डूब गया है, छक गया है। लोहा पारस नाम के स्पर्श से बारहबानि उज्ज्वल एवं खरा सोना बन जाता है, किन्तु ऐसे सोने में वह उत्साह अथवा आकर्षण शेष नहीं रह जाता जो उसे चुम्बक के प्रति आकर्षित कर उससे चिपका देता है। ऐसे ही योग साधना के कारण भले ही हमारा मन निर्मल, खरे सोने के समान क्यों न हो जाए परन्तु उसकी सर्वस्व प्रेम-भावना, नष्ट हो जाएगी।

तुम कहते हो कि तुम्हारा ब्रह्म, निष्काम, अगम्य है। आज तक वेदों ने भी उसका पार नहीं पाया तो फिर तुम्हारे इस ब्रह्म के साथ हम किस प्रकार परिचय प्राप्त कर सकती हैं? अर्थात् जब वेदों के लिए भी तुम्हारा यह निर्गुण और निष्काम ब्रह्म गम्य नहीं तो हम अबला, मूढ नारियाँ उसका

ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकती हैं? और जब हमारा उससे परिचय ही नहीं हो सकेगा, तो हम उससे प्रेम किस प्रकार करेंगी?

विशेषः-

1. प्रेम मे आकर्षण प्रदान होता है, इसी कारण गोपियाँ योग-साधना नहीं करना चाहती क्योंकि उन्हें इस प्रकार कृष्ण-प्रेम से हाथ धोना पड़ेगा।
2. मुक्तक शैली।
3. ब्रजभाषा का प्रयोग।
4. संगीतात्मकता।
5. 'सने सनेह श्याम सुंदर' में व त्यानुप्रास अलंकार।
6. 'सोहत ..... ज्यों ..... बनि।' में उपमा अलंकार।
7. निर्गुण पर सगुण का प्रभाव।
8. भावानुसार भाषा-प्रयोग।
9. सुन्दर अभिव्यंजना।
10. संवादात्मक शैली।

।। 41 ।।

हम तौ कान्ह केलि की भूखी।
कैसे निरगुन सुनहि तिहारी विरहिति विरह विदुखी?
कहिए कहा यहौ नहिं जानत काहि जोग है जोग।
पा लागों तुमहीं सो वा पुर बसत बावरे लोग।।
अंजन, अभरन, चीर, चारू, बरू नेक आप तन कीजै।
दंड, कमंडल, भरम, अधारी जो जुबतिन को दीजै।।
सूर देखि द ढ़ता गोपिन की ऊधो यह ब्रत पायो।
कहैं 'कृपानिधि हो कृपाल हो' प्रेमै पढ़न पठायों।।४१।।

शब्दार्थः केलि=क्रीडाएँ। बिदूखी=दुःखी। काहि=किस। जोग=योग्य। वा=उस। बाँवरे=पगले। अभरन=आभरण, आभूषण। चीर=वस्त्र। चारू=सुन्दर। जुबतिन=युवतियाँ। प्रेमै=प्रेम को ही। पुर=मथुरा।

प्रसंगः उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुनकर गोपियाँ अत्यन्त खिन्न हैं। उन्हें तो उद्धव से श्रीकृष्ण के ब्रज-आगमन के संदेश की आशा थी किन्तु उन्होंने अन्य अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म की साधना करने का संदेश सुनाया। गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने में असमर्थ हैं। वे कृष्ण को नहीं त्याग सकतीं। इस पद में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि

व्याख्याः हम तो श्रीकृष्ण के साथ पहले जैसी क्रीडाएँ करने के लिए लालायित हैं, भूखी हैं। हम कृष्ण के विरह में व्यथित विरहिणी नारियाँ है, हम किस प्रकार तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश को सुन सकती हैं। तुम्हें इस बात का ज्ञान नहीं कि हम जैसी कृष्ण-प्रेम-विरह में संतप्त अबलाओं के साथ किस प्रकार की बातें करनी चाहिए। तुम्हारा कर्त्तव्य था कि तुम हमें सांत्वना देते, कृष्ण-आगमन की घड़ी का निर्देश करते, उल्टा तुम हमें योग की शिक्षा देने लगे। तुम्हें इस बात का भी ज्ञान नहीं कि तुम्हारे योग के योग्य पात्र कौन है? अर्थात् तुम विरहिणियों को निर्गुण ब्रह्म

की साधना करने का उपदेश दे रहे हो, जो अनुचित है, क्योंकि योग-साधना तो योगियों के लिए ही उचित है, वे ही इसके योग्य हैं, हम अबला नारियाँ तो नंदनन्दन के प्रेम के लिए ही हैं। तुम इन सब बातों पर ध्यान न देकर, योग का उपदेश देकर हम पर अन्याय कर रहे हो। हम तुम्हारे पाँव पड़ती हैं, हमसे इस प्रकार की बातें न करों, इसमें हमें दुःख होता है। तुम्हें देखकर हमे लगता है कि उस मथुरा नगरी में सभी बावले, अनाड़ी लोग ही निवास करते हैं कृष्ण भी इस बात के प्रमाण हैं क्योंकि उन्होंने तुम्हारे हाथों हम अबला नारियों के लिए ऐसा अनुचित संदेश भेजा है।

यदि तुम्हारे मत में हम युवतियों को दंड कमण्डल, भस्म, अधारी आदि योग-साधना के उपकरण धारण करने उचित हैं तो तुम अपने शरीर पर तनिक हमारा अंजन, आभूषण, सुन्दर वस्त्र धारण करके तो देखो, क्या ये तुम्हें शोभा देते हैं और तुम्हारे लिए उचित है? जिस प्रकार हमारे ये श्रं गार-प्रसाधन तुम्हारे लिए अनुपयुक्त हैं, उसी प्रकार योग से सम्बद्ध सभी उपकरण हमारे लिए अनुपयुक्त हैं।

सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों की इस प्रकार की प्रेम की द ढ़ता और अनन्यता को देखकर उद्धव को यह विश्वास हो गया कि कृपालु और दयानिधि श्री कृष्ण ने उन्हें यहाँ ब्रज में गोपियों को योग का उपदेश देने के लिए न भेजकर, उनसे प्रेम का पाठ ग्रहण करने के लिए भेजा है।

विशेषः-

1. पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुकूल गोपियों की 'लीलारुचि' का वर्णन है।
2. योग और ज्ञान पर होनेवाली प्रेम और भक्ति की विजय का पूर्वाभास अन्तिम पंक्ति में ध्वनित हो रहा है।
3. मुक्तक शैली-प्रयोग।
4. ब्रजभाषा का प्रयोग।
5. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
6. विप्रलम्भ श्र गांर का वर्णन।
7. 'काहि जोग है जोग' में यमक अलंकार है।

।। 42 ।।

अँखिया हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप राँची ये बतियाँ सुनि रूखी।
अवधि गनत इक टक मग जोवत तब एती नहिं झूखी।
अब इत जोग-संदेशन ऊधौ अति अकुलानी दूखी।।
बारक वह मुख फेरि दिखाओ, दुहि पय पिवत पतूखी।
सूर सिकत हठि नाव चलाओ ये सरिता है सूखी।।४२।।

शब्दार्थः दरसन=दर्शन। रूप रस राँची=रूप के रस में पानी हुई। बतियाँ=बातें। रूखी=शुष्क। गनत=गिनते हुए। इक टक=बिना पलक झपकते। मग जोवत=राह देख रही हैं। झूखी=दुःखी हुई। बारक=एक बार। फेरि=पुनः। पव=दूध। पतूखी=पत्ते का दोना। सिकत=रेत। हठ=जिद।

प्रसंगः उद्धव के लगातार ज्ञानोपदेश देने के कारण गोपियाँ अत्यन्त खिन्न हैं। उन्हें उद्धव से तो श्री कृष्ण के प्रेमरसपूर्ण संदेश की आशा थी किन्तु वहाँ से अन्य संदेश ही मिला। गोपियाँ तो कृष्ण के क्रीड़ा-विहार के लिए लालायित हैं। कृष्ण के प्रेम के विरह में संतप्त गोपियों के लिए योग-ज्ञान किसी काम का नहीं, व्यर्थ है। उनकी अखियाँ कृष्ण के दर्शन की प्यासी हैं। वे उद्धव से कहती

हैं कि-

व्याख्या: हमारी आँखे तो कृष्ण के दर्शनों की प्यासी हैं। हमारी ये आँखे कृष्ण के रूप और रस मे पगी हुई हैं। उनमें पूर्णयता अनुरक्त हैं। अतः ये किस प्रकार तुम्हारी इन नीरस योग की बातें सुनकर धैर्य धारण कर सकती हैं? जब ये आँखे कृष्ण के लौटकर आने की अवधि के एक-एक दिन की गणना करती हुई मार्ग की ओर बिना पलक झपकाए निहारती थीं, तब भी वे इतनी संतप्त और दुःखी नहीं हुई, अब तुम्हारे योग के नीरस और व्यर्थ संदेशो को सुनकर अत्यधिक संतप्त और अकुलाई हुई हैं।

अब हमारी तुमसे केवल यही प्रार्थना है कि हमें कृष्ण के उस मुख के दर्शन एक बार फिर करवा दो जिससे वह पत्ते के दोनों में दूध दुहकर पान किया करता थे। तुम्हारा हमें योग का उपदेश देना वैसा असम्भव कार्य करने का प्रयत्न करता है जैसा सूखी हुई नदी की बालू में हठपूर्वक नाव चलाने का प्रयत्न करना। कृष्ण-प्रेम में अनुरक्त हमारे हृदयों पर तुम्हारे योग का कोई प्रभाव पड़नेवाला नहीं।

विशेष:-

1. इस पद में वल्लभ-सम्प्रदाय की पुष्टिमार्गीय विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। रागानुगा भक्ति में उपास्य के रूप और रस का विशेष महत्त्व होता है। यहाँ कृष्ण का रूप और उससे जन्य प्रेमरस ही गोपियों को प्रिय है, अतः योग-उपदेश और निर्गुण-ब्रह्म की साधना उनके लिए व्यर्थ है।
2. सूखी नदी की बालू में नाव चलाने का उदाहरण देकर निर्गुण ब्रह्म की असम्भाव्यता प्रदर्शित करते हुए उसका निराकरण किया गया है।
3. कृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं, छवियों की व्यंजना के साथ-साथ विकल्प चिंता, उन्माद आदि संचारी भावों का भी मार्मिक चित्रण प्रस्तुत हुआ है।
4. विप्रलम्भ श्र गांर अपने पूर्ण परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत है- मूलभाव रति, आलम्बन कृष्ण आश्रय गोपियाँ, उद्दीपन उद्धव का ज्ञानोपदेश।
5. ब्रज भाषा का प्रयोग।
6. मुक्तक शैली।
7. सुन्दर भाव-अभिव्यंजना।
8. सरल शब्दों का अनुपम प्रयोग।
9. गोपियों की वाक्पटुता-चित्रण।
10. 'बारक... पतूखी' में संस्मरण अलंकार।
11. 'सूर.....सूखी' में निदर्शना अलंकार।
12. 'ये सरिता है सूखी' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

।। 43 ।।

जाय कहौ बूझी कुसलात।
जाके ज्ञान न होय सो मानै कही तिहारी बात।।
कारे नाम, रूप पुनि कारो, कारे अंग सखा सब गात।

जौ पै भले होत कहुँ कारे तौ कत वदलि सुता लै जात।।
हमको जोग, भोग कुबजा को काके हिये समात?
सूरदास सेए सो पति के पाले जिन्ह तेही, पछितात।।४३।।

शब्दार्थः बूझी=पूछी। कुसलात=कुशल-क्षेम। जाके=जिसके। तिहारी=तुम्हारी। कारो=काला। गात=शरीर। कत=क्यों। सुता=लड़की। काके=किसके। हिये=हृदय। समात=विश्वास होना। सेए=सेवा की। पाले=पालन किया। पछितात=पश्चाताप।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश सूरदास कृत 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। उद्धव के ज्ञानोपदेश पर गोपियाँ अत्यन्त खिन्न हैं। वे तो कृष्ण की रूपमाधुरी में इतनी पगी हुई हैं कि उन्हें त्यागना बिल्कुल असम्भव है और फिर वे अबला नारियाँ हैं। योगियों से सम्बद्ध क्रियाएँ भी अत्यन्त दुष्कर हैं, वे किस प्रकार उन्हें कार्यान्वित कर सकती हैं। उन्हें ज्ञान का उपदेश देना तो सूखी नदी की बालू पर नाव चलाने के समान समय नष्ट करना है। अतः वे मथुरा लौट जाएं और कृष्ण से कहें कि वह गोपियों का कुशल-क्षेम पूछ आए हैं।

व्याख्याः गोपियाँ क्षुब्ध होकर कहती हैं, हे उद्धव! तुम मथुरा वापिस चले जाओ और कृष्ण से कहो कि हमने उनकी कुशल-क्षेम पुछवा भेजी है। हमारा समाचार देने के उपरान्त उनसे यह कहना कि तुम्हारे योग-मार्ग को अपना लेने का संदेश वही मान सकता है जो सर्वथा अज्ञानी होगा। कृष्ण का नाम काला अर्थात् श्याम है फिर रंग एवं स्वरूप भी काला है। उनके सारे सखाओं-अक्रूर, उद्धव आदि के शरीर का समस्त अंग भी श्याम है। इस प्रकार कृष्ण स्वयं और उनके सब मित्र तन-मन से काले अर्थात् कपटी हैं। यदि ये काले वर्ण कपटी और धोखेबाज न होकर अच्छे होते तो वसुदेव अपने पुत्र श्यामवर्ण कृष्ण को यहाँ छोड़ उसके बदले में नन्दबाबा की लड़की को न ले जाते। काले वर्णवाले बुरे होते हैं, तभी तो वसुदेव ने काले कृष्ण को यहाँ छोडकर उससे पीछा छुड़ा लिया था।

तुम सब काले लोग इतने दुष्ट हो कि नारी-नारी में भी अन्तर करते हो। हम गोपियों के लिए तो योग-साधना उचित बताते हो और कुब्जा के लिए भोग। तुम्हारी यह विलक्षण गति किसके हृदय में समानेवाली है? यह तुम्हारा सरासर अन्याय है। किसी की समझ में भी नहीं आनेवाला। कृष्ण के इस प्रकार छल-कपट भरे व्यवहार, पर पति के तुल्य उन्हें स्वीकार करनेवाली हम गोपियाँ नहीं पछताती अपितु पुत्र तुल्य मानते हुए उनका भरण पोषण करनेवाले नन्द-यशोदा भी पछताते हैं।

विशेषः-

1. गोपियाँ काले वर्णवाले सभी लोगों पर व्यंग्य करती हुई उन्हें छली और कपटी बता रही हैं। श्याम वर्णी, उद्धव, अक्रूर आदि पर इससे पूर्व भी वे व्यंग्य कर चुकी हैं।

   बिलग जनि मानहु ऊधौ प्यारे।
   वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहि ते कारे।
   तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
   तिनके संग अधिक छवि उपजत कमलनैन मनिआरे।
   मानहु नील माट तें काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे।
   तागुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम गुन-न्यारे।

2. नंददास की गोपियों ने भी इसी प्रकार काले वर्णवाले श्याम और उनके मित्रों पर गहन व्यंग्य किया है।

   'कोउ कहै री विस्व माँझ जेते है कारे,
   कपट कुटिल कौ कीट परम मानुष मसि हारे।
   एक स्याम तन परम कै जरत आज लौं अंग,

ता पाछै यह मधुप ह् लायों जोग भुजंग।

3. कृष्ण के जन्म होते ही वसुदेव आधी रात को चुपचाप कृष्ण को गोकुल छोड़ गए थे और वहाँ से नंद की अन्य पत्नी रोहिणी की नवजात कन्या को लेकर मथुरा चले गए थे। यह कन्या कंस द्वारा वध कर दी गई थी। कंस द्वारा कृष्ण के मार दिए जाने का भय था। इसी कारण वस्तुतः नवजात शिशुओं की अदला-बदली हुई थी क्योंकि भविष्यवाणी के अनुसार कृष्ण द्वारा ही कंस की हत्या होनी थी।
4. ब्रजभाषा का प्रयोग
5. गोपियों की वाक्पटुता का चित्रण।
6. सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति।
7. तद्भव शब्दों का आकर्षक चयन।
8. अनुप्रास अलंकार की छटा।
9. सुन्दर गेयता-लयात्मकता।
10. जोग और भोग में शब्द मैत्री है।

।। 44 ।।

कहाँ लौ कीजै बहुत बढ़ाई।
अतिहि अगाध अपार अगोचर मनसा तहाँ न जाई।
जल बिनु तरंग, भीति बिनु चित्रन, बिन चित ही चतुराई।
अब ब्रज में अनरीति कछु यह उधौ आनि चलाई।
रूप न रेख, बदन बपु जाके संग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सो प्रीति निरंतर क्यों निबहै, री माई।।
मन चुभि रही माधुरी मूरति रोम-रोम अरुआई।
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके जाके स्याम सदा सुखदाई।।४४।।

शब्दार्थः लौ=तक। अतिहि=बहुत ज्यादा। अगोचर=न दिखाई देनेवाला। मनसा=मन। तंरग=लहर। भीति=दीवार, आधार। अनरीति=अनोखी। बपु=शरीर। बदन=मुख। निबहै=निर्वाह हो। माधुरी=सुन्दर। ताके=जिनके।

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ सूरदास कृत 'भ्रमरगीत' से उद्ध त है। इस पद्यांश में गोपियाँ, उद्धव के ज्ञानोपदेश से अत्यन्त खिन्न हैं। उद्धव के निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा उन्हें कृष्ण का मनोहर रूप अधिक प्रिय है। उन्हें अपने प्रेममार्ग पर भी गर्व है। निर्गुण ब्रह्म पर उनका व्यंग्य जारी है।

व्याख्याः गोपियाँ कहती है, हे उद्धव! तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की प्रशंसा कहाँ तक करें? उसके सम्बन्ध में तुम्हारी उक्तियाँ अत्यन्त विचित्र है। तुम्हारे मन में तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म अत्यधिक अगाध, अपार और न दिखाई देनेवाला है। वह इतना अगम्य है कि मानव-मन भी उस तक नहीं पहुँच सकता। वह मन की पहुँच कल्पना से परे है। तुम्हारा यह निर्गुण-सम्प्रदाय अति विचित्र है। क्योंकि इसमें अपेक्षित उपादानों के बिना ही वस्तुएँ निर्मित हो जाती हैं। इसमें बिना जल के तरंगें उत्पन्न होती है, बिना भीति (दीवार अथवा कोई अन्य आधार) के चित्रों का अंकन होता है। यहाँ चित्र के बिना ही चतुराई प्रदर्शित की जाती है। तुमने यहाँ ब्रज में आकर इस प्रकार की अनोखी रीति लगाई है। तुम असम्भव और अनहोनी बातें कहकर हमें बहला रहे हो और अपने जाल में फँसाना चाहते हो।

तुम्हारे ब्रह्म की न तो कोई रूपरेखा है अर्थात् आकार है। न उसका कोई मुख और न ही कोई शरीर है। उसके साथ न तो कोई मित्र है और न कोई सहायक ही है। ऐसी स्थिति में तुम ही

हमें बताओ कि उक्त विशषताओं से सम्पन्न तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म के साथ हमारा निरन्तर प्रेम-निर्वाह किस प्रकार हो सकता है। हमारे कृष्ण रूप-गुण सम्पन्न है, इसलिए उनके साथ हमारा निरन्तर प्रेम-व्यापार चलता रहा है। हमारे मन मे तो कृष्ण की मधुर एवं रूपहली मूर्ति घर कर गई है, वह मोहिनी मूर्ति हमारे रोम-रोम में समाई रहती है। हम तो सदा कृष्ण की माधुर्यपूर्ण मोहिनी मूर्ति के ध्यान में मस्त रहती हैं। हम उन जनों पर बलिहारी जाती हैं। जिनके लिए हमारे प्रभु कृष्ण सदा सुखदाई हैं। हम कृष्ण-प्रेमियों पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को उद्धत है।

विशेषः-

1. 'री माई' शब्द यहाँ विशेष अर्थ की व्यंजना न करके केवल गोपियों की आश्चर्य-भावना को व्यक्त किया गया है।
2. इस पद में सूरदास ने शंकराचार्य के 'वेदांत-अद्वैतवाद का निरूपण कर उसका खंडन करते हुए वल्लभाचार्य के 'उपादानवाद' और अपने परिणामवाद की स्थापना की है।
3. 'जल बिनु तंरग, भीति बिनु चित्रन, बिनु चित ही चतुराई', में अभिव्यक्त शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन तुलसी की निम्न पंक्तियों में भी मिलता है-
   'केशव कहि न जाय का कहिए?
   शून्य भिति पर चित्र रंग नहि तन बिन लिखा चितेरे।
4. सूर ने 'सूरसागर' के आरम्भ में ब्रह्म के निर्गुण रूप को ही प्रधानता दी है। किन्तु व्यावहारिक द ष्टि से सगुण रूप को ग्राह्य स्वीकार करते हुए कहा है-
   'रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन निरालम्ब मन चक्र धावै।
   सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै।
5. 'जल बिनु तरंग..... चतुराई...आदि पंक्तियों में प्रयुक्त निर्गुण ब्रह्म की विशेषताएँ ज्ञानवादियों के प्रमुख अस्त्र हैं।
6. मुक्त शैली।
7. सुन्दर लयात्मकता गेयता।
8. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
9. आकर्षक भाव-अभिव्यंजना।
10. 'अतिहि अगाध अपार अगोचर' में व त्यानुप्रास अलंकार।
11. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर योग।

।। 45 ।।

काहे को गोपीनाथ कहावत?
जो पै मधुकर कहत हमारे गोकुल काहे न आवत?
सपने की पहिचानि जानि कै हमहिं कलंक लगावत।
जो पै स्याम कूबरी रीझे सो बिन नाम धरावत?
ज्यों गजराज काज के औसर औरे दसन दिखावत।
कहन सुनन को हम हैं ऊधो सूर अनत बिरमावत।।४५।।

शब्दार्थः काहे को = किसलिए। काहे न = क्यों नहीं। आवत = आते। कूबरी = कुबड़ी, कुब्जा। किन = क्यों नहीं। धरावत = रखते। औसत = अवसर। औरे = और। दसन = दाँत। अनत =

अन्यत्र, और नहीं। बिरमावत = विश्राम करते हैं।

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ सूरदास कृत 'भ्रमरगीत' से ली गई हैं। कृष्ण मथुरा जाकर गोपियों को भुला बैठे हैं, उन्हें गोपियों के साथ किया केलि-विहार विस्म त है। वहाँ जाकर वह कुब्जा के प्रेम में फँस गए हैं। अब वह कुब्जा से विवाह करके वहीं आनन्द विहार कर रहे हैं फिर भी उन्हें गोपीनाथ कहा जाता है। गोपियाँ असूयाभाव से भरकर इस बात पर व्यंग्य करती हैं।

व्याख्याः गोपियाँ क्षुब्ध होकर कृष्ण के प्रेम में कहती हैं कि कृष्ण अब भी स्वयं को 'गोपीनाथ' क्यों कहलवाते हैं? जबकि अब इस नाम में कोई तथ्य नहीं रहा क्योंकि वह मथुरा जाकर हमें भुला बैठे हैं। हे मधुकर! यदि वह अभी भी हमारे स्वामी कहलाते हैं तो मथुरा से लौटकर गोकुल क्यों नहीं चले आते? एक ओर तो हमारे साथ स्वप्न के समान, अत्यन्त थोड़ा परिचय बताते हैं, और फिर स्वयं को 'गोपीनाथ' भी कहलवाते हैं। इस प्रकार वह परोक्षरूप से हम पर कलंक लगा रहे हैं। यदि श्यामसुन्दर उस कुबड़ी दासी कुब्जा पर ही रीझ गए हैं तो उसी के नाम पर अपना नाथ 'कुब्जानाथ' अथवा 'कुब्जापति' ही क्यों नहीं रख लेते? उनके 'गोपनीय' नाम पर सारा संसार हमें कलंकिनी समझ रहा है जबकि उनका-हमारा अब कोई साथ नहीं रहा। अब तो वह कुब्जा पर ही मोहित हैं और उनके साथ मथुरा में रहते हैं। इस प्रकार का उनका कार्य उसी प्रकार है जिस प्रकार कि हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और होते हैं। अर्थात् कृष्ण की कथनी और करनी में पर्याप्त अन्तर है। कहने-सुनने के लिए हम उनकी प्रेमिकाएँ हैं और वे हमारे स्वामी होने के कारण 'गोपनीय' भी कहलाते हैं। किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि वह हमारे प्रियतम न होकर कुब्जा के प्रेम में फँसे हुए हैं और आजकल उसी के साथ मथुरा में विश्राम कर रहे हैं।

विशेषः-

1. यहाँ 'गोपीनाथ' शब्द का प्रयोग करके गोपियाँ कृष्ण के कपट, छल एवं निष्ठुरता पर मार्मिक व्यंग्य कर रही हैं। इससे कुब्जा के प्रति उनका असूयाभाव प्रकट होता है अतः यहाँ असूया संचारी भाव प्रधान है। कृष्ण को 'गोपीनाथ' कहाने के संदेश की व्यंजना अन्य कवियों ने भी की है। इस द ष्टि से बंगला के प्रसिद्ध कवि चंडीदास की पंक्तियाँ दर्शनीय हैं -

   'यतेक तो मारे पिरीत करूकते मन पिरीत हबेना।
   राधानाथ बिने कुब्जार केहत लोमारेकबेना।।

2. 'सपने की पहियानि' तथा 'गजराज काज के औसर' और 'दसन दिखावत' - मुहावरों के प्रयोग से भाषा की व्यंजना-शक्ति में व द्धि हुई है।
3. प्रभावी व्यंग्य योजना।
4. कृष्ण के प्रति अनूठा प्रेम-भाव।
5. मुक्तक शैली।
6. सुन्दर गेयता - लयात्मकता।
7. ब्रजभाषा प्रयोग।
8. सूक्ष्म भावों की सहज अभिव्यक्ति।
9. प्रसाद-माधुर्य गुणसम्पन्न शैली।
10. 'औसर औरे दसन दिखावत' में अनुप्रास अलंकार।
11. 'ज्यो गजराज ..... दिखावत' में द ष्टान्त अलंकार।

।। 46 ।।

अब कत सुरति होति है, राजन?
दिन दस प्रीति करी स्वारथ हित राहत आपने काजन।।
सबै अयानि भई सुनि मुरली ठगी कपट की छाजन।
अब मन भयो सिंधु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन।।
वह नातो टूटो ता दिन ते सुफलकसुत संग भाजन।
गोपीनाथ कहाय सूर प्रभु कत मारत हौ लालन।।४६।।

शब्दार्थः कत = किस प्रकार। सुरति = स्म ति। प्रीति = प्रेम। काजन = कार्य के लिए। अयानि = अज्ञानि। छाजन = कपटपूर्ण व्यवहार। सिंधु = समुद्र। खग = पक्षी। सरत = बढ़ता है। सुफलकसुत = अक्रूर जी। भाजन = भाग गए, चले गए, प्रस्थान कर गए। कत = क्यों।

प्रसंगः प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ सूरदास के 'भ्रमरगीत' से ली गई हैं। उद्धव के माध्यम से कृष्ण द्वारा भेजे गए योग-संदेश से गोपियाँ अत्यन्त खिन्न हैं कुब्जा के प्रति उनका असूया भाव अब भी जारी है। वे कृष्ण पर व्यंग्य करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि अब उन्हें हमारी सुधि किस प्रकार आती होगी। वस्तुतः वह कृष्ण के विश्वासघात पर अत्यन्त दुखी हैं।

व्याख्याः गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव! अब कृष्ण को हमारी सुधि किस प्रकार आती होगी? अब वह मथुरा के राजा हो गए हैं, और कुब्जा उनकी रानी है। उनके सानिध्य में अब उन्हें हमारा अभाव क्या खटकता होगा। उन्होंने अपने स्वार्थवश दस दिन अर्थात् थोड़े समय के लिए हमसे प्रेम बढ़ाया गया था। किन्तु अब राजा बन जाने के कारण राज-काज में ही समय निकल जाता होगा। अब उन्हें हमारी स्म ति किस प्रकार आती होगी। कृष्ण की बंसी की मादक स्वर-लहरी को सुनकर हम सब उस समय अज्ञानी हो गई थीं और उसके प्रभाव में तन-मन खो बैठी। उन्होंने तो वस्तुतः प्रेम का ढोंग रचा था किन्तु हम इसे सत्य समझकर अपनी सुध-बुध खो बैठी और इस प्रकार उनके चुंगल में फँस गई। अब तो हमारा मन जहाज के उस पंछी के समान हो गया है जो अन्यत्र कोई ठौर प्राप्त नहीं कर पाने के कारण पुनः जहाज पर लौट आता है। हमारे मन को अब कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान पर आश्रय, सुख-संतोष नहीं मिलता, इसी कारण हमारा ध्यान उन्हीं की ओर जाता है। कृष्ण से हमारा प्रेम का नाता तो उसी दिन टूट गया था जिस दिन वह हमें अकेला, निराधार छोड़कर अक्रूर जी के साथ स्वयं मथुरा चले गए थे। अब तो हमें इस बात का दुःख है कि हमसे स्नेह का रिश्ता तोड़ जाने पर भी अभी तक वह 'गोपीनाथ' बने हुए हैं जिससे सारा संसार हमें लांछित कर रहा है और हम लाज से मरी जा रही हैं।

विशेषः-

1. 'गोपीनाथ' शब्द का प्रयोग पूर्व प्रसंग में भी हुआ है। इस शब्द के माध्यम से गोपियाँ कृष्ण के कपट-पूर्ण और निष्ठुरता पर गहरा व्यंग्य कर रही हैं।
2. कृष्ण-प्रेम का अनूठा रूप।
3. गम्भीर व्यंग्य।
4. मुक्तक शैली।
5. सूक्ष्म भावों की प्रभावी अभिव्यंजना।
6. ब्रजभाषा-प्रयोग।
7. माधुर्य प्रसाद गुणसम्पन्न शैली।

8. सुन्दर गेयता।

9. सुन्दर शब्द योजना।

10. 'फिर फिर' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार।

11. 'कपट की छाजन' अत्यन्त सुन्दर मुहावरा है इसके प्रयोग से भाषा की व्यंजना-शक्ति बढ़ी है।

10. 'अब मन..... सरत जहाजन' - जैसा भाव सूर के एक अन्य विनय पद में उपलब्ध होता है।

'मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै?
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरी जहाज पर आवै।''

।। 47 ।।

लिखि आई ब्रजनाथ की छाप।
बाँधे फिरत सीस पर ऊधो देखत आवै ताप।।
नूतन रीति नंद नंदन की धरधर दीजत थाप।
हरि आगे कुब्जा अधिकारी ताते है यह दाप।।
आए कहन जोग अवराधो अविगत कथा को जाप।
सूर संदेशो सुनि नहिं लागै कहौ कौन को पाप।।४७।।

शब्दार्थः छाप = चिन्ह, मनोहर, चिट्ठी पत्र। ताप = ज्वर। नूतन = नवीन। थाप = स्थापित करना, थोपना। आगे = बढ़कर, अधिक। ताते = इसी कारण। दाप = दर्प, घमंड। अवराधो = आराधना, साधना करो। अविगत = निराकार ब्रह्म।

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ 'भ्रमरगीत' से ली गई हैं। इनके रचयिता सूरदास हैं। इनमें सूरदास ने गोपियों के द्वारा कृष्ण और कुब्जा पर व्यंग्य भाव को निरूपित किया है। गोपियों का कृष्ण एवं कुब्जा दोनों पर व्यंग्य करना जारी है। पहले उन्हें संदेह था कि निर्गुण-ब्रह्म की आराधना करने का संदेश कृष्ण ने नहीं भेजा, बल्कि उद्धव से प्राप्त पत्र पर कृष्ण की मुद्रा की छाप देखकर उन्हें विश्वास करना पड़ा। इसी संदर्भ को लेकर व्यंग्य भाव को दर्शाते हुए कवि ने कहा है-

व्याख्याः सूरदास ने गोपियों के माध्यम से कहा है कि अरे देखो ब्रजनाथ के हाथों का लिख हुआ पत्र आया है जिस पर उनकी मुद्रा का चिह्न भी अंकित है। इस प्रकार इस उद्धव बिचारे का दोष नहीं, योग का संदेश वस्तुतः कृष्ण ने हमारे लिए भेजा है। उद्धव अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहे। उद्धव इस पत्र की सुरक्षा के कारण इसे अपनी पगड़ी में खोंसे फिरते हैं जिसे देखकर इन्हें क्रोध और क्षोभ के कारण ज्वर आने लगता है। यह कृष्ण की संदेश देने की नवीन नीति है। उनकी आज्ञानुसार ही तो उद्धव घर-घर में इस पत्र में निहित सन्देश की स्थापना कर रहे हैं। अर्थात् सभी को कृष्ण को भुलाकर निर्गुण-ब्रह्म की आराधना करने की भी दिशा दे रहे हैं।

इस प्रकार प्रतीत होता है कि मथुरा में सभी कार्यों में कृष्ण की कुछ नहीं चलती, सर्वत्र कुब्जा का आदेश चलता है और उसके अधिकार कृष्ण से भी अधिक हैं। इसी कारण तो उसे इतना घमण्ड हो गया है कि उसने कृष्ण से चोरी करके इस पत्र पर उनकी मोहर छापकर इसे प्रामाणिक बना दिया है। वस्तुतः वह कृष्ण को अपने में ही सीमित करना चाहती है। कहने का भाव यह है कि इस पत्र पर मोहर कृष्ण द्वारा न लगाई जाकर कुब्जा द्वारा लगाई गई है। इस प्रकार यह कुब्जा द्वारा हमें भेजा गया संदेश है। कुब्जा हमें अन्य राह पर डालकर कृष्ण का स्वयं अकेले ही भोग करना चाहती है, तभी तो उद्धव उसके संकेत पर यहाँ आए हैं और हमें निर्गुण अगम्य ब्रह्म की

कथा सुनाकर योग-साधना के बल पर उसे प्राप्त करने की शिक्षा दे रहे हैं। इस अनुचित, अनर्गल संदेश को सुनने में बताओ, किसको पाप नहीं लगेगा हम गोपियाँ एकमात्र कृष्ण की ही अनुरागिनी हैं। कृष्ण को त्यागकर निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करने में हमें पाप लगता है। यह भारतीय नारी के पतिव्रत्य धर्म के अनुकूल है। हम कृष्ण की सच्ची प्रेमिकाओं के लिए अपने प्रियतम कृष्ण को त्याग किसी अन्य से प्रेम करना अथवा उसका ध्यान करना निश्चय ही पापाचार है।

विशेषः-

1. कुब्जा के प्रति गोपियों के असूया भाव की व्यंजना की गई है।
2. सूरदास ने गोपियों के प्रेम में स्वकीया और परकीया दोनों प्रेम-पद्धतियों का सम्मिश्रण कर उसे अधिक गहन एवं एकनिष्ठ बना दिया है।
3. प्रभावी व्यंग्य योजना देखने में आई है।
4. मुक्तक शैली का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
5. कृष्ण के प्रति-अनूठा प्रेम-भाव उमड़ पड़ा है।
6. पंक्तियों में सुन्दर गेयता-लयात्मकता है।
7. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
8. सूक्ष्म भावों की सहज अभिव्यक्ति हुई है।
9. प्रसाद-माधुर्य गुणसम्पन्न शैली का प्रयोग हुआ है।

।। 48 ।।

फिरि फिरि कहा सिखावत बात?
प्रातकाल उठि देखत, ऊधो घर घर माखन खात।
जाकी बात कहत हौ हमसों सो है हमसों दूरि।
ह्याँ है निकट जसोदानन्दन प्रान-सजीवन मूरि।
बालक संग लये दधि चोरत खात खवावत डोलत।
सूर सीस सुनि चौंकत नावहिं अब काहे न मुख बोलत।।४८।।

शब्दार्थः ह्याँ = यहाँ। प्रान-संजीवनमूरि = संजीवनी बूटी के समान प्राण एवं जीवन का संचार करनेवाली। लए = लिए हुए। दधि = दही। खवावत = खिलाता हुआ। डोलत = घूमता-फिरता है। सीस नवावहिं = सिर को झुका लेते हों।

प्रसंगः सूरदास कहते हैं कि उद्धव के ज्ञानोपदेश पर गोपियाँ अत्यन्त क्षुब्ध हैं। उन्होंने क्रमशः निर्गुण-ब्रह्म का विरोध करते हुए अपने प्रेम-मार्ग की श्रेष्ठता की घोषणा की है। फिर भी उद्धव हार नहीं मानते और ज्ञानोपदेश दिए जा रहे हैं। इस पर गोपियाँ उन्हें खरी-खोटी सुनाने पर उतारू हो जाती हैं?

व्याख्याः गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव! तुम हमें बार-बार निर्गुण-ब्रह्म की साधना का उपदेश क्यों दे रहे हो? यह वस्तुतः तुम्हारा व्यर्थ का प्रयास है क्योंकि हमारे जीवन में कृष्ण इतने अधिक गहरे बैठ गए हैं कि हमारे लिए उन्हें भुला पाना अत्यन्त कठिन है। हम यहाँ ब्रज में नित्य प्रातः उठकर उन्हें घर-घर मक्खन खाते हुए देखती हैं। तुम जिस निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने के लिए हमसे कह रहे हो वह हमसे बहुत दूर है। हमारी पहुँच से परे है जबकि संजीवनी बूटी के समान जीवन-संचार के लिए यशोदा-नन्दन श्रीकृष्ण यहाँ ब्रज में हमारे निकट निवास करते हैं। हमें वह आज भी ग्वाल बालों को साथ लिए दही चुराते हुए, कुछ स्वयं खाते और कुछ दूसरों को खिलाते

हुए घूमते-फिरते दिखाई देते हैं। जब हम उन्हें चोरी करते हुए रंगे हाथों पकड़ लेती हैं, तो वह चौंककर लज्जित होकर सिर झुकाकर चुपचाप खड़े हो जाते हैं और हमारी डाँट-फटकार का कुछ भी उत्तर नहीं देते।

विशेषः-

1. गोपियों का उद्धव से विचित्र वार्तालाप कि हे उद्धव ! तुम हमारी इन बातों को सुनकर सिर नीचा किए क्यों बैठ गए हो। स्तब्ध क्यों हो गए हो? कुछ बोलो, हमें निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश।
2. कृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य प्रेम की व्यंजना हुई है। गोपियों को कृष्ण की उपस्थिति का भास होता रहता है और वे उनकी प्रचलित लीलाओं को स्मरण करके आत्मविस्म त होती रहती हैं। स्म ति द्वारा प्रत्यक्ष का अनुभव करना एकान्त प्रेम-निष्ठा का प्रतीक है।
3. उद्धव ने भी ब्रज में गोपियों के समान कृष्ण की उपस्थिति को अनुभव किया था। ब्रज से लौटकर उन्होंने कृष्ण के सम्मुख स्पष्ट शब्दों में इस बात का उल्लेख किया है।
4. ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है।
5. सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।
6. मुक्तक शैली की छटा देखी जा सकती है।
7. गोपियों की वाक्पटुता का चित्रण है।
8. सुन्दर भाव अभिव्यंजना है।
9. संगीतात्मकता का प्रभाव।
10. भावानुसार भाषा का प्रयोग हुआ है।

।। 49 ।।

अपने सगुन गौपालै, माई ! यहि विधि काहे देत?
ऊधो की ये निरगुन बातैं मीठी कैसे लेत?
धर्म, अधर्म कामना सुनावत सुख औ मुक्ति समेत।
काकी भूख गई मन लाडू सो देखहु चित चेत।
सूर स्याम तजि को भुस फटकै मधुप तिहारे हेत?।।४६।।

शब्दार्थः मीठी कैसे लेत = स्वीकार कर ग्रहण करें। तजि = छोड़कर। भुस फटकै = व्यर्थ परिश्रम करे। तिहारे हेत = तुम्हारे लिए।

प्रसंगः सूरदास ने प्रस्तुत पंक्तियों को उद्धव और गोपियों के मध्य व्यंग्य भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि गोपियाँ अनेक बार अपने मार्ग को उद्धव के ज्ञान-मार्ग से श्रेष्ठ घोषित कर चुकी हैं। प्रस्तुत पद में वे पुनः निर्गुण-ब्रह्म से सगुण ब्रह्म की श्रेष्ठता प्रमाणित कर रही हैं।

व्याख्याः गोपियाँ आपस में बातचीत कर रही हैं। एक गोपी दूसरी गोपी से कहती है कि हे सखी! हम अपने सगुणरूप गोपाल कृष्ण को किस प्रकार और क्यों उद्धव को दे दें? और उद्धव की निर्गुण-विषयक विष सद श प्राण-घातक वचनावली को मधुर, प्रिय और ग्रहण करने योग्य मानकर किस प्रकार स्वीकार कर लें। उद्धव ने हमारे सम्मुख अनेक बार धर्म, अधर्म की व्याख्या की है और हमें यह प्रलोभन दिया है कि यदि हम निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करें तो हमें सुख और मोक्ष दोनों की प्राप्ति हो सकती है किन्तु उद्धव की ये सब बातें असंगत और असम्भव हैं, इसलिए हम इन्हें

समझा नहीं पा रहीं। अपने मन में यह विचार कर देखो कि आज तक मन में लड्डू खाने से किसकी भूख शान्त हुई है। उद्धव लड्डू के समान प्रत्यक्ष ग्रहणीय कृष्ण-प्रेम को त्याग, अलक्ष्य, अगम्य निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश दे रहे हैं।

उनके इन शब्दों में इस उपासना से मुक्ति प्राप्त होती है परन्तु हमें तो यह लगता है कि जैसे किसी सामने की प्रत्यक्ष हाथ में आई हुई वस्तु को त्यागकर नितान्त काल्पनिक एवं अप्राप्य वस्तु के पीछे भागना और प्रत्यक्ष है तो हम उन्हें त्यागकर क्यों निर्गुण-ब्रह्म के पीछे भागती फिरें? हे मधुप ! यहाँ हम कौन खाली बैठी हैं जो कृष्ण को त्यागकर निर्गुण की उपासना जैसा भुस फटकने का व्यर्थ कार्य करें। ब्रह्म की आराधना करना व्यर्थ के किसी कार्य में मगज-पच्ची करना है। ऐसे कार्यों का कोई उचित परिणाम नहीं निकलता है।

विशेषः-

1. पंक्तियों में मुक्तक शैली का प्रयोग हुआ है।
2. गंभीर भावाभिव्यक्ति है।
3. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग है।
4. प्रभावी लयात्मकता-गेयता है।
5. 'भुस फटकै' मुहावरे का और 'मनलाडू' लोकोक्ति का अत्यन्त सुन्दर एवं सार्थक प्रयोग हुआ है।
6. सूक्ष्म भावों की सहज अभिव्यक्ति है।
7. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली का प्रयोग हुआ है।
8. गोपियों का कृष्ण से अनूठा प्रेम-भाव उमड़ता है।
9. 'भुस फटकै' अलंकार का मनमोहक वर्णन है।
10. 'मनलाडू' - लोकोक्ति है।

।। 50 ।।

हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञानकथा हो, ऊधो ! मथुरा ही लै गाव।
नागरि नारि भले बुझैंगी अपने बचन सुझाव।
पा लागों, इन बातनि, रे अलि! उनहीं जाय रिझाव।
सुनि, प्रियसखा स्यामसुन्दर के जो पै जिय सति भाव।
हरिमुख अति आरत इन नयननि बारक बहुरि दिखाव।
जो कोउ कोटि जतन करै, मधुकर, बिरहिनि और सुहाव।
सूरदास मीन को जल बिनु नाहिंन और उपाव।।५०।।

शब्दार्थः नागरि नारि = मथुरा नगर की चतुर स्त्रियाँ। बूझैंगी = पूछेंगी। रिझाव = प्रसन्न करो। जिय = हृदय। सतिभाव = एक बार। बहुरि = पुनः फिर। कोटि = करोड़। जतन = यत्न, प्रयत्न। मीन = मछली। उपाव = उपाय।

प्रसंगः सूरदास कहते हैं कि गोपियों को उद्धव की ज्ञानोपदेश एवं निर्गुण-ब्रह्म की चर्चा अच्छी नहीं लगती, वे बार-बार उनसे विनय करती हैं कि उनके सम्मुख इसकी चर्चा कदापि न की जाए। वे तो केवल सगुणरूप कृष्ण की कथा में रुचि रखती हैं, अतः उनके सम्मुख उन्हीं की कथा कही जानी

चाहिए।

व्याख्याः सूरदास ने इस मनमोहक प्रसंग में कहा है कि गोपियाँ उद्धव की ज्ञानोपदेश एवं निर्गुण-ब्रह्म की निरन्तर चर्चा से ऊब उठी हैं, अब यह उन्हें नितान्त अरुचिकर लगती है, इसलिए वे उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! तुम हमें केवल कृष्ण की कथा सुनाओ, हमारे सम्मुख उन्हीं की चर्चा करो, तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म के प्रति हमारी कोई रुचि नहीं है, हम उसकी कथा तुम्हारे मुख से सुनकर ऊब चुकी हैं। तुम अपनी इस ज्ञानोपदेश और निर्गुण-ब्रह्म की कथा को मथुरा लौटाकर ले जाओ और वहाँ के लोगों के सम्मुख गा-गाकर सुनाते रहो। नगर की नारियाँ चतुर होती हैं, अतः वे अपने स्वभावानुसार तुम्हारे इस निर्गुण ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा करेंगी। पूछेंगी, तुम्हें वार्तालाप में घसीटेंगी और समझने का प्रयत्न भी करेंगी। वस्तुतः वे इस प्रकार की बातें सुनने और करने की अभ्यस्त होती हैं, अतः तुम्हारी बात शीघ्र ही उनकी पकड़ में जा जाएगी। हे भ्रमर ! हम तुम्हारे पाँव पड़ती हैं, अपनी योग-ज्ञान और निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी चर्चा को तुम कृपा करके वहीं मथुरा नगर लौटाकर ले जाओ और इससे वहाँ की चतुर स्वभाववाली स्त्रियों को रिझाने का प्रयत्न करो।

गोपियाँ कहती हैं, हे उद्धव! अपनी इस ज्ञान-योग की चर्चा को तनिक छोड़कर तुम हमारी बात सुनो। यदि तुम श्याम सुन्दर श्रीकृष्ण के प्रिय और वास्तविक सखा हो, यदि तुम्हारे हृदय में हम विरहिणियों के प्रति सच्ची सहानुभूति का भाव है तो कृष्ण के मुख के दर्शन के लिए तड़प रहे, इन हमारे व्याकुल नेत्रों को पुनः एक बार उस मोहिनी मूर्ति के दर्शन करा दो, इसके लिए हम तुम्हारा अत्यन्त आभार मानेंगी। हे मधुकर ! तुम हमें यह बताओ कि क्या करोड़ों यत्न करने पर भी विरहिणी नारियों को अपने प्रियतम की चर्चा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की चर्चा सुहा सकती है। जिस प्रकार तड़पती हुई मछली के लिए जल के अतिरिक्त जीवन प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं, उसी प्रकार विरह संतप्त हम गोपियों के लिए कृष्ण-चर्चा ही एक ऐसा उपाय है जिससे हम जीवन-धारण किए रह सकती हैं, अन्यथा नहीं। अतः यदि तुम बार-बार ज्ञान-योग और निर्गुण-ब्रह्म की चर्चा करते रहोगे तो हमारा जीवन धारण किए रहना कठिन हो जाएगा।

विशेषः-

1. गोपियों के अनन्य कृष्ण-प्रेम का सरल, मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है।
2. मथुरा-नगर की नागरि नारियों के माध्यम से कुब्जा पर करारा व्यंग्य है।
3. मुक्तक शैली का प्रयोग हुआ है।
4. सूक्ष्म भावों की प्रभावी अभिव्यंजना है।
5. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
6. सुन्दर शब्द-योजना का समन्वय हुआ है।
7. प्रसाद-माधुर्य गुणसम्पन्न शैली स्पष्ट है।
8. समस्त पद में अनुप्रास अलंकार है।

।। 51 ।।

अलि हो ! कैसे कहौं हरि के रूप-रसहि?
मेरे तन में भेद बहुत विधि रसना न जानै नयन की दसहि।।
जिन देखे ते आहिं बचन बिनु, जिन्हैं बचन दरसन न तिसहि।
बिन बानी भरि उमगि प्रेमजल सुमिरि वा सगुन-जसहि।।

बार-बार पछितात यहै मन कहा करै जो बिधि न बसहि।
सूरदास अंगन की यह गति को समुझावै षड्पद पसुहि।।५१।।

शब्दार्थः तन = शरीर। रसना = जिह्वा, जीभ। रसहि = दशा को। आहिं = हैं। तिसहि = उसे। सुमिरि = स्मरण, ध्यान करती है। जसहि = यश को। न बसहि = वश में नहीं। विधि = विधाता। छड्पद = षटपदु, भ्रमर। पसुहि = पशु को।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश में गोपियाँ श्रीकृष्ण के स्मरण-ध्यान में खोई हुई हैं किन्तु वे कृष्ण के रूप का बखान करने में असमर्थ हैं क्योंकि आँख देखती है किन्तु जिह्वा के अभाव में वर्णन नहीं कर सकतीं। जबकि जिह्वा वर्णन करने में समर्थ होने पर भी नेत्रों के अभाव में कृष्ण की रूप-माधुरी का जायजा नहीं ले सकती।

व्याख्याः एक गोपी भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कहती है कि हे मधुप ! मैं कृष्ण के रूप-रस-श्रंगार का किस प्रकार वर्णन करूँ? मेरे इस शरीर के विभिन्न अवयवों में परस्पर अत्यधिक विभेद हैं। एक अंग एक ही कार्य कर सकता है। मेरी जिह्वा मेरे नयनों की दशा को नहीं जानती और न ही वह उस दशा का अनुभव कर सकती हैं। नयनों ने कृष्ण की रूप-माधुरी के दर्शन किए हैं किन्तु वे वचनों के अभाव में उसका वर्णन करने में असमर्थ हैं और जिह्वा जो बोलने में, वर्णन करने में समर्थ है, नेत्रों के बिना उस रूप-माधुरी को देखने-अनुभव करने में असमर्थ है। नेत्र बोल न सकने के कारण कृष्ण के उस सगुणरूप और उसके यश का स्मरणकर उमंगित हो प्रेम के आवेग के कारण उमड़ते हुए आँसुओं से भर उठते हैं। अपनी इस विवशता के कारण हमारा मन बारम्बार पश्चाताप से भर उठता है। जब विधाता ही वश में नहीं है तो यह मन कर भी क्या सकता है- अर्थात् भाग्य की विवशता के कारण हम कुछ भी करने के लिए सर्वथा असमर्थ हैं। हमारे भाग्य में अपने प्रियतम कृष्ण से वियोग होना बँधा था, अब हम उसे भुगत रही हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि अपने शरीर के विभिन्न अंगों की विवशता से इस मूढ़ छः पैरवाले भौरे को कौन समझाए? यह प्रेम के महत्त्व एवं प्रभाव को नहीं समझ पाता, यह मूर्ख है, अतः इसको समझाना व्यर्थ है।

विशेषः-

1. गोपियों के अनन्य प्रेम की व्यंजना हुई है।
2. गोपियों के मत में कृष्ण का रूप-सौन्दर्य अनिर्वचनीय है जिसे कवि ने अंगों की विषमता का रूप बाँधकर अत्यन्त मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।
3. ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का उपनिषदों ने भी वर्णन किया है - 'न शक्यतेवर्ण चितुँगिरा सदा स्वयं तदन्तः करवेन गुह्यते।'
4. निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म दोनों का कवि ने सुन्दर ढंग से चित्रण किया है।
5. गोपियों के वाग्वैदग्ध्य का चमत्कार पद में देखा जा सकता है।
6. अमर्श संचारी भाव की व्यंजना की गई है।
7. मुक्तक शैली का मर्मस्पर्शी ढंग से वर्णन मिलता है।
8. सूक्ष्म भावों की प्रभावी अभिव्यंजना हुई है।
9. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
10. शब्द योजना का सरल एवं सरस चित्रण है।

11. संगीतात्मकता का प्रस्तुतीकरण हुआ है।

12. भक्ति रस का परिपाक चित्रण हुआ है।

।। 52 ।।

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन बच क्रम नंदनंदन सौं उर यह द ढ़ करि पकरी।।
जागत, सोवत, सपने सौंतुख कान्ह-कान्ह जकरी।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ! ज्यो करुई ककरी।।
सोई ब्याधि हमैं ले आए देखी सुनी न करी।
यह तौं सूर तिन्हैं लै दीजै जिनके मन चकरी।।५२।।

शब्दार्थः हारिल की लकरी = हारिल नामक पक्षी सदैव अपने पंजों में कोई-न-कोई लकड़ी का टुकड़ा या तिनका पकड़े रहता है। बच = वचन। क्रम = कर्म। उर = हृदय। सौंतुख = प्रत्यक्ष। कान्ह = कन्हैया, कृष्ण। जकरी = रट, धुन। करुई = कड़वी। सोई = वही। ब्याधि = रोग, बीमारी। तिन्हैं = उनको। चकरी = चंचल, चकई के समान सदैव अस्थिर रहनेवाली।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश कृष्ण काव्यधारा के प्रमुख कवि सूरदास जी के भ्रमरगीत का एक अंश है। गोपियाँ उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश को सुनकर अत्यन्त खिन्न हैं। इस पद में वे कृष्ण के प्रति अपने द ढ़ प्रेम को प्रकाशित करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि कृष्ण तो उनके लिए हारिल पक्षी की लकड़ी के समान बन गए हैं।

व्याख्याः सूरदास कहते हैं कि जिस प्रकार हारिल पक्षी कहीं भी हो और किसी भी दशा में हो, सहारे के लिए अपने पंजों में कोई-न-कोई लकड़ी अथवा किसी तिनके को पकड़े रहता है, उसी प्रकार हम गोपियाँ भी निरन्तर कृष्ण के ध्यान में निमग्न रहती हैं। हमने अपने मन, वचन और कर्म से कृष्णरूपी लकड़ी को अपने हृदय में द ढ़ करके पकड़ लिया है अर्थात् श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी हमारे हृदय में गहरे बैठ गई है और अब यह हमारे जीवन का एक अंग बन गई है। हमारा मन जागते, सोते, स्वप्नावस्था में, प्रत्यक्ष रूप में अर्थात् सभी दशाओं में कृष्ण के नाम की रट लगाता रहता है। उन्हीं का स्मरण मात्र एक कार्य हमारा रह गया है जिसे हमारा मन सभी अवस्थाओं में करता रहता है। हे भ्रमर ! तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान उपदेश की बातें सुनकर ऐसा लगता है जैसे हमने कड़वी ककड़ी मुँह में रख ली हो अर्थात् तुम्हारी ये योग ज्ञान की बातें हमारे लिए कड़वी ककड़ी के समान अरुचिकर और अग्रहणीय है। निर्गुण-ब्रह्म के रूप में उद्धव तुम हमारे लिए ऐसा रोग ले आए हो जिसे न तो हमने कभी देखा है, न सुना है और न ही उसका भोग किया है - इस योग-ज्ञानरूपी बीमारी से हम पूर्णरूप से अपरिचित हैं। अतः तुम्हारे लिए यह उचित होगा कि तुम उन लोगों को यह ज्ञान योगरूपी बीमारी प्रदान करो जिनके मन चकई के समान सदा चंचल रहते हैं। वे ही इसका आदर करने में समर्थ हैं।

गोपियों के कहने का तात्पर्य है कि उनके हृदय तो कृष्ण-प्रेम में द ढ़ एवं स्थिर हैं, उनके हृदय में योग-ज्ञान एवं निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी बातों के लिए कहीं कोई स्थान नहीं। उद्धव के योग की बातें वही जन ही स्वीकार कर सकते हैं जो अपनी आस्था में द ढ़ नहीं होते। वे भावावेश में अपनी आस्था और विश्वास को बदलते रहते हैं। अतः ऐसे अस्थिर चित्तवाले लोगों के लिए ही योग का उपदेश उचित है, गोपियाँ तो पहले ही कृष्ण-प्रेम में द ढ़ हैं, उनके लिए योग का उपदेश व्यर्थ है।

विशेषः-

1. गोपियों की विरह की प्रलापावस्था का चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

2. गोपियों के द्वारा निर्गुण के उपदेश के लिए 'व्याधि' शब्द का प्रयोग करवाकर सूरदास जी ने परोक्षरूप से स्वयं निर्गुण-ब्रह्मा की अवहेलना की है। इसके साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि योग-साधना चंचल एवं अस्थिर चित्तवालों के लिए ही उचित है। स्थिर प्रेममार्गियों के लिए यह व्यर्थ है।
3. मुक्तक शैली का प्रयोग हुआ है।
4. ब्रजभाषा का सुन्दर वर्ण किया गया है।
5. वाक्पटुता का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया गया है।
6. संवादात्मक शैली का समन्वयक रूप देखने में आया है।
7. आकर्षक गेयता है।
8. सरल शब्दों का अनुपम प्रयोग हुआ है।
9. 'सुनतहि ..... ककरी' में उपमा अलंकार है।

।। 53 ।।

फिरि फिरि कहा सिखावत मौन?
दुसह बचन अलि यों लागत डर ज्यों जारे पर लौन।।
सिंगी, भस्म, त्वचाम ग, मुद्रा, अरू अवरोधन पौन।
हम अबला अहीर, सठ मधुकर ! घर बन जानै कौन।।
यह मत लै तिनहीं उपदेसौ जिन्हैं आजु सब सोहत।
सूर आज लौं सुनी न देखी पोत सूतरी पोहत।।५३।।

शब्दार्थः सिखावत = सिखाना। दुसह = असह्य, कठोर। जारे पर लौन = जले पर नमक। त्वचाम ग = म गछाला। अवरोधन पौन = सांस रोकना, प्राणायाम करना। पोत = काँच की बनी छोटी गुरिया अथवा मोती। सूतरी = सुतली।

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ सूरदास कृत 'भ्रमरगीत' से ली गई हैं। इसमें कवि ने कहा है कि उद्धव के ज्ञानोपदेश पर गोपियाँ अत्यन्त क्षुब्ध हैं। वे श्रीकृष्ण के विरह के कारण वैसे ही असह्य कष्ट पा रही हैं। उद्धव के बार-बार मौन साधने के उपदेश पर झल्ला उठती हैं और कहती हैं कि-

व्याख्याः सूरदास जी ने प्रस्तुत पंक्तियों में मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। हे उद्धव ! तुम हमें बार-बार मौन साधने का उपदेश क्यों दे रहे हो? कम-से-कम हमें अपना दुःख तो कह लेने दो। हे भ्रमर! तुम्हारे ये योग-साधनारूपी असह्य, कठोर वचन इस प्रकार कष्ट दे रहे हैं जैसे कि जले पर नमक छिड़क दिया हो। कवि का कहने का भाव यह है कि गोपियाँ कृष्ण वियोग में पहले ही दुःखी और घायल हैं, ऊपर से उद्धव को उन्हें कृष्ण-त्यागकर ब्रह्म प्राप्ति के लिए योग-साधना का उपदेश दे रहे हैं, वह ऐसा है जैसा जले पर नमक छिड़ककर घायल को और कष्ट देना।

हे उद्धव ! तुम हमसे सिंगी, भभूत रमाने, म गछाला तथा मुद्रा धारण करके प्राणायाम की साधना करने को कहते हो, किन्तु हे मूर्ख भ्रमर ! क्या तुमने यह भी सोचा है कि हम अबला, अहीर नारियाँ हैं? हमारे लिए यह किस प्रकार सम्भव है कि हम तुम्हारे कठिन योग-साधना से प्राप्त निर्गुण ब्रह्म को अपना लें? योग-साधना तो वन में रहकर अपनायी जा सकती है। हम न घर को त्याग सकती हैं और न ही अपने घर को वन के समान निर्जन कर सकती हैं। यह असम्भव है क्योंकि हमारे घरों में कृष्ण-सम्बन्धी सभी पुरानी स्म तियाँ समाई हुई हैं, जिन्हें हमें भुलाना पड़ेगा और यही हमारे लिए सम्भव नहीं। इसलिए तुम्हारे लिए यही उचित रहेगा कि तुम अपना उपदेश उन्हीं लोगों के

पास ले जाओ जिन्हें आजकल सब कुछ करना शोभा देता है। कवि का कहने का भाव यह है कि उद्धव का यह योग-साधना का उपदेश कुब्जा के लिए ही उचित है क्योंकि वह कृष्ण की निकटता पाकर सभी प्रकार से समर्थ और प्रसन्न चित्त है, जो अनुराग में रत है, उसके लिए ही योग-साधना का उपदेश उचित है, हम तो पहले से ही वैराग्य का जीवन व्यतीत कर रही हैं, इस योग-साधना के उपदेश की वस्तुतः उस कुब्जा को अधिक आवश्यकता है जो कृष्ण के साथ विषय भोग में लिप्त है।

गोपियाँ कहती हैं हमने आज तक किसी भी जन को मोती सुतली में धागा पिरोते हुए न तो देखा है और न सुना है। इस प्रकार यह असम्भव कार्य है। हमें भी तुम योग-साधना द्वारा निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने का उपदेश देकर इसी प्रकार का असम्भव कार्य कर रहे हो। तुमको इस कार्य में सफलता नहीं मिल सकती है।

विशेषः-

1. गोपियों के रुष्ट भाव का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है।
2. 'मौन' शब्द में श्लेष है। योगी वाणी का संयम प्राप्त करने के लिए मौन साधना करते हैं। यह योग का एक उपलक्षण है।
3. गोपियाँ कहती हैं कि हमारी बुद्धि तो सुतली के समान मोटी है और तुम्हारा ज्ञानोपदेश गुरियों के सुराख के समान अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः तुम्हारी यह ज्ञान की सूक्ष्म बातें हमारी बुद्धि ग्रहण करने के सर्वथा अयोग्य है।
4. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
5. प्रसाद-माधुर्य गुणसम्पन्न शैली है।
6. भक्ति रस का परिपाक चित्रण है।
7. सुन्दर लयात्मकता है।
8. शब्दों में स्पष्ट अभिव्यक्ति है।
9. कृष्ण की निष्ठुरता पर करारा व्यंग्य है।
10. वियोग श्रंगार का प्रबल रूप है।
11. गोपियों की वाक्पटुता का चित्रण हुआ है।
12. 'दुसह वचन..... लौन'- उपमा है। तथा 'जारे पर लौन' - लोकोक्ति है।

।। 54 ।।

प्रेमरहित यह जोग कौन काज गायो?
दीनन सों निठुर वचन कहे कहा पायो?
नयनन निज कमलनयन सुन्दर मुख हेरो?
मूँदन ते नयन कहत कौन ज्ञान तेरो?
तामें कहु मधुकर ! हम कहा लैन जाहीं।
जामें प्रिय प्राननाथ नंदनंदन नाहीं?
जिनके तुम सखा साधु बातें कहु तिनकी।
जीवैं सुनि स्यामकथा दासी हम जिनकी।।
निरगुन अविनासी गुन आनि आनि भाखौ।
सूरदास जिय के पिय कहाँ कान्ह राखौ?।।५४।।

शब्दार्थः प्रेम-रहित = अनुराग रहित, नीरस। काज = कार्य। कौन काज = किस कारण, किसलिए। दीनन = दुखियों, विरह-ग्रस्त अबलाओं। निठुर = निष्ठुर, कठोर। निज = अपने। हेरो = निहारो, देखो। लैन = लेने के लिए। तिनकी = उनकी। आनि आनि = अन्य-अन्य। भाखौ = कहते हो। जिय के पिय = प्राणों के प्राण।

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ सूरदास कृत 'भ्रमरगीत' से उद्ध त हैं। इनमें कवि ने गोपियों और उद्धव के वार्तालाप को व्यक्त करते हुए कहा है कि गोपियाँ उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश को सुनकर अत्यन्त झल्लाई हुई हैं। प्रस्तुत पद में वे अपनी तथा कृष्ण-प्रेम सम्बन्धी विवशता का वर्णन करती हुई कह रही हैं।

व्याख्याः गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव ! तुमने इन नीरस योग के गीतों को हमारे सम्मुख क्यों गाया? इनकी यहाँ क्या आवश्यकता थी? इनमें प्रेम का सर्वथा अभाव है, अतः ये हमारे लिए बिल्कुल व्यर्थ है। हम अबलाओं, विरहिणी नारियों के सम्मुख इस प्रकार की कठोर बातें कहकर तुम्हें क्या मिला? हमारे इन नयनों ने कमल नेत्रोंवाले सुन्दर, मनमोहक कृष्ण के सुन्दर मुख के दर्शन किए हैं। यह तुम्हारी किस प्रकार की बुद्धि है। कैसा विवेक है कि तुम हमें इन्हें बंद करके निर्गुण-ब्रह्म की साधना करने को कहते हो? हम अपने नेत्र बंद करके तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म के पीछे क्यों भटकती फिरें? जबकि हम जानती हैं कि इससे कुछ प्राप्त होने वाला नहीं। इससे हमें क्या उपलब्ध होगा? हे मधुकर ! हमें यह बताओ की हम तुम्हारी इस योग-साधना को किस लालसा के वशीभूत होकर अपनाएँ, जबकि हम जानती हैं कि इससे हासिल होने वाला कुछ नहीं, और फिर इसमें नन्दनन्दन कृष्ण को भी हानि है क्योंकि उन्हें त्यागकर ही इसे अपनाना होगा। अतः हमारे लिए तुम्हारी यह साधना निर्रथक है।

हमें उन्हीं कृष्ण की बातें सुनाओ, तुम तो उन्हीं के सच्चे मित्र हो न। हम उनकी दासी एवं सेविका हैं। उन्हीं श्याम की कथा और रस भीनी बातें सुनकर हम जी उठेंगी, हमें प्राण मिल जायेंगे और हमारी विरह-वेदना भी जाती रहेगी। किन्तु तुम उनकी बातें न करके किसी निर्गुण, अविनाशी ब्रह्म के विषय में कुछ अन्य प्रकार की बातें कह रहे हो। ऐसी बातें करते हुए न जाने तुम हमारे प्राणों के प्राण कृष्ण को कहाँ छुपाकर रख लेते हो, उनके सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं बताते।

विशेषः-

1. गोपियों के व्यथित हृदय की हीन भावना का चित्रण प्रस्तुत किया गया है।
2. कृष्ण के प्रति गोपियों की अनन्य भावना की मार्मिकता का सुन्दर चित्रण किया गया है।
3. भक्ति रस का परिपाक वर्णन है।
4. ब्रजभाषा का सरल प्रयोग हुआ है।
5. शब्दों में सुन्दर गेयता है।
6. कृष्ण की निष्ठुरता पर करारा व्यंग्य है।
7. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है।
8. वियोग श ंगार का सुन्दर चित्रण हुआ है।
9. मुक्तक प्रभावी शैली का चित्रण है।
10. पूरे पद में अनुप्रास अलंकार की छटा है।

।। 55 ।।

जनि चालो, अलि, बात पराई।
ना कोउ कहै सुनै या ब्रज में नइ कीरति सब जाति हिराई।।
बूझैं समाचार मुख ऊधो कुल की सब आरति बिसराई।
भले संग बसि भई भली मति, भले मेल पहिचान कराई।।
सुन्दर कथा कटुक सी लागति उपजत उर उपदेस खराई।
उलटी नाव सूर के प्रभु को बहे जात माँगत उतराई।।५५।।

शब्दार्थः जनि = मत, न। पराई = दूसरे की। हिराई = नष्ट की। आरति = दुख, कष्ट, विपदा। बिसराई = भुला दी। कटुक = कड़वी। उर = हृदय। खराई = विरक्ति। उतराई = पारिश्रमिक।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश सूरदास कृत 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। गोपियाँ उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी योग-ज्ञान की बातों को सुनकर अत्यन्त खिन्न और दुखी हैं। वे अपनी वेदना और कृष्ण प्रेम सम्बन्धी अपनी विवशता का वर्णन करती हुई कहती हैं कि -

व्याख्याः गोपियाँ कहती हैं हे अलि! तुम यहाँ कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की बात न चलाओ। क्योंकि यहाँ ब्रज में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की बात न तो कोई करता ही है और न सुनता ही है। तुम्हारे बार-बार इस प्रकार की बात को दोहराने से तुम्हारी वह समस्त नई कीर्ति नष्ट हुई जा रही है जो तुमने यहाँ आकर कृष्ण के सखा के रूप में स्थापित की थी। कवि के कहने का भाव यह है कि कृष्ण को त्याग निर्गुण-ब्रह्म की साधना का उपदेश सुनकर सभी लोग तुम्हारे विरुद्ध होते जा रहे हैं। तुम मथुरा से आए हो और कृष्ण के सखा हो, इसीलिए हम तुमसे यह समाचार पूछती हैं कि क्या उन्होंने अपने कुल की विपदाओं, कष्टों को विस्म त कर दिया है। अर्थात्, तुम अपने मुख से हमें यह बताओ कि क्या उन्हें अब अपने कुल की कोई चिन्ता नहीं। मथुरा जाने पर कृष्ण को अत्यन्त अच्छे लोगों का सत्संग प्राप्त हुआ है जिसके परिणामस्वरूप उनकी अपनी बुद्धि भी श्रेष्ठ हो गई है। अपनी इसी नई बुद्धि के कारण उन्होंने तुम जैसे भले लोगों को हमारे पास भेजकर हमें तुम्हारा परिचय प्राप्त करने का अवसर दिया है। वस्तुतः गोपियाँ यहाँ व्यंग्य करती हुई यह कह रही हैं कि मथुरा में बुरे लोगों की संगति के कारण ही कृष्ण की ऐसी मति हो गई है कि उन्होंने उद्धव को यहाँ ब्रज में योग का संदेश देने के लिए भेजा है।

तुम्हारी अपनी रुचि और विवेक के अनुसार तुम्हारी यह निर्गुण-ब्रह्म की चर्चा सुन्दर है किन्तु हमें कड़वी और अरुचिकर लगती है। इससे हमें विरक्ति सी अनुभव होती है। हमें तुम्हारी निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी योग-ज्ञान की ये बातें तनिक भी भली नहीं लगती। तुम्हारे सखा का अद्‌भुत न्याय हमारी समझ में नहीं आ रहा। नाव तो नदी के मध्य में उलट गई है, यात्री जल में बहे चले जा रहे हैं। मल्लाह उन्हें डूबने से न बचाकर उनसे उतराई का पारिश्रमिक माँग रहा है। कवि का कहने का भाव यह है कि कृष्ण गोपियों से प्रेम की लौ लगाकर उन्हें त्यागकर स्वयं मथुरा चले गए हैं, अब वे मँझधार में हैं। इसी कारण वे अत्यधिक व्याकुल और व्यथित हैं, फिर कृष्ण ने उन्हें योग-साधना के माध्यम से निर्गुण-ब्रह्म की आराधना करने का संदेश भेजकर और भी व्यथित किया है। यह उनका सरासर अन्याय है। और यह ऐसा है जैसे बहे जा रहे यात्रियों से नाव का किराया माँगना।

विशेषः-

1. कृष्ण के प्रति गोपियों का अनूठा प्रेम-भाव उमड़ा है।
2. प्रभावी व्यंग्य योजना है।
3. सुन्दर गेयता-लयात्मकता है।

4. ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है।
5. प्रसाद माधुर्य गुणसम्पन्न शैली है।
6. सूक्ष्म भावों की सहज अभिव्यक्ति हुई है।
7. गोपियों की वाक्पटुता का चित्रण हुआ है।
8. सरल शब्दों का अनुपम प्रयोग है।
9. सम्पूर्ण पद में लोकोक्ति अलंकार है।

।। 56 ।।

याकी सीख सुनै ब्रज को, रे।
जाकी रहनि कहनि अनमिल, अलि, कहत समुझि अति थोरे।।
आपुन पद-मकरन्द सुधारस हृदय रहत नित बोरे।
हमसों कहत बिरस समझौ, है गगन कूप खनि खोरे।।
धान को गाँव पयार तें जानौ, ज्ञान विषयरस भोरे।
सूर सो बहुत कहे न रहै रस गूलर का फल फोरे।।५६।।

शब्दार्थः याकी = इसकी। सीख = योग-साधना का उपदेश, शिक्षा। अनमिल = परस्पर विरोधी। आपुन = स्वयं। नित = प्रतिदिन। बोरे = डूबे। बिरस = रसहीन। खानि = खोदकर। खोरे = नहाए। पयार = पयाल, धान का भूसा। विषयरस = प्रेमरस। भोरे = भोले, बावले। फोरे = फोड़ने पर।

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ सूरदास कृत 'भ्रमरगीत' से संकलित की गई हैं। उद्धव के ज्ञानोपदेश के जारी रहने पर गोपियाँ अत्यन्त क्षुब्ध और दुःखी हैं। वे उद्धव के कथन का खण्डन करके व्यवहार और कथनी में अन्तर स्पष्ट करके प्रस्तुत करती हैं।

व्याख्याः सूरदास जी कहते हैं गोपियाँ खीझकर भ्रमर के माध्यम से उद्धव पर ही व्यंग्य करती हुई कह रही हैं कि इनके योग-साधना सम्बन्धी निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश यहाँ ब्रज में कौन सुनेगा? जिनके रहन-सहन और व्यवहार में अर्थात् करनी और कथनी में इतना विरोध रहता हो, उसकी बातें यहाँ कोई भी सुनना पसंद नहीं करता। हे अलि! हमने यह बात खूब समझ-बूझ ली है और अब अत्यन्त थोड़े शब्दों में अर्थात् संक्षेप में तुमसे कह रही हैं। तुम्हारी तो यह स्थिति है कि तुम स्वयं तो श्रीकृष्ण के चरण-कमलों के मकरन्दरूपी अम त में सदैव अपने हृदय में डूबोए रहते हो। अर्थात् स्वयं तो कृष्ण के प्रेमरूपी अम त में रसलीन रहते हो और हमें कहते हो कि उन कृष्ण को रसहीन-नीरस समझ लो। यह तो उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार आकाश में कुआँ खोदकर उसके जल में स्नान करने का प्रयत्न करना। धान के गाँव का परिचय उसके चारों ओर फैले पयाल-धान के भूसे से ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार तुम्हें देखकर हमें यही लगता है कि तुम स्वयं तो कृष्ण-भक्त हो क्योंकि तुम स्वयं उनके चरणों में अनुराग रखते हुए बावले बने हुए हो। फिर यह क्या तुम्हारे लिए उचित है कि हम जैसी विरहिणी बालाओं को कृष्ण से विमुख होने का उपदेश दो। इस प्रकार स्पष्टतः तुम्हारी कथनी और करनी में अन्तर है। अतः उचित यही है कि तुम हमसे इस विषय में और अधिक चर्चा न करो। अन्यथा इस सम्बन्ध में अधिक बातें करने से वैसी स्थिति हो जाएगी जैसे गूलर के फल को फोड़ने से होती है। गूलर का फल ऊपर से देखने पर अत्यन्त सुन्दर और मीठा प्रतीत होता है किन्तु उसे फोड़ने पर उसमें भरे कीड़ों को देखकर विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी आधार पर ठीक यही रहेगा कि तुम अपनी बात को गुप्त ही रहने दो। हम तुम्हारी वास्तविकता पूर्णतया जान गई हैं, यदि इसे न खुलवाओ तो यह तुम्हारे पक्ष में उचित होगा।

विशेषः-

1. गोपियों ने उद्धव की कथनी और करनी में अन्तर बताकर उसके ढोंगीपन को व्यक्त किया है।
2. ब्रजभाषा को व्यक्त किया है।
3. गोपियों की वाक्पटुता का सुन्दर चित्रण हुआ है।
4. सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति है।
5. मुक्तक शैली का प्रयोग है।
6. सरल शब्दों का अनुपम प्रयोग है।
7. वियोग श्रंगार का प्रबल रूप उभरा है।
8. माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है।
9. सुन्दर लयात्मकता है।
10. सरल और सहज भाषा प्रयोग है।
11. 'आपुन ..... बोरे' - में तद्गुण। 'गगन ..... खोरे-निदर्शना।' अलंकार प्रयोग हुआ है।

।। 57 ।।

निरखत अंक स्यामसुन्दर के बारबार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै है गई स्याम स्याम की पाती।।
गोकुल बसत संग गिरिधर के कबहूँ बयारि लगी नहिं ताती।
तब की कथा कहा कहौं, ऊधो, जब हम बेनुनाद सुनि जाती।।
हरि के लाड़ गनति नहिं काहू निसिदिन सुदिन रासरसमाती।
प्राननाथ तुम कब धौं मिलोगे सूरदास प्रभु बालसंघाती।।५७।।

शब्दार्थः निरखत = देखते ही। अंक = अक्षर, पत्री। लावति = लगाती है। लोचन = नेत्र। जल = आँसू। कागद-मसि = कागज पर की स्याही। पाती = चिट्ठी, पत्री। बयारि = हवा। ताती = गरम। बेनुनाद = मुरली की मधुर ध्वनि। लाड़ = प्रेम। गनति = गिनती, समझती। काहू = किसी को। निसिदिन = रात-दिन। रासरसमाती = रास-रंग में उन्मत्त। बालसंघाती = बालपन के साथी, बालमित्र।

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ कृत 'भ्रमरगीत' से संकलित की गई हैं। उद्धव और गोपियों के वार्तालाप के संदर्भ में कवि ने लिखा है। कृष्ण ने उद्धव को गोपियों के नाम पर एक पत्र भी दिया था। जिसमें उन्होंने अपना संदेश प्रेषित किया था। कृष्ण की चिट्ठी को पाकर गोपियाँ अत्यन्त भाव-विह्वल हो उठी थीं। सूरदास ने गोपियों की उस समय की स्थिति का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन प्रस्तुत किया है।

व्याख्याः सूरदास जी ने गोपियों के हृदयग्राही भावावेश को निरूपित करते हुए कहा है कि कृष्ण के पत्र में लिखे उनके अक्षरों को देख-रेखकर गोपियाँ प्रेम-विह्वल हो गईं और भावावेश में उस पत्र को बार-बार अपने हृदय से लगाने लगी। प्रेमावेश के कारण उनके नेत्रों में आँसू भर आए, अश्रुधारा से श्याम द्वारा भेजी गई चिट्ठी भीग गई। इस प्रकार नेत्रों के जल से कागज पर की स्याही का मिलन हो जाने पर सारे कागज पर स्याही फैल गई जिससे पूरी की पूरी चिट्टी काली हो गई। इस पत्र को निहारते ही गोपियों की पूर्वकाल की स्म तियाँ साकार हो उठीं। वे उद्धव को

बताने लगीं कि जब हम यहाँ गोकुल में गिरिधर कृष्ण के साथ निवास करती थीं, तो हमें वायु भी कभी गर्म नहीं लगी अर्थात् हमें कभी किसी प्रकार का कष्ट अथवा विपदा नहीं झेलनी पड़ी।

हे उद्धव ! हम तुम्हें तब की क्या-क्या बताएँ। जब हम कृष्ण की मुरली की मधुर ध्वनि सुनकर उनके पास वन में भागी चली जाती थीं, तब हमें उनके साथ अनेक प्रकार की रास क्रीड़ाओं को करने का आनन्द प्राप्त होता था। उस समय कृष्ण के प्रेम को पाकर हम इतनी गर्वित अनुभव करती थीं कि अपने सम्मुख किसी को कुछ नहीं समझती थीं। वे दिन हमारे जीवन के अत्यन्त श्रेष्ठ दिन थे। हम रात-दिन रास रंग में उन्मत्त रहती थीं। चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द था। इस प्रकार प्राचीन काल की स्म तियाँ जाग जाने पर गोपियाँ अत्यन्त भाव-विह्वल और कातर हो उठती थीं और कृष्ण को पुकारते हुए कहती हैं कि हे प्राणनाथ! हे बालपन के साथी ! अब तुम हमें कब दर्शन दोगे? हम कब तुमसे मिल भेंट कर सकेंगी?

विशेषः-

1. 'है गई स्याम की पाती' में कवि ने थोड़े शब्दों में अधिक कह डाला है। कृष्ण की चिट्ठी ही गोपियों के लिए कृष्ण बन गई है और इससे गोपियों की पूर्व स्म ति जाग त हो उठी है।
2. मुक्तक शैली का प्रयोग हुआ है।
3. वाक्पटुता का सुन्दर रूप है।
4. संवादात्मक शैली का प्रयोग है।
5. सरल, बोधगम्य ब्रज भाषा का प्रयोग किया गया है।
6. श्रीकृष्ण की निष्ठुरता पर करारा व्यंग्य है।
7. सुन्दर सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति है।
8. वियोग श ंगार का प्रबल रूप है।
9. भक्ति रस का परिपाक वर्णन हुआ है।
10. सुन्दर लयात्मकता है।
11. सार्थक शब्द-योजना का मार्मिक चित्रण हुआ है।
12. 'स्याम-स्याम' यमक। 'लोचन-जल ..... पाती' तद्गुण। 'गिरिधर' को सभिप्राय मानते हुए परिकरांकुर में अलंकार का सुन्दर चित्रण है।

।। 58 ।।

मोहीं अलि दुहूँ भाँति फल होत।
तब रस-अधर लेति मुरली, अब भई कुबरी सौत।।
तुम जो जोगमत सिखवन आए भस्म चढ़ावन अंग।
इन बिरहिन में कहूँ कोउ देखी सुमन गुहाये मंग?
कानन मुद्रा पहिरि मेखली धरे जटा आधारी।
यहो तरल तरिवन कहाँ देखे अरु तनसुख की सारी।।
परम बियोगिनि रटति रैन दिन धरि मनमोहन-ध्यान।
तुम तो चलो बेगि मधुबन को जहाँ जोग को ज्ञान।।
निसिदिन जीजतु हैं या ब्रज में देखि मनोहर रूप।
सूर जोग लै घर घर डोलौ, लेहु लेहु धरि सूप।।५६।।

शब्दार्थः दुहूँ भाँति = दोनों अवस्थाओं में। जोगमत = योग-साधना। सुमन = पुष्प। मंग = माँग। गुहाये = सजाई हो। कानन = कानों में। मेखली का घनी तन सुख = एक प्रकार का झीना कपड़ा। सारी = साड़ी। जोग को ज्ञान = योग के ज्ञाता, पारखी। निसिदिन = रात-दिन। जीजतु = जीती हैं।

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ सूरदास कृत 'भ्रमरगीत' से उद्ध त हैं। कवि ने लिखा है कि गोपियाँ उद्धव पर व्यंग्य करना छोड़कर अपने भाग्य को दोष देती हैं। कृष्ण से प थक् होना उनके भाग्य में बँधा था, इसमें कृष्ण का अथवा किसी अन्य का कोई दोष नहीं। उनके मत में जब कृष्ण यहाँ थे तब मुरली उनके ओष्ठों का रस लेती थी, हम इस सुख से वंचित थीं, अब वैसा सुख वहाँ मथुरा में कुब्जा को प्राप्त है।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे भ्रमर! हमें तो दोनों अवस्थाओं में - कृष्ण के सामीप्य में और उनसे दूर रहकर एक जैसा ही फल मिला है। जब कृष्ण यहाँ ब्रज में हमारे निकट थे, तो मुरली सदा उनके ओठों पर विराजमान रहती थी और उनके अधरों का पान किया करती थी। हम इस अम त से वंचित थीं, इस प्रकार कृष्ण का सानिध्य प्राप्त होने पर भी हम उनके ओष्ठ-सुधारस को पान करने के लिए तड़पती रहती थीं। अब मथुरा में मुरली के स्थान पर कुब्जा हमारी सौत बन गई है और कृष्ण के सामीप्य का पूर्ण लाभ उठा रही है। हे उद्धव ! तुम जो यहाँ हम विरहिणियों को योग-साधना द्वारा प्राप्त निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देने आए हो और हमारे शरीर पर भस्म, भभूत का लेप चढ़वाना चाहते हो, तो क्या तुमने हममें से किसी तरह संतप्त गोपी को अपनी माँग में फूल चढ़ाए हुए देखा है? तुम हमें उपदेश दे रहे हो कि हम अपने कानों में मुद्रा पहनकर मूंज की करधनी, जटाजूट और अधारी धारण करें। यह तुम हमें क्यों कह रहे हो, क्या तुमने हममे से किसी को अपने कानों में सदैव हिलते-चमकते रहने वाले चंचल कर्णफूल तथा अपने शरीर पर तनसुख कपड़े से बनाई हुई झीनी साड़ी धारण किए हुए देखा है? हम तो कृष्ण-प्रेम के विरह में संतप्त हैं और हमने पहले ही शारीरिक सम्पूर्ण साज-सज्जा तथा श ंगार-प्रसाधनों को छोड़ दिया है और पहले ही हम तो योगिनी बनी हुई हैं।

इस प्रकार परमयोगिनी बनी हुई गोपियाँ रात-दिन मन-मोहन श्रीकृष्ण का ध्यान करती हुईं उन्हीं का नाम रटने लगी हैं, जबकि तुम उन्हें ब्रह्म का ध्यान करने का उपदेश दे रहे हो। यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है। इसलिए उचित यही है कि तुम शीघ्र ही मथुरा नगरी लौट जाओ क्योंकि वहाँ तुम्हारे इस योग के अनेक पारखी मिलेंगे। इसलिए वहीं तुम्हारे इस योग का आदर-सम्मान हो सकेगा। हम गोपियाँ ब्रज में तो रात-दिन कृष्ण के मनोहर रूप को देखकर और स्मरण करके जीवित रह रही हैं। तुम हे उद्धव ! व्यर्थ ही यहाँ अपने योग को लादे हुए घर-घर घूम रहे हो और अपना समय नष्ट कर रहे हो। यहाँ तुम्हारे योग का कोई ग्राहक नहीं। तुम उसी प्रकार सबको अपने योग की विशेषताएँ समझाकर इस निस्सार वस्तु को ग्रहण करने का आग्रह कर रहे हो जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने ग्राहकों से अपने माल को सूप से भली-भाँति छान-फटक कर खरीदने का आग्रह करे। परन्तु इतना करने पर भी हम तुम्हें विश्वास दिलाती हैं कि यहाँ तुम्हें इस व्यर्थ की चीज को कोई ग्राहक, खरीददार प्राप्त नहीं होगा। वस्तुतः यह योग इतना व्यर्थ और बेकाम है कि ब्रज में इसकी कोई उपयोगिता नहीं। हम लोग तो कृष्ण के नाम-स्मरण से ही प्रसन्न हैं।

विशेषः-

1. कुब्जा और मुरली के प्रति गोपियों का असूयाभाव प्रकट होता है।
2. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
3. गोपियों की वाक्पटुता का मार्मिक चित्रण है।

4. सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।
5. सरल शब्दों का अनुपम प्रयोग है।
6. मुक्तक शैली का सुन्दर समन्वय देखा जा सकता है।
7. आकर्षक भाव-अभिव्यंजना है।
8. सरल बोधगम्य भाषा का प्रयोग हुआ है।
9. भक्ति रस का परिपाक चित्रण है।
10. सुन्दर लयात्मकता।
11. अंतिम पंक्ति में निहित व्यंग्य से योग पर गहन प्रहार हुआ है।

।। 59 ।।

बिलग जनि मानौ हमरी बात।
डरपति बचन कठोर कहति, मति बिनु पति यों उठि जात।।
जो कोउ कहत जरे अपने कछु फिरि पाछे पछितात।
जो प्रसाद पावत तुम ऊधो कृस्न नाम ले खात।।
मन जुतिहारो हरिचरनन तर अचल रहत दिनरात।
'सूर स्याम ते जोग अधिक, केहि कहि आवत यह बात?।।५६।।

शब्दार्थः बिलग जनि मानौ = बुरा मत मानो। पति उठि जात = मर्यादा जाती रहती है। जरै अपने = अपना जी जलने पर। रहत = रहता है। तर = निचे।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश सूरदास कृत 'भ्रमरगीत' से संकलित किया गया है। इस पद में गोपियाँ उद्धव की कृतघ्नता और एहसान-फरामोशी पर आक्षेप करती हुई कहती हैं।

व्याख्याः हे उद्धव! तुम हमारी बात का बुरा मत मानना। हमें तुमसे कठोर वचन कहते हुए डर लगता है, क्योंकि विवेकहीन बातें करने से व्यक्ति की मर्यादा उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार तुम्हारी हो गई है, क्योंकि तुम हमसे कृष्ण को त्यागने और निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने की बातें कर रहे हो। यदि कोई अपने मन के पीड़ित होने पर कुछ ऊट-पटांग बातें कह भी देता है तो फिर उसके लिए मन-ही-मन पछताना पड़ता है, अर्थात तुमने हमें दुःखदायी बातें सुनाई थीं, इसलिए हमारे मुख से कठोर वचन निकल गए थे, जिनके लिए हमें पश्चाताप हो रहा है।

हे उद्धव! तुम्हें यहाँ जो इतना प्रसाद मिल रहा है, वह केवल कृष्ण के नाम के कारण ही मिल रहा है और इसी कारण तुम उस सम्मान का उपभोग कर रहे हो। तुम्हारा मन रात-दिन कृष्ण के चरणों में द ढ़ बना रहता है। इतने पर भी तुमसे ऐसी बात कैसे कही जा सकी कि ''योग कृष्ण से श्रेष्ठ है।'' भाव यह है कि कृष्ण-भक्त होने पर भी तुम ऐसी बातें कर रहे हो। क्या तुम्हारी कृतघ्नता नहीं है।

विशेषः-

1. गोपियों का कृष्ण के प्रति अनूठा प्रेम-भाव है।
2. गंभीर व्यंग्य द ष्टिगोचर होता है।
3. मुक्तक शैली का वर्णन है।
4. सूक्ष्म भावों की प्रभावी अभिव्यंजना है।

5. सुन्दर शब्द योजना हुई है।
6. माधुर्य प्रसाद गुण सम्पन्न शैली है।
7. सुकर गेयता है।
8. शब्द-योजना अति सुकर है।
9. गोपियों की वाक्पटुता का चित्रण हुआ है।
10. ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है।

।। 60 ।।

अपनी-सी कठिन करत मन निसिदिन।
कहि कहि कथा, मधुप, समुझावति तदपि न रहत नंदनंदन बिन।।
बरजत श्रवन संदेस, नयन, जल, मुख बतियाँ कछु और चलावत।
बहुत भाँति पित धरत निठुरता सब तजि और यहै जिय आवत।।
कोटि स्वर्ग सम सुख अनुमानत हरि-समीप-समता नहिं पावत।
थकित सिंधु-नौका के खग ज्यों फिरि फिरि फेरि वहै गुन गावत।।
जे बासना न बिदरत अन्तर तेइ तेइ अधिक अनुअर दाहत।
सूरदास परिहरि न सकत तन बारक बहुरि मिल्यो है चाहत।।६०।।

शब्दार्थः अपनी-सी = अपने जैसी, अपने समान, भरसक प्रयत्न करना। निसिदिन = दिवा-रात्रि। तदपि = तो भी। बरजत = रोकती हैं। जिय = हृदय। खग = पक्षी। फिरि-फिरि = लौटकर। फेरि = पुनः। बासना = इच्छा। बिदरत = फटना। अन्तर = हृदय। अनूअर = निरन्तर। दाहत = दग्ध करना। परिहरि = त्यागना, छोड़ना। तन = शरीर। बारक = एक बार। बहुरि = पुनः।

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ सूरदास कृत 'भ्रमरगीत' से संकलित की गई हैं। कवि ने गोपियों के संदर्भ में कहा है कि उन्हें कृष्ण-प्रेम के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी शान्ति नहीं मिलेगी। भुलाने का प्रयत्न करती हुई गोपियाँ असफल हो अपनी विवशता का वर्णन कर रही हैं।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव से अपनी विवशता का वर्णन करते हुए कह रही हैं कि हे उद्धव ! हम रात-दिन अपने मन को अपने समान कठोर बने रहने का भरसक प्रयत्न करती रहती हैं, हम भाँति-भाँति की अन्य कथाएँ कहकर भी अपन मन को श्री कृष्ण से विमुख होना चाहती हैं। किन्तु यह चंचल मन विवश हो सभी प्रयत्नों को निष्फल कर देता है। हम तो इसे समझाकर हार गई हैं। यह नन्दनंदन कृष्ण के बिना रहता ही नहीं। सदैव उनकी स्म ति याद में भावविभोर रहता है हम अपने कानों को कृष्ण का संदेश सुनने से रोकती हैं। उनकी स्म ति से याद कर आँखों में आँसू न आए इसका प्रयत्न करती हैं श्री कृष्ण को छोड़ अन्य विषयों पर बैठकर आपस में वार्त्ता करती हुई कहती है कि हम तरह-तरह से अपने निष्ठुर मन को कठोर एवं द ढ़ बनाने का प्रयत्न करती हैं- किन्तु अन्य वार्ता विषयक प्रसंगों को छोड़कर हमारे हृदय में श्रीकृष्ण के सानिध्य से जो सुख की अनुभूति होती है उसकी तुलना कल्पनायुक्त करोड़ों स्वर्गों में प्राप्त सुखों से भी नहीं की जा सकती अर्थात् कृष्ण के सानिध्य से प्राप्त सुख ही सर्वश्रेष्ठ है।

इस समय हमारी मानो दशा समुद्र (सागर) में चलनेवाली जहाज (नौका) में बैठे थके उस पक्षी के समतुल्य है जो बार-बार उड़कर इधर-उधर विचरण करता है किन्तु अन्यत्र कोई स्थान (आश्रय) न पाकर थककर जहाज पर लौट आता है। हमारा मन भी उसी पक्षी की भाँति (समान) क्षण भर

के लिए अन्य प्रसंगों (बातों) में आकर्षण ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। किन्तु उसे वहाँ कोई सुख नहीं मिलता परन्तु बार-बार लौटकर उन्हीं (कृष्ण) के गुण गाने लगता है। कृष्ण से पुनर्मिलन की आस लगाए हमारा हृदय विदीर्ण (वियोग) नहीं हो पाता वह प्राणों को धारण किए हुए है। इसी इच्छा के कारण हमारा हृदय कृष्ण वियोग से निरन्तर दग्ध (दुखित) रहता है। हम म त्यु की चाहत न रखते हुए अपने शरीर को त्यागना नहीं चाहती हैं क्योंकि यह शरीर हृदय से श्रीकृष्ण के मिलन की आश लगाये संयोग-सुख की अनुभूति रखता है।

विशेषः-

1. कृष्ण प्रेम में विवश बनी गोपियों का प्रभावशाली चित्रण है। वे प्रयत्न करने पर भी कृष्ण को भुलाने में स्वयं को विवश पाती हैं। यह उनके प्रेम की एकान्त निष्ठा का प्रतीक है।
2. मिलन की आशा गोपियों को विरह की मरणान्तक व्यथा को भी सहन करने की शक्ति प्रदान कर रही है।
3. संवादात्मक शैली का वर्णन है।
4. संगीतात्मकता।
5. सूक्ष्म भावों की प्रभावी अभिव्यंजना है।
6. गोपियों की अन्तर्मनोदशा का चित्रण।
7. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
8. 'थकित ..... गावत' जैसे भाव में कवि ने अन्यत्र भी व्यक्त किया है -

   मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै।
   जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै।

9. अलंकार - 'थकित खग' में उपमा अलंकार है।

।। 61 ।।

बिलग जनि मानौ हमरी बात।
डरपति वचन कठोर कहत, मति बिनु पतियों उठि जात।।
जो कोउ कहत जरे अपने कछु फिरि पाछे पछितात।
जो प्रसाद पावत तुम ऊधो कृष्ण नाम लै खात।।
मनजुतिहारो हरि चरनन तर अचल रहत दिन रात।
'सूर श्याम ते जोग अधिक' केहि कहि आवत यह बात।।६१।।

शब्दार्थः बिलग = बुरा। जनि = मत। मति = बुद्धि, विवेक। पति मर्यादा = लोक लज्जा। उठि जात = नष्ट हो जाती है। जरे अपने = अपना जी जलने पर। प्रसाद = सम्मान। तर = नीचे।

प्रसंगः गोपियाँ उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप उन्हें पर्याप्त जली-कटी सुनाती हैं कि वे उनकी बात का बुरा न माने उनका कहना है कि-

व्याख्याः हे उद्धव ! तुम हमारी बातों का बुरा मत मानना और न ही इन्हें अन्यथा लेना। वस्तुतः तुम्हें कठोर वचन कहने में हमें भय लगता है। क्योंकि विवेकहीन वार्ता करने से तुम्हारी तरह व्यक्ति की मर्यादा ही नष्ट हो जाती है। और न ही उसे लोक-लाज का ध्यान रहता है। तुम अपनी मर्यादा और लोक लज्जा दोनों खो चुके हो। इसी कारण तो हमें कृष्ण को त्यागकर निर्गुण ब्रह्म की ओर प्रव त्ति करना चाहते हो यदि कोई व्यक्ति अपने मन के जल जाने अर्थात् वियोग से पीड़ित हो जाने

पर कोई उल्टी-सीधी बात कह बैठता है तो बाद में उसके लिए पश्चाताप ही शेष रह जाता है। तुमने आते ही हमें अपने उपदेश के कारण दुःखी किया जिससे हम लोग उत्तेजना में आकर तुम्हारे लिए कठोर वचनों का प्रयोग कर बैठी, अब हमें इस बात का खेद है और हम हृदय से पछता रही हैं।

हे उद्धव ! यहाँ आने पर तुम्हें जो सम्मान, आदर, सत्कार मिला है, वह मात्र इसलिए कि तुम कृष्ण के सखा हो। तुम भी कृष्ण का नाम लेकर ही इस सम्मान (आदर) का भोग कर रहे हो, तुम कृष्ण के सखा (मित्र) हो सदा उनके सानिध्य में निवास कर रहे हो- अर्थात् तुम्हारा मन रात-दिन कृष्ण के चरणों में द ढ़ता से ध्यान मग्न रहता है फिर यह कहना किस प्रकार सम्भव हो सका कि योग निर्गुण-ब्रह्म, कृष्ण से श्रेष्ठ है - अर्थात् श्रेष्ठ कृष्ण भक्त होते हुए भी तुम उनके विषय में किस प्रकार अनर्गल (व्यर्थ) की बातें कह रहे हो। यह तो तुम्हारी भक्ति को शोभा नहीं देता और तुम्हें कृतघ्न (दयालु) सिद्ध करता है।

विशेषः-

1. गोपियों का उक्त पंक्तियों में अनपढ़, गँवार, वाक्चातुर्य अतुलनीय है।
2. युक्तिपूर्ण शब्दों का प्रयोग वाक्पटुता का सुन्दर रूप है।
3. कृष्ण भक्ति की प्रधानता।
4. कृष्ण के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न करते हुए दूसरी ओर उन्हें कृतघ्न कहकर लज्जित भी कर रही है।
5. सरल बोद्धगम्य ब्रज भाषा का प्रयोग है।
6. निर्गुण ब्रह्म की उपासना की ओर प्रव त्त करना है।
7. श्री कृष्ण की निष्ठुर प्रव त्ति पर करारा व्यंग्य है।

।। 62 ।।

काहे को रोकत मारग सूधो?
सुनहु मधुप ! निर्गुन - कंटक ते राजपथ क्यों रूधो?
कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कै कही स्याम जू धौं।
वेद पुरान सम ति सब ढूढ़ौ जुवतिन जोग कहूँधों?
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाछ ने दूधो।
सूर-सूर अक्रूर गए लै ब्याज निवेरत ऊधो।।६२।।

शब्दार्थः सूधो = सीधा, सरल, अकंटक। राजपथ = राजपथ के समान अकंटक, बाधा रहित। रूंधो = रोकते हो। कै = यातो। सिखै = सिखाकर। पठाए = भेजे गए हो। धौ = संभवतः। सम ति = स्म ति। जुवतिन = युवतियाँ, नारियाँ। परेखो = बुरा मानना। सूर = मूलधन, मूलराशि। निवेरत = उगाहने, वसूल करने।

प्रसंगः गोपियों की द ष्टि में प्रेम का मार्ग सरल, सीधा और अकंटक होता है। किन्तु उद्धव बार-बार उन्हें योग और निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर कंटक युक्त टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। इसलिए वे खीझ उठती हैं और उद्धव से कहती है कि वे उनके सीधे-सादे प्रेम मार्ग में बाधा उपस्थित न करे अर्थात् उनके प्रेमयुक्त रास्ते को अवरुद्ध न करें।

व्याख्याः हे उद्धव! तुम हमारे सीधे-सादे सरल प्रेम मार्ग में क्यों बाधा उत्पन्न कर रहे हो? योग-मार्ग का उपदेश देकर हमें प्रेम-मार्ग से विचलित न करो। हे मधुप ! हमारी बात सुनो राजपथ के समान प्रशस्त बाधा रहित, अकंटक प्रेम-मार्ग को तुम कंटकपूर्ण, अनुचित और कष्टदायक योग-मार्ग से

क्यों अवरुद्ध कर रहे हो? तुम्हारा योग-मार्ग अनेक कठिन साधनाओं के कारण असाध्य है, इसलिए हम अपने सीधे-सादे, प्रेम-मार्ग को त्यागकर उसे नहीं अपना सकतीं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कुब्जा ने हमारे प्रति अपनी ईर्ष्या के कारण तुम्हें हमारे पास सिखा-पढ़ाकर भेजा है जिससे हम कृष्ण-प्रेम को भूल योग में भटकते रहें। वह कृष्ण के प्रेम का एकांकी भोग करें, उनके साथ रँगरेलियाँ मनाएँ, क्रीड़ा-विहार करें। उसे इस बात का भय है कि कहीं कृष्ण पुनः गोपियों की सुधि न कर बैठें और उसे त्यागकर हमारे पास न लौट आयें। अर्थात् उसे अपने प्रेम पर विश्वास नहीं जबकि हमें है। सम्भवतः कृष्ण ने ही यह सन्देश देकर तुम्हें यहाँ हमारे पास भेजा है। जिससे वह निष्कंटक (स्वतंत्ररूप से) कुब्जा के प्रेम को भोग सकें।

हे उद्धव! वेद पुराण स्म तियाँ आदि सम्पूर्ण धार्मिक सार-ग्रंथों का अध्ययन करके देख लो। उनसे कहीं भी यह स्पष्ट नहीं होता कि कोमल नारियों को योग की शिक्षा देनी चाहिए। हम युवतियाँ तो प्रेम करने की वस्तु हैं, हमें क्या योग शोभा देगा? अब हम तुम्हारे जैसे दूध और छाछ में अन्तर न जाननेवाले मूर्ख की बात का क्या बुरा मानें? अर्थात् हमारे कृष्ण दूध के साथ सर्वगुण सम्पन्न हैं, तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म छाछ (मट्ठा) के समान सारहीन व्यर्थ हैं, किन्तु तुम उन दोनों में स्थित स्पष्ट अन्तर को समझ नहीं पा रहे हो, अतः तुम मूर्ख हो। हम तुम्हारी बात का बुरा नहीं मानती।

हे उद्धव! मूलधन (कृष्ण) को तो अक्रूर यहाँ से ले गए थे क्या तुम अब यहाँ ब्याज उगाहने आए हो? अर्थात् कृष्णरूपी मूलधन को अक्रूर हमसे छीनकर ले गए, अब यहाँ उनकी स्म तिमात्र शेष है क्या तुम ब्याज के रूप में उस स्म ति को भी हमसे छीन लेना चाहते हो? इसी कारण हमें निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो।

विशेषः-

1. उक्त पद में प्रेम-मार्ग, योग मार्ग की अद्वितीय तुलना की गई है।
2. स्वछन्द कवि घनानन्द भी प्रेम मार्ग को अत्यन्त सीधा और सरल स्वीकारते हैं-

   'अति सूधो सनेह को मारग है
   जहाँ नेकहु सपानप बाँक नहीं है।'

3. 'सूर ..... उधौ' पँक्ति के भाव को रत्नाकर जी ने भी अपने 'उद्धव शतक' में पल्लवित किया है-

   'लै गयो अक्रूर कूर तब सुख-मूर कान्ह,
   आए तुम आज प्रान-ब्याज उगहन कौ।'

4. समस्त पद में 'उग्रता' नामक संचारी भाव व्याप्त है।
5. गोपियों की वाक्पटुता का मार्मिक चित्रण है।
6. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
7. निर्गुण ब्रह्म का उपदेश, कृष्ण प्रेम का सरल मार्मिक हृदयस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत किया गया है।
8. शब्द योजना का सरल मार्मिक चित्रण है।
9. अलंकार- (क) 'निर्गुन कंटक' - रूपक
   (ख) 'राजपथ' - रूपकातिशयोक्ति।

(ग) 'मूर उद्यौ' - लोकोक्ति

।। 63 ।।

बातन सब कोऊ समुझावै।
जेहि विधि मिलन मिलैं वै माधव सो विधि कोउ न बतावै।।
जद्यपि जतन अनेक रचीं पचि और अनत बिरमावै।
तदपि हठी हमारे नयना और न देखे भावै।।
बासर-निसा प्रान बल्लभ तजि रसना और न गावै।
सूरदास प्रभु प्रेमहिं लगि करि कहिए जो कहि आवै।।६३।।

शब्दार्थः बातन = बातों द्वारा। पचि = थक गई। अनत = अन्यत्र। बिरमावै = विश्राम करते हैं। भावे = अच्छा लगता है। बासर-निशा = रात-दिन। तजि = त्याग, छोड़कर। रसना = जिह्वा। लगि = नाते से।

प्रसंगः उद्धव के निर्गुण ब्रह्म के उपदेश की प्रतिक्रिया स्वरूप गोपियाँ उसे अत्यन्त बुरा-भला कहती हैं और उन्हें वहाँ से चले जाने को बाध्य करती हैं किन्तु इस पर भी उद्धव अपना उपदेश जारी रखते हैं इस पर गोपियाँ खीज उठती हैं।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव के उपदेश पर खीझ उठती हैं कि सब लोग बातों से ही हमें समझाने का प्रयत्न करते हैं अर्थात् सभी लोग बातों-बातों में ही रिझाना जानते हैं किन्तु कोई ऐसा उपाय नहीं बताता जिससे श्रीकृष्ण से हमारा मिलन सम्भव हो सके, हम तो श्रीकृष्ण के दर्शन की प्यासी हैं। किन्तु लोग हमें कृष्ण के दर्शन का उपाय न बताकर केवल बातों से ही हमारा परितोष करना चाहते हैं। हमने उनसे मिलने के अनेक प्रयत्न किए किन्तु वह अन्यत्र अर्थात् कुब्जा के सानिध्य (देखरेख) में मथुरा में आनन्दपूर्ण विहार करते रहे, उन्होंने हमारी सुधि (खोज-खबर) नहीं ली। इतने पर भी हमारे हठीले नेत्र श्रीकृष्ण के दर्शनों के प्यासे हैं, इन्हें किसी अन्य को देखना रुचिकर नहीं लगता। हमारी जीभ रात-दिन प्राणप्रिय (प्रियतम) कृष्ण के गुणों का गान करती है उन्हें छोड़कर अन्य किसी के गुणगान में इसका मन नहीं रमता। यह सदैव उन्हीं के नाम की रट लगाए रखती है।

हे उद्धव ! तुम हमारे इस कृष्ण-प्रेम को चाहे जो समझो और चाहे जो कहो, इससे हमारे लिए कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला, हम तो मन से वचन से और कर्म से एकमात्र कृष्ण की ही अनुरागिनी हैं; अतः तुम्हारे उपदेशों का हम पर कोई प्रभाव पड़ना सम्भव नहीं।

विशेषः-

1. सम्पूर्ण पद में अमर्श नामक संचारीभाव व्याप्त है।
2. गोपियों की विवशता और कातरता की स्पष्ट अभिव्यक्ति है।
3. उक्त पद में गोपियों की एकान्त प्रेम-निष्ठा।
4. कृष्ण के प्रति एकान्त समर्पण का भाव दर्शनीय है।
5. गोपियाँ कृष्ण की अनुरागिनी हैं।
6. गोपियों की मनोदशा का मार्मिक चित्रण है।
7. सुन्दर लयात्मकता।
8. सरल बोधगम्य भाषा का प्रयोग।
9. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।

10. वियोग श्रंगार रस का मार्मिक चित्रण।

।। 64 ।।

निर्गुण कौन देस को वासी?
मधुकर! हँसि समुझाय, सौंह दै बूभति सांच, न हाँसी।।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी?
कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी।।
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगो गाँसी।
सुनत मौन है रह्यो ठग्यो सो सूर सबै मति नासी।।६४।।

शब्दार्थः वासी = निवासी। मधुकर = भ्रमर। सौंह दै = सौगंध देकर। बूभति = पूछती हैं। सांच= सत्य बात। हाँसी = हँसी नहीं कर रहीं। जनक = पिता। जननि = माता। नारि = पत्नी। दासी = सेविका। वरन = वर्ण, रंग। भेस = वेश-भूषा। गाँसी = कपट की बात। नासी = नष्ट हो गई। मति = बुद्धि, विवेक।

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से ली गई हैं। ब्रज की गोपियों को उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म पर विश्वास नहीं, अतः वे उनसे निर्गुण-बह्म की विषयक अत्यन्त मनोरंजनपूर्ण प्रश्न पूछकर उद्धव की हँसी उड़ा रही हैं। ऐसे प्रश्नों के समक्ष उद्धव का मौन होना स्वाभाविक है। सूरदास लिखते हैंः-

व्याख्याः गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से पूछ रही हैं कि हे उद्धव! तुम्हारा यह निर्गुण-ब्रह्म वस्तुतः कौन से देश में निवास करता है? क्या उसका कोई पता ठिकाना भी है? हम तो अपने सगुण कृष्ण के निवास-स्थान से भली-भाँति परिचित हैं। हे मधुपरूपी उद्धव, हमें उसके निवास स्थान के विषय में प्रसन्न होकर भलीभाँति समझा दे। हम कसम खाकर कहती हैं कि हमें यह नहीं मालूम, इसी कारण हम तुमसे सच-सच पूछ रही हैं, हम तुमसे कोई हँसी नहीं कर रहीं, अतः तुम क्रोध न करके हमें निर्गुण-ब्रह्म के निवास के सम्बन्ध में ठीक-ठीक बता दो। तुम हमें यह भी बताओ कि तुम्हारे ब्रह्म का पिता कौन है, और उसकी जननी कही जाने का श्रेय किसे है, कौन उसकी पत्नी है, और कौन उसकी दासी है जो दिवा-रात्रि उसकी सेवा-टहल में व्यस्त रहती है? उसका रूप-रंग और वेश-भूषा किस प्रकार की है। और किस प्रकार के कार्यों में उसकी रुचि है।

इन पँक्तियों में गोपियाँ उद्धव को सावधान करती हुई कहती हैं कि यदि उसने निर्गुण-ब्रह्मविषयक उक्त बातों के सम्बन्ध में कपटपूर्ण बात कही, झूठ बोला तो फिर उसे स्वयं अपनी इस करनी के अनुसार उचित फल भी भुगतना पड़ेगा। गोपियों के मुख से निकली हुई इस प्रकार की चातुर्यपूर्ण बातों को सुनकर उद्धव ठगे-से मौन खड़े रह गए, उनके मुख से एक भी शब्द न निकला। उनका समस्त ज्ञान, विवेक उनका साथ छोड़ता प्रतीत होता है।

विशेषः-

1. 'हँसि समझाय' का तात्पर्य है कि गोपियों को उद्धव के क्रुद्ध हो जाने की आशंका थी, अतः उन्होंने उनसे प्रसन्नचित्त सब कुछ बताने की प्रार्थना की।
2. 'को है ..... अभिलाषी', गोपियाँ जानती थीं कि निर्गुण-ब्रह्म इन सम्पूर्ण सम्बन्धों एवं विशेषताओं से परे है, ये प्रश्न केवल उद्धव को परेशान करने और उनकी हँसी उड़ाने के लिए किए गए हैं।

3. 'सुनत ..... नासी' से अभिप्राय यह है कि उद्धव ब्रह्मविषयक गोपियों के प्रश्नों को सुनकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गए, क्योंकि वेद ने ब्रह्म के विषय में कहा है कि - 'न तस्य प्रतिमा अस्ति', तथा उपनिषद ब्रह्म के विषय में 'नेति-नेति' कहकर स्पष्ट करते हैं कि 'न तत्र चक्षुगच्छति न वाग् गच्छति न मनः।' अतः उद्धव ऐसे ब्रह्म का निरूपण करने में किस प्रकार सफल हो सकते थे? गोपियों ने वस्तुतः सब कुछ जानते हुए ही उद्धव को निरुत्तर कर देने के लिए ही ऐसे प्रश्न किए थे।

4. यह पद व्यंग्य-काव्य का सुन्दर उदाहरण है। संपूर्ण पद में गोपियों का उद्धव के प्रति व्यंग्य-भाव अत्यन्त रमणीय है। उनका वाग्वैदग्ध्य द ष्टव्य है वे उद्धव की हँसी भी उड़ाती है किंतु साथ-साथ उन्हें विश्वास भी दिलाती जा रही हैं कि वे ब्रह्म के विषय में जिज्ञासु है। व्यंग्यात्मक शैली द्वारा प्रस्तुत निर्गुण-ब्रह्म का खण्डन अत्यन्त आकर्षक बन पड़ा है। और कवि के काव्य कौशल का परिचायक है।

।। 65 ।।

नाहिन रह्यो मन में ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और?
चलत, चितवन, दिवस जागत, सपन सोदत राति।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत उत जाति।।
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिंधु समाय।।
स्याम गात सरोज-आनन ललित अति म दु हास।
सूर ऐसे रूप-कारन मरत लोचन प्यास ।।६५।।

शब्दार्थः नाहिन = नहीं है। ठौर = स्थान। अछत = रहते हुए। आनिए = लाए। उर = हृदय। दिवस = दिन। राति = रात। छन = एक पल भी। इत = इधर। उत = उधर। लोक-लाभ = सांसारिक लाभ। समाय = समाहित होना। गात = शरीर। सरोज-आनन = कमल के समान मुख। ललित = आकर्षक। म दु = मधुर। हास = हँसी। रूप-कारन = रूप के लिए। लोचन = नेत्र।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के भ्रमरगीत से लिया गया है। इसमें उद्धव के उपदेश की प्रतिक्रिया में अधिकांशतः गोपियाँ गम्भीर रही हैं। और उन्होंने निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने में अपनी विवशता प्रकट की है, कहीं-कहीं उन्होंने उद्धव की हँसी उड़ाई है किंतु ऐसे स्थल न्यून हैं। यहाँ पुनः वे कृष्ण-प्रेम को त्यागकर निर्गुण-ब्रह्म को अपनाने में अपनी असमर्थता दिखा रही हैं।

व्याख्याः सूरदास लिखते हैं कि निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने में अपनी विवशता प्रकट करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि कृष्ण हमारे मन में पहले से ही विराजमान हैं, अतः उसमें अन्य किसी के लिए स्थान नहीं रहा है। नंदनन्दन श्री कृष्ण के इस हृदय में रहते हुए, तुम ही बताओ उद्धव। हम किसी अन्य की अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म को अपने हृदय में कैसे ला सकती हैं। इस प्रकार हम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने में पूर्णतया असमर्थ हैं क्योंकि उसे स्वीकार करने में हमें कृष्ण को अपने हृदय से विदा करना पड़ेगा जो हमारे लिए एक असम्भव कार्य है। हमें चलते-फिरते, इधर-उधर देखते हुए, दिन में जाग तावस्था में तथा रात्रि को सोते समय स्वप्नावस्था में श्रीकृष्ण की मधुर-मूर्ति लुभाती रहती है और हमारे हृदय से यह मोहनी मूरत क्षण भर के लिए

भी ओझल नहीं होती। हम तो अपने जीवन में प्रत्येक अवस्था में श्रीकृष्ण के ध्यान में मग्न रहती हैं।

हे उद्धव ! तुम योग एवं निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धित अनेक कथा-वार्ता सुनाकर हमें सांसारिक लाभ का मार्ग सुझा रहे हो अर्थात् इस मार्ग पर चलकर हमारे लिए मोक्ष प्राप्ति का साधन उपलब्ध करा रहे हो। किंतु बाध्य हैं, हम तुम्हारे इस मार्ग को नहीं अपना सकतीं, हम कृष्ण-प्रेम के लिए पुनः शरीर धारण करने के लिए भी तत्पर हैं। क्योंकि हमारा यह तन कृष्ण-प्रेम में परिपूर्ण है। और फिर जिस प्रकार सिंधु का जल एक छोटे से घड़े में नहीं समा सकता, उसी प्रकार हमारे नन्हे-से हृदय में भी तुम्हारा अनन्त ब्रह्म नहीं समा सकता।

श्रीकृष्ण का शरीर साँवला-सलोना है, उनका मुख कमल के समान सुन्दर और मनमोहक है, उनकी हँसी अत्यन्त मधुर और बरबस अपनी ओर खींचने वाली है। हमारे नेत्र कृष्ण की इस आकर्षक रूप-माधुरी का पान करके त प्त होने के लिए व्याकुल बने रहते हैं।

विशेषः-

1. इस पद में गोपियों ने अपने हृदय में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए स्थान न होने की बात कही है। भक्त कवि कबीर तथा रहीम ने इसी भाव को नेत्रों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

   कबीर के नेत्रों में प्रियतम बसे हुए हैं अतः वहाँ काजल की रेखा के लिए भी स्थान नहीं रहा -

   ''कबीरा काजर रेखहू अब तो दर्द न जाय।
   नैनन प्रीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय"।।

   रहीम का कथन है कि प्रियतम की छवि नयनों में बसी हुई है। अतः अब वहाँ अन्य किसी के लिए स्थान नहीं रहा।

   ''प्रियतम छवि नयनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
   भरी सराय रहीम लखी, पथिक आय फिर जाय।।"

2. प्रस्तुत पद में गोपियों की कृष्ण-प्रेम विषयक विवशता एकान्त द ढ़ प्रेम-निष्ठा की अभिव्यक्ति अत्यन्त मार्मिक है।
3. मनोहर लयात्मक है।
4. सूक्ष्म भावों की प्रबल अभिव्यक्ति है।
5. 'सरोज-आनन' में रूपक अलंकार।
6. 'चलत-चितवन' 'कहत कथा' में अनुप्रास अलंकार है।
7. आकर्षकगेयता।
8. ब्रजभाषा का प्रयोग।
9. माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति।

10. आकर्षण बिम्ब-विधान।

।। 66 ।।

ब्रजजन सकल स्याम-ब्रतधारों।
बिन गोपाल और नहिं जानत आन कहें व्याभिचारी।।
जोग मोट सिर बोझ आनि कै कत तुम घोष उतारी?
इतनी दूरि जाहु चलि कासी जहाँ बिकति है प्यारी।।
यह संदेस नहिं सुनै तिहारा, है मंडली अनन्य हमारी।
जो रसरीति करी हरि हमसों सो कत जात बिसारी?
महामुक्ति कोऊ नहिं बुझै, जदपि पदारथ चारी।
सूरदास स्वामी मनमोहन मूरति की बलिहारी।।६६।।

शब्दार्थः ब्रजजन = ब्रजवासी। सकल = सारे। स्याम-ब्रतधारी = कृष्ण-प्रेम का व्रत धारण करने वाले। आन = अन्य। मोट = गठरी। घोष = अहीरों की बस्ती-गोकुल। प्यारी = महँगी। तिहार = तुम्हारा। अनन्य = अनोखी, विचित्र। रसरीति = प्रेम-रस-विहार, प्रेम-क्रीड़ाएँ। बिसारी = भुलाई। कत = कैसे। पदारथ चारी = धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चार पदार्थ।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के भ्रमरगीत से लिया गया है इसमें गोपियों ने उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म विषयक उपदेश की प्रतिक्रिया-स्वरूप उसे स्वीकार करने में अपनी विवशता प्रदर्शित की है। वे कृष्ण-प्रेम के समक्ष मोक्ष को भी तुच्छ समझती हैं। उन्हीं की भाँति अन्य ब्रजवासी भी श्रीकृष्ण-प्रेमव्रतधारी हैं और कृष्ण-प्रेम के लिए मोक्ष को ठुकरा सकते हैं।

व्याख्याः हे उद्धव! हमारी तरह सम्पूर्ण ब्रजवासी भी कृष्ण-प्रेम के व्रत को द ढ़ता से धारण किए हुए हैं। वे कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को प्रेम करना तो दूर रहा, उसके प्रति आकर्षित भी नहीं हो सकते। हम गोपाल कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानतीं। यदि हम किसी अन्य अर्थात् तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म की बातें भी करें तो हम व्यभिचारी कहीं जाएंगी क्योंकि पतिव्रता नारी किसी अन्य को अपने मन में नहीं ला सकती, यदि वह ऐसा करती हैं तो वह व्यभिचारिणी हैं हम कृष्ण की पतिव्रताएँ हैं। हम तुम्हारे ब्रह्म का विचारकर व्यभिचारिणी बनना नहीं चाहतीं, तुमने अपनी योग की गठरी का भारी बोझ यहाँ अहीरों की बस्ती - गोकुल में लाकर क्यों उतारा है? यहाँ इस निरर्थक वस्तु का कोई ग्राहक नहीं। अतः उचित यही है कि तुम इसे यहाँ से दूर स्थित काशी ले जाओ, वहाँ के लोग इसका मर्म समझते हैं, अतः वहाँ यह महँगी बिक सकेगी।

हे उद्धव ! हमारी यह गोपियों की मण्डली अत्यन्त विलक्षण है और कृष्ण प्रेम में निमग्न है, अत' यहाँ तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश कोई सुनने वाला नहीं। हमारे साथ कृष्ण ने यहाँ प्रवास करते समय जो प्रेम-लीलाएँ की थीं क्या वे भुलाई जा सकती हैं? उन प्रेम-क्रीड़ाओं की स्म ति के सम्मुख धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - चारों पदार्थों से युक्त महामुक्ति का कोई मूल्य नहीं अर्थात् व्यर्थ है, त्याज्य है। हमें तो कृष्ण-प्रेम में ही उक्त चार पदार्थों से युक्त महामुक्ति प्राप्त हो चुकी है। अतः निर्गुण-ब्रह्म के मार्ग पर चलकर प्राप्त होने वाली मुक्ति का हमारे लिए कोई आकर्षण नहीं। हम तो अपने स्वामी मनमोहन कृष्ण की सुन्दर मूर्ति पर अपने प्राण न्यौछावर करती हैं।

विशेषः-

1. 'इतनी-प्यारी'। काशी को योगियों का केन्द्र स्वीकार किया गया है। अतः गोपियों के मत में उद्धव का निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश वहाँ के निवासियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। यहाँ ब्रज में तो सभी कृष्ण-प्रेम का व्रत धारण किए हुए हैं, यहाँ तो यह व्यर्थ की वस्तु है।
2. 'प्यारी' शब्द प्रादेशिक प्रयोग है। इसका प्रचलन पंजाब में है।
3. 'है मण्डली अनन्य हमारी' से गोपियों के कृष्ण-प्रेम की एकाग्रता सिद्ध होती है। इस प्रेम को कोई आकर्षण अथवा प्रलोभन प्रभावित नहीं कर सकता।
4. 'महामुक्ति ..... चारी' पँक्ति से यह भी अर्थ ग्रहण किया जा सकता है कि गोपियों को कृष्ण-प्रेम से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चारों पदार्थ प्राप्त थे। अतः निर्गुण-ब्रह्म, जिसके अपनाने से उन्हें केवल मोक्ष ही प्राप्त होता, उनके लिए निरर्थक थे।
5. गोपियों ने कृष्ण-प्रेम के समक्ष मोक्ष को अग्रहणीय कहा है। राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी एक स्थल पर ऐसे ही भाव व्यक्त किए हैं -

   ''जो जन तुम्हारे पद-कमल के असल मधु को जानते हैं।
   वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा उसको तुच्छ मानते हैं"।।

6. मनोहर लयात्मकता है।
7. सूक्ष्म भावों की प्रबल अभिव्यक्ति।
8. आकर्षकगेयता।
9. माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति।
10. आकर्षक बिम्ब-विधान।

।। 67 ।।

कहति कहा ऊधो सों बौरी।
जाको सुनत रहे हरि के ढिंग स्यामसखा यह सो री।
हमको जोग सिखावन आयो, यह तेरे मन आवत?
कहा कहत री ! मैं पत्यात री नहीं सुनी कहावत।।
करनी भली भलेई जानैं, कपट कुटिल की खानि।
हरि को सखा नहीं री माई ! यह मन निसचय जानि।।
कहाँ रास-रस कहाँ जोग-जप? इतनो अंतर भाखत।
सूर सबै तुम कत भईं बौरी याकी पति जो राखत।।६७।।

शब्दार्थः बौरी = बावली, पगली। ढिंग = पास, समीप। सखा = मित्र। पत्यात = विश्वास करती हूँ। कपट = छल। खानि = खजाना। निसचय = निश्चय। भाखत = कहते हैं। कत = क्यों। याकी = इसकी। पति = विश्वास। राखत = करती हो।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें गोपियों के मत में योग का संदेश लाने वाले कृष्ण का सखा कभी नहीं हो सकता, वह कोई धूर्त और कपटी है, ऐसा समझकर गोपियाँ अप्रत्यक्ष रूप से उद्धव को जली-कटी सुना रही हैं।

व्याख्याः सूरदास लिखते हैं कि उद्धव का उपदेश सुनने के उपरान्त एक गोपी दूसरी गोपी से कहती है कि हे पगली ! तू उद्धव से क्या बात कर रही है? अरी पगली यह श्याम का सखा है जो सदा उनके पास निवास करता है। और जिसके विषय में हम कबसे सुनती आ रही हैं। क्या तू यह समझती है कि यह यहाँ हमें योग की शिक्षा प्रदान करने आया है? आखिर तू कह क्या रही है, मुझे तो इस बात पर विश्वास ही नहीं आता कि यह यहाँ हमें योग का उपदेश देने आया है। तूने वह कहावत तो सुनी ही होगी कि सज्जन और भले लोग अपनी प्रकृति के अनुसार दूसरों की भलाई में रत रहते हैं और नीच मनुष्य अत्यन्त कपटी होते हैं। और दूसरों का कार्य बिगाड़ने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं। अतः हे सखी। यह कृष्ण का सखा नहीं है, यह तू अपने मन में निश्चय जान ले। यह तो कोई धूर्त और कपटी है जो कृष्ण के सखा के रूप में हमसे छल करने आया है। कृष्ण स्वयं भले हैं, तो उनका मित्र इतना धूर्त किस प्रकार हो सकता है। क्योंकि यह हमारे कृष्ण-प्रेम को तुच्छ बताकर हमें निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने के उपदेश दे रहा है। और इस प्रकार हमें श्रेष्ठ प्रेम-मार्ग से हटाकर दुर्गुणपूर्ण निर्गुण-मार्ग पर चलाना चाहता है।

हे सखी ! तनिक इस बात पर तो विचार करो, कि कहाँ तो कृष्ण के साथ प्रेम विहार, क्रीड़ाओं का आनंद और कहाँ योग-साधना तथा तपस्या का कठिन कार्य। यह किस प्रकार दो परस्पर-विरोधी बातें कर रहा है। यदि यह कृष्ण का सखा होता तो हमें उनके प्रेम से विमुख होकर योग-तपस्या का उपदेश न देता। क्या तुम सब पागल हो गई हो जो इसकी बातों का विश्वास करके इसे कृष्ण के सखा के समान आदर दे रही हो। यह तो कोई छलिया है। जिसे अपमानित करके यहाँ से भगा देना ही उचित है।

विशेषः-

1. इस पद में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि का प्रयोग हुआ है जिसके आधार पर गोपियाँ उद्धव को अत्यन्त खरी-खोटी सुना रही हैं।
2. इस पद का व्यंग्य अत्यन्त मार्मिक और चुभनेवाला है।
3. गोपियों द्वारा परस्पर बातें करने का ढंग, एक दूसरी को बावली, पगली कहना और री जैसे सम्बोधन का अनेकशः प्रयोग करना उनके उत्कृष्ट वाग्वैदग्ध्य का प्रमाण है और इससे उनकी परस्पर अनौपचारिकता का भी परिचय मिलता है।
4. 'करनी ..... खानि' पंक्ति में एक विख्यात लोकोक्ति के प्रयोग से इस पद के सौन्दर्य में व द्धि हुई है।
5. मनोहर लयात्मकता।
6. आकर्षक गेयता।
7. सूक्ष्म भावों की प्रबल अभिव्यक्ति है।
8. ब्रजभाषा का प्रयोग।
9. 'कपट कुटिल की खानि' में व त्यानुप्रास अलंकार।

।। 68 ।।

ऐसेई जन दूत कहावत।
मोको एक अचयो आवत या में ये कह पावत?
बचन कठोर कहत, काहि दाहत, अपनी महत गँवावत।

ऐसी परकृति परति छाँह की जुवतिन ज्ञान बुझावत।।
आपुन निलज रहत नखसिख लौं एते पर पुनि गावत।
सूर करत परसँसा अपनी, हारेहु जीति कहावत।।६८।।

शब्दार्थः ऐसेई = ऐसे। जन = आदमी। मोको = मुझे। या में = इसमें। महत = महत्ता, गुरुत्व, सम्मान। परकृति = प्रकृति, संसर्ग अथवा छाया का प्रभाव। जुवतिन = युवतियों, अबलाओं, गोपियों को। बुझावत = समझाते हैं। आपुन = स्वयं। निलज = निर्लज्ज। नखसिख-लौ = ऊपर से नीचे तक पूरी तरह। एते पर = इतने पर भी। गावत = चर्चा करते हैं। परसंसा = प्रशंसा। हारेहु = हार।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें गोपियाँ योग का संदेश लाने वाले उद्धव को छली-कपटी सिद्ध करते हुए उनके संदेश पर कटाक्ष कर रही हैं। उनके मत में सफल दूत वही है जो वास्तविक संदेश न कहकर इधर-उधर की झूठी बातें गढ़कर सुनाया करता है।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव के संदेश की सत्यता पर संदेह करती हुई उनके योग पर व्यंग्य करती हुई परस्पर वार्तालाप करती हुई कहती हैं कि वस्तुतः ऐसे ही लोग सफल दूत कहे जाते हैं जो वास्तविक संदेश न कहकर इधर-उधर की बातें गढ़कर सुनाया करते हैं। सच बात तो यह है कि कृष्ण ने उद्धव के द्वारा हमें योग का संदेश न भेजकर कोई अन्य संदेश भेजा होगा। किंतु उद्धव कृष्ण के द्वारा हमें उस संदेश को हमसे न कहकर अपनी ओर से योग संदेश दे रहे हैं। मुझे इस बात का आश्चर्य है कि ऐसा करने से अर्थात् योग का संदेश सुनाकर हमें संतप्त करने से इन्हें क्या लाभ होता है? ऐसे लोग दूसरों से कठोर वचन कहते हैं जैसे उद्धव हमसे कृष्ण को भुलाकर निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करने को कह रहे हैं, इस प्रकार के वचनों से दूसरों को दुःखी करते हैं, संतप्त करते हैं और इस प्रकार अपनी महत्ता, सम्मान भी गँवा बैठते हैं।

वस्तुतः संगति का प्रत्येक व्यक्ति पर प्रभाव प्रड़ता है जिसके कारण वह बौरा जाता है। और ऊटपटांग बातें करने लगता है, उद्धव इसके साक्षात् प्रमाण है कुब्जा की संगति के कारण इनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। जिससे हम अबलाओं को योग और निर्गुण-ब्रह्म की शिक्षा देने यहाँ आ गए हैं। यह समझ नहीं रहे कि इनका यह कार्य कितना अनुचित है। ऐसे लोग पूरी तरह निर्लज्ज होते हैं, वे अपने उक्त प्रकार के निर्लज्ज कार्यों के लिए लज्जा अनुभव न करके निरन्तर अपनी ही-हाँके चले जाते हैं। ये लोग स्वयं अपनी ही प्रशंसा में रत रहते हैं तथा अपनी पराजय को भी विजय कहते हैं। अर्थात् उद्धव विवेक में हमसे पराजित हो चुके हैं क्योंकि इनसे हमारी एक बात का उत्तर देते नहीं बनता किंतु फिर भी वह स्वयं को विजयी घोषित कर रहे हैं और निरन्तर निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी अपनी रट लगाए हुए हैं।

विशेषः-

1. इस पद में व्यंग्य की अभिव्यक्ति अत्यन्त मार्मिक है। उद्धव के साथ कुब्जा पर भी व्यंग्य किया गया है।
2. गोपियों को उद्धव की सज्जनता पर संदेह नहीं, यह तो कुब्जा की संगति का प्रभाव है कि वह अपना विवेक खो बैठे हैं, और हम अबलाओं को योग की शिक्षा देने आ गए हैं।
3. कुब्जा स्वयं निर्लज्ज हैं। जो हमारे प्रेम को स्वयं भोग रही है। उसके सामीप्य रहकर

उद्धव भी पूरी तरह निर्लज्ज हो गए हैं और अपनी हार को भी जीत का दर्जा दे रहे हैं।

4. गोपियों की उद्धव के प्रति प्रयुक्त इन कटुक्तियों से संस्कृत की यह लोकोक्ति स्मरण हो आती है कि लज्जा को छोड़ने से त्रिलोक भी विजय हो सकता है - ''लज्जामेकां परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत्।''

5. मनोहर लयात्मकता।

6. आकर्षक बिम्ब-विधान।

7. ब्रजभाषा प्रयोग।

8. आकर्षकगेयता।

9. 'कठोर कहत कहि' में व त्यानुप्रास अलंकार।

।। 69 ।।

प्रकृति जोई जाके अंग परी।
स्वान-पूँछ कोटिक जो लागै सूधि न काहूकरी।।
जैसे काग भच्छ नहि छाँड़े जनपत जौन धरी।
धोये रंग जात कहु कैसे ज्यौं कारी कमरी?
ज्यों अहि डसत उदर नहि पूरत ऐसी धरनि धरि।
सूर होउ सो होउ सोच नहिं, तैसे हैं एउ री।।६६।।

शब्दार्थः प्रकृति = स्वाभाव, आदत। स्वान = कुत्ता। कोटिक = करोड़ों। सूधि = सीधी। न काहुकरी = कोई नहीं कर सका। काग = कौआ। भच्छ = खाने न खाने योग्य पदार्थ। कारी कमरी = काला कम्बल। अहि = सर्प। जनमत = जन्म लेते ही। जौन धरी = जिस समय। धरनि धरि = टेक पकड़ रखी है, स्वभाव बन गया है। एउ = यह भी।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें गोपियों के खीझने पर भी उद्धव योग और निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी अपना उपदेश जारी रखते हैं जिस पर गोपियाँ और अधिक झल्ला उठती हैं और उन पर तथा उनके स्वभाव पर फब्तियाँ कसना आरम्भ कर देती हैं।

व्याख्याः एक गोपी अन्य गोपियों से कहती है कि जिसका जैसा स्वभाव हो जाता है, उसे फिर बदला नहीं जा सकता। करोड़ों प्रयत्न पर भी कुत्ते की पूँछ को आज तक कोई सीधा नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि पूँछ का स्वभाव सदा टेढ़ा हो गया है, अब उसे सीधा किया ही नहीं जा सकता, कौआ जन्म से भक्ष्याभक्ष्य अर्थात् खाने-न-खाने योग्य पदार्थों को खाना आरम्भ करता है और अपने सम्पूर्ण जीवन में इस स्वभाव को नहीं छोड़ता। अच्छा यह बताओ कि धोने से काले कम्बल का रंग उतर सकता है। यद्यपि सर्प का दूसरों को डसने से पेट नहीं भरता क्योंकि उसके पेट में तो कुछ जाता ही नहीं तथापि डसने का उसका स्वभाव पड़ गया है, इसे वह नहीं छोड़ता। यह उद्धव भी ऐसे हैं, दूसरों को दुःखी करने का इनका स्वभाव बन गया है। अतः इन्हें तो इसी बात में आनन्द मिल रहा है, इन्हें इस बात की कोई चिंता नहीं कि इनके इस व्यवहार का क्या परिणाम निकलने वाला है।

विशेषः-

1. 'धोये ..... कमरी' - इस पंक्ति के भाव को कवि ने एक अन्य स्थल पर इस प्रकार व्यक्त किया है।

'सूरदास प्रभु कारी कामरि, चढ़े न दूजौ रंग।'

2. गोपियों ने मानव स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उद्धव पर मार्मिक कटाक्ष किए हैं। उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर इलाहाबादी ने भी स्वभाव के विषय में लगभग इसी प्रकार की बात कही है।

'आदत जो पड़ी हो पहले से, वह दूर भला कब होती है।
पाकिट में रखी चुनौटी, पतलून के नीचे धोती है।।
नसीहत का असर क्या खाक होगा ऐसे पागल पर।
चढ़ाते हो गुलाबी रंग तुम भी काले कम्बल पर।।

3. दूसरी से चौथी पंक्ति में स्वभावोक्ति अलंकार।
4. मनोहर लयात्मकता।
5. आकर्षक गेयता।
6. मधुर भावों की अभिव्यक्ति।
7. ब्रजभाषा का प्रयोग।
8. 'स्वान-पूँछ... करी' में अर्थान्तरन्यास अलंकार।

।। 70 ।।

तौ हम मानै बात तुम्हारी।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधो मुकुट-पिताम्बरधारी।।
भजि हैं तब ताको सब गोपी सहि रहि हैं बरू गारी।
भूत समान बतावत हमको जारहु स्याम बिसारी।।
जे मुख सदा सुधा अंचवत हैं ते विष क्यों अधिकारी।
सूरदास प्रभु एक अंग पर रीझि रहीं ब्रजनारी।।७०।।

शब्दार्थः बरू = भले ही। गारी = गाली, चरित्रहीन होने की गाली। भूत-समान = छायामात्र, आकार रहित। जारहु = दग्ध करते हो। बिसारी = भुलाकर। अंचवत = आचमन करते हैं, पान करते हैं। रीझि = मुग्ध हुई।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप गोपियाँ अत्यन्त दुःखी हैं फिर भी उन्हें नीचा दिखाने का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने देतीं। यहाँ वे अपने वाग्वैदग्ध्य द्वारा उद्धव के सम्मुख एक शर्त प्रस्तुत करके उन्हें छकाने का प्रयत्न कर रही हैं।

व्याख्याः हे उद्धव ! एक शर्त पर तुम्हारी बात मानकर हम तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार कर लेंगी। वह शर्त यह है कि तुम अपने ब्रह्म के मोर-मुकुट तथा पीताम्बर धारण किए हुए दर्शन करा दो। अर्थात् यदि तुम्हारा ब्रह्म कृष्ण का वेश धारण कर हमारे सम्मुख आता है तो उसे स्वीकार करने में हमें कोई संकोच नहीं होगा। हम सब गोपियाँ फिर उसी ब्रह्म का ध्यान-भजन करने लगेंगी। भले ही इसके लिए उन्हें संसार चरित्रहीन कुलटा होने की गाली दे, वे इसे भी सहन कर लेंगी। किंतु हमें

यह सम्भव प्रतीत नहीं होता क्योंकि तुम अपने ब्रह्म को छायाहीन अर्थात् आकारहीन बताते हो, अतः उसका मोर-मुकुट और पीताम्बर धारण करना असम्भव ही है, इस पर हम कृष्ण को भुलाकर उसे स्वीकार नहीं कर सकतीं। तुम ऐसा कहकर हमें अत्यन्त पीड़ा पहुँचा रहे हो, दग्ध कर रहे हो। इस प्रकार एक तो हम कृष्ण को भुला देंगी और दूसरी ओर तुम्हारे आकारहीन अर्थात् आभास मात्र ब्रह्म को भी प्राप्त नहीं कर सकेंगी। इस प्रकार हमारे लिए तो दोनों ओर दुःख-ही-दुःख है। हम तो सदा अपने मुख से अम तपान करती आई हैं, उसी मुख से आज विष का पान किस प्रकार कर सकती हैं? अर्थात् हमारा मुख अम त के समान प्राणदायक एवं मधुर कृष्ण का नाम स्मरण करने का अभ्यस्त हो चुका है, वह आज तुम्हारे विष के समान घातक एवं कटु ब्रह्म का नाम किस प्रकार जप सकता है।

हे उद्धव ! सम्पूर्ण ब्रजनारियाँ तो अपने प्रमुखी के मनोहर शरीर पर मुग्ध हैं, वे उन्हें त्यागकर तुम्हारे शरीर-विहीन निराकर ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं।

विशेषः-

1. यह पद गोपियों के वाकचातुर्य का सुन्दर उदाहरण है। वे उद्धव के सम्मुख ऐसी शर्त प्रस्तुत कर रही हैं जिनकी पूर्ति सम्भव नहीं।

   यहै सुनत ही नयन पराने
   जबहीं सुनत बात तुव मुख की रोवत रमत ढराने।।

2. विप्रलेम श ंगार।
3. कृष्ण के प्रति अटूट प्रेम-चित्रण।
4. आकर्षक गेयता।
5. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
6. मधुर भावों की अभिव्यक्ति।
7. मनोहर लयात्मकता।
8. सूक्ष्म भावों की प्रबल अभिव्यक्ति।
9. आकर्षक बिम्ब-विधान।
10. अत्यन्त 'मार्मिक प्रेम अभिव्यक्ति'।

।। 71 ।।

बारंबार स्यामघन घन तें भाजत फिरत लुकाने।
हमको नहिं पतियात तबहिं ते जब ब्रज आपु समाने।।
नातरू यहौ काछ हम काछति वै यस जानि छपाने।
सूर दोष हमरे सिर धरिहौ तुम हो बड़े सयाने।।७१।।

शब्दार्थः पराने = पलायन करते हैं, भाग खड़े होते हैं। तुव = तुम्हारे। रमत = व्यस्त हो जाते हैं। ढराने = ढुलक गए। भाजत = भागते। लुकाने = छिपाने के लिए। पतियात = विश्वास करते। आपु = अपने। समाने = समाए हैं। नातक = नहीं तो। काछ हम काछति = वेश धारण करतीं।

छपाने = छिप गए हैं।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश पर गोपियाँ अत्यन्त दुखी हैं, उन्हें यह उपदेश अति भयानक लगता है। वे बाध्य हैं। वे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं क्योंकि उनके नेत्र निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश सुनते ही डरकर भाग खड़े होते हैं।

व्याख्याः गोपियाँ दुःखी होकर अपने नेत्रों की व्याकुल, भयभीत दशा का वर्णन करती हुई उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! तुम्हारी निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी बातें सुनते ही हमारे नेत्र भयभीत होकर भाग खड़े हुए हैं। जैसे ही ये तुम्हारे मुख से इस प्रकार की बातें सुनते हैं, तुरन्त ही इनमें आँसू ढुलक आते हैं और ये बंद हो जाते हैं। वस्तुतः ये नेत्र कृष्ण के रूप-दर्शन के उपासक हैं। तुम्हारी बातें सुनकर उन्हें यह शंका होने लगती है कि हम तुम्हारी बातों में आकर कृष्ण को त्याग कर निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर लेंगी और इस प्रकार ये नयन कृष्ण-दर्शन से सदैव के लिए वंचित हो जाएंगे। इसी कारण ये भयभीत हैं और तुम्हारे उपदेश आरम्भ करते ही भाग खड़े होते हैं। अब तो इनकी यह दशा है कि वर्षा ऋतु में श्याम रंग के बादलों को देखकर उनसे छिपने के लिए ये इधर-उधर भागते फिरते हैं। इसका कारण यह है कि एक तो काले बादलों को देखकर इन्हें कृष्ण की स्म ति हो आती है, दूसरे सभी काले रंगवालों ने धोखा दिया है, अतः ये काले मेघों से भी अब डरने लगे हैं। काले कृष्ण इनकी भावनाओं का निरादर करके इन्हें छोड़ गए, काले अक्रूर इनके प्रिय कृष्ण को इनसे दूर ले गए और अब श्याम-वर्णीय उद्धव कृष्ण की स्म ति को ही ले जाने के लिए ब्रज आए हुए हैं।

हे उद्धव ! जबसे आप ब्रज में आकर विराजमान हुए हैं, तबसे हमारे ये नेत्र हमारा भी विश्वास नहीं करते। इन्हें इस बात का संदेह है कि हम तुम्हारी बात मानकर निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर लेंगी, इस कारण ये छिप गए हैं। वस्तुतः यदि हमारे नेत्र मुँद न जाते तो हम तुम्हारे उपदेशानुसार वही योगियों का वेश अब तक धारण कर चुकी होतीं और इस प्रकार योग-साधना के मार्ग को अपना लेतीं। अब जबकि ये नेत्र ही हमारे अधिकार में न रहे, ब्रह्म-दर्शन हम किस प्रकार करेंगी? यह हमारे लिए असम्भव है। अतः हम बाध्य हैं, तुम्हारी बात स्वीकार करने में असमर्थ हैं। यद्यपि इसमें हमारा कोई दोष नहीं, पर तुम स्वयं को अधिक विवेकशील समझते हो, अतः सारा दोष हमारे सिर पर थोप दोगे।

विशेषः-

1. गोपियों का वाक्चातुर्य यहाँ दर्शनीय है। वह निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने की असमर्थता प्रकट करते हुए, इसमें सारा दोष अपने नेत्रों पर थोप रही हैं। नेत्रों के कारण वे बाध्य हैं क्योंकि उनके नेत्र कृष्ण की रूप-माधुरी में पगे हुए हैं, अतः निर्गुण-ब्रह्म की बात चलते ही भाग खड़े होते हैं।
2. 'सूर ..... सयाने' पंक्ति अत्यन्त मार्मिक है। इसमें उद्धव की विवेकशीलता पर करारी चोट की गई है।
3. आकर्षकगेयता है।
4. मधुर लयात्मकता है।
5. मधुर भावों की अभिव्यक्ति।

6. सूक्ष्म भावों की प्रबल अभिव्यक्ति है।
7. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
8. आकर्षक बिम्ब-विधान।

।। 72 ।।

नयननि वहै रूप जो देख्यो।
तो ऊधो यह जीवन जग को साँचु सफल करि लेख्यो।।
लोचन चारू चपल खंजन, मनरंजन हृदय हमारे।
रुचिर कमल म ग मीन मनोहर स्वेत अरुन अरू कारे।
रतन जटिल कुंडल श्रवननि वर, गंड कपोलनि झाँई।
मनु दिनकर - प्रतिबिंब मुकर महँ ढूँढ़त यह छबि पाई।।
मुरली अधर विकट भौहैं करि ठाढ़े होत त्रिभंग।
मुकुतमाल उर नीलसिखर तें धंसि धरनी ज्यों गंग।।
और भेस को कहै बरनि सब अंग अंग केसरि खौर।
देखत बनै, कहत रसना सो सूर बिलोकत और।।७२।।

शब्दार्थः लेख्यो = समझें। लोचन = नेत्र। चारू = सुन्दर, रमणीक। चपल = चंचल। रुचिर = मनोहारी। श्रवननि = कान। गंड = गर्दन। झाँई = परछाई। दिनकर-प्रतिबिम्ब = सूर्य का प्रतिबिम्ब। मुकुर = दर्पण। त्रिभंग = तीन जगह से टेढ़ा शरीर, त्रिभंगी मुद्रा। मुकुतमाल = मोतियों की माला। नील सिखर = पर्वत का नील शिखर। धंसि = घुसकर। धरनी = प थ्वी। बरनि = वर्णन। खौर = तिरक। और = अन्य।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें गोपियाँ अपने नेत्रों द्वारा देखे हुए कृष्ण के अनुपम मनोहर रूप का वर्णन करती हुई कहती हैं कि हे उद्धव ! यदि हम अपने नेत्रों से कृष्ण के उसी मनोहर रूप के पुनः दर्शन कर लें, इस संसार में प्राप्त अपने जीवन को सार्थक स्वीकार कर लें, सचमुच सफल हुआ समझ लें। कृष्ण के खंजन पक्षी के समान सुन्दर और चंचल नेत्र हमारे हृदय को प्रसन्न करने वाले हैं। उनके वे नेत्र कमल, म ग और मछली के नेत्रों के समान सुन्दर एवं मनोहरी हैं। वे खेत, लाल और काले रंगों का अद्‌भुत मिश्रण हैं - अर्थात् उनके नेत्रों की पुतली काली है, आस-पास का भाग श्वेत है तथा लाल डोरे हैं; इस प्रकार उनमें इन तीनों रंगों की अद्‌भुत छटा दिखाई देती है। कृष्ण के कानों में रत्नजड़ित कुण्डल लटके रहते हैं जिनकी सुन्दर झलक उनकी गर्दन तथा कपोलों पर पड़ती है। इस झलक से ऐसा प्रतीत होता है मानो दर्पण में अपना प्रतिबिंब ढूँढ़ रहा हो, और उसकी इस खोज में ऐसी शोभा उत्पन्न हो रही है।

कृष्ण अधरों पर मुरली धारण किए हुए उसे बजाने के प्रयत्न में जब अपनी भौंहे टेढ़ी करके त्रिभंगी मुद्रा में खड़े होते हैं। तो उनकी छवि हमारे मन को मोह लेती है। कृष्ण के वक्षस्थल पर खड़ी मोतियों की माला इस प्रकार सुशोभित हो रही है मानो पर्वत के नीचे शिखर से उतरकर गंगा धरती पर आ गई हो। हम कृष्ण के अन्य वेश का वर्णन कहाँ तक करें। केसर के तिलकों से शोभायमान उनके संपूर्ण अंग-प्रत्यंग अत्यन्त मनोहारी द श्य प्रस्तुत करते हैं। उनके इस सौन्दर्य का वर्णन करना मानव-रसना के लिए असंभव है। क्योंकि नेत्र देखते हैं, अनुभव करते हैं किंतु वर्णन करने में

असमर्थ हैं जबकि जिह्वा देख न पाने के कारण सौन्दर्य का वर्णन नहीं कर पाती। इस प्रकार इन दोनों इन्द्रियों की अपूर्णता के कारण कृष्ण के स्वर्णिम सौन्दर्य का वर्णन असम्भव है क्योंकि एक की अनुभूति को दूसरा अभिव्यक्त नहीं कर पाता।

विशेषः-

1. सम्पूर्ण पद में कृष्ण के अनिर्वचनीय एवं अनिन्द्य सौन्दर्य का अत्यन्त मार्मिक वर्णन हुआ है।
2. 'रुधिर ..... कारे' पंक्ति के भाव से मिलता-जुलता भाव रसलीन कवि बिहारी ने भी एक दोहे में प्रस्तुत किया है।

'अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इकबार।।'

3. 'रतन ..... छवि पाई' ..... यहाँ कुण्डल सूर्य तथा कपोल दर्पण के समान है जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिंब दर्पण में पड़कर सतरंग हो जाता है। वैसे ही विभिन्न प्रकार के रंगों वाले रत्नोजड़ित कुण्डलों को प्रतिबिम्ब गण्डस्थल और कपोलों पर पड़कर सतरंगा बन जाता है। और अद्‌भुत छवि उत्पन्न करता है। गण्डस्थल और कपोलों दर्पण के समान स्वच्छ और चिकने हैं; इसी कारण उन पर कुण्डलों की परछाई प्रतिबिम्बित हो रही है।
4. 'मुरली ..... त्रिभंग' - मुरली बजाते समय गर्दन, कमर और पैर तिरछी मुद्रा में रहते हैं, इसी कारण उसे त्रिभंगी मुद्रा अथवा तीन स्थलों से टेढ़ी छवि कहा जाता है।
5. 'मुकुतमाल ..... गंग' यहाँ नील ग्रीवा नील शिखर, मोतियों की माला श्वेत गंगा तथा विस्त त वक्षस्थल धरती के समान हैं।
6. अन्तिम पंक्ति का वास्तविक भाव यह है कि कृष्ण का सौंदर्य अनिर्वचनीय है। महाकवि तुलसी ने इस पंक्ति के भाव को दो स्थलों पर विभिन्न रूप से अभिव्यक्त किया है-
   (क) 'अबस देखिये देखन जोगू।'
   (ख) 'गिरा अनयन नयत बिनु बानी।'
7. 'लोचन ..... हमारे में लुप्तोपमा अलंकार है।
8. 'मनु ..... पाई में वस्तुप्रेक्षा अलंकार है।
9. 'रुधिर ..... कारे' में क्रम अलंकार है।
10. 'धरनी ..... गंग' में पूर्णोपमा अलंकार है।
11. सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति।
12. ब्रजभाषा का अच्छा प्रयोग।

।। 73 ।।

नयनन नंदनंदन ध्यान।
तहाँ लै उपदेस दीजै जहाँ निरगुन ज्ञान।।
पानिपल्लव-रेख गनि गुन-अवधि बिधि-बंधान।
इते पर कहि कटुक बचनन हनत जैसे प्रान।।

चंद्र कोटि प्रकास मुख; अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छवि पर, निरखि दीजित दान।।
भ कुटि कोटि कुदंड रुचि अवलोकनी संधान।
कोटि बारिज बंक नयन कटाच्छु कोटिक बान।।
कंबु ग्रीवा रतनहार उदार डर मनि जान।
अजानुबाहु उदार अति कर पद्य सुधानिधान।।
स्याम तन पटपीत की छवि करै कौन बखान?
मनहु निर्तत नील धन में तड़ित अति दुतिमान।।
रामरसिक गोपाल मिलि मधु अधर करती पान।
सूर ऐसे रूप बिनु कोउ कहा रच्छक आन।।७३।।

शब्दार्थः गनि = गिनकर, समझकर। गुन-अवधि = सर्वगुण-सम्पन्न। विधि-बंधान = ब्रह्मा की रचना। इते पर = इतने पर। हनन = मारते हो। अवतंस = मुकुट, कुण्डल। भानु = सूर्य। मन्मय = कामदेव। वारि = न्यौछावर। दीजित = दिया है। कुदण्ड = कोदण्ड, धनुष। अवलोकननी = चितवन। संधान = धनुष की प्रत्यंचा खींचना। बारिज = कमल। बंक = तिरछे, टेढ़े। कंबु = शंख। ग्रीवा = गर्दन। उदार उर = विस्त त वक्षस्थल। मनि = मणियों की माला। अजानुबाहु = घुटनों तक लम्बी एवं विशाल भुजाएँ। पद्म = कमल। सुधानिधान = अम तसागर। बखान = वर्णन। निर्तन = न त्य करती हुई। तड़ित = बिजली। दुतिमान = प्रकाशवान। आन = अन्य। रच्छक = रक्षक।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें गोपियाँ उद्धव के नीरस निर्गुण-ब्रह्म से चिढ़ चुकी हैं। वह उसकी तुलना में अपने अद्भुत, अनुपम, सुन्दर प्रियतम का वर्णन करते हुए उन्हें निर्गुण-ब्रह्म से श्रेष्ठ सिद्ध करके यह स्पष्ट करती है कि ऐसी रूप राशि के सम्मुख उद्धव के अनुरूप, नीरस ब्रह्म को ब्रज में स्वीकार करने वाला कोई नहीं।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव! हमारे नेत्र सदा नंदनंदन श्रीकृष्ण के ध्यान में निमग्न रहते हैं। उन्हें अन्य न तो कुछ भाता है और न ही सुहाता है। अतः तुम अपने निर्गुण-ब्रह्म ज्ञान को वहाँ ले जाओ, जहाँ लोग इसकी परख करने में समर्थ हों और इसका मर्म समझ सकते हों। तुम्हारा ब्रह्म गुणहीन अर्थात् निर्गुण है जबकि हम पत्तों के समान अपनी कोमल हथेलियों पर अंकित रेखाओं को गिन-गिनकर ब्रह्म द्वारा लिखित अपने इस भाग्य पर गर्व अनुभव करती हैं कि इसी के कारण हमें गुणों की सीमा अर्थात् सर्वगुण सम्पन्न कृष्ण जैसे प्रियतम उपलब्ध हुए हैं। हम तो उनके वियोग से, पहले से ही पीड़ित हैं; और तुम ऊपर से कृष्ण को भूल जाने के लिए कठोर, कटु वचन कहकर हमारे प्राणों को और अधिक व्यथित कर रहे हो। हमें मारे डाले दे रहे हो। तुम्हें चाहिए यह था कि हम विरह-विदग्ध कामिनियों पर तरस खाते और हमें कृष्ण के लौटने का समाचार देकर आश्वस्त करते किंतु तुम्हारी गति विपरीत है, तुम हमें और अधिक पीड़ा पहुँचा रहे हो।

हमारे कृष्ण अत्यधिक सुन्दर हैं। उनके मुख की शोभा करोड़ों चन्द्रमाओं से सम्मिलित प्रकाश के समान शुभ्र, शीतल और शान्तिदायक है और कानों में धारण किए हुए अनेक कुण्डलों की चमक करोड़ों सूर्य के प्रकाश के समान देदीप्यमान है। कृष्ण के सौन्दर्य पर करोड़ों कामदेवों की छवि को न्यौछावर किया जा सकता है और इनकी इसी सौन्दर्य छवि को देखकर हमने अपना सर्वस्व उनके प्रति समर्पित कर दिया है। उनकी भ कुटियाँ करोड़ों धनुषों के समान वक्र और खिंची हुई

है उनकी चितवन धनुष की खिची हुई प्रत्यंचा के समान खिंची हुई है तथा सबको अपनी ओर आकर्षित करती है। जिस प्रकार धनुष की खिंची प्रत्यंचा को देखकर लोग भयभीत एवं स्तम्भित हो उसी को देखते रह जाते हैं। उनके बांके नयन करोड़ों कमलों के समान मनोहारी हैं तथा उनके नयनों के कटाक्ष बाणों के समान मर्मभेदी एवं ह्रदय को निकालकर अपनी ओर ले जाने वाले हैं।

उनकी शंख सद श सुन्दर गर्दन में रत्नों से जड़ा हुआ हार सुशोभित होता है जिसमें पिरोई हुई कौस्तुभ मणि उनके विशाल वक्षस्थल पर शोभा पा रही है। उनकी घुटनों तक दीर्घ भुजाएँ शरणागत को सहायता करने में समर्थ है। उनके हाथ कमल के समान सुन्दर हैं तथा अम त के सागर के समान सबको जीवन-दान देने एवं रक्षा करने में समर्थ हैं। उन्होंने अपने श्याम शरीर पर पीत परिधान धारण किया हुआ है और उत्पन्न शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता। श्याम शरीर पर पीत-परिधान को देखकर ऐसा उत्पन्न होता है कि अतिशय प्रकाशित विद्युत काले बादलों में न त्य कर रही हो।

ऐसी शोभा उत्पन्न रासलीला में हमारे साथ आनन्द का अनुभव करने वाले गोपाल कृष्ण को मिलकर हम प्रसन्न होती थीं तथा उनके अधरों के अम त का पान करती थी। हे उद्धव ! अब तुम ही कहो कि ऐसे अनुपम रूप सम्पन्न कृष्ण के अतिरिक्त हमारी रक्षा और पालन कौन कर सकता है। अर्थात् कोई नहीं कर सकता। इसलिए हमें कृष्ण को छोड़ निर्गुण-ब्रह्म स्वीकार्य नहीं।

विशेषः-

1. इस पद में कृष्ण के लोकरंजक सौन्दर्य का अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही उनके लोकरक्षक रूप की ओर भी संकेत किया गया है। ऐसे कृष्ण की तुलना में निर्गुण-ब्रह्म त्याज्य है।
2. 'पानि-पल्लव ..... बंधान' - इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि हम अपनी हस्त-रेखाओं को गिन-गिनकर विधाता के इस भाग्य लेख पर खेद प्रकट करती रहती हैं कि सर्वगुण सम्पन्न कृष्ण निश्चित अवधि बीत जाने पर भी लौटकर नहीं आए।
3. 'चन्द्रकोटि ..... कोटिक भान' तथा 'कंबु-ग्रीवा' में उपमा अलंकार।
4. 'कोटि मन्मय ..... दजित दान' में प्रतीप अलंकार।
5. 'भ कुटि ..... कोटिक बान' में सांग रूपक अलंकार।
6. 'मनहु निर्तत ..... दुतिमान' में उत्प्रेक्षा अलंकार।
7. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
8. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
9. सुन्दर लयात्मकता।
10. आकर्षक गेयता।

।। 74 ।।

देन आए ऊधो मत नीको।
आवहु री ! सब सुनहु स्यानी, लेह न जस को टीको।।
तजन कहत अम्बर आभुखन, गेह नेह सब ही को।

सीस जटा, सब अंग भस्म, अति सिखवत निर्गुन फीको।।
मेरे जान यहै जुवतिन को देत फिरत दुख पी को।
तेहि सर-पंजर भए स्याम तन, अब न गहत डर जी को।।
जाकी प्रकृति परी प्रानन सो, सोय न पोय भीली को।
जैसे सूर ब्याल डसि भाजत का मुख परत अमी को।।७४।।

शब्दार्थः नीको = अच्छा। तजन = छोड़ने के लिए। अम्बर = आकाश, यहाँ वस्त्र। पी = प्रियतम। सर-पंजर = बाणों का समूह। पोय = बुरी। ब्याल = सर्प। अमी = अम त।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। ब्रज की गोपियाँ उद्धव के योग-उपदेश के कारण अत्यन्त खीझी हुई हैं, यहाँ वे उन्हें स्वभाव से ही हत्यारा घोषित करती हुई उन पर व्यंग्य कर रही हैं।

व्याख्याः गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि हे सखी ! ये उद्धव हमें बहुत अच्छा उपदेश देने के लिए यहाँ पधारे हैं। हे विवेकशील सखियों ! तुम सब यहाँ आकर इनकी बातें सुनो और उन पर आचरण करके यश प्राप्त करो अर्थात् इनका उपदेश सुनकर, इनका सत्संग करने का यश क्यों नहीं प्राप्त करतीं? ये हमसे वस्त्र, आभूषण, घर तथा स्नेहजनित सब सम्बन्धों को त्याग देने का आग्रह कर रहे हैं तथा कहते हैं कि हम शीश पर जटा-जूट धारण कर लें एवं समस्त शारीरिक अंगों पर भस्म मल लें। इस प्रकार ये हमें अत्यन्त फीके निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश दे रहे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये उद्धव निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर युवतियों को उनके प्रियतम के वियोग का दुःख देते फिर रहे हैं।

अपना यह काम उद्धव अपने उपदेशी रूपी वाणी से कर रहे हैं, जिसके कारण इसका शरीर काला पड़ गया है - अब इनके पास इन उपदेश रूपी बाणों के समूह के अतिरिक्त किसी को देने के लिए कुछ नहीं रहा इन्हें इन बाणों से प्रहार करने में भय नहीं लगता, वस्तुतः ये स्वयं को अब अजेय समझते हैं। किसी ने उचित ही कहा है जिसका जैसा स्वभाव बन गया, अथवा जिसका स्वभाव प्राणों में समा जाता है, वह व्यक्ति अपने स्वभावानुसार कार्यरत रहता है और उसके सम्पन्न करते समय उसे भले-बुरे का विवेक नहीं रहता। वह यह विचार करता ही नहीं कि इससे उसे लाभ होने वाला है या हानि। जैसे सर्प का स्वभाव दूसरों को काटने का होता है, वह काटकर भाग जाता है, किंतु क्या ऐसा करने में उसके मुख में अम त पड़ जाता है? नहीं यह बात नहीं है। वस्तुतः दूसरों को डसना उसका स्वभाव बन गया है इसलिए वह अपनी प्रकृति अनुसार कार्य करता है और हानि-लाभ का विचार नहीं करता, चाहे इससे दूसरों के प्राण ही क्यों न चले जाएं।

उद्धव का स्वभाव भी इसी प्रकार की क्रूरता लिए हुए है। इन्होंने हम दुर्बल नारियों को प्रियतम कृष्ण के वियोग में अवश्य व्यथित करना है, जबकि यह तय है कि इससे इन्हें कोई लाभ होने वाला नहीं।

विशेषः-

1. सम्पूर्ण पद में व्यंग्य की छटा दर्शनीय है गोपियाँ उद्धव को सर्प के समान क्रूर सिद्ध करती हुई उन पर व्यंग्य कर रही हैं।
2. 'आबहु री ..... टीको' - का काकुवकोक्ति से यह भी अर्थ निकल सकता है कि तुम लोग उद्धव की बातें सुनकर और उन पर आचरण करके इस यश की अधिकारिणी

मत बन जाना कि तुमने प्रियतम कृष्ण को त्याग नीरस निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लिया है।

3. आकर्षक गेयता।
4. सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति।
5. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
6. सूक्ष्म बिम्ब-विधान।
7. भाषा का सुन्दर व स्पष्ट प्रयोग।
8. 'देन ..... टीको' में विपरीत लक्षण अलंकार।
9. 'मेरे जान ..... पीको' में उत्प्रेक्षा अलंकार।
10. 'ब्याल डसि ..... अमी को' द ष्टांत अलंकार।

।। 75 ।।

प्रीत करि दीन्हीं गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपट कन पाछे करत बुरी।।
मुरली मधुर चेंप कर काँपो मोरचंद्र ठटवारी।
बंक बिलोकनि लूक लागि बस सकी न तनहिं सम्हारी।।
तलफत छांडि चले मधुबन को फिरि के लई न सार।
सूरदास वा कलप-तरोवर फेरि न बैठि डार।।७५।।

शब्दार्थः कन = अनाज के दाने। बुरी = बुराई, बुरी दशा। काँपो = कम्प, नोंक पर लासा हुआ चिड़ियों को चिपका कर पकड़ने वाला। तरोवर = कल्प व क्ष।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें प्रस्तुत पद में गोपियाँ कृष्ण के प्रेम को कपटपूर्ण व्यवहार घोषित करती हैं। कृष्ण ने पहले तो गोपियों के प्रति अपना प्रगाढ़ प्रेम प्रकट किया। किंतु एक दिन आकस्मिक रूप में उन लोगों को त्यागकर मथुरा चले गए, तथा आज उद्धव के हाथों निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने का संदेश भेज रहे हैं। इस प्रकार कृष्ण ने गोपियों से विश्वासघात किया है।

व्याख्याः हे उद्धव ! कृष्ण ने हमारे प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करके अन्ततः हमारे गले पर छुरी चला दी है और इस प्रकार का व्यवहार किया है जैसा बहेलिया पक्षियों के साथ उन्हें पकड़ने के लिए करता है। बहेलिया सबसे पहले पक्षियों को चुगने के लिए कपटपूर्ण अनाज के दाने डालता है और जब दाने के लालच में वह उसके जाल में फँस जाते हैं तो उनकी अत्यन्त बुरी गत बनाता है। कृष्ण ने भी हमें पहले झूठा प्रेम दर्शाकर अपने कपट-जाल में फँसा लिया और फिर हमें वियोग पीड़ा में तड़पता हुआ छोड़कर स्वयं मथुरा जा बैठे और अब तुम्हारे हाथों निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी संदेश भेजकर मर्मान्तक पीड़ा पहुँचा रहे हैं। कृष्ण ने मुरली के मधुर स्वर रूपी लासा को अपने हाथ रूपी बांस पर लगाकर कम्पा बनाया, तत्पश्चात् मोर पंख के मुकुटरूपी टटिया की आड़ में छिपाकर हम गोपियोंरूपी चिड़ियों को अपने प्रेमजाल में फँसा लिया। और फिर हमें अपनी तिरछी चितवन रूपी ज्वाला में जलने के लिए छोड़ दिया। इस प्रेम की ज्वाला में हमारा सब कुछ होम हो गया, हम अपने शरीर को भी बचाने में सफल न हो सकीं अर्थात् तन-मन से कृष्ण के प्रेम-जाल में फंस

कर उस कपटी बहेलिए के पूर्णरूप से वश में हो गई।

फिर जिस प्रकार बहेलिया पक्षियों को तड़पा-तड़पाकर आग में भूनता है और फिर उनका भक्षण करता है, उसी प्रकार कृष्ण भी वियोगाग्नि में तड़पने के लिए हमें छोड़कर स्वयं मथुरा के लिए प्रस्थान कर गए और न कभी स्वयं ही लौटे और न कभी कोई शुभ समाचार ही भेजा और न ही कभी कोई खोज खबर ली। इसके पश्चात् हम फिर कभी उस कृष्णरूपी कल्प-व क्ष की डाल पर बैठकर आनन्द का उपभोग न कर सकीं। अब हम आश्रयहीन पक्षियों के समान भटकती रहती हैं, अब हमें सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूरा करने वाले कृष्णरूपी कल्पव क्ष की छाया उपलब्ध नहीं होती।

विशेषः-

1. प्रस्तुत पद में बहेलियों के रूप में कृष्ण के छलपूर्ण व्यवहार की निंदा की गई है। व्यंग्य के स्थान पर इसमें दैन्यमिश्रित उपालम्भ है। दैन्य संचारी भाव के रूप में प्रस्तुत हुआ है। उसके साथ भर्त्सना भी है।
2. कृष्ण के विश्वासघात, निष्ठुरता के साथ उनके प्रति गोपियों के असीम अनुराग का मार्मिक चित्र प्रस्तुत हुआ है। कृष्ण गोपियों के लिए कल्पतरु के समान सम्पूर्ण मनोकामनाएँ पूर्ण करने वाले हैं।
3. आकर्षक गेयता।
4. सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति।
5. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
6. आकर्षक बिम्ब-विधान।
7. मधुर लयात्मकता।
8. मधुर भावों की प्रबल अभिव्यक्ति।
9. सम्पूर्ण पद में उपमा से सम्पुष्ट सांगरूपक अलंकार।
10. प्रथम दो पंक्ति में उपमा अलंकार।

।। 76 ।।

कोउ ब्रज बाँचत नाहिन पाती।
कत लिखि लिखि पठवत नंदनंदन कठिन बिरह की काती।।
नयन, सजल, कागद अति कोमल, कर अंगुरी अति ताती।
परसत जरै, बिलोकत भीजै दुहूँ भाँति दुख छाती।।
क्यों समुझैं ये अंक, सूर सुनु कठिन मदन-सर-धाती।
देखे जियहिं स्यामसुन्दर के रहहिं चरन दिनराती।।७६।।

शब्दार्थः कोउ = कोई। बाँचत = बाँचता, पढ़ता। पाती = पत्री, चिट्ठी, पत्र। काती = छुरी। ताती = गर्म। परसत = स्पर्श करते ही। अंक = अक्षर। मदन-सर-धाती = कामदेव के बाणों के समान घातक।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें कृष्ण द्वारा भेजी हुई चिट्ठी को पहले तो गोपियाँ पढ़ने के लिए व्याकुल हो रही थीं। किंतु उसमें

योग का संदेश होने के कारण अब उसे पढ़ना नहीं चाहतीं।

व्याख्या: गोपियाँ कहती हैं कि इस ब्रज में कोई भी कृष्ण द्वारा भेजे हुए पत्र को नहीं पढ़ना चाहती। न जाने क्यों नंदनन्दन कृष्ण हमारी इस वियोगावस्था में इस प्रकार की कठोर एवं छुरी के समान प्राणघातक चिट्ठियाँ लिखकर हमें और भी दुःखी कर रहे हैं। इस पत्र का पढ़ना हमारे लिए सम्भव नहीं हो पा रहा है क्योंकि इसके लिए प्रयुक्त कागज अत्यन्त कोमल है। हमारे नेत्र आँसुओं से भीगे हुए हैं और विरह की अग्नि में जलते रहने के कारण हमारी उंगलियाँ गर्म हैं, इस प्रकार यदि हम इसे स्पर्श करती हैं तो इसके जल जाने का भय है। यदि पढ़ने के लिए देखती हैं तो आँसू गिरने के कारण इसके भीग जाने का भय है। इस प्रकार दोनों स्थितियों में इसे न पढ़ पाने के कारण हमारे हृदय में दुःख हो रहा है। हे उद्धव ! सुनो ! हम कृष्ण द्वारा लिखे हुए इन अक्षरों को किस प्रकार समझे - ये तो हमें कामदेव के कठोर बाणों के समान अत्यधिक पीड़ा पहुँचा रहे हैं। अर्थात् अपने प्रियतम कृष्ण द्वारा लिखित इन अक्षरों को देखकर हमारे हृदय में उनकी स्म ति हो आने से हमारे हृदय में काम-भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे हमारी वेदना और भी बढ़ जाती है। हम तो श्यामसुन्दर कृष्ण को देखकर तथा दिवा-रात्रि उनके चरणों में पड़े रहकर ही जीवित रह सकती है। उनके बिना हमारा यह जीवन व्यर्थ है।

विशेष:-

1. गोपियों की विरह-वेदना साकार हो उठी है, उनके लिए कृष्ण के बिना जीवन जीना कठिन हो रहा है।
2. 'काती', 'ताती' - ये दोनों शब्द लहंदा भाषा से ग हित हैं और आज भी इसी रूप में एवं अर्थ में वहाँ प्रचलित है जबकि ब्रज में अब इनका प्रचलन नहीं रहा।
3. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. प्रसाद-माधुर्य गुण शैली।
5. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का प्रयोग।
6. विप्रलम्भ का सुन्दर चित्रण।
7. प्रभावी अभिव्यंजना।
8. 'लिखि-लिखि' में पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार।
9. 'क्यों ..... धाती' - उपमा अलंकार।

।। 77 ।।

मुकुति आनि मंदे में मेली।
समुझि सगुन लै चलो न, ऊधो! ये सब तुम्हारे पूँजि अकेली।।
कै लै जाहू अनत ही बेंचन, कै लै जाहु जहाँ विष-बेली।
याहि लागि को मरै हमारे वंदावन पाँयन-तर पेली।।
सीस धरे घर घर कत डोलत, एकमते सब भई सहेली।
सूर वहाँ गिरिधरन छबीलो जिनकी भुजा अंस गहि मेली।।७७।।

शब्दार्थ: मुकुति = मुक्ति। मंदे = सस्ता बाजार। अनत = अन्य किसी स्थान पर। विष-बेली =

विष की बेल अर्थात् कुब्जा। याही = इसी। मरै = जान खपाये। पाँयन-तर पेली = पाँव के नीचे कुचल दिया जाएगा। कत = क्यों। डोलत = घूमते हो। अंस = कंधा। मेली = रख ली।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें गोपियाँ अपने दैन्य-भावना, कातरता को त्यागकर पुनः उद्धव के योग-संदेश पर व्यंग्य-बाण छोड़ने के लिए तत्पर हो गई हैं।

व्याख्याः गोपियाँ कहती है कि हे उद्धव ! तुमने निर्गुण-ब्रह्म से प्राप्त मुक्ति का सौदा यहाँ ब्रज के सस्ते बाजार में बेचने के लिए लाकर उतारा है। किंतु यहाँ इसका कोई ग्राहक या खरीददार तुम्हें नहीं मिलेगा। हमें लगता है कि तुम मथुरा से शुभ शगुन में नहीं चले, इसलिए तुम्हारा सौदा यहाँ न बिक सकेगा। तुम्हारे पास यही ही एकमात्र पूँजी है और यदि यहाँ न बिकी तो तुम्हें बड़ी हानि उठानी पड़ेगी, अतः तुम्हारे लिए यही उचित है कि इसे किसी अन्य स्थान पर बेचने के लिए ले जाओ। अथवा इसे यहाँ से ले जाओ जहाँ वह विष की बेल कुब्जा रहती है। वह तुम्हारी इस मुक्ति के महत्त्व को समझती है अतः तुम्हारे वहाँ पहुँचते ही वह तुरन्त इसे खरीद लेगी।

इसके लिए यहाँ ब्रज में कौन अपनी जान खपाता फिरे, अपनी मतिभ्रष्ट करे, यहाँ व॑दावन में तो इसे पाँवों के तले कुचल दिया जाएगा, यहाँ इसके महत्त्व को कोई नहीं समझता, यह सभी के लिए त्याज्य है। इसके बोझ को अपने सिर पर लेकर तुम व्यर्थ ही घर-घर घूम रहे हो और इसे बेचने का प्रयत्न कर रहे हो। वस्तुतः हम सब सहेलियाँ एकमत हो गई हैं और हमने मिलकर इसे न खरीदने का फैसला किया है। इस मुक्ति की तो भोग में पड़े हुए लोगों को आवश्यकता है, हम तो पहले ही कृष्ण के विरह में संतप्त हैं। वह अद्‌भुत छैल-छबीले, रंगीले गोवर्धनधारी कृष्ण वहीं मथुरा में हैं और उनकी भुजाओं को कुब्जा ने पकड़कर अपने कंधे पर रख लिया है। वे दोनों परस्पर रंगरेलियाँ मना रहे हैं, वे दोनों भोगी हैं। सम्भवतः तुम्हारी गुहार सुनकर उनके मन में विरक्ति की भावना उत्पन्न हो जाए और वह तुम्हारी इस मुक्ति को खरीद लें।

विशेषः-

1. गोपियाँ कृष्ण और कुब्जा पर गहरा व्यंग्य कर रही हैं वे दोनों स्वयं तो भोग-विलास में डूबे हुए हैं और उन्हें योग का संदेश भेज दिया है।
2. गोपियाँ मुक्ति को प्रेम की तुलना में हेय और तिरस्कृत घोषित करती हुई अनुराग की महत्ता पर बल देती हैं।
3. 'विष-बेली' - वस्तुतः गोपियों को संदेश है कि उद्धव का लाया हुआ संदेश कुब्जा ने ही भेजा है, इसी कारण वह उसे सारे फसाद की जड़ समझती हैं।
4. आकर्षक गेयता।
5. ब्रजभाषा का प्रयोग।
6. माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति।
7. आकर्षक बिम्ब-विधान।
8. 'भेदे में मेली' में व त्यानुप्रास अलंकार।
9. 'घर-घर' में पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार।
10. 'विष-वेली' में समस्त पद रूप।

।। 78 ।।

हम, अलि, गोकुलनाथ अराध्यो।
मन बच क्रम हरि सो धरि पतिव्रत प्रेमयोग-तप साध्यो।।
मातु-पिता-हित-प्रीति निगम-पथ तजि दुख-सुख-भ्रम नाख्यो।
मान पमान परम परितोषी अस्थिर थित मन राख्यो।।
साकुचासन, कुलसील परस करि, जगत बंध करि बंदन।
मान पवाद पवन-अवरोधन हित-क्रम काम-निकंदन।।
गुरुजन-कानि अगिनि चहुँदिसि, नभ-तरनि-ताप बिनु देखे।
पिवन धूम-उपहास जहाँ तहं, अपजस श्रवन अलेखे।।
सहज समाधि बिसारि बपु करी, निरखि निमेख न लागत।
परम ज्योति प्रतिअंग-माधुरी धरत यहै निसि जागत।
त्रिकुट संग भ्रमग तराटक नैन नैन लगि लागे।
हँसन प्रकास, सुमुख कुंडल मिलि चंद्र सूर अनुरागे।।
मुरली अधर श्रवन धुनि सो सुनि अनहद सब्द प्रमाने।
बरसत रस रुचि-बचन-संग, सुख-पद-आनंद-समाने।।
मंत्र दियो मनजात भजन लगि, ज्ञान ध्यान हरि ही को।
सूर, कहौं गुरु कौन करै, अलि, कौन सनै मत फीको? ।।७८।।

शब्दार्थः अराध्यो = आराधना किया। क्रम = कर्म। निगम पथ = स्त्रियों के लिए वेदों द्वारा निर्धारित मार्ग। नाख्यो = लांघा, पार किया। चित = स्थिर, स्थित। परस = स्पर्श। अवरोधन = रोक दिया है। काम-निकंदन = काम भावना पर विजय प्राप्त कर ली है। कानि = लज्जा, मर्यादा। तरनि = सूर्य। बपु = शरीर। निमेख = निमिष पल। त्रिकुटी = त्रिकुटचक्र, दोनों भौहों के बीच का स्थल। तराटक = त्राटक, योग के छः कर्मों में से एक, टकटकी बाँधकर किसी एक बिंदु पर ध्यान केन्द्रित करना। मनजात = कामदेव। सामने = समा जाना, लीन हो जाना।

प्रसंगः प्रस्तुत पद में गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने प्रेम और आराधना को किसी भी योग-साधना से कम नहीं समझतीं। वह अपनी प्रेम-साधना को योगियों की योग-साधना के साथ तुलना करती हुई उद्धव से कहती हैं।

व्याख्याः गोपियाँ कहती हैं कि हे भ्रमर ! हमने तो केवल गोकुलनाथ कृष्ण की आराधना की है। हमने मनसा, वाचा, कर्मणा अर्थात् मन, वचन, एवं कर्म से कृष्ण के प्रति पतिव्रत धर्म को धारण करते हुए प्रेमरूपी योग की साधना एवं तपस्या की है। जिस प्रकार एक योगी संसार के बंधनों से स्वयं को मुक्तकर, सुख-दुःख के भ्रम से छुटकारा पाकर समरसता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार हमने भी प्रेम-योग में अपने माता-पिता तथा अन्य बंधुओं एवं हितैषियों के स्नेह को, वेदों एवं शास्त्रों द्वारा निर्धारित पथ एवं नारी सुलभ लोक-लज्जा एवं मर्यादा को त्यागकर सुख-दुःख तथा तज्जन्य भ्रम आदि तीनों सांसारिक अवस्थाओं को पार कर लिया है और इस प्रकार अब हमें योगियों के समान ही समरसता की स्थिति प्राप्त हो गई है। हम मान एवं अपमान दोनों स्थितियों में पूर्ण संतुष्ट रहती हैं, हमें अब ये दोनों अवस्थाएँ भी प्रेम-मार्ग से विचलित नहीं कर पाती, हमने अपने अस्थिर एवं चंचल मन को कृष्ण-प्रेम में इस प्रकार एकाग्र कर लिया है कि उस पर मानापमान अथवा सांसारिक प्रलोभनों का कोई प्रभाव नहीं होता।

जिस प्रकार योगी आसन पर बैठकर ध्यान करता है, जल को हाथ में लेकर आचमन करता है। और फिर संसार द्वारा पूज्य ब्रह्म की वंदना करता है, उसी प्रकार हमने भी संकोच को अपना आसन बनाया है। अर्थात् अब हम सारे संसार से विरक्त हो गई हैं और अपने प्रेम को केवल कृष्ण में ही सीमित एवं संकुचित कर लिया है। अर्थात् कुल की मर्यादा और नारी सुलभ सहज गुणशीलता का हमने आचमन कर लिया है अर्थात् कुल की मर्यादा और शील की भावना को स्वयं में आत्मसात् कर लिया है और इस प्रकार अब हमारे लिए कुल मर्यादा और शील की भावना का अस्तित्व ही नहीं रहा इस स्थिति में अर्थात् संकोचरूपी आसन पर बैठकर, कुल-मर्यादा एवं शील की भावना का आचमन करके हम संसार द्वारा पूज्य श्री कृष्ण की वंदना करती रहती हैं जिस प्रकार योगी प्राणायाम द्वारा कामभावना को पूर्णतया नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हम भी मानापमान-प्रशंसा एवं बुराई की भावना को सर्वदा त्याग चुकी हैं तथा इन्हीं के द्वारा ही हमने काम-वासना पर विजय प्राप्त कर ली है।

जिस प्रकार योगी ब्रह्म प्राप्ति के लिए पंचाग्नि में तपकर साधना करते हैं। उसी प्रकार हम भी कृष्ण को प्राप्त करने के लिए तपस्या कर रही हैं। इसके लिए हमने अपने चारों ओर गुरु-जनों की मर्यादारूपी अग्नि प्रज्जवलित कर रखी है। अर्थात् हम अपने गुरु-जनों की मर्यादा का पूर्ण पालन करने के लिए कोई भी अमर्यादित-उच्छ ंखलता पूर्ण कार्य नहीं करती। जिस प्रकार योगी पाँचवी-अग्नि के रूप में सूर्यताप को सहन करता है, उसी प्रकार हम भी कृष्ण की वियोगजन्य अग्नि के ताप को झेल रही हैं। जिस प्रकार योगी पंचाग्नि से उत्पन्न धुएँ का पान करता है। उसी प्रकार हम भी संसार द्वारा किए गए उपहासरूपी कड़वे धुएँ का पान कर रही हैं अर्थात् संसार के उपहास को सहन कर रही है, जिस प्रकार योगी अपने मन को पूर्णतः एकाग्रकर, अपनी श्रवण-शक्ति पर आधिपत्य पा लेता है और इस प्रकार किसी भी होने वाली ध्वनि से उसका ध्यान भंग नहीं होता, उसी प्रकार हम भी संसार में व्याप्त अपने अपयश को धैर्यपूर्वक सुनती हैं किंतु उसकी अवहेलना नहीं करती हैं, उससे प्रभावित हो दुःख अनुभव नहीं करती।

जिस प्रकार योगी अपने ध्यान की पूर्णता ब्रह्म में लीनकर सहज समाधि की अवस्था धारण कर लेता है। उसी प्रकार हम भी अपने शरीर की समस्त सुधि खोलकर कृष्ण ध्यान में लीन है। हमारी पलकें टकटकी बाँधे है, पलभर को भी नहीं झपकती। जिस प्रकार योगी रात को जागकर परम-ज्योति अर्थात् ब्रह्म के दर्शनों का आनन्द-लाभ उठाता है। उसी प्रकार हम भी रात-रात भर जागते हुए कृष्ण के प्रत्येक अंग के सौन्दर्य एवं रूप-माधुरी का स्मरण करती हैं और उनके दर्शनों का लाभ उठाती हैं। इस प्रकार हम योगियों के समान 'सुज्जान-अवस्था' को पारकर 'मुक्तावस्था' को प्राप्त कर चुकी हैं। योगी त्रिकूट-चक्र में अपने ध्यान को अर्थात् अनिमेष रूप से अपनी द ष्टि को केन्द्रित कर लेते हैं, उनकी भाँति हम भी ध्यान को कृष्ण के भ्रू-भंग पर केन्द्रित कर उनके भावों को जानने की चेष्टा करती रहती हैं। योगी इस स्थिति में 'पूर्ण स्थिर' हो जाते हैं। इस अवस्था को 'त्राटक मुद्रा' धारण करना कहते हैं जबकि हम अपने नेत्रों को प्रियतम कृष्ण के नेत्रों से मिलाकर उनकी ओर टकटकी बाँधे देखती रहती हैं - हमारी यह अवस्था पूर्ण स्थिर है और त्राटक मुद्रा के समान है।

जिस प्रकार योगी की कुण्डलिनी, इड़ा, पिंगला आदि नाड़ियों को भेदती हुई सुषुम्ना नाड़ी से होकर छः चक्रों को भेदती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है तथा इस स्थिति में पहुँचकर साधक को परम ज्योति के दर्शन होते हैं। यहाँ चन्द्र और सूर्य मिलकर एकाकार हो जाते हैं और परम ज्योति का प्रकाश चारों ओर फैलकर सारे संसार को ज्योतिमान करता है। उसी प्रकार हम भी कृष्ण के सुन्दर

एवं शीतलतादायक मुखरूपी चन्द्र तथा कानों में पड़े कुण्डलरूपी सूर्य के सम्मिलित प्रकाश से युक्त कृष्ण के शोभायमान मुख पर परम ज्योति के समान व्याप्त मुस्कान के दर्शन करती हैं और इस प्रकार स्वयं को धन्य मानती हैं। योगी सहज समाधि में स्थिति अहनद-नाद का श्रवण करता है, उसी के समान हम भी कृष्ण के सुशोभित अधरों पर स्थित मुरली की मधुर तान को सुनती हैं। योगी अपनी जिह्वा को उलटकर ब्रह्मरन्ध्र से प्रवाहित अम त रस का पान करके आनन्द अनुभव करता है। जबकि हमें कृष्ण के प्रिय एवं मधुर बोलों को सुनकर अम तरस के समान आनन्द मिलता है। योगी इस अवस्था में पहुँचकर पूर्ण रसलीन हो जाता है जबकि हम कृष्ण के साथ रासरंग, क्रीड़ा-विहार में पूर्ण सुख का अनुभव करते हुए रसलीन हो जाती हैं और हमें संसार की सुधि नहीं रह जाती है।

योगी किसी गुरु से मंत्र प्राप्त कर योग-साधना की ओर प्रव त्त होता है और ब्रह्म में ध्यान लगाता है। उसी भाँति हमने भी कामदेवरूपी गुरु से कृष्ण-प्रेमरूपी मंत्र ग्रहण किया है और निरन्तर कृष्ण के ध्यान में खोई रहती हैं। अतः हे भ्रमर ! अब तुम्हीं यह बताओ इस स्थिति में हम किसी अन्य को किस प्रकार अपना गुरु धारण कर लें ? अर्थात् अब हम तुम्हें अपना गुरु धारण करके योग मार्ग की दीक्षा लेने में असमर्थ हैं। इसी कारण हम तुम्हारे इस नीरस योग-सिद्धान्त को सुनना नहीं चाहती।

विशेषः-

1. गोपियों की अटल प्रेम-भावना।
2. द ढ़ निश्चय के साथ प्रेम पथ के राही।
3. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. आकर्षक गेयता।
5. सुन्दर लयात्मकता।
6. सुन्दर बिम्ब-विधान।
7. वाक्पटुता का सुन्दर चित्रण।
8. योग सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग।
9. सम्पूर्ण पद में सांगरूपक अलंकार।
10. 'सूर, कहौं ..... फीको .....' में व्यतिरेक अलंकार।

।। 79 ।।

कहिबे जीय न कछु सक राखो
लावा मेलि दए हैं तुमको बकत रहौ दिन आखो
जाकी बात कहौ तुम हमसौ सो धौं कहौ को काँधी।
तेरो कहो सो पवन भूस भयो, बहो जात ज्यों आँधी।।
कत श्रम करत, सुनत काहयौं है, होत जो बन को रोयो।
सूर इते पै समुझत नाहीं, निपट दई को खोयो।।७६।।

शब्दार्थः जीय = मन। सक = शक, संदेह। लावा मेलि दए = जादू-टोना करके पागल कर देना।

बकत = बोलते रहना। आखो = पूरा, सारा। काँधी = स्वीकार की, अंगीकार की। दई को खोयो = नासमझ, गया-बीता।

प्रसंगः प्रस्तुत पद में गोपियों के अनेक प्रकार से समझाने-बुझाने और विरोध करने पर भी उद्धव अपनी ज्ञान-चर्चा बंद नहीं करते, इस पर गोपियाँ खीझ उठती हैं। उनकी यही खीझ प्रस्तुत पद में व्यक्त हुई हैं।

व्याख्याः गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव ! तुमने जो कुछ कहना है, कह डालो, तनिक भी संकोच न करो। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ने तुम पर जादू-टोना करके पागल बना दिया है, इसी कारण तुम सारा दिन बकते रहते हो। तुम हमसे जिस ब्रह्म को स्वीकार कर लेने की बातें कर रहे हो, क्या उसे पहले भी किसी ने स्वीकार या अंगीकार किया है? अब तक निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में जो कुछ भी तुमने कहा है, वह यहाँ ऐसे विलीन हो गया है जैसे आँधी भूसे को उड़ाकर ले जाती है और उसका निशानमात्र भी नहीं रहता, अर्थात् यहाँ तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म उपदेश का किसी पर भी रंचमात्र प्रभाव नहीं पड़ा। तुम अपनी बातों को कहने में व्यर्थ इतना श्रम कर रहे हो, यहाँ पर कोई ध्यान देने व आचरण करने वाला नहीं है। यहाँ तुम्हारा यह उपदेश उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार निर्जन वन में किसी विपत्तिग्रस्त व्यक्ति का सहायता के लिए चिल्लाना क्योंकि वहाँ उसकी सहायता करने के लिए कोई नहीं आने वाला। हमें इस बात का अत्यन्त खेद है कि तुम्हें इतना समझाने पर भी तुम समझ नहीं पा रहे, तुम तो निरे मूर्ख हो।

विशेषः-

1. गोपियों को कृष्ण के प्रति प्रेम-भाव।
2. गोपियों की वाक्पटुता।
3. सम्पूर्ण पद में व्यंग्य की छटा दर्शनीय है।
4. 'आखो' - गुजराती शब्द है जिसका अर्थ है पूरा-सारा।
5. 'बकत रहौ दिन आखा', इस पंक्ति से यह ध्वनि निकलती है कि गोपियों के लिए उद्धव के ब्रह्म ज्ञान सम्बन्धी समस्त उपदेश पागलों के प्रभाव के समान अनर्गल, व्यर्थ एवं मूर्खतापूर्ण हैं।
6. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
7. प्रसाद माधुर्य गुणसम्पन्न शैली।
8. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का योग।
9. विप्रलम्भ का सुन्दर चित्रण।
10. प्रभावी अभिव्यंजना।

।। 80 ।।

अब नीके कै समुझि परी।
जिन लगि हुती बहुत उर आसा सोम बात निबरी।।
वै सुफलकसुत, ये साखि। ऊधो मिली एक परिमाटी।
उन तो वह कीदी तब हमसो, ये रतन छँड़ाई गहावत माटी।।
ऊपर म दु भीतर ते कुलिस सम, देखत के अति भोरे।

जोइ जोइ आवत वा मथुरा तें एक डार के से तोरे।।
यह सखि, मैं पहिले कहि राखी असित न अपने होंहीं।
सूर कोटि जौ भायो दीजै चलत आपनी गौं हीं।।८०।।

शब्दार्थः नीके कै = भली-भाँति। हुती = थी। निबरी = समाप्त हो गई। परिमाटी = परम्परा। सुफलकसुत = अक्रूर जी। गहावत = ग्रहण करने को कहते हैं। माटी = धूल के समान व्यर्थ निर्गुणोपदेश। रतन = रत्नों के समान कृष्ण प्रेम। छँड़ाई = छुड़ाकर, छीनकर। कुलिस = वज्र के समान कठोर। असित = श्यामवर्णीय। माथो दीजै = सिर फोड़े, प्रणाम करे। गौं = गैल, रास्ता।

प्रसंगः उद्धव के ब्रज आगमन के समय गोपियों को कृष्ण की ओर से शुभ-संदेश की अपेक्षा थी। किंतु उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश को सुनकर वे निराश हो गई और उद्धव को खरी-खोटी सुनाने को तत्पर हो उठीं।

व्याख्याः अब उद्धव के ब्रज पधारने का मूल उद्देश्य हमारी समझ में भली-भाँति आ गया है। इनके दर्शन करके हमारे मन में यह आशा उठी थी कि अब हमें कृष्ण के शीघ्र लौटने का संदेश प्राप्त होगा। किंतु अब सब कुछ समाप्त हो गया है। हे सखी ! वह अक्रूर और यह उद्धव - ये दोनों एक ही परम्परा से सम्बद्ध है - दोनों का एक ही उद्देश्य को लेकर ब्रज आगमन हुआ था। वह कृष्ण को हमसे छीनकर ले गए थे, यह उनकी स्म ति को हमसे छीनने आए हैं। अक्रूर शीघ्र ही कृष्ण को ब्रज लौटा जाने का आश्वासन देकर उन्हें यहाँ से ले गए और वह फिर कभी न लौटे, अब यह उद्धव कृष्ण की स्म ति रूपी अमूल्य रत्न को हमसे छीनकर प्रतिकार में धूल के समान व्यर्थ निर्गुण-ब्रह्म को हम पर थोपना चाहते हैं। ये लोग ऊपर से म दुभाषी और कोमल-हृदय प्रतीत होते हैं किंतु इनके हृदय भीतर से पत्थर से भी कठोर हैं, और उनमें कपट भरा हुआ है। ये वस्तुतः कृष्ण के समान कठोर और छली हैं।

वह मथुरा वस्तुतः कपट की नगरी है, वहाँ से जो भी आते हैं, सभी एक ही डाली के तोड़े हुए फलों के समान कपटपूर्ण व्यवहार में दक्ष हैं। हे सखी ! मैंने तो पहले ही कह रखा था ये श्यामवर्णी कपटी होते हैं, ये अपने नहीं हो सकते, और न ही इन पर विश्वास किया जा सकता है। तुम इनके साथ लाख सिर फोड़ो, माथापच्ची करो किंतु इनमें सुधार होना सम्भव नहीं, ये सदा अपनी ही चाल चलेंगे। उचित बात इनकी समझ में नहीं आती।

विशेषः-

1. गोपियों की द ष्टि में श्यामवर्णी - कृष्ण, अक्रूर और उद्धव सब कपटी हैं, ऊपर से कोमल दिखाई देते हैं किंतु हैं वस्तुतः कठोर।
2. अंतिम पंक्ति का यह भी अर्थ हो सकता है कि तुम चाहे लाख बार इनके (उद्धव के) सम्मुख शीश झुकाओ, इन्हें प्रणाम करके सम्मानित करो किन्तु ये अपना कपटपूर्ण व्यवहार नहीं छोड़ेंगे। सदा अपनी ही स्वार्थसिद्धि में लगे रहेंगे।
3. गोपियों की वाक्पटुता का सुन्दर चित्रण।
4. सम्पूर्ण पद में व्यंग्य की छटा दर्शनीय है।
5. ब्रजभाषा का प्रयोग।
6. सुन्दर भावाभिव्यंजना।

7. आकर्षक गेयता।
8. सुन्दर बिम्ब-विधान।
9. तत्सम् के साथ तद्भव शब्दों का प्रयोग।
10. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।

।। 81 ।।

मधुकर रह्यौ जोग लौं नातो
कतहि बकत बेकाम काज बिनु, होय न हयाँ ते हातो।
जब मिलि मिलि मधुपान कियो हो तब तू कहि धौं कहाँ तो
तू आयो निगुन उपदेसन सो नहिं हमैं सुहातो।
काँचे गुन लै तनु ज्यों बेधौ, लै बारिज को ताँतो।
मेरे जान गह्यो चाहत हौ फेरि कै मैगल मातो।
यह लै देहु सूर के प्रभू को आयो जोग जहाँ तो।
जब चाहिहैं तब माँगि पठैहे जो कोउ आवत-जातो।।८१।।

शब्दार्थः लौं = तक। बकत = बोलना। हातो = दूर, अलग। तो = था। गुन = धागा। तांतो = तन्तु, रेशा। बारिज = कमल। मैगल = हाथी। मातो = मदमत्त। तो = से। आवत = जातो = मथुरा जी की ओर से आता-जाता हुआ व्यक्ति अर्थात् यात्री।

प्रसंगः प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-योग के सन्देश को बार-बार सुनकर खीझ उठती हैं और भ्रमर के माध्यम से उन्हें खूब फटकारती है। गोपियों को योग स्वीकार्य नहीं है, वे तो कृष्ण के प्रेम में पगी हैं।

व्याख्याः हे भ्रमर! यदि हम एक बार यह स्वीकार कर लें कि कृष्ण ने तुम्हारे द्वारा हमें यह योग-सन्देश भेजा है तो क्या उनसे हमारा सम्बन्ध योग तक ही सीमित है। तुम्हें तो वास्तविकता का ज्ञान नहीं, इसी कारण तुम व्यर्थ ही बिना काम के बकते चले जा रहे हो। तुम यहाँ हमें क्यों और भी दुःखी कर रहे हो, यहाँ से कहीं दूर जाकर हमारी नजरों से ओझल क्यों नहीं होते। उस समय तुम कहाँ थे, जब कृष्ण हमारे साथ प्रेम क्रीड़ाएँ करते समय हमारे अधरों का रसपान किया करते थे? हम उन मधुर क्षणों की स्म ति में इस प्रकार डूबी हुई हैं कि तुम्हारे द्वारा लाया यह निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश स्वीकार करना हमारे लिए उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार कच्चा धागा अर्थात् सत् का डोरा लेकर शरीर को बाँधने का प्रयत्न असम्भव है। क्योंकि कच्चा धागा कमजोर होता है, उसके तुरन्त टूट जाने के कारण उसे शरीर पर बाँधा नहीं जा सकता। तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कराने का प्रयत्न वैसा ही व्यर्थ है जैसा कमल के कोमल तन्तुओं द्वारा एक मदमस्त हाथी को बाँधकर अपने वश में करने का प्रयत्न व्यर्थ है।

अतः तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम इसे वहीं ले जाओ जहाँ से लाए हो, अर्थात् इसे कृष्ण के पास ले जाओ और उन्हें लौटा दो, वे दिवारात्रि कुब्जा के साथ भोग-विलास में निमग्न रहते हैं, उन्हें ही इसकी आवश्यकता है और वे ही इसका उचित उपयोग कर सकते हैं। जब हमें इस योग एवं निर्गुण ब्रह्म की आवश्यकता अनुभव होगी तो हम किसी मथुरा आने-जाने वाले यात्री से इसे मँगा लेंगी।

विशेषः-

1. गोपियाँ किसी प्रकार उद्धव तथा उनके निर्गुण ब्रह्म से पीछा छुड़ाना चाहती हैं। इसलिए वे उन्हें आश्वासन दे रही हैं कि वे इसे मथुरा ले जायें, जब उन्हें आवश्कता पड़ेगी, वे मँगा लेंगी। उनकी यह व्यंग्योक्ति अत्यन्त कलात्मक बन पड़ी है।
2. गोपियों की वाक्पटुता का सुन्दर चित्रण।
3. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
5. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का प्रयोग।
6. सुन्दर गेयता।
7. आकर्षक भावाभिव्यंजना।
8. विप्रलम्भ का सुन्दर चित्रण।
9. सुन्दर बिम्ब-विधान।
10. सम्पूर्ण पद में उपमा अलंकार।
11. 'काँचे.....माते.....' में निदर्शना अलंकार।

।। 82 ।।

मोहन माँगो अपनो रूप
या व्रज बसत अँचै तुम बैठीं, ता बिनु तहाँ निरूप।
मेरो मन, मेरो आल! लोचन लै जो गए धुपधूप।
हमसो बदलो लेन उठि धाए मनो धारि कर सूप।
अपनो काज सँवारि सूर, सुनु, हमहिं बतावत कूप।
लेवा-देह बराबर में है, कौन रंक को भूप।।८२।।

शब्दार्थः अँचै = आचमन कर बैठी। निरूप = रूपहीन, निराकार। धुपधूप = दिन दहाड़े। सँवारि = सँवारकर, बनाकर। लेवा लेइ = लेन-देन। रंक = निर्धन/गरीब।

प्रसंगः प्रस्तुत पद में उद्धव बार-बार निर्गुण-निराकार ब्रह्म की रट लगाए रहते हैं। इस पर एक गोपी प्रकारान्तर से राधा के कृष्ण-प्रेम की प्रशंसा करती हुई राधा से कहती है कि मोहन ने उसका रूप मँगा भेजा है।

व्याख्याः हे सखी राधा! मोहन ने उद्धव द्वारा तुमसे वह रूप मँगा भेजा है जिसे तुमने उनके यहाँ ब्रज में रहते समय स्वयं में आत्मसात कर लिया था। उनका वह रूप अभी भी तुम्हारे पास है और कृष्ण उस रूप के बिना वहाँ मथुरा में निराकार बने हुए है। तभी तो उन्होंने हमसे निर्गुण ब्रह्म को अपना संदेश लेने भेजा है, जिससे तुम उन्हें छोड़कर निराकार ब्रह्म की प्रार्थना करो जिससे उन्हें अपना रूप प्राप्त हो सके।

अब राधा इस गोपी की बात का उत्तर देती हुई कहती है कि हे सखी! यदि वह अपना रूप मुझसे वापस माँगते हैं तो मेरा मन जो वह दिन-दहाड़े अपनी बाँकी चितवन से चुराकर ले गए थे, मेरा अपना है। वह पहले मेरा मन तो मुझे लौटाएँ। यह तो न्यायोचित नहीं कि वह तो अपनी वस्तु

लौटाने को कहते हैं, और दूसरे की वस्तु देना नहीं चाहते।

उनसे बढ़कर एक यह उद्धव है जो दाना-पानी लेकर यहाँ आ गए हैं, और बदला लेने के लिए हमारे पीछे पड़ गए हैं। अर्थात् यह उद्धव भी एक ही हैं। हमारी वस्तु लौटवाने का नाम नहीं लेते और कृष्ण का रूप वापिस लेने के लिए भागे चले आये है। इस प्रकार यह उद्धव तो अपना काम बना लेना चाहते हैं और हमें निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश देकर कुएँ में धकेलना चाहते हैं। वस्तुतः सच तो यह है कि लेन-देन में तो समानता का व्यवहार चलता है, उसमें बड़ा-छोटा कोई नहीं होता और न ही राजा एवं रंक का मतभेद होता है, अतः न्यायोचित यही है कि यदि कृष्ण को अपना रूप वापिस लेना है तो पहले वह हमारा मन लौटा दें।

विशेषः-

1. हम सो.....कर सूप' - सूप हाथ में लेकर किसी के पीछे पड़ जाना एक ग्रामीण मुहावरा है जिसका अर्थ है कि हाथ धोकर किसी के पीछे पड़ जाना।
2. 'बतावत कूप'- भी एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है कि हमारी ओर से चाहे तुम कुएँ में पड़ो, हमें इससे कोई मतलब नहीं।
3. इस पद में राधा द्वारा कृष्ण का रूप आत्मसात् कर लेने मे गर्व नामक संचारी भाव है।
4. मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा की व्यंजना-शक्ति में व द्धि हुई है।
5. ब्रजभाषा का प्रयोग।
6. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. सुन्दर - अभिव्यंजना।
8. आकर्षक गेयता।
9. सुन्दर बिम्ब-विधान।
10. अलंकार
    (क) मनो.....सूप' में व्यंग्योक्ति अलंकार।
    (ख) 'या.....निरूप' - उत्प्रेक्षा अलंकार।
    (ग) सम्पूर्ण पद में परिव त्ति अथवा विनिमय अलंकार।

।। 83 ।।

हरि सों भलो से पति सीता को।
बन-बन खोजत फिरे बंधु-सँग, कियो सिंधु बीता को।
रावन मारयो, लंका जारी, मुख देख्यो भीता को।
दूत हाथ उन्हैं लिखि न पठायो निगम ज्ञान गीता को।
अब धौं कहा परेखो कीजै कुब्जा के मीता को।
जैसे चढ़त सबै सुधि भूली, ज्यों पीता चीता को?
कीन्हीं कृपा जोग लिखि पठयो, निरखु पत्र री! ताको।
सूरदास प्रेम कह जानै लोभी नवनीता को।।८३।।

शब्दार्थः भलो = अच्छा। बीता = बालिश्त। भीता = भयभीत। मीता = मित्र स्नेही। पीता = मदिरा पीने वाला। चीता = चैतन्य हुआ। ताको = उनका। नवनीता = मक्खन।

प्रसंगः प्रस्तुत पद में गोपियों के विरह का वर्णन करते हुए कवि लिखता है कि विरहिणी गोपियों के दुःख की कोई सीमा नहीं, इस पर कृष्ण ने उन्हें योग का संदेश लिख भेजा है। उनसे तो उन्हें सहानुभूति की अपेक्षा थी। ऐसे समय में उनके मानस-पटल पर विरहिणी सीता की स्म ति उभर आती है उन्हें प्राप्त करने के लिए राम ने रावण के साथ भयंकार युद्ध किया था और लंका पर विजय प्राप्त करके सीता का उद्धार किया था। एक कृष्ण हैं जिन्होनें गोपियों के निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने की बात करते हुए राधा अपनी एक सखी से कहती है-

व्याख्याः कृष्ण से कहीं अधिक भले और अच्छे तो सीता के पति राम थे। सीता का हरण हो जाने पर उन्हें राम ने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ वन-वन ढूँढ़ा था। जब उन्हें सूचना मिली कि सीता समुद्र पार लंका में हैं तो उन्होंने अपने अथक परिश्रम से सिन्धु पर पुल बाँधा और उसे इस प्रकार पार कर गए जैसे वह बालिश्त भर चौड़ी पानी की नाली हो। उन्होंने महान पराक्रम प्रदर्शित करते हुए रावण का वध किया। लंका को तहस-नहस कर डाला और अन्त में रावण के त्रास से संतप्त एवं भयभीत अपनी प्रिया सीता के दर्शन किए और उन्हें त्रासमुक्त किया। राम ने हमारे इन कृष्ण के समान अपने दूत द्वारा सीता के पास शास्त्रीय ज्ञान और गीता के उपदेश का संदेश नहीं भेजा था। अपितु राम ने दूत हनुमान के हाथों सीता को यह संदेश भेजा था कि वह धैर्य धारण करें, प्रभु को उनकी सुधि है। वह शीघ्र ही रावण का नाश करके उनके संताप को दूर करेंगे।

हमारे कृष्ण तो कुब्जा के प्रेम में निमग्न हैं, आज उसके मीत बने हुए हैं। उससे प्रभावित होकर उन्होंनें हमें योग का संदेश लिखकर भेजा है, अतः ऐसे पराधीन व्यक्ति की बातों का क्या बुरा मानें। कुब्जा के प्रेम में मदमत्त हुए उनकी गति ही ऐसी है और आज वह हमें इस प्रकार विस्म त कर बैठें हैं जिस प्रकार मदिरापान के उपरान्त मस्त शराबी अपनी चैतन्यता खो बैठता है और उसे अपने स्नेही जनों की स्म ति नहीं रहती।

हे सखी। उन्होनें हम पर अत्यधिक कृपा की है जो योग का संदेश लिखकर भेजा है, इस बहाने हमें स्मरण तो किया है। जरा इनके पत्र को तो देखो। जो केवल मक्खन में ही रुचि रखता है, वह प्रेम के महत्त्व को किस प्रकार जान सकता है? मक्खन यूँ ही अनायास प्राप्त नहीं हो जाता उससे पूर्व दही बिलौना अदि अनेक क्रियाएँ सम्पन्न होने पर ही मक्खन प्राप्त हो सकता है, इसी भाँति नाना प्रकार के कष्टो को सहन कर, वियोग के ताप को बर्दाश्त करते हुए प्रेम जैसी 'स्निग्ध' एवं 'सारभूत' वस्तु उपलब्ध होती है। कृष्ण इन क्रियाओं से नहीं गुजरे। इसी कारण वह प्रेम के महत्त्व को नहीं जानते, वह तो मक्खन के लोभी अर्थात् इन्द्रिय-सुख में रुचि रखते हैं तभी तो हमें यहाँ बिलखता हुआ छोड़कर वहाँ मथुरा में कुब्जा के साथ भोग-आनन्द में निमग्न हैं।

विशेषः-

1. प्रस्तुत पद में राम और कृष्ण के प्रिय-प्रेम का अत्यन्त प्रभावशाली एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।
2. अनेक चित्तव त्तियों के संश्लिष्ट वर्णन द्वारा उपालम्भ का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया है।
3. इस पद में असूया संचारी भाव का चित्रण हुआ है।
4. 'जैसे-चढ़त....चीता को' इस पंक्ति में कृष्ण के कुब्जा-प्रेम में निमग्नता की तुलना चैतन्यता

खोए हुए शराबी से की गई है, जिससे यह ध्वनि निकलती है कि जिस प्रकार शराबी नशे के प्रभाव तक ही अपने स्नेहीजनों की सुधि नहीं रखता उसी प्रकार कुब्जा के प्रेम में पड़े कृष्ण की विस्म ति भी अस्थायी है, वह शीघ्र ही इस स्थिति से उबरेंगे और हमारी सुधि लेंगे।

5. 'किन्हीं.....ताकों' में मधुर किन्तु तीखा व्यंग्य है।
6. आकर्षक गेयता।
7. सुन्दर लयात्मकता।
8. सुन्दर बिम्ब - विधान।
9. वाक्पटुता का सुन्दर चित्रण।
10. 'बन-बन'.....पुनरुक्तिप्रकाश।

।। 84 ।।

निरमोहिया सों प्रीति कीन्ही काहे न दुख होय?
कपट करि करि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय।।
काल मुख तें काढ़ि आनी बहुरि दीन्हिं ठोय।
मेरे जिय की सोइ जानै जाहि बीती होय।।
सोच आँखि मँजीठ कीन्हीं निपट काँची पोय।
सूर गोपी, मधुप आगे दरकि दीन्हीं रोय।।८४।।

शब्दार्थः निरमोहिया = निर्मोही। गोय = चुराकर, छिपाकर। बहुरि = फिर। नेय = धकेल दिया। मँजीठ = लाल। पोय = पकाना। दरकि = फूट-फूटकर।

प्रसंगः कृष्ण के उपेक्षापूर्ण व्यवहार पर गोपियों की मर्मान्तक पीड़ा हो रही है। अपने प्रिय की उपेक्षा सदैव सहन नहीं होती गोपयों की अब इस बात का खेद है कि उन्होंने कृष्ण जैसे निर्मोही के साथ प्रेम ही क्यों किया। प्रस्तुत पद में उनकी यही पीड़ा व्यक्त हुई है।

व्याख्याः प्रेम-भावना से रहित निर्मोही व्यक्ति से प्रेम करने पर क्यों न दुःख हो? अर्थात् निर्मोही कृष्ण से प्रेम किया जिससे अब हमें यह दुख झेलना पड़ रहा है। वह कपटी था और हमारे प्रति ऊपरी कपटपूर्ण प्रेम प्रदर्शित कर अर्थात् थोथा प्रेम प्रदर्शित कर हमारे मन को चुपचाप चुराकर अपने साथ ले गया। उद्धव के ब्रज आगमन पर हमने समझा था कि अब हमारे दुख के दिन व्यतीत हो गए क्योंकि हमें आशा थी कि वह वियोग रूपी काल के मुख से हमारा उद्धार करने के लिए आए हैं। अर्थात् वह कृष्ण के शीघ्र यहाँ पर आने का संदेश लेकर आए हैं। जिससे हमारा वियोग-संताप दूर होगा किंतु उन्होंने उनके आने की आशा दिलाकर क्षण भर के लिए जो हमें काल के मुख से निकाला था, पुनः उसी में धकेल दिया है अर्थात् हमें अपने को भूल जाने और निराकार-उपासना का संदेश देकर मर्मान्तक दुख दे रहे हैं। हमारे हृदय की इस मार्मिक वेदना को केवल वही अनुभव कर सकता है, जिसने प्रिय-वियोग की वेदना को अनुभव किया हो। हमें इस बात का अत्यन्त खेद है कि कृष्ण के पूर्ण रूप से कच्चे अर्थात् ऊपरी प्रेम को हमने सच्चा परिपक्व समझा और हमने उनके वियोग में रो-रोकर अपनी आँखे मजीठ के रंग की भाँति लाल कर ली हैं। अब हमारी आँखो की अवस्था ऐसी हो गई है जैसे गीली लकड़ियों को फूँक-फूँककर जलाने और उन पर रोटियाँ सेकने से हो जाती हैं।

इस प्रकार कृष्ण की निर्मोहिता का वर्णन करते-करते उनकी निर्ममता तथा वियोगजन्य व्यथा के कारण वह फूट-फूट कर रो उठीं।

विशेषः-

1. अंतिम पंक्ति में गोपियों की समस्त वेदना साकार हो उठी है। इसमें गर्व एवं उपालम्भ का भाव लगभग विलुप्त हो गया है तथा उसके स्थान पर विवशता तथा दैन्य का भाव व्यंजित हुआ हैं
2. 'मेरे जिय की सोई जानै जाहि बीती होय'-इस पंक्ति से मिलता-जुलता भाव मीरा में भी उपलब्ध होता है। देखिए निम्न पंक्ति-
   'घायल की गति घायल जानै, और न जानै कोय।'
3. सुन्दर लयात्मकता।
4. आकर्षण गेयता।
5. सुन्दर बिम्ब-विधान।
6. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. ब्रजभाषा का प्रयोग।
8. सुन्दर अभिव्यंजना।
9. भाषा सहज-सरल।
10. अलंकार-प्रथम एवं पंचम पंक्ति में लोकोक्ति।

।। 85 ।।

बिन गोपाल बैरिन भईं कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजै।
ब था बहति जमुना, खत बोलत, ब था कमल फूलै अलि गुंजै।
पवन पानि धनसार संजीवनि दक्षिसुत किरन भानु भईं भुंजै।
ए, ऊधो, कहियो माधव सों बिरह कदन करि मारत लुंजै।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भई बरन ज्यों गुंजै।।८५।।

शब्दार्थः विषम = भयानक। पुंजै = समूह। ब था = व्यर्थ। अलि = भ्रमर। गुंजै = गुंजार करते है। पानि = जल। धनसार = कपूर। दक्षिसुत = चन्द्रमा। भानु = सूर्य। भुंजै = भुनती है। कदन= छुरी। लूजै = लुज पुज बना रहीं है। बरन = वर्ण रंग। गुंजै = गुंजा।

प्रसंगः यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि संयोग काल में सुखदायी वस्तुएँ वियोगावस्था में विरहजन्य पीड़ा को बढ़ाती है। प्रस्तुत पद में गोपियों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का उद्‌घाटन किया है कि व न्दावन की कुँज गलियाँ गोपाल की अनुपस्थिति में बैरिन हो गई है।

व्याख्याः कृष्ण की अनुपस्थिति में वन में सुखदायक कुंजें जिनमें हम उनके साथ क्रीड़ा-विहार करती थी, शत्रु के समान हमें पीड़ा पहुँचा रही है। जब कृष्ण यहाँ थे तब ये लतायें हमें अत्यन्त शीतलता प्रदान करती थीं किंतु अब उनके अभाव में ये भयानक अग्नि-ज्वालाओं के समूह के समान दग्ध करने वाली बन गई है। अब यह यमुना व्यर्थ प्रवाहित होती है तथा पक्षी भी व्यर्थ ही चहचहा

रहे हैं एवं बोल रहे हैं। व्यर्थ ही कमल विकसित होते हैं तथा उन पर व्यर्थ ही भ्रमर गुंजार करते हैं अर्थात् अब इन सबको देखकर हमें दुःख होता है। ये बातें सुखदायी तभी थी जब कृष्ण यहाँ थे, अब हमारे लिए इनकी कोई उपयोगिता नहीं रही। संयोगावस्था में वायु, जल, कपूर आदि हमें संजीवनी बूटी के समान जीवनदायक प्रतीत होते थे? किंतु अब हमें विरह में संतप्त करने वाले हैं। उस समय चंद्रमा की किरणे सुख एवं शांतिदायक थी किंतु अब ग्रीष्मकालीन सूर्य की तप्त किरणों के समान भूलने वाली बन गई है।

हे उद्धव! तुम माधव से जाकर यह कहना कि उनका विरह बधिक के समान हमें गोद-गोद कर हमारे अंग-प्रत्यंगों को क्षीण किए दे रहा है। अर्थात् हमें मारे डाल रहा है। कृष्ण की बाट जोहती अर्थात् राह देखती अँखियों गुंजा के समान लाल पड़ गई है।

विशेषः-

1. इस पद में प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण हुआ है संयोगावस्था में सुखदायक प्रकृति वियोगावस्था में गोपियों के विरह को और भी उद्दीप्त कर रही हैं।
2. किसी कवि ने इस संदर्भ में कहा भी हैं कि संयोग में जो सुखद था, वहीं वियोग में दुःखद हो गया है-
   'जोइ जोइ सुखद, दुखद अब सोइ सोइ।''
3. सीता हरण के उपरान्त विरही राम को भी प्रकृति की इस विषमता का अनुभव हुआ था-

   'नवतरु किसलय मनहु कृषानु।
   काल निया सम निसि ससि भानू।।
   जे हित रहे करत तेइ पीरा।
   उदघ स्वास सम त्रिविध सरीरा।
4. आकर्षण बिम्ब -विधान।
5. सुन्दर लयात्मकता।
6. आकर्षण गेयता।
7. ब्रजभाषा का मार्मिक प्रयोग
8. भाषा सहज-सरल-सुन्दर, प्रभावमयी।
9. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
10. अलंकार-
    (क) अतिशयोक्ति
    (ख) उपमा।

।। 86 ।।

संदेसो कैसे के अब कहौ?
इन नैनन्ह या तन की पहरी कब लौ देति रहौ?
जो कुछ बिचार होय उर-अंतर रचि पचि सोचि गहौ।
मुख, आवत, ऊधौ-तन चितवन न सो विचार, न हौ।।

अब सोई सिख देहु, सयानी! जातें सखहिं लहौं।
सूरदास प्रभु के सेवक सों बिनती कै निबहौं।।८६।।

शब्दार्थः कैसे के = किस प्रकार। रचि-पचि = अच्छी तरह। तन = ओर। लहौं = प्राप्त करूँ। निबहौं = निर्वाह करूँ।

प्रसंगः प्रस्तुत पद में कृष्ण की निष्ठुरता पर गोपियाँ संतप्त हैं उन्हें अब इस बात की चिन्ता है कि योग का सन्देश भेजने वाले निष्ठुर प्रिय के पास वे अपना प्रेम-सन्देश किस प्रकार भेजें। जब कि संदेशवाहक उद्धव भी प्रेम-भावना से शून्य शुष्क-हृदय व्यक्ति है। एक गोपी अपने मन की इस दुविधा को दूसरी के सम्मुख व्यक्त करती हुई कहती है कि-

व्याख्याः हे सखी! अब मैं अपना प्रेम सन्देश प्रियतम कृष्ण के पास किस प्रकार भेजूँ? मैं अपने इस शरीर पर इन नेत्रों का पहरा किस प्रकार बैठाती रहूँ। मेरा शरीर कृष्ण के वियोग में पहले ही क्षीण हो चुका है। फिर योग के सन्देश को सुनकर यह म त-प्राय हो गया है और प्राणों को छोड़ना चाहता है किन्तु मेरे नेत्रों को कृष्ण के दर्शनों की आशा है, इसलिए ये शरीर पर पहरा लगाए हुए हैं ताकि यह प्राण न त्याग दे। यदि कभी मेरे हृदय में कृष्ण को प्रेम-संदेश भेजने की भावना उत्पन्न होती है तो मैं अत्यधिक सोच-विचार के उपरान्त मन मारकर चुप रह जाती हूँ। क्योंकि कृष्ण ने तो हमें योग का उपदेश लिखकर भेजा है, उसके प्रत्युत्तर में क्या हमारा प्रेम संदेश भेजना उचित है। फिर समस्त बल एकत्रित कर मैं कुछ कहना चाहती हूँ, मेरे मन में स्थित भावनाएँ वाणी का रूप धारण करना ही चाहती हैं कि उद्धव की ओर देखते ही न तो मेरे वे विचार ही स्थिर रह पाते हैं और न मैं ही। योग-संदेशवाहक उद्धव को देखते ही मुझे उनके हृदयहीन मन का ध्यान आ जाता है, जिससे मैं फिर संकोचवश मौन हो जाती हूँ। मेरे विचार पूर्णतया विलीन हो जाते हैं।

अतः हे चतुर सखी! अब तू मुझे कोई ऐसी शिक्षा दे जिससे मैं अपने सखा एवं प्रियतम कृष्ण को पुनः प्राप्त कर सकूँ मेरा विवेक तो यह कहता है कि स्वामी कृष्ण के इस सखा-उद्धव से प्रार्थना करने से हमारा निर्वाह हो सकता है, अर्थात् यदि इनकी हम पर कृपा हो जाय तो प्रियतम कृष्ण से हमारा मिलन सम्भव है। क्योंकि यदि हम इनसे प्रार्थना करके इन्हें मथुरा भेजें तो यह हमारी दीनावस्था पर तरस खाकर कृष्ण को यहाँ ला सकते है।

विशेषः-

1. सम्पूर्ण पद में गोपियों की असमंजसता का अत्यन्त सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया गया है।
2. अन्तिम पंक्ति में उद्धव की खुशामद करके गोपियों ने पुरानी कहावत को चरितार्थ किया है, 'आवश्यकता के समय गधे को भी बाप बनाया जा सकता है।' अब तक तो वे उन्हें जली-कटी सुनाती रही हैं, किन्तु अब उनसे प्रार्थना कर रही हैं कि वे मथुरा से कृष्ण को लाकर उनके दर्शन कराएँ।
3. ब्रजभाषा का सहज एवं सुन्दर प्रयोग।
4. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
5. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का प्रयोग।
6. विप्रलम्भ का सुन्दर-चित्रण।
7. प्रभावी अभिव्यंजना।

8. आकर्षक गेयता।

9. रस, अलंकार का सुन्दर प्रयोग।

।। 87 ।।

ऊधो! क्यों राखौं ये नैन?
सुमिरि-सुमिरि गुन अधिक तपत हैं सुनत तिहारो बैन।
हैं जो मनोहर बदन चंद के सागर कुमुद चकोर।
परम त षारत सजल स्यामघन के जौ चातक मोर।
मधुप मराल चरन पंकज के गति विलास-जल मीन।
चकवाक, मनिदुति दिनकर के, म ग मुरली आधीन।
सकल लोक सूनी लागतु है बिनु देखे वा रूप।।
सूरदास प्रभु नंदनंदन के नखसिख अंग अनूप।।८७।।

शब्दार्थः राखौ = रोकूँ/समझाऊँ (मनोहर = मनोहर, मन को हरने वाले) बदनंचद = चन्द्रमुख। त षारत = प्यासे। मराल = हँस। दिनकर = सूर्य । सकल = सार। लोक = संसार।

प्रसंगः प्रस्तुत पद में सूरदास गोपियों के बारे में लिखते हुए कहते हैं कि गोपियों के नेत्र कृष्ण के वियोग में अत्यधिक व्यथित है। गोपियाँ उन्हें कृष्ण का अनुरागी घोषित करते हुए कृष्ण के मन-मोहक रूप का वर्णन करती हैं जिसे देखे बिना समस्त संसार सूना है।

व्याख्याः कृष्ण वियोग मे व्यथित गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि, हे उद्धव! कृष्ण वियोग में हमारे ये नेत्र व्यथित हैं, हमारे लिए इनको समझाकर रखना भी एक समस्या बन गई हैं। हम इन्हें किस प्रकार सान्त्वना दें, हमारी समझ में नहीं आता? तुम्हारी निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी बातों को सुनकर इन्हें कृष्ण के गुणों की स्म ति आ गई है। जिससे ये अब अधिक दुःख अनुभव कर रहे हैं। ये नेत्र हमारे मन के चोर कृष्ण के चन्द्र-सम सुन्दर मुख के प्रति अत्यन्त श्रद्धा एवं अनुराग से भर कुमुदिनी और चकोर के समान उनके दर्शनों को लालायित रहते हैं। ये काले मेघ के समान कृष्ण के सुन्दर शरीर को देखने के लिए उसी प्रकार प्यास अनुभव करते हैं जिस प्रकार चातक एवं मयूर।

हमारे ये नेत्र श्री कृष्ण के कमल-चरणों के भ्रमर एवं हंस के समान उत्कट प्रेमी हैं। जिस प्रकार मीन केवल जल में ही जीवित रह सकती है, उसी प्रकार हमारे ये नेत्र कृष्ण की मन्द-मंथर चाल को देखकर जीवन पाते हैं। ये उनके दर्शन पाकर उसी प्रकार आनन्दित होते हैं और आलोक से भर उठते हैं, जिस प्रकार चकवा-चकवी और सूर्यकान्त मणि सूर्य के प्रकाश को देखकर आनन्द एवं प्रकाश से आपूरित होते हैं। जिस प्रकार बधिक की मुरली की तान सुनकर म ग अपनी सुध-बुध खो बैठता है और उसके पास भागा चला आता है, उसी प्रकार ये कान भी कृष्ण का मुरली की मधुर ध्वनि को सुनकर उसके वशीभूत हो जाते हैं, और अपनी सुधि खो बैठते हैं। इन नेत्रों को कृष्ण के उस मधुर रूप को देखे बिना सारा संसार सूना-सूना प्रतीत होता है। स्वामी श्रीकृष्ण के नख से लेकर शिख तक सारे अंग-प्रत्यंगों का सौन्दर्य विलक्षण है, जिन्हे देखे बिना हमारे नेत्रों को चैन नहीं।

विशेषः-

1. कृष्ण के नख-शिख का अत्यन्त मनोहारी चित्रण प्रस्तुत किया गया है। गोपियों के नेत्र कृष्ण के इस विलक्षण स्वरूप के अनुरागी हैं, उसके बिना उनके लिए सारा संसार सूना है।

2. ब्रजभाषा का मनोहारी प्रयोग।
3. आकर्षक गेयता।
4. प्रभावी अभिव्यंजना।
5. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम् शब्दों का योग।
6. विप्रलम्भ का सुन्दर-चित्रण।
7. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. सुन्दर बिम्ब-विधान।
9. रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग।

।। 88 ।।

संदेसनि मधुबन-कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं यहाँ तें, फिरि नहिं अवन करे।।
कै वै स्याम सिखाय समोधे कै वै बीच मरे?
अपने नहिं पठवत नंदनंदन हमरेउ फेरि धरे।।
मसि खूँटी कागज जल भीजे, सर दव लागि जरे।
पातीं लिखैं कहो क्यों करि जो पलक-कपाट अरे?।।८८।।

शब्दार्थः अवन करे = आए, लौटे। समोधे = समझा-बुझा दिए। मसि = स्याही। खूँटी = चूक गई, समाप्त हो गई। सर = सरकंडे। दव = दावाग्नि/वन मे लगने वाली आग। कपाट = द्वार, दरवाजा।

प्रसंगः प्रस्तुत पद में कृष्ण के कारण दुःखी गोपियों का वर्णन करते हुए सुरदास लिखते हैं कि गोपियों ने कृष्ण को अनेक पत्र भेजे, जिनसे सम्भवतः मथुरा के सब कुएँ भी भर गए होंगे। किन्तु उनमे से किसी एक का भी उत्तर नहीं आया, जिसके कारण गोपियाँ अधिक दुःखी हैं। इसी दुःख को एक गोपी दूसरी गोपी के सम्मुख व्यक्त कर रही है।

व्याख्याः गोपियाँ कहती हैं कि हमने मथुरा में कृष्ण को इतने संदेश लिख-लिखकर भेजे हैं कि उनसे मथुरा के सब कुएँ भी भर गए होंगे। यहाँ से जितने भी पथिक हमारे सन्देश लेकर मथुरा की ओर गए, उनमें से कोई लौटकर वापस नहीं आया। हमें लगता है कि कृष्ण उन्हें समझा-बुझाकर वहीं रोक लेते हैं अथवा वे रास्ते में मरकर खत्म हो गए। नन्दनन्दन कृष्ण अपनी ओर से सन्देश रूप में कोई पत्र नहीं भेजते और जो सन्देश पत्र हम उनके लिए यहाँ से भेजती है, उन्हें भी चुपचाप अपने पास रख लेते हैं। उनका उत्तर तक भी नहीं देते।

अब हम उन्हें और अधिक पत्र लिखकर भेजने में भी असमर्थ हैं। क्योंकि सारी स्याही विरहाग्नि के ताप से सूखकर समाप्त हो गई हैं, सारे कागज नेत्रों के जल से भीगकर नष्ट हो गए हैं तथा हमारी विरहजन्य उत्तप्त उसाँसों के ताप से सारे जंगल मे आग लग गई है, जिससे कलम बनाने वाले सरकण्डों के झुण्ड जल गए हैं। अर्थात् स्याही, कागज, कलम इन तीनों के अभाव में हमारे लिए पत्र लिखना असम्भव है। इतना सब होता तो ठीक था अब हमारी आँखे भी काम करने योग्य नहीं रही। कृष्ण के वियोग में रो-रोकर हमारी पलकें इतनी सूज गई हैं कि वे एक प्रकार की किवाड़ बन गई हैं, जो बन्द हैं, और वे कुछ भी देख सकने में असमर्थ हैं।

गोपियाँ कहती हैं कि इस प्रकार हमें न तो दिखाई देता है और न हमारे पास पत्र लिखने का कोई साधन है हम किस प्रकार कृष्ण को पत्र लिखें।

विशेषः-

1. प्रस्तुत पद में गोपियों के संदेशों की अधिकता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है।
2. मनोहर लयात्मकता।
3. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
4. सरल एवं बोधगम्य भाषा।
5. शब्द मोतियों का चयन।
6. मन भावन शैली।
7. ब्रजभाषा का प्रयोग।
8. आकर्षक बिम्ब विधान।
9. 'संदेसनि ..... भरे' - में अतिशयोक्ति अलंकार।
   'पलक-कपाट' में रूपक अलंकार।'

।। 89 ।।

नंदनंदन मोहन सो मधुकर! है काहे की प्रीति?
जौ कीजै तो है जल, रवि और जलधर की सी रीति।।
जैसे मीन, कमल, चातक की ऐसे ही गइ बीति।
तलफत, जरत, पुकारत सुनु, सठ! नाहिन है यह रीति।।
मन हठि परे, कबन्ध युद्ध ज्यों, होरहू भइ जीति।
बँधत न प्रेम-समुद्र सर बल कहुँ बारुहि की भीति।।८६।।

शब्दार्थः मधुकर = भँवरा। काहे की = कैसी/किस बात की। रवि = सूर्य। जलधर = बादल। मीन = मछली। तलफल = तड़पना। कबन्ध = मस्तकविहीन धड़। बारुहि=बालू की रेत की। भीति = दीवार।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्तिकाल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें कृष्ण निर्मोही हैं, निष्ठुर हैं, उनसे प्रेम करने वालों की ऐसी विषमावस्था है। गोपियों ने इसी बात का प्रस्तुत पद में वर्णन किया है।

व्याख्याः गोपियाँ अपनी बात पर जोर देती हुई कहती हैं कि हे मधुकर! नन्दनन्दन कृष्ण से हमारी किस प्रकार की प्रीति है, हम उनसे क्यों प्रेम करें? यदि कोई उनसे प्रेम करे तो उसकी वैसी ही गति होती है, जैसे जल, सूर्य और बादल से प्रेम करने वालों की होती है। अर्थात् मीन जल से प्रेम करती है, और उससे अलग होकर तड़प-तड़प कर अपने प्राण दे देती है। किन्तु जल पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता और वह चुपचाप आगे बढ़ जाता है, उसी प्रकार कमल का सूर्य से प्रेम है, कमल सूर्य को देखकर विकसित होता है किन्तु सूर्य दिनभर अपने ताप से उसे जलाता है और संध्या समय उसकी उपेक्षा कर विश्राम करने चला जाता है। चेतक की भी घन प्रेम में यही गति है। वह प्रेम में सदा बादल को 'पिय-पिय' कह कर पुकारा करता है, किन्तु बादल स्वाति नक्षत्र में उसकी खुली चोंच में पानी की एक बूँद भी टपकाने का कष्ट नहीं करता। मीन, चातक और

कमल अपने प्रिय के वियोग में तड़प-तड़पकर प्राण त्याग देते हैं। किन्तु इनके प्रियतम इससे भी प्रभावित नहीं होते। प्रेम तो एकमार्गी नहीं ऐसा प्रेम घातक एवं वेदनापूर्ण होता है। प्रेम की यह रीति नहीं। वह तो दोनों ओर पलता हैं उसमें आत्मसमर्पण की भावना मुख्य होती है। उभय-पक्षीय प्रेम ही सफल है।

अब हम अपने इस मन को क्या कहें? इसने कृष्ण के साथ प्रेम करने का हठ पकड़ रखा है। यह अन्य किसी की ओर न तो आकृष्ट ही होता है और न प्रेम करना चाहता है। यह प्रेम संघर्ष में पराजित हो चुका है क्योंकि कृष्ण ने इसे ठुकराकर यहाँ से चले गए। किन्तु यह स्वयं को उसी प्रकार विजयी समझ रहा है, जिस प्रकार युद्धभूमि में किसी योद्धा का सिर कटा कबन्ध निरन्तर युद्धरत रहता है, और शत्रुओं के संहार का यश प्राप्त करता है। उसे पराजित हो जाने पर भी विजयी समझा जाता है। हमारा मन सदैव कृष्ण के ध्यान में डूबा रहता है। अतः हे उद्धव! तुम्हारा योग-ज्ञान एवं निर्गुण-ब्रह्म की उपासना का उपदेश हमारे इस अगाध प्रेम-सागर के प्रवाह को रोक पाने में उसी प्रकार असमर्थ है, जिस प्रकार बालू की दीवार से समुद्र के प्रवाह को रोकना अथवा बाँधना। हमारी कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम-निष्ठा अविचल है, उसे तुम अपने उपदेशों एवं योग-ज्ञान की शिक्षा द्वारा डिगा नहीं सकते।

विशेषः-

1. गोपियों ने विभिन्न प्रतीकों द्वारा कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य प्रेम-निष्ठा व्यक्त की है। वे जानती हैं कि कृष्ण के प्रेम में उनकी मीन, कमल और चातक जैसी गति है, किन्तु उनका मन हठ पकड़े हुए है, और कबन्ध के समान स्वयं पराजित होते हुए भी विजयी समझ रहा है।
2. इस प्रकार इस पद से यह पता लगता है कि सच्चे प्रेमी प्रतिदान, न मिलने पर भी अपने प्रेम में निष्ठावान एवं द ढ़ रहते हैं।
3. मनोहर लयात्मकता।
4. ब्रजभाषा का प्रयोग।
5. सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति।
6. आकर्षक गेयता।
7. तद्मव शब्दों के साथ तत्सम् शब्दों का सुन्दर प्रयोग।
8. आकर्षण बिम्ब - विधान।
9. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
10. अलंकार
    (क) 'जौ....रीति' में क्रम अलंकार।
    (ख) 'मन.....जीति' में निदर्शना अलंकार।
    (ग) 'प्रेम-समुद्र' में रूपक अलंकार।

।। 90 ।।

मधुबनियाँ लोगनि को पतिआय?
मुख औरै अन्तर्गत औरै पतियाँ लिखि पठवत हैं बनाय।।
ज्यों कोइल सुत काग जिआवत भाव-भगति भोजनहिं खवाय।
कुहकुहाय आए बसंत ऋतु, अंत मिलै कुल अपने जाय।।
जैसे मधुकर पुहुप-बास लै फेरि न बूझै बातहु आय।
सूर जहाँ लौं स्यामगात हैं तिनसों क्यों कीजिए लगाय?।।६०।।

शब्दार्थः मधुबनियाँ = मथुरा के। को = कौन। पतिआय = विश्वास करें। अन्तर्गत = हृदय में। बनाय = बना-बनाकर। भाव-भगति = प्रेम सहित। कुहकुहाय = कूक उठती है। पुहुप = पुष्प। बातहु = बात भी। स्याम = काले शरीर वाले। तिनसों = उसके साथ। लगाय = लगन, प्रेम।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश सूरदास द्वारा रचित 'भ्रमरगीत सार' से ली गई है। जिसमें सूरदास लिखते हैं कि कृष्ण के उपेक्षा एवं कपटपूर्ण व्यवहार से गोपियाँ अत्यन्त दुखी है। वे कोयल सुत तथा भ्रमर की पुष्प-पराग पान करने की स्वार्थ-भावना की कृष्ण के साथ तुलना करते हुए समस्त काले शरीर वालों की स्वार्थी सिद्ध करती है।

व्याख्याः गोपियाँ कह रही हैं कि मथुरावासी सब छली और कपटी हैं, ये विश्वसनीय नहीं, इन पर विश्वास कौन करे? इनके मुख में तो कुछ और है, और हृदय में कुछ और है और वहाँ बैठे-बैठे पत्र बना-बनाकर लिख भेजते हैं, किन्तु इनके मन कपट और छल से भरे हुए हैं। अतः ये पत्र में असली-मन की बात तो लिखते नहीं हमें बहलाने के लिए चिकनी-चुपड़ी बातें लिख भेजते हैं। कौवा कोयल के बच्चे का पूरी लगन के साथ पालन-पोषण करता है, प्रेमपूर्वक उसे खिलाता है, किन्तु बसन्त ऋतु के आते ही वह बच्चा कूकने लगता है और उड़कर अपने कुल के साथ जा मिलता है। वह अपने माता-पिता के पास पहुँचकर कौए के त्याग को पूर्णतया विस्म त कर देता है। कृष्ण ने भी ठीक ऐसा ही किया है। ब्रज में नन्द-यशोदा ने उनका बड़े प्रेम और लगन के साथ पालन-पोषण किया। दूध-मक्खन खिलाया खुद कष्ट पाकर उन्हें सुखी रखा, किन्तु बड़े होने पर कृष्ण नन्द-यशोदा के इस स्नेह को पूर्णयता विस्म त कर बैठे। उनके त्याग को भूलकर वह अपने वास्तविक माता-पिता वसुदेव व देवकी के साथ मथुरा चले गए। अब तुम्हीं बताओ उद्धव। ऐसे लोगों का विश्वास किस प्रकार किया जा सकता है।

जिस प्रकार एक भौंरा पुष्प के पराग का आनन्द लूटकर पुनः उसके पास नहीं आता, ठीक उसी प्रकार का व्यवहार कृष्ण ने हमारे साथ किया है। वे हमें प्रेम-क्रीड़ाओं में निमग्नकर हमारे अधरों का रसपान करके मथुरा जा बैठे और हम उनके विरह मे तड़प रही हैं। ये सभी काले शरीर वाले-कोयल, भ्रमर, कृष्ण निर्मोही, निष्ठुर होते हैं, इनसे प्रेम क्यों किया जाए।

विशेषः-

1. गोपियों ने सभी काले शरीर वालों को कपटी सिद्ध करके उन पर व्यंग्य किया है, वे सभी निष्ठुर है और प्रेम करने के योग्य नहीं।
2. ब्रजभाषा का प्रयोग।
3. आकर्षक गेयता।
4. वियोग रस का सुन्दर परिपाक।

5. स्पष्ट प्रभावी अभिव्यक्ति।
6. सुन्दर भाव-अभिव्यंजना।
7. सूक्ष्म भाव का स्पष्ट चित्रण।
8. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. आकर्षक बिम्ब-विधान।
10. 'कुहकुहाए.....जाए' में अर्थान्तरन्यास अलंकार।

।। 91 ।।

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।
समुझी बात कहत मधुकर जौ? समाचार कछु पाए?
इक अति चतुर हेतु पहिले ही, अरू करि नेह दिखाए।
जानी बुद्धि बड़ी, जुबतिन को जोग-सँदेस पठाए।।
भले लोग आगे के, सखि री! परहित डोलत धाए।
वे अपने मन फेरि पाइए जे हैं चलत चुराए।।
ते क्यों नीति करत आपुन जे औरनि रीति छुड़ाए?
राजधर्म सब भए सूर जहँ प्रजा न जाय सताए।।६१।।

शब्दार्थः इक = एक तो। हुते = थे। नेह = प्रेम, स्नेह। जुबतिन = युवतियों को, हम गोपियों के। डोलत धाए = दौड़ते-फिरते थे। नीति = न्याय, सदाचार। आपुन = स्वयं। जे = जिन्होंने। औरन = औरों की।

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से ली गई है। ब्रज की गोपियों के मन में उद्धव द्वारा कृष्ण का योग-संदेश उन पर घोर अत्याचार एवं अन्याय है। कृष्ण अब राजनीति के पण्डित हो गए हैं, उन्हें यह अनीति शोभा देती है।

व्याख्याः एक गोपी दूसरी से कहती है कि हे सखी! अब कृष्ण ने राजनीति-शास्त्र में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर ली है, वे पूर्ण राजनीतिज्ञ हो गए हैं, तभी तो वह प्रेम में भी छल-कपट एवं कुटिलता से काम ले रहे हैं। यह भ्रमररूपी उद्धव जो ज्ञान-योग सम्बन्धी बातें हमसे कह रहा है। क्या ये तुम्हारी समझ में आ गई है। और इन बातों से तुमने कुछ मथुरा का समाचार जाना है अर्थात् क्या तुम इस योग सन्देश में निहित कृष्ण के वास्तविक अभिप्राय को समझ सकी हो? एक तो कृष्ण पहले ही अधिक चतुर थे, जिसे उन्होंने हमारे साथ कपटपूर्ण प्रेम करके प्रमाणित कर दिया था, क्योंकि हमें अपने प्रेम जाल में फाँसकर यहाँ तड़पता-बिलखता छोड़कर खुद मथुरा चले गए। अब वे हम नारियों को योग-सन्देश भेजकर अपनी विशाल बुद्धि एवं विवेक का परिचय दे रहे हैं।

हे सखी! पुरातन काल में सज्जन पुरुषों का निवास था वे सदा दूसरों के कल्याण एवं उपकार के लिए इधर-उधर भागते फिरते थे। एक ये सज्जन पुरुष उद्धव हैं जो हम अबलाओं को सताने और व्यथित करने के लिए यहाँ आए हैं। अब हम तो कृष्ण से केवल इतना चाहती हैं कि वे हमारा मन जो उन्होंने यहाँ से जाते समय चुरा लिया और अपने साथ ले गए, वह हमें लौटा दें। किन्तु हमें कृष्ण से ऐसे न्यायपूर्ण कार्य की आशा नहीं है, क्योंकि वह तो दूसरों से परम्परागत व्यवहारों एवं प्राचीन रीतियों को छुड़वाने में रत हैं।

तो फिर स्वयं उस पर आचरण क्यों करेंगे। हमारा आचरण तो यह है कि हम कृष्ण प्रेम मे निष्ठावान रहें और उद्धव के माध्यम से योग-संदेश भेजकर वह हमारी इस निष्ठा को भंग करना चाहते है। तो फिर उनसे न्यायपूर्ण आचरण की आशा किस प्रकार की जा सकती है?

सच्चा राजधर्म तो वह है जिसके अन्तर्गत शासक वर्ग प्रजाजनों के कल्याण मे लगें हो, उन्हें कभी भी सताया न जाय, किन्तु यह कृष्ण अन्यायपूर्ण राज्य कर रहें है जो अपने स्वार्थ के लिए अर्थात् कुब्जा के साथ प्रेम करने की सुविधा पाने के लिए हमारे पूर्ण सुख-चैन को लूटना चाहते हैं और इसी हेतु उन्होनें हमें योग सन्देश लिख भेजा है।

विशेषः-

1. प्रस्तुत पद में कृष्ण और उद्धव पर चुभता हुआ व्यंग्य किया गया है।
2. गोपियों के मत में राजा का धर्म है प्रजा का अनुरंजन करना और उसे सुखी रखना। किन्तु कृष्ण इस धर्म से च्युत हो जाता है। और कुब्जा से प्रेम कर पाने की सुविधा प्राप्त करने के लिए गोपियों का सुख-चैन लूटना चाहते हैं। इस प्रकार गोपियों ने कृष्ण को कुटिल राजनीति का पोषक, अन्यायी, स्वार्थी और धोखेबाज सिद्ध किया हैं
3. गोपियों के विरह का सुन्दर चित्रण।
4. गोपियों की वाक्पटुता का सुन्दर प्रस्तुतीकरण।
5. ब्रजभाषा का प्रयोग।
6. सुन्दर बिम्ब-विधान।
7. आकर्षक गेयता।
8. वियोग रस का परिपाक।
9. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का योग।
10. मुक्तक शैली।
11. 'ते.....सताए' में लोकोक्ति अलंकार।

।। 92 ।।

जोग की गति सुनत मेरे अँग आगि बई।
सुलगि-सुलगि हम रहीं तन में फूँक आनि दई।
जोग हमको भोग कुब्जहि, कौने सिख सिखई।
सिंह गज तजि त नहिं खंडत सुनी बात नई।
कर्म रेखा मिटति नाहिं जो बिधि आनि ठई।
सूर हरि की कृपा जापे सकल सिद्धि भई।।६२।।

शब्दार्थः बई=लग गई। खंडत = विदीर्ण करना। ठई = निश्चित कर दी। जापै = जिस पर।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश भक्तिकाल के भक्त शिरोमणि सूरदास के 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। इसमें गोपियाँ उद्धव की योग-साधना की बातें सुनकर क्रोधित हो जाती हैं।

व्याख्याः सूरदाज जी लिखते हैं कि गोपियाँ कहती है कि उद्धव की योग-साधना की बातें सुनकर

हमारे समस्त शरीर में आग लग जाती है, हमारी विरहाग्नि और भी प्रज्जवलित हो उठी है। हम तो कृष्ण वियोग में पहले ही सुलग रही थीं, उद्धव ने यहाँ आकर अपनी योग की बातों से हमारी विरहाग्नि को उसी प्रकार और भी भड़का दिया, जैसे कोई सुलगती हुई अग्नि को फूँक मारकर और भी भड़का दे या प्रज्जवलित कर दें। हमारी समझ में नहीं आता कि उद्धव को यह शिक्षा किसने दी है, वह किस बलबूते पर हमें तो योग करने की शिक्षा दे रहे हैं कुब्जा के लिए भोग को उचित बता रहे हैं। हम वियोगिनियाँ पहले से ही संसार से विरक्त हैं, केवल कृष्ण की साधना से रत हैं, हमें तो योग-साधना की शिक्षा दी जा रही है, और पूर्णतया भोग-विलास में डूबी हुई कुब्जा को योग-साधना का उपदेश नहीं देते।

हमें कृष्ण से विमुख करने के अपने उपदेश में इन्हें सफलता नहीं मिल सकती, क्योंकि हम एक मात्र उन्हीं के प्रेम का व्रत धारण किए बैठी हैं जिसे छोड़ना हमारे लिए असम्भव है। क्या आज तक किसी ने यह बात सुनी है कि सिंह ने हाथी का वध करना छोड़कर घास चरनी आरम्भ कर दी हो? जिस प्रकार सिंह हाथी का शिकार करना छोड़कर घास नहीं चर सकता, उसी प्रकार हम भी कृष्ण-प्रेम में अपनी निष्ठा त्यागकर योग-साधना स्वीकार नहीं कर सकती। विधाता ने जो कर्मो की रेखा भाग्य में लिख दी है, वह मिटाए नहीं मिटती। हमारे भाग्य में कृष्ण प्रेम की एकनिष्ठा लिखी है, अतः कोई लाख प्रयत्न करे हम इस निष्ठा को नहीं छोड़ सकती। उद्धव के मत में निर्गुण ब्रह्म को अपनाने से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं किन्तु जिस पर कृष्ण की कृपा है। वह सम्पूर्ण वरदहस्त है, उसे तो समस्त सिद्धियाँ अनायास ही मिल जाती हैं। वह सम्पूर्ण सिद्धियों के बल पर प्राप्त सुख-वैभव का स्वतः अधिकारी बन जाता है।

विशेषः-

1. इस पद की अन्तिम पंक्ति में 'पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त' की पुष्टि की गई है, जिसके अनुसार 'भगवद्-अनुग्रह' के प्राप्त हो जाने पर जीव को समस्त सुख-वैभव स्वतः ही मिल जाता है।
2. सरल भाषा का प्रयोग।
3. गोपियों के विरह का सुन्दर चित्रण।
4. वियोग रस का सुन्दर प्रस्तुतीकरण।
5. कृष्ण के प्रति गोपियों का अटूट प्यार।
6. सुन्दर बिम्ब-विधान।
7. मनभावन लयात्मकता।
8. आकर्षक गेयता।
9. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
10. मुक्तक शैली।
11. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम् शब्दों का प्रयोग।
12. अलंकार
    (क) 'जोग .....सिखई' में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार।
    (क) 'सिंह गज..... बात नई' में लोकोक्ति अलंकार।

।। 93 ।।

ऊधो! जान्यो ज्ञान तिहारो।
जानै कहा राजगति-लीला अंत अहीर बिचारो।।
हम सबै अयानी, एक सयानी कुब्जा सो मन मान्यो।
आवत नाहिं लाज के मारे, मानहु कान्ह खिस्यान्यो।।
ऊधो! जाहु बाँह धरि ल्याओ सुन्दरस्याम पियारो।
ब्याहौं लाख, धरौ दस कुबरी, अंतहि कान्ह हमारो।।
सुन री सखी! कछु नहिं कहिए माधव आवन दीजै।
जबहीं मिलैं सूर के स्वामी हाँसी करि करि लीजै।।६३।।

शब्दार्थः राजगति-लीला = राजनीति की पेचीदगियाँ। अयानी=अज्ञानी। खिस्यान्यो = खिसिया गए, लज्जित हो गए हैं। धरि = पकड़कर। धरौ= रखे, घर में बैठा लो। हाँसी करि करि = हँसते हुए, प्रसन्न मुद्रा में। लीजै = लेना, ग्रहण करना, स्वागत करना।

प्रसंगः सूरदास लिखते हैं कि पिछले पदों मे गोपियाँ कृष्ण को बहुत खरी-खोटी सुना चुकी हैं, अब तो आपस में विचार करके निश्चित करती हैं कि यदि उद्धव कृष्ण को मथुरा से लाने में सफल होते हैं तो हम उनसे प्रेमपूर्वक मिलें और उनका स्वागत करें।

व्याख्याः गोपियाँ कहती है कि हे उद्धव! तुम्हारे इस ज्ञान का सारा रहस्य अब हमारी समझ में आ गया है। वस्तुतः यह सब तुम्हारी बनाई हुई बातें हैं, और कृष्ण बेचारे एक अहीर कुल के हैं, वह तुम्हारी राजनीति के दांव-पेंच को नहीं जानते। यह स्पष्ट है कि तुम और कुब्जा कृष्ण को यहाँ आने ही नही देना चाहते इस कारण तुम दोनों ने मिलकर यह षड्यन्त्र और प्रपंच रचा है, और कृष्ण को छोड़ योग की शिक्षा देना चाहते हो। क्योंकि तुम जानते हो कि कृष्ण के यहाँ चले आने पर राजकाज चलाना कठिन हो जाएगा। हम सब तो अज्ञानी एवं मूर्ख स्त्रियाँ है, और कुब्जा ही एक सयानी एवं चतुर है। उससे चतुराई एवं लोक-व्यवहार सीखते-सीखते उसके प्रेमजाल में फँस गए। इस कारण उन्हें अब यहाँ आने में लज्जा लग रही है। अब वह खिसियाने बने हुए है कि हमें किस प्रकार मुँह दिखाएँ।

इसलिए गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव! हमारी तुमसे प्रार्थना है, कि तुम तुरन्त मथुरा जाओं और कृष्ण की बाँह पकड़कर उन्हें यहाँ ले आओ, तभी उनकी लज्जा का निराकरण हो पाएगा। वे तो झेंप के कारण यहाँ आने में संकोच अनुभव कर रहे हैं। वह चाहे लाख स्त्रियों से विवाह कर लें, चाहे दस कुब्जाओं को अपने घर में डाल लें, लेकिन वे हमारे हैं और हमारे रहेंगे। हे सखी! मेरी बात सुनो, जब माधव यहाँ आ जाएँ, तो उनसे कोई कुछ न कहे। उन्हें आराम से यहाँ आने देना, जब वह यहाँ आएँ, तो हँसी-खुशी उन्हें ग्रहण करना और आदर एवं ससम्मान के साथ उनका स्वागत करना। तभी उनके मन की ग्लानि दूर होगी और हमारे बर्ताव से उनमें हमारे प्रति किए गए अन्याय के लिए पश्चाताप की भावना उदित होगी।

विशेषः-

1. प्रस्तुत पद मे गोपियों के इस विश्वास की व्यंजना हुई है कि कृष्ण उन्हीं के हैं चाहे वे अनेक स्त्रियों से विवाह कर लें और चाहें दस कुब्जाओं को घर में डाल लें। उनके मत में कृष्ण तो सीधे-सरल हैं वह तो कुब्जा और उद्धव के राजनीति सम्बन्धी दाँव-पेच में फँस गए हैं।

2. गोपियों ने कृष्ण की लज्जा एवं खिसियानेपन का अत्यन्त विदग्धतापूर्ण वर्णन किया है।
3. 'अन्त अहीर विचारों' में प्रियतम विषयक रति को शब्दों में प्रकट करने के कारण ' बिव्वोक' नामक हाव है।
4. गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम भाव।
5. गोपियों की वाकपटुता।
6. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
7. आकर्षक गेयता।
8. वियोग श्रंगार की अभिव्यक्ति।
9. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
10. सुन्दर बिम्ब-विधान।
11. 'करि-करि' में पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार

।। 94 ।।

उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसहु निकसत नहिं, ऊधो! तिरछे हैं जो अड़े।।
जदपि अहीर जसोदानंदन तदपि न जात छँड़े।
वहाँ बने जदुर्बस महाकुल हमहिं न लगत बड़े।।
को बसुदेव देवकी है को, ना जाने और बुझैं।
सूर स्यामसुंदर बिनु देखे और न कोऊ सूझै।।६४।।

शब्दार्थः कैसेहु = किसी प्रकार भी। छँड़े = छोड़े। सूझैं = सूझता, दिखाई देता।

प्रसंगः गोपियों के हृदय में माखनचोर अड़ गए हैं। वे उन पर इतनी मोहित हैं कि उनको अपने हृदय से निकाल नहीं पाती, इसी कारण वह निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। प्रस्तुत पद उनके इसी भार की व्यंजना हुई है।

व्याख्याः हमारे हृदय में माखन-चोर कृष्ण की मोहिनी मूर्ति गड़ी हुई है। अर्थात् बस गई है क्योकिं उनकी माधुरी-मूर्ति त्रिभंगी है और तिरछी होने के कारण हमारे हृदय मे गड़ गई है। अतः अब यह मूर्ति वहाँ से किसी भी प्रकार निकल नहीं सकती। अर्थात् हम किसी भी प्रकार कृष्ण-प्रेम को छोड़कर तुम्हारे ब्रह्म को नहीं अपना सकतीं। यद्यपि यशोदानन्दन कृष्ण जाति के अहीर है, फिर भी हमसे उन्हें नहीं बनता। वहाँ मथुरा में जाकर वह महान् कुल यदुवंश के एक अंग बन गए हैं, तो भी हमारे लिए वह बड़े आदमी नहीं बने। हमें तो वह अभी भी अहीर-कुल के छोटे-से आदमी लगते हैं जो हमारे साथ ब्रज में रहते हुए प्रेम-क्रीड़ाएँ किया करते थे। तुम जिनका बार-बार नाम ले रहे हो, वह सुखदेव कौन है और देवकी कौन हैं? हम उनके सम्बन्ध में पूर्णतया अपरिचित हैं और न ही हमें उनके विषय में कुछ जानने-बूझने की इच्छा है। वे बड़े होंगे तो अपने घर में होंगे, हमें उनके बड़प्पन से कुछ लेना-देना नहीं। हम तो यह जानती है कि अपने श्यामसुन्दर कृष्ण के बिना देखे हमें और कुछ नहीं सूझता हमें उनके बिना कुछ भी नहीं सुहाता, अतः तुम्हारें निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने में असमर्थ हैं।

विशेषः-

1. प्रस्तुत पद में कृष्ण के प्रति गोपियों की अखण्ड-प्रेम निष्ठा की भावना का प्रकाशन हुआ है, साथ ही व्यग्ंय का भाव भी व्यक्त हुआ है, व्यंग्य सम्पूर्ण यादववंश पर है।
2. प्रथम दो पंक्तियों में कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा की ओर संकेत है जिसकी मोहिनी गोपियों के ह्रदय में गड़ गई है, अतः अब वहाँ किसी अन्य के लिए स्थान नहीं रहा।
3. आकर्षण लयात्मकता।
4. सुन्दर बिम्ब-विद्यान।
5. आकर्षक गेयता।
6. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
7. वियोग श्ंगार की अभिव्यक्ति।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. गोपियों कील वाक्पटुता।
10. प्रभावी अभिव्यंजना।

।। 95 ।।

गोपालहिं कैसे कै हम देति?
ऊधो की इन मीठी बातन निर्गुण कैसे लेति?
अर्थ, धर्म, कामना सुनावत सब सुख मुकुति समेति।
जे व्यापकहिं बिचारत बरनत निगम कहत हैं नेति।।
ताकी भूलि गई मनसाहू देखहु जौ चित चेति।
सूर स्याम तजि कौन सकत है, अलि काकी गति एति।।६५।।

शब्दार्थः कैसे कै = किस प्रकार। देती = दे सकती है। समेति = सहित। व्यापकहिं = व्यापकता। निगम = वेद। नेति = यह नहीं हैं, न इति। मनसाहू = बुद्धि भी। चेति = विचारकर। काकी = किसकी। एति = इतनी।

प्रसंगः प्रस्तुत पद भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास द्वारा लिखित 'भ्रमरगीत' से लिया गया है। प्रस्तुत पद मे गोपियाँ कृष्ण को छोड़कर निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट कर रही हैं। कृष्ण तो उन्हें प्राप्त हैं, वे सदा उनके मन में निवास करते हैं, जबकि निर्गुण ब्रह्म को दुरूह साधना द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः वह तो अन्त तक अप्राप्य बना रहता है। गोपियाँ पररूप इसी बात पर चर्चा कर रहीं है।

व्याख्याः गोपियाँ कहती हैं कि हम अपने गोपाल को किस प्रकार उद्धव को दे सकती हैं? कृष्ण को भुलाना और उन्हें उद्धव को देना हमारे लिए नितान्त असम्भव है। हमारे लिए न तो यह ही सम्भव है और न ही हम इनकी चिकनी-चुपड़ी बातों में निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर सकती हैं। ये हमें प्रलोभन दे रहे हैं, कि हमें ब्रह्म की उपासना द्वारा मुक्ति के साथ-साथ अर्थ, धर्म और कामना की भी प्राप्ति होगी, अर्थात् ब्रह्म की साधना से हमारी सम्पूर्ण कामनाएँ फलीभूत हो जाएँगी। ये उद्धव उस ब्रह्म को सर्वव्यापक कहते हैं तथा वेद आदि ग्रन्थों ने ब्रह्म की व्यापकता पर विचार

करते हुए उसे 'नेति-नेति' कहा है। जब इन शास्त्रों के अनुसार ब्रह्म कोई वस्तु ही नहीं तो वह उक्त सब बातों का फलदाता किस प्रकार हो सकता है। जिसने भी अभी तक इस ब्रह्म के विषय में अपने हृदय में सोच-विचार किया है, उसकी अगम्यता का अनुभव करके उसकी बुद्धि चकरा गई है - अर्थात् आज तक कोई भी इस व्यापक ब्रह्म को जान नहीं पाया। अतः हम कोई ऐसी मूढ़ तो हैं नहीं जो इस अप्राप्य ब्रह्म के प्रलोभन में आकर अपने श्यामसुन्दर कृष्ण को त्याग दें। कृष्ण तो हमें सहज रूप से प्राप्य हैं उन्हें त्यागकर दुरूह साधना द्वारा भी अन्त में अप्राप्य रहने वाले ब्रह्म की आराधना करना हमारे वश में नहीं।

विशेषः-

1. प्रस्तुत पद में गोपियों ने अत्यन्त सबल तर्कों द्वारा निर्गण ब्रह्म का खण्डन प्रस्तुत किया हैं उनके मत में कृष्ण उन्हें सहज प्राप्त हैं जबकि ब्रह्म दुरूह उपासना द्वारा भी अन्त में अप्राप्त ही बना रहता है, तो फिर हम कृष्ण को किस प्रकार छोड़ सकती है? यह न तो उचित ही है और न ही सम्भव है।
2. कृष्ण के प्रति गोपियों को अटूट प्यार।
3. भक्ति रस का सुन्दर परिपाक।
4. सहज एवं सरल भाषा प्रयोग।
5. मनभावन अभिव्यजंना।
6. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।
7. मनोहारी बिम्ब-विधान।
8. आकर्षक गेयता।
9. रस, अलंकार का प्रयोग।
10. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
11. प्रसाद, माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।

।। 96 ।।

उपमा एक न नैन गही।
कबिजन कहत-कहत चलि आए, सुधि, करि-करि काहू न कही।
कहे चकोर, सुख-बिधु बिनु जीवन, भँवर न, तहँ उड़ि जात।
हरिमुख-कमल कोस बिछुरे ते ठाले क्यों ठहरात?
खंजन मनंरजन जन जौ पै, कबहुँ नाहिं सतरात।
पँख पसारि न उड़त, मंद है समर समीप बिकात।।
आए बधन व्याध हे ऊधो, जौ म ग, क्यों न पलाय।
देखत भागि बसै घन बन में जहँ कोउ संग न धाय।।
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे? प्रति छिन अति दुख बाढ़त।
सूरदास मीनता कछू इक, जन भरि संग न छाँड़त।।६६।।

शब्दार्थः गही = ग्रहण की। बिधु = चन्द्रमा। ठाले = अभाव में। ठहरात = स्थिर, अचल पड़े रहते। सतरात = सतर होते, क्रुद्ध होते। मन्द = शिथिल। समर = कामदेव। पलाय = भाग जाते। घन

= सघन। छाँड़त = छोड़ते।

प्रसंगः प्रस्तुत पद में गोपियों ने प्रकारान्तर से अपनी आँखों की भर्त्सना की हैं, क्योंकि कृष्ण-वियोग में व्यथित रहने के कारण उनके नेत्रों ने अपना सम्पूर्ण सौन्दर्य तथा विशिष्टता खो दी है।

व्याख्याः गोपियाँ कहती हैं कि हमारे इन नेत्रों ने कवियों द्वारा विवेचित विभिन्न उपमाओं में से एक भी उपमा को ग्रहण नहीं किया। कवियों ने नेत्रों की विशेषताओं के आधार पर इनके लिए अनेक उपमाएँ निश्चित की हैं, किन्तु हमारे नेत्रों पर उनमें से एक भी लागू नहीं होती क्योंकि इनमें कोई भी गुण अब उपलब्ध नहीं होता। प्राचीन काल से कविगण नेत्रों की विभिन्न पदार्थों, पशु-पक्षियों आदि के साथ गुण-कार्य के आधार पर अनेक उपमाएँ देते रहे हैं, किन्तु किसी भी कवि ने सोच-विचार पर कोई भी ऐसी उपमा नहीं दी जो हमारे नेत्रों पर संगत बैठती। कवियों ने नेत्रों को चकोर कहा, किन्तु हमारे नेत्रों में तो चकोर का गुण धर्म है ही नहीं क्योंकि ये कृष्ण के चन्द्र मुख को निहारे बिना भी अभी तक जीवित हैं इनके लिए भ्रमर की उपमा भी उचित नहीं। क्योंकि भ्रमर तो अनायास वहीं पहुँच जाता है, जहाँ कमल पुष्प होता है। और कमल-कोश में बन्दी बनकर स्वयं को धन्य मानता है, किन्तु हमारे ये नेत्र कृष्ण के मुखरूपी कमल-कोश ले बिछुड़ गए हैं, किन्तु फिर भी उनके पास उड़कर नहीं जाते अपितु वे निठल्ले होकर यही स्थिर हो गए हैं और कृष्ण के लौटने की प्रतीक्षा में टकटकी लगाए हुए हैं अतः नेत्रों के लिए कवियों द्वारा प्रयुक्त उक्त दो उपमाएँ संगत नहीं प्रतीत होती।

यदि नेत्रों को मानव-जाति को मनोरंजन प्रदान करने वाले खंजन पक्षी के समान स्वीकार किया जाए। तो यह भी उचित प्रतीत नहीं होता। खंजन पक्षी अपने सम्मुख बधिक को आया पाकर क्रुद्ध होकर अकड़ उठता है और अपने पंख फैलाकर उससे दूर भाग जाता है। जबकि हमारे नेत्र किसी ऐसी स्थिति में न तो क्रुद्ध ही होते हैं और न ही कहीं दूर भागने का प्रयत्न करते हैं, अपितु ऐसी स्थिति में ये स्वयं को शिथिल पाते हैं और कामदेव के प्रभाव में आकर उसके वश में हो जाते हैं।

इनके लिए म ग की उपमा भी संगत नहीं प्रतीत होती क्योंकि म ग बहेलिए को अपने पास आता हुआ देखर भाग खड़ा होता है। और सघन बन में ऐसे स्थल पर जाकर छुप जाता है कि जिससे न तो उसका पीछा किया जा सके, और न ही ढूँढा जा सके। किन्तु हमारे ये नेत्र उद्धव रूपी बहेलिए को अपना शिकार करने के लिए आया जानकर भी कहीं जाकर छुपते नहीं। इन्हें लोचन अर्थात् देखने वाला कहना भी व्यर्थ है, क्योंकि ब्रजलोचन कृष्ण के अभाव में यह उपमा भी सार्थक नहीं। इनकी सार्थकता तो केवल कृष्ण के दर्शन करते रहने में ही है। कृष्ण को बिना देखे इनका दुःख-वेदना क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती रहती है।

केवल एक ही उपमान ऐसा है जिसका थोड़ा सा अंश हमारे इन नेत्रों में उपलब्ध होता है। इनके लिए मछली की उपमा कुछ-कुछ सार्थक प्रतीत होती है। जिस प्रकार मछली क्षणभर के लिए भी जल से प थक नहीं होती, उसी प्रकार हमारे ये नेत्र क्षण भर के लिए भी जल का साथ नहीं छोड़ते। अर्थात् इनके सदैव आँसू विद्यमान रहते हैं - ये कृष्ण-वियोग में सदा सजल रहते हैं।

विशेषः-

1. प्रस्तुत पद में विभिन्न अलंकारों के प्रयोग द्वारा नेत्रों के विभिन्न उपमानों का अत्यन्त हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत किया गया है।
2. अन्तिम पंक्ति मे 'मीनता' शब्द का प्रयोग ध्वनिपूर्ण है।
3. उद्धव के कृष्ण-प्रेम को भुलाने की प्राण-घातक बात कहने के कारण बधिक कहा गया

है।

4. कृष्ण के प्रति गोपियों की आस्था का मनोहारी चित्रण है।
5. ब्रज भाषा का सरल प्रयोग।
6. गोपियों की वाक्पटुता का सुन्दर चित्रण।
7. मुक्तक शैली।
8. सूक्ष्मभावों की सहज अभिव्यक्ति।
9. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
10. सुन्दर बिम्ब-विधान।
11. आकर्षण गेयता।
12. अलंकार
    (क) सम्पूर्ण पद में 'रूपक और 'हीनोपमा' अलंकार।
    (ख) 'उपमा.....गही' में व्यंग्य के कारण व्यतिरेक अलंकार।
    (ग) 'कविजन.....कहीं' में काव्यलिंग अलंकार।
    (घ) 'ब्रजलोचन' में परिकर अलंकार।

।। 97 ।।

हरिमुख निरखि निमेख बिसारे।
ता दिन ते मनो नए दिगंबर इन नैनों के तारे।।
घूँघट-पट छाँड़े, बीथिन महँ अहनिसि अटत उधारे।
सहज समाधि रूपरुचि इकटक टरत न टक ते टारे।।
सूर,सुमति समुझति, जिय जानति, ऊधो! बचन तिहारे।
करैं कहा ये कह्यौ न मानत लोचन हठी हमारे।।६७।।

शब्दार्थः निमेख बिसारे = पलक झपकाना भूल गए। दिगम्बर = नंगे। तारे = पुतलियाँ। बीथिन = गलियों। अटत = समाते घूमते। उधारे = नंगे बदन। टक = टकटकी बाँधकर देखना। टारे = मना करने पर। सुमति = अच्छा विचार।

प्रसंगः गोपियों के नेत्र कृष्ण की रूप-माधुरी के अतिरिक्त और कुछ देखना ही नहीं चाहते। वे रात-दिन उन्हीं के दीवाने बने रहते है। गोपियाँ अपने नेत्रों की इस विवशता को उद्धव के सम्मुख व्यक्त कर रही हैं-

व्याख्याः गोपियाँ कहती है कि हे उद्धव! कृष्ण की रूप-माधुरी के दर्शन करके हमारे ये नेत्र अपनी पलकें झपकना भी विस्म त कर बैठे हैं। जिस दिन से इन्होंने पलकरूपी घूँघट को उतार फेंका है - अर्थात् ये अपलक मधुबन की गलियों में घूमती रहती हैं और श्री कृष्ण के रूप के दर्शनों के लिए आतुर रहती हैं, सदैव उन्हें ही खोजती रहती है। कवि के कहने का भाव यह है कि गोपियों के नेत्रों ने पलक न झपकने के कारण मानों पुतली रूपी वस्त्र को उतार फेंका है और अब नग्नावस्था में बिना लोक-लाज की चिन्ता किए बिना गलियों में भटका करती हैं और इस प्रकार कृष्ण को खोज रही हैं।

ये पुतलियाँ श्री कृष्ण के अनुपम सौन्दर्य के ध्यान में रहती है तथा टकटकी बाँधे ध्यान में तल्लीन ऐसी प्रतीत होती हैं मानो गोपियों के समान सहज-समाधि की अवस्था में स्थित योग-साधना कर रहीं हों। यह मना करने पर भी नहीं मानती और सदा अपलक कृष्ण के रूप के ध्यान में मग्न रहती हैं।

हे उद्धव! हम तुम्हारे श्रेष्ठ विचारों को समझ रही हैं, हम अपने हृदय में भी यह जानती हैं कि तुम हमारे कल्याण के लिए हमें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो। किन्तु हम कुछ कर नहीं पा रही हैं, बात हमारे वश में नहीं रही, क्योंकि ये हमारे हठधर्मी नेत्र हमारे कहने में ही नहीं आते। इन्हें तो कृष्ण रूप की लगन लगी है, उन्हें त्यागकर ये अन्य किसी ब्रह्म आदि को देखना पसन्द भी नहीं करते, अतः हम बाध्य हैं, तुम्हारी बात मानना हमारी सामर्थ्य में नहीं।

विशेषः-

1. गोपियों की वाग्विदग्धता दर्शनीय हैं। वे अपने वाक्-चातुर्य द्वारा ब्रह्म को स्वीकार न करने का सारा दोष अपने नेत्रों पर लगा रहीं हैं, और इस प्रकार उद्धव को मूर्ख बना रही हैं।
2. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
3. आकर्षक गेयता।
4. प्रभावी व्यंग्य योजना।
5. कृष्ण के प्रति अनूठा प्रेम-भाव।
6. सूक्ष्म भावों की सहज अभिव्यक्ति।
7. मुक्तक शैली।
8. सुन्दर बिम्ब-विधान।
9. ध्वन्यात्मकता।
10. 'ता दिन.....तारे' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

।। 98 ।।

दूर करहू बीना कर धरिबो।
मोहे म ग नाहीं रथ हाँक्यों, नाहिन होत चंद को ढरिबो।।
बीती जाहि पै सोई जानै कठिन है प्रेम-पास को परिबो।
जब तें बिछुरे कमलनयन, सखि, रहत न नयन नीर को गरिबो।।
सीतल चंद अगिनि-सम लागत, कहिए धीर कौन विधि धरिबो।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु सब झूठो जतननि को करिबो।।६८।।

शब्दार्थः धरिबो = धारण करना। ढरिबो = ढलना, अस्त होना। परिबो = पड़ता। नीर = अश्रुं गरिबो = गिरना। अगिनि = आग। धीर = धीरज, धैर्य। दरस = दर्शन। झूठो = व्यर्थ। जतननि = यत्नों का, प्रयत्नों का। करिबो = करना।

प्रसंगः प्रस्तुत पद्यांश मे कवि सूरदास लिखते हैं कि राधा प्रिय कृष्ण के विरह मे दग्ध है। वियोगिनी राधा की दशा जब विषम हो उठती है तो अन्य सखियाँ उसका मन बहलाने की चेष्टा करती हैं। कृष्ण की ओर से उसका ध्यान हटाने के लिए एक सखी-वीणा बजाकर विरहिणी राधा को प्रसन्न

करना चाहती है, किन्तु राधा उसे ऐसा करने से रोकती हैं, और प्रस्तुत पद में इसका कारण बताते हुए कहती हैं कि-

व्याख्याः हे सखी! यह जो वीणा तू हाथ मे लेकर बजा रही है इसे दूर करके रख दे। वीणा के मधुर स्वर को सुनकर चन्द्रमा के रथ में जुड़े हुए म ग स्थिर होकर रह गए हैं, जिससे चन्द्रमा अस्त ही नहीं हो रहा।

कवि के कहने का भाव यह है कि वियोगिनी राधा को चाँदनी रात अत्यन्त दुःखदायी प्रतीत होती है, काटे ही नहीं कटती क्योंकि उसे प्रिय कृष्ण के साथ क्रीड़ा-विहार की सुधि आ रही है। वीणा-वादन के कारण ही रात को लम्बा हुआ समझती है और उसे बंद करवा देती है। प्रेम-पाश में पड़ना और उसका निबाहना अत्यन्त कठिन होता है। इसकी वेदना तो वही अनुभव कर सकता है जिसने कभी किसी से प्रेम किया हो और अपने प्रिय के वियोग का दुःख सहा हो। हे सखी जबसे कमल-नेत्र श्री कृष्ण मुझसे बिछुड गए हैं, मुझे त्यागकर मथुरा में जा बैठे हैं, तबसे मेरे नयनों से आँसुओं का गिरना बन्द नहीं हुआ। मैं उनके वियोग मे सदा आँसू बहाती रहती हूँ।

संसार को शीतलता प्रदान करने वाला यह चन्द्रमा मुझे तो अग्नि में दग्ध करता हुआ प्रतीत होता है। अब तुम ही बताओं इस अवस्था में मैं किस प्रकार धैर्य धारण करूँ? सूरदास कहते हैं कि राधा अपनी सखी से कह रही है कि प्रिय कृष्ण के दर्शन से ही मेरी व्याकुलता दूर हो सकती है, बाकी सब यत्न व्यर्थ हैं, उनसे कोई लाभ होने वाला नहीं।

विशेषः-

1. संयोगावस्था में आनन्ददायक वस्तुएँ विरहिणी के लिए दुःखद बन जाती है। प्रस्तुत पद में इसी काव्य-परम्परा का निर्वाह हुआ है।
2. प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण हुआ है क्योंकि प्रकृति की सुखद अनुभूति भी राधा के विरह को उद्दीप्त कर रही है।
3. जायसी की नायिका पर भी चाँदनी रात मे वीणा का यही प्रभाव पड़ा हैं-

   ''गहै बीनु मकु रैन बिहाई। ससि वाहन तहँ रहे ओ नाई''।।
4. ब्रजभाषा का सरल प्रयोग।
5. वियोग रस का सुन्दर चित्रण।
6. सुन्दर बिम्ब-विधान।
7. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।
8. मन भावन भावाभिव्यक्ति।
9. आकर्षक गेयता।
10. प्रसाद माधुर्य गुणसम्पन्न शैली।
11. अलंकार
    (क) 'मोहे .... दरिबो में' उत्प्रेक्षा अलंकार।
    (ख) 'सीतल....धरिबो में' अतिशयोक्ति अलंकार।
    (ग) 'प्रेम-पाश' में रूपक अलंकार।

(घ) 'कमलनयन' में उपमा अलंकार।

।। 99 ।।

अति मलीन व षभानुकुमारी।
हरि-स्रमजल अन्तर-तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी।।
अधोमुख रहति उरध नहिं चितवाति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।।
हरि-संदेस सुनि सहत म तक भई, इक बिरहिनि दूजे अलि जारी।
सूर-स्याम बिनु यों जीवति हैं ब्रजबनिता सब स्यामदुलारी।।६६।।

शब्दार्थः मलीन = मैली, शिथिल, उदास। व षभानुकुमारी = राधा। हरि-स्रमजल = कृष्ण के साथ की गई प्रेम-क्रीड़ाओं में श्रम के कारण शरीर से निकले हुए पसीने की बूँदें। अन्तर-तनु = मन और शरीर। भीजे = भीगना। धुआवति = धुलवाना। अधोमुख = मुख नीचा किए हुए। उरध = ऊपर की ओर। चित = देखती। गथ = पूँजी। चिहुर = चिकुर, बाल। बदन = मुख। कुम्हिलाने = मुरझा जाना। नलिनी = कमलिनी। हिमकर = तुषार, पाला।

प्रसंगः प्रस्तुत पद भक्ति काल के भक्त शिरोमणि सूरदास द्वारा रचित 'भ्रमरगीत सार' से लिया गया है। इसमें कवि लिखते हैं कि कृष्ण-विरह में राधा की स्थिति अत्यन्त शोचनीय बन गई है। एक तो कृष्ण-विरह ने ही उसकी स्थिति दयनीय बना रखी है, उद्धव ने निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश से उसे और भी विषम बना दिया है। प्रस्तुत पद में राधा की इसी अवस्था का चित्रण किया गया है।

व्याख्याः कृष्ण के विरह में व षभानुकुमारी अर्थात् राधा अत्यन्त मलिन और शिथिल रहती है। उसकी साड़ी अत्यन्त मैली हो गई है किन्तु वह उसे मैली ही पहने रहती है, धुलवाती नहीं। साड़ी को न धुलवाने का कारण यह है कि कृष्ण के साथ विरह-लीला के समय प्रेमावेश के कारण उसके शरीर ने जो श्रम किया था उसके कारण निकले हुए पसीने से उसकी पूरी साड़ी भीग गई थी, अब उस साड़ी से राधा को कृष्ण के शरीर की सुगन्ध आती रहती है। इसी आकर्षण एवं आनन्द के कारण वह अपनी साड़ी नहीं धुलवाती, बल्कि मैली ही पहने रहती हैं।

राधा सदैव मुख नीचा किए हुए कृष्ण के साथ व्यतीत किए गए सुखद दिनों की मधुर स्म ति में खोई रहती है। वह कभी भी मुख ऊपर उठाकर नहीं देखती। उसकी यह दशा उस जुआरी जैसी है जो जुए में अपनी समस्त पूँजी हार चुका हो और अब उसी सोच में उदास बैठा हो। वह कृष्ण पर अपना सर्वस्व अर्पित कर चुकी है और अब उसी सोच मे उदास रहती है।

राधा के बाल बिखरे रहते हैं तथा मुख कुम्हलाया रहता है। उसकी यह कान्तिहीन दशा उस कमलिनी का स्मरण दिलाती है, जो तुषारापात के कारण मुरझा गई है और अपनी समस्त सुन्दरता खो बैठी है। कृष्ण के निर्गुण ब्रह्म के संदेश को सुनकर तो वह मरणासन्न हो गई है। कृष्ण के विरह में पहले ही संतप्त थी, अब उद्धव ने निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देकर उसे और भी अधिक व्यथित किया है, अब तो वह म तप्राय ही है।

सूरदास जी कहते हैं, कृष्ण की विरह मे केवल राधा ही अकेली संतप्त नहीं और न केवल उसकी ही ऐसी विषम स्थिति है, बल्कि कृष्ण की प्रिय सभी ब्रज युवतियाँ कृष्ण के विरह में राधा के समान मर्मान्तक पीड़ा झेलती हुई किसी प्रकार जीवित हैं।

विशेषः-

1. प्रस्तुत पद मे विरहिणी राधा का मार्मिक, प्रभावशाली एवं सहानुभूतिपूर्ण वर्णन उपलब्ध

होता है।

2. इसमे विरह की अन्तिम अवस्था 'मरण' का चित्रण किया हुआ है।
3. वियोग रस का सुन्दर चित्रण।
4. ब्रजभाषा प्रयोग।
5. सूक्ष्मभावों की अभिव्यक्ति।
6. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम् शब्दों का प्रयोग।
7. प्रसाद, माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. सुन्दर बिम्ब-विद्यान।
9. आकर्षक गेयता।
10. अलंकार
    (क) 'ज्यों.....जुआरी' में उपमा अलंकार।
    (ख) 'ज्यों.....मारी' में उत्प्रेक्षा अलंकार।
    (ग) 'हरि.....अलि जारी' में काव्यलिंग अलंकार।

।। 100 ।।

ऊधौ तुम हो अति बड़भागी।
अपरस रहत सनेहतगा तें, नाहिंन मन अनुरागी।
पुरइनि-पात रहत जल-भीतर ता रस देह न दागी।
ज्यों जन माँह तेल की गागरि बूँद न ताके लागी।
प्रीत नदी मे पाँव न बोर्‌यो, दृष्टि न रूप-परागी।
सूरदास अबला हम भोरी गुर चींटी ज्यों पागी।।१००।।

शब्दार्थः बड़भागी = बड़े भाग्य वाले, भाग्यशाली। अपरस = अनासक्त, उदासीन। सनेहतगा = स्नेह का तागा, डोरा, बन्धन। पुरइनि = कमल। रस = जल। दागी=दाग तक नहीं लगता। बोर्‌यो = डाला। रूप-परागी = सौन्दर्य में उलझी। गुर = गुड़। पगी = चिपक गई, आसक्त हो गई।

प्रसंगः प्रस्तुत पद में गोपियों ने अपने सगुण-प्रेम-पंथ की भयंकरता प्रकट करते हुए, उससे अपनी दृढ़ता प्रदर्शित की है तथा उद्धव की प्रेम-सम्बन्धी उदासीनता पर व्यंग्य किया है।

व्याख्याः गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव! तुम सचमुच अत्यन्त भाग्यशाली हो क्योंकि तुम प्रेम-बन्धन से बिल्कुल स्वतन्त्र हो। प्रेम का तुम्हारे लिए कोई आकर्षण नहीं, और न ही तुम्हारा मन किसी के प्रेम में अनुरक्त होता है, अर्थात् तुम्हारा मन प्रेम की भावना से रिक्त है। जिस प्रकार कमल पुष्प के पत्ते सदा जल के पास रहते हैं किन्तु जल से अछूते ही रहते हैं, उन पर जल की एक बूँद भी नहीं ठहरती है और जिस प्रकार तेल की मटकी को जल में भिगोने पर जल की एक बूँद भी उस पर नहीं ठहरती अर्थात् ये दोनों तेल का मटका और कमल का पत्ता जल के सहचर्य में भी उससे अनासक्त रहते हैं, उसी प्रकार तुम कृष्ण के समीप रहते हुए भी उनके रूपाकर्षण तथा प्रेम-बन्धन से सर्वथा मुक्त हो इसलिए वास्तव में तुम भाग्यशाली हो।

वस्तुतः तुम आज तक प्रेम रूपी नदीं में उतरे ही नहीं, अर्थात् तुमने कभी किसी से प्रेम ही नहीं किया और न ही कभी किसी के रूप लावण्य ने तुम्हें आकर्षित किया है, इस प्रकार न तो तुम

रूप पारखी हो और न ही तुम्हारा मन प्रेम भाव से परिचित है। किन्तु हे उद्धव! हम तो भोली-भाली ग्रामीण अबलाएँ है और हम अपने प्रिय कृष्ण की रूप-माधुरी पर मोहित होकर इस प्रकार उनके प्रेम में पग गई है कि अब उनसे विमुख नहीं हो सकती। हमारी यह स्थिति उन चीटियों के समान है जो गुड़ पर आसक्त हो उससे चिपट जाती है और फिर स्वयं को छुड़ा न पाने के कारण वही प्राण दे देती है।

विशेषः-

1. प्रस्तुत पद में मुख्य भाव व्यंग्य है। गोपियाँ उद्धव की प्रेम हीनता पर व्यंग्य करती हुई उनकी भर्त्सना कर रही हैं।
2. वस्तुतः व्यंग्य यह है कि उद्धव भाग्यशाली न होकर अति अभागे हैं जो कृष्ण रूपी सौन्दर्य और प्रेम के सागर के किनारे पर बसते हुए भी उस आकर्षण एवं बन्धन से मुक्त है। इस प्रकार 'अति बड़भागी' में व्यग्ंय है।
3. ब्रजभाषा का प्रयोग।
4. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
5. आकर्षक गेयता।
6. सूक्ष्म भावों की सुन्दर प्रस्तुतीकरण।
7. सुन्दर बिम्ब-विधान।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. वियोग रस का सुन्दर परिपाक।
10. अलंकार
    (क) सम्पूर्ण पद में उपमा और द ष्टान्त अलंकार है।
    (ख) 'प्रीति.....नदी' मे रूपक अलंकार।

तुलसीदास

खण्ड (क)

आलोचना

1. तुलसीदास का जीवन परिचय
2. तुलसीदास की काव्य कला
3. तुलसीदास की भक्ति भावना
4. तुलसीदास की दार्शनिक भावना
5. युगीन परिस्थितियाँ
6. तुलसीदास की सामाजिक चेतना
7. रामचरितमानस में लोकमंगल की चेतना
8. रामचरितमानस की प्रबन्ध कल्पना
9. तुलसीदास की विनय भावना
10. तुलसीदास का समन्वयवाद
11. तुलसीदास का प्रकृति चित्रण
12. रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड का सारांश
13. रामचरितमानस में उत्तरकाण्ड का महत्त्व
14. भरत का चरित्र
15. तुलसीदास की रामराज्य की कल्पना
16. तुलसी की काव्य भाषा
17. तुलसी की सांस्कृतिक योजना
18. तुलसीः यथार्थ बोध

खण्ड (ख)

व्याख्या

खण्ड (क) : आलोचना

अध्याय 1

तुलसीदास : जीवन-परिचय

गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन-परिचय

तुलसी मुगल सम्राट अकबर के समकालीन थे यह निर्विवाद तथ्य है। अकबर का शासनकाल, मुगलकालीन शासनकाल का सर्वश्रेष्ठ समय माना जाता है। धार्मिक सहिष्णुता, हिन्दुओं की उच्च पदों पर नियुक्ति आदि के कारण कुछ विद्वान् इसे भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल तक कह देते हैं यह भुलाकर कि पराधीनता आखिर पराधीनता है। 'दीन इलाही' के नाम पर अकबर स्वयं हिन्दुओं को धर्मान्तिरित करने का कौशलपूर्ण षड्यन्त्र कर रहा था। अकबर के वर्चस्व और मुगल संस्कृति के प्रभाव से हिन्दू जनता अपने उच्चादर्शों को भुलाकर उसे उसी प्रकार आत्मसात् कर रही थी, जिस प्रकार अंग्रेजी शासनकाल की समाप्ति हो जाने पर भी आज भारतवासियों द्वारा पाश्चात्य संस्कृति अपनाई जा रही है। पारिवारिक जीवन इस प्रकार त्रस्त हो चुका था, जिस प्रकार काठ को घुन लगकर उसे विकृत कर देता है। पारिवारिक दायित्त्व के निर्वाह से विमुख होकर लोग वैराग्य पथ के पथिक बन रहे थे–

''नारि मुई ग ह सम्पति नासी, मुंउ मुंडाई हों हि सन्यासी।''

वर्णाश्रम धर्म पराधाम से विलुप्त होने की तैयारी कर रहा था। वैदिक सिद्धान्तों का पद.पद पर तिरस्कार हो रहा था। धूर्त जन नाना प्रकार के वेश बनाकर भोले.भाले व्यक्तियों को ठग रहे थे–

''बरन धर्म नहिं आश्रम चारी।
श्रुति विरोध रत सब नर नारी।।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजा सब।
कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।।
मागर सोइ जा कहुँ जोइ भावा।
पण्डित सोइ जो गाल बजावा।।

× × ×

जाके नख अरु जटा बिलासा।
सोइ तापस प्रसिद्ध कलि काला।।''

राजनैतिक तथा सामाजिक दशा की भाँति तत्कालीन साहित्यिक दशा भी अच्छी नहीं थी। संस्कृत विद्वान लोकभाषा का आश्रय ले अपने विचारों की अभिव्यक्ति करना अथवा उनमें अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करना अपमानजनक मानते थे। प्रायः कवि कर्म चाटुकारिता के चरणों में समर्पित हो निज महत्त्व खोता जा रहा था। स्वयं हमारे प्रतिपाद्य गोस्वामी तुलसीदास को भी 'भाषा भन्निति' उपहासास्पद प्रतीत होती थी।

परन्तु राम के इस अनन्य साधक को 'राम भक्ति भूषित' होने के कारण विश्वास था कि हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादाधति साधक के अनुसार सज्जन व्यक्ति उनकी लोकभाषा में प्रस्तुत रचना को सुनकर उसकी सराहना किए बिना न रहेंगे।

ऐसी विषम परिस्थितियों से परिपूर्ण काल में एक महान् आत्मा का अविर्भाव भारत की पावन भूमि पर हुआ जिसने देश और समाज की पतितावस्था को खुले नेत्रों से हृदयंगम कर उन्हें इस दशा से उबारने का संकल्प किया। उन्होंने गहन चिन्तन और मनन के पश्चात् मानस रूपी ''कैप्सूल'' में 'राम.रसायन' तथा इस रूप में प्रस्तुत किया कि न केवल उनका युग बल्कि आज का युग भी उसे सेवन कर अनुपम पौष्टिकता का अनुभव करता है। दास बनाकर मॉरिशश तथा सूरी नाम (दक्षिणी अमेरिका) ले जाए गए भारतीय इसी की महत्ता से न केवल स्वयं जीवित रह पाये अपितु अपने कर्म और संस्कृति को भी बचा पाने में समर्थ रहे। तुलसीदास को किसी जाति अथवा वर्ग से बाँधना उस युग पुरुष के साथ अन्याय होगा। वे सही मायनों में युग पुरुष थे और उस युग के सारे मानव समुदाय के थे। सम्भवतः यही कारण है कि उनका अध्येता भले ही किसी देश अथवा जाति का हो उनके प्रति आत्मीयता की अनुभूति करता है। जॉर्ज ग्रियर्सन ने गोस्वामी तुलसीदास को गौतम बुद्ध के पश्चात् भारत का सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति स्वीकार किया है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने गोस्वामी तुलसीदास को 'लोक नायक' प्रतिपादित करते हुए लिखा है–

''लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, बुद्धदेव समन्वयवादी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।''

अन्तः साक्ष्य के आधार पर तुलसी का जीवन

तुलसीदास जी की रचनाओं का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करते हुए उनके जीवन से सम्बद्ध जो सूत्र सामने आते हैं, वे एक ऐसे करुणापूर्ण जीवन का दिग्दर्शन कराते हैं जो पाषाण को भी विगलित कर देने में सक्षम हैं। इस अन्तः साक्ष्य के अनुसार वे बचपन में ही माता.पिता की स्नेहिल छत्र छाया से वंचित हो गए और फिर पाँच वर्ष की अवस्था तक इन्हें घर की सेविका ने पाला। इस सेविका का नाम पुनियाँ था। जब तुलसी साढे पाँच वर्ष के हुए, पुनियाँ का निधन हो गया और तब उदर पूर्ति के लिए उन्हें द्वार.द्वार भटकना पड़ा। देवीकृपा से 'राम शैल' निवासी श्री अनन्तानन्द जी के शिष्य श्री नरहरिदास जी ने इस बालक को देखा और होनहार जानकर उसे अपने साथ ले सूकर क्षेत्र (सौरों) आए और उसे रामकथा सुनाई तथा उसे नाम दिया–राम बोला। सम्वत् 1561 में नरहरि जी उन्हें अयोध्या ले गये और वहीं माघ शुक्ल पंचमी शुक्रवार को इनका यज्ञोपवीत संस्कार कराया तथा वैष्णवों के पाँच संस्कार करा उन्हें राम मन्त्र की दीक्षा दी और विद्याध्ययन कराने लगे। कुछ समय पश्चात् तुलसीदास काशी चले आए और शेष सनातन के पास रहकर 15 वर्ष तक वेद.वेदांग का अध्ययन किया। 1583 ज्येष्ठ शुक्ल 13 गुरुवार को इनका विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से सम्पन्न हुआ, परन्तु इस मनस्वी के भाग्य में सम्भवतः दाम्पत्य जीवन का सुख नहीं था। एक बार बिना कहे उसके मायके चले जाने पर आप उसके पीछे.पीछे वहीं जा पहुँचे जिससे लज्जा अनुभव कर उसने इन्हें फटकारते हुए कहा था–

''आस्थि चर्ममय देह मम, तामे ऐसी प्रीति।
ऐसी जो श्रीराम महँ होती, न तौं भव भीति।।''

कविवर सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने इस घटना को इस प्रकार रत्नावली के मुख से प्रकट कराया है–

''धिकधिक् आँये यूं अनाहूत,
धो दिया सभी निज धर्म धूत।
राम के नहीं, काम के दूत कहलाये।।''

पत्नी की यह कड़ी फटकार वैराग्य का कारण बनी। वे घर त्याग प्रयाग पहुँचे और साधुवेश ग्रहण कर तीर्थाटन करते हुए काशी पहुँचे। सम्वत् 1631 (1575 ई.) में अयोध्या में रामचरितमानस का प्रणयन आरम्भ हुआ और इसके पश्चात् विभिन्न ग्रन्थों की रचना कर सम्वत् 1680 (1623 ई.) में इस महापुरुष ने समन्वय की अभीय धार से संसार को सिंचित कर महाप्रयण किया।

जन्म

गोस्वामी जी के जन्म तिथि के सम्बन्धों में विभिन्न मत हैं। गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित रामचरितमानस में दिए गए उनके जन्म व त्त के अनुसार उनका जन्म बाँदा जिले के राजापुर धाम के आत्माराम दूबे तथा पत्नी दुलारी के यहाँ अभुक्त मूल नक्षत्र में सम्वत् 1554 की श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन हुआ था। इसके अतिरिक्त इनके जन्म के सम्बन्ध में यह दोहा भी सुना जाता है–

''सम्वत् पन्द्रह सौ अस्सी, तरणी तनुजा तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धर्‌यौ सरीर।।''

मानस मयंक तथा मूल गोसाई चरित के अनुसार तुलसीदास जी का जन्म सम्वत् 1554 में हुआ था। शिवसिंह सरोज के रचयिता शिवसिंह सेंगर के अनुसार तुलसीदास जी का जन्म सम्वत् 1583 है।

जॉर्ज ग्रियर्सन एवं माता प्रसाद गुप्त, पं. रामगुलाम द्विवेदी सम्वत् 1589 को उनका जन्म सम्वत् मानते हैं। पं. रामनरेश त्रिपाठी एवं रामदत्त भारद्वाज भी उक्त मत के ही समर्थक हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार में गोस्वामी जी का जन्म सम्वत् 1554 मान लेने पर उनके लिए 127 वर्ष तक जीवित रहना असम्भव तो नहीं है किन्तु यह सम्भव है कि मानस मयंक के छन्दों का पाठ अशुद्ध हो।

'राम मुक्तावली' के आधार पर श्री जगमोहन वर्मा तुलसीदास जी का जन्म सम्वत् 1560 मानते हैं। कुद्ध विद्वान सम्वत् 1600 तथा 1668 विक्रमी सम्वत् को उनका जन्मकाल मानते हैं, परन्तु अधिकांश का मत 1554 विक्रमी सम्वत् के पक्ष में है अतः उसे ही तुलसीदास जी का जन्मकाल मानना अधिक सटीक लगता है।

जन्म स्थान

गोस्वामी जी के जन्म स्थान के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद पाए जाते हैं। राजापुर, सोरों, तोरी, हस्तिनापुर आदि स्थान उनकी जन्म भूमि के रूप में विवादास्पद रहे हैं। पं. रामगुलाम द्विवेदी, शिवसिंह सराज मूल-गोसाई चरित, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि के अनुसार तुलसीदास जी का जन्म स्थान राजापुर स्वीकृत है और आज भी वहाँ तुलसीदास का आश्रम तथा मन्दिर विद्यमान है जो इसी स्थान को उनकी जन्म स्थली प्रतिपादित करता है। यही तुलसीदास जी के वंशजों के पास रामचरितमानस की प्राचीन प्रति की विद्यमानता भ उसी स्थान को उनकी जन्म स्थली सिद्ध करती है।

जाति वंश आदि

तुलसीदास जी उच्च ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति थे यह तो निर्विवाद है। तथापि कुछ विद्वान् उन्हें कान्य कुब्ज ब्राह्मण, कुछ सनाद्य ब्राह्मण तथा कुछ सरयु पारीण ब्राह्मण मानते हैं। गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित परिचय तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार तुलसीदास जी सरयु पारीण ब्राह्मण दूबे (द्विवेदी) थे। इनके पिता का नाम 'आत्माराम दूबे' तथा माता का नाम 'हुलसी' था। माता के नाम का परिचय 'रहीम' के दोहे से भी मिलता है–

''सुर-तिय नर-तिय नाग-तिय,
अस चाहति सब कोय।
गोद लिए हुलसी फिरै,
तुलसी सो सुत होय।।

बाल्य काल

तुलसीदास जी का बाल्य काल अतीव विषम रहा। अभुक्त मूल नक्षत्र में जन्म लेने के कारण उत्पन्न होते ही माता.पिता द्वारा इनका परित्याग कर दिया गया। ग ह सेविका पुनियाँ ने पाँच वर्ष

की अवस्था तक इनका लालन.पालन किया और जब यह दिवंगत हो गईं, तुलसी को उदर पूर्ति हेतु 'घर.घर द्वारि फिरयो' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए द्वार.द्वार भटकना पड़ा और यह भटकाव तब तक बना रहा जब तक नरहरिदास जी का आश्रय इन्हें प्राप्त नहीं हो गया। तुलसी कृत विभिन्न रचनाओं में उनकी बाल्य दशा के परिचायक प्रमाण उपलब्ध होते हैं–

1. **''तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिताहू।**
खायो खोंचि माँगि मैं तेरो नाम लियो रे।।''

(विनय पत्रिका)

2. **''स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक।**
औचक उलटि न हेरौं।।'' (विनय पत्रिका)

3. **''मातु पिता जग जाइ तज्यो।**
विधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई।।''

(कवितावली)

गुरु

तुलसीदास ने अपने गुरु के सम्बन्ध में बहुत कम संकेत दिया है। मानस में उन्होंने अपने गुरु के सम्बन्ध में मात्र इतना संकेत दिया है–

''बन्दौ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज जासु वचन रविकर निकर।''

गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'रामचरितमानस' में दिए गए तुलसी के परिचय के अनुसार रामशैल पर रहने वाले श्री अनन्तानन्द जी के प्रिय शिष्य नरहरि जी तुलसी के आदिम शिक्षा और दीक्षा गुरु थे और उन्हीं से रामकथा सुनने का सौभाग्य सुकर क्षेत्र (सौरों) में तुलसी को मिला था। इस सम्बन्ध में तुलसी का आत्मकथ्य इस प्रकार उपलब्ध होता है–

''मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सु सुकर खेत।
समुझि नहिं तीस बालपन, तब अति रहेऊं अचेत।।''

जहाँ तक वेद.वेदांग की शिक्षा का प्रश्न है। शेष सनातन जी को इसका श्रेय जाता है। मानस के मर्मज्ञ विद्वानों में शेष सनातन जी को ही तुलसी का विद्या गुरु प्रतिपादित किया है।

डॉ. माता प्रसाद गुप्त के अनुसार तुलसीदास जी के गुरु बहुज्ञ एवं बहुश्रुत महात्मा थे। डॉ. गुप्त ने यद्यपि यह स्पष्ट नहीं किया कि वे थे कौन ? परन्तु अनुमानतः इंगित नरहरिदास जी की ओर ही है, यह सुनिश्चित है।

मित्र

आचार्य शुक्ल के अनुसार विरक्त होते हुए भी वे मित्र संग्रही थे। अब्दुर्रहीम खानखाना, टोडरमल, मानसिंह, नाभादास, मधुसूदन सरस्वती जैसे विद्वान गोस्वामी जी के स्नेही मित्र थे।

विवाह

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि गोस्वामी तुलसीदास जी का विवाह सं. 1583 ज्येष्ठ शुक्ल 13 गुरुवार को भारद्वाज गोत्रीय, सुन्दर, विदुषी कन्या रत्नावली के साथ हुआ था जो दीनबन्धु पाठक की आत्मजा थी। रत्नावली के एक दोहे के अनुसार तुलसीदास जी ने 15 वर्ष तक वैवाहिक जीवन व्यतीत किया था। रत्नावली के प्रति उनका विशेष अनुराग ही उनके वैराग्य का कारण बना और प्रकारान्तर से अभ्युदय का भी।

आदि नाम

तुलसीदास जी का आरम्भिक नाम क्या था ? यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। गीता प्रेस गोरखपुर के रामचरितमानस के अनुसार श्री नरहरिदास जी ने इन्हें 'राम बोला' नाम दिया था। कहा जाता है कि जन्म लेने के पश्चात् तुलसीदास रोये नहीं, किन्तु उनके मुख से 'राम' शब्द निकला था। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर श्री नरहरिदास जी ने इन्हें 'राम बोला' नाम दिया। कवितावली के एक छन्द के अनुसार इनका नाम तुलसी था बाद में दास जुड़ गया था—

''नाम तलसी पै भौंडे भाग जो कहायो दास,
कियो अंगीकार ऐसे बड़े दगा बाज को।।''

पर्यटन

पत्नी की वाणी के कषाघात से उद्वेलित हो विरक्त बन गोस्वामी जी ने विभिन्न तीर्थ स्थानों की यात्रा की थी। इन तीर्थ धामों में काशी, चित्रकूट, अयोध्या, प्रयाग, हरिद्वार आदि प्रमुख हैं। इस यात्रा काल में गोस्वामी जी ने अनेक कड़वे.मीठे घूँट गले से उतारे और सांसारिक अनुभव प्राप्त किया।

चित्रकूट, अयोध्या, काशी आदि पावन तीर्थ धामों में इन्हें सन्त समागम का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ जिससे इनकी वैराग्य भावना को बद्धमूल होने का अवसर मिला। इसी यात्रा काल में कहा जाता है कि ये काशी में महामारी से भी पीड़ित हुए थे।

ग हस्थ आश्रम का परित्याग करने के पश्चात् गोस्वामी जी सर्वप्रथम प्रयाग पहुँचे थे और फिर काशी। कहा जाता है कि ये काशी में महामारी से भी पीड़ित हुए थे। ग हस्थ का परित्याग करने के पश्चात् गोस्वामी जी सर्वप्रथम प्रयाग पहुँचे थे।

काशी में तुलसीदास जी रामकथा कहने लगे। वहाँ उन्हें एक दिन एक प्रेत मिला, जिसने उन्हें हनुमान जी का पता बतलाया। हनुमान जी से मिलकर तुलसीदास जी ने उनसे भगवान् श्री राम के दर्शन कराने की प्रार्थना की। हनुमान जी ने कहा—''तुम्हें चित्रकूट में श्री राम के दर्शन होंगे।'' इस पर तुलसीदास ने चित्रकूट की यात्रा की।

चित्रकूट पहुँचकर रामघाट पर उन्होंने अपना आसन जमाया। एक दिन जब वे कामद गिरी की प्रदक्षिणा करने के लिए निकले उन्हें दो घुड़सवार राजकुमारों के दर्शन हुए जो कि वास्तव में श्री राम और लक्ष्मण थे। तुलसीदास जी उन्हें देख मुग्ध तो हुए पर पहचान न पाए बाद में हनुमान जी से सारा भेद जानकर उन्हें अत्यधिक पश्चाताप हुआ। हनुमान जी ने उन्हें सांत्वना दी और बताया कि कल प्रातः उन्हें श्री राम दर्शन का सौभाग्य पुनः मिलेगा। सम्वत् 1607 विक्रमी मौनी अमावस्या बुधवार के दिन तुलसी को चन्दन लेने का आग्रह करते बालक के रूप में भगवान् श्री राम के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हनुमान जी ने यह सोचकर कि कहीं ये फिर से धोखा न खा जाएँ, उन्हें चेताने के लिए यह दोहा पढ़ा—

''चित्रकूट के घाट पर भई सन्तन की भीर।
तुलसीदास चन्दन घिसैं तिलक देत रघुवीर।।''

तुलसीदास उस अद्भुत को निहारकर शरीर की सुधि भूल गए। भगवान् ने अपने हाथ में चन्दन लेकर अपने तथा तुलसीदास के मस्तक पर लगाया और अन्तर्धान हो गए। इस घटना में कितनी सच्चाई है ? ईश्वर जाने पर आस्तिक समुदाय तो इसे प्रामाणिक मानता ही है।

गोस्वामी जी के जीवन का अधिकांश काल चित्रकूट अयोध्या और काशी में ही व्यतीत हुआ था यह निर्विवाद है। अयोध्या और चित्रकूट तो श्री राम के लीला धाम रहे हैं और काशी श्री राम के आराध्य का। अतः इन स्थानों पर उनका चित्त स्वाभाविक ही था। प्रसिद्धि कपूर और कस्तूरी की भाँति वश सौरभ भी चतुर्दिक में प्रसुत होकर ही अपनी अन्वर्थका का परिचय संसार को दिया करता है। विद्वता की सुगन्ध छिपी नहीं रहती। वह तो सम्बद्ध को जन.जन का कण्ठहार ही बना

देती है। महाकवि भर्त हरि ने इसी बात को परिलक्षित कर लिखा है कि मालती के फूल के समान मनस्वी (विचारवान) पुरुष की दो ही गतियाँ होती हैं कि या तो वह सबके शीश पर विराजमान होता है अथवा उनके किसी निर्भूत कोने में चुपचाप मुरझा अपना अस्तित्व समाप्त कर देता है–

''मालती कुसुमस्टोव द्वे गतीह मनस्विनः।
मूध्निर्नवा सर्वलोकस्य शीर्य तेवन एववा।।''

तुलसी के जीवन काल में ही उनका दश सौरभ चारों ओर व्याप्त हो चुका था। उनकी प्रसिद्धि से जलने वाले कुछ तथा कथित पण्डितों ने तत्कालीन सुप्रसिद्ध विद्वान मधुसूदन सरस्वती को 'रामचरितमानस' का अवलोकन कर अपने सम्पत्ति देने के लिए इस द ष्टि से उकसाया था, जिससे यदि उनकी सम्पत्ति तुलसी के विपक्ष और उनके पक्ष में हो तो वे तुलसी को नीचा दिखाएँ परन्तु विद्वान. विद्वान ही होता है। मधुसूदन सरस्वती ने 'मानस' का अवलोकर कर न केवल प्रसन्नता व्यक्त की बल्कि लिखा – ''इस काशी रूपी आनन्द वन में तुलसीदास चलता.फिरता (जंगम) तुलसी का पौधा है। उनकी कविता रूपी मंजरी बड़ी ही सुन्दर है। जिस पर श्री राम रूपी भंवरा सदा ही मँडराया करता है।''

''आनन्दकानने हास्मि जगस्तुलसी तरुः।
कविताम जरी भाँति राम भ्रमर भूषिता।।''

नाभादास जी उन्हें साक्षात् वाल्मीकि का अवतार मानते थे। इस सम्बन्ध में उनकी यह पंक्ति प्रसिद्ध है–

''कलि-कलुष जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भये।''

रहीम खानखाना भी उनके प्रशंसक थे ओर इसीलिए तुलसी दास ने लिखा है–

''सुर तिय नर तिय नग तिय अस चाहती सब कोय।''

के उत्तर में लिख था–

''गोद लिये हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय।''

कुछ लोग इनके यश सौरभ से ईर्ष्या भी करते थे, परन्तु राम में अनन्य निष्ठा तथा आत्मविश्वास के कारण वे विरोधियों की परवाह न कर सदैव अपने अभिमत पथ पर अग्रसर रहे। कवितावली का निम्न पद उनकी इसी स्थिति का परिचायक है–

''धुत कहौं अवधुत कहौं राजपुत कहौ जो लहा कहो कोऊं
काहु की बेटी से बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ
तुलसी सरनाम है जाचक राम की जाकौ रुचे सो कहे कछु ओऊ
मांगि कै खैबो मसीत को सोइ बो लैबे को एक न दैबो को दोऊ।।''

तुलसी के जीवन की अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाएँ

गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन की अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाएँ निम्नलिखित हैं–

(1) सामान्यतया किसी भी बालक का जन्म नौ अथवा दस मास में हो जाता है, परन्तु गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म बारह माह गर्भ में रहने के पश्चात् हुआ था जो अपने आप में एक विलक्षण घटना थी। जन्म लेते समय बालक तुलसीदास रोए नहीं, किन्तु उनके मुख से 'राम' शब्द निकला जिसे सुनकर सबको आश्चर्य हुआ था। जन्म के समय ही उनके मुख में बत्तीसों दाँत मौजूद थे और उनका डील-डौल पाँच वर्ष के बालक के समान था।

(2) पुनियाँ दासी के निधन के पश्चात् जब तुलसीदास द्वार-द्वार भटकने लगे तब पार्वती को उन पर दया आई और वे ब्राह्मणी का वेश धारण कर प्रतिदिन उनके पास आकर अपने हाथों से उन्हें भोजन करा जातीं।

(3) यज्ञोपवीत संस्कार के समय बिना सिखाये ही बालक 'रामबोला' ने गायत्री मन्त्र का उच्चारण किया था जिसे सुनकर उपस्थित जन-समुदाय आश्चर्यचकित रह गया था।

(4) सम्वत् 1628 में उन्होंने हनुमान जी की आज्ञा से चित्रकूट से अयोध्या की ओर प्रस्थान किया था। उन दिनों प्रयाग में माघ मेला था। वहाँ कुछ दिन वे ठहर गये। पर्व के छः दिन बाद एक वट व क्ष के नीचे उन्हें भारद्वाज और ज्ञान-वल्क्य मुनि के दर्शन हुए। वहाँ उस समय कथा हो रही थी। जो उन्होंने सुकर क्षेत्र में अपने गुरु जी से सुनी थी। वहाँ से वे काशी चले आये और वहाँ प्रह्ल्लाद घाट पर एक ब्राह्मण के घर निवास किया। वहाँ उनके कवित्त्व शक्ति स्फुरति और वे संस्कृत में पद्य रचना करने लगे। परन्तु दिन में वे जितने पद्य रचते, रात्रि में वे सब लुप्त हो जाते। सात दिन तक यही काम चला। आठवें दिन स्वप्न में भगवान् शंकर ने उन्हें निज भाषा में काव्य रचना का आदेश दिया और उसके पश्चात् प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन्हें अयोध्या में जाकर भारतीय भाषा में काव्य रचना करने के लिए कहा और आशीर्वाद दिया कि वह रचना समावेद के समान फलती रहेगी।

तुलसीदास आदेशानुसार अयोध्या आये। सम्वत् 1631 में जबकि त्रेताकाली रामजन्म के समान ही योग था। 'रामचरितमानस' की रचना आरम्भ की। दो वर्ष सात मास छब्बीस दिन में सम्वत् 1633 के मार्ग शीर्ष शुक्ल पक्ष में राम विवाह के पावन दिवस पर इस जीवन ग्रन्थ का प्रणयन पूर्ण हुआ।

इसके पश्चात् काशी लौटकर उन्होंने भगवान विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा को रामचरित-मानस सुनाया और भगवान् विश्वनाथ की सम्पति के लिए पुस्तक मन्दिर में रखी दी गई। प्रातः द्वारा खुलने पर उस पुस्तक पर भगवान् विश्वनाथ हे हस्ताक्षरों सहित यह लिखा पाया गया – ''सत्यम् शिवम् सुन्दरम्।'' इस घटना से क्षुब्ध होकर ईर्ष्यालु पण्डितों ने तुलसीदास जी की निन्दा करना शुरु किया और पुस्तक को समाप्त कर देने का प्रयास आरम्भ किया और इसी उपक्रम में दो चोरों को पुस्तक चुराने के लिए तुलसी की कुटिया पर भेजा गया, परन्तु दो धनुर्धारी राजकुमारों की कुटिया की रक्षा में संलग्न पाकर वे निराश लौटे। इस घटना से उनका ह्रदय परिवर्तित हो गया। चोरी छोड़ उन्होंने अपना मन भजन में लगाया। इधर अपने कारण भगवान् को कष्ट हुआ देखकर तुलसीदास जी ने कुटिया का सारा सामान लुटा दिया और पुस्तक अपने मित्र टोडरमल के यहाँ रख दी। इसके बाद उन्होंने एक दूसरी प्रति लिखी, जिसके आधार पर विभिन्न प्रतिलिपियाँ तैयार हुई और पूरे भारत में इसका प्रचार हो गया।

(5) कलियुग द्वारा पीड़ित होने पर हनुमान जी की प्रेरणा द्वारा 'विनय पत्रिका' भगवान् श्री राम को समर्पित कर उभय प्राप्त करना, अय बाहुक रोग से पीड़ित होने पर 'हनुमान बाहुक' की रचना कर रोग से मुक्त होना, अकबर द्वारा बन्दी बनाए जाने पर हनुमान की स्तुति कर वानरों के उत्पात से दिल्ली को व्यथित कर बन्दी ग ह से मुक्त होना आदि घटनाएँ भी तुलसी के जीवन के साथ जुड़ी हुई हैं।

तुलसीदास जी की कृतियाँ

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी की कृतियों के सम्बन्ध में विद्वानों में एक मत नहीं है। शिवसिंह सरोज में तुलसी प्रणीत ग्रन्थों की संख्या 18 बताई गई है। मिश्र बन्धुओं के अनुसार इनकी संख्या 35 है। बंगवासी की तुलसी ग्रन्थावली के अनुसार यह संख्या बढ़कर 60 तक जा पहुँचती है। कुछ अन्य विद्वान यह संख्या 40-45 के मध्य मानते हैं।

यूँ तुलसी के नाम सवे उक्त सभी संख्याओं की पूर्ति करने वाली कृतियाँ मिल अवश्य जाती हैं परन्तु जिन कृतियों के सम्बन्ध में तुलसी साहित्य के मर्मज्ञ मूर्धन्य विद्वान एक मत हैं उनकी संख्या मात्र बारह है। जॉर्ज ग्रियर्सन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. माता प्रसाद गुप्त, आचार्य विनय मोहन

शर्मा आदि विद्वान इसी संख्या के समर्थक हैं।

डॉ. माता प्रसाद गुप्त 'तुलसी सतसई' को भी तुलसी कृत मानते हैं। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि ''तुलसी के नाम पर अब तक कोई दो दर्जन पुस्तकें प्राप्त हो चुकी हैं।'' परन्तु मिर्ज़ापुर के प्रसिद्ध रामायणी पं. रामगुलाम द्विवेदी केवल बारह ग्रन्थों को प्रमाणिक मानते हैं। इनमें छः ग्रन्थ बड़े और छः छोटे हैं। छन्नुलाल जी के प्रमाण पर और उक्त द्विवेदी की स्थापना को मानकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भी इन्हीं बारह ग्रन्थों को प्रमाणिक माना है।'' ये ग्रन्थ हैं–

(1) रामचरितमानस।
(2) रामलला नहछु जो सम्भवतः यज्ञोपवीत के अवसर को ध्यान में रखकर लिखा गया था।
(3) वैराग्य संदीपनी सन्त महिमा, सन्त स्वभाव और शान्ति का वर्णन करने वाली दोहा चौपाइयों में लिखी गई छोटी-सी पुस्तिका।
(4) बरवै रामायण (जिसमें केवल 69 बरवै छन्दों का संकलन है)।
(5) पार्वती मंगल (164 छन्दों में शिव पार्वती विवाह का वर्णन है।) मिश्रबन्धु इसे प्रमाणिक नहीं मानते।
(6) जानकी मंगल (216 छन्दों में राम-जानकी विवाह का वर्णन)।
(7) रामज्ञा प्रश्न (जिसमें सात-सात दोहों के सात-सात सप्तकों वाले सात वर्ग हैं। यह सगुन विचारने के उद्देश्य से रचा गया है)।
(8) कवितावली (कवित्त, सवैया, छप्पय आदि में रामकथा)।
(9) दोहावली (भक्ति, नीति और वैराग्य विषयक 573 दोहों का संग्रह)।
(10) गीतावली (लीलापरक गीतों का संग्रह)।
(11) श्रीकृष्ण गीतावली।
(12) विनय पत्रिका (विनय परक गेय पदों का संग्रह)।

इनमें रामचरितमानस, दोहावली, कवितावली, गीतावली, विनय पत्रिका ग्रन्थ बड़े हैं। कुछ विद्वान 'कलिधर्म निरूपण' को भी तुलसी की प्रमाणिक रचना मानते हैं। इन सभी रचनाओं में 'रामचरितमानस' सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है।

दैवी आपदा और निधन

उपलब्ध जानकारी के अनुसार तुलसी की व द्धावस्था में रुद्रबीसी तथा मीन की शनि दशा जैसे विषम योग पड़े थे जिनके कारण देश में भयंकर दुर्भिक्ष तथा महामारी का प्रकोप हुआ था। काशी भी इन उपद्रवों से संत्रस्त रही थी। तुलसी दास जी भी महामारी का शिकार बने थे और अपबाहुक (Armeric Ciatica) से ग्रस्त हो भगवान् श्री हनुमान की शरणागति लेने पर बाध्य हुए थे। जीवन प्रायः संघर्ष में ही बीता था, अतः जीवन भर का श्रान्त कलान्त पथिक विश्राम चाहता था। परिणामतः 1670 विक्रमी में तुलसी ने राम नाम की अक्षय निधि विश्व को सौंप महाप्रयाण किया। इनकी म त्यु के सम्बन्ध ा में निम्नलिखित दो दोहे प्रसिद्ध हैं, जिनमें से अन्तिम को अधिक प्रमाणिक माना जाता है–

(1) **''सम्वत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।**
श्रावण शुक्ला तीज शनि, तुलसी तज्यौ शरीर।।''
(2) **''सम्वत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।**
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यौ शरीर।''

कहा जाता है कि म त्यु के समय तुलसीदास जी ने यह दोहा कहा था–

''राम नाम जस बरनिकै, भयो चहत अब मौन।
'तुलसी' के मुख दीजिए, अबहि तुलसी सौन।''

अध्याय 2
तुलसीदास जी की काव्य-कला

तुलसी सुर और केशव की काव्य कला की द ष्टि में रखकर इनके सम्बन्ध में कहा गया है—

''सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
अबके भवि खद्योंत सम, जहँ तहँ करें प्रकास।।''

शशि से उपमति गोस्वामी तुलसीदास निश्चय ही हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य कवि हैं। उनकी कृतियाँ हिन्दी साहित्य की स्थायी निधि तो हैं ही भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति की गौरव स्तम्भ भी हैं। तुलसीदास जी महान् कवि होने के साथ.साथ सर्वथा निरभिमानी भी थे। अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कृतियों का स्त्रष्टा होते हुए भी उन्होंने कहीं भी अपने सम्बन्ध में ऐसा संकेत नहीं दिया जिससे यह आभास हो कि कवि को अपने कृतित्व पर गर्व है। इसके विपरीत उन्होंने विनम्र स्वरूप का परिचय इस प्रकार किया है—

''कवि न होउं नहि चतुर कहाऊँ, मति अनुरूप राम गुन गाऊँ।
कविता विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहउं लिखि कागद कोरे।।''

जब तुलसीदास ने प्रणयन के क्षेत्र में पदार्पण किया तब प्रणयन की भाषा थी संस्कृत। विद्वता की छाप उसी के द्वारा लगाई जाती थी। भाषा में रचना करना सिद्धान्तों के उपहासास्पद बनना था। परन्तु गोस्वामी तुलसीदास ने परम्परा की परवाह न कर जन.सामान्य की भाषा को अपने प्रणयन का माध्यम बनाकर न केवल यह सिद्ध किया कि वे रूढ़ी मुक्त हैं, बल्कि यह भी सिद्ध किया कि वे वस्तुतः सच्चे सन्त हैं और इसलिए जन.सामान्य के कल्याण और अभ्युदय के लिए कृत संकल्प हैं। अपने आराध्य श्री राम में अनन्य आस्था रखने के कारण उन्हें विश्वास था कि उनकी रचनाएँ राममय होने के कारण सज्जन समुदाय द्वारा अवश्य समाद्धत होगी। उनका यह विश्वास कितना सही था आज भी उसका अनुमान लगाया जा सकता है। शताब्दियों के पश्चात् भी उन कृतियों को उतना ही सम्मान है जितना उस युग में था, आज भी गोस्वामी जी अपनी अनुपम, लोकोपकारी साहित्य साधना के द्वारा महाकवि पद पर अधिष्ठित हैं।

तुलसीदास जी की काव्य कला का विवेचन दो द ष्टियों—भाव पक्ष और कला पक्ष की द ष्टियों में किया जा सकता है। भाव पक्ष के अन्तर्गत कवि द्वारा वर्णित विषटा एवं उसमें अनुस्युत रस पर विचार किया जा सकता है तथा कला पक्ष के अन्तर्गत काव्य के स्वरूप, भाषा अर्थ एवं गाम्भीर्य, छन्द, अलंकार आदि पर विचार किया जाता है।

भाव पक्ष

गोस्वामी तुलसीदास जी भक्त कवि हैं। उनके उपास्य देव हैं श्रीराम। जो मूर्तिमान धर्म है—''रामो विग्रहवान् धर्मः।'' तुलसी की सम्पूर्ण वाङमय उनके अपने आराध्य श्रीराम के गुणगान्

से ओत-प्रोत है। श्री राम के शील स्वभाव तथा मर्यादा पुरुषोत्तम रूप पर तुलसी पूर्ण रूप से मुग्ध हैं और इसलिए कहते हैं–

''सुनि सीता पति सील सुभाउ।
मोदन, मन, तन, पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउँ।।''

इन्हीं शील स्वभावादि पर अनुरक्त होकर गोस्वामी जी ने रामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, विनय पत्रिका, जान की मंगल, रामलला नहछू, बरवै रामायण आदि कृतियों में श्री राम का गुणगान किया है–

''एक भरोसे एक बल एक आस बिस्वास।
स्वाति सलिल रघुनाथ जसु, चातक तुलसीदास।।''

e e e e e e

''कहाकहु छवि आज की भले बिराजे नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लौं हाथ।''

आदि पदों को देखकर तुलसी के काव्य क्षेत्र को सीमित मानकर उसे एकांगी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, परन्तु स्थिति ऐसी नहीं इसके सर्वथा विपरीत है। तुलसी का काव्य अतीव विशद और व्यापक है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम का आधार लेकर उसमें भारतीय जीवन दर्शन की सम्पूर्ण व्याख्या की गई है। रामचरितमानस में हिन्दु धर्म, सभ्यता और संस्कृति को इस प्रकार अनुस्युत किया गया है कि उसके कारण भारत के ही नहीं विदेशों के व्यक्ति और परिवार भी लाभान्वित होते चले आ रहे हैं। अपने धर्म के प्रति आस्थावान् बने रहने के लिए प्रेरित हुए हैं। पारिवारिक आदर्श की शिक्षा का तो मानस जीता-जागता विश्वविद्यालय ही है। विनय पत्रिका का प्रणयन तो हुआ है कलियुग के भय मुक्ति पाने हेतु भगवान् श्री राम का अनुग्रह पाने के लिए परन्तु इसमें विभिन्न देवताओं से तुलसी अपने आराध्य के चरणों में अनुराग की याचना करते हैं। जानकी से भी अवसर पाकर भगवान् श्री राम ने अपनी संस्तुति की याचना इस रूप में करते हैं–

''कबहुंक अंग महावार पाइ
मेरिओ देधि धायबी कछु वारुण कथा चलाई।।''

गोस्वामी जी ने गीतावली और कवितावली में श्री राम के मनोहर चरित्र का ही वर्णन किया है।

'जानकी मंगल' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि भगवती जानकी के विवाह से सम्बद्ध कृति है। 'बरवै रामायण' में भावपूर्ण बरवै प्रयुक्त हुए हैं। यथावसर तुलसी ने लोक व्यवहार ज्ञान का भी परिचय कराया है। जनकपुर की स्त्रियाँ श्री राम के गुणों पर मुग्ध हैं सही, परन्तु विवाह के अवसर पर वे ठिठौली करने से नहीं चूकतीं। वे परिहास में जानकी को राम से श्रेष्ठ बताते हुए कहती हैं–

''गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँह।
देखहु आपनी मूरति सिय कै छाँह।।''

इस प्रकार तुलसी की विभिन्न रचना का अध्ययन करने पर विदित होता है कि वे वस्तुतः सिद्ध हस्त कवि थे। उन्होंने स्थलों के अनुरूप भावपूर्ण शैली में इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं कि उनका पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

तुलसी साहित्य में रस परिपाक

शास्त्रों में नौ रसों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है–

''श्रंगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानकाः।
विभत्साद्भुत संज्ञौच शान्तो षि नवमो रसः।।''

आधुनिक काल में अथवा यह कहना अधिक संगत होगा – मध्यकाल में इन रसों की संख्या बढ़ाकर ग्यारह कर दी गई थी। ये दो अन्य रस हैं– वात्सल्य रस तथा भक्ति रस। भक्ति मार्ग के आचार्यों के अनुसार भक्ति स्वयं एक परिपूर्ण रस है जिसमें भक्तों का हृदय सदैव तरंगायित रहता है परन्तु काव्य शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान भक्ति रस की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। वे केवल श्रंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत रस को ही सत्ता मानते हैं और इन्हीं में अन्य रसों का अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वान वात्सल्य को प थक् रस मानते हैं। तुलसीदास जी ने शास्त्रानुमोदित नवों रसों तथा वात्सल्य और भक्ति रस का सुन्दर वर्णन अपनी कृतियों में किया है। इसका परिचय इस प्रकार किया जा सकता है–

(1) **श्रंगार रस :** काव्य शास्त्रकारों ने इसे रस रूप कहा है। इसका स्थायी भाव रति है। काव्य में इसके प्रयोग से अतीव जागरुकता बरतने की आवश्यकता है अन्यथा अम त के स्थान पर विषमय परिणाम की सम्भावना रहती है। गोस्वामी जी ने श्रंगार का सन्तुलित, मर्यादित वर्णन किया है। श्रंगार के दोनों पक्ष–संयोग और वियोग का इतना संयमित वर्णन तुलसी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर पाया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी के श्रंगार के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है–''सीताजी द्वारा श्रंगार के संचारी भाव क्रीड़ा की व्यंजना के लिए कैसा अवसर चुना है–वन के मार्ग में ग्रामीण स्त्रियाँ राम की ओर लक्ष्य करके सीता से पूछती हैं कि ये तुम्हारे कौन हैं ? इस पर सीता क्या कहे ? वह–

''तिनहिं विलोकि विलोकति धरनी।
दुहुं संकोच सकुचित बर बरनी।।''

'विलोक्ति धरनी' कितनी स्वाभाविक चेष्टा है। दुँहु संकोच द्वारा कवि ने सीता के हृदय की कोमलता और अभिमान शून्यता कितने स्वाभाविक ढंग से व्यंजित कर दी है। सीताजी की श्रंगारी चेष्टाओं का विधान भी अत्यन्त कुशलता और भावुकता के साथ गोस्वामी जी ने किया है–

''बहुरिबदन बिधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चिहै भैंह करि बाँकी।।''
''खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निज पति कहेउ तिन्हैं सिय सैननि।।''

श्री राम.सीता के विवाह का श्रंगार रस परक वर्णन तुलसी की कुशलता, रस प्रयोग पटुता का परिचय करा देता है–

''दुलह श्रीरघुनाथ बने, दुलहि सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि, वेद जुवाजुरि विप्र पदाहि।।
राम को रूप रूप निहारती जानकी कंकन के नग की परछाही।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं।।''

विप्रलम्भ व श्रंगार के वर्णन में भी गोस्वामी जी पूर्णतः सफल रहे हैं–

सीताहरण के पश्चात् राम वियोग दशा के वर्णन को इसके प्रमाण रूप में लिया जा सकता है–

''हे खग म ग हे मधुकर श्रेनी।
तुम देखी सीता म ग नैनी।।''

e e e e

''किमि कहि जात अनख तोहि पाहीं।
प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं।''

राम के वियोग में सुमन्त के घोड़ों के अड़ जाने का वर्णन भी कवि की गठरी पैठ और वर्णन कुशलता का परिचायक है–

''सोक सिथिल रघुसकइन हाँकी, रघुवर बिरह पीर उर बाँकी।
जो कह रामु लखनु वैदेही, हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही।।''

इसी प्रकार सीता के वियोग वर्णन में भी कवि ने अपनी कुशलता की छाप छोड़ी है–

''देखिअ न प्रगट गगन अंगारा, अवनि न आवत एकौ तारा।
पावकमय ससि स्त्रवतन आगी, मानहु मोहिं जाति हत भागी।
सुनहि विनय मय विटप अशोका, सत्य नाम करु हरु मम शोका।
नूतन किसलय अनल समाना, देहि आगिनी जाति करहि निदाना।।''

(2) **वीर रस :** उत्साह स्थायी भाव वाले वीर रस की आचार्यों ने बहुत प्रशंसा की है। गोस्वामी जी ने इस रस का भी अतीव सुन्दर वर्णन किया है–

1. **''जो राउर अनुसासन पाऊँ, कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ।**
काचे घट जिमि डारौं फोरी, सकउं मेरू मूलक इव तोरी।।"
2. **''अति बिसाल तरु एक उपारा, बिरथ कीन्ह लंकेस कुमारा।**
रहे रहा नट ताके लगा, गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा।।''
3. **''कट कटान कपि कुंजर मारी, दुहु भुजदंड तमकि महि मारी।**
डोलत धरनि सभासद से, चले आजि भय मारुत ग्रसे।।''

(3) **करुण रस :** इस रस का स्थायी भाव शोक है। म त अथवा विपन्न व्यक्ति की अवस्था के दर्शन से यह अद्‌भुत होता है। 'रामचरितमानस' में कई प्रसंग इस रस के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं– रावण की म त्युपरान्त मन्दोदरी विलाप का एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

''पति सिर देखत मन्दोदरी। मुरछित विकल धरनि खसि परी।
e e e e e e e e
पति सिर देखिं ते करहिं पुकारा। छटे कच नहिंण्युष संकरा।।''

(4) **रौद्र :** इसका स्थायी भाव क्रोध है। 'मानस' सुन्दर काण्ड में अक्षय के प्रति क्रुद्ध हनुमान जी का वर्णन तथा कामदेव पर शिव का प्रकोप आदि प्रसंग इसके उदाहरण रूप में लिए जा सकते हैं। द्रष्टव्य हैं–

1. **भयऊ इते मन छोभु बिसेषी। नयन उधारि सकल दिसि देखी।।**
सोरभ पल्लव मदनु विलोका। भएउ कंपेउ त्रैलोका।।
तब सिव तीसर नमन उचारा। चितक्त काम भयउ जरि छात।।
2. **चला इन्द्रजित जतुलित जोधा। बन्धु निधन सुनि उपजा क्रोधा।**
कवि देखा दारुन भट आवा। कटकटाई गर्जा अरु धाबा।।
अति बिसाल तरु एक उपरा। बिरथ कीन्ह लंकेस कुमारा।।
रहे महा भट ताके संगा। गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा।।

(5) **भयानक :** इसका स्थायी भाव भय है। लंका दहन प्रसंग में इसकी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है–

''जरइ नगर भा लोग बिहाला। झपट बहुकोटि कराला।।
तात मातुहा सुनि अ पुकारा। एहि अवसर को हमाटिं उबारा।।

(6) **वीभक्त रस :** घ णा स्थायी भाव वाला यह रस लंकाकाण्ड में वर्णित है–

''वीर परहिं जनु तीर तरु मज्जा बहु वह फेन।
कादर देखि डरहिं तहँ सुभढन के मन चैन।।''

e e e e e e

''काक कंक ले भुजा उड़ाहीं। एकुते छीनि एक ले खाहिं।।

(7) **अद्‌भुत रस :** इसका स्थायी भाव विस्मय है। गोस्वामी जी ने कई स्थानों पर इस रस की स ष्टि की है। शिव की बारात का प्रसंग द्रष्टव्य है–

''कोउ मुख हीन बिपुल मुख काहू।
बिनु पद पर कोउ बहु पद बाइ।।
विपुल नयन कोउ नयन बिहीन।
रिष्ट पुष्ट कोउ अति तन खीना।।''

'कवितावली' में हनुमान के संजीवनी लाने के प्रसंग में इस रस का उदाहरण द्रष्टव्य है–

''लीन्हों उखारि पहार बिसाल, चल्यो तेहिकाल विलम्ब लायो।
मारुत नन्दन मारुत को, मन को खगराज की बेग लजाओ।।
तीखी तुरा 'तुलसी' कहतो, पै हिये उपमा को समाउन आयो।
मानो प्रतच्छ परम्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो।।''

(8) **शान्त रस :** इस रस का स्थायी भाव राम अथवा निर्वेद है। संसार की अनित्यता इसका आलम्बन है। मानस में पार्वती तम तथा मनुशत रूप प्रसंग में उस रस का स्वरूप-सा आभास मिलता है। परन्तु श्री राम के स्वरूप वर्णन में 'शान्त शाश्वतम प्रमेय मनछम्' आदि में उन्होंने सर्वत्र शान्त रूप का दर्शन कराने का प्रयास किया है – विनय पत्रिका की निम्न पंक्तियों में शान्त रस का सुन्दर परिपाक मिलता है–

''जागु जागु जीवजड़ जो है जग जामिनी।
देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी।।''

(9) **हास्य रस :** स्थायी भाव है हँसी तथा आलम्बन है विचित्र वेश, विचित्र चेष्टाएँ आदि। मानस के बालकाण्ड में शिव-विवाह प्रसंग में इसका वर्णन हुआ है–

''ससि ललाट सुन्दर सिर गंगा। नयन तीनि उपवीत भुजंगा।।
गरल कण्ठ उन नर-सिर माला। असिव वेष सिव धाम कृपाला।।
कर त्रिशुल अरु डमरु विराजा। चल बसहँ चढ़ि बाजहिं बाजा।।
देखि सिवहिं सुरत्रिय मुसुकाही। बरलायक दुलहिनी जग लाँहि।।

(10) **वात्सल्य रस :** इसका स्थायी भाव अपत्य स्नेह है। तुलसीदास जी ने बालकाण्ड में इस रस का सरस वर्णन किया है–

''सुन्दर श्रवण सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तो तरे बोला।।
चिक्कन कच कुंचित गमुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे।।
पीत झगुलिया तनु पहिराई। जानु जानि विचरनि मोहिं भाई।
रूप सकहिं नहिं कहिं श्रुति शेषा। सो जानइ सपनेहुँ जोहिं देखा।।

''एकहि विधि सिसु विलेद प्रभु कीन्हा।
सकल नगरवासिन्ह सुख दीन्हा।।
लै उछंग कबहुँ के हलरावै।
कबहुँ पालने घलि झुलावै।।

अन्यत्र तुलसीदास जी की इस रस की सुन्दर पंक्तियाँ इस प्रकार उपलब्ध होती हैं–

''पगनि कल चालहौं चारौं भैया।
प्रेम पुलकि, उरलाइ सुवन सब, कहति सुमित्रा मैया।।
सादर तनु, सिसु बसन विभूषन नखसिख निरखि निकैसा।
बलि त ण प्राण निछावरि करिकरि लैहैं मातु बलैया।।''

(11) **भक्ति रस :** आचार्यों ने भक्ति को स्वयं एक स्वतन्त्र रस माना है। इसका स्थायी भाव है आराध्य के प्रति अनन्य श्रद्धा।

''सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृयाँ हृदय बस आई।।
जब तप व्रत जम नियम अपारा। ये श्रुति कह सुभ धर्म आचारा।।
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। चाव भगति मनि सब कुछ खानी।।''

कला पक्ष

गोस्वामी जी ने काव्य की सभी शैलियों में रचनाएँ की हैं। 'रामचरितमानस' महाकाव्य है। जानकी मंगल, पार्वती मंगल खण्ड काव्य है। विनय पत्रिका, दोहावली मुक्तक काव्य है। गीतावली विनय पत्रिका गीति काव्य हैं। गीतावली, कवितावली मुक्तक काव्य होते हुए भी प्रबन्धात्मक गुण युक्त रचनाएँ हैं। इस प्रकार इस महाकवि की सर्वतोमुखी प्रतिभा अपनी प्रभा से सबको चमत्कृत कर देती है। मानस के आरम्भ में अपनी रचना का उद्देश्य गोस्वामी जी ने 'स्वान्तः सुखाय' बताया है। विनय पत्रिका के अध्ययन से विदित होता है कि 'स्वान्तः सुखाय' के साथ.साथ गोस्वामी जी ने आत्माभिव्यक्ति का माध्यम भी अपनी रचनाओं को बनाया है। भाषा पर गोस्वामी जी का असाधारण अधिकार था। उन्होंने मुख्य रूप से अवधी को आत्मभिव्यक्ति का साधन बनाया है, परन्तु ब्रज भाषा के भी वे सिद्ध हस्त कवि तथा प्रयोक्ता थे। इनकी अवधि जायसी से भिन्न सुसंस्कृत एवं परिमार्जित है। अवधी को निखारने एवं उसे माधुर्य प्रदान करने का श्रेय एकमात्र गोस्वामी जी को है। भाषा के सफल प्रयोक्ता के रूप में जब उनके साहित्य का अध्ययन किया जाता है तब विदित होता है कि भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, अरबी, फारसी, संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि भाषाओं के भी वे जानकार थे और इसीलिए अपने काव्य में इन भाषाओं के शब्दों का वे समुचित प्रयोग कर सके। माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीनों गुणों से सम्बन्धित उनकी भाषा वस्तुतः ही आकर्षक है। अवसरानुकूल शब्दावली का प्रयोग इस भाषा को इतना जीवन्त बना देता है कि उसका प्रभावी सीधा हृदय पर होता हैं जनकपुर की वाटिका में कंकण, किंकिणी की मधुर ध्वनि सुनते ही राम का ध्यान अनायास उस ओर आकृष्ट हो जाता है। इस अवसर पर तुलसी द्वारा प्रयुक्त भाषा उसी माधुर्य और आकर्षण को प्रकट करती है–

''कंकन किंकिनी नूपूर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हिये गुनि।।''

जहाँ युद्ध का प्रसंग आया है वहाँ ओज पूर्ण भाषा का प्रयोग करके तुलसी ने उसका यथावत् निर्दशन किया है। गीतावली, कवितावली, रामचरितमानस के सुन्दर लंकादि काण्डों में इसके प्रचुर उदाहरण विद्यमान हैं–

''महानाद करि गर्जा कोटि कोटि गहि कीस।
महि पटकइ गजराज इव सपथ करइ दससीस।।''

मुहावरे और कहावतों के प्रयोग से भाषा में अपूर्व प्रषेणीयता आ जाती है। गोस्वामी जी ने उनका समुचित प्रयोग कर अपनी भाषा को अधिक सजीव, सशक्त तथा आकर्षक बनाया है। उनके कुछ मुहावरे द्रष्टव्य हैं–

(1) **धोबी कैसो कूकर, न घर को, न घाट को।**

(2) **सावन अधहिं ज्यो सूझत रंग हरो।**

(3) **बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा।** (आदि)

गोस्वामी जी की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने लिखा है–

''सबसे बड़ी विशेषता गोस्वामी जी की है भाषा की सफाई और रचना की निर्दोषिता जो हिन्दी के और कवि में तो ऐसी नहीं है। सारी रचना इसका उदाहरण है।''

शब्द शक्ति

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शब्द की तीन शक्तियाँ हैं इनका समुचित प्रयोग कर कवि साहित्य क्षेत्र में अपनी महत्ता सिद्ध कर सकता है। भाव और विचार को गति प्रदान करके लक्षणा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। गोस्वामी जी ने इसका सफल प्रयोग किया है–

''सीदत साधु साधुता सोचति।
खल बिलसति दुलसति खलई है।।''

इसमें खलई और साधुता का लाक्षणिक प्रयोग दर्शनीय है। मानस में राम वन गमन के समय सीता-राम संवाद में व्यंजना का सफल प्रयोग गोस्वामी जी ने किया है–

''मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मोहि कहँ भोगु।।

यह एक ही पंक्ति श्री राम के उपदेश पर ताला डाल देती है।

चित्रात्मकता

भाषा में अथवा विशेषतः श्रव्य काव्य में चित्रात्मकता आने से वर्ण्य विषय का महत्त्व बढ़ जाता है, अतः चित्रात्मकता उत्तम काव्य की विशेषता मानी गई है। गोस्वामी जी के काव्य में बहुलः चित्रात्मकता का प्रयोग हुआ है। जिससे पाठक उनके हृदयगत भाव तक पहुँच सकता है। उदाहरण द्रष्टव्य है। लंका से लौटकर हनुमान सीता की दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं–

''रघुकुल तिलक वियोग निहरि।
मैं देखी जब जाइ जानकी मनहुं बिरह मूरति मन मारे।
चित्र से नयन अरु गढे से चरन कर मढे से स्तवन् नहिं सुनत पुकारे।
रसना रटति नाम कर सिर चिर रहै नित निज पद कमल निहारे।।

छन्द योजना

गोस्वामी जी ने अपने युग में प्रचलित सभी प्रमुख छन्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, सोरठा, बरवै, छन्द आदि उनके द्वारा प्रयोग प्रयुक्त उनके युग में प्रचलित छन्दों का सफल प्रयोग उनकी विभिन्न रचनाओं में हुआ है। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक छन्द में उनकी प्रकृति के अनुरुप लय और भावानुकूलता का समावेश उनकी विदग्धता का परिचायक है।

अलंकार योजना

गोस्वामी जी अलंकारवादी नहीं, अलंकार प्रेमी थे। काव्य सन्दर्भ में अलंकार प्रयोग काव्य में शोभा व द्धि अथवा वहाँ चमत्कार लाना है। तुलसी इस विशेषता के प्रति सतत् जागरुक रहे हैं

और उन्होंने इनका समुचित अथवा सफल प्रयोग अपनी कृतियों में किया है। कुछ अलंकारों का प्रयोग द्रष्टव्य है–

(I) **अनुप्रास :** **''कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।**
मंगल मूरति मारुति नन्दन।।''

(II) **यमक :** **भयउ विदेहु विदेहु विसेषी।**

वक्रोक्ति, वीप्सा, पुनरुक्ति प्रकाश आदि इनकी कृतियों में यथावसर प्रयुक्त हुए हैं। उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक अलंकारों का प्रयोग तुलसी ने प्रचुरता से किया है। रामचरितमानस में वर्षा वर्णन में उत्प्रेक्षालंकार की छटा दर्शनीय है–

''भूमि परत भा डाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी।।''

e e e e e e e

सिमिटि सिमिटि जलु भरहि तलावा।
जिमि सद्गुण सज्जन पहिं आवा।।''

गोस्वामी जी ने सर्वाधिक प्रयोग रूपक अलंकार का किया है। छोटे-छोटे निरंग एवं परम्परित रूपकों के अतिरिक्त बड़े-बड़े सांग रूपकों का भी प्रयोग कवि ने रामचरितमानस, गीतावली एवं विनय पत्रिका में किया है। इन लंबे सांग रूपकों में साद श्य एवं साधर्म्य का आद्योपान्त निर्वाह हुआ है। इसके लिए कवि ने केवल परम्परागत उपादानों को ही नहीं चुना वरन् स्वयं-स्वकीय पर्यवेक्षण शक्ति के आधार पर भी प्रकृति के व्यापारों से उदाहरण चुनकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया–

''अस कहि कुटिल भई उठि ठाढी। मानहु शेष तरंगिनी बाढी।।
पाप पहार प्रकट भई सोई। भरी क्रोध जाइ न सोई।।
ढाहत भूप-रूप-तरू-मूला। चली विपत्ति वारिधि अनूकुला।।''

(मानस अयोध्या काण्ड)

मात्र चमत्कार प्रदर्शक अलंकारों का प्रयोग तुलसी को पसन्द नहीं था। परिणामतः मुद्रा, चित्र पहेलिका आदि अलंकारों की उन्होंने अवहेलना.सी ही की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी पर तुलनात्मक द ष्टि से प्रकाश डालते हुए लिखा है–''बिहारी रीति.ग्रन्थों के सहारे जबरदस्ती निकाल-निकालकर दोहों के भीतर श ंगार रस के विभाव अनुभाव और संचारी ही भरते रहे।'' केवल एक ही महात्मा और है जिनका नाम गोस्वामी जी के साथ लिया जा सकता है और भर लिया जाता है। वे हैं–प्रेम स्रोत स्वरूप भक्त वर सुरदास जी। जब तक हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषी हैं, तब तक सूरदास और तुलसीदास का जोड़ा अमर है। ..... न जाने किसने यमक के लोभ से यह दोहा कह डाला कि ''सुर.सुर तुलसी ससी उडुगन केसवदास।'' यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्त त अधिकार रखने वाला सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत हृदय, भारती कण्ठ भक्त चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास। सारांश में तुलसी की कविता के विषय में तुलसी के ही शब्दों में यह कहना पर्याप्त होगा–

''कविता भनिति भूति तल सोई। सुर सरि सब कहुँ हित होई।।

तुलसी के काव्य का एक और महत्त्वपूर्ण गुण है उसका अर्थ गांभीर्य। कथावाचकों ने तो एक-एक चौपाई के अनेकों अर्थ निकाले हैं। डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र ने तुलसी काव्य के अर्थ गांभीर्य के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। निष्कर्ष रूप में तुलसी का काव्य भाव तथा कला पक्ष दोनों ही द ष्टियों से अनुपम है। काव्य कला मानों तुलसी जैसे कवि को पाकर कृतार्थ हो गई है। उनके सम्बन्ध में किस कवि ने सत्य ही कहा है–

''कविता करि कै तुलसी न लसे।
कविता लसी पा तुलसी की कला।।''

अध्याय 3
तुलसीदासजी की भक्ति-भावना

भज-सेवायाम् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर 'भक्ति' शब्द बनता है। जिसका अर्थ है प्रेमपूर्वक सेवा करना। भक्ति का सम्बन्ध हृदय से अधिक होता है। भक्त भावुकता में श्रद्धा और विश्वास की विचारभूमि में अपने-अपने आराध्य में अनन्य होता है। विश्वास उसका इतना अविचलित होता है कि अपने उस विश्वास के समक्ष वह संसार, संसार के प्रलाप, अप्रलाप आदि की तनिक भी परवाह नहीं करता। भक्ति और विश्वास के साम्राज्य में आराध्य की कृपा के अतिरिक्त अन्य बातों का विचार सर्वथा ही नहीं होता। गोस्वामी जी ने अपनी अनन्य भक्ति का परिचय जहाँ इस रूप में दिया है–

''एक भरोसो एक बल, एक आस विस्वास।
स्वाति सलिल रघुनाथ जसु, चातक तुलसीदास।।''

वहीं भक्ति के सम्बन्ध में ये विचार भी प्रगट किए हैं–

(अ) **''साध बिनु सिद्धि विकल लोग तपत।**
कलयुग बर बनिज विपुल नाम नगर खपत।।''

(ब) **''बैठे नाम काम तरु को डर कौन घोर घन घास को।''**

(स) **''रघुपति भगति करत कठिनाई।''**

गोस्वामी जी की भक्ति का यथावत् परिज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम भक्ति ग्रन्थों में प्रतिपादित भक्ति के मूलभूत रूप को जान लेना आवश्यक है। नारद भक्ति सूत्र तथा शाण्डिल्य भक्ति सूत्र के अनुसार ईश्वर में परानुरक्ति ही भक्ति है– 'सा परानुरक्ति रीश्वरे।' इसके साथ ही यह भक्ति ईश्वर के प्रति परम् प्रेम रूपा तथा अम त रूपा भी है। 'सात्वस्मिन् परम् प्रेमरूपा, अम त रूपाच।' इसे पाकर व्यक्ति सिद्ध, अमर और त प्त हो जाता है। भक्ति मार्ग के मूर्धन्य आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने सर्वेश के प्रतिचित् की धारावाहिक व ति को भी भक्ति प्रतिपादित किया है–

''द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतांगता।
सर्वेशे मनसोव त्तिर्भक्ति रित्यभिधीयते।।''

मध्वाचार्य जी महात्म्य ज्ञान से उत्पन्न परमानुरक्ति को ही भक्ति की संज्ञा देते हैं। सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर गोस्वामी जी ने भी भगवान् राम के मुख से भक्ति का स्वरूप.दर्शन इस प्रकार कराया है– ''जाति बेग द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।'' भक्ति ग्रन्थों के अनुसार भक्ति के गौणी और शुद्धा दो मुख भेद तथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण, सेवा, पूजन, वादन दास्य, सख्य, आत्म निवेदनारियाँ भेद तथा रूपा, पूजा रमणादि ग्यारह आसक्तियाँ प्रतिपादित की गई हैं और भक्ति के साधन तथा अन्तरायों का भी विशद विवेचन हुआ है। तुलसीदास जी ने भक्ति मार्ग का यथावत् परिज्ञान प्राप्त कर उसके सम्बन्ध में अपना मत स्थिर किया था। दोहावली में अपने अभिमत भक्ति तत्व के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा–

''प्रीति राम सों नीथि पथ चलिय राग-रिस जीति।
तुलसी सन्तन के मत इहै भक्ति की रीति।।''

अर्थात् उनके अनुसार राग और क्रोध को जीतकर, नीति पथ पर चलते हुए राम के प्रति प्रेम रखना ही भक्ति है। गोस्वामी जी के अनुसार प्रेम की प्रगाढ़ता ही भक्ति परिपक्वता का प्रमाण है। तुलसीदास जी ने भक्ति मार्ग शास्त्र सम्मत तथा रीति-विवेक संयुत मानते हुए उसी का आश्रय लेने का परामर्श दिया है।

''श्रुति समत हरि भगति पथ संजुत बिरति विवेक।
तेहि न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पन्थ अनेक।।''

उनके अनुसार राम की भक्ति सहज प्राप्त होना सम्भव नहीं। वह किसी.किसी को ही प्राप्त होती है और वह भी तब जब राम की कृपा हो जाए–

''सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। रामकृपा काहूँ एक दाई।।''

राम की भक्ति सभी उपाधियों से रहित विश्वासाश्रित होती है। वह निर्विघ्न रूप से जिस हृदय में निवास करती है उस हृदय को देख माया भी सकुचा जाती है। इसी कारण विवेकशील प्राणी सुख की खान भक्ति की याचना करते हैं। भक्ति की उपलब्धि होते ही मुक्ति पद पर उनका अधिकार हो जाता है–

''अति दुर्लभ कैवल्य परम्पद। सन्त पुरान निगम आगम बद।।
राम भजत सोइ मुक्ति गोसाई। अन इच्छित आवै बरि आइ।।''

गोस्वामी जी ने भक्ति के साधन के रूप में निम्न बातों को अधिमान दिया है–

(1) **मानव शरीर :** गोस्वामी जी के अनुसार शरीर के बिना भक्ति नहीं हो सकती। 'तनु बिनु वेद भक्ति नहिं बरना।' महाकवि कालिदास ने भी कुमार सम्भव महाकाव्य में शरीर की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए कहा है – ''शरीर मद्यं खलु धर्म साधनम्।'' शरीर के सम्बन्ध में गोस्वामी जी की मान्यता है–

''बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा।।''

अतः शरीर को पूर्ण स्वस्थ रखकर उसका सदुपयोग करना चाहिए।

(2) **श्रद्धा और विश्वास :** ये दोनों भक्ति की आधार शिलाएँ हैं। बिना श्रद्धा के धर्म साधना सम्भव नहीं। 'श्रद्धा बिना धरमु नहिं होइ।' और बिना विश्वास के भक्ति की पुष्टि नहीं होती–

''बिनु विश्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।''

(3) **निर्मल हृदय :** भक्ति की साधना में निर्मल हृदय सर्वोपरि उपादान है। भगवान् श्री राम कहते हैं–

''निर्मल मल जन सो मोहिं पावा। काट छल छिद्र न भावा।।''

(4) **प्रभु अनुशासन को अधिमान :** भगवान् श्री राम कहते हैं–

''सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन मानइ जोई।।

(5) **विवेक और वैराग्य :** विवेक के लक्ष्य निर्धारण सम्भव नहीं होता तथा वैराग्य के बिना प्रभु चरणों में अनन्य अनुराग नहीं हो सकता।

"तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहुँ मन विस्त्राम।
जब लगि भजत न राम कहँ सोक धाम तजि काम।।"

भक्ति की द ढ़ता के लिए नाम, जप एवं सत्संग परमावश्यक है–

''एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप-तप व्रत पुजा।।
रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं। सन्तन सुनिय राम-गुन ग्रामहि।।"

तथा - **''तात स्वर्ग-अपवर्ग सुख-धरिय तुला इक अंग।**
तूल न मिला सके, जो सुख-भव सतसंग।।"

तुलसीदास जी की रचनाओं में नवधा भक्ति के नवों.स्वरूपों के स्थान पर दर्शन हो सकते हैं। इसके साथ ही ग्यारहों आसक्तियों का परिचय भी उनके साहित्य में यत्र.तत्र मिल जाता है। नारद, भुसुण्डी और शिव के प्रसंग में गुण महात्म्यसक्ति, मिथिला निवासियों में रूपासक्ति, हनुमान और लक्ष्मण के प्रसंग में पूजा शक्ति ध्रुव, प्रहलादाहि में स्मरण शक्ति, विभिषण सुग्रीव, निषादादि के प्रसंग में संख्याशक्ति, सीता में कान्ताशक्ति, दशरथ कौश्ल्यादि में वात्सल्यशक्ति, विभीषण, हनुमानादि में आत्म-निवदनाशक्ति दशओं में परम्-विरहाशक्ति तथा सुतीक्ष्ण प्रसंग में तन्मयाशक्ति के दर्शन किये जा सकते हैं–तुलसी की भक्ति एकांगी तथा एकान्तिक नहीं है। वह लोक.धर्मी है और इसीलिए ज्ञान तथा कर्म से संचलित है। उनकी भक्ति में ज्ञान और कर्म दोनों का उचित मात्रा में समावेश है। शास्त्रों में धर्म के तीन अंग माने जाते हैं – ज्ञान, कर्म और भक्ति, तुलसी की भक्ति पद्धति में इन तीनों का समुचित समावेश है। तुलसी को भक्ति पद्धति की सर्वांग पूर्णता का उल्लेख करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है – गोस्वामी जी की भक्ति.पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वांग पूर्णता। जीवन के किसी पक्ष को सर्वथा छोड़कर वह नहीं चलती है। सब पक्षों के साथ उसका सामंजस्य है। उसका कर्म या धर्म से विरोध है न कि ज्ञान से। धर्म तो उसका नित्य लक्षण है। तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। योग का भी इसमें समन्वय हैं पर उतने ही का जितना के ध्यान लिए, चित्त को एकाग्र करने के लिए आवश्यक है।

मानस उत्तर-काण्ड में तुलसीदास जी ने भक्ति और ज्ञान की चर्चा की है। यद्यपि वे शास्त्रानुसार ज्ञान को मोक्ष.दायक मानते हैं। परन्तु उनके मार्ग को कृपाण की धारा बताते हैं क्योंकि उसका कहना और समझना ही कठिन नहीं, साधना और भी कठिन है–

''कहत कठिन समुझत कठिन, साधत कठिन विवेक।
होइ धुनाच्छर न्याय ज्यों पुनि प्रत्यह अनेक।"

प्रथम तो ज्ञान का साधन ही कठिन है फिर यदि उनके कष्ट.साध्य उपायों का आलम्बन कर ज्ञान.दीप जला भी लिया तो उसे प्रज्ज्वलित रखने में अनेक बाधाएँ हैं। माया की संज्ञा का भय उसके हित सदैव बना रहता है। यह भय भक्ति.मार्ग नहीं है। भक्ति.रूपी चिन्तामणि पा लेने पर भय पास भी नहीं फटक सकता। इसे ही द ष्टिगत रखकर तुलसीदास जी ने कहा है–

''रामचन्द्र के भजन बिनु जो पद चह निर्वान।
ग्यानवन्त आपि सो नर पसु बिन पूँछ विषान।।"

गोस्वामी ने अपनी भक्ति.पद्धति में भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ प्रतिपादित करते हुए भी ज्ञान को सर्वथा हेय नहीं बताया है, बल्कि कहा है–ज्ञान से भक्ति की उत्पति ऐसे ही होनी चाहिए जैसे कौशल्या की गोद से राम। वास्तव में भक्ति बिना प्रीति के हो ही नहीं सकती। प्रीति प्रतीति (विश्वास) बिना सम्भव नहीं और प्रतीति जाने बिना (परिचय के बिना) नहीं हो सकती।

''जाने बिना न होई परतीति, बिनु परतीति होइ नहिं प्रीति।
प्रीति बिना नहीं भक्ति दिढाई, जिमि खगपति जलकै चिकनाई।।''

कलिकाल में मोक्ष.प्राप्ति का एकमेव साधन (हरिनाम स्मरण) ही है। पुराणों में कहा गया है–

''हरे र्नाम हरे र्नाम मेव केवलम्।
कलौ नास्त्येव गतिरन्यथा।।''

तुलसीदास जी ने भी इसे ही द ष्टिगत रख कहा है–

''कलिजुग.जोग न जज्ञ न जाना।
एक.अधार राम.गुन गाना।।''

तुलसीदास जी के पदे.पदे भक्ति की श्रेष्ठता स्वीकार की है, प्रतिपादित की है तथा स्वीकार किया है–

''भक्तिहीन.गुन सब सुख ऐसे, लवन बिना बहु व्यंजन जैसे।''

उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है कि भक्ति, मणि की भाँति अतीव दुर्लभ है। उसे ज्ञान और वैराग्य रूपी नेत्रों से ही खोजा जा सकता है। मर्मज्ञ सज्जन इस भक्ति रूपी मणि की सुमति रूपी कुदाल से खोदकर हस्तगत कर पाने में सफल रहे हैं–

''पावन पर्वत वेद पुराना, रामकथा रुचिशकर नाना।
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी।।''

तुलसीदास जी राम भक्ति शाखा के प्रमुख कवि थे। राम की प्रतिष्ठा जन.जीवन में उनका उद्देश्य ही नहीं पावन कर्त्तव्य था। यह कार्य उन्होंने जिस कुशलता से पूरा किया वह विश्व के इतिहास में अपना उपमान आप है। उन्होंने राम के सगुण रूप की प्रतिष्ठा ही यद्यपि की है, तथापि निर्गुण का खण्डन कहीं नहीं किया है। अर्चन, पूजन, दास्य.भाव से सेवा, सख्य भाव से अन्तरंग भावों में पैठ आदि क्योंकि सगुण रूप में ही सम्भव है, अतः सगुण की ओर झुकाव स्वाभाविक है। वे कहते हैं–

''सगुनहिं अगुनिहिं नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।।''

परन्तु साथ ही यह कहने में भी नहीं चूकते कि वह निर्गुण ब्रह्म ही 'भक्त.प्रेम' के वश में होकर सगुण रूप धारण करता है–

''अगुन रूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सोहोई।''

उनकी यह मान्यता वेदादि शास्त्रों के अनुकूल है। यह यजुर्वेद में आता है।

''प्रजापतिश्चरतिगर्मे अन्तर जाय मानो बहुधा विजायते।''

अर्थात् प्रजापति समस्त चराचर पालक परमात्मा, गर्भेअस्तः गर्भ के बीच में चयित विचरण करता है। अजाय मानः वह अजन्मा होता हुआ भी (भक्तों की रक्षा अथवा इच्छा पूर्ति के लिए) बहुधा बार.बार अनेक रूपों में विजायते विशेष रूप से प्रकट होता अर्थात् अवतार धारण करता है। यथा–

''इन्दो मायाभिः पुरू रूप ईयते।''

अर्थात् इन्द्र.परमात्मा, मायाभिः.अपनी माया शक्तियों द्वारा पुरु रूप अनेक धारण करके ईयते संसार में आता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं निर्गुण का सगुण रूप से अवतरित होना प्रतिपादित करते हुए कहते हैं–

''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं स जनाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवाभि युगे युगे।।''

गोस्वामी जी के राम क्योंकि विष्णु के ही अवतार हैं अतः उनके कृष्ण जन्म को ध्यान में रखते हुए वे कहते हैं–

''जब जब होहिं धरमकै हानि, बाढ़हि असुर महा अभिमानी।
तब तब धरि विविध सरीरा, हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा।।''

यह निर्गुण ब्रह्म सगुण कैसे हो जाता है, इसे बताते हुए गोस्वामी जी कहते हैं–

''जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे, जलु हिम उपल विलग नाहिं जैसे।।''

अन्य कवियों ने निर्गुण को दुरुह तथा अनुपयुक्त कहा है। सूरदास जी ने तो स्पष्ट शब्दों में यहाँ तक कह दिया है–

''रूप रेख गुन जाति जुगति चिनु, निरालम्ब मनचक्रित धावे।
सब विधि अगम विचारहिं, ताते सूर सगुन लीला पद गावें।।''

परन्तु तुलसीदास जी ने सगुण के सम्बन्ध में सर्वथा भिन्न विचार व्यक्त किये हैं–

''निर्गुण रूप सुलभ अति सुगुन जान नहिं कोई।
सुतम अगम नाना चरित सुनि सुनि मन भ्रम होइ।।''

गोस्वामीजी का केवल आग्रह ही सगुण के सम्बन्धों में नहीं है, बल्कि उनका विश्वास है कि निर्गुण भावना ही सगुण सापेक्ष है। वे मानते हैं कि सगुण के बिना निर्गुण हो ही नहीं सकता–

''ग्यान कहै अग्यान बिनुं, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, जो गुरु तुलसीदास।।''

यहाँ ज्ञातव्य है कि स ष्टि में दो विरोधी वस्तुएँ इसीलिए उत्पन्न की गई जिससे उपयोगी, अनुपयोगी, ग्राह्य, अग्राह्य, श्रेष्ठ और हीन का अन्तर जाना जा सके और प्रशस्त का ग्रहण तथा निकृष्ट का परित्याग किया जा सके। एक की विद्यामानता में दूसरी की उपादेयता का यथावत् मूल्यांकन हो सके। तुलसीदास जी ने इस तथ्य की इस रूप में अभिव्यक्ति दी है–

''जड़.चेतन गुन दोस मय, बिस्व कीन्ह.कतार।
सन्त हंस गुन गहहि पय, परि हारि बारि विकार।।''

स ष्टि में दिन.रात, पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म, सुख.दुःख, हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश, अपयश आदि युगल इसी भावना को व्यक्त करते हैं।

तुलसीदास जी ने भक्ति में भी समन्वयात्मक द ष्टिकोण के प्रामुख्य दी है। शुक-नीति में जहाँ देवों की उपासना का विधान बताया जाता है। यहाँ लिखा है–

''श्रृंगार के ग्राम मध्ये विष्णोर्वाशंकरस्मच।
गणेशच्च खेदेव्याः प्रसादान् क्रमत्तोन्यसेत्।।''

परन्तु मध्य.काल में इसे भावना के सर्वथा विपरीत शिव और विष्णुपरक सम्प्रदाय के केवल आपस में घ णा करते थे। बल्कि एक-दूसरे के देवता को भी घ णा की द ष्टि से देखते थे। तुलसीदास जी भक्ति-मार्ग के इस भयानक-विरोध अथवा घ णा-रूपी अवरोध को हटाकर भक्ति मार्ग

को ऐसा राजमार्ग बना देना चाहते थे जिसमें बिना ईर्ष्या, द्वेष और घ णा के सभी देवता समान रूप से समाहत पूजित हों। यद्यपि श्रीमद्भागवत में जो कि वैष्णों का परम धन है—भगवान् शिव को परम् वैष्णव प्रतिपादित किया है—

''वैष्णवानां यथा शम्भुः'' परन्तु इसे अलक्ष्य कर शैव और वैष्णव एक.दूसरे का विरोध करना ही जीवन का लक्ष्य बना बैठे थे। तुलसीदास जी ने इस विरोध को दूर करने के लिए एक और शिव को राम.कथा का परम् अधिकारी बताया तथा दूसरी ओर स्वयं अपने आराध्य श्री राम के मुख से शंकर भक्ति की महिमा का बखान करा इस विरोध को शामिल कर सामाजिक समस्या विधान में योगदान दिया। श्री राम कहते हैं—

(1) **''संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।**

ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ वास।।''

(2) **''संकर विमुख भगति चर मोरी, सो नर की मुढ मति थोरा।।''**

(3) **''औरों एक गुपुत मत सबहिं कहौं कर जोरी।**

संकर भजन बिना नर भगतिन पावइ मोरि।।''

'रामचरितमानस' में गोस्वामी जी के तीन स्थानों पर भक्ति के साधनों की चर्चा की है। ये प्रसंग हैं—बाल्मीकि राम संवाद, पंचवटी में राम.लक्ष्मण संवाद तथा शबरी से राम की भेंट। वाल्मीकि राम संवाद में भक्ति के चौदह साधन तथा दूसरे दो और प्रसंगों में नौ.नौ साधनों का उल्लेख किया है। इसमें से एक में नवधा भक्ति का शास्त्रीय रूप है तथा दूसरे में नवधा भक्ति का सहज रूप। इन साधनों के अन्तर्गत उन्होंने यद्यपि रूपासक्ति आदि विभिन्न आसक्तियों, ब्राह्मण.पूजा, वैराग्यव त्ति आदि की भी यथा सम्भव चर्चा की है तथापि महत्त्व दिया है नाम स्मरण, कथा श्रवण, सत्संगति आदि को ही। राम नाम के महात्म्य का वर्णन करते हुए उन्होंने नाम को राम से बड़ा अर्थात् अधिक महत्व वाला प्रतिपादित किया है—

(1) **"अभय अगम जुग सुगम नाम तें, कहौ नाम बड़ ब्रह्म राम तें।"**

(2) **"सबरी गीध सुसेवकहि सुगति दीन्ह रघुनाथ।**

नाम उधारे अमित खल वेद विदित गुन नाथ।।"

'राम' ये दोनों वर्णनों भक्ति सुन्दरी के कर्णाभरण तुलसी ने प्रतिपादित किये हैं—

"भगति.सुतिय कल करन विभूषन।"

राम नाम तुलसी को राम लक्ष्मण के समान ही प्रिय था—

"कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके, राम-लखन सम प्रिय तुलसी के।।"

जिस प्रकार श्रावण और भाद्रपद मास का वर्षा से सहज सम्बन्ध है उसी प्रकार भक्ति का राम नाम से—

"बरखा रितु रघुपाते भगति तुलसी साखि सुदास।

राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास।।"

नाम की महिमा अमित है जिसका उल्लेख तुलसीदास जी बहुशः इस प्रकार किया है—

"कहउँ कहा लगि नाम बड़ाई।

राम न सकहिं नाम गुन गाई।।"

कलियुग में तो एक मात्र आधार ही राम का नाम है–

"नहि कलि करय न भगति विवेकू।

रामनाथ अवलम्बन एकू।।"

तुलसीदास जी मानते हैं कि यूँ तो प्रभु के हज़ारों नाम हैं परन्तु 'राम सकल नामन ले अधिका' राम नाम सबसे विशेष है। तुलसीदास जी की यह मान्यता उस श्लोक की पुष्टि करती है। जिसमें भगवान् शंकर पार्वती से कहते हैं कि राम नाम हज़ारों दूसरे नामों से बढ़कर है–

"राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।

सहस्त्र नामत स्तुल्यं राम नाम वरानने।।"

तुलसीदास जी राम नाम की एक और विशेषता बताते हुए कहते हैं कि राम नाम सगुण और निर्गुण के बीच सुन्दर साक्षी है, दोनों का ज्ञान कराने वाला चतुर दुभाषिया है–

"अगुन-सगुन बिच नाम सुसाखी, उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी।"

राम की कथा को उन्होंने भक्ति दायिनी, ज्ञान, वैराग्यदि को द ढ़ करने वाली संसार के रोगों को दूर भगाने वाली संजीवनी बूटी कहा है–

"विरति विवेक भगति द ढ़ करनी,

मोह नदी कहुँ सुन्दर तरनी।।"

e e e e

"संस ति रोग संजीवन मूरी।"

राम रक्षा स्त्रोत में कुछ ऐसे ही भाव लेकर कहा है–

"भजंनं भव वीजानाम् अर्जुनं सुख सम्पदाम्।

तर्जनम् यम दूतानम, रामेति गर्जनम्।।"

भक्ति में द ढ़ता मोह नाश होने पर ही आती है ओर मोहनाश हरि कथा श्रवण तथा सत्संग से सम्भव है–

"बिनु सत्संग व हरि कथा, तेहि बिनु मोहन भाग"।।

तुलसीदास जी ने राम भक्ति में अकेले राम को नहीं सीता को भी लिया है, क्योंकि वाल्मीकि मुनि के अनुसार ''कृतस्नं रामायण प्रोक्तं सीतायाः चरितं महत्'' अर्थात् मेरी कृति का नाम रामायण भले हो, परन्तु सही मायने में यह सम्पूर्ण रामायण सीता का ही महान् चरित्र है। इसे ध्यान में रख उन्होंने भी समस्त संसार की वन्दना सीय राम मय कहकर की है–

"सीय राम मय सब जग जानी।

करऊँ प्रणाम जोरि जुग पानी।।"

तुलसीदास जी नवधा भक्ति का यथा स्थान वर्णन करते हुए भी दास्य भक्ति को सबसे अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि उनकी मान्यता थी–

''सेवक सेव्य भाव बिनु भवन तरिअ उरगारि।

भजहु रास पद पंकज अस सिद्धान्त विचारि।।''

तुलसी भक्ति पद्धति के समबन्ध में किसी विद्वान का कथन है कि ''तुलसीदास जी की भक्ति जोग की अलग नहीं जगाती, कर्मकाण्ड का पाखण्ड नहीं रचती और न ही ज्ञान का धुणाक्षर न्याय लेकर चलती है। वह जितनी व्यावहारिक और सुगम है, उतनी ही सरल और सहज भी। यह बिरला

मार्ग नहीं सबके लिए ग्राह्य सहज मार्ग है'' तुलसी दास जी स्वयं भी कहते हैं–

''निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँह।।''

इस मार्ग पर चलने के लिए केवल सरलता चाहिए–मन की सरलता, वचन की सरलता, कर्म की सरलता। तुलसीदास जी लोकधर्म के मर्मज्ञ थे, इसीलिए उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम भक्ति को अपना ध्येय बनाया तथा लोक धर्म विरोधी तत्वों का बहिष्कार कर उन्होंने अपने आराध्य के शील, सदाचार एवं मर्यादा से उसे समन्वित कर इस रूप में उसे प्रतिष्ठित किया कि उसके अनुसारगामी उन गुणों से स्वयं को मण्डित कर आदर्श रूप ही संसार के सामने प्रस्तुत करें। उनकी भाँति वैयक्तिक साधना के साथ.साथ लोक धर्म को लेकर चलती है। इसे परिलक्षित कर आचार्य शुक्ल ने लिखा है–"तुलसी की भक्ति में कोरी भावुकता का उपदेश नहीं जो उद्दण्डता होती है, कोरे ज्ञान का उपदेश नहीं जो आलस्य होता है, कोरी चतुरी का आदेश नहीं जो धूर्तता होती है। यहाँ राम के महत्व की अनुभूति, शील, शक्ति और सौन्दर्य के उस समन्वय के साथ है जिससे मनुष्य का सम्पूर्ण हृदय आकर्षित होता है। इसी कारण तुलसीदास की धर्म लक्षण भी केवल वैयक्तिक साधना के दया, दाक्षिण्य वाले सीमित लक्षण ही नहीं, जिनसे मन, तन और आत्मा शुद्ध होते हैं।"

वस्तुतः तुलसीदास जी की भक्ति सामंजस्य मूलक है और भक्ति के हर अंग आधार स्वरूपादि में उनकी समन्वयवादी विचारधारा कार्य करती द ष्टिगोचर होती है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के समन्वय, सगुण और निर्गुण में समन्वय, अद्वैत.विशिष्टाद्वैत में समन्वय, भक्ति के विराट् समन्वयात्मक भावना साकार होती है। इसी समन्वयात्मक द ष्टिकोण से प्रेरित तुलसीदास जी ने अपनी भक्ति की 'श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संयुत विरति विवेक' कहा है। समष्टि रूप में तुलसीदास जी के मत में भक्ति चिन्तामणि के समान है। यह भक्ति जिसके हृदय में निवास करती है उसे दीपक के प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ी। मोहादिक का तिमिर उसके पास तक नहीं फटकता और न लोभ रूपी वायु इसे बुझा ही सकती है। यह अविद्या जनित अन्धकार को नष्ट कर सत्य का साक्षात्कार कराने में सर्वाधिक समर्थ है। जिसके हृदय में यह भक्ति रूपी मणि प्रतिष्ठित रहती है उसे कामादि विकार प्रभावित नहीं कर पाते। वास्तविक सुख और अत्यान्तिक कल्याण इसी के द्वारा सम्भव हैं। वे सांसारिक जन निश्चय ही बड़भागी हैं जो इसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। गोस्वामी जी के मत से राम भक्ति ही सबसे बड़ा धर्म, सबसे महान् कर्म, सबसे बड़ी नीति तथा सर्वाधिक सरल सम्मत मार्ग है। यह भक्ति भगवान् की अनन्त कृपा के फलस्वरूप ही प्राप्त होती है। भगवान् अपने आराधक की आराधना पर प्रसन्न होकर अन्य सब तो उसकी इच्छानुसार सहज ही दे देते हैं, परन्तु किसी भाग्यवान को ही प्राप्त होती है–'मुक्ति उदाति कर्हिचित्सम न तु भक्ति योगम्।' भक्ति रहित जीवन वैसा ही है जैसा लवण रहित व्यंजन्। इसीलिए तुलसी भक्ति के सामने अन्य वस्तुओं की कामना नहीं करते। वे अपने आराध्य प्रभु से यहीं याचना करते हैं–

''कामिहिं नारि पियारी जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहिं राम।।''

यही उनका सर्वोपरि अभीष्ट है, यही उनकी भक्ति का लक्ष्य है। तुलसीदास जी ने भक्ति को इतना महत्व क्यों दिया इसे जानने के लिए डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र द्वारा प्रतिपादित भक्ति मार्ग की कुछ प्रमुख विशेषताओं को जान लेने की आवश्यकता है, जो इस प्रकार हैं–

(1) यह मार्ग जीव की स्वाभाविक रुचि के अनुकूल है।

(2) इस मार्ग के साधन कष्टकर नहीं होते।

(3) इस मार्ग में प्रत्यूहों और विघ्नों का झंझट कम रहता है।

(4) यही सब साधनों का फल और आधार है।

(5) यही वह साधन है जिसमें साधन भी (भक्ति) साध्य (मुक्ति) की भाँति बल्कि साध्य से भी अधिक सुख प्रद रहता है।

(6) भगवान् की कृपा प्राप्त कर लक्ष्य तक पहुँचने का यह सबसे छोटा और सीधा मार्ग तो है ही; लोक और परलोक का सुख भी इसी पर निर्भर रहता है।

(7) इन्हीं विशेषताओं को द ष्टिगत रखकर तुलसीदास जी ने भक्तिमान व्यक्ति को धन्य कहा है—

''पुत्रवती युवती जग सोई, रघुवर भगत जासु सुत होई।
सोई सरवग्य तग्य सोई पण्डित, सोई गुन ग ह विग्थान अखंडित।
बच्छ सकल लच्छन जुत सोई, जागे पद सरोज रति होई।।''

तुलसीदास जी की भक्ति निष्काम दास्य भाव की भक्ति है। उसमें सांसारिक क्षुद्र स्वार्थों के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। इस मार्ग के अनुयायी तुलसी मात्र इसी फल की कामना करते हैं—

''सब कर माँगहिं एक फल राम चरन रति होउ।

वे इस जीवन में ही नहीं जन्म जन्मांतर में ही केवल अपनी भक्ति साधना का यही फल चाहते हैं—

''अर्थ न धर्म न काम रुचि गानि न कहहुँ निखान।
जन्म जन्म सिय राम पद यह वरदान न आन।।''

इस प्रकार गोस्वामी जी के अनन्य दास्य भाव को चरमिति प्रस्तुत कर जन.सामान्य को निज कल्याण की दिशा में अग्रसर कर भक्ति को ऐसे आलोक स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित किया है जिसे व्यक्ति सही दिशा.दर्शन पा अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो सके।

अध्याय 4
तुलसीदासजी की दार्शनिक विचारधारा

भारतीय जीवन में दर्शन का अपना महत्व है। दर्शन का शाब्दिक अर्थ है—देखना (द श-अन)। परिभाषिक अर्थ में इस शब्द से आध्यात्मिक ज्ञान का बोध होता है। कुछ विद्वान जीवन के चिन्तन की विशेष पद्धति को ही दर्शन कहते हैं। भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक, शिक्षक, भू०पू० राष्ट्रपति राधाकृष्णन् के अनुसार ''दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है जो आत्मा रूपी इन्द्रिय के समक्ष सम्पूर्ण रूप से प्रकट होता है।'' धर्म सम्राट स्वामी करपात्री जी के अनुसार ''दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है जिसमें प्रमाण द्वारा आत्मा.परमात्मा का ज्ञान प्रकट होता है।'' डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र दर्शन को साधना के विचार पक्ष के रूप में स्वीकार करते हैं। स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती जीव से सम्बद्ध विभिन्न विषयों के सूक्ष्म चिन्तन को दर्शन मानते हैं। स ष्टि के आदि अन्तरिक्षण से विश्व गुरु पद पर अधिष्ठित रहने वाला भारत चिन्तन का न केवल प्रेमी रहा है, बल्कि इसने चिन्तन की ऐसी अजस्त्र धारा भूतल पर प्रवाहित की है कि उसके सम्पर्क में आकर सारा संसार ही चिन्तनधारा में अवगाहन कर भाव मणियाँ समेटने में दत्त चित.सा हो गया है। आदिकाल से ही भारतीय मनीषियों की जिज्ञासा रहस्यमय ब्रह्माण्ड के रहस्य को जानने की रही है। ऋग्वेद में भारतीय मनीषा का रहस्यमय ब्रह्माण्ड के जानने की दिशा में अग्रसर होना प्रत्यक्षतः अनुभव किया जा सकता है। स ष्टि के आरम्भिक काल से ही भारतीय मनीषी इन बातों पर विचार करते थे कि इस स ष्टि का निर्माता तथा नियन्ता कौन है ? अपरिमित जलराशि का केन्द्र सागर नीलाकाश, गगन चुम्बी पर्वत माला, सूर्य चन्द्र आदि का समय पर उदय और अस्त होना, प्रत्येक दो मास के पश्चात् ऋतु का बदल जाना आदि कार्य तथा समय किसके इंगित पर किसके नियन्त्रण में होता है। इन सब कार्यों का प्रवर्तक तथा सूत्रधार कौन है ? स ष्टि चक्र में परिवर्तन क्यों होता है ? म त्यु के समीप जीव किंकर्त्तव्यविमूढ़ की सी स्थिति में क्यों पहुँचता है ? नश्वर मानव का लक्ष्य क्या होना चाहिए आदि ऐसे प्रश्न थे जिसने भारतीय मनीषा को इन पर चिन्तन करने के लिए उकसाया और परिणामस्वरूप जो विकसित चिन्तन धारा निस त हुई उसे ही उपनिषदादि के रूप से उपलब्ध चिन्तन-पराग की संज्ञा प्रबुद्ध अध्येताओं ने दी है।

चिन्तन के इन्हीं विभिन्न पक्षों को स्वीकार कर विभिन्न विद्वानों ने जो स्थापनाएँ स्थापित की उनके आधार पर दर्शन को दो भागों में विभाजित किया गया। परिणामस्वरूप द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि परक विभिन्न विचारधाराएँ सामने आईं और सभी ने तथ्यपरक रुचि रखने वाले मानव समुदाय को प्रभावित किया।

गोस्वामी तुलसीदास जी भी चिन्तकों की इस परम्परा के अनुयायी थे। उन्होंने चिरकाल तक भारतीय आर्ष वाङ्मय का गम्भीर अध्ययन और मनन किया था और उसी अध्ययन मनन का सार 'रामचरितमानस' के रूप में संसार के सामने प्रस्तुत कर स्वयं को चिन्तक दार्शनिकों की परम्परा का सफलतम अनुयायी सिद्ध करने का प्रयास किया था। यद्यपि तुलसी मूल रूप में भक्त ही विशेषतः थे तथापि उनके काव्य में दार्शनिक तत्वों को भी ढूँढने का प्रयास सतत् किया जाता रहा है।

डॉ. माता प्रसाद गुप्त के अनुसार, ''तुलसीदास दर्शन' पर जो भी विचार किया गया है वह सामान्यतया 'रामचरितमानस' पर आधारित है। परन्तु इस कथन से यह अभिप्रेत नहीं है कि उनकी अन्य कृतियाँ दार्शनिक तत्त्वों से विरहित हैं या इस द ष्टि से उनकी उपयोगिता कुछ कम ळै। तुलसी की एतद्विषयक मान्यताएँ विनय पत्रिका में और भी अधिक मुखरित हुई हैं। तुलसी के दार्शनिक विचारों पर द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि में से किसका विशेष प्रभाव है ? यह प्रश्न वस्तुतः बाद में उठाया जाना चाहिए था। परन्तु विद्वानों ने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतवाद के सिद्धान्तों को लेकर तुलसीदास जी की दार्शनिक मान्यताओं को बिना स्वतन्त्र रूप से समझने, सुलझाने का प्रयास किया है। इस प्रयास में अपना पक्ष सुस्थिर करने के लिए खींचा-तानी भी हुई है। इस प्रकार का प्रयास करने वाले महानुभाव प्रायः यह भूलकर कि तुलसीदास जी ने जो कुछ भी कहा है निगमागम सम्मत ही कहा है—''नाना पुराण निगमागम सम्मतयत् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतो पि।'' उनके मतानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास करते द ष्टिगोचर होते हैं, जो सर्वांश में समीचीन नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास जी के कथन में उनकी नवीनता विषय प्रतिपादन शैली की वैयक्तिक्ता स्पष्टतः मुखरित हुई है। इस वैयक्तिक्ता के कारण ही तुलसी विचारधारा को 'तुलसी दर्शन कहा जाता है' विद्वानों ने इसे संगत माना है—

गोस्वामी तुलसीदास जी ने काव्य में यत्र-तत्र उपलब्ध अद्वैत और विशिष्टाद्वैत परक सिद्धान्तों को परिलक्षित कर कुछ विद्वान उन्हें अद्वैतवादी तथा कुछ विशिष्टा द्वैतवादी मानते हैं। गोस्वामी जी किस मत के अनुयायी थे। यह बताने से पूर्व उक्त दोनों मतों के सूक्ष्म अन्तर को जान लेना चाहिए। अद्वैत मत के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण है। उनकी मान्यता है—'सत्यब्रह्म जगन्मिथ्या'। अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है। जीव और जगत् की प थक् सता नहीं है भ्रमवश जीव को जगत की सत्यता का ज्ञान होता है। आत्मा और परमात्मा अभिन्न हैं अतः इसे प्रतिपादित करने के लिए 'सो हम की कल्पना इस मत में विशेष की जाती है। जीव और ब्रह्म की यही ऐक्य ज्ञान ही मोक्ष है।'

'विशिष्टाद्वैत' के पर्वत हैं श्रीरामानुजाचार्य जी। उनके अनुसार ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप के साथ उसका सगुण स्वरूप पर व्यूह, विभव अन्तर्यामी और अंशावतार के रूप में विशिष्ट रूप धारण करता है। श्रीरामानुचार्य जी की यह मान्यता अर्थववेद परक कही जा सकती है, क्योंकि वहाँ भी ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दो प्रकार का प्रतिपादन किया गया है-

"द्वैवाब ब्रह्मणों रूपे मूर्त वैवामूत च"

चिद्-चिद् विशिष्ट ब्रह्म के रूप में जीव और जगत की भी सत्ता है। जीव ब्रह्म का अंश है और वह 'सामीप्य' में भी अपनी सत्ता बनाए रहता है। इसे ध्यान में रखकर ही 'सो हम्' की परिणति यहाँ 'तू और मैं' में की गई है। विशिष्टाद्वैत मतानुयायी माया को भगवान की शक्ति मानकर उसे 'सीता' के रूप में स्वीकार करते हैं और ज्ञान मार्ग का अवलम्बन न करके भक्ति का आश्रय लेते हैं।

तुलसीदास जी क्योंकि विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनुयायी थे अतः उस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का पोषण उनका कर्तव्य था। यह होने पर भी उनकी कृतियों में विभिन्न मत समर्थक सूत्रों को परिलक्षित कर विद्वानों ने इनके मत के सम्बन्ध से जो विचार व्यक्त किए हैं उन्हें भी जान लेना आवश्यक है। महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तुलसी के दार्शनिक द ष्टिकोण के सम्बन्ध में कहते हैं—"दावे के साथ कहा जा सकता है कि शंकर अद्वैत के विरूद्ध पड़ने वाले साम्प्रदायिक विचार रामायण में नहीं हैं।" श्री नगेन्द्र बसु का कहना है कि 'रामायण में कई जगह शंकराचार्य का मत ग्रहण किया गया है।' विजयानन्द त्रिपाठी रामायणी का कथन है—'मानस की अन्तरंग और बहिरंग परीक्षा का यही फल मिला है कि गोस्वामी जी का दार्शनिक विचार विशुद्ध अद्वैतवाद ही है।' बाबू श्यामसुन्दरदास तथा डा० पीताम्बर दत्त वडश्वाल तुलसी दर्शन को अद्वैत से मिलता जुलता

मानते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि गोस्वामी जी के मायावाद और शंकराचार्य जी के मायावाद में स्पष्ट भेद है। शंकराचार्य जी माया का अस्तित्व ही नहीं मानते किन्तु गोस्वामी जी राम के बल पर उसका अस्तित्व मानते हैं। आचार्य शुक्ल का मत है—"परमार्थ द ष्टि ने शुद्ध ज्ञान से अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, लेकिन भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।" डॉ० बलदेव प्रसाद जी मिश्र भी इस मत को स्वीकार करते हैं। पं० केशव प्रसाद मिश्र की मान्यता है कि "यों तो गोस्वामी जी की सामान्य बुद्धि सभी दार्शनिक सिद्धान्तों में अवरोध देखती है, सभी को यथा स्थान महत्व देती है और सभी पक्षों का समर्थन करती है, पर उनके प्रस्थान के अनुरोध तथा ग्रन्थ के उपक्रम तथा उपसंहार के विचार से द्वैत सिद्धान्त और भक्ति पक्ष में ही उसका (दार्शनिक द ष्टिकोण का) पर्यावसान प्रतीत होता है। तुलसी के द ष्टिकोण की कुछ ऐसी ही विशेषता है कि उसमें एक ही साथ परस्पर विरोधी विचारों वाले विद्वानों की जिज्ञासा उसी प्रकार शान्त हो जाती है जिस प्रकार सभी पिपासु जीवों की प्यास गंगाजल से बुझ जाती है, तुलसीदास जी के मत का अध्ययन करने पर विदित होता है कि उन्होंने निर्गुण ब्रह्मवादियों के समान यह भी कहा—

"आदि मध्यान्त भगवन्त तुम सर्वगतमीश पश्यन्ति ते ब्रह्मवादी।
यथा पट-तन्तु, घट-म तिका, सर्प-क्षग, दारु-करि, कनक कटकांगदादि।
वही विशिष्टाद्वैत प्रतिपादित रूप में पर व्यूह, विभव अन्तर्यामी।

अर्चावतार आदि पाँचों रूपों का भी दिग्दर्शन कराया है जो क्रमशः इस प्रकार है—

(1) अनन्त भगवन्त जगदन्त अन्तकत्रास समन श्रीरमन भुग्नाभि रामा (पर)।

(2) ग्यान गोतंति मनुव त्ति हरता (व्यूह)।

(3) भूमि पर भार हर प्रकट परमात्मा ब्रह्म नर रूप घर भक्त हेतु (विभव)।

(4) झूठ क्यों कहौं जानो सभी के मन कौ (अन्तर्यामी)।

(5) निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीति।

गोस्वामी जी दार्शनिक द ष्टिकोण को स्थूल रूप से पांच अंगों में बांटा जा सकता है—(1) ब्रह्म (2) जीव (3) जगत् (4) माया (5) मोक्ष।

ब्रह्म—तुलसीदास जी ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को रूप में अभिकृत किया है। वे कहते हैं—

"अगुन सगुन दुई ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनुपा।

इस निर्गुण रूप की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"अगुन अखण्ड अनन्द अनादी। जेहिं चितहिं परमारथवादी।
नेति नेति जेहिं वेद निरूपा। चिदानन्द निरुपादि निरूपा।।

* * *

"व्यापक व्यापि अखण्ड अनन्ता, अखिल अमोद्य सक्ति भगवन्ता।
अगुन अदभ्रगिरा गोतीता, सब दरसी अनवद्य अजीता।।
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सब सन्दोहा।।
प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी।।

बालकाण्ड के आरम्भ में ही गोस्वामी जी के ब्रह्म विषयक द ष्टिकोण का यत्किचित् आभास मिलने लगता है—

"एक अनोह अरूप अनाभा, अज सच्चिदानन्द परधामा।
व्यापक विश्वरूप भगवाना, तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।।

आगे चलकर वेद स्तुति के ब्याज से उन्होंने अपने ब्रह्म का स्वरूप इसे दर्शाया है–

"बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ विधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानौ बकता बढ़ जोगी।।
तन बिनु बरस नयन बिनु देखा।
गहइ धान बिनु बास असेषा।।
अस बस भाँति अलौकिक करनी।
महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।

आगे चलकर पुनः उतरकाण्ड में उसी ब्रह्म की महिमा उन्होंने इस प्रकार प्रतिपादित की है-

"अगुन अदभ्र गिरा गोतिता, सबदरसी अनवद्य अजीता।
निर्मम निराकार निर्मोही, नित्य निरजन सुख सन्दोहा।।
प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी, बह्म निरीह बिरज अविनासी।
इहाँ मोह का कारन नाहीं, रबि सन्मुख तम कबहुँ की जाहीं।।

तुलसीदास जी ने ब्रह्म की चर्चा श्रीराम के माध्यम से की है। तुलसी के ब्रह्म सगुण भी हैं और निर्गुण भी। इसीलिए जनक के मुख से श्रीराम के लिए 'निरगुन-गुनरासी', सुतीक्षण मुनी के मुख से 'निर्गुण सगुण विषय समरूप', वेदों के मुख से 'जय सगुन निर्गुन रूप-रूप अनूप भूप सिरोभने' तथा सतकादि ऋषियों के मुख से 'जय' निगुर्णन जय जय गुन सागर' आदि कहलाकर उन्होंने अथर्ववेद वेद के इस कथन के प्रति आस्था प्रकट की हैं–'द्वेवाब ब्रह्मणों रूप मूर्त चैवामूर्त च ओर इसे ही द ष्टिगत रखकर उन्होंने लिखा है–

'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा,
गावहिं मुनि पुराण बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई,
भगत प्रेम सब सगुन सो होई।
जो गुन रहित सगुन सोई कैसे,
जलु हिम उपल विलग नहिं जैसे।।'

तुलसी की मान्यता है कि सगुन रूप का यथावत् परिज्ञान सर्वथा दुरूह है। निर्गुण को समझना सहज है परन्तु सगुण को कठिन। इसी कारण करूण सती आदि का मोह हुआ था–

"निर्गुण रूप सुलभ अति सगुण जान नहिं कोइ।
सुगम अगम जाना रचित सुनि मुनि मन भ्रम होई।।"

गोस्वामी जी के अनुसार अनुन, अलख, अरूप, ब्रह्म ही भक्तों की इच्छा पूरी करने के लिए सगुण रूप में धाराधाम में अवतरित होता है–

"अगुन अरूप में अलख अज जोई,
भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।"

समष्टि रूप में निर्गुण ब्रह्म ही सगुण राम के रूप में अवतरित हुए हैं और तुलसी ने उन्हीं के माध्यम से विशिष्टा द्वैतपरक विचारधारा के अनुरूप सगुण राम के माध्यम से ब्रह्म की सभी विशेषताओं से हमें परिचित कराने का स्तुत्य अभय सफल प्रयास किया है। तुलसी के राम निर्गुण पर ब्रह्म का सगुण रूप है। वे विभिन्न प्रकार एक नट क्रिया करता है।

"जथा अनेक वेशधरि न त्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ।।"

माया—श्रीमद् भागवतादि में विद्या माया, अविद्या माया के रूप में माया की विस्त त चर्चा मिलती हैं। वहां भगवान ने अपने श्रीमुख से इन्हें अपना ही अंग प्रतिपादित किया है—'विद्याविद्ये ममतन्। 'माया' दो अक्षरों से बना शब्द है मा + या। संस्कृत में मा का अर्थ है मत, नहीं और या का पहुँचना, जाना। इस प्रकार सीधे रूप में इसका अर्थ है इसके पास न जाओ। परन्तु यदि इसे उलटा कर दिया जाए तो रूप बनता है यामा। यामा का अर्थ है रात्रि। अर्थात् जिस प्रकार निरभ्र आकाश में चन्द्र तारक युक्त रात्रि। अर्थात् जिस प्रकार रात्रि आकर्षक, आह्लादिक होती है उसी प्रकार माया भी है। उसके आकर्षक से बच पाना सहज नहीं है। यही परिलक्षित कर कबीरदास जी ने कहा था—

"माया दीपक नर पतंग भ्रमि इवै प न्त,
कहै कबीर गुरू, ज्ञानतें एक आध उबरन्त।

तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में माया की चर्चा कई स्थानों पर की है—बालकाण्ड में मनु-शतरूपा के वरदान सर्ग में वहाँ यह वर्णन श्रीमद्भगवत् गीता के अनुसार है। गीता में भगवान् कहते हैं—

'प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया'।

मानस में गोस्वामी जी भगवान् के मुख से कहलाते हैं-

'आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया, सोउ अवतारिहि मोरि यह माया।'

अरण्य काण्ड में लक्ष्मण के साथ राम द्वारा भक्ति योग की चर्चा में उत्तरकाण्ड में गरुड़-काक भुसुण्डी संवाद में। माया को गोस्वामी जी ने भगवान की परमशक्ति, त्रिगुणात्मक रूप में प्रतिपादित करते हुए उसे राम के अधीन बताया है। उन्होंने बताया है कि यह माया संसार में क्रियाशील है और इसी के कारण मिथ्या जग सत्यवत् प्रतीत होता है। यह सम्पूर्ण विश्व माया के वशीभूत है।

"मैं अरु मोर तैं माया। जेहि बस कीन्है जीव निकाया।
गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु माई।।
तेहिकर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव पराभव कूपा।।
एक रचै जग गुन बस जार्कें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल तार्कें।।

अद्वैतमत में 'माया' और 'अविद्या' को एक दूसरे का पर्यायवाची माना जाता है। विशिष्टाद्वैत मत इसे स्वभावतः सगुण ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति प्रतिपादित करता है। तुलसी दास ने दोनों के समन्वित सिद्धान्त को स्वीकारा है। उन्होंने सीता को मूल प्रकृति, महामाया अवतार भी कहा है और रमा को भी। तुलसीदास जी की शब्दावली पर विचार करने पर वे भक्ति का मूर्तिमान रूप भी प्रतिभासित होती है। काक भुसुण्डी जी एक स्थान पर कहते हैं—

"हरि सेवक हिं न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापहि तेहिं विद्या।
तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बढाइ बिहंगवर।।"

तुलसीदास जी ने भक्ति और माया का अलग-अलग वर्णन कर माया को नर्तकी (भगवान की रखैल) तथा भक्ति को भगवान की प्रियतमा (ब्याहता) प्रतिपादित किया है–

"पुनि रघुबीर भगति पिटारी। माया खलु नर्तकी विचारी।
भगतिहिं सानुकूल रघुराय। तातें तेहिं डरपति अति माया।।"

यह माया सबको नचाती है परन्तु स्वयं राम के इंगित कर नाचती है–

"जो माया सब जगहिं नचावा, जासु चरित लखि काहु न पावा।
सोइ प्रभु भ्रू बिलासा खगराजा, नाच नटी इसे सहित समाजा।।"

गोस्वामी जी माया को अत्यन्त दुस्कर मानते हैं–

"माधव ! अस तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय, तरिय नाहिं, जब लगि करहु न दाया।"

इसके मोह-पाश से भगवत्कृपा से ही छुटकारा मिल सकता है। ईश्वर तथा जीव के मध्य असत्य भेद का कारण माया ही है। यह असत्य भेद बिना प्रभु कृपा दूर होना असम्भव है। सारा संसार माया से व्याप्त है। माया का परिवार प थुल है। धन, स्त्री, पुत्र, कीर्ति, अभिलाषा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अलंकार आदि इनके परिजन हैं। इसकी प्रबलता कैसी है ? इस सम्बन्ध में उतरकाण्ड में गोस्वामी जी कहते हैं–

"व्यापि रहेउं संसार महुँ माया कटक प्रचण्ड।
सेनापति कामादि भर दम्भ काट पाखण्ड।।"

वैसे तात्विक द ष्टि से यह माया मिथ्या है परन्तु इसका पाश इतना प्रबल है कि उससे छुटकारा ईश्वर कृपा बिना सम्भव ही नहीं। ईश्वर के सम्बन्ध में भी मोह कारण माया ही है। भगवान श्रीराम की भक्ति ही जीव माया के चंगुल से उद्धार कर सकती है। भक्त में इसका प्रवेश नहीं होता अतः तत्व ज्ञानी, भक्ति की ही याचना करते हैं जिसके प्रभाव से वे माया के पास से मुक्त हो सकें–

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संस ति मूल अविद्या नासा।।

जीव–भारतीय दर्शन में मूलतः जीव के केन्द्र बिन्दु पर विचार किया गया है। जीव को स्पष्टतः अंश माना गया है और ईश्वर को अंशी। श्री वल्लभाचार्य जी ने 'स्फुल्लिंग इवाग्नेस्तु' के रूप में अंगार और उससे अद्भुत चिनगारियों के द्वारा ईश्वर और जीव की स्थिति को दर्शाया है। जीव की अत्यधिक दुःख निव ति ही जीव के जीवन का मूलोदेश्य है। जीव नाना प्रकार के दैहिक दैविक, भौतिक तापों से पीड़ित है। माया के प्रभाव से अपने स्वरूप को भूलकर देह को ही सब कुछ मान बैठना उसके दुःख का कारण है। वर्षा वर्णन के अन्तर्गत गोस्वामी जी इसका संकेत इस प्रकार देते हैं–

"भूमि परत का डाबर पानी, जिसि जीवहिं माया लपटानी।।"

गोस्वामी जी ने कर्म भेद से जीव तीन प्रकार के माने हैं–

'विषमी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जंग बखाने।'

जीव क्या हैं ? इसकी चर्चा करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि जीव ब्रह्म की भाँति नित्य है। जन्म-मरण से परे हैं और पाँच भौतिक शरीर से सर्वथा विलग है। भगवान् राम के मुख से तारा विलाप प्रसंग में गोस्वामी जी ने कहलाया है–

"छिति जल पावक गगन समोरा। पंचरचित अधम सरोरा।
प्रकट सो तनु तब आगे सोवा। जीव नित्य कहि लोग तुम सरोरा रोवा।।

जीव ईश्वर का अंश अतएव अविनाशी है—'ईश्वर' अंस जीव अविनासी' ईश्वर और जीव का भेद माया जनित है जो एक रस ज्ञान की प्राप्ति होने पर समाप्त हो सकता है—

"ग्यान अखण्ड एक सीताबर, माया बल्य जीव सचराचर।
जा सबके रह ग्यान एक रस, ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस।।

दोनों में भेद मात्र इतना ही है कि अज्ञानान्ध जीव माया के वश में होता है तथा माया ईश्वराधीन है—'माया वस्य जीव अभिमानी है। ईस बस्य मायागुन खानी'। दूसरे शब्दों में जीव मायावश होता है और ईश्वर स्वतन्त्र—

'पर बस जीव स्वबस भगवन्ता, जीव के अनेक एक श्रीकान्ता।'

यह सब चिन्तन न्याय सम्मत है। तर्क संग्रह में भी अन्नम भट्ट ने जीवात्मा के सम्बद्ध में लिखा हैं—

'ज्ञानाधिकरणात्मा। स द्विविधः परमात्मा जीवात्माचेति।
तत्रेश्वरः सर्वज्ञः मरमान्मैक एव।
जीवात्मा प्रति शरीरं भिन्नो विमुर्नित्यश्च।'

जीव को जब आत्मा अनुभव होता है और भव-मूल भेद भ्रम नष्ट हो जाता है तब ईश्वर और जीव में कोई भेद नहीं रहता। यह भ्रम होता है हरि भक्ति से। माया के बन्धन में पड़ा जीव कर्म फल भोगता है—

'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।' तथा 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करह तो तस फलु चाखा।' माया के वश में पड़ा जीव कर्म ही नहीं काल और गुणों से भी बँधा भव-भँवर में फँस उभ चूस करता रहता है।..... भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कम गुननि भरे।' वह हर्ष विषादादि में उलझा रहता है—'हरष विषाद ग्यान अग्याना, जीव धर्म अहमिति अभिमाना। और इनके परिणामस्वरूप लख चौरासी में भटकना ही उसकी नियति रह जाती है। परन्तु क्योंकि जीव का लक्ष्य है मोक्ष अतः उसकी लालसा उसे आकुल बनाए रखती है। अवश्य, परन्तु बिना भक्ति, बिना हरि कृपा यह सुलभ नहीं होती। तुलसीदास जी ने मानस उत्तरकाण्ड में जी की स्थिति और अधिक उजागर की है। माया के आवरण से मुक्त होने तथा आत्म ज्ञान के लिए जीव के समक्ष एक ही उपाय गोस्वामी जी बताते हैं और वह उपाय है भगवान् के चरण कमलों में अविचल भक्ति।

जगत—श्री शंकराचार्य जी ने ब्रह्म से प थक् जगत् को सत्ता स्वीकार नहीं किया हैं। वे निज विवेक चूड़ामणि के 237 वें श्लोक में जगत् के सम्बन्ध में अपना द ष्टिकोण इस प्रकार उजागर करते हैं—

"अतः प थङ् नास्ति जगत्परात्मनः।
प थक प्रतीतिस्तु म षा गुणाहिवत्।।
आरोपित स्यास्ति किमर्थवता।
धिष्ठानमभाति तथा भ्रमेण।।

अर्थात् जगत् परमात्मा से प थक है ही नहीं। उसकी प थक प्रतीति तो रज्जु में सर्प की प्रतीति की भाँति मिथ्या ही है। आरोपित वस्तु की वास्तविकता ही क्या ? वस्तुतः यह तो अधिष्ठिान ही भ्रम से उस पर प्रतीत हो रहा है। गोस्वामी जी ने इस जगत् का मूल कारण परब्रह्म राम को ही मानकर लिखा हैं—

"प्रकृति महतत्व, शब्दादि गुण देवता,
व्योम मरुदग्नि अमलाम्बु उर्वी।
बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्राण, चितात्मा,
काल परमाणु, चिच्छक्ति गुर्वी।
सर्व मेवात्रत्द्रप भूपालमणि,
व्यक्त मव्यक्त, गत भेद विष्णो।"

अर्थात् मूल प्रकृति, महतत्व, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्व--रज, तम गुण, समस्त देवता, आकाश, वायु, अग्नि, निर्मल जल, प थ्वी, बुद्धि, मन, दसों इन्द्रियाँ, प्राण, अपान आदि पंच प्राण, चित्त, आत्मा, काल, परमाणु आदि पदार्थ आपका ही रूप हैं। अन्यत्र गोस्वामी जी ने अपने उक्त कथन की पुष्टि इस रूप में की है—'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।' मन्दोदरी के द्वारा भी गोस्वामी जी ने अपने विचारों की पुष्टि कराई है। मन्दोदरी रावण को समझाते हुए कहती हैं—

'विस्व रूप रघुवंशमणि कर बहुवचन विस्वासु।
लोक कल्पना वेद कर अंग अंग प्रतिजासु।'

तुलसीदास जी की मान्यता है कि राम की प्रेरणा से ही माया पंचभूतों को उत्पन्न करती है और फिर उन्हीं से स्थावर जंगमात्मक जगत् उत्पन्न होता है—तब प्रेरित माया उपजाए।' राम की माया के कारण ही रस्सी में सर्प के भ्रम की भाँति यह सारा द श्य जगत् सत्य ही प्रतीत होता—

"जासु सत्यता में जड़ माया,
भास सत्य इत मोह सहाय।"

तुलसी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों गोस्वामी जी की जगत् सम्बन्धी मान्यताओं को तीन भागों में बांटा है। जहाँ गोस्वामी जी जगत् को असत्य मानते हैं, वहाँ उनका कथन है—

"झूठी है, झूठी है, झूठी सदाजगु, सन्त कहनत जे अन्तुलहा है।
ताको सहै, सठ ! संकट कोटिन, काढ़त, दन्त, करता हदा है।

तथा **"जग नभ वाटिका रही है फली-फलि फूलि रे।" एवं**

"उमा कहउं में अनुभव अपना, सत हरि भजन जगत तब सपना।"

जहाँ उन्होंने जगत को राम का रूप स्वीकार कर उसे सत्य माना है वहाँ उन्होंने जगत राममय तथा उनका अंग रूप स्वीकार कर उसकी नित्यता प्रतिपादित की है। वहाँ वे भागवत के इस श्लोक से प्रभावित द ष्टिगोचर होते हैं—

"खावायु मग्नि सलिल महींच ज्योतींबि सत्वानि दिशो द्रुमादीन।
सरित्समुद्रशच हरेशशरीरं यकिंत्कच भूतं प्रणमेदनन्यः।

जहाँ वे कहते हैं कि जगत को सत्य, असत्य अथवा उभय रूप में स्वीकार करना भी भ्रम है, वहाँ वे लिखते हैं—

"केशव ! कहि न जाइ का कहिये।
देवत तब रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये।।"

* * *

"कोऊ कह सव्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोऊ माने।
तुलसीदास परि हरै तीन भ्रम, सो आपन पहचाने।।"

मोक्ष—पुरूषाथे चतुष्ठम अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में मोक्ष का स्थान अत्यन्तम है। जीव का अन्तिम काव्य यही है। मोक्ष से अभिप्रेत 84 लाख योनियों में आवागमन के चक्र तदा तद्-तद् योनियों के श्लेष से मुक्ति अथवा छुटकारा पाना। इसके महत्व का प्रतिपादन गोस्वामी जी ने मानस के अरण्य काण्ड में इस प्रकार किया है—

"त्रटते ज्ञानान्नमुक्तिः"

आगे चलकर उत्तरकाण्ड में गोस्वामी जी ने ज्ञान मार्ग को अतीव कठिन बताते हुए लिखा है—"ज्ञान कौ पन्थ कृपाण कै धारा।" हाँ यदि सावधानीपूर्वक इस मार्ग पर चला जाए तो मुक्ति सुनिश्चित है यह मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है परन्तु भगवत् भक्ति से सहज सुलभ है। जिस प्रकार जल बिना प थ्वी के आधार पर नहीं टिका सकता। उसी प्रकार मोक्षसुख भी प्रभु भक्ति छोड़कर नहीं रह सकता। भगवान के भक्त इसीलिए मुक्ति का तिरस्कार करके भक्ति की साधना में निमग्न रहते हैं। श्रीमद् भागवत में भगवान कहते हैं कि मैं मुक्ति तो अनायास दे देता हूँ परन्तु भक्ति नहीं—

'मुक्तिं ददाति कहिं चित्स्मन न तु भक्ति योगम्।' तुलसीदास जी भी इस दुर्लभ वस्तु मोक्ष के लिए अनुराग रखते थे यह निर्विवाद है।

उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करने पर विदित होता है कि तुलसीदास जी पर अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद दोनों का प्रभाव था, परन्तु उन्हें किसी विशेष सम्प्रदाय से सम्प क्त न कर यह मानना अधिक संगत होगा कि वे उस राम भक्ति पथ के अनुयायी थे जो ज्ञान और निर्गुण का विरोधी नहीं था। वे समन्वयात्मक द ष्टिकोण रखते थे और शिव तथा राम के अभेद द्वारा सामाजिक विरोध को दूर हटा, सगुण की लीलाओं के द्वारा ऐसी शिक्षा समाज को देना चाहते थे, जिससे यह लोक और परलोक दोनों ही उसके लिए सुखद बन सकें। उन्होंने अपने मत अथवा पथ के सम्बन्ध में अपना तात्विक मन्तव्य इस प्रकार दिया है—

"श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संयुत विरति विवेक।"

अध्याय 5
युगीन परिस्थितियाँ

तुलसीदास की युगीन परिस्थितियाँ

विषय प्रवेश

साहित्य मानव समाज की भावात्मक स्थिति एवं गतिशील चेतना की अभिव्यक्ति है। अतः उसके प्रेरक तत्व के रूप में मनुष्य के परिवेश का बहुत महत्व है। किसी साहित्यकार या काल के साहित्य को समझने के लिए उस परिवेश को ठीक प्रकार से समझना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसी द ष्टि से तुलसी के साहित्य को समझने के लिए तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों को जानना अपेक्षित है।

राजनीतिक स्थिति

दिल्ली के सिंहासन पर सन् 1526–1530 ई० बाबर; सन् 1530 से 1539 ई० तथा 1555–1556 ई० तक हूमायुँ; सन् 1556 से 1605 ई० तक अकबर सन् 1605 से 1628 ई० तक जहाँगीर तथा 1628 से 1658 ई० तक शाहजहाँ आदि मुगल सम्राटों ने शासन किया। सन् 1539 से लेकर 1555 तक दिल्ली का सिंहासन शेरशाह सूरी और इस्लामशाह सूरी आदि सूरी-वंश के शासकों के आधिपत्य में रहा। मुगल साम्राज्य के बीजारोपण के समय दिल्ली का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था, बड़े-बड़े सूबों के प थक-प थक राजा थे, छोटे-छोटे जिले यहां तक कि प्रत्येक शहर या किले का स्वामित्व किसी बड़े सरदार या घराने के हाथों में था। उनके ऊपर कोई अधिकारी न था। मध्यप्रदेश में राजपूती वीरता का ह्रास हो चुका था और मुसलमान भारत में शासक वर्ग के रूप में बस गये थे। जो प्रदेश हिन्दुओं के अधिकार में थे वे भी अपनी सत्ता बनाये रखने में प्रयत्नशील थे। राजनीति के अनिश्चय के इस काल में हिन्दू जनता विशेष आतंकित थी। मुगलों के शासनकाल से पहले उत्तरी भारत में अत्याचारी, सत्तालोलुप तथा घोर साम्प्रदायिक दास, खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी वंशों के पठान शासक दिल्ली के सिंहासन पर आसीन रह चुके थे। वस्तुतः उनके राज्य का आदर्श इस्लामी कानूनों पर आधारित था। अतः उल्माओं की प्रेरणा से मुस्लिम शासकों ने या तो हिन्दुओं को इस्लाम स्वीकार करने के लिए विवश किया या उन्हें मौत के घाट उतारने का यत्न किया। बाबर अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति अपने समय के किसी भी कट्टर सुन्नी मुसलमान से अधिक उदार नहीं था।

बाबर, हुमायूँ एवं अकबर आदि ने अपने राज्य विस्तार के सन्दर्भ में राजपूतों से लोहा लिया। भारत में मुगल साम्राज्य के वास्तविक संस्थापक अकबर को वस्तुतः हिन्दुस्तान को अपने आधिपत्य में लाने के लिए बीस वर्ष तक भीषण संघर्ष करना पड़ा। अकबर के प्रयत्नों से कितने ही हिन्दू राजाओं ने उसका आधिपत्य स्वीकार किया। आमेर के राजा बिहारीमल अकबर के दरबार में आये। अपनी कन्या को सहर्ष उन्होंने राजा को भेंट के रूप में प्रस्तुत किया। सम्राट ने उसे स्वीकार किया। उससे पहले भी उनके हरम में कई राजपूत नारियाँ, रानियों के रूप में विद्यमान थीं। अकबर का हरम और भी कितनी ही हिन्दू नारियों से भरा था। जहाँगीर के हरम में भी राजा उदयसिंह, राजा राय सिंह, मानसिंह के ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह एवं रामचन्द्र बुन्देला आदि की बेटियां पहुँच गई थीं। इससे स्पष्ट है कि हिन्दुओं की विवशता उस समय परिस्थितियों के कैसे चक्र में पड़ी हुई थी। मेवाड़ का शासक राणा प्रताप इसका अपवाद था। उसने अपने पराक्रम एवं

देशभक्ति के कारण भारत के मुख-मण्डल को सदा के लिए आलोक से मण्डित किया। दमनकारी यवन शासकों की अनीति और साम्राज्यवादी प्रव त्ति को लक्षित करते हुए तुलसी ने रावण के दुराचार के सम्बन्ध में कहा है—

"भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेंसि कोउ न सुतन्त्र।
मण्डलोक मनि रावन राज करहु निज मन्त्र।।"

रावण ने अपने भुजबल से अनेक जातियों को कुमारियों और अन्य उत्तम स्त्रियों को जीतकर अपनी पत्नी बना लिया था। इसका वर्णन करते हुए तुलसी ने मुगल राजाओं के अन्तपुर की ओर निगुढ़ संकेत किया है—

"देव जच्छ गन्धर्व नर किंनर नाग कुमारी।
जीत बरी निज बाहुबल बहु सुन्दर नर नारी।।"

कवितावली में तुलसीदास ने अनेक दोहों में तत्कालीन शासकों की अनीतिपूर्ण शासन पद्धति, प्रजा की दुर्दशा और राजकर्मचारियों की कुटिलता का विशद वर्णन किया है। 'रामचरितमानस' और 'विनय पत्रिका' में आए हुए कलियुग वर्णन में भी तुलसी ने तत्कालीन राजनीतिक दुर्दशा का चित्र प्रस्तुत किया है—

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल की पूर्व पीठिका का विश्लेषण करते हुये कहा है—"मुगल शासकों ने पूर्ववर्ती सुल्तानों की शासकीय कमियों से सजग होकर उनसे अपना बचाव किया और शासन व्यवस्था को सुद ढ़ बनाया। बाबर की योग्यता और सजगता ने सफल बनाने में उसे पर्याप्त सहायता पहुँचायी। वैसे मुगलों में अकबर का राज्यकाल सभी द ष्टियों से सर्वोपरि रहा है और उसे अभीष्ट को पाने में बहुत कुछ सफलता भी मिली। उसने भरसक पक्षपात रहित बने रहने का यत्न किया। उनके शासनकाल में नागरिकों को सेना की मनसबदारी पाने तक की छूट सुलभ थी। फौजदारी मुकद्मों का फैसला काजी लोग किया करते थे किन्तु न्याय का सर्वोच्च अधिकार स्वयं उसकी सत्ता में निहित था। उसकी सेना तत्कालीन सभी उपकरणों से युक्त थी। सम्राट अपने अधिकारों का दुरुपयोग कभी नहीं करता था। उसने शेरशाह की योजनाओं से भी लाभ उठाया था। जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी बहुत कुछ अकबर का अनुसरण किया। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा प्रस्तुत की गयी और शेरशाह द्वारा पुष्ट की गई सैन्य योजना तथा यातायात की सुव्यवस्था को अकबर ने भी किसी न किसी रूप में अपना लिया। शेरशाह द्वारा खेतों को नापकर भी युक्ति संगत नियमों द्वारा मालगुजारी का निर्धारण किया। जमा, कर लगाते समय सावधानी बरतना और पक्षपात रहित होकर कर की वसूली करना उसकी सफलता में सहायक बने। अकबर ने टोडरमल की सहायता से भू-व्यवस्था में आवश्यक संशोधन किए और ऐसी व्यवस्था ला दी कि वह नई लगने के साथ लोकप्रिय भी बन गई। राज्य कर के रूप में पूरी आय का त तीयांश लिया जाने लगा और दसवर्षीय योजना के अनुसार लगान की सालाना वसूली की जाने लगी। जजिया और तीर्थ कर उठा दिये गए, जिसका हिन्दू जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। अकबर के शासनकाल में तांबे, चाँदी ओर सोने के सिक्कों का प्रचलन हुआ। टकसालों का सुधार अकबर के शासनकाल में ही सम्भव हुआ।" शाहजहाँ ने बिना समझे बूझे लगान की रकम बढ़ाने के कारण अपने दीवान सादुल्ला खाँ को बुरी तरह फटकारा था और कर वसूल करने वाले फौजदार को पद से हटा दिया था।

लेकिन इस सत्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि मुगलों का शासन प्रकृतितः सैनिक शासन था। इसमें राजसत्ता की एक तन्त्र केन्द्रीयता अत्यधिक थी। समस्त शासन प्रणाली का सूत्र व्यक्ति विशेष में होने के कारण उसका लक्ष्य नितान्त संकीर्ण और भौतिक था। आधुनिक युग की भाँति न्याय की व्यवस्था नहीं थी। यहाँ की जनता को रंच मात्र का भी स्थानीय अधिकार नहीं था।

सभी प्रकार के सामाजिक कार्यों में प्रमुखता मुगल शासन प्रणाली की मुख्य प्रव ति होने के कारण तुलसी के समकालीन समाज के लिए अवनति के गर्त का द्वारा उन्मुक्त था।

सामाजिक स्थिति

राजनीतिक और सामाजिक विवशताओं के कारण हिन्दुओं में बाल विवाह भी प्रचलित था। मुसलमानों के प्रभाव से उच्च स्तरीय हिन्दुओं में भी बहु विवाह तथा पर्दा-प्रथा का प्रचलन था। हिन्दू स्त्रियों में पर्दा-प्रथा के दो कारण थे—एक तो शासक वर्ग की स्त्रियों के अनुकरण की प्रव त्ति, दूसरे अपनी सामाजिक मर्यादा और शील की रक्षा के लिए पर्दे का प्रयोग सुरक्षा साधना के रूप में करना। भारतीय समाज जिन तत्वों के ताने-बाने के साथ निर्मित हुआ था उनमें वर्णों और जातियों का विशिष्ट स्थान है। समय-समय पर विभिन्न विश्वासों रीति-रस्मों और आचार-विचार वाले शक, हूण, यवन आदि भारत में आये। आरम्भ में विजित और विजेता में जो संघर्ष विद्यमान रहता था वह कालान्तर में सामंजस्य और समन्वय की भावना के कारण लुप्त हो जाता था। किन्तु इस्लाम धर्म के अनुयायियों में आस्था विश्वास, आचार-विचार, और जीवन प्रणाली की कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जो आपसी मेल मिलाप में बाधक थीं। इनसे सामंजस्य एवं समन्वय की प्रक्रिया में तीव्रता न आ पायी। फलस्वरूप तीनों के पक्षों के बीच परस्पर सन्देह, जुगुइत्सा और पवित्रता और अपवित्रता-जनित भेदभाव बलवान हो उठा। जो इस्लाम भ्रात भाव का सन्देश लेकर चला था, उसका द्वार कुछ शर्तों पर सब के लिए खुला था। हिन्दुओं ने धर्म परिवर्तन की शास्त्रीय व्यवस्था नहीं थी। अतः धर्म परिवर्तन उनके संस्कारों के विरूद्ध था। इस बीच धर्म-परिवर्तन के दो उदाहरण मिलते हैं, वे धर्म प्रेरित न होकर स्वार्थ या बलात्कार के परिणाम थे।

हिन्दू समाज में वर्णाश्रम धर्म का उचित पालन नहीं हो पाता था। फलस्वरूप जातियों-उपजातियों की संख्या में व द्धि हो गई थी। छूआछूत के नियम इतने कठोर थे कि शुद्रादि जातियों में परस्पर भेदभाव बरता जाने लगा था। भारतीय मुस्लिम समाज की अवस्था इस सन्दर्भ में हिन्दुओं से अधिक भिन्न न थी। सैयद, शेख, मुगल, पठानों में तथा सुन्नी एवं शिया सम्प्रदायों में हिन्दू संस्कारों से युक्त धर्मान्तिरित मुसलमानों में आपसी भेद-भाव था। मुस्लिम महिलाओं की स्थिति हिन्दू स्त्रियों से अधिक भिन्न न थी। बहु विवाह प्रथा के कारण हरमों में इनकी दुर्गति हुआ करती थी। फिर भी स्त्री शिक्षा की व्यवस्था थी और कला साहित्य के निर्माण में स्त्रियों का योगदान रहा करता था।

तत्कालीन भारतीय समाज सुविधा सम्पन्न और असुविधा ग्रस्त वर्गों में विभाजित था। सुल्तान, राजा-महाराजा, सामन्त, सेठ-साहूकार एवं अमीर प्रथम वर्ग में आते थे जो सूती और रेशमी वस्त्र पहनते थे और बहुमूल्य आभूषणों को पहनते थे। द्वितीय वर्ग में किसान, मजदूर, सैनिक और घरेलू उद्योग-धन्धों में लगी सामान्य जनता आती थी, जिन्हें न तो कोई स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का अवसर प्राप्त था न ही यथेष्ट पारिश्रमिक मिला करता था। गोस्वामी तुलसीदास कृत 'कवितावली' की निम्न पंक्तियों में तद्युगीन परिस्थिति का सशक्त चित्रण द्रष्टव्य हैं—

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भली,
बनिक को न बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई, का करी।।"

आर्थिक स्थिति—मुगलों के शासनकाल में सामान्य जनता की आर्थिक स्थिति दयनीय थी। उच्च वर्ग के लोग महलों में निवास करते थे जबकि निम्न वर्ग के लोग झोपड़ियों में रहते थे। उच्च अधिकारियों को अकबर के शासन काल में जितना वेतन मिलता था उतना आज भी भारत में और विश्व में कहीं नहीं दिया जाता। लेकिन इसके विपरीत किसी विशेष योग्यता से रहित नौकर को लगभग डेढ़ रूपये माहवार मिलता था और पश्चिमी तट के क्षेत्र में शायद दो रूपये।

डॉ० सत्यप्रकाश संगर ने भी लिखा है कि—"किसानों की दुर्दशा मजदूरों से भी बढ़कर थी। गरीब किसानों से लगान कठोरता से वसूल किया जाता था और जब वे नहीं दे पाते थे तो उनकी स्त्रियों और बच्चों को गुलाम बना लिया जाता था।" मुगल काल में अनेक बार अकाल पड़े। बच्चे एक-एक रूपये से भी कम दाम पर बेच दिये जाते थे। उस युग में गुलामी प्रथा प्रचलित थी। तत्कालीन स्म तियों के अनुसार दासों की चार कोटियां थीं—जन्मजात, क्रोत, अपहृत या कहीं से प्राप्त, अपने यहां उत्पन्न। जो किसान राजस्व अदा नहीं कर पाते थे उन्हें परिवार सहित दासता की बेड़ी पहना दी जाती थी। अतः लगान वसूल करने वाले छोटे-छोटे कर्मचारी लुटेरों की भांति दीन किसानों को नोचते खसोटते थे।

धार्मिक स्थिति

इस काल में मुसलमान प्रायः देश के शासक वर्ग के रूप में बस चुके थे। हिन्दू धर्म पर इस्लाम का जबरदस्त आक्रमण हो रहा था। इससे हिन्दू जाति की कठोरता एवं संकीर्णता में व द्धि हुई। इस कठोरता से पीड़ित वर्ग ने एक नवीन मत की स्थापना की जिसका रूप इस उक्ति में निहित है—

"जाति पांति पूछैं नहि कोई,
हरि को भजे सो हरि का होई।"

एक और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए तद्युगीन ब्राह्मण अन्धविश्वासों एवं अनाचारों का प्रचार कर रहे थे तो दूसरी ओर बौद्ध-सिद्ध और नाथ योगी भ्रष्ट होकर अपनी कामेच्छा की पूर्ति के यत्नों में लगे थे। ऐसे ही समय प्राचीन भागवत धर्म के नवोद्भावति, भक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य एवं उनके अनुयायी तथा वैष्णव सम्प्रदाय के अन्यान्य अधिष्ठाय सर्वश्री विष्णुस्वामी, वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ, हितहरिवंश आदि ने अपने प्रयत्नों से हिन्दू धर्म को मिटाने से रोका। इससे प्राचीन वैष्णव-भक्ति के अवतारवाद के आधार पर रामभक्ति और कृष्णभक्ति का नवीन रूप में विकास हुआ। दक्षिण भारत में उस समय वैष्णव भक्ति आन्दोलन को साथ-साथ शैव भक्ति आन्दोलन का भी प्रचार एवं प्रसार हो रहा था। हिन्दू जाति के संकीर्ण घेरे को तोड़कर एक ऐसे सामान्य भक्ति मार्ग की आवश्यकता को कुछ लोगों ने महसूस किया जिसे हिन्दू, मुसलमान, छूत-अछूत, ऊँच नीच सभी अपना सकें। यही आगे चलकर निर्गुण सन्त मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस्लाम धर्म और हिन्दू में सामंजस्य स्थापित करने तथा उन दोनों धर्मों के मतभेद की खाई पाटने का सशक्त प्रयत्न तब सन्त कबीर एवं जायसी आदि ने किया।

अपने युगीन समाज की धार्मिक दुर्दशा का जो चित्रण तुलसी ने किया है उससे पता चलता है कि देवस्थल एवं तीर्थस्थल नाना प्रकार के अनाचार एवं छदम् के अड्डे थे, उनकी दशा चिन्तनीय थी—

"सूर सदननि तीरथ पुरिन, निपट कुचालि कुसाज।
मनहु मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज।"[1]

ब्राह्मण अपने कर्तव्यों को भूलकर नाना प्रकार के राग-द्वेषों के केन्द्र बन गए थे। उनकी व द्धि पंकिल हो गयी थी—

"प्रभु के वचन वेद-बुध-सम्मत मम मूरति महादेव भई है।
तिन्हकी मति रिस-राग-मोह-मद-लोभ-लालची लीलिलई है।"[1]

* * *

"द्विज श्रुति-बेचक भूप प्रजासन।
कोउ नहिं मान नियम अनुसासन।"[2]

विविध पन्थों के प्रसार के कारण लोग प्राचीन वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा से दूर होते जा रहे थे, वेद शास्त्रों के निन्दकों की संख्या उतरोत्तर बढ़ रही थी–

"दभिन निज मत कलपि करि प्रकट किये बहु पंथ।"[3]

* * *

"बरन-धरम नहिं आस्त्रम चारी।

श्रुति-विरोध-रत सब नर नारी।।[4]

तत्कालीन समाज में योगियों को प्राप्त विशेष प्रतिष्ठा तथा योग जगाने आकांक्षा का चित्रण तुलसी ने निम्न पंक्तियों में किया है–

"गोरथ जगायो जोग, भगति भगायो लोग,

निगम नियोग ते सो कलि ही घरो सो है।"[5]

* * *

"जाके नख अरु जटा विलासा।

सोइ तापस प्रसिद्ध कलि काला।।"[6]

* * *

"असुभ वेष, भूषन धरे भच्छायच्छ जे खाहिं।

तेह जोगी तेह सिद्ध नर पूजित कलिजुग माहिं।।"[7]

सूफियों एवं कबीर पंथियों द्वारा हिन्दू धर्म पर किए जा रहे आघातों का चित्रण तुलसी ने किया है।

"साखी सबदी दोहर, कहि किहनी उपखान।

भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेद-पुरान।।"[7]

सांस्कृतिक स्थिति

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार भक्तिकालीन सांस्कृतिक चेतना को सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक चिन्ताधारा के माध्यम से हुई है। कला, शिल्प, साहित्य और संगीत इन्हीं की अनुषंगिक उपलब्धियाँ हैं। समन्वय साधना इस युगीन भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख प्रव ति है। शैव एवं वैष्णव धर्म साधना के बीच समन्वय, बौद्ध जैन एवं हिन्दुओं के विश्वासों में समन्वय, हिन्दू एवं इस्लाम धर्मों के बीच समन्वय के प्रयास इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। अन्याय क्षेत्रों की भाँति मध्यकालीन कला क्षेत्र में भी समन्वय की प्रव त्ति जाने अनजाने काम कर रही थी और इस प्रकार भारतीय कला में एक नया मोड़ आ गया था। ताजमहल का निर्माण, राजस्थानी एवं ईरानी चित्रकला शैलियों के मेल-जोल से विकसित मुगल चित्रकला शैली, सूफियों की कव्वालियाँ तानसेन एवं बैजूबावरा आदि द्वारा प्रवर्तित गायन पद्धति आदि कला क्षेत्र में प्रस्तुत किए गए समन्वय भावना के कतिपय उदाहरण हैं।

साहित्यिक स्थिति

इस काल में मुक्तक काव्य, खण्ड काव्य एवं प्रबन्ध काव्य लिखे गये। भाषा के क्षेत्र में अवधी एवं ब्रज दोनों भाषाओं में विपुल साहित्य का स जन हुआ। मध्यकालीन कवियों ने तत्कालीन विषम राजनीतिक स्थिति के प्रति अपनी आक्रोशपूर्ण पीड़ा की अभिव्यक्ति अपने काव्य में की है। इस सन्दर्भ में विद्यापति, कुम्भनदास, दामोदरदास (सेवक जी), हरिराम व्यास और तुलसीदास उल्लेखनीय हैं।

सगुणोपासक साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दू समाज को विधत्य एवं उत्पीड़न से बचाने का प्रयास किया। सगुणोपासकों की समन्वय की भावना मुख्यतः हिन्दू समाज के विभिन्न घटकों को ही संगठित करने तक ही सीमित थी। निर्गुणोपासकों ने अपने द ष्टिकोण की व्यापकता के कारण हिन्दु और मुसलमान दोनों धर्मों के लोगों को संगठित करने का प्रयास किया। उन्होंने उदात्त मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा द्वारा जाति, सम्प्रदाय और धर्म के भेद को मिटाने और मनुष्य यात्र को समन्वय के सूत्र में गूंथने की चेष्टा की। मुसलमानों को भी हिन्दुओं की ही भाँति भारतीय समाज का अभिन्न अंग मान लेने के कारण निर्गुणोपासकों ने अपने साहित्य में मुसलमान शासकों के अत्याचारों के प्रति सगुण भक्तिधारा के कवियों की भाँति तीखी प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की। उन्होंने दोनों की वर्गों की दुर्बलताओं पर प्रहार करके पूरे समाज को सुधारने की चेष्टा की और सैद्धान्तिक स्तर पर ही हिंसा, दुराचार, पाप और पाखण्ड के विरूद्ध आक्रोश व्यक्त किया।

आदिकाल की भांति ही भक्तिकाल में भी कुछ कवियों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। इस सन्दर्भ में अकबरी दरबार के महापात्र नरहरि बन्दीजन, महाराज टोडरमल, महाराज बीरबल, गंग मनोहर कवि केशवदास, होलराय, रहीम खानखाना, पुहकर कवि, सैयद मुबारक अली आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाओं में प्रधानतया श्रं गार, वीररस एवं नीति विषयक बातों की चर्चा हैं। अबुलफजल और फैजी अकबर के समय के उत्कृष्ठ विद्वान थे। फारसी में अबुलफजल ने 'आइने अकबरी' एवं 'अकबरनामा' आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया था। उस समय राजाज्ञा से महाभारत, रामायण, पंचतन्त्र आदि ग्रन्थ फारसी में अनुदित हुए। अकबर के दरबार के हिन्दी के कवियों को राजाश्रय मिलने के कारण छोटे, बड़े, राजा, अमीर सभी हिन्दी काव्य से प्रेम करने लगे।

निष्कर्ष

तुलसी की समकालीन परिस्थितियों पर प्रस्तुत इस विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि—"1206 ई० में दिल्ली में मुस्लिम सल्तनत की स्थापना ने भारतीय धर्म और संस्कृति के बहुत से मूल्यों पर मान्यताओं को कड़ी चुनौती दी। निराशा के इन घुमड़ते हुए बादलों में भक्ति का आन्दोलन बिजली की तरह कौंध गया। धर्म और संस्कृति का समस्त स जनात्मक शक्ति इसके माध्यम से विकसित और प्रसारित हुई और देश के कोने-कोने में नव चेतना का स्फुरण और स्पन्दन हो गया है।"

इन परिस्थितियों में जिस नवीन भक्ति साहित्य का आविर्भाव हुआ, उसका वर्णन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में इस प्रकार है—"नया साहित्य मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्शों को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद् भक्ति आदर्श के शुद्ध सात्विक जीवन और साधन हैं। भगवान के निर्मल चरित्र और सरल लीलाओं का गान। इस साहित्य में प्रेरणा देने वाला तत्व भक्ति है। इसलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य में सब प्रकार से भिन्न है।"

अध्याय 6
तुलसीदास की सामाजिक चेतना

संत गोस्वामी तुलसीदास जी जिस युग में अवतरित हुए थे वह युग जघन्य अत्याचारों, घोर अनाचारों से व्याप्त था। अकबर जहाँगीर जैसे कट्टर मुस्लिम शासकों ने भारतीय जनता को अपनी तलवारों के बल पर मुस्लिम धर्म स्वीकार करने को बाध्य किया था। कट्टर हिन्दुओं के प्रति उनका द ष्टिकोण बर्बरपूर्ण था। अतः धर्म, राजनीति, समाज, परिवार, आचार-विचार व्यवहार में विश्र ंखलता आने लगी थी। जाँति-पाँति का भेदभाव बढ़ने लगा था। अनेक कुरीतियाँ कुवासनाएँ जन्म ले रही थीं जिन्होंने हिन्दुत्व की व्यवस्था और धर्म को छिन्न-भिन्न कर दिया था। सामाजिक मर्यादा, मान-सम्मान व सम्बन्धों में विसंगतियाँ उत्पन्न हो गयी थीं। ऐसे युग में सामाजिक एकता को एक सूत्र में पिरोने के लिए महामानव की आवश्यकता की पूर्ति संत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी में निहित थी। युग की प्रताड़ना को झेलते हुए जगह-जगह भ्रमण करते हुए प्रत्येक कोने को देखा था कलियुगीन आवाज को आत्मसात् कर अभिव्यक्त के साथ वर्णित किया-

भए वरन संकर भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं भय रूज सोक वियोग।।

इस युग में सामाजिक वर्ण संकट, मर्यादाहीनता, पाप, भय, रोग, शोक, वियोग आदि अनेकों कष्टों को भोगना पड़ता था। काम-वासना में लिप्त सामाजिक आचारण अनौचित्यपूर्ण हो चुका था।

नारि विवस नर सकल गोसाईं।
नाचहि नट मर्कट की नाईं।।

कामनी के कामचेष्टाओं पर समाज नाचता था निम्नवर्ग ब्राह्मणों पर राज्य करते थे। जैसे ही उनकी पत्नी मर जाती, सम्पूर्ण सम्पत्ति नष्ट हो जाती थी। वे सिर मुँडाकर ढोंगी सन्यासी बन जाते थे और आचारहीन हो समाज को भ्रष्ट कर रहे थे। संत तुलसीदास व समान सजग कलाकार के लिए समाज का यथार्थ चित्रण करना पर्याप्त नहीं था, बल्कि उन्होंने समाज को नूतन द ष्टि दी थी। उसका उल्लेख उत्तम समाज के रूप में किस प्रकार होना चाहिए ?

(1) **समाज का ढांचा**—'श्रीरामचरितमानस' के माध्यम से संत गोस्वामी तुलसीदास जी ने समाज को नया रूप दिया जिसका विवेचन उन्होंने राम-राज्य की परिकल्पना से किया है वे कहते हैं—

वरनाश्रम निज-निज धरम निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय् सोक न रोग।।

समाज को चार वर्णों में विभक्त होना चाहिए—ब्राह्मण, क्षत्रिए, वैश्य और शूद्र। इनके अपने-अपने कार्य निर्धारित ग्रन्थों में निहित हैं। मानव-जीवन को चार आश्रमों-ब्रह्मचर्य, ग हस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास में विषक्त कर सामाजिक मर्यादा रखनी चाहिए। इसी आधार पर समाज सुखी

रहेगा, उन्हें किसी तरह की भी भय, रोग, शोक व्याप्त न होगा। न कोई किसी से वैर करे, न लड़ाई झगड़ा करें-

वैर न विग्रह आस न त्रासा।

जैसे समुद्र अपनी मर्यादा में रहता है उसी प्रकार सभी मर्यादित और पर्वत, व क्ष, प थ्वी नदी के समान परोपकारी रहें, छलकपट, दंभ, मद, क्रोध, लोभ कामादि दुर्गुण से दूर रहें। समस्त प्रजा पंडित, ज्ञानी व संतों का सम्मान करें—

सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी।

सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।।

राम के राज्य का यही सामाजिक ढांचा था। वहाँ न कोई शोषक था और न ही किसी का शोषण होता था। न पीड़ित था न पीड़ा देने वाला था। समाज धन्य धान्य से परिपूर्ण था, प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध थीं। 'उत्तरकाण्ड' में तुलसीदास जी वर्णित कर कहते हैं-

बाजार रुचिर न बरइ बरनत वस्तु बिनु गथ पाइए।

जहँ भूप राम निवास तहँ की सम्पदा किमि गाइए।।

बैठे समाज सराफ बनिक् अनेक मनहुँ कुबेर ते।

सब सुखी सब सच्चरित सुन्दर नारि नर सिसु जरउ जे।।

अयोध्या का बाजार इतना सुन्दर (रमणिक) है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वहाँ सभी वस्तुएँ बिना मूल्य मिल जाती हैं। जहाँ का राजा स्वयं लक्ष्मीपति हो वहाँ के धन का वर्णन करना कठिन है।

कपड़े का व्यापारी (बजाज), सोने चाँदी का व्यापारी (सर्राफ), अन्य सामान का विक्रेता (वणिक्) इतनी सम द्धिता के साथ अपनी-अपनी दुकानों पर बैठे हैं मानो कुबेर हों। स्त्री, पुरूष, बच्चे, बूढ़े, जो भी वहाँ जाते हैं, सभी सुखी होकर आते हैं। उस समाज में सभी उदार, परोपकारी हैं, नारी पतिव्रताएं हैं पुरूष सदाचारी हैं। अतः सामाजिक स्थिति, उसका ढांचा इतना मनोरम है कि वहाँ का राजा किसी भी प्रजा-जन को दण्डित न कर सके। राम-राज्य के मार्मिक चित्रण की प्रस्तुति है-

दण्ड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक न त्य समाज।

जीतहु मनहिं सुनिए अस रामचन्द्र के राज।।

दण्ड केवल सन्यासियों के हाथ में था, अन्यथा राम के राज्य में किसी को दण्डित नहीं किया जाता था। भेदभाव केवल न त्य कलाकारों तक ही सीमित था समाज में नहीं। सामाजिक ढांचा इतना मनोरम, सुखद व कल्याणकारी था जहाँ वैर-भाव, लड़ाई-झगड़ा व भय से मुक्त था-

वैर न विग्रह आस न त्रास।

सुखमय तहि सदा सब उनासा।।

समाज में चारों दिशाओं में सुख-शान्ति व्याप्त थी।

(2) **राजा की योग्यता और कर्तव्य**—संत गोस्वामी तुलसीदास जी ने मुस्लिम शासकों के अत्याचारों व उत्पीड़न की असहाय वेदना को समझा था अतः उन्होंने सामाजिक मर्यादा बनाए रखने के लिए ऐसे राजा की परिकल्पना की थी कि जो शक्ति, नीति एवं ऐश्वर्य सम्पन्न, धर्मात्मा, प्रतापी व शीलवान हो-

धरम धुरंधर नीति निधाना।

तेज प्रताप सील बलवाना।।

राजा प्रजा का पालन करता, संरक्षक, शासन विधि को वेद के अनुसार चलाने वाला सदाचारी, नीति निपुण कर्तव्यपालक विद्वानों, धर्मात्मा, ब्राह्मणों व ऋषि-मुनियों का सम्मान करने वाला हो। जिस राजा के राज्य में यति-मुनि कष्ट पाते हैं। वह बिना अग्नि के ही भस्म हो जाता है। जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखित रहती है वह नरक का भागी होता है। दोहावली में अच्छे-बुरे राजाओं की विशेषताओं का वर्णन है। अनीति को अपने वाला राजा पतित हो जाता है। सुविचारी राजा किसान के समान अपनी प्रजा रुपी खेती का पालन-पोषण करके उससे फल प्राप्त करता है, उत्तम राजा सूर्य, माली व किसान के समान होता है। उदार राजा दीन हीन व अनाथों की पूर्णतया देखरेख करता है। श्रेष्ठ राजा के लिए नीति का उल्लंघन करना अनौचित्यपूर्ण है। राजा प्रजा पर उचित कर लगाकर उसकी भलाई में धन समर्पित करता है वनगमन के समय राम ने भरत को यह संदेश दिया कि वे राजा की नीति का पालन करते हुए, 'मनसा वाचा कर्माणा' मन, वचन और कर्म से प्रजा के हितार्थ कार्य करें-

कहत संदेश भरत से आए।।

नीति न तजिअ रामपदु पाए।

पालेहु प्रजहिं करम मन बानी।।

श्रीराम ने अपनी प्रजा के लिए तन, मन धन समर्पित किया था। वे अपने कर्तव्य और धर्म का पालन करते थे-

चलहिं स्वधर्म निरज श्रुति नीति।

सभी प्रजा जन अपने-अपने धर्म के अनुरूप चलते थे कोई भी पाप नहीं करता था। सभी में प्रेम व्याप्त था इतनी ही नहीं, रामराज्य में प्रकृति सदैव उनका साथ देती थी खेती से समय पर अन्न की उपलब्धता व व क्ष सदैव फल-फूलों से परिपूर्ण थे। पशु-पक्षी निर्भय होकर भ्रमण करते थे, यही श्रीराम का पुण्य प्रताप था श्रीराम के विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी वर्णित करते हुए कहते हैं-

श्रुति पथ पालक धर्म धुरंधर।

गुनातीत अरु भोग पुरंदर।।

इस प्रकार राजायादि प्रजा का रक्षक, पालनकर्ता, हितैषी हो तो प्रजा सदा सुखी रहती है।

(3) **आदर्श प्रजा**—तुलसी युगीन सामाजिक मर्यादा भ्रष्ट हो गयी है, प्रजा ने अपना आदर्श पथ छोड़ दिया है संन्यासी ढोंगी व धार्मिक परम्परायें नष्ट हो चुकी हैं अतः संत गोस्वामी तुलसीदासजी ने ऐसी प्रजा की परिकल्पना की थी कि जो राजा के अनुरूप में अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर रहें, जहाँ परस्पर प्रेम तथा परोपकारी भावनाएँ निहित थीं। प्रजा चार वर्णों में विभक्त थी प्रत्येक व्यक्ति का जीवन चार आश्रम में व्यतीत होता था। राजा यदि प्रजा के लिए समर्पित था तो प्रजा भी राजा के प्रति सम्मान भाव से ओत-प्रोत थी राम वन-गमन द श्य देखकर समस्त प्रजा जन अश्रुपूरित हो उनके पीछे-पीछे चल दी थीं। श्रीराम के राज्याभिषेक के समय संत तुलसीदास जी वर्णित कर कहते हैं—

राम राज्य बैठे त्रैलोका।

हरषित भए गये सब सोका।।

प्रजा पाप मुक्त थी धर्म अपने चारों चरण-सत्य, सोच, दया, दान से सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण था अर्थात् प्रजा में सत्यनिष्ठा, पवित्रता, दया की भावना व दान देने की प्रव त्ति निहित थी-

सब निर्दंभ धर्मरत पुनी।
नर अरु नारि चतुर सब गुनी।।
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी।
सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी।।

प्रजा अहंकार रहित, धर्म में हमेशा लवलीन थी। नर-नारी बुद्धिमान, गुणवान, पंडित और ज्ञानी थे। सभी एक दूसरे के प्रति उपकारिक भावना का सम्मान, गुणी जनों का आदर करते थे। किसी में भी छल, कपट, धूर्तता आदि नहीं थी। सभी उदारवान, परोपकारी, ब्राह्मणों की सेवा करते थे समाज में यह प्रथा निहित थी-

एक नारि व्रत सब पर उपकारी।
ते मन वच क्रम प्रति हितकारी।।

पुरुष एक-पत्नी व्रती थे नारियाँ अपने पति, संतति के प्रति 'मनसावाचा कर्मणा' मन, वचन ओर कर्म से समर्पित थी हितकारी भावना युक्त थीं। प्रजा में सुख, शान्ति, सम द्धि पूर्णतया व्याप्त थी।

(4) **मर्यादित पारिवारिक जीवन**—तुलसी युगीन मुस्लिम बादशाहों ने अनेक समस्याएं और उलझनें प्रजा के समक्ष रख दी थीं वे अपने परिवार का पालन पोषण करने में असमर्थ थे। बादशाहों का ऋण चुकाने, व पेट भरने के लिए उन्हें पुत्र-पुत्री की बिक्री करनी पड़ती थी। सामाजिक विषमता, स्वार्थ परायणता से परिवार छिन्न भिन्न होकर दुर्गति को प्राप्त था। संत गोस्वामी तुलसीदास जी ने पारिवारिक सदस्यों को मर्यादित भावना में रहकर चलने का संदेश दिया था कि समस्त जनमानस में प्रेम भावना, ममत्व निरन्तर बढ़ता रहे। राम-राज्य में संयुक्त परिवारिक अनुराग-प्रेमभाव निहित था। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न चारों में परस्पर प्रेम-भाव व्याप्त था। भाई-भाई के प्रति समर्पित तथा बड़ों का आदर करना, छोटों का परम् कर्तव्य व धर्म था। श्रीराम को राज्याधिकारी मानकर भरत अयोध्या का राज्य नहीं स्वीकारते हैं। लक्ष्मण अपने भाई राम का साथ वनवास के समय भी देते हैं सीता पतिव्रता धर्म की रक्षा के लिए वन को चल पड़ती है, माताएं पुत्रार्थ नहीं, अपितु पति सेवार्थ अपना जीवन व्यतीत करती हैं। परिवार स्नेह, ममत्व, अपनत्व के सूत्र में बंधे हुए हैं। माँ सीता के विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी वर्णित कर कहते हैं -

पति अनुकूल सदा रह सीता।
सोभा खाने सुसील विनीता।।

यद्यपि घर में अनेक सेवक-दासियाँ थी फिर भी सीता सेवा में सदैव लगी रहती थीं।

निजकर ग ह परिचराचा करई।
रामचन्द्र आयसु अनुसरई।।

सीता अपने हाथों से घर की सेवा (देख-रेख) व श्री राम की आज्ञा का पूर्णतया पालन करती हैं उन्हें घर में सास का माता के तुल्य ममत्व प्राप्त है, उसके देवर उसका बहुत सम्मान करते हैं। राजा दशरथ जी के चारों पुत्र प्राणों से युक्त प्रिय हैं वे अपने पिता का सम्मान करते हैं, श्रीराम हर्षित हो पिता की आज्ञा-पालन करने के लिए वन गमन करते हैं। उनका मनसा-द्वेष, मलिनता से परे है। वे कहते हैं कि-

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाँय पर वचन न जाई।।

समाज में यदि परिवार मर्यादा का पालन करेगा तो इसमें संदेह नहीं कि समाज में सभी व्यक्ति सुखी, सम द्धशाली होगें। समाज की मूल इकाई का व्यक्तिगत आधार परिवार है। परिवारों से समाज बनता है। पारिवारिक मर्यादाएं ही सामाजिक मर्यादा का आदर्श हैं, तुलसी सामाजिकता के आधार पर परिवार में मर्यादा, धर्म व आधार चाहते थे।

(4) **नारी की स्थिति**—सामाजिक पक्ष-नर, नारी हैं यदि एक दुःखित है तो समाज को सुखी नहीं कहा जा सकता है, तुलसी ने काम वासना से युक्त बादशाह युगीन नारी दुर्दशा के चित्रण की प्रस्तुति की है वह मात्र भोग-विलास की सामग्री थीं, उसकी समाज में न कोई आवाज थी और न ही अस्तित्व था वह पुरुषों के आनन्द का साधन थीं जो घर की चारदीवारी में बन्द करके रखी जाती थीं। पर्दे के पीछे रहकर जीना चाहती थीं। परन्तु तुलसी ने सामाजिक मर्यादा के लिए नारी को बेटी, पत्नी व माता के रूप में देखा था। सीता विवाह के लिए स्वयंवर में मनमाना वर प्राप्त करती हैं। रावण की बहन अपना प्रेमी खोजने में स्वतन्त्र थीं। राम पत्नीव्रत रह जीवन व्यतीत करते हैं। तुलसी बहु विवाह में विश्वास नहीं करते थे। रावण व दशरथ ने भले ही अनेकों विवाह किये हों परन्तु संत गोस्वामी तुलसीदास ने नारी को सामाजिक मर्यादा अनुसार समान व उचित स्थान दिया था। सीता श्रीराम के साथ स्वयं वन गई थीं। सीता के विषय में संत गोस्वामी तुलसीदास जी का अभिकथन है-

जेहि विधि कृपासिंधु सुख मानई।
सोई कर श्री सेवा विधि जानई।।
कौसल्यादि सासु ग्रह माहीं।
सेवई सबन्हिं मान मद नाहीं।।

श्रीराम जिस प्रकार से सुख की अनुभूति करते हैं उसी प्रकार से सीता जी के क्रिया-कलाप थे। कौशल्या आदि सास थीं जो घर में माता के समान थीं, उन्हें किसी प्रकार का मान न्मद नहीं था। इस प्रकार संत गोस्वामी तुलसीदास जी समाज में नारी की महत्ता की चित्रण प्रस्तुत किया था।

लोक-मर्यादा—समाज का कल्याण तभी सम्भव है जब वहाँ पर मर्यादा हो। समाज के सभी प्राणी अपनी मर्यादा के अर्न्तगत जीवन निर्वाह करें जहाँ कौशलाधीश मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीराम चन्द्र प्रजा के हितार्थ कर्तव्यनिष्ठ थे। वे निरंकुश बादशाह नहीं थे उन्होंने मानो प्रजार जन का व्रत ले रखा हो, उन्होंने समाज में वर्णित कर कहा-

सुनहु सकल पुरजन मम बानी।
कहऊँ न कछु ममता उर आनी।।

हे नगर वासियों। मेरी वाणी को सुनो। मैं तुम्हें मनोह्रदयगत (ममता रखकर) कुछ नहीं कह रहा हूँ और न हीं कुछ अनीतिपूर्ण बातें कहता हैं-और न हीं मेरी समप्रभुता हैं आप सभी संकोच रहित होकर, भय त्याग कर मेरी बातें ध्यान से सुनों यदि तुम्हें अच्छी लगे तो ग्रहण करो, यदि कोई अनुचित पक्ष दिखाई पड़े तो मुझसे कहो-

जौ अनीति कछु भाषौं भाई।
तो मोहि बरजहु भय बिसराई।।

मेरे द्वारा किए गये अनीतपूर्ण कार्य भयविहीन होकर रोक देना। श्रीराम का यह कथन उनकी महानता का प्रतीक है। जिस देश व समाज में कल्याणकारी राजा हो, वह समाज कभी भी दुःखित नहीं होगा। उसके प्रति समाज का प्रत्येक वर्ग सदैव समर्पित रहेगा। यही कारण है कि राम-राज्य

में समाज का प्रत्येक पक्ष सशक्त था। आर्थिक अभाव, नैतिक पतन व धार्मिक हानि नहीं थी। दैहिक, दैविक व भौतिक संताप नहीं था, सभी एक दूसरे के प्रति सम आदर भाव रखते थे। परोपकारी भावना व उदारवादी द ष्टिकोण समाहित था। नर, नारी में प्रगाढ़ ममता प्रीति निहित थी किसी प्रकार का वैमनस्य नहीं था अपार धन-सम्पदा होने की स्थिति में धन संचय करने की आवश्यकता नहीं थी। सम्पत्ति कोश किसी को अकर्मण्य नहीं बनने देता था। सभी अपने कार्य के प्रति सजग थे उससे सौभाग्य, सुख-सम द्धि व मंगल युक्त वर्षा होती थी। समाज का प्रत्येक वर्ग व व्यक्ति सुख सम द्धिशाली था। विद्वान् आलोचक के शब्दानुसार-

"समाज के सभी लोग नियमों का पालन करते थे। इसलिए दण्ड देने की जरूरत नहीं पड़ती थी। पड़ोसी और विदेशी राष्ट्रों में राम की यही समाजवादी व्यवस्था कायम हो गयी थी। इसी कारण राम को सोना रखने की जरूरत नहीं थी। रावण को समाप्त करने से पहले राम ने धनुष-बाण भले ही धारण किये हों, किन्तु लंका से लौटकर आने के बाद उसे उठाने की आवश्यकता नहीं हुई। राम राज्य एक आदर्श समाजवादी राज्य था।"

अध्याय 7
रामचरितमानस में लोकमंगल की चेतना

'मंगल' शब्द के विभिन्न अर्थ है—शुभ, कल्याण, सौभाग्य, कल्याणप्रद, आनन्द, प्रसन्नता, उल्लास आदि। तुलसीदास ने 'पार्वती मंगल' और जानकीमंगल दो कृतिों की रचना 'मंगल' शब्द को लेकर लिखी है, परन्तु यहाँ 'मंगल' शब्द उपर्युक्त अर्थों का द्योतक न होकर 'विवाह' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'मंगल' शब्द यहाँ (पार्वती मंगल और जानकी मंगल) नारी के साथ जुड़ा हुआ है। इसलिए इसका अर्थ विवाह संदर्भ में प्रयुक्त हुआ। परन्तु जब यही मंगल शब्द लोक के साथ जुड़ जाता है तो वहाँ कल्याण या आनन्द या उल्लास का अर्थ प्रदान करता है। लोकमंगल का अर्थ है—लोक कल्याण। तुलसीदास एक लोकनायक कवि के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने अपने समय को अच्छी प्रकार देखा था, उसकी विषमताओं से वे पूर्णतया परिचिति थे। अपने समय में मुस्लिम बादशाहों द्वारा होने वाले अत्याचारों को देखकर वे बड़े व्यथित थे। युगीन परिस्थितियाँ उनके लिए असह्य थीं क्योंकि वे भारतीय समाज के लिए अभिशाप बन गई थीं। भारतीय जनता मुस्लिम शासकों के घोर अन्याय, दुर्दमनीय अत्याचारों से पीड़ित होकर निराश एवं व्याकुल हो चुकी थी। तुलसीदास जैसे भक्त के लिए अत्याचारी बादशाहों के विरूद्ध आवाज उठाने का दुःसाहस कैसे संभव था ? अतः उन्होंने भक्ति का सहारा लिया और अपने युग की आवाज को बुलन्द किया। सच्चा साहित्य समाज का दर्पण होता है। तुलसीदास सच्चे साहित्यकार थे। अतः उनकी कृतियों में युग बोलता है। 'रामचरितमानस' भी उनसे अछूती रचना नहीं हैं। इसमें भी उन्होंने लोक कल्याण हेतु लोकमंगल की भावना का समावेश किया है।

1. रामराज्य की स्थापना—तुलसीदास ने जहाँ एक ओर 'मानस' में कलियुग का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर मुगलकाल की सामाजिक परिस्थितियों का खुलकर चित्रण किया है। उन्होंने बताया है कि किस प्रकार मुगलों के अत्याचारों से हिन्दुओं की धर्म-कर्म, वर्ण-आश्रम व्यवस्था समाप्त हो चुकी थी। भोग-विलास की पराकाष्ठा के कारण समाज की मर्यादा भंग हो चुकी थी। समाज के अत्याचार, अनाचार व दुराचार से कवि क्षुब्ध थे। कलियुग का वर्णन करते हुए कवि लिखते हैं—

"नारि विबस नर सकल गोसाईं।
नाचहि नर मर्कट की नाईं।।"

नारी के सौन्दर्य एवं भोगविलास में लीन होकर मानव अपने कर्तव्यों के पथ से विमुख हो चुका था तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह में पड़कर कुमार्ग का सेवन कर रहा था। कलियुग में धर्म के स्थान पर पाप होने लगे थे। तुलसीदास जी कहते हैं—

"भए बरन संकर कलि भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुःख भय रुज शोक वियोग।।"

तुलसीदास जहाँ एक ओर इस प्रकार की सामाजिक, अव्यवस्था व मर्यादाहीनता को देखकर बहुत अधिक दुख व्यक्त किया था तो दूसरी ओर, 'रामचरितमानस' में 'उत्तरकाण्ड' में रामराज्य की विशेषताओं का उल्लेख करके इस ओर संकेत दिया था कि यदि इस प्रकार का राज्य हो तो समाज सुखी और आनंदमय हो सकता है। रामराज्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं—

"वरनाश्रम निज-निज धरम निरत वेदपथ लोग।
चलहि सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।।"

रामराज्य में सम्पूर्ण प्रजा अपने-अपने वर्ण के अनुसार कार्य करती है तथा अपने धर्म का पालन आश्रयों के अनुरूप करती है। वेदों के अनुसार सभी अपने-अपने कर्तव्य मार्ग पर चल रहे हैं, जिससे उन्हें सुख प्राप्त होता है। उन्हें किसी प्रकार का कोई दुःख या शोक नहीं होता, सदाचरण करने से वे निरोगी भी रहते हैं। इससे समाज में एक-दूसरे के प्रति प्रेम बढ़ता है। न कोई दरिद्र रहता है न कोइ अज्ञानी व बुद्धि रहित रहता है। तुलसीदास मानव कल्याण की भावना से कहते हैं कि यदि रामराज्य जैसा राज्य चारों तरफ फैल जाएं तो किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं रहता—

"दैहिक दैविक भौतिक तापा।
रामराज्य नहिं काहुहि व्यापा।।"

कवि का मानना है कि यदि राजा और प्रजा एक दूसरे के उपकारक हों सहायक हों और उदार हृदय हों तो प्राकृतिक आपदाएं भी नहीं आती हैं। व क्ष फूलों एवं फलों को समयानुसार प्रदान करते हैं। पशु-पक्षी भी आपसी वैर-विरोध त्यागकर आपस में प्रेमपूर्वक व्यवहार करते हैं। कवि का द ष्टिकोण है कि जिस प्रकार रामराज्य में पुरूष एक नारिव्रत को धारण करता था तथा नारी मन, वचन और कर्म से पति की सेवा करती थी—

"एक नारि व्रतरत एक धारी।
ते मन वच कर्म पति हितकारी।।"

उसी प्रकार स्वस्थ समाज एवं मर्यादा की रक्षा तथा शुद्ध आचरण की स्थापना के लिए नर-नारी को यह मार्ग अपनाना चाहिए। राम-राज्य में इस प्रकार का वातावरण था कि वहाँ किसी के मन में किसी के प्रति भी वैर-विरोध नहीं था। वहाँ ऐसा समाज था जहाँ सभी एक-दूसरे के उपकार में लीन रहते थे। अतः उनमें परस्पर प्रेम की भावना थी। सभी अपने-अपने धर्म के मार्ग को स्वीकार करके और उस पर चलकर नीति एवं मर्यादा का पालन करते थे। तुलसीदास इस प्रकार के राज्य को मानव जाति के लिए कल्याणकारी एवं हितकारी मानते हैं। जब तक समाज में मानव-मानव के मध्य परस्पर प्रेम, स्नेह, ममता, सदाचरण व परोपकार की भावना उत्पन्न नहीं होगी तब तक समाज सुख एवं आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में विभिन्न स्थलों पर सुक्तियां के द्वारा भी यह स्पष्ट किया है कि लोक का मंगल तभी संभव है जब समाज अपने सत्पथ का आचरण करे, अपनी शालीनता और मर्यादा को न छोड़े जैसाकि रामराज्य में था। तभी समाज उन्नत हो सकता है तभी आदर्शों की स्थापना हो सकती है।

2. आदर्शवाद की स्थिति—तुलसीदास जी आदर्शवाद को लोक कल्याण के लिए अति आवश्यक मानते हैं। वस्तुतः तुलसीदास के समय में मुगलों के अत्याचारों के कारण राजा और प्रजा दोनों ने अपनी आदर्श भावना को खो दिया था। सभी का आचरण अनिष्टकारी था। कामवासना, क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर मानव कार्य कर रहा था। उचित-अनुचित का उसे कोई ध्यान नहीं था—

'सब नर काम लोभरत क्रोधी'

ब्राह्मण शास्त्रों के विरूद्ध आचरण कर रहे थे। नारी अपने पतिव्रत धर्म से विचलित होकर अपने सुंदर पति का त्यागकर के परपुरूष का सेवन कर रही थीं—

'भजहिं नारि पर पुरूष अभागी।'

तुलसीदास प्रजा के इस अनुचित एवं घ णित व्यवहार से अत्यन्त दुःखी थे। इसी कारण उन्होंने आदर्शवादी भारतीय प्राचीन परम्परा को सर्वश्रेष्ठ माना था। क्योंकि कहा भी गया

है—"आदर्श परिवार ही आदर्श समाज को बना सकते हैं और आदर्श समाज ही आदर्श राष्ट्र का निर्माण कर सकता है।" राम स्वयं आदर्शवादी थे, उन्होंने अपने परिवार में आदर्श भावना का संचार किया था। भाई-भाई, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, गुरू-शिष्य के आदर्श रूप को प्रस्तुत किया था। 'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने आदर्श समाज की ओर संकेत किया है वहाँ प्रजा में परस्पर प्रेम है, सहानुभूति है, सहयोग है, परोपकार की सच्ची भावना है। इसी कारण तुलसीदास परोपकार को सर्वोत्तम धर्म मानते हैं और पर पीड़ा को तुच्छ मानते हैं—

"परहित ससि धरम नहिं भाई

पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।"

तुलसीदास ने राम का जीवन इतना आदर्शवादी बनाया है कि जिनके आदर्श जीवन से सभी सुख के आनन्द की अनुभूति होती है। वे निषाद से प्रेमपूर्वक मिलते हैं। शबरी के जूठे बैर खाते है। अपनी सेना के वानरों व रीछों के प्रति उनका असीम स्नेह एवं प्यार है। तुलसी ने मानव-प्रेम को आदर्शवाद का उच्चतम रूप माना था। तुलसी समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था को आदर्शरूप मानते थे। राम के राज्य में यह आदर्श व्यवस्था समाज को स्वस्थ बनाती थी। आदर्श समाज में नर और नारी सदाचारी होते हैं। उनमें उदारता और परहित की भावना रहती है।

'सब उदार सब पर उपकारी।'

राम के राज्य में यही आदर्शवादी भावना थी। नारी का सम्मान था तथा जहाँ नारी पतिव्रता होती थी वहाँ नर एक पत्नीव्रत धारण करता था। तुलसी ने कहा भी है—

"एक नारि व्रत रत सब झारी।

ते मन वचकर्म पति हितकारी।।"

समाज में किसी भी प्रकार की विकृति या उच्छ ंखलता तुलसीदास को मान्य नहीं है। नारी हो या नर सभी के लिए कुछ आदर्शवादी नियम होते है जिनका पालन करना उनका कर्तव्य है वही उनका धर्म है और वही लोक मर्यादा और लोक कल्याण है। जिस परिवार, समाज या राष्ट्र में ये आदर्शवादी परम्पराएँ नहीं रहती वह अवश्य पतित हो जाता है। तुलसी ने अपने युग में यही भ्रष्टाचार देखा था जहाँ पर राजा, अधिकारी, समाज के प्रति पालक, संन्यासी और व्यक्ति स्वयं पथभ्रष्ट हो चुके थे उनकी आदर्श मान्यताएँ एवं मर्यादाएँ समाप्त हो चुकी थीं। तुलसीदास ने राम के जीवन के माध्यम से, उनके सद् आचरण और हितकारी भावना से समाज में आदर्शवाद की स्थापना की ओर संकेत किया है। राम स्वयं एक आदर्श राजा थे। अतः उनके राज्य में प्रजा उनके अनुरूप आचरण करती थी, जिससे राजा को ऐसा अवसर नहीं मिलता था जो किसी को दण्ड देना पड़े। वहाँ 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति चरितार्थ होती थी अर्थात् जब राजा ही आदर्शों का पालन करता था तो प्रजा भी वैसी ही थी। अतः तुलसी कहते हैं कि 'दण्ड' शब्द यदि कहीं था तो साधु के साथ ही था अर्थात् संन्यासी ही दण्ड या दण्डा धारण करते थे। भेदभाव या परस्पर द्वेष प्रजा में नहीं था, केवल न त्य कला में कुछ भेद था—

"दण्ड गतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक न त्य समाज।

जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद के राज।।"

आदर्श के विषय में एक विद्वान ने ठीक ही कहा है—"अपने युग की सामाजिक स्थिति से क्षुब्ध होकर गोस्वामी जी ने राम परिवार के आदर्श एवं रामराज्य की सामाजिक व्यवस्था को सामने रखना चाहा था, क्योंकि उनका विश्वास था कि रामराज्य का आदर्श सामने रखने पर निश्चय ही लोगो का युग प्रभाव से कलुषित मन नव चेतना और स्फूर्ति से भर जाएगा और एक अभिनव सुंदर समाज की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया जाएगा। यथार्थ की कीच पर आदर्श का कमल खिलाना, कलिकाल की पानी रजनी के बाद रामराज्य का सूर्योदय करना ही तुलसीदास का अभीष्ट था।"

3. **शालीनतापूर्ण प्रव ति**—तुलसीदास के समय में अकबर और जहांगीर जैसे अत्याचारी शासक थे, जिन्होंने तलवार की नोंक पर शासन किया तथा भाारतीय जनता का शोषण किया। उस समय राज्य के अधिकारी एवं कर्मचारी भी मनमाना अत्याचार करते थे, जिससे कोई व्यवस्था एवं नियम नहीं रह गए थे। तुलसीदास इस प्रकार की राज्य व्यवस्था व राजा की कर्तव्यहीनता से अत्यन्त दु:खी थे क्योंकि प्रजा ऐसे शासकों से बहुत पीड़ित थी। तुलसीदास स्वयं लिखते हैं—

"बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुशासन।।"

चार वर्ण, चार आश्रम का आचरण नहीं हैं, न धर्म है। सभी नर-नारी शास्त्रों के विरुद्ध चले रहे हैं। ब्राह्मण वेदों को बेचने वाले तथा राजा प्रजा का भक्षण करने वाले हो रहे हैं। शास्त्रों की आज्ञा का पालन करने वाला कोई नहीं है। तुलसीदास इस प्रकार की अव्यवस्था का दोष प्रमुख रूप से राजा को देते हैं। वे इसी कारण अत्यन्त विक्षुब्ध होकर कहते हैं—

"जासु राजु प्रिय प्रजा दुखारी।
सो न प अवासी नरक अधिकारी।।"

अर्थात् जो राजा इतना शालीन नहीं है कि अपनी प्रिय प्रजा के सुख का ध्यान नहीं रखता, बल्कि उसके शासन में प्रजा दुखी रहती है वह राजा अवश्य ही नरक का दु:ख भोगेगा। तुलसीदास ने राम को आदर्श राजा के रूप में माना था, जिसने शालीनता के साथ राज्य करके अपने समय में लोक कल्याण की भावना को प्रमुखता प्रदान की थी। राम के मन में प्रजा के प्रति स्नेह एवं प्रेम की भावना थी। उनके लिए प्रजा का सुख ही अपना सुख था। राजा-प्रजा के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। उनके बीच में स्नेह का संबंध विद्यमान था। राम ने इस प्रकार राज्य किया था—

"वयरन न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप विषमता खोई।।"

समाज में लोगों का आपसी प्रेम विद्यमान था। किसी भी व्यक्ति के मन में दूसरे के प्रति हीन भावना नहीं थी। सभी आपस में मिलजुलकर प्रेम से रहते थे। राम एक ऐसे राजा थे जिन्होंने अपने यश, शक्ति व शील के आधार पर प्रजा के पारस्परिक द्वेष को भी मिटा दिया था। अत: प्रजा शोक रहित, निर्भय और निरोग रहती थी। तुलसीदास ने राजा को एक निश्चित सीमा में बंधकर चलने वाला कहा है। जहाँ किसी प्रकार का अन्याय न हो। प्रजा के साथ कोई असद् व्यवहार न हो। आदर्श राजा को मर्यादा में बंधकर चलना चाहिए। राम ऐसे ही राजा थे जो प्रजा के लिए अपनी प्रिय पत्नी सीता का भी परित्याग करने में नहीं हिचकते थे। वे स्वयं अपनी प्रजा से कहते हैं—

"जौं अनीति कछु भाखऊँ भाई।
तो कोहि वरजेउ भय बिसराई।।"

अर्थात् यदि मैं (राम) प्रजा के साथ किसी प्रकार का अन्याय करूँ या अनुचित बातें कहूँ तो प्रजा निर्भय होकर मुझे उसके लिए रोक दें। अपने मन में किसी प्रकार का कोई संकोच न करें। तुलसीदास ने अपनी रचना 'रामचरितमानस' में राजा राम के जीवन और मर्यादा को इतने आदर्श, उदात्त और शालीनता के साथ प्रस्तुत किया है कि वे सदा प्रजाजनों के प्रिय बने रहे। उन्होंने प्रजा का पालन संतान के समान किया। तुलसीदास प्रजा और राजा दोनों को सुगम्य पथ पर चलते देखना चाहते थे। वस्तुत: वे तत्कालीन राज्य व्यवस्था और राजा के व्यवहार को देखकर लोक कल्याण की स्थापना करना चाहते थे। यदि राजा और प्रजा का व्यवहार एक-दूसरे के विपरीत

होगा तो यह संभव ही नहीं हो पाएगा, इसलिए ही कवि ने दोनों में आदर्श की स्थापना करके समन्वय किया। अतः 'रामचरितमानस' में कवि ने लिखा है—

"राम राज नभ गेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुःख काहुहिं नाहिं।।"

राम की राज्य-व्यवस्था अत्यन्त शालीन थी, जिसे देखकर चर-अचर किसी भी प्राणी के मन में किसी प्रकार का कोई दुःख नहीं था। सब अपने-अपने कर्तव्यों को निभाते हुए शालीनता के साथ जीवन जी रहे थे।

4. संतों का महत्व—तुलसीदास ने अपनी अमर कृति 'रामचरितमानस' में बार-बार यह स्वीकार किया है कि संतों के वचन मान्य हैं, उनका मार्ग ही प्रशस्त है। संतों की संगति से दुष्ट भी उसी प्रकार सुधर जिस पारसमणि के स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है।

"सठ सुधरहिं सत्संगति पाई।
पारसपरसि कुधातु सोहाई।"

संत सदैव दूसरों के दुःखों से द्रवित होता है जबकि नवनीत मक्खन गर्मी की तपन से पिघलता है। कहने का अभिप्राय है कि संतों का स्वभाव नवनीत से भी कोमल है—

'निज परिताप द्रवत नवनीता। पर दुःख द्रवहि संत सुपुकीता।'

संतों की प्रसन्नता के विषय में तो यहाँ तक कहा गया है कि सज्जनों के मिलने के समान और कोई सुख नहीं हैं।

'संत मिलन सम सुख कहु नाहीं।'

इस प्रकार तुलसीदास ने अनेक प्रसंगों के माध्यम से संतों की प्रशंसा की है। साथ ही उन्होंने दुर्जनों की निंदा भी की है—को न कुसंगति पाई ना साई' कुसंगति से कौन नष्ट नहीं होता? तुलसीदास ने संतों की प्रशंसा करके दुर्जनों की अप्रशंसा करके लोक कल्याण आ संदेश दिया है। समाज की मर्यादा व आदर्श का आधार संत हैं तथा मर्यादा और नियमों का उल्लघंन करने वाला दुर्जन है। तुलसीदास ने दुर्जनों का समय देखा था। वे समाज में संतों को स्वच्छ बनाना चाहते थे। 'रामचरितमानस' में दो स्थलों पर संतों के लक्षण और उनकी महिमा का वर्णन किया गया है। एक स्थान पर तो 'अरण्यकाण्ड' में संत विषयक वर्णन आता है जब नारद के पूछने पर राम संत के विषय में उपदेश देते हैं तथा दूसरे स्थान पर 'उत्तरकाण्ड' में भाई भरत के पूछने पर राम संत की विशेषताओं का वर्णन करते हैं। वस्तुतः तुलसीदास मानव जाति को यही बताना चाहते थे कि लोकमंगल की भावना यदि कहीं पर है तो संतों के मिलन से ही संभव है। संत के समान स्वभाव वाले राम संत के विषय में नारद से कहते हैं—

"सम शीतल नहिं त्यागहि नीति।
सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीति।।"

संत समस्त जीवों के साथ समानता का व्यवहार करते हैं। वे शांत जीवनयापन करते हुए न्याय के मार्ग पर चलते रहते हैं, कभी कभी वह मार्ग नहीं छोड़ते। उन्हें मानव जाति से प्रेम होता है, उनका स्वभाव सरल होता है। तुलसीदास भी यही कामना करते है कि मानव-मानव के बीच स्नेह रहे, सभी न्याय का पथ अपनाकर जीवन यापन करें यदि ऐसा संभव हो जाता है तो लोकमंगल अवश्य ही होगा। राम ने जिस समय भरत को उपदेश दिया था तब केवल यही कहा था कि संतों और असंतों का स्वभाव चंदन और कुल्हाड़ी के समान होता है। कुल्हाड़ी चंदन को भी काट देती है, जिसमें सुगंध है। जिस प्रकार कुल्हाड़ी चंदन को काटकर अपनी तीखेपन अर्थात् दुष्टता (असत तत्व) का परिचय देती है उस समय चंदन अपनी सुगंध (संत तत्व) उसे देकर सुगंधित बना देता

है। उसके इसी गुण के कारण चंदन देवताओं के मस्तक की शोभा बनता है। संसार को भी चंदन प्रिय होता है। दूसरी ओर कुल्हाड़ी जो चंदन (संत तत्व) को काटकर देती है उसके मुख को यह दण्ड दिया जाता है कि उसे अग्नि में तपाकर फिर घन से पीटा जाता है। वास्तव में तुलसीदास मुस्लिम शासकों से, उनके व्यवहार से अत्यन्त दुःखी थे जैसे वे कुल्हाड़ी के समान थे। वे तुलसीदास राम के समान संत समाज की स्थापना की कल्पना करते थे।

राम संतों के विषय में कहते हैं–

"सबहिं मानप्रद आपु अमानी।
भरत प्राण सम मम ते प्रानी।।"

हे भरत ! वे प्राणी जो संत हैं अपना मान नहीं चाहते तथा दूसरों का सम्मान करते हैं वे मेरे लिए प्राणों के समान प्रिय हैं। तुलसीदास के हृदय से निकली यह आवाज वास्तव में समाज में लोक मंगल की स्थापना करने की पक्षधर थी, वे हृदय से चाहते थे कि समाज में रामराज्य की स्थापना हो जाए।

5. मर्यादापूर्ण जीवन–तुलसीदास का मानना है कि यदि लोकमंगल की स्थापना करनी है तो मर्यादापूर्ण जीवन अतिआवश्यक है। उन्होंने स्वयं अपने समय में देखा था कि राजा-प्रजा, नर-नारी, युवा, व द्ध और बालक सभी अपनी सामाजिक धार्मिक और नैतिक मर्यादाएँ खो चुके हैं। न वर्ण व्यवस्था संतुलित है और न ही आश्रम रीति। चारों ओर जंगल राज्य है जो बलवान है, धनवान है वही निर्धन एवं निर्बल हो दुःखी कर रहा है। मुस्लिम राजा, राजाधिकारी व सम्पन्न व्यक्ति तलवार के बल पर भारतीयों पर अत्याचार कर रहे हैं और कुछ शक्तिशाली व सम्पन्न व्यक्ति उनका साथ दे रहे हैं। अपनी आजीविका के लिए अपने धर्म को छोड़ कर प्रजा भी अधर्म का साथ दे रही है। समर्थ एवं धनी व्यक्ति भले ही मुस्लिम शासकों का साथ देकर कुछ सुख प्राप्त कर रहे हों, अन्यथा सामाजिक नियमों व मर्यादाओं का उल्लंघन होने के कारण जनता में त्राहि-त्राहि मची हुई है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में राम का इतना मर्यादापूर्ण जीवन चरित प्रस्तुत किया है कि सम्पूर्ण समाज, परिवार यहाँ तक कि राष्ट्र के लिए भी अनुकरणीय है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि सभी राम बन जाएं, अपितु मर्यादापूर्ण जीवन जीकर जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है। तुलसीदास काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि को मानव का घोर शत्रु कहते थे, परन्तु इनके मर्यादित रूप को जीवन के लिए अनिवार्य भी मानते थे। मर्यादा का उल्लंघन सदैव कष्ट देने वाला होता है। जैसे 'रामचरितमानस' में 'रावण' और शूर्पणखां में काम वासना की अतिशयता दिखाई पड़ती है, जिससे मर्यादा का उल्लंघन हुआ है। अतः उन्हें अपनी मर्यादाहीनता का दण्ड भोगना पड़ा। नारद को अपने ब्रह्मचर्यव्रत का अहंकार था परन्तु उसने काम का सर्वथा परित्याग किया था। राम में काम भावना का मर्यादित एवं संतुलित रूप दिखाई पड़ता है, इसलिए कहीं भी किसी प्रकार की पीड़ा या कठिनाई नहीं होती। यद्यपि राम को अपनी वीरता पर गर्व है परन्तु उनके गर्व की भी एक सीमा है। वे समुद्र के प्रति क्रोध करते हैं, परन्तु उससे पहले वे प्रार्थना करते हैं। अतः तुलसीदास ने राम के क्रोध को मर्यादा में ही बांधे रखा है। राम और भरत आदर्श भाई हैं। दोनों को राज्य के प्रति आसक्ति नहीं व अपनी-अपनी मर्यादा में बंधे हैं। राम अपनी माताओं के साथ, दास-दासियों के साथ, मन्त्रियों के साथ, गुफाओं के साथ, अपने भाईयों के साथ सदैव अपनी मर्यादा में रहकर बातें करते हैं। राज्याभिषेक के अवसर पर जब माता कैकेयी राम को वनवास देने का वर मांगती है तो पिता दशरथ अप्रत्यक्ष रूप से जब उन्हें वनवास दे देते है तो भी राम शांत रहते हैं। किसी भी प्रकार का विकार उनके मन में उत्पन्न नहीं होता अपितु शांत भाव से पिता की आज्ञा का पालन करते हैं। उस समय न तो उन्हें पिता के प्रति क्रोध होता है ओर न ही माता के प्रति विक्षोभ। अपितु शांत चित्त एवं मन से वन की ओर चले जाते हैं।

तुलसीदास का मानना है कि राजा में राजा के गुण तभी आ सकते हैं जब स्वयं कष्ट भोगकर लोक कल्याण की भावना से युक्त हो। इसी प्रकार वे राम के जीवन को राजा के रूप में तभी महत्वपूर्ण मानते थे जब कि उसमें राजा की अपेक्षा लोकमत का अधिकार हो। लोकमत का निर्माण उन मर्यादाओं से संभव है जिनके लिए समाज का स जन हुआ है। प्रत्येक समाज में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, समर्थ-असमर्थ, पवित्र-अपिवत्र, ज्ञानी-अज्ञानी सभी प्रकार के मानव रहते हैं, परन्तु समाज में सभी को समान अधिकार होते हैं। समाज का अर्थ है मर्यादा पर चलने वाले लोग, जो अपने कर्तव्य का पालन करें। कर्तव्य ही धर्म है और उसका मूल आधार है—लोक मर्यादा या लोक मंगल की भावना। तुलसीदास इसी प्रकार के समाज को राम की प्रजा या राम का राज्य कहते हैं। जहाँ पर ना किसी को दण्डित किया जाए और न किसी के प्रति द्वेष भावना हो। एक विद्वान का मार्यादा से सम्बन्धित कथन है जो राम के जीवन चरित्र पर चरितार्थ होता है और राम के संबंध में ही लिखा गया है—"राम आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी है, कौशल्या आदर्श माता है, लक्ष्मण और भरत आदर्श भाई हैं। हनुमान आदर्श सेवक है और सुग्रीव आदर्श सखा है। राम मर्यादा पुरूषोतम है। मर्यादा और आदर्श की प्रतिष्ठा ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य है।"

6. समन्वय की भावना—तुलसीदास एक सच्चे समन्वयवादी कवि थे। वे समाज में एकता व उसके कल्याण के लिए विभिन्न धर्मों में, अनेक रीति-रिवाजों, विविधत मतों तथा विभिन्न मार्गों में समन्वय की स्थापना करने के अभिलाषी थे। उनके समय में उन्होंने स्वयं देखा कि तत्कालीन समाज में, राजनीति में, धर्म में, विचारों में तथा विभिन्न धर्मों में परस्पर बहुत अधिक वैमनस्य विद्यमान है। धर्म के क्षेत्र में हिन्दू और मुस्लिम दोनों मतों में संघर्ष है तो हिन्दू धर्म में शैव, वैष्णव धर्मों के बीच विषमता एवं द्वेष की भावना बढ़ रही थी। समाज की दशा बड़ी शोचनीय थीं। हिन्दू समाज भी ब्राह्मण और शूद्रों के बीच में छुआछूत की भावना के कारण वातावरण विच्छ खलित हो गया था। राजा और प्रजा में एकत्व की भावना मिट गई थी। राजा लोग ऐश और आराम का जीवन जी रहे थे। आम जनता का शोषण किया जा रहा था। सारा धन राज्य के कोष में जमा हो रहा था समाज की खुशहाली के लिए कोई प्रयास नहीं किए जा रहे थे। इस प्रकार की विषादपूर्ण विकृत परिस्थितियों में तुलसीदास ने समन्वयकारी प्रयास किए। जिससे समाज में एकत्व की स्थापना हुई। इस विषय पर डॉ० हजारी प्रसार द्विवेदी का कथन बिल्कुल सटीक प्रतीत होता है—"भारत का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय समाज में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी सांस्कृतिक, साधनाएं, विचार और धर्म सिद्धान्त प्रचलित थे। बुद्धदेव समन्वयवादी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा की गई है।" तुलसीदास भी समन्वयवादी कवि थे। उन्होंने अपने युग में राजनीतिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक व धार्मिक क्षेत्रों में समन्वय किया था। वे लोक द ष्टा थे लोक स्रष्टा थे, लोक कल्याणकर्ता हैं। उन्होंने ज्ञान और भक्ति के अंतर मिटाने का प्रयास किया तथा दोनों ही साधनों को भगवान प्राप्ति का माध्यम बताया—

"भगतहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा।।"

ज्ञान और भक्ति यद्यपि दोनों अलग-अलग मार्ग हैं परन्तु दोनों का उद्देश्य एक ही है और वह है—ईश्वर प्राप्ति। तुलसी के समय में हिन्दू धर्म में दो प्रकार की उपासना पद्धति विद्यमान थीं—एक सगुण तथा दूसरे निर्गुण। एक मानना था कि भगवान को देखा जा सकता है, वे आकार युक्त हैं, उनका रंग, रूप विद्यमान है; वह सब कुछ करता है; वही रक्षक है। तुलसीदास यद्यपि भगवान के सगुण रूप के उपासक थे परन्तु फिर भी उन्होंने 'बालकाण्ड' में निर्गुण और सगुण दोनों रुपों का समन्वय किया है और कहा है—

"सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहि मुनि पुरान कुछ वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुण सो होई।।"

जबकि दूसरी तरफ निर्गुण मत के उपासक थे। उनका मानना था कि भगवान अरूप हैं। निराकार हैं, उनका कोई रंग रूप नहीं है। वे तो स ष्टि के कण-कण में विद्यमान हैं, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, सर्वव्यापक हैं परन्तु उन्हें न देखा जा सकता है न ही उनके स्वरूप को अभिव्यक्त किया जा सकता है। वे अनिवर्चनीय हैं। तुलसी से पूर्व राम का महत्व दशरथ के पुत्र के रूप में ही था। उन्हें बहुत कम लोग परात्पर ब्रह्म, अज एवं अविनाशी मानते थे। इसीलिए कबीर ने कहा है–

"दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना
राम नाम का मरम है आना।"

ऐसा कहकर उन्होंने राम के दशरथ-पुत्र को ब्रह्म से अलग कहा कहा था। परन्तु तुलसी ने 'भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी' कहकर उन्हीं ब्रह्मा को कौशल्यापुत्र या दशरथ पुत्र के रूप में प्रतिष्ठित करके अपने इष्टदेव को साधारण 'नर' से ऊपर उठाकर 'नारायण' के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

इस प्रकार उन्होंने हिन्दू धर्म में समन्वयवादी विचारों को प्रदान करके उनका कल्याण कर दिया था। वे केवल धर्म व दर्शन के क्षेत्र में ही समन्वयवादी नहीं थे। अपितु व्यवहार में भी समन्वयवादी थे। राम का पारिवारिक जीवन समन्वयवाद का सच्चा उदाहरण है। वे क्रोधी स्वभाव वाले लक्ष्मण के भी भाई थे तथा शांत एवं तपस्वी साधु संत भरत के भी भाई थे। उन्होंने कैकेयी का भी उतना ही सम्मान किया था जितना कौशल्या माता का। राज्य उनके लिए भोगने के लिए नहीं था अपितु प्रजा की सेवा करने के लिए था। तुलसीदास ने समाज व धर्म को एक नया रूप प्रदान किया था। जिस आधार पर वे विरोधी भावनाओं के समाप्त करने के इच्छुक थे। उनका मानना था कि लोक का कल्याण या लोक मंगल तभी संभव है जब धर्म, धर्म के साधन, धार्मिक विचार व मान्यताओं के विरोध को समाप्त कर दिया जाए। अतः कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि अनेक लोगों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। जिससे वे अपने समाज को पतन की राह से वापिस ला सके।

7. सच्चे समाजवाद की कल्पना–तुलसीदास के समय में समाज विच्छ ंखल हो चुका था। कहीं पर भी कोई मर्यादा नहीं रह गई थी। तब समाज आदर्शहीन, मर्यादाहीन पथभ्रष्ट तथा हीनभावनाओं से ग्रस्त हो गया था। नारी मात्र भोग विलास का साधन थी। चारों ओर विसंगतियां व्याप्त हो चुकी थीं। मुस्लिम साम्राज्य में हिन्दुओं को अनेक प्रकार के कष्ट दिए जा रहे थे। समाज में नारी वर्ग ही दु:खी नहीं था अपितु सभी किसी न किसी रूप में दु:खी थे। आजीविका का साधन न दिखाई देने पर गरीबों को अपने बेटे-बेटियों को बेचना पड़ रहा था। तुलसीदास की यही यथार्थवादी द ष्टि जहाँ एक ओर 'कवितावली' में प्रकट हुआ है वहीं दूसरी ओर 'रामचरितमानस' में भी यह भावना पर्याप्त रूप से प्रकट हुई है। 'मानस' में वे एक ओर राम की भक्ति को सच्चे हृदय से प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर रामराज्य की स्थापना करके समाज में ऐसा परिवर्तन चाहते हैं जहाँ सभी सुखी रहें। उन्होंने जिस सामाजिक जीवन को अंकित किया है उसका मूल आधार है–सदाचार। प्रत्येक समाज की अच्छाई एवं बुराई उसके आचार पर निर्भर रहती हैं। व्यक्ति और परिवार के आचरण देश व समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध होते हैं। राम यद्यपि क्षत्रियवंश में उत्पन्न होकर शक्ति, शील और सुंदरता के प्रतीक थे, परन्तु फिर भी वे वानरों और रीछों को गले से लगाते हैं। भीलनी (शबरी) के जूठे बेर खाते हैं। निषादराज को स्नेह प्रदान करते हैं। जटायु का श्राद्ध करते हैं। उन्होंने समाज के छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, ऊँच-नीच, जाति-पाँति, छुआछूत के भेद को नहीं समझा था। सभी में वे मानवता के दर्शन करते थे। शत्रु रावण के भाई विभीषण को भी अपनत्व प्रदान करता हैं, उसे अपना मित्र मानते हैं तथा लंका को जीतकर उसका राज्य

उसी (विभीषण) को प्रदान कर देते हैं। उन्होंने प्रजा से कहा कि–

"जौ अनीति कछु भायऊँ भाई।
तो मोहि वरनेउ भय बिसराई।।"

उन्होंने ऐसे समाज की कल्पना की थी जहाँ न कोई पीड़ित हो, न पीड़ा देने वाला हो, न कोई दरिद्र हो, न दुःखी हो। राम के राज्य में न कोई दैहिक दुःख था न मानसिक। तुलसीदास अपने युग की सामाजिक विषमता, बेबसी, दरिद्रता व दुःखी अवस्था से अत्यन्त व्याकुल थे। अतः उन्होंने लोककल्याण के लिए ऐसे समाज की कल्पना की थी जहाँ सभी सुख शांति और आनन्द से रह सकें। इस प्रकार स्वान्तः सुखाय कवित का स जन करने वाले तुलसी का काव्य लोक कल्याणकारी सिद्ध हुआ। वे काव्य के विषय में कहते थे–

"कीरति मनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।"

अर्थात् वही यश, कवि वाणी, सम्पत्ति कल्याणकारी है जो गंगा के समान सभी का हित करने वाली हो। इस प्रकार तुलसी की वाणी एक ओर उनकी भक्ति का जीता जागता उदात्त रूप है दूसरी ओर परिवार और समाज का कल्याण करने वाली है। उन्होंने अपने समय के विषाक्त वातावरण में रहकर स्वच्छ एवं निर्मल समाज की कल्पना की थी जो जन-जन के लिए कल्याणकारी हो। एक विद्वान के शब्दों में कहा जा सकता है–" 'रामचरितमानस' में भक्ति-सरोवर में जहाँ तुलसी स्वयं म जन करके निष्कलुष बने, वहां जनता को उनका रसाम त पान कराकर युगों तक अमर बना दिया। वे कोरे भक्त नहीं थे और न ही 'रामचरितमानस' को कोरी भक्ति का ग्रन्थ कहा जा सकता है उसमें लोक-समूह की भावना अत्यन्त बिखरी हुई हैं। उनकी भक्ति में एकान्तिक साधना नहीं, किंतु उनमें अंतःसंघर्ष के साथ लोक संघर्ष छिड़ा हुआ है।"

इस प्रकार से सिद्ध होता है कवि तुलसीदास ने लोकमंगल की पावन भावना की स्थापना की।

अध्याय 8
'रामचरितमानस' की प्रबंध कल्पना

"था भक्त, सुधारक था, कवि था, ज्ञानी था, परहितकारी था।
भारत माता के मन्दिर का वह एक अनन्य पुजारी था।।
म दुमानस का सर्वत्र सुलभ अक्षय प्रवाह वह बहा गया।
कागत के पत्रों को तुलसी 'तुलसीदास' जैसा बना गया।।"

'रामचरितमानस' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास भारतीय संस्कृति के अमर गायक, मर्यादापुरूषोत्तम राम के भक्त-शिरोमणि व लोकप्रिय कवि थे। वे अपने युग के स ष्टा थे। कलिकाल के बाल्मीकि थे तथा जनमानस के प्रतिनिधि कवि थे। यह कहना अतिश्योक्ति न होगी कि वे महात्मा बुद्ध के पश्चात् सबसे बड़े लोकनायक थे। उन्होंने भारत के विविध धर्मों, विभिन्न मतों, अनेक जातियों को एकता के सूत्र में पिरोने का प्रयास किया था। वे ज्ञानी थे, भक्त थे, समाज-सुधारक थे, पण्डित थे, भारतीय संस्कृति के कीर्ति थे, उच्च कोटि के साधु थे, जनमानस के प्रतिनिधि कवि थे। उनकी सर्वोत्तम और लोकप्रिय कृति-'रामचरितमानस' भारतीय धर्म, विचार, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास व काव्य का अनूठा दर्पण है। जिसके प्रति आज भी भारतीय जनमानस श्रद्धा से नत-मस्तक है। जिसका धर-घर में प्रतिदिन पाठ होता है जिसके प्रति भारतीय नर-नारियों की असीम भक्ति है। इसमें सत्यं शिवम् सुन्दरम् की भावना निहित है तथा जिसकी अनुपम मर्यादा और आदर्श मानव जीवन के लिए प्रेरणा-स्त्रोत बना हुआ हैं यह अद्वितीय व अनुपम रचना केवल भारत के लिए ही नहीं, बल्कि समस्त स ष्टि के लिए गहनीय रही है। भारतीय व अभारतीय विद्वानों और मनीषियों ने इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है फिर भी जिसका समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका। वास्तव में यह एक अनिर्वचनीय काव्य, धर्मशास्त्र या शिक्षाप्रद ग्रन्थ है।

1. महाकाव्य का स्वरूप व परिभाषा—'रामचरितमानस' साहित्य की द ष्टि से क्या है ? यदि इस विषय पर विचार किया जाता है तो भारतीय काव्य शास्त्रों में काव्य मूलतः दो प्रकार के माने गये हैं—(1) प्रबंधकाव्य, (2) मुक्तक काव्य। यह कृति रामकथा पर आधारित है अतः मुक्तक काव्य तो हो नहीं सकती, प्रबंध काव्य की श्रेणी में ही संभव है। प्रबंधकाव्य में भी यह व हद्‌काकार होने के कारण महाकाव्य ही हो सकती है। महाकाव्य के विषय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की धारणाएं एक जैसी, किसी रूप में भिन्न भी रही हैं। भारतीय आचार्यों में भामह, दण्डी, रूदट, आनंदवर्धन, हेमचन्द्र आदि ने महाकाव्य के जो लक्षण दिए हैं उन्हें प्रायः एक सूत्र में बांधकर आचार्य विश्व ने महाकाव्य को निम्नलिखित विशेषताएं प्रस्तुत की हैं—

(क) महाकाव्य का कथानक विशाल होता है जो सर्गों में विभक्त किया जाता है।

(ख) इसका एक नायक होता जो या तो कोई देवता होता है अथवा उच्च क्षत्रिय वंश में उत्पन्न कोई राजा होता है जो धीरोदात्त गुणों से युक्त होता है।

(ग) श्रंगार, वीर व शान्त इन तीन रसों में से कोई एक रस प्रमुख रूप से रहता है शेष रस गौण रूप में होते हैं।

(घ) इसमें नाटक की पाँच संधियाँ (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण) होती हैं।

(ङ) इसका उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक वर्ग की प्राप्ति रहता है।

(च) इसका कथानक या तो इतिहास प्रसिद्ध होता है अन्यथा किसी सज्जन के चरित्र पर आधारित होता है।

(छ) इसमें इस प्रकार का मंगलाचरण रहता है जो आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक या कथावस्तु का निर्देशक हो।

(ज) इसमें खल-निन्दा व सज्जन प्रशंसा का समावेश रहता है।

(झ) कथावस्तु का विभाजन कम से कम आठ सर्गों में रहता है जो न तो बहुत लघु आकार के हो ओर न बहुत बड़े हो।

(ञ) प्रत्येक सर्ग के अन्त में छंद-परिवर्तन होता है जो भाषी कथा की सूचना देने वाला होता है। इसमें विविध छन्दों की योजना रहती है।

(ट) इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, प्रातः, अंधकार, मध्याह्न, वन, पर्वत, ऋतु, समुद्र, यात्रा, संयोग-वियोग आदि का वर्णन होता है।

(ढ) प्रत्येक सर्ग का नामकरण उसकी कथावस्तु के अनुरूप होता है तथा महाकाव्य का नामकरण नायक, कथानक, कवि या अन्य आधार पर किया जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्य को Epic कहकर पुकारा है। अरस्तु, एवरक्राम्बी, सी० एम० बोवरा, हीगेल आदि विद्वानों ने महाकाव्य की परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं। एक विद्वान का कथन है—An Epic is the Mirror of this world and contains all in itself अर्थात् महाकाव्य विश्व का दर्पण है। एवरक्राम्बी केवल व हद्‌काकार वर्णनात्मक प्रबन्ध के कारण ही किसी रचना को महाकाव्य नहीं मानते, अपितु उनके अनुसार महाकाव्य उसी प्रबन्ध को कहेंगे जिसकी शैली महाकाव्योचित होगी और जिसमें कवि की कल्पना और विचारधारा का उदात्तरूप दिखाई पड़ेगा। इसमें एक पुष्ट, स्पष्ट प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो महाकाव्य की गति का आद्यान्त संचालन करता है। वास्तव में पाश्चात्य व भारतीय विद्वानों ने जो महाकाव्य की परिभाषाएँ की हैं। वे मूल रूप से अथवा आकार-प्रकार की द ष्टि से एक ही हैं। सर्वत्र उसकी आत्मा एक जैसी है। महान् कथानक, महान चरित्र, व हद् कार्य, गरिमामयी शैली विस्त त वर्णन आदि सभी में समान है। इतना अवश्य है कि पाश्चात्य महाकाव्यों में रस, छंद आदि की द ष्टि से असमानता है। परवर्ती या आधुनिक विद्वानों ने भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को लेकर मोटे तौर पर महाकाव्य के कतिपय सामान्य लक्षणों को लेकर आधुनिक महाकाव्यों का मूल्यांकन किया है। महाकाव्य के गौण लक्षणों पर ध्यान देना अपेक्षित नहीं समझा है। 'रामचरितमानस' एक भारतीय महाकाव्यात्मक गौण लक्षणों पर ध्यान देना अपेक्षित नहीं समझा है। 'रामचरितमानस' एक भारतीय महाकाव्यात्मक रचना है। इसके महाकाव्यत्व के विषय में अलग-अलग धारणाएँ हैं-

2. 'रामचरितमानस' महाकाव्य नहीं हैं—भारतीय हिन्दी और संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में 'रामचरितमानस' अत्यन्त प्राचीन है। अधिक संभव है कि संस्कृत के महाकाव्यों के आधार पर संस्कृताचार्यों ने महाकाव्य की परिभाषाएं प्रस्तुत की हों। कुछ विद्वान 'रामचरितमानस' को महाकाव्य स्वीकार नहीं करते। इस विषय में डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने निम्नलिखित तर्क दिए हैं—

(क) महाकाव्यों के लक्षणों में सर्ग संख्या, छंद योजना, मंगलाचार, सज्जन प्रशंसा, खल-निन्दा, पंच संधियों, रस योजना, प्रकृति चित्रण, विविध वर्णन आदि गौण लक्षण हैं वे भले ही 'रामचरितमानस' में प्राप्त हो जाएं, परंतु इस रचना में महाकाव्य के प्रमुख लक्षणों का अभाव है।

(ख) महाकाव्य के लक्षण में नायक या तो कोई देवता होता है या धीरोदात्त कुलीन क्षत्रिय वंशीय मानव। 'मानस' में नायक राम है जो अज, अद्वैत, अविनाशी, परमेश्वर, पर ब्रह्म हैं; ब्रह्म, विष्णु

और महेश को भी नचाने वाले हैं। उनका मानव रूप दिखावा मात्र है। स्वयं तुलसीदास कहते हैं–

"नट इव कपट चरित कर नाना।
सदा स्वतंत्र एक भगवाना।।
अन्यत्र भी कहा गया है–
जथा अनेक वेश धरि, न त्य करइ नट रोइ।
सोई-सोइ भाव देखावह, आपुन होइ न सोइ।।"

अतः नायक द ष्टि से 'रामचरितमानस' महाकाव्य नहीं हैं।

(ग) 'रामचरितमानस' का प्रतिपाद्य महाकाव्य के समान नहीं है। उसका प्रतिपाद्य तो राम के परब्रह्मत्व का निरूपण है। अतः प्रतिपाद्य की द ष्टि से यह महाकाव्य नहीं है।

(घ) महाकाव्य का उद्देश्य चतुवर्ग में से एक की प्राप्ति है वहाँ 'मानस' का उद्देश्य भक्ति मार्ग की स्थापना है यद्यपि तुलसीदास यह घोषण करते हैं कि उन्होंने यह ग्रन्थ स्वान्तसुखाय लिखा था। कवि ने स्वयं कहा है-

"स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।
भाषानिनिबन्धबन्धमतिमंजुलमातनेति।।"

परन्तु इसका मुख्य उद्देश्य राम की भक्ति का प्रचार हो रहा है। अतः उद्देश्य की द ष्टि से भी यह महाकाव्य नहीं है।

(ङ) जहाँ तक शैली का प्रश्न है वह भी 'मानस' में सर्वथा भिन्न है। इस विषय में 'डा० श्रीकृष्णलाल का कथन है–"परस्पर प्रशंसा करने की प्रव ति, घुमा-फिराकर बातें कहने का ढंग, अवान्तर प्रसंगों की अवतारणा तथा एक संवाद के भीतर अन्य संवादों का अत्यधिक विस्तार मिलता है। वही मानस की पौराणिक शैली का प्रत्यक्ष प्रमाण है। काव्यों के संवाद इस प्रकार के नहीं होते, वे एक महती भावना से अनुप्राणित होते हैं। उनमें सरलता के साथ गंभीरता तथा स्पष्टता के साथ एक सहज और स्वाभाविक आवेश होता है। 'मानस' के सभी संवादों में एक प्रकार की कृत्रिमता दिखाई देती है, उनमें लच्छेदार बातें तो प्रचुर मात्रा में हैं, परन्तु तर्कसंगत बात का लेश नहीं।"

अतः कहा जा सकता है कि 'मानस' में पौराणिक शैली का समावेश है, महाकाव्यात्मक शैली नहीं है।

(च) डॉ० श्रीकृष्ण लाल 'रामचरितमानस' को महाकाव्य नहीं मानते, बल्कि पुराण काव्य कहते हैं। पुराण का अर्थ है-पूर्वकाल में कही गई परम्परा। मानस में भी यह परम्परा प्राप्य है। तुलसीदास का कथन है कि भगवान शिव ने इस चरित को बनाया था और कृपा करके उसे उमा को सुनाया था। उसी को शिवजी ने काकभुशुंडि को सुनाया। काकभुशुंडि से यज्ञावल्क्य ने और उनसे भारद्वाज ने प्राप्त किया था। उसी चरित को तुलसीदास ने अपने गुरू न सिंह से सुना था जिसे श्रोताओं के कल्याण के लिए प्रयास किया था, जैसाकि 'मानस' में कहा है।

"संभु कीन्ह यह चरित सुहावा।
बहुरि कृपाकरि उमहि सुनावा।।
सोइ सिव काकभुशुंडि दीन्हा।
रामभगत अधिकारी चीन्हा।।"

इन आधारों पर विद्वान डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने इसे महाकाव्य नहीं माना है।

3. रामचरितमानस का महाकाव्यत्व—'रामचरितमानस' में पौराणिक शैली का आभास भले ही हो, परन्तु पुराण के समस्त लक्षण नहीं हैं। पुराणों में जो स ष्टि, लय, मन्वन्तर, ऋषियों, मुनियों आदि का वर्णन होता है वह इसमें नहीं है। यह महाकाव्य के स्वरूप और लक्षणों से अधिक समानता रखता है। डॉ० रामदत्त भारद्वाज का कथन है, "रामचरितमानस ही संसार का ऐसा अकेला महाकाव्य है जिसका करोड़ों व्यक्तियों के बीच धर्मग्रन्थ और काव्य दोनों ही रूपों में आदर है और अकेले उस ग्रन्थ ने ही लोक जीवन को जितनी गहराई तक प्रभावित किया है, उतना संसार के किसी भी महाकाव्य ने शायद ही कभी किया हो।"

वस्तुतः महाकाव्य सम्पूर्ण निश्चित सीमाओं में बंधकर नहीं चलते। हिन्दी के महाकाव्यों में चाहे 'पद्मावत' हो या कामायनी, 'साकेत' हो या 'प्रियप्रवास' सभी में महाकाव्य के लक्षण समान नहीं हैं। इतना निश्चित है कि 'रामचरितमानस' पुराण न होकर महाकाव्य है, परन्तु उसकी महाकाव्यात्मका अन्य महाकाव्यों से किसी न किसी रूप में अवश्य प थक् होगी। तुलसीदास पुराणकार नहीं थे, उनके अन्य काव्य जैसे -'कवितावली', 'विनयपत्रिका' आदि में काव्यत्व है, पुराणत्व नहीं है। जिस आधार पर तुलसीदास को काव्यकार ही कहा जा सकता है। 'रामचरितमानस' में महाकाव्य के विविध लक्षण पाये जाते है जो इस प्रकार है।

4. व हद् कथानक—'रामचरितमानस' के नाम से ही ज्ञात है कि इसमें मुख्य कथा राम के जीवन से सम्बन्धित है। इस महाकाव्य के सम्पूर्ण कथानक को सात भागों में विभक्त किया जाता है।

"सप्त प्रबंध सुभग सोपाना।
ग्यन नयन निरखत मनमाना।।"

वे सात काण्ड हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किंधा काण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्ड। 'बालकाण्ड' सभी काण्डों में बड़ा है इसमें 1800 छंद हैं। इसमें मंगलाचरण राम महिमा, राम जन्म तथा उसके जीवन की वे सभी धटनाएँ सूक्ष्मता से प्रस्तुत हैं जब राम जनकपुरी में जाते हैं और शिवजी का धनुष तोड़कर सीता स्वयंवर में पति के रूप में वरण किए जाए, 'अयोध्याकाण्ड' में राम के राज्याभिषेक की तैयारी होती है। उन्हें वनवास होता है। वे चित्रकूट में जाकर रहने लगते हैं। इधर उनके पिता दशरथ की म त्यु होती है व भरत वन में जाकर को राज्य करने की प्रार्थना करते हैं, पुनः उनकी चरण पादुका लेकर अयोध्या वापिस आते हैं। 'अरण्यकाण्ड' अपेक्षाकृत छोटा है। जैसा कि इसके नाम से ज्ञात है कि राम वनवास का चित्रण है तभी सीता का हरण होता है, शबरी की भक्ति भी प्रदर्शित है। 'किष्किन्धा काण्ड' सब काण्डों में लघुतम आकार लिये हुए है जहाँ राम की हनुमान से भेंट हुई है, सुग्रीव की राम से मित्रता होती है, बाली का वध किया जाता है तथा सीता का पता लगाने के लिए हनुमान चल देते हैं। 'सुन्दरकाण्ड' में हनुमान लंका में प्रवेश करते हैं, लंका-दहन होता है, लंका पर आक्रमण की योजना की जाती है। विभीषण राम के चरणों में आ जाते हैं। 'लंकाकाण्ड' में समुद्र पर सेतु का निर्माण करके समुद्र का उल्लंघन किया जाता है, लक्ष्मण-मूर्छा, राम प्रलाप, कुंभकरण वध, मेघनाथ वध, राम-रावण युद्ध व रावण की म त्यु आदि घटनाएँ, इसमें वर्णित हैं। अन्तिम काण्ड 'उत्तरकाण्ड' है। जिसमें राम का अयोघ्या लौटना, अयोध्या में सभी से मिलाप करना, वहीं पर सुग्रीव, विभीषण, अंगद आदि का परिचय सभी से कराया जाता है और ससम्मान सभी को विदा किया जाता है। राम के राज्याभिषेक के समय नगर में खुशियाँ मनाई जाती हैं तथा राम के राज्य का वर्णन किया जाता है और सन्त लक्षण आदि भी प्रस्तुत हैं। ज्ञानमार्ग में कठिनाई व भक्तिमार्ग का उपदेश भी प्रस्तुत है। विशेषतः राम का गुणगान भी किया गया है।

वास्तव में राम की कथा लोक में पर्याप्त प्रचलित व सर्वविदित है। अतः उसका विस्तारपूर्वक कथन अपेक्षित नहीं है। भाव यह है कि राम का जीवनव त इस महाकाव्य के लिए सर्वथा उपयुक्त

कथानक है जो अपने में ब हदाकार है। यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि महाकाव्य की कथावस्तु कम से कम सात सर्गों में विभक्त होनी चाहिए जबकि 'रामचरितमानस' का कथानक केवल सात काण्डों में विभक्त है। पश्चिमी महाकाव्यों में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। जहाँ तक सर्ग के स्थान पर 'काण्ड' नामकरण किया गया है वहां अपभ्रंश के महाकाव्यों में 'सन्धि' आदि नामों से कथावस्तु का विभाजन किया गया है। जहाँ तक काण्डों का नामकरण का प्रश्न है वह उस काण्ड की घटना के आधार पर प्रस्तुत है जो सर्वथा उपयुक्त है। कथानक अत्यन्त लोकप्रिय व इतिहास प्रसिद्ध है। एक विद्वान आलोचक का कथन है—'रामचरितमानस' तुलसीदास का सबसे महत्वपूर्ण एवं सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसमें रामकथा के साथ जीवन के प्रश्नों को व्यापक धरातल पर उठकर समाधान खोजने को प्रयास किया गया है। तुलसी का सारा दर्शन, भक्ति समन्वय भावना इसी रचना में पूर्ण गरिमा के साथ अभिव्यक्त हुई है।"

5. इतिहासकार प्रसिद्ध एवं कुलीन नायक तथा अन्य पात्र—'रामचरितमानस' का नायक मर्यादा पुरूषोत्तम राम है। जो ऐतिहासिक दिव्य पुरूष है तथा क्षत्रिय वंश में उत्पन्न है। कवि कहता है—

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम को मरम न जाना।।

राम की सबसे बड़ी विशेषता है कि मर्यादा पालन करने वाले हैं, वे परोपकारी, पाप विनाशक, भक्तों के रक्षक व धर्म के उद्धार के लिए युग-युग में अवतार लेते हैं। उनमें शील, शक्ति, व सौन्दर्य का समन्वय है। सौन्दर्य में वे तीन भुवनों की लज्जित करने वाले हैं। शक्ति द्वारा दुष्टों व पापियों को दहन करने वाले हैं तथा प्राणियों के लिए अनुकरणीय हैं। वे मर्यादा पुरूषोत्तम हैं और आदर्श की प्रतिष्ठा करने वाले भी हैं। उन्होंने अधर्म का विनाश व धर्म की रक्षा की है। राम ने ग हस्थ धर्म की उपेक्षा नहीं की, जबकि लोक सेवक बनकर सच्चे ग हस्थ धर्म की मर्यादा का पालन किया था। सीता के साथ विवाह करके जैसे सीता ने पतिव्रत धर्म का पालन किया था उसी प्रकार राम ने एक पत्नीव्रत का निर्वाह किया। राम के जीवन का आदर्श पक्ष सदा उन्नतशील रहा है। बाल्यावस्था से लेकर जीवनान्त तक उन्होंने सामाजिक मर्यादा का पालन किया था। उनके जीवन में कहीं पर भी कोई भी पक्ष या रूप ऐसा नहीं प्राप्त होता है, जहाँ उन्होंने सामाजिक व आदर्शवादी मर्यादा को तोड़ा हो। माता-पिता, भाई-बहन, सम्बन्धी मित्र, शुभ-अशुभ, सेवक-गुरू, सामान्य नागरिक या पूज्य ऋषि, पत्नी, ससुर आदि सभी के प्रति उनका व्यवहार जिस आदर्श की प्रतिष्ठा करता है—वह इतिहास आज तक नहीं भुला सका, क्योंकि इस दशा में उनका सानी कोई नहीं हुआ। एक विद्वान आलोचक का कथन है कि राम आदर्श पुत्र है, वे आदर्श राजा भी है, सीता आदर्श पत्नी है। कौशल्या आदर्श माता है। लक्ष्मण और राम आदर्श भाई हैं, उनका हनुमान आदर्श सेवक हैं, सुग्रीव आदर्श सखा है। इस काव्य में जीवन का मूल्यांकन आचार की कसौटी पर किया गया है। राजा प्रजा, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, स्वामी-सेवक के सुन्दर अथच स्वस्थ सम्बन्धों पर आध त समाज आचार के बल पर ही जी सकता है। राम मर्यादा पुरूषोत्तम हैं। 'आदर्श' की प्रतिष्ठा करके उनके जीवन का अथ और इति है। मर्यादा और आदर्श की प्रतिष्ठा करना मानो उनके जीवन का उद्देश्य था। उनके सामने चाहे कितनी ही विषम से विषम परिस्थिति हों, वे अपने मनोबल से उसका सामना करते रहे। आपत्ति में वे घबराए नहीं।

दस महाकाव्य में ऐसे पात्र भी हैं जिन्हें अपनी करनी का फल मिल गया। रावण और शूर्पणखा ने काम की मर्यादा का अतिक्रमण किया तो उन्हें इसका दण्ड मिल गया। रावण व परशुराम में मद की अतिशय थी। राम में भी अपनी वीरता का गर्व था जो सीमा का उल्लंघन का करना नहीं ज्ञात होता। राम अत्यन्त भ्रम, विनयी, विनम्र, शान्त स्वभावी, क्षमावान, परोपकारी व मर्यादा का पालन करने वाले थे। एक विद्वान का कथन है, "सच यह है कि 'रामचरितमानस' के

पात्रों द्वारा तुलसीदास ने जिन नैतिक मूल्यों की स्थापना की वे जनता के मनोबल को द ढ़ करने वाले थे, उसे संघर्ष के रास्ते पर आगे बढ़ाने वाले थे। वस्तुतः तुलसीदास ने समग्र उत्तरी भारत के जीवन को राममय बना दिया था।" 'रामचरितमानस' में अनेक पात्र हैं जिन्हें तीन कोटि में रख सकते हैं, सत्वगुण, राजगुण प्रधान व तम गुण प्रधान। इन तीनों प्रकार के पात्रों का चरित्र-चित्रण इस महाकाव्य में प्राप्त है। अन्त में राम की रावण पर विजय दिखाकर मानो धर्म की अधर्म पर विजय दिखाई गयी है। चरित्र-चित्रण में तुलसी अनुपम कलाकार थे। राम, सीता, लक्ष्मण, आदि चरित्र मानव जाति को नूतन संदेश देते हुए दिखाई पड़ते हैं।

6. रसाभिव्यक्ति ओर विविध भाव—तुलसी रससिद्ध कवि थे उसका यह काव्य भक्ति के रस से परिव्यपाप्त रस है। काव्य के सभी रसों का समावेश इस रचना में प्राप्त है। यद्यपि 'रामचरितमानस' का प्रमुख रस शान्त है। तुलसी का काव्य विराट् है उसमें रसों का समावेश यथास्थान दिखाई पड़ता है। इतना अवश्य है कि मर्यादा पर चलते रहे इसी कारण उनके काव्यों में श्रंगार रस की योजना मर्यादा रूप में या संयमित रही है। वे स्वयं यह कहते हैं—

'जगत मातु पितु संभु भवानी।
तेहि सिंगारू न कहऊँ बखानी।।'

अर्थात् शिव और पार्वती जगत् के माता-पिता हैं इसी कारण उनका श्रंगारिक वर्णन मैं नहीं करता हूँ यही पूज्य द ष्टि उनकी राम और सीता के प्रति भी रही है। 'रामचरितमानस' में पुष्पवाटिका प्रसंग में जब सीता ने राम के दर्शन किए तो कवि कहता हैं—

'नख-सिख देखि राम के सोभा।
सुमरि पिता पनु भनु अति छोभा।।'

राम ने भी जब सीता के नुपुरों की ध्वनि सुनी तो राम राम के हृदय की आवाज को अंकित करते हुए कवि कहता हैं—

"देखि सीय सोभा सुखु पावा।
हृदय सराहत वचनु व आवा।।
जनु विरंचि सब निज निचुनाई।
विरचि विश्व कह प्रकटि दिखाई।।"

इस प्रकार श्रंगार रस का समावेश सीमित दायरे में प्रस्तुत है, परन्तु हास्य रस विविध प्रसंगों में है जैसे लक्ष्मण-परशुराम प्रसंग, केवट-राम प्रसंग इत्यादि में सुन्दर हास्य रस की योजना है। खरदूषण के कटक पर राम का आक्रमण व राम-रावण युद्ध का प्रसंग वीर रस से युक्त हैं। रौद्र रस की अभिव्यक्ति लक्ष्मण में कई बार दिखाई पड़ी है जैसे सीता स्वयंवर में जब राजा जनक कहते हैं—'वीर विहीन मही मैं जानी' तो लक्ष्मण क्रोधित हो उठते है और उनकी जनक प्रति उक्ति रौद्ररसमय हैं। इसी प्रकार चित्रकूट में लक्ष्मण का क्रोध, युद्ध में राम का रावण के प्रति क्रोध आदि प्रसंगों में भयानक रस है। राम-रावण युद्ध की परिसमाप्ति पर वीभत्स रस की अभिव्यक्ति है तो दशरथ-म त्यु का प्रसंग, सीताहरण, लक्ष्मण मूर्छा आदि प्रसंगों में करूण रस की योजना की गयी हैं। अतः विविध रसों की अभिव्यक्ति प्रसंगानुसार 'रामचरितमानस' में प्राप्त है। भक्ति रस का समावेश इस काव्य में आदि से अन्त तक हुआ है इसका मूल कारण यह था कि तुलसी मूलतः भक्त थे और उनकी भक्ति प्रमुखतः दास्य थी। रामकथा का पर्यावसान शान्तरस में हुआ है।

तुलसी भावना के कवि थे अतः उनके इस काव्य में विविध भावों की योजना प्राप्त है। तुलसी ने मानव-मन के अन्तस तल तक पहुँच कर उसकी विविध दशाओं, परिस्थितियों और रूपों को ज्ञात

किया था तथा उनके मार्मिक से मार्मिक भावों का चित्रण किया था। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का कथन है कि मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं उतना अधिक हिन्दी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौन्दर्य है, प्रफुल्लता है, शक्ति है तो प्रणति है, शील है तो हर्ष है, पुलक गुण है तो आदर है, पाप है तो घ णा है, अत्याचार है तो क्रोध है, अलौकिकता है तो विस्मय है, महत्व है तो दीनता तुलसीदास के हृदय में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने विशेष रूप में तत्कालीन दार्शनिक व धार्मिक मान्यताओं को एकता में बांधने का प्रयास किया है स्वयं कवि भक्त को महत्व देते थे, फिर भी ज्ञानमार्ग की उन्होंने उपेक्षा नहीं की थी। वे कहते हैं–

"ग्यानहि भगतहि नहि कछु भेदा।
उभय हरहि भव संभव खेदा।।"

तुलसी समन्वयवादी कवि थे अतः उन्होंने परमसत्ता के निर्गुण व सगुण में, निराकार व साकार रूप में समन्वय किया था। इतना ही नहीं, उनकी भावना समाज की विषमता को दूर करने वाली थी। उन्होंने धर्म, व्यवहार को, विचारों को ऐसा समन्वयवादी रूप दिया था जो सभी को स्वीकार्य हो। उन्होंने धर्म के विषय में कहा था।

"परहित सारस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।"

परोपकार के समान कोई धर्म नहीं है व दूसरों को कष्ट देने वाले के सामन कोई अधर्म नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे सच्चे समाज सुधारक थे। अतः उनके काव्य में धर्म, जाति, समाज आदि के प्रति अतीव उदात्त भावनाएँ हैं।

8. **विविध वर्णन व प्राकृतिक चित्रण**–'रामचरितमानस' एक व हदाकार महाकाव्य है इसमें वर्णनों की विविधता ही नहीं, बल्कि कहीं-कहीं वर्णन अति विस्त त भी है। राम की बाल लीला, सीता स्वयंवर, राम-विवाह, कैकेयी-मंथरा का संवाद, चित्रकूट प्रसंग, भरत का चित्रकूट-गमन, भरत को ससैन्य देखकर लक्ष्मण का क्रोध, राम का पिता की म त्यु पर दुख व श्राद्ध करना, राम-भरत सेवक आदि प्रसंग अत्यन्त सुन्दर हैं। इनका वर्णन कवि ने खुलकर किया है। कहीं-कहीं तो ऐसी चित्रात्मकता है जैसे कवि ने उन द श्यों को देखा हो। यथास्थान कवि ने प्राकृतिक चित्रण भी किया है। प्राकृतिक चित्रण प्रायः आलम्बन रूप में है, कहीं-कहीं उद्दीपन रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिए भरत जब वन प्रदेश में स्थित राम से मिलने जाते हैं तो चित्रकूट जाते समय मार्ग में सुन्दर वन प्रदेश हैं। कवि ने उनका विस्त त वर्णन किया है जो प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण है जैसे–

"झरना झरहि मत्रगज गाजहिं।
मनहुँ निसात विविध विधि बाजहिं।।
चक चकोर चातक सुक पिक गन।
कूजत भंजु मराल मुदित मन।।"

'अरण्यकाण्ड' में राम का अगस्त्य आदि ऋषियों के दर्शन करते हुए पंचवटी में पर्णकुटी बनाकर रहना, वहाँ पर रावण की बहिन शूर्पणखां राम के रूप पर मोहित होकर कहती है–

"मम अनुरूप पुरूष जग माहीं।
देखेऊँ खोजि लोक तिहुँ नहीं।।
ताते अब लगि रहिऊँ कुमारी।
मनु माना कछु तुम्हहिं निहारी।।"

आदि वर्णन भी भले ही लघु हों, परन्तु अतीव सुन्दर है। सीताहरण, जटायु की अन्त्येष्टि, राम सुग्रीव-मैत्री, वानरों का सीता की खोज करना आदि वर्णन सुन्दर बन पड़े हैं।

"दामिनि दमक रही घन माहीं।
खनकै प्रीति जथा थिर नाहीं।।
वरषहिं जलद भूमि निअराएँ।
जथा नवहिं बुध विद्या पाए।।
बूंद अघात सहहिं गिरि कैसें।
खलके वचन संत सह जैसे।।

वर्षा के पश्चात् शरद ऋतु का भी कवि ने मनोरम चित्रण किया है। 'सुन्दरकाण्ड' में हनुमान का लंका प्रस्थान, लंकावर्णन, सीता की खोज करना, अशोक वाटिका का विध्वंस, लंकादहन, वानरों का समुद्र पार करना आदि वर्णन भी मनोरम हैं। समुद्र का मानवीकरण किया गया है वह राम के पास आकर कहता है—

"समय सिन्धु गहि पद प्रभु केरे।
घमहुनाथ सब अवगुन मेरे।।
गगन समीर अनल-जल धरनी।
इन्ह कई नाथ सहज जड़ करनी।।"

'लंकाकाण्ड' में विविध वर्णनों के युद्ध का सजीव वर्णन किया गया है। साथ ही, लक्ष्मण-मूर्छा पर राम का विलाप अत्यन्त करूणापूर्ण है तथा हृदयद्वावक है। राम लक्ष्मण को मूर्छित देखकर कहते हैं—

"सुत वित नारि भवन परिवारा।
होहि जाहिं जंग बार्राह बारा।।
अस विचारि जिउं जागहु ताता।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।।"

राम का उनके प्रति सगे भाई जैसा प्रेम है। 'उत्तरकाण्ड' में राम का अयोध्या आना, राम का राज्याभिषेक तथा रामराज्य का वर्णन अतीव मनोरम है इस प्रकार इस महाकाव्य की वर्णन योजना व प्राकृतिक चित्रण अकृत्रिम व आह्लादकारी है।

9. पंचसधियों का समावेश—'रामचरितमानस' में नाटकीय पंच संधियों का पूर्ण निर्वाह हुआ है। डॉ० रामदत्त भारद्वाज ने उनका विवेचन इस प्रकार किया है—बालकाण्ड के आरंभ में उल्लेख है कि राक्षसों के अत्याचारों से पीड़ित होकर प थ्वी और देवगण ब्रह्माजी के पास जाते हैं और भगवान् विष्णु आकाशवाणी के द्वारा उन्हें सांत्वना प्रदान करते हैं। काव्य के इस स्थल में मुखसंधि है। प्रतिमुख संधि उस स्थल में केन्द्रित है जब राम वन में निवास करते हैं और सीता हरण होता है। राम-सुग्रीव मित्रता, सीता-खोज, लंका से हनुमान के प्रत्यागमन आदि में गर्भसंधि है। युद्धाभिमान, सेतु निर्माण आदि में विमर्श संधि है। रावण वध से अयोध्या में रामराज्य तक की स्थापना तक के वर्णन में निर्वहरण संधि है। अतः संधि योजना की द ष्टि से भी यह महाकाव्य है।

10. गरिमामयी भाषा-शैली—तुलसीदास नाना शास्त्रों के ज्ञाता थे वं संस्कृतज्ञ थे। फिर भी उनकी मात भाषा ब्रजावधि थी जिसका प्रयोग उन्होंने 'रामचरितमानस' में किया है। इस काव्य के आदि में उन्होंने संस्कृत के श्लोक भी प्रस्तुत किए हैं। ऐसा प्रस्तुत होता है कि संस्कृत लिखने की

उनकी कोई इच्छा न थी वे अपने विचार जनभाषा में ही प्रस्तुत करना चाहते थे। जैसाकि उन्होंने कहा हैं–

'गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान'

भाषा अवधी व ब्रज का मिश्रण रूप होने पर भी उन्होंने अयोध्या, चित्रकूट, राजापुर व काशी में निवास किया था तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश में रहने के कारण उन पर मुसलमानी भाषाओं का भी प्रभाव रहा है। इसी कारण उनकी भाषा में अरबी, फारसी, उर्दू, राजस्थानी, पंजाबी आदि के शब्द मिल जाते हैं।

'मानस' में मुख्य रूप से दोहों और चौपाइयों का प्रयोग है। परन्तु सोरठा, हरिगीतिका, तोतक, नाराच, भुजंगप्रयात आदि अनेक छन्द भी प्राप्त है। महाकाव्य के नियमों के अनुसार प्रत्येक सर्ग के अन्त का पद परिवर्तित छंद में होना चाहिए। काण्ड के अन्त में हरिगीतिका छंद है। संस्कृत व ब्रजभाषा को उन्होंने इतने सुन्दर ढंग से संजोया है कि भाषा महाकाव्य के अनुरूप बन पड़ी है। फिर भी उनकी शैली को व्यास-शैली कहना चाहिए क्योंकि उनके पद भावों की गहनता को लेकर भी सहज ज्ञातव्य है।

तुलसीदास की कविता-कामिनी अलंकारों से सहज सुसज्जित हैं। विविध अलंकारों का प्रयोग होने पर भी वह अलंकारों से लदी हुई नहीं है, बल्कि सुशोभित है। विविध शब्दालंकारों व अर्थालंकारों की योजना 'रामचरितमानस' में प्राप्त है। फिर भी उपमा अलंकार का प्रयोग सबसे अधिक है। शायद ही कोई ऐसा प ष्ठ हो जहां पर उपमा का सौन्दर्य न बिखरा हुआ है। कुछ विद्वान तो तुलसी की उपमा को संस्कृत के महाकवि कालिदास से भी अधिक मानते हैं। उपमा अलंकार का उदाहरण इस प्रकार है–

"निज अध समुझि न कछु कहि जाई।
तवै अवा इव उर अधिकाई।।"

(अपना आप समझकर कुछ कहते नहीं बनता, परन्तु हृदय कुम्हार के आवे के समान अत्यन्त जलाने लगा है।) यहाँ पर सती के आन्तरिक पश्चात को 'आवा' की समानता करके सुन्दर रूप से व्यक्त किया है। इसी प्रकार तुलसी कहते हैं–

"कीरति भनिति भूति भलि होई।
सुरसरि सम सब कहै हित सोई।।"

यश, वाणी, सम्पदा को गंगा के समान हितकारी मानकर उसकी प्रशंसा की है। तुलसीदास उत्प्रेक्षा अलंकार के प्रयोग में भी सिद्धहस्त थे। कहा जाता है कि मानस उत्प्रेक्षाओं का रत्नाकार है। उदाहरण के लिए सीता की सुन्दरता के लिए कवि कहता है–

सुन्दरता कहै सुन्दर करई।
छविग्रह दीपशिखा जनु बरई।।

(सीता की सुन्दरता मानो सुन्दरता को भी सुन्दर करने वाली है। मानो सुन्दरता रूपी घर में दीपक की लौ जल रही है।)

रूपक अलंकार के तो तुलसी सम्राट माने जाते हैं। विशेष रूप से उनके सांग रूपक अलंकार अतीव कमनीय हैं। रामचरितमानस सर, विश्वरूप रघुवंश मणि, संसार-विटप, ज्ञान दीप आदि सांग रूपक 'मानस' में अत्यन्त लोकप्रिय हैं। कवि ने लोक प्रचलित इन दो-तीन अलंकारों का प्रयोग बहुत अधिक किया है जिससे उनका काव्य अलंकृत होकर पाठकों का मन मोहित करता है।

'रामचरितमानस' में लोकोक्ति, मुहावरों, सूक्तियों आदि का पर्याप्त व सार्थक प्रयोग है जो पगे-पगे प्राप्य है। सूक्तियों के विषय में एक विद्वान का कथन है—'रामचरितमानस' के पद-पद पर महाकवि तुलसीदास के चिन्तन के मोती, विचारों के स्फुलिंग एवं अनुभवों के अम तकरण बिखरे पड़े हैं जो कल्पतरू की तरह हैं जिनकी छाया में हम जीवन-पथ की भान्ति ही नहीं मिटा सकते, वरन् भविष्य की दुर्गम यात्रा को सुखपूर्वक समाप्त करने की शक्ति भी अर्जित करते हैं।'

इतना ही नहीं, 'मानस' में अनेक संवादों की योजना भी की गई है जिससे यह कृति और सरस तथा मनोरम हो गयी हैं। अतः भाषा शैली की द ष्टि से यह महाकाव्य अनुपम है। इस विषय में एक विद्वान का कथन है—"भाषा की द ष्टि से तुलसी की तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से नहीं हो सकती उनकी भाषा में एक समन्वय की चेष्टा है। तुलसी की भाषा जितनी लौकिक है, उतनी ही शास्त्रीय। उसमें संस्कृत का मिश्रण बड़ी चतुरता के साथ किया गया है। जहाँ जैसा विषय होता है, भाषा अपने आप उसके अनुकूल हो जाती है। तुलसी के पूर्व किसी ने इतनी सुन्दर एवं शुद्ध भाषा का प्रयोग नहीं किया था। काव्योपयोगी भाषा लिखने में तो तुलसी कमाल करते हैं।"

11. महान् उद्देश्य—'रामचरितमानस' तुलसीदास की सबसे महत्वपूर्ण एवं सर्वश्रेष्ठ रचना है। उसमें रामकथा के साथ-साथ जीवन के प्रश्नों को व्यापक धरातल पर उठाकर समाधान खोजने का प्रयास किया गया है। तुलसी का समस्त दार्शनिक पक्ष, समन्वय की भावना, भक्ति का समायोजन इसी रचना में पूर्ण गरिमा के साथ अभिव्यक्त है। यह महाकाव्य सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति और लोक जीवन का आकाशदीप है। तुलसी ने अपने युग को देखा था जबकि मुस्लिम बादशाहों का क्रूरतापूर्ण साम्राज्य था। हिन्दुओं पर विशेषतः अत्याचार होते थे। जाति-पाँति की खाई और अधिक गहरी होती जा रही थी। धर्म के नाम पर विरोध व द्वेष था। समाज के समक्ष निरन्तर नई-नई हजारों समस्याएँ उपस्थित हो गई थीं जिनके मध्य जीवन दूभर हो गया था। तुलसीदास कृत कलियुग का वर्णन इस स्थिति का साक्षात् प्रमाण है। तुलसी ने 'रामचरितमानस' के माध्यम से एक ओर तो रामराज्य की परिकल्पना करके राजा के गुणों की ओर शासकों का ध्यान आकर्षित किया तो दूसरी ओर जाति, धर्म तथा दर्शन में समन्वय करके प्रजा का बहुत बड़ा उपकार किया। उनका समस्त प्रयास समन्वय की चेष्टा है। इसी कारण विद्वान आलोचकों ने तुलसी को लोकनायक कहकर पुकारा है आचार्य द्विवेदी का कथन है—"लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सकें। क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार, निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है, तुलसीदास समन्वयकारी थे—उनका सारा काव्य समन्वय की चेष्टा है।" तुलसीदास ने अपने युग को एक ऐसी दिशा और दशा प्रदान की थी जिससे उनके आचार-विचारों में एकता स्थापित हो। राम का आदर्श आचरण, उनकी मर्यादा का पालन किसे आकर्षित नहीं करता ? तुलसीदास का उद्देश्य दार्शनिक व धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था। वे समाज और व्यक्ति के भी सुधारक थे। 'मानस' लोककल्याण व लोकरंजन प्रदान करने वाला महाकाव्य है। तुलसी का प्रमुख उद्देश्य भारतीय समाज, को सुख और शान्ति प्रदान करना था यही कारण है कि उन्होंने 'मानस' के माध्यम से जो अनिर्वचनीय आदर्श, मर्यादा और शालीनता प्रस्तुत की है वह आज के संदर्भ में भी लोकोपकारक है।

व हद् कथावस्तु, मर्यादा पुरूषोतम व लोकरंजक राम के चरित्र-चित्रण, विविध रसों व भावों की योजना, विविध वर्णन व प्रकृति का चित्रण गरिमामयी भाषा-शैली तथा लोकोपकारक उद्देश्य आदि विशेषताओं को ध्यान में रखकर 'रामचरितमानस' को एक उत्तमकोटि का अनुपम महाकाव्य कह सकते हैं।

अध्याय 9
तुलसीदासजी की विनय भावना

'विनय' अर्थात्-विनम्रता। किसी व्यक्ति विशेष के प्रति गुणों की अतिशयता को देखकर जो नम्रता का भाव हृदय में उत्पन्न होता है उसे विनय कहते हैं। गर्व अथवा औदात्य भाव के परिहारार्य किया जाने वाला अनुनय या अपने किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए किया जाने वाला विनम्र निवेदन भी विनय की श्रेणी में ही रखा जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने आराध्य भगवान श्रीराम का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए उनसे तथा उनके अनुग्रह में सहयोग देने के लिए विभिन्न देवों से अत्यन्त विनम्र शब्दों में अपनी आकांक्षा व्यक्त की है। विनय भावना की द ष्टि से तुलसीदास जी की 'विनय पत्रिका' सर्वश्रेष्ठ कृति कही जा सकती है। इसमें कवि का हृदय अत्यन्त व्यापक रूप में उजागर हुआ है। कि उनकी हतन्त्री के एक-एक तार के स्वर को अलग-अलग सुना जा सकता है। उसमें हमें दैन्यभाव का मार्मिक चित्रण मिलता है।

कलियुग की यातनाओं से व्यथित कवित ने हनुमान जी के प्रेरणा से अपने आराध्य श्रीराम की चरण शरण ग्रहण करने का प्रयास इसके माध्यम से किया है कलियुग के उत्पीड़न से पीड़ित उसके जीवन में गहरी वेदना भरी हुई है। यह वेदना मात्र उनके अपने हृदय की नहीं है बल्कि इसमें मानव मात्र की व्यथा का आधार पारावार उर्मिला होता दीख पड़ता है। इस व्यथा अथवा पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए तुलसीदास का एक सामान्य प्रजा जन के रूप में राजा राम के दरबार में विनय पत्रिका के रूप में अपना प्रार्थना पत्र भेजते हैं। क्योंकि यह पत्रिका राज दरबार में भेजी जाती है अतः राजदरबार के सभी नियमों का निर्वाह करते हुए वे अपनी व्यथा कथा राजा राम के कानों तक पहुँचाना चाहते हैं, अतः वे पूरी तरह उस भरणि का अनुसरण करते हैं जिसका एक राजा के दरबार में प्रार्थना पत्र पहुँचाते समय पालन करना अनिवार्य होता है। यही कारण है कि हमें 'विनयपत्रिका' में एक परम्परागत व्यवस्थित क्रम मिलता है।

किसी भी राजदरबार में अनेक दरबारी होते हैं। जिनकी सहायता के बिना किसी भी व्यक्ति की पहुँच राजा तक नहीं हो सकती। अतः अपनी प्रार्थना राजा तक पहुँचाने के लिए इन दरबारियों को रिझाना, उन्हें खुश करना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है, अन्यथा संभव है ये दरबारी प्रार्थना पत्र पर विचारहीन होने दें अथवा कार्य ही न सिद्ध होने दें, राजा को कुछ का कुछ परामर्श देकर ये कार्य में बाधा भी पहुँचा सकते हैं।

यदि वे प्रार्थी पर प्रसन्न हों तो वे राजा को समझा बुझाकर प्रार्थना करने वाले का कार्य सिद्ध करा सकते हैं। यह बात ध्यान में रखकर गोस्वामी जी ने राजा श्रीराम के दरबारी देवताओं की क्रमशः स्तुति की है। इस स्तुति में उन्होंने सब देवताओं को श्रीराम को उनके अनुकूल बनाने के लिए प्रयास किया है। भारतीय संस्कृति में गणेश अग्रपूज्य है। अतः उन्होंने सर्वप्रथम श्री गणेश से ही श्रीराम को अपने अनुकूल बनाने की प्रार्थना इस प्रकार की है—

'गाइए गणपति जगवंदन।
संकर सुवन भवानी नंदन।
× × ×
माँगत तुलसीदास कर जोरे।
बसहिं रामन सिय मानस मोरे।'

गणेश की वंदना के पश्चात् गोस्वामी जी ने क्रमशः सूर्य, शिव, शक्ति, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की विस्तार से स्तुति की है। इस विस्त त स्तुति का उद्देश्य भी श्रीराम तक उनकी संस्कृति पहुँचा उन्हें प्रसन्न करना अथवा अपने अनूकूल बनाना ही है। क्योंकि इन सबका राम से अधिक निकट का संबंध है। अतः इन्हें अनुकूल बनाकर इनके अनुग्रह से राम का प्रसाद प्राप्त करना तुलसी का कार्य है। यह उनकी व्यावहारिक कुशलता का परिचायक तो है ही उनकी सूझबूझ का दिग्दर्शन भी है। सूर्य क्योंकि उनके कुल के आदि है। अतः गणेश जी कि स्तुति के पश्चात् उनकी स्तुति की गई है। फिर शिव और शक्ति की स्तुति की गई है। शिव क्योंकि राम के अनन्य भक्त तथा शक्ति स्वयं राम की ही माया की ही अभिव्यक्ति हैं तथा नारी होने के कारण उनका शीघ्र द्रवित होना संभव है। अतः उनकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

"दुराह दोष दुःख दलानि, मरुदेवी दाया।
विस्व मुलाइसि, जम सानुकूलादसि,
कर सूल धारिनी महामूल माया।
× × ×
दहि या मोहिपन प्रेम यह, नेम निज,
राम घनश्याम तुलसी पपीहा।
विष्णु पदकंज इव अम्बुवर बहसि,
दुःख बहसि अधव न्द विद्रा विनी।
× × ×
देहि रघुवीर पद प्रीति निरभर मातु।
दास तुलसी त्रास हरनि भव भामिनी।"

गंगा जिसका दूसरा नाम है विष्णु नदी क्योंकि भगवान विष्णु के चरणों से उद्भूत हुई है। विष्णु के अवतार राम के अधिक निकट है, यह विचार कर तुलसीदास ने गंगा की स्तुति करते हुए कहा है—

विष्णु पद सरोज जासि, ईस-सीस पर विभासि,
त्रिपथ भासि, पुण्य राक्षि, पाप, छालिका।
× × × ×
तुलसी सब तीर-तीर सुमिरत रघुवंश वीर,
विचरत मति देहि मोह-महिष-कालिका।"

इस प्रकार तुलसीदास ने उपर्युक्त सभी देवताओं की स्तुति करके उनसे रामभक्ति की याचना की है। अपनी स्तुति से सभी देवी-देवताओं को प्रसन्न कर उन्होंने राज दरबार में प्रवेश का सुगम मार्ग प्राप्त कर लिया है और वे आशान्वित भी हो चले हैं कि उनकी पत्रिका राम तक अवश्य पहुँच जाएगी ओर उस पर शीघ्र कार्यवाही भी होगी। परन्तु मात्र दरबारियों को प्रसन्न कर लेने से कार्य नहीं चल सकता।

इसके साथ ही तुलसीदास जी इस तथ्य से भी परिचित हैं कि किसी भी व्यक्ति से उसी समय कार्य सम्पन्न कराया जा सकता है जब उसकी मनःस्थिति अनुकूल हो। राम क्योंकि साधारण मानव नहीं हैं, अतः उनकी मनःस्थिति को ध्यान में रखना और भी आवश्यक है। अतः तुलसी अत्यन्त सूझ बूझ के साथ एक सरल मार्ग ढूँढ निकालते हैं, वे अपनी विनय भावना स्वयं राम को न सुनाकर माता सीता के द्वारा उन तक पहुँचाने का कार्य करते हैं, क्योंकि पत्नी पति का अर्धांग तो होती ही है, महाकवि कालिदास के शब्दों में "ग हिणी, सचिव, मिथः ससी, प्रिय शिष्या ललिते कला विधो" भी होता हैं श्रांत, क्लान्त पति के घर लौटने पर वह अपनी सेवा द्वारा उसे रिझाकर उससे अपना कार्य करवा लेती है। इसके अतिरिक्त उसे ही यह भली-भांति जानकारी होती है कि किस समय उनके पतिदेव की मनोदशा इस प्रकार की होगी कि वे उसकी बात मनोयोगपूर्वक सुन सकेंगे। यह सब सोचकर तुलसीदास जी उनसे अनुनय निवेदन करते हैं–

"कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि छाइबो कछु कहन कथा चलाइ।।
दीन, सब अंग, हीन, छीन, मलीन, अधी, अधाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासी दास कहाई।।
बुझि हैं सो हें कौन' कहिबौ नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु मेरो बिगरिओ बन जाइ।।
जानकी जग जनाने जनकी किए वचन अहाइ।
तरै तुलसीदास अब नाथ गुन-गान गाई।।

× × ×

कबहुँ समय सुधि द्यामबी, मेरी मातु जानकी।
जनक हाइ नाम लेत हौं, किए पन चातक ज्यों, व्यास प्रेम पानकी।।"

इन पंक्तियों के द्वारा तुलसीदास जी ने स्पष्ट किया है कि वे व्यवहार ज्ञान के कितने ज्ञानी हैं। वे जानते है कि भगवान राम को सर्वाधिक प्रभावित माता जानकी ही कर सकती हैं और वे ही भली-भाँति इस तथ्य से परिचित हैं कि राम की मनोदशा कब कैसी रहती है तथा कब बात उनके सामने प्रस्तुत करने पर अपने अनुकूल फल की आशा की जा सकती है। यह सब विचारकर ही वे सीता जी को माँ ! शब्द से संबोधित करते हैं और उसी में अपनी सारी करूणा इस प्रकार अनुस्यूत कर देते हैं कि पुत्र वत्सला माँ उस करुणा से भरी पुकार को अनसुना कर ही नहीं पाती। उनकी वात्सल्योपलब्धि के पश्चात् वे उनसे सविनय निवेदन करते हैं कि हे माँ ! कभी यदि अवसर मिल जाए तो किसी करूण कथा के ब्याज से भगवान राम को मेरा स्मरण कराना। कितनी कुशलता से तुलसीदास जी ने भगवती सीता द्वारा राम तक अपनी बात पहुँचाने की कोशिश की है। वे इस ढंग से राम तक अपनी करूण कहानी पहुँचाना चाहते हैं जिससे उनकी चर्चा राम के हृदय पर प्रभाव डाले इसके लिए वे जानकी से वे निवेदन करते है कि पहले कोई और करूण कथा चलाकर फिर उसी प्रसंग में मेरी दीनता की कथा राम को सुनाना और बताना कि जिस व्यक्ति की करूण कथा वे सुना रही है वह उन्हीं की दासी का दान है। इस कथन में तुलसीदास ने कितना विनय भाव भर दिया है जिस पद्धति से उन्हें अपनी बिगड़ी बनाने की आशा है वह उनकी विनय के अनुकूल है।

सीता जी की स्तुति के पश्चात् तुलसीदास जी को विश्वास हो जाता है कि अब वे बिना किसी व्यवधान के राम के निकट पहुँच अपनी विनय पत्रिका उन्हें प्रस्तुत कर सकते हैं और इस विश्वास के मन में आने पर वे विस्तार से श्रीराम की स्तुति करते हैं। इस स्तुति में वे श्रीराम का विस्तार

से गुणगान करते हैं। और उनके पूर्व हुए दशावतारों के महत्व का बखान करते हुए इस बात की झलक दी है। कि वे जिसे अपनी विनय सुनाना चाहते हैं, उसके महत्व का बखान यदि न किया गया तो उसे आकृष्ट किस प्रकार किया जा सकेगा अपनी ओर बिना आकृष्ट किए विनय का प्रभाव ही क्या होगा। अतः उनके गुणगान द्वारा अपने प्रति उन्हें आकृष्ट करने के पश्चात् तुलसी अत्यन्त स्पष्ट रूप से अपनी विनय भावना को राम के सामने प्रस्तुत करते हैं, इस अभिव्यक्ति में उनकी दीनता, आत्म प्रकाशन तथा दुःख निवेदन अत्यन्त स्पष्ट एवं मार्मिक शब्दों में उजागर हुआ है। यही विनय पत्रिका का मूल भाग है जो अत्यन्त शालीन विनय को लेकर उस विनय को स्वीकारने में सक्षम अधिकारी के सामने प्रकट हुआ है। तुलसीदास ने अपने जन्म जन्मान्तर की दुःखद कथा को सुनाते हुए अपनी वर्तमान करूण दशा से राम को जीवित कराया है तथा अनेक प्रकार के आत्मग्लानि से गलते मन को ढांढस बँधाया है।

अपनी विनय भावना के माध्यम से तुलसी ने एक अभिनव व्यावहारिक श्रेणी उन लोगों के लिए प्रस्तुत की है जो विनय सुनना चाहते हैं। उन्होंने बार-बार अपने उद्धार का आग्रह करने की अपेक्षा अपनी दीन हीन दशा प्रकट कर अपने आराध्य के हृदय की इच्छा जगाने का प्रयास किया है। वे कहते हैं—

1. **मोहि मूढ मन बहुत बिगोयो।**
याके लिए सुनहू करूनामय, मैं जग जनमि जनानि दुःख रोयो।
शीतल मधुर पियूष सहज सुख निकट हि रहत दूरि जनु खोयो।
करम कीच जिय जानि सानि चित, चाहत कुटिल मलहिमला धोयो।

2. **कैसे दे उन्नयहि खोरि,**
काम लोलुप भ्रमत मन हरि भागति परिहाई तोरि।
× × × ×
लोभ मनाहिं न चाव कापी ज्यों गरे आसा डोरि।
बात कहौं बनाइ बुध ज्यों बर बिराग निचोरि।
एते हूँ पर तुम्हरो कहावत लाज ऊँचाइ घोरि
निलजता पर रीझि रघुवर देहु तुलसिहिं छोरि।
× × ×
कहाँ जाऊँ, कासौं कहौं, कौन सुने दीन की।
त्रिभुवन तु ही भति सब अंगहीन की।
× × ×
ताहि तें आयो क्षरन सवेरें।
ग्यान विराग भगति साधन कछु सपने हूँ नाथ न मेरे।

यह विनय भावना जिसमें तुलसीदास ने अपने हृदय की समस्त वेदना को व्यक्त किया है भगवान राम के चरणों में निवेदित है। यह कार्य उन्होंने अर्थात् यह विनयभावना उन्होंने स्वयं अपने हाथों से अपने आराध्य भगवान श्रीराम के समर्पित करने के इच्छुक हैं परन्तु संकोचवश यह कार्य स्वयं नहीं करना चाहते, क्योंकि राम साधारण व्यक्ति नहीं हैं कि जिन्हें उस जैसा सामान्य जन जब चाहे आगे बढ़कर अपना प्रार्थना पत्र दे दे । राज दरबार की एक मर्यादा होती है जिसके अन्तर्गत उचित माध्यम से राजा के कर कमलों तक प्रार्थना पत्र पहुँचाया जा सकता है अतः तुलसीदास जी की द ष्टि हनुमान और लक्ष्मण पर ठहरती है क्योंकि इन्होंने राम के लिए जो कुछ किया है उसे देखते हुए उन्हें विश्वास है कि उनके द्वारा प्रस्तुत की जाने पर उनकी विनय पत्रिका अस्वीकृत हो सकती है। यह सब विचार कर वे भरत, लक्ष्मण और हनुमानजी से प्रार्थन करते हैं कि वे उनकी विनय पत्रिका को भगवान श्रीराम के सन्मुख प्रस्तुत कर दें—

"पवन, सुवन, रिपु, दमन, भरत लाल लखन दीन की।
निज निज अवसर सुधि किए, बलि जाऊँ।
दास आज पूजि है खास खील की।
राज द्वार भली सब कहैं साधु समी चीन की।
सुकृत सुनय साहिब कृपा स्वस्थ परमारथ।
गति भए गति विहिन की।।"

इस प्रार्थना का अनुकूल प्रभाव हुआ। राम के दरबार में जहाँ अनेक देवता विराजमान थे हनुमान तथा लक्ष्मण की सहमति देखकर लक्ष्मण ने तुलसी की विनय पत्रिका भगवान श्रीराम के सामने इन शब्दों के साथ प्रस्तुत कर दी–

'काली कालहु नाथ ! नाम सौ परतीति प्रीति एक किकार निर्वाह है।
मारुति मन, रुचि भरत को लषण कही है।'

तुलसीदास जी विनय पत्रिका भगवान श्रीराम के सामने प्रस्तुत करने से पूर्व राजदरबार के सभी देवताओं से अपनी स्तुति से अपने अनुकूल कर ही चुके थे। अतः जब लक्ष्मण ने पत्रिका प्रभु के सामने प्रस्तुत की तब सबने एकमत से तुलसी की कलिकाल में भी द ढ़तापूर्वक राम की भक्ति करने वाला श्रीराम का अनन्य भक्त प्रतिपादित किया और लक्ष्मण के कथन का इन शब्दों में समर्थन किया "कि हाँ लक्ष्मण ने तुलसी के संबंध में जो कुछ भी कहा है वह पूर्ण सत्य है। हम सब भी तुलसी की भक्ति की द ढ़ता से भली भाँति परिचित हैं–

"सकल सभा सुनि लैं उठि, जानी रीति रही है।
कृपा गरीब निवाज जी।
देखत गरीब को, साहब बाहँ गही है।।"

जब सारी परिषद का समर्थन तुलसी के पक्ष में देखा तब श्रीराम उसे अस्वीकृत कर देते यह कैसे संभव था ? उन्हें भी अपने पार्षदों, अनुज और सेवकों की बात को मान देना आवश्यक था अतः उन्होंने हँसते हुए कहा–

"विहँसि राम कह्यौ सत्य है।
सुधि मैं हूँ लही है।"

राम के कथन से विदित होता है कि पहले से ही तुलसीदास के संबंध में बहुत कुछ जान चुके थे। संभव है यह जानकारी उन्हें भगवती सीता द्वारा प्राप्त हुई हो क्योंकि तुलसीदास जी ने उन जगन्माता से करूण स्वर में अवसर पाकर किसी करुण कथा प्रसंग में अपना स्मरण भगवान श्रीराम को दिलाने का आग्रह किया था। जब माँ ने पुत्र की संस्तुति कर दी तो तब पिता अस्वीकृत कर ही कैसे देते। राम ने तुलसी की विनय भावना को स्वीकार कर उस पर अपने हस्ताक्षर कर उन्हें काली के भय से अभय कर दिया। तुलसी कृतकृत्य हो गए–

"मुदित माथ नावत, बनीं तुलसी अनाथ की,
परी रघुनाथ हाथ सही है।"

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी की विनय भावना आरम्भ से अंत तक अत्यन्त शालीन एवं संयम के साथ अभिव्यक्त हुई है। उनकी विनय की पद्धति इतनी प्रभावपूर्ण तथा सामाजिकता और मनोवैज्ञानिकता से परिपूर्ण है कि उसका अनुसरण कर्ता अपनी विनय को असफल होता देख ही नहीं सकता। तुलसी ने राम की महत्ता तथा स्वयं की दुर्बलता से उभय पक्ष को परिचित कराकर अपनी विनय से इस प्रकार प्रभावित किया है कि श्रोता मात्र श्रोता न रहकर प्रार्थी के लिए कुछ करने पर विवश हो जाता है। "प्रभावपूर्ण विनय सफलता का द्वार है" यह तुलसी की विनय भरी वाणी के प्रवाह को देखकर सहज ही जाना जा सकता है।

अध्याय 10
तुलसीदासजी का समन्वयवाद

समन्वय भावना

जिस युग में तुलसीदासजी का आविर्भाव हुआ, उस युग में धर्म, समाज, राजनीति आदि के क्षेत्रों में सर्वत्र पारस्परिक वैषस्य एवं भेदभाव का बोलबाला था। धर्म के क्षेत्र में एक ओर हिन्दू-मुस्लिम भावनाओं के कारण वैमनस्य जड़ पकड़ रहा था, दूसरी ओर शैव, शाक्त एवं वैष्णव मत के अनुयायियों में भी पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष बढ़ता चला जा रहा था। दक्षिण भारत में तो यह विद्वेष एवं वैमनस्य इतना बढ़ा कि शिव कांची एवं विष्णु कांची तक का निर्माण हो गया। उतरी भारत में भी प्रायः धार्मिक संघर्ष चलते रहते थे और ये संघर्ष तत्कालीन धार्मिक शांति के सर्वथा प्रतिकूल थे। धार्मिक शांति के साथ-साथ सामाजिक शांति भी भंग हो रही थी। ब्राह्मण और शुद्र एवं ऊँच और नीच के भेदभाव से हिन्दू समाज विश्रं खलित हो रहा था, उसमें पारस्परिक वैमनस्य के साथ-साथ वर्ग भेद उत्पन्न होता जा रहा था और वर्ग भेद की यह खाई इतनी गहरी होती जा रही थी कि उसे देखकर यही ज्ञात होता था, कि हिन्दू-समाज पतन के कगार पर पहुँच चुका है। यही दशा राजनीति एवं साहित्यिक क्षेत्रों में भी थी। आपस में ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य एवं विद्वेष के कारण समूचे भारत में घोर अशांति एवं विषमता का वातावरण उत्पन्न हो गया था। उस समय अकबर जैसे धार्मिक सहिष्णु शासक ने पारस्परिक ऐक्य एवं समता के लिए प्रयत्न अवश्य किए, परन्तु उन प्रयत्नों के पीछे उसकी स्वार्थमयी मनोव त्ति एवं राज्य-लिप्सा होने के कारण उसे भी अधिक सफलता नहीं मिली। हाँ, तत्कालीन संत कवियों ने अवश्य सारे भारत में भावात्मक एकता स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। गोस्वामी तुलसीदास भी उन्हीं संत कवियों में से एक थे, जिन्होंने तत्कालीन परिस्थिति का गहराई के साथ अध्ययन एवं अनुशीलन करके समाज में व्याप्त विषमता एवं वैमनस्य दूर करने का प्रयत्न किया। तुलसीदास जी ने उस विषमता को दूर करने के लिए समन्वय की प्रव त्ति को प्रोत्साहन दिया और स्वयं धर्म, राजनीति, समाज, साहित्य आदि के क्षेत्रों में यथासंभव समन्वय स्थापित करते हुए पारस्परिक विरोध एवं वैमनस्य को दूर करने का प्रयास किया। इस समन्वय के लिए तुलसी ने सामाजिक, पारिवारिक आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक, भौतिक आदि सभी क्षेत्रों को चुना और इन क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करते हुए तत्कालीन जन-जीवन में व्याप्त घोर अशांति, पापाचार, अनाचार, अधार्मिकता, विषमता आदि को दूर करने की सफल चेष्टा की। अपने इसी समन्वयात्मक द ष्टिकोण के कारण तुलसी लोकनायक भी कहलाते हैं। संक्षेप में तुलसी के समन्वयवादी विचार इस प्रकार हैं–

1. शैव एवं वैष्णव मत का समन्वय–भारतीय विचारधारा के अनुसार त्रिदेव की कल्पना बड़ी महत्वपूर्ण मानी गई है। इसके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीन प्रमुख देव माने जाते हैं। जिनमें से ब्रह्म स ष्टि के उत्पादक हैं, विष्णु स ष्टि के पालक हैं और शिव स ष्टि के संहारक हैं। इसी आधार पर विष्णु को अपना सर्वस्व मानने वाले भक्त 'वैष्णव' कहलाते हैं और शिव को अपना सर्वस्व मानने वाले 'शैव' कहलाते हैं। कालान्तर में वैष्णव एवं शैव मतों में विष्णु और शिव को ही स ष्टि का उत्पादक, पालक संहारक कहकर सर्वशक्तिमान माना जाने लगा और फिर आपस में विद्वेष भी फैल गया, जिसके परिणामस्वरूप वैष्णव शैवों को तुच्छ एवं हेय द ष्टि से देखने लगे और शैव भक्त वैष्णवों से घ णा करने लगे। तुलसी के समय में यह विद्वेष अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था।

अतः तुलसी ने दोनों मतों में समन्वय स्थापित करने के लिए एक ओर तो शिव के मुख से—

'सोइ मम इष्टदेव रघुवीरा, सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।'

कहलवाकर शिव को राम का उपासक सिद्ध कर दिया तो दूसरी ओर राम के मुख से—

"संकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही ममदास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महूँ बास।।"

कहलवाकर राम को शिव का अनन्य प्रेमी सिद्ध कर दिया है। इतना ही नहीं, तुलसी ने सेतु (पुल) का निर्माण होने पर राम के द्वारा शिव की प्रतिष्ठा एवं पूजा-अर्चना कराकर राम को शिव का अनन्य भक्त भी सिद्ध कर दिया है। साथ ही—

'हरि हर पद रति मति न कुतर की'

कहकर तुलसी ने राम और शिव में अभेद एवं अभिन्नत्व भी स्थापित किया है और राम-स्त्रोत के साथ 'रामचरितमानस' में ही शिव-स्त्रोत की रचना करके इस पार्थक्च एवं वैमनस्य को दूर करते हुए शिव एवं विष्णु के अवतार राम में पूर्णतया समन्वय स्थापित कर दिया है।

2. वैष्णव एवं शाक्त मत का समन्वय—शिव और विष्णु के भक्तों में जिस तरह पारस्परिक वैमनस्य एवं विद्वेष फैला हुआ था, उसी प्रकार वैष्णवों एवं शाक्तों में भी उस समय घोर संघर्ष चलता रहता था। संभवतः इसी कारण कबीर ने भी

'वैष्णव की छपरी भली, नहिं साकत को गाँव'

कहकर शाक्तों की अपेक्षा वैष्णवों को श्रेष्ठता प्रदान की थी। परन्तु तुलसी ने शैव एवं वैष्णवों की भांति शाक्तों एव वैष्णवों के संघर्ष एवं वैमनस्य को दूर करते हुए 'शक्ति' की भी उपासना की, और 'रामचरितमानस' में सीता को ब्रह्म की शक्ति बताकर तथा—

उद्भव स्थिति संहारकारिणी क्लेशन्हारिणी सर्वश्रेयकारी'

आदि कहकर शक्ति की इस प्रकार प्रार्थना की—

"नहिं तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।।
भवन्भव विभव पराभव कारिनि। विश्व विमोहनि, स्ववस विहारिनि।।"

इस प्रकार के कथन के द्वारा शाक्त मत में वर्णित शक्ति को भगवान राम की प्रिया कहते हुए तथा 'नतो हं रामवल्लभाम्' द्वारा उस शक्ति के प्रति पूज्य भाव प्रकट करते हुए तुलसी ने शाक्त एवं वैष्नवों में भी समन्वय स्थापित किया, जिससे शाक्त भी अपने को एक धर्म का अंग समझने लगे।

3. रामावत सम्प्रदाय एवं पुष्टिमार्ग का समन्वय—तुलसीदास स्वामी रामानन्द के शिष्य सम्प्रदाय में स्वामी नरहयनिन्द के शिष्य होने के कारण रामावत सम्प्रदाय में ही दीक्षित हुए थे। रामावत सम्प्रदाय में राम को ही परब्रह्म माना गया है तथा ब्रह्म के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्थावतार नामक पाँच रूप माने गए हैं। इन्हीं रूपों में उनकी आराधना एवं अर्चना होती है। तुलसी ने उक्त पाँचों रूपों के अनुकूल ही 'रामचरितमानस' में भगवान राम का चित्रण किया है, परन्तु इसके साथ ही पुष्टिमार्ग के अनुसार ब्रह्म की कृपा अथवा अनुग्रह को भी सर्वोपरि बताया है और सिद्ध किया है कि कितनी ही पूजा, अर्चना एवं उपासना की जाए, किंतु भगवान की कृपा के बिना कभी कुछ नहीं होता। इसीलिए तुलसी ने—

"तुम्हरिहिं कृपा तुमहिं रघुनन्दन, जानहिं भगत भगत डर चंदन।"

कहकर स्पष्ट किया है कि भगवान की कृपा से ही भगवत् साक्षात्कार होता है। साथ ही बिना भगवान की कृपा के राम की भक्ति भी प्राप्त नहीं होती। इसीलिए तुलसी लिखते हैं—

राम भगति मन उर बस जाके। दुःख लवलेश न सपने हूँ ताके।
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं।।
सो मनि जदपि प्रकट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।।

इस प्रकार राम की भक्ति में भी राम की कृपा की महत्ता प्रदर्शित करते हुए तुलसी ने रामावत समुदाय एवं पुष्टिमार्गीय मत में सुंदर समन्वय स्थापित किया है।

4. अद्वैतवाद एवं विशिष्टा द्वैतवाद का समन्वय—तुलसी ने दार्शनिक विचारों में भी समन्वय स्थापित करने का सुंदर प्रयास किया है। तुलसी से पूर्व सभी भक्ताचार्यों के शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन करके अपने-अपने मत की स्थापना की थी। उस समय शंकर का अद्वैतवाद के अनुसार 'ब्रह्म सत्यं जग मिथ्या' की मान्यता थी। इसीलिए शंकराचार्य ने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन करके अपने-अपने मत की स्थापना की थी। इसीलिए रामनुजाचार्य ने शंकर के अद्वैतवाद का विरोध करके अपने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार किया, मध्वाचार्य ने द्वैतवाद का प्रचार किया, विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया और निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत का प्रचार किया था। यद्यपि गोस्वामी जी रामानुजाचार्य के मतानुयायी होने के कारण विशिष्टाद्वैतवाद को मानते थे और इसी कारण अपने जीव को ईश्वर का अंश, कहकर ईश्वर की ही भाँति चेतन, अमल, अविनाशी आदि कहा है; ब्रह्म का सगुण, निर्गुण, अगुन, अरूप, अलख, अज आदि कहकर विशिष्टता प्रदान की है तथा 'पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे' तथा 'जौं जग म षा ताप त्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखें' आदि कहकर विशिष्ट द्वैतवादियों की भांति संसार को नित्य, शाश्वत एवं अविनाशी घोषित किया है, परन्तु 'विनय पत्रिका' में आकर तुलसी ने शंकर के अनुसार ब्रह्म को अज, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सत्य आदि कहा है; जीव और जगत को मिथ्या बताया है तथा माया का निरूपण भी शंकर की ही भाँति किया है। गोस्वामी जी ने इन दोनों मतों में समन्वय स्थापित किया है। वे एक ओर तो शंकराचार्य के 'जगान्मिथ्या' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए प्रतीत होते हैं—

"जागु-जागु जीव जड़ जो है जाग जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी।
सोवत सपनेहूँ सहै संस ति संताप रे।
बूड्यो ग त-तारि खायो-जेवरी को सांप रे।"

तो दूसरी ओर उन्होंने ब्रह्म एवं जीव के मध्य माया का आवरण भी स्वीकार किया है—

"ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुख राखी।
सो माया बस परयो गोसाई। बच्चों कीर मरकट की नाई।।"

सत्य तो यह है कि तुलसीदास ने अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया है किंतु स ष्टि की प्रक्रिया के व्यवहार-पक्ष में वे किसी एक सिद्धान्त में बंधे हुए नहीं हैं। सच्चे के लिए द्वैत, अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत नामक भेदों से ऊपर उठाना आवश्यक है—

"कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ माने।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपुन पहिचानै।।"

5. ज्ञान और भक्ति का समन्वय—तुलसी के समय में ज्ञानियों एवं भक्तों में बड़ा विवाद चल रहा था, जिसके फलस्वरूप ज्ञानीजन भक्तों को तुच्छ मानकर स्वयं को श्रेष्ठ समझते थे और भक्तजन ज्ञानियों को तुच्छ समझते हुए स्वयं को श्रेष्ठ मानते थे। ज्ञान की इस श्रेष्ठता की ओर यह कहकर संकेत किया है—

"कहहि संत मुनि वेद पुराना, नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना।"

परन्तु तुलसी ने भक्ति के लिए ज्ञान की महत्ता घोषित की। यद्यपि तुलसी ने 'ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका' अथवा 'ग्यान का पंथ कृपान की धारा' आदि कहकर ज्ञान मार्ग की कठिनाईयों की ओर संकेत किया है और 'भक्ति सुतन्त्र सकल सुख खानी' कहकर भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध किया है। यद्यपि तुलसी ने—

"भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा,
उभय हरहिं भव संभव खेदा।"

कहकर दोनों की समता भी सिद्ध की है। साथ ही—

"जोग अगिनि करि प्रकट तब कर्म सुभासुभलाइ,
बुद्धि सिरावै ग्यान ध त ममता मल जरि जाई।"

कहकर तुलसी ने ज्ञान को श्रेष्ठ बताया है, जिसके द्वारा चित्त रूपी दीपक प्रज्ज्वलित होता है और मोह, मद आदि रुपी पतंगें नष्ट हो जाते हैं, इसके साथ ही 'कहहिं भगति भगवन्त कै संजुत ग्यान विराग' कहकर भक्ति को ज्ञान एवं वैराग्य से युक्त बताया है तथा 'श्रुति सम्मत हरि-भगति पथ संनुत विरति विवेक' कहकर भी भक्ति और ज्ञान के समन्वय की ओर संकेत किया गया है।

गोस्वामी जी के अनुसार ज्ञान एवं भक्ति ही मुक्ति के साधन हैं। ज्ञानी भक्त पर प्रभु का विशेष प्रेम होता है—

"राम भगत जग चारि प्रकारा, सुकृति, चारिउ, अनध उदारा।
यहूँ चतुर कहुँ नाम आधारा, ज्ञानी प्रभुहि विशेष पियारा।।"

इस तरह तुलसीदास ने दर्शन के विषय में अज्ञान से उत्पन्न मतवैभिन्य को दूर कर अपने युग की जनता को सच्चा मार्ग दिखाया है। ज्ञान एवं भक्ति में भक्ति को सर्वजन सुलभ एवं साध्य बताया है—

"ज्ञान पंथ कृपान के धारा। परत खगेस होई नहिं बारा।
राम भक्ति चिंतामणि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर।।"

6. सगुण और निर्गुण का समन्वय—तुलसी से पूर्ववर्ती भक्तों में ही ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण स्वरूप पर पर्याप्त संघर्ष चला आ रहा था। इसी संघर्ष के परिणामस्वरूप महात्मा सूरदास ने अपने 'भ्रमरगीत' में ब्रह्म के निर्गुण रूप का खण्डन करके सगुण की महत्ता का प्रतिपादन किया था परन्तु गोस्वामी तुलसीदास ने सगुण और निर्गुण के विद्वेष एवं वैमनस्य को मिटाते हुए दोनों में समन्वय स्थापित किया है और बताया है कि यद्यपि ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अज, अनध, अद्वैत, अव्यक्त, अविकार, अचल, अनिकेत, अविरत, अविरल, अनामय, अनारम्भ एवं अमल है; तथापि वह दीनबंधु, दयालु, शरणागत-वत्सल, भक्त वत्सल है और गो, द्विज, सुर आदि के कष्टों का निवारण करने के लिए सगुण रूप धारण करता है। इसी कारण तुलसी ने राम को निर्गुण और सगुण दोनों रुपों में देखा है और अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुण सगुण ब्रह्म सुमिरामि नरभूप रूप कहकर उनकी स्तुति की है। इस प्रकार तुलसी ने निर्गुण और सगुण को एक ही ब्रह्म के दो रूप बताते हुए दोनों में समन्वय किया है—

"अगुन-सगुन दूइ ब्रह्म सरूपा,
अवध अगाध अनाधि अनूपा।"

7. नर और नारायण का समन्वय—तुलसी से पूर्व राम का महत्व दशरथ के पुत्र के रूप में ही था। उन्हें बहुत कम लोग परात्पर ब्रह्म, अज एवं अविनाशी मानते थे। इसीलिए कबीर ने—

"दशरथ सुत तिहु लोक बखाना,
रामनाम का मरम है आना।"

कहकर राम के दशरथ-पुत्र रूप को ब्रह्म से प थक कहा था। परन्तु तुलसी ने—

"भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी।"

कहकर उन्हीं ब्रह्म को कौशल्या पुत्र या दशरथ-सुत के रूप में अवतरित दिखाकर अपने इष्टदेव को साधारण 'नर' से ऊपर उठाते हुए 'नारायण' के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित किया है। इसी कारण तुलसी के राम अवतारी पुरूष होकर भी अज, अनवद्य, अरूप एवं अचल हैं, सगुण होकर भी निर्गुण एवं निर्विकार हैं, साकेत-निवासी होकर भी अनिकेत हैं, शील एवं सौंदर्य युक्त होकर भी अखण्ड, अनन्त एवं व्यापक हैं। इस प्रकार तुलसी ने राम के रूप में नर और नारायण का अथवा जीव और ब्रह्म का सुंदर समन्वय स्थापित किया है।

8. द्विज और शूद्र का समन्वय—तुलसीदास के समय में जाति-पाँति एवं छुआछूत का भेदभाव अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा था। उच्च वर्ण के व्यक्ति नीच वर्ण के शुद्रादि से घ णा करते थे और उनसे अपना व्यवहार रखना भी बुरा मानते थे। तुलसी ने इस सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए अपने 'रामचरितमानस' में ब्राह्मण कुलाववंश गुरू वशिष्ठ को शूद्रकुल में उत्पन्न निषादराज से भेंट करते हुए दिखाकर ब्राह्मण और शुद्रों में भी समन्वय स्थापित किया है तथा उच्च क्षत्रिय कुल में उत्पन्न राम को तुच्छ वानर, भालू, रीछ, विभीषण राक्षस तक का प्रेमालिंगन करते हुए दिखाकर उच्चवर्ग एवं निम्नवर्ग में सुंदर समन्वय स्थापित किया है।

9. राजा और प्रजा का समन्वय—तुलसी के काल में राजा और प्रजा के अन्तर्गत गहरी खाई बनती जा रही थी। राजा प्रजा से कहीं अधिक श्रेष्ठ, उन्नत, एवं महान् समझा जाता था और ईश्वर का रूप तक माना जाता था। इसीलिए 'दिल्लीश्वरों वा जगदीशवरों वा' कहकर दिल्लीश्वर की प्रशंसा की जाती थी। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में राजा और प्रजा के कर्त्तव्यों का निर्धारण करते हुए दोनों के सम्पूर्ण रूप की व्यवस्था की और बताया कि

'सेवत कर पद नयन से, मुख सो साहिबु होई'

अर्थात् राजा को मुख के समान और प्रजा को कर, पद एवं नेत्रों के समान राजा का हितैषी होना चाहिए इतना ही नहीं,—

"मुखिया मुख सो चाहिए खान-पान कहूँ एक,
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक।"

कहकर तुलसी ने राजा को मुख के समान बताते हुए अपनी प्रजा के पालन-पोषण के लिए ही वस्तुओं का संग्रह करने वाला घोषित किया है। इस प्रकार शरीर में जिस तरह मुख और अन्य अंगों का समन्वय रहता है, उसी तरह तुलसी ने राजा और प्रजा के समन्वय पर बल दिया है।

10 कर्म एवं भाग्य का समन्वय—कर्म एवं भाग्य आचार्यों के लिए विवाद के विषय बने रहे। गोस्वामी जी ने एक ओर कर्म को प्रधान माना है। तो दूसरी और भाग्य को बलि सिद्ध किया है—

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करिय सोतस फल चाखा।"

× × ×

तुलसी जय भवितकता तैसी मिलै सहाय।"

तुलसीदास ने दोनों के समन्वयात्मक द ष्टि रखते हुए कहा है कि कर्म के आधार पर ईश्वर भाग्य का निर्माण करता है—

"सुभ अरु असुभ करम अनुहारी, ईस देह फल हृदय विचारी।
कहइ जो करम पाव फल सोई, निगम नीति अस कह सब कोई।।"

11. पारिवारिक क्षेत्र में समन्वय—तुलसी ने धर्म एवं समाज के क्षेत्र में ही समन्वय स्थापित नहीं किया, अपितु पारिवारिक क्षेत्र के अन्तर्गत पिता और पुत्र में, पति और पत्नी में, सास और पुत्रवधू में, भाई-भाई में, स्वामी और अनुचर में तथा पत्नी और सपत्नी में भी समन्वय स्थापित किया है। इसी कारण तुलसी ने राम जितने पिता के भक्त है, उतने ही वे माताओं के भी भक्त हैं और माता-पिता भी राम के उतने ही भक्त है, ऐसे ही जितना आदर वधुएं अपनी सासों का करती हैं, उतना ही स्नेह उन्हें सासों से भी प्राप्त होता है, साथ ही जितना स्नेह राम अपने भाइयों से करते है, उतना ही स्नेह उन्हें अपने भ्राताओं से भी प्राप्त होता है, और जितना प्रेम राजा दशरथ या राजा राम अपने सेवकों से करते हैं, उतना ही प्रेम उन्हें सेवकों से प्राप्त होता है। इस प्रकार तुलसी ने पारिवारिक जीवन में समन्वय स्थापित करते हुए आदर्श परिवार की प्रतिष्ठा की है।

12. सामाजिक स्तर पर समन्वय—मनुष्य से परिवार एवं परिवार से समाज का निर्माण होता है संगठित एवं व्यवस्थित समाज का निर्माण तभी संभव है जब उस समाज में रहने वाले परिवार संगठित हों। परिवार का संगठित हो पाना व्यक्ति के विवेक पर निर्भर करता है। तुलसीदास जी ने आदर्श के निर्माण हेतु आदर्श मानव की मर्यादा एवं पारिवारिक मर्यादा का विवेचन किया है।

पारिवारिक मर्यादा के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्व दाम्पत्य जीवन की सुद ढ़ आधारशिला का है। गोस्वामी जी ने एक ओर स्त्रियों के लिए पतिव्रत धर्म का उपदेश देते हुए व द्ध, रोगी, धनहीन, अंध, बधिर, क्रोधी एवं दीन-क्षीण पति का भी अपमान न करने का आदर्श सामने रखा तो दूसरी ओर पुरूषों के लिए भी एक पत्नीव्रत एवं सच्चरित्रता का संदेश देते हैं। नारी की अविवेकपूर्ण अच्छ ंखलता के विरोधी तुलसी उसे ताड़न की अधिकारिणी मानते हैं तो दूसरी ओर नारी की असहाय अवस्था के प्रति उनके मन में असहानुभूति भी विद्यमान है—

"कत विधि स जी नारि जग माँही, पराधीन सपनेहुँ सुख नाही।"

दाम्पत्य जीवन भी सीमित भावन से ग्रसित होकर परिवार की मर्यादा की अपेक्षा करने वाले व्यक्ति को तुलसी आदर्श समाज के लिए अहितकर मानते हैं। ऐसे स्वार्थी व्यक्ति का वर्णन करते हुए तुलसी जी लिखते हैं—

"सुत मानहिं मातु-पिता तब लौं, अबला नव दीख जब नदीं लौं।
ससुरारि विभारि लगी तब ते, रिपु कुटुंब भये तब तें।।
× × ×
नहिं मानत कोई अनुजा तनुजा"

तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' के माध्यम से आदर्श व्यक्ति, आदर्श दाम्पत्य एवं आदर्श परिवार की मर्यादाओं की व्याख्या की है जोकि पूरे विश्व साहित्य में अनूठी है।

13. प्रव ति मार्ग और निव ति मार्ग में समन्वय—शास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार मनुष्य को मुक्ति के लिए दो मार्ग हैं—प्रव ति और निव ति। प्रव ति का द्योतक ग हस्थ जीवन है और निव ति का संन्यास। अधिकांश आचार्यों ने प्रव ति मार्ग को मुक्ति में बाधक माना है। उनके अनुसार ग हकार्य के नाना जंजालों से परे होने पर ही भगवद् भक्ति सफल हो सकती है। इस कारण मुक्ति के लिए सक्रिय जीवन से पलायन की प्रव ति बढ़ती जा रही थी। जीवन के दायित्वों से विमुख होकर सन्यासी बनने का दौर चल रहा था। तुलसीदास ने इस स्थिति को लोक-जीवन के लिए अहितकर माना। उन्होंने निव ति और प्रव ति मार्गों की अतिशयता से बचते हुए मध्यमवर्ग का रास्ता दिखाया। उनका कहना था कि मुक्ति के लिए ग हत्याग कर संन्यास लेने की आवश्यकता नहीं है। राम की भक्ति ग हस्थ जीवन में रहकर भी की जा सकती है। आवश्यक यह है कि शुद्ध मन से राम का स्मरण किया जाए। मन में प्रभु के प्रति द ढ़ प्रेमभाव जगाया जाए। राम बस प्रेम ही चाहते हैं। इसलिए कहा है—'रामहि केवल प्रेम पियारा।' अतः स्पष्ट तुलसीदास का मत है कि रामभक्ति और

मुक्ति के लिए मन को एकाग्र कर ग हस्थ ही सही स्थान है। तुलसीदास का कथन है—

"घर कीन्हे घर जात है, घर छोडे घर जाय।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेम पुर छाय।।"

इस प्रकार तुलसीदास ने निव ति और प्रव ति मार्गों में समन्वय कर समाज का बड़ा उपकार किया। तुलसीदास की इसी समन्वयवादी द ष्टि को ध्यान में रखकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-विचार और पद्धतियाँ प्रचलित हैं। तुलसीदास स्वयं व अनेक प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे।

..... उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है—गार्हस्थ्य और वैराग्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृत का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेश चिंतन का समन्वय 'रामचरितमानस' के आदि से अंत तक दो छोरों पर जाने वाली परा-कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है।

14. राजनीतिक स्तर पर समन्वय—तुलसी के मत में समाज का संरक्षक राजा एक मुखिया होता था, जिसका धर्म प्रजा का निष्पक्ष रूप से पालन करना था।

"मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान को एक।
पाले पोसे सकल अंग, तुलसी सहित विवेक।।"

मुखिया का यह आदर्श तुलसी के युग में अनुपस्थित था। अतः तुलसी ने रामराज्य का आदर्श जनमानस में स्थापित किया। अपने युग की राजनैतिक विषमता का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने कहा—

"गोड गँवार न पात महि, चमन महा महिपाल।
साय न दाम न भेद काली, केवल दण्ड करात।।"

सुखी समाज के निर्माण के लिए राजा को निःस्वामी एवं लोक-सेवा परायण होना चाहिए। इसके विपरीत गुण वाला राजा तुलसी को अभीष्ट नहीं है। इसीलिए तो वे कहते हैं—

"जासु राजप्रिय प्रजा दुखारी, सोन प अवसि नरक अधिकारी।"

राजा के लिए रामगद्दी की अपेक्षा प्रजा की रक्षा को अपना प्रथम कर्तव्य मानना चाहिए। राम के वनगमन द्वारा गोस्वामी जी ने इस आदर्श की स्थापना की हैं। श्रेष्ठ साम्राज्य में शासक एवं प्रजा में सद्भावना एक अनिवार्य गुण है। एक आदर्श साम्राज्य के लिए गोस्वामी जी रामराज्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

"दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहि कापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति।
नहिं दरिद्र कोई दुःखी नदीना, नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।।"

15. साहित्य के क्षेत्र में समन्वय—तुलसी का लक्ष्य लोक कल्याण था। लोक कल्याण हेतु उन्होंने साहित्य को साधन बनाया। उनके साहित्य का लक्ष्य "लोक मंगल विधान" करना था। अतः साहित्यिक एवं काव्य शास्त्रीय सीमाएं वहाँ मौन हो गई हैं। उन्होंने काव्य रचना की विविध शैलियों एवं छंदों को अपने साहित्य में स्थान प्रदान किया है। एक ओर उन्होंने बालक राम के रूप में वात्सल्य की झाँकी प्रस्तुत की है, तो दूसरी ओर उन्होंने जनक वाटिका एवं स्वयंवर सभा में मर्यादित श्रं गार का मनोहारी चित्र खींचा है—

"राम को रूप निहारति जानकी,
कंकण में नग की परछाई।।"

तुलसी के युद्ध वर्णन में वीर गाथा काल की छटा विद्यमान है तो वैराग्य संदीपनी में साखी पद्धति प्रतिबिम्बित होती है। मुक्तक काव्य की रचना के लिए उन्होंने पद-शैली को ग्रहण किया तो आत्माभिव्यक्ति की तल्लीनता में गीतिशैली का प्रयोग किया है तुलसीदास ने अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं का समन्वय करके 'रामचरितमानस' की रचना की है, इसीलिए हिन्दी के साथ-साथ, संस्कृत भाषा के श्लोकों की रचना करके तथा 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के स्त्रोतों में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग करके संस्कृत और हिन्दी का सुंदर समन्वय किया है। छंदों के प्रयोग में भी समन्वय है।

सारांश यह है कि तुलसी एक उच्चकोटि के समन्वयवादी कवि थे। उन्होंने जीवन और जगत् के सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करने का स्तुल्य प्रयत्न किया और अपने समन्वयवादी विचारों द्वारा तत्कालीन समाज में व्याप्त विषमता, विद्वेष, वैमनस्य, कटुता आदि को दूर करके पारस्परिक स्नेह, सौहार्द, समता, सहानुभूति आदि का प्रचार किया। इसीलिए तुलसी एक उच्चकोटि के कवि, महान, लोकनायक, सफल समाज सुधारक, भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ प्रचारक, समाज में उन्नत आदर्श के संस्थापक तथा समन्वयवाद के प्रतिष्ठापक संत कहलाते हैं।

अध्याय 11
तुलसीदास का प्रकृति चित्रण

साहित्य में प्रकृति का उल्लेख वस्तु वर्णन के अन्तर्गत किया जाता है। वहाँ प्रकृति से तात्पर्य मानव एवं मानव निर्मित वस्तु समूह से अलग पदार्थों से हैं। वन, पर्वत, सरिता, सागर, पशु, पक्षी, बादल, बिजली, चंद्रमा तथा तारे आदि उसके विषय हैं। दर्शन की शब्दावली में चेतना आत्मा से अलग सम्पूर्ण जगत का नाम प्रकृति है। तुलसीदास का उद्‌भव जिस युग में हुआ था, वहाँ भक्ति की भावधारा प्रबल थी। वहाँ प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को नहीं स्वीकारा गया था। समस्त प्रकृति ब्रह्म की अभिव्यक्त मात्र मानी गई थी। इसीलिए उस काल के कवियों ने प्रकृति सौंदर्य अपने आराध्य देव के सौंदर्य में लीन कर दिया। तुलसी भी भक्त कवि थे। राम उनके आराध्य देव थे। राम की प्राणप्रिय सीता जगत् जननी थी। उनका लक्ष्य रामलीला का गान था अथवा ब्रह्म निरूपण। अतः प्रकृति चित्रण उनके यहाँ प्रधान न होकर गौण ही है। उनका उद्देश्य प्रकृति चित्रण करनी नहीं, बल्कि प्रकृति के माध्यम से अपने विचारों को प्रकट करना ही रहा। तुलसी के काव्य में प्रकृति-चित्रण, आलम्बन, उपदेश, उद्दीपन, अलंकार एवं मानवीकरण आदि रूपों में मिलता है।

1. आलम्बन रूप—काव्य में प्रकृति चित्रण के मुख्य और गौण दो रूप होते हैं। जब मनुष्य अपने परिवेश से उबरकर प्रकृति की सुखद छाया में विश्राम करता है तब वह उसके भाव का प्रेरक आधार बनती है। वह उसके मधुर एवं उग्र रूपों का चिताकर्षक चित्रांकन करने लगता है। सफल कवि उन रूपों को वाणीबद्ध करता है। यह प्रकृति का मुख्य रूप है। इसे काव्य वर्णित प्रकृति का आलम्बन रूप भी कहते हैं। तुलसीदास ने प्रकृति के इस स्वतंत्र रूप को नहीं देखा। समस्त प्रकृति को राम रूप मानने वाले तुलसी कभी भी प्रकृति के विस्मय विमुग्ध करने वाले रूप को नहीं देख पाए। उनकी आध्यात्मिक द ष्टि प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को आच्छादित किए रही। फिर भी उनके काव्य में कुछ स्थल ऐसे मिल जाते हैं। जहाँ उन्होंने प्रकृति को स्वतन्त्र रूप में चित्रित किया है। चित्रकूट और पम्पा सरोवर स्थलों पर किया गया प्रकृति का चित्रांकन आलम्बन रूप का अच्छा उदाहरण है। किंतु तुलसी में ऐसे वर्णन बहुत कम मिलते हैं। वे कुछ क्षणों के लिए उन द श्यों पर ठहरते हैं—पम्पा सरोवर पर कुछ पक्षियों, व क्षों तथा शीतल मंद समीर ने उन्हें आकृष्ट किया है—

"विकसे सरसिज नाना रंग। मधुर मुखर गुंजन बहुभंगा।।
बोलन जल कुक्कट कलहंसा। प्रभु विलोकि जनु करत प्रशंसा।।
चक्रवाद बक खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई।।
चंपक बकुल कदंब तमाला। पाटल पनस परास रसाला।।
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना। चंचूकि पहली कर गाना।।
सीतल मंद सुगन्ध सुभाऊ, सन्तत बहइ मनोहर बाऊ।।"

'गीतावली' के चित्रकूट वर्णन में कवि का मन विशेष रमा है। वर्षा ऋतु में चित्रकूट की छटा आनन्द विभोर करने वाली है। उन्नत शिखर, काली घटनाएं बीच-बीच में उड़ती बुगलों की पंक्ति, अनोखा द श्य प्रस्तुत करती हैं—

"सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
वर्षा ऋतु प्रवेश विशेष गिरि देखत मन अनुरागत।
सिखर परस घन घटहि मिलति बग पाति सो छवि कवि वरनी।
आदि वराह बिहरि बादिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरिनी।।
जल जुल विमल सिलनि झलकत नभ वन प्रतिबिंब तरंग।
मानहु जब रचना विचित्र बिलसति विराट अंग-अंग।।
मंदाकिनिहिं मिलत झरना झरि झरि भरि-भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम भक्ति के पाछे।।"

परन्तु तुलसी प्रकृति के इस चिताकर्षक रूप पर अधिक नहीं ठहर पाते। उनका भक्त रूप प्रबल हो उठता है। रामभक्ति के पीछे चलने वाली यह प्रकृति छटा दब जाती है। सहज उल्लास लुप्त हो जाता है। उनकी काव्य द ष्टि को मोक्ष द ष्टि ढक लेती है। प्रकृति फिर गौण हो जाती है।

2. **उपदेशिका रूप**—तुलसी की मोक्ष द ष्टि लोक कल्याण भावना का फल है। कवि होने से पहले वे भक्त, दार्शनिक और संत हैं। राम के प्रति उनका द ढ़ अनुराग है। वे प्रकृति के प्रत्येक कण में उसी की झलक देखते हैं। जनमानस के परिष्कार के लिए वे प्रकृति की क्रियाशीलता में ऐसे गंभीर दार्शनिक तत्व ढूँढ निकालते हैं जिनके अनुशीलन से लोक परलोक से लोक परलोक सभी सुधर सकता है। 'रामचरितमानस' के अरण्यकाण्ड ओर किष्किन्धाकाण्ड प्रकृति के इसी विशिष्ट रूप का उद्घाटन करते हैं। तुलसी के शिव पम्पा-सरोवर को देखकर गूढ़ दार्शनिक तत्व को कितने सुबोध ढंग से प्रस्तुत करते हैं—

"संत ह्रदय जस निर्मन बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी।
तहं तहं पिअहिं म ग नीरा। जनु उदार ग ह जाचक मीरा।।
पुरइन सघन ओर जल बेगि न पाइअ मर्म।
मायाच्छन्न न देखिए जैसे निर्गुण ब्रह्म।।"

किष्किन्धाकाण्ड में प्रकृति का उपदेशात्मक रूप अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। यह तुलसी की अपनी निजी विशेषता है। उन्हें सदा लोक धर्म और लोक नीति की चिंता रहती है। वे अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति द्वारा प्रकृति का यथातथ्य तो तत्काल पकड़ लेते हैं किंतु उससे प्रकृति के मन को लीन कर देने वाले राम रूप की अभिव्यक्ति नहीं होती। वे उसे अपमान रूप में प्रस्तुत कर अपने उपदेश का साधन बना लेते हैं। 'किष्किन्धाकाण्ड' के वर्षा एवं शरद ऋतु के वर्णन में ऐसे उपदेशों की भरमार है—

"दामिनि दमकि रही घन माही।
खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।।
बरलहिं जलद भूमि निअराएं।
जया नवहि बुध विद्या पाएं।
बूंछ अघात् सहहि गिरि कैसे।
खल के वचन संत सह जैसे।
छूद्र नदी भरी चली तो राई।
जस थोरेहुं धन खल इतराई।।

भूमि परत आ डाबर पानी।
जनु जीवहिं माया लपटानी।।
सिमटि सिमटि जल भरहिं तलाब।।
जिमि सदगुण सज्जन पहिं आया।
सरिता जल जलनिधि महु जाई।
होई अचल जिमि जिव हरि पाई।।
हरित भूमि त न संकुल ममुझ परदिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड बाद तें लुप्त होंहि सदग्रन्थ।।"

यहाँ एक बात उल्लेखनीय यह है कि उनकी लोक नीति में मोक्ष द ष्टि सदा घुली मिली रहती है। मायाच्छल जीव की मुक्ति का वे सदा ध्यान रखते हैं और भक्ति के साधन को हाथ से नहीं जाने देते। शरद् ऋतु के वर्णन से यह बात अधिक पुष्ट हो जाती है–

"फूले कास सकल महि छाई, वरषा कृत प्रकट बुढ़ाई।।
जल संकोच विकल भइ मीना। अबुध कुटुम्बी जिमि घन छीना।।
कहुँ कहुँ व ष्टि सारदी थोरो। कोउ कोउ पाव भगति जिमि मोरी।।

इस प्रकार तुलसी के उपदेश बहुल प्रकृति वर्णन में प्रकृति का युद्ध चित्रांकन नहीं हुआ है। नीति एवं उपदेश के लिए ही उन्होंने प्रकृति का उपयोग किया है। उनका मन प्रकृति के रमणीय रूप में कभी नहीं टिका रहा। किंतु इससे उनके प्रकृति प्रेम की न्यूनता का भाव लक्षित नहीं होता है। अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति द्वारा उन्होंने नीरस उपदेशों को भी प्रकृति के माध्यम से हृदयग्राही बना दिया है। उपदेश के स्थलों पर काव्यालोचना की सरसता का अभाव नहीं खटकता है। भक्तों के लिए तो वे सरस प्रसंग हैं ही।

3. उद्दीपन रूप–काव्य में रस स ष्टि का उद्दीपन विभाग एक आवश्यक अंग माना जाता है। आश्रयगत भावनाओं को तीव्रता प्रदान करने के लिए उद्दीपन का बहुत बड़ा हाथ होता है। प्रकृति इसमें सर्वाधिक सहायक होती है। सुख की स्थिति में प्रकृति के जो उपकरण मन को अतिशय आनन्द देने वाले होते हैं, दु:ख में वे अत्यन्त कष्टकारक बन जाते हैं। दोनों दशाओं में भाव का उत्कर्ष दिखाने के लिए प्रकृति वर्णन किया जाता है। इस संदर्भ में न जाने कितने बारह मासे और षड्ऋतु वर्णन लिखे गए हैं। तुलसीदास के काव्य में बारह मासे जैसा वर्णन तो नहीं हैं परन्तु विभिन्न पात्रों की मानसिक दशा की अभिव्यक्ति में प्रकृति का उपयोग बड़े चिताकर्षक ढंग से किया गया है।

राम परमवीर धीर प्रशान्त नायक होने पर भी प्रकृति के विविध व्यापारों से प्रभावित हो जाते हैं। प्राणप्रिय सीता के वियोग में विरहाकुल राम जब वन्य प्राणियों को देखते हैं अथवा प्राकृतिक सुषमा के सम्मुख होते हैं तो उन्हें सीता के अंग-प्रत्यंगों की याद सताने लगती है। उनका हृदय वेदना से कराह उठता है–

"खंजन सुक कपोत म ग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना।
कुंदकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी।
श्रीफल कनक कदलि हरषाही। नेकु न संक सकुच मगमाही।
सुनु जाणदी तोहि बिनू आजू। हरसे सकल पाइ जनु राजू।
किमि सहिजात अनख देहि पाहीं। प्रिया बेगि प्रकटसि कस नाहीं।।"

यह स्थिति अत्यन्त करुणाजनक है। अपने धनुष की टँकार से तीनों लोकों को प्रकम्पित कर देने वाले रामवर्षा ऋतु में सीता के पास न होने पर अत्यन्त निरीह बन जाते हैं—

'घन घमण्ड नभ गरजत छोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोहा।'

यह राम की वियोगावस्था का मार्मिक चित्र है। प्रकृति का ऐसा ही उद्दीपन रूप स्थान-स्थान पर तुलसीदास के काव्य में आया है। सुख की अवस्था में भी भावोद्दीपन की उसमें उतनी ही क्षमता है जितनी दुःख में। जनक वाटिका में प्रकृति राम-सीता मिलन की उपयुक्त प ष्ठभूमि तैयार करती है—

लागे क्टिप मनोहर नाना। वरन वरन वर बेलि बिताना।
नव पल्लव फलसुमन सुहाए। निज सम्पत्ति सुर सरन लजाए।
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहंग नटत कल मीरा।
विमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जल खग कूजत गुँजत भँगा।
बागु तड़ाण बिलोकि प्रभु हरषे बंधु समेत।
परम रम्य आराम येहु जो रामहिं सुख देत।

तुलसी ने प्रकृति के उद्दीपन रूप का प्रयोग राम तक ही नहीं किया है। वह नायक, नायिका के दोनों पक्षों के प्रेम की तीव्रता को समान रूप से ध्वनित करने में समर्थ हैं। सीता के वियोग में यदि राम वन-वन घूमकर प्रत्येक खग, म ग एवं मधुकर से सीता का पता पूछते हैं और प्रकृति के उत्तेजक रूप से व्याकुल हो जाते हैं तो सीता भी अशोक वाटिका में म त्यु का आह्वान करती है—

"पावकमय ससि स्त्रवत न आगि।
मानहु मोहि जानि हतभागी।
सुनहु विनय मम विहप असोका।
सत्य नाम करु हरु मम सोका।
नूतन किसलय अतल समाना।
देहि अभि निजनि करहिं निदाना।"

इतना ही नहीं, चंद्रमा की ज्योत्स्ना धरती का रोम-रोम शीतल करती है, पर वियोगिनी सीता के मन में फिर भी आग लगी रहती है—

"डहकुन है उजयारिया निसि नहिं धाम।
जगत जात अस लागु मोहि बिनु राम।।"

तुलसी द्वारा उपयोग में लाए गए प्रकृति के इन उद्दीपनकारी रूपों को देखकर पता चलता है कि उन्होंने प्रकृति को सामान्य रूप में ही देखा है। वे अधिकतर परम्परागत ही है, मौलिकता के वहाँ दर्शन नहीं होते। फिर भी रागोत्प्रेरकता की उनमें पूर्ण क्षमता है। प्रकृति के माध्यम से मन की आंशिक स्थिति का उद्‌घाटन करने में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है।

4. अलंकार विधान—अलंकार सौंदर्य वर्धन करने का मुख्य उपादान हैं। यह सौंदर्य चाहे शारीरिक सौंदर्य से सम्बन्धित हो या वाणी सम्बन्धी। अलंकार केवल सौंदर्य की बढ़ोतरी ही करते हैं। कथन या उक्ति में चारुता एवं चमत्कारिता के उत्कर्ष को बढ़ाने में अलंकार अत्यधिक सहायक होते हैं। उनमें अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता एवं भाषा में निखार आता है।

रूपक—धनुष यज्ञ के प्रसंग में-राम का धनुष तोड़ने के लिए उठाने की क्रिया का रूपक द्वारा अत्यन्त सजीव वर्णन हुआ है।

"उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भंग।।"

उत्प्रेक्षा—जहाँ साद श्य के कारण उपमेय में उपमान की संभावना की जाती है वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। यह कवियों का प्रिय अलंकार है। भावाभिव्यक्ति का यह सरलतम साधन है। इसमें कवि की कल्पना की खुली छूट होती है। तुलसी ने भी इसका अत्यधिक प्रयोग किया है। जनक वाटिका के प्रसंग में राम लक्ष्मण को लताओं की ओर से बाहर निकलते देखकर कवि उनके अतुलित सौंदर्य का अंकन करते हुए लिखते हैं—

"लता भवन है प्रकट में तेहि अवसर दोउ भाई।
निकसे जन जुग विमल विधु जलद पटल बिलगाई।।"

राम विवाह पर जनक की रानियाँ अटारी पर बैठी हुई राम को बड़े स्नेहपूर्वक देखती हैं और कवि को उनके चित्रांकन का रूप मिल जाता है—

"तुलसी मुक्ति मन जनक नगर जन,
झाँकती झरोखे लागो सोभा रानी पावती।
मनहु चकोरी चार बैठी निज-निज नीड़,
चंद की करनि पावै-पलकैं न लावती।"

तुलसी का कल्पना वैभव बड़ा विलक्षण है। राम के शरीर पर श्रमबिंदु उनके सौंदर्य में व द्धि करते हैं—

"स्याम सरीर रुचिर सीकर सोनित कन बिच-बिच मनोहर।
जनु खद्योत निकट हरिहित गन भ्राजत मरकत सैल सिखर पर।।"

उपमा—तुलसी ने अपनी अलंकार योजना में प्रकृति के अंगों का मनोहर चित्रण किया है। बालक राम के रूप चित्रण में अनेक मनोरम उपमान एकत्रित किए हैं—

"वरदन्त की पंक्ति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की।।"

प्रकृति से लिए गए उपमान बालक राम की दन्त पंक्ति, अधरोष्ठ, एवं वक्ष पर शोभायमान मोतियों की माला का सुंदर चित्रण हुआ है।

धरा और आकाश के उपमानों को एक स्थान पर प्रस्तुत करके तुलसी ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। शिशुराम के आकर्षक नेत्रों का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"तुलसी मन रंजन रंजित अंजन नैन सुख जन जताक के।
सजनी ससि में समशील उभे नवनील सरोरुह से विकसे।।"

मानवीकरण—प्रकृति के जड़ रुपों के अतिरिक्त तुलसी की द ष्टि उसके चेतन रूप पर भी गई है। वे जड़ प्रकृति के अचेतन रूप के नैसर्गिक सौंदर्य तक ही नहीं रहती है वे प्रकृति पर चेतना का भी आरोप करते दिखाई देते हैं—

'नदी उमगि अंबुधि कहुं छाई। संगम करहि तलाब तलाई।।'

वे प्रकृति पर मानव गुणों का आरोप करते दिखाई देते हैं। इसे मानवीकरण कहा जाता है। तुलसी ने इसका सार्थक प्रयोग किया है। कवि मानवीकरण की कल्पना समानुभूति, विषयानुभूति अथवा तटस्थता की स्थिति को प्रकट करने में करते हैं। तुलसी के मानवीकरण में इन तीनों स्थितियों का समावेश पाया जाता है।

5. **समानुभूति**—गीतावली के अरण्य काण्ड में सीता हरण हो जाने पर प्रकृति राम के दुःख में संवेदना प्रकट करती दिखाई देती है—

"सरित जल मलिन सराने सूखे नलिन,
अलि न गुँजत कल कूंजो न मराल।
कोलिनि कोल किरात जहाँ-तहाँ बिलखत,
बने न बिलोकि जात खग म ग माल।
तरु जे जानकी लाए ज्यादे हरि करि कपि,
हेरैटन न हुँकरि अरैं फल न रसाल।
जे सुक सारिका पाले मातु ज्यों ललकि लाले,
तेऊ न पढ़त पढ़ावै मुनि बाल।"

यहाँ मानव की तरह प्रकृति की संवेदना भी मार्मिक ढंग से प्रस्तुत की गई है।

6. **विषयानुभूति**—प्रकृति में मानव अनुभूति के प्रतिकूल भावों का आरोप विषयानुभूति होता है। जैसे-सीताहरण हो जाने पर प्रकृति के पदार्थों का हर्षित होना। इसमें पात्र की सहानुभूति के अवसर पर अवसाद का वर्णन और अवसाद के क्षणों में आनन्द का वर्णन होता है तुलसी में इस प्रकार के वर्णन कम मिलते हैं। सीताहरण के प्रसंग में प्रकृति राम को चिढ़ाती हुई-सी लगती है। सीता के न होने पर वह अपने सौंदर्य में इठला सकती है। पर यह भी अप्रत्यक्ष रूप में सीता के अंगों की सुंदरता प्रकट करने का ही एक ढंग है।

"खंजन सुक कपोत म ग मीना। मधुप निकट कोकिला प्रवीना।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू।।"

7. **तटस्थता**—तटस्थता की स्थिति में प्रकृति न तो मानव के सुख में सुखी होती और न दुःख में दुःखी। वह अपनी जड़ स्थिति में जैसी की तैसी रहती है। सीता के वियोग में राम प्रत्येक लता, खग तथा म ग से सीता का पता पूछते हैं—पर वे मौन हैं—

"हे खग म ग हे मधुकर श्रेनी, तुम्ह देखी सीता म ग नैनी।"

यद्यपि यह प्रकृति के तटस्थ रूप का चित्रांकन है किंतु इसका प्रयोग भी तुलसी ने अनुभूति की तीव्रता प्रकट करने के लिए बड़े कौशलपूर्ण ढंग से किया है।

इस प्रकार तुलसी के प्रकृति चित्रण की सीमाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने प्रकृति का वर्णन गौण रूप में किया है। कवि के भावानुकूल प्रकृति सहज एवं स्वाभाविक रूप में ही हमारे सामने आती है। इस द ष्टि से उनका प्रकृति वर्णन उत्कृष्ट है।

अध्याय 12
रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड का सारांश

'उत्तरकाण्ड' लोकनायक महाकवि तुलसीदासकृत 'श्री रामचरितमानस' का अन्तिम काण्ड है। तुलसीदास के 'श्रीरामचरितमानस' महाकाव्य में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी की सम्पूर्ण जीवन-लीला का मार्मिक चित्रण है। उसी आधार पर इस महाकाव्य को सात काण्डों (भागों) में विभक्त किया है—(1) बालकाण्ड, (2) अयोध्याकाण्ड, (3) अरण्यकाण्ड, (4) किष्किन्धाकाण्ड, (5) सुन्दरकाण्ड, (6) लंकाकाण्ड, (7) उत्तरकाण्ड। इनके नामकरण भी श्रीराम-कथा पर आधारित हैं। उदाहरणार्थ-'लंका काण्ड में श्रीरामचन्द्र जी लंका में जाकर रावण वध करके माता सीता को छुड़ाकर अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं। इसी प्रकार 'बालकाण्ड' में उनके जन्म से लेकर बचपन की समस्त घटनाओं का उल्लेख तुलसीदास जी ने किया है। 'उत्तरकाण्ड' अन्तिम काण्ड है जिसमें संत तुलसीदास जी ने निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डाला हैं—

(1) **श्री रामचन्द्र जी का अयोध्या वापस आना**—श्री रामचन्द्रजी के अयोध्या आने की अवधि आने जब एक दिन रह जाती है तो अयोध्या वासियों को चिन्ता होने लगती है कि श्रीराम वापस क्यों नहीं आये ? भरत का मन भी शंकाकुल हो जाता है, तभी शुभ शकुन होने लगते हैं सभी समझ जाते हैं कि राम आने वाले हैं और सभी प्रसन्न होते हैं। उसी समय हनुमान जी ब्राह्मण का वेश(रूप) धारण कर आते हैं। वे श्रीराम के सकुशल आने (आगमन) की सूचना देते हैं। भरत के पूछने पर वे अपना परिचय देते है कि वे श्रीराम के सेवक पवनपुत्र हनुमान हैं। श्रीराम शत्रुओं पर विजयोपरान्त लक्ष्मण व सीता के साथ अयोध्या आ रहे हैं। भरत अत्यधिक हर्षित हो जब यह समाचार जाकर नगर में सुनाते हैं तो नगर में खुशियाँ व्याप्त हो जाती हैं। सभी श्रीरामचन्द्रजी के स्वागत के लिए शुभ सामग्री तैयार करते हैं। नगर सजाया जाता है। श्रीरामचन्द्र जी की अगवानी करने के लिए गुरू वशिष्ठ, अन्य श्रेष्ठ ब्राह्मण, भाइ शत्रुघ्न व अन्य कटुम्ब-जन भरत के साथ चल देते हैं।

(2) **राम का अयोध्या वासियों से मिलन**—श्रीरामचन्द्रजी वनवास की अवधि पूर्ण करने के पश्चात् अयोध्या वापिस आ रहे हैं अयोध्या के समीप आकर सुग्रीव, अंगद, विभीषण आदि से अयोध्या की ओर संकेत करते है कि यह अयोध्या नगरी है, यहाँ मेरा निवास है। नगर के पास आकर राम पुष्पक विमान से उतर जाते हैं तथा पुष्पक विमान को अपने साथी कुबेर के पास जाने की आज्ञा देते हैं। राम अपना धनुष-बाण रखकर गुरू के चरणों में वन्दना करते हैं। सभी गुरूजनों आदरणीयों व मान्यों का अभिवादन करके चरणों में आये हुए भरत को गले लगा लेते हैं। सभी अयोध्या वासियों से राम अपने असंख्य रूप बनाकर मिलते हैं। सभी माताएं राम आदि से मिलती है। कैकेयी के मन में अवश्य संकोच पैदा होता है। लक्ष्मण व सीता भी यथानुसार स्वजनों व नगरवासियों से मिलते हैं। उसी समय विभीषण, सुग्रीव, नल, नील, जामवन्त, अंगद, हनुमान आदि मानवों का रूप धारण करते हैं। राम उनका परिचय देते हैं। उनके नमस्कार करने पर कौशल्या माता उन्हें आर्शीवाद देती है चारों ओर अपर हर्ष (खुशी) का आगम है।

(3) **राम का राज्याभिषेक**—इसी समय गुरू वशिष्ठ ब्राह्मणों को बुलाकर कहते हैं कि यह शुभ समय है अतः राम का राज्याभिषेक होना चाहिए। राज्याभिषेक के लिए सम्पूर्ण मांगलिक वस्तुएँ

मंगायी जाती है। राम ने तभी सेवकों को बुलाकर कहा कि मेरे सखाओं को पहले स्नान कराओ राम की आज्ञा का पालन किया गया। तभी राम ने अपने भाइयों को स्नान कराया तथा बाद में अपनी जटाएँ खोलकर स्वयं स्नान किया। इधर माताओं ने सीता को स्नान कराया। राम गुरू वर्ग व अन्य ब्राह्मण को नमस्कार करने के पश्चात् सिंहासनारूढ़ हुए। आकाश में देवताओं और ऋषियों के जय-जय कार व ब्राह्मणों के वेदोच्चारण से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गूँज उठा। ब्राह्मणों को दान व याचकों को बहुत धन दिया गया। चारों ओर प्रसन्नता व्याप्त हो गयीं। वेदों ने राम की महिमा का गान किया तथा वे अन्तर्ध्यान हो गये। तभी महादेव जी वहाँ आये और हर्षित हो राम की प्रशंसा करने लगे, उनकी प्रार्थना करते हुए कैलाश पर्वत पर चले गये। प्रतिदिन नये-नये मंगलोत्सव होने लगे।

(4) **राम ने सभी सखाओं को ससम्मान विदा किया**—इस प्रकार राम के राज्यारोहण के हर्ष से छः माह व्यतीत हुए। राम ने विभीषण अंगद आदि सखाओं को बुलाकर उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की और कहा—

सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना।
म षा न कहँउ मोर यह बाना।।

संसार में मुझे जो कुछ भी प्रिय है तुम सभी उनसे बढ़कर हो। राम ने उन्हें अपने-अपने घर जाने के लिए कहा। जाते समय सुग्रीव को भरत ने आभूषण पहनाये, लक्ष्मण ने विभीषण को वस्त्रालंकार पहनाए, स्वयं राम ने जामवन्त, नल, नील आदि को आभूषण व वस्त्र पहनाए थे। तभी भावुक अंगद को राम ने अपनी माला व अन्य वस्त्रालंकार स्वयं पहनाकर विदा किया। उन्हें विदा करने के लिए भरत, लक्ष्मण व शत्रुघ्न गये। निषादराज को भी आभूषण वस्त्र देकर राम ने विदा किया, परन्तु हनुमान वहीं रह गये।

(5) **राम-राज्य की विशेषताएँ**—राम का राज्य अनुपम व ऐतिहासिक माना जाता है। राम के राज्य में चारों वर्ष के मनुष्य चारों आश्रम (ग हस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) का धर्मानुसार सेवन करते थे। उन्हें किसी प्रकार का भय, शोक, शंका न थी। सभी प्रकार से सुख, सम द्धि व धन-धान्य से परिपूर्ण थे। न ही किसी को अल्पायु में म त्यु होती थी और न ही कोई किसी प्रकार से पीड़ित था। उस समय सभी परस्पर प्रेम से रहते थे। रामराज्य के विषय में कहा है-

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज्य काहू नहिं व्यापा।।

सभी उदार, परोपकारी, एक पत्नीधारी व शत्रु रहित थे। प्रकृति भी समय-समय पर फल-फूलों से प्रजा की सेवा करती थी। पशु-पक्षियों तक ने अपना स्वाभाविक वैर भुला दिया था। चन्द्रमा और सूर्य सदा सभी को प्रसन्न रखते थे। सागर अपनी मर्यादा में रहता था। अतः कहा गया हैं कि-

"अति प्रसन्न दस दिशा विभागा।।"

तभी राम के लव और कुश नामक दो पुत्र हुए तथा सभी भाइयों के दो-दो पुत्र हुए। रामराज्य में राम का दर्शन करके सभी अपने को धन्य समझते थे।

(6) **संतों की महिमा व असंतों के अवगुण**—एक बार भरत ने राम से संत और असंत के विषय में पूछा-"संत-असंत भेद विलगाई। प्रनत पाल मोहि कहहु बुझाई।"

राम ने उन्हें बताया कि संत और असंत अर्थात् दुर्जन का स्वभाव कुल्हाड़ी जैसा है। कुल्हाड़ी लकड़ी को काट डालती है। चन्दन की लकड़ी फिर भी उसे सुगंधित कर देती है। संत शत्रु को भी अपने गुण देते हैं। गुण के कारण चन्दन देवताओं के सिर पर चढ़ता है तथा कुल्हाड़ी के मुख को दण्ड मिलता है कि उसे आग में खूब तपाया जाता है और घन से खूब पीटा जाता है। संत

पराये दुःख को अपना दुःख समझते हैं। लोभ, क्रोध, मोह, त्याग देते हैं। उनका चित निर्मल होता है वे दोनों पर दया करते हैं। वे निन्दा और स्तुति में समान होते हैं। अतः उनकी संगति सदा करनी चाहिए। दूसरी ओर असंत स्वभाव से दुष्ट व परसंताप को देने वाले होते हैं। वे क्रोधी, कामी, मोही और लोभी तथा बिना कारण वैर करते हैं। जो भलाई करता है उसकी भी बुराई करते हैं अतः उनसे बचकर रहना चाहिए।

(6) **गरुड़ का काकभुशुण्डि से राम-कथा सुनना**—पार्वती ने शिव जी से यह प्रश्न किया था। काकभुशुण्डि एक (कौआ) पक्षी है, जबकि गरुड़ पक्षियों के राजा हैं। क्या कारण है—कि पक्षिराज गरुड़ ! ने काकभुशुण्डि से कथा सुनी थी शिवजी उत्तर देते हुए कहते हैं—कि जब राम ने नर की लीला करते हुए मेखनाथ के हाथों अपने नागपाश में बँधवा लिया था तो उन्हें छुड़ाने के लिए नारद मुनि ने पक्षीराज ! गरुड़ ! को भेजा था। सर्पों के भक्षक गरुड़ ने राम का बन्धन काट दिया था। तब गरुड़ के मन में यह मोह पैदा हो गया था कि राम तो परम् परमेश्वर है, फिर यह बंधन कैसा? वे मोहवश होकर देव ऋषि नारद के पास गये और अपनी शंका बताई। नारद जी ने उन्हें ब्रह्मा जी के पास भेज दिया। ब्रह्मा जी ने उन्हें मेरे (शिव) के पास भेज दिया। मैं तब कुबेर जी के पास जा रहा था। अतः गरुड़ ! को मार्ग में सभी कुछ नहीं समझा सकता था। तब मैंने उन्हें काकभुशुण्डि के पास भेज दिया और कहा—वहाँ प्रतिदिन रामकथा होती है, वहाँ तुम्हारा सभी सन्देह दूर हो जाएगा। मुझे यह ज्ञात हो गया है कि उसने कभी अभिमान किया होगा। उस अभिमान को कृपानिधान श्रीराम नष्ट करना चाहते हैं दूसरी बात यह है कि मैंने उसे अपने पास नहीं रखा क्योंकि पक्षी ही पक्षी की भाषा को समझते हैं—

'समुझइ खग खगहीं कै भाषा।"

तब गरुड़ वहाँ गये और उन्होंने काकभुशुण्डि से राम कथा सुनकर अपने मोह को दूर किया।

माया का कुचक्र—जब मोह के चक्र में पड़कर गरुड़ व्याकुल हो गये तो शिवजी ने उन्हें काकभुशुण्डि के पास भेज दिया था। तब काकभुशुण्डि ने कहा

मोह न अंध कीन्ह केहि केही।

को जग काम नचाव न जेही।।

कौन ऐसा है जिसे मोह ने अन्धा (विवेक रहित) नहीं किया है ? अर्थात् ज्ञानी, तपस्वी, शूरवीर, कवि, विद्वान, गुणवान सभी को मोह व माया ने नचाया है। माया का परिवार बलवान है, अपार है। कामादि (काम, क्रोध, लोभ) उसके सेनापति हैं। दम्भ, पाखण्ड, कपट आदि योद्धा हैं-

जो माया सब जगहि नचाया।

जासु चरित लखु काहुँ न पावा।।

माया समस्त संसार को नचाती है, उसके चरित्र को किसी ने नहीं समझा है, परन्तु वह माया राम की दासी है—

"सो दासी रघुवीर कै।"

(9) **काकभुशुण्डि के कथा कहने का कारण**—यह रामकथा महादेव ने पार्वती को सुनायी है। तब पार्वती पूछती हैं-हे महादेव ! जो रामकथा आप मुझे सुना रहे हैं वह आपने काकभुशुण्डि से सुनी है। काकभुशुण्डि तो एक पक्षी (कोआ) है उसने इस कथा को क्यों कहा ? पार्वती के इस प्रश्न को सुनकर महादेव ने बताया-काकभुशुण्डि ने कोए का शरीर पाया है, फिर भी वह वैराग्य, ज्ञान और विज्ञान में द ढ़ है। उनकी राम में भक्ति है। उनकी कथा इस प्रकार है-सुमेर पर्वत की उत्तर दिशा में सुन्दर नील पर्वत है उसके स्वर्णमयी शिखर हैं। उन शिखरों पर बरगद आदि के व क्ष हैं और एक सुन्दर तालाब है वहीं पर काकभुशुण्डि रहता था। वह हरि का भजन करता था और पीपल के व क्ष के नीचे ध्यान करता था बरगद के व क्ष के नीचे हरिकथा कहता था। सभी पक्षीगण

वहाँ आकर राम-कथा सुनते थे। मैंने तो वहाँ जाकर यह द श्य देखा। मैंने भी महादेव (हंस) का शरीर धारण किया और राम-कथा सुनकर कैलाश पर्वत पर आ गया। काकभुशुण्डि ने यह बताया कि वह राम की बाल-लीलाएँ अयोध्या जाकर देखते हैं। राम की लीलाएं विचित्र हैं-

जब-जब राम मनुज तनु धरहीं।
भक्ति हेतु लीला बहु करहीं।।

काक के रूप में काकभुशुण्डि भगवान के साथ कृपाएँ करता है। उसकी जूठन खाता है। राम का शरीर सुन्दर है महल मनोहर है। उनका बाल रूप मन हरने वाला है। बालक राम किलकारी मारते हुए मुझे पकड़ने दौड़ते हैं तो मैं भाग जाता हूँ। एक बार राम ने मुझे पकड़ने के लिए भुजा फैलाई। मैं बचने के लिए जैसे-जैसे आकाश में उड़ता गया वैसे-वैसे उनकी भुजा को अपने पास देखता गया। मैं राम के इस रहस्य से व्याकुल हो गया मैंने आंखें बन्द कर ली। जैसे ही मैंने आंखें खोलीं तो मैंने अपने को अयोध्या में पाया। मुझे देखकर राम मुस्कराने लगे। उनके हँसते ही मैं उनके पेट में चला गया।

(10) **काकभुशुण्डि द्वारा प्रस्तुत राम-भक्ति**—काकभुशुण्डि ने राम के उदर में देखा कि वहाँ अनेक ब्रह्माण्ड हैं, जिनमें प्रत्येक से अलग-अलग लोक हैं। सभी के भिन्न-भिन्न ब्रह्मा, विष्णु, शिव, मनु व दिक्पाल हैं-

'लोक-लोक प्रति भिन्न विधाता'।

वहाँ पर असुर देव, मानव पशु पक्षी सभी अलग-अलग हैं। वे सभी जीव विभिन्न (अलग-अलग) प्रकार के हैं। प थ्वी, नदी, समुद्र, पर्वत, तालाब सभी अलग-अलग हैं, प्रत्येक लोक में अयोध्या नगरी भी अलग है। सभी में दशरथ, भरत आदि भाई, कौशल्या आदि माता भी भिन्न रूपों में हैं, परन्तु राम एक ही हैं।

'राम न देखउँ आनी।'

काकभुशुण्डि नहीं समझ सके कि राम का स्वरूप क्या हैं ? उनकी बुद्धि मोह रुपी कीचड़ में फँस गयी। वे व्याकुल हो गये। तब राम हँस दिये तो काकभुशुण्डि उनके मुख से बाहर आ गये। उसने देखा कि राम उसी प्रकार क्रीड़ाएं करने लगे हैं। काकभुशुण्डि की व्याकुलता और अधिक बढ़ गयी। वे राम को रक्षा के लिए पुकारने लगे। राम ने उनके उपर दयामय द ष्टि के साथ वरदान मांगने का आग्रह किया। कि चाहे वह ऋद्धि-सिद्धि या मुक्ति तक मांग लें, जो भी वह माँगेगा वही मिलेगा। परन्तु काकभुशुण्डि ने राम से भक्तिगत वरदान माँगा। राम अत्यधिक प्रसन्न हो 'एवमस्तु' कहकर भक्तिगत वरदान दिया। भक्ति संसार में सौभाग्यवान को ही मिलती हैं। जो भक्ति को प्राप्त होते है, राम उन्हें अत्यन्त प्रिय मानते हैं। यद्यपि एक पिता की अनेक संतानों को अपने-अपने अनुसार वस्तुएं प्रिय होती हैं। कोई विद्वान होता है, कोई धनवान होता है, परन्तु पिता को प्रिय वही होता है जो पित भक्त होता है उसी प्रकार राम कहते हैं-

'सुचि सेवक मम प्राणा।'

जो मेरा भक्त हे वह पवित्र हे और मेरे प्राण के समान प्रिय है। काकभुशुण्डि ने राम की भक्ति का महत्व पक्षीराज गरुड़ को भी बताया।

(11) **गरुड़ के प्रश्न**—गरुड़ यद्यपि काकभुशुण्डि के माध्यम से राम की भक्ति को समझते हुये उसके महत्व को भी जान गये थे। परन्तु उनके मन में काकभुशुण्डि के विषय में जिज्ञासा पैदा हुई तथा उन्होंने काकभुशुण्डि से प्रश्न किए-हे काकभुशुण्डि ! आप राम के सेवक हैं, फिर आपने कोए का शरीर क्यों प्राप्त किया ? तथा मैनें शिव जी से सुना है कि महा प्रलय में भी विनाश को प्राप्त नहीं होंगें। ऐसा क्यों हैं ? जब कि सभी कुछ संसार में नाशवान है।

(12) **काकभुशुण्डि का पूर्व जन्मों का वर्णन**—काकभुशुण्डि कहते हैं कि मुझे अपने पूर्व जन्मों के विषय में पर्याप्त स्म ति है मैंने विविध जन्मों में जप, तप, योग यश, दान आदि अच्छे कर्म भी किए और बुरे कर्म भी किए। विभिन्न योनियों में मैं भटकता फिरा, लेकिन मुझे सुख कहीं भी नहीं मिला। एक कल्प में कलियुग आया जिसमें सभी नर-नारी अधर्म का सेवन करने लगे। उसी कलियुग में अयोध्यापुरी के एक शुद्र के यहाँ मेरा जन्म हुआ। तब मैं शिव का परम् सेवक बन गया, मुझे इतना अभिमान हो गया कि शिव के अतिरिक्त अन्य देवों की सदा निन्दा करता था। मैं राम के विषय में कुछ भी नहीं समझ सका था। उस कलियुग का प्रभाव मेरे ऊपर भी पड़ा।

(13) **कलियुग के प्रभाव का वर्णन**—काकभुशुण्डि ने कलियुग के अनिष्ट प्रभाव को देखा था। वर्णित कर कहते हैं। कि उस समय प्रजा में वर्ण व्यवस्था व आश्रम परम्परा समाप्त हो गयी थी। सभी शास्त्रों की बातों का विरोध करते थे। राजा प्रजा के रक्षक न हो भक्षक हो गये थे। पण्डित ढोंगी, अज्ञानी, घमण्ड व पापाचार में लिप्त थे। सामाजिक मर्यादा भंग हो चुकी थी सभी पापाचरण में लिप्त व खान-पान तो भष्ट हो गये थे। दुराचरण के साथ कामोवासना में लिप्त थे। अतः तुलसीदास जी वर्णित कर सकते हैं।

नारि विवस नर सकल गोंसाई।

नाचहि नर मर्कट की नाई।।

इतना ही नहीं शूद्र ब्राह्मणों के उपदेशक थे। कामी, लोलुप, पाखण्डी पापाचारी, दुराचारी, क्रोधी, मानी, मायावीजन से समाज भरा पड़ा था। पतिव्रता नारी अपमानित होती थी विधवा श्रंगार करती थीं। निम्न जातियों ने ढोंगी ब्राह्मणों व साधु का वेश धारण कर समाज में ठगी व नारियों से व्याभिचार करते थे।

नारि मुई घर सम्पत्ति नासी।

मूड़ मुड़ाय भये सन्यासी।।

आचारहीन समाज में वर्ण संकट हो गया था। पापमय वातावरण में अकाल पड़ने लगे थे। पैदावार नहीं होती थी। सभी प्रजा दुःखी थी, चारों ओर हाहाकार व्याप्त थी।

संसार में चार युग हैं—सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग सभी युगों के अपने-अपने धर्म हैं और सभी युगों से संसार से पार होने के उपाय हैं। कलियुग की विशेषता यह है कि इसमें योग, यज्ञ, पूजा आदि नहीं करनी पड़ती, बल्कि प्रभु के गुणगान करने से ही कल्याण हो जाता है। बिना प्रयास के ही व्यक्ति संसार से पार हो जाता है।

(14) **काकभुशुण्डि के अन्य जन्मों का वर्णन**—काकभुशुण्डि पक्षिराज गरुड़ से कहते हैं कि कलिकाल का विपरीत प्रभाव मेरे भी ऊपर पड़ा। मैंने बहुत वर्षों तक अयोध्या में निवास किया। उस समय वहाँ एक बार अकाल पड़ा। जिसके दुःखद प्रभाव से घबराकर मैं अयोध्या छोड़कर उज्जैन चला गया। धीरे-धीरे मैने धन इकट्ठा किया और भगवान शिव की उपासना में मगन हो गया। वहीं पर मैं एक ब्राह्मण से मिला जो सज्जन, परोपकारी, ज्ञानी शिव उपासक थे। वे भगवान राम के निन्दक नहीं थे। मैं उनकी सेवा करने लगा, परन्तु मेरे मन में छल कपट था। उस सज्जन ब्राह्मण ने मुझे प्रभु के समान स्नेह, शिक्षा व शिव-मंत्र से भी दिया। मैं भगवान शिव के मन्दिर में जाकर नियमित शिव-मंत्र का जाप किया करता था किन्तु मेरा अहंकार निरन्तर बढ़ता गया। मैं आन्तरिक मन से पापी था किन्तु राम भक्तों को देखकर मैं जल उठता था। मेरे गुरू ब्राह्मण ने मुझे बहुत समझाया। परन्तु मुझे उनका विचार अच्छा नहीं लगता था। मैं जाति से नीच था अतः मन ही मन गुरूद्रोही था ब्राह्मण गुरू द्वारा उपदेशित हितकर बातें अहित कर प्रतीत हुई। एक दिन शिव मन्दिर में शिव जाप रहा था। तभी वहाँ गुरू जी आ गये। अभिमान के कारण मैंने उनका अभिवादन भी न कर सका परन्तु गुरूवर ने अपने दयालु, क्षमाशील, सज्जन स्वभाव के कारण कुछ

भी नहीं कहा। महादेव जी इस घटना से गुरू के अपमान की नीति से क्रोधित हो उठे क्योंकि जो गुरू का अपमान करता है, वह करोड़ों वर्षों तक रीख नरक में पड़ा रहता था तथा वहाँ से आकर भी तिर्यग्य (पशु-पक्षी आदि) का शरीर धारण करता हैं। अतः शिव जी ने शाप दिया—

'सर्प होहि खल मल मति व्यापी।'

हे दुष्ट ! तुम सर्प योनि प्राप्त करो तथा किसी विशाल व क्ष की कोटर में जाकर रहो ब्राह्मण गुरू यह सुनकर अत्यन्त व्याकुल हुए। उन्होंने हाथ जोड़कर शिव की प्रार्थना के साथ रुद्राष्टक पढ़ा जिससे शिवजी ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। उसने दो वरदान माँगे—

1. शिव भक्ति,

2. प्रशप्त शिष्य पर कृपा।

शिव जी ने आकाशवाणी के माध्यम से उन्हें स्वीकार कर लिया साथ ही उन्होंने कहा कि शाप असत्य तो नहीं होगा, इतना अवश्य है कि जन्म-मरण में दुस्सह दुःख नहीं होगा। काल की प्रेरणा से में विन्ध्याचल में सर्प बना कुछ समय इसी प्रकार बिताया। मैंने विविध शरीर बिना कष्ट के प्राप्त किया ? वे अत्यधिक सज्जन व कृपालु थे। अन्त में ब्राह्मणत्व का शरीर प्राप्त किया, परन्तु मेरी रामभक्ति में इतनी श्रद्धा थी कि मैंने माता-पिता के कथनानुसार कोई पढ़ाई नहीं की उनकी म त्यु के पश्चात् मैंने विविध स्थानों पर भ्रमण किया रामभक्ति व उनके जीवनभक्ति विषयक जानने की इच्छा व्यक्त करता रहा। अन्त में सुमेरु पर्वत पर निवास करने वाले ऋषिमुनि लोमश के पास पहुँचा। उन्होंने मेरी श्रद्धा, नम्रता आदि देखकर पहले तो राम-कथा कही, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने मुझे निर्गुण-भक्ति की ओर प्रेरित किया। मैं उनसे निर्गुण-सर्गुण भक्ति विषयक वाद-विवाद करते हुए सगुण को निर्गुण से उत्तम सिद्ध कर देता था। अतः लोमश ऋषि ने क्रोधित होकर मुझे शाप दिये जिससे मैं कौआ बन गया। परन्तु मैंने कोए का रूप धारण करके भी उनके प्रति क्रोध व्यक्त नहीं किया।

अतः वे बहुत प्रसन्न हुए तथा मुझे 'श्री रामचरितमानस' सविस्तार सुनाया। उन्होंने इस कथा को शिवजी से प्राप्त किया था। इस प्रकार मैं कौआ बनकर अपने आश्रम में आ गया। मैं प्रभुराम की नगरी में रहता हूँ और उनकी शिशुलीला देखता हूँ। इस प्रकार काकभुशुण्डि ने गरुड़ ! की शंकाएं दूर कर दी।

(15) **निर्गुण पर सगुण भक्ति की विजय**—काकभुशुण्डि जब लोमश ऋषि-मुनि के पास गये तो उन्होंने काकभुशुण्डि की योग्यता, पात्रता, विनयशीलता देखकर निर्गुण भक्ति का उपदेश दिया था। उन्होंने कहा था कि भगवान्, अजन्मा, अद्वैत, निर्गुण तथा अन्तर्यामी है, वह राम रहित, रूप रहित, अखण्ड व अद श्य है। उन्होंने कहा था—

मन गोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवद्यि सुख रासी।

सो तै ताहि ताहि नहिं भेदा। वारि बीच इस गावहिं वेदा।।

अर्थात् निर्गुण भगवान मन और इन्द्रिय से अगोचर है, अविनाशी हैं, निर्विकार है, सीमारहित हैं। वह 'तत्वमसि' कहकर पुकारा जाता है। जीव और ब्रह्म में उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसे लहरों व जल में होता है। वे अलग-अलग होकर भी एक हैं।

काकभुशुण्डि ने इस निर्गुण रूप को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने पूछा-

मायावस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।

अर्थात् जीवन माया के वश में रहता है, अज्ञानी हैं, वह ईश्वर के समान कैसे हो सकता है? जीव भगवान के स्वरूप को पहचान कर ही सुखी होता है। अन्यथा जीव सदा दुःखी रहता है। परमात्मा ही उसे प्रदान करते हैं। राम की भक्ति ही संसार में पापों को दूर करती है। राम अलग

हैं जो सगुण है, वे लीलाएँ करते हैं व सुखी रहने का आर्शीवाद देते हैं। जीव संसार की वासनाओं में लिप्त रहता है, परमात्मा उनकी रक्षा करते हैं। सगुण भक्ति में जीवात्मा, परमात्मा के विभिन्न रूप हैं उनका सम्बन्ध स्वामी, सेवक का है। राम-भक्ति से काकभुशुण्डि को ज्ञान, वैराग्य, इच्छानुसार मरण आदि सुख प्राप्त हुए थे।

(16) **भक्तिगत माया में अन्तर**—पक्षीराज ! गरुड़ ! के प्रश्न पर काकभुशुण्डि ने बताया कि भक्ति और माया दोनों ही सभी वर्ग से सम्बन्ध हैं। माया विष्णु भगवान से प्रकट हुई।

(विष्णु माया प्रकट) भक्ति भगवान श्रीराम को प्रिय है। एक स्त्री दूसरी स्त्री पर कभी भी मोहित नहीं होती अतः दोनों का सम्बन्ध नहीं हो पाता। माया तो नाचने वाली है-

'माया खलु, नर्तकी बेचारी।'

अर्थात् वह नाचने वाली नर्तकी है भक्ति श्रीराम के अनुरूप है। माया-भक्ति से डरती है जिसकी हृदय में रामभक्ति नहीं उसके हृदय में माया निवास करती है। भक्ति को देख माया सकुचाती है उस पर वह अपना प्रभुत्व नहीं रखती। इसी कारण ऋषि मुनि सुखद भक्ति की चाहत रखते हैं। माया को नहीं चाहते। जो व्यक्ति माया के वशीभूत होते हैं वे तोते, बन्दर के समान नाचते फिरते हैं-

सो मायावश भयउ गोंसाईं।
बन्हयों कीर मर्कट की नाईं।।

माया के कारण जीव और अचेतन में एक गाँठ पड़ जाती है। जब तक वह गाँठ रहती है तब तक जीव संसार में बंधा रहता है। उसके हृदय में व्याप्त अज्ञानता के अन्धकार को, भक्ति ही दूर करती है।

(17) **भक्ति और ज्ञान में अन्तर**—पक्षीराज ! गरुड़ ! काकभुशुण्डि से प्रश्नगत कहते हैं—

'ग्यानहिं भगतहिं अन्तर केता ?'

ज्ञान और भक्ति में कितना अन्तर है ? उनके इस प्रश्न को सुनकर काकभुशुण्डि ने कहा था—

भक्तिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा।।
नाथ मुनीस कहहिं कछु अन्तर।।

यद्यपि ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं है दोनों ही सांसारिक दुःख से मुक्ति दिलाने वाले फिर भी ऋषि मुनियों ने उसके अन्तर को कहा है-ज्ञान, वैराग्य, योग, विज्ञान-ये सभी पुरुष जो प्रबल हैं। वे माया रुपी नारी के वशीभूत हैं-

सोउ मुनि ग्याननिधान म गनयनी विधु मुख निरखि।

जैसे मनुष्य किसी म गनैनी को देखकर उसके वशीभूत हो जाता है, वैसे ही ज्ञान-वान भी माया के वशीभूत हो जाते हैं। दूसरी ओर भक्ति जहाँ है वहाँ श्री राम का निवास है। जिनके हृदय में श्रीराम की भक्ति है वहाँ जाते हुए माया सकुँचाती हुई उसपर अपनी प्रभुता नहीं चला सकती। यही कारण है कि सभी भक्ति की कामना करते हैं। जो भक्ति को जान लेता है उसे स्वप्न में भी मोह नहीं होता है। वास्तव में 'ज्ञान के मार्ग पर चलना बहुत कठिन हैं। जबकि भक्ति का मार्ग बहुत सरल है। ज्ञान के मार्ग पर अनेक बाधाएँ आती हैं। जिनसे छुटकारा पाना बहुत कठिन है भक्ति के मार्ग में वे बाधाएँ नहीं रहती हैं जो मुक्ति ज्ञान के द्वारा कठिनता से नहीं मिल पाती, वही मुक्ति भक्ति माध्यम से प्राप्य हैं। श्रीराम की भक्ति से मुक्ति बिना इच्छा किये अपने आप दौड़ कर आ जाती है-

राम भजत सोई मुकुति गोसाईं।

अनइच्छित आवइ बरिआई।।

भक्ति करने से ही माया या अविद्या का विनाश बिना परिश्रम के सम्भव है जैसे जल की स्थिति थल के बिना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार राम-भक्ति के बिना मुक्ति का सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे संसार में जीव त प्ति के लिए भोजन करता है परन्तु पेट (दुधा) की अग्नि उसे पचा देती है, उसी प्रकार मानव को राम की भक्ति से मुक्ति स्वयमेव मिल जाती है। भक्ति एक चिन्तामणि है जिससे अज्ञान रुपी दरिद्रता स्वयं मिट जाती है।

(18) **ज्ञान का स्वरूप**—भक्ति की महत्ता की प्रस्तुति संत तुलसीदास जी ने ज्ञान के कठिन प्रकाश पर डाला है। उनकी द ष्टि में ज्ञान एक कठिन साधना है, इस विषय में उन्होंने एक रूपक प्रस्तुत किया है, जैसे किसी गाय को हरी-हरी घास खिलाकर पहले पालन-पोषण किया जाता है उसको दूहकर उसका दूध निकाला जाता है, दूध मथकर घी निकाला जाता है घी का दीपक जलाया जाता है उससे प्रकाश होता है। उसी प्रकार श्रद्धा रुपी गौ का हृदय में बाँधकर निव त्ति विश्वास आदि के द्वारा मन को वश में किया जाता है। धर्म, भाव, क्षमा, सन्तोष, धैर्य, शर्म, सत्य, वैराग्य, योग के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती हैं। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ आकर विहन करती हैं। इन्द्रियाँ व इन्द्रियों के विषय उस दीपक को जलने नहीं देते, उनकी तेल हवाएँ उस ज्ञान रूपी दीपक को बुझाने का प्रयास करती हैं, जिसे रोकना बहुत ही कठिन है। यदि कदाचित ज्ञान रूपी दीपक बुझ जाता है तो बहुत कष्ट होता है। ज्ञान को कहना बहुत कठिन है, उसको समझना बहुत कठिन है व उसकी साधना भी बहुत कठिन है। अतः तुलसीदास जी का कथन है कि—

'ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होई नहिं बारा।।

ज्ञान का रूप उसी प्रकार है जैसे तलवार की धार। जैसे तलवार की तेजधार पर चलना कठिन है। वैसे ही ज्ञान का मार्ग अपनाना अत्यन्त कठिन है। तलवार की धार पर चलता हुआ व्यक्ति कभी भी गिर सकता है। उसी प्रकार ज्ञान के कठिन मार्ग से थोड़ी सी असावधानी होने पर साधक गिर जाता है बिना विध्न के जो उस मार्ग को अपना लेता है। उसे ही मोक्ष या कैवल्प की प्राप्ति होती है।

(19) **भक्तिगत महत्ता**—भक्ति का मार्ग ज्ञान के मार्ग की अपेक्षा अत्यन्त सरल है। हरि-भक्त से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है जैसे जल की आधार प थ्वी है वैसे ही भक्ति का आधार ईश्वर है, भक्ति से सभी संसार के दुःख अनायास छूट जाते हैं भक्ति तो एक चिन्तामणि रत्न है—

'राम भक्ति चिन्तामणि सुन्दर'।

इस मणि का प्रकाश दिन-रात रहता है उसमें न घी जलता और न ही बत्ती की आवश्यकता रहती है तुलसीदास जी के कथनानुसार—

खल कामादि निकट नहीं जाहीं।

बसई भगति जाके उर माहीं।।

जिसके हृदय में भक्ति है वहाँ काम, क्रोध, लोभ आदि दुष्ट नहीं जाते हैं। उनके लिए जहर भी अम त तुल्य है, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। उनके हृदयागत दुःख स्वप्न में भी नहीं रहता—

'राम भगति उर बस जाकें'।

दुःख लवलेशन सपनेहुँ ताके।।

संत ही भक्ति-मणि की खोज करते हैं। हे पक्षीराज ! गरुड़ ! वेद समुद्र है, ज्ञान मन्दराचल पर्वत है। संत देवता हैं। समुद्र को मथकर जो कथा रुपी अम त निकाला जाता है उसी में भक्तिगत

मधुरता रहती है। जो प्राणी वैराग्य रूपी ढाल से अपनी रक्षा करते हुए ज्ञानरूपी तलवार से मद, मोह, लोभ रूपी शत्रुओं को मारकर विजय पताका फहराता है वही हरि-भक्ति से लाभान्वित होता है।

(20) **गरुड़ के सात प्रश्नों के उत्तर**—गरुड़ ने काकभुशुण्डि से सात प्रश्न किए थे। जिनका यथोचित उत्तर काकभुशुण्डि ने दिया था वे प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं—(1) संसार में सबसे बड़ा दुर्लभ शरीर कौन सा है ? उत्तर में कहा गया है कि मानव-शरीर संसार में सबसे दुर्लभ है। इसे प्राप्त करने के लिए चर-अचर जीव लालायित रहते हैं यही मुक्तिगत सोपान है।

(2) संसार में सबसे बड़ा दुःख कौन सा हैं ? उत्तर में कहा गया है कि दरिद्रता संसार में सबसे बड़ा दुख है।

(3) सबसे बड़ा सुख क्या हैं ? उत्तर में संत समागम को सबसे बड़ा सुख कहा गया है।

(4) संत-असंत में क्या भेद हैं ? उत्तर में कहा गया है कि संत परोपकार के लिए जीवन को समर्पित करते हैं जब कि असंत दूसरों को कष्ट देते हैं।

(5) सबसे बड़ा पुण्य क्या है ? अहिंसा को सबसे बड़ा पुण्य व धर्म कहा गया है।

(6) सबसे बड़ा पाप क्या है ? पर निंदा को सबसे बड़ा पाप कहा गया है।

(7) मानस रोग क्या है ? मानसिक रोग अनेक हैं।

उदाहरणार्थ—क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, दुष्टता, दम्भ, मद आदि। ये जीवों को सदा पीड़ित करते रहते हैं। वस्तुतः ये सात प्रश्नोत्तर आत्म-शुद्धि के लिए उपयोगी हैं।

संत-असंत में अन्तर—काकभुशुण्डि ने संक्षेप में संत और असंत के विषय में कहा है—

संत सहहिं दुःख परहित लागी। पर दुःख हेतु असंत अभागी।।

संत दूसरों के लिए कष्ट सहन करते हैं और असंत दूसरों को दुःख देते हैं। संत अनेक दुःख उठाते हैं, परन्तु सभी का ध्यान रखते हैं उनकी उन्नति सभी के लिए सुखदायक है दुष्टों की उन्नति सभी के लिए दुःखदायक है। सज्जन भोज के व क्ष के समान दूसरों का हित करने के लिए अत्यधिक विपत्ति सहते हैं। असंत सन के समान दूसरों को बाँधते हैं। ओलों की वर्षा के समान खेती का विनाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं असंत पराई सम्पत्ति का विनाश करते हैं और अपना भी नाश करते हैं। इस प्रकार असंत संतों के विपरीत चलते हैं तथा संत परोपकाराय (परोपकार के लिए) सदैव समर्पित रहते हैं।

(22) **मानस रोग और उनके उपचार**—रोग दो प्रकार के होते हैं—

1. शारीरिक रोग।

2. मानसिक रोग। मानसिक रोग का सम्बन्ध मन से है। मानस रोग अनन्त है, जिनका मूल आधार है-अज्ञान-मोह।

मोह सकल व्याधिन्ह का मूला।
तिन्ह से पुनि उपजहिं बहु सूला।।

मोह से ही अनेक रोग उत्पन्न होते हैं—उदारणार्थ—काम, लोभ, क्रोध, ममता, ईर्ष्या, हर्ष-विषाद, दुष्टता, कटुता, अहंकार, दंभ, कपट, त ष्णा, मत्सर, अविवेक आदि अनंत मानसिक रोग हैं। मानव एक रोग से ही छुटकारा प्राप्त नहीं कर पाता है। उसी के वशीभूत होकर मर जाता है, फिर ये तो असाध्य रोग हैं, जो सभी प्राणियों को निरन्तर कष्ट देते रहते हैं।

नियम धर्म, सदाचार, तप, ज्ञान, यज्ञ जप, दान आदि अनेकों औषधियाँ हैं जिनसे भी ये रोग जल्दी दूर नहीं हो पाते हैं। संसार के सभी जीव किसी न किसी रोग से पीड़ित हैं। केवल राम

की भक्ति ही ऐसी है जिन से ये रोग नष्ट हो जाएं। भगवान श्रीराम को भगवद् भक्ति ही संजीवनी बूटी है श्रद्धा अनुपम है विषयों से दूर रहना परहेज है। हृदय में वैराग्य उत्पन्न होने के स्थिति में मन निरोग होता है। जब मानव श्रीराम रूपी जल में स्नान कर लेता है, तब मनुष्य को हृदय में राम-भक्ति बढ़ जाती हैं। तब मानस रोग का अन्त हो जाता है।

(23) **राम-कथा के अपात्र और अधिकारी**—यद्यपि रामकथा सुख-शान्ति युक्त है, परन्तु संसार के जीव विभिन्न प्रकार के हैं, उनके आचरण भी अलग-अलग हैं अतः श्रीराम-कथा के सभी पात्र नहीं हैं। राम-कथा के अपात्र वे हैं जो धूर्त हैं, हठी स्वभाव से रामलीला में मन लगाने में असमर्थ हैं, क्रोधी व कामोवासना में लिप्त हैं जो बहुत अधिक लोभी हैं, भगवान श्रीराम का कभी भजन नहीं करते, जो ब्राह्मणों के द्रोही हैं। ये व्यक्ति भले ही धनवान हों तो भी ये श्रीराम कथा के पात्र नहीं हैं।

श्रीराम कथा के जो अधिकारी हैं, उनके विषय में संत तुलसीदास वर्णित करते हुए कहते हैं।

रामकथा के तेइ अधिकारी।
जिन्ह के सत संगति अति प्यारी।।

अर्थात् जिन्हें सत्संगति प्रिय है वे ही श्री रामकथा के अधिकारी हैं। इसके अतिरिक्त जिनके गुरू के चरणों में प्रीति है, जो नीति-परायण हैं, जो ब्राह्मणों की सेवा करते हैं, जिन्हें श्रीराम प्राण के समान प्रिय हैं, जो मोक्ष चाहते हैं, जो कथा रूपी अम त को कान रूपी दोने से पान करता हैं, वे ही श्रीराम कथा के वास्तविक अधिकारी हैं।

अध्याय 13
रामचरितमानस में उत्तरकाण्ड का महत्व

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में सगुण भक्ति काव्यधारा के कवियों में श्रेष्ठ कवि तुलसीदास जी हैं। उन्होंने भारतीय सभ्यता संस्कृति का उत्तम गौरवगान अपने ग्रंथों में किया है। यद्यपि उनकी सभी कृतियाँ उत्तम हैं परन्तु उनकी कृतियों में 'रामचरितमानस' अद्वितीय है। 'मानस' में भी 'उत्तरकाण्ड' समस्त ग्रंथ का निचोड़ है।

स जन की द ष्टि से भी यह काण्ड महत्वपूर्ण है। इसमें जन-जन के आराध्य प्रभु राम के वनवास से आगमन का वर्णन है। राम के वियोग से प्रजा वर्ग दुःखी है। चौदह वर्ष की प्रतीक्षा के पश्चात् उनके आराध्य के शुभागमन का करुणापूर्ण चित्रण किया है। भरत की चिंता—'कहीं प्रभु ने मुझे विस्म त तो नहीं कर दिया।' आदि का वर्णन किया है। भरत की चिंताओं को मिटाने वाले अंजलि पुत्र हनुमान विप्र-वेश धारण करके आ जाते हैं। उनका आगमन सभी को आनंदित कर देता है।

नंदिग्राम से अयोध्या आकर भरत् श्रीराम के शुभागमन की सूचना सभी को देते हैं। सारा नगर उत्साह एवं आनन्द से भर जाता है। युवतियाँ मंगल थाल सजाकर भगवान के स्वागतार्थ चल पड़ती हैं। श्रीराम अपने साथियों को पुष्पक विमान से नगर की शोभा दिखाते हुए, समीप ही उतर जाते हैं। अयोध्या में अपने मित्रों की सुख-सुविधा का उन्हें पूरा ध्यान रहता है। शुभ दिन में भगवान सिंहासनारूढ़ होते हैं। देवता ऋषि मुनि सभी आनन्दित होते हैं। वेद भी भगवान की स्तुति करने के पश्चात् ब्रह्म भवन को चले जाते हैं। वेदों के चले जाने के पश्चात् भगवान शंकर श्रीराम से विनय करते हैं। उनका सारा शरीर हर्ष से गद्-गद् हो जाता है। वे श्रीराम से केवल उनकी दुर्लभ भक्ति की याचना करते हैं।

गरुड़ को श्रीराम कथा सुनाने के पश्चात् काकभुशुण्डि कथा का महात्म्य बताते हुए कहते हैं—यह पवित्र कथा त्रितापों को मिटाने वाली है तथा इसका श्रवण करने से मनोवांछित वस्तु की प्राप्ति होती है।

अयोध्या में कुछ समय रहने के पश्चात् श्रीराम के मित्र विदा हो जाते हैं, किन्तु हनुमान ही भगवान राम के समीप रह जाते हैं।

उपर्युक्त कथा के बाद रामराज्य की विशेषताओं का वर्णन आरम्भ हो जाता है। तुलसी के समय में भवन शासकों से हिन्दु समाज संत्रस्थ था। अतः स्वाभाविक ही था कि तुलसी राज्य के ऐसे प्रजाहितैषी स्वरूप का आदर्श उपस्थित करते की जिससे आर्त्तजनों को किंचित संबल तथा शासक वर्ग को अपनी त्रुटि का आभास मिलता। भगवान राम उनके आदर्श शासक थे।

उनके राज्य में वर्णाश्रम धर्म का पालन होता था। प्रजा को कोई कष्ट नहीं था। वैदिक मार्ग का सभी अनुसरण करते थे। अल्प म त्यु, निर्धनता, मूर्खता आदि बुराइयों का नामोनिशान नहीं था। स्त्री और पुरूष सभी गुणवान तथा निष्कपट एवं सदाचारी थे। रामराज्य में लोग एक पत्नीव्रती थे और स्त्रियां मन, कर्म एवं वाणी से पतिव्रता थीं।

वैदिक धर्म में यज्ञ अनेक शुभ कर्मों के द्योतक माने जाते हैं। वैदिक ग्रंथों में विविध प्रकार के यज्ञों का विधान है जिनसे दैवी आपत्तियों से त्राण प्राप्त होता है। भगवान ने भी वैदिक धर्म का

पालन करते हुए करोड़ों अश्वमेघ यज्ञ किये थे। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं पर भी उस समय लोगों की पूर्ण आस्था थी।

'चैरिटी बिगिन्स ऐट होम' अर्थात् 'दान परिवार से आरम्भ होता है।' यह अकाट्य कथन है। राम का परिवार एक आदर्श परिवार था। उसकी पत्नी सीता अपने पति का रूख देखकर आचरण करती थीं। वे राम के महत्व से पूर्णतः अवगत थीं। वे अपने पति की स्वयं सेवा करती थीं।

राम के अनुज भी उनके प्रति पूर्ण श्र द्धा भक्ति रखते थे। वे सब इस प्रतीक्षा में रहते थे कि उनके अग्रज राम उनकी सेवा का सुअवसर प्रदान करें। राम भी अपने भाइयों का पूरा ध्यान रखते थे तथा उन्हें नैतिक शिक्षा देते थे। सभी भाइयों के रूप, गुण एवं शील से सम्पन्न दो-दो पुत्र थे।

'उत्तरकाण्ड' के इन वर्णनों से स्पष्ट है कि रामराज्य हर प्रकार से एक आदर्श राज्य था। तुलसी के काल का शासन और आचरण इसके ठीक विपरीत थे। तुलसी का हृदय उस स्थिति से अत्यन्त क्षुब्ध था। वे चाहते थे कि राजा और प्रजा दोनों ही राम का अनुकरण करके अपने जीवन को सुखमय बनाएँ। परस्पर विरोध का परित्याग करके आत्मीयता और स्नेह के साथ जीवन यापन करें। 'उत्तरकाण्ड' में रामराज्य की प्रशंसा तथा उसकी विशेषताओं का वर्णन उनके सभी द ष्टिकोण का परिचायक है इसी विचार से यह काण्ड 'रामचरितमानस' में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

तुलसीदास समन्वयवादी कवि थे। लोक कल्याण की कामना से अभिभूत होने के कारण उन्होंने सज्जनों को सावधान रखने के लिए संतों तथा असंतों का यथावसर वर्णन किया है। उत्तरकाण्ड में श्रीराम के भाई उनके संतों की महिमा तथा संत-असंतों के भेद अलग-अलग जानना चाहते हैं। अपने भाइयों की इच्छानुसार श्रीराम अत्यन्त सरलता से उन्हें बताते हैं कि संत-असंत के आचरण इस प्रकार होते हैं कि जैसे चंदन और कुठार (कुल्हाड़ी) का आचरण। कुल्हाड़ी चंदन को काटती है परन्तु चंदन अपनी सुगन्ध से उसे सुवासित कर देता है। इसी प्रकार संत का अपकार किए जाने पर भी वह अपने अपकारी के प्रति किसी प्रकार की कुलषता नहीं रखता। असंत को अपनी करनी का फल उसी प्रकार भोगना पड़ता है जैसे-कुल्हाड़ी लौहार की भट्ठी में तपकर हथौड़ों से पिटती है। जबकि चंदन देवताओं के मस्तक की शोभा बनता है।

संत शीलवान दूसरों के दुःख से दुःखी तथा दूसरों के सुख से सुखी होते हैं। उनका हृदय कोमल होता है। वे इच्छा रहित तथा प्रभु की भक्ति में तत्पर, शांत तथा सबके मित्र होने के साथ ही वे सरल, धार्मिक एवं विजातियों के प्रति श्रद्धावान होते हैं कठोर शब्दों का वे प्रयोग नहीं करते और न नीतिपथ का परित्याग करते हैं। अंत में भगवान राम कहते हें कि जिनका मेरे चरणों में प्रेम होता है। वे लोग सुख के समूह हैं। और मुझे प्राणों के समान प्रिय हैं।

श्रीराम असंतों (दुष्टों) के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इनका संग कभी भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे अधर्मी होते हैं। सीधी-सादी गाय को जैसे शरारती गाय आघात पहुँचाती है उसी प्रकार दुष्ट भी दूसरों को पीड़ा पहुँचाने में तत्पर रहते हैं वे दूसरों के उत्कर्ष को देखकर ईर्ष्या करते हैं। परनिंदा दत्तचित्त होकर सुनते हैं। वे मलिन मन, निर्दयी, कपटी, कामी, क्रोधी, व्याभिचारी, घमण्डी और लोभी होते हैं। वे ऐन्द्रिय भोग तथा भोजन के भूखे होते हैं। निरन्तर दूसरों से द्रोह करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का शरीर ही मानव जैसा होता है आचरण राक्षसों के समान होता है। किसी को विपति में फँसा देखकर इस प्रकार प्रसन्न हो जाते हैं। परिवार में विरोध उत्पन्न करते हैं। माता-पिता, ब्राह्मणों की उपेक्षा करते हैं। उन्हें सत्संगति तथा प्रभु की कथा अच्छी नहीं लगती। ऐसे व्यक्ति कलियुग में अधिक होते हैं।

निष्कर्ष रूप में भगवान कहते हैं। कि परोपकार ही सबसे बड़ा धर्म तथा परपीड़ा सबसे जघन्य अपराध है। मानव शरीर धारण करके जो व्यक्ति दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं उन्हें भयंकर सांसारिक व्यथा सहन करनी पड़ती है। जो चतुर हैं वे दुष्टाचरण न करके केवल मेरी भक्ति में तत्पर रहते हैं।

एक बार श्रीरामचंद्र जी ने दरबार में अपने गुरू वशिष्ठ जी, ब्राह्मणों तथा नगरवासियों को बुलाया। उनको समुचित आसन देने के बाद भगवान राम कहने लगे कि मैं कोई अनीति की बात नहीं कर रहा हूँ। लोग अपनी इच्छानुसार कार्य करने में स्वतन्त्र हैं। मेरा प्रिय वही है जो मेरी आज्ञा माने। यदि इसमें कुछ अनुचित हो तो निर्भय होकर मुझे रोक दो। मानव शरीर अत्यन्त दुर्लभ है। यह साधना ग ह तथा मोक्ष-प्राप्ति माध्यम है। इसे प्राप्त करके जो परलोक नहीं सुधारते तथा इस जीवन को व्यर्थ ही विनष्ट कर देते हैं, वे लोग अन्ततः पश्चाताप करते है तथा ईश्वर के कर्म तथा समय को निरर्थक ही दोषी ठहराते हैं। इस शरीर के पाने का फल विषय नहीं है। मानव शरीर पाकर लोग विषयों में मन लगा लेते हैं। वे मूर्ख अम त से बदलकर विष बन जाते हैं। पारसमणि गँवाकर धुँधुली को ग्रहण करने वाले को कोई भला नहीं कहता है। चौरासी लाख योनियों में यह अविनाशी जीव चक्कर खाता रहता है। माया की प्रेरणा से काल, कर्म, गुण एवं स्वभाव के घेरे में पड़ा हुआ वह भ्रमित होता रहता है। अकारण ही कृपालु भगवान करूणा करके मानव योनि प्रदान कर देते हैं। मानव शरीर संसार समुद्र को पार करने के लिए बेड़ा है। मेरी कृपा सम्मुख की वायु है। सद्गुरु सुद ढ़ नाव का कर्णाधार है। इस प्रकार का साज समान पाकर भी जो मनुष्य भव सागर से पार नहीं उतरता है वह कृतध्न तथा मंदबुद्धि तथा आत्महत्या करने वालों की गति को प्राप्त होता है।

यदि परलोक तथा इस लोक में सुख प्राप्त करना चाहते हो तो मेरा वचन सुनो। भक्ति मार्ग में सुगम ओर सुखकारादि अनेक विध्न हैं। उसका साधन कठिन है। उसके मन के लिए आधार नहीं है। बहुत कष्ट उठाने के पश्चात् कदाचित् ही उसकी प्राप्ति हो सकती है, परन्तु भक्तिहीन होने के कारण वह मुझे प्रिय नहीं है। भक्ति स्वतन्त्र तथा सभी सुखों की जननी है। बिना सत्संग के भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। संत जन भी बड़े पुण्यों से मिलते हैं। सत्संगति से स ष्टि में बार-बार आवागमन से छुटकारा मिल जाता है। एक ओर बात यह है कि शंकर जी के भजन बिना मेरी भक्ति को प्राप्त नहीं हो सकते।

भक्ति मार्ग में जरा-सा भी परिश्रम नहीं है न तो उसमें योग है, न यज्ञ न जप और न तप। कुटिलता का परित्याग, जो मिले उसी में संतोष आदि। यही भक्त के लिए पर्याप्त है। मेरा सेवक होकर मनुष्य से आशा रखे तो फिर मुझ पर विश्वास ही क्या रहा ? मानव वही है जो निराश्रय, मानरहित, निष्पाप, क्रोधरहित हो। दक्ष और विज्ञानी हो, सज्जनों से प्रेम करे, विषय सुख एवं मोक्ष को त ण के समान समझे भक्ति के पक्ष में हठ करे परन्तु दुष्टता नहीं। सभी प्रकार के कुतर्कों से दूर रहे। जो मेरे गुणों के समूह तथा नाम में मन लगाए रहते हैं, ममता-मद-मोह रहित हैं उसका सुख वही जान सकता है अर्थात् वह सुख अनिर्वाच्य है।

इस प्रकार राम सीता का प्रकरण समाप्त हो जाता है। आगे इस काण्ड में श्रीनारद कृत भगवान की स्तुति, काकभुशुण्डि, गरुड़ संवाद तथा कलियुग की विशेषताओं का वर्णन किया गया है।

निष्कर्ष—उत्तरकाण्ड विविध आख्यानों तथा उपदेशों का समुच्चय है। इसमें भगवान के राजस्व काल का भव्य वर्णन है। साथ ही तुलसी की भक्ति एवं ज्ञान विषयक विचारधारा भी स्पष्ट हुई है। इसके अध्ययन से मानसकार के उद्देश्य का भी ज्ञान होता है। विनयपत्रिका इसका ज्वलंत उदाहरण है। वे विधि देवताओं की स्तुति अवश्य करते हैं, परन्तु उनसे भगवान राम के चरणविदों में अचल भक्ति की याचना करते हैं। 'उत्तरकाण्ड' में जहाँ उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों का आभास कराकर उससे मुक्ति पाने का सुगम उपाय श्रीराम भक्ति बताया है। वहीं उन्होंने ज्ञान का हेय तथा त्याज्य भी घोषित किया है। इसका मुख्य कारण यही रहा है कि तत्कालीन ज्ञानी वर्ग समाज को समुचित दिशा देने में असमर्थ था तथा वह अहमन्यतावादी प्रव त्तियों में उलझा हुआ था। समाज के उद्धार की भी तुलसी को चिंता थी अतः उन्होंने राम भक्ति के माध्यम से लोगों को समाज की उन्नति करने का मार्ग दिखाया।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त उत्तरकाण्ड एक ऐसी संहिता है जिसमें राजा, प्रजा, भाई, पत्नी, सेवक, गुरू, शिष्य सभी के कर्तव्यों का बोध कराया गया है। अपने इन्हीं गुणों के कारण इस काण्ड को 'रामचरितमानस' में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अध्याय 14
भरत का चरित्र

तुलसीदास द्वारा रचित विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के पात्रों में सर्वश्रेष्ठ एवं उदात्त चरित्र राम के छोटे भाई भरत का ही है। यदि उन्हें राम की ही दूसरी मूर्ति कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। राम के समस्त गुण, शील, भ्रात प्रेम, त्याग, धार्मिकता, दानशीलता, संकोचशीलता, विनम्रता एवं शिष्टाचार आदि भरत के अंदर विद्यमान हैं। 'भरत' के चरित्र का अध्ययन तुलसीदास द्वारा रचित 'रामचरितमानस' में आधार पर निम्न शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है।

1. भ्रात स्नेही—भरत अपने बड़े भाई राम के प्रति अगाध स्नेह एवं श्र द्धा की भावना से ओत-प्रोत है। उनका मात -स्नेह विशेष रूप से अयोध्या काण्ड के 'चित्रकूट प्रसंग' में प्रकट होता है। जब भरत राम को वापस लाने के लिए अपनी सम्पूर्ण सेवा एवं नगरवासियों सहित वन में जाते हैं। उस समय राज्य के समस्त सुखों के होते हुए भी वे भ्रात स्नेह हेतु नंगे-पांव वन में यात्रा करते है; क्योंकि उनके आराध्य राम एवं भाई भी तो नंगे पांव वन में विचरण कर रहे थे। अपने मन में अपने बड़े भाई के कष्टों का अनुमान करके ही भरत ने सब सुख-सुविधाओं का परित्याग किया और कष्ट झेलने पर विवश हुए।

वन मार्ग के बीच चित्रकूट पहुँचने से पूर्व ऋषि भारद्वाज का आश्रम पड़ता था। भरत वहाँ गए। वहाँ पर ऋषियों ने भरत तथा उसके साथ आए हुए गुरुजनों माताओं आदि के सत्कार के लिए अनेक दुर्लभ वस्तुओं एवं सुख-सुविधाओं का प्रबन्ध किया, यद्यपि भरत ने भारद्वाज ऋषि के आतिथ्य को स्वीकार किया परन्तु उन दुर्लभ वस्तुओं, सामग्री का उन्होंने स्पर्श तक नहीं किया—

"संपत्ति चकई भरतु चक, मुनि आयसु खेलवार,
तेहि निसि आश्रम पिंजरा, राखे भाभिनुसार।"

भरत के मन में अपने भाई श्रीराम के प्रति कितना स्नेह है इसकी कल्पना करना सहज संभव नहीं है। वे भी मार्ग के कष्टों को सहन करते हुए चित्रकूट तक पैदल जाते हैं; क्योंकि श्रीराम भी तो वहाँ तक पैदल ही गए थे। वन के सभी कष्टों को उन्होंने सहन किया था। मार्ग में उपस्थित वे स्थान जहाँ पर राम, लक्ष्मण, सीता ने विश्राम किया था। उन स्थानों का भरत एवं शत्रुघ्न प्रणाम करते हुए वे आगे बढ़ा लगे। इस प्रकार वन के कष्टों का दुःख उठाते हुए भरत अपने भाई से मिलने के लिए आगे बढ़ते गए। उनकी इस प्रकार प्रेममयी दशा एवं मात -प्रेम को देखकर ऋषि, मुनि एवं सिद्ध महात्मा लोग प्रशंसा करते हैं। जब वे राम को लेकर लम्बी आह भरते हैं तो ऐसा लगता है जैसे चारों तरफ मात -स्नेह की धारा उमड़ पड़ी हो।

जैसे ही भरत चित्रकूट पहुँचा। वहाँ अपने बड़े भाई राम को देखकर आनन्द मग्न हो गए। अपने सारे दुःख क्लेश सब भूल गए। वे दौड़कर भाई के चरणों के गिर पड़े। अपने अश्रु जल से राम के पांवों पक्षातन किया। लम्बे समय तक भरत के चरण-कमलों में दण्डवत् पड़े रहे। भाई राम ने स्वयं अपने हाथों से पकड़कर उन्हें उठाया। गले मिलकर श्रीराम ने भरत के आने का प्रयोजन जाना। तत्पश्चात् श्रीराम ने समस्त गुरुजनों एवं माताओं को प्रणाम किया। रात के समय

चित्रकूट सभा में भरत अत्यन्त दीन, कातर होकर भगवान श्रीराम से वापिस अयोध्या चलने का आग्रह करते हैं। किन्तु राम ने अपने पिता के वचन एवं रघुकूल की वचन परम्परा का अनुसरण करते हुए वन में ही रहना स्वीकार किया और भरत को आदेश दिया कि आप ही राज्य-व्यवस्था का कार्य संभालें। अपने भाई की आज्ञा मानकर उनकी चरण-पादुका को शिरोधार्म करके अयोध्या के राज काज के प्रबन्धन का, उत्तदायित्व निभाने के लिए भरत वापिस लौट आए। अयोध्या पहुँचने पर राम की चरण-पादुका को सिंहासन पर रखना। उनके दर्शनों के उपरान्त ही कार्य करना तथा अपने भाई के अनुरूप ही प थ्वी पर सोना ये सब घटनाएं भरत के मन में भ्रात -स्नेह को दर्शाती है। इससे सिद्ध होता है कि भरत भात -स्नेही थे।

2. विवेकशील—भरत जितने अपने आराध्य भगवान श्रीराम के प्रति स्नेह रखते हैं वे उतने ही विवेकशील हैं। किसी भी अवस्था में अपने विवेक को विचलित नहीं होने देते। उन्हें इस बात की जानकारी थी कि भाई से वन में मिलने के लिए जाने के समय में काफी समय लगने वाला है तभी उसने अयोध्या के राज व्यवस्था का उचित प्रबन्ध किया था तभी वे वन की ओर गए थे। वे भात -स्नेह के आवेग में अपने कर्तव्य पथ से पतित नहीं होते। उन्हें इस बात का आभास है कि अयोध्या की सारी सम्पत्ति श्रीराम की है ओर एक सेवक के नाते उसकी रक्षा करना उसका ही कर्तव्य है। उन्हें इस बात की भी जानकारी है कि संसार इस विषय से अनभिज्ञ नहीं है कि राम को वनवास स्वयं उसकी माँ कैकेई ने दिलवाया है। यद्यपि उसके (भरत) मन में राजसिंहासन के प्रति तनिक भी लोभ नहीं था, परन्तु फिर भी स्वयं को निर्दोष सिद्ध करना अनिवार्य था। इसी कारण वे माता कौशल्या के समक्ष शपथ लेते हैं कि माता कैकेई की इस चाल में उसका तनिक भी हाथ नहीं हैं। जब वे चित्रकूट पर राम से मिलने के लिए जाते हैं तब वहाँ पर वे राम के स्थान पर स्वयं वन में 14 वर्ष का वनवास व्यतीत करने की इच्छा प्रकट करते हैं। वे कहते हैं—भाई राम! "हमें रघुकुल की रीत को बनाए रखना है तो आप राज्य संभालें, मैं आपके स्थान पर वनवास व्यतीत करूँगा।" परन्तु राम इसे स्वीकार नहीं करते।

राम भरत को अयोध्या का राजसिंहासन संभालने के लिए ही कहते हैं—यदि तुम राजा नहीं बनना चाहते तो मेरे आने तक तुम उसके संरक्षक बनो। यह कहकर उन्होंने अपनी चरण-पादुका भरत को दे दी और भरत उन चरण-पादुकाओं को शिरोधार्य करके वापिस लौट आए। राम की पादुका को राजसिंहासन पर रखकर वे राज्य व्यवस्था को व्यस्थित करने में जुट गए और श्रीराम के आने का इंतजार करने लगे।

3. रामभक्त—भरत एक ओर राम के छोटे भाई वहीं दूसरी तरफ वे रामभक्त भी हैं। वे अपना आराध्य देव एवं स्वामी श्रीराम को मानते हैं उनकी भक्ति दास्य भाव की है। 'रामचरितमानस' के सभी भक्त एक साथ मिलकर भी भरत की भक्ति की समानता नहीं कर सकते। यद्यपि भरत श्रीराम से दूर रहते हैं परन्तु दूर से भी उन्होंने अपनी द ढ़ भक्ति श्रीराम के चरणों में अर्पित की है।

यद्यपि राम के वन गमन के पश्चात् अयोध्या लौटने पर भरत को गुरू, मंत्री, माता आदि सभी अयोध्या का राजसिंहासन ग्रहण करने के लिए समझाते हैं, परन्तु वे अपनी द ढ़ राम भक्ति के कारण उन्हें उचित उत्तर देकर उन्हें उत्तरहीन कर देते हैं। जब वे वन में श्रीराम से मिलने के लिए वन में जाते हैं उस समय वे संकल्प लेते हैं—

"एकहिं आँख उहइ मन माहीं। प्रात काल चालिहउँ प्रभु पाहीं।"

उनकी रामभक्ति की द ढ़ता एक अन्य स्थल पर भी देखते ही बनती है, जब वे गंगा, यमुना के मिलन स्थल प्रयाग में अपनी आर्त एवं करुण वाणी में क्षत्रिय धर्म का परित्याग करते हुए हाथ जोड़कर सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाले तीर्थ से अपनी रामभक्ति की कामना करते हुए कहते हैं—

"अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहऊँ निरवान।

जनम-जनम रति राम पद यह वरदान न आन।।"

संसार के समस्त पदार्थों को पवित्र मानकर प्रेम एवं आनन्द मग्न होकर उन्हें दण्डवत प्रणाम करते हैं, उस समय भी उनकी भक्ति की पराकाष्ठा देखते बनती हैं। वे उन सभी पदार्थों के प्रति भी विनय भावना रखते हैं जो भगवान राम के संपर्क में आए थे। वे प्रभु राम के चरणों की धूल को भी मस्तक पर धारण करते हैं। इस प्रकार के कार्य-व्यापार से भरत की राम के प्रति अनन्य भक्ति ही सिद्ध होती है। वे अपनी भक्ति भावना में किसी प्रकार का दिखावा या प्रदर्शन करना उचित नहीं मानते।

जब वे जैसे ही चित्रकूट पहुँचते हैं उस समय दूर से अपने आराध्य ईश्वर श्रीराम के दर्शन पाकर उनके समस्त दुःख एवं मन के ताप मिट जाते हैं। वे भगवान राम को देखते ही 'पहिनाथ', 'पाहिगोंसाईं' कहकर प थ्वी पर इस तरह से गिर पड़ते हैं, जैसे कोई दण्ड मालाठी गिर पड़ी हो, जैसे उनके शरीर में प्राण ही न हो—

"पाहिनाथ कहि पाहि गोंसाईं

भूतल परे लकुट की नाईं।"

भरत की अनन्य एवं द ढ़ भक्ति को देखकर देवी-देवता भी व्याकुल हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें पता है कि भगवान श्रीराम तो भक्त के वश में होते हैं और भरत जैसा भक्त तो श्रीराम से अपनी इच्छानुसार कार्य करवा सकता है। इसलिए यह सोचकर कि कहीं राम भरत के प्रेम एवं भक्ति को देखकर अयोध्या वापिस न लौट जाएं, इसलिए शंकाकुल होकर सभी देवी-देवता अपने गुरू व हस्पति एवं माता सरस्वती के पास जाकर निवेदन करते हैं कि उनकी भक्ति का प्रभाव कम करें; परन्तु गुरू ब हस्पति ने उन्हें स्पष्ट कहा कि यदि ऐसा किया अर्थात् भरत जैसे भक्त के साथ किसी भी प्रकार का अनुचित व्यवहार किया तो राम के कोप का भांजन बनना पड़ सकता। अतः उचित है समय की प्रतीक्षा करें, समय स्वयं आपके प्रश्नों का उत्तर देगा और भगवान राम के लिए मार्ग भी स्वयं प्रशस्त करेगा।

"सुनु सुरेश रघुनाथ सुनाऊ, निज अपराध रिसाहिंन काहू।

जो अपराध भगत कर करई, राम रोष पावक सो जरई।।"

भरत के भक्ति से सम्पन्न एवं करुणापूर्ण निवेदन को सुनकर राम का अंतःकरण भी आश्रम में द्रवित हो जाता है और उन्हें कहना पड़ता है।

"मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।"

इसी प्रकार भरत की भक्ति एवं उसकी बुद्धि के विषय में माता सरस्वती भी केवल यही कहकर चली गई थी कि भरत की बुद्धि तो स्वयं ब्रह्म भी नहीं बदल सकते। स्वयं भगवान राम ने भरत को तीनों लोकों एवं तीनों कालों पुण्यात्मा पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है। इस प्रकार सिद्ध होता है भरत सच्चे राम भक्त थे।

4. मर्यादा का पालन करने वाले—'रामचरितमानस' में मर्यादापुरूषोतम कहलाने वाले श्रीराम जितने अधिक मर्यादावादी दिखाई पड़ते हैं भरत भी उनसे कम नहीं हैं वे भी उतने ही मर्यादावादी हैं। वे अपनी सीमाओं में बंधे होकर भी मर्यादा का पालन करते हैं। दोनों (राम-भरत) की मर्यादा में अंतर केवल इतना है कि जिस समय माता कैकेयी ने राम के लिये चौदह वर्ष के वनवास का वर माँगा तो उस समय राम के मन में अपनी माता कैकेयी के प्रति किसी प्रकार का क्रोध, रोष,

दुःख आदि का लेशमात्र भी अंश नहीं था जबकि भरत ने माता कैकेयी की इस कुचाल के कारण उसका एक प्रकार से त्याग कर दिया था। यद्यपि स्थिति के अनुसार भरत का यह निर्णय उपयुक्त था।

अपने ननिहाल आगमन से लेकर चित्रकूट गमन तक भरत अपने प्रत्येक कार्य में मर्यादा का पालन करते हैं। कहीं पर कोई विच्छ ंखलता दिखाई नहीं पड़ती। चाहे वे माता कौशल्या के समक्ष स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करते हों, या गुरू वशिष्ठ द्वारा किए गए आग्रह-'राजसिंहासन पर बैठने के निर्णय, का विरोध करते हों, वे प्रत्येक स्थिति में अपनी मर्यादा का दामन पकड़े रखते हैं। भारद्वाज ऋषि के आश्रम में भी वे मर्यादा का पालन करते हैं–

"जानि गरुड़ गुरू गिरा बहोरी, चरन बंदि बोले कर जोरी।

सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा, परम धरम यहु नाथ हमारा।।"

5. नैतिकता–'रामचरितमानस' में भरत नैतिकता का पालन करने वाला पात्र हैं। उनके चरित्र में कहीं भी अनैतिकता दिखाई नहीं पड़ती। जैसे ही उन्हें माता कैकेयी राम के वन गमन व अपने राजतिलक की घटना का पूरा व तान्त सुनाती है उस समय भी भरत अपनी नैतिकता को नहीं खोते। अपने छोटे भाई शत्रुघ्न, कैकेयी के कान भरने वाली दासी मंथरा को सब अनर्थ की जड़ मानकर उसका वध करने को तैयार होते हैं। तब भी भरत उन्हें इस अनैतिक कार्य को करने से मना करते हैं।

चित्रकूट सभा में वे बार-बार भगवान राम के आदेशों का पालन करने की बात कहते हुए भी उनसे विनम्र निवेदन करते हैं कि आप अयोध्या लौट जाएँ और मैं स्वयं चौदह वर्ष तक बनवास व्यतीत करूँगा। नैतिक द ष्टि से भी यदि देखा जाए तो भरत का यह आग्रह उपयुक्त ही था। अतः भरत जैसे विवेकशील महापुरूष के लिए यह नैतिक कर्त्तव्य बनता है कि कैकेयी का पुत्र होने के कारण वह इस विषम परिस्थिति में इस समस्या का समाधान करें।

6. धार्मिक भावना से ओत-प्रोत–'रामचरितमानस' भारतीय धर्म एवं संस्कृति का प्रतिस्थापक ग्रन्थ है। उसी ग्रन्थ में भरत भी एक विशेष एवं मुख्य पात्र के रूप में सामने आते हैं। जोकि धार्मिक प्रव त्ति के स्वामी हैं। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में अनेक स्थानों पर उनकी इस धार्मिक भावना को प्रकट किया है। 'मानस' के आरम्भ में तुलसीदास यह कहकर भरत की वंदना करते हैं कि उनके नेम व्रत आदि का वर्णन नहीं किया जा सकता–

"प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम व्रत जाइ न बरना।"

राजा जनक, गुरू वशिष्ठ देवी-देवता, गुय व हस्पति और यहाँ तक स्वयं श्रीराम भी भरत की धार्मिक भावना की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते है। भरत जब अपनी चतुरंगी सेना लेकर श्रीराम के पास चित्रकूट के लिए प्रस्थान करते हैं। तब यह संदेश सुनकर लक्ष्मण तो युद्ध के लिए तत्पर हो उठते हैं परन्तु श्रीराम भरत के धार्मिक व सात्विक आचरण में अपना अगाध विश्वास दर्शाते हुए कहते है–

"भरतहि हो हि न राजमदु, विधि हरि हर पद पाइ।

कबहुँ किकांनी सी करनि छीर सिंधु बिसनाई।।"

इस प्रकार रामचरिमानस के आधार पर भरत के चरित्र का सम्पूर्ण विवेचन करने के उपरान्त स्पष्ट हो जाता है कि भरत में विनम्रता है, विवेक, मर्यादा के प्रति विनव भाव हैं, धार्मिक निष्ठा विद्यमान है। इसके साथ-साथ वे एक सजग प्रहरी भी हैं। हनुमान जब मूर्च्छित लक्ष्मण के लिए

संजीवनी बूटी समेत पूरे पर्वत को उठाकर आकाश मार्ग से जाते हैं तब भरत अयोध्या के एक सजग प्रहरी के रूप में रात के समय हनुमान पर बाण चलाते हैं।

यदि सम्पूर्ण 'रामचरितमानस' का गहराई से अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि भरत ही एक आदर्श पात्र हैं। राम का चरित्र भी पूर्ण रूप से दोषरहित नहीं है, क्योंकि उन्होंने बाली का वध छल से किया था, शूर्पणखां को कुरूप बनाने के लिए लक्ष्मण की ओर संकेत किया था। यह ठीक है कि राम ने अनेक दुष्टों का संहार किया था परन्तु किसी को छलपूर्वक वध करना नैतिक कार्य किस प्रकार हो सकता था फिर किसी स्त्री को इस प्रकार कुरूप बनाने का कार्य उनकी मर्यादावादी छवि को क्षति पहुँचाता है। इसी प्रकार सीता का चरित्र भी पूर्णतः दोषरहित नहीं हैं। वन में स्वर्ण म ग को मारने के उद्देश्य से दूर पहुंच चुके राम की अनुपस्थिति में वह लक्ष्मण पर दोषारोपण करती है, क्योंकि लक्ष्मण ने अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए वन में सीता को अकेली छोड़कर जाने से मना कर दिया था। इसी प्रकार लक्ष्मण का चरित्र भी दोषयुक्त हैं। उनके चरित्र में आवेश भरा हुआ है। सीता स्वयंवर, कैकेयी द्वारा वर मांगने के अवसर पर, चित्रकूट पर्वत पर भरत मिलन के अवसर पर उनका बार-बार आवेश में भरकर क्रोध करना उनके चरित्र को कलंकित करता है। यद्यपि यह ठीक है कि क्षत्रिय धर्म के अनुरूप आवेश होना अनिवार्य है, परन्तु इस प्रकार के व्यवहार से उनके चरित्र की महत्ता कम होती है। परन्तु सम्पूर्ण रामचरितमानस के अध्ययन करने पर कहीं भी ऐसा कार्य या ऐसी कोई घटना दिखाई नहीं पड़ती जिससे भरत के चरित्र पर उँगली उठे।

अतः संक्षेप में केवल यही कहा जा सकता है कि भरत का चरित्र उदात्त है। वे त्याग के सागर हैं, राम-प्रेम की द ढ़ प्रतिमूर्ति हैं, विवेक एवं मर्यादा के वाहक हैं, धार्मिक भावना से ओत प्रोत हैं। अंत में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि भरत का चरित्र हृदयग्राही है।

अध्याय 15
तुलसीदास की रामराज्य की कल्पना

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में जिस समय तुलसीदास का उद्‌भव हुआ, उस समय देश राजनीतिक एवं सामाजिक अव्यवस्था से पीड़ित था। चारों ओर विच्छ ंखलता व्याप्त थी। भारत की सत्ता उस समय विदेशियों के हाथ में थी। अकबर और जहाँगीर जैसे कट्टर एवं अत्याचारी मुस्लिम शासकों का शासन था। तलवार की नोंक पर हिन्दुओं को मुस्लिम बनने के लिए विवश किया जाता था। यदि हिन्दू, मुस्लिम बनना स्वीकार नहीं करते थे तो या तो मार दिया जाता था फिर उनकी सारी सम्पत्ति छीनकर उन्हें दण्डित किया जाता था। उनकी स्त्रियों का अपहरण करके उनके साथ अनाचार किया जाता है। कर भी बहुत अधिक लगा दिया जाता था, जिसे वहन करना उनके सामर्थ्य से बाहर होता था। फलतः असहाय होकर मुस्लिम धर्म को स्वीकार लेते थे। तुलसीदास ने उस समय की इस दुर्दमनीय एवं घ णापूर्ण दशा का वर्णन करते हुए लिखा है–

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच वश,
कहै एक एकन सौ, कहाँ जाई, का करी ?"

अर्थात् उस समय ऐसी अव्यवस्था व्याप्त थी कि किसान की खेती नहीं होती थी। भिखारी को भीख नहीं मिलती थी। व्यापारी का व्यापार नहीं चलता था। नौकरी करने वालों की नौकरी समाप्त हो गई थी। बिना आजीविका के साधन के सम्पूर्ण समाज अस्त-व्यस्त एवं व्याकुल होकर दुःखी था। सभी शोक एवं दुःख से व्याकुल होकर एक-दूसरे से कहते थे कि कहाँ जाएँ ? क्या करें ? अर्थात् कोई मार्ग ही दिखाई नहीं पड़ता जिससे जीविका कमा सकें। समाज में सभी छोटे-बड़े, ऊँच-नीच सभी दुःखी थे। पेट पालने के सभी मार्ग बंद कर दिए गए थे। चारों तरफ त्राहि-त्राहि मच रही थी। रक्षा करने वाला या सुध लेने वाला कोई नहीं था। रक्षा करने वाला ही भक्षक बन जाए तो जनता की पुकार कौन सुने ? तुलसीदास समाज की विषम स्थिति को देखकर अत्यन्त व्याकुल एवं व्यथित थे। विशेषकर हिन्दुओं के प्रति होने वाले अत्याचारों से वे अत्यन्त क्षुब्ध थे, परन्तु वे क्या कर सकते थे ? बर्बर शासकों, दुराचारियों के प्रति जो कि राज्य के बड़े-बड़े अधिकारी बने बैठे थे, उनके विरुद्ध आवाज उठाना भी मौत को आमन्त्रित करना था। दिन-प्रतिदिन प्रजा अन्यास अन्यास ही चक्की में पिसती जा रही थी। कोई भी आम जनता की ओर देख नहीं पा रहा था। उस समय कवि-कराह उठता है और कहता है–

"ऊँच नीच करम, धरम-अधरम करि,
पेट ही को पचत् बेचत बेटा-बेटकी।"

समाज में इस प्रकार अव्यवस्था व्याप्त हो चुकी थी स्वयं अपने पेट पालने के लिए प्रजा को अधार्मिक कार्य करने पड़ते थे। उन्हें धर्म-अधर्म का कोई ज्ञान नहीं रह गया था। अपना पेट भरने के लिए अपने पुत्र-पुत्रियों को बेचना पड़ता था।

तुलसी ने इस प्रकार का अन्याय न देखा था, न सुना था और न ही कहीं पढ़ा था। इस घ णास्पद कार्य एवं व्यवहार को देखकर उनका हृदय रो उठा। उन्हें अंदर से पीड़ा होने लगी।

उनका दिल अंदर से कचोटने लगा। उनके लिए यह घोर कटु राजनीति असह्य थी। वे इसका मुकाबला करना चाहते थे। वे सजग, सचेत एवं जागरूक व्यक्ति थे। कवि थे। वे लोगों की वेदना को समझ सकते थे। उनके साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहते थे। उनके लिए ऐसा शासन सहनीय नहीं था। उन्होंने स्वयं अपने जीवन में अनेक कष्ट सहन किए थे, परन्तु मानव जाति पर होने वाले इस प्रकार के अत्याचारों से वे काँप उठे थे। इसी कारण उन्होंने अपने युग की यथार्थ अभिव्यक्ति 'रामचरितमानस' और 'कवितावली' दोनों निर्भिकता के साथ प्रकट की हैं।

1. रामराज्य की कल्पना एवं उसके आधार—रामराज्य से अभिप्राय है—राम का राज्य ! अर्थात् राम के समय में जिस प्रकार का उनका राज्य था, वैसे ही राज्य की कल्पना 'रामचरितमानस' के रचयिता 'तुलसीदास' ने रामराज्य का वर्णन करते हुए माना है कि रामराज्य में सभी को सब प्रकार के स्वतन्त्रता थी। सभी सुखी थे। किसी को कोई कष्ट नहीं था। इस विषय में कवि कहता है—

"राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका।
वयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।।"

अर्थात् राम के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित होते ही तीनों लोकों में हर्ष एवं खुशी की लहर दौड़ गई। उनके सभी शोक दूर हो गए। उन्होंने परस्पर वैर विरोध छोड़ दिया। राम के प्रताप से परस्पर विषमता समाप्त हो गई। भाव यह है कि राम का राज्य इतना अनोखा, अनुपम, सुखद, पाप-विनाशक, दुःख रहित व स्वतन्त्र है जितना न कभी पहले हुआ है और न भविष्य में होगा।

महाकवि तुलसीदास ने ऐसे राज्य को आदर्श राज्य मानकर तत्कालीन शासकों को प्रेरणा दी थी कि कुशासन का परित्याग करो और सच्चे शासक बनों। तुलसीदास राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते हैं। उनके राम तो स्वयं ही ईश्वर के अवतार हैं। भारत का इतिहास साक्षी है कि यहाँ राजसिंहासन के लिए भाई ने भाई का, पुत्र ने पिता का, सेवक ने स्वामी की हत्या कर डाली। परन्तु तुलसीदास ऐसे रामराज्य की कल्पना करते हैं जहाँ पर इस प्रकार का कोई वैर-विरोध उत्पन्न न हो और सत्ता केवल राजा के ज्येष्ठ पुत्र के हाथों में सौंपी जाती हो। यद्यपि यह ठीक है कि कैकेयी ने राम से राजसिंहासन छीन लेने में सफलता प्राप्त कर ली थी, परन्तु भरत ने उस सिंहासन को स्वीकार नहीं, अपितु उसे अपने बड़े भाई की धरोहर समझकर उसकी रक्षा की और उनकी चरण-पादुका को सिंहासन पर भावी समाज तथा शासकों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया। अतः तुलसी के राम राज्य में शासन एवं राज्य सत्ता के लिए न मार काट होती है और न ही किसी प्रकार का छल-कपट ही। वहाँ तो केवल सत्ता के लिए एक आदर्श स्थापित होता है।

तुलसीदास ने अपने ग्रन्थों 'कवितावली' और 'रामचरितमानस' में कलिकाल का वर्णन किया है जो उस युग का जीता-जागता चित्रण है। तुलसी दास जी कहते हैं—

"कलियुग सम जुग आन नहिं।"

अर्थात् कलियुग के समान दुःखदायक और कोई अन्य युग नहीं है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने कलियुग की इस विकरालता से भयभीत होकर ही ऐसे युग की परिकल्पना की थी जो सुख शांति प्रदान करने वाला हो। अपने युग की प्रतिक्रिया ही रामराज्य की कल्पना कही जा सकती है। तुलसीदास भक्त कवि थे। अतः शील, शक्ति और संदर्भ के प्रतीक मर्यादा पुरूषोतम आदर्श पुरूष राम ही हो सकते हैं जिनके राज्य में सभी प्रकार के दुःख समाप्त हो गए हों।

2. राज्य की शासन व्यवस्था—राज्य की शासन व्यवस्था का ठीक होना इस बात का परिचायक है कि वहाँ की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थिति उत्तम है। वहाँ किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है। ऐसी शासन व्यवस्था में स्वयं राजा ही प्रजा का ध्यान रखता है। यदि कहीं

पर शासक ही प्रजा का ध्यान न रखे, नियमों और कानूनों का ही पालन न किया जाए, वहाँ समाज में विष व्याप्त हो जाता है, सम्पूर्ण वातावरण विषाक्त हो जाता है। या फिर जंगल राज होने लगता है। तुलसीदास ऐसे युग के विषय में लिखते हैं–

"वेद-पुराण बिहाइ सुपंथु, कुमारग कोटि कुचाल चली हैं।
कालु कराल न पाल कृपालु न, राज समाजु, बड़ोई छली है।"

शासन व्यवस्था (कलियुग में) इतनी अव्यवस्थित हो गई थी कि सभी व्यक्ति अपने धार्मिक कार्य एवं कर्त्तव्यों को छोड़कर कुमार्ग पर चल रहे थे। यहाँ तक कि जो कुछ थोड़े बहुत व्यक्ति नीति के मार्ग पर चल रहे थे उन्होंने भी उस नीतिपथ को त्यागकर छलकपट का मार्ग अपनाना आरम्भ कर दिया था। राजा के अधिकारी एवं कर्मचारी छल-कपट पूर्ण आचरण करते हुए अधार्मिक कार्य कर रहे थे। यहाँ तक कि राजा भी कठोर हृदय का हो गया था उसको किसी पर दया नहीं आती थी। तुलसीदास को इस प्रकार की शासन-व्यवस्था रुचिकर नहीं लगी, वे इससे बहुत दुःखी थे। अतः वे रामराज्य की परिकल्पना में ऐसी शासन व्यवस्था चाहते थे जिसमें राजा का लोगों के प्रति प्रेम हो और राजा शाक्त, नीति एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न हो। अतः अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए कवि ने 'रामचरितमानस' में कहा है–

"सत सुरेस सम विभव विलासा।
रूप तेज बलनीति निवासा।।"

अर्थात् सौ इन्द्रों के समान वैभव, रूप तेज व बल से युक्त तथा नीतियों से सम्पन्न घर हों। इतना ही नहीं अच्छा शासक धर्मात्मा, न्याय का ज्ञात व तेजस्वी तथा शीलवान होना चाहिए–

"धरम धुरंधर नीति विधाना।
तेज प्रताप शील बलवाना।।"

राजा को धार्मिक प्रव त्ति का होना चाहिए। उसका तेजस्वी, प्रतापी और सदाचारी होना भी अनिवार्य है। यदि ये सभी गुण राजा में होगें तभी वह प्रजा का कल्याण कर सकता है। वहाँ पर कोई भी छल-कपट भी नहीं कर पाएगा। 'रामचरितमानस' में शील निधि और सत्यकेतु उसी प्रकार के राजा थे। उनके राज्य में प्रजा पूर्णरूपेण सुखी थी। तुलसीदास की द ष्टि में ऐसा राजा धिक्काराणीय है जिसके शासन में प्रजा दुःखी हो। राजा प्रजा के लिए पिता के समान होता है, जिस प्रकार एक पिता अपनी संतान का पालन-पोषण करता है उसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह भी अपनी प्रजा को संतान समझकर उसका पालन करे। उन्हें सुख-सुविधाएं प्रदान करे। ऐसा राजा जो अपनी प्रजा से प्रेम नहीं करता, उनके दुःखों में साथ नहीं देता, वह तो तुलसीदास की नजर में नरक का अधिकारी है।

"जासु राज प्रिय प्रजा दुःखारी
सो न प अवसि नरक अधिकारी।"

राजा को आराम की जिंदगी नहीं व्यतीत करनी चाहिए अपितु उसे तो प्रजा का सेवक बनकर उसका पालन करना चाहिए।

"रामराज नभ गेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काम कर्म सुभाव गुण कृत दुःख काहुहिं नाहिं।।"

अर्थात् राम के राज्य में चर और अचर किसी को भी कष्ट नहीं था। वे प्रजा का इतना ध्यान रखते थे कि किसी को भी किसी प्रकार की वेदना नहीं थी। तुलसी दास राम राज्य के समान इसी प्रकार की शासन व्यवस्था चाहते थे।

3. समाज में सुख-शांति की स्थापना—उत्तम शासन वही कहला सकता है जिसकी प्रजा सुखी हो और चारों ओर शांति छाई हुई हो। वहाँ प्रत्येक स्त्री-पुरूष को सुख-शांति से रहने का अवसर मिलता हो। तुलसीदास का युग समाज की द ष्टि से अशांति का युग था। उस समय प्रजा बहुत दुःखी थी। न तो रात को उन्हें नींद आती थी न दिन को चैन मिलता था। प्रजा का जीवन नरक बन गया था। छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, रागी-बैरागी सभी की दशा बड़ी शोचनीय थी। इस अशांत वातावरण को कवि ने कलियुग का प्रभाव माना है। उन्होंने कहा है—

"जागिए न सोइए, विगोइए जनमु जायँ,
दुःख, रोग, रोइए, कलेस कोह काम को।
राजा रंक रागी और विरागी, भूरिभागी ये,
अभागी जीव जरत, प्रभाउ कलि बाम को।"

'रामचरितमानस' में जब राम वन के लिए चित्रकूट से प्रस्थान करते हैं तब उन्होंने भरत को उपदेश देते हुए उसे प्रजा के प्रति कर्तव्य की याद दिलाते हैं कि वे राजा होकर न्याय व धर्म को न भूलें। राजा होकर प्रजा की सेवा करें। मन-वचन और कर्म से प्रजा के हित में लगे रहें—

"पालेहु प्रजहि करम मन बानी।"

राजा का कार्य प्रजा का धन छीनना नहीं है, बल्कि उससे उतना ही धन प्राप्त करना है जिससे वह सरलता से अपना पेट भर सके। रामराज्य की कल्पना करते हुए तुलसी कहते हैं—

नहिं दरिद्र कोउ दुःखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।"

अर्थात् रामराज्य में प्रजा सुखी थी कोई भी निर्धन नहीं था, न किसी को कोई दुःख था, न कोई दीन था, न कोई अज्ञानी था और न कोई शुभ लक्षणों से रहित था। तुलसीदास ने सर्वश्रेष्ठ राज्य वही माना था जहाँ समाज में किस प्रकार की अशांति न हो। जहाँ समाज एक उच्च आदर्श अपनाकर सुखी रहे। राजा का न्याय उसकी प्रजा के लिए हितकारी हो। जब प्रजा सुखी रहेगी तो किसी प्रकार का कोई पाप या अशुभ कार्य वह नहीं करेगी। अतः राजा को किसी व्यक्ति को दण्ड भी नहीं देना पड़ेगा। तुलसीदास यही कहते हैं कि रामराज्य वही है जहां प्रजा सुव्यवस्थित रहे व सुमार्ग पर चले। कवि कहता है—

—'दण्ड जतिन्ह कर' अर्थात् दण्ड (डण्डा) केवल यतियों के हाथ में होता था,

किसी को दण्डित करने का अवसर राजा को नहीं था, क्योंकि प्रजा नियमों का पालन करके सुखी और शांतिपूर्वक रहती थी।

4. वर्णाश्रम सुव्यवस्था—प्राचीन काल में समाज चार वर्णों में विभक्त था। ये वर्ण थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये सभी अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे, जिसके कारण समाज का प्रत्येक कार्य सही ढंग से चलता था। उस समय समाज में चार आश्रम थे—ब्रह्मचर्य, ग हस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास। इन आश्रमों के अनुसार जीवन यापन करने से समाज में अनैतिकता एवं अनाचार नहीं फैलता। मुस्लिम साम्राज्य बहुत पतित हो गया था। मुस्लिम शासक एवं उनके अधिकारी बहुत चरित्रहीन एवं दुराचारी हो गए थे। उनकी द ष्टि में समाज का ऊँच-नीच कोई महत्व नहीं रखता था। न ही उन्हें किस प्रकार के आश्रम का ही ध्यान था। किसी भी वर्ण की नारी हो किसी भी अवस्था की हो उसका हरण करना उनके साथ अन्याय एवं अनाचार करना उनके लिए एक सामान्य-सा कार्य बन गया था। प्रतिदिन ऐसी घटनाएं होने लग गई थीं। तुलसीदास इस वर्गहीनता से दुःखी होकर कहते हैं—

"वरन-छरनु गयो, आश्रयु निवास तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनो परो-सो है।"

अर्थात् ऐसे दुराचारी काल (मुस्लिम साम्राज्य) में वर्ण व्यवस्था नष्ट हो गई थी, आश्रम के अनुसार आचरण करना छोड़ दिया गया था। इस प्रकार चारों ओर अधर्म व्याप्त था कि सभी भयभीत थे और भय एवं आतंक के कारण इधर-उधर मारे-मारे फिरते थे। कोई सदाचारी है ? इसका विश्वास नही ंरहा गया था। अतएव तुलसीदास ने ऐसे उत्तम रामराज्य की कल्पना की थी जहाँ पर वर्ण और आश्रम व्यवस्था का द ढ़ता से पालन होता हो। ऐसे रामराज्य की कल्पना करते हुए तुलसीदास जी लिखते हैं–

"वरनाश्रम निज-निज धरम निरत वेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।।"

रामराज्य में सम्पूर्ण प्रजा अपने-अपने वर्ण और अपने-अपने आश्रम के अनुसार आचरण करती है जिससे सभी सुखपूर्वक जीवन जीते हैं, किसी को भी कोई डर नहीं है न किसी अनिष्ट की आशंका का भय रहता है, न कोई शोकग्रस्त रहता है न शारीरिक व मानसिक रोग ही उन्हें सताता है। तुलसीदास की कामना थी समाज में सभी प्रकार से शांति तभी संभव है जब सभी अपने-अपने धर्म का पालन करें, अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह निर्वाह करें। वे बार-बार अपने युग की अव्यवस्था से दुःखी होकर सामाजिक व्यवस्था को पुनः प्रजा में स्थापित करना चाहते थे। राम जब वन में जाते हैं तब भरत को जहाँ उपदेश देते हैं वहीं यह भी कहते हैं–'करहूँ प्रजा परिवार सुखारी।' अर्थात् राजा बनकर तुम प्रजा का परिवार के समान ध्यान रखना। उनको किसी प्रकार का कोई दुःख न हो। सभी सुख से रहें।

5. त्रि-संतापों का विनाश–संसार में तीन प्रकार का संताप ऐसे हैं जिससे सम्पूर्ण मानवजाति सत्रस्त है। कोई भी ऐसा नहीं है जो इनसे स्वयं को बचा सके। ये संताप है– 1. अध्यात्मिक, 2. आधि भौतिक, 3. आधि दैविक। आध्यात्मिक संताप से अभिप्राय हैं–हिंसक प्राणियों या प्राकृतिक कारणों से होने वाली आपत्ति या दुःख। आधि दैविक का अर्थ हैं–राक्षस, भूत, पिशाच आदि से होने वाला कष्ट। ये तीनों प्रकार के कष्ट या संताप अत्यन्त दुःखदायी हैं। अतः इन त्रितापों से छुटकारा पाना ही मानव का संसार की यात्रा करना अनिवार्य है। तुलसीदास ने रामराज्य की जो कल्पना की है–उसमें ये तीनों प्रकार ताप नहीं थे–

"दैहिक, दैविक, भौतिक तापा।
रामराज्य काहू नहीं व्यापा।।"

रामराज्य की कवि ने इस प्रकार की कल्पना की है जहां न तो किसी को शारीरिक कष्ट होता है न मानसिक पीड़ा होती है। न प्रकृति से होने वाली कोई आपदा उन्हें सताती है–अर्थात् न भूकंप, अकाल, अतिवर्षा, अनाव ष्टि, आदि विपत्ति आती है और न देवता सम्बन्धी कोई आपत्ति ही उन्हें पीड़ित करती है। कवि का मानना है कि इसका मूल कारण राजा और प्रजा का धर्म के अनुसार आचरण हैं; तुलसी का कथन है–

"सब नर करहिं परस्पर प्रीति।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति।।"

जब सम्पूर्ण प्रजा अपने-अपने धर्म का पालन करें, शास्त्रों की वाणी के अनुसार आचरण करें तथा परस्पर प्रेम रखे तो निःसन्देह में त्रिसंताप उन्हें कभी भी नहीं पीड़ित करेंगे। रामराज्य की कल्पना करके तुलसीदास इस प्रकार का राज्य चाहते थे जहाँ प्रजा में धर्म का लाभ हो, प्रेम का विचार हो, शास्त्रों के नियमों का सभी पालन करें।

6. आदर्शवाद की स्थापना–'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने जो राम की रावण पर विजय दिखाई है इसका मूल कारण है तत्कालीन समाज की विषम स्थिति और राजनीतिक दुर्व्यवस्था। उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध किया है कि धर्म की अधर्म पर, शुभ की अशुभ पर, भलाई की

बुराई पर अवश्य विजय होनी चाहिए। रामत्व की रावणत्व पर विजय केवल भारतीय प्रजा को ही प्रेरणा प्रदान नहीं करती, बल्कि, समस्त मानव समाज को 'सत्यं, शिवं, सुंदर' का उपदेश है। एक विद्वान आलोचक का कथन है—'रामचरितमानस' पारिवारिक और व्यक्तिगत आदर्शों का खजाना है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र का निर्माण संभव है। इस आदर्श व्यवस्था से समाज की उच्छ ंखलता का विनाश होता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जीवन आदर्श भावना पत्नी के रूप में सम्मानित है। कौशल्या आदर्श माता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। भरत और लक्ष्मण आदर्श भाई के ज्वलंत उदाहरण हैं। हनुमान आदर्श सेवक हैं। भाव यह है कि राम ने आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए ही अपने जीवन को प्रस्तुत था। राम का जीवन आदर्शवाद की धाराओं से प्रवाहित है उसमें कहीं भी कलंक नहीं है। पिता वनवास देते है तो पिता की आज्ञा शिरोधार्य मानकर वन जाते हैं। न तो उन्हें कैकेयी के प्रति द्वेष है, न पिता दशरथ के प्रति आक्रोश। भरत उन्हें मनाने वन में आते हैं तो वे अयोध्या वापिस जाना स्वीकार नहीं करते, अपितु भरत को ही समझाकर वापिस भेज देते हैं। अपने वनवास चौदह वर्ष को व्यतीत करने के उपरान्त जब श्रीराम अयोध्या आते हैं तो वे आदर्श राज्य की स्थापना में ही अपना गौरव मानते हैं। स्वयं श्रीराम अपनी प्रजा को उपदेश देते हुए कहते हैं—

"वैर न विग्रह आस न त्रासा।
सुखमय ताहि सदा सब आसा।।"

मर्यादा से बंधा हुआ जीवन वही होता है जिसमें न तो किसी से वैर भावना ही रखी जाए और न ही भयभीत रहा जाए। हमेशा सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत किया जाएगा। राम ने अपनी जीवन में जिस आदर्श का पालन किया था वह सदा अनुकरणीय है। एक ओर उन्होंने लंका को राजतन्त्र से मुक्त कराया था, दूसरी ओर जब से अयोध्या आए तो वे निरंकुश शासक के रूप में कार्य करने के पक्षधर नहीं थे। उनका राजा के रूप में नियम था कि यदि वे स्वयं कुछ भी अन्याय या अनीतिपूर्ण कार्य करें तो प्रजा निर्भय होकर उन्हें रोक सकती है—

"जो अनीति कछु भाखौं भाई।
तो मोहि बरजों भय बिसराई।।"

7. **मर्यादा पालन**—तुलसीदास का समय विच्छ ंखल एवं मर्यादाहीन था। शासक एवं प्रजा मर्यादाहीन जीवन व्यतीत कर रहे थे। जिसके कारण समाज में नित्यप्रति अनैतिक कार्य होने लग गए थे। उस समाज में लोग इस प्रकार का व्यवहार अपनाते थे कि उत्तम कार्यों एवं धार्मिक कृत्यों को छोड़कर बुरे, अशुभ व अन्यायपूर्ण आचरण करने लगे थे। भाव यह है कि उत्तम और धर्मानुकूल आचरण छोड़कर पुण्य अर्जन करने के लिए अशुभ व धर्म के विरुद्ध आचरण किया जाने लगा था। इस मर्यादाहीन समाज को धिक्कारता हुआ कवि कहता हैं—

"कलिकाल विचार अचारु हरो।
नहिं सूझै कछु घमघूसर को।।"

कलियुग में इस प्रकार के अशुभ व अनुचित आचरण हो गए थे कि सभी बुद्धिहीन हो गए हैं और उन्हें कोई भी मार्ग दिखाई नहीं देता। तुलसीदास समाज में इस प्रकार की अमर्यादा नहीं चाहते थे। इसी कारण उन्होंने ऐसे रामराज्य की कल्पना की थी जो मर्यादा पर चलती हो, धर्म का पालन करती हो। वे कहते हैं—

"सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी।
सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।।"

रामराज्य में मर्यादा तभी बनी रह सकती है जब समाज में नर-नारी किसी को भी अहंकार नहीं हो। सभी चातुर्य के साथ अपने-अपने कर्तव्य व मर्यादा का पालन करें एक दूसरे के प्रति

कृतज्ञ रहें। कोई भी छल कपट न करें। रामराज्य में इतनी शांति एवं मर्यादा है कि 'रहहि एक संग गजपंचानन।' अर्थात् हाथी और सिंह भी एक-दूसरे से बैर नहीं रखते अर्थात् पशु-पक्षी भी एक-दूसरे का वैर भूलकर आपस में प्रेमपूर्वक रहते हैं। जिस कारण सभी में प्रेम-भावना बढ़ जाती है। तुलसी का कहना है—

"सागर निज भरजादाँ रहहीं।
डारहिं रतन तरन्हि नर लहहीं।।"

रामराज्य में समुद्र भी अपनी मर्यादा में रहता था। वह मानव जाति का इतना उपकार करता था कि रत्नों को अपने तटों पर लहरों द्वारा लाकर छोड़ देता था, जिससे मानव उन्हें सरलता से प्राप्त कर लेते थे। पक्षी पेड़ों पर आसानी से निर्भय होकर बैठते थे और विभिन्न प्रकार के पशु अपने-अपने समूहों में वन में निडर होकर विचरण करते थे। शीतल और सुगन्धित वायु धीरे-धीरे चलती थी जो सभी का मन मोहित करती थी। गायें भी मन चाहा दूध प्रदान करती थी। भाव यह है कि कवि ने ऐसे रामराज्य की कल्पना की है जहाँ मानव जाति अपनी-अपनी मर्यादा में चलकर सुखी रह सके, बल्कि वहाँ पशु-पक्षी भी मर्यादा युक्त जीवन व्यतीत करें। यदि मानव अपने जीवन में मर्यादा व नैतिकता का पालन करता है तो प्राकृतिक आपदाएं भी संभव नहीं हो सकतीं। राम के राज्य में मानव के शुद्ध आचरण को देखकर ही व क्ष खूब फल फूल प्रदान करते थे। नदियाँ मधुर एवं शीतल जल प्रदान करके प्यास को शांत करती थी। संक्षेप में सम्पूर्ण चर-अचर प्राणी मर्यादायुक्त जीवन व्यतीत करते थे।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने लोक-कल्याण और लोक रंजन की भावना से रामराज्य का वर्णन करके यह सन्देश दिया था कि यदि वसुधा पर सुख और शांति रखना है, प थ्वी को स्वर्ग बनाना है तो मुस्लिम साम्राज्य रूपी राक्षस का विनाश करके रामराज्य के अम त को बहाना होगा। इस विषय में एक प्रसिद्ध विद्वान का कथन है कि 'अपने युग की सामाजिक स्थिति से क्षुब्ध होकर गोस्वामी जी ने राम के आदर्श एवं रामराज्य की सामाजिक व्यवस्था को सामने रखना चाहा था, क्योंकि उनका विश्वास था कि रामराज्य का आदर्श सामने रखकर निश्चय ही लोगों का युग-प्रभाव से कलुषित मन नवीन चेतना और स्फूर्ति से भर जाएगा और एक अभिनव सुंदर समाज की प्रतिष्ठा कर प्रयत्न किया जाएगा। यथार्थ की कीचड़ पर आदर्श का कमल खिलाना, कलिकाल की रजनी के बाद रामराज्य का सूर्योदय लाना ही गोस्वामी जी का अभीष्ट था।"

अध्याय 16
तुलसी की काव्य भाषा

भाव सम्प्रेषणीय काव्य का प्रमुख गुण है। भाव की सम्प्रेषणीयता के लिए भाषा का माध्यम अपेक्षित होता है। भाव और भाषा का वही संबंध है जो शरीर और आत्मा का होता है। आत्मा को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए शरीर की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार भावों को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए भाषा की संरचना होती है। इस प्रकार भाषा और भाव का संबंध अन्योन्याश्रित है।

भावों के आदान-प्रदान में भाषा वाहिका का कार्य करती है। अधिकतम सम्प्रेषण के लिए भाषा के कुछ गुण आवश्यक हैं। कहीं यह भावों की अनुगायिनी होती है तो कहीं पात्र की पात्रतानुसार साहित्यकार भाषा का चयन करता हैं। महाकाव्य में जहाँ कवि का लक्ष्य समाज होता है वहाँ भाषा में सामाजिक की पात्रता का भी विचार करना आवश्यक हो जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास एक महान् कवि, चिंतक, ज्ञानी एवं भक्त थे। रामकथा के माध्यम से उन्होंने कालजयी कृतियों की रचना की है। अतः उनकी भाषा का उतना ही सम द्ध होना आवश्यक है। वे भाषा के महान् पारखी थे। यह उक्ति उन पर बिल्कुल ठीक कही गई है—

"कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।"

यह इसलिए संभव हो सका क्योंकि उनका भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उन्हें भाव और भाषा के घनिष्ठ संबंध का ज्ञान था। इस विषय में उनकी कुछ उक्तियां हैं—

"सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अन्तरजामी।
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि पर अजिर नचावहिं बाजी।"

× × ×

"गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भन्न।"

× × ×

"वर्णनां अर्था सधानां रसानां छंदसमापि।"

× × ×

"कविहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाँचा।।"

तुलसी को यह ज्ञान था कि यदि कविता प्रसाद गुण से पूर्ण न हो तो वह लोक ग्राहय नहीं होती। कठिन भाषा अर्थ की व्यंजना में बाधक होती है। इसके विपरीत सरल भाषा में की गई भावाभिव्यक्ति विवेकशील पण्डितों एवं कम पढ़े जन साधारण दोनों को समान रूप से प्रभावित करती है।

"सरल कवित कीरति विमल, सोई आदरहिं सुजान।"

'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में यद्यपि तुलसीदास "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा" का उद्घोष करते हैं किन्तु उनका लक्ष्य मध्यकालीन संघर्ष में डूबती उतरती भारतीय संस्कृति की रक्षा हेतु जनमानस में परिवर्तन करना था। इसलिए उन्हें ऐसी भाषा का चयन करना था कि जो लोकग्राहय हो। उस समय एक भ्रान्त धारणा थी कि दैवी चरित्रों का वर्णन देवभाषा संस्कृत में ही

किया जाना चाहिए। गोस्वामी जी ने इसका परिहार किया। संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार रखते हुए उन्होंने लोक-भाषा का चयन किया। उनका विचार था कि–

"कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई"

× × ×

"का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच।
काम जु आवै कामरी का लै करिअ कुमाँच।।"

तुलसीदास के युग में हिन्दी की दो उपभाषाएँ–अवधी और ब्रज भाषा विशेष रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। उन्होंने अपनी काव्य रचना के लिए इन दोनों भाषाओं को ही अपनाया। 'रामचरितमानस' के प्रत्येक सोपान के आरम्भ में मंगल श्लोकों की रचना में उन्होंने संस्कृत का भी प्रयोग किया। वे अपनी कृतियाँ जनता के लिए लिख रहे थे और जनसाधारण तक अपने संदेश को पहुँचाने के लिए जनसाधारण की भाषा में ही रचना करना अपेक्षित था। अतएव उन्होंने लोकप्रचलित भाषाओं अवधी और ब्रजभाषा को गौरव दिया। प्रेमाख्यानक कवियों ने प्रबन्ध काव्यों में अवधी भली-भाँति मँज चुकी थी। तुलसी ने भी अपनी प्रबन्ध काव्यों में अवधी का प्रयोग किया। उन्होंने अपने निम्नांकित ग्रन्थों की रचना अवधी में की–

1. राम लला नहछू (पूर्वी अवधी)
2. बरवै रामायण (पूर्वी अवधी)
3. जानकी मंगल (पश्चिमी अवधी)
4. पार्वतीमंगल (पश्चिमी अवधी)
5. रामचरितमानस (बैंसवाड़ी अवधी)

हिन्दी का अधिकांश कृष्ण काव्य ब्रजभाषा में ही लिखा गया है। तुलसी के पूर्ववर्ती सूरदास आदि ने ब्रजभाषा के माध्यम से प्रचुर काव्य-साहित्य का निर्माण किया था। मुक्तक-रचना के क्षेत्र में ब्रजभाषा का स्थान अप्रीतम था। तुलसी ने भी अपनी मुक्तक रचनाओं के लिए ब्रजभाषा का ही चुनाव किया। उनकी नीचे लिखी हुई कृतियां ब्रजभाषा में ही रची गई हैं–

1. गीतावली (पश्चिमी ब्रजभाषा)
2. विनयपत्रिका (पश्चिमी ब्रजभाषा)
3. दोहावली (पश्चिमी ब्रजभाषा)
4. वैराग्य संदीपनी (पश्चिमी ब्रजभाषा)
5. कवितावली (पश्चिमी ब्रजभाषा)
6. हनुमान बाहुक (पूर्वी ब्रजभाषा)
7. श्रीकृष्ण गीतावली (पूर्वी ब्रजभाषा)

तुलसी की दोनों भाषाओं के शब्द भण्डार का अध्ययन करने के लिए उन्हें सुविधा की द ष्टि से पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं–

1. संस्कृत के तत्सम शब्द
2. मध्यकालीन पालि, प्राकृत अपभ्रंश आदि के शब्द
3. विदेशी शब्द
4. तत्कालीन प्रांतीय भाषाओं के शब्द
5. हिन्दी की अन्य बोलियों के शब्द

1. संस्कृत के तत्सम शब्द—तुलसी की रचनाओं में संस्कृत के तत्सम शब्द पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। तुलसी ने कुछ पद तो पूर्णतया संस्कृत में ही लिखे हैं; जिनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों को ही अपनाया गया है। जैसे—

"संकर संप्रदं सज्जानंददं सैलकन्यावरं परम रम्यं।
काम मद मोचनं तामरसलोचनं वामदेवं भजे भावगम्यं।।
कंबु कुंदेदु कर्पूर गौर शिवं सुंदरं सच्चिदानन्दकदं।
सिद्ध सनकादि योगींद्र वंदार का विष्णु विधि वंद्य चरनार बिंदं।।"

अनेक स्थलों पर हिन्दी-संस्कृत मिश्रित तिलचावली भाषा का प्रयोग मिलता है, जैसे-

"यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कार्य बस भ्रमत जग जोनि संकट अनेकं।
यत्र त्वद्भक्ति सज्जन समागम सदा भवतु मैं राम विश्राममेकं।।"

ऐसे ही हिन्दी-संस्कृत मिश्रिम शब्दावली—

"श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरन भवमय दारूणं।"

इसी प्रकार तुलसी दास की अन्य ब्रज एवं अवधी की रचनाओं में भी पर्याप्त संस्कृत के तत्सम शब्द मिल जाते हैं, जैसे—'भद्रदाता समाकं', 'नौभि श्रीराम सौमित्रि साकं', 'सुमिरामि नरभूपं रूपं, 'वल्लभ', 'दुर्लभ', 'करुणाकरं', 'भुवनैकभर्ता', 'जयति वैराग्य विज्ञान', 'वारांनिधे', 'नौभिजनक सुतावरं', भक्ति वैराग्य विज्ञान समादान-दम नाम आधीन साधन अनेक' आदि। इस प्रकार तुलसी के काव्यों में संस्कृतनिष्ठ पदावली का व्यवहार स्त्रोत एवं स्तुतियों में तो मिलता ही है, उनके अतिरिक्त भी तुलसी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों को सबसे अधिक मात्रा में अपनाया है।

इसके अतिरिक्त मम, तब ते, अहम आदि संस्कृत के सर्वनामों का प्रयोग भी किया है, अस्ति पश्य आदि क्रियाएँ भी प्रयुक्त हुई हैं। हिन्दी में संस्कृत शब्दों के प्रयोग से वे भाषा को शिष्ट रूप प्रदान करना चाहते थे। उन्होंने देशी भाषा को परिनिष्ठित रूप प्रदान किया। संस्कृत के प्रयोग से उनकी भाषा बोझिल नहीं होने पाई है। अपितु भाषा में निखार ही आया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में—"उन्होंने जो संस्कृत उक्तियाँ ली हैं उन्हें भाषा पर अपने अद्वितीय अधिकार के बल से एकदम मूल हिन्दी रचना के रूप में प्रयोग कर डाला है। कहीं से संस्कृतपन या वाक्य विन्यास की दुरूहता नहीं आने दी है। बहुत जगह तो उन्होंने उक्ति को अधिक व्यंजक बनाकर और चमका दिया है।"

2. पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के शब्द—तुलसी के काव्यों में पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। प्रायः वीर, रौद्र या भयानक रस का निरूपण करते समय तुलसी ने उक्त भाषाओं के शब्दों का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में किया है। क्योंकि इन भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों के अन्तर्गत द्वित्व वर्णों का प्राधान्य होने के कारण उक्त रसों के लिए ये शब्द बड़े सहायक होते हैं। इसलिए तुलसी ने भट्टा, धट्टा, चमकहिं, दमकहिं, कटकट्ट कट्ठहिं, दपट्टहिं, खग्ग, अलुज्झि, जु स, उच्छलित, रघुप्पति, दसरथ्य, लक्खन, विपच्छ, परब्बत, बोल्लहिं आदि का प्रयोग किया है। इन शब्दों के कारण नाद-सौंदर्य के साथ-साथ ओजगुण एवं रौद्र तथा वीर रस की व्यंजना में बड़ी सहायता मिलती है।

3. विदेशी भाषाओं के शब्द—तुलसीदास मुस्लिम शासनकाल में हुए थे। वे अपने युग की विदेशी राजभाषा से भली-भांति परिचित थे। यह राजभाषा का ही प्रभाव है कि हिन्दू-संस्कृति का प्रबल समर्थक और धार्मिक कवि होने पर भी उनकी रचनाओं में अरबी-फारसी (विशेषतया फारसी) शब्दों की इतनी बहुलता पाई जाती है। अँबारी, अबीर, सहन, बलाइ, हलक, अकास, गनी, ताल, हाल, खास, खलक, खवास, खसय, आदि शब्द अरबी से लिए गए है। जहाँन, जमात, बकसीस,

दरबार, कसम, गुजान, गरूर, अरखतु, दाहि, मसीह, निसान, उसीला आदि बहुसंख्यक शब्द फारसी से लिए गए हैं।

विदेशी अरबी फारसी शब्दों को ग्रहण करते समय तुलसी ने अवधी और ब्रजभाषा की प्रव त्ति के अनुसार उनमें ध्वनि-परिवर्तन किया है, उदाहरण के लिए जीन का ज़ीन, शहनाई का सहनाई, बही का बहरी, फ़ील का पील, बैरख का बैरक आदि। यही नहीं विदेशी शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन करके और हिन्दी-प्रत्यय लगाकर उनका इस प्रकार रूप-निर्माण किया है कि उनके मूल रूप का आभास भी नहीं मिलता, जैसे शरीक से सरीकता, मिस्कीन से मिसकीनता, नवाज से निवाजा, निवाजे निवाजिको आदि।

तुलसीदास के शब्द-भण्डार के विषय में पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा हैं—"तुलसीदास का शब्द भण्डार तो ऐसा व हत्त था कि गूढ़-से गूढ़ भावों को सरलता से व्यक्त करने में उन्हें कहीं कठिनाई नहीं पड़ी है। तुलसीदास की कविता की बदौलत नब्बे हजार संस्कृत शब्द देहात के अपढ़ आदमियों के घरों में जा बैठे हैं, जो शिक्षा विभाग या विश्वविद्यालयों द्वारा भी वहाँ हरगिज नहीं पहुँच सकते थे। ये शब्द हिन्दु-संस्कृति के मूल स्वरूप हैं जो बौद्ध मत और पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के अंधड़ में उखड़ गए थे, तुलसीदास जी ने उन्हें फिर जमा दिया। उसी तरह गाँवों के लगभग तीस-चालीस हजार शब्दों को सभ्य या शहराती समाज तक पहुँचा दिया, जिन्होंने पढ़ी लिखी और देहात की अनपढ़ जनता में विचारों की समानता स्थापित कर दी। मौक़े-मौक़े पर अरबी-फारसी के शब्द भी डाल दिए गए हैं जिनसे वे लोग आकर्षित हुए, जो अरबी-फारसी भी जानते थे।"

4. प्रांतीय भाषाओं के शब्द—तुलसी की रचनाओं में उत्तरी भारत के विभिन्न प्रांतों की भाषाओं के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। जैसे दारू, नारि (गर्दन), म्हाको, मेला, सारयो, पूजि, ठोंकि-ठोंकि खए आदि राजस्थानी के शब्द मिलते हैं और जून, लाथे (प्राप्त किया), भूकिए (छोड़िए), मोंगी (मौन) आदि शब्द गुजराती के मिलते हैं। ऐसे ही वैसा (बैठा), पारा (सका), खटाइ (निभती) आदि शब्द बंगला के मिलते हैं, तथा पँवारों, अवकलत आदि शब्द मराठी के भी मिलते हैं।

5. हिन्दी की अन्य बोलियों के शब्द—तुलसीदास की भाषा में ब्रज तथा अवधी बोली के शब्दों का व्यवहार तो अत्यधिक मात्रा में हुआ ही है। इनके अतिरिक्त हिन्दी की अन्य बोलियों के शब्द भी मिल जाते हैं; जैसे—सरल (सड़ा हुआ), दिहल (दिया), घायल (दौड़ा), सूतल (सोया), राउर, रावरी, जहवाँ, तहवाँ, लोइ, लोई, तपुकिया, शरण आया; सारे मचा, लीजिए, कीजिए गई, देना आदि खड़ी बोली के शब्द प्रयुक्त हुए हैं और सुआर, बागत (घूमते) आदि बघेली बोली तथा छतीसगढ़ी के शब्द भी मिलते हैं।

शब्द शक्तियाँ—सामान्यतः शब्द की तीन शक्तियां मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा, और व्यंजना। प्रभावशाली कवि अपने काव्य में इन तीनों का ही अधिकारपूर्वक और सफलता के साथ प्रयोग करता है। तुलसी की रचनाएँ इन शब्द-शक्तियों के चमत्कार से भरी पड़ी हैं। तीनों के एक एक उदाहरण द ष्टव्य हैं—

अभिधा—

"मोचिनि बदन सँको चिनि हीरा माँगन हो।
पनहि लिएकर सोभित सुंदर आँगन हो।।
नैन विसाल नउनियाँ भौं चमका वइ हो।
देह गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो।।" —रामललानहयू

लक्षणा—

'राजमराल के बालक पेलि कै पालत लालत खूसर को।
सुचि सुंदर सालि स्कोलि सो बारि कै बीजु बहोरत ऊसर को।।
गुन ग्यान गुमानु भँभेरि बड़ी कलु पद्रुम काटत मूसर को।
कलिकाल विचारु अचारु हरो नहि सूझै कछू घम घूसर को।।"

व्यंजना—

"चारु चरन नख लेखति घरनी। नुपुर मुखर मधुर छवि बरनी।
मनहु प्रेमवस विनती करहीं। हमहि सीच पद जानि परिहरिहीं।।"

लोकोक्ति एवं मुहावरे—तुलसी की भाषा में लोकोक्ति एवं मुहावरों की भरमार मिलती है। जैसे-'धोबी कंसो कूकर, न घर को न घाट को, 'धान को गाँव पयार ते जानिय', 'खाली दीप मालिक ठठाइत सूप हैं', 'अपने चना चबाइ हाय चाटियत है', 'त्यों ज्यों होइगी गरई ज्यों ज्यों कामिरि भीजैं', 'दूध कौ जर्‌यो पियत फूँकि-फँकि महयो है' आदि लोकाक्तियों का प्रयोग मिलता है। तथा 'जहैं बारह बाट', 'कहब जीभ करि दूजी', 'ठग के से लाडू खए', 'पानी भरी खाल है', 'मुहँ लाए मूडहि चढ़ी', 'छोटे बदन कहहुँ बड़ी बाता', 'जीवन पाउँ न पाछे घर हीं', 'पूतरो बांधि है', 'तज्यो दूध माखी ज्यों' आदि अनेक मुहावरों का सुंदर एवं सजीव प्रयोग हुआ है।

गुण-व्यंजक पदावली—गुण तीन हैं—प्रसाद, माधुर्य और ओज। ये गुण वस्तुतः रस के धर्म हैं, परन्तु शब्दों की रस-व्यंजकता के कारण इन्हें शब्द का धर्म भी कह दिया जाता है। जिस रचना के पढ़ते ही तत्काल अर्थ-बोध हो जाता है और रस की अनुभूति होने लगती है, उसमें प्रसाद गुण माना जाता है; जैसे—

"तुलसीदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज शेष कछु नहिं गोयो।
डासत ही गइ बीत निसा सब कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।।"

जिस शब्द रचना से पाठक का चित्त द्रुत हो जाता है, उसमें माधुर्य गुण होता है। उसमें प्रायः कोमल कान्त पदावली का प्रयोग किया जाता, उदाहरणार्थ—

"कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन राम ह्रदय गुनि।
मानहुँ मदन दुदुंभी दीन्हीं। मनसा विस्व विजय कहँ कीन्हीं।।"

ओज गुण उस रचना में माना जाता है जिससे चित्र दीप्त होता है। उसमें प्रायः कर्णकटु वर्णों का प्रयोग किया जाता है—

"मत भत मुकुट दरकण्ठ साहस सइल
संग विदुरनि जनु ब्रज टाँकी।
दासन धरि घरनि चिक्करत दिग्गज कमठु,
सेषु संकुचित संकित पिनाकी।।"

व तियाँ—काव्य में उपर्युक्त तीनों गुणों के अनुरूप ही शब्दों अथवा वर्णों का विन्यास किया जाता है। वर्ण-विन्यास के क्रम को 'व त्ति' कहते हैं। व तियाँ तीन हैं—परुषा, उपनागारिका और कोमला। जहाँ दीप्ति प्रधान भावों की व्यंजना में कठोर वर्णों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ परुषा व ति होती है; जैसे—

"डिगति उर्बि अति गुर्बि सर्ब पर्ब्बे समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल विकल दिगपाल चराचर।
दिग्गयंद लरखरत परदत दसकंधु मुख्य भर।।
सुर विमान हिमभानु भानु संघटत परसपर।।"

सुकुमार भावों की व्यंजना के लिए किए गए कोमल वर्णों के विन्यास में उपनागरिका व ति पाई जाती है; जैसे–

"तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि मैं समसील उमै नवनील सरोऊह से विकसे।।"

कोमलाव ति परुषा की तुलना में कोमल होने के कारण कोमला कहलाती है। जिस रचना में सुकुमार वर्ण-विन्यास अथवा परुष पदावली का आग्रह न हो, अर्थात् जिसमें दोनों ही प्रकार के वर्णों का प्रयोग दिया गया हो, उसमें कोमला व ति होती है, जैसे-

"सब प्रकार मैं कठिन म दुल हरि द ढ़ विचार जिय मोरे।
तुलसीदास प्रभु मोह सं खला छूटहिं तुम्हारे छोरे।।"

शब्दालंकार योजना–तुलसीदास की भाषा अलंकारों से अलंकृत है। अर्थालंकारों की चर्चा करना यहाँ पर अनपेक्षित है। शब्दालंकारों में अनुप्रास भारतीय कवियों का प्रिय अलंकार रहा है। तुलसी का सम्पूर्ण साहित्य अनुप्रास की छटा से मंडित है। उदाहरण के लिए–

सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुँवर सखी सुठिलोना।

× × ×

गोरो गरूर गुमान भर्‌यौ कहौ कौसिक छोटो सो ढोतो है काकी।।"

अनेक स्थलों पर लातानुप्रास, श्लेष, यामक आदि अलंकारों का भी स्वाभाविक और प्रभावशाली प्रयोग हुआ हैं।

लाटानुप्रास–

हरषे हेतु हेरि हर ही को। किए भूषण तिय भूषण को तो।

अथवा

"लोचन जल रह लोचन कोना। जैसे परम कृपिन कर सोना।"

श्लेष– **"रावन सिर सरोज बन चारी।**
चालि रघुवीर सिली मुख धारी।।"

यमक– **"अस मानस मानस चष चाही।**
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही।।"

भाषा पर कवि तुलसीदास का असाधारण अधिकार है। अपने प्रतिपाद्य विषय की समर्थ व्यंजना के लिए उन्होंने प्रसंगों, पात्रों एवं भावों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है। कवि ने दोनों भाषाओं का प्रयोग बड़ी सजीवता, मार्मिकता, प्रभावोत्पादकता एवं सफलता के साथ किया है। उनकी भाषा में कलात्मक सौंदर्य के साथ-साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक शब्दावली का प्राधान्य होने के कारण हमारे जन-जीवन का समग्र रूप विद्यमान है। तुलसी ने इसीलिए सामान्य दैनिक जीवन में प्रयुक्त वस्तुओं एवं व्यापारों का बड़ी रोचकता एवं सरसता के साथ वर्णन किया है तथा भारतीय जीवन में व्याप्त 'परम्परागत सांस्कृतिक कृत्यों का उल्लेख भी बड़ी तत्परता एवं सजीवता के साथ किया है। अतः तुलसी की भाषा भाव एवं प्रसंग के अनुकूल होने के साथ-साथ हमारे सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक जीवन को चित्रित करने में पूर्ण सशक्त, समर्थ एवं सक्षम दिखाई देती है, उसमें रामकथा के साथ-साथ हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की सजीव झाँकी अंकित हुई है और जनसाधारण व्याप्त रीति-रिवाज, त्यौहार, संस्कार, जन-विश्वास आदि का चित्रण भी बड़ी ही मार्मिकता के साथ किया गया है। वस्तुत वे भाषा के सम्राट हैं।

अध्याय 17
तुलसीदास की सांस्कृतिक योजना

गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' भारत का ही नहीं, वरन् विश्वसाहित्य का अनुपम ग्रन्थ है जिसमें भारतीय संस्कृति, धर्म, साहित्य, दर्शन, आदर्श समाज, न्याय-व्यवस्था, मानवीय कर्त्तव्य, उदात्त आचारों व विचारों का सुन्दर समन्वय है। तुलसीदास अपने युग के सच्चे द ष्टा थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर भ्रमण करके जन-जन की भावनाओं को देखा था, उन्हें भली-भाँति समझा था। उन्होंने नाना शास्त्रों व ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन करके उनकी विचारधाराओं को ज्ञात किया था तथा भारत में व्याप्त विविध रीति-रिवाजों, मान्यताओं व नाना परिवेशों का अवलोकन किया था। प्रो० ए०ए० मैकडानल का कथन है—

Ramchartimanas ..... with its ideal standard of virtual and purity is a kind of Bible to a hundred millions of the people of Northern India.

अर्थात्, धर्म और पवित्रता के आदर्शमान से समन्वित 'रामचरितमानस' उत्तरी भारत के करोड़ों लोगों के लिए एक प्रकार का बाइबिल है। यद्यपि इस व हद् ग्रन्थ का मूल आधार मर्यादा पुरूषोत्तम राम का चरित है। वस्तुतः यह महाकाव्य तत्कालीन भारतीय संस्कृति का जीता-जागता उदाहरण है।

1. संस्कृति का अर्थ—सम् + कृति = संस्कृति। अर्थात् उत्तम कृति या चेष्टाएँ संस्कृति हैं। अथवा 'संस्कृति' शब्द का अर्थ—उत्तम या सुधरी हुई स्थिति से भी लिया जा सकता है। भाव यह है कि मानव बुद्धिमान प्राणी होने के कारण अपने चारों ओर की परिस्थितियों को सुधारता रहता है तथा प्रगति करता रहता है। अतः जीवन-पद्धति, रीति, नीति, रहन-सहन, आचार-विचार आदि उनकी संस्कृति के अंग बन जाते हैं। वस्तुतः संस्कृति संस्कारों के समूह का नामान्तर है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन है—संस्कृति का अर्थ है—संस्कार-सम्पन्न जीवन। संस्कार मानव के आध्यात्मिक जीवन को, जिस समाज का वह अंग है, उस समाज के जीवन को और उसके सम्पर्क में आने वाले भौतिक पदार्थों को सुन्दर, सुखमय, सशक्त और विश्व-नियमों के अनुकूल बनाते हैं। नियमों की संज्ञा धर्म है जो मानव-जीवन को मर्यादित रखते हैं। जिनके समुचित पालन करने से व्यक्ति और समूह दोनों को सुख मिलता है और दोनों का कल्याण होता है। इस प्रकार धर्म और जीवन संस्कृति शब्द के पर्याय कहे जा सकते हैं। मानव अपने कर्म से, मन से, शब्द से जो कुछ अब तक सुधार कर सका है वह सब उनकी संस्कृति है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जीवन का जितना विस्तार है, उतनी ही संस्कृति की बहुमुखी सामग्री है। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, समाज और उसकी परिवर्तनशील अनेक संस्थाएं हैं—इन सबकी संज्ञा संस्कृति है।

2. धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताएँ—धर्म के क्षेत्र में वैदिक संस्कृति प्रायः स्वीकार्य स्थापना के चरम बिन्दु थे। धार्मिक जीवन सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। जीवन को मर्यादा के साथ व्यतीत करना सर्वोत्तम था। रामचन्द्र का समस्त जीवन मर्यादा में बंधा हुआ है। इसी प्रकार उन्हें 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहा जाता था। धर्म का चरम-लक्ष्य मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति है। उसके दो साधन थे—ज्ञान और भक्ति। भगवान के निर्गुण व सगुण रूप की उपासना होती थी। तुलसी सगुणोपासक थे। उन्होंने कहा था—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।।
अगुण अरूप अलख अज जोई।
भगत-प्रेम वस सगुन सो होई।।

अर्थात् सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं हैं। भक्त प्रेम के कारण निर्गुण ही सगुण हो जाता है। जैसे जल, शीतलता के कारण हिम रूप में परिवर्तित हो जाता है। ज्ञान और भक्ति दोनों ही मुक्ति प्रदाता है, परन्तु ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग सुलभ है, सरल है व सहज है। ज्ञान का मार्ग उसी प्रकार कष्ट-साध्य है जैसे तलवार की धार पर चलना-ज्ञान पंथ कृपान कै धारा-कठिन है। किन्तु बिना ज्ञान के भक्ति भी उसी प्रकार है जिस प्रकार बिना मल्लाह के नाव।

तुलसी न द्वैतवादी थे और न अद्वैतवादी। वे विशिष्टाद्वैतवादी थे। वस्तुतः उनके दार्शनिक विचारों में क्रमबद्धता उपलब्ध नहीं हैं। उनका उद्देश्य दार्शनिक विचारधारा अभिव्यक्त करना नहीं था। इतना अवश्य है कि उनके दार्शनिक विचार उनके काव्यों में यत्र-तत्र परिव्याप्त हैं। वे मूलतः भक्त भी थे और कवि भी थे। दोनों का समन्वय उनमें था। इसी कारण उनका दार्शनिक पक्ष भी समन्वित है।

तुलसी राम को चराचर प्राणियों का रक्षक व भगवान मानते थे, जो दशरथ के पुत्र होकर भी विष्णु के अवतार हैं। वे जगत के विधाता हैं। सभी परम शक्तियाँ उनसे उत्पन्न हैं। माया भी परब्रह्म राम की शक्ति है जिससे समस्त संसार का निर्माण हुआ। राम भक्त होने पर भी तुलसी की विभिन्न देवी-देवताओं में आस्था थी। तीर्थों में उनका विश्वास था जो उस समय व्याप्त था। उस समय विभिन्न धर्म थे। सभी धर्मों को एक सूत्र में बांधने के लिए तुलसी ने कहा था—

"परिहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।"

वस्तुतः मुस्लिम साम्राज्य होने के कारण भारतीय धर्म अपनी मर्यादा से गिरने लगे थे। धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के ढोंग और बुराईयां पनपने लगी थीं। अतः तुलसीदास ने धर्म के लिए समन्वयात्मक तथा व्यावहारिक द ष्टिकोण अपनाया था जो प्रचलित हो गया था। राम की उपासना सर्वोपरि हो गयी थी।

3. सामाजिक व्यवस्था—उस युग में वर्ण व्यवस्था थी। सभी जातियाँ मुख्यतः चार वर्णों में विभक्त थी—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र। ब्राह्मणों का सर्वाधिक सम्मान था, परन्तु वे वेदपाठी व धर्म का पूर्णतः पालन करने वाले होते थे। क्षत्रिय युद्ध करते थे। राम स्वयं क्षत्रिय थे अतः युद्ध करना तथा अपनी शक्ति से प्रजा रक्षण करना उनका परम कर्तव्य था। वैश्य व्यापार करते थे। ब्राह्मण वैदिक परम्परा का पालन करते हुए तपस्वी होते। गुरू विश्वामित्र, वशिष्ठ ऋषि वामदेव इसी प्रकार के तपस्वी हैं। राजा जनक सब कुछ होने पर भी तपस्वी का जीवन व्यतीत करते हैं। चारों वर्णों में विभिन्न जातियाँ थीं। धोबी, लुहार, भील, कोल, निषाद, दास, दासियाँ, भीलनी आदि जातियाँ थीं जो कुछ नगर में रहती थीं, कुछ ग्रामों में व कुछ वनप्रदेशों में। ग्राम प्रदेशों व वन प्रदेशों में भील, गुह्य, निषाद आदि परिश्रम पूर्वक कठिन जीवन व्यतीत करते थे, परन्तु नगर में रहने वाले प्रायः सम द्ध थे। ऊँचे-ऊँचे महल या भवन थे (धवल धाम ऊपर नभी चुम्बत) सभी महलों में मणियां लगी थी जो दिन-रात प्रकाश करती थी। कवि अयोध्या के भवनों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी विद्रुम रची।
मनि खंभ भीति बिरंचि कनक मणि मरकत खची।।
सुन्दर मनोहर मंदिरायत अजिर खचिर फटिक रचे।
प्रति द्वारा-द्वारा कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि रचे।।"

घरों में मणियों के दीपक शोभा पा रहे थे। मूँगों की बनी हुई देहलियाँ चमक रही थीं। मणियों के खम्बे थे। मरकत मणियों से जड़ी हुई सोने की दीवारें ऐसी सुन्दर हैं मानो ब्रह्मा ने उन्हें विशेष रूप से बनाया हो। महल सुन्दर, मनोहर और विशाल थे। उनमें सुन्दर स्फटिक के आंगन बने हुए थे। प्रत्येक द्वार पर बहुत-से खराद से तरासे हुए हीरे जड़े थे। वहाँ का बाजार बहुत सम द्ध था। कपड़े बेचने वाले (बजाज) सोना-चांदी आदि अलंकार बेचने वाले (सराफ) रुपए-पैसे का लेन-देन करने वाले (वणिक्), वस्तुओं का लेन-देन कराने वाले (व्यापारी) थे।

नगर के आस-पास बड़े-बड़े फल-फूलों से लदे बाग होते थे। नगर के महलों व भवनों के आस-पास चारों ओर वाटिकाएँ होती थीं। अयोध्या नगरी के पास तो सरयू नदी बहती है जिसके तटों पर मन्दिर हैं, बगीचे हैं, राजघाट हैं यहाँ नगरवासी नहाते-धोते हैं। नगर में बावड़ियाँ, तालाब, कुण्ड, कुएँ आदि बने थे। जिनमें निर्मल पेयजल है। अतः राम जैसे राजा के रहते हुए तथा राजनीतिक स्थिति सुद श होने के कारण सामाजिक व्यवस्था उत्तम थी।

4. राजनीतिक व्यवस्था—उस युग में प्रमुखतः राजतन्त्र था। समस्त भारत में छोटे-छोटे राज्य थे उनका प्रभुत्व राजा के हाथों में था। राजा की म त्यु के पश्चात् उसका पुत्र राज्याधिकारी होता था। दशरथ की म त्यु के पश्चात् उनका ज्येष्ठ पुत्र राम ही राज्य को प्राप्त करने वाला था। परन्तु जिन राजाओं को शत्रु जीत लेते थे वे अपने अनुसार राजा बनाते थे। लंका का राज्य जीतकर राम ने उसका राजा लंकेश्वर रावण के भाई विभीषण को बनाया था। जितनी-जिस राजा के राज्य की सीमा होती थी उतने क्षेत्र का राजा स्वामी होता था। भारतीय राजा मुस्लिम राजाओं की अपेक्षा प्रजा के हितकारी व रक्षक होते थे। उनकी राजनीति और धर्मनीति एक साथ मिली हुई थी। राजा, अपने मित्र नरेशों का सम्मान करते थे। राम जब रावण को मार कर अयोध्या आए तो उनके साथ विभीषण, हनुमान, सुग्रीव, नल, नील, जाम्बवत्, अंगद आदि भी विभिन्न नरेश व प्रजा पालक थे। राम ने उसका सम्मान कर उपहार देकर विदा किया था तथा अपने भाई से कहा था—

"सब मम प्रिय, नहिं तुम्हहिं समाना।
म षा न कहऊँ मोर यह बाना।।"

अर्थात् संसार में मुझे सभी प्राणी प्रिय हैं, परन्तु तुम्हारे समान नहीं, तुम उनसे अधिक प्रिय हो, मैं असत्य नहीं कहता हूँ। यह मेरा स्वभाव है।

प्रत्येक व्यक्ति राजा बनने योग्य नहीं होता था। राजा के लिए यह आवश्यक था कि वह शक्ति नीति और ऐश्वर्य-सम्पन्न होना चाहिए। उसमें अनेक गुण होने चाहिंए—

"धरम धुरंधर नीति-निधाना।
तेज प्रताप सील बलवान।।"

राजा को धर्म का पालन करने वाला, नीति का ज्ञाता, तेजस्वी, प्रतापी तथा शक्तिशाली होना चाहिए। सत्यकेतु व शीलनिधि इसी प्रकार के राजा थे। उस समय राजा ऋषियों, मुनियों, यतियों आदि तापसों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देते थे। राजा दशरथ, राजा जनक, राजा राम इन्हीं गुणों से सम्पन्न थे। उत्तम कोटि का राजा वही होता था जो निति का पालन करते हुए किसान, माली व सूर्य के समान हो। जो व क्ष, नदी, पर्वत, प थ्वी आदि के समान परोपकारी हो। राम में ये परोपकार की भावनाएँ थीं। वन को जाते समय भी राम भरत को यह संदेश देना नहीं भूलते कि वह राजा होकर न्याय व नीति का पालन करे—

"कहब संदेश भरत के आए।
नीति न तजिए राजपदु पाए।।"

शूर्पनखा ने भी रावण से यही कहा था कि नीति के बिना राजा सफल नहीं होता। राजा अपनी सहायता के लिए मंत्रीगण, समिति तथा परिषदें बनाता था। गुरू की आज्ञा का पालन करता था।

राजा विशेष प्रकार के वस्त्र व बहुमूल्य अलंकार धारण करता था। सिंहासन, छत्र, बहुमूल्य वस्त्र, चँवर, कोष, रानी, बन्दी, अन्य सेवक, दुर्गा, सेना आदि राजा के आडम्बर थे। राम यद्यपि राजकुमार थे, परन्तु वन में जाते समय उन्होंने सभी राजकीय वस्त्रों व अलंकारों का परित्याग कर दिया था। राजा के अनेक गुप्तचर होते थे। जो गुप्त रूप से देश व परदेश की सूचना देते थे। राजा जनक ने राम के वनवास के समय अपने गुप्तचर भेजे थे जो यह ज्ञात करके आए थे कि भरत राम के विरूद्ध नहीं है। यज्ञों में राजाओं का विश्वास था। यज्ञ अपने प्रजा हितार्थ और अपने पुण्य के लिए होते थे। राम, जनक, रावण, मेघनाथ सभी यज्ञ करते हुए दिखाई पड़ते हैं। शक्तिशाली व विस्त त भूखण्ड के राजा के पास चतुरंगिणी सेना होती थी। युद्ध में चारों प्रकार की सेना होती थी, परन्तु युद्ध रात्रि में नहीं होता था। राम अपनी प्रजा के अनुरंजन के लिए जीवन समर्पित करने वाले थे। ये अपनी प्रजा से यहाँ तक कहते थे कि यदि कोई उनसे अनीति हो जावे तो वह उसे रोक दे, इसके लिए डरने की आवश्यकता नहीं हैं। रामराज्य के लिए विद्वान आलोचन डॉ० भारद्वाज का कथन है—

"रामराज्य का लक्ष्य था जन कल्याण। यह वास्तव में प्रजा-सत्तात्मक था जिसमें सभी को अपनी बात कहने और अपना मत देने की स्वतन्त्रता थी।"

5. शिक्षा—उस समय शिक्षा दो प्रकार की होती थी—(1) शस्त्र, (2) शास्त्र। ये दोनों शिक्षाएं गुरु के पास वन प्रदेश में ही मिलती थीं। ग्रामीण-प्रदेशों व नगरों में पढ़ाई का किसी भी स्तर पर कोई साधन नहीं था। शास्त्र विद्या का अध्ययन प्रायः ब्राह्मण करते-कराते थे। वे ब्रह्म ज्ञानी, ज्योतिष, मर्मज्ञ व विद्या के प्रति समर्पित रहते थे। शास्त्र विद्या प्रायः क्षत्रिय पढ़ते थे क्योंकि उनका कार्य रक्षा करना, युद्ध करके शत्रुओं की जीतना आदि था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय नारी शिक्षा का अभाव था क्योंकि वे वन प्रदेश में जाकर रह नहीं सकती थी तथा नगर में रहने वाली मुनि-कन्याएं शिक्षित होती थीं। शास्त्र विद्या को सिखाने वाले भी प्रायः ब्राह्मण होते थे जो बड़े तपस्वी, साधन परिश्रमी व विभिन्न शास्त्रों को चलाने में कुशल होते थे। राजा दशरथ के चारों पुत्रों—राम, भरत, लक्ष्मण व शत्रुघ्न ने मुनि वशिष्ठ से शिक्षा प्राप्त की थी—

"गुरू ग हँ गए पढ़न रघुराई।
अलप काल विद्या सब पाई।।
विद्या विनय निपुन गुन सीला।
खेलहिं खेल-सकल न पलीला।।"

चारों भाइयों ने गुरू के आश्रम में सभी विद्याएं बहुत शीघ्र प्राप्त कर ली थी। उनके एक नहीं बल्कि अनेक गुरू थे। गुरू विश्वामित्र उन्हें राक्षसों से यज्ञ की रक्षा करने हेतु ले गए थे। तथा उन्हीं के साथ वे जनकपुरी में गए थे। जहाँ पर राम ने धनुष तोड़कर सीता से विवाह किया था। विश्वामित्र शस्त्र विद्या में अत्यन्त निपुण थे। उन्होंने शस्त्र विद्या के विशेष गुर राम और लक्ष्मण को सिखाए थे। परशुराम के क्रोधित होने पर राम से रोके जाने पर लक्ष्मण गुरू विश्वामित्र के पास गए थे, (गुरू समीप गवने सकुंचि परिहरि बानी राम) दैविक शास्त्रों को प्राप्त करने के लिए विशेष साधनाएं करनी पड़ती थीं। राम और लक्ष्मण को यदि दिव्य ब्रह्म शस्त्र आदि प्राप्त थे तो रावण, मेघनाद को भी दिव्य शस्त्र प्राप्त थे। मेघनाद ने वीरघातिनी शक्ति का प्रयोग कर लक्ष्मण को मूर्च्छित कर दिया था। राम अपने दिव्य शास्त्रों से राक्षसों की मायावी शक्तियों को दूर कर देते थे। राम नागपाश से बाँध दिए गए थे। रावण की वह शक्ति भी लक्ष्मण को लगी थी जो रावण को ब्रह्मा जी से प्राप्त हुई थी, परन्तु राम की माया से उसका प्रभाव नष्ट हो गया। लंकाकाण्ड में इस प्रकार दिव्य शस्त्रों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। यह रामकथा एक क्षत्रिय की जीवनी है। अतः यहाँ पर शस्त्र विद्या का बहुत कम प्रयोग है। फिर भी शस्त्र विद्या में शास्त्र विद्या का योगदान था। दिव्य शस्त्रों को प्राप्त करने के लिए विशेष शास्त्रों को ही आधार बनाया जाता था।

6. नारी की स्थिति—भारत में प्रारंभ से ही पुरूष की अपेक्षा नारी की स्थिति दयनीय रही है। क्योंकि भारत पुरूष प्रधान देश रहा है। 'रामचरितमानस' में भी देखा जाता है कि नारी का अस्तित्व, उनकी प्रसन्नता या कष्ट उसके पति पर निर्भर करता था। उस समय बहु विवाह की प्रथा थी। विशेषतः धनिक वर्ग व राजागण बहु विवाह करते थे। राजा दशरथ की तीन रानियां थीं—कौशल्या, कैकेयी व सुमित्रा। लंका नरेश रावण की अनेक रानियां थीं। स्त्री का व्यक्तित्व तभी सार्थक था। जब वह पतिव्रता धर्म का पालन करें। विधवा-विवाह समाज में मान्य नहीं था। नारी का वैधव्य उसके लिए अभिशाप था। राजा दशरथ की म त्यु के पश्चात् उसकी तीनों रानियां वैधव्य के अभिशाप को भोगती रहीं। रामचन्द्र के युग में पुरूष एक पत्नीव्रती होने लगे थे। राम व उनके भाइयों ने एक-एक ही विवाह किया था। नारी अपने पति का स्वयं वरण कर सकती थी। सीता के विवाह के समय स्वयंवर का आयोजन किया गया था जिसमें अनेक राजगण आमंत्रित थे। रावण की बहिन शर्पूनखा अपना पति राम या लक्ष्मण को चाहती थी। परन्तु उन्होंने अपना प्रेम ठुकरा दिया था, परिणामस्वरूप, राम और रावण की शत्रुता हो गयी थी। नारियों का हरण करना कोई दोष नहीं था। रावण ने सीता का हरण किया। परन्तु नारियों से बलात्कार नहीं होता था। रावण ने सीता को अपनी लंका में रखा। उसे बार-बार प्रेरित किया कि वह विवाह कर ले। विवाह के पश्चात् ही नारी को अपने अंतःपुर में लाया जाता था। विशेष प्रकार के यज्ञों में पत्नी को समान आसन देकर बैठाया जाता था।

दूसरी ओर, नारियां भी अपने कर्तव्य के प्रति समर्पित थीं। सीता जहाँ अयोध्या में राम का ध्यान रखती है, जहां वह वन में भी राम की तन-मन से सेवा करती है। वह अपनी सासों, देवरों आदि के प्रति अत्यन्त मर्यादित रूप से व्यवहार करती है। बड़ों का सम्मान करना उसका परम कर्तव्य है। छोटों के प्रति उसका अपना स्नेह है। तुलसीदास का कथन है—

सीय मन राम चरन अनुरागा।
अवध सहस मन प्रिय लागा।।
परन कुटी प्रिय प्रियत्तम संगा।
प्रिय परिवार कुरंगा विहंगा।।

सीता जब अयोध्या में थी तो उनका मन राम के चरणों में अनुरक्त था। परन्तु वन में भी उसी प्रकार उसका मन राम के साथ है। वहाँ उसके परिवार के सदस्य हिरण व पक्षी है, राम के सहोदर भ्रातागण नहीं। वन्य मुनि पत्नियां व मुनिवर सीता के लिए सास-ससुर के समान पूज्य हैं। वह अपने प्रियत्तम के लिए सभी आवश्यक कार्य करती है। कुटिया स्वच्छ करना, जल भरकर लाना, ईंधन व कंदमूल लाना आदि उसका प्रतिदिन का कार्य है। इस प्रकार नारियाँ अपने पति सेवा को ही अपना धर्म समझती थीं। पुरुष उनकी रक्षा करते थे।

7. लोकमान्यताएं व मर्यादा—समाज में विभिन्न प्रकार की मान्यताएं थीं। पुनर्जन्म में विश्वास था। शकुन व अपशुन को महत्व दिया जाता था। राम जब अयोध्या आने वाले थे तो भारत की दाहिनी आँख और दाहिनी भुजा बार-बार फड़क रही थी। इसी शुभ शकुन से उन्होंने अनुमान लगा लिया था कि राम वापस लौट कर अयोध्या आने वाले हैं—

"भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार।
जानि शकुन मन हरष अति लगे करन विचार।।"

उस समय शुभ और अशुभ का ध्यान रखा जाता था। राम के राज्याभिषेक के लिए शुभ मुहुर्त निकलवाने हेतु वशिष्ठ गुरूवर से पूछा जाता है (गुरू वशिष्ठ द्विज लिए बुलाई। आजु सुधरी सुदिन सूमुदाई।) ब्राह्मण ही शुभ दिन, समय आदि बताते थे जिस के आधार पर विवाह, लग्न, यज्ञ, हवन आदि होते थे। किसी के स्वागत के लिए शुभ कार्य किए जाते हैं। राम के अयोध्या वापिस आने

पर राम के स्वागत के लिए थालियों में दही, दूध, गोरोचन, फल, फूल, तुलसीदास भरकर लाए जाते हैं। अनेक धार्मिक अनुष्ठान होते थे। बीमार होने पर वैद्य की जाती थी। लक्ष्मण-मूर्छा होने पर पर्वतीय औषधि से उन्हें चेतना लाई जाती है। जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, राज्याभिषेक, विजय-घोषणा आदि के अवसरों पर विशेष प्रकार की खुशियाँ मनाई जाती थीं। अपशकुन का भी ध्यान रखा जाता था। कुछ शकुन प्राकृतिक होते थे जो मंगलकारी माने जाते थे। राम के अयोध्या लौटने पर तीनों प्रकार की वायु बहने लगी। सरयू नदी का निर्मल जल हो गया। अवधपुरी का प्राकृतिक सौंदर्य बढ़ गया–

अवध पुरी प्रभु आवत ज्ञानी।
भई सकल सोभा कै खानी।।
बहइ सुहावन त्रिविध समीरा।
भइ सरजू अति निर्मल नीरा।।

जहाँ इस प्रकार की मान्यताएं थीं वहां सभी लोग मर्यादा में बंधकर चलते थे। चाहे सामाजिक व्यवहार हो या पारिवारिक सभी में मर्यादाएं थी। अपनी मर्यादा का उल्लंघन कोई नहीं करता था–

सब नर करहि परस्पर प्रीति।
चलहि स्वधर्म निरत श्रुति नीति।।

रामराज्य में सभी प्रजा परस्पर प्रेम करती थी। सभी नर-नारी शास्त्रों की मर्यादा का पालन करते हुए अपने धर्म का पालन करते थे। सभी जन परोपकारी थे। ब्राह्मणों व विद्वानों की सेवा करते थे। उनका सम्मान करना आवश्यक था। सभी प्रमुख एक पत्नी व्रतों थे (एक नारी व्रतरत सब) स्त्रियाँ भी पतिव्रता होकर पति की मन, वचन व काय से सेवा करती थीं।

उस समय प्राकृतिक वातावरण अत्यन्त मनोरम था। नदियां, नाले, वाबड़ियां, कुएं आदि स्वच्छ जल से भरे रहते थे। नगरों के चारों ओर विशाल बाग थे जिनमें विविध प्रकार के फल प्राप्त थे। नगरों के महलों के आसपास वाटिकाएं थी जो पुष्पों से लदी रहती थीं। राम के राज्य में पशु-पक्षी भी शत्रुता छोड़ कर रहते थे। वस्तुतः उस समय प्राकृतिक सम द्धि थी–

"खग म ग सहज वयरू बिसराई।
सबहि परस्पर प्रीति बढ़ाई।।"

राजा के पुण्यात्मा होने से न कभी अकाल पड़ता था और न किसी की अल्प म त्यु होती थी। इस प्रकार प्राचीन काल में राज्य व्यवस्था बहुत सुन्दर होने के कारण धर्म की विजय व अधर्म का विनाश होने के कारण प्रमुख दैहिक, वैविक व भौतिक व्याधियों से रहित थे। सभी अपने-अपने कर्तव्य का पालन करते थे। चाहे कितनी भी श्रीसम्पन्नता हो, तो भी सभी परिश्रमी थे। जब राजनीतिक स्थिति अच्छी हो, राजा प्रजानुर जन के लिए तत्पर रहे तो स्वाभाविक है वहाँ के आचार-विचार, रहन-सहन, कार्य-व्यापार उत्तम कोटि के होते हैं। प थ्वी पर ही मानो स्वर्ग दिखाई पड़ता है।

अध्याय 18
तुलसीदास : यथार्थ बोध

तुलसी काव्य में चित्रित यथार्थ-बोध पर प्रकाश डालिए।

काव्य में यथार्थ बोध से तात्पर्य युगीन परिवेश व सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति से है, तुलसीदास के काव्य में तत्कालीन समाज के वर्ग-वैषम्य, आर्थिक विषमता, धार्मिक पाखंड आदि का स्पष्ट चित्रण हुआ है। तुलसीदास-युगीन समाज में साधारण जनता अन्याय, अत्याचार व शोषण का शिकार थी। शासक वर्ग भोग विलास में लीन था, उसके कर्मचारी जनता को लूटते थे और राजकीय खजाने के साथ-साथ अपनी जेबें भी भरते थे। धर्म के नाम पर पाखंडी पाण्डे जनता को उल्लू बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते थे। तुलसी-काव्य में इन सभी विषमताओं, अत्याचार, कुरीतियों आदि का चित्रण हुआ है क्योंकि तुलसीदास न केवल सहृदय कवि थे बल्कि वे ऐसी दीन-हीन प्रजा के मध्य पलकर बड़े हुए थे। फलतः उन्होंने इस सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक संस्कृति आदि विषमताओं को खुली आँखों से देखा व समझा था। तुलसीदास के यथार्थ बोध को मुख्यतः निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है–

1. सामाजिक यथार्थ-बोध
2. राजनीतिक यथार्थ-बोध
3. धार्मिक यथार्थ-बोध
4. आर्थिक यथार्थ-बोध
5. सांस्कृतिक यथार्थ-बोध

1. सामाजिक यथार्थ-बोध–तुलसी युग में समाज दो वर्गों में बंटा हुआ था-शासक वर्ग व शोषित वर्ग। शासक वर्ग में बादशाह, राजा, अमीर, सूबेदार आदि आते थे, जबकि शोषित वर्ग में किसान, मजदूर, छोटे व्यापारी आदि आते थे। एक ओर तो यह शासक वर्ग ऊँचे, विशाल महलों में रहता था जहाँ ऐश्वर्य, सुख-साधन, वैभव आदि का प्रधान्य था तो दूसरी ओर शोषित वर्ग झोपड़ियों में रहता था जहाँ पर घोर दरिद्रता का साम्राज्य था। तुलसीदास शासक वर्ग के सफेद पत्थरों से बने ऊँचे महलों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

"धवल धाम मनि पुरट, सुघटित नाना भांति।
सिय निवास सुन्दर सदन, सोभा किमि कहि जाती।।"

गाँवों में रहने वाले निर्धन किसानों के सिर पर फूस का छप्पर ही होता था क्योंकि उनकी उपज के आधा भाग तो शासकों की भेंट चढ़ जाता था। इसलिए तुलसीदास इन निर्धन किसानों के छप्परों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं–

"ऐहि पापिनिह बूझिका परेऊ। छाइ भवन पर पावुक घरेऊ।

राजाओं, बादशाहों की विलासिता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि वे अपने कार्यों कर्तव्यों से विमुख होकर केवल भोग-विलास में डूबे रहते थे। उनके इसी भोग-विलास के कारण हिन्दू समाज में नारियों को पर्दा प्रथा को अपनाना पड़ा, सती प्रथा, बाल-विवाह जैसे कुरीतियों ने जन्म लिया। तुलसीदास युग में नारी केवल भोग्या बन चुकी थी। जहाँगीर ने नूरजहाँ के पति का कत्ल

इसलिए करवाया क्योंकि वह नूरजहाँ को पसन्द करता था। अतः उसने अपनी वासना की पूर्ति के लिए एक स्त्री को पहले विधवा किया और फिर उसे अपने हरम में ले आया। तुलसीदास ने देखा था कि समाज में नारी को कोई सम्मान न प्राप्त था। इसलिए वे तत्कालीन युग की विलासिता का वर्णन करते हुए कहते हैं–

"नहिं मानता कोउ अनुजा तनुजा।"

जब बादशाह, राजाअें, की विलासिता में यह दशा थी, तब समाज के अन्य वर्गों में ऐसी प्रव त्ति का पाया जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि जैसा राजा वैसी प्रजा। विलासिता का वातावरण देशभर में व्याप्त था। तुलसीदास ने समाज में नारी की दुर्गति देखकर कहा है कि वह पुरूष के हाथ की कठपुतली थी और उसे मदारी के बन्दर की भांति दूसरों के संकेतों पर नाचना पड़ता था–

"नारि बिबर नर सकल गोसाई। नाचहिं नट मरकट की नाई।।"

इसी प्रकार परिवार में नारी की दुर्दशा का वर्णन करते हुए तुलसी दास कहते हैं–

"सुत मानहिं मातु पिता तबलौं। अबला नव दीख नहीं जब लौ।।
ससुरारि पियारि लगि जब तें। रिपु रूप कुटुंब भये तब तें।।"

लोगों में चारित्रिक पतन हो रहा था क्योंकि उनके शासक स्वयं चरित्रहीन पतित चरित्र के स्वामी थे। तुलसीदास तत्कालीन समाज के इस चारित्रिक पतन की ओर संकेत करते हुए कहते हैं–

"कुलवंति निकरहिं नारि सती। ग ह आनहिं चेरि निबेरी गति।"

यदि समाज में शोषण हो, अत्याचार हो, उच्च वर्ग केवल भोग विलास को ही अपना कर्तव्य और जीवन का लक्ष्य समझें तो निश्चय ही ऐसी दशा में पारिवारिक सम्बंधों, परस्पर व्यवहार आदि पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि निर्धनता सभी दुखों, कष्टों का मूल कारण है। तुलसी युग में भी साधारण जनता निर्धनता से ग्रस्त थी फलतः पारिवारिक क्लेश, पुत्रों द्वारा माता-पिता के प्रति कटु व्यवहार आदि घटनाएँ एक साधारण सी बात थी। तुलसीदास ने तत्कालीन युग में संतान द्वारा अपने माता-पिता के प्रति उपेक्षित व्यवहार के संबंध में लिखा है–

"फोरहिं सिल लोढ़ा सदन, लागे अदुक पहार।
कामर कूर कपूत कलि, घर घर सहस हार।।"

तुलसी-युग में समाज वर्ण व्यवस्था पर आधारित था। परन्तु यह व्यवस्था अब उतनी शुद्ध व व्यावहारिक नहीं रह गई थी। पहले जहाँ वर्ण-व्यवस्था धर्म पर आधारित थी, वही अब यह जन्मना हो गई थी। उच्च वर्ग में ब्राह्मण शेष वर्गों को अपने से छोटा मानकर हेय द ष्टि से देखते थे परन्तु क्षत्रिय व वैश्य वर्गों के साथ तनिक उचित व्यवहार करते हुए शूद्रों के साथ अमानवीय व पशुवत व्यवहार करते थे। शूद्रों को समाज में कोई स्थान प्राप्त न था। किसी पर्व, उत्सव आदि के आयोजन के अवसर पर शूद्रों को अलग से बैठाया जाता था ताकि वे उच्च वर्ग के लोगों को स्पर्श न कर दें। इस प्रकार समाज में छुआ-छूत पर आधारित भेदभाव का प्रचलन था। तुलसीदास ने इस दशा का चित्रण करते हुए लिखा है–

"खग गनिका गज व्याधि पांति, जहँ तहँ हौं हूं बैठारौं,
अब केहि लाज कृपा निधान, परसत पनवारी पारी।"

तुलसीदास ने अपने काव्य में इस बात का बार-बार उल्लेख किया है कि तत्कालीन समाज में लूट-खसोट, अन्याय, अत्याचार आदि का बोल-बाला था। काशी मं जब महामारी फैली, तब भी उन्होंने उसका एकमात्र मूल कारण वहाँ के निवासियों का पाप माना है। वे कहते है कि जो मनुष्य दूसरों को रास्ते में मारकर उनका धन लूटते हैं, ब्राह्मणों की हत्या करके और उन्हें पीड़ा

पहुंचाकर उनका धन छीन लेते है, जो अशुभ कर्मों से धन कमाते हैं, भगवान शंकर के क्रोध से वह पाप का धन उनके हृदयों को जलाकर राख कर देगा। वह कहते हैं कि काशी में जितनी भी पापी हुए हैं वे अपने कर्मों के फल पाकर ही गए हैं। वे बार-बार लोगों को सचेत करते हुए कहते हैं कि पाप का धन कभी फलीभूत नहीं होता हैं। उनके इस आह्वान में तत्कालीन समाज का यथार्थ-बोध होता है—

"मारग मारि महीसुर मारि, कुमारग कोटिक कै धन लीयो।
संकर कोप सो पाप को दाम, परिच्छित जाहिगो जारि कै हीयो।।
कासी में कंटक जेते भये ते गें पाइ अधाई कैं आपनी कीयो।
आजु कि कालि वरो कि नरों जड़ जाहिगे चाहि दिवारी दी दीयो।।"

तुलसीदास ने अपने युग में फैली महामारी के प्रभाव को भी यथार्थ रूप में चित्रित किया है। महामारी के प्रकोप के कारण काशी नगरी के नर-रूपी जलचर महामारी रूपी माजा (जलचरों का रोग) के कारण अत्यंत व्याकुल हो गए हैं। कुछ तो जल में उछलते है, कभी ऊपर तैरते है, कभी हा-हाकार करते है और अन्त में मर जाते हैं। कुछ नर-नारी व्याकुल होकर काशी छोड़कर भाग रहे हैं। ऐसी दुर्दशा में भी यहाँ के राजा प्रजा की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं। जिसके कारण यहाँ पर लोग एक-दूसरे को लूट-खसोट रहे हैं; अन्याय बढ़ रहा है—

"संकर-सहस सर नरनारि बारिचर,
विकल सकल महामारी माजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरिजात,
भभरि भागत जल-थल मीचुगई हैं।
देव न दयाल, महिपालन कृपा लचित,
बारानसि बाढ़ति अनीति नित नई हैं।
पाहि रघुराज। पाहि कपिराज रामदूत,
समूह की बिगरि तुही सुधारि लई हैं।"

समाज में अधिकांश जातियाँ दमित व शोषित थीं। प्रत्येक जाति में स्वाभिमान नाममात्र के लिए भी शेष न बचा था। किसानों, मजदूरों, छोटे व्यापारियों की परिश्रम की कमाई को कर, दण्ड आदि के रूप में लूटा जाता था। फलतः ऐसी दशा में निर्धन किसानों, मजदूरों आदि के समक्ष परिश्रम करने के पश्चात भी भूखे मरने की तुलना में भिखारी बनाना अधिक सरल व सहज कार्य था। तुलसी युग में भिखारियों, मांग कर खाने वालों की संख्या लाखों में थी। फलतः ऐसी लाखों भिखारियों का भार भी समाज के कमाऊ व परिश्रम वर्ग पर ही पड़ा क्योंकि यह वर्ग ही अधिक धर्म-भीरू था। तुलसीदास ने इस यथार्थ का चित्रण करते हुए कहा है—

"नहिं तोष विचार न सीतलता।
सब जाति कुजाति भर माँगता।।"

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि बादशाह अकबर ने हष्ट-पुष्ट भिखारियों को भीख मांगने से रोकने का हुक्म जारी किया था।

2. राजनीतिक यथार्थ-बोध—तुलसीदास के युग में राजतन्त्र था। अधिकांश राजाओं का मुख्य उद्देश्य अपने खजाने को भरने, अपने वैभवशाली महलों में सुख-सुविधा जुटाने और अपने

राज्य की रक्षा करने तथा दूसरों के राज्य को हड़पने के लिए सेना का संगठन करना था। अपने राज्य में जनसाधारण के जीवन के लिए अवश्य मूलभूत सुविधाएँ प्रदान करने, कृषि क्षेत्र में सुधार करने आदि जैसे कार्यों में इन राजाओं की कोई रूचि न थी। इसका मुख्य कारण यह था कि अधिकांश शासक अशिक्षित, अयोग्य थे। स्वार्थ-सिद्धि उनका प्रथम लक्ष्य था। ऐसे शासक राजनीति में नितांत अयोग्य सिद्ध हुए। अपवाद स्वरूप कुछ शासकों ने साधारण जनता के दुखों, कष्टों आदि को समझकर उनकी स्थिति को सुधारने का प्रयास किया। परन्तु अधिकांश शासक भोगविलासी, कामी, अपनी सत्ता के मद में चूर, सुरा और सुन्दरियों के दास थे। राजनीति के चार प्रमुख हथकंड़ों—साम, दाम, दण्ड, भेद में से केवल 'दण्ड' का ही प्रयोग किया जाता था।

"गोड़ गंवार न पाल कलि यवन महा महिपाल।
'साम न दाम न भेद कलि दंड कराल।।"

तुलसी-युग में अधिकांश शासन मुस्लिम समुदाय से थे। उनका प्रमुख उद्देश्य इस्लाम का प्रसार करना व यहाँ की जनता का यथासम्भव मनोबल तोड़ना था ताकि वे इन शासकों के प्रत्येक उचित-अनुचित आदेश का पालन करें। फलतः उन्होंने जनता को मनमाने ढंग से प्रताड़ित किया, उनका शोषण किया, मूर्तियों व मन्दिरों को नष्ट किया। तुलसी दास ने अपनी काव्य में ऐसे बुरे राजाओं, अत्याचारी राजाओं के सम्बन्ध में कहा है—

"कंटक करि करिपत गिरि, साखा सहज खजूरि।
भरहिं कुन प करिकरि कुनय, सो कुचालि भवभूरि।।"

जिन राजाओं, सूबेदारों, शासकों का उद्देश्य ही प्रजा को लूटना रहा हो, वहाँ पर सुराज की कल्पना कैसे की जा सकती है। यह सही है कि अपराधियों को दण्ड दिया जाता था, परन्तु केवल वही अपराधी दण्ड पाते थे जो जनता का शोषण केवल अपने लाभ के लिए करते थे। यदि शोषण से प्राप्त धन का कुछ अंश राजकोष तक पहुँचता था, तब वह शोषण अपराध नहीं माना जाता था शासकों द्वारा नियुक्त सूबेदार जमींदारों आदि का कार्य यही तो था कि जनता पर लगे करों को वसूलो और राजकोष तक पहुँचाओ। यदि कोई सूबेदार या जमींदार केवल अपने हित में उस धन का प्रयोग कर लेता था तो वह अपराधी घोषित कर दिया जाता था। अतः यह कहा जा सकता है कि तुलसी युग में सुराज नहीं बल्कि कुराज था। तुलसीदास ने इसी कुराज की ओर संकेत करते हुए कहा हैं—

"चढ़े बधूरे चंग ज्यों, म्यान ज्यों सोक समाज।
करम धरम सुख संपदा, त्यों जानि बे कुराज।।"

यदि शासक वर्ग ही लूट-खसोट की नीति पर चलता है तो निश्चय ही उसके कर्मचारी भी इस नीति का पालन करेगें। फलतः साधारण जनता दोहरी मार झेलती है। एक ओर तो राजाज्ञा द्वारा निर्धारित करों का भुगतान तो दूसरी ओर अत्याचारी कर्मचारी द्वारा किया जाने वाला शोषण।

तुलसीदास ने तत्कालीन, युग में सम्राटों, राजाओं आदि के अत्याचारी कर्मचारियों के सम्बन्ध में लिखा है—

"प्रभु ते प्रभुगन दुखद लखि प्रजाहिं संभारे राउ।
करते होत कृपान को कठिन घोर धन धाउ।।"

अब यदि शासक अशिक्षित, अयोग्य हो, उसके कर्मचारी अत्याचारी हों तो निश्चय ही प्रजा में शांति नहीं रह सकती। तुलसी-युग में प्रजा भी अपने शासकों व राजकर्मचारियों के अनुरूप बनती

जा रही थी। वैसे भी कहावत है—यथा राजा, तथा प्रजा। समाज में असामाजिक तत्वों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था, पथिकों को हत्या करके उनका धन लूट लिया जाता था। लोग परिश्रम करने के स्थान पर छलकपट पर ज्यादा विश्वास करने लगे थे। तुलसीदास ने प्रजा की इस मनोव त्ति को भी अपने काव्य में चित्रित किया है—

"काल बिलोकन ईस रूख, भानु फाल अनुहारि।
खाहिं राउ राजहिं प्रजा, बुध व्यवहारिहिं बिचारी।।"

तुलसीदास ने शासक, राजकीय कर्मचारी वर्ग व प्रजा तीनों के दोषों का वर्णन करते हुए कहा है कि समाज ने वेद और पुराणों में प्रस्तुत श्रेष्ठ मार्ग को छोड़कर कुमार्ग का सेवन कर लिया है। उन्होंने अनेक प्रकार के अशुभ आचरण अपना लिए हैं। इतना कठोर अर्थात् दुखदायक समय आ गया है कि राजा किसी प्रकार की दया नहीं करता, राज्य के अधिकारी भी बहुत अधिक छल-कपट करने लगे हैं—

"वेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचालि चली है।
काल कराल नुपाल कृपाल न, राज समाज बड़ोई छली है।"

3. धार्मिक यथार्थ-बोध—तुलसी युग में देव स्थानों एवं तीर्थों की दशा चिन्तनीय थी। ये धर्म स्थल अब उपासना व भक्ति के स्थल नहीं रह गए थे बल्कि वे अनेक प्रकार के छद्म व्यवहार, अनाचार आदि के अड्डे बनते जा रहे थे। मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं की तीर्थ-यात्रा पर 'जजिया कर' लगा रखा था। इन तीर्थ स्थानों, मन्दिरों का संचालन करने वाले पंडे, पुरोहित आदि यहाँ पर आने वाली भोली-भाली जनता को लूटते थे। धर्म के नाम पर उनसे अनेक कर्म-काण्ड करवाते थे जिसके पीछे मुख्य उद्देश्य उनका धन प्राप्त करना था। तुलसीदास ने ऐसे मन्दिरों, तीर्थ-स्थलों के सम्बन्ध में कहा है—

"सुर सदननि तीरथ पुरिन, निपट कुथालि कुसाज।
मनहु गवारो मारि कलि, राजत सहित समाज।।"

तुलसी युगीन समाज में चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र का धर्म नष्ट होता जा रहा था। समाज में चारों आश्रमों-ब्रह्मचर्य, ग हस्थ, वानप्रस्थ, व सन्यास ने अपनी व्यवस्था छोड़ दी थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म कर्तव्य आदि से विमुख होता जा रहा था। मनुष्य की काम-वासना में सद्कर्म, उपासना, ज्ञान आदि को नष्टकर दिया था। अधिकांश साधु केवल वचन मात्र से वैराग्य धारण किए हुए थे और उसी के अनुरूप वेष धारण करके लोगों को ठगते थे। गोरखनाथ की योग-साधना के प्रभाव से मनुष्य में भक्तिभावना का लोप हो चुका था। वेद, शास्त्रों में वर्णित उपदेश या आदेश सरलता से ही छल कपट से भर गए थे। ऐसे पाखंड़ी साधुओं ने वेद, शास्त्रों के उपदेशों को अपनी इच्छानुसार व्याख्या करके जनता को दिग्भ्रमित कर दिया था। तुलसीदास ने तत्कालीन समाज की इस वास्तविक दशा का वर्णन भी किया है—

"बरन धरम गयो आश्रम निवास तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनो परो-सो है।
करम उपासना कुवासना विनास्यो ग्यानु,
बचन विराग वेष जगत हरो-है सो है।
गोरख जगायो जोग भगति भगयो लोगु।
निगम-नियोग तें सो केलि ही छरो-सो है।"

धर्म में पाखंड किस स्तर पर समा चुका था, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है। कि जो साधु सिर पर विशाल जटा धारण कर लेता था, नाखूनों से विकट वेश बनाये रखता था, उसे समाज में उतना ही बड़ा भारी तपस्वी समझ लिया जाता था। तुलसीदास ने इस यथार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा हैं–

"जाके नख अरु जटा बिसाला।
सोई तापस प्रसिद्ध कलि काला।"

तुलसीदास ने कलियुग के माध्यम से तत्कालीन युग के पाखंड़ी, साधुओं, जोगियों, सिद्धों आदि की वेश-भूषा, खान-पान आदि की ओर संकेत किया है।

"असुभ वेष भूषण धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूजित कलिजुग माहि।।"

तत्कालीन समाज में विविध पन्थों का प्रसार असामान्य वेग से हो रहा था, वेद-शास्त्रों के निंदकों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी, हेतु वाद का बोल-बाला था, अधिकांश मतावलम्बी अपने मत की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए वाद-विवाद के लिए तत्पर रहते थे–

"दंभिन निज मत कलपि, करि प्रगट किये बहुपंथ।
× × × × × × ×
वाद-विवाद विषाद बढ़ाई के छाती पराई औ आपनी जारै।
चारिहु को छहुको नक्को दस आठ को पाठ कुकाछ ज्यों फाटे।"

तुलसी-युग में वैदिक वर्णश्रम धर्म का लोप हो रहा था, शास्त्रानुकूल आचरण के स्थान पर स्वच्छन्दतावाद को बढ़ावा मिल रहा था। इसलिए वे कहते हैं–

"बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्हले कुछ घाटि।
जानई ब्रहत सो विप्रवर, आस्ति दे हा वहि डाटि।।"

तुलसीदास ने केवल हिन्दू-समाज के धार्मिक आडम्बरों, पाखंड़ों का ही वर्णन नहीं किया है बल्कि मुस्लिम-समुदाय में प्रचलित धार्मिक अन्धविश्वास का भी विरोध किया है। कामना की पूर्ति के लिए गाज़ियों और पीरों की दरगाहों में लोग नाक रगड़ते फिरते थे, तुलसीदास ने ऐसे अन्धविश्वास को भी अपने काव्य में चित्रित किया है–

"लही आँख कब आँधरे, बांझ पूत कब ल्याय।
जब कोढ़ी काया लही, जग बह राइचं जाय।।"

4. आर्थिक यथार्थ बोध–जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि तत्कालीन युग में शासक वर्ग व उसका कर्मचारी वर्ग प्रजा का शोषण करता था। इस शोषण का परिणाम यह निकला कि समाज में धन-प्रवाह की श्रंखला टूट गई क्योंकि जब सारा धन एक जगह पर होने लगा था। छोटे व्यापारी अपनी वस्तुओं को छुपाकर रखते थे ताकि राजकर्मचारी उस वस्तु को देखकर उठा न ले जाऐं, किसानों को अपनी फसल का आधा भाग लगान के रूप में देना पड़ता था, श्रमिकों को उनकी मेहनत का पूरा पैसा नहीं मिलता था फलतः चारों ओर दरिद्रता, भूख आदि का साम्राज्य था। तुलसीदास ने तत्कालीन युग की आर्थिक दशा का वर्णन करते हुए कहा है–

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहाँ जाय क्या करी ?"

तत्कालीन शासकों की कर-व्यवस्था अत्यंत जटिल थी। किसानों को अपनी फसल का अधिकांश भागकर के रूप में देना पड़ता था, पशुओं को चराने के लिए थोड़ी-सी भी जगह न छोड़ी जाती थी औ जहाँ चरागाह थे वहाँ पर पशुओं को चराने के बदले कर देना पड़ता था। तुलसीदास ने तत्कालीन कर-व्यवस्था को गौड़ की गाय के बिम्ब के माध्यम से प्रस्तुत किया है—

"घराने धेनु चरितु चरत प्रजा सुबच्च पेन्हाई।
हाथ कछु नहिं लागि हैं किएं गौड की गाय।।"

तुलसी युग में आर्थिक-दशा अनिश्चित रहती थी। राजा के कृपा पत्रों, धनिकों आदि की स्थिति थोड़े ही समय में बदल जाती थी क्योंकि राजाओं की इच्छा विरूद्ध आचरण करने पर सबसे पहले उसकी धन-सम्पदा को छीन लिया जाता था। अतः राजा की कुद ष्टि अथवा प्रकोप से धनिक शीघ्र ही निर्धन बन जाया करते थे—

"सुसमय दिन द्वै निसान सबके द्वार बाजै।
कुसमय दसरथ के दानि तैं गरीब निवाजैं।।

आलोच्य युग में जनसाधारण को भरपेट भोजन नहीं मिल पाता था। भले ही राजाओं, सम्राटों के यहाँ के अन्न भंडार रहे हों परन्तु साधारण प्रजा निर्धन ही थी। साधारण जनता की निर्धनता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि भिखारी को मुट्ठी भर अनाज भी मिल जाता था तो उसकी दशा अत्यंत मुदित हो जाती थी। इसका वर्णन तुलसीदास ने इस प्रकार किया है—

"तुलसी विलोकि कपि भालु किलकत।
ललकत लखि ज्यों पातरी सुनाज की।"

अकाल के समय में जनता अन्न के दाने-दाने के लिए तरस गई थी, तुलसीदास ने इस स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है—

"यह निसिचर दुकाल सम अहई। कनिकुल देस पन अब चहई।"

तत्कालीन युग में विविध प्रकार के व्यवसाय, आजीविका के साधन होने पर भी सामान्य जन बड़ी कठिनता से निर्वाह करता था। पेट की क्षुधा बुझाने के लिए लोग अपनी संतान तक को बेच देते थे—

"किसबी किसान-कुल बनिक भिखारी भाट,
चाकर चपल नट चोर चार चेटकी।
पेट को पढ़त गुन गढ़त चढ़त गिरि,
अटत गहन-गन अहन अखेट की।
ऊँचे नीचे करम धरम-अधरम करि,
पेट ही की पचत, बेचत, बेटा-बेट की।"

चूँकि तत्कालीन युग में भूमि पर विजेता का अधिकार हो जाता था और किसानों को नए राजा की आज्ञानुसार लगान देना पड़ता था, इसलिए तुलसीदास ने सम्पत्ति अपहरण करने की पूर्वोक्त प्रथा को इंगित करके राजा को भूमिचोर की संज्ञा दी है—

"वेद धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भये,
साधु सीद्यमान, जान रीति पाप पीन की।"

5. सांस्कृतिक यथार्थ बोध—तुलसीदास ने अपने काव्य में भारतीय संस्कृति में हो रहे परिवर्तन का भी चित्रण किया है। भारतीय संस्कृति में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य समाज का उत्थान

करना था। परन्तु न केवल तुलसी युग में बल्कि आज भी शिक्षा का उद्देश्य अपना पेट भरना बन गया है। तुलसीदास ने इस यथार्थ को उद्‌घाटित करते हुए कहा है–

"मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं।
उदर भरइ सोइ पाठ पढ़ावहिं।।"

इस प्रकार ब्राह्मण अपने जिस कर्तव्य और सात्विकता के कारण साक्षात भगवद्रूप माने जाते थे। वे लुप्त प्राय हो गए थे। उनकी बुद्धि नाना प्रकार के राग-द्वेष से पंकिल हो गई थी। वे विद्या बेचकर जीविकोपार्जन किया करते थे–

"द्विज श्र ति-बेचफ भूप प्रजासन।
कोउ नहि मान निगम-अनुशासन।।"

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि तुलसीदास ने अपने समय का यथार्थ वर्णन किया है। जिस प्रकार का समाज तत्कालीन समय में था ज्यों के त्यों सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक वातावरण की यथार्थ अभिव्यक्ति तुलसी के काव्य में मिलती हैं।

खण्ड (ख)

व्याख्या

1. **चौ.- लोक तोक प्रति भिन्न विधाता। भिन्न विष्नु सिवं मनु दिसित्रता।।**
नर गंधर्व भूत बेताला। किंनर निसिचर पसु खग ब्याला।।
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती।।
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनइ आना।।
अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनस अनेक अनूपा।।
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी।।
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। विविध रूप भरतादिक भ्राता।।
प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा। देखउँ बालविनोद अपारा।।
दो.- भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति विचित्र हरिजान।
अयनित भुवन देखत फिरउँ प्रभु राम न देखउँ आन।।
सोइ सिसुपन सोई सोभा सोइ कृपाल रघुवीर।
भुवन भुवन देखत फिरउँ प्रेरित मोह समीर।।

शब्दार्थ— लोक-लोक प्रति = प्रत्येक लोक में। **भिन्न** = अलग-अलग। **विधाता** = ब्रह्मा। **दिसित्राता** = दिशाओं के रक्षक, दिग्पाल। **निसिचर** = राक्षस। **पसु-खग** = पशु-पक्षी। **ब्याला** = सर्प। **दनुज** = असुर। **नाना जाती** = अनेक जाति। **तहँ** = वहाँ। **आनहि भाँति** = कुछ अन्य रूप के। **यहि** = प थ्वी। **सरि** = नदी। **सर** = तालाब। **गिरि** = पर्वत। **नाना** = अनेक। **प्रप च** = स ष्टि। **आनइ आना** = अन्य-अन्य प्रकार की। **अंडकोस** = ब्रह्माण्ड। **जिनस** = प्रकार। **अनूपा** = विचित्र। **अवधपुरी** = अयोध्या। **निनारी** = न्यारी, अलग। **सरजू** = सरयू नदी। **सुन ताता** = हे तात ! सुनो। **विविध** = अनेक। **बाल-विनोद** = बाल-लीलाएँ। **अपारा** = अद्वितीय। **अति विचित्र** = अत्यन्त अनोखा। **हरि जान** = राम को ज्ञात किया, देखा। **अगनित** = असंख्य। **आन** = अन्य, अलग। **सोइ** = वही। **सिसुपन** = बालकपन। **सोभा** = सौन्दर्य। **कृपाल** = कृपा करने वाले, दयालु। **समीर** = वायु।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य भाग हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन सगुण भक्तिधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित 'रामचरित मानस' के उत्तरकाण्ड से अवतरित है।

प्रस्तुत काव्यखण्ड में उस समय का वर्णन किया गया है, जिस समय काकभुशुण्डि छोटे अकार वाले कौए के रूप में बालक राम के साथ क्रीड़ाएँ करके प्रसन्न हो रहा था और राम के रहस्य को समझ नहीं रहा था। राम उसे देखकर बार-बार हँसते हैं। काकभुशुण्डि उसकी विचित्र हँसी को नहीं समझ पाता है। वह उनके मुख में प्रवेश करके पेट में पहुँच जाता है। जहाँ पर वह अद्‌भुत स ष्टि का दर्शन करता है जिसका वर्णन करते हुए काकभुशुण्डि कहता है—

व्याख्या- पक्षीराज गरुड़ को संबोधित करके काकभुशुण्डि कहता है — हे गरुड़ ! मैंने वहाँ पर प्रत्येक लोक के अलग-अलग ब्रह्म के दर्शन किए। वहाँ प्रत्येक लोक के अलग.अलग विष्णु, शिव, मनु, दिशाओं की रक्षा करने वाले दिक्‌पाल देखे तथा प्रत्येक लोक में मानव, भूत, गंधर्व, बैताल, किन्नर, राक्षस पशु.पक्षी एवं सर्प देखे थे। वहाँ पर विभिन्न जातियों के देवगन व

दैत्यगण थे। वहाँ पर सभी जीवन कुछ अलग ही रूप में मुझे दिखाई दिए। वहाँ विभिन्न प्रकार के पर्वत, नदियाँ, समुद्र, तालाब, पर्वत आदि थे। अर्थात् वहाँ ऐसा लगता था कि विधाता सर्वस्व ही नया रचा था इसलिए प्रत्येक वस्तु मुझे अलग.अलग दिखाई दे रही थी। इस प्रकार के सभी तत्वों की रचना अलग.अलग थी। वहाँ पर प्रत्येक ब्रह्माण्ड की रचना का अलग.अलग रूप था, जो विचित्र रूप में मुझे दिखाई पड़ा था। वहाँ प्रत्येक लोक में अलग.अलग अयोध्या नगरी विद्यमान थी। सरयू नदी भी अलग.अलग थी और वहाँ के नर.नारी भी अलग प्रकार के थे। जिनमें राजा दशरथ, माता कौशल्या भी अलग.अलग थीं। हे तात ! सुनो, वहाँ पर भरत आदि भाई भी अनेक प्रकार के रूपों को धारण किए हुए थे। मैंने प्रत्येक ब्रह्माण्ड में राम के अवतार को भी अलग.अलग रूप में देखा था तथा उनकी बाल.लीलाओं को भी देखा था जो कि अद्वितीय एवं अनोखी थीं।

गरुड़ जी से काकभुशुण्डि कहते हैं - हे हरिवाहन गरुड़, मैं वहाँ अनेक ब्रह्माण्डों में घूमा जहाँ मुझे अन्य सभी चीजें अलग.अलग एवं निराली दिखाई दीं। किंतु इस तरह से अनेक ब्रह्माण्ड में घूमकर भी श्रीराम मुझे सर्वत्र एक ही रूप में दिखलाई पड़े, उनका कोई अन्य रूप मुझे कहीं भी दिखाई नहीं पड़ा। वे सर्वत्र एक ही रूप में दिखाई दिए। मैंने श्रीराम के रूप को जहाँ भी देखा वहीं उनके प्रत्येक रूप में बालपन रूप ही था, वही सौंदर्य था और उसी एक ही रूप में कृपालु राम थे। इस प्रकार मैं मोह.रूपी पवन से प्रेरित होकर निरन्तर प्रत्येक लोक में विचरण करता रहा। ऐसा करने पर भी मुझे राम का रूप एक ही दिखाई दिया।

काव्य-सौंदर्य -

1. श्रीराम का प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक-सा पाया जाना इस बात की ओर संकेत करता है कि वे माया के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हैं, माया का उन पर कोई प्रभाव नहीं है।
2. राम के निर्गुण रूप का चित्रण प्रस्तुत किया गया है, वे सर्वव्यापक हैं।
3. काकभुशुण्डि की राम के प्रति भक्ति भावना प्रदर्शित हुई है।
4. मोह-समीर में रूपक, लोक-लोक, प्रति-प्रति, भिन्न-भिन्न, में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
5. प्रथम आठ पंक्तियाँ चौपाई छंद युक्त हैं।
6. अंतिम चार पंक्तियाँ दोहा छंद युक्त हैं।
7. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग है।
8. राम का अलौकिक एवं दिव्य रूप अंकित किया गया है।

2. चौ.- भ्रमत मोहि ब्रह्माण्ड अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका।।
फिरत फिरत निज आश्रम आयउँ। तहँ पुनि हहि कछु काल गवाँयउँ।।
निज प्रभु जन्म अवध सुनि पायउँ। निर्भर प्रेम हरषि उठि धायउँ।
देखऊँ जन्म महोत्सव जाई। जेहि विधि प्रथम कहा मैं गाई।।
राम उदर देखउँ जग नाना। देखत बनइ न जाइ बखाना।।
तहँ पुनि देखउँ राम सुजाना। माया पति कृपाल भगवाना।।
करउँ विचार बहोरि बहोरि। मोह कलिल व्यापित मति मोरी।।
उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउँ भ्रमित मन मोह विसेषा।।
दो.– देखि कृपाउ विकल मोहि विहँसे तब रघुबीर।
विहँसतहीं मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर।।
सोई लरिकाई मो सन करन लगे पुनि राम।
कोटि भाँति समुझावउँ मनु न लहइ विश्राम।।

शब्दार्थ— भ्रमत = भ्रमण करते हुए, भटकते-भटकते। **मोहि** = मुझे। **मनहुँ** = मानो। **सत एका** = एक सौ। **कल्प** = ब्रह्मा का एक दिन या एक हजार युग अथवा स ष्टि की अवधि का नाम। **फिरत-फिरत** = इधर-उधर भ्रमण करता हुआ। **तहँ** = वहाँ। **पुनि** = फिर। **निज प्रभु** = अपने प्रभु राम का। **अवध** = अयोध्या। **सुनि पायउँ** = सुना। **निर्भर प्रेम** = प्रेम से भर कर। **उठि धायउँ** = उठकर दौड़ा। **विधि** = प्रकार। **जेहि** = जिस। **प्रथम कहा** = पहले 'बालकाण्ड' में कहा है। **उदर** = पेट। **नाना** = अनेक। **बखाना** = वर्णन करना। **सुजाना** = ज्ञानवान्। **माया-पति** = माया को वश में रखने वाले, माया के स्वामी। **बहोरि-बहोरि** = बार-बार। **कलिल** = कीचड़। **व्यापित** = फँसी हुई। **मति मोरी** = मेरी बुद्धि। **उभय घरी** = दो घड़ी। **मँह** = में। **भ्रमित** = भ्रम में पड़ गयी। **कृपाल** = दया करने वाले राम। **विकल** = व्याकुल। **विहँसे** = हँसे। **बाहेर आयउँ** = बाहर आ गया। **मति धीर** = धैर्य बुद्धि वाले। **लरिकाई** = बालकपन। **मो सन** = मेरे साथ। **कोटि** = करोड़ों। **मनु** = मन।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्य भाग हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन सगुण काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। इस पद्य में उस समय का वर्णन किया गया है जिस समय काकभुशुण्डि अपने संक्षिप्त कौए रूप में बालक राम के साथ क्रीड़ाएँ करके प्रसन्न हो रहा था। काकभुशुण्डि राम के पेट में प्रवेश करके वहाँ के द श्य (विराट लोक) को देखकर आश्चर्यचकित होता है और कहता है—

व्याख्या— काकभुशुण्डि अपने जन्म जन्मांतरों की कथा सुनाते हुए पक्षीराज गरुड़ से कहते हैं कि मुझे राम के पेट में स्थित अनेक ब्रह्माण्डों में विचरण करते-करते मानो एक सौ कल्प का समय बीत गया अर्थात् बहुत समय हो गया। इस तरह से भ्रमण करता हुआ मैं अपने आश्रय में आया और वहाँ रहकर कुछ समय व्यतीत किया। इसके पश्चात् मैंने अपने प्रभु राम के जन्म के विषय में सुना कि उनका जन्म अयोध्या नगरी में हुआ है। तब मैं प्रेम के वशीभूत होकर, अत्यन्त हर्ष एवं खुशी के साथ अयोध्या के लिए दौड़ पड़ा। वहाँ पहुँचकर मैंने राम का जन्म महोत्सव देखा। उस जन्मोत्सव की शोभा का वर्णन मैंने पहले बालकाण्ड में गा-गाकर किया है। राम के पेट में मैंने अनेक लोक देखे थे जिनको केवल देखा तो जा सकता है, परन्तु वर्णन करना कठिन प्रतीत होता है। वहाँ पर मैंने ज्ञानवान् राम को देखा जो माया का स्वामी, कृपालु एवं भगवान थे। उस समय मैंने अनुभव किया कि मेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ में फँसी हुई है अर्थात् मोह के कारण मेरी बुद्धि कुछ निर्णय ही नहीं कर पा रही थी। ये सभी द श्य मैंने दो घड़ी (थोड़े से समय) में ही देख लिए थे। मेरा मन मोह के वशीभूत था इसलिए मैं भ्रम में पड़ गया था।

जब कृपालु राम ने मेरी ओर देखा कि मैं बड़ा व्याकुल हूँ, उस समय वे हँसने लगे। हे ध ीर बुद्धि गरुड़ ! जैसे ही श्रीराम हँसे तभी मैं उनके मुख से बाहर आ गया। मेरे बाहर आने के बाद वे पुनः मेरे साथ बाल क्रीड़ाएँ करने लगे अर्थात् पुनः वे मुझसे बालसुलभ चेष्टाएँ करने लगे। तब मैंने अपने मन को करोड़ो प्रकार से समझाया। परन्तु इतना होने पर भी मेरे मन को शांति प्राप्त न हो सकी। अर्थात् मेरा मन विचलित एवं व्याकुल ही रहा।

काव्य-सौंदर्य—

1. प्रभु राम की महिमा का गुणगान किया गया है।
2. काकभुशुण्डि ने प्रभु राम के बालपन की लीलाओं का आँखों देखा वर्णन प्रस्तुत किया है।
3. राम के विराट रूप का वर्णन हुआ है।
4. तुलसी की भक्ति भावना राम के प्रति दिखाई पड़ी है।
5. **कल्प—** ब्रह्मा का एक दिन या एक हजार युग अथवा स ष्टि की अवधि का नाम है।

6. **अलंकार–** उत्प्रेक्षा – बीते मनहुँ कल्प सत एका।
   पुनरुक्ति – फिरत-फिरत, बहोरि-बहोरि।
   रूपक – मोह-कलिल।
   विभावना – कोटि भांति ..... विश्राम।
7. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद हैं। जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं।
8. अंतिम पंक्तियों में दोहा छंद है।
9. अवधी भाषा का प्राँजल रूप प्रयुक्त हुआ है।

3. चौ.– देखि चरित यह सो प्रभुताई। तमुझतं देह दसा बिसराई।।
धरनि परेउँ मुख आव न बाता। त्रहि.त्रहि आरत जन त्रता।।
प्रेमाकुल प्रभु मोहि विलोकी। निज माया प्रभुता तब रोकी।।
कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल सकल दुख हरेऊ।।
कीन्ह राम मोहि विगत विमोहा। सेवक सुखद कृपा सन्दोहा।।
प्रभुता प्रथम विचारि विचारी। मन महँ होइ हरष अति भारी।।
भगत वछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति विसेषी।।
सजल नयन पुलकित कर जोरी। कीन्हिउँ बहु विधि विनय बहोरी।।
दो.– सुनि सप्रेम मय बानी देखि दीन निज दास।
वचन सुखद गंभीर म दु बोले रमानिवास।।
काकभुशुण्डि मागु वर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि।।

शब्दार्थ– चरित = आचरण। **प्रभुताई** = प्रभुता, विराट्रूपता। **देह दशा विसराई** = शरीर की सुध भूल गये। **धरनि परेउँ** = प थ्वी पर गिर पड़े। **आव न बाता** = वचन नहीं निकले। **त्राहि** = रक्षा करो। **आरत जन** = दुखी जनों के। **त्राता** = रक्षक। **प्रेमाकुल** = प्रेम से व्याकुल। **विलोकी** = देखा। **कर-सरोज** = हाथ रूपी कमल। **ममसिर धरउँ** = मेरे सिर पर रखा। **हरेऊ** = हरण कर लिया, दूर किया। **विगत विमोह** = मोह रहित। **कृपा-संदोहा** = कृपा के समूह के करने वाले। **मन महँ** = मन में। **भगत बछलता** = भक्त का वात्सल्य (प्रेम)। **मम उर** = मेरे हृदय में। **सजल नयन** = नेत्रों में आँसू। **पुलकित** = रोमांचित। **कर जारी** = हाथ जोड़े। **बहोरी** = बहुत। **मम वानी** = मेरे वचन। **रमा निवास** = राम। **मोहि** = मुझे। **अनिमादिक** = अणिमा आदि। **अपर** = और। **मोच्छ** = मोक्ष। **खानि** = खजाना।

प्रसंग– प्रस्तुत पद्य भाग हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन सगुण काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित उनके प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है।

काकभुशुण्डि राम के बालरूप में रहस्यमयी बाल-लीलाओं को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं, उनकी बुद्धि चकित एवं व्याकुल हो जाती है। वे राम की विचित्रता को समझ नहीं पाते हैं–

व्याख्या– प्रभु राम के विचित्र आचरण एवं उनकी विराट प्रभुता की सत्ता को देखकर भी काकभुशुण्डि समझ नहीं पाते हैं कि उनकी शैशव-लीला कैसी है ? अतः वे अपने शरीर की सुध खो बैठे, अर्थात् स्वयं को भूल गए और पुकारने लगे–हे दुःखीजनों की रक्षा करने वाले भगवान राम ! मेरी रक्षा करो। रक्षा करो। यह कहते हुए वे प थ्वी पर गिर पड़े। उनके मुख से एक भी शब्द

नहीं निकला। इसके पश्चात् जब राम ने मुझे प्रेम से व्याकुल देखा तब अपनी माया के प्रभाव को रोक लिया जिससे मेरी व्याकुलता समाप्त हो गई। तब मैंने भगवान राम के कमल के समान सुंदर एवं कोमल चरणों पर अपने मस्तक को रखकर उनसे क्षमायाचना की। दीनों के सहायक, उनकी रक्षा करने वालो प्रभु श्रीराम ने मेरे समस्त दुःखों को दूर कर दिया। जैसे ही उन्होंने मुझे सुख प्रदान किया वैसे ही मैंने उनकी पूर्व स्म ति अर्थात् जो मैंने उनके पेट में रहकर अनुभव किया था उस सुखद स्म ति को स्मरण करके सुख उठाया। भगवान राम की अपने भक्तों के प्रति भक्त वत्सलता देखकर मेरे हृदय में उनके प्रति अपार प्रेम उत्पन्न हुआ। जिससे मेरी आँखों में खुशी के आँसू भर आए। मेरा शरीर रोमांचित हो उठा। मैंने अपने दोनों हाथ जोड़कर अनेक प्रकार से उनकी विनती की।

काकभुशुण्डि कहते हैं कि मेरी प्रेमभरी वाणी सुनकर और अपने सेवक (दास) को दीन देखकर श्रीपति रामचंद्र जी सबको सुख प्रदान करने वाले गंभीर एवं मधुर स्वर में बोले– हे काकभुशुण्डि ! मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे जो भी चाहो वर माँग लो। जिसमें चाहे अणिमा, आदि सिद्धियों की, ऋद्धियों को तथा सभी सुखों के खजाने मोक्ष को भी माँग लीजिए।

काव्य-सौंदर्य–

1. भगवान राम का अद्‌भुत रूप अंकित किया गया है। ऐसे रूप को देखकर सामान्य जीव भी संशयग्रस्त हो जाते हैं। राम ने एक बार अपनी माता कौशल्या को भी अपने ब्रह्म रूप के दर्शन कराए थे। 'बालकाण्ड' में राम के ब्रह्म रूप को देखकर उससे विमोहित माता कौशल्या की दशा का वर्णन तुलसी ने इस प्रकार किया है–

   ''तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मुँद चरनन सिर नावा।।''

   यहाँ तुलसी ने यह भी स्पष्ट किया है कि माया की शक्ति से जीव को मुक्त कराने का कार्य भगवान राम के हाथ में है।
2. काकभुशुण्डि अपनी पूर्व कहानी सुनाता है जिसमें राम ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया था।
3. भक्ति भावना का वर्णन है।
4. 'देह दशा विसराई' मुहावरे का उचित प्रयोग किया गया है।
5. **अलंकार–** पुनरुक्ति प्रकाश – त्राहि-त्राहि, विचारि-विचारि।
   रूपक – कर-सरोज। सुख-खानि।
6. पद्य भाग अवधी भाषा के प्राँजल रूप से बहुत सुंदर बन गया है।
7. चौपाई छंद प्रथम आठ पंक्तियों में हैं।
8. दोहा छंद अंतिम पंक्तियों में हैं।

4. चौ.- ग्यान विवेक बिरति विग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना।।
आजु देउँ सब संसय नाहीं। माँगु जो तोहि भाव मन माहीं।।
सुन प्रभु वचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ।।
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही।।
भगति हीन गुन तब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे।।
भजन हीन सुख कवने काजा। अस विचारि बोलेउँ खगराजा।।
जौं प्रभु होइ प्रसन्न वर देहू। मो पर करहू कृपा अरु नेहू।।
मन भावत बर माँगउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अन्तरजामी।।
दो.– अविरल भगति विसुद्ध तब श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजज जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव।।

भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुख धाम।।

सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम।।

शब्दार्थ— विरति = वैराग्य। **विज्ञान** = विशेष ज्ञान की धारा। **देउँ** = प्रदान करूँगा। **मनमाही** = मन में। **अनुरागेउँ** = अनुराग हो गया। **लागेउँ** = लगा। **कह देन** = देने को कहा। **सही** = सत्य है। **देन न** = नहीं देने को। **लवन** = नमक। **बिंजन** = व्य जन, खाद्य पदार्थ। **कवने काजा** = किस काम के ? व्यर्थ हैं। **खगराजा** = पक्षियों के राजा ! गरुड़। **वर देहू** = वरदान दें। **अरु** = और। **नेहू** = स्नेह। **मन भावत** = जो मन को अच्छा लगेगा। **उर** = हृदय। **अन्तरजामी** = अन्तरंग की बात के ज्ञाता। **अविरल** = निरन्तर, नित्य। **विशुद्ध** = निष्काम। **श्रुति** = शास्त्र। **गाव** = गाते हैं। **जोगीश** = योगीश्वर। **प्रसाद** = कृपा। **कोउ पाव** = को ही प्राप्त करता है। **कल्पतरु** = कल्प व क्ष, मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला व क्ष। **प्रनत** = नमन करने वाले, शरणागत। **सुख धाम** = सुख के घर। **सोइ** = वह। **निज** = अपनी। **मोहि** = मुझे। **दया करि** = कृपा करके।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्य भाग हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सगुण काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। इसमें बताया गया है कि काकभुशुण्डि के विचारों को सुनकर भगवान राम खुश हो जाते हैं और उसे वर माँगने को कहते हैं। राम ने वरदान में ऋद्धियों, सिद्धियों यहाँ तक मुक्ति तक को भी माँगने के लिए कहा। राम उसे इच्छानुसार वरदान देने के लिए तत्पर हो जाते हैं। साथ ही श्री राम उससे (काकभुशुण्डि) कहते हैं—

व्याख्या— हे काकभुशुण्डि ! 'ज्ञान, विवेक, वैराग्य, विज्ञान और वे अनेक गुण जो संसार में मुनियों के लिए भी दुर्लभ हैं, ये सब मैं तुझे आज दे दूँगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। इस कारण तुझे जो भी पसंद हो मुझसे माँग लो।' प्रभु के इस प्रकार के प्रेमपूर्वक वचनों को सुनकर काकभुशुण्डि का मन आनंद एवं प्रसन्नता से भर गया। तब वह अपने मन में यह अनुमान करने लगा, यह सत्य है कि प्रभु राम ने मुझे सभी सुख प्रदान करने वाली वस्तुएँ देने को कहा है, परन्तु अपनी भक्ति को देने के लिए नहीं कहा। काकभुशुण्डि सोचने लगा कि भक्ति के बिना सभी गुण और सुख उसी प्रकार नीरस एवं फीके हैं जैसे नमक के बिना अनेक प्रकार के भोजन या खाद्य पदार्थ। भगवान की भक्ति के बिना सुखों का कोई महत्व नहीं होता, वे किसी भी काम के नहीं हो सकते। अर्थात् वे निरर्थक होते हैं। हे पक्षिराज, यही सोचकर अर्थात् अच्छी प्रकार विचार करके मैंने प्रभु श्री राम से कहा — हे भगवन् ! यदि आप मुझ पर स्नेह एवं कृपा द ष्टि रखते हैं और आप मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे वरदान देना चाहते हैं तो हे स्वामी, मैं अपना मन चाहा वरदान माँगता हूँ। आप अत्यन्त उदार हैं और अंतर्यामी हैं। कहने का भाव है कि अब मेरे हृदय की बात भी आपसे छिपी नहीं है।

हे प्रभु ! आपकी जिस प्रगाढ़, अचल एवं विशुद्ध अर्थात् निष्काम भक्ति का गायन वेद एवं पुराण भी किया करते हैं तथा जिस भक्ति की खोज योगी, महात्मा तथा मुनिजन आदि निरन्तर करते रहते हैं परन्तु उसे प्राप्त नहीं कर पाते, शायद कोई बिरला ही आपकी कृपा द ष्टि के कारण उसे प्राप्त कर पाने में सफल हो पाता है। हे भक्तों को मनोवांछित फल प्रदान करने वाले कृल्पव क्ष हे शरणागतों के हितरक्षक तथा हे कृपा के सागर एवं सुखों के धाम प्रभु ! आप मुझ पर दया करते हुए मुझे अपनी वही भक्ति प्रदान करने की कृपा करें।

काव्य-सौंदर्य—

1. कवि तुलसीदास ने काकभुशुण्डि के माध्यम से भक्ति को ज्ञान, वैराग्य और विवेक आदि सभी से ऊँचा ठहराकर भक्ति के महत्व को प्रतिपादित किया है।
2. 'कल्पतरु' स्वर्ग का व क्ष है। ऐसा माना जाता है कि यह व क्ष सबकी मनोकामनापूर्ण करता है।

3. प्रस्तुत पद में वर्णित भक्ति भावना के महत्व को तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड में अन्यत्र भी लिखा है–

''जो परलोक इहाँ मुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय द ढ़ गहहू।।
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भक्ति मोरि पुरान श्रुतिभाई।।''

4. 'भक्तिहीन गुण सब सुख ऐसे।' में द ष्टान्त अलंकार है।
5. 'भगत्-कल्पतरु' में उपमा अलंकार है।
6. 'कृपा सिंधु', 'सुख धाम' में रूपक अलंकार है।
7. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग है।
8. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छन्द है। शेष पंक्तियों में दोहा छंद है।

5. चौ.- एवमस्तु कहि रघुकुलनायक। बोले वचन परम सुखदायक।
सुनु वायस तैं सहज सयाना। काहे न माँगसि अस वरदाना।।
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी।।
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं।।
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहि अति भाई।।
सुनु विहंग प्रसाद अब मोरें। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें।।
भगति ग्यान विग्यान विरागा। जोग चरित्र रहस्य विभागा।।
जानव तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा।।
दो.– माया संभव भ्रम सब अब न व्यापिहहिं तोहि।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि।।
मोहि भगत प्रिय संतत अस विचारि सुनु काग।
कायँ वचन मन मन पद करेसु अचल अनुराग।।

शब्दार्थ– एवमस्तु = ऐसा ही हो। **रघुकुलनायक** = रामचन्द्र। **सुखदायक** = सुख देने वाले। **वायस** = कौआ, काकभुशुण्डि। **सयाना** = समझदार, ज्ञानी। **काहे न** = क्यों नहीं। **माँगसि** = माँगते हो। **अस** = ऐसा। **कोउ** = कोई। **तोहि सम** = तुम्हारे समान। **बड़भागी** = भाग्यशाली। **कोटि जतन** = करोड़ों प्रयत्न। **अनल** = अग्नि। **तन दहहीं** = शरीर जलाते हैं। **मोहि** = मुझसे। **रीझेउँ** = प्रसन्न हूँ। **विहंग** = पक्षी, काकभुशुण्डि। **प्रसाद** = कृपा। **बसिहहिं** = रहेंगे। **उर** = **हृदय**। **विरागा** = वैराग्य। **चरित्र** = आचरण, लीला। **विभागा** = विभाग, खण्ड। **जानव** = जानोगे। **मम** = मेरे। **खेदा** = कष्ट। **संभव** = उत्पन्न। **व्यापिहहिं** = व्याप्त होंगे। **जानेसु** = जानो। **अनादि** = आदि रहित। **अज** = जन्म रहित। **गुनाकर** = गुण की खान। **काग** = कौआ, काकभुशुण्डि।

प्रसंग– प्रस्तुत खण्ड रामभक्ति शाखा के प्रमुखतम भक्त कविवर 'तुलसीदास' द्वारा प्रणीत भारतीय संस्कृति और धर्म के लोकमान्य महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। प्रभु श्री राम द्वारा प्रसन्न होने पर काकभुशुण्डि ने उनसे वरदान में एकमात्र निष्काम भक्ति की याचना की थी, क्योंकि इसके समक्ष संसार के समस्त सुख फीके हैं, तुच्छ हैं। काकभुशुण्डि की इस प्रकार की याचना करने पर प्रभु श्री राम कहते हैं–

व्याख्या– हे काकभुशुण्डि ! 'ऐसा ही हो' अर्थात् तुम्हें मेरी भक्ति प्राप्त हो। इस प्रकार रघुकुल के शिरोमणि स्वामी राम ने ऐसे वचन कहे और अत्यन्त सुख प्रदान करने वाली वाणी से कहने

लगे – हे काकभुशुण्डि, तुम सुनो ! तुम स्वभाव से अत्यन्त चतुर हो, अतः ऐसा उत्तम वरदान भला तुम क्यों न माँगते। अर्थात् तुम बहुत समझदार हो और इसलिए ही तुमने भक्ति का वरदान माँगा है। तुमने सब सुखों की खान के रूप में भक्ति का वरदान माँगा है। ऐसा करने पर संसार में तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई भी प्राणी भाग्यशाली नहीं है। जिस भक्ति को प्राप्त करने के लिए मुनिजन करोड़ों प्रयत्न करते हैं, जप करते हैं, तप करते हैं, अग्नि में शरीर को संतप्त करते हैं, फिर भी भक्ति को प्राप्त नहीं कर पाते। तुमने उसी भक्ति को माँगा है। मैं तुम्हारी इस चतुराई से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा वरदान के रूप में मेरी भक्ति माँगना मुझे अत्यन्त प्रिय लगा, अतः हे पक्षिवर सुनो ! मेरी कृपा द ष्टि के प्रभाव के कारण अब सभी सुंदर गुण तुम्हारे हृदय में निवास करेंगे। भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, योग तथा साधना आदि रहस्य युक्त क्षेत्रों के जितने भी चरित्र हैं इन सभी के भेद को तुम मेरी कृपा से सहज ही जान जाओगे। इनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए तुम्हें साधना आदि का कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा।

माया से उत्पन्न होने वाले किसी प्रकार के भ्रम तुम्हें कभी भी नहीं होंगे और तुम मुझे आदि रहित, जन्म न लेने वाला, गुणों से रहित तथा गुणों की खान ब्रह्मा के रूप में जानोगे। हे काकभुशुण्डि ! मेरी बात सुनो, मुझे मेरे भक्त सदा ही अत्यन्त प्रिय रहे हैं यह विचार करके ही तुम मन से, वचन से व शरीर से मेरे चरणों में अटल प्रेम रखना।

काव्य-सौंदर्य–

1. यहाँ महाकवि ने अपने आराध्य देव राम की कृपा को ही सर्वोपरि माना है जिसके प्रभाव से अत्यन्त दुर्लभ वस्तु भी सहज ही प्राप्त हो जाती है।
2. प्रस्तुत पद्य में श्री राम कौए (काकभुशुण्डि) की चतुराई का बखान करते हैं, जिससे कौए ने भगवान से उनकी भक्ति माँगी है।
3. 'काहे न माँगसि अस वरदाना' में वक्रोक्ति अलंकार है।
4. 'सुखदानि', 'गुणकार' में रूपक अलंकार है।
5. 'अगुन गुणाकार' में विरोधाभास अलंकार है।
6. तत्सम शब्दों का समावेश होने पर अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग है।
7. चौपाई छंद प्रथम आठ पंक्तियों में हैं, शेष चार पंक्तियों में दोहा छंद विद्यमान हैं।

6. चौ.- अब सुनु परम विमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानि।।
निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। सुनु मन धरु सब तजि भुज मोही।।
मम माया संभव संसारा। जीव चराचर विविध प्रकारा।।
सब मम प्रिय सब सम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए।।
तिन्ह महँ द्विज, द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुधारी।।
तिन्ह महँ प्रिय विरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय विग्यानी।।
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि दूसरि न आसा।।
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सन प्रिय कोउ नाहीं।।
भगति होन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई।।
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी।।
दो.– सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहिन नाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग।।

शब्दार्थ– परम = अत्यन्त। **विमल** = निर्मल। **मम** = मेरी। **सुगम** = सहज बोधगम्य। **निगमादि** = वेद शास्त्र आदि। **बखानी** = कही है। **तजि** = छोड़कर। **भजु** = भक्ति करता है। **संभव**

= उत्पन्न। **चराचर** = चर और अचर जीव। **मनुज** = मानव। **द्विज** = ब्राह्मण। **श्रुतिधारी** = शास्त्रों के ज्ञाता। **तिन्ह महँ** = उनमें। **विरक्त** = वैरागी। **विग्यानी** = विज्ञानी। **पुनि** = फिर। **मोरि** = मेरी। **पुनि-पुनि** = फिर-फिर। **सम** = समान। **बिरंचि** = ब्रह्मा। **किन होई** = क्यों न हो। **सब जीवहु** = सभी जीवों में। **सोई** = वह। **भक्तिवंत** = भक्ति वाला। **नीचउ** = तुच्छ, नीच। **असि** = यह। **सुचि** = पवित्र। **सुशील** = सदाचारी। **सुमति** = अच्छी बुद्धि वाला। **श्रुति** = शास्त्र, वेद। **असि** = यह। **काग** = काकभुशुण्डि।

प्रसंग– व्याख्या हेतु प्रस्तुत पद्य खण्ड रामभक्ति शाखा के भक्तिकालीन लोकप्रिय कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा रचित भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रतिष्ठापक महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। श्री राम काकभुशुण्डि से अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। उन्हें उनकी इच्छानुसार वरदान दे देते हैं। जिसमें काकभुशुण्डि ने प्रभु राम की निष्काम भक्ति माँगी है। वरदान देने के पश्चात् राम उससे कहते हैं–

व्याख्या– हे काक ! अब तुम मेरी अत्यन्त पवित्र, सरल, सुगम, सत्य और वेद आदि के द्वारा वर्णित निर्मल वाणी को सुनो। मैं तुम्हें अपना सिद्धान्त सुनाता हूँ। जिस सिद्धान्त को मैं तुम्हें सुनाने जा रहा हूँ, उस सिद्धान्त को तुम अपने हृदय में धारण करना। संसार में जितने भी विविध प्रकार के विषय हैं उनको छोड़कर केवल मेरा ही भजन करो अर्थात् मेरी ही भक्ति करो। यह समस्त संसार मेरी माया से उत्पन्न है। इस संसार में जितने भी चर (चलने वाले) और अचर (न चलने वाले) जीव हैं अर्थात् जड़-जंगम हैं वे सभी मेरे द्वारा ही उत्पन्न किए गए हैं। ये संसार के सभी प्राणी मुझे अत्यन्त प्रिय हैं तथापि इन सभी चर, अचर जीवों में मनुष्य ही मुझे सर्वाधिक प्रिय हैं। मनुष्यों में भी ब्राह्मण, ब्राह्मणों में भी वेदों को जानने वाले अर्थात् वेदों का अध्यन करने वाले अर्थात् वेदज्ञ, वेदज्ञों में भी वे वेदज्ञ ब्राह्मण प्रिय हैं, जो शास्त्रों (वेदों के) अनुसार धर्म का आचरण करते हैं। उन धर्मात्मा ब्राह्मणों में भी वे प्रिय हैं जो वैरागी हैं और ज्ञानी हैं। इन वैरागी ज्ञानियों में भी वे प्रिय हैं जो विज्ञानी अर्थात् विशेष ज्ञान रखते हैं या ज्ञान के रहस्य को समझते हैं। उन विज्ञानी ब्राह्मणों में भी वे प्रिय हैं जो मेरे दास हैं अर्थात् मेरी भक्ति करते हैं। जिन्हें मेरा ही सहारा है और किसी मार्ग से उन्हें कोई सहारा या आश्रय नहीं है। हे काकभुशुण्डि ! मैं तुम्हें बार-बार समझाकर सत्य वचन से अवगत कराता हूँ कि 'मुझे अपने सेवक के समान कोई भी प्रिय नहीं है।' अर्थात् जो मेरी भक्ति के कारण मेरे सेवक हैं वे मुझे प्रिय हैं। यदि किसी को मेरी भक्ति प्राप्त नहीं है तो वह चाहे ब्रह्मा ही क्यों न हो ? वह भी मुझे सामान्य जीवों के समान लगता है। दूसरी तरफ, यदि कोई भक्ति करने वाला जीव है वह भले ही नीच हो, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है– यह मेरी वाणी है अर्थात् सत्य वचन है। जो सेवक पवित्र मन वाला, सद्आचरण करने वाला तथा सद्बुद्धि वाला है, वह किसे प्रिय नहीं लगेगा ? अर्थात् सभी को प्रिय होगा। वेद-शास्त्र भी इसी प्रकार की नीति कहते हैं। अतः हे काकभुशुण्डि ! यह बात तुम सावधान होकर सुनो।

काव्य-सौंदर्य–

1. 'मानसकार' ने ज्ञानी, मुनियों की भाँति संसार अथवा सांसारिक प्राणियों को व्यर्थ नहीं कहा, अपितु वे तो मनुष्य को श्रीराम का सर्वाधिक प्रिय प्राणी बताकर उनमें आशा का संचार करने के पक्षपाती हैं। कविवर पंत ने भी कहा है–

   ''सुंदर है विहग, सुमन सुंदर,
   मानव तुम सबसे सुन्दरतम।''

2. 'सब तजि भजि मोहि' के समान गीता के अठारहवें अध्याय में भगवान श्री कृष्ण भी कहते हैं–

   ''सर्व धर्मानि परियज्य माभेकंशरणं ब्रज।''

3. भक्ति भावना की प्रधानता है।
4. **अलंकार** – पुनरुक्ति प्रकाश – 'पुनि-पुनि'

वक्रोक्ति — 'प्रिय कहु काहि न लाग'
अनुप्रास — 'सुचि सुशील सेवक सुमति'।

5. अवधी भाषा में तत्सम शब्दों का सुंदर प्रयोग है।

6. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है शेष में दोहा छंद है।

7. **चौ.- एक पिता के विपुल कुमारा। होहिं पथक् गुन सील अचारा।।**
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता।।
कोउ सर्वग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई।।
कोउ पितु भगत वचन मन कर्मा। सपनेहुं जान न दूसर धर्मा।।
सो सुत प्रिय हितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना।।
एहि विधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते।।
अखिल विस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।।
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन वच अरु काया।।
दो.— पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोई।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोई।।
सो.— सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस विचारि भजु मोहि परिहर आस भरोस सब।।

शब्दार्थ— विपुल = अनेक। **कुमारा** = पुत्र। **पथक्** = अलग-अलग। **सील** = स्वभाव। **अचारा** = आचरण। **कोउ** = कोई। **तापस** = तपस्वी। **ग्याता** = ज्ञानवान। **सूर** = वीर। **दाता** = ज्ञानी। **सर्वग्य** = सभी कुछ ज्ञाता। **प्रीति सम** = समान स्नेह। **कर्मा** = कर्म से। **जान न** = नहीं जानता। **दूसर धर्मा** = अन्य धर्म। **हितु** = हितकारी। **अयाना** = अज्ञानी। **जेते** = जितने। **त्रिजग** = तिर्य च, पशु-पक्षी। **समेते** = सहित। **अखिल** = सम्पूर्ण। **मोर उपाया** = मेरे द्वारा उत्पन्न किया गया। **दाया** = कृपा। **तिन्ह महँ** = उनमें। **परिहर** = छोड़कर। **अरु** = और। **काया** = शरीर। **भज** = भजता है। **तजि** = छोड़कर। **सुचि** = पवित्र। **मम** = मेरा। **अस विचारि** = यह विचार करके। **सोइ** = वह।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य भाग रामभक्ति काव्यधारा के शिरोमणि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा रचित भारतीय संस्कृति की स्थापना करने वाले महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। जब काकभुशुण्डि राम की भक्ति का वरदान माँग लेते हैं। तब भगवान् राम अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वे काकभुशुण्डि को भक्ति का महत्व बताते हैं और अपनी भक्ति के विषय में कहते हैं—

व्याख्या— श्री राम बोले कि हे काक ! जैसे एक पिता के अनेक पुत्र होते हैं पर उन सभी के गुण, स्वभाव एवं आचरण आदि अलग-अलग होते हैं अर्थात् उनके गुणों, स्वभाव एवं आचरण आदि में पर्याप्त भिन्नता होती है। इनमें कोई पंडित होता है, तो कोई तपस्वी, कोई ज्ञानवान् होता है तो कोई धनी और इसी प्रकार कोई शूरवीर होता है तो कोई दानवीर। यही नहीं, उन पुत्रों में कोई सर्वज्ञ होता है तो कोई धर्मात्मा। इन सभी के लिए पिता के हृदय में समान प्रेम-भावना विद्यमान रहती है। इन पुत्रों में कोई पुत्र यदि ऐसा है जिसके हृदय में अपने पिता के प्रति असीम भक्ति है, जो मन, वचन एवं कर्म से पिता का अनन्य सेवक है तथा पित -भक्ति अथवा सेवा के अतिरिक्त स्वप्न में भी उसके लिए कोई दूसरा धर्म नहीं है। तो ऐसा पुत्र सभी प्रकार से मूर्ख होते हुए भी अपने पिता को प्राणों के समान प्रिय होता है। ठीक इसी प्रकार से तिर्यक् अर्थात् पशु-पक्षी,

देवगण, मनुष्य एवं असुरों सहित चराचर अर्थात् जड़-चेतन जीव हैं। कहने का भाव है कि इन सभी जड़-चेतन जीवों से युक्त संसार में जो मेरी ही स ष्टि का परिणाम है, सब पर मेरी समान दया है, अर्थात् स ष्टि के सभी जीव मेरी समान कृपा के अधिकारी हैं, तथापि इन सबमें भी जो मद एवं माया का परित्याग करके मनसा, वाचा एवं कर्मणा से मेरा ही भजन करता है मेरा वह भक्त मुझे सर्वाधि ाक प्रिय जान पड़ता है।

श्री राम बोले कि मेरा भक्त चाहे पुरुष हो, चाहे नपुंसक, चाहे वह स्त्री हो, चाहे चर-अचर अन्य कोई जीव छल-कपट के आचरण का परित्याग करके निश्छल भाव से जो भी मेरी आराधना करता है वही मुझे परम् प्रिय है। हे काक ! मैं तुमसे सत्य ही कहता हूँ कि पवित्र अर्थात् अनन्य एवं निष्काम भावना से युक्त सेवक मुझे प्राणों से अधिक प्रिय हैं अतः मन में ऐसा विचार कर तथा अन्य सभी की आशा तथा भरोसे को छोड़कर मेरा ही भजन कर।

काव्य-सौंदर्य–

1. भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की गई है। पिता के पुत्रों का उदाहरण प्रस्तुत करने में उदाहरण अलंकार का प्रयोग भी यहाँ किया गया है।
2. तुलसी को नारी निदंक कहते फिरने वालों के लिए ये पंक्तियाँ विशेष रूप से दर्शनीय हैं। कवि ने यहाँ अन्य जीवों के साथ नारी को भी महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है तथा घोषणा की है कि भगवान नारी की भक्ति को भी अन्य जीवों की भक्ति के समान अत्यन्त प्रेम-पूर्वक स्वीकार करते हैं।
3. 'सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना' में उपमा अलंकार है।
4. तत्सम शब्दावली के साथ अवधी भाषा का प्रयोग किया गया है।
5. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं।
6. आठ पंक्तियों के बाद की दो पंक्तियों में दोहा छंद है जिसके विषम चरणों में 13-13 मात्राएँ तथा समचरणों में 11-11 मात्राएँ होती हैं।
7. अंतिम दो पंक्तियों में सोरठा छंद है, जिसके प्रत्येक विषमचरण में 11 मात्राएँ व सम-चरण में 13 मात्राएँ होती हैं। सोरठा दोहा छंद के विपरीत होता है।

8. चौ.- कबहुँ काल न व्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही।।
प्रभु वचनाम त सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ।।
सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना।।
प्रभु सोभा सुख जानहि नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहि नहिं बयाना।।
बहु विधि मोहि प्रबोधि सुख देई। लगे करन सिसु कौतुक तेई।।
सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागि अति भूखा।।
देखि मातु आतुर उठि धाई। कहि म दु वचन लिए उर लाई।।
गोद राखि कराव पय पाना। रघुपति चरित ललित कर गाना।।
दो.– जेहि सुख लागि पुरारि असुभ वेष कृति सिव सुखद।
अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महुँ संतत मगन।।
सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ।।
ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति।।

शब्दार्थ– कबहुँ = कभी। **काल न व्यापिहिं** = काल प्रभाव नहीं करेगा। **सुमिरेसु** = स्मरण करो। **भजेसु** = भक्ति करो। **वचनाम त** = वचन रूपी अम त। **अघाऊँ** = त प्त हुआ। **तनु** = शरीर।

पुलकित = रोमांचित। **अरु काना** = और कान। **रसना** = जीभ। **पहिं** = से। **जाइ बखाना** = कहा जा सकता है। **किमि** = कैसे। **बयाना** = वाणी से। **प्रबोधि** = समझा कर। **कौतुक** = लीला, क्रीड़ा। **तेई** = वही। **सजल** = आँसू सहित। **रूखा** = उदास। **चितइ** = देखा। **आतुर** = व्याकुल। **उर लाई** = हृदय से लगा लिया। **पय पाना** = दूध पिलाने लगी। **ललित** = मनोरम। **पुरारि** = शिवजी। **अशुभवेष** = कोढ़ि का रूप। **संतत** = निरंतर। **मगन** = डूबे रहते हैं। **लवलेस** = थोड़ा-सा। **बारक** = एक बार। **लहेउ** = प्राप्त किया है। **नहि गनहिं** = नहीं समझते। **खगेस** = पक्षिराज, गरुड़। **सुमति** = बुद्धिमान्।

प्रसंग– प्रस्तुत पद्य भाग हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन सगुण काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। इसमें भगवान राम काकभुशुण्डि को भक्ति का महत्व समझाते हैं क्योंकि काक ने वरदान में राम की भक्ति को माँगा था। राम भक्ति के विषय में कहते हैं–

व्याख्या– श्री राम ने फिर कहा कि हे काक, मेरा स्मरण करते रहने पर तुम्हें कभी भी काल व्याप्त नहीं होगा। अतः नित्य ही मेरा स्मरण तथा आराधना करते रहना। काकभुशुण्डि गरुड़ से बोले कि प्रभु के इस अम त के समान वचनों को सुनकर मेरा हृदय त प्ति का अनुभव नहीं कर पा रहा था। मेरा सारा शरीर रोमांच से भर उठा तथा हृदय हर्ष से अनुरंजित हो गया। प्रभु के इन मधुर वचनों के सुख अर्थात् उनके वचनों से होने वाली सुखानुभूति को या तो मेरा मन ही जानता है या मेरे कानों ने ही उसका रस लिया है, वाणी द्वारा उस सुख की अनुभूति का वर्णन तो संभव नहीं। उस समय की शोभा को तो मेरे इन नेत्रों ने देखा है, मेरे यह नेत्र बिना वाणी के हैं अतः फिर प्रभु की उस शोभा का वर्णन भला यह किस प्रकार कर सकते हैं ? इस प्रकार से हे गरुड़ ! प्रभु मुझे विविध प्रकार से समझाकर तथा अनेक प्रकार के सुख प्रदान करके फिर उसी बाल-लीला में जा उलझे। उन्होंने बाल सुलभ चेष्टा द्वारा नयनों में जल भरकर तथा अपने मुख को कुछ रूखा-सा बनाकर अपनी माता की ओर इस प्रकार देखा जिससे माता यह समझें कि प्रभु भूखे हैं। माँ ने बालक राम को इस प्रकार व्याकुल देखा तो वे तुरन्त उठकर दौड़ पड़ीं तथा अत्यन्त कोमल वचन कहते हुए अपने हृदय से लगा लिया। वे उन्हें गोद में लेकर दूध पिलाने लगीं और प्रभु की लीलाओं का गान करने लगीं।

काकभुशुण्डि बोले हे गरुड़, जिस सुख की प्राप्ति के लिए सबको सुख प्रदान करने वाले कल्याण मूर्ति भगवान शिव ने भी अशुभ वेष (एक व द्ध ज्योतिष शास्त्री का) धारण कर लिया था, अवधपुरी के नर-नारी उस सुख में सदैव निमग्न बने रहते थे। हे पक्षिराज ! उस सुख में लेशमात्र की अनुभूति एक बार स्वप्न में भी कर लेने पर कोई बुद्धिमान सज्जन उस सुख के समक्ष ब्रह्म के साक्षात्कार से प्राप्त होने वाले सुख को कुछ नहीं समझता।

काव्य-सौंदर्य–

1. यहाँ काकभुशुण्डि की दशा का वर्णन पुलक एवं हर्ष आदि सात्विक भावों के माध्यम से अत्यन्त चारुता से किया गया है।
2. 'सो सुख जानइ मन ..... नहिं बयना' की भाँति तुलसी ने अन्यत्र भी कहा है–

   ''गिरा अनैन, नैन बिनु वाणी।''

   एक प्रसिद्ध उर्दू शायर के शब्दों में नायक द्वारा अपनी प्रिया के रूप-लावण्य की प्रशंसा भी देखिए–

   ''तुझको देखा है मेरी नज़रों से,
   तेरी तारीफ हो मगर कैसे ?
   कि बने यह नज़र ज़ुबाँ कैसे ?

कि बने यह जुबाँ नज़र कैसे ?
न जुबाँ को दिखाई देता है,
न निगाहों से बात होती है।''

3. मानसकार द्वारा प्रभु की बाल सुलभ चेष्टाओं का वर्णन भी यहाँ अत्यन्त मोहक बन पड़ा है।
4. भगवान की लीला को देखने के लिए भगवान शिव ने एक बार एक व द्ध ज्योतिषी का रूप धारण कर लिया था। इस संदर्भ में गीतावली की निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं–

''अवधुआजु अगम एक आयो।
बूढ़ो बड़ों प्रमाणिक बाँझन संकर नाम सुहाहो।''

5. 'वचनाम त' में रूपक अलंकार है।
6. 'ते नहिं गनहिं' में यमक अलंकार है तथा मुहावरे का प्रयोग है।
7. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं।
8. अंतिम चार पंक्तियों में दो सोरठे हैं। सोरठा छंद के प्रत्येक विषम चरण में ग्यारह मात्राएँ तथा सम चरण में तेरह मात्राएँ होती हैं।

9. चौ.- मैं पुनि अवध रहेउ कछु काला। देखउँ बालविनोद रसाला।।
राम प्रसाद भगति वर पायउँ। प्रभु पद वंदि निजाश्रम आयउँ।।
तब ते मोहि न व्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया।।
यह सब गुप्त चरित मैं गावा। हरि मायौं जिमि मोहि नचावा।।
निज अनुभव सब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।।
राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई।।
जानें बिनु न होई परतीती। बिनु परतीति होई नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।
सो.– बिनु गुर होई कि ग्यान, ग्यान कि होई विराग बिनु।
गावहिं वेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।।
कोउ विश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि-पचि मरिअ।।

शब्दार्थ– पुनि = फिर। **कछु काला** = कुछ समय। **बाल-विनोद** = बाल-लीला। **रसाला** = आनंद भरी। **राम-प्रसाद** = राम की कृपा। **वर** = वरदान। **बंदि** = नमस्कार करके। **आयउँ** = आ गये। **व्यापी माया** = माया का प्रभाव। **अपनाया** = अपना बनाया। **गुप्त** = रहस्य। **जिमि** = जैसे। **खगेसा** = पक्षीराज, गरुड़। **कलेसा** = कष्ट। **खगराई** = पक्षियों के राजा गरुड़। **जानिन जाइ** = ज्ञात नहीं होती। **परतीती** = विश्वास। **प्रीती** = प्रेम। **दिढ़ाई** = द ढ़। **खगपति** = पक्षिराज गरुड़। **चिकनाई** = चिकना पदार्थ। **कि** = कैसे ? **विराग** = वैराग्य। **लहिअ** = प्राप्त करना। **हरि** = राम। **विश्राम** = परम शान्ति। **कि पाव** = कैसे प्राप्त करें। **सहज** = स्वाभाविक। **जतन** = प्रयत्न, उपाय। **पचि-पचि मरिअ** = पूरी शक्ति लगाकर प्रयत्न करना।

प्रसंग– प्रस्तुत पद्य भाग रामभक्ति शाखा के भक्तिकालीन कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा प्रणीत भारतीय संस्कृति, धर्म और काव्य के महान ग्रन्थ 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से

उद्‌ध त है। इसमें काकभुशुण्डि अपने जीवन के अनुभवों को गरुड़ से सुनाता है कि किस प्रकार उसने राम के बालरूप को देखकर उससे रामभक्ति प्राप्त की थी। राम भक्ति के आधार पर ही वह परम आनन्द को प्राप्त कर सका था।

व्याख्या– काकभुशुण्डि बोले कि मैं कुछ समय तक अवधपुरी में निवास करता हुआ श्री राम की रसमयी बाल-लीला को देखता रहा। प्रभु की असीम कृपा से मुझे उनकी अनन्य भक्ति का वरदान प्राप्त हुआ, इसके उपरान्त श्री राम के चरणों की वंदना करके मैं अपने आश्रय में लौट आया। मुझे याद है जब से रघुपति राम ने मुझे अपनाया अर्थात् अपना सेवक बनाया, तब से मेरे ऊपर माया का कभी भी प्रभाव नहीं हुआ। अतः मैंने यह अनुभव किया है कि भगवान की माया ने मुझे जिस प्रकार नचाया था उसका रहस्य से भरा आचरण मैंने ज्ञात कर लिया। हे खगराज ! अब मैं आपको अपने व्यक्तिगत अनुभव से अवगत कराता हूँ कि बिना श्री हरि का भजन किए सांसारिक, दुःख एवं क्लेशों से मुक्ति पा सकना कठिन है। इतना ही नहीं, श्री राम की प्रभुता अर्थात् महत्व का ज्ञान भी बिना उनकी कृपा-द ष्टि के संभव नहीं। बिना श्री राम की प्रभुता का ज्ञान किए श्री राम के प्रति आस्था उत्पन्न नहीं होती और इस आस्था अर्थात् विश्वास के अभाव में प्रभु के प्रति प्रेम भावना की अनुभूति नहीं हो पाती। बिना प्रेमानुभूति किए श्री राम की भक्ति में द ढ़ता अर्थात् स्थायित्व आ पाना उसी प्रकार कठिन होता है जिस प्रकार जल के ऊपर पड़ी चिकनाई न तो स्थिरता प्राप्त कर पाती है और न स्थायित्व।

काकभुशुण्डि कहते हैं कि हे खगराज ! गुरु के बिना क्या ज्ञान की प्राप्ति संभव है ? और बिना ज्ञान प्राप्त किए क्या वैराग्य भावना उत्पन्न हो सकती है ? कहने का अभिप्राय यह है कि बिना गुरु के न तो ज्ञान पाना संभव है और न वैराग्य। वेद एवं पुराणों में भी यही गायन उपलब्ध होता है कि क्या कहीं बिना भगवद् भजन के भी सुखों की प्राप्ति हो सकती है ? हे तात ! क्या बिना स्वाभाविक संतोष के कोई शांति प्राप्त कर सकता है ? क्या करोड़ों उपाय करने पर भी बिन जल के नाव का चल पाना संभव है ?

काव्य-सौंदर्य–

1. यहाँ महाकवि ने भक्ति के साथ-साथ प्रेम-भावना की महत्ता का प्रतिपादन भी किया है। कबीर ने भी यही कहा था–

   ''पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
   ढाई आखर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होय।।''

2. यहाँ महाकवि ने भी भक्ति-युग के अन्य कवियों की भाँति, ज्ञान एवं वैराग्य पाने के लिए गुरु के आशय की महत्ता का प्रतिपादन किया है। दूसरे सोरठा में द ष्टान्त अलंकार प्रयुक्त हुआ है। मानसकार की भाँति सूर भी अपनी गापियों से इसी द ष्टान्त का प्रयोग कराते हैं। वे भी कहती हैं कि उद्धव, तुम हमें योग और निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देकर सूखी हुई नदी की बालू में नाव चलाने का असंभव प्रयत्न कर रहे हो। जिस प्रकार बालू में नौका नहीं खेची जा सकती, उसी प्रकार हमारे हृदय पर भी तुम्हारे ज्ञान का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता–

   ''सूर सिकत हठि नाव चलायो ये सरिता है सूखी।''

3. अंतिम चार पंक्तियों में वक्रोक्ति अलंकार है।
4. तत्सम शब्दों के समावेश से अवधी भाषा का रूप निखर आया है।
5. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है।
6. अंतिम चार पंक्तियों में दो सोरठे हैं।

10. चौ.- बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।।
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल-विहीन तरु कबहु कि जामा।।

बिनु विग्यान कि समता आवइ। कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ।।
श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध की पावइ कोई।।
बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा। जल बिनु रस कि होई संसारा।।
सील की मिल बिनु बुध सेवकाई। जिमि बिनु तेज न रूप गोसाँई।।
निज सुख बिनु मन होई कि थीरा। परस कि होइ विहीन समीरा।।
कवनिउ सिद्धि कि बिनु विस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा।।
दो.— बिनु विस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न की विश्रामु।।
सो.— अस विचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु रास रघुवीर करुनाकर सुन्दर सुखद।।

शब्दार्थ— काम = इच्छाएँ, काम-वासनाएँ। **नसाहीं** = नष्ट होते हैं। **अछत** = सभी। **भजन** = भक्ति। **थल** = भूमि। **विहीन** = बिना। **तरु** = वक्ष। **जामा** = उत्पन्न होना। **विग्यान** = तत्वज्ञान। **अवकास** = स्थान, जगह। **महि** = पथ्वी। **कि** = क्या। **कर** = का। **कि मिल** = क्या मिलेगा। **बुध** = बुद्धिमान्। **जिमि** = जैसे। **थीरा** = स्थिर। **निजसुख** = आत्म-सुख। **परस** = स्पर्श। **समीरा** = वायु। **कवनिउ** = कौन सी। **भव-मय नासा** = संसार के भय का विनाश। **प्रवहिं** = पिघलना, स्नेह करना। **विश्रामु** = परम शान्ति। **मतिधीर** = बुद्धि में धैर्य धारण करने वाले। **तजि** = छोड़ दें। **कुतर्क** = व्यर्थ के तर्क। **करुनाकर** = करुणा-निधान, दया के खजाने। **सुखद** = सुख देने वाले।

प्रसंग— प्रस्तुत व्याखांश भक्ति काल के श्रेष्ठ कवि 'तुलसीदास' द्वारा रचित उनके प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्धत है। काकभुशुण्डि प्रतिदिन राम कथा कहता था। अतः गरुड़ के आने पर भी राम कथा में राम भक्ति के महत्व को समझाता है और काकभुशुण्डि अपने अनुभव के आधार पर कहता है—

व्याख्या— काकभुशुण्डि पक्षीराज गरुड़ से कहता है — संतोष के बिना कामवासनाओं का नाश नहीं होता। जब तक कामवासनाएँ रहती हैं तब तक सुख स्वप्न में भी नहीं मिलता। राम के भजन अर्थात् उनकी भक्ति के बिना कभी भी कामवासनाएँ नष्ट नहीं होती। क्या बिना भूमि के वक्ष की उत्पत्ति कभी हो सकती है ? अर्थात् वक्ष की उत्पत्ति के लिए भूमि आवश्यक है। क्या बिना ज्ञान के समानता का भाव आ सकता है ? अर्थात् समता या समानता के भाव के लिए तत्व ज्ञान आवश्यक है। क्या कोई आकाश के बिना अवकाश प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् आकाश तत्व ही सभी द्रव्यों को स्थान देता है। धर्म कभी भी श्रद्धा के बिना नहीं हो सकता। जैसे कोई भी व्यक्ति गंध को भूमि तत्व के अतिरिक्त कहीं भी प्राप्त नहीं कर सकता। क्या कभी तपस्या के बिना तेज को फैलाया जा सकता है ? या जैसे संसार में रस तत्व जल के बिना संभव नहीं है। बुद्धिमानों को सेवा के बिना शील या सद् आचरण नहीं होता है जैसे तेज या अग्नि तत्व के बिना कभी भी रूप संभव नहीं है। क्या कभी आत्मा के सुख के बिना मन की चचलता समाप्त होती है ? अर्थात् मन की स्थिरता आध्यात्मिक सुख में है। स्पर्श की प्राप्ति, बिना वायु तत्व के क्या कभी संभव है ? क्या कभी बिना विश्वास के किसी प्रकार के कार्य सिद्धि हुई है ? अर्थात् नहीं हुई है। राम के भजन (भक्ति के बिना संसार के भय का विनाश नहीं होता है)।

काकभुशुण्डि बोले कि बिना हृदय में विश्वास उत्पन्न किए प्रभु की भक्ति सुलभ नहीं होती, बिना भक्ति के श्री राम का हृदय द्रवित नहीं होता। अर्थात् उनकी कृपा दष्टि प्राप्त नहीं की जा सकती

और बिना उसकी कृपा के जीव को स्वप्न में भी शांति अथवा विश्राम की प्राप्ति असंभव है। अतः हे धीर बुद्धि वाले गरुड़ ! मन में ऐसा विचार कर तथा सभी कुतर्कों एवं संदेह आदि का परित्याग करके, करुणा की निधि, सुंदर तथा सदैव सुख प्रदान करने वाले श्री रघुनाथ का ही भजन कीजिए।

काव्य-सौंदर्य–

1. संसार में प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई आधार अवश्य होता है, उसको पाने के लिए आधार का ज्ञान आवश्यक है।
2. तुलसी दास की भक्ति भावना प्रतिपादित हुई है।
3. समस्त पद में वक्रोक्ति अलंकार का सुंदर प्रयोग हुआ है।
4. ''राम भजन ..... जामा'' तथा ''सील कि ..... गोसाँई।'' में उदाहरण अलंकार है।
5. 'करुणाकर' में रूपक अलंकार है।
6. अवधी भाषा में तत्सम शब्दों का सुंदर प्रयोग हुआ है।
7. चौपाई छंद प्रथम आठ पंक्तियों में हैं।
8. ''बिनु ..... विश्रामु'' में दोहा छंद है।
9. ''अस ..... सुखद'' में सोरठा छंद है।

11. चौ.- निज मति सरिस नाथ में गाई। प्रभु प्रताप महिमा खगराइ।।
कहेउँ न कछु करि जुगुति विसेषी। यह सब मैं निज नयनन्हि देखी।।
महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा।।
निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं।।
तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। नम उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता।।
तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा।।
रामु काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन।।
सत कोटि सत सरिस विलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा।।
दो.– मरुत कोटि सत विपुल बल रवि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल समन सकल भव त्रास।।
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सत कोटि सम दुराधरष भगवंत।।

शब्दार्थ– निज मति = अपनी बुद्धि। **सरिस** = समान। **खगराई** = पक्षीराज। **जुगुति** = युक्ति। **निज** = अपने। **नयनन्हि** = नेत्रों से। **गुण गाथा** = गुणों का वर्णन। **अमित** = अपार। **निगम** = शास्त्र, वेद आदि। **शेष** = शेषनाग। **पार न पावहि** = पूरा नहीं कर सकते। **खग** = पक्षी। **मसक** = मच्छर। **प्रजंता** = पर्यन्त। **पावहिं अन्त** = तट नहीं प्राप्त करते। **तिमि** = उसी प्रकार। **अवहागा** = अवगाहन करना। **कि** = क्या। **थाहा** = गहनता। **सत** = सौ। **कोटि** = करोड़। **सुभग** = सुन्दर। **तन** = शरीर। **अमित** = अनन्त। **अरि मर्दन** = शत्रुओं का नाशक। **सक्र** = इन्द्र। **सरिस** = समान। **विलास** = वैभव, भोग सामग्री। **अवकासा** = स्थान। **मरुत** = वायु। **विपुल बल** = विशाल शक्ति। **रवि** = सूर्य। **ससि** = चन्द्रमा। **समन** = विनाशक। **त्रास** = भय। **धूमकेतु** = पुच्छल तारा। **दुराधरष** = अत्यन्त प्रबल, बहुल शक्तिवान।

प्रसंग– व्याख्येय पद्यांश भारतीय संस्कृति के लोकनायक रामभक्त कविवर 'तुलसीदास' द्वारा सुप्रसिद्ध व लोकप्रिय ग्रन्थ 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। काकभुशुण्डि राम की कथा सदा कहता था। जब पक्षीराज गरुड़ वहाँ पर आए तो उन्होंने रामभक्ति पर प्रकाश डालते

हुए राम के बाल्य जीवन को अभिव्यक्त किया। राम के विषय में अन्य विचार व्यक्त करते हुए काकभुशुण्डि पक्षिराज गरुड़ से कहते हैं–

व्याख्या– हे पक्षिराज ! मैंने जो कुछ भी वर्णन किया है वह सब अपनी बुद्धि के अनुसार ही श्री राम की महिमा एवं प्रताप का गायन किया है। मैंने यहाँ अपनी कल्पना शक्ति आदि युक्ति विशेष के माध्यम से कुछ न कह कर वही वर्णन किया है। जिसे मैंने स्वयं अपनी ही आँखों से देखा था। श्री रघुनाथ की महिमा, नाम, रूप, गुण और उनकी कथाएँ सभी अनन्त हैं, उनका कोई पार नहीं पा सकता। स्वयं श्री राम भी अनन्त एवं असीम हैं। उनकी महिमा इतनी विशाल है कि स्वयं अनेक मुनिगण भी अपनी-अपनी बुद्धि के अनुरूप गा-गाकर करते हैं। वेदादिशास्त्र (हजारों मुख वाला) शेषनाग व शिवजी भी उनका गुणगान नहीं कर सकते। हे पक्षिराज गरुड़ ! आपसे लेकर अनेक छोटे-मोटे मच्छर तक आकाश में उड़ते रहते हैं, परन्तु फिर भी आकाश की सीमा का अन्त कोई नहीं पा सका। उसी प्रकार से हे तात ! श्री राम की महिमा भी असीम है, अनन्त है। क्या कभी कोई उनकी सीमा का पार पा सकता है ? श्री राम का शारीरिक सौंदर्य अरबों कामदेवों के समान है। वे अनन्त कोटि दुर्गाओं के समान शत्रुओं का विनाश करने में समर्थ अर्थात् अत्यन्त शक्तिशाली हैं। वे शत् कोटि इन्द्रों के समान ऐश्वर्यवान हैं तथा उनका विस्तार करोड़ों आकाशों के समान है। कहने का अभिप्राय यह है कि अनेक आसमान भी उनमें समा सकते हैं।

श्री राम के अनन्त रूप का वर्णन करते हुए काकभुशुण्डि बोले कि वे अरबों पवनों के समान बलशाली हैं। वे अरबों सूर्यों के प्रकाश से युक्त हैं अर्थात् उनका तेज अत्यन्त प्रखर है। शीतलता में वे अरबों चंद्रमाओं के समान हैं तथा समस्त संसार के भय का नाश करने वाले हैं। अपनी कठोरता में वे अरकों कालों के समान कठोर हैं। अरबों कालों के समान ही वे दुर्गम तथा प्रचण्डता से युक्त हैं तथा अरबों धूमकेतुओं अर्थात् पुच्छल तारों के समान प्रबल अर्थात् बलशाली हैं।

काव्य-सौंदर्य–

1. यहाँ तुलसीदास ने अपने आराध्य देव राम के उज्ज्वल स्वरूप का प्रकाशन किया है तथा उन्हें शिव एवं शेष से ऊँचा स्थान प्रदान किया है।
2. राम के विषय में काकभुशुण्डि का कथन आँखों देखा बताया गया है।
3. 'तुम्हहिं आदि ..... चाहा' में उदहारण अलंकार है।
4. 'तात कबहु को कोउ पाव कि थाहा' में वक्रोक्ति अलंकार है।
5. 'राम काम ..... भगवंत' में अतिश्योक्ति व उत्प्रेक्षा अलंकार है।
6. 'धूमकेतु' एक पुच्छल तारा होता है जो विनाश का प्रतीक माना जाता है।
7. अवधी भाषा में तत्सम शब्दों की बहुलता है।
8. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं।
9. अंतिम चार पंक्तियों में दो दोहे हैं। दोहे के प्रत्येक विषम चरण में तेरह मात्राएँ होती हैं तथा प्रत्येक सम चरण में ग्यारह मात्राएँ होती हैं।

12. चौ.- प्रभु अगाध सत कोटि पताला। समन कोटि सत सरिस कराला।।
तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन।।
हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटि सत सम गंभीरा।।
कामधेनु सत कोटि समाना। सकल काम दायक भगवाना।।
सादर कोटि अमित चतुराई। विधि सत कोटि स ष्टि निपुनाई।।
विष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता।।

धनद कोटि सत सम धनवाना। माया कोटि प्रपँच निधाना।।
भार धरन सत कोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा।।
छं.– निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै।।
एहि भाँति निज निज मति विलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं।।
दो.– रामु अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ।
सतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहि सुनायउँ सोइ।।
सो.– भाव वस्य भगवान सुख निधान करुणा भवन।
तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीता रमन।।

शब्दार्थ– अगाध = गहन। **समन** = यमराज। **सरिस** = समान। **कराल** = भयंकर। **अमित** = अनंत। **सम** = समान। **पावन** = पवित्र। **अखिल** = सम्पूर्ण। **अध-पूग** = पाप समूह। **नसावन** = कष्ट करने वाले। **हिमगिरि** = हिमाचल। **अचल** = स्थिर। **सिन्धु** = समुद्र। **गंभीर** = गहरा। **कामधेनु** = इच्छा पूर्ण करने वाली गाय। **काम-दायक** = इच्छाओं को पूरी करने वाले। **विधि** = विधाता। **निपुनाई** = चतुराई। **संहर्ता** = संहार करने वाले। **धनद** = कुबेर। **प्रपंच-निधाना** = प्रपंच के खज़ाने। **अहीसा** = शेषनाग। **निखधि** = सीमा रहित। **निरुपम** = उपमा रहिता। **निगम** = शास्त्र। **जिमि** = जैसे। **खद्योत** = जुगनू। **रवि** = सूर्य। **मनीश** = श्रेष्ठ मुनि। **बखानहीं** = कहते हैं। **ग्राहक** = ग्रहण करने वाले। **अमित** = अनन्त। **थाह** = गहराई। **सन** = से। **किछु** = कुछ। **वस्य** = वशीभूत। **करुणा-भवन** = दया के घर। **सीता-रमन** = सीता के पति।

प्रसंग– प्रस्तुत पद्य खण्ड भक्तिकालीन सगुण काव्यधारा के श्रेष्ठ कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्धृत है। काकभुशुण्डि ने स्वयं अनुभव किया है कि श्री राम अत्यन्त शक्तिशाली हैं एवं सभी मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। अतः राम की महिमा का बखान करते हुए काकभुशुण्डि पक्षिराज गरुड़ से कहते हैं–

व्याख्या– हे खगराज ! प्रभु श्री राम अरबों पातालों के समान अगाध हैं, अथाह हैं। वे अरबों यमराजों के समान भयानक अर्थात् प्रचण्ड शक्ति के समान हैं। वे असंख्य कोटि तीर्थों के समान पवित्र हैं उनका नाम सम्पूर्ण पाप-समूह को नष्ट करने वाला है। श्री रघुनाथ करोड़ों हिमालयों के समान स्थिर चित्त वाले अर्थात् दृढ़ हैं तथा अरबों समुद्रों की भाँति गहन एवं गंभीर हैं, इतना ही नहीं वे अरबों कामधेनुओं के समान मनवांछित फल को प्रदान करने वाले भी हैं अर्थात् वे सभी प्राणियों की कामनाओं को पूर्णता प्रदान करने वाले हैं। वे करोड़ों सरस्वतियों के समान अपार बुद्धि से युक्त तथा अरबों ब्राह्माओं के समान सृष्टि रचना की कला में निपुण हैं। यही नहीं, वे इस सृष्टि का पालन करने में करोड़ों विष्णुओं के समान समर्थ तथा संहार-कार्य में अरबों रुद्रों के समान सक्षम हैं। वे अरबों कुबेरों के समान धनवान हैं, करोड़ों मायाओं के समान प्रपंच की अक्षय निधि हैं तथा अरबों शेषनागों के समान भार धारण करने वाले हैं। सम्पूर्ण जगत के ईश्वर प्रभु श्री राम की न तो कोई सीमा है और न उनकी उपमा ही किसी अन्य से दी जा सकती है।

काकभुशुण्डि गरुड़ से कहते हैं कि श्री राम उपमा रहित हैं, उनकी समता कर पाने के लिए दूसरी कोई उपमा है ही नहीं। वेदों में भी यही उल्लिखित है कि राम के समान तो केवल राम ही हैं। जिस प्रकार सूर्य को अरबों जुगनुओं के समान कहने पर वह लघुत्व को ही प्राप्त होता है अर्थात् सूर्य की निंदा ही होती है उसी प्रकार अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार मुनीश्वर श्री हरि का वर्णन किया करते हैं, पर प्रभु तो इतने कृपालु हैं कि वे इसमें भी भक्त का भाव ही देखते हैं। अतः इस थोड़े से

ही वर्णन को अत्यधिक प्रेमभाव से सुनकर ही खीझ उठते हैं।

काकभुशुण्डि पुनः गरुड़ से कहते हैं कि श्री राम तो असीम गुणों के ऐसे सागर हैं जिसकी गहनता की थाह कोई नहीं पा सकता। मैंने तो आपसे वही कुछ कहा है, जो मैं संत महात्माओं से सुन पाया हूँ। सुख की राशि एवं करुणा के सागर प्रभु तो बस भाव के भूखे हैं अतः ममत्व भाव, मद एवं मान का परित्याग करके सीतापति श्री राम का ही भजन कीजिए।

काव्य-सौंदर्य–

1. महाकवि तुलसीदास ने राम को सर्वोपरि कहकर उनकी आराधना की है।
2. मानसकार ने राम के महिमामय स्वरूप का गुणगान किया है।
3. राम की भक्ति को महत्त्व दिया गया है।
4. **अलंकार** – 'निरुपम' में परिकरांकुर अलंकार है।
   प्रपंच विधान, गुन-सागर, करुणा-भवन में रूपक अलंकार है।
   'थाह कि पावइ कोई में' वक्रोक्ति अलंकार है।
5. अवधी भाषा के प्रयोग में तत्सम शब्दों की बहुलता है।
6. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है।
7. 'निरूपम .....मनहीं' में हरि गीतिका छंद हैं, जिसके प्रत्येक चरण में 28 मात्राएँ हैं।
8. 'रामु ..... सोई' में दोहा छंद है, जिसके प्रत्येक विषम चरण में 13-13 मात्राएँ तथा सम चरण में 11-11 मात्राएँ होती हैं।

13. चौ.- सुनि भुसुंडि के वचन सुहाए। हरषित खगपति पंख फुलाए।।
नयन नीर मन अति हरषाना। श्री रघुपति प्रताप उर आना।।
पाछिल मोह समुझि पछिताना। ब्रह्म अनादि मनुज करि माना।।
पुनि पुनि काग चरन सिरु नावा। जानि राम सम प्रेम बढ़ावा।।
गुर बिनु भव निधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।।
संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता।।
तव सरूप गारुडि रघुनायक। मोहि जिआयउ जन सुखदायक।।
तव प्रसाद मम मोह नसाना। राम रहस्य अनूपम जाना।।
दो.– ताहि प्रसंसि बिविधि विधि सीस नाइ कर जोरि।
वचन विनीत सप्रेम म दु बोलेउ गरुड़ बहोरि।।
प्रभु अपने अविवेक ते बूझउँ स्वामी दोहि।
कृपासिंधु सादर कहुहु जानि दास निज मोहि।।

शब्दार्थ– खगपति = पक्षीराज, गरुड़। **पंख फुलाए** = प्रसन्न हुए। **नयन नीर** = आँखों में खुशी के आँसू। **उर आना** = हृदय में आ गया। **पाछिल** = पूर्ववर्ती। **अनादि** = आदि रहित। **मनुज करि माना** = मानव के रूप में जाना था। **पुनि-पुनि** = बार-बार। **सम** = समान। **भव-निधि** = संसार रूपी सागर। **बिरंचि** = ब्रह्मा। **संसय सर्प** = संदेह रूपी साँप। **ग्रसेउ** = काट लिया है। **कुतर्क** = अशुभ विचार। **ब्राता** = व्याप्त हो गये। **गारुड़ि** = सर्प का विष उतारने वाले। **जिआयउ** = जीवित कर दिया। **तव प्रसाद** = तुम्हारी कृपा। **मम** = मेरा। **नसाना** = नष्ट हो गया। **अनूपम** = अद्वितीय। **प्रसंसि** = प्रशंसा करके। **विविधविधि** = अनेक प्रकार से। **बहोरि** = फिर से। **अविवेक** = अज्ञान। **कृपासिंधु** = दया के सागर।

प्रसंग– प्रस्तुत व्याख्या हेतु पद्य-खण्ड भक्तिकालीन सगुण काव्यधारा के अन्तर्गत राम काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। गरुड़ जब अपने संदेह को दूर करने के लिए काकभुशुण्डि के पास

गए और काक के मुख से उपदेश सुना तब गरुड़ का सारा संदेह दूर हो गया।

व्याख्या– रामकथा को कहने वाले काकभुशुण्डि के वचनों को सुनकर गरुड़ बहुत प्रसन्न होते हैं। अतः प्रसन्नता को व्यक्त करने के लिए उन्होंने अपने पंखों को फुलाया। प्रसन्नता के कारण उनकी आँखों में आँसू भर आए। वे अपने मन में बहुत प्रसन्न हुए, उन्होंने भगवान राम के प्रताप को अपने हृदय में प्राप्त किया। अर्थात् वे हृदय से राम के प्रताप को समझ गए। जब उन्होंने अपने पूर्ववर्ती मोह के विषय में ज्ञात किया तो वे पछताने लगे कि राम तो अनादि ब्रह्म हैं, उनको मनुष्य कैसे समझ रखा था ? गरुड़ ने बार-बार काकभुशुण्डि के सामने सिर झुकाया और उन्हें राम के समान ही समझकर उनके प्रति प्रीति की और अधिक व द्धि की। गुरु के बिना कोई भी इस संसार रूपी समुद्र को पार नहीं कर सकता भले ही वह ब्रह्मा या शंकर के समान अपार शक्ति सम्पन्न ही क्यों न हो। अर्थात् कल्याण के लिए गुरु का रहना अनिवार्य है। काकभुशुण्डि की इस कल्याण करने वाली बात को सुनकर गरुड़ बोले– हे तात् ! मुझे संदेह रूपी सर्प ने ग्रस लिया था।

जिस कारण मेरे अन्दर अनेक दुःख देने वाली कुतर्क रूपी लहरें व्याप्त हो गयी थीं। भाव यह है कि जैसे साँप के काटने से जहर की लहरें शरीर में फैल जाती हैं वैसे ही भगवान् के विषय में संशय होने से अनीतिपूर्ण भावनाएँ मन में भर जाती हैं। अब मैंने (गरुड़ ने) भगवान् के गारुड़ी रूपी सच्चे स्वरूप को ज्ञात कर लिया है अर्थात् अब मेरा संदेह रूपी विष उतर गया है। मानो सुख देने वाले राम ने मुझे जीवित कर दिया है। (हे काकभुशुण्डि !) तुम्हारी कृपा से मेरा मोह अब नष्ट हो गया है। मैंने राम के रहस्य को समझ लिया है। वे अद्वितीय हैं।

इस प्रकार गरुड़ काकभुशुण्डि की अनेक प्रकार से बड़ाई करने लगे और हाथ जोड़कर उनके समक्ष सिर झुका लिया तथा नम्रता भरे वचनों से प्रेम सहित कोमल भावना से भरकर इस प्रकार कहने लगे – हे स्वामी ! हे प्रभु ! मैं अपने अज्ञान से मरा हुआ हूँ तो भी आपसे पूछता हूँ। हे दया के सागर ! मुझे अपना सेवक जानकर आप मेरी शंका का समाधान करें।

काव्य-सौंदर्य–

1. यहाँ तुलसी ने सांगरूपक के माध्यम से अपने आराध्य के साथ-साथ उसके भक्तों को भी उस जैसा ही मान प्रदान किया है। 'गुरु बिन भव निधि तरइ न कोई' कहकर एक बार फिर गुरुजनों के प्रति अपने हृदय की असीम भक्ति को वाणी प्रदान की है।
2. काकभुशुण्डि के वचन सुनकर गरुड़ ने उनके समक्ष श्रद्धा से सिर झुका दिया।
3. भक्ति भावना प्रतिपादित की गई है।
4. अलंकार – 'जानि राम समप्रेम पढ़ाया' में उपमा अलंकार है।
   'गुरु बिनु ..... बाता' में सांगरूपक अलंकार है।
5. अवधी भाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग से सौंदर्यवर्धन हुआ है।
6. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है।
7. अंतिम चार पंक्तियों में दोहा छंद है।

14. चौ.- तुम्ह सर्वग्य तग्य तम पारा। सुमति सुसील सरल आचारा।।
ग्यान विरति-विग्यान निवासा। रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा।।
कारन कवन देह यह पाई। तात सकल मोहि कहहू बुझाई।।
राम चरित सर सुन्दर स्वामी। पायहु कहाँ कहहु नभगामी।।
नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं। महा प्रलयहुँ नास तब नाहीं।।
मुधा वचन नहिं ईस्वर कहई। सोउ मोरे मन संसय अहई।।
अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जगु काल कलेवा।।

अंड कटाह अमित लय कारी। कालु सदा दुरितक्रम भारी।।

सौ.— तुम्हहिं न व्यापत काल अति कराल कारन कवन।
मोहि सो कहहु कृपाल ग्यान प्रभाव कि जोग बल।।

दो.— प्रभु तब आश्रम आएँ मोर मोह भ्रम भाग।
कारण कवन सो नाथ सब कहहु सहित अनुराग।।

शब्दार्थ— सर्वग्य = सभी कुछ जानने वाले। **तग्य** = तत्व ज्ञानी। **तम** = अंधकार। **पारा** = पार करने वाले। **सुमति** = अच्छी बुद्धि वाले। **सुसील** = सदाचारी। **विरति** = वैराग्य। **कवन** = कौन। **देह** = शरीर। **बुझाई** = समझाकर। **सर** = सरोवर। **नभगामी** = आकाश चारी। **अस** = यह। **पाहीं** = पास से। **नास** = विनाश। **तव** = आपका। **मुधा** = असत्य। **अग-जग** = चर-अचर जीव। **काल-कलेवा** = काल द्वारा विनाश होने वाले। **अंड कटाह** = ब्रह्माण्ड। **अमित** = अनंत। **लयकारी** = विनाशकारी। **दुरतिक्रम** = अनुलंघनीय। **कराल** = भयंकर। **नहि व्यापत** = प्रभाव नहीं। **कवन** = कौन-सा। **किआनंदभरी** = क्या। **मोर** = मेरा। **भाग** = नष्ट हो गया। **अनुराग** = प्रेम।

प्रसंग— व्याख्या हेतु प्रस्तुत पद्य-भाग भक्तिकालीन, राम काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। गरुड़ जब राम के विषय में संदेहयुक्त होते हैं तब वे काकभुशुण्डि के पास जाते हैं, काक उनके संदेह को दूर कर देते हैं और राम के महत्व को भली-भाँति स्पष्ट कर देते हैं, उनसे संतुष्ट होकर गरुड़ काकभुशुण्डि से कहते हैं—

व्याख्या— हे काकभुशुण्डि ! आप तो सर्वज्ञ हैं अर्थात् सब कुछ जानने वाले हैं, परम तत्व के ज्ञाता हैं तथा मायाजनित अज्ञान से परे हैं, माया का आप पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। आप उत्तम बुद्धि वाले, सुशील तथा सरल आचरण से युक्त हैं। ज्ञान, वैराग्य और विज्ञान तीनों आपके हृदय में निवास करते हैं और इन सबसे बढ़कर बात यह है कि आप श्री रघुनाथ के प्रिय दास अर्थात् भक्त हैं। परन्तु मेरी समझ में यह नहीं आया कि आपने किस कारण यह कौए का शरीर प्राप्त किया है ? हे तात ! इस बात को मुझे पूरी तरह समझाकर कहिए। हे स्वामी ! रामचरित सुंदर मानस मानसरोवर है। हे आकाशगामी काकभुशुण्डि तुमने इसे कहाँ से प्राप्त किया ? मुझे विस्तारपूर्वक समझाकर बताइए। हे नाथ ! मैंने शिवजी से यह भी सुना है कि महाप्रलय आने पर भी आपका विनाश संभव नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि भगवान शिवजी कभी भी असत्य नहीं कहते हैं। यह भी मेरे मन में संदेह हो गया है। वास्तव में, हे नाथ ! संसार में चर-अचर, जीव, सर्प, मानव, देवता सभी काल द्वारा कवलित हो जाते हैं अर्थात् काल सभी का विनाश करता है। काल अनन्त ब्रह्मांडों का भी नष्ट करने वाला है। काल इतना भारी है कि उसका उल्लंघन करना कठिन है।

हे प्रभु ! यह ऐसा भयंकर काल आपको तनिक भी प्रभावित नहीं करता इसका क्या कारण है ? कृपा करके मुझसे कहें कि यह आपके ज्ञान का प्रभाव है या योग बल का ? हे प्रभु ! आपके आश्रम में प्रवेश करते ही मेरे मन का मोह एवं भ्रम समाप्त हो गया। हे नाथ ! प्रेम भाव से युक्त होकर इसका कारण भी बताने की कृपा करें।

काव्य-सौंदर्य—

1. यहाँ माया के वशीभूत हुए मन की संशयमयी स्थिति का वर्णन किया गया है। 'शिव कभी मिथ्यावचन नहीं कहते' के मूल में शैव और वैष्णवों में समन्वय की भावना भी द ष्टव्य है।
2. यहाँ परोक्ष रूप से जीव पर ईश्वरीय अनुकम्पा और उसकी महिमा को मुखरता प्रदान की गई है।

3. गरुड़ का आश्चर्य अभिव्यक्त हुआ है कि काकभुशुण्डि ने यह अविनाशी शरीर कैसे प्राप्त किया ?
4. भक्ति भावना प्रतिपादित की गई है।
5. 'रामचरित सर' में रूपक अलंकार है।
6. 'ज्ञान प्रभाव कि जोग बल' में संदेह अलंकार है।
7. 'तम' अज्ञान का प्रतीक है।
8. आरम्भ की आठ पंक्तियों में चौपाई छंद प्रयुक्त हुआ है।
9. 'तुम्हहि न ..... जोग बल' में दोहा छंद है।
10. 'प्रभु तब ..... अनुराग' में सोरठा छंद है।

15. चौ.- गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा। बोलेउ उमा परम अनुरागा।।
धन्य-धन्य तव मति उरगारी। प्रस्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी।।
सुनि तव प्रस्न सप्रेम सुहाई। बहुत जनम कै सुधि मोहि आई।।
सब निज कथा कहउँ मैं गाई। तात सुनहु सादर मन लाई।।
जप तप मख सम दम व्रत दाना। विरति विवेक जोग विग्याना।।
सब कर-फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा।।
एहिं तन राम भगति मैं पाई। ताते मोहि ममता अधिकाई।।
जेहिं तें कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई।।

सो.– पन्नगारि असि नीति श्रुति संमत सज्जन कहहिं।
अति नीचहु सन प्रीति करिअ जानि निज परम हित।।
पाट कीट तें होइ, तेहि तें पाटंबर रुचिर।
कृमि पालइ सबु कोइ, परम अपावन प्रान सम।।

शब्दार्थ– गिरा = वाणी। **कागा** = काकभुशुण्डि। **उमा** = पार्वती। **मति** = बुद्धि। **उरगारी** = सर्पों का शत्रु गरुड़। **मोहि** = मुझे। **सुहाई** = अच्छे लगे। **कै** = की। **सुधि** = स्म ति, याद। **मन लाई** = मन लगाकर। **मख** = यज्ञ। **सम** = मन को वश में रखना। **दम** = इन्द्रियों को वश में करना। **दाना** = दान। **विरति** = वैराग्य। **विवेक** = अच्छे बुरे का ज्ञान। **विग्याना** = तत्वज्ञान। **तेहि बिनु** = उनके बिना। **छेमा** = कल्याण, क्षेम। **ऐहिं तन** = इसी शरीर से। **ताते** = इसी कारण। **मोहि** = मुझे। **जिहितैं** = जिससे। **तेहि** = उसी से। **पन्नगिरि** = सर्पों का शत्रु गरुड़। **असि** = इस प्रकार की। **श्रुति संमत** = शास्त्र द्वारा सहमति। **सन** = से। **पाट** = कपड़ा। **कीट** = कीड़े। **पाटंवर** = रेशमी वस्त्र। **रुचिर** = सुन्दर। **कृमि** = कीड़े। **अपावन** = अपवित्र।

प्रसंग– प्रस्तुत व्याख्या हेतु पद्य-खण्ड राम भक्ति के उपदेशक, प्रबंधकार कविवर 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। शिवजी रामकथा पार्वती को सुना रहे थे। इसी कथा को काकभुशुण्डि गरुड़ को सुना रहे हैं। अतः जब गरुड़ काकभुशुण्डि से प्रश्न करते हैं काकभुशुण्डि उनक प्रश्नों का उत्तर देने को तत्पर हैं।

व्याख्या– शिवजी पार्वती से कहते हैं कि हे उमे ! खगराज गरुड़ की इस प्रकार की वाणी को सुनकर काकभुशुण्डि अत्यन्त प्रसन्न हुए और अत्यन्त प्रेम से अभिभूत हुई वाणी में बोल उठे कि हे सर्पों के शत्रु गरुड़ ! तुम्हारी बुद्धि धन्य है, परम धन्य है। तुम्हारे द्वारा किए गए सभी प्रश्न मुझे अत्यधिक प्रिय लगे। तुम्हारे प्रेमयुक्त इन प्रश्नों को सुनकर मुझे बहुत से जन्मों की स्म ति एक साथ हो आई है। अतः मैं अपनी सारी कथा तुम्हें विस्तारपूर्वक सुनाता हूँ, हे तात ! मन लगाकर आदर भाव

से यह सब सुनें। जप, तप, यज्ञ, शमन, इन्द्रिय, निग्रह, व्रत-उपवास, दान-पुण्य, वैराग्य, विवेक, योग-साधना और ज्ञान-विज्ञान आदि इन सभी कार्यों और ज्ञान आदि सभी का फल श्री रघुपति के चरणों में प्रेमाभक्ति उत्पन्न करना मात्र ही है, बिना इसके किसी भी प्राणी के लिए कल्याण प्राप्त कर पाना संभव नहीं। इसी काक देह में मैंने श्री राम की अनन्य भक्ति को प्राप्त किया था। अतः उसी से मुझमें इस शरीर के प्रति अगाध ममत्व-भाव विद्यमान है। जिस वस्तु से किसी स्वार्थ की सिद्धि होती हो उसके प्रति सभी के हृदय में ममत्व भाव का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है।

आगे पक्षीराज गरुड़ की शंका का समाधान करते हुए काक शरीर के प्रति अपनी ममता का कारण बताते हुए काकभुशुण्डि जी कहते हैं कि हे खगेश ! अत्यधिक नीच अथवा तुच्छ पर भी प्रेमभाव रखना चाहिए। यदि उससे हमारा परम हित होता हो। यह नीति वेद-शास्त्र सम्मत है एवं सज्जनों ने भी इसका अनुमोदन किया है। जैसे कीड़े से रेशम बनता है और उस रेशम से अत्यन्त मूल्यवान एवं सुंदर रेशमी वस्त्रों का निर्माण होता है, इसलिए उस तुच्छ एवं अपवित्र कीड़े को भी सब प्राणों के तुल्य सुरक्षा से पालते हैं। इसी प्रकार मैं भी इस काक शरीर से इसलिए प्रेम करता हूँ क्योंकि इसी के माध्यम से मुझे श्री राम की मूल्यवान भक्ति प्राप्त हुई है। भाव यह है कि मनुष्य को नीच होते हुए भी हितकारी वस्तुओं से ही प्रेम करना चाहिए।

काव्य-सौंदर्य–

1. यहाँ कवि ने अपने आराध्य देव श्री राम के चरणों में प्रेमाभक्ति के प्राप्त करने को ही सर्वोपरि माना है तथा जप, तप, यज्ञ, दान-पुण्य, वैराग्य, विवेक और ज्ञान-विज्ञान आदि सभी कर्मों एवं ज्ञान को प्रभु की भक्ति को प्राप्त करने का साधन मात्र ही ठहराया है।
2. भक्ति भावना प्रतिपादित की गई है।
3. गरुड़ के मन में प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है, जिनका उत्तर काकभुशुण्डि देने वाले हैं।
4. कीड़ों से रेशमी वस्त्रों का उत्पादन होता है, यह सत्य है।
5. अंतिम चार पंक्तियों में अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग हुआ है।
6. तत्सम शब्दावली के साथ अवधी भाषा का रूप निखर कर सामने आया है।
7. चौपाई छंद प्रथम आठ पंक्तियों में हैं।
8. अंतिम चार पंक्तियों में दो सोरठे हैं अतः सोरठा छंद प्रयुक्त हुआ है।

16. चौ.- स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम वचन राम पद नेहा।।
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघु धीरा।।
राम विमुख लहि विधि सम देही। कवि कोविद न प्रसंसहिं तेही।।
राम भगति एहिं तन उर जामी। ताते मोहिं परम प्रिय स्वामी।।
तजउँ न तन निज इच्छा मरना। तन बिनु वेद भजन नहिं वरना।।
प्रथम मोहँ मोहि बहुत विगोवा। राम विमुख सुख कबहुँ न सोवा।।
नाना जनम कर्म पुनि नाना। किए जोग जप तप मख दाना।।
कवन जोनि जनमेउ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं।।
देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाई।।
सुधि मोहि नाथ जनम बहु केरी। सिव प्रसाद मति मोहँ न घेरी।।

दो.– प्रथम जनम के चरित अब कहउँ सुनहु विहगेस।
सुनि प्रभु पद रति उपजइ जातें मिटहिं कलेस।।
पूरुब कल्प एक प्रभु जुग कलिजुग मल मूल।।

नर अरु नारि अधर्म रत सकल निगम प्रतिकूल।।

शब्दार्थ– साँच = सत्य। **एहा** = यह। **क्रम** = कर्म। **नेहा** = स्नेह। **सोई** = वह। **पावन** = पवित्र। **सुभग** = सुन्दर। **तनु** = शरीर। **विमुख** = विपरीत। **विधि** = विधाता, ब्रह्मा। **देही** = प्राणी। **कोविद** = बुद्धिमान। **प्रसंसहि** = प्रशंसा करते हैं। **तेही** = उसी का। **एहिं तन** = इस शरीर। **उर जामी** = हृदय में उत्पन्न हुई। **ताते** = इसलिए। **तजऊँ** = छोड़ना। **तन** = शरीर। **मोह** = माया। **विगोवा** = बिगाड़ा। **सोवा** = सोया। **नाना जनम** = अनेक जन्म। **जोग** = योग-साधना। **मख** = यज्ञ। **कवन** = कौन सी। **जोनि** = योनि, शरीर। **जहँ नाही** = जहाँ नहीं। **खगेस** = गरुड़। **भ्रमि** = भ्रमण करना, भटकना। **अबहिं की नाई** = इस समय के समान। **सुधि** = स्म ति। **केरी** = की। **मति** = बुद्धि। **चरित** = कथा। **विहगेस** = पक्षीराज गरुड़। **रति** = प्रेम। **कलेस** = कष्ट। **पूरुब** = पूर्व। **कलियुग** = कलयुग। **मलमूल** = पापों की जड़। **अरु** = और। **रत** = लवलीन। **निगम** = शास्त्र। **प्रतिकूल** = विरुद्ध।

प्रसंग– व्याख्या हेतु प्रस्तुत पद्य-भाग हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में रामभक्ति काव्यधारा के प्रसिद्ध कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा रचित प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। गरुड़ ने जब काकभुशुण्डि से पूछा कि तुमने राम की भक्ति को पाने के बाद भी यह कौए का शरीर धारण क्यों किया ? तब इसका उत्तर देते हुए काकभुशुण्डि कहते हैं–

व्याख्या– मनुष्य के हित अथवा सच्चे स्वार्थ की व्याख्या करते हुए काकभुशुण्डि कहते हैं कि जीव का सच्चा स्वार्थ इसी में है कि वह मन, वचन एवं कर्म से राम के चरण कमलों की स्नेह पूर्वक आराधना करता रहे। वही शरीर सबसे सुंदर, आकर्षक एवं पवित्र है। जिसके माध्यम से श्री रामचंद्र जी का भजन संभव हो सके। ब्रह्मा के समान सुंदर शरीर पाकर भी यदि जीव श्री राम की भक्ति से विमुख रहता है, तो सुंदर होते हुए भी उस शरीर की कवि एवं ज्ञानीजन प्रशंसा नहीं करते। भाव यह है कि महत्वपूर्ण वस्तु शरीर का सौंदर्य नहीं है, अपितु हृदय के भाव हैं। क्योंकि मुझे कौए के इस तुच्छ शरीर के माध्यम से ही श्री राम की भक्ति प्राप्त हुई है। इसलिए यह शरीर मुझे (अन्य शरीरों की अपेक्षा) अत्यधिक प्रिय है। मेरी म त्यु मेरी इच्छा पर निर्भर है, अर्थात् इच्छा होने पर मैं अपने शरीर को त्याग सकता हूँ इस पर भी मैं इसका त्याग नहीं करता। वेद कहते हैं कि शरीर के बिना भगवान् का भजन (भक्ति) संभव नहीं है। इसलिए प्रभु की भक्ति करने के कारण ही मैं यह शरीर धारण किए हुए हूँ। राम से विमुख होकर कभी कोई सुख से नहीं सो सकता। राम भजन से रहित मुझ पर भी मोह ने अपना दुष्प्रभाव डाला। अनेक योनियों में जन्म लेकर मन के भ्रम को दूर करने के लिए मैंने अनेक प्रकार के योग, जप, तप, यज्ञ और दान आदि कर्म किए। हे खगराज ! ऐसी कौन-सी योनि है जिसमें मैंने जन्म न लिया हो ? इस प्रकार मैं जग में विभिन्न रूपों को धारण कर घूमता रहा। हे गरुड़ ! सभी प्रकार के कर्म भी मैंने किए किंतु जितना सुख मुझे इस कौए के रूप में मिला उतना किसी अन्य जन्म में नहीं। और हे नाथ ! मुझे अनेक जन्मों की कथाएँ भी याद हैं, क्योंकि शिवजी की कृपा से मेरी बुद्धि मोह-ग्रसित नहीं हुई, वह अकुंठित है।

अपने पिछले जन्मों की कथा सुनाते हुए काकभुशुण्डि कहते हैं, हे खगराज ! अब मैं आपको अपने पिछले जन्म की कथा सुनाता हूँ। आप सुनिए। उस कथा को सुनकर श्री राम के चरण कमलों में प्रेम उत्पन्न होता है एवं सारे दुःख क्लेश समाप्त हो जाते हैं। पहले समय के एक कल्प की बात है। जब कलियुग था जो पापों का मूल कारण या जिसमें नर और नारी अधर्म का सेवन करते थे अर्थात् अधर्म, अनाचार के पथ पर चलते थे, उनका आचरण वेदों के विपरीत था।

काव्य-सौंदर्य–

1. प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने इस तथ्य के प्रतिपादन की चेष्टा की है कि इस जीवन की सबसे सार्थक वस्तु रामभक्ति है और वह जब तक नहीं मिल जाती, तब तक जीव अनेक

योनियों में भटकता हुआ मोह ग्रस्त होकर कष्ट पाता रहता है।

2. कवि का कहना है कि राम भक्ति की प्राप्ति के लिए मनुष्य शरीर ही आवश्यक नहीं, ईश्वर अपने भक्तों अथवा सच्चे साधकों पर किसी भी रूप में कृपाद ष्टि कर देता है।
3. ऐसा भी माना जाता है कि स ष्टि में चारों युग पुनः लौटकर आते हैं इन चारों युगों को एक कल्प कहते हैं।
4. काकभुशुण्डि द्वारा पूर्व जन्म की कथा सुनाई गई है।
5. 'कवन जोनि जनमेहुँ जहँ' नाहीं' में वक्रोक्ति अलंकार है।
6. 'भ्रामि-भ्रामि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
7. तत्सम शब्दों के बाहुल्य से अवधी भाषा सुन्दर बन गई है।
8. चौपाई और दोहा छंद का प्रयोग है।

17. चौ.- तेहिं कलिजुग कोसलपुर जाई। जन्मत भयउँ सूद्र तनु पाई।।
सिव सेवक मन क्रम अरु बानी। आन देव निंदक अभिमानी।।
धन मद मत्त परम बाचाला। उग्रबुद्धि उर दंभ विसाला।।
जदपि रहेउँ रघुपति रजधानी। तदपि न कछु महिमा तब जानी।।
अब जाना मैं अवध प्रभावा। निगमागम पुरान अस गावा।।
कवनेहुँ जन्म अवध दस जोइ। राम परायन सो परि होई।।
अवध प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिं रामु धनुपानी।।
सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परावन सब नर नारी।।
दो.— कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु ग्रंथ।
भए लोग सब मोह बस लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरियान ग्यान निधि कहउँ कछुक कलिधर्म।।

शब्दार्थ— तेहिं = उस। **कोसलपुर** = अयोध्यापुरी। **जाई** = उत्पन्न हुआ। **जन्मत** = पैदा होते ही। **तनु पाई** = शरीर प्राप्त किया। **क्रम** = कर्म। **अरु** = और। **आन** = अन्य, दूसरे। **निंदक** = निंदा करने वाला। **मत्त** = मतवाला। **वाचाला** = उल्टासीधा बोलने वाला। **उग्रबुद्धि** = तेज बुद्धि वाला। **दंभ विसाला** = बहुत बड़े अहंकार वाला। **रजधानी** = राजधानी। **तव** = आपकी। **निगमागम** = वेद आदि। **अस** = इस प्रकार। **कवनेहुँ** = किसी। **जोई** = जो व्यक्ति। **परि होई** = हो जाता है। **रामपरायण** = राममय। **धनुपानी** = हाथ में धनुष रखने वाले। **उरगारी** = पक्षीराज गरुड़। **कलिमल** = कलियुग का दोष। **ग्रसे** = नष्ट कर दिये। **लुप्त भए** = समाप्त हो गये। **दंभिन्ह** = अहंकार। **निज मति** = अपनी बुद्धि। **कल्पिकरि** = कल्पना करके। **हरियान** = भगवान् हरि के वाहन, गरुड़। **ग्यान-निधि** = ज्ञान के खजाने, गरुड़। **कछुक** = कुछ, अल्प, थोड़ा-सा।

प्रसंग— प्रस्तुत व्याख्या हेतु पद्य-खण्ड हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के श्रेष्ठ कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। काकभुशुण्डि खगराज गरुड़ के प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपने पूर्व जन्म का व तान्त सुनाकर उन्हें बता रहे हैं कि पूर्व कल्प में जब कलियुग था तब सभी अधर्म का आचरण करते थे उसी की बात है—

व्याख्या— काकभुशुण्डि कहते हैं उस समय कलियुग में मेरा जन्म अयोध्या नगरी में हुआ था। वहाँ मैंने एक शूद्र के रूप में शरीर प्राप्त किया अर्थात् मैं जाति से शूद्र था। मैं मन, वचन और कर्म से शिव का सेवक था। शिव के अतिरिक्त, अन्य देवों की निंदा करता था। वहाँ रहते हुए मुझे धन

का बड़ा अभिमान था और मैं हमेशा अभिमानवश जीवन जीता था। मतवाला होकर व्यर्थ की बातें करता था। यद्यपि मैं तीव्र बुद्धि वाला था, परन्तु मेरे हृदय में बहुत अधिक घमण्ड था। मैं भगवान् राम की राजधानी (अयोध्या नगरी) में रहता था; फिर भी मैंने किसी प्रकार की महिमा ज्ञात नहीं की। अब मैंने इस जन्म में अयोध्या रहकर अवश्य भगवान् राम के प्रभाव को ज्ञात किया है। वेदों-पुराणों में भी इन तथ्यों को दोहराया गया है। यहाँ तक वेदों-पुराणों में भी श्री राम की महिमा का बखान है। उनमें लिखा हुआ है कि यदि कोई प्राणी किसी जन्म में अयोध्या जाकर रहने लगता है वह राम-परायण हो जाता है। अर्थात् राम-भक्ति में लीन हो जाता है। अयोध्या का प्रभाव इसी प्रकार है कि उसे हर प्राणी आसानी से समझ एवं जान सकता है। उस समय साधक के हृदय में धनुष धारण करने वाले प्रभु राम की छवि अंकित हो जाती है। हे खगराज ! सर्पों के शत्रु गरुड़! वह कलियुग अत्यन्त कठोर था। उस समय नर-नारी पाप भरा आचरण करते थे।

आगे काकभुशुण्डि कलियुग का पुनः वर्णन करते हुए कहते हैं कि उस समय कलियुग में इतने पापाचार होते थे कि उनसे अछूता कोई भी प्राणी नहीं था और न ही कोई धर्म स्वयं को अछूता रख सका था। अर्थात् सभी धर्मों में पाप का आचरण होने लगा था। जिसके कारण सभी सद्ग्रन्थ अर्थात् धर्मग्रन्थ लुप्त हो गए। इस युग के पाखण्ड प्रिय प्राणियों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अपनी कल्पना के माध्यम से विविध प्रकार के पंथ एवं सम्प्रदायों को जन्म दे डाला। इससे सभी प्रजाजन मोह के वशीभूत हो चुके थे तथा अच्छे और शुभ कार्यों को लोभ ने अपने वश में कर लिया था। अर्थात् शुभ कार्यों में भी लोभ होता था। हे हरि के वाहन गरुड़ ! हे ज्ञान के सागर ! आप कलियुग के ध र्म को सुनिए, जिसका मैं अब आपके समक्ष वर्णन करता हूँ। कृपा ध्यानपूर्वक सुनिए।

काव्य-सौंदर्य–

1. कवि काकभुशुण्डि के माध्यम से इस विचार को व्यक्त करना चाहता है कि शिव इत्यादि किसी अन्य देव का भक्त होने पर भी जीव को राम की भक्ति के बिना मुक्ति अथवा शांति नहीं मिलती। इसे तुलसीदास जी का समन्वयवाद कह सकते हैं।
2. राम की धर्नुधारी मूर्ति का ही गोस्वामी जी ने यहाँ पक्ष लिया है। वास्तव में वे राम के लोक रक्षक रूप के पूजक थे। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है–

   ''तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लो हाथ।''
3. काकभुशुण्डि अपने उस जीवन के विषय में बताता है जब कलियुग में वह पैदा हुआ था और उसके कुप्रभाव से ग्रसित था।
4. राम की भक्ति को व्यक्त किया गया है।
5. 'ग्यान-निधि' में रूपक अलंकार है।
6. तत्सम शब्दावली का सुंदर प्रयोग किया गया है।
7. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग है।
8. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं।
9. अंतिम चार पंक्तियों में दोहा छंद है।

18. चौ.- बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी।।
द्विज श्रुति बेचक भूत प्रजासन। कोउ नहिं माग निगम अनुसासन।।
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।।
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहँ संत-कहइ सब कोई।।
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बढ़ आचारी।।

जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवंत बखाना।।
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो विरागी।।
जाकें नख अरु जटा विसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।।
दो.— असुभ वेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं।।
सो.— जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम वचन लबार तेइ वकता कलिकाल महुँ।।

शब्दार्थ— बरन = चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। **आश्रम** = चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, ग हस्थ, बानप्रस्थ, सन्यास। **चारी** = आचरण करने वाली। **श्रुति-विरोध** = वेद के प्रतिकूल। **रत** = लगे हुए। **द्विज** = ब्राह्मण। **बेचक** = बेचने वाले। **भूप** = राजा। **प्रजासन** = प्रजा का भक्षक। **निगम अनुशासन** = शास्त्रों के नियम या आदेश। **जा कहुँ** = जिसको। **जोइ भावा** = जो अच्छा लगता था। **गाल बजाना** = व्यर्थ की बातें करना। **मिथ्यारंभ** = झूठा आडम्बर। **दंभ रत** = अहंकार में लीन। **ता कहँ** = उसको। **सयान** = बुद्धिमान्। **परधन हारी** = दूसरे का धन को हरण करने वाला। **सो** = वह। **बढ़ आचारी** = अच्छे आचरण वाला। **मसखरी** = हँसी-मजाक। **गुनवंत** = गुणवान्। **बखाना** = कहा गया। **निराचार** = कुमार्ग-गामी। **त्यागी** = छोड़ने वाला। **नख** = नाखून। **बिसाला** = बड़ी-बड़ी। **तापस** = तपस्वी। **भूषण** = अलंकार। **भच्छाभच्छ** = खाने योग्य और न खाने योग्य। **तेइ** = वे ही। **माहि** = में। **अपकारी** = अशुभ करने वाले। **चार** = आचरण। **तिन्ह कर** = वे ही। **क्रम** = कर्म। **लबार** = व्यर्थ की बातें कहने वाला। **वक्ता** = अच्छा भाषण देने वाला। **महुँ** = में।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्यांश भारतीय संस्कृति और धर्म के ज्ञात रामभक्ति काव्यधारा के प्रमुख कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। गरुड़ के प्रश्नों का उत्तर देते हुए काकभुशुण्डि अपने पूर्व जन्म की कथा सुनाते हुए पूर्व कल्प के कलियुग के अधार्मिक आचरण के विषय में बता रहे हैं—

व्याख्या— कलियुग के धर्म पर विचार प्रकट करते हुए काकभुशुण्डि बोले कि इस युग में वर्ण एवं आश्रम धर्मों की मान्यता समाप्त हो गई तथा सभी नर-नारियाँ वेदों का विरोध करने पर तुल गए अर्थात् वेदों में बताए गए मार्ग के विरुद्ध आचरण करने लगे। ब्राह्मण लोगों ने वेदों को केवल जीविका आधार बना लिया, राजा भी प्रजा का शोषण करने की भावना से युक्त हो गए। इस युग में कोई भी प्राणी वेदों की आज्ञा का पालन अर्थात् वेदों द्वारा बताए गए मार्ग का अनुसरण नहीं करता। इस युग में जो मार्ग जिसे अच्छा लगता है वही उसके लिए सन्मार्ग बन जाता है, जो प्राणी अधिक वाचाल अर्थात् आवश्यकता से अधिक बोलने वाला हो वही पण्डित हो गया। जो मिथ्या आरम्भ अर्थात् आडम्बर रचने में निपुण तथा दंभ में लीन रहने वाला हो उसे सभी प्राणी संत कहने लगे। जो दूसरों के धन का हरण करने में कुशल हो उसे परम् चतुर तथा जो मिथ्या दंभ में लीन रहने वाला हो उसे अत्यन्त आचारवान समझा जाने लगा। यही नहीं, कलियुग में मिथ्या भाषण करने वाला विनोदी स्वभाव का प्राणी अत्यधि ाक गुणों से सम्पन्न व्यक्ति माना जाने लगा। इस युग में आचरणहीन तथा वेदों द्वारा बताए गए मार्ग के विरुद्ध आचरण करने वाले प्राणी ही परम् ज्ञानी तथा वैराग्यवान समझे जाते हैं। यहाँ जिसने भी बड़े-बड़े नाखूनों एवं लम्बी-लम्बी जटाओं को धारण कर लिया, बस वही प्रसिद्ध तपस्वी कहलाने का अधिकारी बन गया।

पुनः कलियुग के प्राणियों के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए काकभुशुण्डि गरुड़ से कहते हैं कि इस युग में जो प्राणी अशुभ तथा अटपटे वेश तथा आभूषण धारण करे और भक्ष्य तथा अभक्ष्य (माँस, मछली और मदिरा) आदि सभी का भक्षण करता फिरे वही सिद्ध और वही योगी कहलाता है

तथा कलियुग में पूजा जाता है। जिन मनुष्यों का आचरण केवल दूसरे मनुष्यों का अपकार अर्थात् अहित करना मात्र ही हो यहाँ केवल वही मनुष्य गौरव प्राप्त करने में सफल होते हैं तथा केवल वही मनुष्य इस युग में सम्मान के योग्य समझे जाते हैं। इतना ही नहीं, जो प्राणी मन, वचन और कर्म से मिथ्या भाषण ही को अपनाए रहते हैं वे ही यहाँ सर्वश्रेष्ठ वक्ता के रूप में जाने जाते हैं।

काव्य-सौंदर्य–

1. कहने का आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि अकबर के शासन काल में हुए धार्मिक एवं नैतिक पतन एवं तत्कालीन समाज की उच्छंख लता को तुलसी सरीखे कवियों ने वेद के विरुद्ध आचरण कहकर पुकारा और यह इस प्रकार के वेद विरुद्ध आचरण के प्रति उनका आक्रोश ही है जो यत्र-तत्र उनके काव्य में भी समाहित हो गया है। अकबर के शासन में भी ऐसा ही वातावरण था आज के युग और उसके प्राणियों पर भी यह तथ्य बिल्कुल खरा उतरता है।
2. प्राचीन काल में चारवर्ण – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे तथा चार ही आश्रम थे – ब्रह्मचर्य, ग हस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास।
3. 'गाल बजाना' मुहावरे का प्रयोग सटीक जान पड़ता है।
4. तत्सम शब्दावली है।
5. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग हुआ है।
6. चौपाई छंद प्रथम आठ पंक्तियों में हैं।
7. शेष दो-दो पंक्तियों में दोहा और सोरठा छंद विद्यमान हैं।

19. चौ.- नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाई।।
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।।
सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव बिप्र श्रुति संत बिरोधी।।
गुन मंदिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी।।
सौभागिनी बिभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नवीना।।
गुर सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा।।
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई।।
मातु पिता बालकन्हि बौलावहिं। उरद भरै सोई धर्म सिखावहिं।
दो.– ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्रगुर घात।।
बादहिं शूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रवर आँखि देखावहिं डाटि।।

शब्दार्थ– बिबस = अधीन। **सकल** = सभी। **नट** = मदारी, बन्दर का खेल दिखाने वाला। **मर्कट** = बन्दर। **नाई** = समान। **द्विजन्ह** = ब्राह्मणों को। **लेहि कुदाना** = अशुभ दान लेना। **काम** = कुवासना। **रत** = लवलीन। **बिप्र** = ब्राह्मण। **श्रुति** = शास्त्र। **गुन-मंदिर** = गुणों का घर। **भजहिं** = सेवन करती है। **अभागी** = भाग्यहीन। **सौभागिनी** = सुहागिन। **बिधवन्ह** = विधवाएँ। **बधिर** = बहरा। **लेखा** = सम्बन्ध। **हरइ** = हरण करता है। **घोर नरक** = भयंकर नरक। **महुँ** = में। **बालकन्हि** = बालकों को, सन्तानों को। **उदर** = पेट। **सोइ** = वही। **कहहिं न** = नहीं कहते हैं। **घात** = विनाश, हत्या। **बादहिं** = झगड़ा, विवाद। **द्विजन्ह सन** = ब्राह्मणों से। **घाटि** = कम। **जानइ** = जानते हैं। **आँखि दिखावहिं** = आँख दिखाते हैं, डराते हैं। **डाटि** = डाँटते हैं।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्य भाग हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन सगुण काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। गरुड़ अपनी शंकाओं का समाधान करने हेतु काकभुशुण्डि के पास आया है और काकभुशुण्डि उनकी शंकाओं का समाधान करता हुआ अपनी पूर्व जन्म की कहानी सुनाता है और कहता है कि एक बार उसने कलियुग में शूद्र योनि में अयोध्या में जन्म लिया था। कलियुग का वर्णन करते हुए काकभुशुण्डि गरुड़ से कहते हैं—

व्याख्या— हे खगराज ! कलियुग में सभी पुरुष कामान्ध होकर तथा नारी के वशीभूत होकर उसके संकेत पर उसी प्रकार नाचा करते हैं जिस प्रकार कोई बंदर नट के संकेत पर विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करता है। इस युग में शूद्र ब्राह्मणों को उपदेश दिया करते हैं तथा जनेऊ धारण करके अनुचित रूप से दान ग्रहण करने का कार्य किया करते हैं। समाज के सभी पुरुष काम, क्रोध और लोभ आदि में लीन रहकर देवतागण, ब्राह्मण समाज, वेद और संतजनों का विरोध किया करते हैं। इस युग की अभागिनी स्त्रियाँ भी गुणों की खान स्वरूप अपने सुंदर पति का त्याग करके पर पुरुषों की संगति करती हैं। ऐसा कार्य करके वे खुश रहती हैं। यहाँ सौभाग्यवती स्त्रियों को तो आभूषणों से रहित देखा जाता है अर्थात् उन्हें तो आभूषण उपलब्ध नहीं हो पाते, जबकि विधवा स्त्रियों को नित्य नवीन श ंगार से युक्त देखा जाता है। यहाँ गुरु और शिष्य में भी बहरे और अंधें का-सा व्यवहार देखने को मिलता है। एक (गुरु) को दिखलाई नहीं पड़ता अर्थात् वह ज्ञान द ष्टि से शून्य है तो दूसरे (शिष्य) को गुरु द्वारा दिए गए उपदेश सुनाई ही नहीं पड़ते। अर्थात् गुरु के पास ज्ञान की द ष्टि नहीं और शिष्य गुरु के ज्ञान को लेना ही नहीं चाहता। गुरु का काम शिष्य का धन हरण करना है, उसके शोक को दूर करना नहीं है। ऐसा कार्य करने वाला (शिष्य के मन की जिज्ञासा को शांत करना अपितु उसके धन को हड़पना) गुरु घोर नरक में जाता है। इस युग में माता-पिता भी गुरु की भाँति अपनी सन्तानों को बुलाकर उसी धर्म की शिक्षा देते हैं जो धर्म उनकी उदरपूर्ति (पेट भरने) का साधन हो।

पुनः काकभुशुण्डि गरुड़ से कहते हैं — हे खगराज ! कलियुग में स्त्री-पुरुषों में परस्पर ब्रह्म ज्ञान के बिना कोई दूसरी बात सुनने में ही नहीं आती अर्थात् सभी स्त्रियाँ और पुरुष अपने को परम् ज्ञानी सिद्ध करने का प्रयास किया करते हैं, जबकि सच तो यह है कि कौड़ी के लाभ में पड़कर अर्थात् बहुत थोड़े लाभ के लिए भी ये लोग ब्राह्मण और गुरु की हत्या करने तक को तैयार हो जाते हैं। यहाँ तो शूद्र भी ब्राह्मणों से तर्क-वितर्क किया करते हैं कि बताओ हम लोग तुमसे किस अर्थ में निम्न हैं ? ऐसे पुरुष ब्राह्मणों की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं — जो ब्राह्मण को जानने वाला है वही ब्राह्मण है। (हम ब्रह्म को जानते हैं अतः हम भी ब्राह्मण ही हुए) ऐसा कहकर वे ब्राह्मणों को डाँटते-डपटते हुए आँखें दिखलाया करते हैं।

काव्य-सौंदर्य—

1. अकबर के शासन काल में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ द ष्टिकोण को अधिक बल मिला जिसका परिणाम यह हुआ कि धर्म और धर्म-ग्रन्थों में जनसाधारण की कोई आस्था नहीं रही। दूसरी ओर नैतिक मूल्यों का विकास न हो पाने के कारण अनैतिकता का भी बोलबाला हो गया। अकबर के शासन काल की ही बात क्यों, आज भी तो हम सभी कुछ प्रत्यक्ष देखते तथा अनुभव करते हैं। आज के युग के युवक और युवतियों को बंधन स्वीकार नहीं। वे सभी मर्यादाओं का उल्लंघन करके उन्मुक्त प्रेम में विश्वास करने लगे हैं।
2. अकबर के समय में ब्रह्म ज्ञान का विषय जनसाधारण के लिए उस प्रकार चर्चा का विषय था जिस प्रकार आज के समय में राजनीति की बातों का। शासन की बागडोर तो ब्राह्मण और क्षत्रियों से भिन्न मुगल शासकों ने ले ही ली थी। अतः अवसर देखकर

तथाकथित शूद्रों ने भी ब्राह्मण समाज के अधिकारों को चुनौती दे डाली।

3. काकभुशुण्डि कलियुगी आचरण को सर्वथा औचित्यपूर्ण मानता है।
4. 'कौड़ी लागि लोभ', 'आँखि देखावहिं डाटि' आदि सुंदर मुहावरों का प्रयोग किया गया है।
5. 'गुरु-शिष्य बधिर अंध का लेखा' में उपमा अलंकार है।
6. 'हम तुम ते कछु घाट' में वक्रोक्ति अलंकार है।
7. तत्सम शब्दावली का प्रयोग है।
8. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग है।
9. चौपाई और दोहा छंद का सुंदर प्रयोग है।

20. चौ.- पर त्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने।।
तेइ अभेदवादी ग्यानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर।।
आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं। जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं।।
कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका।।
जे वरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलयारा।।
नारि मुई ग ह संपति नासी। मूड़ मुड़ाई होहिं सन्यासी।।
ते विप्रन्ह सन आपु पुजावहि। उभय लोक निज हाथ नसावहिं।।
विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ व षली स्वामी।।
सूद्र करहि जप तप व्रत नाना। बैठि वरासन कहहि पुराना।।
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न वरनि अनीति अपारा।।
दो.– भए वरन संकर कलि भिन्नसेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक वियोग।।
श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत विरति विवेक।
तहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक।।

शब्दार्थ– पर त्रिय = दूसरे की स्त्री। **लंपट** = कुव्यसनी। **सयाने** = चतुर। **लपटाने** = भरे हुए। **तेइ** = वे। **अभेदवादी** = ब्रह्म व जीव में भेद न मानने वाले। **आपु गये** = स्वयं नष्ट हो गये। **अरु** = और। **तिन्हहू घालहिं** = उन्हें भी नष्ट करते हैं। **सत मारग** = सत्य का रास्ता। **प्रतिपालहि** = अपनाते हैं। **कल्प** = एक हजार युग का एक कल्प। **करि तरका** = तर्क करके। **परहिं जे** = जा पड़ते हैं। **दूषहि** = दूषित। **वरनाधम** = निम्न वर्ण के। **तेलि** = तेल निकालने वाला। **कुम्हारा** = मिट्टी के बरतन बनाने वाला। **स्वपच** = चाण्डाल। **किरात** = भील। **नारि मुई** = पत्नी के मरने पर। **नासी** = नष्ट हुई। **मूड़ मुड़ाई** = सिर गंजा करके। **विप्रन्ह सन** = ब्राह्मणों से। **आपु पुजावहि** = अपनी पूजा कराते हैं। **उभय** = दोनों। **निज हाथ नसावहिं** = स्वयं अपने आप नष्ट कर देते हैं। **विप्र** = ब्राह्मण। **निरच्छर** = निरक्षर, अनपढ़। **लोलुप** = लोभी। **निराचार** = दुराचारी। **सठ** = दुष्ट। **व षली** = निम्न जाति की व्याभिचारिणी को अपनाने वाले। **नाना** = अनेक। **वरासन** = ऊँचे आसन। **कल्पित** = इच्छानुसार बनाए गये। **अचारा** = आचरण। **वरन संकर** = वर्णों का परस्पर मिलना। **भिन्तेतु** = मर्यादाहीन। **रुज** = रोग। **श्रुति सम्मत** = शास्त्र द्वारा मान्य। **संजुत** = युक्त सहित। **पंथ** = मार्ग, मत। **कल्पहिं** = कल्पना करते हैं।

प्रसंग– प्रस्तुत पद्य-खण्ड भारतीय धर्म व संस्कृति के ज्ञाता तथा रामभक्ति काव्यधारा के

प्रमुख कवि 'तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्‌ध त है। गरुड़ के प्रश्नों का उत्तर देते हुए काकभुशुण्डि अपने पूर्व जन्म की कथा कहता है और बताता है कि जब किसी भव में वह कलियुग में शूद्र पैदा हुआ था। कलिकाल के प्रभाव का उल्लेख करते हुए काकभुशुण्डि कहते हैं–

व्याख्या– हे खगराज ! इस युग में मैंने विचित्र प्रकार का चरित्र देखा। यहाँ जो मनुष्य पराई स्त्रियों में आसक्त बने रहते हैं, कपटपूर्ण आचरण करने में अत्यन्त चतुर हैं तथा मोह, द्रोह और ममता में सदैव लीन बने रहते हैं, वे ही मनुष्य अद्वैतवादी अर्थात् ब्रह्मा और जीव में अभेद न मानने वाले तथा अत्यन्त ज्ञानवान कहे जाते हैं। ऐसे मनुष्य स्वयं तो पतित होते ही हैं, दूसरे सद्‌मार्ग पर चलने वाले प्राणियों को भी पतन के मार्ग की ओर अग्रसर कर देते हैं। ऐसे पुरुष विविध प्रकार के कुतर्क करके वेद की निंदा किया करते हैं, परिणामतः ऐसे प्राणी एक-एक कल्प तक घोर नर्क की यातनाएँ भोगा करते हैं। इस युग में तेली, कुम्हार, चाण्डाल, किरात, कोल तथा कलवार अर्थात् मदिरा बेचने वाले आदि निम्न वर्ग के लोग पत्नि की म त्यु होने अथवा घर की सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर सिर मुँडवाकर सन्यासी बन बैठते हैं। इस प्रकार के निम्न कोटि के पुरुषों में ऐसे मनुष्य भी पाये जाते हैं जो ब्राह्मणों से अपनी पूजा करवाया करते हैं और इस प्रकार अपने ही हाथों अपने दोनों लोक-इहलोक और परलोक को नष्ट कर बैठते हैं। इस युग के ब्राह्मण भी अनपढ़, लोभी, कामुक, आचरणहीन, मूर्ख तथा नीची जाति की व्याभिचारिणी स्त्रियों के स्वामी होते हैं। यहाँ शूद्र जाति के मनुष्य जप, तप और व्रत आदि करते हुए व्यास गद्‌दी पर आसीन होकर पुराण आदि की कथाएँ कहा करते हैं। इस कलियुग के अन्य मनुष्य भी मनमाना और इस प्रकार का अनैतिक आचरण किया करते हैं कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता।

काकभुशुण्डि आगे गरुड़ से कहते हैं कि कलियुग में सभी प्राणी वर्ग एवं वर्ण-शुद्धता का त्याग करके वर्ण संकर बन बैठे हैं। वे किसी भी मर्यादा का पालन नहीं करते तथा इस प्रकार के भयंकर पापकर्म किया करते हैं जिससे उन्हें निरन्तर ही दुःख, भय, रोग, शोक और प्रियजनों का वियोग सहन करना पड़ता है। यहाँ के मनुष्य वेदों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग, जिससे वैराग्य भावना एवं विवेकशीलता का उदय होता है, का अनुसरण न करके मोह के वशीभूत होकर नित्य नए-नए पंथों की कल्पना किया करते हैं।

काव्य-सौंदर्य–

1. यहाँ कवि ने अपने समय के समाज में फैली अनैतिकता और बाह्याडम्बरों को ही काव्यबद्ध किया है। तुलसी का सम्पूर्ण साहित्य इस बात का साक्षी है कि उन्हें परम्परा से चली आ रही भारतीय संस्कृति की अवहेलना कभी सहन नहीं हुई यूँ तो अन्य संत कवियों ने भी समय-समय पर इस ओर इंगित करके अपने-अपने समय के समाज को सचेष्ट किया तथापि महाकवि तुलसी के मन में संस्कृति-विरोधी समाज के प्रति आक्रोश की मात्रा गहराई तक बैठ गई थी। सिर मुँडाने मात्र का आडम्बर रचकर स्वयं को सन्यासी कहलाने वालों को तो कबीर ने भी क्षमा नहीं किया था–

   ''कैसौं कहा बिगाड़िया जो मूंडै सौ बार।
   मन कौं काहे न मँडिए जामैं विषै विकार।।''

2. तुलसी के युग में इस्लाम के प्रभाव के कारण वर्ण जाति आदि के बंधन शिथिल पड़ गए थे, वहाँ महाकवि ने उसी ओर इंगित करते हुए तत्कालीन समाज को वर्ण-संकर की संज्ञा दे दी।
3. 'कल्प-कल्प', 'एक-एक' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
4. तत्सम शब्दावली का सुंदर प्रयोग हुआ है।
5. अवधी भाषा का प्रयोग सुंदर है।

6. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है।

7. अन्तिम पंक्तियों में दोहा छंद का प्रयोग है।

21. चौ.- बहु दाम सँवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्हि न रहि विरती।।
तपसी धनवंत दरिद्र ग ही। कलि कौतुक तात न जात कही।।
कुलवंति निकारहिं नारि सती। ग ह आनहिं चेरि निवेरि गती।।
सतु मानहिं मातु पितु तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं।।
ससुरारि पियारि लगी जबतें। रिपुरुप कुटुम्ब भए तब तैं।।
न प पाप परायन धर्म नही। करि दंड विडंब प्रजा नितहीं।।
धनवंत कुलीन मलीन अपी। द्विज चिन्ह जनेउ उधार तपी।।
नहिं मान पुरान न वेदहि जौ। हरि सेवक संत सही कलि सो।।
कवि व न्द उदार दुनी न सुनी। गुन दूषक व्रात न कोपि गुनी।।
कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुःखी सब लोग मरै।।
दो.— सुनु खगेस कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाखंड।
मान मोह मारादि मद व्यापि रहे ब्रह्मण्ड।।
तामस धर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान।
देव न बरसहिं धरनी बए न जामहिं धान।।

शब्दार्थ— बहु दाम = बहुत सी धन सम्पत्ति से। **सँवरहि** = सजाते हैं। **धाम** = घर। **जती** = सन्यासी। **विषया हरि** = विषयों ने हरण कर लिया है। **विरती** = वैराग्य। **कल्पहि** = कल्पना करते हैं। **पंथ** = मत, मार्ग। **तपसी** = तपस्या करने वाले। **धनवंत** = धनवान्। **गही** = ग हस्थी। **कलि कौतुक** = कलियुग की लीला। **कुलवंती** = कुलीना नारी। **निकारहीं** = निकाल देते हैं। **नारि सती** = पतिव्रता स्त्री। **आनहि** = अन्य, दूसरी। **चेरि** = दासी। **निवेरि** = छोड़कर। **सुत** = पुत्र। **अबलानन** = पत्नी का मुँह। **ससुरारि पिआरि** = ससुराल वाले प्रिय। **रिपुरुष** = शत्रु रूप। **नप** = राजा। **परायन** = लगे हुए। **विडम्ब** = विडम्बना, बुरी दशा। **नितहीं** = सदा। **मलीन** = तुच्छ। **अपी** = भी। **द्विज** = ब्राह्मण। **चिन्ह जनेउ** = जनेऊ से पहिचाने जाते हैं। **उधार** = नग्न, वस्त्र रहित। **तपी** = तपस्या करने वाले। **वेदहि** = वेदों का। **कविव न्द** = कवि समूह। **दुनी** = संसार। **दूषक** = दोष बताने वाले। **कोपि** = कोई भी। **दुकाल** = अकाल। **परै** = पड़ता है। **खगेस** = पक्षीराज गरुड़। **हठ** = दुराग ह। **पाखंड** = पाखंड। **मारादि** = काम, क्रोध आदि। **व्यापि रहे** = फैल गये। **तामस धर्म** = तम गुण से युक्त धर्म। **मख** = यज्ञ। **देव** = इन्द्र। **धरमी** = भूमि। **बए** = बोने पर। **न जामहि धान** = अन्न की पैदावार नहीं होती।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्य भाग भक्तिकालीन रामभक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा रचित प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। गरुड़ के प्रश्नों के उत्तर देने के लिए काकभुशुण्डि को अपने पूर्व जन्म का व त्तान्त सुनाना पड़ता है। उसमें वे बताते हैं कि जब वह अयोध्या में एक शूद्र योनि में उत्पन्न हुए थे, तब कलियुग था।

व्याख्या— काकभुशुण्डि कलियुग के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस युग में योगी-सन्यासियों ने बहुत-सा धन एकत्र करके बड़े-बड़े भवनों का निर्माण कर रखा है। उनका रहा-सहा वैराग्य भी विषयों में आसक्ति बने रहने के कारण समाप्त हो गया। इस युग में तपस्वी कहलाने वाले तो अपार धन के स्वामी बने बैठे हैं, जबकि ग हस्थी लोग यहाँ अत्यन्त निर्धन एवं दरिद्र हैं। हे खगराज ! इस कलिकाल की विचित्रताएँ तो बस कही नहीं जा सकती हैं अर्थात् इनका वर्णन नहीं

किया जा सकता। यहाँ के मनुष्य कुलवंती एवं सती नारियों को तो घर से बाहर निकाल देते हैं तथा अपनी सद्‌गति को नष्ट करके दासियें को अंदर ले आते हैं। इस कलियुग में पुत्र भी माता-पिता के प्रति तब तक ही श्रद्धा भाव अर्थात् सम्मान रखता है जब तक वह अपनी पत्नि का मुख नहीं देख लेता अर्थात् विवाहित नहीं हो जाता। जैसे ही कलियुगी पुत्रों का विवाह हो जाता है, इन्हें बस अपनी ससुराल ही प्रिय लगने लगती है तथा कुटुम्बीजन शत्रु के समान प्रतीत होने लगते हैं। यहाँ पर प्रजापति भी निरन्तर पापाचार में लीन बने रहते हैं, धर्म-कर्म को त्यागकर तथा अपनी प्रजा को अकारण ही दण्डित करते रहकर वे निरन्तर उसकी दुर्दशा किया करते हैं। इस कलियुग में धनी लोग मलिन अर्थात् नीची जाति के होने पर भी अत्यन्त कुलीन समझे जाते हैं, यहाँ ब्राह्मण का लक्षण जनेऊ धारण करना तथा तपस्वी का वस्त्रहीन रहना नाम मात्र ही रह गया है। इस युग में तो जो मनुष्य न वेद को माने और न पुराण को, बस वही श्री हरि का भक्त तथा सच्चा संत कहलाने का अधिकारी बन जाता है। इस कलियुग में तो कवियों के तो समूह के समूह मिल जाते हैं परन्तु कोई उदार अर्थात् इन कवियों को आश्रय प्रदान करने वाला नहीं दिख पड़ता। यहाँ गुणों में भी दोष ढूँढ़ निकालने वाले तो बहूत से मिल जाते हैं पर सच्चे अर्थों में गुणों का सम्मान करने वाला कोई नहीं मिल पाता। हे खगराज ! इस कलियुग में बार-बार अकाल की स्थिति उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप सभी मनुष्य अन्न के अभाव में अकालग्रस्त होकर अपने प्राणों का त्याग करते हैं।

काकभुशुण्डि पुनः कहने लगे कि हे खगराज ! सुनिए, कलियुग के आने पर यहाँ के छल-कपट, हठ अर्थात् दुराग्रह, दंभ, द्वेष, पाखण्ड, मान, मोह और काम आदि का मद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाता है। यहाँ के मनुष्यों का धर्म भी तामसी व त्ति से युक्त है। इन मनुष्यों के जप, तप, व्रत, यज्ञ और दान आदि सभी कर्मों के मूल में तामसी व त्ति ही विद्यमान रहती है। इस युग में देवता अर्थात् इन्द्र जल ही नहीं बरसाते तथा धरती पर बोया हुआ धान उगता ही नहीं।

काव्य-सौंदर्य–

1. महाकवि तुलसीदास ने तो केवल अपने ही युग के अनैतिकता से भरे समाज का अंकन किया था, उन्हें क्या मालूम कि आज का पाठक भी उनके काव्य का रसास्वादन करते समय यही आभास करेगा कि मानो तुलसी आज के समय का चित्र बरसों पहले उतारकर समाज को सौंप गए थे। कहने का अभिप्राय यह है कि अकबरकालीन समाज का वातावरण तो अनैतिकता से युक्त था ही, आज के समाज का स्तर भी कथित समाज के स्तर से ऊँचा नहीं है।
2. यहाँ महाकवि तुलसीदास धार्मिक भावनाओं से इतने अधिक अभिभूत हो उठे हैं कि उन्होंने प्राकृतिक विपदाओं का मूलभूत कारण भी समाज के अनैतिक एवं वेद विरुद्ध आचरण को मान लिया है।
3. 'ससुगरि ..... तबतें' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।
4. तत्सम शब्दावली के साथ अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग है।
5. प्रथम दस पंक्तियों में तोटंक छंद है। जिसके प्रत्येक चरण में चार सम होते हैं।
6. अन्तिम चार पंक्तियों में दो दोहे हैं।

22. चौ.- अबला कच भूषन भूरि छुधा। धनहीन दुखी ममता बहुधा।।
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता।।
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान विरोध अकारनहीं।।
लघु जीवन संबतु पंच दसा। कलपांत न नास गुमानु असा।।

कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत कौ अनुजा तनुजा।।
नहिं तोष विचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भए मंगता।।
इरिषा परुषाच्छर लोलुपता। भरि पूरि रही समता विगता।।
सब लोग वियोग विसोक हए। बरनाश्रम धर्म अचार गए।।
दम दान दया नहि जानपनी। जड़ता परपंचनताति घनी।।
तनु पोषक नारि नरा सगरे। परनिंदक जे जग मो बगरे।।
दो.– सुनु ब्यालारि काल कलि मल अबगुन आगार।
गुनउ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार।।
कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग।।

शब्दार्थ– अबला = नारी। **कच** = बाल। **भूरि** = बहुत। **छुधा** = भूख। **बहुधा** = बहुत प्रकार। **मूढ** = मूर्ख। **रता** = लवलीन। **मति थोरि** = बुद्धि कम। **भोग** = सुख। **अकारण ही** = बिना कारण के ही। **लघु** = थोड़ा। **संवतु** = वर्ष। **कलपांत** = कल्प के अन्त तक। **गुमानु** = घमण्ड। **असा** = ऐसा। **बिहाल** = बेहाल। **अनुजा** = छोटी बहिन। **तनुजा** = बेटी। **तोष** = सन्तोष। **मंगता** = माँगने वाले। **इरिषा** = ईर्ष्या। **परुषाच्छर** = कठोर वचन। **समता** = शान्ति की भावना। **विगता** = चली गयी। **विसोक** = विशेष शोक। **हए** = मर रहे हैं। **अचार गये** = आचरण समाप्त हो गया। **दम** = इन्द्रियों को वश में रखना। **जानपनी** = समझदारी। **जड़ता** = मूर्खता। **परपंचनताति** = दूसरों को धोखा देना। **घनी** = अधिक। **तनु पोषक** = शरीर का पोषण करने वाले। **सगरे** = समस्त। **परनिंदक** = दूसरे की निंदा करने वाले। **मो** = में। **बगरे** = व्याप्त हैं, फैले हुए हैं। **ब्यालारि** = गरुड़। **मल** = पाप। **अवगुन** = दोष। **आगार** = घर, स्थान। **प्रयास** = प्रयत्न। **निस्तार** = छुटकारा, कल्याण, बन्धन करना। **कृतजुग** = सतयुग। **मख** = यज्ञ। **अरु** = और।

प्रसंग– प्रस्तुत पद्य व्याख्या हेतु हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में सगुण काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा रचित संसार प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। इसमें काकभुशुण्डि खगराज गरुड़ के मन की शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करता हुआ अपने पूर्वजन्म की कथा सुनाता हुआ कह रहा है कि पूर्व जन्म में जब कलियुग था तब उसका जन्म एक शूद्र योनि में हुआ था, उस समय का वातावरण व अधार्मिक का व्याख्यान प्रस्तुत करता हुआ काकभुशुण्डि कहता है–

व्याख्या– कलियुग में केश-सज्जा एवं आभूषणों की भूख प्रत्येक नारी में पाई जाती है, कहने का अभिप्राय यह है कि इस युग की नारियों में केश-सज्जा एवं आभूषणों के प्रति विशेष मोह पाया जाता है। वे धन लोभी होती हैं तथा विविध प्रकार की (आभूषणों आदि की) ममता (मोह) के विद्यमान रहने के कारण सदैव दुःखी रहती हैं। यहाँ की मूर्ख नारियाँ धर्म में लीन न रहकर भी सुख की अभिलाषा किया करती हैं। ये नारियाँ अल्प एवं कठोर बुद्धि की स्वामिनियाँ होती हैं जिनमें कोमलता का नाम लेशमात्र भी नहीं होता। इस युग में पुरुष सदैव रोग से पीड़ित रहते हैं जिसके परिणामस्वरूप वे किसी सच्चे सुख भोग में असमर्थ रहते हैं। असंयमित रूप से जीवन व्यतीत करते रहने के कारण इनका जीवनकाल पाँच-दर्स वर्ष का अर्थात् अल्प ही होता है, परन्तु इनमें अभिमान की मात्रा इतनी अधिक होती है अर्थात् यह ऐसा अभिमान किया करते हैं मानो कल्पांत अर्थात् प्रलय होने तक भी इनके जीवन का नाश नहीं होगा। कलियुग में तो यहाँ के स्त्री-पुरुषों का नैतिक स्तर इतना अधिक अस्त-व्यस्त हो गया है कि कोई वहाँ बहन-बेटी का विचार भी नहीं करता। यहाँ के लोगों में न तो संतोष है, न विवेक और न स्वभावगत शीतलता ही। जिसे भी देखो, ऊँची जाति का हो या नीची जाति

का, सभी भिक्षा माँगने वाले बन गए हैं। यहाँ के प्राणियों में सर्वत्र ईर्ष्या, कठोर वचन तथा लोभमयी प्रव त्तियों का ही बोलबाला है सभी के प्रति समता की भावना इस युग के प्राणियों में समाप्त हो चुकी है। यहाँ तो अब सभी लोग वियोग और शोक में इतने आतुर बने रहते हैं कि वर्ण एवं आश्रम धर्म का आचरण भी उनमें शेष नहीं रहता। कलियुग में प्राणियों में इन्द्रिय दमन, दान, दया और बुद्धिमता का नितान्त अभाव है, इसके विपरीत धूर्तता तथा दूसरों को ठगने की भावना यहाँ के प्राणियों में खूब पाई जाती है। यहाँ तो स्त्री हो या पुरुष सभी अपने शरीर के पोषण में व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। सम्पूर्ण जगत् में ऐसे ही लोग भरे पड़े हैं जो दिन-रात दूसरों की निंदा में ही लीन रहते हैं।

पुनः काकभुशुण्डि कहते हैं कि हे सर्पों के शत्रु गरुड़ ! सुनों ! यद्यपि कलियुग पापों एवं अवगुणों का भण्डार है तथापि इस युग का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें कोई चाहे तो बिना विशेष परिश्रम किए इस भव-बंधन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। जो दशा सतयुग, त्रेता युग तथा द्वापर युग में पूजा करने, यज्ञ करने तथा योग साधना करने से होती है। वही स्थिति (गति) कलियुग में भगवान् के नाम के आधार पर प्राप्त की जाती है।

काव्य-सौंदर्य–

1. यह सत्य है कि अकबर का शासनकाल नैतिकता के द ष्टिकोण से अत्यन्त निम्न कोटि का शासनकाल रहा, पर कवि के कथन– 'नहिं मानत क्वौं अनुजा तनुजा' से लगता है कि कवि ने उस समय की अनैतिकता का चित्र अति रंजितता के साथ प्रस्तुत किया है। 'जिहि की बिटिया सुंदर देखी, तिहि पर घाई धरे हथियार' इतना तो मुगल शासकों के लिए प्रसिद्ध है ही, इसके प्रमाण भी मिलते हैं, अतः केवल इतने सत्य को स्वीकार करना ही पर्याप्त होगा।
2. अपने समाज में फैली अनैतिकता एवं जन-जीवन की व्यस्तता को लक्ष्य करके महाकवि यहाँ उदार हो गये हैं कि केवल राम का नाम स्मरण करने वाले को भी 'राम-भक्त' स्वीकार किया जा रहा है।
3. 'मल अवगुन आगार' में रूपक अलंकार है।
4. 'बिन प्रयास विस्तार' में विरोधाभास अलंकार है।
5. तत्सम शब्दों का सुंदर प्रयोग हुआ है।
6. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग हुआ है।
7. प्रथम दस पंक्तियों में तोटंक छंद है। जिसके प्रत्येक चरण में चार सगण होते हैं।
8. अन्तिम दो पक्तियों में दोहा छंद है।

23. चौ.- कृत्जुग सब जोगी विग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।।
त्रेताँ विविध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।।
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा।।
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा।।
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना।।
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि।।
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।।
कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा।।
दो.– कलिजुग सब जुग आन नहिं जौं नर कर विस्वास।
गाइ राम गुन गन विमल भव तर बिनहिं प्रयास।।

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन विधि दीन्हें दान करइ कल्यान।।

शब्दार्थ— कृतजुग = सतयुग। **विग्यानी** = तत्त्वज्ञानी। **तरहिं भव** = संसार से पार हो जाते हैं। **त्रेताँ** = त्रेता युग में। **विविध जग्य** = अनेक प्रकार के यज्ञ। **समर्पि** = समर्पण करके। **गुनगाहा** = गुणगान करना। **भव थाहा** = संसार की गहनता, थाह। **जोग** = योग साधना। **जग्य** = यज्ञ। **अधार** = आधार, सहारा। **भरोस** = विश्वास। **तजि** = छोड़कर। **गुन-ग्रामहि** = गुण समूहों को। **प्रगट** = प्रत्यक्ष। **माहीं** = में। **पुनीत** = पवित्र। **मानस** = मानसिक। आन नहिं = दूसरा नहीं। **विमल** = निर्मल। **बिनहि प्रयास** = बिना परिश्रम। **पद** = चरण। **महुँ** = में। **जेन केन विधि** = जिस किसी प्रकार से।

प्रसंग— व्याख्या हेतु प्रस्तावित पद्य-खण्ड हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में सगुण काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा रचित संसार प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। काकभुशुण्डि गरुड़ के प्रश्नों का उत्तर देते हुए चारों युगों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहते हैं—

व्याख्या— हे खगराज ! चार युग होते हैं। जिनमें सतयुग प्रथम होता है। इस युग में सभी प्राणी योगी एवं अत्यन्त ज्ञानवान होते हैं। इस युग के प्राणी प्रभु का स्मरण करते रहकर भव-बंधन से मुक्त हो जाते हैं। त्रेता में मनुष्य विविध प्रकार के यज्ञ किया करते हैं। यह स ष्टि का दूसरा युग है। इसमें सभी अपने कर्मों को ईश्वर को समर्पित करके संसार के बंधन से छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं। स ष्टि का तीसरा युग है द्वापर। इसमें मनुष्य श्री राम के चरणों की पूजा करके ही संसार-सागर से पार उतरते हैं, इस युग के मनुष्यों के पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। स ष्टि का चतुर्थ युग कलियुग है। इस युग में संसार के प्राणी केवल श्री हरि के गुण-समूहों का गायन करने मात्र से ही भवसागर की थाह पा जाते हैं अर्थात् उद्धार प्राप्त कर लेते हैं। कलियुग में यहाँ के प्राणियों के लिए न तो किसी योग साधना की आवश्यकता है न किसी यज्ञ की और न ही किसी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान ही यहाँ आवश्यक है। यहाँ तो बस श्री राम के गुणों के गायन को आधार बना लेने मात्र से काम चल जाते हैं। अतः जो प्राणी यहाँ अन्य सभी शक्तियों का भरोसा छोड़कर श्री राम का भजन करता है तथा अत्यन्त प्रेमभाव से उनके गुण समूहों का गान करता है वह संसार-सागर से पार पा जाता है इसमें कोई संदेह नहीं है। कलियुग में श्री राम के नाम का प्रताप केवल इसी से प्रगट हो जाता है। इस कलियुग का एक सबसे बड़ा एवं पवित्र प्रताप और भी और वह यह कि यहाँ मन में संकल्प किए हुए शुभ कर्मों का पुण्य तो प्राप्त हो जाता है किन्तु पाप-कर्मों के संकल्प का परिणाम पाप नहीं होता।

काकभुशुण्डि कहते हैं कि यदि मानव पूर्णतः विश्वास करें तो यह निश्चित है कि कलियुग के समान कोई दूसरा युग नहीं है अर्थात् यह चारों युगों में महत्वपूर्ण है। राम के निर्मल गुणों के बार-बार कथन करके मानव बिना प्रयत्न के ही संसार से पार होने में सक्षम है। शास्त्रों में धर्म के चार पद (चरण) कहे गये हैं — सत्य, दया, तप, दान। कलियुग में इन चारों में से एक दान ही प्रमुख माना गया है। यदि दान किसी न किसी प्रकार से किया जाता है तो वह दान कल्याण प्रदान करने वाला कहा गया है।

काव्य-सौंदर्य—

1. प्रस्तुत पद्य भाग से प्रतीत होता है कि जैसे कवि कलियुग के प्राणियों के समक्ष हार मानकर उनसे समझौता करने पर उतर आया है। कुछ लोग चाहें तो इसे कवि की उदारता भी कह सकते हैं। यह समझौता हो या कवि की उदारता, इसने जन-साधारण पर उल्टा ही प्रभाव डाला जिससे धर्म की उपेक्षा और अधिक बलवती हो गई।

2. शास्त्र सम्मत चार युगों का विवेचन किया गया है तथा उनके कल्याण के उपायों पर भी प्रकाश डाला गया है।
3. कलियुग में भगवान का गुणगान व दान ये दो ही प्रमुख माने गये हैं जो कल्याण के साधन हैं।
4. तत्सम शब्दों का सुंदर प्रयोग हुआ है।
5. अवधी भाषा का शुद्ध प्रयोग हुआ है।
6. 'तर विनहिं प्रयास' में विरोधाभास अलंकार है।
7. चौपाई छंद प्रथम आठ पंक्तियों में है।
8. अन्तिम चार पंक्तियों में दोहा छंद है।

24. चौ.- नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदयँ राम माया के प्रेरे।।
सुद्ध तत्व समता विग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।।
सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब विधि सुख त्रेता कर धर्मा।।
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस।।
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा।।
बुध जुग धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं।।
काल धर्म नहिं व्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही।।
नट कृत विकट कपट खगराया। नट सेवकहि न व्यापइ माया।।
दो.– हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहि।
भजिअ राम तजि काम सब अस विचारि मन माहिं।।
तेहिं कलिकाल बरष बहु बसेउँ अवध बिहगेस।
परेउ दुकाल विपति बस मैं गयउँ विदेस।।

शब्दार्थ– नित = सदा। **सब केरे** = सभी के। **प्रेरे** = प्रेरित हुए। **समता** = समानता की भावना। **कृत** = सतयुग। **रति कर्मा** = कार्यों से प्रेम। **कर** = का। **बहुरज** = रज गुण की प्रधानता। **स्वल्प** = कम, थोड़ा। **मानस** = मन में। **विरोध** = वैर-भाव। **बुध** = ज्ञानवान्। **जुगध र्म** = युग का धर्म। **तजि** = छोड़ देते हैं। **व्यापहिं** = प्रभाव होना। **जाही** = जिसे। **नट कृत** = नट के द्वारा प्रदर्शित। **विकट-कपट** = भयंकर माया जाल। **खगराया** = पक्षीराज गरुड़। **नट-सेवकहि** = नट के सेवक पर। **कृत** = किए गये। **न जाहि** = नहीं दूर होते। **तजि काम** = कामनाओं को छोड़कर। **अस** = इस प्रकार। **परेउ** = पड़ गया। **दुकाल** = अकाल। **गयउँ** = चला गया।

प्रसंग– व्याख्या हेतु प्रस्तावित पद्य-खण्ड हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन रामभक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि एवं श्रेष्ठ कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित संसार प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। गरुड़ से अपने पूर्व जन्म के व त्तान्त सुनाकर चारों युगों की विशेषताओं का वर्णन करता हुआ काकभुशुण्डि कहता है–

व्याख्या– कवि काकभुशुण्डि के माध्यम से कहते हैं – प्रत्येक युग के अपने-अपने धर्म होते हैं। भगवान् राम की माया से प्रेरित होकर वे सभी के हृदयों में रहते हैं। सतयुग का प्रभाव है–शुद्ध सात्विक गुणों का रहना, विशेष ज्ञान होना, समता भाव रखना, मन में सदा प्रसन्न रहना, इत्यादि। त्रेता युग के धर्म हैं–सत्व गुण की प्रधानता होने पर भी रजोगुण का अस्तित्व रहना, कर्मों के प्रति प्रेम, सभी तरह से सुख इत्यादि। द्वापर युग के धर्म हैं–रज गुण की अधिकता तथा कुछ सत्व गुण

और तमो गुण का कुछ भाग हो, मन में प्रसन्नता होने पर भी अंतरंग में भय बना रहे। कलियुग का प्रभाव है—तामस गुण बहुत हो, रजोगुण कम हो, चारों ओर वैरभाव रहे। ज्ञानीजन इन चारों युगों के प्रभाव को अपने मन में जानते हैं, वे अधर्म का मार्ग छोड़कर धर्म के मार्ग में स्नेह रखते हैं। परन्तु जिसका राम के चरणों में सदा प्रेम रहता है उस पर काल धर्म का प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् कोई भी हानि नहीं होती है। जिस प्रकार जादूगर कपट-मार्ग अपनाकर जादू दिखाता है जिसका प्रभाव दर्शकों पर आश्चर्यजनक होता है, परन्तु नट के सेवक के लिए यह सामान्य है, मायाजाल नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस नट की भाँति श्री राम भी बहुत बड़े नटराज हैं जो बैठे-बैठे सारे ब्रह्माण्ड को नचाया करते हैं परन्तु उनके भक्त एवं सेवकों पर उनकी माया का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वे प्रभु के रूप और उनकी माया के प्रभाव को भली-भाँति जानते हैं।

काकभुशुण्डि गरुड़ से बोले कि श्री राम की माया से उत्पन्न गुण और दोषों का प्रभाव बिना उनके भजन के नहीं जाता, अतः हृदय में ऐसा विचार करके तथा सभी कामनाओं का त्याग करके सदैव श्री राम का ही भजन करना चाहिए। हे खगराज ! इस कलियुग में कई वर्षों तक मैंने अयोध्या में निवास किया। एक बार वहाँ अत्यन्त भयंकर अकाल पड़ा तो विपत्ति का मारा हुआ मैं भी अयोध्या को छोड़कर विदेश चला गया।

काव्य-सौंदर्य—

1. यहाँ युग धर्मों का उल्लेख साँख्य के प्रकृति गुणों पर आधारित है। नट के रूपक द्वारा राम की माया के प्रभाव का वर्णन भी यहाँ अत्यन्त प्रभावकारी बन पड़ा है।
2. चार युगों की विशेषताएँ बताई गई हैं साथ में अधर्म को छोड़कर धर्म का मार्ग अपनाने पर प्रकाश डाला गया है।
3. तत्सम शब्दों का सुंदर प्रयोग किया गया है।
4. 'काल धर्म ..... माया' में उदाहरण अलंकार है।
5. अवधी भाषा का प्रयोग किया गया है।
6. चौपाई और दोहा छंद का प्रयोग किया गया है।

25. चौ.- गयउँ उजेनी सुनु उरगारी। दीन मलीन दरिद्र दुखारी।।
गएँ काल कछु संपत्ति पाई। तहँ पुनि करउँ संभु सेवकाई।।
विप्र ऐक वैदिक सिव पूजा। करइ सदा तेहि काजु न दूजा।।
परम साधु परमारथ विदक। संभु उपासक नहिं हरि निंदक।।
तेहि सेवउँ में कपट समेता। द्विज दयाल अति नीति निकेता।।
वाहिज नम्र देखि मोहि साईं। विप्र पढ़ाव पुत्र की नाईं।।
संभु मंत्र मोहि द्विजवर दीन्हा। सुभ उपदेस विविध विधि कीन्हा।।
जपउँ मंत्र सिव मंदिर जाई। हृदयँ दंभ अहमिति अधिकाई।।
दो.— मैं खल मल संकुल मति नीच जाति बस मोह।
हरि जन द्विज जरउँ करउँ विष्नु कर द्रोह।।
सो.— गुर नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम।
मोहि उपजइ अति क्रोध दंभिहि नीति की भावई।।

शब्दार्थ— उरगारी = गरुड़। **मलीन** = पापी। **दुखारी** = दुःखी, व्याकुल। **गएँ काल** = कुछ समय बीता। **कछु** = कुछ। **तहँ** = वहाँ। **पुनि** = फिर। **सेवकाई** = सेवा करना। **विप्र** = ब्राह्मण। **तेहि** = उसकी। **काजु न दूजा** = अन्य कार्य नहीं था। **विंदक** = ज्ञाता। **निंदक** = निन्दा करने वाला। **कपट समेता** = छल कपट मन में रखकर। **नीति-निकेता** = नीति का मन्दिर। **वाहिज** = व्यवहार से। **साईं** = स्वामी। **मोहि** = मुझे। **पुत्र की नाई** = पुत्र के समान। **दीन्हा**

= दिया। **अहमिति अधिकाई** = बहुत अधिक अहंकार। **खल** = दुष्ट। **मल** = पापी। **संकुल मति** = संकुचित विचार। **बस मोह** = मोह के वशीभूत। **हरिजन** = हरि के भक्त। **जरेउँ** = जलता था। **करउँ** = करता था। **प्रबोध** = समझाना। **आचरन मम** = मेरा व्यवहार। **उपजइ** = पैदा होता था। **दंभिहि** = अहंकारी से। **कि** = क्या। **भावई** = अच्छी लगती है।

प्रसंग– व्याख्या हेतु प्रस्तावित पद्य-खण्ड राम भक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। पक्षियों के स्वामी गरुड़ के प्रश्नों का उत्तर देते हुए काकभुशुण्डि ने अपने पूर्वजन्म का व त्तान्त सुनाया और बताया कि पूर्वजन्म के एक कल्प में वह शूद्र की योनि में जन्मे थे। कलियुग के प्रभाव के कारण वहाँ अकाल फैल गया था। अपने पूर्व जन्म की कथा कहता हुआ काकभुशुण्डि कहता है–

व्याख्या– अपने बीते हुए जीवन की एक घटना का उल्लेख करते हुए काकभुशुण्डि कहने लगे कि – हे सर्पों के शत्रु गरुड़, सुनें ! अयोध्या में अकाल की स्थिति के उत्पन्न होने पर मैं अत्यन्त व्याकुल, उदास, दरिद्र और दुःखी होकर भटकता हुआ उज्जैन जा पहुँचा। वहाँ कुछ साल तक रहकर तथा कुछ सम्पत्ति एकत्रित करके मैं वहीं भगवान् शंकर की आराधना करने लगा। वहीं एक ब्राह्मण वैदिक-रीति से सदैव भगवान् शिव की उपासना किया करते थे, उन्हें भगवान् शिव की इस उपासना के अतिरिक्त और कोई भी दूसरा कार्य न था। वे परम साधु भगवान् और परमार्थ के ज्ञाता अर्थात् ब्रह्म के रहस्य को जानने वाले थे। यद्यपि वे केवल भगवान् शिव के ही उपासक थे तथापि उन्होंने कभी भी भूल से भी श्री हरि की निंदा नहीं की। मैं इन्हीं दयालु एवं नीतिज्ञ ब्राह्मण की छल-कपट से मुक्त सेवा करता रहा। हे स्वामी ! बाहर से अत्यन्त विनम्र देखकर वे ब्राह्मण मुझे अपने पुत्र के समान मानकर पढ़ाने लगे। उन्होंने मुझे शिव-मंत्र प्रदान किया तथा अनेक प्रकार के कल्याणकारी उपदेश भी दिए। मैं शिव मंदिर में जाकर ब्राह्मण द्वारा दिए गए मंत्र का जाप करता था, मेरे मन में दंभ और अहंकार की भावना समाहित हो गई।

काकभुशुण्डि कहता है कि मैं इतना दुष्ट, संकुचित विचार वाला, नीच जाति का था कि मोह के वशीभूत होकर मैं जब हरि के उपासकों व ब्राह्मणों को देखा तो जल उठा अर्थात् मुझमें ईर्ष्या पैदा हो गई और विष्णु भगवान से द्रोह करने लगा। मेरे इस व्यवहार को देखकर गुरुजी मुझे बहुत समझाते थे तथा कभी-कभी मेरे इस प्रकार के व्यवहार को देखकर उन्हें दुःख भी होता था। परन्तु मेरे अन्दर उनके उपदेशों से क्रोध ही पैदा होता था, क्योंकि घमण्डी को कभी भी नीति अच्छी नहीं लगती।

काव्य-सौंदर्य–

1. माया, मोह और अहंकार सज्जन पुरुषों को भी पथभ्रष्ट कर डालते हैं, यहाँ यही ध्वनित है।
2. काकभुशुण्डि द्वारा अपने पूर्व जन्म की कथा सुनाई गई है।
3. यहाँ काकभुशुण्डि की भक्ति भावना प्रदर्शित हुई है।
4. तत्सम शब्दावली का प्रयोग हुआ है।
5. अन्तिम पक्तियों में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।
6. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है।
7. अन्तिम पंक्तियों में दोहा और सोरठा छंद का प्रयोग हुआ है।

26. चौ.- एक बार गुर लीन्ह बोलाई। मोहि नीति बहु भाँति सिखाई।।
सिव सेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति राम पद होई।।
रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पावँर कै केतिक बाता।।
जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोहँ सुख चहसि अभागी।।

हर कहुँ हरि सेवक गुर कहेऊ। सुनि खगनाथ हृदय मम दहेऊ।।
अधम जाति मैं विद्या पाएँ। भयउँ जथा अहि दूध पिआएँ।।
मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती। गुर कर द्रोह करउँ दिनु राती।।
अति दयाल गुर स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा।।
जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहि हति ताहि नसावा।।
धूम अनल संभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई।।
रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद प्रहार नित सहई।।
मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि न प नयन किरीटन्हि परई।।
सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा।।
कवि कोबिद गावहिं असि नीति। खन सन कलह न भर नहिं प्रीति।।
उदासीन निज रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाई।।
मैं खल हृदयँ कपट कुटिलाई। गुर हित कहइ न मोह सोहाई।।
दो.— एक बार ही मंदिर जपत रहेउँ सिव नाम।
गुरु आयउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम।।
सो दयाल नहिं कहेउ कछु मन न रोष लवलेस।
अति अध गुर अपमानता सहि नहि सके महेस।।

शब्दार्थ— बोलाई = बुलाया। सिखाई = शिक्षा दी। **कर** = का। **अविरल** = निरन्तर। **धाता** = ब्रह्मा। **नर पाँवर** = नीच मनुष्य। **केतिक** = कितनी, क्या ? **अज** = ब्रह्मा। **अभागी** = अभागे। **खगनाथ** = गरुड़। **दहेऊ** = क्रोधित हुआ। **अधम** = नीच। **भयऊँ** = हो जाता है। **अहि** = सर्प। **कुटिल** = कठोर। **स्वल्प** = बहुत थोड़ा। **सुबोध** = सुज्ञान। **बड़ाई** = बड़प्पन। **नसावा** = नष्ट करता है। **धूम** = धुआँ। **अनल** = अग्नि। **संभव** = उत्पन्न। **घन पदवी पाई** =बादल बनकर। **रज मग** = मार्ग की धूलि। **परी** = पड़ी रहती है। **निरादर बहई** = अपमान सहन करती है। **पद-प्रहार** = पैरों की ठोकर। **मरुत** = वायु। **तेहि मरहि** = उसी में मर जातीं हैं। **नप** = राजा। **किरीटन्हि** = मुकुट। **खगपति** = गरुड़। **बुध** = बुद्धिमान। **अधम** = नीच। **कोबिद** = बुद्धिमान्। **असि** = इस प्रकार की। **खल सन कलह** = दुष्ट से झगड़ा। **उदासीन** = मध्यस्थ। **खल** = दुष्ट। **परिहरि** = छोड़ दें। **स्वान की नाई** = कुत्ते के समान। **सोहाई** = अच्छी न लगती थी। **उर** = हृदय। **रोष** = क्रोध। **लवलेस** = थोड़ा सा। **अघ** = पाप। **अपमानता** = अपमान करना। **महेस** = शिव।

प्रसंग— व्याख्या हेतु प्रस्तावित पद्य-खण्ड हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में रामभक्ति काव्यध ाारा के प्रतिनिधि कवि के रूप में ख्याति प्राप्त, संसार को 'रामचरितमानस' जैसा महाकाव्य प्रदान करने वाले 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित है। यह पद्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड का अंश है। इसमें बताया गया है कि काकभुशुण्डि अपने पूर्व जन्म का व त्तान्त सुनाकर गरुड़ के प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है और अपनी शिक्षा-दीक्षा के विषय में बताता है। काकभुशुण्डि कहता है कि मुझे सज्जन तथा ज्ञानी गुरु ने शिक्षा प्रदान की और पुत्र के समान मेरा पालन किया, परन्तु मुझे अहंकार सदा दुःखी करता रहा। गुरु जी मुझे बार-बार समझाते, परन्तु मेरा दंभ कम नहीं हुआ।

व्याख्या— काकभुशुण्डि खगराज गरुड़ से कहने लगे कि हे खगराज गरुड़ ! एक बार गुरुजी ने मुझे अपने पास बुलाया और बड़े स्नेह के साथ मुझे नीतिपूर्वक अधर्म के मार्ग का त्याग करने के लिए अनेक प्रकार के शिक्षाप्रद उपदेश दिए। उन्होंने कहा कि हे पुत्र ! शिवजी की सेवा करने का यही फल है कि श्रीराम के चरणों में निरन्तर भक्ति उत्पन्न हो। राम की भक्ति का बहुत प्रभाव है।

उनकी भक्ति तो स्वयं भगवान शिव और ब्रह्म भी किया करते हैं फिर अधम मनुष्य या नीच मनुष्य तो भला किस गिनती में ? हे भाग्यहीन ! जिस राम के चरणों में ब्रह्मा और शिव स्नेह रखते हैं उन्हीं के प्रति विद्रोह करके क्या तू सुख पाने की कामना कर सकता है ? जब मेरे गुरु ने शिव को भी राम की सेवा करने वाला कहा तो हे खगराज ! यह सुनते ही मेरा हृदय क्रोध से जल उठा, मुझे बहुत क्रोध आया। मैं नीच जाति का तो था ही अतः विद्या पाकर मैं ऐसा ही मदान्ध हो उठा जैसे दूध पिलाने से सर्प मोटा और विषैला हो जाया करता है। मैं स्वभाव से अत्यन्त अभिमानी, कुटिल और नीच जाति का होने के कारण दिन-रात अर्थात् निरन्तर गुरु के प्रति द्रोह भावना रखता था, लेकिन वे इतने दयालु स्वभाव के थे कि उन्हें तनिक भी क्रोध नहीं आता था। मेरे बार-बार क्रोध करने पर भी वे मुझे उत्तम ज्ञान की शिक्षा ही दिया करते थे। काकभुशुण्डि बोले कि हे खगराज ! आप तो जानते हैं कि नीच मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है। वह जिससे भी बड़ाई प्राप्त करता है, सर्वप्रथम उसी को मारकर उसी का नाश किया करता है। हे गरुड़ सुनिए, जिस प्रकार आग से उठा हुआ धुआँ जब मेघ में परिवर्तित हो जाता है तो वर्षा के रूप में जल बरसाकर सबसे पहले वह उसी अग्नि को बुझा देता है जिससे उसकी उत्पत्ति संभव हुई थी। धूल सदा रास्ते में पड़ी रहती है। सभी के पैरों के प्रहार सहन करती है। परन्तु जब हवा उसी धूल को ऊँचाई की ओर ले उड़ती है तो सबसे पहले वह धूल उसी हवा में भरकर उसे धुँधला कर देती है और फिर राजाओं की आँखों और उनके मुकुटों पर गिरकर उन्हें मैला कर देती है या उन पर जम जाती है। हे पक्षीराज गरुड़ ! धूल की इसी तुच्छता के कारण बुद्धिमान नीच व्यक्तियों की संगति नहीं करते। पण्डित और बुद्धिमान इसी प्रकार की नीति कहते हैं – दुष्ट से न झगड़ा करना अच्छा है और न प्रेम करना अच्छा है। हे गोसाँई ! ऐसे दुष्ट से तो हमेशा दूर रहना ही अच्छा है। दुष्ट व्यक्ति को कुत्ते के समान छोड़ देना चाहिए। काकभुशुण्डि कहता है, एक तो मैं वैसे ही दुष्ट था दूसरे मेरा हृदय भी अत्यन्त कठोर एवं कुटिलता से युक्त था। अतः गुरु यद्यपि सदैव मेरे ही कल्याण की बात कहा करते थे तथापि वह मुझे कभी भली प्रतीत नहीं होती थी और मैं हमेशा उनकी बातों का निरादर करता था।

आगे काकभुशुण्डि अपने जीवन की किसी घटना का उल्लेख करते हुए कहते हैं, हे खगराज! एक बार की बात है, मैं शिव मंदिर में बैठा हुआ भगवान शिव के नाम का जाप कर रहा था वहाँ मेरे गुरु आ पहुँचे। मैंने अपने अभिमानी स्वभाव के कारण उठकर उन्हें प्रणाम तक भी नहीं किया। गुरु अत्यन्त दयावान थे, उन्होंने मुझसे कुछ भी नहीं कहा और न ही उनके हृदय में तनिक भी क्रोध उत्पन्न हुआ। गुरु का अपमान बहुत बड़ा पाप होता है, इसी कारण शिवजी मेरे द्वारा किया गया गुरुजी का अपमान सहन नहीं कर पाए।

काव्य-सौंदर्य–

1. ऐसा लगता है कि तुलसी के शिव को भी रामभक्त कहने पर शैव सम्प्रदाय के अनुयायियों ने उनका विरोध किया होगा उसी को यहाँ काकभुशुण्डि के माध्यम से ध्वनित कर दिया गया है।
2. तुलसी समन्वयवादी थे उनका सारा काव्य इसी समन्वय ही की चेष्टा से ओत-प्रोत दिखाई पड़ता है। तुलसी ने शैव और वैष्णव सम्प्रदाय में भी समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जिसके कारण उन्हें पर्याप्त विरोध का सामना भी करना पड़ा। जिन शैव सम्प्रदाय के अनुयायियों ने महाकवि का विरोध किया लगता है उन्हीं में से किसी का प्रतिनिधित्व यहाँ काकभुशुण्डि कर रहे हैं।
3. काकभुशुण्डि ने अपने पूर्वजन्म की कहानी सुनाई और बताया है कि उन्हें अहंकार हो गया था, जो उसके लिए शोभनीय नहीं है।
4. अलंकार – 'नर पाँवर कै केतिक बाता' में वक्रोक्ति अलंकार है।
   'भयउं जथा अहि दूध पिआएं' में उपमा अलंकार है।
   'दयाल' में परिकशंकुर अलंकार है।

'खल परिहरिस्वान की नाई' में उपमा अलंकार है।

'जेहि ..... पाई' में द ष्टान्त अलंकार है।

5. 'बुध नहिं करहिं अधम कर संगा' तथा 'खल सन कलह न नहिं प्रीति' में सूक्तियाँ हैं।
6. तत्सम शब्दावली का प्रयोग है।
7. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग है।

27. चौ.- मंदिर माझ भई नभवानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी।।
जदपि तव गुर के नहि क्रोधा। अति कृपाल चित सम्यक् बोधा।।
तदपि साप सठ दैहउँ तोही। नीति विरोध सोहाइ न मोही।।
जी नहिं दंड करी खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा।।
जे सठ गुर सम इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं।।
त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा। अयुत जन्म भरि पावहि पीरा।।
बैठ रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खल मल मति व्यापी।।
महा बिटप कोटर महुँ जाई। रहु अधमाधम अधगति पाई।
दो.– हाहाकार कीन्ह गुर दारुर सुनि सिव साप।
कंपित मोहि विलोकि अति उर उपजा परिपाप।।
करि दंडवत सप्रेम द्विज सिव सम्मुख कर जोरि।
विनय करत गदगद स्वर समुझि घोर गति मोरि।।

शब्दार्थ– मंदिर माझ = मंदिर के मध्य में से। **नभवानी** = आकाशवाणी। **रे हतभाग्य !** = हे दुर्भाग्यशालिन्। **अज्ञ** = अज्ञानी। **सम्यक् बोध** = सच्चा ज्ञान। **सठ** = मूर्ख। **सोहाइ न मोहि** = मुझे रुचिकर नहीं है। **खल** = दुःख। **तोरा** = तेरा। **श्रुतिमारग** = शास्त्र का मार्ग। **मोरा** = मेरा। **सन** = से। **कोटि जुग परहीं** = करोड़ों युगों तक पड़े रहोगे। **त्रिजग** = तिर्य च। **पुनि** = फिर, तत्पश्चात्। **अयुत** = दश हजार। **पीरा** = पीड़ा। **रहेसि** = रहा। **सर्प** = साँप। **खल** = दुष्ट। **मल** = पाप। **व्यापी** = भर गयी। **महा विटप** = विशाल व क्ष। **महुँ** = में। **अधमाधम** = नीच से भी नीच। **अधगति** = तुच्छ गति। **दारुण** = कठोर। **विलोकि** = देखकर। **उर** = हृदय। **परिताप** = संताप, दुःख। **कर जोरि** = हाथ जोड़कर। **गद्‌गद् स्वर** = काँपते हुए स्वर से। **घोर गति मोर** = मेरी तुच्छतम गति।

प्रसंग– व्याख्येय पद्य-खण्ड रामभक्ति काव्य-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ व लोकप्रिय कविवर 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा प्रणीत महाकाव्य व धर्मकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्‌ध त है। काकभुशुण्डि गरुड़ को अपने पूर्वजन्मों की कथा कहता है कि एक जन्म में वह अहंकारी शिवोपासक हो गया था। गुरु के समझाने पर भी नहीं मानता था। एक बार वह शिव के मन्दिर में बैठा था। गुरु के आने पर भी उसने गुरु का अभिवादन नहीं किया। सज्जन गुरु जी ने दया के कारण उसे कुछ नहीं कहा, परन्तु शिवजी शान्त नहीं रह सके।

व्याख्या– काकभुशुण्डि गरुड़ से कहने लगे – हे खगराज ! उसी समय मन्दिर में आकाशवाणी हुई – हे दुर्भाग्यशाली ! अज्ञानी अहंकार ! यद्यपि तुम्हारे गुरु को तनिक भी क्रोध नहीं आया, क्योंकि वे अत्यन्त कृपालु हैं, तुम पर दया एवं कृपा करने वाले हैं। वे सरल स्वभावी और ज्ञानवान हैं तो भी हे मूर्ख ! मैं तुझे शाप देता हूँ क्योंकि नीति का विरोध मुझे रुचिकर नहीं है। हे दुष्ट ! यदि मैंने तुम्हें शाप नहीं दिया तो शास्त्रों का मार्ग भ्रष्ट हो जाएगा। तुमने गुरु का अपमान किया है। गुरु पूज्य होता है अपमान के योग्य नहीं होता। जो मूर्ख अपने गुरु से इस प्रकार ईर्ष्या करता है, अपमान करता है। वह करोड़ों युगों तक घोर नरक के अधिकारी बने रहते हैं और फिर वहाँ से निकलकर तिर्यक अर्थात् पशु-पक्षियों आदि की योनियों में जन्म पाकर दस हजार जन्मों तक विविध प्रकार की यातनाएँ भोगा

करते हैं। काकभुशुण्डि कहते हैं कि इसके पश्चात् भगवान शिव ने मुझे शाप देते हुए कहा कि – हे पापी ! तेरी बुद्धि इतने अधिक पाप से ढकी हुई है कि तू अपने गुरु के समक्ष अजगर की भाँति बैठा रहा। अतः हे दुष्ट ! तू तत्काल ही सर्प योनि को प्राप्त करो। और हे महानीच ! पापी! तुम्हारी बुद्धि पाप से भर गई है। तुम सर्प बनकर किसी विशाल व क्ष की खोखल (कोटर) में जाकर रहो। हे नीच से भी नीच अब तुम इस नीच योनि को प्राप्त करो।

काकभुशुण्डि बोले कि मेरे लिए भगवान् शिव के ऐसे भयंकर शाप को सुनकर वे दयालु गुरु हाहाकार करने लगे। उनके हृदय में बड़ा दुःख हुआ। इस भयंकर शाप के भय से मुझे काँपता देखकर गुरुजी का हृदय अंदर से द्रवित हो उठा। उनके मन में मेरे लिए प्रेम का सागर हिलोरें लेने लगा। इसके बाद वे दयावान गुरु शिव को दण्डवत प्रणाम करके प्रेमपूर्वक उनके समक्ष हाथ जोड़कर तथा मेरे भयंकर दण्ड का विचार करके गद्‌गद् स्वरों में भरकर विनती करने लगे।

काव्य-सौंदर्य–

1. यहाँ गुरु को ईश्वर के समान स्थान प्रदान किया गया है, जिसके अपमान से स्वयं भगवान भी अप्रसन्न हो जाते हैं।
2. रौरव नामक नरक सबसे अधिक दुःखदायक होता है।
3. गुरु अपने बुरे शिष्य के लिए भी सदैव मंगल कामना ही किया करते हैं।
4. 'बैठि रहेसि अजगर इव पापी' में उपमा अलंकार है।
5. तत्सम शब्दावली का प्रयोग हुआ है।
6. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग है।
7. चौपाई और दोहा छंद का सुंदर प्रयोग है।

28. चौ.- नमामीशमीशान निर्वाणरूपं। विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदकाशमाकाशवासं भजे हं।।
निराकारमोंकारमूलं तुरीयं। गिरा ग्यान गोतीतमीशं गिरीशं।
करालं महाकातकालं कृपालं। गुणागार संसारपारं नतो हं।।
तुषाराद्रि संकास गोरं गभीरं। मनोभूत कोटि प्रभा श्रीशरीरं।
स्फुरन्मौलि कल्लोलिनी चारु गंगा। लसद्‌भालबालेन्दु कंठे भुजंगा।।
चलत्कुंडलं भ्रूसुनेत्रं विशालं। प्रसन्नाननं नीलकंठं दयालं।
म गाधीशचर्माम्वरं मुण्डमालं। प्रियं शंकरं सर्वनाथं भजामि।।
प्रचंडं प्रकृष्टं प्रगल्भं परेशं। अखंडं अजं भानुकोटिप्रकाशं।।
त्रयः शूल निर्मूलनं शूलपाणिं। भजे हं भवानीपतिं भावगम्यं।।
कलातीत कल्याण कल्पान्तकारी। सदा सज्जनानन्ददाता पुरारी।।
चिदानदं संदोह मोहापहारी। प्रसीद प्रसीद प्रमो मन्मथारी।।
न यावद् उमानाथ पादारविन्दं। भजंतीह लोके परे वा नराणां।।
न तावत्सुखं शान्ति सन्तापनाशं। प्रसीद प्रभो सर्वभूताधिवासं।।
न जानामि योगं जपं नैव पूजां। नतो हं सदा सर्वदा शंभु तुभ्यं।।
जरा जन्म दुःखौघ तातप्यमानं। प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो।।
श्लोक– रुद्राष्टकमिदं प्रोक्त विप्रेण हरतोषये।

ये पठन्ति नरा भक्त्या तेषाँ शम्भूः प्रसीदति।।

दो.— सुनि बिनती सर्वग्य सिव देखि विप्र अनुरागु।
पुनि मंदिर नभबानी भइ द्विजवर विर मांगु।।
जौं प्रसन्न प्रभु मा पर नाथ दीन पर नेहु।
निज पद भगति देइ प्रभु पुनि दूसर वर देहु।।
तब माया बस जीव जड़ संतत फिरइ भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिए प्रभु कृपासिंधु भगवान।।
संकर दीनदयाल अब एहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होइ जेहिं नाथ थोरेहीं काल।।

शब्दार्थ— नमामि = नमस्कार करता हूँ। **ईशं** = भगवान् की। **निर्माण रूपं** = मोक्ष स्वरूप। **आकाशवासं** = आकाश रूपी कपड़े को धारण करने वाले, नग्न, दिगम्बर। **गिरा** = वाणी। **गोतीतम्** = वाणी से परे। **करालं** = भयंकर। **गुणागार** = गुणों के घर। **तुषाद्रि** = हिमालय। **संकाशगौरं** = समान गौर वर्ण के। **मनोभूत** = काम देव रूप। **कोटि** = करोड़ों। **स्फुरन्-मौलि** = मस्तक पर विद्यमान। **कल्लोलिनी** = नदी। **चारु** = सुन्दर। **लसद्** = शोभायमान। **भाल बालेन्दु** = माथे पर चन्द्रकला। **भुजंगा** = सर्प। **चलत्** = हिलते हुए। **प्रसन्नाननं** = प्रसन्न, मुख वाले। **म गाधीशचर्माम्बर** = सिंह चर्म रूपी वस्त्र धारण करने वाले। **परेशं** = परमेश्वर। **अजं** = अजन्मा। **भानु कोटि प्रकाशं** = सौ सूर्य के समान प्रभा वाले। **निर्मूलनं** = दुखों को नष्ट करने वाले। **भावगम्यं** = भावों के द्वारा ज्ञात। **पुरारी** = त्रिपुर के शत्रु। **प्रसीद** = प्रसन्न हो जाइए। **मन्मथारी** = कामदेव के शत्रु। **यावद्** = जब तक। **पादारविन्दम्** = चरण कमलों को। **इह लोके परे वा** = इस लोक और परलोक में। **दुःखौघ तातप्यमानं** = दुःख समूह से सन्तप्त। **पाहि** = रक्षा करो। **नभवानी** = आकाशवाणी। **प्रसीदति** = प्रसन्न हो जाते हैं। **निजपद** = अपने चरण। **संतत** = सदा। **अनुग्रह होई** = कृपा होवे। **थोरेहीं काल** = कम समय के लिए।

प्रसंग— प्रस्तुत प्रस्तावित व्याख्येय पद्य-खण्ड हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन रामभक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। इसमें बताया गया है कि जब भगवान् शिव काकभुशुण्डि पर क्रोधि ात होकर गुरु के अपमान करने के कारण भयंकर शाप देते हैं तभी गुरु अपने शिष्य के प्रति दया भावना से भरकर भगवान् शिव से प्रार्थना करते हैं जिससे शिष्य को शाप की घोर यातना सहन न करनी पड़े। वे प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

व्याख्या— गुरु भगवान् शिव से प्रार्थना करते हुए कहते हैं — हे ईशान दिशा के ईश्वर, हे मोक्ष के साक्षी स्वरूप, विभु, व्यापक, ब्रह्म और वेद-मूर्ति शिव ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे आत्मरूप, माया के सब गुणों से अछूते, भेदरहित, इच्छारहित, चेतन आकाश रूप वाले, आकाश ही जिनका वस्त्र है, हे ऐसे शिव मैं आपकी शरण में हूँ। हे निराकार, ओंकार के आधार, तुरीय अर्थात् तीनों गुणों से प्रभावित न होने वाले, वाणी और इन्द्रियों की पहुँच से परे, कैलाशपति, विकराल महाकाल के भी काल, कृपा के भण्डार, गुणों के भण्डार तथा संसार से दूर रहने वाले हे शिव ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। जो हिमालय के समान गौरवर्ण वाले, गंभीर, करोड़ों कामदेवों के समान सौंदर्य और शोभा से भरे हुए शरीर वाले हे शिव ! जिनके सिर पर सुंदरता से युक्त गंगा कलकल करती हुई लहरा रही है, जिनके मस्तक पर बालचन्द्र अर्थात् द्वितीया का चंद्र तथा कण्ठ में सर्प शोभा दे रहा है। जिनके कानों में कुण्डल अपनी चंचलता के साथ विद्यमान है, जिनकी भौंहे तथा नेत्र अत्यन्त विशाल हैं जिनके मुख पर सदैव ही प्रसन्नता विद्यमान रहती है जो नीलकण्ठ और दयालु हैं, जो सिंह की खाल ओढ़े रहते हैं और मुण्डों की माला धारण करते हैं तथा सबके स्वामी हैं ऐसे प्रिय शिव का

मैं भजन करता हूँ, जो प्रचंड, श्रेष्ठ, तेजस्वी शक्ति के स्वामी अखण्ड और अजन्मा हैं, जिनका प्रकाश करोड़ों सूर्यों के समान हैं जो दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों पापों का जड़ सहित नष्ट कर डालते हैं, जो हाथ में त्रिशूल धारण किए रहते हैं तथा जो केवल सच्चे भाव से ही प्राप्त हो पाते हैं, ऐसे भवानीपति शंकर को मैं नमस्कार करता हूँ। सब कलाओं से अछूते, कल्याण रूप वाले, कल्प का अंत कर पाने में समर्थ, सज्जनों को सदैव आनंद प्रदान करने वाले, त्रिपुर के शत्रु, सच्चिदानन्दधन, सारा मोह दूर करने वाले, कामदेव के शत्रु, हे प्रभु ! आप प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। हे पार्वती के पति, जब तक मनुष्य आपके चरण कमलों का भजन नहीं करते तब तक न तो उन्हें इस लोक में सुख एवं शांति मिल पाती है न परलोक में और न उनके पाप ही दूर हो पाते हैं। अतः हे समस्त जीवों के हृदयों में निवास करने वाले हे प्रभो ! आप प्रसन्न हो जाइए। मैं न तो योग जानता हूँ, न जप और न पूजा ही। मैं तो है शिव ! सदैव आपको ही प्रणाम करता रहता हूँ। अतः हे शिव बुढ़ापे तथा बार-बार जन्म लेने के दुःखों की बाढ़ से संतप्त मुझे अपनी शरण में आए हुए को बचा लीजिए। हे ईश्वर, हे शिव शंभु ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

काकभुशुण्डि अपने गुरु द्वारा की गई भगवान शिव की स्तुति का महत्व बताते हुए कहते हैं कि हे पक्षीराज ! भगवान शंकर को प्रसन्न करने के लिए जो स्तुति गुरु जी ने की है इसका पाठ यदि मनुष्य भक्तिपूर्वक करे तो भगवान् उस पर सदैव प्रसन्न रहते हैं।

काकभुशुण्डि कहते हैं कि गुरु द्वारा की गई स्तुति को सुनकर तथा ब्राह्मण गुरु का विशेष प्रेम देखकर भगवान शिव प्रसन्न हो गए। तभी मंदिर में एक बार पुनः आकाशवाणी हुई कि हे द्विजश्रेष्ठ ! हे ब्राह्मण ! आप पर मैं प्रसन्न हूँ। आप चाहे जो वरदान माँगें। इस आकाशवाणी को सुनकर गुरु बोले हे प्रभु ! यदि आप मुझ दीन पर प्रसन्न हैं और आपका मुझ दीन पर अपार स्नेह है तो पहले वरदान के रूप में आप मुझे अपने चरणों की भक्ति प्रदान करके एक दूसरा वरदान भी दें – हे प्रभो ! आपकी माया के वशीभूत होकर यह मूर्ख प्राणी संसार में निरन्तर भ्रम में पड़कर भ्रमण करता रहता है। हे कृपा के सागर भगवान् शिव ! आप उन पर क्रोध न करें। हे दीनों पर दया करने वाले शंकर भगवान् ! इस मेरे सेवक पर भी कृपा करें कि कुछ ही समय में आपके द्वारा दिए गए शाप से इसे मुक्ति मिल जाए। पुनः इसे आपकी कृपा प्राप्त हो जाए।

काव्य-सौंदर्य–

1. यहाँ शिव के रूप ही का गायन किया गया है।
2. यह स्तुति स्रोत की परम्परा में ही है। अतः संस्कृत का प्रयोग किया गया है। बौद्धों द्वारा प्रयोग की जाने वाली संस्कृत के समान यहाँ की व्याकरण का पालन शिथिलता से हुआ है।
3. गुरु अपने शिष्य के प्रति हमेशा दयावान होता है। शिष्य के लिए ही गुरु ने भगवान् शिव से प्रार्थना की। जिससे शाप ग्रस्त शिष्य शीघ्र शाप मुक्त हो सके।
4. स्तुति में भगवान् शिव का गुणगान व क्षमाभाव है।
5. 'गुणागारं', 'पादारनिन्द' में रूपक अलंकार है।
6. प्रथम अठारह पक्तियों में संस्कृत का सुंदर प्रयोग हुआ है। शेष आठ पंक्तियों में अवधी भाषा का उत्कृष्ट रूप प्रयुक्त हुआ है।
7. अन्तिम आठ पंक्तियों में दोहा छंद है।

29. चौ.- एहि कर होइ परम कल्याना। सोइ करहु अब कृपानिधाना।।
विप्र गिरा सुनि परहित सानी। एवमस्तु इति भइ नभबानी।।
जदपि कीन्ह एहिं दारुन पापा। मैं पुनि दीन्हि कोप करि सापा।।
तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहउँ एहि पर कृपा विसेषी।

छमासील जे पर उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी।।
मोर श्राप द्विज व्यर्थ न जाइहि। जन्म सहस अवस्य यह पाइहि।।
जनमत मरत दुसह दुख होई। एहि स्वल्पउ नहिं व्यापिहि सोई।।
कवनेउँ जन्म मिटिहिं नहिं ग्याना। सुनहि सूद्र मम वचन प्रवाना।।
रघुपति पुरीं जन्म तब भयऊ। पुनि ते मम सेवाँ मन दयऊ।।
पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरें। राम भगति उपजिहि उर तोरें।।
सुनु मम बचन सत्य अब भाई। हरितोषण व्रत द्विज सेवकाई।।
अब जनि करहि विप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना।।
इंद्र कुलिस मम सूल विसाला। कालदँड हरि चक्र कराला।।
जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्र द्रोह पावक सो जरई।।
अस विवेक राखेहु मन माहीं। तुम्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।।
औरउ एक आसिषा मोरी। अप्रतिहत गति होइहि तोरी।।
दो.— सुनि सिव वचन हरषि गुर एवमस्तु इति भाषि।
मोहि प्रबोधि गयउ ग ह संभु चरन उर राखि।।
प्रेरित काल विंधि गिरि जाइ भयउँ मैं ब्याल।
पुनि प्रयास बिनु सो तनु तजेउँ गएँ कछु काल।।
जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरह नर परिहरइ पुरान।
सिव राखी श्रुति नीति अरु मैं नहिं पावा क्लेस।।
एहि विधि घरेउ विखधि तनु ग्यान न गयउ खगेस।।

शब्दार्थ— ऐहि कर = इसका। **गिरा** = वाणी। **परहित सानी** = परोपकार से भरी हुई। **एवमस्तु** = ऐसा ही हो। **नभवानी** = आकाशवाणी। **दारुन्ह** = भयंकर। **कोप करि सापा** = क्रोध करके शाप दिया। **खरारी** = राक्षसों के शत्रु राम। **पाइहि** = प्राप्त करेगा। **जनमत-मरत** = जन्म लेने पर व मरने पर। **दुसह दुख** = असहनीय कष्ट। **स्वल्पउ** = थोड़ा-सा भी। **व्यापिहि सोई** = वह प्रभाव दिखाएगा। **कवनेऊँ** = किसी भी। **प्रवाना** = प्रामाणिक। **रघुपति** = सेवा में। **मनदयउँ** = मन लगाया है। **पुरी प्रभाव** = अयोध्या का प्रभाव। **अनुग्रह मोरे** = मेरी दया। **उत तोरे** = तेरे हृदय में। **हरितोषण** = भगवान् को प्रसन्न करने वाला। **कुलिस** = वज्र। **कराला** = भयंकर। **इन कर मारा** = इनके मारने से। **पावक** = अग्नि। **तुम कहँ** = तुम्हारे लिए। **आसिषा** = आशीर्वाद। **अप्रतिहत गति** = बिना रुकावट के गति। **भाषि** = कहा। **प्रबोधि** = समझाकर। **संभुचरण** = शिव के पैरों में। **प्रेरित काल** = समय की प्रेरणा प्राप्त करके। **विंधि गिरि** = विन्ध्याचल। **व्याल** = साँप। **प्रयास बिनु** = बिना परिश्रम के। **तनु तजेउँ** = शरीर छोड़ता था। **अनायास** = बिना कष्ट के। **जिमि** = जैसे। **पट** = कपड़ा। **पहिरह** = पहिनता है। **परिहरइ पुरान** = पुराने छोड़ देता है। **विविधि** = अनेक। **खगेश** = गरुड़।

प्रसंग— प्रस्तुत व्याख्या हेतु पद्य-खण्ड हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में रामभक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि के रूप विख्यात 'तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के

'उत्तरकाण्ड' से अवतरित किया गया है। इसमें बताया गया है कि जिस समय (पूर्वजन्म) काकभुशुण्डि ने अपने गुरु का अपमान किया और गुरु के अपमान से भगवान् शिव रुष्ट हो गए, फलस्वरूप उन्हें शाप दिया। स्वयं गुरु अपने शिष्य के इस शाप से व्यथित हो उठे, उन्होंने अपने शिष्य को शापमुक्त करवाने के लिए भगवान् शिव से अनुनय विनय किया और कहा कि हे भगवान् शिव आप मुझ पर कृपा कीजिए, मेरे शिष्य का शाप शीघ्र समाप्त हो जाए।

व्याख्या– काकभुशुण्डि, खगराज गरुड़ से भगवान् शिव द्वारा दिए गए शाप एवं तदन्तर उनके गुरु द्वारा की गई शिव स्तुत का व त्तान्त कहते हुए बोले कि इसके पश्चात् भगवान शिव के सामने यह प्रार्थना की कि हे कृपा के भण्डार, अब आप वही उपाय करें जिससे इसका परम् कल्याण हो अर्थात् यह मुक्ति को प्राप्त हो। ब्राह्मण के इन वचनों को सुनकर भगवान् शिव परोपकार की भावना से भर गए। पुनः आकाशवाणी हुई 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो)। यद्यपि इसने भयंकर पापकर्म किया है। इसी कारण मैंने क्रोधित होकर इसे शाप दिया है। हे ब्राह्मण ! मैंने तुम्हारी सज्जनता देखी है। इसी आधार पर मैं इस पर विशेष कृपा करूँगा। जो क्षमाशील तथा परोपकारी ब्राह्मण होते हैं वे भी मुझे उतने ही प्रिय हैं जिनते खरदूषण के शत्रु राम। परन्तु फिर भी मेरे द्वारा दिया गया शाप निरर्थक नहीं होगा। अतः इसे एक हजार जन्म अवश्य ही लेने पड़ेंगे। इतना अवश्य है कि जन्म लेने और म त्यु को प्राप्त करने में जो असहनीय कष्ट होता है उसका थोड़ा-सा भी दुःख यह नहीं भोगेगा। इसके अतिरिक्त इसका ज्ञान किसी भी जन्म में समाप्त नहीं होगा। मेरे वचन अत्यन्त प्रामाणिक हैं। हे शूद्र ! इसका अवश्य ध्यान रखना। काकभुशुण्डि शिव द्वारा की गई आकाशवाणी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इसके बाद भगवान् शिव ने मुझे संबोधित करते हुए कहा कि पहली बात तो यह है कि तुम्हारा जन्म रामचंद्र की नगरी अयोध्या में हुआ था। दूसरी बात यह है कि तुमने मेरी भक्ति में मन लगाया है। अयोध्या के प्रभाव तथा मेरी कृपा से तेरे हृदय में राम की भक्ति जाग त होगी। तुम मेरे सत्य वचनों पर ध्यान दो—यदि श्री हरि को प्रसन्न रखना चाहते हो तो अब भी ब्राह्मणों की सेवा का व्रत धारण कर लो। अब कभी भूले से भी ब्राह्मणों का अपमान मत करना तथा सभी संतपुरुषों को सदैव अनन्त भगवान् के समान समझना। जो प्राणी इन्द्र के वज्र, मेरे विशाल त्रिशूल, काल के दण्ड और भगवान् विष्णु के चक्र से भी नहीं मारा जाता है वह ब्राह्मण की द्रोह रूपी अग्नि से जलकर नष्ट हो जाता है। अर्थात् ब्राह्मण से विरोध रखने के कारण परिणामतः वह नष्ट हो जाता है। अतः हे प्राणी ! यह ज्ञान अर्थात् विवेक अपने मन में धारण करो। इसके पश्चात् ही संसार में तुम्हारे लिए कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं रहेगा। अर्थात् संसार का प्रत्येक पदार्थ तुम्हें सहज ही उपलब्ध हो जाएगा। मेरा एक आशीर्वाद और भी है और वह यह कि तुम्हारी गति सर्वत्र अबाध ही होगी।

काकभुशुण्डि बोले कि आकाशवाणी के माध्यम से भगवान् शिव के वचनों को सुनकर गुरु अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहकर मुझे अनेक प्रकार से समझा-बुझाकर शिव चरणों को अपने हृदय पर धारण करके अपने निवास स्थान की ओर चले गए। इसके पश्चात् काल की प्रेरणा से मैं विन्ध्याचल पर जाकर सर्प हो गया। फिर मैंने भगवान् शिव के वरदान स्वरूप कुछ समय सर्प योनि में व्यतीत करके बिना किसी कष्ट के वह सर्प शरीर छोड़ दिया। हे हरिवाहन गरुड़ ! फिर मैंने जो भी शरीर धारण किया उसे मैंने पुनः सरलतापूर्वक त्याग दिया। अर्थात् मैं जो भी शरीर धारण करता मैं उसे आसानी से छोड़ देता था। मैंने उन शरीरों को उसी प्रकार त्याग दिया, जिस तरह कोई मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नए वस्त्र धारण कर लेता है। वैसे ही मैं नए शरीर को धारण करता था। एक ओर शिवजी ने वेद मर्यादा की रक्षा की और मुझे शाप प्रदान किया तथा मैंने भी बिना किसी कष्ट के अनेक शरीर धारण किए और उन्हें छोड़ता चला गया। हे गरुड़ ! मेरे द्वारा इस प्रकार अनेक शरीर धारण करने के बाद भी मेरा ज्ञान नष्ट नहीं हो पाया।

काव्य-सौंदर्य–

1. काकभुशुण्डि द्वारा पूर्वजन्म के विषय में व त्तान्त सुनाया गया है।

2. भगवान् शिव द्वारा दिए गए शाप से काकभुशुण्डि की मुक्ति का वर्णन है।
3. रामभक्ति की महिमा का बखान किया गया है।
4. 'कृपानिधाना', द्रोह-पावक में रूपक अलंकार है।
5. 'ते द्विज मोह प्रिय जया खरारी' में उपमा अलंकार है।
6. 'जोई ..... पुरान' में उदाहरण अलंकार है।
7. 'जिमि नूतन पट ..... परिहरइ पुरान' में उदाहरण अलंकार प्रयुक्त हुआ है। इसी पंक्ति से मिलता-जुलता भाव श्रीधर पाठक की पंक्तियों में भी द ष्टान्त है—

   ''म त्यु एक सरिता है,
   जिसमें श्रम से कातर, जीव नहाकर,
   नूतन वस्त्र धारण करता है, काया रूपी वस्त्र बहाकर।''

8. प्रथम सोलह पंक्तियों में चौपाई छंद है।
9. अंतिम पंक्तियों में दोहा छंद प्रयुक्त हुआ है।

30. चौ.- त्रिजग देव नर जोई तनु धरऊँ। तहँ तहँ भजत अनुसरऊँ।।
एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुर कर कोमल सील सुभाऊ।।
चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई।।
खेलउँ तहूँ बालकन्ह मीला। करउँ सकल रघुनायक लीला।।
प्रौढ़ भएँ मोहि पिता पढ़ावा। समझउँ सुनउँ गुनउँ नहि भावा।।
मन ते सकल वासना भागी। केवल राम चरन लय लागी।।
कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहिं त्यागी।।
प्रेम मगन मोहि कछु न सोहाई। हारेउ पिता पढ़ाई पढ़ाई।।
भए कालवस जब पितु माता। मैं बन गयउँ भजन जनत्राता।।
जहँ जहँ बिपिन मुनीस्वर पावऊँ। आश्रम जाइ जाइ सिरू नावउँ।।
बूझउँ तिन्हहि राम गुन गाहा। कहहिं सुनउँ हरषित खगनाहा।।
सुनत फिरउँ हरि गुन अनुवादा। अव्याहत गति संभु प्रसादा।।
छूटी त्रिविधि ईषना गाढ़ी। एक लालसा उर अति बाढ़ी।।
राम चरन वारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं।।
जेहि पूँछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईस्वर सर्व भूतमय अहई।।
निर्गुन मत नहिं मोहि सोहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई।

दो.— गुर के वचन सुरति करि राम चरन मनु लाग।
रघुपति जस गावत फिरउँ छन छन नव अनुराग।।
मेरु सिखर बट छायाँ मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिरु नायउँ वचन कहेउँ अति दीन।।
सुनि मम वचन बिनीत म दु मुनि कृपाल खगराज।
मोहि सादर पूछँत भए द्विज आयहू केहि काज।।
तब मैं कहा कृपानिधि तुम्ह सर्बग्य सुजान।
सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान।।

शब्दार्थ— त्रिजग = तिर्य च, पशु-पक्षी आदि। **तनु** = शरीर। **तहँ** = वहाँ। **सूल** = वेदना। **बिसर न काउ** = कभी नहीं भूल सका। **गुर कर** = गुरुजी का। **चरम** = अन्तिम। **देह** = शरीर। **मीला** = मिलकर। **लीला** = क्रीड़ा आचरण। **प्रौढ़ भए** = बड़ा होने पर। **नहिं भावा** = अच्छा नहीं लगा। **बासना** = संस्कार, विचार। **लय लागी** = प्रेम लगा रहा। **खगेस** = गरुड़। **कवन अभागी** = कौन दुर्भाग्यवान्। **खरी** = गदही। **सुरधेनुहि** = कामधेनु। **मगन** = लवलीन। **हारेउ** = दुःखी हो गए। **भए कालवश** = म त्यु को प्राप्त हुए। **जनत्राता** = भक्तों का रक्षक। **विपिन** = वन। **मुनीस्वर** = श्रेष्ठ मुनि। **तिन्हहि** = उनसे। **गुनगाहा** = गुन गाथा। **खगगाहा** = गरुड़। **अनुवादा** = गुणगान। **अव्याहत** = बिना बाधा के। **संभु प्रसादा** = शिवजी की कृपा से। **त्रिविध ईषना** = तीन एषणा—धन, पुत्र, मन की इच्छा। **उर** = हृदय। **लालसा** = इच्छा। **चरन वारिज** = चरण कमल। **अस कहई** = इस प्रकार कहा। **सर्व भूतमय** = सभी प्राणियों में व्याप्त। **रति** = प्रेम। **जस** = कीर्ति। **छन** = प्रत्येक समय। **मेरु सिखर** = सुमेरु पर्वत की चोटी पर। **आसीन** = विराजमान। **मम वचन** = मेरी बातें। **खगराज** = गरुड़। **आयहु केहि काज** = किस काम आए हो। **सर्वग्य** = सभी कुछ ज्ञाता। **अवराधन** = आराधना।

प्रसंग— प्रस्तुत व्याख्येय अंश हिन्दी साहित्यकार के सूर्य रामभक्ति काव्यधारा के श्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित संसार प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। इसमें बताया गया है कि काकभुशुण्डि अपने पूर्व जन्म में भगवान् शिव से शाप प्राप्त करता है जिसके कारण उसे अनेक योनियों में भटकना पड़ता है। परन्तु भगवान् शिव की विशेष कृपा के कारण उसे जन्म-मरण की यातनाएँ सहन नहीं करनी पड़ती। वह अपनी इच्छा से जन्म ग्रहण करता और पुनः उसे आसानी से त्याग देता। क्योंकि शाप वश उसे एक हज़ार योनियों को भोगना था। अतः अपने जीवन में भोगे गए समय का वर्णन करता हुआ काकभुशुण्डि कहता है—

व्याख्या— काकभुशुण्डि गरुड़ को सम्बोधित करता हुआ कहता है, हे गरुड़ ! मैं तीनों लोकों में देवता अथवा मनुष्य आदि का जो भी शरीर धारण करता था वहीं अर्थात् उसी शरीर को पाकर मैं निरन्तर श्रीराम के भजन करता रहता था, अर्थात् मैंने किसी जन्म में भी राम को विस्म त नहीं किया, हमेशा मैंने उनकी भक्ति की। परन्तु इतना होने पर भी मेरे मन में एक पीड़ा हमेशा बनी रहती थी और वह यह थी कि मैंने उस गुरु का अपमान किया था जो स्वभाव से अत्यन्त कोमल एवं सुशील थे। मेरा मन बार-बार उन्हें स्मरण करता था। (अर्थात् मेरे मन के किसी कोने में केवल यही था कि मैंने गलत किया था) इस प्रकार अनेक योनियों में भटकता हुआ अंत में मैंने ब्राह्मण शरीर प्राप्त किया जो वेद और पुराणों के अनुसार देवताओं को भी सुगमता से प्राप्त नहीं होता। उस ब्राह्मण शरीर को पाकर मैं बालकों के साथ घुल-मिलकर खेला करता था और खेल में उन सभी के साथ श्रीराम की लीला किया करता था। जब मैं बड़ा हुआ तो पिताजी ने मुझे पढ़ने भेज दिया। मैं पाठशाला में सब कुछ समझता, सोचता तथा विचार करता था तथापि मुझे यह सब ज़रा भी अच्छा नहीं लगता था। अर्थात् मेरा मन पढ़ाई में बिल्कुल नहीं लग रहा था। मुझे पढ़ाई अच्छी नहीं लगती थी। मेरे मन की सभी बुरी वासनाएँ दूर हो गईं। मेरा मन केवल राम के चरणों में लीन हो गया। मेरा ध्यान निरन्तर राम की ओर लगा रहने लगा। हे गरुड़ ! मुझे बताइए कि ऐसा कौन अभागा होगा जो कामधेनु का त्याग करके गधी की सेवा करेगा ? अर्थात् कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं होगा जो गधी की सेवा की अपेक्षा कामधेनु की सेवा नहीं करेगा। अतः प्रभु के प्रेम में मग्न होने पर मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। कोई भी शिक्षा अच्छी नहीं लगती थी, जबकि दूसरी ओर पिताजी मुझे पढ़ाते-पढ़ाते थक गये थे। कुछ समय पश्चात् जब मेरे माता-पिता स्वर्गवासी हो गए तब मैं वन में जाकर भगवान् राम की भक्ति करने लगा। वन में रहकर मुझे जहाँ भी ऋषियों, मुनियों का पता चलता, मैं वहीं उनके आश्रम में जाकर उन्हें प्रणाम करता उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करता था। हे गरुड़ इस प्रकार मुनियों के आश्रमों में जाकर

भी उनसे राम से सम्बन्धित बातें करता तथा उनके विषय में जानकारी प्राप्त करता था। वे खुशी के साथ राम की कथाएँ कहते तथा खुशी के साथ हर्षित मन से मैं वे कथाएँ सुनता था। इस प्रकार भगवान् राम के गुणों को सुनता हुआ मैं यहाँ-वहाँ भ्रमण करने लगा। मुझ पर शिव कृपा थी इसलिए बिना किसी बाधा के मैं आसानी से यहाँ-वहाँ विचरण करता था। निरन्तर श्री राम कथा को कहने, सुनने से मेरे मन की तीनों एषनाएँ (इच्छाएँ) समाप्त हो गई। मुझे न अब मान की कामना थी, न ध ान की और न मुझे पुत्र की कामना थी। अब ये एषनाएँ मुझे विचलित नहीं करती थी। बस केवल एक ही कामना मेरे मन में बनी रहती थी कि मेरा मन हमेशा श्री राम के चरणों में लगा रहे। मेरा ध्यान हमेशा उन्हीं श्री राम की ओर रहे। उनकी ही मैं भक्ति करता रहूँ। तभी मैं अपना जन्म सफल समझूँगा। तभी मेरे जीवन की सार्थकता है। मैं जिससे भी पूछता वह मुनि यही कहता था कि ईश्वर सभी प्राणियों में है। वे सर्वभूत सत्य है। स ष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं। प्रत्येक जीव में ईश्वर का अंश समाहित है। उनका यह निर्गुण मत मुझे अच्छा नहीं लगता था, क्योंकि मेरे मन में सगुण ईश्वर के प्रति प्रेम अधिक रहता था।

आगे काकभुशुण्डि पुनः कहने लगे – हे गरुड़ ! इस प्रकार गुरु के वचनों का स्मरण करके मेरा हृदय श्री राम के चरणों में ही लगा रहा। मैं श्री राम के गुणों का गायन करता हुआ घूमता रहा; जिससे प्रत्येक क्षण मेरे मन में नया-नया अनुराग प्राप्त हुआ। अर्थात् नित्य प्रति श्री राम के प्रति मेरे मन में प्रेम उत्पन्न होता चला गया। एक दिन जब मैंने सुमेरू पर्वत की चोटी पर एक वट व क्ष की छाया में लोमश ऋषि को बैठे हुए देखा तो मैंने उनके समीप जाकर उनके चरणों में मस्तक झुकाया और अत्यन्त कोमल वचन कहने लगा। हे गरुड़ मेरे विनय युक्त कोमल और म दुल वचनों को सुनकर कृपालु स्वभाव वाले लोमश ऋषि ने अत्यन्त आदरभाव से भरकर पूछा कि हे ब्राह्मण ! आप किस कार्य से यहाँ पधारे हैं ? आपके आने का क्या प्रयोजन है ? तब मैंने उत्तर दिया कि हे सर्वज्ञ ! हे सुन्दर ज्ञान से युक्त कृपा भण्डार ! हे भगवान् ! मुझे भगवान् के सगुण रूप के विषय में बताएँ कि मैं सगुण रूप की उपासना कैसे करूँ ?

काव्य-सौंदर्य–

1. यहाँ भी मानसकार ने निर्गुण की अपेक्षा सगुण की श्रेष्ठता का निरूपण करने का प्रयास किया है।
2. काकभुशुण्डि की विनम्रता प्रदर्शित हुई है, साथ ही में उसकी सगुण भक्ति के प्रति आकर्षण दिखाया गया है।
3. ईश्वर के निर्गुण रूप का वर्णन भी किया गया है।
4. ईश्वर सर्वशक्तिमान है। स ष्टि के प्रत्येक कण में समाए हुए है।
5. 'चरण वारिज' में रूपक अलंकार है।
6. 'कहु खगेस अस कवन अभागी' में वक्रोक्ति अलंकार है।
7. 'पढ़ाई-पढ़ाई'; 'छन-छन' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
8. आरम्भिक सोलह पंक्तियों में चौपाई छंद है। चौपाई वहाँ होता है जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ हों।
9. अन्तिम आठ पंक्तियों में चार दोहे हैं। दोहा छंद भी प्रयुक्त हुआ है। दोहे छंद के प्रत्येक विषम चरण में तेरह मात्राएँ और सम चरण में ग्यारह मात्राएँ होती हैं।
10. तत्सम शब्दों की बहुलता है।
11. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग हुआ है।

31. चौ.- तब मुनीस रघुपति गुन गाथा कहे कछुक सादर खगनाथा।।
ब्रह्मग्यान रत मुनि विग्यानी। मोहि परम अधिकारी जानी।।
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा।।

अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य अखंड अनूपा।।
मन गोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवधि सुख रासी।।
सो तैं ताहि तोहि-नहिं भेदा। वारि वीचि इव गावहिं वेदा।।
विविध भाँति मोहि मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदयँ न आवा।।
पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा। सगुन उपासन कहहु मुनीसा।।
राम भगति जल मम मन मीना। किमि विलगाइ मुनीस प्रवीना।।
सोइ उपदेश कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया।।
भरि लोचन विलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा।।
मुनि पुनि कहि हरिकथा अनूपा। खंड़ि सगुन मत अगुन निरूपा।।
तब मैं निर्गुन मत कर दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी।।
उत्तर प्रतिउत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भए क्रोध ग्यानिन्ह के हिएँ।।
सुनु प्रभु बहुत अवग्या किएँ। उपज क्रोध ग्यानिन्ह के हिएँ।।
अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई।।
दो.— बारंबार सकोप मुनि करइ निरूपन ग्यान।
मैं अपने मन बैठ तब करउँ विविध अनुमान।।
क्रोध कि द्वैतबुधि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायाबस परि छिनन जड़ जीव कि ईस समान।।

शब्दार्थ— मुनीस = लोमश मुनि। **कछुक** = थोड़ा सा। **खगनाथा** = गरुड़। **ब्रह्मग्यान रत** = ब्रह्मज्ञान में लवलीन। **विग्यानी** = तत्वज्ञानी। **जानी** = जानकार। **अज** = जन्म रहित। **अद्वैत** = एक। **अगुन** = निर्गुण। **हृदयेशा** = अन्तरंग ज्ञाता। **अकल** = बुद्धि द्वारा अगम्य। **अनीह** = इच्छा रहित। **अनुभव गम्य** = अनुभव द्वारा ज्ञात। **अनूपा** = उपमा रहित। **गोतीत** = इन्द्रियों से परे। **अमल** = निर्मल। **निरवधि** = सीमारहित, असीम। **सुख रासी** = सुख समूह। **ताहि** = तू ही है, तत्त्वमसि। **वारि वीचि** = जल और तरंग। **मम हृदय** = मेरे हृदय में। **नाइ पद सीसा** = मस्तक चरणों में झुकाया, नमस्कार किया। **मम मन मीना** = मेरा मन मछली के समान है। **किमि विलगाय** = क्यों अलग हो सकता है ? **प्रवीना** = सुबुद्ध। **करि दया** = दया करें। **निज** = अपने। **नयनन्हि** = नेत्रों से। **विलोकि** = देखा। **सुनिहउँ** = सुनूँगा। **अनूपा** = अनुपम। **खंडि** = खण्डन किया, निराकरण किया। **निरुपहुँ** = कहा, निरूपण किया। **हठ भूरी** = बहुत आग्रह। **उत्तर-प्रति उत्तर** = वाद-विवाद। **चिन्हा** = चिह्न, क्षण। **उपज** = उत्पन्न हो गया। **संघरषन** = संघर्ष, रगड़। **अनल** = अग्नि। **सकोप** = क्रोध के साथ। **मायावस** = माया के अधीन। **परि छिन्न** = व्याप्त। **ईस** = भगवान्।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्यांश रामभक्ति काव्य के शिरोमणि कविरत्न 'तुलसीदास' द्वारा विरचित भारतीय जनमानस के लोकप्रिय महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। काकभुशुण्डि अपने पूर्ववर्ती जन्म की कथा गरुड़ के समक्ष कर रहे हैं तथा बता रहे हैं कि बाद में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर रामभक्ति को प्राप्त करने के लिए इधर-उधर भटकते रहे। बाद में वे सुमेरु पर्वत के शिखर पर लोमश मुनिवर के पास गये और रामकथा को जानने की अभिलाषा व्यक्त की।

व्याख्या— काकभुशुण्डि कहने लगे कि हे गरुड़ ! मेरे निवेदन पर मुनीश्वर लोमश ने श्री राम के गुणों से सम्बन्धित कुछ कथाएँ अत्यन्त आदरपूर्वक कहीं। इसके पश्चात् ब्रह्मज्ञान में लीन रहने वाले वे परम् ज्ञानी मुनि मुझे ब्रह्मज्ञान का परम् अधिकारी पात्र समझ बैठे। ऐसा विचारकर वे ब्रह्म का उपदेश देते हुए कहने लगे कि वह अजन्मा है, अद्वैत है, निर्गुण तथा हृदय का स्वामी अर्थात् अन्तर्यामी

है, वह सभी कलाओं से रहित, इच्छाहीन, नाम एवं रूप से परे, केवल अनुभव द्वारा जानने योग्य, अखण्ड तथा अनुपम है। इतना ही नहीं, वह मन तथा इन्द्रियों से परे, निर्मल, अमर, निर्विकार, सीमा रहित तथा सुखों की राशि है। उसके विषय में यही कहा जाता है – 'तुम ही हो' तुम ही हो (तत्वमसि)। जिस प्रकार जल और जल की लहरों में कोई अन्तर नहीं, नाम ही अलग-अलग हैं उसी प्रकार जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा वेद कहते हैं। इस प्रकार मुनिवर लोमश ऋषि ने मुझे निर्गुण के विषय में अनेक जानकारी प्रदान की और मुझे समझाया, परन्तु मुनि द्वारा अनेक प्रकार से समझाने पर भी निर्गुण मत के प्रति मेरे मन में कोई आस्था उत्पन्न न हो सकी। फिर मैंने उनके चरणों में सिर नवाकर कहा कि हे मुनीवर ! आप मुझे सगुण ब्रह्म की उपासना के विषय में बताएँ। काकभुशुण्डि आगे कहने लगे हे खगराज ! मैंने लोमश मुनि से कहा कि हे मुनिवर ! मेरा मन तो मछली के समान है जो श्री राम की भक्ति रूपी जल में निवास करती है। अतः हे प्रवीण ! आप ही बताएँ कि वह किस प्रकार उससे अलग हो सकती है ? ऐसा विचार कर आप मुझे वही उपदेश देने की कृपा करें जिससे मैं अपने नेत्रों से श्री राम को देख सकूँ। हे ऋषिश्वर ! मैं सर्वप्रथम अयोध्यापति श्री राम को देखकर नेत्रों की त प्ति चाहता हूँ। उसके पश्चात् ही आपके द्वारा कहे गए निर्गुण भगवान् के उपदेश सुन सकूँगा। इसके पश्चात् मुनि ने एक बार फिर श्रीराम की अनुपम कथा सुनाकर, सगुण मत का खण्डन करते हुए निर्गुण ब्रह्म का निरूपण किया। इस पर मैंने भी निर्गुण मत का विरोध करते हुए अत्यन्त हठपूर्वक सगुण ब्रह्म को निरूपित किया अर्थात् सगुणोपासना में ही अपनी आस्था प्रकट की। मैंने मुनिवर से इस विषय पर (निर्गुण-सगुण) पर्याप्त वाद-विवाद किया। इससे मुनि लोमश के शरीर में क्रोध के चिह्न दिखाई देने लगे। अर्थात् वाद-विवाद से उन्हें क्रोध आने लगा। हे प्रभु ! (गरुड़) बहुत अधिक अपमान या उपेक्षा होने पर ज्ञानियों के हृदय में भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है क्योंकि कोई लकड़ी यदि चंदन की हो तो उसके रगड़ने से भी अग्नि उत्पन्न हो आती है (यह स्वाभाविक है)।

काकभुशुण्डि पुनः कहते हैं – लोमश मुनिवर को बार-बार क्रोध आने लगा और वे ज्ञान (निर्गुण) का बखान करते रहे। तब मैं बैठा-बैठा विविध प्रकार के अनुमान करने लगा। मैं सोचने लगा कि क्या द्वैत भाव के बिना क्रोध संभव है और क्या अज्ञानता के अभाव में द्वैतभाव उत्पन्न हो सकता है ? मैंने विचार किया कि माया के वशीभूत रहने वाले जड़-चेतन, ईश्वर की व्यापकता की समता नहीं कर सकते, यदि वे ऐसा कर पाने में समर्थ होते तो मुनि लोमश के हृदय में क्रोध क्यों उत्पन्न होता ? तात्पर्य यह है कि जीव और ईश्वर एक नहीं हो सकते।

काव्य-सौंदर्य–

1. यहाँ लोमश मुनि तथा काकभुशुण्डि के बीच निर्गुण और सगुण ब्रह्म के निरूपण को लेकर चल रहा विवाद पाठकों के हृदय में उत्सुकता का संचार कर देता है। मुनि लोमश के क्रोध के कारण हुए शारीरिक परिवर्तन से आगे आने वाली किसी अप्रिय घटना का संकेत मिल जाता है। पाठक यहाँ सोच बैठता है कहीं ऐसा तो नहीं कि ब्राह्मण देह से काक-शरीर काकभुशुण्डि को लोमश मुनि के शाप से ही प्राप्त हुआ हो।
2. काकभुशुण्डि द्वारा अपने पूर्वजन्म का व त्तान्त सुनाया गया है, जिसमें बताया गया है कि अनेक युगों तक उसके मन में राम भक्ति की प्यास जाग्रत रही।
3. निर्गुण पर सगुण की विजय को व्यक्त किया गया है।
4. **अलंकार** – I. 'सौं तें ..... वेदा' में उपमा अलंकार है।
   II. 'रामभगति जल' में रूपक अलंकार है।
   III. 'बारि बीचि इव' में उपमा अलंकार है।
   IV. 'मम मन मीना' में उपमा और अनुप्रास अलंकार है।
   V. 'सुमु ..... तोहि' में उदाहरण अलंकार है।

VI. 'सुन प्रभु ..... चंदन ते होई में' निदर्शना अलंकार है।

VII. क्रोध कि ..... समान' में वक्रोक्ति अलंकार है।

5. अवधी भाषा तत्सम शब्दावली के कारण अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़ी है।
6. प्रथम सोलह पंक्तियों में चौपाई छंद है।
7. अन्तिम चार पंक्तियों में दोहा छंद है।

32. चौ.- कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके। तेहि कि दरिद्र परस मनि जाके।।
परद्रोही की होहि निसंका। कामी मुनि कि रहहि अकलंका।।
बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें। कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें।।
काहू सुमति कि खल सँग जामी। सुभ गति पाव कि परत्रिय गामी।।
भव कि परहिं परमात्मा विंदक। सुखी कि होहिं कबहूँ हरि निंदक।।
राजु कि रहइ नीति बिनु जानें। अघ कि रहहिं हरिचरित बखानें।।
पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।।
लाभु कि हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना।।
हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई।।
अघ कि पिसुनता सम कछु आना। धर्म कि दया सरिस हरिजाना।।
एहि विधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ।।
पुनि-पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोलेउ वचन सकोपा।।
मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि। उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि।।
सत्य वचन विस्वास न करही। वायस इव सबही ते डरही।।
सठ स्वपच्छ तव हृदयँ विसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला।।
लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई।।
दो.– तुरत भयउँ मैं काग तब पुनि मुनि पद सिरु नाइ।
सुमिरि राम रघुवंस मनि हरषित चलेउँ उड़ाइ।।
उमा जे राम चरन रात विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत के हि सन करहिं विरोध।।

शब्दार्थ– कबहुँ कि = क्या कभी। **कर** = का। **ताके** = उसके। **तेहि कि** = क्या जिसके। **परसमनि** = पारसमणि। **परद्रोही** = दूसरे से ईर्ष्या करने वाला। **कामी** = कामवासना से भरा। **अकलंका** = कलंक रहित। **अनहित** = अहित, बुरा। **स्वरूपहिं चीन्हें** = भगवान् का सच्चा स्वरूप ज्ञात कर लेने पर। **सुमति** = सद्बुद्धि। **खल** = दुष्ट। **जामी** = उत्पन्न हुई है। **परत्रिय गामी** = दूसरे की नारी का सेवन करने वाला। **भव कि परहिं** = जन्म के चक्कर में क्या पड़ सकता है ? **बिंदक** = ज्ञाता। **निंदक** = निंदा करने वाला। **राजु किरहे** = क्या राज्य रह सकता है ? **अघ** = पाप। **पावन जस** = पवित्र कीर्ति। **अजस** = अपयश, निंदा। **श्रुति** = शास्त्र। **पुराना** = पुराण। **एहि सम** = इसके समान। **नर तनु पाई** = मानव का शरीर प्राप्त करके भी। **पिसुनता** = चुगलखोरी। **सम** = समान। **कछु आना** = कुछ अन्य। **सरिस** = समान। **मिति** = अनेक। **जुगुति** = युक्तियाँ। **पुनि-पुनि** = बार-बार। **पच्छ** = पक्ष। **रोपा** = प्रस्तुत किया। **सकोपा** = क्रोध में भरकर। **मूढ़** = मूर्ख। **सिख देउँ** = शिक्षा देता है। **न मानसि** = नहीं मानता है। **उत्तर प्रति उत्तर** = वाद-विवाद। **वायस** = कौआ। **सठ**

= मूर्ख। **स्वपच्छ** = अपना मत। **सपदि** = शीघ्र। **पच्छी चाण्डाल** = चाण्डाल पक्षी, कौआ। **सीस चढ़ाई** = सम्मानपूर्वक स्वीकार किया। **तुरत** = शीघ्र। **सुमिरि** = स्मरण करके। **उमा** = पार्वती। **रत** = लवलीन। **विगत** = रहित। **केहि सन** = किसके साथ ?

प्रसंग– प्रस्तुत पद्य-खण्ड रामभक्ति के प्रमुखतम कवि लोकनायक 'तुलसीदास' कृत जन-जनमानस के श्रद्धेय काव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। अपने पूर्व जन्म में काकभुशुण्डि ब्राह्मण योनि प्राप्त करके लोमश ऋषि के पास रामभक्ति ज्ञात करना चाहता है, परन्तु वे उसे निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं। अतः वह वाद-विवाद करके निर्गुण पर सगुण की विजय प्रस्तुत करता हुआ कहता है–

व्याख्या– काकभुशुण्डि गरुड़ से कहता है– हे खगराज ! मैं विचार करने लगा कि सबका हित चाहने वाला भी क्या कभी दुःखी रह सकता है ? जो पारसमणि जैसी बहुमूल्य वस्तु का स्वामी है क्या उसके पास भी कभी दरिद्रता फटक सकती है ? अन्य प्राणियों के प्रति द्रोह भावना रखने वाला भी क्या कभी निर्भय होकर विचरण कर सकता है ? काम-वासना में लिप्त मनुष्य क्या कलंक रहित हो सकता है ? अर्थात् ये सभी असम्भव है। ब्राह्मणों का अहित करने वाला क्या कभी वंश को सुरक्षित रख सकता है ? स्वरूप की पहचान अर्थात् आत्म्ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर भी क्या कभी कर्मों के प्रति आसक्ति का भाव बना रह सकता है ? दुष्ट जनों की संगति से क्या कभी सुबुद्धि प्राप्त की जा सकती है ? पराई स्त्री से सम्पर्क रखने वाला पुरुष क्या कभी उत्तम गति प्राप्त कर सकता है ? परमेश्वर का साक्षात्कार करने वाला जीव भी क्या कभी सांसारिक आवागमन के चक्र में पड़ सकता है ? भगवान् की निंदा करने वाला जीव क्या कभी सुखी रह सकता है ? क्या नीति को न जानने वाला राज्य कर सकता है ? क्या भगवान् राम के चरित्र का वर्णन करने वाला कभी पापी हो सकता है ? अर्थात् ये सम्भव नहीं हैं। क्या कभी बिना पुण्य कार्य किए पवित्र यश की प्राप्ति सम्भव है ? पाप किए बिना कोई अपयश (निंदा) प्राप्त कर सकता है ? जिसकी महिमा को शास्त्र, सज्जन व पुराण आदि कहते हैं उस भगवान् की भक्ति के समान क्या और कोई लाभ सम्भव है? अर्थात् नहीं है। काकभुशुण्डि कहते हैं, हे भाई ! संसार में इसके समान और कोई क्षति सम्भव नहीं है कि मनुष्य का शरीर प्राप्त करके भी राम का भजन (भक्ति) नहीं किया। अर्थात् मानव जीवन की सार्थकता राम की भक्ति करने में है। दूसरों के साथ छल, कपट पूर्ण आचरण करने अथवा चुगलखोरी से भी बड़ा कोई दूसरा पाप कर्म है ? यही नहीं दया के समान भी क्या कोई दूसरा धर्म कार्य हो सकता है ? हे पक्षीराज गरुड़ ! मैं इसी प्रकार अनेक युक्तियों पर अपने मन में विचार करता रहा? मैंने मुनि लोमश के उपदेश को आदर सहित सुनने की चेष्टा ही नहीं की तथा रह-रहकर सगुण भक्ति के सिद्धान्त को ही निरूपित करने का प्रयास करता रहा। इस पर मुनि क्रोधित हो उठे और क्रोध से भरकर बोले – हे मूर्ख ! मैंने तुम्हें उच्च कोटि की शिक्षा प्रदान की, किन्तु तुमने उसे स्वीकार नहीं किया, अर्थात् उसे समझने का प्रयास नहीं किया, बल्कि बार-बार विवाद करते रहे हो। क्या तुम्हें मेरी सत्य बातों पर विश्वास नहीं है ? इसी कारण तू कौए के समान सभी से डरता है। हे मूर्ख ! तेरे मन में अपने पक्ष के समर्थन में बहुत बड़ा आग्रह है। मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम शीघ्र ही चाण्डाल पक्षी (कौआ) काग बन जाओ। काकभुशुण्डि कहता है कि मैंने उस शाप को आदरपूर्वक स्वीकार कर लिया। इसके कारण उस समय मेरे मन में न तो किसी प्रकार का भय उत्पन्न हुआ और न किसी प्रकार की दीनता का भाव जाग त हुआ।

काकभुशुण्डि बोले कि हे गरुड़ ! मुनि के शाप के प्रभाव से मैं तुरन्त काक हो गया, इसके पश्चात् मैंने मुनि के चरणों में शीश झुकाया तथा रघुवंश के शिरोमणि भगवान् राम का स्मरण किया तथा बहुत प्रसन्न होकर मैं वहाँ से उड़ गया। शिव पार्वती से कहते हैं कि हे उमा ! जो प्राणी काम, क्रोध, मद, लोभ आदि का परित्याग करके सदैव श्री राम के चरणों में लगे रहते हैं वे तो सारे संसार को राममय हुआ देखते हैं अर्थात् ऐसे व्यक्ति जो अपनी भक्ति राम के चरणों में अर्पित करते हैं उन्हें

सम्पूर्ण संसार राममय नज़र आता है, उनके मन में किसी प्रकार का कोई भ्रम नहीं रहता और वे किसी से भी विरोध नहीं करते अर्थात् वे किसी से भी शत्रुता नहीं रखते।

काव्य-सौंदर्य–

1. इन पंक्तियों में कवि ने रामभक्तों तथा राम के भजनों से विमुख रहने वाले प्राणियों के द्वारा भोगे जाने वाले सुखों तथा सांसारिक यातनाओं की ओर संकेत करके जनसाधारण को श्री राम की भक्ति की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया है।
2. सगुण भक्ति के पक्षधर होने के कारण काकभुशुण्डि को पूर्वजन्म में लोमश ऋषि का शाप प्राप्त हुआ, इसका उल्लेख किया गया है।
3. निर्गुण भक्ति पर सगुण भक्ति की विजय को दिखाया गया है।
4. समस्त पदावली में वक्रोक्ति अलंकार है।
5. 'बायस इव सबही ते उरहीं' में उपमा अलंकार है।
6. 'लीन्ह आप मैं सीस चढ़ाई' में मुहावरे का सुंदर प्रयोग है।
7. तत्सम शब्दों का बाहुल्य सम्पूर्ण पद्य में है।
8. अवधी भाषा का सुंदर रूप प्रयुक्त हुआ है।
9. प्रथम सोलह पंक्तियों में चौपाई छंद है।
10. अन्तिम चार पंक्तियों में दोहा छंद है।

33. चौ.- सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस विभूषन।।
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी।।
मन वच क्रम मोहि निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना।।
रिषी मम महत सीलता देखी। राम चरन विस्वास विसेषी।।
अति विसमय पुनि-पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई।।
मम परितोष विविध विधि कीन्हा। हरषित राममंत्र तब दीन्हा।।
बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना।।
सुंदर सुखद मोहि अति भावा। सो प्रथमहिं मैं तुम्हहि सुनावा।।
मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाषा।।
सादर मोहि यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुराई।।
रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभू प्रसाद तात मैं पावा।।
तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी।।
राम भगति जिन्ह के उर नाहीं। कबहुं न तात कहिअ तिन्ह पाहीं।।
मुनि मोहि विविधि भाँति समुझाया। मैं सप्रेम मुनि पद सिरु नावा।।
निज कर कमल परसि मम सीसा। हरषित आसिष दीन्ह मुनीसा।।
राम भगति अविरल उर तोरें। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे।।
दो.– सदा राम प्रिय होहु तुम्ह सुभ गुन भवन अमान।
कामरूप इच्छा मरन ग्यान विराग निधान।।

जेहिं आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत।
ब्यापिहि तहँ न अविद्या जोजन एक प्रजंत।।

शब्दार्थ— खगेस = पक्षीराज गरुड़। **दूषन** = दोष। **उर प्रेरक** = हृदय को प्रेरणा देने वाले। **मति** = बुद्धि। **भोरी** = भुलावा। **प्रेम परिच्छा** = प्रेम की परीक्षा। **मोरी** = मेरी। **क्रम** = कर्म। **निज जन** = अपना भक्त। **पुनि** = फिर। **फेरी** = बदल दी, परिवर्तित कर दी। **शीलता** = शान्त स्वभाव। **महत** = बहुत अधिक। **विसेषी** = विशेष रूप से। **विसमय** = आश्चर्य। **पुनि-पुनि** = बार-बार। **लीन्ह बोलाई** = बुला लिया। **परितोष** = शान्त्वना। **विविध विधि** = अनेक प्रकार से। **कर** = का। **अति भावा** = बहुत अच्छा लगा। **प्रथमहि** = पहले। **तहँ राखा** = वहीं रखा। **भाषा** = सुनाया। **गिरा** = वाणी। **सुहाई** = सुन्दर प्रतीत हुई। **सर** = मानस। **गुप्त** = रहस्यमय। **संभू प्रसाद** = शिवजी की कृपा से। **बखानी** = कही है। **निज** = अपने। **कर-कमल** = हाथ रूपी कमल से। **परसि मम** = मुझे स्पर्श किया। **आसिष** = आशीर्वाद। **अविरल** = निरन्तर। **उर** = हृदय में। **प्रसाद** = कृपा। **गुन-भवन** = गुण के घर। **अमान** = निराभिमानी। **कामरूप** = इच्छा के अनुसार। **इच्छा मरन** = इच्छा के अनुरूप म त्यु प्राप्त करना। **विराग** = वैराग्य। **निधान** = खजाना। **बसव** = रहोगे। **व्यापहि तहँ न** = वहाँ नहीं रहेगा। **अविद्या** = अज्ञान। **जोजन** = योजन। **प्रजंत** = पर्यन्त।

प्रसंग— व्याख्येय पद्य-भाग भक्तिकालीन रामभक्ति काव्यधारा के सूर्य के प्रतिनिधि कवि, महाकाव्यकार व समाज सुधारक 'तुलसीदास' द्वारा रचित विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। काकभुशुण्डि ने गरुड़ को अपने पूर्वजन्म का व त्तान्त सुनाया है जिसमें वे ब्राह्मण से काक बनें। वे महर्षि लोमश का शाप आदरपूर्वक स्वीकार कर लेते हैं उसके मन में किसी प्रकार का क्रोध उत्पन्न नहीं होता। अपितु प्रसन्न मन से काक शरीर को धारण कर लेते हैं।

व्याख्या— काकभुशुण्डि बोले कि हे गरुड़ ! इसमें उन लोमश मुनि का कोई दोष नहीं था। क्योंकि रघुकुल शिरोमणि श्री राम की हृदय से प्रेरणा यही थी। कृपा के समुद्र भगवान् राम ने इस समय मुनि लोमश की बुद्धि को भुलावा दिया था और मेरी प्रीति की परीक्षा ली थी। (मैं परीक्षा में सफल था) प्रभु राम ने देखा कि मैं मन से, वचन से और कर्म से उन्हीं का दास हूँ, सेवक हूँ। तत्पश्चात् भगवान् राम ने मुनि की बुद्धि को पलट दिया। मुनि ने जब मेरी सहनशीलता और श्री राम के चरणों में मेरा विशेष प्रेम देखा और अपने मन में मनन किया कि इसमें न तो शाप के प्रति क्रोध है, न अविनय है। जब उन्होंने यह जान लिया कि श्री राम के चरणों में मेरा परम् विश्वास है जो अचल है। उन्होंने मेरे ऐसे व्यवहार पर आश्चर्य किया और बार-बार पछताने लगे कि मैंने यह शाप क्यों दिया ? फिर मुनि ने अत्यन्त आदरभाव से मुझे अपने समीप बुलाया। उन्होंने अनेक प्रकार से मुझे संतोष प्रदान करने का अर्थात् सान्त्वना देने का प्रयास किया। इतना ही नहीं उन्होंने हर्षित मन से श्री राम की भक्ति का मंत्र भी दे दिया। उन्होंने मुझे बालक के रूप में भगवान् राम का ध्यान करने का मंत्र दिया और उन्होंने कृपा करके मुझे यह भी कहा — ''मैं तुम्हें इस प्रकार के ध्यान की विधि पहले ही बता चुका हूँ। यह ध्यान बहुत ही सुंदर है, और सुख देने वाला है।'' इससे मेरे मन को सुख मिला अर्थात् मुझे संतोष मिला। इतना ही नहीं मुनिवर ने (स्नेहपूर्वक) मुझे कुछ समय तक अपने पास रखा और अत्यन्त सुंदर वाणी से मुझे उन्होंने भगवान् राम की कथा 'रामचरितमानस' का परिचय देते हुए पूर्ण आदर सहित सुनाई। फिर मुनि ने अत्यन्त मधुर वाणी में बताया — हे तात! यह 'रामचरितमानस' अत्यधिक सुंदर और गुप्त है। इसका रहस्य मैंने शिव की असीम कृपा से प्राप्त किया था; तुम्हें श्री राम का अनन्य सेवक जानकर ही मैंने तुम्हारे सामने यह कथा विस्तारपूर्वक सुनाई है। अतः हे तात ! जिस प्राणी के हृदय में श्री राम की भक्ति न हो उसके समक्ष इस कथा का वर्णन कदापि न करना। इस प्रकार मुनि ने अनेक प्रकार से इस 'रामचरितमानस' के विषय में समझाया। अर्थात् ज्ञान प्रदान किया, तब मैंने अत्यन्त प्रेम से मुनि के चरणों में अपना मस्तक झुका दिया। उन्हीं मुनि ने अपने हस्तकमल को मेरे मस्तक पर रखकर बहुत प्रसन्नता के साथ मुझे आशीर्वाद दिया। उन्होंने

यह भी कहा कि तुम्हारे अंदर राम की भक्ति निरन्तर रहेगी तथा मेरी कृपा से यह भक्ति और भी द ढ़ हो जाएगी।

उन्होंने मुझे आशीर्वाद देते हुए कहा कि तुम सदा राम के प्रिय भक्त बने रहो तथा कल्याणकारी, गुणों का घर, मानरहित, इच्छानुसार रूप धारण करने की शक्ति से सम्पन्न, इच्छानुसार जीवन एवं म त्यु को प्राप्त करने में समर्थ तथा ज्ञान और वैराग्य के भण्डार बने रहोगे। तुम्हारे पास अविद्या अस्तित्व भी नहीं रहेगा।

काव्य-सौंदर्य–

1. मुनि के शाप का प्रभाव वर्णित है।
2. मुनि द्वारा काक को रामभक्ति का उपदेश और मंत्र देने का वर्णन है।
3. काक की विनय भावना एवं धैर्यशीलता अभिव्यक्त हुई है।
4. सगुण भक्ति का प्रभाव एवं उसकी महत्ता पर प्रकाश डाला गया है।
5. 'विविधि विधि' में रूपक अलंकार है।
6. 'कृपा-सिंधु', 'कर-कमल', 'गुण-भवन' में रूपक अलंकार है।
7. तत्सम शब्दों का बाहुल्य है।
8. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग है।
9. चौपाई छंद प्रस्तुत पद्य की आरम्भिक सोलह पंक्तियों में प्रयुक्त हुआ है।
10. पद्य की अन्तिम चार पंक्तियों में दोहा छंद विद्यमान है।

34. चौ.- काल कर्म गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहि न व्यापिहि काऊ।।
राम रहस्य ललित विधि नाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना।।
बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ। नित नव नेह राम पद होऊ।।
जो इच्छा करिहहु मन माही। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।
सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भई गगन गँभीरा।।
एवमस्तु तव वच मुनि ग्यानी। यह मम भगत कर्म मन बानी।।
सुनि नभगिरा हरष मोहि भयऊ। प्रेम मगन सब संसय गयऊ।।
करि विनती मुनि आयसु पाई। पद सरोज पुनि पुनि सिरु नाई।।
हरष सहित एहिं आश्रम आउँ। प्रभु प्रसाद दुर्लभ वर पायऊँ।।
इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा।।
करउँ सदा रघुपति गुन गाना। सादर सुनहिं विहंग सुजाना।।
जब जब अवधपुरीं रघुबीरा। धरहिं भगत हित मनुज सरीरा।।
तब तब जाइ राम पुर रहऊँ। सिसुलीला विलोकि सुख लहऊँ।।
पुनि उर राखि राम सिसरूपा। निज आश्रम आवउँ खगभूपा।।
कथा सकल मैं तुम्हहि सुनाई। काग देह जेहिं कारन पाई।।
कहिउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी। राम भगति महिमा अति भारी।।
दो.– ताते यह तन मोहि प्रिय भयउ राम पद नेह।
निज प्रभु दरसन पायउँ नए सकल संदेह।।

भगति प्रच्छ हठ करि रहेउ दीन्हि महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ वर पायउँ देखहु भजन प्रताप।।

शब्दार्थ— **न व्यापिहि** = प्रभाव नहीं होना। **ललित** = सुंदर। **गुप्त** = अलक्षित। **प्रगट** = लक्षित, ज्ञात। **नेह** = स्नेह। **आसिष** = आशीर्वाद। **गगन** = आकाश। **एवमस्तु** = ऐसा ही हो। **तव वच** = तुम्हारा कथन। **मम** = मेरा। **नभगिरा** = आकाशवाणी। **प्रेम मगन** = प्रेम में लिप्त। **आयसु** = आज्ञा। **पद-सरोज** = चरण कमल। **प्रसाद** = कृपा। **खग ईसा** = पक्षीराज गरुड़। **विहंग** = पक्षी। **सुजाना** = बुद्धिमान्। **विलोकि** = देखकर। **खगभूपा** = पक्षीराज। **काग देहि** = कौए का शरीर। **ताते** = इसी कारण। **तन** = शरीर। **पच्छ** = पक्ष।

प्रसंग— प्रस्तुत प्रस्तावित पद्य-खण्ड राम भक्तिकालीन काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि, सगुण भक्तिधारा के श्रेष्ठ कवि, समाज सुधारक 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। इसमें बताया गया है कि जब लोमश ऋषि के शाप से ब्राह्मण से काकभुशुण्डि काक बन जाता है तब भी वह रामभक्ति नहीं छोड़ता और न ही वह नम्रता तथा विनय भावना का ही त्याग करता है। इस प्रकार अडिग विश्वास एवं अपने गुणों पर द ढ़ रहने के कारण लोमश ऋषि काकभुशुण्डि पर खुश हो जाते हैं और उससे कहते हैं—

व्याख्या— काकभुशुण्डि गरुड़ को बताते हुए कहते हैं, हे गरुड़ ! लोमश मुनि मुझ पर प्रसन्न थे तब उन्होंने कहा अर्थात् आशीर्वाद दिया, हे काकभुशुण्डि काल (समय), कर्म (कार्य) स्वभाव आदि के गुण, दोष तथा दुःख तुम्हें प्रभावित नहीं करेंगे अर्थात् तुम्हारे ऊपर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। राम की भक्ति का रहस्य बहुत ही सुंदर है जो इतिहास और पुराणों में लक्षित (प्रकट) और अलक्षित (गुप्त) है अर्थात् वह दिखाई भी पड़ता है और अज्ञात भी है। हे काकभुशुण्डि ! तुम उसे बिना किए ही जान जाओगे। तुम्हारा राम के चरणों में सदा नया-नया प्रेम बना रहेगा। तुम अपने मन में जो भी इच्छा करोगे वह भगवान् राम की कृपा से पूरी हो जाएगी, कुछ भी तुम्हें दुर्लभ नहीं होगा। काकभुशुण्डि अपनी यह कथा गरुड़ को सुनाते हुए कहते हैं — हे धीर बुद्धि से युक्त गरुड़! सुनिए ! मुनि का इस प्रकार का आशीर्वाद सुनकर आकाश में ब्रह्म वाणी गूँज उठी कि हे ज्ञानी मुनि, आपके वचन ऐसे ही हों अर्थात् सत्य हों, क्योंकि मेरा यह भक्त मन, वचन एवं कर्म से मेरी ही भक्ति करने वाला है। इस आकाशवाणी (ब्रह्मवाणी) को सुनकर मुझे अपार हर्ष हुआ। मेरे सारे शोक एवं संदेह मिट गए और मैं प्रभु के प्रेम में मग्न हो गया। तभी मैंने मुनिवर से विनती की और उनके चरणों में नमस्कार करके, उन्हीं की आज्ञा लेकर प्रसन्न मन होकर अपने आश्रम आ गया। मैंने प्रभु श्री राम की कृपा से अत्यन्त दुर्लभ वरदान को प्राप्त किया। हे पक्षीराज ! मुझे इस आश्रम में निवास करते हुए सत्ताईस कल्पों का समय हो गया है। यहाँ रहकर मैं हमेशा भगवान् राम के गुणों का गायन किया करता हूँ। इन गुणों एवं भजनों को यहाँ के सभी पक्षीगण अत्यन्त आदर भाव से सुनते हैं, जब कभी भगवान् राम अयोध या में भक्तों के हित के लिए शरीर धारण करते हैं तो मैं अयोध्या जाकर रहता हूँ और उनकी शैशवकालीन लीलाओं को देखकर अपने हृदय में असीम सुख की अनुभूति किया करता हूँ। फिर हे गरुड़ ! श्री राम के बालरूप को हृदय में धारण करके मैं अपने आश्रम में लौट आता हूँ। मैंने आपको वह सारी कथा कह सुनाई जिसके कारण मुझे काक शरीर की प्राप्ति हुई। हे तात ! मैंने केवल आपके प्रश्नों के उत्तर ही दिए हैं, वस्तुतः श्री राम की भक्ति की महिमा तो अत्यन्त प्रबल है।

काकभुशुण्डि पुनः बोले कि हे तात ! मुझे यह काक शरीर अत्यधिक प्रिय है क्योंकि इसी शरीर से मैंने श्री राम के चरणों की भक्ति प्राप्त की थी। इसी शरीर को पाकर ही मैंने अपने प्रभु के दर्शन किए तथा मेरे मन के सारे संदेह दूर हो गए। मैं अपने आग्रह भक्ति पक्ष पर हठपूर्वक द ढ़ बना रहा तो मुनि ने कुपित होकर मुझे शाप दे दिया, परन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि मुझे यह वरदान प्राप्त हुआ जो मुनियों को भी दुर्लभ है।

काव्य-सौंदर्य—

1. काकभुशुण्डि पर मुनि के शाप का प्रभाव वर्णित है।
2. शाप पाकर भी काक की खुशी प्रदर्शित हुई है। यह तथ्य इस ओर संकेत करता है कि गुरुजनों के प्रति कभी भी क्रोधित नहीं होना चाहिए। गुरु जो भी हमें प्रदान करें चाहे वह शाप ही क्यों न हो सहर्ष स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि इसमें ही मनुष्य की भलाई है।
3. गरुड़ की सभी शंकाओं को दूर किया गया है।
4. रामभक्ति का प्रबल समर्थन किया गया है।
5. सगुण भक्ति की ओर संकेत है।
6. काकभुशुण्डि को काक शरीर में रहते हुए सत्ताईस कल्पों का वर्णन किया गया है।
7. इस स्थान पर महाकवि ने काकभुशुण्डि और पक्षीराज गरुड़ के बीच अब तक हुई वार्ता का सारांश काव्यबद्ध किया है।
8. 'पद-सरोज' में रूपक अलंकार है।
9. 'पुनि-पुनि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
10. तत्सम शब्दावली का प्रयोग है।
11. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग हुआ है।
12. प्रथम सोलह पंक्तियों में चौपाई छंद प्रयुक्त हुआ है।
13. अन्तिम चार पंक्तियों में दोहा छंद है।

35. चौ.- जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं।।
ते जड़ कामधेनु ग हँ त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी।।
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। वे सुख चाहहिं आन उपाई।।
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी।।
सुनि भसुंडि के वचन भवानी। बोलेउ गरुड़ हरषि म दु बानी।।
तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं।।
सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा। तुम्हरी कृपाँ लहेउँ विश्रामा।।
एक बात प्रभु पूँछउँ तोही। कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही।।
कहहिं संत मुनि वेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना।।
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाई। नहिं आदरेहु भगति की नाई।।
ग्यानहि भगतिहिं अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपा निकेता।।
सुनि उरगारि वचन सुख माना। सादर बोलेउ काग सुजाना।।
भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।।
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु विहंगवर।।
ग्यान विराग जोग विग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबखा अबल सहज जड़ जाती।।

दो.— पुरुष त्यागि सक नारिहि जो विरक्त मति धीर।
न तु कामी विषयाबस विमुख जो पद रघुवीर।।

सो.— सोउ मुनि ग्याननिधान म गनयनी विधु मुख निरखि।
विवस होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट।।

शब्दार्थ— असि = ऐसी। **जानि** = ज्ञात करके। **परिहरहीं** = छोड़ देते हैं। **जड़** = मूर्ख। **पय लागि** = दूध के लिए। **खगेस** = गरुड़। **विहाई** = छोड़कर। **आन उपाई** = अन्य उपाय। **सठ** = मूर्ख। **तरनी** = नौका। **म दुवानी** = कोमल वचन। **पुनीत** = पवित्र। **गुन ग्रामा** = गुणों का समूह। **विश्रामा** = शान्ति। **बुझाइ** = समझाकर। **सन्** = से। **नाईं** = समान। **केता** = कितना। **निकेता** = घर। **उरगारि** = सर्प-शत्रु गरुड़। **सुजाना** = बुद्धिमान्। **भव संभव** = संसार से उत्पन्न। **खेद** = कष्ट। **विहँगवर** = पक्षीराज। **हरिजाना** = गरुड़। **अबला अबल** = अबला (माया) बलहीन है। **जड़ जाती** = जन्म से मूर्ख है। **ग्याननिधान** = ज्ञान के खजाने। **म गनयनी** = हिरण के समान बड़े नेत्र वाली। **विधुमुख** = चन्द्रमा रूपी मुख। **निराहि** = देखकर। **विवस** = पराधीन। **प्रकट** = प्रत्यक्ष।

प्रसंग— व्याख्येय पद्य-खण्ड हिन्दी साहित्यकाल के सूर्य, भक्तिकालीन राम काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। काकभुशुण्डि अपने कौए के शरीर को पाकर बड़ा प्रसन्न है, क्योंकि उसे इसी शरीर में राम की भक्ति की प्राप्ति हुई थी, इसलिए अपने इसी रूप को सफल एवं सार्थक मानता है और गरुड़ से कहता है—

व्याख्या— काकभुशुण्डि कहने लगे कि — हे गरुड़ ! जो मनुष्य भक्ति की ऐसी महिमा को जानने पर भी उसका परित्याग करते हैं तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए परिश्रम करते हैं उन मंद बुद्धि वाले प्राणियों का आचरण ऐसा ही है, मानो कोई घर में बंधी हुई कामधेनु गाय को छोड़कर, दूध के लिए ऑक के पौधे की खोज कर रहा हो। भाव यह है कि ऑक के पौधे का दूध निरर्थक है व अनिष्ट करने वाला है, जबकि कामधेनु का दूध मनोकामनाओं को पूरा करने वाला है। हे गरुड़ ! जो भगवान् की भक्ति को छोड़कर अन्य उपायों द्वारा सुख प्राप्त करने की कामना करते हैं, वे मूर्ख हैं। वे बिना नौका के महान् समुद्र को पार करना चाहते हैं—यह उनका मूर्खतापूर्ण कार्य है। (शिवजी कहते हैं) हे पार्वती ! काकभुशुण्डि के इस प्रकार के वचनों को सुनकर गरुड़ अत्यन्त प्रसन्न हुए और कोमल वचन कहने लगे—आपकी बातें सुनकर प्रभु की कृपा से मेरे सभी संदेह, शोक, मोह और भ्रम आदि दूर हो गये हैं। मैंने तुम्हारी दया से राम के गुणों को सुन लिया है। अब ही मुझे शान्ति प्राप्त हो सकी है। हे कृपा के समुद्र काकभुशुण्डि ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ। आप मुझे अच्छी प्रकार समझाकर कहें। प्रायः सन्त, वेद, पुराण, मुनि कहते हैं कि राम प्राप्ति के समान कुछ भी दुर्लभ नहीं है। उसी ज्ञान के विषय में लोमश मुनि ने आपसे कहा था, परन्तु भक्ति के समान उसका सम्मान नहीं किया था। हे कृपालु ! बताइए कि ज्ञान और भक्ति में कितना अन्तर है ? गरुड़ के प्रश्न को सुनकर काकभुशुण्डि को बहुत आनन्द हुआ। अतः ज्ञानी काकभुशुण्डि ने आदर पूर्वक इस प्रकार उत्तर दिया—यद्यपि भक्त और ज्ञान में कुछ भी भेद नहीं है दोनों ही संसार से उत्पन्न कष्टों को दूर करने वाले हैं। फिर भी, हे स्वामी ! ऋषि मुनियों ने इसमें कुछ अन्तर बताया है। अतः हे पक्षीराज ! आप ध्यानपूर्वक सुनें। ज्ञान, वैराग्य, योग तथा विज्ञान इन सभी को पुरुषों की श्रेणी में रखा गया है। पुरुष सब प्रकार से प्रबल तथा प्रतापी होता है और इसके विपरीत नारी स्वभाव से ही दुर्बल तथा जाति अर्थात् जन्म से ही जड़ अर्थात् मूर्ख कही गई है।

स्त्री का त्याग केवल वे ही पुरुष कर पाते हैं जिनका हृदय वैराग्य और धैर्यशीलता से युक्त हो। विषय-वासनाओं में लिप्त और श्री राम के चरणों में प्रेम न करने वाले कामी पुरुष स्त्री का त्याग कभी नहीं कर पाते। काकभुशुण्डि कहते हैं, हे गरुड़ ! बड़े-बड़े ज्ञानवान् मुनि भी सुलोचनी स्त्रियों का चंद्रमुख देखकर उनके वशीभूत हो जाते हैं। हे गरुड़ ! नारी तो साक्षात् विष्णु की ही माया का व्यक्त रूप है।

काव्य-सौंदर्य—

1. भगवान् श्री राम की महिमा का बखान किया गया है।
2. नारी को माया के रूप में वर्णित किया गया है।

3. रामभक्त मनुष्य ही स्वयं को विषय-वासनाओं से अलग रख सकता है।
4. 'जे असि ..... पय लागी' में उदाहरण अलंकार है।
5. 'सुनु खगेस ..... जड़ करनी' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।
6. 'कृपानिधि', 'ग्यान विधान', 'विधुमुख' में रूपक अलंकार है।
7. 'म गनयनी' में उपमा अलंकार है।
8. तत्सम शब्दों का बाहुल्य है।
9. अवधी भाषा का सुंदर रूप प्रयुक्त हुआ है।
10. प्रथम सोलह पंक्तियों में चौपाई छंद है।
11. अन्तिम दो पंक्तियों में सोरठा छंद है।
12. अन्तिम दो पंक्तियों से ऊपर की दो पंक्तियों में दोहा छंद है।

36. चौ.- इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। वेद पुरान संत मत भाषउँ।।
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।।
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि वर्ग जानइ सव कोऊ।।
पुनि रघुवीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्तकी विचारी।।
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।।
राम भगति निरुपम निरुपायी। वसइ जासु उर सदा अबाधी।।
तेहि विलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई।।
अस विचारि जे मुनि विग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी।।
दो.— यह रहस्य रघुनाथ कर वेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति कृपाँ सपनेहुँ मोह न होइ।।
औरउ ग्यान भगति कर भेद सुनहु सुप्रवीन।
जो सुनि होइ राम पद प्रीति सदा अविछीन।।

शब्दार्थ— पच्छपात = पक्षपात। **कछु राखउँ** = कुछ भी रहेगा। **भावउँ** = कहा गया है। **मोह न** = मोहित नहीं होती। **पन्नगारि** = सर्पों के शत्रु गरुड़। **अनूपा** = अनुपम। **नारि वर्ग** = नारी के रूप में। **जानइ** = जानते हैं। **नर्तकी** = नाचने वाली। **सानुकूल** = अनुरूप चलने वाले। **तातें** = इसलिए। **तेहि** = उससे। **निरुपम** = उपमा रहित, असामान्य। **निरुपाधी** = उपाधि रहित, दोष रहित। **जासु** = जिसके। **अबाधी** = निरन्तर। **तेहि बिलोक** = उन्हें देखकर। **सकुचाई** = संकुचित होती है। **प्रभुताई** = प्रभुता शक्ति दिखाना। **अस** = इस प्रकार। **जाचहिं** = माँगते हैं। **कर** = का। **वेगि** = शीघ्र। **मोह** = माया। **सुप्रवीन** = चतुर। **अविछीन** = निरन्तर।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्य-खण्ड हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन रामभक्त व महान् कविवर 'तुलसीदास' द्वारा विरचित भारतीय धर्म और संस्कृति के महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। काकभुशुण्डि गरुड़ को भक्ति व ज्ञान का अन्तर बताते समय माया और भक्ति की भिन्नता पर प्रकाश डालते हुए कहता है—

व्याख्या— काकभुशुण्डि ने गरुड़ से कहा कि यहाँ मैं कोई पक्षपात की भावना न रखकर, वेद, पुराण तथा संतजनों द्वारा बताए गए तथ्य को ही प्रकट कर रहा हूँ। हे गरुड़ देखों, कितनी विचित्र बात है कि कोई भी नारी किसी दूसरी नारी के रूप पर मोहित नहीं होती। भक्ति और माया दोनों ही नारी रूप हैं। इनके विषय में लोगों की यही नीति और रीति रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति और नीति इन दोनों को नारी वर्ग में रखा गया है। इन दोनों में भी भक्ति श्री राम को अत्यधि

ाक प्रिय है। माया बेचारी तो बस उन्हें प्रसन्न रखने वाली नर्टी अर्थात् नर्तकी के समान ही है। भगवान् राम सदैव भक्ति के अनुकूल रहते हैं अर्थात् भक्ति पर सदा कृपालु रहते हैं। अतः माया सदैव भक्ति से डरी हुई रहती है। अतः भगवान् श्री राम की यह उपमा एवं उपाधि से रहित भक्ति जिस मनुष्य के ह्रदय में भी अबाध रूप से रहती है, उसे देखकर माया भी सकुचा जाती है। उस पर कोई बस नहीं चल पाता। अर्थात् उसकी कोई प्रभुता नहीं चल पाती। मन में ऐसा विचार कर ज्ञानी पुरुष एवं मुनिगण आदि भगवान् से सदैव इन सब सुखों की खान रूपी भक्ति की याचना किया करते हैं।

श्री राम के इस गुप्त रहस्य को कोई जल्दी से नहीं ज्ञात कर सकता, परन्तु राम की कृपा से जो इस रहस्य को ज्ञात कर लेता है उसे कभी स्वप्न में भी माया व्याप्त नहीं होती। हे चतुर गरुड़! ज्ञान और भक्ति का एक और भेद भी मैं तुम्हें बताता हूँ—सुनों ! जिसे सुनकर राम के चरणों में द ढ़ भक्ति एवं प्रेम उत्पन्न होता है और निरन्तर उनके चरणों में प्रेम बना रहता है।

काव्य-सौंदर्य—

1. भक्ति और माया के भेद का वर्णन किया गया है।
2. माया भक्ति से हमेशा भयभीत रहती है।
3. माया को एक नर्तकी व भक्ति को राम के अनुकूल चलने वाली कहा है।
4. माया का मानवीकरण किया गया है।
5. ज्ञान और भक्ति का अन्तर भी बताया गया है।
6. तत्सम शब्दों का बाहुल्य है।
7. भाषा अवधी है।
8. चौपाई छंद का प्रयोग पद्य की आरम्भिक आठ पंक्तियों में हुआ है।
9. अन्तिम पंक्तियों में दोहा छंद है।
10. गरुड़ की शंकाओं का समाधान किया गया है।

37. चौ.- सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी।।
ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।
सो मायाबस भयउ गोसाई। बँध्यो कीर मरकट की नाई।।
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि म षा छटत कठिनई।।
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।।
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।।
जीव ह्रदयँ तम मोह विसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी।।
अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई।।
सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा ह्रदयँ बस आई।।
जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।।
तेइ त न हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।।
नोइ निव त्ति पात्र बिसवासा। निर्मल मन अहीर निज दासा।।
परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई।।
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै। ध ति सम जावनु देइ जमावै।।
मुदितौं मथै विचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी।।

तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। विमल विराग सुभग सुपुनीता।।

दो.— जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घ त ममता मल जरि जाइ।।
तब विग्यान रुपिनी बुद्धि विसद घ त पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै द ढ़ समता दिअटि बनाइ।।
तीन अवस्था तीन गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बीती करै सुगाढ़ि।।

सो.— एहि विधि लेसै दीप तेज रासि विग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब।।

शब्दार्थ— औरउ = और। **अविछीन** = द ढ़, अटूट। **अकथ** = जिसे कहा नहीं जा सकता। **अमल** = पाप रहित। **सहज** = स्वभाव से। **कीर** = तोता। **मरकट** = बन्दर। **नाई** = समान। **ग्रंथि** = गाँठ। **परि गई** = पड़ गई। **मषा** = असत्य। **अरुझाई** = उलझता है। **तम मोह** = मोह रूपी अंधकार। **किमि** = कैसे। **अस** = ऐसा। **निरुअरई** = छूट पाती है। **धेनु** = गाय। **बस आई** = आकर रहने लगे। **अपारा** = अनेक। **अचारा** = आचरण। **तेइ त न** = वे तिनके। **भाव वच्छ** = भाव रूपी बछड़ा। **पेन्हाई** = पोषण करे। **नोई** = पैर बाँधने की रस्सी। **अहीर** = दूध दुहने वाला। **पय** = दूध। **अवटै** = गर्म करे, औटावे। **अकाम** = निष्काम। **तोष मरुत** = संतोष रूपी वायु। **जुड़ावे** = ठण्डा करे। **सम** = मन को वश में करना। **जावनु** = दूध जमाने के लिए खट्टा पदार्थ। **मथै** = बिलौना, मथना। **मथानी** = दही मथने वाली। **अधार** = दीवार आदि आधार। **रजु** = रस्सी। **नवनीता** = मक्खन। **सुपुनीता** = अत्यत्न पवित्र। **सिरावै** = ठण्डा करे। **जरि जाइ** = जल जावे। **विसद** = पवित्र। **दिया** = दीपक। **दिअटि** = दीपक रखने की वस्तु। **तूल** = रुई। **सुगढ़ि** = मज़बूत। **लेसै** = जलावे। **जातहिं** = जाते ही। **जरहिं** = जल जावे। **सलभ** = पतंगे।

प्रसंग— प्रस्तुत व्याख्येय पद्य-खण्ड हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सगुण भक्ति काव्यधारा के अर्न्तगत रामभक्ति परम्परा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित संसार प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। इसमें बताया गया है कि काकभुशुण्डि पूर्व जन्म में ब्राह्मण वेश में काक होने का शाप ग्रहण करता है। शापवश वह काक बन जाता है। काकभुशुण्डि गरुड़ के प्रश्नों का उत्तर देता हुआ ज्ञान और भक्ति के अन्तर को स्पष्ट करता हुआ कहता है—

व्याख्या— हे गरुड़ ! कृपया सुनिए। अब मैं आपके समक्ष वह अकथनीय कथा कहता हूँ, जिसे केवल समझा जा सकता है; इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह जीव ईश्वर का ही अंश है। अतः यह भी अविनाशी, चेतन, निर्मल तथा स्वभाव से ही सुखों का भण्डार है। हे गोसाईं ! ईश्वर का अंश रूप यह जीव माया के वशीभूत होकर तोते एवं बन्दर की भाँति स्वयं अपने आप में ही बँध जाता है और इस प्रकार जड़ और चेतन अर्थात् जीव तथा ईश्वर में भेद रूपी गाँठ पड़ जाती है। यद्यपि यह भेद झूठा है फिर भी इससे छुटकारा पाना कठिन होता है। जब से ईश्वर एवं जीव में भेदरूपी यह गाँठ पड़ी है, जीव संसारी अर्थात् जीवन-मरण के चक्र में पड़ने वाला बन गया है, अब न तो यह गाँठ ही खुलती है और न यह जीव ही जीवन में सुखी हो पाता है। यद्यपि वेद एवं पुराणों ने इस ग्रंथि में मुक्ति पाने के अनेकानेक उपाए बताए हैं फिर भी जीव एवं ईश्वर के बीच पड़ी हुई यह ग्रंथि सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझती चली जा रही है। सच तो यह है कि जीव का हृदय एक विशिष्ट अंधकार से व्याप्त है, जिसके कारण उसे वह ग्रंथि दिखाई ही नहीं पड़ती फिर भला उस ग्रंथि का खुलना संभव हो भी तो कैसे ? यदि ईश्वर कभी ऐसा संयोग उपस्थित कर भी दें कि वह गाँठ

सुगमता से दिखाई पड़ सके तब भी वह अत्यन्त कठिनता से सुलझ सकती है। माया के प्रभाव के कारण हृदय में स्थित अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट करने तथा ईश्वर और जीव के बीच पड़ी भेद रूपी ग्रंथि को सुलझाने का उपाय बताते हुए काकभुशुण्डि कहते हैं कि श्रीराम की कृपा से सतोगुणी श्रद्धा रूपी सुंदर गाय रूपी घर में आ बसे, जप, तप, व्रत, यम और नियम आदि असंख्यों साधन तथा वेदों में वर्णित जितने भी शुभ धर्म एवं आचरण हैं। उन्हीं साधनों एवं धर्माचरणों का घास के रूप में सेवन करते हुए सात्विक श्रद्धारूपी यह गाय पुष्टता को प्राप्त हो, आस्तिक भावरूपी छोटा बछड़ा आकर उसे पेन्हावे अर्थात् पौंसे। सांसारिक विषय-वासनाओं से अनासक्ति रूपी रस्सी से सात्विक श्रद्धा रूपी गाय को संयमित किया जाए। ईश्वर के प्रति विश्वास का भाव ही दूध दुहने का पात्र अर्थात् बरतन हो तथा स्वयं अपना दास अर्थात् अपने ही वश में हुआ निर्मल तथा स्वच्छ मन दूध दुहने वाला ग्वाला हो। हे भाई ! इस प्रकार धर्माचरण में प्रव त्त सात्विक श्रद्धा रूपी गाय से परम् धर्म से युक्त दूध दुहकर उसे निष्काम भाव की अग्नि पर भली प्रकार से औटाया जाए। कहने का भाव यह है कि प्राणी निष्काम भाव से अपने धर्म को अधिकाधिक शुद्धि प्रदान करें, फिर संतोष रूपी पवन से क्षमा ही उस परम् धर्ममय दूध को ठण्डा करे। उसके पश्चात् धीरता रूपी बाला उस दूध राम रूपी जामन (जमाने के लिए दही) लगाकर उसे जमावे। कहने का अभिप्राय यह है कि प्राणी का धर्म, क्षमा, धैर्य, संतोष और शमन से भी युक्त हो। प्रसन्नतारूपी हाँडी में तत्व विचार रूपी मथनी से दम अर्थात् इन्द्रिय दमन रूपी बीठे (आधार) पर रखकर मधुर वाणी की नेती अर्थात् रस्सी से मथकर निर्मल एवं पवित्र वैराग्य रूपी मक्खन निकाला जाए।

काकभुशुण्डि इसी संदर्भ में गरुड़ से कहते हैं—प्रसन्नतारूपी हाँडी से वैराग्य रूपी मक्खन निकालकर, योगरूपी अग्नि में अपने सारे शुभ एवं अशुभ कर्मों का ईंधन जलाकर तदुपरान्त इस वैराग्य रूपी मक्खन को उस अग्नि पर रखकर पिघला लिया जाए। फिर इस मक्खन से ममत्व भाव रूपी मल (मट्ठा) के जल जाने अर्थात् नष्ट हो जाने पर निश्चयात्मिका बुद्धि रूपी पँखे की सहायता से ज्ञान रूपी घी को शीतल कर लिया जाए। इसके बाद विज्ञान रूपिणी बुद्धि, ज्ञान का वह निर्मल घी लेकर उसके चित्त रूपी दीए को भर ले, फिर समत्व-भाव की दीवट बनाकर उस पर ज्ञान रूपी घी से भरे चित्त रूपी दीए को द ढ़ता से जमाकर रख दें। इसके पश्चात् जीवात्मा, तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) तथा तीनों गुनों (सत्व, रज तथा तम) की कपास से तुरीयवस्था रूपी रुई को लेकर तथा भली प्रकार से सँवारकर उससे एक सुंदर तथा कड़ी बाती तैयार करें। इस प्रकार जब जीव, तेज की राशि से इस विज्ञानमय दीपक को प्रज्ज्वलित करेगा तब उसके समीप जाते ही काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि पतंगे जलकर भस्म हो जाएँगे।

काव्य-सौंदर्य—

1. प्रथम चौपाई में महाकवि ने जीव ही के अंश रूप में स्वीकार कर उसे ईश्वर की ही भाँति शुद्ध एवं मुक्त आत्मा घोषित किया है जो वाद को माया के वशीभूत होकर अज्ञानरूपी अंधकार से मुक्त हो जाता है। माया के प्रभाव के कारण जीव अपने आप में बँधकर स्वयं एवं ईश्वर में भेद रूपी ग्रंथि को जन्म दे बैठता। जिसे महाकवि ने तोते एवं बन्दर के उदाहरण द्वारा दूसरी चौपाई में स्पष्ट किया है। तोता सेमल के पुष्प की ओर आकर्षित होकर मीठे फल की आशा में दिन-रात उसी में अपना चित्त लगाए रहता है; फिर जब वह उसके फल का रसास्वादन करने के उद्देश्य से उसमें चोंच मारता है तो उस फल को स्वादरहित पाता है। इतना ही नहीं उस फूल से निकलकर रुई के गुच्छों को उड़ता देख बेचारा तोता निराशा के कारण मूर्छित हो जाता है। ऐसा ही हाल बेचारे बन्दर का होता है, मदारी के हाथ में पड़ जाए तो उसे मुसीबतें उठानी पड़ती हैं।
2. जीव माया के वशीभूत होकर संसार में भ्रमण कर रहा है। काकभुशुण्डि उससे छूटने

के उपाय बताता है।

3. 'बँध्यों कीर मरकट की नाई' में उपमा अलंकार है।
4. 'जड़ चेतनहि ..... छूटत कठिनाई' में रुपकातिश्योक्ति अलंकार है।
5. 'ग्रंथि का उपमेय' यहाँ अकथित है।
6. पाँचवी चौपाई से आगे तक चलने वाले सांगरूपक की योजना की गई है जो विभिन्न बिम्बों तथा क्रियाओं द्वारा अध्यात्म क्षेत्र में प्रयुक्त प्रस्तुतों को ग्राह्य बनाने में पूर्णतया सफल है। इस सांगरूपक में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए बोली के शब्दों का प्रयोग भी दिखाया गया है।
7. महाकवि ने वैराग्य से आगे आत्मसाक्षात्कार तक की अवस्था का वर्णन किया है।
8. तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति।
9. तीन गुण होते हैं—सत्व, रज एवं तम।
10. तत्सम शब्दावली की योजना है।
11. प्रस्तुत पद्य की मूल भाषा अवधी है।
12. पद्य की प्रथम सोलह पंक्तियों में चौपाई छंद है।
13. पद्य की अन्तिम छह पंक्तियों में दोहा छंद है।

38. चौ.- सोहमस्मि इति व त्ति अंखडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा।।
प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा।।
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उर ग ह बैठि ग्रंथि निरुआरा।।
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह नीव कृतारथ होई।।
छोरत ग्रंथि जानि खगराया। विघ्न अनेक करइ तब माया।।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई।।
कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल वात बुझावहिं दीपा।।
होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह मन चितवन अनहित जानी।।
जौं तेहि विघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी।।
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ सहँ सुर बैठे करि थाना।।
आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहि कपाट उघारी।।
जब सो प्रभंजन उर ग हँ जाई। तबहिं दीप विग्यान बुझाई।।
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि विकल भइ विषय बतासा।।
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई।।
विषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि विधि दीप को बार बहोरी।।
दो.— तब फिरि जब विविधि विधि पावइ संस ति क्लेस।
हरि माया अति दुस्तर तरि न जाइ विहगेस।।
कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक।।

शब्दार्थ— सोहमस्मि = मैं वही हूँ। **सिखा** = लौ। **कर** = का। **तम** = अंधकार। **अपारा** = अधिक। **उर गहँ** = हृदय रूपी घर। **ग्रंथि** = गाँठ। **छोरन** = खोलना। **खगराया** = पक्षीराज गरुड़। **कल** = कला। **बात** = हवा। **सयानी** = समझदार। **तिन्ह तन वितवन** = उनकी ओर नहीं देखती। **बहोरि** = फिर। **उपाधी** = बाधा। **नाना** = अनेक। **करि थाना** = स्थान बनाकर। **विषय-बयारि** = विषय रूपी हवा। **हठि देहिं** = आग्रहपूर्वक। **कपाट** = किवाड़। **उघारि** = खोलना। **प्रभंजन** = तेज हवा, आँधी। **उर** = हृदय। **छूटि** = खुलती। **बिकल** = व्याकुल। **विषय बतासा** = विषय रूपी वायु। **सुरन्ह** = देवता। **कृत** = किए गये। **भोरी** = भ्रम में पड़ी हुई। **बहोरी** = फिर। **संस ति क्लेस** = संसार के जन्म मरण के दुख। **दुस्तर** = कठिन। **तरि न जाय** = पार नहीं किया जा सकता। **विहगेस** = पक्षीराज। **विवेक** = ज्ञान। **घुनाच्छर न्याय** = अनायास, अचानक। **प्रत्यूह** = अनेक विघ्न।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्य खण्ड हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन रामभक्त काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। काकभुशुण्डि गरुड़ को भक्ति और ज्ञान का अन्तर बताते हुए ज्ञान का कठिन मार्ग बता रहे हैं—

व्याख्या— काकभुशुण्डि गरुड़ से कहते हैं—हे गरुड़। जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। दोनों पर्यायवाची हैं। 'सोहमस्मि' अथवा 'अंहब्रह्मास्मि' अर्थात् 'वह मैं ही हूँ' अथवा 'मैं ही वह हूँ।' इस प्रकार जो अखण्ड आकार की चित्तव त्ति होती है। वह उस प्रज्ज्वलित दीपक की लौ है। इस दीपक से जब आत्मा के अनुभव रूपी सुख का प्रकाश चारों ओर फैलता है, तब संसार के मूल में जो भेद (जीव और परमात्मा का अन्तर) रूपी भ्रम नष्ट हो जाता है। उस समय अविद्या का जो प्रबल प्रभाव है उसके मोह आदि परिवार को जो अमिट अंधकार व्याप्त है वह अंधकार अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है। तब वह ज्ञान-विज्ञान रूपिणी बुद्धि आत्मानुभव के प्रकाश में, हृदय रूपी घर में बैठकर उस जड़-चेतन के भेद की ग्रंथि को सुलझाने में प्रयत्नशील हो जाती है। यदि ज्ञान-विज्ञान से युक्त बुद्धि जड़-चेतन के भेदरूपी उस ग्रंथि को सुलझाने में सफल हो जाती है तो जीव का यह जीवन सफल मनोरथ अर्थात् कृतार्थ है, परन्तु हे पक्षीराज गरुड़ ! जैसे ही माया को ज्ञान होता है कि ग्रंथि खोली जा रही है, वैसे ही वह अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित करती है। ऐसे में माया अनेक प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियों को प्रेरित करके उनके माध्यम से बुद्धि को ललचाने का प्रयास करती है। ये ऋद्धि-सिद्धियाँ कला, शक्ति अथवा छल-कपट से उस ज्ञान दीपक के समीप जा पहुँचती हैं तथा अपने आँचल की हवा से उसे बुझा देती हैं। काकभुशुण्डि कहते हैं कि यदि ज्ञान-विज्ञान रूपी वह बुद्धि अत्यधिक चतुर हो तो वह इन ऋद्धि-सिद्धियों को अहित करने वाली जानकर इनकी ओर देखती भी नहीं, अतः बुद्धि यदि इन मायावी ऋद्धि-सिद्धियों के प्रलोभन में नहीं फँसती तो फिर देवतागण अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित कर देते हैं। हृदय रूपी घर में, इन्द्रियों के द्वार रूपी अनेकों दरवाज़े व झरोखे हैं जिन पर विभिन्न देवता अपना-अपना स्थान बनाकर बैठ गए हैं। ये देवगण ज्यों ही विषम-वासनाओं रूपी पवन तेजी से चलती है तो हृदय के दरवाज़े बलपूर्वक खुल जाते हैं। तभी वह तेज वायु (विषय) हृदय रूपी घर में प्रवेश करके दीपक को बुझा देती है। अतः गाँठ भी नहीं खुलती और ज्ञान का प्रकाश भी समाप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप बुद्धि अत्यन्त व्याकुल हो जाती है और विषय रूपी हवा चलती रहती है। इस स्थिति में इन्द्रियों और उनके देवताओं को ज्ञान अच्छा नहीं लगता, क्योंकि वे विषय वासनाओं से प्रेम करके लिप्त हो जाते हैं। यह विषय रूपी वायु से बुद्धि भी भ्रम में पड़ जाती है। अतः तब ज्ञान रूपी दीपक को फिर कौन जला सकता है ? भाव यह है कि इस दशा में ज्ञान भी समाप्त हो जाता है।

काकभुशुण्डि कहते हैं कि इस प्रकार ज्ञान-दीपक के बुझ जाने पर जीवात्मा फिर से जीवन-मरण के विविध सांसारिक कष्टों को भोगने लगती है। हे गरुड़ ! श्री राम की माया अत्यन्त कठिन

है जिससे बचना बहुत मुश्किल है। इसी कारण ज्ञान के विषय में कुछ कह पाना बड़ा कठिन है, इसका समझना तथा इसकी साधना करना भी अत्यन्त कठिन कार्य है। यदि घुनाक्षर मात्र से ज्ञान प्राप्ति हो जाए तो उसकी रक्षा करने में अनेक बाधाएँ आती हैं।

काव्य-सौंदर्य–

1. काकभुशुण्डि ने भक्ति के विषय में बताने से पूर्व ज्ञान के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।
2. ज्ञान और भक्ति में भेद है। इसे समझना कठिन कार्य है।
3. यहाँ कवि ने ज्ञान के विषय में अब तक चली कथा का सार प्रस्तुत किया है 'विवेक' शब्द का प्रयोग इस स्थान पर ब्रह्म ज्ञान को ध्वनित करता है। घुन के खाने अथवा उसके चलने से बने हुए चिह्नों की अस्पष्टता को ही अक्षर मानकर उसके अर्थ निकालने का प्रयत्न करना, घुणाक्षर न्याय कहलाता है।
4. ज्ञान का मार्ग बड़ा कठिन है।
5. 'सोह मस्मि ..... अनेक' में साँगरूपक अलंकार है।
6. 'तेहि विधि दीप को बार बहोरी' में वक्रोक्ति अलंकार है।
7. अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग है।
8. तत्सम शब्दावली का प्रयोग हुआ है।
9. पद्य की आरम्भिक सोलह पंक्तियों में चौपाई छंद है।
10. पद्य की अन्तिम चार पंक्तियों में दोहा छंद का प्रयोग किया गया है।

39. चौ.- ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।।
जो निर्विघ्न पंथ निर्बहई। सो कैबल्य परम पद लहई।।
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम वद।।
राम भजत सोई मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआई।।
जिमि चल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई।।
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति विहाई।।
अस विचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने।।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संस ति सूल अविद्या नासा।।
भोजन करिअ त पति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी।।
असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई।।
दो.– सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धाँत विचारि।।
जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहिं भजहिं जीव ते धन्य।।

शब्दार्थ– ग्यान पंथ = ज्ञान का मार्ग। **कृपान कै धारा** = तलवार की धार। **परत** = गिरने में। **हहि नहि बारा** = देर नहीं लगती। **खगेश** = पक्षीराज। **निर्वहई** = निर्वाह करते हैं। **कैवल्य** = मुक्ति। **वद** = कहते हैं। **अनइच्छित** = बिना इच्छा के। **बरिआई** = बलपूर्वक आती हैं। **जिमि** = जैसे। **रहि न सकाई** = नहीं रह सकता है। **खगराई** = पक्षीराज गरुड़। **रहि न सकई** = नहीं रह सकता है। **विहाई** = छोड़कर। **अस** = इस प्रकार। **सयाने** = बुद्धिमान्। **बिनु जतन**

= बिना प्रयत्न के। **संसृति** = संसार जहाँ जन्म-मरण है। **नासा** = नष्ट हो जाती है। **तपनि हित** = सन्तुष्टि के लिए। **जिमि** = जैसे। **असन** = भोजन। **पचवै** = पचाती है। **जठरागी** = पेट की अग्नि। **को अस मूठ** = कौन ऐसा मूर्ख है। **सेव्य** = स्वामी। **सेवक** = दास, सेवा करने वाला। **भव** = संसार। **तरिअ** = पार होना। **उरगारि** = गरुड़। **पद-पंकज** = चरण कमल। **जड़** = अचेतन। **चैतन्य** = चेतन। **अस समर्थ** = इतने शक्तिशाली। **भजहि** = भक्ति करते हैं।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्य खण्ड हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन में रामभक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्धृत है। इसमें काकभुशुण्डि पक्षीराज गरुड़ के प्रश्नों का उत्तर देते हुए तथा ज्ञान व भक्ति के अन्तर को समझाते हुए कहते हैं—

व्याख्या— हे पक्षीराज गरुड़ ! ज्ञान के मार्ग पर चलना तो तलवार की धार पर चलने के समान है। अर्थात् जिस प्रकार तलवार की धार पर चला नहीं जा सकता। उसी प्रकार ज्ञान के मार्ग पर नहीं चला जा सकता। जैसे तलवार की धार पर चलने वाला कभी भी गिर सकता है, ठीक उसी तरह से ज्ञान के मार्ग पर चलने वाला भी गिर सकता है। जो मानव इस ज्ञान के मार्ग पर बिना किसी बाधा के चल देता है और पार कर जाता है, वही केवल परम् पद अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। संत, पुराण, वेद तथा तन्त्र आदि सभी शास्त्रों का यही मत है कि कैवल्य अर्थात् परम् पद की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है, किन्तु हे गोसाईं ! श्री राम का भजन करने मात्र से ही दुर्लभ मुक्ति बिना इच्छा किए ही प्राप्त हो जाती है। अर्थात् राम की भक्ति में वह मुक्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है। जैसे चाहे करोड़ों उपाय किए जाए, परन्तु जल बिना आधार (पृथ्वी) के कहीं अन्यत्र नहीं टिक सकता, ठीक उसी प्रकार मोक्ष का सुख भी भगवान् की भक्ति को अन्यत्र नहीं रह सकता। हे पक्षीराज ! मन में ऐसा विचार करके ही चतुर भक्त राम की भक्ति करते हैं। उन्हें भक्ति का इतना अधिक लोभ रहता है कि उनके समक्ष वे मुक्ति का भी अपमान कर देते हैं। श्री राम की भक्ति द्वारा बिना किसी साधना अथवा परिश्रम के ही जन्म-मरण अर्थात् सांसारिक आवागमन के चक्र में डालने वाली अविद्या अर्थात् अज्ञान का नाश हो जाता है। जिस प्रकार भोजन केवल तृप्ति के लिए किया जाता है, परन्तु भोजन को पेट की आग आसानी से अपने आप पचा देती है, ठीक उसी प्रकार से श्री राम की भक्ति भी हृदय को तृप्ति प्रदान करने के साथ-साथ सुगमता से अर्थात् स्वाभाविक रूप से सुख प्रदान करने वाली है। ऐसा कौन मूर्ख होगा जिसे भक्ति अच्छी न लगती हो अर्थात् राम भक्ति सभी को प्रिय लगती है।

काकभुशुण्डि पुनः कहते हैं — हे सर्पों के शत्रु गरुड़ ! सेवक तथा सेव्य (अर्थात् मैं सेवक हूँ तथा भगवान् मेरे स्वामी हैं, जिनकी मुझे सेवा करनी है) भाव के बिना भव सागर से पार पाना कदापि सम्भव नहीं है, अर्थात् जब तक भक्त स्वयं को सेवक और राम को स्वामी (सेव्य) नहीं समझता है, तब तक वह संसार से पार नहीं हो सकता। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर श्री राम के चरण-कमलों का भजन करना चाहिए। जो ईश्वर जड़ पदार्थों को चेतना से युक्त तथा चेतन पदार्थों को जड़ता से युक्त कर देने में समर्थ हैं, ऐसे स्वामी सर्वशक्ति सम्पन्न श्री राम का भजन करने वाला प्राणी धन्य है।

काव्य-सौंदर्य—

1. ज्ञानमार्ग कठिन है जबकि भक्ति मार्ग सरल है। इसी प्रकार भक्त या साधक के लिए ज्ञान पाना कठिन है, अपितु श्री राम की भक्ति करना सरल है।
2. ज्ञान पर भक्ति की विजय दिखाई गई है।
3. 'ग्यान पथ कृपान के धारा' में उपमा अलंकार है।
4. 'जिमि थल ..... विहाई तथा भगति करत ..... जठरागी' में उदाहरण अलंकार है।

5. पद-पंकज में रूपक अलंकार है।
6. 'जो चेतन ..... चैतन्य' में रूपक अलंकार है।
7. तत्सम शब्दों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
8. अवधी भाषा का सुन्दर प्रयोग है।
9. आरम्भिक दस पंक्तियों में चौपाई छंद हैं।
10. अन्तिम चार पंक्तियों में दोहा छंद हैं।

40. चौ.- कहेउँ ग्यान सिद्धाँत बुझाई। सुनहु भगति कै प्रभुताई।।
राम भगति चिंतामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर।।
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घ त बाती।।
मोह दरिद्र निकट नहीं आवा। लोभ बात, नहिं ताहि बुझावा।।
प्रबल अविद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई।।
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं।।
गरल सुधासम अरि हित कोई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई।।
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी।।
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें।।
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं।।
सो मन जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।।
सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं मटमेरे।।
पावन पर्बत वेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना।।
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान विराग नयन उरगारी।।
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी।।
मोरे मन प्रभु अस विस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।।
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि सत समीरा।।
सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई।।
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ विहंगा।।
दो.— ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं।।
विरति चर्म असि ग्यान मद लाभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस विचारि।।

शब्दार्थ— मनि = चिन्तामणि। **प्रभुताई** = महिमा। **जाके उर** = जिसके हृदय में। **घत** = घी। **निकट** = पास। **वात** = वायु। **ताहि** = उसे। **प्रबल** = शक्तिशाली। **तम** = अंधकार। **सलभ समुदाई** = पतंगों का समूह। **खल** = दुष्ट। **उर माहि** = हृदय में। **गरल** = विष। **सुधामय** = अम त युक्त। **अरि** = शत्रु। **हित** = मित्र। **व्यापहि** = प्रभाव दिखाना। **बस** = आधीन। **दुखारी** = दुख दायक। **लवलेस** = थोड़ा सा। **ताके** = उसके। **सुजतन** = अच्छे प्रयत्न से। **प्रगट** = प्रत्यक्ष। **कोउ लहई** = कोई प्राप्त कर सकता। **सुगम उपाय** = सरल ढंग।

हतभाग = दुर्भाग्यशाली। **देहि मटमेरे** = ठुकरा देते हैं। **पावन** = पवित्र। **रुचिराकर** = सुन्दर पर्वत। **नाना** = अनेक। **मर्मी** = रहस्य को जानने वाले। **सुमति** = सुबुद्धि। **कुदारी** = कुदाल। **विराग** = वैराग्य। **उरगारी** = गरुड़। **सुख खानि** = सुख की खान। **कर** = का। **घन** = बादल। **तरु** = व क्ष। **समीरा** = वायु। **काहू** = कोई। **पयोनिधि** = समुद्र। **मन्दर** = मन्दराचल। **सुधा** = अम त। **काढ़हि** = निकालते हैं। **चर्म** = ढाल। **असि** = तलवार। **रिपु** = शत्रु। **मारि** = मारकर। **खगेश** = पक्षीराज गरुड़।

प्रसंग– प्रस्तुत पद्य खण्ड हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन रामभक्त कवियों में शिरोमणि, विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य प्रदान करने वाले विख्यात कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा रचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। काकभुशुण्डि ज्ञान और भक्ति में अन्तर बताते हुए भक्ति अर्थात् रामभक्ति की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं–

व्याख्या– हे गरुड़ ! अब तक मैंने आपको जो बातें कही हैं वे सब ज्ञान के सिद्धान्त पर आधारित हैं। ज्ञान के सिद्धान्त को समझाकर ही मैंने अब तक सब बातें बताई हैं। अब भक्ति रूपी मणि के महत्व या महिमा को आप सुनिए। हे गरुड़ ! श्री राम की भक्ति यह सुंदर चिंतामणि जिसके हृदय में भी निवास करती है, वहाँ दिन-रात स्वयं ही परम् प्रकाश रूप बना रहता है, उसे प्रकाश करने के लिए दीया, घी, अथवा बाती की कोई आवश्यकता शेष नहीं रहती। उस प्राणी के स्वयं ही प्रकाश रूप हो जाने से न तो मोह रूपी दरिद्रता उसके समीप आ पाती है और न ही लोभ रूपी पवन उस प्राणी के हृदय में स्थित मणिमय दीपक को बुझा ही पाती है। इस भक्ति रूपी मणिमय आलोक में जीव के हृदय में स्थित अविद्या अर्थात् अज्ञान का अंधकार तिरोहित हो जाता है, मद आदिपतंगों का समूह इस मणि के आलोक के सम्मुख हार जाता है। जिस जीव के हृदय में भी श्री राम की यह भक्ति आ बसती है, काम, क्रोध और लोभ आदि दुष्ट उसके समीप भी नहीं आ पाते। इसी भक्ति रूपी मणि के पा जाने पर भक्त के लिए विष भी अम त के समान हो जाता है, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। इस मणि को प्राप्त किए बिना कोई भी प्राणी सुख प्राप्त नहीं कर पाता, इस मणि के प्रभाव से प्राणी को वे बड़े-बड़े मानसिक रोग भी व्याप्त नहीं होते जिनके वशीभूत हुए सब जीव अत्यधिक यातना भोग रहे हैं। श्री राम भक्ति रूपी यह मणि जिसके भी हृदय में बसती है, उसे स्वप्न में भी थोड़े से दुःख नहीं होते। संसार में वे ही व्यक्ति सर्वाधिक चतुर हैं। जो उस भक्ति रूपी मणि को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। संसार में वह मणि प्रत्यक्ष है, परन्तु भगवान् श्रीराम की कृपा के बिना उसे कोई प्राप्त नहीं कर सकता। इस भक्ति रूपी मणि को प्राप्त करने के उपाय बहुत सुगम हैं, परन्तु जो दुर्भाग्यशाली होते हैं वे उन उपायों को ठुकरा देते हैं। हे गरुड़ ! वेद एवं पुराण आदि पवित्र पर्वत रूप हैं, जिनमें श्री राम की कथाओं के रूप में अनेक सुन्दर खाने विद्यमान हैं। संत पुरुष इन खानों के रहस्य को जानने वाले हैं, जो सुंदर बुद्धि रूपी कुदाल से खोदकर तथा अपने ज्ञान और वैराग्य रूपी नेत्रों से भली-भाँति परखकर श्री राम भक्ति रूपी चिंतामणि को इन खानों में ढूँढ निकालते हैं। काकभुशुण्डि पक्षीराज गरुड़ से बोले कि जो जीव श्री राम के प्रति अनन्य प्रेम भाव रखकर इस भक्ति रूपी चिंतामणि को खोजने का प्रयास करते हैं वे सब सुखों की राशि रूपी इस चिंतामणि को प्राप्त कर लेते हैं। हे प्रभु ! मेरा तो विश्वास यह है कि श्री राम के भक्त अर्थात् संतजन श्रीराम से भी बढ़कर हैं। श्री राम समुद्र हैं तो धैर्यशील संतजन मेघ (बादलों) के समान हैं जो सर्वत्र श्री राम की भक्ति रूपरी जल की वर्षा करते रहते हैं। यदि श्रीराम के चंदन के व क्ष हैं तो संतजन उस मलय पवन के समान हैं जो उनकी भक्ति महिमा की भीनी-भीनी सुगन्ध को सर्वत्र विकीर्ण कर देती है। कहने का अभिप्राय यह है कि संतजन सर्वत्र श्री राम की यशमयी गाथा का प्रचार-प्रसार कर देते हैं। चाहे कितनी भी साधनाएँ की जायें सभी का लक्ष्य सुख प्रदान करने वाली श्री राम भक्ति को पाना ही होता है, इस श्रीराम भक्ति को संतजनों (सज्जनों की संगति) के बिना कोई भी नहीं पा सकता। काकभुशुण्डि कहते हैं कि हे पक्षीराज गरुड़ ! मन में ऐसा विचार कर जो जीव संतजनों की संगति किया करते हैं, उन्हें श्री राम की भक्ति आसानी से प्राप्त हो जाती है।

काकभुशुण्डि कहते हैं कि ब्रह्म अर्थात् वेद सागर के समान हैं। ज्ञान मंदराचल है तथा संतजन वे देवतागण हैं जो उस वेद रूपी सागर को मथकर रामकथा रूपी वह अम त निकाला करते

हैं जो भक्ति रूपी माधुर्य से युक्त होता है। हे गरुड़ ! आप विचार करके देखिए कि वैराग्य रूपी ढाल तथा ज्ञान रूपी तलवार से अपनी रक्षा करते हुए मद, लोभ और मोह आदि शत्रुओं का नाश करके विजय के रूप में हरि भक्ति ही प्राप्त होती है।

काव्य-सौंदर्य–

1. भक्ति और ज्ञान में अन्तर बताया गया है।
2. भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बताया गया है।
3. रामभक्ति को अभिव्यक्त किया गया है।
4. **अलंकार**– I. 'भगति मणि', 'भगति चिंतामणि', 'लोभ बात', 'अवि़ान्तम' में रूपक अलंकार है।
   II. 'गरल सुधा सम अरि हित होई' में उपमा अलंकार है।
   III. 'पावन पर्वत ..... विचारि' में सांगरूपक अलंकार है।
5. तत्सम शब्दों की सुन्दर योजना की गई है।
6. अवधी भाषा का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
7. प्रथम बीस पंक्तियों में चौपाई छंद है।
8. अन्तिम चार पंक्तियों में दोहा छंद है।

41. चौ.- पुनि सप्रेम बोलेउ खगराऊ। जौं कृपालु मोहि ऊपर भाऊ।।
नाथ मोहि निज सेवक जानी। सप्त प्रस्न मम कहहु बखानी।।
प्रथमहिं कहहु नाथ मतिधीरा। सब ते दुर्लभ कवन सरीरा।।
बढ़ दुख कवन सुख भारी। सोउ संछेपहिं कहहु बिचारी।।
संत असंत मरम तुम्ह जानहु। तिन्ह कर सहज सुभाउ बखाउहु।।
कवन पुन्य श्रुति विदित विसाला। कहहू कवन अघ परम कराला।।
मानस रोग कहहू समुझाई। तुम्ह सर्वग्य कृपा अधिकाई।।
तात सुनहू सादर अति प्रीती। मैं संछेप कहउँ यह नीती।।
नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही।।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान विराग भगति सुभ देनी।।
सो तनु धीर हरि भजहिं न जे नर। होहिं विषय रत मंद मंद तर।।
काँच किरिच बदलें ते लेहीं। कर ते डारि परस मनि देहीं।।
नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। संत मिलन सम सुख जग नाहीं।।
पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया।।
संत सहहिं दुख पर हित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी।।
भूर्ज तरु सन संत कृपाला। पर हित निति सह वियति बिसाला।।
सन इव खल पर बंधन करई। खाल कढ़ाइ विपति सहि मरई।।
खल बिनु रचारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी।।
पर संपदा विनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं।।
दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू।।
संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी।।
परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा। पर निंदा सम अघ न गरीसा।।

हर गुर निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तन सोई।।
द्विज निंदक बहु नरक भोग करि। जन जनमइ बायस सरीर धरि।।
सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी।।
होहिं उलूक संत निंदा रत। मोह निसा प्रिय ग्यान भानुगत।।
सब कै निंदा जे जड़ करहीं। ते जमगादुर होइ अवतरहीं।
सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा।।
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहू सूला।।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
प्रीति करहिं जौं तोनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।।
विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना।।
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष विषाद गरह बहुताई।।
पर सुख देखि जराने सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलाई।।
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ।।
त स्ना उदरबुद्धि अति भारी। त्रिबिधि ऐषना तरुन तिजारी।।
जुग-बिधि ज्वर मत्सर अविवेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका।।
दो.— एक व्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहूँ सो किमि लहै समाधि।।
नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान।।

शब्दार्थ— पुनि = फिर। **खगराऊ** = पक्षीराज गरुड़। **निज** = अपना। **सप्त प्रश्न** = सात सवाल। **बखानी** = वर्णन करो। **कवन** = कौन-सा। **बड़** = बड़ा। **सहज सुभाव** = सरल स्वभाव। **श्रुति** = शास्त्र, वेद। **अघ** = पाप। **परम कराला** = बहुत कठोर या भयंकर। **सर्वग्य** = सभी कुछ जानने वाले। **देही** = प्राणी। **जाचत** = याचना करते हैं, चाहते हैं। **तेही** = उसे ही। **अपवर्ग** = मोक्ष। **नसेनी** = सीढ़ी। **विराग** = वैराग्य। **तनुधरि** = शरीर धारण करके। **कर तें डारि** = हाथ से गिरा देते हैं। **परसमणि** = पारसमणि जो दुखहारक व सुखकारक होती है। **मंद मंद तर** = तुच्छ से भी अधिक तुच्छ। **काँच किरिच** = काँच का टुकड़ा जो निरर्थक होता है। **जगमाहीं** = संसार में। **सम** = समान। **काया** = शरीर। **खगराया** = पक्षीराज गरुड़। **पर हित लागी** = दूसरों पर उपकार के लिए। **अभागी** = अभागे, मंदभाग्य वाले। **भूर्ज** = भोज। **तरु** = व क्ष। **नित** = सदा।**पर बंधन** = दूसरों को बाँधना। **खत** = दुःख। **अपकारी** = बुरा करने वाला। **अहि** = सर्प। **मूषक** = चूहा। **विनासि** = नष्ट करते हैं। **नसाहीं** = अपने आप नष्ट हो जाते हैं। **जिमि** = जैसे। **ससिहित** = खेती के लिए। **हिम उपल** = ओले। **बिलाही** = नष्ट कर देते हैं। **आरति** = कष्ट। **उधम ग्रह** = नीच ग्रह। **संतत** = लगातार। **जिमि** = जैसे। **इन्दु** = चन्द्रमा। **तमारि** = सूर्य। **श्रुति विदित** = वेदों में कहा गया। **अन्ध** = पाप। **गरीसा** = बड़ा। **निंदक** = निन्दा करने वाला। **दादुर** = मेंढक। **द्विज** = ब्राह्मण। **वायस** = कौआ। **उलूक** = उल्लू। **रत** = लगे हुए। **भानुगत** = सूर्य छिप गया। **जड़** = मूर्ख। **अवतरहीं** = जन्म लेते हैं। **व्याधिन्ह** = बीमारियाँ। **उपजहिं** = पैदा होते हैं। **सूला** = कष्ट। **वात** = वायु रोग। **कफ** = कफ रोग। **जारा** = जलाता है। **तीनिउ** = तीनों—वात, पित्त, कफ। **सन्यपात** = सन्निपात रोग। **नाना** = अनेक। **को जाना** = कौन जान सकता है। **कंडु** = खाज। **विषाद** = कष्ट। **गरह** = गले का रोग। **जरनि** = जलता है। **छई** = क्षय नामक रोग। **कुटिलई** = कटुता। **डमरुआ** = गाँठ का रोग। **नहरुआ** = नसों का रोग। **उदरव द्धि** = पेट का रोग, जलोदर। **त्रिविध** = तीन

प्रकार की। **ऐषणा** = प्रबल इच्छाएँ। **जुग-विधि** = दो प्रकार के। **कुरोग** = भयंकर। **असाधि** = असाध्य, जिन्हें दूर करना कठिन है। **किमि** = कैसे। **समाधि** = शान्ति और सुख। **नेम** = नियम। **आचार** = सद् आचरण। **भेषज** = दवाई। **कोटिन्ह** = करोड़ों हैं। **हरिजान** = हरियान, गरुड़।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्य-खण्ड रामभक्त शिरोमणि व रामसाहित्य के अग्रदूत कविवर 'तुलसीदास' द्वारा विरचित भारतीय धर्मग्रन्थ व जनमानस के काव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्धत है। गरुड़ ने काकभुशुण्डि से राम की भक्ति सम्बन्धी अनेक प्रश्न पूछे जिनका समाधान काकभुशुण्डि ने उदाहरण देकर सप्रमाण समझाकर कहा था जिनसे गरुड़ सन्तुष्ट हो गये। परन्तु अभी भी गरुड़ के मन में कुछ जिज्ञासाएँ हैं। अतः उनको शान्त करने के लिए गरुड़ कहते हैं—

व्याख्या— काकभुशुण्डि के वचनों को सुनकर पक्षीराज गरुड़ प्रेम पूर्वक वचनों में बोले—हे कृपालु ! यदि आप मुझ पर प्रेमभाव रखते हैं तो मुझे अपना सेवक जानकर मेरे सात प्रश्नों के उत्तर देने की कृपा करें। हे नाथ ! हे धैर्य बुद्धिवाले काकभुशुण्डि ! मेरा प्रथम प्रश्न है—(1) संसार में सबसे दुर्लभ कौन-सा शरीर है ? (2) दूसरा प्रश्न है—संसार में सबसे बड़ा दुःख कौन-सा है ? (3) तीसरा प्रश्न है—सबसे बड़ा सुख क्या है ? आप सोच-विचार कर उत्तर दीजिए। (4) चौथा प्रश्न है—संत और असंत का भेद क्या है ? इससे आप भली-भाँति परिचित हैं, अतः उनके सहज स्वभाव के लक्षणों का भी वर्णन करें। (5) पाँचवा प्रश्न है—संसार में सबसे पुण्य क्या है जो शास्त्रों में प्रसिद्ध है ? (6) सबसे भयंकर पाप कौन-सा है ? कृपया आप मुझे बताइए। (7) मानस-रोग क्या है ? मुझे समझाकर कहें। हे काकभुशुण्डि ! आप सर्वत्र हैं तथा आपकी मेरे ऊपर सदा कृपा भी रही है। पक्षीराज गरुड़ के विनय वचनों को सुनकर काकभुशुण्डि ने उत्तर दिया कि हे तात ! मैं इस सारी नीति का वर्णन संक्षेप में करता हूँ आप अत्यन्त आदर एवं प्रेम-भाव के साथ इसे सुनें। (1) (प्रथम प्रश्न का उत्तर है—) मानव शरीर के समान संसार में कोई शरीर दुर्लभ नहीं है। संसार में चर-अचर सभी प्राणी इस शरीर को माँगते हैं। यही मनुष्य शरीर नरक, स्वर्ग तथा मुक्ति तक ले जाने वाली सीढ़ी है तथा यही ज्ञान, वैराग्य और पवित्र भक्ति को देने वाली है। इस प्रकार के मानव शरीर को धारण करके भी जो मनुष्य राम का भजन नहीं करते तथा निम्न से निम्नतर संसार के विषयों में लवलीन रहते हैं वे मानो अपने हाथों से पारसमणि को फैंक देते हैं तथा उसके स्थान पर काँच का तुच्छ टुकड़ा ले लेते हैं। (2) (द्वितीय प्रश्न का उत्तर है—) दरिद्रता के समान कोई दुःख इस संसार में नहीं है। (3) (त तीय प्रश्न का उत्तर है—) संतों के समागम के समान काई भी सुख इस जगत् में नहीं है। हे पक्षीराज गरुड़ ! संतजन, मन, वचन व शरीर तीनों से दूसरों के उपकार में लगे रहते हैं। (4) (चतुर्थ प्रश्न का उत्तर है—) संतों का स्वभाव है—परोपकार करना। वे दूसरों के लिए कष्ट सहन करते हैं तथा असंत अभाग्यपूर्ण हैं। जो दूसरों को दुःख देते हैं। संत कृपा करने वाले हैं वे मन, वचन तथा शरीर से दूसरों का उपकार करते हैं—यह उनका स्वभाव है। संत इतने कृपालु होते हैं कि भोज के व क्ष की तरह पर उपकार के लिए बड़ी से बड़ी विपत्ति सहन करते हैं। असंत या दुष्ट जन (जिसकी रस्सी बनती है) के समान होते हैं जो दूसरों को बंधन में डालते हैं। इसके लिए वे अपनी खाल भी खिंचवा लेते हैं और विपत्ति सहन करते-करते मर तक जाते हैं। हे पक्षीराज गरुड़! दुष्टों या असन्तों का यह स्वभाव है कि वे बिना किसी स्वार्थ के भी दूसरों का अपकार (अनिष्ट) करते हैं। जैसे असंत प्रव त्ति (स्वभाव) वाले साँप और चूहे दूसरे की सम्पत्ति को हानि पहुँचाया करते हैं, यद्यपि ऐसा करने में उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होते, परन्तु स्वभाववश वे ऐसा करते हैं। इतना ही नहीं, वे दूसरों की सम्पत्ति को नष्ट करके स्वयं भी ठीक उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार खेती नष्ट करके ओले स्वयं भी नष्ट (गल) हो जाते हैं। दुष्ट या असन्त की उत्पत्ति संसार के लिए उसी प्रकार दुःखदायक होती है। जैसे दुष्ट ग्रह केतु के उदय होने पर संसार को कष्ट उठाना पड़ता है। दूसरी ओर, सज्जनों की उन्नति सभी को उसी प्रकार सुखदायक होती है। जैसे सूर्य और चंद्रमा का उदय सभी के लिए सुखदायक होता है। (5) (पाँचवें प्रश्न का उत्तर है—) वेदों में अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म या पुण्य माना गया है। (6) (छठे प्रश्न का उत्तर है—) दूसरों की निंदा के समान कोई बड़ा पाप नहीं है। निंदा करने वाला व्यक्ति अनेक पापों का भागी होता है तथा हजार जन्मों तक वह मेढ़क के शरीर को बार-बार

प्राप्त करता है। ब्राह्मण की निंदा करने वाला अनेक नरकों की यातना भोगकर पुनः इस संसार में कौए का शरीर ग्रहण करता है। जो अहंकारी पुरुष देवताओं एवं वेदों की निंदा करता है वह भयंकर नरक को भोगता है। संत पुरुषों की निंदा में लगा हुआ व्यक्ति उल्लू का शरीर प्राप्त करता है। ऐसे पुरुषों को मोहरूपी रात्रि प्रिय होती है, एवं ज्ञान रूपी सूर्य उनके लिए अस्त रहता है। भाव यह है कि ऐसा निंदा करने वाला व्यक्ति अज्ञान से घिरा रहता है एवं ज्ञान का प्रकाश उसके निकट कोई महत्व नहीं रखता, जिस प्रकार उल्लू को केवल रात्रि का अंधकार अच्छा लगता है, सूर्य का प्रकाश उसकी आँखों को ज्योति-रहित कर देता है। जो जड़-बुद्धि अर्थात् मूर्ख व्यक्ति सबकी निंदा करते हैं, वे इस संसार में चमगादड़ बनकर जन्म लेते हैं। पक्षीराज के अन्तिम प्रश्न पर विचार करते हुए काकभुशुण्डि जी कहते हैं कि हे खगराज ! अब आप उन मानस रोगों को सुनिए जो सभी को कष्ट पहुँचाते हैं। (7) (साँतवें प्रश्न का उत्तर है–) हे तात ! मानस रोग मोह अथवा अज्ञान है। वस्तुतः यही व्याधियों का मूल है। मोहजन्य समस्त व्याधियाँ अन्य अनेक दुःखों को जन्म देती हैं। काम नामक मनोविकार वायु है, लोभ अत्यधिक बढ़ा हुआ कफ है एवं क्रोध ही मानों पित्त है जो बढ़ जाने पर निरन्तर छाती में जलन उत्पन्न करता है। भाव यह है कि जिस प्रकार काम लोभ एवं क्रोध नामक मनोविकार भी मानसिक सुख-शांति को नष्ट कर देते हैं। काम, क्रोध एवं लोभ तीनों भाई के समान हैं, यदि ये आपस में प्रेम करें अर्थात् एक दूसरे के सहायक हो जायें तो मस्तिष्क को विकृत करने वाला दुःखदाई रोग हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शरीर को संतुलित करने वाले तीनों तत्व–वात, पित्त, कफ ! विकृत हो जाने पर सन्निपात नामक रोग को जन्म देते हैं। इसके अतिरिक्त, विभिन्न विषयों से उत्पन्न होने वाली जो वासनाएँ अथवा इच्छाएँ हैं, वे दुर्गम हैं। अत्यधिक कठिनताओं से ही पूर्ण हो सकती हैं अतएव कष्टदायक रोग के समान हैं। वे संख्या में इतनी अधिक हैं कि उनके नाम बताना कठिन है। इन मनोरथों अथवा मानसिक रोगों में से कुछ अत्यन्त भयंकर हैं, जैसे–ममता–दाद है। ईर्ष्या–खुजली है। हर्ष और दुःख–ये गले के बढ़े हुए रोग हैं। दूसरे के सुखों को देखकर हृदय में जो जलन होती है–वह क्षय रोग है। दुष्टता एवं मन की कटुता ये ही कोढ़ हैं। अहंकार अत्यन्त कष्टदायक गाँठ का रोग है। दम्भ, कपट, मद मान–नसों के रोग हैं। त ष्णा बहुत व्यापक जलोदर (उदरव द्धि) रोग है। तीन प्रकार की इच्छाएँ–लोकेषणा, पुत्रेषणा और वित्तेषेणा–तिजारी नामक ज्वर के समान हैं। मत्सर एवं अविवेक भी दो विभिन्न ज्वर हैं। ये दुष्ट रोग तो और भी अनेक हैं, इनका वर्णन कहाँ तक किया जा सकता है ? अर्थात् संसार में इतने अधिक रोग हैं, जिनका वर्णन करना शायद संभव नहीं।

इन रोगों की भयंकरता इतनी अधिक है कि एक ही रोग के अधीन मनुष्य मर जाता है, फिर भी संसार में असाध्य रोग हैं जो निरन्तर जीवों को पीड़ा देते रहते हैं। इनकी (असाध्य रोगों) चिकित्सा संभव नहीं है। इस असहनीय दशा में मानव कैसे समाधि (सुख एवं शान्ति) प्राप्त कर सकता है ? इन रोगों की चिकित्सा के लिए नियम, धर्म, सदाचार, तपस्या, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान इत्यादि करोड़ों औषधियाँ हैं, किन्तु हे गरुड़ जी ! इस प्रकार की किसी भी चिकित्सा से ये रोग दूर नहीं हो पाते। क्योंकि मनुष्य इन औषधियों के विषय में जानते ही नहीं हैं।

काव्य-सौंदर्य–

1. गरुड़ के सात प्रश्नों का उत्तर काकभुशुण्डि द्वारा प्रमाण सहित दिया गया है। ये सभी बातें मनुष्य के लिए जानना आवश्यक है।
2. कवि ने विभिन्न मानस रोगों को स्पष्ट करने के लिए शारीरिक रोगों का आश्रय लिया है। मानसिक रोगों की भयंकरता शारीरिक रोगों के कष्टों के माध्यम से बताई है।
3. अलंकार– I. 'काँच ..... देही' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।
   II. 'भूर्ज तरु सम संत' में उपमा अलंकार है।
   III. 'सन इव खल ..... गरीसा' में उपमा अलंकार है।

IV. 'मोह निशा', 'ग्यान-मानु' कामवात ..... तिजारी में रूपक अलंकार है।

V. 'सूल नाम को जाना', 'किमि लैह समाधि' में वक्रोक्ति अलंकार है।

4. तत्सम शब्दों के सुन्दर प्रयोग से भाषा में बड़ा निखार आया है।
5. अवधी भाषा के प्राँजल शब्दों का प्रयोग किया गया है।
6. अन्तिम चार पंक्तियों को छोड़कर शेष पद्य में चौपाई छंद है।
7. अन्तिम पंक्तियों में दोहा छंद प्रयुक्त हुआ है।

42. चौ.- एहि विधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति वियोगी।।
मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए।।
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी।।
विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहू हृदयँ का नर बापुरे।।
राम कृपा नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संयोगा।।
सदगुर बैद बचन विस्वासा। संजम यह न विषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं ते जतन कोटि नहिं जाहीं।।
जानिअ तब मन बिरुज गोसांई। तब उर बल विराग अधिकाई।।
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। विषय आस दुर्बलता गई।।
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई।।
सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म विचार विसारद।।
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा।।
श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।।
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा।।
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला।।
त षा जाइ बरु म गजल पाना। बरु जामहिं सस सीस विषाना।।
अंधकारू बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै।।
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई।।
दो.— वारि मथें घ त होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।।
मसकहि करइ बिरंधि प्रभु अजहि मसक ते हीन।।
अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रवीन।।
श्लोक— बिनिश्चितं वँदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा मजन्ति ये तिदुस्तरं तरन्ति ते।।

शब्दार्थ— एहि विधि = इस प्रकार। **विरलेन्ह** = बहुत कम। **छीजहिं** = कम हो जाते हैं। **परितापी** = दूसरों को कष्ट देने वाले। **कुपथ्य** = परहेज। **बापुरे** = बेचारे। **सन्जीवनी मूरी** = ऐसी बूटी जो म त को जीवित कर देती है। **अनूपान** = दवाई के साथ पी जाने वाला पेय पदार्थ। **नाहि ते** = नहीं तो। **कोटि जतन** = करोड़ों प्रयत्न। **बिरुज** = नीरोग। **सुमति** = सद्बुधि।

छुधा = भूखा। **उर छाई** = हृदय पर व्याप्त होना। **अज** = ब्रह्मा। **विसारद** = प्रवीण। **पद-पंकज** = चरण कमल। **नेहा** = प्रेम। **जामहि वरु बारा** = बाल भले ही उत्पन्न हो जाएँ। **कमठ** = कछुआ। **बंध्या सुत** = बाँझ नारी का बेटा। **वरु** = भले ही। **सस** = खरगोश। **विषाना** = सींग। **रबिहि** = सूर्य के। **हिम** = बर्फ। **अनल** = अग्नि। **वारि मथें** = पानी को मथने से। **घत** = घी। **सिकता** = बालू। **अपेल** = अटल, अमिट। **मसकहि** = मच्छर। **विरंचि** = ब्रह्मा। **अजहि** = ब्रह्मा से।

प्रसंग– प्रस्तुत व्याख्येय अंश हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में रामभक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि के रूप में विख्यात 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्‌ध त है। गरुड़ के मन की शंकाओं का समाधान तथा उनके प्रश्नों का उत्तर देते हुए काकभुशुण्डि कहते हैं–

व्याख्या– हे खगराज ! इस प्रकार संसार के सभी प्राणी रोगग्रस्त हैं। जो भी शोक, प्रसन्नता, भय, प्रेम, वियोग से दुःखी आदि अनेक मानस रोग हैं जिनमें से मैंने कुछ का ही वर्णन किया है। ये सभी को प्राप्त हैं, परन्तु इनके ज्ञाता बहुत कम हैं। इनको ज्ञात कर लेने पर कुछ पाप क्षीण (नष्ट) हो जाते हैं, परन्तु इन रोगों का पूर्णतया विनाश नहीं होता अर्थात् ये रोग कुछ-न-कुछ सीमा तक शेष रह जाते हैं। विषय भोग रूपी कुपथ्य मिल जाने पर ये रोग मुनियों तक के हृदय में भी अंकुरित हो जाते हैं फिर बेचारे सामान्य मनुष्य की तो बात ही क्या है ? भाव यह है कि मुनि-ज्ञानीजन अत्यधिक संयम-नियम से रहते हैं जिससे सांसारिक विषय वासनाओं की ओर आकर्षित न हो सकें, किन्तु ये विभिन्न विषय वासनाएँ थोड़ा-सा भी छिद्र पाकर उन मुनि जनों के हृदय में प्रवेश कर जाती हैं और इन मानस रोगों को जन्म देती हैं। दूसरी ओर साधारणजन, जो निरन्तर इन विषयों-विकारों के मध्य रहा है, स्वतः ही इन मानस रोगों का निवास स्थान बन जाता है। इन रोगों का पूर्णतया विनाश तो तभी हो सकता है, जब राम की कृपा से इस प्रकार का संयोग बन जाए कि मनुष्य को सद्‌गुरु रूपी वैद्य मिले, उसके वचनों में पूर्ण विश्वास करके, रोग का परहेज अथव संयम को अपनाकर वह विषयों की कामना न करें अर्थात् स्वयं को विषय-भोग से दूर रखे। जीव के हृदय में राम की भक्ति हो, क्योंकि वह संजीवनी बूटी के समान है। श्रद्धा से भरी हुई बुद्धि ही अनुपान या औषधि है (दवा के साथ लिया गया पानी आदि) यदि इस प्रकार का संयोग पूर्ण हो जाए तो भले ही यह असाध्य रोग नष्ट हो सकते हैं, अन्यथा करोड़ों प्रयास करने पर भी इनका अन्त सम्भव नहीं है। हे गोसाईं ! मन की निरोगता तभी जाननी चाहिए, जब मानव के हृदय में वैराग्य की भावना बढ़ती चली जाए। सुन्दर बुद्धि की भूख निरन्तर नए-नए रूप में बढ़ती रहे एवं विषयों के प्रति आशा रूपी दुर्बलता समाप्त हो जाए। इस प्रकार जब मनुष्य का मन पूर्णतः निरोग हो जाता है एवं वह ज्ञान के स्वच्छ एवं पवित्र जल में स्नान कर लेता है, तब उसके हृदय में राम की भक्ति छा जाती है। भाव यह है कि मानसिक रोगों से स्वतन्त्र पवित्र हृदय में ही राम की भक्ति का प्रवेश हो सकता है, अन्यथा रामभक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं। शिव, ब्रह्मा, शुकदेव, नारद एवं सनकादि मुनि जो कि ब्रह्म ज्ञान के विचार में अत्यधिक निपुण हैं उन सबकी मान्यता भी यही है कि श्री राम के कमल रूपी चरणों में स्नेह रखना चाहिए। अर्थात् उनके चरणकमल में ही प्रेम रखना चाहिए। वेद, पुराण आदि सभी ग्रन्थ यही एक बात कहते हैं कि भगवान् राम की भक्ति के बिना सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। कछुए की कठोर पीठ पर बाल भले ही उग आएँ, बन्ध्या (बाँझ) नारी का पुत्र भले ही किसी को मार डाले। आकाश रूपी व क्ष पर भले ही अनेक फूल आ जाएँ परन्तु कोई भी जीव राम के विपरीत होकर कभी भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। भाव यह है कि संसार की असम्भव बातें भले ही सम्भव हो जाएँ, तो भी राम की भक्ति ही सुख का आधार है, अन्य कुछ नहीं है। जीव को राम की भक्ति की ओर उन्मुख करते हुए काकभुशुण्डि पुनः कहते हैं– हे खगराज ! म ग त ष्णा के जल को पीने से भले ही प्यास बुझ जाए। खरगोश के सिर पर चाहे सींग निकल आएँ, अन्धकार भले ही सूर्य को नष्ट कर

दे। अर्थात् ये असम्भव बातें भले ही सम्भव हो जाएँ, किन्तु यह निश्चित है कि राम से विमुख होने पर किसी को भी सुख की उपलब्धि सम्भव नही है। बर्फ से अग्नि भले ही उत्पन्न हो जाए अर्थात् असम्भव सम्भव हो जाए किन्तु राम से विमुख रहकर कोई भी प्राणी सुख प्राप्त कर ले यह किसी भी शर्त पर सम्भव नहीं है। पुनः राम की भक्ति पर बल देते हुए काकभुशुण्डि कहते हैं कि चाहे जल को मथकर कोई घी प्राप्त कर ले, बालू को कोल्हू में पेरने से भले ही तेल निकल आए, अर्थात् ये सभी असम्भव वस्तुएँ सम्भव हो जाएँ, परन्तु भगवान् की भक्ति के बिना संसार से पार नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त तो अटल है। प्रभु अपार शक्ति सम्पन्न हैं। वे मच्छर जैसे छोटे एवं तुच्छ जीव को ब्रह्म के समान समर्थ बना सकते हैं एवं ब्रह्म (जैसे समर्थ) को मच्छर से भी तुच्छ बना सकते हैं। राम की ऐसी महिमा का लक्ष्य करके चतुर एवं बुद्धिमान पुरुष सब संदेहों को त्यागकर राम का ही स्मरण करते हैं। हे गरुड़ ! मैं आपको निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि मेरे ये वचन झूठे भी नहीं हैं। जो मानव भगवान् की भक्ति करते हैं, वे घोर समुद्र को भी पार करने में समर्थ हो जाते हैं।

काव्य-सौंदर्य–

1. राम की भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की गई है।
2. अनेक उदाहरणों से कवि ने राम की भक्ति की ओर उन्मुख करने के लिए लोगों को प्रेरित किया है।
3. राम भजन के अतिरिक्त संसार में कोई भी अन्य उपाय नहीं है कि भव सागर से पार उतरा जा सकता है।
4. योगी-ज्ञानी और सामान्य मनुष्य के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है।
5. तुलसीदास जी ने भी संसार के कष्टों से छुटकारा एवं राम की भक्ति प्राप्त करने के लिए सद्गुरु के महत्व को असंदिग्ध माना है, कबीर जी ने भी यही कहा है–

   ''चौंसठ दीवा जोइ करि, चौदह चंदा मांहि।
   तिहि घर किसकौं चादनौं जिहि घर सतगुरु नाहिं।।''

6. **अलंकार**– I. 'विषय कुपथ्य', 'सद्गुरु वैद', 'भक्ति-संजीवन', 'सुमुति छुधा', 'पद पंकज', 'पान जल' में रूपक अलंकार का पारम्परिक प्रयोग हुआ है।
   II. 'मसकहि ..... हीन' में विरोधाभास अलंकार है।
   III. 'हृदय का नर वापुरे' में वक्रोक्ति अलंकार है।
   IV. 'वारे माथिं ..... अपेल' में निदर्शना अलंकार है।
7. कछुए की पीठ के बाल, बाँझ का पुत्र, आकाश का फूल, म ग त ष्णा के जल से प्यास शांत होना, खरगोश के सींग, अन्धकार द्वारा सूर्य के प्रकाश को नष्ट करना, बर्फ से आग उत्पन्न होना आदि सभी सम्भव कार्य हैं।
8. सम्पूर्ण पद्यांश में तत्सम शब्दावली है।
9. अन्तिम श्लोक संस्कृत भाषा में है।
10. सम्पूर्ण पद्य में अवधी भाषा का शुद्ध रूप प्रयुक्त हुआ है।
11. प्रारम्भिक बीस पंक्तियों में चौपाई छंद है। जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ हैं।
12. इसके पश्चात् चार पंक्तियों में दोहा छंद है।
13. अन्तिम दो पंक्तियों में अनुष्टुप छंद है।

43. चौ.- कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा। व्यास समास स्वमति अनुरूपा।।

श्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी।।
प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही। मोहि से सठ पर ममता जाही।।
तुम्ह विग्यानरूप नहिं मोहा। नाथ कीन्हि मो पर अति छोहा।।
पूँछिहु राम कथा अति पावनि। सुक सनकादि संभु मन भावनि।।
सत संगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा।।
देखु गरुड़ निज हृदयँ बिचारी। मैं रघुवीर भजन अधिकारी।।
सकुनाधम सब भाँति अपावन। प्रभु मोहि कीन्ह विदित जग पावन।।
दो.— आज धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब विधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन।।
नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ।
चरित सिंधु रघुनायक थाह कि पावइ कोइ।।

शब्दार्थ— हरि चरित = राम जीवन। **अनूपा** = अनुपम। **ब्यास** = विस्तार। **समास** = संक्षेप। **स्वमति अनुरूपा** = अपनी बुद्धि के अनुसार। **श्रुति** = शास्त्र। **उरगारी** = गरुड़। **काज विसारी** = कार्यों को भूलकर। **सेइअ काही** = किसका सेवन किया जाए ? **मोहि से सठ** = मुझ जैसे मूर्ख। **ममता** = स्नेह। **अति पावनि** = अत्यन्त पवित्र। **संभु** = शिव। **मन भावनि** = मन को अच्छी लगने वाली। **निमिष दण्ड** = पलक झपकने मात्र। **सकुनाधम** = तुच्छ पच्छी, कौआ। **अपावन** = अपवित्र। **विदित** = प्रसिद्ध। **पावन** = पवित्र। **हीन** = तुच्छ। **संत समागम** = सज्जनों की संगति। **कछु गोय** = कुछ छिपाकर। **सिंधु** = समुद्र। **थाह** = गहराई, गहनता।

प्रसंग— प्रस्तावित व्याख्येय अंश रामभक्त शिरोमणि, विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य प्रदान करने वाले, सगुणभक्ति के अनन्य उपासक, दास्यभक्ति को स्वीकारने वाले प्रसिद्ध कवि 'तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्ध त है। गरुड़ के प्रश्नों का उत्तर देते हुए काकभुशुण्डि राम की महिमा बताते हैं और कहते हैं उनकी (राम) भक्ति के अतिरिक्त ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे संसार से पार जाया जा सकता है—

व्याख्या— हे नाथ गरुड़ ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार राम के चरित्र को कहा है जो स्वयं में अनुपम एवं अद्वितीय है। कहीं पर मैंने उसमें विस्तार किया है तो कहीं उसे संक्षेप में कहा है। परन्तु सब कुछ अर्थात् जितना भी कहा है वह सब मेरी बुद्धि के अनुसार है। हे गरुड़ ! वेद-शास्त्रों का भी यही सिद्धान्त है—सभी सांसारिक कार्यों को त्यागकर राम की भक्ति करनी चाहिए। प्रभु राम को छोड़कर अन्य का सेवन कैसे किया जाए ? उन राम की मुझ जैसे मूर्ख पर भी ममता है। ऐसे कृपालु राम को छोड़कर और किसकी सेवा अथवा भजन किया जाए। अर्थात् भजने योग्य तो वही एकमात्र राम हैं जो छोटे से छोटे प्राणी से भी स्नेह करते हैं। हे स्वामी ! आप तो विज्ञान रूप हैं, ज्ञानवान होने के कारण आपको मोह-भ्रम ग्रसित नहीं कर सकते (अर्थात् आपने मोह की बात कही थी, वह झूठ है) वस्तुतः आप तो मुझ पर कृपा करने के लिए ही यहाँ आए हैं। आपकी मुझ पर अत्यधिक अनुकम्पा है। इसीलिए आपने शुकदेव, सनकादि मुनियों एवं शिव को अच्छी लगने वाली उनकी प्रिय अत्यन्त पवित्र यह राम कथा मुझसे सुनी है। सज्जनों की संगति भले ही एक पल भर की हो, उसका एक बार भी प्राप्त होना बहुत कठिन है। हे गरुड़ ! आप अपने हृदय में विचार करके देखिए, क्या मैं (कौआ) भी राम के भजन का अधिकारी हूँ ? मैं तो पक्षियों से भी तुच्छ हूँ, सभी तरह अपवित्र हूँ। फिर भी राम ने मुझे इतना पवित्र कर दिया है कि संसार मेरी पवित्रता को जानता है।

काकभुशुण्डि पुनः कहता है कि आज मैं धन्य हूँ। यद्यपि सभी तरह से तुच्छ हूँ, फिर भी बहुत धन्य हूँ। राम ने मुझे अपना जन (अपना भक्त) जानकर मुझे (आप जैसे) संतों की संगति प्रदान की

है। हे नाथ ! हे गरुड़ ! मैंने जो कुछ कहा अपनी बुद्धि के अनुसार ही कहा है, कुछ भी नहीं छिपाया है। राम का चरित्र समुद्र के समान है। क्या कोई उसकी थाह (महत्ता) प्राप्त कर सकता है अर्थात् नहीं।

काव्य-सौंदर्य–

1. राम की भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की गई है।
2. संसार से पार जाने का एकमात्र मार्ग राम भक्ति ही है।
3. काकभुशुण्डि ने स्वयं को तुच्छ कहा है।
4. रामभक्ति पाकर काकभुशुण्डि स्वयं को धन्य मानता है।
5. 'चरित सिंधु' में उपमा अलंकार है।
6. 'मैं रघुबीर भजन अधिकारी', 'थाह कि पावइ कोय' में वक्रोक्ति अलंकार है।
7. तत्सम शब्दों के सुन्दर व सटीक प्रयोग से भाषा के सौंदर्य में व द्धि हुई है।
8. सम्पूर्ण पद्य में अवधी भाषा का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
9. आरम्भिक आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है।
10. अन्तिम चार पंक्तियों में दो दोहे हैं। अतः दोहा छंद प्रयुक्त किया गया है।

45. चौ.- मैं कृतकृत्य भयउँ तब बानी। सुनि रघुवीर भगति रस सानी।।
राम चरन नूनत रति भई। माया जनित विपति सब गई।।
मोह जलधि बोहित तुम्ह भए। मो कहँ नाथ विविध सुख दए।।
मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। वंदउँ तव पद बारहिं बारा।।
पूरन काम राम अनुरागी। तुम्ह सम तात न कोउ बड़भागी।।
संत विटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी।।
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कविन्ह परि कहै न जाना।।
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।।
जीवन जन्म सुफल मम भयऊ। तव प्रसाद संसय सब गयऊ।।
जानेहु सदा मोहि निज किंकर। पुनि पुनि उमा कहइ विहंगवर।।
दो.– तासु चरन सिरु नाइ करि प्रेम सहित मतिधीर।
गयउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदयं राखि रघुवीर।।
गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं वेद पुरान।।

शब्दार्थ– कृतकृत्य = पूर्ण कर्त्तव्य वाला, धन्य। **तव बानी** = आपके वचन। **रससानी** = आनन्द से भरी हुई। **नूतन रति** = नया प्रेम। **जनित** = उत्पन्न। **जलधि** = समुद्र। **बोहित** = जहाज। **विविध** = अनेक। **मोपहि** = मुझसे। **प्रति उपकार** = उपकार का बदला। **तव पद** = तुम्हारे चरण। **सम** = समान। **बड़भागी** = बड़े भाग्य वाला। **विटप** = व क्ष। **सरिता** = नदी। **गिरि** = पर्वत। **धरनी** = भूमि। **पर हित** = परोपकार। **नवनीत** = मक्खन। **परि कहै न जाना** = इसको कहकर भी इसके रहस्य को ज्ञात नहीं किया। **निज परिपात** = अपने संताप, अपनी गर्मी। **द्रवइ** = पिघलता है। **सुपुनीता** = अत्यन्त पवित्र। **मम** = मेरा। **तव प्रसाद** = आपकी कृपा। **निज किंकर** = अपना दास। **विहंगवर** = पक्षीराज। **तासु** = उनके। **मतिधीर** = धैर्य बुद्धि वाले। **गिरिजा** = पार्वती। **कछु आन** = अन्य कुछ।

प्रसंग– प्रस्तुत प्रस्तावित व्याख्येय अंश भक्तिकालीन रामभक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। काकभुशुण्डि के मन में राम के प्रति अटूट व अगाध भक्ति को देखकर पक्षीराज गरुड़ बहुत प्रसन्न हुए तथा काकभुशुण्डि से कहने लगे–

व्याख्या– काकभुशुण्डि के मंगलकारी वचनों को सुनकर खगराज कहने लगे–मैं आपकी मध ुर वाणी को सुनकर कृतकृत्य अर्थात् धन्य हो गया हूँ। आपकी वाणी भगवान् राम की भक्ति के रस से भरी हुई है। अब मेरा प्रेम राम के चरणों में सर्वथा नया हो गया है। अर्थात् मेरे मन में भी भगवान् राम के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया है। मेरे अन्दर जो माया के कारण विपत्ति पैदा हो गई थी वह भी समाप्त हो गई है। मैं मोह-माया रूपी समुद्र में डूब रहा था। लेकिन आपने भगवान् राम की भक्ति महिमा बताकर मेरे लिए जहाज का कार्य किया है। अर्थात् मुझे माया रूपी सागर में डूबने से बचा लिया है। हे स्वामी (काकभुशुण्डि) ! आपने मुझे बहुत सुख दिया है। मैं इन उपकारों का बदला नहीं चुका सकता। मैं आपके चरणों की बार-बार वंदना करता हूँ अर्थात् आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। आपने अपने सभी कार्य (कर्त्तव्य) पूर्ण कर लिए हैं। आपका श्री राम के चरण-कमलों में अपार स्नेह है। हे तात ! तुम्हारे समान इस संसार में सौभाग्यशाली और कोई नहीं है। सज्जन, व क्ष, नदी, पर्वत और भूमि–ये पाँचों सभी जनों के उपकार के लिए होते हैं अर्थात् ये पाँचों सदा स ष्टि का कल्याण करते हैं, स्वयं का स्वार्थ पूरा नहीं करते। सज्जनों (संतों) का ह्रदय नवनीत (मक्खन) के समान कोमल होता है। यह बात कविगण भी कहते हैं, परन्तु उन कवियों ने इसका मूल तत्व नहीं ज्ञात किया, जिनका वर्णन इस प्रकार है–मक्खन तो अपने आप गर्मी प्राप्त करके पिघलता है, परन्तु सज्जन (संत) पुरुष तो इतने पवित्र होते हैं कि दूसरों के कष्टों को देखकर पिघल जाते हैं। आज मैं स्वयं का जीवन सफल एवं धन्य समझ पा रहा हूँ, क्योंकि मैंने आपसे राम कथा सुनी है। हे काकभुशुण्डि ! तुम्हारी इस कृपा से मेरे मन के सभी संदेह एवं शंकाओं का समाधान हो गया है। अब आप मुझे अपना सेवक समझो। अर्थात् अब मैं आपकी शरण में हूँ, आपका दास हूँ। यह कथा स्वयं भगवान् शिव ने उमा (पार्वती) को सुनाई थी अब वही कथा काकभुशुण्डि ने गरुड़ को सुनाई है।

श्री राम कथा सुनाने वाले काकभुशुण्डि के चरणों में प्रेम के साथ शीश झुकाकर तथा अपने ह्रदय में राम को याद करके धैर्य सहित गरुड़ वहाँ से अपने धाम बैकुण्ठ चले गए। शिव पार्वती से कहते हैं–कि हे उमे ! संतों की संगति के समान कोई दूसरा लाभ सम्भव नहीं हो सकता। वह भगवान् श्री राम की दया के बिना सम्भव नहीं है। ऐसी ही बातों का अनुमोदन वेद और पुराण करते हैं।

काव्य-सौंदर्य–

1. काकभुशुण्डि के प्रेमपूर्वक वचनों एवं रामभक्ति की महिमा को सुनकर गरुड़ प्रसन्न हो जाते हैं।
2. कहा जाता है कि – सज्जन पुरुषों या सत्संग का एक पल भी यदि मिल जाए तो कई जन्म सफल हो जाते हैं। उसी तथ्य की ओर गरुड़ का संकेत है कि आपके द्वारा सुनाई कथा से मेरे सब संताप (कष्ट) आदि मिट गए हैं।
3. रामभक्ति की महत्ता प्रतिपादित की गई है।
4. **अलंकार**– I. 'मोह जलधि' में रूपक अलंकार है।
   II. 'बोहित तुम भए' में उपमा अलंकार है।
   III. 'संत ह्रदय नवनीत समाना' में पूर्णोपमा अलंकार है।
   IV. 'संत द्रदय ..... सुपुनीता' में काव्यलिंग अलंकार है।
5. सम्पूर्ण पद में तत्सम शब्दावली का सुंदर प्रयोग किया गया है।

6. अवधी भाषा का प्रयोग हुआ है।
7. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है।
8. अन्तिम चार पंक्तियों में दोहा छंद है।

46. चौ.- कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा।।
प्रनत कल्पतरु करुना पुंजा। उपजइ प्रीति राम पद कंजा।।
मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई।।
तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग विराग ग्यान निपुनाई।।
नाना कर्म धर्म व्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना।।
भूत दया द्विज गुर सेवकाई। विद्या विनय विवेक बड़ाई।।
जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।।
सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपाँ काहूँ एक पाई।।
दो.— मुनि दुर्लभ हरि भगति पावहिं बिनाहिं प्रयास।
जे यह कथा निरन्तर सुनहिं मानि विस्वास।।

शब्दार्थ— परम पुनीत = अत्यन्त पवित्र। **श्रवन** = कान। **भव पासा** = संसार के बन्धन। **प्रनत** = शरणागत। **कल्पतरु** = वह व क्ष जो मनमानी वस्तु प्रदान करे। **करुना पुंज** = दया का समूह। **कंजा** = कमल। **क्रम** = कर्म, शरीर। **जनित** = उत्पन्न। **अघ** = पाप। **तीर्थाटन** = तीर्थों की यात्राएँ। **विराग** = वैराग्य। **निपुनाई** = चतुरता। **नाना** = अनेक। **दम** = इन्द्रियों को वश में करना। **मख** = यज्ञ। **भूत दया** = जीवों पर दया करना। **द्विज** = ब्राह्मण। **विवेक** = कर्त्तव्य व अकर्त्तव्य का ज्ञान। **कर** = का। **भवानी** = पार्वती। **श्रुति** = शास्त्र। **काहूँ एक** = किसी बिरले ने। **बिनाहिं प्रयास** = बिना प्रयास के। **विस्वास** = श्रद्धा।

प्रसंग— प्रस्तुत प्रस्तावित पद्य खण्ड भारतीय धर्म एवं संस्कृति के ज्ञाता तथा रामभक्ति काव्यध ारा के प्रमुख कवि 'तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध ा त है। जिस समय गरुड़ अपने मन की सभी शंकाओं का समाधान पाकर और रामभक्ति कीकथा सुनकर काकभुशुण्डि के पास से चले जाते हैं, उस समय शिव पार्वती से कहने लगे—

व्याख्या— हे उमें ! मैंने तुम्हारे सामने राम के विषय में परम् पवित्र ऐतिहासिक तथ्य को रखा है अर्थात् मैंने तुम्हें राम की पवित्र भक्ति के विषय में तथ्य उपस्थित किए हैं। जिसे सुनकर संसार के बंधनों से आसानी से छूटा जा सकता है, अर्थात् यदि कोई मनुष्य रामभक्ति से सम्बन्धित कथा या भजन सुनता है तो उसका जीवन सफल हो जाता है। जो व्यक्ति राम की शरण में जाते हैं उनके लिए रामभक्ति कल्पव क्ष के समान हैं, क्योंकि राम दया के समूह हैं। इस कथा को सुनकर राम के चरण-कमल में प्रेम उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति राम की इस कथा को मन लगाकर कानों से सुनते हैं, वे मन, वचन तथा कर्म से होने वाले सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं। वेदों में अनेक प्रकार के साधन बताए गए हैं, जिनसे राम भक्ति प्राप्त हो सकती है। ये साधन इस प्रकार हैं — कर्म, धर्म, व्रत, दान, संयम, दम (इन्द्रियों पर निग्रह), जप, तप, अनेक प्रकार के यज्ञ, प्राणियों पर दया, ब्राह्मण व गुरु की सेवा, विद्या, विनय और विवेक की बड़ाई आदि। हे पार्वती ! इन सभी का फल राम की भक्ति प्रदान करने वाला है। परन्तु फिर भी हे पार्वती ! जो राम की भक्ति शास्त्रों में बताई गई है, वह केवल राम की कृपा से ही किसी बिरले ने ही प्राप्त की है अर्थात् कोई-कोई ऐसी भक्ति को प्राप्त कर पाता है। सभी के लिए यह रामभक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

क्योंकि रामभक्ति मुनियों के लिए भी दुर्लभ है। फिर भी जो इस कथा को निरन्तर सुनते

रहते हैं, विश्वास करते हैं, मान करते हैं, वे बिना किसी परिश्रम के उस भक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

काव्य-सौंदर्य–

1. रामभक्ति पाना बड़ा कठिन है, परन्तु श्रद्धालुजन इसे आसानी से प्राप्त कर लेते हैं।
2. वेदों एवं शास्त्रों में भक्ति के अनेक साधन बताए गए हैं।
3. **अलंकार**– I. 'प्रनत कल्पतरु' में उपमा अलंकार है।
   II. 'पद-कंजा' में रूपक अलंकार है।
   III. 'मुनि ..... प्रयास' में विरोधाभास अलंकार है।
   IV. मुनि ..... विस्वास' में काव्यलिंग अलंकार है।
4. तत्सम शब्दों की सुन्दर योजना है।
5. अवधी भाषा का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
6. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद प्रयुक्त हुआ है।
7. अन्तिम दो पंक्तियों में दोहा छंद है।

47. चौ.- सोई सर्वग्य गुनी सोई ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता।।
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता।।
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नींक तेहिं जाना।।
सोइ कवि कोविद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा।।
धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिव्रत अनुसरी।।
धन्य तो भूपु नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई।।
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्य रत मति सोइ पाकी।।
धन्य धरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा।
दो.– सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज विनीत।।

शब्दार्थ– सर्वग्य = सभी को जानने वाला। **महि मंडित** = भूमि पर अलंकृत। **दाता** = दानशील। **त्राता** = रक्षक। **जाकर** = जिसका। **मन राता** = मन लवलीन है। **सयाना** = बुद्धिमान्। **श्रुति** = शास्त्रों का। **तेहि** = उसी ने। **सोइ** = वही। **कोविद** = बुद्धिवाला। **रनधीरा** = युद्धवीर। **छल छाड़ि** = छल कपट दूर करके। **सुरसुरी** = गंगा नदी। **अनुसरी** = अनुसरण करने वाले। **भूपु** = राजा। **नीति जा करई** = जो न्याय करता है। **निज धर्म** = अपना धर्म। **टरई** = दूर नहीं होता है। **प्रथम गति** = दान देना। **पुण्य रत** = पुण्य को प्राप्त करने में लवलीन। **मति** = बुद्धि। **पाकी** = परिपक्व, गहन। **घरी** = घड़ी, समय। **अभंगा** = निरन्तर। **उमा** = पार्वती। **श्री रघुवीर परायण** = राम में भक्ति रखने वाला। **जेहि** = जो। **उपज** = पैदा होते हैं।

प्रसंग– प्रस्तुत व्याख्येय अंश राम भक्तिकालीन सगुण काव्यधारा के प्रतिनिधि सर्वश्रेष्ठ कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध ा त है। शिव भगवान् पार्वती से रामभक्ति की महिमा का बखान करते हुए कहते हैं–

व्याख्या– हे उमा ! जिन व्यक्तियों का मन भगवान् राम के चरणों में प्रेमपूर्वक लगा हुआ है, वही सर्वज्ञाता है, वही सच्चे अर्थों में गुणी है, वही ज्ञानवान् है, वही प थ्वी पर सुशोभित है, वही

पण्डित है, वही दान देने वाला है, वही धर्म करने वाला है और वही कुल की रक्षा करने वाला है, अर्थात् राम भक्त ही सब कुछ हैं। उससे हटकर कुछ नहीं। उसकी महत्ता सर्वोपरि है। जो व्यक्ति जीवन में छल-कपट छोड़कर भगवान् राम की भक्ति करता है वही नीति में चतुर कहलाता है, वही अत्यन्त बुद्धिमान है। उसी ने शास्त्रों के सिद्धान्तों को ठीक प्रकार से जाना है। अर्थात् उनमें निहित ज्ञान को समझा है। वही कवि है, वही ज्ञानी है और वही युद्ध में वीर है। वह प्रदेश धन्य है जिस प्रदेश में गंगा बहती है। वह स्त्री धन्य है जो पतिव्रत धर्म का पालन करती है। वह राजा धन्य है जो न्यायपूर्वक राज्य करता है। वह ब्राह्मण धन्य है जो अपने धर्म से कभी पतित नहीं होता अर्थात् निरन्तर धर्म का पालन करता है। वह धन धन्य है जिसकी प्रथम गति होती है अर्थात् जिसे दान में दिया जाता है। वही बुद्धि परिपक्व एवं गहन है तथा वही बुद्धि धन्य है जो पुण्य की प्राप्ति के लिए सदा प्रयासरत है। वह समय धन्य है जो सत्संग में व्यतीत होता है। वह जन्म धन्य है जिससे ब्राह्मण की अखण्ड रूप से भक्ति रहती है।

पुनः शिव पार्वती से कहते हैं – हे पार्वती ! मेरी बातों को ध्यानपूर्वक सुनो। वही वंश भी धन्य है, वही संसार में पूजनीय है, वही परम् पवित्र है। जिस वंश में वे पुरुष पैदा होते हैं जो भगवान् राम की भक्ति में सदा लीन रहते हैं, जिनका तन, मन, धन सब राम की भक्ति में लगा रहता है। ऐसे व्यक्ति ही धन्य हैं, ऐसे व्यक्तियों का वंश धन्य है।

काव्य-सौंदर्य–

1. इन पंक्तियों में भगवान् शिव के द्वारा पार्वती को रामभक्ति की महत्ता बताई गई है।
2. रामभक्त जन चाहे वह कोई भी क्यों न हो, श्रेष्ठ है।
3. 'सोई ..... रघुबीरा' में दीपक अलंकार है।
4. धन की प्रथम गति होती है – दान।
5. सम्पूर्ण पद्य खण्ड में तत्सम शब्दावली का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
6. अवधी भाषा का सुन्दर प्रयोग पद्य का सौन्दर्य है।
7. प्रथम आठ पंक्तियों में चौपाई छंद है।
8. अन्तिम पंक्तियों में दोहा छंद है।

48. चौ.- मति अनुरूप कथा मैं भाषी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी।।
तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई।।
यह न कहिअ सठहि हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि।।
कहिअ न लोभिहि क्रोधिहिं कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।।
द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ न प जबहूँ।।
राम कथा के तेह अधिकारी। जिन्ह कें सत संगति अति प्यारी।।
गुर पद प्रीति नीति रत छेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई।।
जा कहँ सह विसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई।।

दो.– राम चरन रति जो चह अथवा पर निर्वान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान।।

शब्दार्थ– मति अनुरूप = बुद्धि के अनुसार। **भाषी** = कही है। **गुप्त कर राखी** = छिपा कर रखा। **तव मन** = तुम्हारे हृदय में। **सठहिं** = मूर्खों को। **हठसीलहिं** = हठ करने वालों को। **हरि लीलहिं** = राम की कथा को। **लोभहिं** = लोभ करने वालों को। **क्रोधिहिं** = क्रोध करने वालों को। **कामिहि** = काम वासना से युक्त जनों को। **स्वामिहि** = स्वामी को, राम को। **सचराचर** = चर और

अचर प्राणियों के। **सुरपति** = इन्द्र। **सरिस** = समान। **नप** = राजा। **तेइ** = वे। **नीति इत** = न्याय में लगे हुए। **द्विज-सेवक** = ब्राह्मणों की सेवा करने वाले। **ता कहँ** = उसके लिए। **रति** = प्रेम। **पद निर्वान** = मोक्ष का पद, मुक्ति। **करउ** = करे। **श्रवण** = कान। **पान** = पीना।

प्रसंग– प्रस्तुत पद्य-खण्ड रामभक्तिकालीन सगुण काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि भारतीय संस्कृति एवं धर्म की प्रतिस्थापना करने वाले श्रेष्ठ कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' द्वारा विरचित विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से उद्ध त है। भगवान् शिव अपनी अर्धांगनी पार्वती से बातचीत कर रहे हैं। भगवान् शिव पार्वती को रामभक्ति के महत्व बताते हैं। साथ ही काकभुशुण्डि द्वारा प्रदान की गई रामभक्ति की महिमा का भी बखान करते हैं। यह रामभक्ति गरुड़ के लिए कही गई थी–

व्याख्या– भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं – हे पार्वती ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् राम की कथा को तुमसे कहा है। यद्यपि इससे पहले मैंने इस कथा को तुमसे छिपा कर रखा था। परन्तु जब मैंने देखा कि तुम्हारी रामभक्ति के प्रति बहुत अधिक प्रीति है तो मैंने इस राम कथा को सुना दिया। वस्तुतः यह कथा उससे नहीं कहनी चाहिए जो मूर्ख हो, जो स्वभाव से हठ करता हो अर्थात् जिद्द करता हो। जो मानव राम की कथा को मन लगाकर सुनने का इच्छुक नहीं हो, कामी हो, क्रोध करने वाला हो, लोभ करने वाला हो–इन्हें राम की कथा नहीं सुनानी चाहिए। जो चर और अचर के स्वामी (ईश्वर) राम का भजन न करता हो उसे भी यह कथा नहीं सुनानी चाहिए। जो ब्राह्मणों से द्रोह करता हो उसे भी यह कथा कभी नहीं सुनानी चाहिए, भले ही वह इतना सम द्ध राजा हो कि इन्द्र की समानता करता हो। सत्य यह है कि राम की कथा के सुनने के वे ही अधिकारी हैं जिन्हें सत्संगति अत्यन्त प्रिय है। जिनका गुरु के चरणों में प्रेम है, जो नीति के ज्ञाता हैं तथा जो ब्राह्मणों की सेवा करते हैं वे व्यक्ति ही राम की कथा सुनने के अधिकारी हैं। उन्हें ही यह कथा विशेष रूप से सुख देने वाली है जिन्हें भगवान् राम सदा ही प्राणों के समान प्रिय रहे हैं। भाव यह है कि जिनकी राम के चरणों में प्रीति रही है वे ही रामकथा सुनने के अधिकारी हैं।

शिव पुनः कहते हैं – जो मानव राम के चरणों में प्रेम चाहता है अथवा मुक्ति या मोक्ष की कामना करता है या भगवान् राम के चरणों की भक्ति चाहता है तथा जो अपने कान रूपी पुट (दोने) से राम की कथा को भावभक्ति के साथ सेवन करना चाहता है वही वास्तव में इस कथा को सुनने का अधिकारी है। अन्य कोई और नहीं।

काव्य-सौंदर्य–

1. रामभक्ति की कथा सुनने का अधिकारी कौन है और कौन नहीं ? इस विषय का विवेचन किया गया है।
2. रामभक्ति की महिमा वर्णित है।
3. 'सुरपति सरिस होई न प' में उपमा अलंकार है।
4. 'श्रवण-पुट' में रूपक अलंकार है।
5. तत्सम शब्दों का प्रयोग है।
6. अवधी भाषा का मूल प्रयोग है।
7. चौपाई छंद प्रस्तुत पद्य की प्रथम आठ पंक्तियों में व्यवहृत हुआ है। चौपाई छंद के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं।
8. अन्त की दो पंक्तियों में दोहा छंद है। दोहा छंद के प्रत्येक विषम चरण में तेरह मात्राएँ व सम चरण में ग्यारह मात्राएँ होती हैं।

49. चौ.- राम कथा गिरजा मैं बरनी। कलिमल समनि मनोमन हरनी।।
संस ति रोग संजीवन मूरी। राम कथा गावहिं श्रुति सूरी।।
एहि महै रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना।।
अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग सोई।।
मन कामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा।।
कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं।।
सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सुहाई।।
नाथ कृपाँ मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा।।
दो.— मैं कृतकृत्य भवउँ अब तब प्रसाद विस्वेस।
उपजी राम भगति द ढ़ बीतें सकल कलेस।।

शब्दार्थ— गिरजा = पार्वती। **कलिमल** = कलियुग की पाय। **समनि** = नष्ट करने वाली। **मनोमल** = मन विकारों को। **हरनी** = दूर करने वाली। **संस ति रोग** = संसार के रोग, जन्म-मरण आदि। **संजीवन मूरी** = संजीविनी बूटी। **श्रुति** = वेद, शास्त्र। **सूरी** = विद्वान्। **एहि मंह** = इस कथा में। **रुचिर** = सुन्दर। **सप्त सोपाना** = सात सीढ़ियाँ। **केर पंथाना** = प्राप्ति के मार्ग हैं। **जाहि पर** = जिस पर। **पाउँ देइ** = पैर रखता है, आगे बढ़ता है। **एहि** = इस। **सोई** = वह। **तजि** = छोड़कर। **अनुमोदन करहीं** = प्रशंसा करते हैं। **गोपद** = गाय पैर। **इव** = समान। **भवनिधि** = संसार रूपी समुद्र। **गिरा** = वाणी। **सुहाई** = सुन्दर। **मम** = मेरा। **गत** = दूर हो गया। **नव** = नूतन। **नेहा** = स्नेह। **कृतकृत्य भवउँ** = कृतार्थ हो गया। **तब प्रसाद** = आपकी कृपा से। **विश्वेस** = विश्व के ईश्वर, शिवजी। **सकल कलेस** = सभी सुख।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्यावतरण हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सगुण भक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि ा के रूप में प्रतिष्ठित 'तुलसीदास' द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' से अवतरित है। भगवान् शिव पार्वती से रामकथा के विषय में अनेक तथ्यों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

व्याख्या— हे उमें ! मैंने इस प्रकार राम की कथा का पूर्णतः वर्णन किया है। यह कथा कलियुग के समस्त पापों का विनाश करने वाली है तथा मन के सभी विकारों को सर्वथा मिटाने वाली है। यही रामकथा संसार के जन्म-मरण आदि रोगों के लिए संजीवनी बूटी के समान है अर्थात् संसार के सभी रोगों का विनाश करने वाली है। राम की कथा को शास्त्र और विज्ञान सदा गाते रहते हैं। इस राम की कथा की सात सीढ़ियाँ हैं अर्थात् 'रामचरितमानस' में सात अध्याय या काण्ड हैं ये ही राम की भक्ति प्राप्त करने के मार्ग हैं। अर्थात् इस प्रकार की भक्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब भक्तजन अपना सर्वस्व त्यागकर मात्र राम के चरणों में अपना ध्यान रखें। इस भक्ति मार्ग पर केवल वे ही व्यक्ति कदम बढ़ाते हैं जिनके ऊपर भगवान् राम की असीम कृपा होती है। जो व्यक्ति मन में छल-कपट त्यागकर इस कथा का गायन करते हैं वे ही अपने मन की इच्छा को पूरी करते हैं, जो इस कथा को कहते हैं, जो इस कथा को सुनते हैं और इस कथा को स्वीकारते हैं (अनुमोदन करते हैं) अर्थात् प्रशंसा करते हैं वे इस संसार रूपी सागर को उसी प्रकार पार कर जाते हैं जैसे गाय के खुर से बने हुए छोटे से पानी भरे गड्ढे को सरसता से पार कर जाते हैं। (याज्ञवल्क कहते हैं—) पार्वती ने जब इस कथा को सुना तो उन्हें यह कथा बड़ी प्रिय लगी। अतः वे बहुत सुन्दर वाणी में बोली — हे स्वामी ! आपकी कृपा से मेरा सारा संदेह दूर हो गया है तथा भगवान् राम के चरणों में मेरा नया प्रेम उत्पन्न हो गया है।

हे विश्व के ईश्वर शिव ! आपकी विशेष कृपा से मैं धन्य हो गई हूँ। अर्थात् आपने मुझ पर

बड़ी कृपा की जो राम कथा की महत्ता मुझे सुनाई है। अब मेरे हृदय में रामभक्ति द ढ़ता से उत्पन्न हो गई है तथा मेरे सभी दुःख पूरी तरह नष्ट हो चुके हैं। अब मुझे किसी भी प्रकार के दुःखों की अनुभूति नहीं होगी।

काव्य-सौंदर्य–

1. शिव द्वारा रामकथा सुनकर पार्वती स्वयं को धन्य मानती है।
2. रामभक्ति की महिमा प्रतिपादित हुई है।
3. 'संस ति रोग संजीवन मूरी' में उपमा अलंकार है।
4. 'भवनिधि' में रूपक अलंकार है।
5. 'ते गोपद इव भवनिधि तरइ' में उपमा अलंकार है।
6. तत्सम शब्दों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
7. अवधी भाषा का प्रयोग है।
8. चौपाई छंद आरम्भिक आठ पंक्तियों में है।
9. अन्तिम दो पंक्तियों में दोहा छंद है।

50. चौ.- यह सुभ संभु उमा संवादा। सुख संपादन समन विषादा।।
भव भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा।।
राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं।।
रघुपति कृपा जथापति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा।।
एहिं कलि काल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप व्रत पूजा।।
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ सम गुन ग्रामहि।
जासु पतित पावन बड़ बाना। गावहिं कवि श्रुति संत पुराना।।
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजें गति केहिं नहिं पाई।।

छं.– पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।।
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तपि पावन होहिं राम नमामि तें।।
रघुबंस भूषण चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलि मल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं।।
सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन सविद्या पंच जनित विकार श्रीरघुवर हरै।।
सुन्दर सुजान कृपा निधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम हित निर्वानप्रद सम आन को।।
जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम विश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।।

दो.– मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुवीर।
अस विचारि रघुवंस मनि हरहु विषम भव भीर।।
कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।।

शब्दार्थ– शंभु = शिव। **उमा** = पार्वती। **संपादन** = देने वाला। **समन** = शान्त करने वाला। **भव भंजन** = संसार के पापों का विनाशक। **गंजन** = नष्ट करने वाला। **जथामति** = बुद्धि के अनुसार। **पावन** = पवित्र। **सुहावा** = अच्छा लगा। **काल** = युग। **जोग जग्य** = योग साधना और

यज्ञ। **सुमिरिअ** = स्मरण करो। **गुनग्रामहि** = गुणों का समूह। **पतित** = पापी। **बड़ बाना** = महान् आदत। **श्रुति** = शास्त्र। **तजि** = छोड़कर। **कुटिलाई** = कुटिलता। **केहि** = किसने। **सठ** = मूर्ख। **खल** = दुष्ट। **तारे घना** = बहुत से पार कर दिए। **स्वपच** = चाण्डाल। **अघरूप जे** = जो पाप रूप हैं। **बारक** = बार। **कलिमल** = कलयुग का पाप। **मनोमल** = मन की विकृति। **रामधाम** = मुक्ति। **सिधावहीं** = प्राप्त करते हैं। **सत** = सात। **उर धरै** = हृदय में धारण करें। **सुजान** = ज्ञानी। **अकाम** = निष्काम। **निर्वानपद** = मुक्ति। **सम आनको** = और अन्य कौन है। **लवलेस** = थोड़ा सा। **मतिमंद** = तुच्छ बुद्धि। **विश्रामु** = सुख और शांति। **मो सम** = मेरे समान। **अस विचारि** = ऐसा विचार करके। **हरहु** = दूर करो। **विषम** = भयंकर। **भव भीर** = संसार की पीड़ा। **कामिहि** = कामवासना से परे व्यक्ति की। **जिमि** = जैसे। **दाम** = धन। **तिमि** = वैसे ही। **मोहि** = मुझे।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्य-खण्ड हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सगुण भक्तिधारा के प्रतिनिधि कवि 'तुलसीदास' द्वारा विरचित भारतीय धर्म एवं संस्कृति का परिचय देने वाले महाकाव्य 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' का अंतिम पद है। इस अन्तिम पद्य में कवि रामभक्ति की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

व्याख्या— तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रस्तुत कथा शिव पार्वती का मंगलकारी वार्तालाप है जो कि सुख उत्पन्न करने वाला है तथा सभी कष्टों एवं अमंगल को नष्ट करने वाला है। संसार के जन्म-मरण सम्बन्धी दुःखों को मिटाने वाला है। सभी संदेहों को भी विनिष्ट करने वाला है। यह राम-भक्तों के मन को प्रसन्नचित्त करने वाला है तथा सज्जनों के लिए अत्यन्त प्रियकर है। इस संसार में जितने भी रामभक्त हैं अर्थात् राम की भक्ति करने वाले हैं उन्हें रामकथा के अतिरिक्त कुछ भी प्रिय नहीं है। उन्हें रामकथा ही प्रिय है। तुलसीदास कहते हैं कि मैंने भी भगवान् राम की कृपा से यह सम्पूर्ण कथा अपनी बुद्धि से प्रस्तुत की है तथा मुझे यह राम का चरित्र बहुत अधिक सुन्दर प्रतीत होता है। इस कलियुग में अन्य कोई भी साधन नहीं है जो कल्याणकारी हो। योग-साधना, जप, तप, व्रत, पूजन आदि कोई भी ऐसा साधन नहीं है जो कल्याणकारी हो। केवल भगवान् राम का स्मरण करना, उनके गुणों का गायन करना, निरन्तर राम के गुणों के समूहों को बार-बार सुनना ही कल्याण करने वाला है। राम की बहुत ही कल्याणकारी आदत है कि अपने अपवित्र भक्तों को वे पवित्र कर देते हैं। इस बात का गुणगान कवि, शास्त्र, संत तथा पुराण भी गा-गाकर करते हैं। अतः तुलसीदास कहते हैं—हे मन ! कुटिलता का त्याग करो और उन्हीं राम का भजन करो अर्थात् राम की भक्ति करो। राम का भजन करने से किसने सुगति प्राप्त नहीं की ? अर्थात् जो भक्त निरन्तर राम का भजन करते हैं उन्हें अवश्य मुक्ति मिलती है। तुलसीदास अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे मूर्ख मेरे मन ! मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुन ! संसार में ऐसा कौन है जिसने अपवित्रों को पवित्र करने वाले राम का भजन करके परम गति (मुक्ति) प्राप्त नहीं की हो अर्थात् राम को भजने से सभी को सद्गति मिलती है। राम की भक्ति की महिमा अपरम्पार है, उन्होंने वेश्या, अजामिल, व्याध, गीध, हाथी आदि अनेक पापियों का उद्धार किया है (क्योंकि इन्होंने राम का भजन किया था) आभीर (अहीर) भवन, किरात (भील) खस, चाण्डाल आदि जो अत्यन्त पाप करने वाले थे वे भी जिनका एक बार नाम लेते हैं तो पवित्र हो जाते हैं। कवि कहते हैं कि मैं ऐसे राम के चरणों में नमस्कार करता हूँ। जो प्राणी रघुकुल के आभूषण राम के जीवन की कथा कहते हैं, सुनते हैं व गाते हैं वे ही इस कलियुग के पापों को व मन की विकृति को दूर कर देते हैं और बिना परिश्रम के ही उत्तम धाम अर्थात् स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। यहाँ तक कि जो मानव पाँच-सात चौपाइयों को मनोरम जानकर अपने हृदय से सच्चे मन में धारण करते हैं भगवान् राम उनकी पाँच प्रकार की कठोर अविद्या से उत्पन्न होने वाले मानसिक व शारीरिक विकारों को दूर कर देते हैं। भगवान् राम सुन्दर हैं, ज्ञानी हैं तथा कृपा के भण्डार हैं अर्थात् सभी पर दया दिखाने वाले हैं। वे अनाथों से भी प्रेम करते हैं। वे ही एक मात्र इन गुणों से भरे हुए हैं। वे निष्काम भाव से दूसरों का हित करते हैं। उनके समान मोक्ष (मुक्ति) प्रदान करने वाला कोई

नहीं हो सकता। जिनकी थोड़ी-सी कृपा से तुच्छ बुद्धि वाले तुलसीदास ने भी सुख और शांति को प्राप्त कर लिया था उन भगवान् राम के समान कोई भी नहीं है।

तुलसीदास कहते हैं कि मेरे समान कोई भी दीन नहीं है अर्थात् मेरे समान इस संसार में कोई भी असहाय नहीं है और हे राम ! आपके समान कोई भी दीनों का हितकारी नहीं है। अर्थात् आप ही असहायों की सहायता करने वाले हैं। यही मन में विचार करके, हे रघुकुल के शिरोमणि ! मेरी संसार की विषम पीड़ा को शांत करो, मिटाओ। जिस प्रकार कामी को स्त्री अति प्यारी होती है। लोभ करने वाले को धन प्रिय होता है उसी प्रकार हे राम मुझ (तुलसीदास) को आप अत्यन्त प्रिय हैं।

काव्य-सौंदर्य–

1. राम की भक्ति की महिमा प्रस्तुत की गई है।
2. तुलसीदास स्वयं को तुच्छ एवं दीन-हीन बताते हैं।
3. तुलसीदास में ज्ञान की उत्पत्ति केवल भगवान् राम के अनुग्रह के कारण हुई है।
4. तुलसीदास की भक्ति भावना अभिव्यक्त हुई है।
5. 'राम भजे गति केहि नहीं पाई' में वक्रोक्ति अलंकार है।
6. 'पाई ..... मना', 'रघुवंश.....गावहिं' 'सो एक .....को' में वक्रोक्ति अलंकार है।
7. 'कामहि ..... राम' में उपमा अलंकार है।
8. तत्सम शब्दावली का सुन्दर प्रयोग है।
9. अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है।
10. चौपाई छंद प्रथम आठ पंक्तियों में हैं।
11. अन्तिम चार पंक्तियों में दोहा छंद हैं।

(खण्ड - क)

आलोचना

1. बिहारी का जीवन परिचय
2. बिहारी का प्रकृति वर्णन
3. बिहारी की भाषा
4. बिहारी की अलंकार योजना
5. बिहारी की युगीन परिस्थितियाँ
6. बिहारी की भक्ति-भावना
7. बिहारी की बहुज्ञता
8. सतसैया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर।
   देखने में छोटे लगे धाव करे गम्भीर।।
9. सतसई परम्परा में बिहारी सतसई का स्थान
10. बिहारी का संयोग श्रं गार
11. बिहारी का वियोग श्रं गार
12. बिहारी की समास-शक्ति/समाहार शक्ति

(खण्ड - ख)

व्याख्या

खण्ड (क) : आलोचना

अध्याय - 1
बिहारी का जीवन परिचय

स्रोत

साधारणतः प्राचीन भारतीय साहित्यकारों की रुचि आदिकाल से आत्मप्रदर्शन के प्रतिकुल रही है। यही कारण है कि उन्होंने कभी अपनी रचनाओं में अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी नही लिखा। इससे उनके जीवन परिचय में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं। अन्तःसाक्ष्य के अभाव में प्रायः बहिः साक्ष्य के आधार पर ही संतोष करना पड़ा है। प्राचीन भारतीय लेखकों की प्रामाणिक जीवनी तैयार करने में ठोस प्रमाणों पर कम एवं अटकल अथवा अनुमान से अधिक काम लेना पड़ा है। महाकवि बिहारी लाल भी इस विषय में अपवाद नहीं हैं।

बिहारी का जीवन-परिचय प्राप्त करने में उनकी एकमात्र ज्ञात एवं लोकप्रिय रचना 'बिहारी सतसई' से विशेष सहायता नहीं मिलती। उसमें केवल कवि ने 'सतसई' की रचना महाराज जय सिंह के आदेशानुसार रचने की बात अन्तिम दोहे में अवश्य कही है–

"हुकुम पाई जयसाहि कौ हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद॥

इसके अतिरिक्त कुछ दोहों में कवि के जीवन-सम्बन्धी कुछ संकेत अप्रत्यक्ष रूप से मिलते हैं, अपने बारे में स्पष्टोक्तियाँ कवि ने नहीं लिखी हैं। अतएव बिहारी का जीवन-परिचय पाने में अधिकतर सहायता 'अन्तः साक्ष्य' से न मिलकर 'बहिः साक्ष्य' से ही लेनी पड़ती है, जिसके अन्तर्गत सतसई की विभिन्न टीकाएँ, बिहारी से सम्बन्धित कुछ स्फुट दोहे, बिहारी का दोहाबद्ध जीवनव त तथा कवि के कथित वंशज एवं विविध शोधकर्ता विद्वानों के विचार आदि आते हैं। इस विषय में संग हीत सम्पूर्ण सामग्री का संक्षेप से विवेचन निम्नलिखित है –

जन्म

बिहारी का जो दोहाबद्ध जीवन चरित्र पं० अम्बिकादत व्यास रचित 'बिहारी–सतसई' के आरम्भ से जुड़ा हुआ है, उसके अनुसार बिहारी का जंन्म संवत् 1652 में कार्तिक शुक्ला अष्टमी, बुधवार को श्रवण नक्षत्र में हुआ माना जाता है। यह दोहा स्वयं बिहारी रचित दिखाया गया है, परन्तु वास्तव में यह किसी अन्य कवि की रचना है, क्योंकि इस 'जीवनव त्त' में कवि का म त्यु संवत् भी दिखाया गया है। अतः यह 'जीवन–चरित' नहीं हो सकता।

इस दोहे में वर्णित तिथि, वार आदि की प्रामाणिकता भी ज्योतिष के अनुसार सिद्ध नहीं होती, परन्तु संवत् के विषय में रत्नाकर जी तथा अन्य इतिहासकार पूर्णतया आश्वस्त हैं।

जन्म-स्थान

बिहारी का जन्म कहाँ हुआ, इस विषय में तीन मत हैं– (1) राधाचरण गोस्वामी बिहारी का जन्म

स्थान मथुरा को मानते हैं। (2) मिश्र बन्धुओं ने बसुआ गोविन्दपुर को ही बिहारी का जन्म स्थान माना है। (3) तीसरा और बहुसम्मत मत बिहारी को ग्वालियर में उत्पन्न मानता है। इस विषय में निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है :

"जनम ग्वालियर जानियै, खण्ड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुधर, मथुरा बसि सुसराल।।"

इसे भी बिहारी रचित बतलाया जाता है। परन्तु यह दोहा भी बिहारी से परिचित किसी अन्य का लिखा जान पड़ता है। इससे कवि का मथुरा में निवास तो ज्ञात होता है, जन्म स्थान नहीं। अतः मिश्र–बन्धुओं द्वारा 'बसुआ गोविन्दपुर' में बिहारी का जन्म विद्वानों को अधिक मान्य नहीं है। वास्तव में उक्त गाँव बिहारी के भांजे प्रसिद्ध कवि कुलपति मिश्र को मिला था, बिहारी को नहीं। 'सतसई' में ग्राम-जीवन के प्रति बिहारी की उपेक्षा भी यही सिद्ध करती है। दोहाबद्ध जीवन व तों तथा अन्य स्रोतों एवं किवंदंतियों से भी यही प्रकट होता है कि बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था। उसका बाल्यकाल बुंदेलखण्ड तथा तरुणावस्था अपनी ससुराल मथुरा में व्यतीत हुई थी।

पिता

बिहारी के पिता का नाम केशवराय था। इस प्रसंग में 'सतसई' का यह दोहा उल्लेखनीय है –

"प्रगट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेश सब, केसव केसवराइ।।"

श्लेष अलंकार–युक्त इस दोहे में बिहारी कवि ने अपने पिता और भगवान कृष्ण से कलेशनाथ की प्रार्थना की है। इस दोहे से श्रीकृष्ण संबंधी अर्थ के साथ-साथ बिहारी के पिता का ब्राह्मण–कुलोत्पन्न होना तथा ब्रज (मथुरा) में आगमन का भी पता चलता है। जो जनश्रुति तथा अन्य प्रमाणों से भी पुष्ट है।

इस दोहे की टीका करते हुए 'बिहारी सतसई' के प्रथम टीकाकार कृष्ण कवि (जिसे बिहारी का पुत्र भी कहा जाता है) ने भी 'केसव केसवराइ' शब्दों का अर्थ यूँ स्पष्ट किया है– "केसोराइ जो मेरो पिता और केसोराय जो श्रीकृष्ण जू।" इसी प्रकार सतसई की एक टीका 'अनवर चन्द्रिका' में भी स्पष्ट लिखा है– "केशवराइ बिहारी के बाप कौ नाम है।" इस दोहे का उक्त अर्थ अन्य टीकाओं– जैसे रस चन्द्रिका, लाल चन्द्रिका, हरि प्रकाश की टीका आदि में भी समान रूप से पाया जाता है। अतः बिहारी के पिता 'केशवराय' के होने में कोई भी संदेह नहीं है।

केशव-पुत्र-संबंधी-विवाद

उक्त दोहे में बिहारी के पिता का नाम 'केशवराय' प्रतीत होता है। इसलिए कुछ विद्वान बिहारी को रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य कवि केशवदास का पुत्र मानते हैं। इस विषय में विद्वानों के तर्कों का सारांश इस प्रकार है –

(i) सर्वप्रथम बाबू राधाकृष्ण ने उक्त दोहे के आधार पर केशवदास को ही बिहारी का पिता घोषित किया गया। आचार्य केशव भी श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल से थे।

(ii) केशव भी अन्तिम दिनों में बुन्देलखण्ड छोड़कर अपनी इच्छा से किसी तीर्थ–स्थान (गंगातट) पर आ गए थे। इसका संकेत उनकी 'विज्ञान-गीता' से मिलता है। 'कविप्रिया' के अनुसार केशव के पूर्वजों का सम्बन्ध भी मथुरा से था।

(iii) जन्म सम्बंधी दोहे के अनुसार (जन्म ग्वालियर जानिए) बिहारी का जन्म ग्वालियर में, बाल्यकाल बुन्देलखण्ड में तथा यौवन मथुरा में बीता था। इस प्रकार बिहारी और केशवदास दोनों के जीवन की परिस्थितियों में मेल भी है। केशवदास के सभी पूर्वज ग्वालियर–नरेश के आश्रित थे। केशव के पिता और स्वयं केशव का जीवनकाल अधिकांश बुन्देलखण्ड में ओड़छा नरेश के पास बीता था। अतः बिहारी के जन्म तथा बाल्यकाल का सम्बन्ध भी ग्वालियर एवं बुन्देलखण्ड से क्रमशः जुड़ जाता है।

(iv) बिहारी के भांजे कुलपति मिश्र कवि ने 'संग्राम–सार' के आरम्भ में कविवर 'केशवराय' को अपना नाना बताकर वन्दना की है।

इसी प्रकार दूसरी पुस्तक 'जुवती तरंगिनी' में भी उसने 'केशवराय' के पश्चात् अपने मामा बिहारी की भी वन्दना की है। इससे प्रतीत होता है कि बिहारी के पिता 'केशवराय' अवश्य श्रेष्ठ और प्रसिद्ध कवि होंगे अन्यथा कुलपति मिश्र बिहारी के साथ–साथ अपने नाना की वन्दना न करते, क्योंकि ग्रन्थारम्भ के रूप में पिता की वन्दना तो समझ में आ सकती है, नाना की नहीं। 'बिहारी की वाग्विभूति' की भूमिका में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इस बात को स्वीकार किया है।

अब रहा नाम का झगड़ा, तो सारे मध्ययुग के हिन्दी साहित्य में 'आचार्य केशवदास' को छोड़ कोई भी कवि उक्त का नाम नहीं हुआ। अतः बिहारी के पिता के रूप में आचार्य केशवदास को ही स्वीकार किया जा सकता है।

(v) 'मिश्रबंधु विनोद' में 'केशव पुत्रवधु' नाम की कवयित्री का उल्लेख है। निःसंदेह किसी के नाम से कोई पुत्रवधु तभी प्रसिद्ध हो सकती है, जब वह स्वयं कोई प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित व्यक्ति हो। अतः 'केशव' की प्रसिद्धि आचार्य केशवदास के पक्ष में ही जाती है। इधर 'केशव की पुत्रवधु' के रूप में बिहारी की पत्नी का भी कवयित्री होना बिहारी के एक दोहाबद्ध जीवन चरित से प्रकट होता है।

उधर असनी के ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता देवकीनन्दन के नाम पर 'सतसैया वर्णार्थ' नामक टीका में बिहारी का जीवन व त लिखते हुए बिहारी की पत्नी को ही 'बिहारी सतसई' का रचयिता माना है।

उक्त कथाव त से बिहारी की पत्नी और 'केशव पुत्रवधु' के कवयित्री होने की बात में पूर्ण संगति बैठ जाती है।

(vi) मूल दोहे में बिहारी के पिता का नाम 'केशवराय' लिखा है। आचार्य केशव का प्रचलित नाम केशवदास था। किन्तु वे कभी-कभी अपना नाम 'केशवराय' और 'केशव–केशवराम' भी लिखा करते थे। जैसे –

– तिनके केशवराय सुत भाषा कवि मतिमन्द। – विज्ञान गीता
– केशव केशवराम मनौ
– कमलासन के सिर ऊपर सौ है। – रामचन्द्रिका

इस प्रकार नाम की असंगति भी दूर हो जाती है।

(vii) 'बिहारी सतसई' के निम्नलिखित दोहे से नरहरिदास का बिहारी के गुरू होने का संकेत मिलता है –

"जम करि मूंह तर हरि परयौ, इहि धर हरि चित लाउ।
विषय त षा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ॥"

स्वामी नरहरिदास की गद्दी ओरछे के निकट गुढां ग्राम में थी। उधर केशवदास का ओरछा-नरेश इन्द्रजीत सिंह के आश्रय में रहना सर्वविदित है तथा इन्द्रजीत सिंह का नरहरिदास के पास दर्शनार्थ आने जाने की जनश्रुति भी प्रसिद्ध है। बिहारी के पिता भी स्वामी नरहरिदास के शिष्य थे, इस बात की सूचना भी मिलती है। अतः दोनों महाकवियों के संबंध की कल्पना तर्कसंगत लगती हैं।

(viiI) केशवदास का जीवन काल संवत् 1312 से 1674 तक माना जाता है। तथा बिहारी लाल का समय संवत् 1652 से 1720 के लगभग है। इस प्रकार कुछ अंश तक दोनों के पिता पुत्र—सम्बन्ध की सम्भावना निराधार नहीं कही जा सकती। इन तर्कों के अतिरिक्त डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने बिहारी के कथित वंशजों से प्राप्त वंशव क्ष से भी केशव को बिहारी का पिता सिद्ध करने का यत्न किया है। इस प्रसंग में इन्होंने केशव की प्रसिद्ध शिष्या 'प्रवीणराय' का नामोल्लेख भी बिहारी के दोहों के आधार पर कल्पित कर रखा है। जो अनावश्यक रूप से खींचातानी सी लगती है। किन्तु इससे तथा बिहारी की भाषा में कुछ बुंदेलखण्डी शब्दों के आने जाने से बिहारी को बुंदेलखण्ड का निवासी (तथा ओरछा के रहने वाले आचार्य केशव का पुत्र) सिद्ध करने का यत्न किया है। इस प्रसंग में इन्होंने केशव की प्रसिद्ध शिष्या 'प्रवीणराय' का नामोल्लेख भी बिहारी के दो दोहों के आधार पर कल्पित कर लिया है। जो अनावश्यक रूप से खींचातानी सी लगती है। किन्तु इससे तथा बिहारी की भाषा में कुछ बुंदेलखण्डी शब्दों के आ जाने से बिहारी को बुंदेलखण्ड का निवासी तथा (ओरछा के रहने वाले आचार्य केशव का पुत्र) सिद्ध करने की बात तो सिद्ध नहीं हो जाती।

अन्य मत

वास्तव में बिहारी के पिता का नाम केशवराय था ही, इस विषय में तो किसी संदेह का अवकाश नहीं है। यह भी सिद्ध है कि 'केशवराय' 'कविवर' और ब्राह्मण भी थे। अब प्रश्न केवल इतना है कि उक्त केशवराय तथा आचार्य केशवदास एक ही व्यक्ति थे अथवा बिहारी के पिता केशवराय कोई अन्य व्यक्ति थे।

(क) 'बिहारी-सतसई' की प्रामाणिक टीका 'बिहारी रत्नाकर' के लेखक और ब्रजभाषा के मर्मज्ञ विद्वान तथा कवि रत्नाकर जी आचार्य केशव तथा बिहारीलाल के संपर्क को स्वीकार करते हुए भी उनके पिता-पुत्र न मानकर गुरु-शिष्य मानते हैं। बिहारीलाल के बाल्यावस्था में ही ग्वालियर छोड़कर पिता के साथ बुंदेलखण्ड में स्वामी नरहरिदास के पास जाकर रहने की कथा प्रसिद्ध है। वहाँ ओरछा के नरेश इन्द्रजीत सिंह के आश्रित आचार्य केशवदास से बिहारी ने काव्यशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की होगी, क्योंकि 'बिहारी सतसई' पर केशव के प्रभाव की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है।

(ख) पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत है कि 'यदि बिहारी के पिता प्रसिद्ध कवि केशवदास होते, तो यह बात परम्परा में अवश्य प्रसिद्ध होती है।' डॉ० रामसागर त्रिपाठी ने भी अपने शोध-प्रबन्ध में इसी मत का समर्थन किया है।

(ग) नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तथा डॉ० नगेन्द्र द्वारा संपादित 'हिन्दी साहित्य का

व हत् इतिहास' (रीतिकाल) में भी यही निष्कर्ष निकाला गया है—'अतः संक्षेप में यह निर्णय ही विद्वानों को मान्य रहा है कि प्रसिद्ध कवि केशवदास बिहारी के पिता नहीं थे, अपितु जो कोई भी इनके पिता थे, उनका नाम केशवराय था और वे भी कविता करते थे।'

(घ) पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ब्रजरत्नदास से प्राप्त एक हस्तलिखित पोथी में 'केशव केशवराय' नामक एक कवि के चार छन्दों को उद्ध त किया है, जिसका उल्लेख अब तक किसी इतिहास-ग्रन्थ में नहीं था। उस पोथी में 'केशव-केशवराय' का समय नहीं दिया गया। परन्तु उनके अतिरिक्त जिन अन्य नौ कवियों की रचनाएँ उसमें संग हीत हैं, उनमें प्रायः सभी कवियों का समय संवत् 1850 के आसपास बैठता है। यह समय बिहारीलाल के जन्म समय से कुछ पूर्व का है। इसी अनुमान पर पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कहना है —

'अनुमान की कच्ची जोड़ाई से खड़े किए गये इन महल का लेखा यदि ज्यों—का—त्यों मान लिया जाए, तो फिर यह कल्पना बड़े मज़े में की जा सकती है कि संभवतः बिहारी के पिता ये ही 'केशव केशवराय' रहे होंगे'।

निष्कर्ष

उक्त वाद—विवाद से पता चलता है कि बिहारी के पिता विषयक विवाद में अकाट्य प्रमाणों का अभाव है। शोधकर्ताओं में सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सकता। 'अन्तः साक्ष्य' के आधार पर केशवदास को बिहारी का पिता सिद्ध करना कुछ बौद्धिक व्यायाम—सा लगता है। 'बहिः साक्ष्य का अधिकांश भी संदिग्ध है। अतः बिना किसी ठोस और अकाट्य प्रमाण एवं तर्को के बिहारी का पित — सम्बन्ध आचार्य केशव से जोड़ना उचित नहीं लगता। उनके पिता 'केशवराय' अथवा 'केशव केशवराय' नाम के कविवर अवश्य थे, जो निश्चय ही प्रसिद्ध आचार्य-कवि केशवदास से भिन्न व्यक्ति ही थे।

कुल जाति

उपर्युक्त जन्म संबंधी दोहे से बिहारी का ब्राह्मण—कुलोत्पन्न होना सिद्ध ही है, परन्तु ग्रियर्सन महोदय ने दोहे में 'केशवराइ' शब्द देखकर उन्हें भाट मान लिया है। राधाचरण गोस्वामी का भी यही मत है। परन्तु 'राय' शब्द से भाटकुल का संकेत भ्रामक है। आचार्य केशवदास सनाद्य ब्राह्मण थे, परन्तु उन्होंने 'विज्ञान गीता' और 'रामचन्द्रिका' में अपने को 'केशवराय' लिखा है। वास्तव में कविवर बिहारी धौम्य गोत्रीय सोती घरबारी माथुर चौबे थे। (मिश्रबंधु कृष्ण— कवि को बिहारी का पुत्र मानने से बिहारी का कुल 'ककोर' सिद्ध करते हैं, क्योंकि कृष्णकवि ककोर—कुलोत्पन्न थे। पर ककोर वंशी तो मिश्रकुल से विवाह सम्बन्ध नहीं करते, जबकि बिहारी की बहिन मिश्रकुल में ब्याही गई थी। अतः उक्त तर्क उचित नहीं है, इसके अतिरिक्त पं० गौरीशंकर द्विवेदी बिहारी को चौबे नहीं मानते। उनके अनुसार बिहारी का विवाह चौबेकुल में हुआ था। परन्तु अन्य कोई भी विद्वान इस मत से सहमत नहीं है।

बिहारी का एक भाई और एक बहिन भी थे। जिसका विवाह व न्दावन आकर परशुराम मिश्र से हुआ था। कुलपति मिश्र कवि बिहारी की इसी बहिन के पुत्र थे। कहते हैं कि बिहारी की अपनी कोई संतान नहीं थी। अतः उन्होंने अपने भतीजे निरंजन को गोद ले लिया था। इस विषय में रत्नाकर जी का कहना है कि "संभवतः निरंजन का नाम 'निरंजन कृष्ण रहा होगा, क्योंकि बिहारी के वंशजों में 'कृष्ण' शब्द बराबर नाम के अन्त में मिलता है। इस प्रकार के नाम प्रायः खंडित

होकर आधे-आधे भी पुकारे जाते हैं। इसलिए कोई उन्हें 'निरंजन' कहता होगा और कोई 'कृष्ण'। अतः ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं।"

इस अटकल का कारण यह जनश्रुति है, जिसके अनुसार 'सतसई' के प्रथम टीकाकर कृष्ण कवि बिहारी के पुत्र माने जाते हैं। परन्तु यह तथ्य प्रमाणित नहीं है, क्योंकि स्वयं कृष्ण ने इसका उल्लेख नहीं किया। यदि बिहारी उसके पिता होते, तो कृष्ण कवि अपने सुप्रसिद्ध पिता का स्मरण अवश्य करता।

बाल्यकाल

कहते हैं बिहारी के पिता पुत्रजन्म के 7-8 वर्ष के पश्चात् ही ग्वालियर छोड़कर ओड़छे (बुन्देलखण्ड) चले गये। ओड़छे के पास गुढौ नाम गाँव में महात्मा नरहरिदास रहते थे। ये हरिदास–संप्रदाय के अनुयायी थे (इस संप्रदाय का प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ है–'निजमत सिद्धान्त' और कुछ समय पश्चात् (1374-75) में वे अपने गुरू के पास व न्दावन में चले गए थे, जहाँ पर संवत 1683 में वे गुरू की गद्दी के अधिकारी हुए। उक्त पुस्तक में महात्मा नरहरिदास के शिष्यों में केशवराय का भी नाम आता है, जिससे यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि बिहारी के पिता इन्हीं के शिष्य हो गये थे और बिहारी की शिक्षा-दीक्षा भी इनके ही पास होती रही थी। बिहारी ने यहाँ रहकर संस्कृत एवं प्राकृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। ओड़छा–नरेश इन्द्रजीत सिंह भी महात्मा जी के पास आया करते थे। उसी संदर्भ में आचार्य केशव का भी बिहारी से सम्पर्क होना संगत लगता है। कहते हैं काव्य तथा काव्यशास्त्र का अध्ययन बिहारी ने आचार्य केशवदास द्वारा किया था। 'सतसई' में केशव का प्रभाव इन्द्रजीत सिंह के पूर्वज मधुकर शाह तथा वेश्या प्रवीणराय के उल्लेख से भी बिहारी और ओड़छा दरबार का सम्बन्ध तथा इसी माध्यम से ओड़छा नरेश के आश्रित केशवदास का सम्पर्क अनुमानित हो जाता है। संवत् 1663-64 में मुगल शासक की सहायता से वीरसिंह देव ने ओड़छा के तत्कालीन राजा रामसिंह को पराजित कर दिया। संभवतः इस राजनीतिक परिवर्तन से प्रभावित होकर केशवदा सभी निराश–मन गंगा तट पर चले गये। इधर बिहारी के पिता भी ओड़छे से व न्दावन चले गए–जैसा कि जन्म संबंधी दोहे में संकेत है।

वैष्णव आचार्यों के पास रहकर व न्दावन में बिहारी ने साहित्य, दर्शन, भक्ति एवं संगीत विद्या का भी अध्ययन किया। इसी समय इनकी बहन का तथा फिर स्वयं इनका अपना विवाह भी एक माथुर ब्राह्मण के घर हो गया। विवाह के पश्चात् बिहारी सुसराल में ही रहने लगे। सतसई के निम्न दोहे में कदाचित् कवि अनुभूत तथ्य की सूचना दे रहा है।

"आवत जात न जानिये, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहं जंवाई लौ घट्यो, खरौ पूस-दिन मानु"॥

दिशा परिवर्तन

'बिहारी बिहार' से सम्बन्धित बिहारी के जीवन-व त के अनुसार लगभग संवत् 1675 में सम्राट जहाँगीर के साथ युवराज शाहजहाँ भी व न्दावन आया। शाहजहाँ महात्मा नरहरिदास का दर्शन करने भी गया। वहाँ महात्मा जी ने अपने होनहार शिष्य बिहारीलाल की काव्य प्रतिभा की प्रशंसा की। प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने बिहारी को आगरा चलने को कहा। इस विषय में निम्न दोहा द्रष्टव्य है–

"श्री नरहरि नरनाह कौ, दीनी बाँह गहाइ।
सुगुन आगरैं, रहत आइ सुखु पाइ"॥

राजदरबार में बिहारी ने फारसी कविता का भी गंभीरतापूर्वक मनन किया, जिसके कारण 'सतसई' में उक्ति चमत्कार तथा रूप वर्णन एवं विरह-वर्णन की ऊहोक्तियों का सूत्रपात हुआ। वहीं प्रसिद्ध कवि रहीम खानखाना से भी बिहारी की भेंट हुई। बिहारी ने उनकी प्रशंसा में दोहे सुनाए, जिनसे प्रसन्न होकर दानवीर कवि रहीम ने बिहारी को बहुत पुरस्कार दिया। संवत् 1677 में जब शाहजहाँ के पुत्र का जन्मोत्सव था, तो देश के बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी उस अवसर पर आए थे। बिहारी की कविता सुनकर उन्होंने कवि की प्रशंसा की तथा उसकी वार्षिक-व त्ति भी बाँध दी। राजदरबार में रहते हुए बिहारी को मुगल शासन की विलासिता तथा सम द्ध नागरिक जीवन का भी अनेकशः अनुभव प्राप्त हुआ, जिसका प्रतिबिम्ब 'सतसई' में स्पष्ट है।

सतसई रचना

कुछ समय पश्चात जब शाहजहाँ और जहाँगीर में 'मन–मुटाव आरम्भ हुआ, तो बिहारी लाल भी आगरा से निकल आए। लगभग दस वर्ष तक बिहारी विभिन्न राजाओं के पास जा–जाकर अपनी वार्षिक व ति लेते रहे। संवत् 1692 में जब वे इसी क्रम में आमेर के महाराजा मिर्जा जयसिंह के द्वार गये, तो पता चला कि महाराज अल्पवयस्का नवविवाहिता पत्नी के साथ भोग–विलास में मग्न हैं। राज–काज में उदासीन रहने के कारण महाराजा के विषय में सभी मंत्री और राज–परिवार भी चिंतित थे। कहते हैं किसी प्रकार बिहारी ने निम्नलिखित सुप्रसिद्ध दोहा महाराज के अन्तःपूर में पहुंचाया–

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली! कली हीं सो बंध्यो, आगै कौन हवाल॥"

इस व्यंग्यपूर्ण अन्योक्ति का यथोचित प्रभाव महाराज पर पड़ा। वे कर्तव्य की और सचेत हुए। बिहारी की प्रतिभा से प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार दिया तथा इसी प्रकार बिहारी ने 'बिहारी सतसई' की अपूर्व रचना की, जिसमें रत्नाकर जी के अनुसार 723 दोहे संग हित हैं।

इस घटना से प्रसन्न होकर प्रधान महारानी अनन्त कुमारी (चौहानी रानी) ने 'काली पहाड़ी' नामक गाँव बिहारीलाल को पुरस्कार में दे दिया। कुछ समय पश्चात् चौहानी महारानी से रामसिंह नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस शुभ अवसर पर हुए महोत्सव में बिहारी ने जयसिंह तथा महारानी की प्रशंसा में दोहे रचे। इनमें कुछ तो 'सतसई' में संग हीत हैं और कुछ संदिग्ध बताए जाते हैं। 'बिहारी बिहार' में जुड़े दोहाबद्ध जीवनव त के अनुसार 'सतसई' की रचना केवल दो महीने में समाप्त हो गई। कृष्णलाल की टीका में 'सतसई' की समाप्ति संवत् 1719 में लिखी है –

"संवत ग्रह ससि जलधि धिति, छठि तिथि वासर चंद।
चैत मास पख कृष्ण में, पूरन आनन्द कन्द"॥

परन्तु श्री रत्नाकर जी तथा दूसरे विद्वान इसे 'बिहारी सतसई' का नहीं अपितु कृष्णलाल की टीका का समाप्ति काल स्वीकार करते हैं। 'सतसई' का समाप्ति-विषयक एक अनुमान यह भी है कि संवत् 1704 में शाहजहाँ ने महाराज जयसिंह और औरंगजेब को बलख पर चढ़ाई करने भेजा था। विजयी होकर लौटने पर उनका सुन्दर स्वागत हुआ था। संभवतः इसी को लक्ष्य करके बिहारी ने जयसिंह की प्रशंसा में कुछ दोहे रचे थे, जो 'सतसई' के अन्त में मिलते हैं। जैसे –

"घर घर तुरकिनी हिंदुनी, देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी जयसाहिं।।"

अतः संभवतः 'सतसई' की समाप्ति संवत् 1704 में हुई होगी। रत्नाकर जी इसी मत के हैं। जनश्रुति के अनुसार चौहानी रानी ने अपने पुत्र रामसिंह का विद्यारम्भ संस्कार बिहारी द्वारा कराया, जिनके निमित बिहारी ने अपने रचित पाँच सौ दोहों तथा कुछ अन्य कवियों के दोहों का एक संग्रह पाठ्यपुस्तक के रूप में किया। अब तक प्राप्त प्रतियों में 'बिहारी सतसई' की उक्त प्रति ही सबसे प्राचीन प्रति मानी जाती है। यह जयपुर को राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। आमेर के राजकवि के रूप में बिहारी ने श्रंगार रस की अमर कृति 'सतसई' में रसिक–जीवन का मार्मिक शैली से चित्रण किया। प्रायः 10, 10 अथवा 20, 20 श्रंगार रस के दोहों के बाद एक भक्ति या नीति का भी जोड़ दिया।

मत्यु

जनश्रुति के अनुसार बिहारी की मत्यु संवत् 1720 में ब्रज में हुई। इस विषय में निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। कुछ विद्वान संवत् 1621 चैत्र मास, शुक्ल पक्ष, सप्तमी, सोमवार को बिहारी की मत्यु मानते हैं।

रसिक व्यक्तित्व

बिहारी अपने युग के लोकप्रिय कवि थे। इनका जीवनकाल बुंदेलखण्ड, मथुरा, आगरा तथा जयपुर में बीता था। ओड़छा निवास में बिहारी ने केशवदास से काव्यशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की। केशव की 'रसिक प्रिया' एवं 'कवि प्रिया' का विशेष प्रभाव बिहारी के दोहों में स्पष्ट देखा जा सकता है। रसिकता एवं नागरिकता का गुण बिहारी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है। ओड़छा के राजा इन्द्रजीत की सभा, आगरे में मुगलों का वैभव-विलास तथा जयपुर में रसिक जयसिंह महाराज का सम्पर्क बिहारी के लिए विशेष प्रेरणादायक रहा होगा। निम्नलिखित दोहा बिहारी के जीवन-दर्शन का प्रतीक-सा लगता है।

"तंत्री नाद, कवित रस, सरस राग, रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जो बूड़े सब अंग।।"

परन्तु डॉ० हरवंशलाल का मत है कि "कली-कली का रस लेने वाले उथली प्रेम भावना बिहारी को पसन्द नहीं थी। बिहारी ने प्रेम को पयोधि माना है, जिसमें गंभीरता भी होती है और मर्यादा में रहने की प्रवत्ति भी।

सामंती वातावरण तथा विलासमय वैभव का अनुभव होने से बिहारी नागरिक जीवन के अत्यन्त प्रेमी थे। फारसी कविता के प्रभाव से उनके काव्य में प्रदर्शन अथवा उक्ति वैचित्र्य का चमत्कार भी प्रधान हो गया था। तत्कालीन लोकरुचि को उन्होंने देखा और परखा था। संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य का भी गंभीर मनन किया था। ज्योतिष, वैधक आदि के ज्ञान से उनके विविध विद्याध्यन तथा व्यापक पांडित्य का पता चलता है। मानव-प्रकृति का सूक्ष्म तथा मनौवैज्ञानिक निरीक्षण करने की भी उनमें अद्भुत शक्ति थी। प्रेम के क्षेत्र में उनकी चुटीली और सरस उक्तियाँ इसका प्रमाण हैं। स्वभाव से वह बड़े ही हंसमुख, रंगीन तथा जिंदादिल रसिक व्यक्ति थे। यह बात उनकी 'सतसई' को पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है।

जातीय भावना

यद्यपि वे राजदरबार के कवि थे, तथापि उनका अपना विशेष व्यक्तित्व सदैव अक्षुण्ण रहा। वे चारण तथा अन्य आश्रित कवियों के समान चाटुकार नहीं थे। बिहारी की कुछ अपनी विशिष्ट राजनीतिक मान्यताएँ थीं, जिन्हें उन्होंने अन्योक्ति की व्यंजनापूर्ण शैली से व्यक्त किया। राजाश्रित होते हुए भी उन्होंने अपने स्वतंत्र चिन्तन को कभी नहीं दबाया।

निःसंदेह बिहारी के आश्रयदाता एक श्रेष्ठ और सफल सेनापति, गुणग्राही, दानवीर और वैभव-विलास के रसिक, परन्तु स्वाभिमानी राजपूत वीर थे। उन पर मुगल साम्राज्य को अत्यधिक भरोसा था। शाहजहाँ ने इसी वीर सेनापति को लेकर बलख में घिरी औरंगजेब की सेनाओं की रक्षा की थी। औरंगजेब ने भी इस प्रखर राजनीतिज्ञ और साहसी योद्धा को दक्षिण के विद्रोह को दबाने का महत्वपूर्ण काम सौंपा था। छत्रसाल महाराज की मुगल सम्राट के साथ संधि कराने वाला भी यही जयसिंह था। छत्रपति शिवाजी को समझा बुझाकर औरंगजेब की राजसभा में लाने वाला भी यही वीर था।

परन्तु बिहारी की जातीय भावना से प्रेरित होकर अपने आश्रयदाता द्वारा मुगल साम्राज्य की सुरक्षा के लिए अपनी जाति के महान वीरों के साथ संघर्ष को प्रशंसा की द ष्टि से नहीं देखते थे। ऐसा करने में बिहारी को जयसिंह के व्यर्थ परिश्रम द्वारा, विदेशी साम्राज्य को लाभ और अपनी जाति को अक्षय हानि पहुँचाने की चिन्ता खाए जा रही थी। तभी तो उन्होंने निम्नलिखित अन्योक्ति द्वारा मानो जयसिंह को स्पष्ट चेतावनी दी थी –

"स्वारथु, सुकृत न, श्रम व था, देखि विहंग विचारि।
बाज आए पानि परि, तू पंधीनु न मारि।।"

बाज जैसे वीर पक्षी के बहाने बिहारी ने जयसिंह को सचेत किया था कि अपनी जाति के वीरों को पराए (विदेशी) लोगों के बहकाने में आकर मारने से कोई लाभ न होगा, कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होगा, अपितु देशद्रोह का पाप लगेगा।

रीतिकाल में आश्रयदाता की अतिश्योक्तिपूर्ण प्रशंसा प्रत्येक कवि ने लिखी है। क्या यह आश्चर्य नहीं कि अतिश्योक्ति अलंकार का प्रयोग करने वाला बिहारी जैसा कवि जयसिंह की प्रशंसा में असंभावित कृपणता से काम ले? सात सौ से अधिक दोहों में ही बिहारी ने अपने आश्रयदाता का वर्णन किया है, जो मात्रा की द ष्टि से अत्यन्त स्वल्प है। उसमें भी बिहारी ने जयसिंह की दानशीलता और वीरता जैसे सर्वविदित गुणों की महिमा गाई है और वह भी मर्यादित स्वर के साथ। जैसे –

"रहति न रन जयसाहि-मुख, लखि लाखनु की फौज।
जाँचि निराखरऊ चलै, लै लाखनु की मौज।।"

(अथवा)

"घर घर तुरकिनी हिंदूनी, देती असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर-चुरी, तैं राखी जयसाहिं।।"

बलख-अभियान के समय वीर जयसिंह ने असंख्य हिन्दू और तूर्क सिपाहियों के प्राणों की रक्षा की थी, जिसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने वाली पत्नियों के आशीर्वाद न केवल उचित, अपितु मनौवैज्ञानिक द ष्टि से आवश्यक भी ठहराये जाएंगे।

इसी अवसर पर बिहारी ने जयसिंह की वीरता का वर्णन साभिप्राय किया है—

"साभां सेन सयान की, सबै साहि कै साथ।
बाहुबली जय साहिं जू, फते तिहारे हाथ।।"

इस दोहे से स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि यदि जयसिंह बलवान योद्धा मुगल सम्राट का साथ न दे, तो उसे कभी विजय नहीं मिल सकती।

इस प्रकार अवांतर रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि बिहारी में जातीय-भावना भी कूट-कूटकर भरी हुई थी। वे केवल श ंगार की कामुक कविता ही नहीं करते थे, बल्कि अपनी कविता से जातीय-हित की साधना के लिए भी तत्पर रहने वाले निर्भीक, स्वतन्त्रचेता महाकवि थे। वे रीतिकाल के अन्य कवियों के समान चाटुकार और भाट श्रेणी के कवि नहीं थे।

पुनश्च

बिहारी की निरीक्षण शक्ति व्यापक थी। नीति संबंधी सूक्तियों में उनकी व्यवहार—कुशलता तथा लोकशास्त्र का अथाह ज्ञान झलकता है। इसी प्रकार भक्ति और धर्म के आडम्बर पर चोट करके बिहारी ने आध्यात्मिक जीवन की श्रेष्ठता और साथ ही समन्वय की भावना भी व्यक्त की है। इन्हें संपति का लोभ कभी नहीं रहा और संतोष स्वभाव तथा नम्र प्रकृति होने से उन्हें ईश्वरीय शक्ति पर भी विश्वास था। इसके अतिरिक्त बिहारी ने भ्रमण भी बहुत किया था। अतः देशकाल एवं समाज का अध्ययन उन्हें व्यापक रूप से था। जिसका प्रतिबिम्ब 'सतसई' में स्पष्ट मिलता है। केवल एक रचना मात्र, 700 दोहे लिखकर इस सौभाग्यशाली महाकवि ने जनसाधारण, काव्य मर्मज्ञ, रसिक समुदाय, महात्मा तथा धर्मप्रिय भक्तों एवं राजा महाराजाओं सभी से समान आदर प्राप्त किया।

अध्याय - 2
बिहारी का प्रकृति वर्णन

प्रकृति और हिन्दी कविता

हिन्दी के कवि प्रकृति दर्शन के प्रति कुछ उदासीन से रहे हैं। जहाँ संस्कृत के महाकाव्यकारों ने प्रकृति की रमणीय रंगस्थली में खुलकर विहार किया है और उसके अत्यन्त मनोरम रूप को हृदयस्पर्शी ढंग से चित्रित किया है। वहाँ हिन्दी कवियों ने आलम्बन के रूप में प्रकृति के अतुल सौन्दर्य की और प्रायः आँख उठाकर देखा तक नहीं। आधुनिक काल से पूर्व प्रकृति अपने शुद्ध रूप में हिन्दी-काव्य का आलम्बन कभी नहीं रही। उसे श्रंगार रस के उद्दीपन रूप में या नारी सौन्दर्य के उपमान रूप में अथवा सुक्ति-काव्य आदि में अप्रस्तुत रूप में ही प्रायः प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी कवि संस्कृत के महाकाव्यों की अपेक्षा श्रंगारपरक मुक्तकों से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। उन्होंने रीतिग्रन्थों की परम्परा का अनुकरण करके प्रकृति का 'षड्ऋतु वर्णन' अथवा 'बारहमासा-वर्णन' ही अपनी रचनाओं में समाविष्ट किया है और इस रूढ़िगत वर्णन में भी प्रकृति-वर्णन के प्रति नवीन अथवा मौलिक द ष्टिकोण अपनाने की और किसी ने ध्यान नहीं दिया। वही घिसे-पिटे उदाहरण, वही परम्परागत उपमाएँ, वही नीति के शुष्क उपदेश और वही विरह जनों को सताने-तड़पाने वाली काल्पनिक कथाएँ, बस इसी सीमित क्षेत्र के संकुचित बंधन में जकड़ी प्रकृति छुट-छुट कर किसी प्रकार साँस लेती रही है। रीतिकालीन अन्य कवियों के समान बिहारी भी परम्परा-पालन से बच नहीं पाए। उनकी सतसई में भी रूढ़िगत वर्णनों की ही भरमार दिखाई देती है। परन्तु कहीं-कहीं बिहारी की विद्रोहिणी काव्य-प्रतिभा परम्परा की श्रंखलाओं को तोड़कर स्वतंत्र वातावरण में विहार करने को बाहर निकल आई है। काव्य-शास्त्र की बँधी लकीर पर चलते-चलते भी बिहारी की चंचल द ष्टि इधर-उधर खुले सौन्दर्य के प्रति भी झांक लेती है। बिहारी की कल्पना परंपरा के पिंजरे में बंदिनी होकर भी अवसर मिलते ही उन्मुक्त आकाश की और उड़ने को आतुर हो उठती है। यही कारण है कि 'बिहारी-सतसई' में प्रकृति का केवल उद्दीपन और आलंकारिक रूप ही नहीं मिलता, उसका आलम्बनगत सौन्दर्य भी कुछ-न-कुछ देखने को मिल ही जाता है।

प्रकृति और बिहारी

बिहारी के प्रकृति-वर्णन को विवेचन की द ष्टि से पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) आलम्बन रूप (ख) मानवीकरण रूप (ग) उद्दीपन रूप (घ) अलंकार रूप और (ड़) सूक्ति रूप में।

अब बिहारी-सतसई के आधार पर प्रकृति के प्रत्येक रूप की झलक प्रस्तुत की जाती है।

(क) आलम्बन रूप में प्रकृति

प्रकृति को ही लक्ष्य बनाकर वस्तुगत रूप से उसके सौन्दर्य का निरूपण करना ही वास्तव में लक्ष्य शुद्ध प्रकृति-वर्णन कहलाता है। इस वर्णन में प्रकृति स्वयं कवि का आलम्बन या आधार रहती है। कवि सीधा प्रकृति के सम्पर्क में आता है और प्रकृति-सुन्दरी अपना घूंघट हटाकर समस्त शोभा का भंडार कवि के सामने खोलकर रख देती है। आलम्बन प्रकृति-वर्णन में यद्यपि कालीदास और सेनापति जैसी अनुरागिणी द ष्टि बिहारी के पास नहीं है, फिर भी लीक से कुछ हटकर चलने की द ष्टि से बिहारी का प्रयास अवश्य प्रशंसनीय कहा जा सकता है। प्रकृति को आलम्बन मानकर भले ही बिहारी में उसके संश्लिष्ट रूप का बिम्बग्रहण उतना स्नष्ट न हो, परन्तु इस दिशा में बिहारी की मौलिक प्रतिभा ने बढ़ने का साहस तो किया ही है, कुछ उदाहरण देखिए –

"छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधुरी गंध।
ठौर ठौर झौंरत झपत झौंर झौंर मधु-अंध"।।

इस दोहे में बसंतऋतु के समय मधुर-रस पीकर मस्ती से झूमते हुए भ्रमरों के झूंडों की कल्पना कितनी सुन्दर और स्वाभाविक है। रूप, रस, गंध, स्पर्श का समन्वित रूप एकत्र देखने को मिलता है। इसी तरह बसंत कालीन मंथरगीत से चलती वायु मस्त हाथी की चाल चलती हुई कितनी प्यारी लगती है, इसका वर्णन भी कवि ने रूपक शैली में किया है –

"रनित भ ंग-घंटावली, झरित दान मधुनीर।
मन्द-मन्द आवतु चल्यौ, कुंजरू कुंज समीर"।।

इसमें नाद सौन्दर्य ने अरूप वायु का साकार और सजीव चलचित्र खींचकर रख दिया है। ऐसे वर्णनों में कवि का उद्देश्य केवल प्रकृति के विभिन्न रूपों की सरस झांकी उपस्थित करना है। इनमें प्रकृति ही कवि का प्रस्तुत विषय है, उसका अभीष्ट वक्तव्य है, उसके नेत्रों का आलम्बन है।

शरत सुन्दरी का आकर्षण रूप भी कवि को मोहित करता है, तो वह अलंकृत शैली में उसकी भी जीती-जागती तस्वीर उतार लेता है –

"अरुन सरोरुह कर चरन, द ग खंजन, मुख चन्द।
सभै आव सुन्दरि सरद, काहि न करहि आनन्द"।।

परम्परागत उपमानों की भूमिका में भी बिहारी ने शरद् ऋतु का बड़ा ही मोहक और मूर्त-वर्णन किया है। एक अन्य दोहे में बिहारी ने शरद् ऋतु को वीर-विजेता सम्राट का रूपक प्रदान किया है।

षड्ऋतु वर्णन की प्राचीन परिपाटी को निभाते हुए भी बिहारी ने निरपेक्ष रूप में अर्थात् विशुद्ध आलम्बन रूप में प्रकृति का निरूपण करके एक नयी राह दिखलाई है। बसंत तथा शरद्-ऋतु के समान बिहारी ने अन्य ऋतुओं का भी निरपेक्ष-वर्णन किया है। ग्रीष्म ऋतु में जेठ की दोपहरी के समय छाया का नाम भी कहीं नहीं होता। विशेष रूप से राजस्थान में (जहाँ कवि की स्थिति है) तो ऐसी सम्भावना अकल्पनीय भी नहीं कही जा सकती। ऐसी दशा में कवि ने कवित्वपूर्ण ढंग से क्या खूब कहा है –

"बैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन तन मांह।
देखि दुपहरी जेठ की, छांहौ चाहति छांह"।।

ग्रीष्म के अत्यधिक ताप का भी कवि ने वर्णन किया है, जिसमें गर्मी के कारण व्याकुल साँप और मयूर तथा म ग और बाघ जैसे विरोधी जीवों को भी एकत्र बैठे दिखलाया है –

"कहलाने एकल बसत, अहि सयूर म ग बाघ।
जगतु तपोवन सौ कियो, दीरघ-दाघ निदाघ"॥

गर्मी की अधिकता के कारण म ग को बाघ से डरकर भागने का होश नहीं रहा और बाघ को उसे खाने की लालसा नहीं रही। अतिरंजित होते हुए भी कवि का मूल आशय स्वाभाविक और अनुभवसिद्ध है।

इसी प्रकार वर्षाकाल में काले–काले मेघों से दिन में भी अंधेरा होने लगता है, जिसे बिहारी ने अपनी स्वभावगत अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन शैली में यहाँ तक कह डाला कि केवल चकवा–चकवी के मिलने और बिछुड़ने से ही लोगों को क्रमशः दिन और रात की स्थिति मालूम पड़ती है। माघ के महीने में सूर्य का ताप भी बहुत कम हो जाता है, जिस पर कवि उसकी तुलना चन्द्रमा से करके चकोरी के लिए भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है। निःसंदेह ऐसे वर्णन ऊहोक्तियों के कारण प्रभावशाली नहीं बन सके। आलंकारिक चमत्कार से भाव का प्रभाव दब ही जाता है। परन्तु इन वर्णनों में बिहारी ने प्रकृति को ही आलम्बन मानकर जो साहसिक पग उठाया है, वह अवश्य सराहनीय है।

इस प्रकृति–वर्णन में बिहारी ने ससुराल में कदाचित् 'घर जमाई' बनकर रहने के व्यक्तिगत अनुभव का भी अप्रस्तुत-योजना के रूप में संकेत किया है –

"आवत जात न जानियत, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहिं जवांई लौं घट्यो, खरौ पूस दिनमानु"॥

इस प्रकार सिद्ध होता है कि बिहारी ने प्रकृति का आलम्बनगत वर्णन भी किया है। चाहे कहीं-कहीं इसमें अत्युक्ति का आलंकारिक चमत्कार भाव सौन्दर्य का बाधक सिद्ध हुआ है, फिर भी बिहारी ने प्रकृति के निरपेक्ष निरूपण के कुछ बड़े सुन्दर उदाहरण भी दिये हैं।

(ख) मानवीकरण रूप में प्रकृति

जड़-प्रकृति में चेतन शक्ति का आभास पाकर उसका सजीव एवं मूर्त रूप में वर्णन करने की शैली मूलरूप में वैदिक साहित्य में भी परिलक्षित होती है। परन्तु आधुनिक काव्य में 'मानवीकरण' के नाम से इस शैली का सन्निवेश हिन्दी-काव्य में पश्चिमी साहित्य के प्रभाव के कारण ही हुआ। छायावादी कविता इस प्रकार की शैली का श्रेष्ठ उदाहरण है। बिहारी ने भी अपने ढंग से रीतिकाल में ही प्रकृति के मानवीकरण के कुछ सरस उदाहरण दिये हैं। 'शरतसुन्दरी' की झलक आप ऊपर देख चुके हैं। बसंतकालीन मन्द-मन्द बहते हुए पवन के अत्यन्त संवेदनशील और मार्मिक दो चित्र देखिए –

"चुवतु स्वेद मकरन्द कन, तरु तरु पर बिरमाइ।
आवत दच्छिन देस तें, थक्यो बटोही बाइ॥
लपटी पुहप-पराग-पट, सनी स्वेद मकरन्द।
आवति नारि नवोद लौं, सुखद वायु गति मन्द"॥

पहले दोहे में पुल्लिंग वायु की कल्पना एक थके–हारे, पसीने से नहाए, व क्षों के नीचे रूक–रूककर विश्राम करने वाले पथिक के रूप में की गई है। यह कल्पना इतनी मर्मस्पर्शी है कि

इसकी चर्चा 'इम्पीरियल गजटियर' तक में भी की गई है। दूसरे दोहे में वायु का प्रयोग स्त्रीलिंग में करके बिहारी ने उसे एक सर्वांग सुन्दरी नव–विवाहिता पद्मनी स्त्री के रूप में चित्रित किया है।

रूप और रस से पूर्ण बिहारी की ये कतित्वपूर्ण कल्पनाएँ उसकी अद्भुत चित्र शैली की परिचायक हैं। मानवीकरण में केवल प्रकृति को रूपक अलंकार का उदाहरण नहीं बनाया जाता, अपितु उनमें मानवीय भावों, संवेदनाओं और कोमल अनुभूतियों की अभिव्यंजना का आरोप भी किया जाता है। प्रसिद्ध छायावादी कवि पन्त की 'छाया' और निराला की 'जुही की कली' इसका प्रमाण है। बिहारी ने भी कुछ-कुछ इसी ढंग पर ग्रीष्मऋतु को ऋतुराज बसंत के विरह में आहें भरते हुए प्रस्तुत किया है –

"नाहिंन ए पावक प्रबल, लुवैं चलैं चहूँ पास।
मानहु बिरह बसंत कै, ग्रीष्म लेत उसास"।।

इसी प्रकार अपह्नुति अलंकार के उदाहरण में बिहारी ने एक चमत्कारक कल्पना प्रस्तुत की है –

"जोन्ह नहीं, यह तमु वहै, किए जु जगत निकेतु।
होत उदै ससि के भयौ, मानहु ससहर सेतु"।।

अर्थात् यह चांदनी नहीं है, अपितु चन्द्रमा के उदय होने पर अंधकार का रंग भय के मारे सफेद हो गया है। क्या दूर की सूझ है? (विद्यापति ने भी सद्यःस्नाता के प्रसंग में बालों से टपकती हुई बून्दों को लक्ष्य करके कल्पना की थी कि मुखरूपी चन्द्रमा को देखकर अंधकार मानों आँसू बहा रहा है।)

उक्त उदाहरण यद्यपि प्रकृति के निरपेक्ष वर्णन से ही सम्बन्धित है, फिर भी इनमें कवि की मर्मस्पर्शी कल्पना, भावनात्मक आरोप तथा आलंकारिक चमत्कार का सौंदर्य ही विशेष महत्व रखता है।

(ग) उद्दीपन रूप में प्रकृति

हिन्दी कवियों में, विशेष रूप से रीतिकालीन कवियों में, प्रकृति का अधिकांश वर्णन 'उद्दीपन' के रूप में ही किया गया है। लक्षण-ग्रन्थों में 'नायिका भेद' श्रंगार-रस का एक महत्वपूर्ण अंग है। उसी के अन्तर्गत जहाँ नायिकाओं के भेद-उपभेद तथा नखशिख का विस्तारपूर्वक निरूपण मिलता है, वहाँ नायिका या नायक के मन में उठे रतिभाव को और अधिक भड़काने के लिए आचार्यो ने प्रकृति के उत्तेजक सौन्दर्य का भी वर्णन किया है। संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओं में प्रकृति-भाव को उद्दीप्त करने में सहायक सिद्ध होती है। संयोग दशा में प्रकृति के जो उपकरण सुखदायक तथा आनन्दातिरेक में सहायक पहुँचाते हैं, वियोगदशा में वही दुःखदायक बनकर विरहीजनों को तरह-तरह से उत्तेजित करते हैं। हिन्दी में प्रकृति का उद्दीपन रूप 'षड़ऋतु वर्णन' और 'बारहमासा वर्णन' के अन्तर्गत आता है। बिहारी ने 'षड़ऋतु' वर्णन ही किया है। उसमें भी अधिकतर वसंत एवं वर्षा ऋतुओं को ही महत्व दिया गया है। शेष ऋतुएँ केवल परम्परा को पूर्ण करने के लिए 'बिहारी सतसई' में स्थान पा सकी हैं। 'बारहमासा' का वर्णन सामान्य रूप से विरह के लिए तथा 'षडऋतु' का वर्णन संयोग दशा में किया जाता है। बिहारी ने 'षड़ऋतु' वर्णन संयोग तथा विप्रलम्भ श्रंगार दोनों की द ष्टि से किया है।

(i) **बसन्त ऋतु :** बसन्त का अनन्त सौन्दर्य संयोग श्रंगार के लिए उपयुक्त वातावरण की स ष्टि करता है। इस ऋतु में फाग का त्यौहार तो मस्ती और मनोरंजन का पर्यायवाची माना

जाता है। गुलाल से भरी मुट्ठी के साथ ही रसिकजन लोक-लाज को भी छोड़ देते हैं। बिहारी ने फाग का सचमुच ही रसमय वर्णन किया है। मधुर छेड़-छाड़ के साथ नायिका की शरारत तो देखिए कि बेचारा नायक भी उसके बाँझपन और चंचलता से पराजित हो गया –

"पीठि दिये ही नैक मुरि, कर घूंघट-पटु टारि।
भरि गुलाल की मूठि सौं, गई मूठि-सी मारि"॥

किन्तु वियोग दशा में वही बसंत सारे हास-विलास का मानो अंत कर देता है। कोयल की मीठी कूक भी परदेसी नायक का सुख लुटने वाली डाकू बन जाती है। पलाश के लाल-लाल फूल उसे दावाग्नि जैसे प्रतीत होते हैं। चेत और तो और चैत महीने की शीतल चाँदनी भी विरह के मारों को अचेत किये जाती है –

"भौ यह ऐसौई समौ, जहा सुखद दुखु देत।
चैत चाँद की चाँदनी, डारति किए अचेत"॥

कितनी विचित्र है? जो बसन्त संयोग अवस्था में रति-रंग को दुगुना कर रहा था, अब वही वियोगियों को दण्ड देने के लिए कामदेव के बाणों की वर्षा कर रहा है –

"दिसि–दिसि कुसुमिक देखियत, उपवन विपिन समाज।
मनहुँ वियोगिनु कौ कियौ, सर पंजर रितुराज"॥

अतः संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओं में बिहारी ने बसन्त ऋतु का वर्णन उद्दीपन के रूप में ही किया है।

वर्षा ऋतु : वर्षा काल में काली–काली घटाओं को आकाश में उमड़ता देखकर प्रेमीजनों के मन भी उत्साह से उमड़ने लगते हैं। बेचारे सन्यास लिये हुए मुनियों का मन भी सुन्दर नारियों के लिए ललचाने लगता है –

"तिय-तरसौं है मुनि किए, करि सरसौ है नेह।
घर परसो हैं हवैं रहे, झर बरसौं हैं मेह"॥

ऐसे मादक समय में भला तरुण हृदयों की क्या दशा होगी, जब बूढ़ों पर जवानी का रंग छा जाता है। भला यह भी कोई रूठने का अवसर है? वर्षा में दूसरी गाँठ चाहे कितनी पक्की हो जाए, परन्तु 'मान की गाँठ' तो तुरन्त खुल जाती है। वर्षा की फुहार में प्रेम से मतवाली स्त्रियाँ हिण्डोले झूलती हैं। बिहारी ने भी उसकी रंगीन झाँकी प्रस्तुत की है –

"हेरि हिण्डोरे गगन तैं, परी परी सी टूटि।
धरी धाय पिय बीच ही, करी खरी रस लूटि"॥

परन्तु वर्षा का यह उल्लासमय वातावरण विरह में काटने को दौड़ता है। मल्लिका के फूलों से होकर आने वाली सोंधी-सोंधी गन्ध लिए वर्षाकालीन वायु का शीतल स्पर्श वियोगीजन के लिए झूलसा देने वाली ज्वाला बन जाता है। काले मेघों को आकाश में देखकर वियोगिनी को ऐसा लगता है –

"धुरवा होहिं न अलि उठै, धुंआ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत कौ, पावस प्रथम पयोद"॥

पावस ऋतु विरहीजनों के लिए पावस नहीं रह जाती, अपितु 'पावक अग्नि' बन जाती है। उसका 'स' अक्षर प्रिय के वियोग में 'क' अक्षर का रूप धारण कर लेता है। तभी तो उसकी फुहार चिनगारी—सी जलाती है। बिजली अग्निशिखा—सी लगती है और मेघमाला उस 'पावक' का काला धूँआ मात्र प्रतीत होती है।

बिहारी ने वर्षा ऋतु का विशेष रूप से विप्रलंभ श्रंगार में अधिक वर्णन किया है। यह वर्णन कहीं—कहीं अतिरंजित भी हो गया है किन्तु कवि परम्परा की सीमा का अतिक्रमण कहीं नहीं होने दिया। विरहिणी यदि वर्षाकाल में रात को चमकने वाले जुगनू देखकर अंगारे बरसने की कल्पना करती है। तो यह भ्रांति उसके विरहजन्य उन्माद की ही सूचक बन जाती है। वास्तव में वर्षा ऋतु में कालिदास और तुलसीदास जैसे महाकवियों ने भी अपने नायकों को अधीरता और मोहदशा का संवेदनात्मक चित्रण किया है। बिहारी के निम्न दोहे में भी नायिका की तीव्र अनुभूति, उसके हृदय की परवशता और गहन वेदना को कलात्मक ढंग से व्यंजित किया गया है —

"कौन सुनै, कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौं लेत हैं, ये बदरा बदराह"।।

इस प्रकार बिहारी ने वर्षाऋतु का वर्णन भी संयोग-वियोग दोनों के संदर्भ में ही किया है।

हेमन्त-ऋतु : हेमन्त-ऋतु यौवन का सुख लुटने वाली ऋतु मानी जाती है। बिहारी ने भी हेमन्त की लम्बी रातों को केवल चकवा—चकवी के लिए तो कष्टकर बताया है, शेष जगत के लिए उसे आनन्ददायक ही माना है -

"ज्यौं-ज्यौं बढ़ति विभावरी, त्यौं त्यौं बढ़त अनन्त।
ओक-ओक सब लोक सुख, कोक-शोक हेमन्त"।।

आगमन के महीने में बिहारी का कथन है कि उसने सारे जग को काम-वासना के अधीन कर दिया है। बड़े-बड़े अजेय जितेन्द्रियों को भी पराजित कर दिया है। कामदेव को अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए कुसुम बाणों के हाथ में लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी। एक अन्य दोहे में बिहारी ने हेमन्त के अत्यन्त प्रभाव का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया है -

"मिलि बिहरत, बिछुरत भरत, दम्पति अति रतिलीन,
नूतन विधि हेमन्त सबु, जगतु जुराफा कीन"।।

अन्य ऋतुएँ : बिहारी ने बसन्त और वर्षा के अतिरिक्त शेष ऋतुओं का संक्षिप्त वर्णन ही किया है। ग्रीष्म ऋतु में जल-विहार करती हुई नायिका के अनुपम लावव्य और चंचल चेष्टाओं की झलक दिखाई गई है। शरद् ऋतु में शरत्पूर्णिमा के निर्मल और मनमोहक वातावरण में प्रिय-मिलन की प्रेरणा का सुन्दर संकेत है।

ये दोनों ऋतुएँ संयोग-श्रंगार के उद्दीपन विभाव का ही प्रायः अंग बनकर आई है। आलम्बन रूप में भी बिहारी ने इन दोनों ऋतुओं का हृदयग्रही वर्णन किया है। परन्तु रतिरंग की दलदल में फंस जाने के कारण प्राकृतिक सौन्दर्य की और बिहारी का ध्यान अधिक नहीं गया। कदाचित् प्रकृति की और देखने पर न तो रीतिकालीन कवि की विशेष रुचि थी, न अवसर और न आवश्यकता। संयोग में वैसे भी ध्यान प्रियजन तक ही सीमित रहता

है, प्रकृति की और कम ही जाता है। रहा वियोग वर्णन, उसमें चमत्कार तथा ऊहोक्तियाँ आड़े आ गई।

शिशिर ऋतु का वर्णन बिहारी ने अत्यन्त उत्तेजक रूप से किया है। शीतकाल में बेचारी गर्मी ठण्ड से घबराकर स्त्रियों के स्तनों में जा छिपी है। इस कल्पना को अधिक सार्थक करते हुए बिहारी ने शिशिर से काँपते हुए लोगों को सुन्दर उपचार भी बता दिया है -

"तपन-तेज तपु-तांप तपि, अतुल तुलाई मांह।
सिसिर-सीतु क्यौं हुँ न कटै, बिनु लपटै तियनांह"॥

शीतकाल की प्रिय-मिलन की अनिवार्यता को अनुभव करती हुई जब एक विरहिणी परदेश जाने को तैयार अपने पति की निष्ठुरता बिहारी के सामने रखती है तो ऊहोक्ति वर्णन सिद्धहस्त रसिक कवि जो उपाय उस दुखिनी बाला को बताते हैं, उसे देखकर सचमुच रोना आता है (विरहिणी की व्याकुलता पर नहीं, अपितु कवि की भद्दी कल्पना पर) -

"पुस मास सुनि सखिन मुख, साईं चलत सवार।
लैकर वीन प्रवीन तिय, गायौ राग मलार"॥

विदेश जाने से पति को रोकने के लिए नायिका ने वीणा उठाई और मल्हार राग छोड़ दिया, ताकि वर्षा हो जाने से नायक शीतनिवारण हेतु घर पर ही रुक जाए। वाह! बिहारी की बलिहारी।

प्रकृति का उद्दीपन रूप से वर्णन पहले ही कुछ अस्वाभाविक था। उस पर ऐसे अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों से और भी कृत्रिमता का आवरण छा गया है।

पुनश्च : यद्यपि षड्-ऋतु वर्णन के रूप में बिहारी ने काव्य-शास्त्र की लकीर पर चलते हुए प्रकृति को उद्दीपन रूप में चित्रित किया है, तथापि बिहारी की स्वतंत्रता-प्रिय रुचि ने कभी—कभी लकीर से हटकर अपनी प्रतिभा को विहार करने की भी छूट दे दी है। नामोल्लेख के साथ ऋतुओं या महीनों का निरूपण संयोग अथवा वियोग पक्ष में 'सतसई' में अनेक बार हुआ है, किन्तु बिहारी ने कभी कभी अन्य प्राकृतिक द श्यों को भी 'उद्दीपन' विभाव के रूप में स्थान दिया है। उदाहरण के लिए सारी रात प्रियतम की प्रतीक्षा करते-करते वियोगिनी की निराशा प्रभातकाल के वर्णन में स्पष्टतः उभर आई है —

"नभशाली, चाली निशा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत, आए बनमाली न"॥

कितना सुन्दर वर्णन है। भावपक्ष और कलापक्ष दोनों द ष्टियों से यह दोहा उत्कृष्ट काव्य का उदाहरण हो सकता है। निःसंदेह प्रकृति—वर्णन इसमें गौण है। मुख्य रूप से नायिका की निराशा, भय, आशंका, ईर्ष्या, विवशता, उत्सुकता आदि कितनी भावनाओं का सबल-चित्र चित्रमयी भाषा में खींचकर रख दिया गया है।

इसी प्रकार एक दूसरा मर्मस्पर्शी उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें गोपियाँ श्याम के विरह में उन—**उन** प्राकृतिक स्थानों का स्मरण करके विभोर हो रही है, जहाँ किसी समय प्रिय-मिलन का सुख लुटा करती थी।

"सघन कुंज, छाया सुखद, शीतल सुखद समीर।
मनु हवैं जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर"॥

(घ) अलंकार रूप में प्रकृति

अप्रस्तुत्-योजना के रूप में प्रकृति का उपयोग काव्य की सामान्य तथा सर्वमान्य परम्परा है। उपमान के रूप में प्रकृति के बड़े ही सुन्दर द श्यों की कल्पना बिहारी ने की है। कुछ उदाहरण देखिए –

"चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पर झीन।
मानहु सुर-सरिता बिमल, जल उछरत जग मीन॥
लसत सेत सारी ढप्यौ, तरल तर्यौना कान।
पर्यौ मनौ सूरसरि सलिल, रवि प्रतिबिंब विहान"॥

उक्त दोहों में उत्प्रेक्षा अलंकार का उपकरण बनाकर प्रकृति ने रूप-वर्णन को सजीव एवं प्रभावोत्पादक बना दिया है।

(ii) रूपक अलंकार में प्रकृति का अप्रस्तुत विधान निम्नलिखित दोहे में दर्शनीय है –

"बढ़त बढ़त संपति-सलिल, मन-सरोजु बढ़ि जाइ।
घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समुल कुम्हि लाह"॥

(iii) उपमा का सौन्दर्य भी प्रकृति के उपकरणों के साथ देखिए–

"फूली फाली फूल-सी, फिरति जू विमल विकास।
भोर तरैयां होहु ते, चलत तोहि पिय-पास"॥

अथवा

पावक झर-सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि"॥

(iv) व्यतिक अलंकार का उदाहरण लीजिए –

"सोहति धोती सेत में, कनक-बरन-तन बाल।
सारद-बारद-बीजूरी-भा रद कीजति लाल"॥

(ड़) सूक्ति रूप में प्रकृति

अप्रस्तुत योजना के अन्तर्गत कवियों ने कभी–कभी नीति तथा लोक व्यवहार संबंधी कुछ जीवनोपयोगी कथनों को प्रकृति के माध्यम से प्रस्तुत किया है। ऐसे वर्णनों में प्रकृति प्रस्तुत अथवा प्रधान विषय नहीं रहती, वह अप्रस्तुत अथवा गौण बन जाती है। तुलसीदास का वर्षा–वर्णन तथा शरद–वर्णन इसी ढंग का है। आलंकारिक भाषा में इस शैली को 'अन्योक्ति' कहा जाता है।

बिहारी हिन्दी के एक सफल सूक्तिकार माने जाते हैं। सूक्तियों में नीति कथन को चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। बिहारी ने अनेक सूक्तियों में प्रकृति के अर्थपूर्ण उपकरणों का उपयोग करके अपने वक्तव्य को अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया है। 'बिहारी-सतसई' का मूल गायत्री मंत्र ही इसका प्रमाण है, जिसकी नींव पर 700 दोहों का विशाल आयोजन किया गया है।

(i) **"नहिं पराग नहि मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।**
अली कली ही सौ बंध्यौ, आगै कौन हवाल"॥

इसी प्रकार के कुछ उपयोगी, तथ्यपूर्ण, नीति वचनों को अन्योक्ति अलंकार में देखिए –

(ii) **नहिं पावस ऋतुराज यह, तजि तरुवर चित भूल।**
अपतु भए बिनु पाइ हैं, क्यों नव-दल फल-फूल"॥

अर्थात् बिना कुछ स्वत्व गवाएँ संसार में लाभ की आशा नहीं रखनी चाहिए। यह तथ्य ही यहाँ अभीष्ट है।

(iii) जिसका कोई सहायक नहीं होता, उसका भगवान होता है, इस तथ्य की प्रकृति की अप्रस्तुत योजना में देखिए –

"जाकै एकाएक हूँ, जग व्यौसाइ न कोइ।
सो निदाघ फूलै-फलै, आकु डह डहौ होइ"।

(iv) इसी प्रकार औरंगजेब के इशारे पर शिवाजी के साथ संघर्ष करने को तैयार अपने आश्रयदाता जयसिंह महाराज को समझाने के लिए एक बार फिर बिहारी ने प्रकृति का सहारा लिया –

"स्वारथु सुकृतु न श्रम व था, देखि विहंग बिचारि।
बाज पराए पानि पर, तू पंछीनू न मारि"।।

(v) आशावादी मनुष्य बुरे दिनों में भी निराश नहीं होता और अपने प्रिय स्थान को नहीं छोड़ता। उसी का दिग्दर्शन प्रस्तुत दोहे में है –

"इहीं आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाब के मूल।
हवै हैं फेरि बसन्त ऋतु, इन डारन वे फूल"।।

निष्कर्ष

इस प्रकार बिहारी का प्रकृति–वर्णन बहुमुखी है। उसमें प्रकृति की आलम्बन रूप में ग्रहण किया गया है और उद्दीप्त रूप में भी। बिहारी की प्रकृति अलंकारों का भी आधार बनी है और नीति-कथनों का माध्यम भी। इसके साथ ही जड़ प्रकृति को मानवीकरण की शैली में सजीव, मूर्त और स्पन्दनशील बनाकर बिहारी ने अपनी मौलिक कल्पना का सौन्दर्य तथा अनुभूति की सुक्ष्मता भी प्रदर्शित की है। इस बीच बिहारी ने परम्परा का निर्वाह भी किया है। षड़-ऋतु वर्णन की परिपाटी निभाई है और अवसर मिलने पर अपनी स्वतंत्र तथा मौलिक प्रतिभा का चमत्कार दिखलाने में भी संकोच नहीं किया। कहीं-कहीं परम्परा-पालन में अत्युक्ति, आलंकारिक शैली और ऊहोक्ति का विकृत रूप भी झलक उठा है, फिर भी बिहारी में अपने युग की प्रचलित सभी काव्य-शैलियों के अनुसरण की जो विशेषता पाई जाती है, उसका सफल प्रदर्शन बिहारी के प्रकृति वर्णन में हुआ है।

अध्याय - 3
बिहारी की भाषा

काव्य के दो पक्ष होते हैं- (1) भावपक्ष और (2) कलापक्ष। भावपक्ष को काव्य की आत्मा और कलापक्ष को उसका शरीर समझा जाता है। भावपक्ष को अनुभूतिपक्ष तथा कलापक्ष को अभिव्यक्ति पक्ष भी कहते हैं। जिस प्रकार आत्मा की स्थिति शरीर के बिना संभव नहीं होती और शरीर भी बिना आत्मा के म त तथा व्यर्थ होता है, उसी प्रकार भावपक्ष और कलापक्ष भी काव्य में अन्योन्याश्रित होते हैं। दोनों पक्ष परस्पर सापेक्ष होते हैं। जिस काव्य में भावनानुभूति तो मार्मिक है, परन्तु तदनुकूल समर्थ भाषा नहीं है, जो उन भावों को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त कर सके, वह काव्य उत्कृष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस काव्य में कवि अभिव्यक्ति को ही प्रमुखता प्रदान करता है, भाषा को अलंकृत बनाने में ही सारी शक्ति लगा देता है और अपने भाव क्षेत्र को उपेक्षित रहने देता है, उस कवि का काव्य भी चमत्कारक शब्द-जाल बनकर रह जाता है। अतः एक सफल और श्रेष्ठ कवि अपने काव्य में अनुभूति तथा अभिव्यक्ति, भाव और भाषा, शब्द और अर्थ, आत्मा और शरीर दोनों को उचित महत्व देकर ही अपने उद्देश्य को पूर्ण करता है। बिहारी का काव्य भाव तथा कला पक्ष दोनों पक्षों की द ष्टि से सफल और श्रेष्ठ काव्य है, इस विषय में सभी विद्वान प्रायः सहमत हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी।"

बिहारी की भाषा-संबंधी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार है -

1. शब्दकोष

मुख्यतः बिहारी का शब्दकोष ब्रजभाषा के रसीले शब्दों से ही सम्पन्न है। परन्तु सूरदास की चलती भाषा को बिहारी ने साहित्यिक सिंहासन पर बिठा दिया है। अपनी बहुज्ञता के कारण बिहारी ने ब्रजभाषा के कोष को अन्य स्त्रोतों से भी सम द्ध बनाने का प्रयत्न किया है। ग्रहणशीलता भाषा और काव्य के लिए वरदान सिद्ध होती है। अतः मधुकरी व ति के द्वारा बिहारी ने भी विभिन्न भाषाओं से ब्रजभाषा के सौन्दर्य को चार चाँद लगा दिए हैं।

बिहारी ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का पर्याप्त अध्ययन किया था। 'बिहारी–सतसई' के अनेक दोहों में इन भाषाओं के अमर काव्यों की छाया भी स्पष्ट झलकती है। अतः उक्त भाषाओं के शब्द रत्नों को भी अपने काव्यकोष के लिए कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण किया। भारतीय-भाषाओं के अतिरिक्त बिहारी ने राजभाषा फारसी के भी अनेक प्रचलित शब्दों को अपने काव्य में उचित स्थान दिया। परन्तु अधिक संख्या संस्कृत के तत्सम शब्दों की ही रही। काज्जल, अद्वैतता, द्वैज, सुधादीधिति, निदाघ, श्रमस्वेद, प्रथम पयोद आदि असंख्य तत्सम् शब्दों की सहायता से ही बिहारी

ने 'भाषा की समास–शक्ति' का गुण अधिमत किया। संस्कृत–तत्सम् शब्दों की समस्त पदावली के समुचित प्रयोग से बिहारी ने दोहे जैसे छोटे छन्दों में भावों का विस्तार 'गागर–में– सागर' के समान बन्द करके रख दिया। अर्ध–तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग भी यथास्थान करने में बिहारी पीछे नहीं रहे। फारसी तत्कालीन शासकों की भाषा थी। मुगलदरबार के सम्पर्क तथा फारसी काव्य की चमत्कार–प्रियता ने भी बिहारी को अवश्य आकर्षित किया होगा। अतः 'सतसई' में उर्दू-फारसी शब्दों का व्यवहार भी पर्याप्त देखने को मिलता है– चश्मा, नेजा, शिकार, निसान, सबीह, निवाजिकै, हजाफा, कबूल, जोर, बदराह जैसे अनेक शब्द इसके प्रमाण हैं। उक्त भाषाओं के साथ-साथ बिहारी की भाषा में 'पूरबी' अर्थात् अवधी भाषा तथा बुन्देली भाषा की छाया भी पड़ी। ब्रज और खड़ी बोली को 'पश्चिमी' तथा अवधी को 'पूर्वी' भाषा कहा जाता है। दोनों भाषाओं में व्याकरण सम्बन्धी कुछ विभिन्नताएँ भी द ष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी भाषा की प्रव ति दीर्घान्त है और अवधी भाषा की प्रकृति लध्वन्त। 'बिहारी सतसई' कीन, दीन, लीन आदि प्रयोग तथा लखाइ, समुझाइ, झमुहाइ आदि क्रियावद पूर्वी प्रभाव को परिलक्षित करते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी भाषाओं में संकोच की प्रव ति पाई जाती है, जबकि अवधी में विस्तार की। बिहारी के 'लजियात' आदि शब्द कदाचित् पूर्वी प्रभाव के कारण ही आए हैं। जेहि, केहि, जैसे अवधी भाषा के शब्द भी बिहारी ने स्वीकार किए हैं। 'खण्ड बुन्देले बाल' के अनुसार बिहारी का बाल्यकाल बुन्देलखण्ड में बिता था। क्रियाओं में भी लिंग-वचन-पुरुष का रूप अवधी में परिवर्तित होता है, ब्रजभाषा में नहीं। परन्तु बिहारी ने 'चितगई' और 'लखी' जैसे प्रयोग द्वारा अवधी भाषा की प्रकृति को ही सूचित किया है। 'इहाँ' भी अवधी का रूप है, ब्रजभाषा में ह्यां का व्यवहार होता है। अवधी के अतिरिक्त बुंदेली भाषा के शब्द भी बिहारी ने स्वीकार किए हैं। 'खण्ड बुन्देले बाल' के अनुसार बिहारी का बाल्यकाल बुंदेलखण्ड में बिता था। आचार्य केशव के साथ भी बिहारी का पिता या गुरु का संबंध स्थापित किया जाता है, अतः 'सतसई' में बुन्देली-भाषा का यंत्किचित प्रभाव अकल्पित नहीं कहा जा सकता। बुन्देली का एक विशिष्ट अध्याय 'स्यौं' 'साथ' के अर्थ में बिहारी ने अनेक बार प्रयुक्त किया है –

"चिलक चिकनई चटक स्यौं, लफति सटक लौं आइ।
नारि सलौनी सांवरी, नागिनी लौं डसि जाइ"॥

देखिबी, लखिबी, पाइबी आदि क्रियापद तथा गीधे, बीधे आदि ठेठ बुन्देलखण्डी प्रयोग भी हैं –

"कौन भाँति रहि हैं विरद, अब देखिबी मुरारि।
बीधे मोंसों आइकै, गीधे गीधहिं तारि"॥

इस प्रकार लगता है कि बिहारी ने ब्रजभाषा के भण्डार को संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों के साथ–साथ देसी और विदेशी भाषाओं के शब्दों से भी सम द्ध किया है। पुरानी परम्परा से प्रचलित तथा लोक–प्रसिद्ध ग्राम्य शब्दों को भी लेने से संकोच नहीं किया। इससे ब्रजभाषा की श्री व द्धि ही हुई। बिहारी ने अपने शक–सागर में अवधी, बुन्देली, खड़ी बोली आदि की धाराओं से प्रवाहित होकर आए जिन शब्दों को अपनाया, उसे ब्रजभाषा की मूल-प्रकृति को विकृत नहीं होने दिया। ब्रजभाषा के संस्कार में सहायक रूप होने के कारण ही बिहारी ने यह ऋण स्वीकार किया अपनी पैत क–सम्पत्ति का दिवालिया निकालकर उसने भीख में कुछ नहीं लिया।

पूर्वी प्रभाव ग्रहण करके भी बिहारी ने ब्रजभाषा के विशिष्ट अस्तित्व को सदैव अलुष्ण रखा। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कहना है कि – "उन्होंने पूर्वी अर्थ में किसी पश्चिमी शब्द का व्यवहार नहीं किया"।

शब्दों का रूप भले ही पूर्वी हो गया हो, प्रयोग भी पूर्वी आ गए हों। उदाहरण के लिए उन्होंने 'सुधर' शब्द लिया है, जिसका अर्थ पश्चिम में 'चतुर' और पूर्व में 'सुन्दर' होता है। बिहारी ने सदा पश्चिमी भाषा वाला अर्थ ही लिया है, पूर्वी भाषा का नहीं जैसे –

सब अंग करि राखी सुधर, नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनन्त गति, पुतरी पातुर राइ॥

अतः यह निश्चयात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि बिहारी की ब्रजभाषा उक्त प्रभावों से संयुक्त होकर विकृत और विपन्न नहीं अपितु समृद्ध और सम्पन्न ही हुई। रीतिकाल में बिहारी जैसी आदर्श भाषा लिखने वाला अन्य कोई भी रीति कवि नहीं हुआ है। तभी तो किसी ने लिखा है –

"ब्रजभाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि विशाल।
सबकी भूसन सतसई, रची बिहारी लाल॥"

2. व्यवस्थित भाषा

रीतिकाल में काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी। अवधी भाषा की परम्परा 'पद्मावत' और 'रामचरित मानस' जैसे उत्कृष्ट महाकाव्यों की रचनाओं के होते हुए भी हिन्दी काव्य में आगे की न चल सकी। स्वयं तुलसीदास ने भी 'विनय-पत्रिका' को ब्रजभाषा में ही लिखना पसन्द किया। इसी से ब्रजभाषा की लोकप्रियता और व्यापक प्रभावशाली होने का प्रमाण मिलता है। मध्य प्रदेश की केन्द्रिय भाषा होने के कारण भी इसका प्रचार केवल ब्रजमण्डल तक ही सीमित न था, अपितु बुन्देलखण्ड, राजस्थान और पूर्वी पंजाब तक फैला हुआ था। राजस्थान की 'पिंगल' भाषा प्राचीन भाषा का ही साहित्यिक रूप था। परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी भाषा की व्यवस्था की ओर किसी ने भी विशेष ध्यान न दिया। फलतः ब्रजभाषा का कोई निश्चित और परिनिष्ठत ढांचा तैयार न हो सका। बड़े–बड़े कवियों की भाषा में मिलावट देखी गई। देव और भूषण जैसे महान कवियों ने भी भाषा के तोड़ने-मोड़ने में कोई संकोच नहीं किया। सर्वप्रथम बिहारी ने ही इस महत्वपूर्ण प्रश्न को अपने हाथ में लेकर उसका एक निश्चित समाधान प्रस्तुत किया। बिहारी ने एक शुद्ध और साहित्यिक ब्रजभाषा को अपने काव्य का आधार दिया। डॉ० रामसागर त्रिपाठी के मतानुसार भी बिहारी से पहले किसी कवि की भाषा इतनी परिमार्जित और सुगठित नहीं मिलती "बिहारी" ने भी प्रथम बार भाषा में एकरूपता लाने की चेष्ठा की और इसका प्रभाव परवर्ती काव्यगत पर पड़ा। जिससे बाद के कवि घनानन्द इत्यादि अधिक परिष्कृत भाषा में लिखने में समर्थ हो सके। यही बिहारी की भाषा विषयक सफलता है। "वास्तव में ब्रजभाषा की व्यवस्था का कारण बिहारी के पूर्ववर्ती कवियों की असमर्थता नहीं थी, अपितु व्याकरण के प्रति उपेक्षा और अरुचि थी। एक ही शब्द को एक ही विभक्ति में अनेक रूप से लिख देना उनके लिए साधारण बात थी। अन्त्यानुप्रास के लिए लघु का गुरु या दीर्घ वर्ण का ह्रस्व कर देना उनके बाएं हाथ का काम था। कृदन्त और क्रियापदों का भी मनमाना प्रयोग चलता था। एक–एक कारक के अनेक विकल्प थे, जिन्हें मनमाने ढंग से व्यवहृत किया जाता था। परन्तु बिहारी ने काव्य के क्षेत्र में इस धाँधली और अराजकता को रोकने का साहसिक कार्य किया। 'वह पहले कवि थे, जिन्होंने विभक्ति के परिनिष्ठित रूपों का सतसई में प्रयोग किया।' उदाहरण के लिए अकारांत शब्दों के बहुवचन बनाने के लिए 'न', 'नि' और 'नु' प्रत्यय की विविधता को देखकर बिहारी ने इनमें से केवल एक 'नु' रूप को ही अपना लिया। जैसे पलनु, द गनु, चखनु, मुकतनु आदि का प्रयोग

'बिहारी–सतसई' में सर्वत्र इसका एक–सा मिलता है। इसी प्रकार एक वचन के लिए बिहारी 'ही' विभक्ति को चुन लिया। छंदानुरोध के कारण बिहारी ने अन्तिम शब्द को ही दीर्घ से ह्रस्व या ह्रस्व से दीर्घ करने की स्वतंत्रता का लाभ नहीं उठाया। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि बिहारी की भाषा सर्वथा दोषमुक्त है।

(i) 'स्मर' को 'समर', 'कै कै' के स्थान 'क कै' तथा 'ज्यौं–त्यौं' के लिए जज्यौं–तत्यौं आदि शब्दों के दुष्ट प्रयोग भी बिहारी ने किए हैं।

(ii) इसी प्रकार क्रियापदों में "कियौ, लियौ, दियौ," जैसे रूप लिखकर भी बिहारी ने कभी–कभी 'किय' 'लिय' 'दिय', जैसे अप्रस्तुत रूप भी प्रस्तुत किए हैं। जैसे 'मनु ससि सेखर की अकस किय सेखर सतचंद'।

(iii) ब्रजभाषा में 'चितवना' क्रिया का भूतकालिक रूप 'चितयौ' बनता है, जो ब्रजभाषा की प्रकृत विशेषता के कारण स्त्रीलिंग और पुल्लिंग में एक समान ही रहता है। परन्तु बिहारी ने स्त्रीलिंग के साथ 'चितई' का प्रयोग किया है, जो अवधी भाषा की प्रकृति के अनुकूल तो है, पर ब्रजभाषा के नहीं। ऐसे ही 'लखी' क्रिया–पद का प्रयोग भी चिन्त्य है।

(iv) बिहारी ने कभी–कभी लिंग के विषय में भी गड़बड़ी कर दी है। उदाहरण के लिए 'वायु' शब्द संस्कृत भाषा में पुल्लिंग होता है, पर हिन्दी में उसका व्यवहार स्त्रीलिंग में किया जाता है। बिहारी ने दो प थक स्थानों पर 'वायु' शब्द को भिन्न–भिन्न लिंगों में प्रस्तुत किया है, जो विचित्र लगता है। देखिए –

"चुषतु स्वेद मकरन्द कन, तरु तरुशर विरमाइ।
वायु आवतु दच्छिन देश तैं, थक्यौ बटोही जाइ"॥

इस दोहे में वायु शब्द पुल्लिंग है। परन्तु

"लपटी पुहुष पराग–पट, सनी स्वेद मकरन्द।
आवति नारी नवौद लौं, सुखद वायु गति मंद"॥

इस दोहे में वायु शब्द स्त्रीलिंग है।

इसी प्रकार 'उसास' शब्द (जो श्वास शब्द का विकार है) का प्रयोग भी पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों रूपों में मिलता है। मिठास जैसे प्रचलित स्त्रीलिंग शब्द को भी बिहारी ने पुल्लिंग के समान प्रयुक्त किया है।

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि बिहारी की भाषा में भी कहीं–कहीं त्रुटियाँ अवश्य द ष्टिगोचर होती हैं, तथापि ऐसे स्खलन आटे में नमक के समान ही है। मुख्य रूप से कवि का झुकाव भाषा परिमार्जन की और ही रहा है। 'संक्रीन' शब्द को 'संक्रान्ति' से निकला मानकर बिहारी की भाषा को बदनाम करने का युग बताया गया है, क्योंकि आधुनिक शोधकर्ताओं ने सिद्ध कर दिया है कि संक्रमण से संक्रोन तथा स्वर्ण–जाति (सोन जुही नहीं) से सोनजाय शब्द का सतसई-प्रयोग भाषा विज्ञान के नियमानुकूल ही है। इसी प्रकार समुझाइ, दिखाइ, बसाइ आदि पूर्वकालिक क्रियाओं का रूप ब्रजभाषा में स्वरांत न होकर व्यंजनात (समुझाय, दिखाय, बसाय आदि है) ही प्रचलित है, परन्तु इसे अवधी भाषा का प्रभाव कहा जा सकता है। वैसे प्राचीन प्राकृत और अपभ्रंश काव्य में इकारान्त प्रयोग ही सर्वत्र मिलते हैं। अतः आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'बिहारी' की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है और रूपों का व्यवहार एक निश्चित

प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़–मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। बिहारी की भाषा इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है।

3. समास शक्ति

आचार्य शुक्ल ने सफल मुक्तककार के लिए भाषा की समास–शक्ति को अनिवार्य बताया है और इस तथ्य की भी पुष्टि की है कि यह गुण बिहारी में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। दोहे जैसे छोटे छन्द में बिहारी ने भाव–गम्भीर्य और अर्थ विस्तार को इसी समास शक्ति के बल पर ही समाहित किया है। इस उद्देश्य के लिए बिहारी को संस्कृत भाषा का सहारा लेना पड़ा है। संस्कृत की तत्सम् शब्दावली का जैसा उपयुक्त समस्त प्रयोग बिहारी ने किया है, उसे देखकर तो लगता है कि वे 'संस्कृत–काव्यशास्त्र के ही नहीं, व्याकरण के भी अच्छे विद्वान थे। ब्रजभाषा की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए बिहारी ने छोटे–छोटे समास ही रचे थे, ताकि अर्थ में व्याघात न आने पाए। परन्तु जहाँ बड़े–लम्बे समासों की रचना भी की गई है, वहाँ भी अर्थ की किल्ष्टता नहीं होने पाई। इससे बिहारी की काव्य-कुशलता और भाषा पर असाधारण अधिकार का प्रमाण मिलता है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

(i) **"रनित–भंग–घंटावली, भरति दान–मधुनीर।**
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर–कुंज समीर"॥

(iii) **चौका चकमनि–चौंधमैं परति चौंधि सी डीठि**

इन दोहों में लघु–समास–रचना का सौंदर्य है। निम्न पंक्तियों में समास–रचना पर्याप्त विस्त त है –

(i) **"समरस–समर–संकोच बस–बिबस न ठिक ठहराइ।**
फिरि–फिरि उझकति, फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकती आइ"॥

और इसी प्रकार के दो और समस्त–पद देखिए, जो दोहे की पूरी पंक्ति तक फैले हुए हैं –

(ii) **"विकसित–नव-मल्ली–कुसुम–निकसित–परिमल पाइ।**
परसि पजारति विरहि–हिय, वरसि रहे की बाइ"॥

(iii) **"चलित–ललित श्रम–स्वेद–कन कलित अरुण मुखतैं न।**
बन–विहार–थाकी–तरुनि–खरे थकाए नैन"॥

उक्त समस्त-वाक्य-रचनाओं का आयाम देखकर दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। साधारणतया लम्बे समास वाली वाक्य–रचना को काव्य-रचना में एक दोष माना जाता है। विशेष रूप से ब्रजभाषा तो समास-बहुला भी नहीं है। उसमें लम्बे–लम्बे समास जंचते भी नहीं। यह तो बिहारी का काव्य– कौशल है कि उसने दोष को भी गुण बना दिया है। लम्बे–लम्बे समासों की रचना करके भी अर्थ-सौन्दर्य और भाव-गाम्भीर्य में तनिक भी कमी नहीं आने दी। कला की द ष्टि से यह बहुत बड़ी उपलब्धि हैं। समास के अतिरिक्त वाक्य-रचना में अन्वय-दोष की भी सदा संभावना बनी रहती हैं, जिसके कारण अर्थ–बोध में बाधा उत्पन्न हो जाती है। बिहारी के कुछ दोहों में निःसंदेह कर्ता और क्रिया का अन्तर कही–कहीं बहुत बढ़ गया है, जिसके कारण अन्वय लगाने

में सचमुच कठिनाई होती है। परन्तु यह भी बिहारी की काव्य–कला का अद्‌भुत का कारण चमत्कार ही है कि अन्वय की कठिनाई आवार्थ की अभिव्यक्ति में क्लिष्टता नहीं बनती। दोहे का अर्थ सरलता से समझ में आ जाता है। अतः ऐसी अवस्था में बिहारी पर 'अन्वय दोष' का आरोप कुछ अर्थ नहीं रखता। निम्नलिखित दोहे इस बात को स्पष्ट कर देंगे–

"आज कछु औरे भए, छए नए ठिक ठैन।
चित के हित के चुगल ए नित के होहिं न नैन"॥

इस दोहे में 'कजरारे' विशेषण 'नैन' से हटकर कुछ अन्तर पर अवस्थित है। अतः व्याकरण की द ष्टि से ऐसा अनुचित होते हुए भी अर्थ-व्यंजना की महत्ता के कारण 'अन्वय दोष' की आपत्ति उपेक्षणीय है। अस्तु,

भाषा की 'समास–शक्ति' के प्रसंग में बिहारी को शिल्प–निपुणता तो सिद्ध है ही, उसके साथ 'कल्पना की समाहार-शक्ति भी सम्बद्ध हैं, जिसके अनुसार बिहारी नपे–तुले शब्दों में बहुत-कुछ कह डाला है। सागर के गागर में बन्द करके रख दिया है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ठीक ही लिखा है- "बिहारी ने अपनी समास–पद्धति के अनुकूल अपनी भाषा भी बहुत चुस्त रखी है। थोड़े में अधिक कहने की जैसी शक्ति इस प्रकार के मुक्तकार में होनी चाहिए, वह बिहारी में भरपूर है। इतनी ठोस या प्रौढ भाषा लिखने वाला हिन्दी में दूसरा कवि नहीं हुआ। निश्चय ही बिहारी की यह समास-शक्ति हिन्दी साहित्य में उनकी अपनी मौलिक विशेषता है, जिसके बल पर वह हिन्दी के श्रेष्ठ मुक्तकार माने जाते हैं।

उदाहरण के लिए निम्नलिखित दोहे बिहारी की भाषा-सम्बन्धी समास-शक्ति और कल्पना की समाहार-शक्ति का समन्वित प्रमाण है –

(i) **"मैं मिसहा सोयौ समुझि मुंह चूम्यौ ढिंग जाइ।**
हस्यौ, खिसानो गल गह्यौ, रही गरै लिपटाइ"॥

(ii) **"कहत, नटत, रीझत, खिझत, खिलत, मिलत, लजियात।**
भरै भौन मैं करत हैं, नैनन ही सौं बात"॥

प्रथम दोहे में एक पूरी प्रेम कहानी का विस्तार समाया हुआ है। और एक–एक शब्द कहानी के पूरे द श्य को अनाव त करता हुआ पाठक के सामने चल– चित्र का गतिशील अंग बन गया है। दूसरे दोहे में भी नायिका और नायक की मौन भाषा में मान, मनुहार और प्यार की तकरार का रंगमंचीय नाटक ही प्रस्तुत कर दिया गया है। यह सब–कुछ बिहारी ने गिने–चुने शब्दों के जादू से ही कर दिखाया है और ऐसा करने में उसकी एकमात्र सहायक समर्थ भाषा है, जिसमें चुस्ती, कसावट तथा समास–शक्ति का चमत्कारी प्रभाव विद्यमान है। जिस भाषा में न तो न्यूनपदत्व की शिकायत है और न अधिकपदत्व का आरोप। ससीम में असीम की झलक दिखलाने की विचित्र शक्ति बिहारी की भाषा में ही है।

4. अभिव्यंजना

'बिहारी–सतसई' मूलतः ध्वनिकाव्य है। अतः बिहारी की भाषा में व्यंजकता का प्रभावशाली गुण अनिवार्य रूप से मिलता है।

शब्द तीन प्रकार के होते हैं– (1) वाचक, (2) लक्षक, (3) व्यंजक बिहारी ने व्यंजक शब्दों की सहायता से ही श ंगार–रस के उत्कृष्ट काव्य का उदाहरण प्रस्तुत किया है। भाषा की अभिव्यंजकता

के कारण ही 'बिहारी–सतसई' के अनेक टीकाकारों तथा व्याख्याकारों ने एक–एक दोहे के अनेक अर्थ निकाले हैं। पन्द्रह–बीस अलंकार केवल एक दोहे में दिखला दिए हैं। वस्तुतः वस्तु, रस और अलंकार तीनों प्रकार की ध्वनियों की अद्‌भुत शक्ति के कारण ही बिहारी का काव्य अमर हो सका। वस्तुतः भावाभिव्यक्ति में भाषा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। भाव का प्रभाव नष्ट हो जाता है, यदि उसकी वाहिका भाषा कमज़ोर हो। बिहारी का भाव–जगत जितना सम्पन्न है, उसका भाषा–जगत भी उतना ही सम द्ध है। व्यंजना शक्ति के अद्‌भुत गुण के द्वारा ही बिहारी ने अपनी सुन्दर कल्पनाओं और व्यापक अनुभूतियों के मोती थोड़े–से–थोड़े शब्दों में पिरोकर रख दिए हैं। कुछ उदाहरण देखिए –

(i) **"घनि यह द्वैज, जहाँ लख्यौ, तज्यौ द गनु दुख–देदु।**
तुम भागनु पूरब उयौ अहो! अपूरब चंदु"॥

इसमें केवल 'अपूर्व' शब्द कहकर बिहारी के अनेक व्यंग्य अर्थ प्रकट कर दिए हैं कि

(ii) द्वितिया तिथि को नायक का मुख रूपी पूर्ण चन्द्रमा उदय हो रहा है।

(iii) चन्द्रमा साधारणतया पश्चिम दिशा से उदय होता है, पर नायक का घर पूर्व दिशा में होने से वह चन्द्रमा पूर्व से निकला है।

(iv) सामान्यतः चन्द्रमा वियोगिनी को कष्टकर होता है, पर यह अपूर्व मुखचन्द्र तो संतापहारी है। ऐसे असंख्य दोहे में से उठाकर उद्‌ध त किए जा सकते हैं, जिनमें भाषा की अभिव्यंजना–शक्ति से बिहारी ने छोटे से दोहे में भावों का अपार पारावार भरकर रख दिया है। एक और दोहा देखिए –

(v) **नैक हंसौहों बानि तजि, लख्यौ परत मुँह नीठि।**
चौका–चमकनि–चौंध मैं, परति चौंधि सी डीठि"॥

इसमें सखी का व्यंग्यार्थ नायक के प्रति तो यह है कि नायिका का तो मुस्कराने का स्वभाव ही है, तुम पर स्त्री–विहार के कारण संकोच को दूर कर लो, उधर नायिका को समझाती है कि नायक के नेत्र किसी अपराध के कारण संकुचित या लज्जित नहीं हैं, वे तो तुम्हारी हंसी की चमचमाहट के कारण चुँधिया रहे हैं। इस प्रकार दोनों को मान और संकोच छोड़कर मधुर मिलन के लिए उत्साहित करने की व्यंजना इस दोहे में की गई है। ऐसी चुस्त काव्य–रचना व्यंजक शब्द योजना व्यवस्थित भाषा का संयुक्त और समन्वित रूप 'सतसई' के किसी भी दोहे को उठाकर देखा जा सकता है। ध्वनि–काव्य की रचना में कवि की शब्द का चयन बड़ी सतर्कता के साथ करना पड़ता है। बिहारी ने मूलभाव को अभिव्यक्त करने वाले ऐसे उपयुक्त शब्दों को दोहे के छोटे से चौखटे में जड़ दिया है। जो अपनी व्यंजक–शक्ति से मुक्तक के सम्पूर्ण प्रसंग को उद्‌घाटित कर देते हैं। उदाहरणार्थ, बिहारी की नायिका के मन में नायक का सपत्नी की पारी में परनारी–विहार सुनकर क्या प्रतिक्रिया हुई, उसको कवि ने केवल रस, अनरस, रिस, रली और रीझ और खीज जैसे अकेले व्यंजक शब्दों की योजना से ही साकार बनाकर रख दिया है। किसी दूसरे स्थान पर नायक को रतिसुख की प्रेरणा देते हुए सखी ने यमुना किनारे मालती कुंज में एक–एक शब्द से जो ध्वनि अर्थ की 3 व्यंजना की है, वह बड़ी ही मार्मिक और कला–पक्ष की द ष्टि से आश्चर्यजनक है। कहीं बिहारी ने श्लेष अलंकार की सहायता ली है और गोरस बेचने वाली नायिका की व्यंजनापूर्ण भाषा द्वारा गोरस चाहने वाले नायक को मधुर निमंत्रण भी दिला दिया है। इसी प्रकार भाषा की व्यंजकता उस समय तो सचमुच ह्रदय ग्राही हो जाती है।

जब कवि अपनी अनुपम सुन्दरी नायिका के चित्र बनाने वाले विश्व के गर्वीले चित्रकारों की असफलता का वर्णन मिलता है। बिहारी ने केवल चित्रकारों की असफलता की सूचना 'कूर' शब्द से दी है, परन्तु सुझावपूर्ण भाषा की व्यंजक शक्ति दर्शनीय है, जल पं० पद्मसिंह शर्मा तथा अन्य व्याख्याकारों ने 'चित्र क्यों न बन सका' संबंधी अनेक कारणों को खोजने में कमाल कर दिया है। ऐसी प्रभावशाली और चुटीली भाषा लिखने वाला कवि हिन्दी में कदाचित् ही मिले, जिसके एक–एक शब्द में व्यंग्यार्थ की बहुमुखी झांकी और भाषा की समास–शक्ति विद्यमान हो। तभी तो यह प्रसिद्ध दोहा बिहारी की भाषा–शक्ति का जयघोष करता है–

"सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक तीर।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर"॥

5. माधुर्य गुण

पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा में "रमणीयार्थ के प्रतिपादक शब्द" को महत्व दिया है। अर्थ की रमणीयता में भाषा विशेष सहायक होती हैं। बिहारी की भाषा शब्द–सौन्दर्य और अर्थ–सौन्दर्य का अद्भुत सम्मिश्रण है। नायिका की वयः संधि के समान शब्द और अर्थ भी परस्पर धुल–मिल गए हैं। धूप–छाँह अथवा ताफ्ता रंग के कपड़े के समान दोनों में व्यवधान मिट–सा गया है। यही शब्द और अर्थ की एकता बिहारी की महान् सफलता है।

'बिहारी–सतसई' की भाषा माधुर्य–गुण–सम्पन्न है। गुण तीन प्रकार के माने जाते हैं– (1) माधुर्य (2) ओज (3) प्रसाद। माधुर्य–गुण में कोमलकांत पदावली रहती है, जिससे हृदय द्रवित हो उठता है, रस में भीग जाता है। श्रंगार, करुण, शांत रस आदि में माधुर्य गुण प्रधान रहता है। ओजस्वी शब्दावली द्वारा उतेजित भावनाओं की अभिव्यक्ति ओजगुण द्वारा होती है। यह गुण वीर, रौद्र, भयानक आदि कठोर रसों में मुख्य रूप से रहता है। प्रसाद गुण में अवस्थानुसार दोनों गुणों का समावेश सम्भव है। परन्तु इसकी प्रधान विशेष शीघ्र अर्थ–बोध है। सूखी लकड़ी में जैसे आग बहुत फैलकर जल उठती है, उसी प्रकार जिस रचना को पढ़ते ही सारा भाव तुरन्त स्पष्ट हो जाए, वह प्रसाद–गुण वाली रचना मानी जाती है।

बिहारी–सतसई में माधुर्य तथा प्रसाद गुणों का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में द ष्टिगोचर होता है। अलंकारों के समान गुण काव्य के शरीर को सजाने वाले धर्म में नहीं हैं–अर्थात् गुणों का संबंध केवल शब्द–श्रंगार नहीं है। वे काव्य की आत्मा रस के उपकारक धर्म माने गए हैं, इस कारण अलंकारों की अपेक्षा गुणों का महत्व अधिक है। माधुर्य गुण उपयुक्त शब्द–योजना द्वारा उपयुक्त काव्य के रसोद्रेक में सहायता पहुँचाने का काम करते हैं। 'बिहारी–सतसई' श्रंगार रस प्रधान रचना है। अतः इसमें माधुर्य और प्रसाद गुण की प्रधानता है। विद्यापति की कीमत–कांत पदावली तथा भावार्थ को एकदम अभिव्यक्ति कर देने की विशेषता 'सतसई' में सर्वत्र देखने को मिलती है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं–"भाषा की रमणीयता का विन्यास, शब्दों का चयन, अनुप्रास का विधान, 'बिहारी सतसई' की विशेषता है।" कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं –

(i) **"रनित भंग घंटावली, झरति दान मद नीर।**
मंद मंद आवंत चलयौ, कुँजर कुँज समीर"॥

इस दोहे में गले में घंटा बाँधे, मस्ताना चाल चलते हुए हाथी और उसके समान रस–भीनी, मंद-मंद बहने वाली शीतल वायु की मधुर झंकार कितनी साफ सुनाई देती है। माधुर्य गुण की कर्ण मधुर शब्दावली में काजल रहित परन्तु सुन्दर नयनों की झाँकी भी देखिए –

(ii) **"रस सिंगार मंजन किए, कंजनु, मंजनु दैन।**
अँजनु रँजन हुँ बिना, कंजन गँजनु नैन"।।

मधुर वर्णो की झंकृति सौम्य, सुन्दर नयनों के समान ही सहृदय–हृदय को बरबस अपनी और खींच लेती है। बिहारी की भाषा सर्वत्र भावानुगामिनी बनकर काव्यार्थ की साधिका है। इसका एक प्रमाण देखिए –

"कँज नयनि मँजनु किए, बैठ ब्यौरति बार।
कच अँगुरिनी बिच दीठि करि, चितवति नँदकुमार"।।

शब्दचित्र और भावचित्र दोनों की आश्चर्यजनक संधि इस दोहे की असाधारण विशेषता है। भाषा की इस जादूभरी शक्ति को देखकर ही मिश्र बंधुओं ने लिखा था –

"बिहारी की भाषा बड़ी मनोहर है। इनके सभी शब्दों में झलझलाहट, जगमगाहट तथा चमकीलापन मिलता है। ऐसे शब्दों का चयन करते हैं कि दोहा चमक–सा उठता है। भाषा भावों के अनुसार ही परिवर्तित होती है।" इस प्रसंग में झीने वस्त्र में से झिलमिलाता और जगमगाता हुआ नायिका का सर्वाग–सुन्दर शरीर यौवन के उद्दीप्त रंगों में उभरता हुआ भी देख लीजिए –

"झीवैं पट मैं झुलमुली, झलकति ओर अपार।
सुरतरू की मनु सिंधु मैं, लसति सपल्लव डार"।।

कितना रमणीय अर्थ है और कितनी रमणीय शब्दावली। 'सपल्लव डार' से नायिका के चरण, हाथ, होंठ आदि अन्य कोमल और ललित अंगों का भी समावेश संकेत द्वारा दिखा दिया है।

पोप ने लिखा है –

The sound must seem an echo to the sense.

बिहारी ने उक्त उक्ति को चरितार्थ कर लिया है। अलंकारों के अनावश्यक आधात से भाषा का परिधान सजाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ी और सीधी– सादी किन्तु समर्थ और सशक्त भाषा के माध्यम से भाव प्रभावपूर्ण बन गया है। निम्नलिखित दोहा इसका प्रमाण है –

"कौन सुनै का सौं कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदावदी जिय लेत हैं, ए बदरा बदराह"॥

इसमें अलंकार स्वतः और अनायास आकर माधुर्य–गुण तथा विरह–भावना का अभिन्न अंग बन गया है। सरल और सार्थक शब्द–योजना ने वेदना की अभिव्यक्ति की अत्यधिक प्रेषणीय बना दिया है। आडम्बर विहिन भावोद्बोधिनी, कल्पना प्रवण, ऐसी रसशक्ति, सरल और सशक्त भाषा से 'बिहारी–सतसई' सहृदय जनों का कंठहार बन गई हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा ठीक ही कहते हैं –

"बिहारी–सतसई' की भाषा सर्वश्रेष्ठ परम रसीली है। उसे छोड़कर जो दूसरी भाषा पढ़ते हैं, उनसे सहृदयता मचल–मचलकर कहती है –

"जीभ निबौरी क्यौं लगै, बौरि चाखि अंगूर"।

6. चित्र–योजना

बिहारी की भाषा चित्रमयी है। जो काम चित्रकार अपनी तूलिका से लेता है, वही काम बिहारी ने अपनी लेखनी से लिया है। चित्रकार तो स्थिर चित्र ही चित्रित करता है, पर बिहारी के विचित्र चित्र तो चलचित्र के समान चंचल और गतिशील भी हैं। शब्दों के माध्यम से किसी अमूर्तभाव को मूर्त बनाकर प्रस्तुत कर देने में ही कवि की सफलता का रहस्य छिपा है। बिहारी ने न जाने कितने ही आकर्षण चित्रों, मुद्राओं, हाव–भावों, अनुभावों आदि को आकार ही नहीं, प्राणदान भी दिया है। बिहारी का 'रूप–वर्णन' तथा 'अनुभाव–चित्रण' इस द ष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। 'उपयुक्त शब्द चयन' इस चित्रकला का मूलाधार होता है। बिहारी ने शब्द–प्रयोग में बड़ी सावधानी और सूझ-बूझ से काम लिया है। दोहे की सीमा का ध्यान रखते हुए बिहारी ने ऐसे संक्षिप्त और सार्थक शब्द चुने हैं, जिन्होंने दीप–शिखा के समान अर्थ के प्रकाश से सारे भाव–भवन को आलोकित कर दिया है। उदाहरण के लिए बिहारी द्वारा प्रयुक्त विशेषणों को ही लीजिए, जो संक्षिप्त किन्तु सटीक हैं। आँखों के लिए कहीं तो 'अनियारे–नयन' लिखा है और कहीं पर 'अलसौहैं नैन' कहीं 'ललचौ ही चखनि' का प्रयोग है, तो कुछ दोहों में 'निगोड़े नैन', 'अहेरी नैन', और 'लड़ैते नैन' के विशेषण देकर बिहारी ने स्थिति और प्रसंग के अनुसार नेत्रों की विविध विशेषताओं और प्रभावों का यथार्थ शब्द–चित्र उतार दिया है। प्रत्येक विशेषण अपना विशिष्ट अर्थ–सौन्दर्य रखता है, जिसे दूसरा पर्यायवाची शब्द व्यक्त नहीं कर सकता। शब्दों के साथ–साथ। वर्ण–योजना भी भाषा को चित्रात्मक बनाने में सहायक सिद्ध हुई है।

(क) रूप–चित्र : सर्वप्रथम हाव–भाव तथा अनुभावों के रूप में कुछ मोहक रेखाचित्रों का उदाहरण लीजिए –

"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौहनि हँसै, देन कहै, नटि जाय"॥

इस दोहे की दूसरी पंक्ति में नायिका (राधा) के चार द श्यों के साथ चलचित्र की गति की तरह क्रमशः उभारा गया है। नायक के मुरली माँगने पर सौगन्ध उठाना, फिर नायक के निराश होकर लौटने की स्थिति में भौंहों में मुस्कराना (इतने में नायक के रूक जाने पुनः अनुरोध करने सम्बन्धी अवर्णित, परन्तु कल्पना द्वारा संभव रेखाचित्रों के पश्चात्), मुरली देने को सहमति प्रकट करना तथा फिर अकस्मात् मुकर जाने की मुद्राएँ जहाँ मनमोहक हैं, वहाँ इन सब खण्ड चित्रों का एक पंक्ति में समा जाना भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। ऐसे सुन्दर चित्रात्मक वर्णन 'बिहारी–सतसई' में यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं, प्रत्येक का उदाहरण देना यहाँ सम्भव नहीं है। केवल कुछ नमूने प्रस्तुत हैं –

(i) **"नासा मोरि नचाय द ग, करी कका की सौंह।**
काँटे सी कसकति हिए, बहै कंटीली भौंह"॥

इसी प्रसंग में संयोग श ंगार के भी कुछ दोहे बड़े रसपूर्ण बन पड़े हैं। स्नान करती हुई एक नवयुवती की चुपके–से झलक लीजिए –

(iii) **"सुनि पग धुनि चितई इतै, न्हाति दियै ही पीठि।**
चकी, झुकि, सकुचि डरी, हँसी, लजी सी–दीठि"॥

कितना नयनाभिराम चलचित्र है। नायक को अकस्मात् आया देख, नायिका ने पीठ दिए

ही मुड़कर ज्यों ही देखा, तो आश्चर्य में डूब गई, फिर झूकी, ताकि उसके उरोज दिखाई न दे जाएं, फिर (गीले–वस्त्रों को यथास्थान लपेटकर) सिमट गई, साथ ही कुछ भयभीत भी हुई कि कहीं और तो किसी ने उसे नायक की उपस्थिति में नहाते हुए नहीं देख लिया। अन्त में नायक को अपनी ओर ललचाई द ष्टि देखता हुआ पाकर लजा भी गई और उसी लजीली द ष्टि में मुस्कराकर अपने प्रेम–प्रदर्शन का भी सांकेतिक हाव दिखला गई। इस दोहे में सारी द श्यावली केवल एक ही पंक्ति में प्रकट कर दी गई है। सद्यःस्नाता, जुड़े बाँधने वाली आदि अनेक नायिकाओं के रूप–चित्र भी बिहारी की भाषा–शक्ति के अकाट्य–प्रमाण हैं। बिहारी के चित्रों में केवल रूप ही नहीं, शब्द, रस, गंध, स्पर्श के समन्वित उदाहरण भी प्रकृति वर्णन में मिल जाते हैं। जहाँ कुंज का समीर घंटा बाँधे हाथी की तरह चलता हुआ और रसालवन में रस, सुगंध से मतवाले भँवरों का झूमता हुआ झुण्ड चित्रमयी भाषा में अंकित किया गया है।

(ख) वर्ण चित्र : बिहारी की भाषा ने रंगीन चित्रों की भी स ष्टि की है। वर्ण–बोध का प्रथम प्रमाण तो 'बिहारी–सतसई' प्रथम दोहे से ही मिल जाता है, जहाँ राधा के देह की सुनहरी कांति वर्ण–चित्र प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। रंगों के मिश्रण का एक और चित्र लीजिए –

"अधर धरत हरि के परत, ओठ डीठि पर ज्योति।
हरि बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष छवि होत"।।

हरे रंग की बाँसुरी, लाल रंग के होठ, श्याम वर्ण द ष्टि और पीताम्बर के पीले रंग द्वारा मिलकर इन्द्रधनुषी छटा का अवलोकन काव्य को टैक्नीकलर रूप प्रदान करता है। परन्तु इस स्थुल वर्णन की अपेक्षा वर्णो की सूक्ष्म संधि, जो वयःसंधि में ताफ्ता रंग बनकर झलकती है अथवा यौवन के सुनहरी रंग के प्रभाव से नायिका की लाल रंग वाली चोली की तरह दोरंगी दिखाई देती है, भी उल्लेखनीय है। क्रमशः अनुरूप और विरोधी वर्णयोजना के दो सजीव चित्र द्रष्टव्य हैं –

(i) **"सहज सेत पच तोरिया, पहिरे अति छवि होति।**
जल चादर के दीपलौं, जगमगाति तन जोति"।।

(ii) **छायो छबीलो मुख लसै, नीले आचर चीर।**
मनो कलानिधि झलमले, कालिंदी के नीर"।।

इस प्रकार बिहारी ने प्राजल भाषा के आधार पर वस्तु और भाव दोनों के सादे तथा रंगीन दोनों प्रकार के चलचित्रों का निर्माण किया है। अपनी उर्वरा कल्पना शक्ति का सहारा लेकर भाषा के चुने हुए वर्णो की सहायता से बिहारी ने अपनी लेखनी को चित्रकार का जो कठिन काम सौंपा था, उसे उसने बड़ी निपुणता और सफलता के साथ पूर्ण किया है। इसी अद्‌भुत विशेषता को ध्यान में रखकर ही पं० विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है कि बिहारी की "भाषा इतनी गठी हुई, समर्थ और सशक्त है कि केवल वही उनकी साहित्यिक योग्यता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।"

7. लाक्षणिकता

लाक्षणिकता भाषा का श्रेष्ठ गुण माना जाता है। कवि अपने वक्तव्य को सीधे रूप में न कहकर अर्थात् उसे वाच्य न बनाकर चमत्कारक शैली से, कुछ भिन्न व्यक्त करता है। साधारण शब्दार्थ

से भिन्न नवीन अर्थ की अभिव्यक्ति करने की शैली को लाक्षणिक शैली कहते हैं। मुहावरे और लोकोक्तियों का समावेश भी लाक्षणिक शब्द में हो जाता है, क्योंकि काव्यशास्त्र की परिभाषा में इन्हें रुढ–लाक्षण्य का उदाहरण ही माना जाता है।

बिहारी की वक्र कथनशैली और लाक्षणिक शब्दावली प्रसिद्ध है। बात को प्रभावशाली बनाने तथा उसे कलात्मक के रंग में रंगने के लिए बिहारी ने इस शैली को अपनाया है। एक उदाहरण लीजिए –

"द ग उरझत, टूटत कुटुम, जुरति चतुर चित प्रीति।
परत्ति गांठि दुरजन हियै, दई नई यह रीति"॥

इसमें आँख के उलझने, कुटुम्ब के टूटने, प्रीति के जुड़ने तथा हृदय में गांठ पड़ने की चर्चा की गई है। वास्तव में आँख, कुटुम्ब आदि पदार्थ नुक्त चेष्टाएँ स्वयं करने में असमर्थ है। उलझना धागे का गुण हो सकता है, आँख का नहीं। इसी प्रकार कुटुम्ब टूटने का भाव भी घर की दीवारों का गिरना नहीं है, अपितु प्रेमियों का घर छोड़कर भाग जाना है। गाँठ पड़ने की क्रिया भी मन जैसे अमूर्त (या भौतिक रूप में होने पर भी) होने से संभव नहीं। इन शब्दों का साधारण वाच्य अर्थ ग हीत नहीं होता। अतः इनसे निकलने वाले नवीन भावार्थ को ही लक्ष्यार्थ कहते हैं, जो काव्य में चमत्कार भर देता है।

इसी प्रकार बिहारी ने अनेक स्थानों पर प्रायः लाक्षणिक शब्दों का ही प्रयोग किया है –

(क) छाति फाटी जाति सुनि टारी और उसास।

(ख) जा तन की छाँई परै, श्याम हरित दुति होइ॥

(ग) सूधे पांय न परत है, सोभा ही कैभार।

(घ) लगा लगी लोयन करैं, नाहक मन बाँध जाय॥

(ड़) कहा लड़ैते द ग करै, परे लाल बेहाल॥

(च) आपु दियौ मनु फेरि लै, पलटैं दीनि पीठि।
कौन चाल यह रावरी, लाल लुकावत डीठि॥

(छ) रहै गुनी ह्वै गर–परयौ, शल न मुकता हारु।

(ज) नैननु कै मग जलु बहै, हियौ पसीजि पसीजि॥

बिहारी ने भाषा को चुस्त तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए मुहावरों का बड़ा ही सुन्दर उपयोग किया है। मुहावरे और लोकोक्तियाँ भाषा की प्रौढ़ता और प्राजंलता को उसी प्रकार बढ़ा देती है।।" 'बिहारी–सतसई' में मुहावरेदार भाषा तथा लाक्षणिक प्रयोगों के अन्य उदाहरण प्रस्तुत हैं –

"कै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाई।
बलि बावन की व्यौंतु सुनि बलि को तुम्हैं पत्याह॥

हरि की जतु तुमसो यहै, बिनती बार हजार।
जिहि तिहि भाँति डयौ रहौं, परयौं रहो दरबार॥

मूंह चड़ाए ऊँ रहै, परयौ पीठ कचभाऊ।
रहै गरैं परि राखिवौ, तऊ हियै पर हारु"॥

उक्त दोहे के चारों चरणों में ही मुहावरे की बहार दर्शनीय है। फिर भी भावार्थ में कृत्रिमता

नहीं आने पाई। इसी विशेषता को लक्ष्य करके बाबू राधाकृष्ण दास ने कहा था, "मुहावरे और उत्प्रेक्षा के तो बिहारीलाल बादशाह थे। हिन्दी में ऐसी बोलचाल और ऐसे गठे हुए वाक्य किसी की कविता में नहीं पाते।"

कुछ सुन्दर लोकोक्तियों का प्रयोग भी कवि ने किया, देखिए –

"तो रस राच्यौ आन बस, कहौ कुटिल मति कुर।
जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरि चाखि अंगूर।।

बहकि न इहि बहिनाचुली, जब तब बीर बिनास।
बचै न बड़ी सबील हूँ, चील घोंसला मांसु।।

समै–पलट पलटै प्रकृति, को न तजै निजचाल।
भौ अकरुन करुनाकरौ, इहिं कपूर कलिकाल।।

8. दोहा-छन्द

बिहारी ने अपने काव्य में अभिव्यक्ति का माध्यम दोहा को बनाया है। कुछ स्थानों पर 'सोरठा' भी मिलता है। जो दोहे का प्रतिरूप माना जाता है–'दोहा उलटे सोरठा'। चौबीस मात्रा का यह छोटा–सा छन्द अपभ्रंश काव्य का अत्यन्त प्रिय और प्रतिनिधि छन्द माना है। 'गाथा' या 'गाहा' कहने से ही जिस प्रकार 'प्राकृत' का बोध हो जाता है, उसी प्रकार 'दूहा' कहने से अपभ्रंश रचना का ज्ञान होता है।

दोहे में 'गागर–में–सागर' भरने की अभूतपूर्व क्षमता पाई जाती है। रहीम ने इसकी तुलना नट के क्रीड़ा–लाघव से दी है –

"दीरध दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यौं रहीम नट कुण्डली–सिमिर कूदि चलि जाहि"।।

बिहारी दोहा–रचना के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य में अद्वितीय कवि माने जाते हैं। भाषा और भाव दोनों द ष्टि से बिहारी ने अपने दोहों को काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण बना दिया है। छोटे–से आकार में विविध हाव–भावों, अनुभावों तथा लम्बे–लम्बे प्रसंगों को यूँ समेट कर रख दिया है, जैसे पं० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में शिवजी ने गंगा के अनन्त प्रवाह को अपनी जटा में बाँध रखा था।

दोहे की रचना यद्यपि अनपढ़ संत–कवियों ने भी की है, जिससे लगता है, इस छन्द का शिल्प बड़ा ही सरल होगा परन्तु द्विकल, त्रिकल आदि की सूक्ष्मता को देखते हुए शुद्ध रूप से दोहा छन्द की कल्पना सन्त–कवियों में नहीं मिलती। पिंगल के नियमानुसार दोहे को प्राकृत रूप में रखकर बिहारी ने अभूतपूर्व सफलता पाई है। सफल दोहे की रचना में पूर्ण सतर्कता और काव्य–प्रतिभा की जो अपेक्षा रहती है, बिहारी में वह पूर्ण रूप से विद्यमान थी। वियोगी हरि के शब्दों में 'इनका एक–एक दोहा टकसाली और अनमोल रत्न है। ये रत्न क्षीर–सागर के रत्नों से कहीं अधिक चोखे और अनोखे हैं।

इस छोटे आकार वाले छन्द में प्रायः न्यून–पदत्व, कथित–पदत्व, तथा अधिक–पदत्व जैसे काव्य दोषों की सम्भावना बनी रहती है। भाव की अपूर्णता का भय भी रहता है, परन्तु 'बिहारी–सतसई' को उठाकर देखने से एक भी दोहा ऐसा नहीं मिलता, जिससे न्यून–पदत्व का दोष पाया जाता

हो, कथित पदत्व तथा अधिक पदत्व तथा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अमरुक कवि के शार्दूल छन्द जैसे विशाल और व्यापक क्षेत्र में सामने वाले भाव–विस्तार को बिहारी ने दोहे जैसे संक्षिप्त छन्द में जिस कुशलता और प्रवीणता से भर दिया है, उसे देखकर सचमुच आश्चर्य होता है। 'शून्य दास ग ह विलोक्य' के प्रसिद्ध श्लोक पर आधारित यह दोहा इसका प्रमाण है –

"मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुंह चूम्यौ ढिंग जाइ।
हंस्यौ खिसानी गल गह्यौ, रही गरै लपटाइ"।।

'इम्पीरियल गजेटियर' में बिहारी ने दोहों की इसी अद्‌भुत विशेषता की शंका इन शब्दों में की गई है –

"Never the less each is a compete picture in itself, a minature description of mood or a phase of Nature, in which every touch of the brush is exactly the needed one and not one is super fluous."

इसमें संदेह नहीं कि बिहारी का प्रत्येक दोहा मुक्तक का सम्पूर्ण वैभव सम्पन्न स्वतः पर्यवसित श्रेष्ठ उदाहरण है। भाषा की समासशक्ति, कल्पना की समाहार शक्ति, कसावट और मुहावरों से सज्जित चुस्त काव्य रचना, चित्र योजना, भावाभिव्यंजना तथा अप्रस्तुत विधान सभी का सौन्दर्य सिमिट कर बिहारी के जैसे दोहे लध्वाकार छन्द में आ गया है। जिसके कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को निर्णय देना पड़ा–कि मुक्तक रचना में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा हुआ है।"

अध्याय - 4
बिहारी की अलंकार योजना

द ष्टिकोण

बिहारी की भाषा अलंकृत है, यद्यपि वह अलंकारवादी कवि नहीं हैं। बिहारी रसवादी अथवा वस्तुतः ध्वनिवादी कवि ही हैं। ध्वनि–सम्प्रदाय से पूर्व संस्कृत के काव्य–शास्त्र में अलंकार सम्प्रदाय का बहुत प्रचार था। रस–सम्प्रदाय के पश्चात् प्रभाव की द ष्टि से अलंकार सम्प्रदाय का ही स्थान था। भामहं, दण्डी और रुद्रह इस सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य थे। उस समय काव्य की आत्मा रस को न मानकर अलंकार को ही मान लिया गया था। अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य बन गए थे–

"काव्य ग्राह्यमलंकारात्।"
"सौन्दर्य मलंकारः।"

आचार्य अलंकार को सौन्दर्य का साधक अंग न मानकर सौन्दर्य ही मान बैठे थे। यद्यपि आचार्य मम्मट ने रस–सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहीं–कहीं अलंकार–विहीन काव्य की भी सता स्वीकार की थी और पंडित विश्वनाथ ने तो 'रस को ही काव्य की आत्मा' घोषित किया था तथापि जयदेव जैसे आचार्य उनके विचार का उपहास करते हुए अग्नि और ऊष्णता के समान काव्य और अलंकार को अभिन्न मानते थे।

'हिन्दी रीतिशास्त्र के प्रथम प्रतिष्ठित आचार्य केशव पर संस्कृत के इन उत्तरकालीन अलंकारवादियों का ही मुख्यतः प्रभाव पड़ा था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने 'कवि–प्रिया' में कविता–कामिनी की शोभा के लिए अलंकार को अनिवार्य सिद्ध कर दिया। यद्यपि रीतिकालीन आचार्यों ने अपने रीति, ग्रन्थों में केशवदास के अलंकार सम्बन्धी द ष्टिकोण का अनुसरण नहीं किया, परन्तु रीतिकाव्य में अवश्य उसे क्रियान्वित करके दिखा दिया। रीतिकालीन कवियों की रचनाएँ अलंकारों के बोझ से दबी हुई है। 'बिहारी–सतसई' यद्यपि अलंकार–ग्रन्थ अथवा रीति–ग्रन्थ नहीं है, फिर भी 'बिहारी का ऐसा कोई दोहा नहीं जिसमें चमत्कार विद्यमान न हो और ऐसे अलंकार भी बहुत कम मिलेंगे, जिसका उदाहरण 'बिहारी–सतसई' में न मिल जाए। ऐसे आलोचकों और टीकाकारों ने तो 'बिहारी-सतसई' के एक-एक दोहे में अनेकों अलंकार खोज निकाले हैं।

वास्तव में बिहारी की रूचि अनावश्यक अलंकरण की ओर कम पाई जाती है। लक्ष्य-ग्रन्थ होने के कारण 'बिहारी सतसई' में अलंकार संबंधी बिहारी का द ष्टिकोण नायिका के रूप–वर्णन संबंधी दोहों से ही अनुमानित हो सकता है, जिसमें अलंकारों के प्रति बिहारी का अधिक मोह नहीं पाया जाता। वे सहज–सौन्दर्य को ही अधिक महत्व प्रदान करते प्रतीत होते हैं। नायिका से अलंकार न पहनने का अनुरोध करते हुए उसकी सुन्दर देह पर अलंकारों की उपमा बिहारी ने 'दरपन के से मोरचो' से दी है। दूसरे स्थान पर उन्होंने कविता–कामिनी के कोमल शरीर के लिए अलंकारों

का बोझ उठाना असहाय बतलाया है।

इससे स्पष्ट होता है कि बिहारी–सौन्दर्य के प्रसाधन को अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझते। फिर भी उनकी कविता अलंकार विहीन नहीं हैं, अपितु प्रायः प्रत्येक दोहे में कोई–न–कोई अलंकार अवश्य विद्यमान है। इसका कारण केवल इतना है कि वे रसवादी अथवा ध्वनिवादी आचार्यो के समान अलंकार को काव्य की आत्मा न मानकर उसके सौन्दर्य का प्रसाधन अथवा 'शोभातिशायी' उपकरण मानते हैं। अलंकारों का महत्व काव्य के लिए उतना है, जितना शरीर के लिए आभूषणों का। यदि आभूषणों से सारे शरीर को लाद दिया जाए, तो उसका सहज सौन्दर्य भी दिखाई नहीं पड़ेगा। यदि अंग–अंगभूषण पहनाने के लिए बेध दिए जाएं, तो शरीर लहूलुहान हो जायेगा, तब सौन्दर्य कहाँ रहेगा? अतः आभूषण उसी अवस्था में आभूषण कहलाने के अधिकारी हैं, यदि वे शरीर को विभुषित करने में सहायता पहुँचाते हैं, अन्यथा वे भूषण नहीं दूषण कहे जाऐंगे।

बिहारी ने अलंकार अथवा आभूषणों को रूप–सज्जा का साधन ही बनाया है, उसे साध्य नहीं कहा जा सका। उनकी द ष्टि का लक्ष्य नायिका का रूप–लावव्य ही है, उसके पहने हुए भूषण नहीं। बिहारी तो भूषणों को 'पायदान' ही समझते हैं, जिन पर पांव पोंछकर द ष्टि नायिका के शारीरिक सौन्दर्य पर पड़ती है।

निश्चय ही अलंकार काव्य का अंग है, वे स्वयं अंगी नहीं। सौन्दर्य को बढ़ाने वाले प्रसाधन हैं, स्वयं सौन्दर्य नहीं। शरीर के आभूषण हैं, उसकी आत्मा नहीं। जैसे आभूषणों के बिना भी शरीर का सहज सौन्दर्य तो स्थिर रहता ही है, उसी प्रकार अलंकारों के बिना भी काव्य का सौन्दर्य बना रह सकता है यदि शरीर निष्प्राण हो, तो उसे चाहे कितने ही आभूषणों से सजा दिया जाए, उसकी शोभा नहीं रहती, ठीक वैसे ही काव्य की आत्मा (रस) का अभाव है, तो अलंकारों का सारा चमत्कार व्यर्थ सिद्ध होगा। अतः आचार्यो ने रस को काव्य की आत्मा, शब्द अर्थ को उसका शरीर तथा अलंकारों को उसकी शोभा बढ़ाने वाली उपकरण ही माना है। यद्यपि सहज–सौन्दर्य को किसी भूषण की अपेक्षा तो नहीं रहती, पर यदि सुन्दर शरीर पर उपयुक्त भूषण सजा दिया जाएं तो 'सोने पर सुहागे' वाली कहावत के समान उसका सौन्दर्य कुछ अवश्य बढ़ जाता है। अतः अलंकार काव्य के लिए होते हैं, काव्य अलंकारों के लिए नहीं होता। इसके अतिरिक्त, कवि काव्य को सरस ही नहीं, प्रभावशाली भी बनाना चाहता है और उक्ति में चमत्कार तथा प्रभाव लाने के लिए अलंकार विधान अथवा अप्रस्तुत–योजना का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। फिर अलंकार की योजना काव्य के कलापक्ष के ही भीतर आती हैं और कलापक्ष काव्य में अनिवार्य नहीं तो आवश्यक अवश्य है।

बिहारी ने इस विषय में पूरी सावधानी बरती है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में भी बिहारी उन कवियों में से थे, जिन्हें आजकल 'सजग कलाकार' या 'कान्शस आर्टिस्ट' कहते हैं। बिहारी ने अलंकारों का प्रयोग उचित रूप से किया है और रसभंग कहीं नहीं होने दिया। उन्होंने अपनी नायिका के समान कविताकामिनी को भी अलंकारों के बोझ से अनावश्यक रूप में नहीं लादा, उसके सहज–सौन्दर्य की पूर्ण रक्षा करते उसकी सौन्दर्य–व द्धि में सहायक होने की अवस्था में ही अलंकारों का प्रयोग किया है।

अलंकार-प्रधान

अलंकार प्रधानतया दो प्रकार के होते हैं–

(क) शब्दालंकार

(ख) अर्थालंकार

(क) शब्दालंकार : शब्दालंकार में शब्द का सौन्दर्य मुख्य होता है। भाषा चमत्कार पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। कवि विशिष्ट पद–रचना और वर्ण–विन्यास में ही विशेष प्रयत्नशील रहता है जिससे अर्थ गौण और कभी–कभी दब–सा जाता है। शब्दालंकार की योजना में कवि का सतर्क होना अधिक आवश्यक है, अन्यथा शब्दालंकार युक्त होने पर भी अर्थहीन होने के कारण काव्य का मूल्य घट जाता है। कोरी शब्द झंकृति कानों को अधिक संगीत न दे पाए, हृदय को रस में में नहीं डूबो सकती। जिस शब्दालंकार के अर्थ का गौरव बना रहता है, वही शब्दालंकार काव्य की शोभा बढ़ा सकते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों "बिहारी ने अर्थ की रमणीयता का ध्यान बराबर रखा है। इसलिए उनके शब्दालंकार रसोद्रेक के सहायक होकर ही आते हैं। परवर्ती काल के कम कवियों में यह गुण पाया जाता है।" कुछ उदाहरण लीजिए–

अनुप्रास : वर्ण सौम्य को 'अनुप्रास' कहते हैं। वर्ण–सौन्दर्य में ध्वनि–सौन्दर्य भी देखिए –

(i) **"रनित भंग घंटावली, झरति दान मधु नीरू।**
मंद मंद आवतु चल्यौ, कुंजरू–कुंज–समीरू"॥

इस दोहे में मुख्य अलंकार अनुप्रास है। किन्तु शब्द माधुर्य, संगीत लहरी और उपयुक्त पदावली ने मस्त हाथी का ध्वनिचित्र उपस्थित कर दिया है। मंद समीर का अर्थ भी अधिक मूर्त हो गया है। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का अद्‌भुत समन्वय हो गया है –

(ii) **"रस सिंगार–मंजनु किए, कंचन मंजनु दैन।**
अंजनु–रंजन हूँ बिना, खंजनु–गंजनु नैन"॥

विशुद्ध अनुप्रास की द ष्टि से उक्त दोहा भी सुन्दर बन पडा है। नेत्र का वस्तुगत वर्णन सरल और स्पष्ट है। अर्थबोध में कहीं बाधा नहीं पड़ती। पदलालित्य दर्शनीय है।

(iii) शब्द–रमणीयता के साथ–साथ जहाँ अर्थ–रमणीयता का भी संतुलन रहता है, वह काव्य उत्तम कहा जाता है। निम्नलिखित दोहे में बिहारी ने अनुप्रास का विलास दिखाते हुए उदास–नायिका का विरह-विकास भी व्यक्त किया है –

"नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाती आली अनत, आए बनमाली न"॥

इस दोहे में छः बार 'आली' की आव ति होते हुए भी नायिका की निराशा, आशंका, ईर्ष्या, प्रतीक्षा, वेदना आदि कितने ही भावों की अनुभूति कवि ने युगपत् करा दी है। शब्द और अर्थ का यह समन्वय बिहारी की आश्चर्यजनक काव्योपलब्धि है।

वस्तुतः 'बिहारी–सतसई' में अनुप्रास की छटा प्रायः सर्वत्र देखने को मिलती है। कदाचित ही कोई दोहा ऐसा बचा हो, जिसमें बिहारी ने अनुप्रास की थोड़ी बहुत झलक न दिखलाई हो। अनुप्रास के प्रति इतना मोह होते हुए भी अर्थ क्लिष्टता या अर्थ हीनता का दोष कहीं नहीं आने पाया, जिसकी सम्भावना प्रायः और सर्वत्र रहती है।

(iv) अनुप्रास का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है, जिसमें शब्द–सौन्दर्य और अर्थ–सौन्दर्य

का सुन्दर संगम तो हुआ ही है, कवि ने महाप्राण जैसे उपयुक्त वर्णो की आव ति में भी आशातीत सफलता प्राप्त की है और सशक्त तथा उपयुक्त पदावली ने द श्य को नाटकीय ढंग से मूर्तिमान और भासमान बना दिया है–

(v) **"सटपटाति सैं ससिमुखी, मुख घूंघट–यदु ढांकि।**
पावक–सर सी झमकि कै, गति झरोखा झांकि"॥

झरोखा में से क्षणिक झलक दिखाने वाली यह झाँकी कितनी मनोहर है। इसी प्रकार महाप्राण वर्णो की सहायता से गर्म तवे पर पड़ी बूँद का ध्वनिचित्र भी भावचित्र के अन्तर्गत अवलोकन कीजिए–

(vi) **"पलनु प्रगटि बरुनीनि बढि, नहीं कपोल ठहरात।**
अंसुबा परि छतिया छिनकु, घनघनाइ छिपि जाता"॥

यहाँ छकार की आव ति ने अर्थ को ध्वनि दे दी है।

यमक : समान आकार वाले भिन्नार्थक या निरर्थक शब्दों की आव ति को 'यमक' कहते हैं। अनुप्रास की अपेक्षा यमक–अलंकार योजना में बिहारी को कुछ कम सफलता मिली है। अधिकतर केवल शब्दालंकार ही देखने को मिलता है, अर्थ गौण तथा प्रभावहीन हो गया है। जैसे –

(i) **"तो पर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।**
तू मोहन के उरबसी, ह्वै उरबसी समान"॥

इसमें 'उर्वशी' शब्द की व था आव ति के अर्थ–सौन्दर्य कुछ भी नहीं। अलंकार–शास्त्र की द ष्टि से भी तीन पदों में 'यमक' की योजना है। पर दूसरे चरण में उसका अभाव दोषपूर्ण है। इसी प्रकार –

(ii) **"पलसो हैं पगि पीक रंग, छल सोहैं सब वैन।**
बल सोहैं कल कीजियत, ए अलसौहैं नैन"॥

इसमें 'लसौ है' निरर्थक शब्द का यमक है, जो रूप तथा भाव को प्रभावशाली बनाने में सहायक सिद्ध नहीं हुआ।

(iii) **"बर जीते सर मैंन के, ऐसे देखे मैं न।**
हरनी के नैनान तैं, हरि नीके ये नैन"॥

इस दोहे में यद्यपि 'व्यतिरेक' अलंकार गौण रूप से परिलक्षित है कि हरिणी के नयन तो शिकारी के तीर का निशाना बन सकते हैं, परन्तु नायिका के नयनों ने तो कामदेव के पंचबाणों को भी जीत लिया है। फिर भी मुख्य अलंकार यहाँ 'यमक' ही है और 'मैन' तथा 'नीके' शब्दों की आव ति ही काव्य चमत्कार का प्रदर्शन करती है।

इस प्रकार जहाँ कवि की द ष्टि यमक को साधन बनाकर उक्ति–चमत्कार को महत्व देती है। वहाँ अवश्य उसे सफलता मिली है। उदाहरण के लिए बिहारी की प्रसिद्ध सूक्ति देखिए –

(iv) **"कनक कनक तैं सौ गुनौ, मादकता अधिकाय।**
उहि खाए बौराए जग, इहिं पाए बौराए"॥

इसी प्रकार –

(v) **"जब जब वे सुधि कीजियै, तब-तब सब सुधि जाहि।**
आँखिनु आँखि लगी रहैं, आँखै लागति नाँहि"।।

पहले दोहे में 'काव्यलिंग' तथा दूसरे में विरोधाभास की संस ष्टि में शब्दालंकार में भी अर्थ–चमत्कार भर दिया है। अनुप्रास के पश्चात् शब्दालंकारों में 'यमक' ही बिहारी का सर्वाधिक प्रिय अलंकार है।

'यमक' का एक और सुन्दर तथा भावपूर्ण उदाहरण है।

(vi) **"लाज गहौ बेकाज कत, छेरि रहे घर जाहि।**
गोरसु चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाहि"।।

शब्द-श्लेष : 'श्लेष' में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है। 'श्लेष' की गणना 'उभयालंकार' में की जाती है, क्योंकि 'श्लेष' शब्द में भी होता है और 'अर्थ' में भाव। शब्दगत 'श्लेष' की योजना में प्रायः भाव निष्प्रभाव होकर रह जाता है। बिहारी को भी जहाँ कही सायास और जानबूझकर शब्दों का तमाशा दिखाने की धुन सवार हुई है, वहाँ गुड़–गोबर बन गया है, परन्तु जहाँ श्लेष अर्थ–बोध तथा भाव–सौन्दर्य का वाहक बन कर आया है, वहाँ 'शब्दश्लेष' भी खूब चमका है। दोनों प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत हैं –

(i) **"अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ, श्रुति सेवन इक अंग।**
नाक–वास बेसरि लह्यौ, बसि मुकतनु कै संग"।।

इसमें 'तरयौना' अर्थात् कान के भूषण का सौन्दर्य बिल्कुल पीछे चला गया है और मोक्ष, सत्संगति आदि की चर्चा उभर आई है। शिल्प की द ष्टि से इसे अवश्य सफलता का नाम दिया जा सकता है, किन्तु अलंकार के मूल प्रयोजन की द ष्टि से ऐसे मिथ्या शब्दालंकार से काव्यार्थ की सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार राधा और कृष्ण को गाय की बहिन तथा बैल को भाई बनाने की कल्पना भी अच्छी नहीं कही जा सकती। परन्तु जहाँ अर्थ को चमत्कारयुक्त बनाने में बिहारी ने 'शब्द–श्लेष' की सहायता ली है, वहाँ उन्हें पूरी सफलता प्राप्त हुई है। जैसे –

(ii) **"ए री यह तेरी दई, क्यौं हूँ प्रकृति न जाइ।**
नेह भरै हिय राखिए, तउ रखियै लखाइ"।।

(iii) **"मोहूँ दीजै मोषू ज्यौं, अनेक अधमनु दियौ।**
जौ बांधै ही तोषू, तो बांधौ अपनै गुननु"।।

पहले दोहे में 'विरोधाभास' के द्वारा 'नेह' शब्द तथा दूसरे दोहे में 'भक्ति भावना' की व्यंजना में 'गुननु' शब्द का श्लेष अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हुआ। इस प्रकार कुछ गिनी–चुनी उक्तियों को छोड़कर बिहारी के अलंकार सर्वत्र भाव को तीव्रता प्रदान करते हैं।

(ख) अर्थालंकार : शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का विशेष महत्व है। शब्दगत सौन्दर्य अधिकतर भाषा के क्षेत्राधीन है, परन्तु अर्थ–सौन्दर्य तो काव्यरस से सीधा संबंध रखता है। अग्निपुराण में तो सरस्वती को अर्थालंकारों के बिना विधवा तक कहा गया है।

'बिहारी सतसई' में भी अर्थालंकारों की बहार देखने योग्य है। यद्यपि फारसी–काव्य–शैली के प्रभाव के कारण बिहारी ने अतिश्योक्ति अथवा अत्युक्ति अलंकार को बहुत दूर तक घसीटा है एवं ऊहोक्तियों के कारण आलोचकों का निन्दापात्र भी बनना पड़ा है। तथापि सामान्यतः "उन्होंने अलंकारों को प्रायः साधन रूप में ही स्वीकार किया है और अप्रस्तुत विधान करते समय चमत्कार की अपेक्षा रूप, गुण भाव, एवं वस्तु का ही अधिक ध्यान रखा है।" कुछ उदाहरण लीजिए –

उपमा : अर्थालंकार कई प्रकार के होते हैं–साम्यमूलक, वैषम्यमूलक श्रंखलामूलक, न्याय-मूलक आदि। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि 'साम्यमूलक' अलंकार माने जाते हैं, क्योंकि उनका आधार 'साम्य' या 'समता' होता है। रूप, गुण अथवा धर्म की समता के कारण जब उपमेय और उपमान के साथ सामान्य धर्म और तुलनावाचक शब्द का भी स्पष्ट उल्लेख हो, तो वह 'पूर्णोपमा' कहलाती है, यदि इनमें से किसी का अभाव हो, तो उसे 'लुप्तोपमा' कहते हैं।

कालिदास के समान बिहारी का भी 'उपमा' प्रिय अलंकार है। इसका प्रयोग 'सतसई' में सैंकड़ों बार हुआ है। नमूना देखिए –

(i) **"हरि–छवि–जल तैं परे, तब तैं घिनु बिछुरैन।**
भरत, ढरत, बूडत, तरत, रहत धरी लौं नैन"॥

इसमें नयन (उपमेय), घड़ी (उपमान), भरत ढरत (सामान्य धर्म) तथा 'लौ' (वाचक शब्द) के उल्लेख के कारण 'पूर्णोपमा' अलंकार है। इसी प्रकार –

"जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन–ज्योति।"

तथा

"नारि सलोनि सांवरी, नागिन लौं डसि जाइ।"

आदि में भी 'पूर्णोपमा' के सारे उपादान विद्यमान है।

(ii) **'लुप्तोपमा' का उदाहरण देखिए–**
"चढी अटा निरखति घटा, बिज्जु छटा–सी नारि"॥

इसमें नारी (उपमेय) बिजली की छटा (उपमान) तथा 'सी' (वाचक शब्द) का तो स्पष्ट उल्लेख है, परन्तु सामान्य धर्म (गौर–वर्ण सुन्दर) लुप्त है। रूपवर्णन संबंधी दोहों में विशेष रूप से उपमा अलंकार का सौन्दर्य दर्शनीय है।

रूपक : प्रस्तुत उपमेय पर अप्रस्तुत उपमान के अभिन्न आरोप को 'रूपक' कहते हैं। उपमा के समान रूपक का प्रयोग भी बिहारी ने बहुत किया है। दोहे जैसे छोटे छन्द में सांग रूपक का निर्वाह सचमुच आश्चर्यजनक है, परन्तु भाषा की समास–शक्ति के आधार पर बिहारी ने अनेक सांग–रूपक भी रचे हैं। कुछ उदाहरण देखिए –

(i) **"खौरि पनिच भ कुटि धनुष, बधिकु समरु, तजि कानि।**
हनतु तरुन म ग, तिलक सर, सुरकभाल भरि तानि"॥

इसमें धनुष का सभी अंगों सहित रूपक कवि की निपुणता का प्रमाण है। शरत् सुन्दरी की छवि भी निहारिए –

(ii) **"अरुन सरोरुह करचन, द ग खंजन मुखचन्द।**
समय आइ सुन्दरि शरद, काहि न करत अनन्द"।।

उत्प्रेक्षा : प्रस्तुत उपमेय में अप्रस्तुत उपमान की सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं। 'बिहारी–सतसई' में इस साम्यमूलक अलंकार का प्रयोग बहुत ही अधिक किया गया है। बिहारी की अप्रस्तुत–योजना की द ष्टि से भी यह अलंकार विशेष उल्लेखनीय है। 'रूपवर्णन' में से एक उदाहरण प्रस्तुत है–

(i) **"चमचमात च ंचल नयन, बिच घुंघट पर झीन।**
मानहु सुरसरिता विमल जल, उछरत जग मीन"।।

श्वेत झीने वस्त्र में चंचल झिलमिलाते नेत्रों के विषय में गंगाजल में उछलती हुई दो मछलियों की कल्पना से द श्य मूर्त होकर सामने आ जाता है। इसी प्रकार नीले आंचल में छिपे मुख का बिम्ब यमुना जल में लहराते चन्द्र की मधुर कल्पना से स्पष्ट उभर आता है। एक दूसरी उत्प्रेक्षा प्रस्तुत है –

(ii) **"लसतु सेत सारी ढक्यौ, तरल तरयौना कान।**
पर्‌यौ मनो सुरसरि सलिल, रवि प्रतिबिम्ब विहान"।।

कितनी सुन्दर और रंगीन कवि कल्पना है। रूप और रंग का कितना भव्य मिश्रण है। बिहारी का रूप–वर्णन इन अलंकारों से कितना जगमगा उठा है, यह सिद्ध करता है कि बिहारी ने अलंकार प्रयोग से कितनी सतर्कता एवं सूझबूझ से काम लिया है।

परन्तु जहाँ शास्त्रज्ञान का प्रदर्शन प्रधान लक्ष बन गया है, वहाँ बिहारी जैसे रससिद्ध कवि की बुरी तरह मात खा गए हैं। अत्यन्त रसग्राही, मर्मस्पर्शी, चित्रोपम, रमणीय उत्प्रेक्षाओं के जादूगर कवि की निम्नलिखित उत्प्रेक्षा कितनी प्रभावशून्य और पंगु बन गई है, यह तथ्य व्याख्या का ऋणी नहीं है –

(iii) **"भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे विराजि।**
इन्दुसला कुज में बसी, मनौ राहु भय भाजि"।।

यहाँ मस्तक में बिन्दी का अक्षत सहित रूप ज्योतिषशास्त्र के निर्जीव उपमाने से उभर ही नहीं होता, शोभा–व द्धि की बात तो दूर रही। ऐसी अलंकार-योजना या अप्रस्तुत विधान बिम्ब–ग्रहण में भी समर्थ नहीं होता। परन्तु परम्परा से मुक्त होकर बिहारी ने जब स्वतंत्र और मौलिक प्रतिभा का उपयोग किया है, वहाँ अलंकार सचमुच ही सरस्वती के कंठहार बन गए है। एक ऐसी ही सुन्दर उत्प्रेक्षा का उदाहरण लीजिए –

(iv) **"सोहत ओढै पीत पटु, स्याम सलौने गात।**
मनो नील मनि सैल पर, आतप पर्‌यौ प्रभात"।।

कवि–कल्पित होते हुए भी यह उत्प्रेक्षा कितनी सहज संभाव्य लगती है।

प्रतिवस्तुपमा

जब प्रस्तुत (उपमेय) तथा अप्रस्तुत 'उपमान' के साद श्य का वर्णन करते हुए एक ही सामान्य धर्म को भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा सूचित किया जाता है, वहाँ 'प्रतिवस्तुपमा' अलंकार होता है। उदाहरण लीजिए–

"चटक न छांडत धटत हूँ, सज्जन नेह गंभीरु।
फीक्यो परै न बरु घटै, रंग्यौ चोल रंग चीरु"।।

इस दोहे में 'चटक न छोड़ना' तथा 'फीका न पड़ना' वास्तव में एक साधारण धर्म है जिसे दो भिन्न शब्दों द्वारा व्यक्त किया है।

दीपक

जब कुछ प्रस्तुत तथा कुछ अप्रस्तुत पदार्थो का एक ही साधारण धर्म के साथ वर्णन हो, वहाँ 'दीपक' अलंकार होता है। बिहारी के निम्नलिखित दोहे में तंत्रीनाद, कवित रस और रतिरंग जैसे अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत विषयों का सामान्य धर्म दूसरी पंक्ति में एक समान प्रदर्शित किया गया है –

"तंत्री नाद कवित रस, सरस राग रति–रंग।
अनबूड़े बुड़े तरे, जो बूड़े सब अंग"।।

अपह्नुति

उपमेय की शोभा का अतिशय वर्णन के उद्देश्य से जब उसका निषेध करके उसमें अप्रस्तुत उपमान का आरोप कर दिया जाये, तो उसे 'अपह्नुति' कहते हैं। जैसे –

"जोन्ह नहीं, यह तुम वहै, किए जु जगत निकेतु।
होत उदै ससि कै भयौ, मानहु ससहरि सेतु"।।

अथवा –

"धुरवा होहि न अलि, उठै धुवां धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत कौ, पावस प्रथम पयोद"।।

दोनों दोहे कोरी कवि कल्पना के कारण चमत्कार–विधायक तो कहे जा सकते हैं, परन्तु बिहारी की भावपूर्णञ्अर्थालंकार–योजना के सफल उदाहरण नहीं बन सकते।

असंगति

अलंकार जब कवि के मूलभाव को अधिक प्रभावशाली और रमणीय बनाकर चमत्कार दिखाता है, वही उसकी सार्थकता है। ऐसे कुछ उदाहरण विरोधमूलक अलंकारों में प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। 'असंगति' अलंकार का निम्न दोहा द ष्टव्य है –

"द ग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति"।।

कारण और कार्य के भिन्न–भिन्न स्थानों में होने से 'असंगति' अलंकार होता है। उक्त दोहे में उलझता (कारण) आँखों में विद्यमान है, परन्तु टूटना (कार्य) परिवार में दिखाया गयो है। परन्तु इस 'असंगति' को बिहारी ने केवल कथन शैली की विचित्रता तक सीमित नहीं रखा, अपितु उसके द्वारा प्रेम की यथार्थ परिस्थितियों का चमत्कारक ढंग से वर्णन कर दिया है, जिससे काव्यार्थ रमणीय होकर रस्वादन का विषय हो गया है। बिहारी के अर्थालंकारों की यही उपलब्धि है। 'असंगति' की एक और झलक देखिए –

"लगा लगी लोइन करैं, नाहक मनु बंधि जांहि"।

विरोधाभास

विरोधाभास में प्रत्यक्ष रूप से विरोध प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः उसमें विरोध नहीं होता। बिहारी ने इस अलंकार द्वारा बड़ी ही मार्मिक ऊक्तियाँ कही हैं। केवल दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं –

(i) **"या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोई।**
ज्यौं–ज्यौं बूड़ै स्याम–रंग, त्यौं–त्यौं उज्जवल होइ"॥

(ii) **"या के मन और कछू, लागी बिरह बलाइ।**
पजरै नीर गुलाब कै, पिय की बात बुझाइ"॥

श्लेष अलंकार की सहायता से दोनों दोहों में बिहारी ने अर्थ–चमत्कार पैदा कर दिया है। 'श्याम' और 'वात' जैसे शब्दों में शब्द–श्लेष तथा 'उज्जवल' तथा 'पजरै' जैसे शब्दों में 'अर्थ–श्लेष' ने कवि के भाव–सौन्दर्य को बढ़ाने में पूर्ण सहयोग दिया है। इस प्रकार का शब्दालंकार और अर्थालंकार का अद्‌भुत सहयोग अत्यन्त दुर्लभ है।

अप्रस्तुत-प्रशंसा

इसे 'अन्योक्ति' अलंकार भी कहते हैं। इसमें अप्रस्तुत कथन द्वारा प्रस्तुत विषय का बोध कराया जाता है। सूक्ति–काव्य में बिहारी ने इस अलंकार का पर्याप्त प्रयोग किया है। 'सतसई' का आधारस्वरूप दोहा अन्योक्ति ही था। इसी प्रकार औरंगजेब के संकेत पर महाराजा जयसिंह को शिवाजी के साथ लड़ने को उद्यत देखकर बिहारी का लिखा हुआ निम्नलिखित मर्मस्पर्शी दोहा भी 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार का उदाहरण है –

(i) **"स्वारथु, सुकृत न, श्रम व था, देखि विहग विचारि।**
बाज पराए पानि परि, तू, पंछीनि न मारि"॥

एक अन्य 'अन्योक्ति' प्रस्तुत है –

(ii) **"करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।**
रे गन्धी मति अन्ध तू, अतर दिखावत काहि"॥

समासोक्ति

श्लिष्ट लक्षणों के द्वारा जब प्रस्तुत से अप्रस्तुत का संकेत मिल जाए, वहाँ 'समासोक्ति' अलंकार होता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का निर्णय प्रसंग से किया जाता है। निम्नलिखित दोहे में भ्रमर तथा कुसुम का संयुक्त प्रेम–प्रसंग प्रस्तुत है, उसे कोमलांगी सुन्दर नायिका के प्रति नायक के प्रणय–व्यवहार वाला अप्रस्तुत अर्थ भी स्पष्ट ध्वनित हो जाता है–

"सरस कुसुम मंडरातु अलि, न झुकि झपटि लपटातु।
दरसत अति सुकारु तनु, परसत मन न पत्यातु"॥

विभावना

कारण के न रहने पर भी कार्य के होने पर 'विभावना' अलंकार होता है। इसका एक अतीव सुन्दर और मनोवैज्ञानिक उदाहरण बिहारी ने विप्रलम्भ शृंगार में दिया है –

"म ग नैनी द ग की फरक, उर उछाह, तन–फूल।
बिन ही पिया–आगम, उमंगि पलटन लगी दुकुल"॥

कितनी स्वाभाविक स्थिति है। बाँई आँख के फड़कते ही प्रिय–आगमन की सूचना समझ मुग्धा नायिका प्रिय के बिना आए पहले ही उसके स्वागत में साज सजाने लगी। ऐसी हृदयग्राही अनुभूतियों के प्रकाशन में जब अलंकार सहायक होते हैं, तभी वे रसोपकारक कहलाते हैं।

विशेषोक्ति

कारण के विद्यमान रहने पर भी जब कार्य न हों, वहाँ 'विशेषोक्ति' अलंकार माना जाता है। विरहाग्नि की विचित्र वेदना का वर्णन बिहारी ने इस अलंकार की सहायता से किया है –

"लाल तुम्हारे विरह की, अगनि अनूप अपार।
सरसै बरसै नीर हूँ, झरहूँ मिटै न झर"॥

परन्तु परम्परागत विरह की यह अभिव्यक्ति विभावना जैसा भाव-सौन्दर्य नहीं उत्पन्न कर सकी।

व्यतिरेक

उपमान की अपेक्षा उपमेय को अधिक प्रभावशाली सिद्ध करने में जहाँ कारण भी साथ प्रस्तुत किया जाए, उसे 'व्यतिरेक' अलंकार कहते हैं। रूप की मदिरा का अद्‌भुत प्रभाव इस अलंकार के ब्याज से कवि ने बड़े ही चमत्कारी ढंग से वर्णित किया है –

"डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल विपाकु।
धिनकु छाकि उछकै न फिरि, खरी विषमु छवि छाकु"॥

साधारण मदिरा का प्रभाव डर से, नींद आने से अथवा समय गुजारने से कम हो जाता है, जिसे स्थिर रखने के लिए बार–बार पीने की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु रूप की मदिरा तो तनिक–सी एक बार पी लेने पर किसी भी प्रकार से नहीं उतरती। यहीं उसकी असाधारण विशेषता है।

काव्यलिंग

समर्थन करने योग्य किसी बात को युक्तियुक्त शैली से प्रमाणित कर देने को 'काव्यलिंग' अलंकार कहते हैं। 'कनक–कनक ते सौगुनी' वाला बिहारी का प्रसिद्ध दोहा इसी अलंकार का उदाहरण है। जिसमें सोने में धतूरे से भी अधिक नशा होने की बात का समर्थन यह तर्क देकर किया गया है कि धतूर को खाने के पश्चात् ही नशा चढ़ता है, परन्तु सोने का प्राप्त करते ही मनुष्य नशे में चूर हो जाता है।

इसी प्रकार 'बिहारी–सतसई' से अनेक अलंकारों के सुन्दर उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि बिहारी ने भी 'सतसई' में परम्परा को निभाने का अवश्य प्रयत्न किया है। भले ही बिहारी का लक्ष्य केवल रीति–ग्रन्थों में आए अलंकारों का उदाहरण देना नहीं था, फिर भी उस पर काव्य शास्त्रीय– परम्परा का प्रभाव अवश्य पड़ा था। यही कारण है कि 'सतसई' में 'नायिका-भेद' और 'अलंकारों' के प्रायः सभी उदाहरण ढूँढ लेना कुछ कठिन नहीं।

परन्तु बिहारी एक प्रतिभाशाली महाकवि थे। उनकी मौलिक कल्पना शक्ति बड़ी अद्‌भुत थी। जहाँ उन्होंने परम्परा की लीक का अन्धानुकरण किया। वहाँ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'परम्परा के भार ने उनकी भाषा को उनके द्वारा कल्पित उस नायिका की भाँति ही 'सुधो पाँय' पर सकने के अयोग्य बना दिया। जो अपनी शोभा के भार से ही लड़खड़ा उठी थी।' परन्तु

'जहाँ उन्हें परम्परा के भीतर ही उन्मुक्त क्षेत्र मिला, उन्होंने अपनी काव्य–मर्मज्ञता का अच्छा परिचय दिया।

एक और बिहारी ने अनुप्रास और यमक जैसे विशुद्ध शब्दालंकारों उपयुक्त रीति से प्रयोग करके काव्यार्थ की व द्धि में चार चाँद लगा दिए हैं, जो साधारणतः रीति–काव्य की दुर्लभ उपलब्धि कही जा सकती है, तो दूसरी और बिहारी ने 'मुद्रा' जैसे अर्थालंकार के उदाहरण में विभिन्न फूलों की नामावली देकर काव्य की आत्मा को ढाँप दिया है–

"कत लपटइयतु मो गरैं, सो न जुही निसि सैन।
जिहिं चंपक–बरनी किए, गुल्लाला–रंग नैन"।।

इस दोहे में मोगरा, सोनजुही, चंपक और गुल्लाला ही नहीं, लपटैया (इश्कपेंचा), निसिसैन (कमल), बरनी (वर्षा) और नैन (पंचनयना) जैसे अन्य फूलों की वंशावली का पता भी दे दिया है।

अप्रस्तुत–विधान

अर्थ या भाव को रमणीय तथा प्रभावशाली बनाने के लिए अलंकार योजना के अन्तर्गत कवि अप्रस्तुत–विधान करते आए हैं। मुख्य या अभीष्ट विषय–वस्तु को प्रस्तुत तथा उसका अतिशय वर्णन करने के लिए उपमान विषय को अप्रस्तुत कहा जाता है। अप्रस्तुत का विधान प्रस्तुत अर्थ के रूप, गुण तथा प्रभाव को बढ़ाने के निमित्त होता है। ऐसा प्रायः साम्यमूलक अलंकारों की सहायता से किया जाता है। बिहारी के अप्रस्तुत–विधान में उपमा, रूपक तथा सबसे अधिक उत्प्रेक्षा अलंकार का उपयोग हुआ है। समोसेक्ति तथा अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार भी इस विषय में उल्लेखनीय है।

उपमा तथा रूपक अलंकार में प्रायः एक प्रस्तुत के लिए एक अप्रस्तुत का विधान किया जाता है। ऐसा करते समय प्रस्तुत और अप्रस्तुत में रूप–साम्य अथवा धर्म–साम्य का ध्यान रहता है। जिस अप्रस्तुत में दोनों गुण विद्यमान होंगे, वह काव्यार्थ का अधिक साधक सिद्ध होगा। बिम्ब ग्रहण में भी उसे अधिक सफलता मिलेगी। पूर्णोपमा तथा रूपक के उदाहरणों से उक्त काव्य प्रमाणित हो जाता है। मालोपमा तथा साँग रूपक के उदाहरणों में अप्रस्तुत योजना एकांकी न होकर संपूर्ण परिस्थिति की परिचायक भी होती है। परन्तु उत्प्रेक्षा आदि अन्य अलंकारों में संपूर्ण परिस्थिति का चित्र–अंकित करने के लिए अप्रस्तुत विधान की अधिक सुविधा रहती है। बिहारी ने रूप–साद श्य के लिए प्रायः उपमा का तथा धर्म–साद श्य के लिए उत्प्रेक्षा अलंकार का ही अधिक प्रयोग हुआ है।

उत्प्रेक्षा तथा अन्य अलंकारों में अप्रस्तुत की योजना करते समय उनका सहज–संभाव्य होना बहुत आवश्यक है। कवि कल्पित अप्रस्तुतों में भी अकल्पनीय कल्पना अर्थबोध में ही नहीं, बिम्ब ग्रहण में बाधक बनती है। बिहारी ने प्रायः ऐसे अप्रस्तुत चुने हैं, जिनकी संभावना अथवा कल्पना सहज में की जाती है तथा उसमें प्रस्तुत की रमणीयता और प्रभाव को बढ़ाने की पूरी क्षमता पाई जाती है। अलंकारों के उदाहरणों में पूर्णोपमा, उत्प्रेक्षा आदि में सम्बन्धित दोहे इस विषय में उद्ध त किए जा सकते हैं। जैसे– :पूर्णोपमा' में प्रिय के रूप अनवरत जुड़े रहने वाले नयनों के लिए जल–घड़ी का उपमान नया होते हुए भी सार्थक और समर्थ है। इसी प्रकार 'जल चादर के दीप' जैसे अप्रस्तुत द्वारा बिहारी ने पतली और झीनी साड़ी में से झिलमिलाते हुए नायिका के सुनहरे शरीर की कांति को बड़ी ही सजीवता के साथ द श्य बना दिया है। 'पावक झर' की उपमा भी बड़ी सुहानी है, जिसमें रूप और गति दोनों की व्यंजना होती हैं।

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा के उदाहरणों में सर्वांगीण–सौन्दर्य का द श्य अधिक उभरा है। व्यापक आयाम के कारण बिहारी ने नायिका की दीप्ति और अंग लावव्य के लिए बड़े ही सुन्दर अप्रस्तुत जुटाए हैं। मुख और नेत्रों के लिए चन्द्र तथा मछलियों के उपमान तो परम्परागत हैं, किन्तु श्वेत साड़ी के पारदर्शक वस्त्र में से दिखाई देने वाले चंचल 'तरयौना' का समन्वित रूप नायिका के शारीरिक सौन्दर्य की प ष्ठभूमि से मिलकर गंगाजल में प्रतिफलित प्रातःकालीन सूर्य के प्रतिबिम्ब के अप्रस्तुत द्वारा निखरकर मन को आकर्षित करता है।

बिहारी ने अप्रस्तुत–विधान में बड़ी सावधानी से काम लिया है। उन्होंने अपने प्रकृति से तो लिए ही हैं, लोक व्यवहार तथा पौराणिक कथाओं एवं कभी कभी ज्योतिष आदि शास्त्रों से भी प्राप्त किए हैं। परन्तु उनकी योजना में जहाँ बिहारी ने परम्परा अथवा पांडित्य प्रदर्शन या केवल चमत्कार की प्रधानता दे दी है। वहाँ उन्हें बुरी तरह मुंह की खानी पड़ी है, किन्तु जहाँ उन्होंने प्रस्तुत विषय की रमणीयता को उभारना चाहा है, वहाँ उनके अप्रस्तुत विधान में आशातीत प्रभाव पैदा हो गया है।

बिहारी के अप्रस्तुतों का चुनाव कितना उपयुक्त है, इसके अनेक उदाहरण तो अलंकार-योजना में दिए जा चुके हैं, कुछ अन्य उदाहरण भी देखिए –

वयः संधि के ताफ्ता (धूप–छाहीं) कपड़े के द्वारा शेंशव और यौवन के संयुक्त प्रभाव को बिहारी ने मूर्तिमान बना दिया है –

"छुटीन सिसुता की झलक, झलक्यौ जो बनु अंग।
दीपती देह दुहून मिलि, विपति ताफ्ता रंग"।।

इसी प्रकार अनेक सुन्दर सखियों में बैठी नायिका का विशिष्ट रूप बिहारी ने 'फानूस' अप्रस्तुत द्वारा प थक् दिखलाया है –

"बाल छबीली वियन मैं, बैठी आप छिपाइ।
अरगट ही फानूस सी, परगट होत लखाइ"।।

उक्त दोनों अप्रस्तुत बिहारी की मौलिक कल्पना तथा सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के जीते जागते उदाहरण हैं। नारी के लिए 'दीप शिखा' तथा 'छाया ग हिणी' जैसे अप्रस्तुत भी अपने मूल अर्थ की व्यंजना में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। 'दीपशिखा' का प्रयोग यद्यपि नया नहीं है, परन्तु देह की कांति के लिए बड़ा ही सटीक और उपयुक्त लगता है। इसी प्रकार रामायणकालीन राक्षसी के आधार पर चुना हुआ 'छाया–ग्राहिणी' का अप्रस्तुत विधान भी वैराग्य–भावना में नारी के मोहक और आकर्षक प्रभाव को बढ़ा– चढ़ाकर वर्णित करने के लिए बहुत ही उचित और सशक्त लगता है। बिहारी ने 'दूर्योधन' तथा 'पाँचाली' को भी अप्रस्तुत के रूप में चित्रित किया है, जो अर्थ कल्पना में चाहे सहायक हुए हों, किन्तु भाव को मूर्त तथा अधिक प्रभावशाली बनाने में समर्थ नहीं हो सके। वहाँ चमत्कार अधिक मुख्य हो गया है। परन्तु, काव्यशास्त्र में से लिया निम्नलिखित अप्रस्तुत अपने ढंग का सुन्दर और निराला उपमान है, जिसने नायिका के निरन्तर उदीयमान उरोजों को उभार के रख दिया है –

"दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुपरी सारी सेत।
कवि आंकनु के अर्थ लौं, प्रगट दिखाई देत"।।

ऐसे सटीक और सार्थक प्रस्तुत बिहारी के काव्य–सौन्दर्य की अक्षय–निधि हैं। संकोच और उत्सुकता

के समान आकर्ष और प्रभाव को नष्ट करने के लिए 'फिरकी' या 'नट के बटा' की कल्पना भी बड़ी युक्ति और अर्थग्राहक लगती है। परन्तु कोरे चमत्कार अथवा केशवदास के समान थोड़े पांडित्य प्रदर्शन की लालसा में बिहारी ने जो अप्रस्तुत ज्योतिष, वैद्यक अथवा वेदान्त आदि से लिए हैं, उनसे रूप–सौन्दर्य की व द्धि, नहीं आएगा की तो बात ही क्या, उलटे मूलार्थ की भी हानि हुई है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दोहा देखिए –

"मंगल–बिनु सुरंग, मुख ससि, केसरि आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगत"।।

यहाँ बिन्दी और केसर के तिलक से सुशोभित नारी के मुखचन्द्र की सुन्दर कल्पना से सचमुच रसिकों के नेत्रों को रसमय किया जा सकता था, किन्तु बिहारी को ज्योतिष के आकाश से तारे तोड़ लाने की ऐसी सूझी, कि बेचारी धरती की नायिका का रूप द ष्टि से ओझल ही हो गया है। मंगल और ब हस्पति के अप्रस्तुत रंग–योजना के लिए उपमान पूर्णतया असमर्थ सिद्ध हुए।

इसी प्रकार नायिका की पतली कमर के लिए निराकार ब्रह्म की उपमा खोज लाना तो तमाशा बन गया है। इसमें कटि जैसे स्त्रीलिंग प्रस्तुत के लिए ब्रह्म जैसा पुल्लिंग अप्रस्तुत विधान अलंकारगत दोष भी माना जाता है। ऐसी चमत्कार विधायिनी योजना से यही सिद्ध होता है कि "हिन्दी साहित्य शास्त्र एक और संस्कृत की पुरानी परम्परा से निस्यूत हुआ है और दूसरी और फारसी की चमत्कारवादी प्रव ति का भी इस पर प्रभाव पड़ा।"

बिहारी के अप्रस्तुत–विधान से मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के अप्रस्तुत प्रयुक्त हुए हैं। तरुणी–कूचों के लिए अमूर्त काव्यार्थ का तथा कमर के लिए 'निराकार ब्रह्म' का प्रयोग किया गया है। कहीं–कहीं अमूर्त प्रस्तुत करने के लिए मूर्त अप्रस्तुत का भी विधान मिलता है। जैसे अगोचर लज्जा के लिए लगाम का तथा द ष्टि के लिए रस्सी का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही अमूर्त हैं, जैसे –

"चुनरी स्याम सतार नथ, मुँह ससि की उनहारि।
नेह दवावत नींद लौं, निरखि निसा सी नारि"।।

इस दोहे में स्नेह की उपमा नींद से दी गई है।

इस प्रकार बिहारी की अलंकार योजना अथवा अप्रस्तुत विधान में परम्परागत तथा ऊहोक्तियों के चमत्कार–प्रधान अप्रस्तुतों को छोड़ प्रायः सर्वत्र शब्द–अर्थ की रमणीयता का पूरा पूरा ध्यान रखा गया है। बिहारी के अलंकार उनकी कविता–कामिनी के सहज–सौन्दर्य का कहीं भी आवरण नहीं बनने पाए। रसोद्रेक तथा भावोद्रेक में उनसे सदा सहायता ही मिली है।

डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में 'बिहारी के चमत्कार और रसका जैसा समन्वय किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। शैली की द ष्टि से उन्हें रीतिकाल का कालिदास भी कहा जा सकता है।

अध्याय - 5
बिहारी की युगीन परिस्थितियाँ

बिहारी के जन्म के समय कैसी परिस्थितियाँ थीं? 'बिहारी सतसई' के आधार पर तर्क–संगत उत्तर दें।

साहित्य की महता की एक प्रमुख कसौटी यह होती है कि उसमें जीवन किस सीमा तक सिमट सका है अथवा यूँ कहें कि कवि कितनी सच्चाई और ईमानदारी के साथ अपने युगीन जीवन को व्यक्त करने में सफल हो सका है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि कवि भी पहले एक व्यक्ति होता है, बाद में कवि। इसका अर्थ यह है कि कवि जिस समाज और वातावरण के भीतर जन्म लेता है, बड़ा होता है–उस समाज और वातावरण से वह पूरी तरह प्रभावित होता है। निस्संदेह कतिपय महान् कवि इससे भी एक पग आगे बढ़ जाते हैं और वे अपने युग की दिशा को ही नया बोध और नया स्वर प्रदान करते हैं। इस पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया सकता कि ऐसे महान और युग–प्रवर्तक कवि समाज से अछूते रह कर काव्य का स जन नहीं करते। इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए एक विद्वान आलोचक कहते हैं कि "यह सत्य है कि युग प्रवर्तक कवि समाज की धारा में न बहकर उसे अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ लिया करते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे समाज से वे प्रभावित ही नहीं होते अथवा उससे सम्प क्त ही नहीं रहते, इसके विपरीत वे उस धारा का आयाम, गंभीरता, गति आदि का पूरा–पूरा ज्ञान रखते हैं। अपनी शक्ति और साधन का निरीक्षण करते हैं और तब धीरे–धीरे धैर्य के साथ उस और अग्रसर होते हैं। यह बहुत बड़ी बात है, तभी तो तुलसी, सूर और भारतेन्दु विरले ही होते हैं।" कवि बिहारी की गणना निश्चय ही ऐसे युग प्रवर्तक कवियों में तो नहीं की जा सकती किन्तु उन कवियों का भी युगीन महत्व होता है जो अपने युग को पूरी ईमानदारी के साथ व्यक्त कर सकते हैं। और बिहारी की गणना ऐसे ही कवियों में की जा सकती है। रीतिकालीन साहित्य में बिहारी ऐसे एकमात्र कवि हैं जिन्होंने अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का वर्णन पूरी निष्ठा और सच्चाई के साथ किया है। इस द ष्टि से बिहारी को तुलसी, सूर जैसे लोकनायक कवियों की श्रेणी में भले ही न रखा जा सके, तो भी वे इस द ष्टि से महाकवि कहलाने के अधिकारी अवश्य हैं कि उन्होंने अपने दोहों में अपने युग के भले–बुरे, सुन्दर–असुन्दर–सभी प्रकार के चित्रों को स्थान दिया है। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में "जो कवि जीवन का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकता है। वह चाहे लोकनायक हो या न हो, साहित्य के क्षेत्र में नूतन पथ प्रशस्त करे या न करे, महान् अवश्य होता है। बिहारी ऐसे ही महाकवि थे। वे अपने युग में व्याप्त थे और युग उनमें व्याप्त था।" बिहारी के युग की परिस्थितियों का अध्ययन तीन स्पष्ट दिशाओं में किया जा सकता है–राजनीतिक परिस्थितियों, सामाजिक परिस्थितियों तथा धार्मिक परिस्थितियाँ। इस प्रकार के चित्रण को लोक–चित्रण अथवा युग–चित्रण भी कहा जा सकता है।

(क) राजनीतिक परिस्थितियाँ

बिहारी के समय में भारतवर्ष पर पूरी तरह मुगल शासकों का अधिपत्य स्थापित हो चुका था। अधिकाँश हिन्दू राजाओं ने मुगल शासकों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था और इस कारण उनके समक्ष राष्ट्रीय उन्नति अथवा राष्ट्रीय भावना जैसा कोई भी प्रश्न उपस्थित नहीं था। राजपूतों के स्पष्टतः दो वर्ग बने हुए थे—एक तो वह वर्ग था जो मुगल शासकों को ही अपना शासक मानता था और उनके इंगितों पर नाचता था, दूसरा वर्ग वह था जो अब भी अपनी स्वतंत्र सता बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील था। बिहारी की द ष्टि में मुगलशासकों के इंगितों पर नाचने वाले हिन्दू राजागण और स्वार्थी और निन्दनीय थे। एक दोहे में इसी भाव को बिहारी ने इस प्रकार व्यक्त किया है —

"स्वारथु, सुकृतु, न श्रमु व था, देखि बिहंग विचारि।
बाज, पराए पानि परि, तूं पच्छीनु न मारि"॥

कवि ने अन्योक्ति के माध्यम से उन राजपूतों की भर्त्सना की है जोकि केवल दूसरों के हितों के लिए स्वयं अपने ही भाइयों के प्राण लेने में संकोच नहीं करते। कवि ने ऐसे स्वार्थान्ध राजपूतों को सजग किया है और उन्हें उनके वास्तविक कर्तव्य का बोध कराया है। बिहारी के युग में दुहरी शासन—पद्धति थी। मुगलशासक दिल्ली में बैठकर इतने बड़े भूभाग का शासन नहीं कर सकते थे। सारा देश छोटे—छोटे सूबों में बँटा हुआ था। इन सूबों का शासन सूबेदारों के हाथों में होता था। सूबेदारों की नियुक्ति सम्राट स्वयं किया करते थे। दूसरे शब्दों में ये सूबेदार मुगल—सम्राट के प्रतिनिधि होते थे और इनका कार्य अपने सूबे का केवल प्रशासनिक नियंत्रण रखना ही नहीं था अपितु ये सूबे की सेना के सेनापति का कार्य भी करते थे। शासन और सेना— दोनों का प्रमुख होने के कारण सूबेदार में बहुत शक्ति निहित रहती थी। अतः स्वभावतः ऐसे महत्वपूर्ण पदों पर सम्राट अपने नितान्त विश्वासपात्र और निकट व्यक्तियों की नियुक्ति किया करता था। सामान्य जनता इस दुहरी शासन—पद्धति में पिसी जा रही थी। बिहारी ने जनता की इस दूर्दशा का वर्णन इस प्रकार किया है —

"दुसल—दुराज प्रजानु कौं, क्यों न बड़े दुख—दुंदु।
अधिक अंधेरौ जग करत, मिलि मावस रवि—चन्दु"॥

समुचे राजनीतिक—तंत्र में घोर भ्रष्टाचार और अनियमतताओं का बोलबाला था। देश के सर्वोच्च पदों पर जो नियुक्तियाँ होती थी वे सम्राट की कृपा जहाँ साधारण व्यक्ति को सर्वोच्च पद पर बैठा सकती थी, वहाँ सम्राट का कोप सर्वोच्च पद पर आसीन अधिकारियों को क्षण भर में पद रहित भी कर सकता था। अतः जब कभी सम्राट देश के किसी नए भाग को अपने अधिकार में कर लेता था, तो वहाँ के महत्वपूर्ण पदों पर नितान्त विश्वासपात्र और निकट व्यक्तियों की नियुक्तियाँ की जाती थी। कवि बिहारी ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है —

"अपने अंग के जानि कै, जोबन—न पति प्रवीन।
स्तन, मन, नैन, नितम्ब कौ, बड़ौं इजाफा कीन"॥

उत्तराधिकार का प्रश्न तलवार के बल पर तय किया जाता था। वस्तुतः इतिहास के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि "मुसलमानी शासन का इतिहास बादशाह और सरदारों की शक्ति के संघर्ष का इतिहास है जिसमें बादशाह की व्यक्तिगत योग्यता तथा शक्ति के ऊपर बहुत कुछ निर्भर होता था। जब कभी केन्द्रीय शासन में निर्बलता आई, तभी प्रभावशाली प्रान्तीय शासक अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर देते थे किन्तु युद्ध में हारने पर उन्हें प्रायः प्राणों से हाथ धोना पड़ता था। कवि बिहारी ने अपने जीवनकाल में चार मुगल—सम्राटों का शासनकाल देखा था।

उनके बालपन के सात–आठ वर्ष तो अकबर महान् के युग में बीते थे। और उनका यौवन जहाँगीर के शासनकाल में बीता था। यौवन का उतरार्द्ध अर्थात् अन्तिम छः–सात वर्ष औरंगजेब के शासनकाल में बीता था। इस प्रकार बिहारी ने अपनी ही आँखों से अनेक मुगल सम्राटों का उत्थान और पतन देखा था। इस संबंध में विशेष बात यह है कि शासक के बदलने के साथ ही शासन–व्यवस्था भी बदल जाती थी। जो भी शासक राज सिंहासन का अधिकारी होता था, वह अपने विवेक और इच्छा के अनुसार शासन चलाता था। कवि बिहारी ने शासन व्यवस्था में होने वाले ऐसे परिवर्तनों का वर्णन इस प्रकार किया है –

"नव नागरि तन–मुलुक लहि, जोबन–आमिर–जौर।
घटि बढि तै बढि घटि रकम, करी और की और"॥

कवि ने उपरोक्त दोहे में मुग्धा नायिका के माध्यम से शासन–व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों का प्रभावशाली वर्णन किया है। राजनीतिक द ष्टि से बिहारी का युग बहुत ही उथल–पुथल वाला युग कहा जा सकता है क्योंकि मुगल–शासकों के समक्ष अनेक प्रकार की समस्याएँ उपस्थित रहती थी और उनकी द ष्टि में अधिकाँश समस्याओं का समाधान केवल शक्ति के बल पर किया जा सकता था। परिणामतः आए दिन मार–काट और युद्ध होते रहते थे। सम्राट को एक तो सूबेदारों से ही भय बना रहता था, दूसरे कतिपय स्वाभिमानी राजपूत ऐसे भी थे जो किसी भी स्थिति में मुगल शासकों का आधिपत्य स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। ऐसी स्थिति में सम्राटों को शक्ति–प्रयोग का आश्रय लेना पड़ता था। कभी–कभी चतुर और नीतिज्ञ सम्राट भेदनीति का प्रयोग भी करते थे और जब वह नीति सफल नहीं हो पाती थी तो सन्धि–प्रस्ताव भेजे जाते थे–और जब संधि–प्रस्ताव भी निष्फल रह जाते थे तो छल–छद्म का प्रयोग करके शत्रु को विजित करने का प्रयत्न किया जाता था। बिहारी ने इस भाव का वर्णन एक मानवती नायिका के माध्यम से निम्न प्रकार से किया है –

"क्यौं हूँ सहवात न लगै, थाके भेद–उपाइ।
हठ–द ढगढ–गढबै सुचलि, लीजै सुरंग लगाइ"॥

(ख) सामाजिक परिस्थितियाँ

रीतिकालीन कवि बिहारी ने केवल अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों का ही वर्णन नहीं किया है अपितु अपने युग के सामाजिक जीवन का भी प्रभावशाली चित्रण किया है। बिहारी के युग में मुसलमानी शासन था और इस शासन के अन्तर्गत राज्य के सर्वोच्च पदों पर सम्पन्न और धनी व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी। समूची शासन व्यवस्था में विलासमयता का वातावरण छाया हुआ था। सम्राट को तो अपने रंगमहलों से अवकाश नहीं मिलता था और सरदार भी उसके पदचिह्नों पर चले रहे थे। उस युग में एक विचित्र नियम यह था कि सरदारों एवं सामन्तों का संपूर्ण धन और सम्पति उनकी म त्यु के पश्चात् राजकोष में जमा हो जाती थी। इस नियम का एक प्रभाव यह हुआ कि सूबेदार, सरदार तथा सामन्त लोग अपनी सारी सम्पति और धन का उपभोग अपने जीवनकाल में ही करने को आतुर रहते थे। इस प्रकार मुगल सम्राटों का शासन सुरा और सुन्दरी में डूबा हुआ था। कवि पद्माकर ने बिहारी के युग की सामाजिक दशा का चित्रण इस प्रकार किया है –

"गुलगुली गिल में गलीचा है, गुनीजन हैं,
चाँदनी है चिक हैं चिरागन की माला हैं;
कहै पद्माकर त्यों गजकगिजा है सजी,
सेज है सुराही है सुरा और प्याला है;

शिशिर के पाला को न व्याप्त कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन सौ उदित मसाला है।
ताम तुक डाला है विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं, दुशाला हैं, बिशाला चित्रशाला हैं"।।

बिहारी के युग में सामन्त वर्ग और निम्न वर्ग के आर्थिक स्तरों में अत्यधिक अन्तर था। उच्च मध्यवर्ग के अन्तर्गत व्यापारी, साहूकार और राजकीय कर्मचारी आते थे जो अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप विलासमयता का जीवन बिताते थे। इसके ठीक विपरीत निम्न वर्ग भी था जोकि आर्थिक द ष्टि से सर्वाधिक सम्पन्न और दयनीय था। सच्चाई तो यह है कि समाज का यह उच्च वर्ग इसी निम्न वर्ग के बल पर ऐश्वर्यमय जीवन बिताता था। उच्च मध्यवर्ग तथा निम्न वर्ग के मध्य के इस अन्तर की चर्चा करते हुए एक महान् इतिहास वेता कहते हैं कि "आर्थिक और राजनीतिक द ष्टि से सारा समाज दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक उत्पादक वर्ग और दूसरा उपभोक्ता वर्ग। उत्पादक वर्ग में कृषक और मजदूर थे जो शासन और युद्ध के झंझट से बिलकुल अलग रहकर खेती, व्यापार आदि कार्य करते थे, सरकार को कर देते थे और उसके बदले में बाहरी तथा भीतरी उपद्रवों से त्राण पाते थे। उपभोक्ता वर्ग सम्राट के परिवार और दरबारियों से लेकर उनके नौकर—चाकर और दासों तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था इसलिए उत्पादक वर्ग पर इसका पूरा प्रभुत्व था—सामाजिक स्थिति भी स्वभावतः इनकी इच्छा थी। इन दोनों के बीच बहुत बड़ा अन्तर था—शासक और शासित—शोषक और शोषित का।" सामान्य व्यक्ति हर द ष्टि से पिछड़ा हुआ था क्योंकि उन दिनों शिक्षा के प्रसार का कोई प्रश्न नहीं था। स्वभावतः जनसाधारण में विभिन्न प्रकार के अन्धविश्वास व्याप्त थे। कर्मकाण्ड के प्रति लोगों में बहुत आस्था थी। विभिन्न प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के लिए यज्ञ आदि का आयोजन किया जाता था। बिहारी ने इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है —

"होमति सुखु, करि कामना तुमहिं मिलन की, लाल।
ज्वालामुखी सी जरति लखि, लगनि—अगनि की ज्वाल"।।

जन—जन में विभिन्न प्रकार के बाह्यडम्बरों का बोलबाला था। ईश्वर, उपासना और भक्ति के क्षेत्र में पुनः नाना प्रकार की कर्मकाण्डी प्रव तियाँ कार्यरत थी। अनपढ़ और भोली—भाली जनता को ठगने के लिए पाखण्डी साधुओं और भक्तों की भरमार थी। ये साधु माथे पर तिलक लगाकर तथा हाथ में राम— नाम की माला धारण किये रहते थे और इस तरह साधारण जनता को धोखा देते रहते थे। बिहारी ने ऐसे पाखण्डी साधुओं को समझाते हुए कहा है —

"जपमाला छापै, तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन—काँचे नाचे व था, साँचै राँचै रामु"।।

प्रस्तुत दोहे में कवि ने सच्चे मन से की गई भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध की है। शासन—व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार का प्रभाव जनसाधारण पर भी पड़ रहा था। लोगों के जीवन में सिद्धान्तों और नियमों का कोई स्थान नहीं रह गया था। सभी लोग अपने स्वार्थों की सिद्धि में लगे हुए थे। कहते कुछ थे, करते कुछ थे। जिन लोगों के हाथों में शासन की बागडोर थी, उनमें भी चरित्र और निष्ठा का अभाव बना हुआ था जिसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है —

"पर-तिय-दोषु पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्रहुं, मुंह-आई मुसकानि"।।

जन साधारण में जादु-टोनों के प्रति अत्यधिक आस्था बनी हुई थी। कवि ने इस स्थिति का वर्णन निम्न दोहे में किया है —

"टुनहाई सब टोल मैं, रही ज सौति कहाई।
सुतैं ऐंचि त्यौ आपु त्यों वारी अदोखिल आइ"।

लोगों में यह विश्वास भी बना हुआ था कि यदि टोना करने वाला व्यक्ति किसी प्रकार की भूल कर देता है तो टोने का दुष्प्रभाव स्वयं उसी पर पड़ता है। कवि ने इस भाव का वर्णन इस प्रकार किया है –

"साजे मोहन मोह कौ, मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं उलटे परे टोने लोने नैन"।।

बिहारी के समय में विभिन्न प्रकार की भक्ति और साधना पद्धतियाँ प्रचलित थी। सभी लोग अपनी-अपनी पद्धति की श्रेष्ठता सिद्ध करने में लगे हुए थे। उस युग में मलंग फकीर भी हुआ करते थे। जिनकी साधना-पद्धति भारतीय हठयोगियों से बहुत मेल खाती थी। कवि ने अपने एक दोहे में इन मलंग फकीरों की साधना-पद्धति का भी उल्लेख किया है –

"कौड़ा आँसू बूँद, कसि साँकर बरूनी सजल।
कीने बदन निमूंद, द ग मलिंग डारे रहत"।।

मुसलमानों में विचित्र प्रकार के शोक प्रचलित थे जिसका मूल कारण यही था कि लोगों के समक्ष किसी भी प्रकार के उच्चादर्श और मूल्य नहीं थे। शासन के सर्वोच्च स्तर पर व्याप्त भ्रष्टाचार का प्रभाव यह पड़ रहा था कि जनसाधारण भी जीवन के उच्चादर्शों और जीवन के मूल्यों को विस्म त कर चुका था। वे लोग पतंगबाजी और कबूतरबाजी जैसे शौक किया करते थे। कवि ने जनसाधारण के इन शौकों का वर्णन इस प्रकार किया है :

"उड़ति गुड़ी लखि ललन की, अंगना अंगना माँह।
बौरी लों दौरी फिरति, घुवति छबीली छाँह।। तथा

ऊँचै चितै सराहियतु गिरह कबूतरू लेत।
झलकति द ग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित किहिं हेतु"।।

कवि ने तत्कालीन नारी समाज का भी प्रभावशाली वर्णन किया है। तत्कालीन नारी समाज स्पष्टतः दो वर्गों में बंटा हुआ - उच्च अथवा सम्पन्न नारी वर्ग और निम्न अथवा साधारण नारी वर्ग। उच्च-नारी वर्ग में आभूषणों और विभिन्न प्रकार के अंग रागों का अत्यधिक प्रचलन था। इस वर्ग की नारियाँ मूल्यवान आभूषण और चटकीले वस्त्रों का बहुत प्रयोग किया करती थी। इस कवि ने इस उच्च-नारी-वर्ग के विलासमय जीवन की झाँकी इस प्रकार प्रस्तुत की है :

"जटित नीलमनि जगमगति, सील सुहाई नाक।
मनौ आली चम्पक कली, बसि रसु लेत निसांक।।

इहिं द वैहो मोती सुगंथ तूं, नथ, गरबि निसांक।
जिहि पहिरै जग-हग ग्रसति, लसति हँसति सी नांक।।

सोहत अंगुठा पाइ के, अनवटु जर्‌यौ जराई।
जीत्यौ तरिवन-दुति, सुढ़रि पर्‌यौ तरनि मनु पाइ।।"

इस वर्ग की नारियाँ विभिन्न अंग रागों, महावर मेहन्दी आदि का भी बहुत प्रयोग किया करती थी। इन सम्पन्न नारियों की वेश-भूषा भी मूल्यवान होती थी। मूल बात यह है कि घनी और सम्पन्न परिवारों की महिलाएं अपने वैभव का प्रदर्शन मूल्यवान और जड़ाऊ आभूषण एवम् महंगी वेश-भूषा के माध्यम से किया करती थी। इस प्रव ति के मूल में स्पष्टतः दो कारण हो सकते

हैं - एक तो तत्कालीन विलासमय जीवन और दूसरा विद्या का अभाव। कवि बिहारी ने महिलाओं के इस सम्पन्न वर्ग का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

"जरीकोर गोरे बदन, बढ़ी खरी छबि देखु।
लसति मनो बिजुरी लिए, सारद-ससि-परिबेखु॥

दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी सारी सेत।
कवि आँकुन के अर्थ लौं, प्रगटि दिखाई देत॥

चुनरी स्याम सतार नभ, मुंह ससि की उनहारि।
नेहु दबावतु नींद लौं, निरखि निसा सी नारि॥"

मध्यवर्गीय परिवारों में देवर-भाभी की छेड़छाड़ की सुदीर्घ परम्परा विद्यमान है जो कि भारत के गाँवों में आज भी देखी जा सकती है। इस प्रकार के प्रसंगों में प्रायः दो प्रकार की स्थितियाँ होती हैं - एक तो वह जबकि भाभी ही देवर के प्रति आसक्त हो जाती है और दूसरी वह जबकि देवर अपनी भाभी के प्रति अनुरक्त हो जाता है। कवि बिहारी ने इन दोनों स्थितियों का प्रभावशाली वर्णन किया है।

"और सबै हरषी हंसति, गावति भरी उघाह।
तू ही बहू बिलखीं फिरै, क्यों देर के ब्याह"॥

इस दोहे में देवर के विवाह के अवसर पर भाभी बिलख रही है क्योंकि उसे यह पता है कि विवाहोपरान्त देवर उसके सास केलि नहीं कर सकेगा। दूसरे प्रकार का वर्णन इस प्रकार है -

"देवर-फुल-हने जु, सुसु उठे हरषि अंग फूलि।
हंसी करति औषधि सखिनु, देह ददोरनु भूलि"॥

कवि ने तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त सम्मिलित परिवार प्रणाली का भी चित्रण किया है। सम्मिलित परिवारों में भाभी की स्थिति बहुत दयनीय होती है क्योंकि देवर उसके साथ छेड़छाड़ करता है और वह उसके विरुद्ध शिकायत भी नहीं कर सकती क्योंकि शिकायत करने पर घर में कलह हो जाने की आशंका रहती है। बिहारी ने लोकजीवन को खुली आँखों से देखा था अतः उनकी सूक्ष्म द ष्टि से लोकजीवन का कोई भी पक्ष अनदेखा नहीं रह सकता था। बिहारी ने ऐसी ही एक भाभी की दयनीय स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है -

"कहति न देवर की कुबत, कुल-तिय कलह डराति।
पंजरगत मंजार-ढिंग, सुक ज्यौं सूकति जाति"॥

बिहारी ने हिन्दू परिवारों में प्रचलित रूढ़ियों परम्पराओं का भी सजीव वर्णन किया है। उदाहरण के लिए यह दोहा देखिए - जिसमें कवि ने नवविवाहिता के पहली बार ससुराल जाने पर 'मुँह दिखाई' की परम्परा का वर्णन किया है -

"मानहु मुंह बिखरावनी, दुलहिनी करि अनुरागु।
सासु सदनु मनुललनहूँ, सौतिनु दियौ सुहागु"।।

कवि ने हिन्दुओं के अनेक पर्वों-त्यौहारों आदि का भी वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णनों में होली, तीज, दशहरा आदि सम्बन्धी वर्णन बहुत रुचि-पूर्ण बन पड़े हैं। तथापि होली अथवा फाग के वर्णन में कवि का मन सबसे अधिक रमा है। होली राग-रंग का त्यौहार होता है, गुलाल और रंग की पिचकारियों में नायिका का तन-मन भीग जाता है। कवि बिहारी ने होली के त्यौहार का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है -

"जज्यौं उझकि झाँपति बदनु, झुकति बिहंसि सतराइ।
तत्यौं गुलाल-मुठी झुटी, झझकावत प्यौ जाइ॥

दियौ जु पिय लखि चखनु मैं, खेलत फाग-खियालु।
बाढत हूं अति पीर सुन, काढत बनतु गुलालु॥

छुटत मुठिनु संग ही छुटी, लोकलाज, फुल-चाल।
लगे दुहुनु इक बेर ही चल चित नैन गुलाल"॥

कवि बिहारी की एक अन्यतम विशेषता यह भी है कि उन्होंने केवल सामन्तों और सम्पन्न लोगों के ऐवर्श्यमय जीवन का ही वर्णन नहीं किया है अपितु कहीं-कहीं अत्यन्त सामान्य स्तर के लोगों के जीवन की झाँकी भी प्रस्तुत की है। दूसरे शब्दों में बिहारी ने केवल सुरा और सुन्दरी की रंगीन कथाओं का ही वर्णन नहीं किया है, उन्होंने हुक्का पीने वाले ग्रामीण का तथा चरखा कातने वाली ग्राम्या का भी वर्णन किया है। इस द ष्टि से बिहारी के निम्न दो दोहे देखिए -

"ज्यौं कर त्यौ चिकुटी चलति, ज्यौं चिकुटी, त्यौं नारि।
छवि सौं गति सीलै चलति, चातुर का नहारि॥

तथा–

ऊँचै, हाँसी भरी द ग भौंहनु की चाल।
मो मनु कहा न पीलियौ, पियत तमाकू लाल॥"

(ग) धार्मिक परिस्थितियाँ

बिहारी के युग में धर्म की स्थिति भी राजनीति की तरह ही अस्थिर और अप्रत्याशित थी। धर्म के प्रति बिहारी का द ष्टिकोण आद्योपान्त उदार रहा है। इस द ष्टि से उनका यह दोहा देखिए –

"अपनैं अपनैं मत लगे, बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ, एकै नन्द किसोरु"॥

बिहारी ने कबीर की भान्ति ही भक्ति के क्षेत्र में प्रचलित बाह्यडम्बरों की घोर निन्दा की है –

"जप–माला छापैं तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचैं ब था, साँचै राँचै राम"॥

बिहारी ने मन की सच्चाई पर बहुत बल दिया है। धर्म के क्षेत्र में बिहारी की उदारता का परिचय इस बात से भी मिलता है कि वे राम और कृष्ण में कोई भेद स्वीकार नहीं करते और कदाचित् इसी कारण कहीं राम का और कहीं कृष्ण का नाम लेते हैं। उन्होंने राधा–प्रधान भक्ति का भी चित्रण किया है –

"मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि साइ।
जातन की झाँई परत, स्यामु हरित–दुति होइ॥"

तथा–"तजि तीरथ, हरि–राधिका–तन–दुति करि अनिरागु।
जिहिं ब्रज–केलि–निकुंज–मग, पग पग होतु प्रयागु।।"

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि "बिहारी सतसई" में लोकचित्रण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। जिस प्रकार कोई जागरुक कवि अपने युग से विलग नहीं रह सकता, उसी प्रकार बिहारी के लिए भी युग–जीवन से उदासीन रहना असम्भव ही था। रीतिकाल की कविता में जो विशुद्ध रूप से सामन्तीय तथा काव्य परम्परा के धरातल पर पल्लवित और पुष्पित हुई थी, लोकजीवन का चित्रण बिहारी की कवि–प्रतिभा और काव्यकला की सम्पूर्णता का उद्घोषक है।

अध्याय - 6
बिहारी की भक्ति-भावना

'बिहारी की भक्ति–भावना' का निरूपण करते हुए बताइए कि उनकी भक्ति कहाँ तक हार्दिक अथवा सच्ची है?

रीतिकाल के अधिकाँश कवियों ने श्रंगार परक उक्तियों के वर्णन के साथ–साथ भक्ति और नीति विषयक भावनाओं को भी व्यक्त किया है। इस स्थिति के मूल में तत्कालीन युगीन परिस्थितियाँ थीं। रीतिकाल के जन्म की परिस्थितियों में तत्कालीन कृष्णभक्ति साहित्य का बहुत योगदान रहता है। कृष्णभक्त कवियों ने भगवान् श्रीकृष्ण को अन्तरंग सखा, रासलीला करने वाले नटनागर के रूप में चित्रित किया था। इस प्रकार कृष्णभक्त कवियों ने श्रीकृष्ण के माध्यम लौकिक श्रंगार युक्त विविध प्रकार की श्रंगार लीलाओं का चित्रण किया है। इसी कृष्ण भक्ति शाखा का पर्यावसान रीतिकालीन काव्यधारा में हुआ और इस संबंध में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि परिवर्तन बहुत ही शीघ्रता के साथ हुआ। परिणाम यह हुआ कि "शताब्दियों से बहकर आती हुई उस धारा का प्रवाह यद्यपि छिन्न–भिन्न हो गया था किन्तु फिर भी कहीं-कहीं पर वह रस अब भी भरा हुआ था जिसमें रीतिकालीन श्रंगार रस धारा बड़े वेग से आकर मिली। इस प्रकार मिल–जुलकर जो कुछ बना उसमें भक्ति रस की क्षीण सी रेखा कहीं-कहीं दीख ही जाती थी? लौकिक वासना की वायु में श्वास लेने वाले इन कवियों को जब भक्ति रस–सिक्त मंद समीरण छूता हुआ निकल जाता है तो वे क्षण के लिए 'राधिका कन्हाई सुमिरन के बहाने' में इतने तल्लीन हो जाते कि अपने अंगीकृत सूत्र का उन्हें ध्यान तक न रहता।" इस प्रकार रीति काल के ये श्रंगारी कवि भक्ति का राग अवश्य अलापते थे। किन्तु शीघ्र ही वे अपने स्वाभाविक स्वर में बोलने लगते थे। रीतिकालीन श्रंगारी कवियों की भक्तिभावना ठीक वैसी ही थी जैसे कि कोई व्यक्ति विविध प्रकार के लौकिक कष्टों से त्रस्त होकर क्षण भर के लिए ईश्वर नाम का स्मरण करता है और कष्टों के निवारण होते ही पुनः अपनी स्वाभाविक भावभूमि पर उतर आता है। रीतिकालीन कवियों की भक्ति भावना का विश्लेषण करते हुए डॉ० नगेन्द्र कहते हैं "वास्तव में यह भक्ति भी उनकी श्रंगारिकता की एक अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा–कृष्ण का यहीं अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक और तो सामाजिक कवच और दूसरी और मानसिक शरणभूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति भावना से हीन नहीं है–हो ही नहीं सकता था–क्योंकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी उनके विलास–जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसीलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक–नायिका के लिए बार–बार 'हरि' और 'राधिका' शब्दों का प्रयोग किया गया है।" बिहारी

की भक्ति–भावना का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने एक बहुश्रुत और अध्यवसायी कवि की तरह भक्ति परम्पराओं से बहुत कुछ ग्रहण किया है। बिहारी की भक्ति–भावना पर विचार करते समय निम्नलिखित महत्वपूर्ण विषयों पर उनकी उक्तियों का विवेचन अपेक्षित है–ईश्वर का स्वरूप, माधुर्य भाव, संख्य भाव, दीनता को प्रकट करना, नाम की महिमा, आत्म समर्पण, आत्मनिवेदन, सत्संगति की महिमा, स्त्री जाति की निन्दा तथा बाह्यडम्बरों की निन्दा।

(क) ईश्वर का स्वरूप

बिहारी राम और श्रीकृष्ण में किसी प्रकार का भेद नहीं स्वीकार करते थे। कहीं तो बिहारी एकै नन्दकिसोर की उपासना करते हुए दीखते हैं –

"अपने अपने मत लगै, वादि मचावत सोर।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ, एकै नन्दकिसोर"।।

और कहीं वे श्रीराम की भक्ति में लीन दीखते हैं–

"यह बरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढाइ जिहिं कीने पार पयोधि"।।

इन दोहों के आधार पर बिहारी को कृष्णभक्त अथवा रामभक्त मान लेना निश्चय ही भ्रामक होगा। वस्तु स्थिति यह है कि "राम और कृष्ण में ये लोग कोई नहीं समझते थे। भगवान की एक सामान्य भावना लेकर दी अपनी उक्तियाँ गठा करते थे। यही कारण है कि राम की लीला कृष्ण के नाम पर और कृष्ण की लीला राम के नाम पर कह देते थे।" बिहारी के निम्न दोहे में यही धारणा व्यक्त हुई है–

"कौन भाँति रहि है बिरदु अब देखिबौ मुरारि।
बीघे मोसौं आइकैं गीधे गीधहि तारि"।।

भगवान के निर्गुण और सगुण रूपों के संबंध में बिहारी की धारणा इसी प्रकार की रही है। निर्गुण और सगुण के बीच वे किसी प्रकार का भेद नहीं मानते। उदाहरण के लिए बिहारी का निम्न दोहा देखिए जिसमें उन्होंने भगवान के सगुण स्वरूप की वन्दना की है –

"मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जो बाँधे ही तोषु, तो बाँधो अपने गुननु"।।

इसी प्रकार उन्होंने भगवान के निर्गुण स्वरूप का वर्णन भी किया है –

"दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुण निकट रहि, चंग रंग भूपाल"।।

निर्गुण ब्रह्म को यह सर्वव्यापक मानते हैं। ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप के साथ ही उसकी सर्वव्यापकता का भाव भी सिमटा हुआ है। बिहारी ने निर्गुण ब्रह्म की सर्वव्यापकता का वर्णन इस प्रकार किया है–

"मैं समुझयौ निरधार, यह जगु काँचो कांच सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ"।।

निर्गुण ब्रह्म का यह स्वरूप अखिल स ष्टि में प्रतिबिम्बित होता है। यही निर्गुण ब्रह्म भक्त के मन में बसा होता है। इस द ष्टि से बिहारी का यह दोहा देखिए –

"मोहन मूरति स्याम की अति अद्‌भुत गति जोइ।
बसतु सु चित–अन्तर, तऊ प्रतिबिंम्बितु जग होइ"।।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि "बिहारी के ईश्वर के स्वरूप का वर्णन पूर्ववर्ती सगुण काव्य–परम्परा के अनुसार ही किया है। इस वर्णन में दार्शनिक का चिन्तन भी है, भक्त की सहजानुभूतियाँ भी हैं और चमत्कार–प्रधान युग के मुक्तककार कवि की चमत्कारिक उक्तियाँ भी हैं।"

(ख) माधुर्य भाव

कृष्ण भक्त कवियों की भक्तिपरक रचनाओं में माधुर्य भाव की बहुलता रहती है और उनकी यह प्रव ति रीतिकाल की भक्तिपरक रचनाओं में भी बराबर मिलती है। भक्ति के क्षेत्र में श ंगार और प्रेम के बाहुल्य से माधुर्य भाव की उत्पति होती है। इस प्रकार से मधुर भक्ति में लौकिक श ंगार के प्रायः सभी पक्षों का समावेश हो जाता है। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में, "जिस भक्त कवि का श ंगार, लौकिक द ष्टि से जितना घोर होता है वह भक्त उतना ही अधिक अपने आराध्य के समीप माना जाता है। कृष्ण काव्य में कृष्ण की अनेक स्थूल रति क्रीड़ाओं का वर्णन होने का यही कारण है।" बिहारी मूलतः श ंगारी कवि हैं अतः उनकी भक्तिपरक उक्तियों में माधुर्य भाव की बहुलता नितान्त स्वाभाविक है। बिहारी ने अनेक दोहों में राधा और कृष्ण के मध्य लौकिक श ंगार के अत्यन्त सजीले चित्र प्रस्तुत किए हैं। उदाहरण के लिए बिहारी का निम्न दोहा देखिए जिसमें राधा और कृष्ण को विपरीत रति का सुख भोगते हुए दिखाया गया है –

"राधा हरि, हरि राधिका बनि आए संकेत।
दम्पति रति–विपरीत–सुखु, सहज सुरत हूँ लेत।।"

श्रीकृष्ण राधा के प्रति बहुत आसक्ति रखते हैं। राधा की सखियाँ राधा को श्रीकृष्ण की आसक्ति से अवगत करा रही हैं –

"तो पर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उरबसी ह्वै उरबसी समान"।।

राधा और कृष्ण का यह प्रेम एक तरफा नहीं है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण के मन में राधा के प्रति अत्यधिक आसक्ति है उसी प्रकार राधा भी श्रीकृष्ण को बहुत गहरा प्रेम करती है। राधा के इस अनुराग का वर्णन करते हुए बिहारी कहते हैं –

"स्याम–सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा तीरु।
अँसुवनु करति तरौंस कौ, खिनकु खरौहौं नीरु"।।

बिहारी के कृष्ण भक्ति संबंधी दोहों पर भक्तिकाल की कृष्ण भक्ति शाखा के विभिन्न सम्प्रदायों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा को सर्वोपरि माना गया है। और उसके समक्ष श्रीकृष्ण की स्थिति आराधक–उपासक से अधिक नहीं है। श्रीहितहरिवंश में श्रीकृष्ण को राधा के चरणों में लौटने वाले आराधक की तरह व्यक्त किया गया है –

"रसधन मोहन मूर्ति विचित्र केलि महोत्सववोल्लसितमै।
राधा चरण विलोडित रुचिर श्खिंड हरिबंदै"।।

इन पंक्तियों के संदर्भ में बिहारी का निम्नलिखित दोहा द ष्टव्य है –

"मोर चन्द्रिका स्याम–सिर, चढि कत करति गुमानु।
लखिबी पाइनु पर लुठति, सुनियतु राधा–मानु"॥

यही नहीं, बिहारी ने राधा को अपार सौन्दर्य और भक्तों को उनके पापों से मुक्ति दिलाने वाली महान् शक्ति के रूप में भी चित्रित किया है। इस प्रकार के चित्रण में कवि ने राधा में लौकिक सौन्दर्य और अलौकिक शक्ति का सम्मिश्रण प्रस्तुत किया है। इस द ष्टि से 'बिहारी सतसई' का सबसे पहला दोहा देखिए –

"मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झांई परै, स्यामु हरित–दुति होइ"॥

बिहारी सतसई में मधुर भक्ति के अन्तर्गत राधा–कृष्ण के लौकिक प्रेम के विविध पक्षों का सजीव वर्णन किया गया है। बिहारी के अनेक श ंगारपरक दोहे किसी न किसी रूप से राधा–कृष्ण के परस्पर प्रेम–संबंधों को ही व्यक्त करते हैं। राधा कृष्ण के इन प्रेम –संबंधों में संयोग की सुखमय घड़ियाँ भी हैं और वियोगजन्य पीड़ा भी। बिहारी ने राधा–कृष्ण प्रेम के इन दोनों पक्षों का सजीव चित्रण किया है। संयोग अथवा मिलन के क्षणों के वर्णन में कवि का मन स्वभावतः अधिक रमा है। इस द ष्टि से बिहारी के निम्न दोहे देखिए जिन में संयोग श ंगार की विभिन्न क्रीड़ाओं का भावपूर्ण चित्रण किया गया है –

"दोऊ चोर महीचनी, खेलु न खेलि अघात।
डरत हियैं लपटाइ कै, छुवत हियैं लपटात॥

चमक तमक हांसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
एजिहिं रति, सो रति मुकति, और मुकति अतिहानि॥

बरसत लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौं हनु हंसै, दैन कहैं नटि जाइ॥"

इसी प्रसंग में बिहारी ने राधा के नखशिख सौन्दर्य का भी वर्णन किया है। अंकुरित यौवना नायिका के सौन्दर्य का वर्णन देखिए –

"अपने अंग के जानिकै, जोबन–न पति प्रवीन।
स्तन, मन, नैन, नितम्ब कौ, बड़ौ इजाफा कीन"॥

बिहारी ने राधा–कृष्ण के प्रेम–प्रसंग के वर्णन में संयोग के साथ–साथ विरह–जन्य पीड़ा का भी वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि बिहारी को जो सफलता संयोग-वर्णन में मिल पाई है, वह वियोग–वर्णनों में नहीं मिल सकी है। अनेक स्थलों पर इस प्रकार के वियोग-वर्णनों में ऊहात्मक पद्धति का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए निम्न दोहा देखिए –

"आड़ै दै आले बसन, जाड़े हूँ की रीति।
साहसु कर, स्नेह–बस, सखी सबैं ढिंग जाति॥"

अर्थात् विरहिणी नायिका की सखियाँ सर्दियों की ऋतु में भी गीले वस्त्र पहन उसके निकट जाती है क्योंकि उन्हें यह आशंका है कि विरहिणी के निकट जाने से उसकी विरह की आग उन्हें भी

जला देगी। ऐसी विरहिणी के लिए तो मर जाना ही श्रेयस्कर है। एक ऐसी ही विरहिणी की सखी श्रीकृष्ण से कहती है कि –

"कहा कहौं बाकी दसा, हरि प्राननु के ईस।
विरह–ज्वाल जरिबो लख मरिबो भई असीम"।।

(ग) सख्य भाव

हिन्दी के विभिन्न भावों में सख्य–भाव का अपना विशिष्ट स्थान है। हिन्दी के भक्तिकाल में विशेष भाव से कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं में इसी सख्य–भाव की बहुलता है। सख्य–भाव की एक विशेषता यह होती है कि कवि अथवा भक्त अपने आराध्य के प्रति अपेक्षा तथा अधिक अधिकारपूर्ण ढंग से कह सुन सकता है। इस द ष्टि से कृष्ण भक्त कवियों की उपालम्भपूर्ण उक्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखय है। बिहारी के निम्न दोहे में इसी प्रकार की उपालम्भपूर्ण शैली का प्रयोग किया गया है –

"बन्धु भए का दीन के, को तार्‌यो रघुराय।
तूठे तूठे फिरत हौं, झूठे बिरद कहाय"।।

इसी प्रकार बिहारी का निम्न दोहा भी देखिए जिसमें कवि ने भगवान की कृपा से ही आकांक्षा की है। जिस भक्त पर ईश्वर की कृपा हो जाती है, उसे संसार के सारे सुख मिल जाते हैं। बिहारी के अन्य दोहों में इसी प्रकार के भाव को व्यक्त किया गया है।

(घ) दीनता का प्रकाशन

भक्ति के क्षेत्र में दीनता का प्रकाशन ईश्वर की कृपा प्राप्त करने हेतु किया जाता है। दीनता का प्रकाशन इसलिए किया जाता है कि आराध्य अथवा उपासक को भक्त के दैन्य पर दया आ जाए और वह भक्त को पापों से मुक्ति दिला सके। हिन्दी के भक्ति साहित्य में महाकवि तुलसी और सूरदास आदि ने अपनी रचनाओं से दैन्य भाव की सजीव अभिव्यक्ति की है। इस द ष्टि से बिहारी ने भी इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए कहा है –

"कीजै चित सोई, तरे जिहि पतितनु के साथ।
मेरे गुन–औगुन गननु, गनौ न, गोपीनाथ"।।

इस संबंध में बिहारी का निम्न दोहा भी उल्लेख्य है जिसमें उन्होंने ईश्वर की पापोद्धारक क्षमता को चुनौती दी है –

"कौन भाँति रहि है बिरदु, अब देखिबी मुरारि।
बीधे मोसौ आइकै, गीधे गीधहिं तारि"।।

बिहारी के उक्त दोहे के संदर्भ में सूर का निम्न पद द्रष्टव्य है–

"हरि हौं सब पति तनको राउ।
को करि सकै बराबरि मेरी, सोधौ मोहि बताउ।।

व्याध गीध अरु पतित पूतना तिन में बढि जौ और।
तिनमें अजामील गनिका अति उनमें मैं सिरमौर।।

जहँ तहँ सुनियत यहँ बड़ाई, मो समान नहि आन।
अब जो आजु–काल के राजा तिनमें मैं सुलतान।।

अब लौ तो तुझ बिरद बुलायो भई न मोसौं भेंट।
तजौ बिरद कै मोहि उबारौ, 'सूर', गही कसि फेंट।।"

(ड़) नाम-महिमा

हिन्दी साहित्य में भक्ति काव्य में भगवान के नाम–स्मरण का बहुत अधिक महत्व माना गया है। नाम–स्मरण की यह प्रव ति मध्य–युगीन कवियों में भी मिलती है। उदाहरण के लिए कृष्णभक्त कवि सूरदास की निम्न पंक्तियाँ देखिए–

'को न तर्‌यौ हरि नाम लियै।
सुआ पठावति गनिका तारी, व्याध तरो सर घात किए।
प्रभु ते जन जन तैं प्रभु दरतत, जाकी जैसी प्रीत हिए।।

नाम–स्मरण की प्रव ति का अनुसरण रीतिकालीन काव्य में भी हुआ है। रीतिकाल के श ंगारी कवि बिहारी इसी नाम–स्मरण की महता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि –

"पतवारी माला पकरि, और न कछु उपाउ।
तरि संसार–पयोधि को, हरि–नावैं करि नाउ"।।

(च) आत्म-समर्पण

भक्ति पद्धति की पहली शर्त आत्मसमर्पण की होती है। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में, 'आत्मसमर्पण के द्वारा भक्त अपने आराध्य के प्रति अपनी आस्था ही व्यक्त नहीं करता वरन् उसे अपने ऊपर दया करने को भी विवश करता है। यही कारण है कि भक्तिमार्ग में इस भावना का बहुत ही महत्व है।" आत्मसमर्पण की यह प्रव ति भक्तिकालीन साहित्य में बराबर मिलती है। बिहारी सतसई में भी आत्मसमर्पण की इस प्रव ति के दर्शन होते हैं। बिहारी के निम्न दोहे में इसी प्रकार के आत्मसमर्पण की भावना व्यक्त हुई है –

"दीरघ साँस न लेहु दुख, सुख साई हि न भूलि।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सू कबूलि"।।

भगवान के भक्त का एकमात्र सुख भगवान की कृपा है। उसे सांसारिक वैभव–विलास की कोई कामना नहीं रहती, जीवन के भौतिक सुखों की भी कोई आकांक्षा नहीं रहती, उसे तो केवल आराध्य की कृपा चाहिए। भक्त की स्थायी सम्पति श्रीकृष्ध ही हैं –

"कोऊ कोटिक संग्रहौ कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति जदुपति सदा, विपति–विदारन हार।।"

(छ) आत्म निवेदन

आराध्य को प्रसन्न करने के लिए भक्त भगवान के साथ अपने ढैन्य का वर्णन करता है। और अपने उद्धार की प्रार्थना करता है। भक्तिकालीन कवियों ने अपनी रचनाओं में इसी प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं। उदाहरण के लिए तुलसी की निम्न पंक्तियाँ देखिए –

"जो पै जिय धरिहौ अवगुन जन के।
तो क्यौं कटत सुव त नखते, मोयैं बिपुल व न्द अध वन के।।"

सूरदास की निम्न पंक्तिया भी द्रष्टव्य हैं –

"प्रभु ! मोरे गुन अवगुन न विचारौ।
कीजै लाज सरन आए की, रविसुत त्रास निवारो"।।

तथा–

"प्रभु ! मोरे अवगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो, चाहो तो पार करो"।।

'बिहारी सतसई' में भी इसी प्रकार के आत्मनिवेदन का भाव मिलता है। इस द ष्टि से बिहारी का निम्न दोहा देखिए –

"हरि की जति, विनती यहै, तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डरयौ रह्यौ, परयौ रहौं दरबार"।।

अर्थात् हे हरि, मैंने तो हजारों बार तुमसे यही प्रार्थना की है कि मैं चाहे जिस अवस्था में रहूँ, तुम्हारे ही दरबार में लुढ़कता–पुढ़कता रहूँ। इस प्रकार बिहारी ने कई दोहों में अपने आराध्य के प्रति इस प्रकार का आत्मनिवेदन किया है।

(ज) सत्संगति की महिमा

भक्ति के मार्ग में सत्संगति की अपार महिमा होती है। भगवान की प्राप्ति के विभिन्न साधनों में सत्संगति भी एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। सत्संगति का आश्य है–श्रेष्ठ जनों की संगति। भक्ति साहित्य में सत्संगति का संजीव वर्णन किया गया है। सन्त कबीर कहते हैं–

"संगीत कीजै साधु की, हरै और की व्याध।
ओधी संगति क्रूर की, आठों पहर उपाध"।।

बिहारी भी सत्संगति की महत्ता स्वीकार करते हैं। यही सत्संगति मनुष्य को ऊँचा उठाती है और कुसंगति उसे नीचे गिरा देती है। बिहारी ने निम्न दोहे में इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है –

"संगति सुमति न पा वहि, परै कुमति कै धन्ध।
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होइ सुगन्ध"।।

इसी प्रकार बिहारी का निम्न दोहा देखिए जिसमें पुनः सत्संगति की महिमा का वर्णन किया है –

"अजौं तर्‌यौना ही रहौ, श्रुति सेवत इक रंग।
नाक बाँस बेसरि लहौ, बसि मुकुतनु के संग"।।

प्रस्तुत दोहे में कर्ण फूलों को कानों का साहचर्य प्राप्त हुआ और बेसर मुक्ताओं को नाक का। परिणाम यह हुआ कि बेसर मुक्ताओं की अपेक्षातया अधिक ऊँचा स्थान (नाक का) प्राप्त हो गया जबकि कर्णफूल केवल कान में ही धारण किए जा सके।

(झ) स्त्री-निन्दा

भक्ति के क्षेत्र में सबसे बड़ी बाधा स्त्री होती है। स्वभावतः सभी भक्त कवियों ने मुक्तकंठ से स्त्री जाति की निन्दा की है। किसी ने उसे 'महाठगिनी' कहा तो किसी ने माया की प्रतिकृति कहा। बिहारी ने अधिकांशतः नारी के सौन्दर्य के रूपहले चित्र खींचे हैं किन्तु कतिपय स्थलों

पर उन्होंने स्त्री को भगवान् की भक्ति की सबसे बड़ी बाधा स्वीकार किया है। इस द ष्टि से बिहारी का निम्न दोहा देखिए–

"या भव–पारावार को, उलंधि पार को जाइ।
तिय छवि–छाया–ग्राहिनी, ग्रहै बीच ही आइ"।।

(ञ) बाह्यडम्बरों का विरोध

हिन्दी के भक्ति साहित्य में और विशेष रूप से सन्त साहित्य में बाह्यडम्बरों का तीव्र विरोध होता रहा है। क्योंकि इन बाह्यडम्बरों के कारण भक्ति के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के पापाचारों और कुकृत्यों का जन्म हुआ है। यही कारण है कि भक्ति की शुद्धता के लिए मन की शुद्धता परमावश्यक होती है। जब तक मन विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्डी कृत्यों में खोया रहता है तब तक भगवान की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती। बिहारी ने भी इस प्रकार के बाह्यडम्बरों का तीव्र विरोध किया है। एक स्थल पर तीर्थ–यात्रा का विरोध करते हुए बिहारी कहते हैं कि –

"तजि तीरथ हरि राधिका–तन–दूति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज–केलि–निकुंज–मग, पग पग होत प्रयागु"।।

इसी प्रकार बिहारी का निम्न दोहा भी देखिए जिसमें उन्होंने माला जपने, तिलक लगाने जैसे आडम्बरपूर्ण कृत्यों की निस्सारता सिद्ध की है –

"जप–माला, छापे, तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै व था, साँचै राँचे रामु"।।

अर्थात् जब से सच्चे मन से भगवान का भजन नहीं किया जाता तब तक भगवान प्रसन्न नहीं होते। भगवान तो उसी भक्त पर प्रसन्न होते हैं जो सच्चे मन से ईश–स्तुति करता है। बिहारी के मतानुसार में बाह्यडम्बर भक्ति के पावन–मार्ग में बाधक सिद्ध होते हैं। जिस हृदय में छल–कपट है, बाह्यडम्बरों के प्रति आस्था है, उस हृदय में भगवान् का वास संभव नहीं हो सकता। प्रस्तुत दोहे में यही भाव व्यक्त हुआ है –

"तौ लगु या मन सदन मैं, हरि आवे किहिं बार।
बिकट जटे जौ लगु निपट, खुटै न कपट कपाट"।।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी का मुख्य प्रतिपाद्य तो श ंगार रस ही था। और भक्ति अथवा नीति संबंधी उनकी उक्तियाँ केवल औपचारिकता की पूर्ति की तरह समझी जा सकती हैं। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में, "भक्ति रस में निमग्न होने का वातावरण न तो कवियों के लिए ही था और न श्रोताओं के लिए ही। इस काल मे कवि की काव्य–रचना का, विशेषतः मुक्तकार का मुख्य उद्देश्य अपना पांडित्य प्रदर्शित करना और उसके द्वारा श्रोताओं को चमत्कृत करना था। इसी साधना के लिए इन्होंने जिस प्रकार श ंगारेतर विषयों की गिनी–चुनी उक्तियाँ कही हैं उसी प्रकार भक्तिभाव के भी छींटे यत्र तत्र लगा दिए हैं।" कदाचित् इसी कारण बिहारी के भक्तिपरक दोहों में भी भगवान् के प्रति वह लगन, वह दीवानगी नहीं दीखती जो कि सूर, मीरा आदि भक्त कवियों में मिलती है। उन्होंने भक्ति को केवल सामान्य रूप में ही स्वीकार किया है।

अध्याय - 7
बिहारी की बहुज्ञता

बिहारी के दोहों के आधार पर उनकी बहुज्ञता का परिचय दीजिए।

भारतीय साहित्य में कवि के लिए क्रान्तिदर्शन और मेधावी जैसे विशेषणों का प्रयोग होता रहा है। यजुर्वेद के एक मंत्र के अनुसार कवि को ईश्वर का विशेषण माना गया है –

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो र्थात्।
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समास्यः"।।

व्याकरण की द ष्टि से कवि का अर्थ मेधावी के पर्यायवाची शब्दों के रूप में दिया गया है। निरुक्त के रचयिता यास्क के अनुसार –

"कविः क्रान्तदर्शनोभवति कवतेर्वा"।।

क्रान्तदर्शन का अर्थ है – क्रान्त = व्याप्त, दर्शन = ज्ञान वाला। अमरकोष के अनुसार –

"विद्वान विपश्चिहोषज्ञः सन् सुधीः को विदोबुधः।
धीरी मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः"।।

अमरकोषकार के अनुसार कवि का प्रयोग पण्डित के अर्थ में किया गया है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि "प्रारम्भ में किसी कार्य विशेष के संपादन की निपुणता जो उस क्षेत्र में ज्ञानाधिक्य की जननी कही जा सकती है 'कवि' शब्द से अभिप्रेत थी। कालान्तर में यह शब्द भी योग तप आदि के समान भाषा–विज्ञान के विशेषीकरण के नियमानुसार विशेषपरक हो गया और सामान्य विद्वान का अर्थबोध न करके शब्दार्थ–योजना–निपुण के अर्थ में व्यवहृत होने लगा।" इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि शब्द के अन्तर्गत सामान्यः निपुणता, प्रतिभा, बहुज्ञता, क्षमता तथा विद्वान आदि विविध गुणों का समावेश हो जाता है।

आचार्य मम्मट ने काव्य हेतुओं का विवेचन करते हुए कहा है –

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्य वेक्षणात्।
काव्यजश्क्षियाभ्यासं इतिह हेतुस्तदुद्भवे"।।

मम्मट आगे चल कर यह भी कहते हैं कि 'शक्तिः कवित्वरूपः संस्कार-विशेषः, यां बिना काव्यं न प्रसरेत् प्रस तं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्था रजङ् गभात्मकलोव तस्य शास्त्राणं छन्दो व्याकरणाभिधान-कोषकला-चतुर्वर्मगजतु रगरवङ् गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकवि संबन्धिनाम्। आदि ग्रहणादिति हासादीनां च विभर्शनाद् व्युत्पतिः। काव्यं कुतुविचारयितुं च ये जना जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रव त्तिरति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न ते हे तवः"।

अर्थात् कविता करने की बीज रूप शक्ति के अभाव में काव्य का स जन हो ही नहीं सकता।

काव्य की उत्पति के हेतु—स्थावर जंगम लोक का व त, छन्द, व्याकरण, अभिधान कोष, विविध प्रकार की कलाएँ, चतुर्वर्गो का सम्यक् ज्ञान, गज, अश्व—खंड्ग आदि संबंधी लक्षण ग्रन्थों का पारायण महाकवियों की कृतियों का अध्ययन तथरा काव्य की स ष्टि करने वाले एवं काव्यमर्मज्ञों द्वारा मार्गदर्शन के साथ निरन्तर अभ्यास—ये सभी तत्व समवेत रूप में काव्य हेतु होते हैं, अलग अलग नहीं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कवि को अनेक शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। वस्तुतः यह आवश्यक नहीं है कि कवि को उपरोक्त सभी शास्त्रों का गहन ज्ञान हो। आवश्यकता केवल इस बात की है कि कवि को इन विभिन्न शास्त्रों आदि का सामान्य ज्ञान अवश्य होना चाहिए जिससे कि किसी विषय अथवा शास्त्र का प्रसंग उपस्थित होने पर कोई प्रतिकूल कथन न कहा जाए। कविता विशुद्ध रूप से हृदय की वस्तु है, मस्तिष्क की नहीं। कविता के क्षेत्र में बुद्धि को केवल उसी सीमा तक प्रवेश मिल सकता है जहाँ तक वह भावों के उत्कर्ष की साधक सिद्ध होती है। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में "शास्त्रीय ज्ञान अथवा लौकिक बहुलता का उपयोग भाव तक पहुंचाने के लिए शार्टकट बताने वाले रूप में ही होना चाहिए। ऐसा प्रसंग आने पर जहाँ इसके बिना वर्ण्यविषय तक सहृदयों की पहुँच हो ही न सके, मोटी—मोटी, सामान्य और सन्तुलित बातें रखी जा सकती हैं। काव्य की रचना किसी शास्त्र विशेष के विद्वानों अथवा बहुश्रुत पण्डितों के लिए ही नहीं की जाती, उसका उद्देश्य सहृदयता का एक निश्चित सामान्य स्टैण्डर्ड को द ष्टिकोण में रखकर तदनुकुल ही अपने ज्ञान या विज्ञान का भावसाधना के लिए उपयोग करने वाला कला—कार ही सुकवि कहलाता है।" संस्कृत के पिछले खेमे के कवियों में पण्डिती की वाह—वाह लूटने के लिए पांडित्य प्रदर्शन की प्रव ति अवश्य मिलती है किन्तु हिन्दी का यह युग दूसरा ही था। हिन्दी के कवियों के समक्ष सहृदय—समाज की वाह—वाह लूटने का प्रश्न था, अतः स्वभावतः उन्होंने पांडित्य प्रदर्शन के करतबों में कोई रुचि नहीं ली। सूर, तुलसी, मीरा आदि की लोकप्रियता का रहस्य ही यह है कि इन सभी कवियों ने सहृदय—समाज के लिए काव्य स जन किया था, पंडितों के लिए नहीं। हिन्दी के केवल केशव ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने घोर—संस्कृतनिष्ठ, शब्दावली और कल्पना के चमत्कार का प्रदर्शन किया और इसके लिए उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' की उपाधि भी ढोनी पड़ी। इस संबंध में आलोचकों की एक विचित्र प्रव ति के दर्शन भी होते हैं—एक और तो ऐसे कवि हैं जो कि अवसर मिलते ही अपनी विद्वता और पांडित्य का प्रदर्शन करने से नहीं चूकते, दूसरी और आलोचकों की भी कमी नहीं है, जोकि किसी कवि की रचना में आयुर्वेद के चार शब्दों को ढूँढ कर उसे आयुर्वेद की संज्ञा देने में एक क्षण का विलम्ब नहीं करते। होता यह है कि कवि की रचनाओं में किसी शास्त्र विशेष की दो—चार स्थूल—सी बातें मिलीं और उस कवि को उस शास्त्र का महान ज्ञाता मान लिया गया। उदाहरण के लिए बिहारी के निम्न दोहे देखिए जिनके आधार पर लोगों ने बिहारी को महान् आयुर्वेदज्ञ मान लिया है —

"बहु धनु लै अहसानु कै पारौ देत सराहि।
बैध—बधू हंसि भेद सौ, रही नाह मूंह चाहि।।

मैं लखि नारी ज्ञान करि, राख्यौ निरधारु यह।
वह ई रोगु—निदानु, वहै बैध औषधि वहै।।

यह बिनसत नग राखि कै, जगत बड़ौ जस लेहु।
जरी विषम जुर जाइये, आय सुदरमन देहु।।

उपर्युक्त दोहों में आयुर्वेदशास्त्र से संबंधित पाँच शब्दों का प्रयोग किया गया है। पारौ अर्थात् पारद भस्म, नारी ज्ञानु अर्थात् नाड़ी विलान, रोगु निदानु अर्थात् रोग—निदान, विषम—जुर अर्थात्

विषम ज्वर और सुदरसन अर्थात् सुदर्शन। निश्चय ही ये पाँचों शब्द ऐसे हैं जिनसे कोई भी सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भली भाँति परिचित होगा। यदि किसी भी कवि को आयुर्वेदज्ञ अथवा गणितज्ञ अथवा ज्योतिषविद् मकानने का यही आधार है, तो कवि, कवि न रह कर वैद्य, गणितज्ञ और ज्योतिषी कहलाएँगे। कवि रत्नाकर ने भी "सुदरसन" का प्रयोग किया है, तो उन्हें भी वैधराज मान लिया जाए। ठीक इसी आधार पर बिहारी को, उनके कुछ दोहों के आधार पर गणितज्ञ की गौरवपूर्ण पदवी से विभूषित किया गया है। यह अवलोकनीय है कि निम्न दोहों में गणित शास्त्र की कौन–सी बारीकियाँ दी हुई हैं –

"कहत सबै, बैंदी दियै आँक दसगुनौ होतु।
तिय लिलार बैंदी दियैं अगिनितु बढत उदोतु।।

कुटिल अलक छुटि परत मुख, बठिगौ इतौ उदोतु।
बंक बिहारी देत ज्यौं दाम रूपैया होतु।।"

उपर्युक्त दोनों दोहों में गणित शास्त्र की दो बातें कही गई हैं–पहली बात तो यह है कि किसी अंक के साथ शून्य लगा देने से संख्या दस-गुनी हो जाती है और दूसरी यह है कि किसी अंक के दाई और बंक बिहारी देने से रकम का द्योतन होता है। इस संबंध में एक विद्वान आलोचक ने ठीक ही कहा है कि "गाँव का मामूली–सा बनिया भी इस बात को जानता है कि रूपया सूचक अंक एक तिरछी पाई खींच कर उसके अन्दर की (बायीं) और रखा जाता है और दाम सूचक दायीं और पर बेचारे की गणितज्ञता कोई नहीं मानता, परन्तु बिहारी को जिन्होंने दोहे में यह भी नहीं बताया कि बंक बिहारी दायीं और देने से दाम रूपया होता है या बायीं और, अनेक आलोचक, 'रामानुजम्' मान बैठे हैं।" इसी प्रकार बिहारी के ज्योतिष ज्ञान की बात ली जाती है। इस संबंध में बिहारी के निम्न पाँच दोहे द्रष्टव्य है –

(i) **"पत्रा ही तिथि पाइयै वा घर कै चहुँ पास।**
नित प्रति पून्यौई रहे आनन–ओप–उजास।।

(ii) **चित पितु मारक लोग गनि, भयौ भयै सुत-सोनु।**
फिरि दुलस्यौ जिय जोइसी, समझै जारज जोगु।।

(iii) **भाल लाल बेदी ललन, आखत रहे बिराणि।**
इन्दुकला कुज में बसी, मनौ राहु भय भाणि।।

(iv) **तिय–तिथि तरन–किसोर–वय पुष्पकाल–सम दोनु।**
काहू पुन्यन पाइयतु, वैस–सन्धि–संकोनु।।

(v) **सनि कज्जल, चख–झख लगन उवज्यौ सुदिन सनेहु।**
क्यों न नपति है भोगवै, लहिं सुदेसु सबु देहु।।

उपरोक्त पाँच दोहों में से पहले तीन दोहों में पत्रा, तिथि, पूर्णिमा, मारक, जारजयोग, राहु आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है जोकि निश्चय ही ज्योतिष के विशिष्ट ज्ञान का परिचायक नहीं है। इन शब्दों का प्रयोग सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी प्रायः करता रहता है। पाँचवें अर्थात् अन्तिम दोहे में अवश्य ही ज्योतिष–शास्त्र की बात का वर्णन है जोकि सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता। इस दोहे पर जातक–संग्रह के निम्न श्लोक का सुस्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है –

"तुला को दण्डमीनस्थो, लग्नस्तो पि शनैश्चरः।
करोति नपतेर्जन्म, वंशे च नपतेर्भवेत।।

अर्थात् जिस बालक के जन्म लग्न में तुला, धनु और मीन के शनि स्थित होते हैं, वह बात राजवंश में जन्म लेता है। इसी प्रकार बिहारी के निम्न दोहे में पुनः उनका ज्योतिष–ज्ञान परिलक्षित होता है। बिहारी के इस दोहे का विवेचन करने से पूर्व निम्न श्लोक देखिए–

"एक नाड़ीसमारुढौ चन्द्रमाधरणीसुतौ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्त दैकार्णपिता मही"।।

अर्थात् जब चन्द्रमा, मंगल और ब हस्पति, एक ही नाड़ी पर स्थित होते हैं तो इतनी वर्षा होती है कि प थ्वी ही समुद्र का रूप धारण कर लेती है। इस श्लोक के सन्दर्भ में बिहारी का निम्न दोहा देखिए -

"मंगल बिन्दु सुरंगु, मुख ससि केसरि-आड़ गुरू।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगत"।।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी को गणित और आयुर्वेद का भले ही विशिष्ट ज्ञान न हो, किन्तु ज्योतिष का उन्हें निश्चय ही अच्छा ज्ञान था। कतिपय आलोचकों ने बिहारी के कुछ दोहों के आधार पर उन्हें पौराणिक भी घोषित कर दिया है। इस द ष्टि से इन आलोचकों ने बिहारी के निम्न दोहों को आधार माना होगा–

"पिय बिछुरन कौ दुसह दुख, हरषु जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियत, तजत प्रान इहिबार।।

मोर मुकुट की चन्द्रकनि, यों राजत नन्द नन्द।
मनु ससि–सेखर की अकस किय सेखर सतचन्द।।

रह्यौ ऐचि अन्त न लहै, अवधि दुसासन वीर।
आली बाढत बिरह ज्यों पंचाली के चीर।।

विरह–विद्या जल परस बिन, बसियत मो–मन तात।
कछु जानत जल–थंभ–निधि, दुरजोधन लौं लाल।।

बसि संकोच–दस–बदन बस, साँच दिखावत बाल।
सिय लौं सोधति तिय तनहिं, लगनि अगनि की ज्वाला।।

प्रलय करन बरसन लगे जुरि जलधार एक साथ।
सुरपति–गर्व हरयौ हरषि गिरिधर, गिरिधर हाथ।।

यों दल काठे बलख तैं तूं जयसाह भुआल।
अदर–अधासुर के परे ज्यौ हरि गाय–गुवाल।।

छवैं छिंगुनी पहुँचौ गिलत, अति दीनता दिखाय।
बलि बामन को ब्यौंत सुनि, को बलि तुम्हैं पत्याय"।।

उपर्युक्त दोहे में भारतीय पुराणों के अनेकानेक प्रसंगों का उल्लेख है किन्तु ये सारे प्रसंग ऐसे हैं जोकि किसी भी भारतीय के लिए नितान्त अपरिचित नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार के प्रकारण जनजीवन में इतने घुलमिल जाते हैं कि सामान्य व्यक्ति के लिए वे अजाने नहीं रह जाते। अतः इस आधार पर बिहारी को पौराणिक कवि मान लेना उनके प्रति अन्याय कहा जायेगा। वस्तुतः इस प्रकार के प्रसंग बिहारी के दोहों में ही नहीं अनेक अन्य भक्त कवियों की रचनाओं में सहज उपलब्ध हैं किन्तु ऐसी रचनाओं को लेकर ही उन कवियों का नामकरण नहीं कर दिया जाता।

एक बात और, यदि बिहारी को आयुर्वेद–शास्त्र संबंधी कतिपय दोहों को लेकर उन्हें आयुर्वेदज्ञ माना जाता है और गणित की कुछ एकदम सीधी सादी बातों का उल्लेख करने पर उन्हें गणितज्ञ का स्थान दे दिया जाता है तो उनके निम्न दोहे के बल पर उन्हें एक महान् और कुशल बधिक मानने की बात पर भी विचार किया जाना आवश्यक होगा –

"खौरि पनिच, भ कुटि धनुष, बधिकु–समरु तजि कानि।
हनत तरून म ग, तिलक–सर, सुरक भाल भरि तानि"।।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी को अनेक शास्त्रों, विद्याओं आदि का सामान्य ज्ञान अवश्य था। इस संबंध में आचार्य मम्मट के काव्य हेतु संबंधी विवेचन को ध्यान में रखना होगा। आचार्य मम्मट के अनुसार शास्त्रज्ञान से अधिक महत्व लोकज्ञान का है। वस्तुतः सभी शास्त्रों, विद्याओं आदि के ज्ञान से कहीं अधिक उपयोगी लोक–ज्ञान है। जिस कवि ने संसार को खुली आँखों से देखा और परखा है, उसकी कविता में जीवन का सार सहज ही समाहित हो जाता है। बिहारी की सफलता का रहस्य उनकी बहुज्ञता नहीं बल्कि उनकी यह सूक्ष्म द ष्टि है जिससे उन्होंने अपने युग के लोकजीवन की सभी बारीकियों को देखा और पूरी ईमानदारी से व्यक्त किया। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में "लोक के भीतर आँख खोलकर चलने और विभिन्न प्रकार के परिपक्व अनुभव प्राप्त करने में बहुज्ञता का अधिकाँश पेट भरा जाता है। जो कवि अपने इस ज्ञान और अनुभव के भण्डार को शब्द की सुन्दर मंजूषाओं में भर कर संसार के सामने देखता है, वह मानो उसकी कच्ची वस्तु से पक्का माल तैयार कर उसे देता है, लोक की वस्तु जनता जनार्दन को ही समर्पित कर देता है।" बिहारी की लोक पर्यवेक्षण की सीमाएँ निश्चय ही संकुचित थी और इस प्रकार स्वभावतः उनके अनुभव का दायरा भी सीमित था। तथापि इन सीमाओं के भीतर कुछ भी ऐसा नहीं था जो उनकी सूक्ष्म–द ष्टि से बचा रहा हो। उनकी सतसई में उनका युग पूरी समग्रता के साथ चित्रित किया है। सामाजिक परिस्थितियों के अन्तर्गत तत्कालीन समाज में व्याप्त विभिन्न प्रकार के धार्मिक विश्वासों तथा अंधविश्वासों आदि का चित्रण किया है। उस युग में प्रचलित तीज–त्यौहारों का भी सजीव वर्णन किया गया है। बिहारी ने होली, तीज, दशहरा, गणेशपूजन तथा संक्रान्ति आदि विभिन्न पर्वो का सजीव वर्णन किया है। इसी प्रकार तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत मुगल शासकों की आपसी दलबन्दी, सुलतानों और अमीरों के संघर्ष, दुहरे शासन की चक्की में पिसती हुई निरीह जनता की असहायावस्था का मार्मिक वर्णन किया गया है। बिहारी ने यत्र–तत्र नीति और भक्ति विषयक दोहों की रचना भी की है। तथापि इन सबके मूल में उनकी पर्यवेक्षण क्षमता का ही महत्व है, उनकी बहुज्ञता का नहीं, उनके नीति विषयक दोहे अधिकांशतः उनके व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों के परिचायक हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बिहारी का निरीक्षण–क्षेत्र व्यापक था किन्तु उन्हें किसी शास्त्र अथवा विद्या का महान् विद्वान मान लेना उनके प्रति अन्याय करना होगा। उनके दोहों की सफलता और लोकप्रियता के मूल में उनकी बहुज्ञता नहीं, उनकी पर्यवेक्षण द ष्टि है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "जन–जीवन से अनेक प्रचलित बातों को उठाकर उन्होंने अपने काव्य में यथावसर गूँथ दिया है। जो भी वस्तु उनकी द ष्टि में आई, जिस किसी का निरीक्षण उन्होंने किया उसकी तह तक पहुँच जाने की उनमें विलक्षण शक्ति थी।" उनमें विलक्षण शक्ति थी।"

अध्याय - 8
सतसैया की दोहे.....

सतसैया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर।
देखने में छोटे लगै धाव करे गम्भीर।।

इस दोहे के आधार पर बिहारी कवि की अर्थ गम्भीरता, भावविवशता एवं सुगठित पदावली की व्याख्या कीजिए।

काव्य का मूल तत्व भाव है। जिस कविता में भावों का सौन्दर्य नहीं, वह केवल शब्द चमत्कार ही उत्पन्न कर सकती है, अन्तर्मन का स्पर्श नहीं कर सकती। भाव–सौन्दर्य का सीधा संबंध काव्य के भावपक्ष से होता है। काव्य शास्त्र में काव्य को स्थूलतः दो भागों में बाँटा जाता है–भाव पक्ष और कला पक्ष। भाव पक्ष का आशय भाव संयोजना से होता है और कला पक्ष का संबंध अभिव्यंजना से होता है। आदर्श काव्य में कला पक्ष अर्थात् काव्य का बहिरंग उतना ही सम द्ध होता है जितना कि उसका भावपक्ष अर्थात् अन्तरंगा। बिहारी की गणना उन गिन–चुने कवियों में की जाती है जिनके काव्य का बहिरंग और अन्तरंग समान रूप में सम द्ध है। बिहारी–सतसई की एक अन्य विशेषता यह है कि दो–दो पंक्तियों के दोहों में कवि ने अपार भाव–सम्पदा का समावेश कर दिया है। कदाचित् इसी विशेषता को द ष्टिगत रखते हुए किसी आलोचक कवि ने यह कहा भी है कि –

"सतसैया के दोहरे, ज्यौं नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर"।।

अर्थात् सतसई के दोहे नावक अर्थात् शिकारी के बाणों की तरह हैं जो देखने में बहुत छोटे लगते हैं किन्तु लक्ष्य संधान की कसौटी पर पूरी तरह खरे उतरते हैं। कवि ने 'गागर में सागर' भरने की उक्ति चरितार्थ की है। उनके एक–एक दोहे में भावों की अपरिमित सम्पदा बिखरी पड़ी है। बिहारी की इस भाव संयोजना के प्रमुख आधार हैं–शब्द योजना, क्रियाविदग्धता, वाग्विदग्धता, ध्वनि योजना, मुद्राविधान। इन सभी तत्वों का संक्षिप्तता विवेचन निम्नानुसार है –

(क) शब्द योजना

शब्द योजना का आशय शब्दों के कुशल प्रयोग से होता है। बिहारी का भाषा पर असाधारण अधिकार था अतः उन्होंने शब्दों का अत्यन्त कुशल प्रयोग करके भावस ष्टि की है। इसी कारण उनके कुछेक दोहे तो ऐसे हैं कि उनके दो–दो अथवा तीन–तीन अर्थ निकाले जा सकते हैं। उदाहरण के लिए बिहारी सतसई का आरम्भिक दोहा देखिए जिसमें कवि ने कतिपय शब्दों का क्लिष्ट प्रयोग तीन प्रकार के अर्थो की स ष्टि की है –

"मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाई परै, स्यामु हरित–दुति होइ।।"

प्रस्तुत दोहे में झाई, स्यामु और हरित–दुति का प्रयोग श्लिष्टार्थक है और इस आधार पर इस दोहे के निम्नानुसार तीन अर्थ निकाले जा सकते हैं –

(i) कवि कहता है कि जिसके शरीर का प्रतिबिम्ब पड़ने से श्याम वर्ण वाले श्रीकृष्ण हरियाली जैसे वर्ण वाले हो जाते हैं, वही चतुर राधिका मेरी भव बाधाओं का विनाश करे।

(ii) जिसके शरीर की झाँकी श्रीकृष्ण के नेत्रों में पड़ते ही अर्थात् श्रीकृष्ण को उनके दर्शन होते ही वे (श्रीकृष्ण) आनन्दित हो उठते हैं, वही चतुर राधिका मेरे कष्टों का निवारण करे।

(iii) जिनके शरीर का प्रतिबिम्ब हृदय में पड़ने से अथवा हृदय में जिनका ध्यान धारण करते ही श्याम वर्ण वाले पदार्थ जैसे कि पाप, दुख आदि हृत आभा वाले हो जाते हैं अर्थात् अपना दुःखद प्रभाव छोड़ देते हैं, वही चतुर राधिका मेरी सांसरिक बाधाओं का विनाश करे। बिहारी ने अपने दोहों में भाव–संयोजना के निमित्त साभिप्राय विशेष्यों और विशेषणों का प्रयोग भी किया है। उदाहरण के लिए निम्न दोहा देखिए –

"बड़े कहावत आप सौं, गरुवे गोपीनाथ।
तौ बदिहौं, जौ रखिहौं हाथ नुलखि मनु हाथ"।।

प्रस्तुत दोहे में गोपीनाथ शब्द का प्रयोग अत्यन्त सार्थक है। सखी कहती है कि 'हे नायक, यद्यपि तुम गोपियों के नाथ हो अर्थात् अनेक गोपियों के सौन्दर्य को देख चुके हो, तथापि जिस नायिका के संबंध में मैं कह रही हूँ वह अत्यधिक सुन्दर है और उसके सौन्दर्य के सामने अन्य नायिकाओं का सौन्दर्य फीका दीखता है। हे नायक, जब तुम उसके शरीर के एक ही अंग अर्थात् उसके हाथ देखकर ही अपनी सुधि भूल बैठे हो तो उसके सम्पूर्ण शरीर को देखकर तुम्हारी क्या गति होगी। इस प्रकार बिहारी सतसई में एक समर्थ और सम द्ध शब्द योजना के दर्शन होते हैं।

(ख) क्रियाविदग्धा

बिहारी ने क्रियाविदग्धा के माध्यम से भी भावों के सौन्दर्य की स ष्टि की है। जब कोई नायिका अथवा नायक अपने भावों को इतनी कुशलता के साथ व्यक्त करते हैं कि वे दो ही समझ सकें तो कार्य की इस कुशलता को क्रियाविदग्धा कहते हैं। बिहारी की अनेक नायिकाओं में इस क्रियाविदग्धा के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए बिहारी का निम्न दोहा देखिए जिसमें ऐसी ही विदग्धता नायिका का चित्रण किया गया है –

"हरषि न बोली, लखि, ललनु निरखि अमिलु संग साधु।
आँखिनु ही मैं हँसिधरयौ, सीस हियै धरि हाथु"।।

अर्थात् जब नायिका ने नायक को देखा तो वह हर्षित हो उठी किन्तु तभी उसने नायक के साथ कुछ अपरिचित लोगों को देखा अतः वह मुख से कुछ नहीं बोली। आँखों में ही हँसकर उसने अपना हाथ अपने हृदय पर रख लिया। नायिका की इस क्रिया से पुनः पाँच अर्थो का बोध होता है –

(i) हे नायक, तुम मेरे हृदय में बसते हो और जो तुमने मुझसे मिलने के लिए कहा है तो तुम्हारा वह आदेश मेरे लिए अनिवार्य है।

(ii) हे नायक, मैं शिव की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि मैं आधी रात को तुमसे निश्चय ही मिलूँगी।

(iii) हे नायक, दोनों पर्वतों के बीच में पड़ने वाले कुंज में मैं कृष्ण पक्ष की द्वितीया को तुमसे मिलूँगी।

(iv) हे नायक, मैं यमुना तट स्थित शिवालय में तुमसे मिलूँगी।

(v) हे नायक, मुझे मिलने की प्रतिज्ञा का स्मरण है और मैं सूर्यास्त के समय अवश्य ही तुमसे मिलूँगी।

(ग) वाग्विग्धता

वाग्विदग्धता से अभिप्राय वाक्चातर्य से होता है। बिहारी की खंडिता नायिका अपनी वाग्विदग्धता का परिचय देती है और धूर्त नायक की भर्त्सना करती है। उदाहरण के लिए निम्न दोहा देखिए – जिसमें खंडिता नायिका परस्त्री के साथ रति क्रिया करके लौटे हुए नायक की भर्त्सना कर रही है–

"पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आज मिले सु भली करी, भले बने हौ, लाल"।।

अर्थात् परस्त्री गमन करके लौटे नायक को देखकर खंडिता नायिका कहती है कि "हे नायक तुम्हारे पलकों पर लगे हुए पीक (नायिका के पान से रंग होठों द्वारा नायक की पलकों को चूमने का कारण), अधरों पर लगे हुए काजल (नायक द्वारा नायिका के काजल लगे नेत्रों को चूमने के कारण) से सारी वास्तविकता का पता चल रहा है। तुम इस रूप में बहुत अच्छे लग रहे हो।" नायिका का कहने का आशय यह है कि "परस्त्री गमन के इन चिह्नों को लेकर मेरे पास आने में तुम्हें तनिक भी संकोच नहीं हुआ।" इस प्रकार नायिका ने अपने वाक्चातुर्य द्वारा नायक की धूर्तता को प्रकट कर दिया है और साथ ही उसकी भर्त्सना भी कर दी है।

(घ) ध्वनि योजना

काव्य में ध्वनि–योजना का अत्यधिक महत्व होता है। काव्य का वास्तविक सौन्दर्य उसके अभिधार्थ में नहीं, उसके ध्वन्यार्थ में होता है। बिहारी के अनेक दोहों में ऐसे ध्वन्यार्थ का सौन्दर्य देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए निम्न दोहा देखिए जिसमें नायिका प्रत्यक्षतः तो केवल ग्रीष्म के ताप का वर्णन कर रही है किन्तु परोक्षतः वह कुछ और ही कहना चाहती है –

"बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन–तन माह।
देखि दुपहरी जेठ की, छाँहौ चाहति छाँह"।।

अर्थात् जेठ की दुपहरी में ग्रीष्म की प्रचण्डता इतनी बढ गई कि छाँह भी छाँह की कामना करती है और इसी कारण छाया सघन वनों में अर्थात् घरों में छिपी रहती है। यह तो केवल अभिधार्थ है। वस्तुतः नायक और नायिका ने केलिक्रीड़ा की और जब उसके उपरान्त नायक जाने को उद्ध त हुआ तो नायिका ने ग्रीष्म की प्रचंडता का वर्णन किया और इसी प्रकार परीक्षत नायक से न जाने का आग्रह किया। इसी प्रसंग में एक और दोहा देखिए –

"लिखन बैठि जाकी छबी, गहि गहि गरब गरुर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर"।।

अर्थात् अंकुरित यौवना नायिका की एक सखी नायक से कह रही है कि "हे नायक, उस अंकुरित यौवना के सौन्दर्य का यथार्थ चित्र अंकित करने के लिए विभिन्न कलाकार 'गर्व सहित तैयार

हुए किन्तु कितने ही चतुर एवं कुशल कलाकार उसे सौन्दर्य के चित्रांकन में असफल हुए और इस कारण हतबुद्धि भी हो गए।" कवि के कहने का आशय यह है कि अंकुरित यौवना के सौन्दर्य का चित्रांकन करने के लिए संसार के सारे चित्रकार असफल रहे और इस असफलता के कारण वे सभी हतबुद्धि हो गए। यह तो केवल अभिधार्थ हुआ। इस दोहे के अनेक ध्वन्यार्थ हो सकते हैं –

1. नायिका के अपार सौन्दर्य को देखकर चित्रकार को स्तम्भ सात्विक हो गया होगा और इस कारण उसके हाथों ने काम करना बन्द कर दिया होगा। यह भी हो सकता है कि किसी को कम्प सात्विक हो गया और हाथों के काँपते रहने के कारण वह उस नायिका के सौन्दर्य का चित्र उतारने में असफल रहा हो। किसी को प्रस्वेद सात्विक हो गया होगा। ऐसी स्थिति में नायिका के चरित्र का अंकन कैसे सम्भव हो पाता। अथवा अश्रु सात्विक हो जाने के कारण चित्रकार को कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा हो।
2. उस नायिका के सौन्दर्य को चित्रित करने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। यह संभव है कि उसका रूप लावण्य इतना अधिक आकर्षक हो कि जब चित्रकार की द ष्टि उस पर पड़ती हो वह वहीं चिपकी रह जाती हो और फिर चित्र खींचने की सुधि कैसे रह सकती है।
3. यह भी संभव है कि उस नायिका का सौन्दर्य इतना चित्ताकर्षक और असीमित हो कि उसे सीमित आकार वाले फलक पर अंकित करना संभव ही न हो।
4. यह भी संभव है कि वयःसन्धि अवस्था में होने के कारण नायिका का सौन्दर्य प्रशिक्षण परिवर्तित होता रहता हो। होता यह होगा कि चित्रकार नायिका का एक चित्र तैयार करता होगा और जब इस चित्र का मिलान नायिका से करता होगा तो तब नायिका का सौन्दर्य भी परिवर्तित हो जाता होगा।
5. ऐसा भी संभव है कि नायिका इतनी अधिक सुकुमारी हो कि ज्यों ही चित्रकार उसके सौन्दर्य को चित्रांकन करता होगा, वह स्वतः खिंची चली आती हो।
6. ऐसा भी संभव है कि नायिका के अपार लावण्य को देखकर चित्रकार की आँखें चुंधिया जाती हों और फिर वह नायिका को देख ही नहीं पाएगा तो उसका चित्र कैसे उतार सकेगा।
7. यह भी संभव है कि नायिका के शरीर की कान्ति के कारण उसके अंग दिखाई ही नहीं पड़ते हों।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपरोक्त दोहे के कितने अधिक ध्वन्यार्थ निकल सकते हैं। बिहारी की यह सफलता उनकी मौलिकता की परिचायक है।

(ङ) मुद्राविधान

नायक और नायिका के विकारों को मुद्राएँ कहा जाता है। शास्त्रीय भाषा में इन कायिक, विकारों को अनुभाव कहा जाता है। उदाहरण के लिए बिहारी का निम्न दोहा देखिए जिसमें कथावाचक मिश्र जी पुराणों के आधार पर परस्त्रीगमन करने वाले नायक की निन्दा कर रहे हैं किन्तु उनके इस उपदेश को सुनकर उनकी प्रेमिका (जोकि श्रोताओं में से एक थी) मुस्करा पड़ी और उसे देखकर मिश्र जी भी अपनी मुस्कार को बड़ी कठिनाई से रोक पाए –

"पर–तिय–दोषु पुरानु सुनि, लखि भुलकी सुखदानि।
कसु भरि राखी मिश्र हूँ मूँह–आई मुसकानि"।।

अर्थात् जब नायिका ने कथावाचक मिश्र जी के मुख से परस्त्रीगमन के दोष की बात सुनी तो वह मुस्करा पड़ी क्योंकि उसे यह ज्ञात था कि मिश्र जी केवल उपदेश दे रहे हैं। (वे स्वयं परस्त्रीगमन के अपराधी हैं) और मिश्र जी ने नायिका को मुस्कराते हुए देखा तो वे भी मुस्करा पड़े किन्तु जनता की द ष्टि से बचाने के लिए उन्होंने अपनी मुस्कार पर नियंत्रण रखा।

(च) अन्योक्ति विधान

अन्योक्ति विधान का आशय प्रस्तुत अर्थ में अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने से होता है। कई बार कवि की किन्हीं रचनाओं से प्रस्तुत अर्थ के साथ–साथ अप्रस्तुत अर्थ की भी प्रतीत होती है। और उसी को अन्योक्ति विधान कहते हैं। अन्योक्ति विधान की द ष्टि से बिहारी को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है। बिहारी को अन्योक्ति अधिकाँशतः उनके व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध है। जब बिहारी के आश्रयदाता की म त्यु हो गई तो बिहारी को यथोचित सम्मान नहीं मिला और उसी बात को ध्यान में रखते हुए बिहारी कहते हैं –

"जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब, अलि रही गुलाब में, अपत, कंटीली डार"।।

अर्थात् हे भ्रमर, जब तुमने इस गुलाब के पौधे पर सुगन्धितयुक्त गुलाब के फूल देखे थे, वह तो बहार के दिन थे जो अब नहीं रहे। अब तो गुलाब के इस पौधे पर न तो पत्ते रहे हैं और न गुलाब के फूल। केवल काँटों युक्त डालियाँ रह गई हैं। इसी प्रकार बिहारी का निम्न बहुचर्चित दोहा देखिए जिसने महाराणा जयसिंह को उनके कर्तव्य के प्रति सजग कर दिया था –

"नहि परागु, नहिं मधु, नहिं विकासु इहिं काल।
अली, कली ही सौं बन्ध्यौ, आगैं कौन हवाल"।।

अर्थात् हे भ्रमर, अभी तो इस कली में न पराग है, न मधु है और न पूरी तरह विकसित ही हो पाई है। जब अभी से इसके साथ बंधा है तो तब तेरी क्या दशा होगी जबकि यह पूर्णतः विकसित होकर एक सुन्दर फूल का रूप धारण कर लेगी। अन्योक्ति से इसका अर्थ महाराजा जससिंह के संदर्भ में लगाया जाता है। राजा जयसिंह राजकाज को भूलकर अपनी नवपरिणीता के साथ रसविहार में मग्न थे। बिहारी ने विलास और वैभव में डूबे हुए राजा जयसिंह को नई द ष्टि दी, उसके कर्तव्य का बोध कराया। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में, "इस विवेचन से स्पष्ट है कि अनेक प्रकार के आधारों से बिहारी ने अपने दोहों में भाव–गम्भीर्य की संयोजना की है। दोहे जैसे छोटे छन्द में बिहारी ने जितने भाव भर दिए हैं, दूसरे कवि अन्य लम्बे छन्दों को अपनाकर भी वैसी भाव–संयोजना नहीं कर पाये हैं।"

अध्याय - 9
सतसई परम्परा में बिहारी सतसई का स्थान

भारतीय साहित्य में सतसई परम्परा का आरम्भ पाँचवीं शताब्दी में कवि हाल द्वारा विरचित गाहा सतसई अर्थात् गाथा सप्तशती से माना जाता है। इस सतसई की लोकप्रियता का परिणाम यह हुआ कि संस्कृत और हिन्दी भाषा के अनेक सतसइयों की रचना संभव हो पाई। 'सतसई' का शाब्दिक अर्थ है—सात सौ छन्दों का संग्रह। फलतः हिन्दी और संस्कृत में इस प्रकार की अनेक सतसइयाँ लिखी गई। प्रस्तुत संदर्भ में हमारा विवेचन केवल हिन्दी साहित्य की सतसई परम्परा संस्कृत और प्राकृत की सतसई—परम्पराओं से पूरी तरह प्रभावित है। हिन्दी साहित्य में सतसई परम्परा का आरम्भ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित 'तुलसी सतसई' से माना जाता है। 'तुलसी सतसई' की रचना 17वीं में हुई थी। तभी 'रहीम सतसई' का भी प्रणयन हुआ था। तदुपरांत 18वीं शताब्दी में पाँच सतसई लिखी गई—मतिराम सतसई, बिहारी सतसई, रसनिधि सतसई तथा व न्द सतसई। 19वीं शताब्दी में पुनः दो सतसईयों की रचना हुई—राम सतसई तथा विक्रम सतसई। बीसवीं शताब्दी में वियोगी हरि की 'वीर सतसई' का प्रणयन हुआ। हिन्दी साहित्य की इस सतसई परम्परा का संक्षिप्त विवेचन नीचे किया गया है।

(क) तुलसी सतसई

'तुलसी सतसई' की रचना महाकवि तुलसीदास ने विक्रमी संवत 1642 में की थी। इस सतसई में कुल मिलाकर 747 दोहे हैं। इस सतसई में सात सर्ग हैं अथवा प्रकरण हैं और यह दोहा संकलन विशुद्ध रूप से एक भक्तिपरक रचना है। कवि तुलसीदास ने प्रस्तुत सतसई के पहले सर्ग में भक्ति पद्धति का निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त उपासनापरा—भक्ति, कर्म सिद्धान्त, ज्ञान सिद्धान्त, आत्मबोध संबंधी विवेचन, रामभजन संबंधी दोहे और अन्त में राजनीतिशास्त्र संबंधी कुछ दोहे भी हैं। प्रस्तुत सतसई में कवि ने एक उपदेशक की भूमिका का निर्वाह किया है। दोहामात्रिक छन्द में रचित यह सतसई भक्ति और ज्ञान संबंधी कवि के मौलिक चिन्तन की परिचायक है।

(ख) रहीम सतसई

कवि रहीम ने भी तुलसी—सतसई की शैली पर एक सतसई की रचना की थी किन्तु अभी तक 'रहीम सतसई' के नाम से कोई दोहा—संकलन देखने में नहीं आया। तथापि कवि रहीम द्वारा विरचित दोहावली अवश्य मिलती है जिसमें केवल 300 दोहे संग्रहीत हैं। इस दोहावली के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रहीम ने अपने अनुभव के आधार पर जीवन के बहुविध पक्षों का सफल उद्घाटन किया है। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में तुलसी और रहीम की सतसइयों की परस्पर तुलना करते हुए कहा है कि 'यदि इसी 'दोहवली' को उनकी अपूर्ण सतसई माना जाए, तो जैसाकि अनेक विद्वान स्वीकार करते हैं तो यह कहा जा सकता है कि तुलसी की भाँति रहीम की सतसई भी उपदेश—प्रधान है। रहीम को जीवन के विविध पक्षों का गहरा अनुभव

था, इसीलिए उनके दोहों में नीति की जो बातें कही गई हैं, वे व्यावहारिक होने के कारण अत्यन्त प्रभावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी हैं। यदि इनके वर्ण्य विषयों की तुलसी के वर्ण्य विषयों से तुलना की जाए तो यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि तुलसी के वक्तव्य का आधार ज्ञान है और रहीम के वक्तव्य का आधार अनुभव है।"

(ग) मतिराम सतसई

'मतिराम सतसई' की रचना रीतिकाल के महान् कवि मतिराम के हाथों अठारहवीं शताब्दी में हुई थी। इस सतसई में दोहों की संख्या 703 है और इनमें से अधिकाँश दोहे प्रेम और श ंगार भावना से संबंधित हैं। 'मतिराम सतसई' की एक अन्यतम विशेषता यह है कि इसकी रचना भावों की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए की गई है। कवि ने अपने अन्तर्मन के भावों को पूरी ईमानदारी और सहजता के साथ व्यक्त किया है। इस कारण प्रस्तुत सतसई में भावों का स्वतः स्फूर्त आवेग और प्रवाह देखने को मिलता है। इसका मुख्य कारण यह था कि सतसई की रचना किसी आश्रयदाता राजा को प्रसन्न करने अथवा किसी अन्य स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं की गई थी। अतः इस सतसई का फलापक्ष, भावपक्ष की तरह सम द्ध नहीं बन पाया है। प्रस्तुत सतसई में भावों की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति तो मिलती है, कला का उत्कर्ष निश्चय ही नहीं दीख पड़ता। तथापि अनेक द ष्टियों से 'मतिराम सतसई' हिन्दी की सतसई परम्परा में गौरवपूर्ण स्थान रखती है।

(घ) बिहारी सतसई

'बिहारी सतसई' की रचना 18वीं शताब्दी रीतिकाल के महान् कवि बिहारीलाल के हाथों हुई थी। प्रस्तुत सतसई दोनों की कुल संख्या 713 है और इसकी रचना संवत् 1742 में हुई थी। कवि बिहारी ने सतसई में अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। इन सभी पक्षों को लेकर कवि ने अपनी गहन एवं सूक्ष्म द ष्टि का परिचय दिया है। उनकी सतसई में यद्यपि प्रेम और श ंगार संबंधी दोहों की संख्या सर्वाधिक है तो भी उन्होंने अन्य विषयों के संबंध में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि बिहारी अपनी युगीन परिस्थितियों से प्रभावित थे, तो भी यह निर्विवाद है कि उन्होंने आँखें बंद करके परिस्थितियों में बह जाना नहीं सीखा था। बिहारी ने अपने युग के विलासमय वातावरण को आँखें खोल कर देखा था और पूरी ईमानदारी से उसे व्यक्त भी किया है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने बहाव में बहना नहीं सीखा था, परिस्थितियों का दास बन जाना उनकी प्रव ति में नहीं था, आश्रयदाता राजाओं की 'ठाकुर सुहाती' कहते रहना उनके स्वाभिमानी व्यक्तित्व के प्रतिकूल था। सांसारिक वैभव उनके लिए केवल साधन थे, साध्य नहीं। यह ठीक है कि जीवन यापन के लिए अर्थ की आवश्यकता रहती है किन्तु बिहारी केवल उसी सीमा तक धन की इच्छा रखते थे जहाँ तक कि मर्यादा बनी रहे और निर्वाह होता रहे। उन्होंने कहा भी है –

"तौ अनेक औगुन भरिहिं, चाहै याहि बलाय।
जौ मति संपतिहू बिना, जदूपति राखे जाइ"।।

इस प्रकार 'बिहारी सतसई' का भावलोक सम द्ध और बहुरंगी है। इसी प्रकार कलापक्ष की द ष्टि से भी बिहारी सतसई हिन्दी साहित्य की सतसई परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में "जहाँ तक 'बिहारी सतसई' हिन्दी साहित्य की सतसई परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि यह सभी प्रकार

के काव्यगुणों से मंडित है और हिन्दी साहित्य में इसके साथ समान स्तर पर खड़ी होने वाली और दूसरी सतसई नहीं है।"

(ड़) रसनिधि सतसई

'रसनिधि सतसई' की रचना प थ्वीसिंह 'रसनिधि' ने 18वीं शताब्दी में की थी। इस सतसई में मुख्यतः प्रेम और श ंगार विषयक दोहे संग्रहीत हैं। कहीं– कहीं कवि रसनिधि ने भक्ति और नीति विषयक दोहों की रचना भी की है। इस सतसई पर बिहारी सतसई का भरा–पूरा प्रभाव देखा जा सकता है, यहाँ तक कि कतिपय दोहों में बिहारी सतसई के दोहों के भावों की पुनराव ति सी दीख पड़ती है।

(च) व न्द सतसई

'व न्द सतसई' की रचना संवत् 1761 में हुई थी। कवि व न्द विरचित उस सतसई में मुख्यतः नीतिपरक दोहे संग्रहीत हैं। व न्द की इस सतसई की विशेषता भावों की मार्मिक एवं सशक्त अभिव्यंजना है। कवि ने व्यावहारिक जगत के रुचिपूर्ण द ष्टातों के माध्यम से नीति की सूक्तियों की रचना की है। लोकप्रियता की द ष्टि से 'व न्द सतसई' अत्यन्त सफल सतसई मानी जाती है।

(छ़) राम सतसई

'राम सतसई' का रचनाकाल 'संवत् 1860 एवं 1880 के मध्य माना जाता है। 'राम सतसई' वस्तुतः 'श ंगार सतसई' के रूप में विख्यात है। इस सतसई की रचना रामसहाय दास के हाथों हुई थी। प्रस्तुत सतसई में अधिकाँशतः श ंगारपरक दोहे संग्रहीत हैं। श ंगार के अतिरिक्त कवि ने कतिपय अन्य विषयों से संबंधित दोहे भी लिखे हैं।

(ज) विक्रम सतसई

'विक्रम सतसई' की रचना बुन्देलखण्ड के राजा विक्रमसिंह के हाथों हुई थी। राजा विक्रमसिंह वस्तुतः बुन्देलखण्ड में चरखारी रियासत के शासक थे और इन्होंने संवत् 1839 से संवत् 1886 तक शासन किया था। इस सतसई में भी अधिकाँश दोहे श ंगार परक हैं। इस सतसई पर भी 'बिहारी सतसई' का भरा–पूरा प्रभाव देखा जा सकता है।

(झ) वीर सतसई

कवि वियोगी हरि ने सन् 1927 में 'वीर सतसई' की रचना की थी। प्रस्तुत सतसई में श ंगार के स्थान पर वीर रस की ही प्रधानता है। वियोगी हरि ने पूर्वीवती श ंगार–प्रधान सतसइयों के स्थान पर वीर रस प्रधान सतसई की रचना करके हिन्दी साहित्य की सतसई परम्परा में एक महत्वपूर्ण मोड़ ला दिया। उपर्युक्त सतसईयों के विवेचन से हिन्दी साहित्य की सतसई परम्परा की कतिपय सामान्य विशेषताएँ उभरती हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया गया है। पहली विशेषता तो यह है कि अधिकाँश सतसईयाँ श ंगार प्रधान हैं। तथापि कुछ सतसई (तुलसी, रहीम तथा वीर सतसई) ऐसी भी हैं जिनमें श ंगार रस का स्पर्श मात्र भी नहीं देखा जा सकता। दूसरी बात यह है कि सभी सतसइयों का नामकरण उनके रचयिताओं के नाम किया गया है। तीसरी बात का संबंध सतसई में दोहों की संख्या से है। सतसई का शाब्दिक अर्थ है सात सौ दोहों अथवा छन्दों का संकलन। हिन्दी की इन विभिन्न सतसईयों में एक भी ऐसी सतसई नहीं है जिसमें दोहों की सं० 700 ही हो। तुलसी सतसई में 747 दोहे हैं तो बिहारी सतसई में 713 दोहे हैं।

मतिराम सतसई में दोहों की संख्या 703 हैं तो राम सतसई में यह संख्या 727 और विक्रम सतसई में 742 दोहे हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी की किसी भी सतसई में दोहों की संख्या के संबंध में किसी निश्चित परिपाटी अथवा सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया है। सभी सतसईकारों ने अपने–अपने विवेकानुसार दोहों की रचना की है। चौथी बात यह है कि कुछ सतसईयों में दोहों के साथ–साथ सोरठा छन्द का भी प्रयोग किया गया है।

हिन्दी की सतसई परम्परा में बिहारी सतसई का स्थान

हिन्दी की सतसई परम्परा की उपर्युक्त विशेषताओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी विशेषताएँ सतसई के बहिरंग से संबंधित है। साहित्य अथवा काव्य के किसी भी प्रकार अथवा विद्या की तरह सतसई के भी दो पक्ष होते हैं–अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग का आशय सतसई के भावपक्ष अथवा आन्तरिक प्रव तियों से है। किसी भी सतसई की सफलता इन्हीं आन्तरिक प्रव तियों पर निर्भर करती है। सतसई की इन आन्तरिक प्रव तियों के संबंध में 'गाहा सतसई' के रचयिता कवि हाल ने मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। कवि हाल के अनुसार सतसई के आन्तरिक गुणों के अंतर्गत रमणीयता, अर्थगम्भीर्य, दोषों का अभाव तथा अलंकारों का समुचित निर्वाह आदि गुण आते हैं। उनके मतानुसार इन्हीं आन्तरिक गुणों के बल पर सतसई की सफलता एवं लोकप्रियता निर्भर करती है। इस द ष्टि से हाल की निम्नलिखित पंक्तियाँ उल्लेख्य हैं–

"परिमलणगुहा गुरुआ अलद्धविवरा सलक्खणाहरणा।
यणआ कव्वालाव ध्व कस्स हिअए वा लगन्ति।।

(परिमलनसुखा गुरुका अलब्धविवराः सलक्षणाभरणाः।
स्तनकाः काव्यालापा इव कस्य हृदय न लगन्ति)"।।

अर्थात् जिस प्रकार मर्दन के फलस्वरूप सुख देने वाले, पुष्प, पीनता के कारण एक दूसरे के साथ सटे हुए, श्रीफल आदि जैसे और तिल आदि के चिह्नों तथा हार आदि धारण किए हुए नारी के कुच चित्तकर्षक होते हैं उसी प्रकार बार–बार पढ़ने से आनन्दित करने वाले, अर्थगौरव से युक्त काव्य–दोषों से हीन, लक्ष्यों और अलंकारों से युक्त काव्य अर्थात् सतसई सफल होती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सतसई के आंतरिक और बाह्य गुणों का निर्धारण किया जा सकता है – (क) आन्तरिक गुण – (1) विचारित रमणीयता (2) अर्थ गम्भीर्य (3) दोषों का अभाव तथा (4) अलंकारों का समुचित प्रयोग। (ख) बाह्यगुण – (1) सतसई का नामकरण (2) छन्दों की संख्या (3) छन्दों की क्रय योजना (4) प्रमुख वर्ण्य विषय तथा (5) इतर विषय आदि। सतसई के इन बाह्य एवं आन्तरिक गुणों के परिप्रेक्ष्य में बिहारी सतसई का मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है। सर्वप्रथम आन्तरिक गुणों के निर्वाह पर विचार किया जाएगा। आन्तरिक गुणों के अन्तर्गत विचारित रमणीयता का आशय अर्थ की ऐसी रमणीयता से है जिसका आभास ध्यानपूर्वक विचार करने पर होता है। दूसरे शब्दों में अर्थ की जा रमणीयता सतही अथवा प्रत्यक्ष नहीं होती और जिसका उद्घाटन विचार करने पर होता है, उसे विचारित रमणीयता का गण कहा जाता है। जिस दोहे का अर्थ एक बार पढ़ने पर ही स्पष्ट हो जाता है, उसमें कोई आकर्षण नहीं होता। नारी के कुचों का सौन्दर्य उनके ढके रहने पर ही सर्वाधिक वरेण्य है जिसका उद्घाटन ध्यानपूर्वक विचार करने पर ही सम्भव हो पाता है। बिहारी का निम्न दोहा देखिए –

"दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी, सारी सेत।
कवि आँकनु के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत"।।

अर्थात् उस नायिका के कुच चोबा आदि के चुपड़ने से तथा सफेद रंग की साड़ी धारण करने पर भी छिपते नहीं हैं। कवियों द्वारा प्रयुक्त अक्षरों की तरह ही नायिका के वे कुच ध्यानपूर्वक देखने पर ही लक्षित हो जाते हैं अर्थात् नायिका के कुचों की प्रतीति उसी प्रकार हो पाती है, जिस प्रकार कि कवि द्वारा प्रयुक्त अक्षरों का अर्थ बहुत चिन्तन और मनन के पश्चात् निकल पाता है। इस प्रकार बिहारी ने प्रस्तुत दोहे में विचारित रमणीयता की परिभाषा स्वयं ही प्रस्तुत कर दी है। 'बिहारी सतसई' में यह काव्य गुण सर्वाधिक मात्रा में मिलता है। बिहारी के अधिकाँश दोहे ऐसे हैं जिन्हें एक बार पढ़ने से किसी सम्यक् अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती। कहने का आशय यह है कि बिहारी के दोहों के अर्थ अधिकाँशतः गूढ़ हैं जिनकी प्रतीति यूँ ही (बिना प्रयास अथवा चिन्तन के) नहीं हो जाती। इसका कारण यह है कि अर्थ–प्रतीति में जो तारतम्य अपेक्षित होता है, बिहारी के दोहों में वह तारतम्य खोजना पड़ता है, स्वतः नहीं मिल जाता। निश्चय ही यह बिहारी की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। उदाहरण के लिए बिहारी का निम्न दोहा देखिए –

"बालमु बारै सौति के, सुनि पर–नारि बिहार।
भौ रसु अनरसुरिस रली, रीझि खीझि इक बार"।।

इस दोहे मे प्रत्यक्षतः जो अर्थ भासित होता है। वह इस प्रकार है–नायिका को जब यह पता लगा कि सपत्नी की बारी वाले दिन नायक किसी अन्य स्त्री के साथ विहार कर रहा है तो उसके मन में सुख दुख, रोष, हास–परिहास, रीझ और खीझ के विरोधी भाव एक साथ उत्पन्न हो गए। प्रस्तुत अर्थ में कोई भी तारतम्य नहीं दीखता, कोई बुद्धि संगत बात सामने नहीं आती। अतः इस दोहे के वास्तविक अर्थ की प्रतीति के लिए यह आवश्यक है कि गूढार्थ का पता लगाया जाए। नायिका को सुख, दुख, रोष, हास–परिहास, रीझ और खीझ–इतने सारे परस्पर विरोधी भावों की अनुभूति क्यों हुई। इस प्रश्न का उत्तर कुछ–कुछ इस प्रकार दिया जा सकता है– (क) नायिका को जब यह पता चला कि सपत्नी की बारे वाले दिन नायक अन्य स्त्री के साथ विहार कर रहा है तो ईर्ष्या के कारण सुख की अनुभूति हुई और (ख) उसे दुख इसलिए हुआ कि सपत्नियों की संख्या में एक और व द्धि हुई। (ग) रोष इस कारण हुआ कि यदि नायक को सपत्नी के यहाँ न जाकर अन्य किसी स्त्री के साथ ही विहार करना था तो उसी के साथ अर्थात् नायिका के साथ विहार क्यों नहीं किया। (घ) रली अर्थात् हास की अनुभूति इसलिए हुई कि सपत्नी नायक को वश में नहीं कर सकी। और इस कारण वह अन्य स्त्री के पास चला गया। (ड़) नायिका को रीझ इसलिए हुई कि कम से कम उसकी बारी वाले दिन नायक ऐसा नहीं करता और अन्ततः (च) खीझ का भाव इसलिए उत्पन्न हुआ कि परस्त्रीगमन की आदत पड़ जाने के बाद संभवतः उसकी बारी वाले दिन भी नायक ऐसा न कर दे। इस विस्त त और बुद्धिगम्य अर्थ की प्रतीति दोहों में डूबने पर ही हो पाती है। बिहारी सतसई की यह विशेषता अधिकाँश दोहों देखी जा सकती है। इसी विशेषता को विचारित–रमणीययता कहते हैं क्योंकि अर्थ की यह रमणीयता सहज रूप से प्राप्त नहीं हो पाती। चिन्तन–मनन से ही प्राप्त हो पाती है। बिहारी सतसई की यह विशेषता अधिकाँश दोहों में देखी जा सकती है। सतसई के अन्तरंग तत्वों में विचारित रमणीयता के पश्चात् अर्थ गाम्भीर्य का स्थान आता है। अर्थ गाम्भीर्य का आशय अर्थगौरव से है और अर्थगौरव का अर्थ कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थवत्ता की प्रतिष्ठा करना है। अर्थगाम्भीर्य की उत्पति के लिए कविगण अलंकारों का प्रयोग करते हैं, उक्ति वैचित्रम का आश्रय लेते हैं। कभी–कभी क्रिया विदग्धता, ध्वनि अथवा अनुभावों के बल पर भी अर्थगाम्भीर्य उत्पन्न किया जाता है। वस्तुतः बिहारी सतसई की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता उसका अर्थगाम्भीर्य ही है। कदाचित इसी कारण किसी कवि-आलोचक ने कहा भी है –

"सतसैया के दोहरे, ज्यौं नावक के तीर।
देखन में छोटे लगै, घाव करैं गम्भीर"।।

उक्त कवि आलोचक के अनुसार बिहारी की विशेषता यही है कि वह दो–दो पंक्तियों के दोहों में अपार अर्थ की प्रतिष्ठा कर देते हैं। उनके अधिकाँश दोहे अर्थगाम्भीर्य की द ष्टि से अत्यन्त सम द्ध कहे जा सकते हैं। बिहारी ने अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक रूप में किया है। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग करने के लिए ही अलंकारों का प्रयोग प्रायः नहीं किया है। यही कारण है कि उनके दोहों में प्रयुक्त अलंकार भावों के सहज उत्कर्ष के साध–सिद्ध होते हैं। पांडित्य प्रदर्शन के लिए ही अलंकारों का प्रयोग प्रायः नहीं किया गया है। इस द ष्टि से बिहारी का द ष्टिकोण रसवादी अथवा ध्वनिवादी आचार्यो से बहुत मेल खाता है क्योंकि रसवादी आचार्य भी अलंकारों को साध्य नहीं, साधन मानते हैं। उदाहरण के लिए बिहारी का निम्न दोहा देखिए –

"रनितमंग घंटावली, झरित दान म धु–नीरु।
मंद मंद आवतु चल्यौ, कुँजरु कुंज–समीरु"।।

प्रस्तुत दोहे में कवि ने बसन्त ऋतु के मादक समीर के लिए हाथी का रूपक बाँधा है जोकि निश्चय ही मादकता के भाव की अत्यन्त सफल अभिव्यक्ति हुई है। हाथी की मादकता जगत प्रसिद्ध है और इसी प्रकार वसन्त ऋतु में बहने वाले समीर की मादकता भी सुविदित है। इसी प्रकार अन्योक्ति के माध्यम से कवि बिहारी ने विलासमयता में डूबे हुए राजा जयसिंह को कर्तव्यबोध कराया था। अलंकारों का इतना स्वाभावित और प्रभावोत्पादक प्रयोग रीतिकाल के अन्य कवियों में सहज सुलभ नहीं है, एक और उदाहरण देखिए –

"नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली कली हीं सौं बंध्यौ, आगे कौन हवाल"।।

इसी प्रकार एक और दोहा देखिए जिसमें कवि ने प्रर्यायोक्वि और द ष्टान्त अलंकारों का प्रयोग करके भावों का उत्कर्ष दिखाया है। कोई नायक सारी रात पर स्त्रीगमन करके लौटा है और इस कारण उसके ओठों पर काजल और नेत्रों पर पान की पीक के चिह्न अंकित हैं। (परस्त्री के साथ सहवास करने के कारण उस नायिका की आँखों का काजल नायक के होठों पर लग गया है और नायिका के मुँह की पीक नायक के नेत्रों पर अंकित हो गई है)। नायिका नायक की इस धूर्तता को भली भाँति जान गई है और नायक के इस व्यवहार के प्रति उसके मन में रोष भी है। तथापि वह अपने रोष को प्रत्यक्षतः व्यक्त नहीं करती अपितु 'बिहारी की नायिका' की भाँति पर्यायोक्ति और द ष्टान्त अलंकारों के माध्यम से अपने मन के भावों को व्यक्त करती है। संगत दोहा निम्नानुसार है –

"सोहत संगु समान सौं, यहै कहै सबु लोगु।
पीन–पीक ओंठनु बनै, काजर नैननु जोगु"।।

प्रस्तुत दोहे में नायिका कह रही है कि "पान की पीक ओठों में और काजल नेत्रों में सुशोभित है क्योंकि प्रत्येक वस्तु अथवा पदार्थ समान वस्तु अथवा पदार्थ के साथ ही भला लगता है। सभी लोग इस तथ्य को स्वीकार करते हैं" वस्तुतः नायिका के उक्त वक्तव्य का व्यंग्यार्थ यह है कि पान की पीक ओठों पर और काजल नेत्रों में सुशोभित होता है किन्तु नायक के ओठों पर काजल और नेत्रों परपान की पीक अंकित है जोकि निश्चय ही उसके परस्त्री के साथ सहवास करने का द्योतक है।

कई स्थलों पर कवि ने क्रिया विदग्धा का प्रयोग करके अर्थागम्भीर्य की स ष्टि की है। एक प्रकरण देखिए—नायिका गुरुजनों के मध्य बैठी हुई है। अतः नायक प्रत्यक्षतः उससे कुछ नहीं कह सकता। नायक ने कमल को अपने सिर से छुवाया जिसका अर्थ यह हुआ कि उसने नायिका के चरण कमलों का स्पर्श करके अभिसार की प्रार्थना की। (नायक की इस प्रार्थना को या तो नायक समझता था या नायिका) नायक की इस प्रार्थना को हृदयंगम करके नायिका ने अपनी आरसी को सूर्य की और करके अपने हृदय से लगा लिया जिसका अर्थ यह था कि जब सूर्य पहाड़ों के पीछे जाकर छिप जाएगा अर्थात् रात हो जाएगी तब वह (नायिका) नायक से मिलेगी। कवि ने इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है —

"लखि गुरुजन बिच कमल सौ, सीसु छुवायौ स्याम।
हरि—सनमुख करि आरसी, हियै लगाई बाम"।।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी सतसई में विचारित रमणीयता, अर्थगाम्भीर्य, दोषों का अभाव तथा अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। इस प्रकार बिहारी-सतसई में इन अन्तरंग तत्वों का सफल निर्वाह हुआ है।

सतसई के बहिरंग तत्वों का विवेचन पहले किया जा चुका है। 'बिहारी सतसई' का नामकरण भी कवि के नाम पर किया गया है। 'बिहारी सतसई' में दोहों की संख्या 713 है और इस प्रकार हिन्दी साहित्य की सतसई परम्परा में निर्धारित दोहा—संख्या का निर्वाह बिहारी सतसई में भी हुआ है। 'बिहारी सतसई' में मूल विषय श ंगार है किन्तु इसके अतिरिक्त नीति, भक्ति आदि से संबंधित दोहे भी संग्रहीत है। इस आधार यह कहा जा सकता है कि 'बिहारी सतसई' में सतसई के अन्तरंग और बहिरंग तत्वों का सफल निर्वाह हुआ है। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में "कहने का भाव यह है कि अनिवार्य न होते हुए भी बिहारी ने सतसई—साहित्य की बाह्य—प्रव तियों की संयोजना भी अपनी कृतियों में की है। इस प्रकार 'बिहारी सतसई' में सतसई साहित्य की वे समस्त प्रव तियाँ संयोजित हैं जो प्राकृत से लेकर हिन्दी तक विकसित हुई है। अतः यह निसंकोच कहा जा सकता है कि सतसई—परम्परा में बिहारी का स्थान एक सफल कवि का स्थान है। इनकी कृति सतसई—साहित्य की सम्पूर्व परम्पराओं एवं प्रव तियों से सुमण्डित है।" सतसई परम्परा में 'बिहारी सतसई' का स्थान निर्धारित करने के लिए यह देखना आवश्यक है 'बिहारी—सतसई' पर पूर्ववर्ती सतसईकारों का क्या प्रभाव पड़ा है। और 'बिहारी सतसई' के बाद रची गई सतसइयाँ किस सीमा तक बिहारी सतसई से प्रभावित हैं। 'बिहारी सतसई' के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि बिहारी का यह विस्त त दोहा संकलन पूर्ववर्ती सतसई-कारों से काफी प्रभावित हैं। तो भी 'बिहारी सतसई' की विशेषता यह है कि उसमें पूर्ववर्ती सतसईकारों की भावसम्पदा यथावत् रूप में सुलभ नहीं है। कवि बिहारी ने अपनी मौलिक प्रतिभा का संस्पर्श देकर पूर्ववर्ती सतसईयों के प्रभाव को भी 'अपनापन' प्रदान किया है। इस द ष्टि से प्राकृत भाषा के सतसईकार हाल की 'गाहा सतसई' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दो एक उदाहरण देखने पर स्थिति स्पष्ट हो सकेगी। उदाहरण के लिए कवि हाल की निम्न पंक्तियाँ देखिए —

"असरिसचिते दिअरे सुद्धमणा बिसमसीले।
ण कहइ कुटुम्बविह उणभएण तसुआ आए सोणहा।।

(असहशीचिते देवरे शुद्धमनाः प्रियतमें विषमशीले।
न कथयति कुटुम्बविधटनभयेन तनुकायते स्नुषा)।।

अर्थात् यद्यपि देवर का मन पापी है, फिर भी शुद्ध मन वासी ग ह—वधु देवर के अवाँछनीय व्यवहार

को लेकर अपने पति से किसी प्रकार की शिकायत नहीं करती क्योंकि उसे यह ज्ञात है कि शिकायत करने पर घर का विघटन हो जाने की आशंका हो जाएगी। इस कारण नायिका मन ही मन में दुखी होती जाती है। बिहारी ने इसी भाव को अपने निम्नलिखित दोहे में बाँधा है–

"कहति न देवर की कुमति, कुल तिय कलह डराति।
पंजरगत मंजार ढिंग, सुक लौं सूकति जाति"।।

प्रस्तुत दोहे में कवि बिहारी ने देवर के व्यवहार से त्रसित नायिका की मनोदशा का अपेक्षतया अधिक स्वाभाविक वर्णन किया है। कवि ने नायिका की उपमा ऐसे तोते से दी है जोकि पिंजड़े में बन्द है और जिसके निकट ही बिल्ली बैठी हुई है। तोता पिंजड़े से बाहर निकल नहीं सकता और बिल्ली के भय के कारण उसके प्राण स्वतः ही सूखते जाते हैं। इसी प्रकार एक और उदाहरण देखिए जिसमें कवि हाल ने नायिका के नेत्रों की शोभा का वर्णन किया है –

"अण्णाणें बि होन्ति मुँहे पम्हलघव षाहं दोह कसणाइ।
ण अणाइं सुन्दराणं तहविहु दट्ठुँण जाणन्ति।।

(अन्यासामपि भवन्ति मुखं पक्ष्यलधवलानि दीर्धकृष्णामि।
नयनामि सुन्दरीणा तथापि खलु, द्रष्टुंन जानन्ति)।।

अर्थात् अन्य स्त्रियों के पास भी सुन्दर पलकों से ढके हुए स्वच्छ और सुन्दर आयत तथा कजरारे नयन होते हैं, फिर भी उनकी द ष्टि नायिका जैसी द ष्टि नहीं होती अर्थात् नायिका के नेत्रों में जो आकर्षण होता है वह अन्य नायिकाओं के नेत्रों में नहीं देखा जा सकता। हाल की पंक्तियों में कवि बिहारी का निम्न दोहा देखिए –

"अनियारे दीरघ द्वगनु किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछु, जिहिं बस होत सुजान।।

कहने का आश्य यह है कि यद्यपि अनेक तरुणियों के नेत्र विशाल और नुकीले होते हैं, फिर भी जो आकर्षण तथा सम्मोहन–शक्ति नायिका की चितवन में है वह अन्य स्त्रियों की चितवन में नहीं है।

'बिहारी सतसई' में संग हीत दोहों पर कवि हाल की 'गाहा सतसई के अतिरिक्त गोवर्द्धनाचार्य द्वारा विरचित 'आर्यासप्तशती' का भी भरा–पूरा प्रभाव देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए 'आर्यासप्तशती' की निम्न आर्या देखिए–

"आयासः परिहिंसा वैंतसिक सारमेय तव सारः।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषो धुनैवान्यैः।।

अर्थात् हे व्याध के कुते। तेरा एकमात्र सार यही है कि तू श्रम तथा अन्य प्राणी की हत्या कर पाया है। तेरे भाग्य में यही फलेगा। तू देखना कि तूझे तो दूर भगा दिया जाएगा। और इस हरिण के शरीर को व्याध के अपने लोग बाँट–बाँट कर खा लेंगे (अर्थात् तुझे कुछ भी प्राप्त नहीं होगा)। गोवर्द्धनाचार्य की उपरोक्त पंक्तियों के संदर्भ में बिहारी का निम्न दोहा देखिए –

"स्वारथु सुकृतु न श्रमु व था, देखि विहंग बिचारि।
बाज पराएं पान परि, तू पच्छीनु न मारि"।।

अर्थात् हे बाज, दूसरों के कारण तू पक्षियों का वध मत कर। ऐसा करने से तेरा अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होगा और न तुझे किसी पुण्य की ही प्राप्ति होगी। तेरा सारा श्रम भी व्यर्थ

जाएगा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाएगा कि बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती सतसईकारों से भाव तो ग्रहण अवश्य किए हैं किन्तु उन भावों को भी अपनी मौलिकता का संस्पर्श देकर एक नवीनता प्रदान की है। दो शब्दों में कहा जा सकता है कि "बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती सतसईकारों से जो भी भाव ग्रहण किया, उसे अपनी विलक्षण काव्य प्रतिभा से प्रायः अधिक उत्कृष्ट और प्रभावशाली बना दिया है।

'बिहारी सतसई' का सर्वाधिक प्रभाव परवर्ती सतसईकारों पर पड़ा। तथापि इतना निर्विवाद है कि परवर्ती सतसईकार बिहारी के भावों को ग्रहण करके भी बिहारी जैसी विचारित रमणीयता तथा अर्थगाम्भीय की स ष्टि नहीं कर सके। बिहारी की विशेषता यह है कि वे साधारण से दीखने वाले भावों को अपनी प्रतिभा का संस्पर्श देकर असाधारण रूप और अर्थगौरव प्रदान कर देते हैं। परवर्ती सतसईकारों ने उनके भावों को तो ग्रहण किया है, उनकी प्रतिभा और शब्दों पर उनके असाधारण अधिकार का अनुकरण उनके लिए संभव नहीं हो सका। कदाचित इसी कारण कला और भाव सौन्दर्य, दोनों ही द ष्टियों से हिन्दी की सतसई परम्परा में बिहारी सतसई का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन पड़ा है। उदाहरण के लिए बिहारी का निम्न दोहा देखिए –

"लाज लगाम न भ्रानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मूंह जोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जाहि"।।

प्रस्तुत दोहे में नायिका अपने नेत्रों की विदग्धता का वर्णन कर रही है। उसके नेत्र लोकलाज को विस्म त करके (नायक को निहारने लगते हैं) उसके अपने वश में नहीं रहते। नायक प्रति इतनी आसक्ति और नायिका की एक विवशता का वर्णन निश्चय ही बिहारी की अपनी विशेषता है जिसके दर्शन अन्य कवियों में सहज ही नहीं हो पाते। उपर्युक्त दोहे में वर्णित भाव को मतिराम तथा विक्रम साहि ने इस प्रकार व्यक्त किया है –

"चपल चलाकिन सौ चलत, गनत न लाज लगाम।
रोकै नहिं क्यौं हूँ रहत, द ग–तुरंग गति–बाम (विक्रम साहि)

तथा

"मानत लाज लगाम नहिं, नैकुन गहरा मरोर।
होत लाल लखि बाल के, द ग तुरँग मुँहजोर"।। (मतिराम)

उपर्युक्त दोहों में यद्यपि प्रायशः एक ही भाव का वर्णन किया गया है। तो भी अभिव्यंजना का स्तर निश्चय ही भिन्न भिन्न है। मतिराम की नायिका अपनी विवशता का वर्णन स्वयं न करके अपनी किसी अन्तरंग सखी के माध्यम से कर रही है। दूसरी और बिहारी की नायिका स्वयं ही अपनी मनोदशा का वर्णन कर रही है। दूसरी और भले ही विक्रम साहि की नायिका अपनी विवशता का वर्णन स्वयं कर रही है, तो भी उसके वर्णन में वह स्वाभाविकता, सहजता, प्रभावोत्पादकता नहीं मिलती जोकि बिहारी के दोहों में मिलती है। इस प्रकार एक नहीं, अनेक ऐसे दोहे उद्ध त किए जा सकते हैं जिनमें बिहारी की काव्य प्रतिभा अलग ही दिखाई देती है। भाव–सौन्दर्य और कलात्मकता–दोनों द ष्टियों से बिहारी अपना कोई सानी नहीं रखते हैं। बिहारी ने बहुत सोच–समझ कर प्रत्येक भाव को सजाया–संवारा है। साथ ही अभिव्यक्ति को मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उन्होंने अलंकारों का भी सफल प्रयोग किया है। कदाचित् इसी कारण बिहारी की हिन्दी की सतसई–परम्परा रूपी विशाल आकाश में अकेले चन्द्रमा का स्थान दिया जाता रहा है।

अध्याय - 10
बिहारी का संयोग श्रंगार

काव्यशास्त्र में श्रंगार रस के दो भेद माने गये हैं – (1) संयोग अथवा संभोग श्रंगार, (2) वियोग अथवा विप्रलंभ श्रंगार। संयोग श्रंगार में नायक तथा नायिका के मिलन का वर्णन होता है, जबकि वियोग श्रंगार में दोनों के विरह का।

बिहारी के काव्य में संयोग–श्रंगार का ही अधिक विस्तार से वर्णन किया है। बिहारी का वियोग–वर्णन उतना महत्वपूर्ण नहीं बन सका। इसका प्रधान कारण यह था कि बिहारी की कविता तत्कालीन मुगल दरबार तथा सामंती युग अथवा सम द्ध नागरिक जीवन के विलासी वातावरण की उपज थी, जिसमें सुख–संभोग की सभी सुविधाएँ उपलब्ध थी। सुरा और सुन्दरी का साम्राज्य सर्वत्र छाया हुआ था। दूतियाँ दो प्रेमीयुगल को मिलाने के लिए मध्यस्थ का काम करती थी। रसिक–समाज की रंगीनियों को चार चाँद लगाने के लिए कविता भी एक प्रमुख साधन थी। अतः उसमें रीतिकालीन हिन्दी कवि फारसी कवियों की तुलना में अपने–अपने ढंग से कला–प्रदर्शन करते थे। अतः बिहारी ने भी उस युग का 'आँखों देखा हाल' अपनी सशक्त लेखनी से जादू भरे शब्दों में लिखा है, जिसे पढ़कर तबियत फड़क उठती है। अतः संयोग–श्रंगार के वर्णन में बिहारी को जो अधिक सफलता मिली है, उसका कारण उक्त विलास–वासना का व्यापक वातावरण तथा स्वानुभूतिजन्य कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति ही है।

लक्षण

शास्त्रीय शब्दावली में विभाव, अनुभव तथा संचारी भावों से पुष्ट होकर रति स्थायी भाव श्रंगार–रस में परिणत हो जाता है। विभाव के अन्तर्गत 'आलम्बन' तथा 'उद्धीपन' दोनों का समावेश है। श्रंगार रस के आलम्बन नायक या नायिका होते हैं। आलम्बन की चेष्टाएँ रति–स्थायीभाव (और उद्धीप्त होता है) को उद्धीप्त करने के कारण 'उद्धीपन' कहलाती हैं। 'आश्रय' (जिसके मन में रति–स्थायी भाव जाग त और उद्धीप्त होता है) की चेष्टाओं को 'अनुभाव' कहा जाता है।

बिहारी ने आलम्बन–विभाव के अन्तर्गत विशेष रूप से नायिका का रूप वर्णन या नखश्खि वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है, जिन्हें देखकर नायक (आश्रय) के मन में वासना रूप से स्थित रति–स्थायी भाव जाग त हो जाता है। 'उद्धीपन विभाव' के रूप में नायिका की चेष्टाओं, भाव, हाव, हेला आदि मुद्राओं का निरूपण तथा षट्–ऋतु–वर्णन आता है, जो नायक के मन में जाग त रति को और अधिक उद्धप्ती कर देता है। अनुभाव वर्णन में आश्रय नायक की मनोदशा का अत्यन्त मार्मिक एवं स्वभाविक चित्र बिहारी ने खींचा है। इस द ष्टि से बिहारी को सबसे अधिक सफलता मिली है। जहाँ अनुभाव के रूप में नायिका की चेष्टाओं का वर्णन किया गया है, वहाँ नायिका को आलम्बन न समझकर 'आश्रय' समझना होगा और उसका प्रियतम नायक वहाँ 'आलम्बन' रहेगा। आश्रय और आलम्बन का ज्ञान स्थिति के अनुसार कर लेना चाहिए।

बिहारी ने संयोग–श्रंगार के वर्णन में काव्यशास्त्र की परम्परा का भी पालन किया है तथा अपनी स्वतंत्र एवं मौलिक प्रतिभा का उपयोग भी किया है। अतः संक्षेप में 'सतसई' के आधार पर उसके संयोग–श्रंगार की झाँकी प्रस्तुत की जाती है।

(क) रूप वर्णन : श्रंगार–रस के आलंबन–विभाव के अन्तर्गत बिहारी ने नायिका का रूप वर्णन रीतिग्रन्थों की परम्परानुसार 'नखश्शिख वर्णन' के रूप में भी किया गया है तथा कहीं–कहीं फारसी कविता के ढंग पर अतिशयोक्ति पूर्ण ऊहोक्तियाँ भी की गई हैं, जो हास्यास्पद ही लगती है, परन्तु एक सफल तथा श्रेष्ठ कवि होने के नाते बिहारी मौलिक–प्रतिभा के दर्शन भी यत्र–तत्र हो जाते हैं।

(अ) नख-शिख : काव्यशास्त्र की रुचि के अनुसार बिहारी ने भी नायिका के विभिन्न शरीरावयवों का प थक–प थक चित्रण परम्परागत शैली में अर्थात् नायिका की जो पतली कमर लगी रहने पर भी अनलगी–सी दिखाई है, जो शायद विधाता ने इसके निर्माण से बची हुई अतिरिक्त सामग्री का उपयोग करके नायिका के कुच और नितंब को और अधिक गुरु बना दिया है। बिहारी की कल्पना की ऊंची उड़ान एक कदम और आगे बढ़ती है। उस 'लगी–अनलगी' सी कोटि की सूक्षमता बढ़कर अन्त में निराकार ब्रह्मा के समान लुप्त हो जाती है –

"बुधि अनुमान प्रमाण श्रुति, किए नीठि ठहराइ।
सूक्ष्म कटि पर ब्रह्मा लौं, अलख लखी नहिं जाइ"।।

परम्परागत रीतिबद्ध वर्णन तथा फारसी कवियों की 'दूर की कौड़ी फेंकने' की प्रव ति का परिणाम बिहारी की रूप–वर्णन संबंधी ऊहोक्तियों के रूप में देखा जा सकता है। परन्तु कल्पना सौन्दर्य के कारण उसमें भी नवीनता उत्पन्न कर दी है। काव्य की रीतियों में प्रचलित सुप्रसिद्ध उपमान भी बिहारी ने लिये हैं, परन्तु कहीं–कहीं संश्लिष्ट–चित्रों तथा बिम्ब–चित्रों की योजना ने भी बिहारी के रूपवर्णन को बहुत निखार दिया है। दोनों प्रकार के उदाहरण देखिए –

नेत्र : **"द गनु लगत, बेधत हियहिं, बिकल कंरत अंग आन।**
ए तेरे सब तैं विषय, ईधन बीधन बान"।।

इस दोहे में नेत्ररूपी बाणों की अद्भुत लीला आलंकारिक शैली में व्यक्त की गई है कि वे लगते तो आँखों में है, पर घायल करते हैं हृदय को और अन्य अंगों को भी व्याकुल कर जाते हैं। कुटिल नेत्रों की इन चतुराई का एक नमूना और लीजिए –

"तिय, कित कमनेती पढ़ी, बिनु जिहिं भौंह कमान।
चलचित बेझै चूकनी नहिं, बंक बिलोकनि बान"।।

कमान चलाने की यह विचित्र विद्या नायिका ने कहाँ से सीख ली, कि वह अपनी तिरछी चितवन का ऐसा तीर चलाती है, जो चंचल चित को चीर के रख देता है। एक तो भौंह रूपी धनुष की डोरी नहीं, फिर हृदय रूपी निशाना भी चचंल। परन्तु निपुणता तो देखिए कि तीर चूकने नहीं पाता। बिहारी ने नेत्रों के वर्णन में विशेष रुचि दिखलाई है, क्योंकि इन्हीं सोपानों से ही तो उतरने वाले हृदय में उतरते हैं। प्रेम का आधार आकर्षक सौन्दर्य होता है और बिहारी की नायिका के अंगों में तो नेत्र–सौन्दर्य का अपना विशिष्ट स्थान है। उसके नेत्र तो अंजन लगाए बिना भी काव्यरुढियों में प्रसिद्ध खंजन पक्षी का गर्व चूर करने वाले हैं। घूंघट में चमकते हुए तो वे ऐसे लगते हैं, मानो गंगा के निर्मल–जल में दो चंचल मछलियाँ उछल रही हैं। इसी तरह नीले आंचल

में नायिका के सुन्दर मुख की छवि यमुना के नील–जल में प्रतिबिंबित चन्द्रमा के समान झिलमिला रही है।

केश

बिहारी के रूप वर्णन में परम्परा तथा मौलिकता का सुन्दर समन्वय है। एक और साहित्यिक परम्परा में प्रचलित बंधे हुए उपमानों के द्वारा नायिका के अंगों का लावण्य अलंकृत शैली में दिखाया जाता है, तो साथ ही कवि अपनी मौलिक सूझ से भी काम लेकर उस घिसी–पिटी वर्णन शैली में नवीन चमत्कार पैदा कर देता है। केशों का वर्णन भी इसी प्रकार किया है –

"कुटिल अलक छुटि परत, मुख बठिगौ इतौ उदोत।
बंक बिहारी देत ज्यौं, दाम रूपैया होत"।।

इस दोहे में गोरे मुख पर बिखरी काली अलक की मुद्रा निःसंदेह प्रेम की प्यासी आँखों के लिए गजब का आकर्षण रखती हैं, परन्तु मनमोहक छवि को बिहारी ने व्यापारिक द ष्टि देकर रुढि का अनुकरण मात्र ही किया है। परन्तु केशों का सहज सौन्दर्य भी तो दर्शनीय हैं –

"सहज सचिक्कन, स्यामरुचि, सुचि, सुगध सुकुमार'।
गनतु न मन पथ, अपथ, लखि बिछुरे बार"।।

इसी प्रकार खुले और बंधे दोनों प्रकार के केश देखने वाले पर क्या प्रभाव डालते हैं, बिहारी ने आलंकारिक चमत्कार के साथ, परन्तु कलात्मक ढंग से उसका वर्णन भी किया है –

"छुटै छुटावत जगत तैं, सटकारे सुकुमार।
मनु बाँधत बेनी बंधे, नील छबीले बार"।।

अन्य अंग

बिहारी ने सभी अंगों का वर्णन कहीं–न–कहीं 'सतसई' में कर दिया है। नायिका की नासिका की वेध, चितुक का गोदन, ठोड़ी का गड्ढा, पांव का टखना, हाथ की अंगुली और चरण की अंगूठा, नख की शोभा तथा एड़ी की लालिमा, इन सबका समावेश रूप-वर्णन में कर दिया है। यौवनकाल में कुच और कटि की गुरुता और क्षीणता की तुलना बिहारी ने क्रमशः ज्येष्ठ मास में उतरोत्तर बढने वाले दिन तथा छोटी रात से दी है। एक दूसरे दोहे में दोनों के आकार–वैषम्य का रहस्य भी खोज लिया है कि –

"लगी अनलगी सी जु विधि, करी खरी कटि खीन।
किए मनौ वैही कसर, कुच नितम्ब अति मीन"।।

अर्थात् नायिका की जो पतली कम लगी रहने पर भी अनलगी सी दिखाई देती है, तो शायद विधाता ने इसके निर्माण से बची हुई अतिरिक्त सामग्री का उपयोग करके नायिका के कुच और नितंब को और अधिक गुरु बना दिया है। बिहारी की कल्पना की ऊंची उड़ान एक कदम और आगे बढ़ती है। उस 'लगी–अनलगी' सी कटि की सूक्ष्मता बढ़कर अन्त में निराकार ब्रह्म के समान लुप्त हो जाती है –

"बुधि अनुमान प्रमाण श्रुति किए नीठि ठहराइ।
सूक्ष्म कटि परब्रह्म लौं, अलख लखी नहीं जाइ"।।

परम्परागत रीतिबद्ध वर्णन तथा फारसी कवियों की 'दूर की कौड़ी फेंकने' की प्रव ति का परिणाम

बिहारी की रूप–वर्णन संबंधी ऊहोक्तियों के रूप में देखा जा सकता है। कहीं गुलाब की पंखुड़ी छू जाने से कोमल–चरणों में छाले पड़ जाने की आशंका है तो कहीं चन्द्रमुखी नायिका के प्रकाश से आसपास नित्य ही पूर्णिमा का भ्रम हो जाता है और बेचारे लोगों को तिथि का ज्ञान करने के लिए ज्योतिष जी के पत्रे की सहायता लेनी पड़ती है। वस्तुतः बिहारी ने नख–शिख वर्णन केवल परिपाटी का पालन करने के लिए किया है। चमत्कार और उक्ति–वैचित्र्य के कारण रूप का बिंबग्रहण या संश्लिष्ट चित्र नहीं उभर सका। परन्तु जहाँ–जहाँ बिहारी रीतिबद्ध मार्ग छोड़कर अपनी स्वतंत्र कवि की द ष्टि से नारी–सौन्दर्य का पान किया है, वहाँ उसकी लेखनी ने कमर तोड़ कर रख दी है। सादे और रंगीन दोनों प्रकार के चित्र बिहारी की लेखनी ने बनाए हैं। परन्तु उनके सादे चित्रों में स्वाभाविकता का गहरा रंग भरा है तथा उनके रंगीन चित्रों में कृत्रिम अलंकारों का स्थान सरल कल्पना ने ले लिया है। जो हो, उसकी नायिका रूप का ऐसा सागर है, जहाँ सारा संसार प्यास बुझाने पहुँच जाता है।

(आ) सौन्दर्य कल्पना : सौन्दर्य देखने वाले की आँख में रहता है, अतः रुचि–साक्षेप होता है। जहाँ जिसकी जितनी रुचि होती है, उसमें उसे उतना ही अधिक सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। बिहारी ने भी कहा है कि हर सुन्दर वस्तु हर किसी को अच्छी नहीं लग सकती। सुन्दर और बड़ी–बड़ी आँखों वाली नायिकाएँ संसार में कितनी हैं, किन्तु वे आँखें कोई और ही होती हैं, जो रसिक प्रेमियों को अपनी और खींच लेती हैं –

"अनियारे दीरघ द गनु, किती न तरुनि समान'।
वह चितवनि औरे कछु, जिहिं बस होत सेजान"।।

यह 'अनोखे चितवन' वाली बिहारी की नायिका उन नायिकाओं से भिन्न है, जिनके नेत्रों का वर्णन रुढिबद्ध शैली मैं 'सतसई–कार' ने किया है। इसके अनुपम सौन्दर्य की घटा को काव्य–शास्त्र के लक्षणों में नहीं बाँधा जा सकता। ऐसी नायिका का रूप वर्णन न तो रीतिबद्ध लेखनी ही कर सकती है और न ही विश्व के 'चतुर–चितरे' ही उसको अपनी तुलिका द्वारा चित्रित कर सकते हैं। बिहारी की ऐसी रूपवती नायिका की पहली झलक उस समय दिखाई देती है, जब वह शैशव और यौवन के दोराहे पर खड़ी चकित होकर अपने अंग–परिवर्तन का अनुभव करती है कवि समझ नहीं पाता कि उसकी 'वयः सन्धि' का यथार्थ अंकन करने के लिए कौनसा शब्द लाये, जो नायिका की ठीक–ठीक अवस्था का रूप न्यायपूर्ण ढंग से वर्णित कर सके। आखिर उसे एक उपमा सूझ ही गई –

"छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जो बनु अंग'।
दीपति देह दुहूनू मिलि, दीपति ताफ्ता रंग"।।

'ताफ्ता' या 'धूप–छाया' के नाम से प्रसिद्ध कपड़े में दो रंगों की सम्मिलत छटा झलकती है, जिसको अलग–अलग नहीं देखा जा सकता। बिहारी को 'इस उपमा से अधिक सुन्दर और सटीक शब्द 'वयः सन्धि' के लिए नहीं मिल सका है इसी प्रकार बिहारी ने एक दूसरे में अपनी कल्पित विशिष्ट नायिका के निर्मल रूप सौन्दर्य को रीतिबद्ध शैली में अंकित होता देखकर अपनी मौलिक प्रतिभा और अनोखी सूझ से यूँ व्यक्त किया है –

"कहा कुसुम कह कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे, आँखि ऊअनी होति"।।

कितनी सादी और अलंकार–विहिन परन्तु साथ ही सटीक और सुन्दर अभिव्यक्ति है। उसके अद्‌भुत रूप की तुलना कुसुम, चाँदनी और दर्पण भला क्या करेगा। उसके निर्मल सौन्दर्य को देखकर

तो देखने वाली आँख भी निर्मल हुई जाती है। कालिदास ने क्षण–क्षण में नवीनता की रमणीयता का लक्षण बताया था। इस कारण रमणीय वस्तु को बार–बार देखने से भी नहीं उकता सकता। बिहारी की नायिका का लावण्य भी ऐसा है, जिसका पान करके नेत्रों की प्यास नहीं बुझती –

"त्यौं–त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलौन रूप की, जुन चख त षा बुझाइ"।।

बिहारी ने प्यास न बुझने का कारण भी संकते द्वारा बता दिया है। नायिका का रूप सलौना (सुन्दर और लवण युक्त अर्थात् नमकीन) है। और लवण अर्थात् नमक प्यास को बढ़ाने वाला माना जाता है। 'लावण्य' ने श्लेष ने रूप–पिपासा का समाधान ही नहीं, कवि की निपुणता का प्रमाण भी प्रस्तुत कर दिया है। रहीम ने अपनी नायिका के अधरों को 'मधुर' तथा नेत्रों को 'सलोना' लिखकर यह व्यक्त किया था कि जैसे मीठा खाने के बाद नमकीन (सलोना), नमकीन के बाद मीठा अच्छा लगता है, उसी प्रकार नायिका के रूप का चिरपान करना संभव है। इसी प्रकार बिहारी की भी सलोनी नायिका मधुर लगती है। परन्तु कवि को उसकी माधुरी का जब विचार आया, तो वह विधाता की कल्पना पर आश्चर्यचकित हो गया, जिसने नायिका के सलोने शरीर की मधुर बनाने के लिए कितना अधिक माधुर्य जुटाया होगा, क्योंकि सामान्य अवस्था में तो थोड़ा–सा मीठा डाल देने से ही वस्तु मधुर बन जाती है। किन्तु जो वस्तु पहले से नमकीन (सलोनी) हो तो उसे मीठा करने में बहुत अधिक 'माधुर्य' डालने की आवश्यकता पड़ती है –

"रही लुट ह्वै लाल हौं, लखि वह बाल अनूप।
कितौ मिठास दयौ दई, इतै सलौने रूप"।।

बिहारी की नायिका पद्मिनी स्त्री है तभी तो उसकी गुलाबी देह के साथ लगी हुई गुलाब की पंखुरी मिलकर एकाकार हो गई है। गुलाब की सुगंध से भी उसके अस्तित्व का पता नहीं चलता, क्योंकि नायिका की देह भी तो उसी के समान सुगंधित, कोमल और रंगीन है। इसी प्रकार का अतिरंजित वर्णन बिहारी ने बहुत किया है, परन्तु जैसा रस बिहारी की स्वतंत्र तथा सादा अभिव्यक्तियों में मिलता है, वैसा अतिरंजित, अलंकृत, चमत्कारपूर्ण तथा उक्ति– वैचित्रय की असम्भव कल्पनाओं में नहीं। उक्त अतिरंजना की तुलना में निम्न दोहा अपेक्षाकृत अधिक प्रभावोत्पादक है, जिसमें कवि कहता है कि नायिका है तो दुबली–पतली–तन्वंगी, परन्तु अंग–अंग से फूटने वाले सौन्दर्य की लपेटों से उसकी देह भरी–भरी–सी लगती है –

"अंग–अंग छवि की लपट, उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ, तऊ लगै भरी सीदेह"।।

अलंकार

रूप–वर्णन में अलंकारों की, वेश-भूषा तथा हाव-भाव का वर्णन भी रीतिकाव्य में मिलता है। बिहारी इस द ष्टि से भी किसी से पीछे नहीं रहे। उन्होंने नायिका के लौंग, बेसर, तर्यौना (कर्ण भूषण), नथ, अंगूठी, हार, बिछिया, गले का बंद आदि भूषणों तथा मेंहदी, काजल, अंगराग, केसर आदि प्रसाधनों का भी 'सतसई' में यत्रतत्र उल्लेख किया है। परन्तु अधिकाँश वर्णन अतिरंजित और रुढिबद्ध ही है। अलंकारों के मोह से तथा अतिश्योक्ति–पूर्ण चमत्कारक वर्णन शैली से उसमें स्वाभाविक सौन्दर्य प्रतिबिंबित नहीं हो सका। कभी नाइन को नायिका की लाल एड़ी में लगी हुई महावर का भ्रम हो जाता है तो कहीं केवल छूकर ही पहने हुए स्वर्णिम आभूषणों का मान होता है, क्योंकि वे नायिका की सुनहरी देह के रंग में दिखाई ही नहीं देते। चरम सीमा तो वहाँ

है, जब बिहारी लिखते हैं कि नायिका के जगमगाते हुए भूषणों से युक्त दीपशिखा–सी देह के कारण रात को प्रकाश के लिये दीपक जलाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती –

"अंग अंग नग जगमगत, दीप सिखा सी देह।
दिया बढाये हूं रहै, बड़ो उज्यारौ गेह"।।

एक और काव्यशास्त्र की परम्परा का बन्धन तो दूसरी और फारसी काव्य की उक्ति–वैचित्र्य–प्रधान शैली का प्रभाव और तीसरी और पांडित्य प्रदर्शन का मोह–इन कारणों से बिहारी ने सहज सौन्दर्य को ढक सा दिया है। कहीं माथे की बिन्दी से कभी रूप के दस गुने होने की गणित चर्चा हो रही है तो कहीं बिहारी ज्योतिष-शास्त्र की भूलभुलैया में फंसकर रह गये हैं। परन्तु बिहारी ने सहज सौन्दर्य के प्रति भी अपना द ढ़ विश्वास प्रकट किया है। वे नारी के सुन्दर शरीर पर आभूषणों को 'दर्पण के से मोरचे' कहते हैं और नायिका को सोने के आभूषण न पहनने की प्रेरणा देते हैं। एक दूसरी मनोहर कल्पना में तो बिहारी ने स्पष्ट कर दिया है –

"मानहु विधि तन अच्छा छवि, स्वच्छ राखिवैं काज।
द ग–पग–पोंधन कौ करें, भूषण पायंदाज"।।

अर्थात् जिस प्रकार किसी मकान की स्वच्छता को सुरक्षित रखने के लिए लोग पायदान द्वार पर रख छोड़ते हैं, जहाँ प्रवेश करने वाले व्यक्ति अपना पांव साफ करके अन्दर जाते हैं, उसी प्रकार विधाता ने नायिका के अनुपम लावण्य को अक्षत रखने के उद्देश्य से भूषणों को बनाया है, ताकि दर्शकों की मैली आँखें पहले उन पर पड़कर अपना पांव पोंछ लें और तब निर्मल होकर ही नायिका के शारीरिक सौन्दर्य पर जायें, जिससे स्वयं उसकी अलंकार विषयक रुचि का भी सहज में पता चल जाता है। सहज सौन्दर्य में सहायक अलंकार ही सच्चे आभूषण हैं। तभी तो बिहारी की कोमलांगी नायिका तो वैसे भी आभूषणों का बोझ सहने में असमर्थ है, क्योंकि उससे तो पहले अपने सौन्दर्य का ही भार नहीं उठाया जाता –

"भूषन भार सम्भारि है क्यों यह तनु सुकुमार।
सूधे पांय न परत है, सोभा ही कै भार"।।

अतः बिहारी सहज–सौन्दर्य को कृत्रिम प्रसाधनों से विकृत करने के पक्ष में प्रायः नहीं है। वे कहते हैं कि अंगराज का लेपन भी उनकी सुंदरी नायिका की सहज छवि को मलिन कर देता है। वास्तव में आभूषण और दूसरे प्रसाधन सहज–सौन्दर्य को बढाने में समर्थ भी नहीं होते। सहज–सुन्दरी नायिका तो उसके बिना और आकर्षक लगती है। इसी सत्य को दोहराते हुए बिहारी ने यह दोहा रचा है –

"तन भूषन, अंजन द गनु, पगनु महावर रंग।
नहिं सोभा कौ साजियतु, कहिवै ही कौ अंग"।।

यही तो स्वाभाविक सौन्दर्य की विशेषता है। शरीर भूषणों से, आँखें अंजन से और पाँव महावर से शोभित नहीं किए जा सकते। ये सारे प्रसाधन तो नाममात्र कहने भर की हैं, क्योंकि बिहारी की उक्त नायिका का शरीर तो इनके बिना भी सुन्दर है। नारी के शारीरिक सौन्दर्य की एक और मोहक झांकी का शब्द–चित्र बिहारी के दोहे में देखिए –

"सहज सेत पचतोरिया, पहिरत अति छवि होत।
जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन ज्योति"।।

श्वेत साड़ी में लिपटी सुन्दरी की निर्मल कांति कवि की अलंकृत वर्णन शैली से मूर्तिमान होकर

आँखों को प्रकाशित कर देती है किसी झरने की पतली जल धारा के पीछे से झिलमिलाते हुए प्रकाश की तरह सुन्दर बारीक साड़ी में लिपटी हुई नायिका की गोरी कांतिमय देह की कल्पना सचमुच बड़ी सुखद और सरस है। इसी वर्ग की एक दूसरी मधुर छवि बिहारी के निम्न दोहे में भी मिलती है –

"भइ जु तन–छवि तन–बसन मिलि, वरन सकै सुन वैन।
आग आटो आँगी दुरी, आगी आंग दुरै न"।।

नायिका ने अपने शरीर के सुनहरी रंग के समान रंग वाली अंगिया पहन रखी है, जो तन के साथ मिलकर छिप–सी गई है। यूँ लगता है, नायिका ने अंगिया पहन ही नहीं रखी। इस प्रकार नायिका के अनाव त शारीरिक–सौन्दर्य की झलक भी कवि ने बड़ी चतुराई से दिखलाने की चेष्टा की है।

(ख) उद्दीपन विभाव : श ंगार रस के उद्दीपन-विभाव में आलम्बन (नायिका) की चेष्टाओं तथा षट्ऋतुओं का वर्णन आता है। यौवनकाल के आने पर जहाँ नायिका का रूप निखरता है, वहाँ उसके मानसिक और शारीरिक परिवर्तनों की सूचक कुछ–मधुर चेष्टाओं का भी कवियों ने वर्णन किया है, जो आश्रय (नायक) के मन में जाग त रति-भाव को अधिक उद्दीप्त करने में सहायक सिद्ध होती है। काव्यशास्त्र की शब्दावली में नायिका की उन आकर्षक चेष्टाओं एवं मुद्राओं को 'अलंकार' की संज्ञा दी गई है। ये अलंकार दो प्रकार के होते हैं –

(i) 'अयत्नण' अथवा सहज अलंकार। इनकी संख्या सात है।

(ii) यत्नज अलंकारों को हाव भी कहते हैं। इनकी संख्या 18 है। बिहारी ने इन सबके उदाहरण 'सतसई' में दिए हैं। विभिन्न प्रकार की मनमोहक मुद्राओं द्वारा नायिका किस प्रकार नायक को आकर्षित करती है, इसके प्रभावशाली द श्य बिहारी ने प्रस्तुत किए हैं।

(iii) **हाव–भाव वर्णन :** बिहारी जब लकीर से हटकर चलते हैं, तो नवोन्मेषकारिणी अपनी मौलिक प्रतिभा तथा सूक्ष्म सौन्दर्य द ष्टि और अनुपम निरीक्षण शक्ति का सहज परिचय देते हुए अत्यन्त मर्मस्पर्शी शब्द चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। उदाहरण के लिए बिहारी की एक सद्यःस्नाता का आकर्षक देखिए–

"विहसंगति सकुचाति सी दिए, कुच आचर बिचबांह।
भीजे पट तट कौ चली, न्हाइ सरोवर मांह"।।

यह कितना सजीव, सचित्र, हृदयग्राही और मौलिक वर्णन है। चित्रकार की तूलिका भी बिहारी की लेखनी के सामने शरमा गई है। ऐसे कितने ही 'भाव– हाव–हेला' के सुन्दर उदाहरण बिहारी ने 'उद्दीपन–विभव' की सीमा में रहते हुए कल्पित किए हैं। बिहारी की एक दूसरी नायिका को जूड़ा बांधते देखकर तो सचमुच मुंह तले अंगुली दबानी पड़ती है –

"कर समेटि कच, भुज उलटि खरा सीस पटु डारि।
काको मन बांधै न ए, जूरो बांधन वारि"।।

कैसा स्वाभाविक रूप चित्रण किया गया है। एक नहाती हुई अल्हड़ और असावधान सुन्दरी का मानो किसी चतुर छविकार ने छिपकर एक रंगीन फोटो खींच दिया हो। इसी प्रकार कहीं छींके से दही का बर्तन उतारते समय की अद्भुत मुद्रा का उत्तेजक सौन्दर्य सन्यासी आँखों को भी

विचलित कर सकता है, तो कहीं किसी नायिका की चंचल भौहों की घातक मुद्रा मधुर द श्य उपस्थित करती है –

"नासा मोरि नचाइ जे, कनी ककी की सौंह।
कांटे सी कसकैति हिय, गड़ी कंटीली भौंह"।।

इस श्रेणी का एक दूसरा हृदयहारी चित्र भी देखिए –

"भौंह ऊंचै, आंचरु उलटि, मोरि मोरि मुहुँ मोरि।
नीठि–नीठि भीतर गई, दीठि–दीठि सौं जोरि"।।

इन दोहों में विलास–हाव का बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है। जिसकी उत्तेजक और प्रेरक शक्ति श्रंगार–रस के स्थायी भाव को जगाकर उद्दीप्त कर देती हैं। बिहारी की चित्रशाला में रूप–वर्णन के ऐसे अनेक बहुरंगी चित्र टंगे हुए हैं, किस-किस को प्रस्तुत किया जाए। इन रूप–चित्रों में रीति–बद्धता का घिसा–पिटा वर्णन नहीं और न अतिशयोक्तिपूर्ण, भद्धी और अस्वाभाविक ऊहोक्तियाँ ही हैं। इन हावभाव के भावपूर्ण वर्णनों में कवि की सूक्षम मनोवैज्ञानिक द ष्टि और एक अनुभवी कलाकार की कल्पना–कुशलता का संगम है, जो बिहारी को अपने युग का श्रेष्ठ श्रंगारी कवि सिद्ध कर देता है।

बिहारी की नायिकाएँ अपने मादक रूप से, अल्हड़ मुद्राओं तथा चंचल चेष्टाओं से नायक को अभिभूत कर देती है। कभी कोई शोख–रमणी झरोखे में से भय, लज्जा और संकोच के मिले–जुले भावों से भरी आकर पलक झपकने की देर में अपनी झांकी दिखा जाती है तो कोई चतुर प्रिया सिर ढांपने के बहाने अपनी देह को अधोभाव नायक के सामने अनाव त कर देती है –

"त्रिवली नाभि दिखाई वार, सिर ढकि, सकुचि समाहि।
गली अली की ओट कै, चली भली विधि चाहि"।।

ऐसी चेष्टाए नायक की द ष्टि से उद्धीपन–विभाव कहलाती हैं, परन्तु नायिका की द ष्टि से इन्हें 'अनुभव' के अन्तर्गत ही माना जाएगा। जब हावभाव आदि चेष्टाएँ नायक के मन में रतिभाव को जगाने तथा भड़काने का काम करती है, तो वे 'विभाव' की सूचक होती है। परन्तु जब इन चेष्टाओं से प्रेम करने वाले व्यक्ति की स्वानुभूतियों की अभिव्यंजना होती है, तभी इनकी 'अनुभाव' संज्ञा होती है। इसका निर्णय आश्रय और आलम्बन की स्थिति पर ही निर्भर रहता है।

(ii) **षट्ऋतु वर्णन :** संयोग–श्रंगार में प्रकृति का वर्णन कवियों ने प्रायः उद्धीपन विभाव के अन्तर्गत किया है। अतः 'बिहारी सतसई' में जहाँ प्रकृति का स्वतंत्र निरूपण मिलता है, वहाँ श्रंगार के उद्धीपन रूप में भी बिहारी ने रीतिबद्ध शैली का अनुसरण किया है। प्रकृति के विविध द श्य नायक–नायिकाओं को विहार, मिलन, केलि–क्रीड़ा आदि की प्रेरणा देते हैं।

शरद सुन्दरी का उन्मादक चित्र देखिए –

"अरुन सरोरुह कह चरन, द ग खंजन मुख चंद।
समै उभव सुन्दरि सरद, काहि न करहि अनंद"।।

इसी प्रकार बसन्त ऋतु की मस्तानी वायु तो नवविवाहिता रमणी के समान ही सुखदायक लगती है।

"लपटी पुहुप–पट, सनी स्वेद मकरन्द।
आवति नारि नवोढ लौं, सुखद वायु गतिमन्द"।।

अगहन के महीने में कामदेव का शासन कितना सुद ढ़ हो जाता है, अपने को अजेय समझने वाले बड़े–बड़े संन्यासी–महात्मा भी इससे बच नहीं सकते। युवक–युवतियों के हृदय में रति का संचार करने वाले इस उन्मादक महीने का वर्णन इस प्रकार किया गया है –

"कियो सबै जग कामवस, जीते जिते अजेय।
कुसूम–सरहि सर धनुष कर, अगहन गहन न देय"।।

हैमन्त ऋतु भी बिहारी को रति–रंग के लिए भूमिका प्रस्तुत करने वाली दिखाई देती है, जिसमें प्रेमी–युगल रस लूटे बिना जीवित रह नहीं सकते –

"मिलि विहरत बिछुरत मरत, दम्पति अति रति–लीन।
नूतन विधि हेमन्त ऋतु, जगत जुराफा कीन"।।

इस प्रकार बिहारी ने प्रकृति को श्रंगार–रस में लीन नायक–नायिकाओं को आमोद–प्रमोद के लिए प्रेरणा देने के लिए प्रयुक्त किया है। जल–क्रीडा आदि के लिए प्रयुक्त किया है। जल–क्रीड़ा आदि के वर्णन भी इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।

(ग) प्रेम-व्यापार वर्णन : आश्रय की चेष्टाओं को साहित्य शास्त्री 'अनुभाव' कहते हैं। ये सात्विक और कायिक दो प्रकार के होते हैं। आश्रय वह व्यक्ति होता है, जिसके हृदय में स्थायी–भाव का उदय होता है। इस प्रकार परिस्थिति के अनुसार नायक और नायिका आश्रय भी हो सकते हैं और आलम्बन भी। 'बिहारी सतसई' में नायक और नायिका दोनों की आश्रयगत अनुभूतियों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। अनुभाव–वर्णन में बिहारी को जितनी सफलता मिली है, रीतिकाल के किसी अन्य कवि को नहीं मिली, नायक अथवा नायिका की विविध मनोदशाओं तथा कार्य–व्यापारों का चित्रत्मक–शैली में बिहारी ने वर्णन किया है। इस वर्णन में कवि की सूक्ष्म निरीक्षण–शक्ति तथा काव्य–कुशलता का परिचय मिलता है। प्रेमानुभूतियों की विभिन्न स्थितियों का अध्ययन 'सतसई' के आधार पर निम्नलिखित है –

(i) **मिलन :** यौवन के प्रारम्भ में तरुण और तरुणियों की आँखों में विचित्र चमक आने लगती है। हृदय में किसी को चाहने की लालसा का उदय होता है। मनचाहे प्रिय के रूप में देखने का आकर्षण जाग उठता है और इस प्रकार उपयुक्त अवसर मिलने पर प्रेम का अंकुर मन में फूट पड़ता है। बिहारी का नायक गौएं चराने वन में गया था, वहीं नायिका भी अपनी गौएं लेकर आ गई। बस संयोग से दोनों की आँखें चार हुई और आँख मिलते ही दिल भी मिल गए –

"उन हरकी हंसि कै इतै, इन सौंपी मुस्काइ।
नैन मिलै मन मिलि गए, दौऊ मिलवत गाइ"।।

"Love at First sight" का कितना अनूठा उदाहरण है।

(ii) **मस्ती :** प्रियतम के प्रथम परिचय के साथ ही नायिका पर रूप का नशा छा जाता है। जिसके फलस्वरूप उसके मन में हलचल मच जाती है। अल्हड़ होने से वह ऐसी चेष्टाएँ भी कर बैठती है, जिससे कि उसकी चंचलता और अनुभव–हीनता टपकती है। जरा देखिए तो –

"तजी संक सकुचावति न चित, बोलत वाकु–कुवाकु।
दिन छिनदा छाकि रहति, घुटतु धिनु छवि–धाकु"।।

(iii) **अधीरता :** मस्ती भरी अल्हड़ नायिका नायक के दर्शन की प्रबल अभिलाषा के पल भर भी घर में नहीं टिकती। सारा दिन इधर से उधर दौड़ी फिरती है। प्रिय की एक झलक पाने के लिए वह बार–बार अटारी पर चढ़ती–उतरती है, जैसे किसी नट के हाथ की चकई एक क्षण ऊपर और एक क्षण नीचे चक्कर खाती रहती है –

"झटकि चढति उतरति अटा, नैकु नथाकति देह।
भई रहति नट कौ नटा, अटकी नागर–नेह"।।

उपमा की यथार्थता से अनुरागिणी नायिका की अस्थिर मनोदशा का चित्र उसकी आतुर चेष्टाओं से स्पष्ट ध्वनित हो रहा है।

(iv) **विवशता :** पूर्वानुगागिणी नायिका को लोकलाज का भी बहुत ध्यान आता है। कुल की मर्यादा तथा गुरुजनों का भय नायिका के प्रेम–मार्ग का बाधक है। परन्तु इन बेलगाम नयनों को कौन समझाये, जो मुंहजोर घोड़े के समान रस्सी तुड़ाकर भी प्रिय की और चले जाते हैं। इन्हें यश–अपयश की कोई चिन्ता नहीं है।
"जस अपजस देखत नहीं, देखत सांवल गात"

फिर यदि कोई गुरुजन अथवा सखी रोकती भी है, तो उत्तर यही मिलता है –

"नैना नैक न मानहिं, कितौ कह्यौ समुझाइ
तन-मन हारै हूँ हंसैं, तिनसौं कहा बसाइ"

प्रेम में कितनी बेबसी है। ऐसी दशा में दूसरा उपाय भी क्या है? मन तो भंवर में फंसी नाव की तरह बार–बार प्रियका ही चक्कर काट रहा है।

(v) **उत्सुकता :** नायिका की अब प्रियदर्शन की उत्सुकता खाए जाती है। वह दिन–रात अवसर ढूँढती रहती है। गुरुजनों से बचकर, सखियों से छुपकर, चोरी–चोरी वह अपने प्रिय की झलक पा लेना चाहती है। कभी हाथ की अंगूठी के नगीने में प्रतिबिम्बित प्रिय की छवि का उसकी और पीठ किए ही चुपके से पान करती रहती है। कभी बाल संवारते हुए अचानक सामने प्रिय के गुजरने पर गुरुजनों के संकोचवश अंगुली से बाल की एक लेट को तनिक सरकाकर उसके मध्य में से प्रिय की झलक पा लेती है –

"कंच नयनि मंजनु किए, बैठी ब्यौरति बार।
कच अंगुरी बिच दीठि दै, चितवति नन्दकुमार"।।

(vi) **सम्बन्ध भावना :** अनुराग की अवस्था में प्रिय से संबंध रखने वाली हर वस्तु प्यारी लगती है। प्रिय वस्तु के स्पर्श से प्रिय–स्पर्श तक की अनुभूति होने लगती है। बिहारी के अनेक दोहों में मनोवैज्ञानिक अवस्था की अनुभूति होने लगती है। नायक जिस पतंग को उड़ा रहा है, उसकी परछाई नायिका के घर पर भी पड़ रही है और नायिका उन्मादिनी–सी उस परछाई के साथ–साथ भाग रही है तथा उस पतंग की छाया से अपना अंग छुड़वाकर प्रिय–स्पर्श का आनन्द ले रही है –

"उड़ति गुड़ी लखि लाल की, अपना अंगना मांहि।
बोरी लौं दौरि फिरति, छुअत छबीली छांह"।।

कभी–कभी नायक के शरीर की छाया से भी अपना शरीर–स्पर्श कराने में उसे

मुख मिल जाता है। नायक ने नायिका को छल्ला दिया था, जिसे पाकर वह फूली नहीं समाती। देखिए –

"छला छबीले कौ, नवल नेह लहि नारि
चुम्बति चाहति लाइ उर, परिहित धरति उतारि"

कितना सुन्दर अनुभव वर्णन है। इसी प्रकार चुम्बन के अवसर पर नायिका के अधर पर जो दंत–क्षत लग गया था, उसे स्नेह का स्मारक समझकर मुग्धा–नायिका प्रेम तथा गर्व के साथ कभी तो दर्पण को देखती है, कभी छुपाती है और कभी प्रकट (सखियों को) दिखाती हैं –

"छिनकु उधारति, धिनु छुवति, सखति छिनकु छिपाइ।
सबु दिन पिय खंडित अधर, दरपन देखत जाइ"।।

(vii) **मोह :** प्रेम में कभी ऐसी अवस्था भी आती है, जब प्रिय का सामना करते ही सारी सुध–बुध जाती रहती है। बिहारी ने इसी मोहावस्था का एक अत्यन्त ही मोह का चित्र खींचा है। नायिका खिलोने लिए बैठी थी कि इतने में नायक वहाँ आ गया। नायिका उसे देख मोहित उलटा–पुलटा काम करने लगी –

"रही दहेड़ी ढिंग धरी, भरी मथनिया वारि
फेरति करि उलटी रई, नई विलोकन हारि"

मथनी में जल तो भरा था पर दही डालना भूल गई और चेतना शून्य–सी प्रेम विभोर होकर रई भी ऊलटी पकड़ कर चलाने लगी।

(viii) **आमोद-प्रमोद :** प्रेम के विकास में नायक–नायिकाओं की संयोग संबंधी विविध प्रेम क्रीड़ाओं का भी बिहारी ने बड़ा रोचक वर्णन किया है रूप की मादिरा पानकर नायिका दिन–रात मस्ती में खोई रहती है –

"डर न टरै नींद न परै, हरैन काल–बिपाकु
धिनकु धाकि उधिकै न फिरि, खरौ विषमु छवि–छाकु"

प्रणय में रूप का नशा कितना तीव्र है जो थोड़ी–सी पी लेने पर ही फिर कभी उतरता नहीं है। दूसरे नशे (भांग, मदिरा आदि के) तो गुरुजनों के डर से तुरन्त दूर हो जाते हैं अथवा नींद आ जाने पर उसका वेग कम हो जाता है, या समय बीत जाने पर उनका प्रभाव नहीं रहता। इसके अतिरिक्त नशा स्थिर रखने के लिए उन्हें बार बार पीने की आवश्यकता भी रहती है। परन्तु प्रियतम के रूप का नशा एक बार और वह भी तनिक–सा पान कर लिया, तो वह फिर वह लोक–लाज के डर से हटता नहीं है, नींद आने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। समय ज्यों–ज्यों बीतता है, यह उलटे बढ़ता ही जाता है। प्रेम को पल्लकित करने के लिए नायक नायिका जल–विहार भी करते हैं, उद्यानों में भी घूमते हैं, बसन्त ऋतु में फाग की विनोद भरी क्रीड़ाओं में भी भाग लेते हैं। इस अवसर पर रंग की पिचकारी लिए या मुट्ठी में गुलाल भरे दोनों प्रेमी एक दूसरे को छेड़ते रहते हैं, इसका कारण केवल एक उदाहरण देखिए –

"ज्यौं उझकि झांपति बदनु, झुकति बिहंसि सतराइ।
त्यौं गुलाल मुठी झुठी, झझकावत प्यौ जाइ"

होली के खेल में नायक को गुलाल भरी मुट्ठी ताने हुए देखकर नायिका आँखों में गुलाल पड़ने के भय से घूंघट से मुंह ढांपती है, कुछ चौंककर झुकती है और मुस्कराती भी है नायक उसकी यह मुस्कराहट भरी मुद्रा देखकर इतना मोहित हो गया है कि वह बार–बार इसी रूप को देखने की इच्छा से बिना गुलाल की मुट्ठी तान कर ही उसे झूठ–मूठ डराता है ताकि नायिका फिर–फिर वैसी ही चेष्टाएँ करे। मुट्ठी में गुलाल न भरने का रहस्य रत्नाकर जी बताते हैं कि सुकुमारी नायिका की आँखों में गुलाल पड़ने से वह नायक का मुट्ठी तानना देख न सकेगी और वैसी मनोहर मुद्राएं न बनाएगी, जिनको देखने के लिए नायक यह नाटक रच रहा है। इसी प्रकार कभी नायक जान–बूझकर नायिका को साथ लिए कंकरीली राह पर चलने लगता है, क्योंकि प्रिय को कंकरों पर कोमल पांव रखते देख जब नायिका भय और आशंका से 'सी', 'सी' शब्द निकालती है तो नायक उस पर रीझकर बार–बार अनजाना बनकर उसी राह पर चलने लगता है, ताकि वह उस मन को लुभाने वाली चेष्टाओं को देख सके। नायक और नायिका एक दूसरे को पान खिलाते समय पुलकित हो उठते हैं। अपने हाथ से अनिच्छुक नायक को पान खिलाते हुए नायिका की मुद्रा को देखिए –

"हंसि ओठन बिच, करु ऊचै, किए निचौहे नैन।
खरैं अरै पिय के प्रिया, लगी बिरी मुख दैन"।।

कितना स्वाभाविक और हृदयग्राही चित्र है। फिर नायक ने जब उत्तर में अपने हाथ से पान खिलाना चाहा तो क्या हुआ –

"नाक मोरि नाहीं करै, वारि निहोरै लेइ।
छुवत ओठ बिच आंगुरिन, बिरी बदन प्यौ देह"।।

(ix) **व्यंग्य विनोद :** नायिका का इन्कार, विनय, अनुरोध तथा नायक का बलात् छेड़छाड़ तथा व्यंग्य विनोद का भी अपना विशेष महत्व है। प्रेमियों को एक–दूसरे को सताने में भी बड़ा आनन्द आता है। ऐसे अवसरों को खोजकर बिहारी ने बड़े ही रंगीन द श्य श ंगार–रस के रसिकों को दिखाने के लिए 'सतसई' में जुटा रखे हैं। एक बार नायिका (राधा) ने नायक (कृष्ण) से बातचीत का आनन्द लूटने की आशा से उसकी मुरली छुपा ली। जब कृष्ण ने पता किया तो साफ अनजानी बैठी रही। नायक ने अनुनय–विनय की, प्यार की सौगन्ध दिलाई तो मुस्करा पड़ी, परन्तु देने का वायदा करके भी फिर मुकर गई –

"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय'।
सौंह भौंहनि हंसै, दैन कहि नटि जाय"।।

एक दूसरे दोहे में बिहारी की नायिका नायक की मीठी चुटकी लेती है। नायक उसकी बेनी गूंथ रहा था। परन्तु अंग–स्पर्श से स्वेद सात्विक अनुभाव हो जाने के कारण नायिका के बाल गीले हो गए।

इस पर नायक कहता है –

"रहौ गुही बेनी लखे, गुहिये के त्यौनार'।
लागै नीरे चुचान जे, नीठि सुकाये वार"।।

अर्थात्—'अब रहने भी दो। देख ली तुम्हारी बेनी गूंथने की कला। इतनी कठिनाई से तो बाल सुखाये थे। तुमने उन्हें फिर गीला कर दिया। छोड़ो, हटो, तुमसे कुछ भी नहीं होगा।'

कितनी मीठी छेड़छाड़ है। ऐसे व्यंग्य—विनोद के मधुर प्रसंग 'बिहारी सतसई' में और भी हैं। देखिए —

एक और अवसर पर नायिका जब गोरस बेचने जा रही थी तो नायक राह रोक कर खड़ा हो गया। दूध—दही तो क्या लेनी थी, नायिका से बात करने बहाना खोजना था। नायिका नायक की इच्छा भाँप कर बोली—

"लाज गहौ बेकाज कत, छेरि रहे घर जाहिं'।
गोरसु चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नाहिं"।।

व्यंग्य—विनोद की ऐसी मीठी—मीठी उक्तियाँ बिहारी के श्रंगार-रस के वियोग—पक्ष का श्रंगार बन गई है।

(x) **प्रसंग कल्पना :** बिहारी ने केवल रीति—ग्रन्थों के आधार पर रुढि—अनुभवों का वर्णन ही नहीं किया, अपितु अपनी मौलिक प्रतिभा से वियोग— श्रंगार के विशाल क्षेत्र में से ऐसे नूतन और सरस प्रसंगों की भी कल्पना की है, जिनमें 'गागर में सागर' भरने की कहावत चरितार्थ हो गई है। प्रणय काल के उन सुन्दर खण्ड चित्रों में तरुण—हृदयों की मीठी धड़कनें कोमल अनुभूतियों तो हैं ही कवि की वर्णन—चातुरी तथा अनुपम कल्पना शक्ति का भी इन्द्र—धनुषी रूप होने पर सुहागे का काम करता है। कभी तो बिहारी गुरुजनों से घिरे नायक—नायिकाओं द्वारा प्रेम—प्रार्थना का मनुहार भरा लम्बा वार्तालाप केवल मौन आँखों से ही करा लेते हैं, तो कभी पूरी कहानी ही दो पंक्तियों में कह डाली है —

"मै मिसिहा सोयौ समुझि, मुंह चूम्यौ ढिंग जाइ'।
हंस्यौ खिसानी गल गह्यौ, रही गरै लपटाइ"।

नायक झूठमूठ रुठने का बहाना बनाकर सोया है। नायिका का मन काबू में नहीं रहता। एकान्त और प्रिय को सोया समझ चुपके-से आती है। धीरे से नायक को ज्यों ही चूमने लगती है कि नायक उसके भोलेपन पर हंस पड़ता है और भागती हुई प्रिया को पकड़कर गले से लगा लेता है। ऐसे ही एक अन्य मधुर प्रसंग की भी कवि ने उद्भावना की है। अब की बार नायिका सोने का बहाना किये हुए है। वह नायक को छकाना चाहती है परन्तु चुपके," उपेक्षा भरा प्रियतम ज्यौं ही साथ आकर लेट जाता है, तब उसके मधुर स्पर्श से पुलकित होकर नायिका से नहीं रहा जाता। पर अपनी बात रखने के लिए वह नायक से ऐसे लिपटती है, मानो नायक उसे नींद में ही आलिंगन करता हुआ समझे और फिर उसे जगाकर प्यार से मना लेता है। इस निद्रा—ब्याज के अनेक भावपूर्ण रसिक—प्रसंगों की कल्पना बिहारी ने की है जिनमें प्रेमियों के कायिक अनुभावों का ही नहीं, सात्विक अनुभावों का वर्णन भी हुआ है। दोनों प्रकार के अनुभावों का एक संयुक्त उदाहरण इसी प्रकार के एक दोहे में दर्शनीय है —

"मुखु उघारे पिउ लखि रहत, रह्यौ न गौ मिस सैन'।
फरके ओठ, उठे पुलक, गए उघरि, जुसि नैन"।।

अनुरागिनी नायिका जान–बूझकर आँखें मूंद कर लेट गई है। मुंह पर कपड़ा भी ओढ़ लिया है। नायक ने आकर उत्सुकता से मूंह खोलकर जो देखा तो सोने का बहाना चल न सका। होंठ फड़क उठे, शरीर रोमांचित हो गया। नयन खुले और प्रिय के नयनों से मिल गये। एक दूसरे अवसर पर नायिका नायक की प्रत्यक्ष उत्प्रेक्षा से चिन्तित थी। एक बार पांव में काँटा चुभा, तो नायक ने आकर निकाला। बड़ी सावधानी और भय–आशंका के मारे उसने कांटा निकाला कि कहीं नायिका को कष्ट न हो। नायक की इस चेष्टा से उसके अपने प्रति गुप्त प्रेम को जान नायिका की जान में जान आ गई –

"इहि कांटे मो पाइ गड़ि, लीनी मरत जिवाइ'।
प्रीति जनावत भीति सौं, मीत जु काद्यौ आइ"।।

(xi) **स्पर्श-मुख :** संयोग–श्रंगार में नायक–नायिकाओं की प्रेमलीलाओं में परस्पर स्पर्श जन्य मुख का भी बिहारी ने निःसंकोच वर्णन किया है। आँख–मिचोली के खेल में एक–दूसरे की आँख बन्द करने का प्रसंग प्रेमियों को बड़ा ही प्रिय होता है। इसी बहाने उन्हें एक दूसरे के मधुरस से पूर्ण अंगों का रोमांचकारी स्पर्श करने का स्वर्ण अवसर जो मिल जाता है देखिए जरा–नायिका की आँखें नायक ने मूँदी हैं, नायिका प्रिय के स्पर्श से यद्यपि उसे पहचान गई है, पर स्पर्श–सुख के लोभ में वह जान–बूझकर अनजान बनी हुई है –

"प्रीतम द ग–मींचत प्रिया, पानि परस सुखु पाइ
जानि पिछाने आजान लौ, नेकु न होति जनाइ"

इस खेल की आड़ में प्रेमालिंगन भी होते हैं –

"दोऊ चोर मिहींचनी, खेलु न खेलि अघात
दुरत हियै लपटाइ कै, छुवत हियैं लपटात"

बिहारी के नायक–नायिका केवल खेल में ही मिलन का बहाना नहीं ढूँढते, अपितु आस–पड़ौस में या अपने घर में भी कोई–न–कोई राह निकाल लेते हैं। दूसरे का चुम्बन करना भी बिहारी की तीव्र आँखों ने देखा है।

(xii) **अभिसार :** संयोग–श्रंगार के अन्तर्गत 'अभिसार' का प्रसंग भी कवि ने रस ले–लेकर चित्रित किया है। रीतिकालीन कवि परकीया नायिका के माध्यम से ही प्रेम की विविध झाँकियाँ दिखाते हैं। अतः बिहारी ने भी नायिका को प्रिय मिलन के लिए अभिसार की कला अच्छी तरह से सिखला दी।

काली रात में कृष्ण–वस्त्र पहनकर तथा शुक्ल–पक्ष में श्वेत वस्त्र पहन लेने से भेद के खुलने की आशंका नहीं रहती। यदि अभिसार से देर को लौटते समय राह में चन्द्रमा निकल भी आया, तो पद्मिनी नायिका के शरीर की सुगन्ध से आकर्षित होकर भ्रमरों ने गली में अंधेरा कर दिया। और नायिका बड़ी सरलता से अपने घर लौट आई। परन्तु जहाँ श्याम-वर्ण नायक और नायिका गौर-वर्ण नायिका साथ–साथ होते हैं तो भी खतरा रहता, क्योंकि चांदनी में नायिका लक्षित नहीं होती और काली रात में नायक की शकल छिप जाती है। अतः किसी को भी संदेह उत्पन्न नहीं होता –

"मिलि परछाहीं जोन्ह सौं, रहे गुहुन के गात
हरि राधा इक संग ही, चले चली महं जात"

(xiii) **कामुकता :** संयोग–श ंगार की चरम–सीमा ऐन्द्रिय–संभोग में गई है। बिहारी ने यद्यपि उस अवस्था का भी शब्द–चित्र और ध्वनि–चित्र खींचा है, तथापि उस अवस्था से पूर्व की परिस्थिति तथा नायिका की मनोदशाओं का भी सुन्दर चित्रण किया है। अनुभाव की द ष्टि से ये द श्य बड़े ही सजीव बन पड़े हैं। निम्नलिखित दोहे में रतिक्रीड़ा के लिए नायक द्वारा स्पर्श करने पर नायिका कृत्रिम क्रोध प्रदर्शित करती हुई 'ना – ना' कहकर भी 'हाँ' का मधुर संकेत दे जाती है –

"जदपि नाहिं नाहिं नहिं, बदन लगी जक जाति
तदपि भौंह हांसी भरिनु, हांसीयै ठहराति"

इसी प्रकार परस्पर खींचातानी करती हुई, परन्तु अपनी अभिलाषा को भी चेष्टाओं द्वारा ध्वनित करती हुई नायिका को देखिए –

"भौंहनु त्रासति, मुख नटति आंखिन सौं लपटाति
ऐंचि छुड़ावति करुं, इंचि आगे आवति जाति"

यहाँ रति–सुख की इच्छुक नायिका कभी साँझ आई देख, घर के सारे काम जल्दी-जल्दी निपटाने में लगती है तो कभी समय अधिक बीतता देखकर झूठ–मूठ जम्हाई लेना आरम्भ कर देती है ताकि नींद का समय अधिक होने के कारण पास बैठी सखियाँ चली जाए, तो वह प्रिय मिलन को जा सके। ऐसे अनेक रमणीय–स्थलों की कल्पना बिहारी ने की है।

(xiv) **रसाभास :** बिहारी ने संयोग–श ंगार के अन्तर्गत कहीं–कहीं रसाभास का वर्णन भी कर दिया है। उदाहरण के लिए बच्चे को नायिका की गोद में लेने के बहाने नायम का अपनी अंगुली से उसकी छाती का स्पर्श करना अथवा नायक द्वारा बालक को चूमे होने के कारण ही अपने बालक के होठों का चुम्बन लेकर प्रिय के आधर–स्पर्श की अनुभूति निःसंश्च रस न होकर रसाभास ही कहलायेगी। वात्सल्य जैसी पवित्र भावना में दाम्पत्यरति की अवतारणा जैसी त्रुटियाँ यद्यपि केशवदास तथा अन्य रीतिकालीन श ंगारी कवियों में भी पाई जाती है, परन्तु ये प्रशंसनीय तथा अनुकरणी नहीं कही जा सकती।

इसी प्रकार बिहारी द्वारा किए गए सुरत, सुरतारम्भ, सुरतान्त तथा विपरीत रति जैसे कामुकतापूर्ण वर्णनों को भी आलोचकों ने अनुचित तथा अश्लील माना है। रस सदा 'व्यंग्य' होता है, उसे 'वाच्य' बनाने की आवश्यकता ही क्या है?

निष्कर्ष

बिहारी का संयोग–श ंगार युग के विलासी–वातावरण का शब्दमय रंगीन चित्र है, जिसमें कवि की लेखनी ने चित्रकार की तूलिका से काम लेकर जीवन के रसीले प्रसंगों को बड़ी रुचि से और रस ले–लेकर अंकित किया है। इनमें ह्रदय की कोमल धड़कने प्रेम का मधुर संगीत छेड़ती हैं, नायिका की नयनाभिराम मुद्राएँ हाव–भाव और चेष्टाएँ अपने नायकों को ही नहीं, रसिक पाठकों के ह्रदय को भी आकर्षित कर लेती हैं। ऐन्द्रिय सुख के स्थूल वर्णनों के साथ–साथ मन की

सूक्ष्म अनुभूतियों का भी बिहारी ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। कला का अनुपम सौन्दर्य भावों के रंगों में डूबकर अधिक मनोरम लगता है। संक्षेप में बिहारी के संयोग–श्रंगार–वर्णन में यौवन, प्रेम और सौन्दर्य की त्रिवेणी पूरे वेग के साथ बहती है, जिनमें नहाकर काव्य का रसिक उस स्थिति को पहुंच जाता है, जिसे आचार्य शुक्ल हृदय की 'मुक्तावस्था' कहते हैं।

आर्थिक सूक्ति

कनक–कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय'
उहि खाय बौराय जग, इहि पाएहि बौराय"।।

काम–परक सूक्ति

"तंत्रीनाद, कवित–रस, सरस राग, रति रंग'
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग"।।

अन्योक्ति

"करि फुलेल कौ आचमन, मीठो कहत सराहि।'
रे गन्धी मति–अन्ध तू, अतर दिखावत काहि"।।

बिहारी की धार्मिक सूक्तियाँ भी अधिक हैं। हाँ 'प्रशस्ति–सूक्तियों की संख्या और विशेषता भी अपेक्षाकृत कम है।

अध्याय - 11
बिहारी का वियोग श ंगार

महत्व श ंगार–रस में सामान्यः संयोग को अपेक्षा वियोग को काव्य में अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसका प्रधान कारण यह है कि प्रेमानुभूतियों की गहरी और व्यापक अनुभूति जैसी वियोगावस्था में होती है, वैसी संयोग में नहीं। किसी संस्कृत के कवि ने भी कहा है कि "संयोग और वियोग में से मुझे प्रिया का विरह अधिक पसन्द है, क्योंकि संयोग अवस्था में तो वह अकेली मेरे सामने होती है, जबकि उसके विरह में मुझे सारा संसार में उसी का रूप दिखाई देता है।"

वस्तुतः वियोगी–हृदय में तप, त्याग, सहनशीलता, सहानुभूति आदि मानव को उदात्त व तियों की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। वेदना मनुष्य को द ष्टि प्रदान करती है। विरह की अग्नि में तपकर ही प्रेम को सुवर्ण कुन्दन बनता है। सचमुच वियोग ही तो प्रेम की सच्ची कसौटी है। संयोगावस्था का प्यार आदि वियोग में भी विद्यमान रहे, तभी वह सच्चा प्यार है। प्रेम की अनन्यता की परीक्षा भी वियोग में होती है। वियोग प्रेम का श ंगार है।

काव्य का जन्म भी संसार में वियोग की वेदना से हुआ। क्रौंचपक्षी के मिलन–उत्सव में भंग पड़ने से जब एक की हत्या ब्याध के तीर से हुई तो बाल्मीकि अपनी प्रिया से वियुक्त पक्षी की वेदना की कल्पना करके चीख पड़े और इस प्रकार संस्कृत का पहला श्लोक रचा गया–शोक ही श्लोक बन गया। हिन्दी के स्वनाम धन्य महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त भी तो यही कहते हैं –

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा मान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप, वही होंगी कविता अनजान।।

कालिदास का यक्ष हो, या सूरदास की राधा, तुलसी का राम हो, या जायसी की नागमती, वियोग–श ंगार की अभिव्यक्ति से ही अमर काव्यों के नायक–नायिका बने हैं। भवभूति हो या महादेवी, किसी काल, देश का कोई भी कवि क्यों न हो, वियोग की आग को बिना पिये श्रेष्ठ काव्य की रचना नहीं कर सका। सच कहा है – "Our sweetest songs are those that tall of saddest thoughts."

यही कारण है कि संसार के महान् कवियों ने संयोग की अपेक्षा वियोग श ंगार का आधार लेकर ही विश्व–साहित्य की अमर कृतियों की स ष्टि की है। वियोग में ही हृदय का तादात्म्य विश्व के कण–कण से होता है। विरही राम सीता का पता खग, म ग और मधुकर श्रेणी से पूछने लग जाते हैं। कालिदास का यक्ष 'मेघदूत' द्वारा अपना संदेश अलकापुरी में बैठी प्रिया तक पहुँचाता है। जायसी की नागमती भंवरे और कौए से विनय करती है। कहने का अभिप्राय यह है कि विरह की अनुभूति मानव–मन की रागाटिमका व ति को विकसित करने का एक बहुत बड़ा निर्मित बन जाती है। प्रेम का शुद्ध स्वरूप संयोग में नहीं, अपितु वियोग से ही व्यापक रूप से प्रकट होती है। इस तथ्य को बिहारी जैसे मूलतः संयोग–श ंगार के कवि भी स्वीकार करते हैं –

"छतौ नेहु काजर हिये, भई लखाइ न टांकु।
बिरह तचें उघर्‌यौ सु अब कैसो आंकु"।।

सेंहुड़ के दूध से लिखे अक्षर कागज पर सूख जाने के पश्चात् दिखाई नहीं पड़ते। जब आंच से कागज को गर्म किया जाता है, तो प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार हृदय में विद्यमान प्रेम भी विरह की आंच से तप कर ही प्रकट होता है। अस्तु,

बिहारी ने अधिकतर संयोग–श्रंगार का ही वर्णन किया है। वियोग श्रंगार में उसका मन अधिक नहीं रमा, कदाचित युग की मांग भी यही थी। चमत्कार प्रदर्शन और ऊहोक्तियों से बिहारी का वियोग–वर्णन प्रभावशून्य हो गया है, फिर भी उसकी मौलिक प्रतिभा ने कृत्रिमता के घूंघट में से कभी–कभी अपनी रमणीय छवि का प्रदर्शन करा ही दिया है।

शास्त्रीय-विवेचन

काव्यशास्त्र में श्रंगार रस का दूसरा भेद 'विप्रलम्भ श्रंगार' अथवा 'वियोग श्रंगार है। 'संयोग श्रंगार' में नायक का मिलन होता है, जबकि 'विप्रलम्भ श्रंगार' में दोनों का विरह। परन्तु काव्य में दोनों की वियोगावस्था में भी दोनों ही रतिस्थायी भाव के परस्पर आलम्बन और आश्रय रहते हैं। 'उद्धीपन विभाव' के अन्तर्गत आलम्बन की चेष्टाओं, गुणों तथा तत्सम्बन्धी वस्तुओं का स्मरण किया जाता है तथा प्रकृति का वर्णन भी जैसे संयोगावस्था में रति को उदीप्त करके नायक और नायिका के लिए उत्तेजक वातावरण तैयार करता है उसी प्रकार काव्य में प्रकृति वर्णन के द्वारा वियोगी प्रियजनों की विरहाग्नि और अधिक बढ़ जाती है। सामान्य रूप से 'षड्ऋतु–वर्णन' संयोग श्रंगार में तथा 'बारहमासा वर्णन' विप्रलम्भ श्रंगार में हिन्दी कवियों ने वर्णित किया है। बिहारी ने 'षड्ऋतु–वर्णन' तो किया है, परन्तु 'बारहमासा वर्णन' नहीं।

विप्रलम्भ के भेद

विप्रलम्भ श्रंगार के मुख्य चार भेद मान गए हैं –

1. पूर्वराग
2. मान
3. प्रवास
4. करुण

1. प्रिय का गुणगान या दर्शन करने से उसको प्राप्त करने की ज्यादा अभिलाषा मन में उठती है, और लोक-लाज अथवा अन्य किसी करण से प्रिय का संयोग न होने के कारण जो वेदना, तड़प और टीस मन में जागती है, उसी अवस्था को 'पूर्वराग' कहते हैं।

2. संयोग हो जाने पर नायक के परस्त्री–विहार के कारण या प्रणय व्यापार की स्वाभाविक प्रक्रिया में जब ईर्ष्यावश बनावटी रोषवश प्रेमी जाते हैं, तो उस अवस्था को 'मान' कहते हैं। यह मान दो प्रकार का होता है– 1. प्रणयमान 2. ईर्ष्यामान। प्रणयमान क्षणभंगुर होने से वियोग की तीव्रता उसमें अनुभव नहीं होती पर जब नायक पर–स्त्रियों से अनुराग करता है या उसके साथ सहवास के चिह्न लेकर नायिका से मिलता है अथवा स्वपन में या असावधानी से पर–स्त्री का नाम ले बैठता है तो 'ईर्ष्यामान' की अवस्था कहलाती है। रीतिग्रन्थों में मानिनी तथा खंडिता–नायिका के कथन इसी के अन्तर्गत है।

3. पति जब किसी कार्यवश परदेश चला जाता है और नायिका उसके वियोग में दुःखी रहती है, तो इस अवस्था को 'प्रवास' कहते हैं।

4. करुण विप्रलंभ में नायक की म त्यु तो हो जाती है, परन्तु पुर्नजन्म आदि के कारण उससे मिलन की आशा रहती है। जैसे 'कादम्बरी' में पुंडरीक की म त्यु हो जाने पर भी महाश्वेता आकाश-वाणी सुनकर प्रिय के संयोग की आशा में बंधी रहती है।

उक्त चार अवस्थाओं में कुछ विद्वान 'पूर्व-राग' तथा 'मान' को विप्रलम्भ का भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि 'पूर्वराग' में प्रियतम से मिलने की उत्कट अभिलाषा तो रहती है, परन्तु उसमें वियोग की तीव्र अनुभूति नहीं होती। 'पूर्वराग' में आलम्बन (नायक) भी कभी निकट रहता है तो कभी दूर। उसके प्रति आकर्षण और उससे मिलने की तीव्र इच्छा ही 'पूर्वराग' का विषय है, 'जो विप्रलंभ श ंगार' के अनुकूल नहीं पड़ता। अतः पं० विश्वनाथ प्रसाद का मत है, उसे तो विप्रलंभ के भीतर न मानकर संयोग के भीतर हो मानना चाहिए।" उनका कहना है – "मान भी घर के घेरे के भीतर होता है और मान में प्रिय का संयोग भी रहता है, केवल कुछ क्षणों के लिए नायिका प्रियतम से नाराज हो जाती है, जिससे नायक स्वयं या दूती की सहायता से शीघ्र मना भी लेता है। 'प्रणय–मान' में तो नायिका ईर्ष्या-वश भी नहीं रुठती, केवल विनोद के लिए या कृत्रिम रोष प्रकट करने के लिए ही रुठती है। अतः 'मान' एवं 'पूर्वराग', दोनों में वियोग की अपेक्षा संयोग के ही लक्षण अधिक मिलते हैं।"

परन्तु कुछ विद्वान प्राचीन–परम्परा को उचित ठहराते हैं। उनके विचार में 'पूर्वारागिनी' नायिका के मन में नायक को देखकर पूर्वराग उत्पन्न होता है, परन्तु गुरुजनों के बंधन, कुल की मर्यादा, लोक-लाज का भय, भेद खुल जाने की आशंका आदि से उसका मन अत्यन्त व्याकुल रहता है, अतः उसमें संयोग के मुख का अभाव होने से वह 'विप्रलम्भ श ंगार' का ही भेद माना जा सकता है।

इसी प्रकार 'मान' में भी 'प्रणयमान' की अपेक्षा 'ईष्यावमान' को वे वियोग श ंगार के ही अधिक अनुकूल समझते हैं तथा मनोविज्ञान के आधार पर भी उचित मानते हैं। उनके विचार से नायक के व्याभिचारी होने से नायिका को जो असहन पीड़ा होती है तथा 'प्रणय' और 'ईर्ष्यामान' में शारीरिक निकटता रहते हुए भी मन में जो अन्तर पड़ जाता है, उसे द ष्टि में रखते हुए दोनों को (पूर्वराग तथा मान को) 'संयोग–श ंगार' में न रखकर 'वियोग–श ंगार' का भेद मानना ही तर्कसंगत होगा।

परन्तु फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि 'वियोग श ंगार' की जैसी स्पष्ट और पूर्ण, गहरी और व्यापक अनुभूति 'प्रवास' में होती है, वह न तो 'मान' में सम्भव है और न ही 'पूर्वराग' में 'प्रवास' अवस्था में नायक भौतिक तथा व्यावहारिक रूप से नायिका की आँखों से दूर रहता है, अतः यथार्थ में विरह की तीव्र अनुभूति इसी दशा में ही हुआ करती है। कवियों ने भी प्रायः इसी के माध्यम से वियोग का वर्णन किया है।

करुण विप्रलंभ

'करुण' विप्रलंभ को अधिक महत्व नहीं दिया गया। नायक की म त्यु में देवी तथा अलौकिक शक्ति का हाथ रहने से तथा पुनमिलन की मिथ्या कल्पनाओं के कारण इस भेद को 'श ंगार' की अपेक्षा 'करुण रस' के भीतर मानना अधिक युक्तियुक्त है। काव्यशास्त्रों में 'करुणा विप्रलंभ' से उदाहरण

प्रायः नहीं मिलते। मरण का वर्णन भारतीय संस्कृति और साहित्य में निषिद्ध माना गया है, किन्तु रत्नाकर जी ने निम्नलिखित दोहे को मरण अवस्था का ही उदाहरण माना है –

"कहे जु वचन वियोगिनी, विरह विकल विलसाय।
किए न केहि अंसुवा सहित, सुवा सु बोल सुनाय।।

इस दोहे में मरते समय विरहिणी के जो विषादमय निराशा के बोल थे, उन्हें याद करके तोते ने जब दोहराया, तो सुनने वालों के नेत्र सजल उठे।

इस दोहे में यद्यपि रत्नाकर जी मरण का वर्णन परम्परा द्वारा निषिद्ध मानते हैं, तथापि उन्होंने 'बिहारी रत्नाकर' में लिखा है, कि "दोहे को करुण श्रंगार का दोहा मानने में कोई बाधा ज्ञात नहीं होती।"

इसी प्रकार 'पूर्वराग' में वर्णित विरह की दस अवस्थाओं में अन्तिम 'मरण' अवस्था के भी उदाहरण 'बिहारी सतसई' में देखे गए हैं।

पूर्वराग

बिहारी ने 'पूर्वराग' का वर्णन बड़ी मार्मिक शैली से किया है और विरहानुभूति के अत्यन्त सुन्दर और मनोवैज्ञानिक उदाहरण दिए हैं, जो उसके प्रवासकालीन अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों की तुलना में कहीं अधिक कलात्मक कहे जा सकते हैं। 'पूर्वराग' के अन्तर्गत दस काम–दशाओं (अभिलाषा, चिन्ता, स्म ति, गुणकथक, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मरण) का भी यथास्थान वर्णन किया है। कुछ उदाहरण लीजिए –

जड़ता

"चकी जकी सी हवे रही, बूझै बोलति नीहि।
कहूं डीठि लागी लगी कै, काहू की डीठि"।।

पूर्वानुरागिणी नायिका की मनोदशा का इसमें स्वाभाविक वर्णन है। प्रेम की आग में जली हुई नायिका की सारी चंचलता और आह्लाद समाप्त हो गया है। स्तंभित और जड़ तुल्य वह चुपचाप बैठी अपने प्रिय की चिन्ता में नित्य लीन रहती है। मन के रोगी का अत्यन्त मार्मिक चित्रण बिहारी ने किया है।

चिन्ता

नायिका नायक को मन दे चुकी। परन्तु गुरुजनों का भय कुल की मर्यादा तथा लोक-लाज की चिन्ता के कारण समस्या खड़ी हो गई है। एक और प्रबल अनुराग है, मिलन की तीव्र लालसा है, और दूसरी ओर समाज के कठोर बन्धन हैं। वह दोराहे पर खड़ी व्याकुल हो रही है। उसकी दुविधा और परेशानी को बिहारी ने 'फिरकी' के सार्थक तथा पूर्ण अभिव्यंजक उपमान द्वारा व्यक्त कर दिया है –

"नई लगनि, कुल की सकुच, विकल भई अकुलाइ।
दुहै ओर ऐंची फिरति, फिरकी लौं दिनु जाई"।।

उद्वेग

पुर्वानुरागिणी नायिका के मन में जब से प्रेम अंकुरित हुआ है, उसे पलभर भी चैन नहीं आता।

उसकी मानसिक शांति भंग हो गई है। वह घर में टिककर बैठ भी नहीं सकती। इधर से उधर और यहाँ से वहाँ प्रेम की ज्वाला में जलती हुई भागी फिरती है। उस दुखियारी की अस्थिर मनोदशा का एक यथार्थ चित्र बिहारी की लेखनी द्वारा चित्रित है –

"ह्यां तैं ह्यं ह्यं तै इहां, नैको धरत न धीर।
निसि दिन डाठी सी फीरति, नाठी गाढी पीर।।"

अभिलाष

प्रेम का पंथ यद्यपि असि की धार जैसा तीखा है, पर मन की विवशता का क्या किया जाए, जो नायक की अभिलाषा में दिन–रात व्याकुल रहता है। सखियों ने भी समझाया पर प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि स्थिति अब हाथ से निकल चुकी है –

"कीनै हूँ कटिक जतन, अब कहि काढ़े कौनु।
मो मनु मोहन रूप मिली, मैं पानी में कौ लोनु।।"

कितनी सटीक और सार्थक उपमा द्वारा बिहारी ने पूर्वराग की द ढ़ता और विवशता का मार्मिक ढंग से अंकन किया है।

व्याधि

प्रेम का रोग संसार में सबसे विचित्र रोग है। इसका उपचार वैद्य के पास नहीं मिलता। सखियाँ नायिका की रोगिणी–अवस्था को देखकर चिंतित है और जानती है कि केवल प्रिय की मीठी वार्ता से ही उसके रोग को शांति मिलेगी –

"या के मन औरे कछु, लगि विरह की लाइ।
पजरै नीर गुलाब कै, पिय की बात बुझाई।।"

बिहारी ने इस दोहे में विरोधाभास का चमत्कार दिखलाकर प्रेम–रोग का कितना सुन्दर समाधान भी उपस्थित कर दिया है। गुलाब के शीतल जल से तो विरह की आग और भड़क उठती है; जबकि प्रिय का वार्तालाप रूपी पवन उसे बुझा सकता है। कितनी विचित्र है यह आग, जो पानी छिड़कने से तो भड़कती है और पवन चलने से बुझ जाती है। ऐसे विरोधाभास केवल प्रेम के सागर में ही सम्भव है।

एक दूसरे दोहे में बिहारी ने नायिका की विरहजन्य कृशता का जो मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, वह प्रवास कालोन सामन्य ऊहोक्तियों के विरोध में निःसंकोच रखा जा सकता है। हाथ से मसले फूल की सजीव उपमा ने तो यथार्थ चित्र ही खड़ा कर दिया है कि विरहिणी नायिका अब अपनी सखियों से भी कठिनता से पहचानी जाती है–

"कर के भीड़े कुसुम लौं, गई विरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपिनि सखिनि हूँ, नीढि पिछानी जाइ।।"

स्मरण

विरह में प्रिय से संबंधित स्थान भी बड़े प्यारे लगते हैं। इस मनोवैज्ञानिक सत्य को बिहारी ने बड़े ही कलापूर्ण ढंग से निम्न दोहे में व्यक्त किया है –

"जहाँ जहाँ ठाड़यौं लख्यौ, स्थानु सुभग सिर मौरु।
बिन हूँ उन छिनु गहि रहतु, द गनु अजौ वह ठौर।।"

कृष्ण को जिन स्थानों पर खड़ा देखा था, उनमें अब कृष्ण के वियोग होने पर भी उसके मधुर स्पर्श के कारण ऐसी रमणीयता उत्पन्न हो गई कि नायिका को वे स्थान प्रिय के उपस्थित न रहने पर भी प्रिय लग रहे हैं।

एक और दोहे में बिहारी ने यमुना के तट पर बैठी अश्रु बहाती राधा की स्म तिजन्य अवस्था का बड़ा ही मर्मस्पर्शी भावपूर्ण चित्र खींचा है –

"स्याम सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा तीरु।
अंसुवनु करति तरौंस कौ, खिनकु खरौ हौ नीरु।।"

मरण

साधारणतया मरण दशा का वर्णन काव्य में नहीं पाया जाता। बिहारी सतसई में एक–दो प्रसंग ऐसे आये हैं, जहाँ कवि ने इस कठिन विषय को भी अपनी कुशल लेखनी से अभिव्यक्त कर दिया है। दोनों दोहे यहाँ प्रस्तुत हैं –

"मरी डरी कि टरी विथा, कहा खरि चलि चाह।
रही कराहिं कराहि अति, अब मुंह अहि न आह।।"

तथा –

"कहा कहौ बाकी दसा, हरि प्रानन के ईस।
विरह ज्वाल जरियौ लखि मरियौ भयौ असीस।।"

इस दोहे में "विरह की ज्वाला में जलने से तो उसका मर जाना ही उसके लिए कल्याणकारी लगता है" कह कर भी चतुर सखी नायक के लिए 'प्रानन के ईस' शब्द का प्रयोग कर रही है, जिससे यह भी ध्वनित हो रहा है कि यदि वह चाहे, तो विरहिणी नायिका के प्राणों की रक्षा (दर्शन देकर) कर सकता है।

मान : मान के दो भेद हैं – 1. प्रणय मान 2. ईर्ष्या मान।

1. बिहारी ने प्रायः 'ईर्ष्यामान' का ही वर्णन किया है।

प्रणय

मान के कुछ द श्य भी खींचे हैं, परन्तु विद्वानों की द ष्टि में वे 'संयोग–श ंगार' के अन्तर्गत ही संभव है। फिर भी उदाहरण के लिए यह दोहा देखिए –

"सोवत लखि, मन मानु घरि, ढिग सोयौ प्यौ आइ।
रही सुपन की मिलनी मिलि, तिय हिय सों लिपटाइ।।"

इनमें नायिका प्रणयमान किए हुए थी, परन्तु प्रिय की स्पर्श से पुलकित होकर वह मान छूट गया और उसने नींद में होने का अभिनय करते हुए नायक को ह्रदय से लगा लिया।

2. ईर्ष्यामान के अनेक प्रसंग 'बिहारी सतसई' में मिलने हैं, विशेष रूप से 'खंडिता' नायिका के उदाहरणों में ईर्ष्या–मान की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। कुछ नमूने देखिए –

   (i) **डीठि परोसिनी ईठि हे कहे जु गये सयानु।**
   सबै संदेसे कहि कहौ, मुसुकाहट मैं मानु।।

   नायक का अनुचित संबंध पड़ोसिन से था। वह नायिका की हितचिन्तक–सी बनकर

कुछ अपने संदेश नायक से कहने के लिए नायिका को समझा गई। नायक के आने पर नायिका ने वे सभी संदेश उसे सुना दिए, परन्तु साथ ही व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहट से अपना मान भी व्यंथित कर दिया।

(ii) **"पलनु पीक, अंजुन अधर, धरे महावरु भाल।**
आजु मिले, सु भली करी, भले बने हौ लाल।।"

रात्री को परस्त्री–विहार कर आने से नायक की दशा बड़ी ही विचित्र थी। उसकी पलकों पर स्त्री के चुंबन का निशान पान की पीक से स्पष्ट था। स्वयं उसकी आँखें चूमने से होठों पर अंजन लगा था। सुरत समय स्त्री के पाँव का महावर नायिका के माथे पर विराजमान था। यह करतूत भांप कर मानिनी ने बड़े ही व्यंग्यपूर्ण ढंग से दोहे की दूसरी पंक्ति पढ़ी।

(iii) **"बाल कहा लाली भई, लोइन कोइनु मांस।**
लाल तुम्हारे द गनु की, पर द गनु मैं छांह।।"

परस्त्री विहार में सारी रात जागने के कारण नायक की आँखें लाल हो गई थी। इधर रात भर प्रतीक्षा में काटने से और नायक के न आने पर रोने के कारण तथा प्रातः नायक का रात्रिगमन देख कुछ रोष के कारण भी नायिका के नयन भी लालिमा लिए हुए थे। डीठ नायक ने चतुर बनकर अपने को निर्दोष जताते हुए सहानुभूतिवश नायिका की लाल आँखों का कारण पूछा तो नायिका ने बड़े व्यंग्यपूर्ण ढंग से उत्तर में सारा रहस्य खोल दिया, साथ ही अपने मान की भी सूचना दे दी। 'ईर्ष्यामान' के ऐसे अनेक उदाहरण आत्म–कथात्मक तथा संवादशैली में 'बिहारी सतसई' में भरे पड़े हैं।

प्रवास : बिहारी ने अधिकाँश वर्णन प्रवास–वियोग श ंगार–संबंधी ही किया है, परन्तु यह वर्णन ऊहात्मक शैली अथवा परम्परागत रुढियों के घेरे से बाहर नहीं निकल सका। हृदय की वास्तविक अनुभूतियों को कवि ने वाणी नहीं दी, जिससे बिहारी का यह विरह, वर्णन उपहासस्पद बन कर रह गया है।

प्रवास : वियोग के वर्णन में बिहारी ने प्रायः तीन प्रकार की नायिकाओं को आधार बनाया है।

(क) **प्रवत्स्यत्पतिका** अर्थात् जिसका पति परदेश जाने वाला हो।
(ख) **प्रोषित्पतिका** अर्थात् जिसका पति परदेश में हो।
(ग) **आगतपतिका** अर्थात् जिसका पति परदेश से लौट आया हो।

(क) **प्रवत्स्यत्पतिका :** कहीं-कहीं बिहारी ने 'प्रवत्स्थत्पतिका' की मनोदशा का निःसन्देह बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। बिहारी के विरह–वर्णन में इस वर्णन को 'अपवाद' ही कहा जाए। उदाहरण लीजिए –

(i) **"ललन चलनु, सुनि पलनु मैं अँसुवा झलके आइ।**
भई लखाइ न सखिनु हूँ, झूठैं दी जमुहाई।।"

नायक का विदेश–गमन सुनते ही नायिका की आँखें डबडबा आई। परन्तु सखियाँ कहीं देख न लें, उसने झूठी जंमाई ले ली। कितना मार्मिक और स्वाभाविक वर्णन है। काश! बिहारी की लेखनी संयोग के समान वियोग में भी मनोवैज्ञानिक द श्यों की कल्पना चित्रित कर सकती है।

इसी प्रकार दूसरा दोहा लीजिए –

(ii) **"अजौं न आए सहज रंग, विरह दूबरैं गात।**
अबही कहा चलाहति, ललन चलन की बात।।"

कितनी मधुर और सहज उक्ति है। नायिका फिर विदेश जाने की तैयारी करने वाले नायक से कहती है–ऽ

अभी-अभी तो तुम विदेश से लौट रहे हो। अभी तो मेरे दुर्बल और तुम्हारी विरहाग्नि से सूखे अंगों का अंग भी सामान्य, सहज, स्वाभाविक नहीं हुआ। अभी तो उनकी कृशता भी दूर नहीं हुई और तुम अभी से फिर विदेश जाने की बात चला रहे हो।

इस उक्ति में कितनी सादगी है। अलंकार विहीन इस कथन से नायिका ने मन की सारी भावनाएँ, आकांक्षाएँ, आशंकाएँ और लालसाएँ एक साथ व्यंजित कर दी हैं।

(iii) **"ललन–चलन सुनि चुप रही, बोली आप न ईठि।**
राख्यौ गाहि गाठैं गरै, मनो गलगली डीठि।।

नायिका की कितनी उद्‌नात भावना इस दोहे में बिहारी ने व्यक्त की है। नायिका ने जब नायक से चलने की बात सुनी तो उसके समान नायक को भी असह्म वेदना हुई और उसकी भी द ष्टि डबडबा आई। नायिका ने सोचा, यदि वह रो भी पड़ी तो नायक को और अधिक कपट होगा। सो उस दुखियारी ने अपने मन और नेत्रों में उमड़े पीड़ा–प्रवाह को दबा लिया। वह प्रिय–गमन बेला में चुपचाप वेदना की सारी कड़वाहट को पी गई। दुःख की अभिव्यक्ति का एक शब्द भी मुँह से निकला कि कहीं द्रवित नायक का मन और अधिक विचलित न हो जाय।

बिहारी की इस नायिका को जायसी की नागमती या सूरदास की राधिका के सामने निःसंकोच भाव से खड़ा किया जा सकता है। पूर्वाग्रह के बिना इस मनोवैज्ञानिक स्थिति का सजीव और स्वाभाविक चित्र खींचने वाले कवि को विरह–वर्णन में असफल कहना न्याय–संगत नहीं प्रतीत होता।

(iv) कभी–कभी बिहारी ने कुछ अतिरंजित वर्णन–शैली भी अपना लिया है जैसे –

"मिलि चलि, चलि मिलि चलत, आँगन अथयौं आनु।
भयौ मुहूरत भोर कौ, पौरिहि प्रथसु मिलानु।।"

स्थिति स्वाभाविक है परन्तु वर्णन अतिरंजित हो गया। नायक को प्रातः काल विदेश को जाना था। नायिका से विदा लेकर चलने को ही था कि प्रेमाधिक्य के कारण मिल–मिलकर चलने और फिर दो कदम चलकर फिर–फिर मिलने में ही इतनी देर हो गई कि आँगन में ही संध्या हो गई।

बिहारी ने मनोवैज्ञानिक स्थिति को उठाया तो है, किसी सीमा तक उसे निभाया भी है। यदि विदाई के अवसर पर संध्या का वाच्यार्थ ग्रहण करके अत्यन्त विलम्ब के व्यंग्यार्थ को स्वीकार किया जाये, तो यह अतिरंजित कल्पना भी मनोवैज्ञानिक की द ष्टि से बड़ी ही भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी कही जा सकती है।

(ख) आगत-पतिका : प्रवत्स्यत्पतिका नायिका के समान 'आगतपतिका' का चित्रण भी बिहारी

ने बड़ी स्वाभाविकता के साथ किया है। लोक में स्त्री की बाई आँख का फड़कना शुभ सूचक माना जाता है। आज विरहिणी नायिका की बाई आँख फड़क उठी, तो उसने समझ लिया कि नायक विदेश से लौट रहा है। बस, यह कल्पना करते ही वह नायक के स्वागत के लिए वेष भी सजाने लगी –

(i) **म गनैनी द ग की फरक, उर उछाह तन फूल।**
बिन ही पिय आगम उमंगि, पलटन लगी दुकूल।।

प्रियतम के आये बिना, केवल शकुन से उसका आना परिलक्षित कर नायिका का श्रंगार उसकी पति के लिए आतुर मनोदशा का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण है। प्रतीक्षा करने वालों की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया कवि की सूक्ष्म निरीक्षण–शक्ति तथा गहरी भाषानुभूति का ही परिणाम है।

प्रियतम के आ जाने पर कैसी अद्भुत स्थिति पैदा हुई है, इसका आँखों देखा हाल प्रस्तुत है –

(ii) **"बिछुरै जिसे संकाच इहिं, बोलत बनत न बैन।**
दोऊ दौरि लगे हियैं, कियो लजौ हैं नैन।।

चिरकाल से प्रतीक्षा करने वालों दो प्रेमियों का यह मधुर–मिलन भला किसके मन को नहीं भाएगा। नायक–नायिका दौड़कर गले मिल रहे हैं। मुँह से वचन तक नहीं निकलता। लज्जा से आँखें झुकी जा रही हैं, क्योंकि बिछुड़ते समय दोनों ने कहा था कि हम वियोग में जीवित नहीं बचेंगे। प्रेम–मनुहार में न जाने कितनी बार ऐसे आश्वासन एक–दूसरे को दिए थे। परन्तु इतनी लम्बी अवधि के पश्चात् भी तो वे जीवित रहे। दोनों एक नहीं अपने आश्वासनों और वचनों को याद करके आज लज्जित है, चुप हैं।

इन दोनों को देखकर भला कैसे कहा जाएगा कि विरह–वर्णन में बिहारी को सफलता नहीं मिली।

(iii) आगतपतिका नायिका की कोमल भावनाओं की झलक एक और स्थान पर भी कवि ने व्यक्त की है, जब वह अपनी बाईं बाँह के फड़कने से पति आगमन की शुभ सूचना का संकेत पाकर प्रसन्न हो जाती है और उसे पुरस्कार के रूप में केवल इतना ही दे सकने का वचन देती है कि जब प्रियतम आया, तो तुमसे ही (अर्थात् केवल बाँह के द्वारा ही। उससे मिलूँगी। दाहिनी भुजा को परे ही रखूँगी।

प्रतीक्षा की स्थिति कितनी विकट होती है, वह अनुभव की वस्तु है। समय की गति प्रतीक्षा में कितनी मन्द हो जाती है; इसकी कल्पना कवियों ने अतिशयोक्ति अलंकार की सहायता से ही प्रायः की है। बिहारी की नायिका को लम्बी प्रतीक्षा के बाद जब यह ज्ञात होता है कि नायक विदेश से लौट आया है, तो मिलन की उत्सुकता विद्युत गति के समान तीव्रगामी हो जाती है। उसके लिए एक पल की और प्रतीक्षा भी प्रलयंकारी सिद्ध होती है। नायक घर पहुँच चुका है और ड्यौढ़ी में गुरुजनों से मिल रहा है। बस इतनी सी देर भी चिर–प्रतीक्षारत नायिका के लिये असह्य हो जाती है। बिहारी के शब्दों में इस स्थिति का अलंकृत परन्तु मनोवैज्ञानिक वर्णन देखिए –

(iv) **"रहे बरोठे में मिलन, पिउ प्रामन के ईस।**
आवत आवत की भई, विधि की धरी धरीसु।।"

प्रतीक्षा की एक घड़ी ब्रह्य की घड़ी (असंख्य युगों की अवधि) बन जाती है। यह वर्णन अत्युक्तिपूर्ण होता हुआ भी प्रतीक्षा की आकुलता की ही ध्वस्ति करता है। इसी प्रसंग में परदेश से आने वाले नायक की आतुरता, उत्सुकता और प्रतीक्षा की अन्तिम घड़ी की समाप्ति के समय की अधीरता की ध्वनि भी दर्शनीय है –

"जदपि तेज रौहाल बल, पलकौं लगी न बार।
तौ ग्वैड़ों घर को भयौ पैड़ों कोस हजार।।"

सचमुच 'बिहारी सतसई' में आगतपतिका, प्रवत्स्यह पतिका तथा पूर्वराग के दोहों में कवि ने वियोग–श्रंगार की उत्कृपट अभिव्यक्ति की है।

(ग) प्रोषित्पतिका : वियोग का ऊहात्मक वर्णन–'बिहारी सतसई' में वियोग श्रंगार की भही तथा ऊहात्मक अभिव्यक्ति 'प्रोषित्पतिका' नायिका के वर्णन में ही अधिकाँश रूप से हुई है; जिसके कारण आलोचकों ने बिहारी को बहुत बदनाम किया है।

विरह का यह अत्युक्तिपूर्ण ऊहात्मक वर्णन तीन प्रकार से मिलता है –
(1) नायिका का विरह संताप (2) प्रकृति का उद्दीपन रूप (3) पत्र या संदेश। सभी प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत हैं –

(1) **नायिका का विरह-संताप :** विरह की अग्नि में जलने से नायिका का शरीर तप रहा है। इस स्वाभाविक स्थिति को बिहारी ने आलंकारिक चमत्कार तथा उक्तिवैचित्रय के फेर में पड़कर बिल्कुल हास्यापद बना दिया है।

"औंधाई सीसी सुलखि, बिरह–बरति बिललात।
विचहीं सूखि गुलाब मौ, छींटों छुई न गात।।"

उस तत्प शरीर को शीतल करने का उपचार जब गुलाब–जल द्वारा किया गया, तो कुछ बूंदों के छिड़कने से काम बनता न देख सखियों ने पूरी की पूरी शीशी ही उस पर उंडेल दी। परन्तु ताप भी तो कम न था। शायद अग्नि की भट्टी जल रही थी, क्योंकि गुलाब की शीशी का सारा जल शरीर पर गिराने से पहले बीच में ही सूख गया, भाप बनकर उड़ गया। बेचारी नायिका के शरीर तक तो एक बूंद भी नहीं पहुंच पाई।

क्या कहने इस अतिश्योक्ति के। डॉ० संसारचन्द्र के शब्दों में खेद है कि बिहारी के पास ताप मापने का थर्मामीटर नहीं था, नहीं तो डिग्री का पता भी लग जाता। पर प्रश्न हो सकता है कि इतने ताप के पास उपचार करने वाली सखियाँ कैसे बैठ सकती होंगी? इस प्रश्न के औचित्य का ध्यान रखकर ही कदाचित् बिहारी ने एक और दोहे की रचना की, ताकि आलोचक इसे संभव मान लें।

"आड़े दै आले वसन, जाड़े हूँ की राति।
साहस ककैं सनेहवस, सखी सजै ठिग जाति।।"

सखियों ने जब अपनी प्रिय सहेली की विरहाग्नि का समाचार सुना, तो जाड़े की ठंडी रात में कमरों के भीतर गर्म वस्त्रों में लिपटी पड़ी थी। किन्तु सखी–स्नेह के कारण उन्हें पूछने जाना ही पड़ा। एक तो जाड़े का मौसम, फिर रात का समय, किन्तु सखियों ने फिर भी सावधानी

के लिए पहने हुए वस्त्रों को भी ठंडे पानी से गीला कर लिया, तब जाकर कहीं वे विरह की आग में जलती हुई अपनी प्रिय–सखी के पास जा सकीं।

सचमुच 'महाकवि' की इस 'महासूझ' की प्रशंसा करनी पड़ती है।

जब सर्दियों में यह अवस्था हो, तो ग्रीष्मकालीन में स्थिति कितनी विकट होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। बिहारी भी इसे भली भाँति समझते हैं और स्थिति को अधिक स्वाभाविक बनाने के लिए ही कदाचित् उन्होंने एक प्रमाण जुटाने की अत्यन्त आवश्यकता समझी, जो निम्नलिखित दोहे से प्रकट है–

"सीरैं जतननु सिसिर ऋतु, सहि बिरहिनि–तन–तापु।
बसिबै को ग्रीष्म–दिननु, परयौ परोसिनि पापु।।"

सर्दी की ऋतु में तो गीले वस्त्र पहन–पहन कर पड़ोसिन ने किसी प्रकार नायिका के विरह–ताप के कष्ट को सहन कर ली लिया था। किन्तु ग्रीष्म ऋतु के आने पर तो उस विरहिणी के घर के पास-पास रहना तो मुसीबत हो गया। यह तो पुराने जन्मों के संचित पापों का फल भोगने जैसे प्रतीत हो रहा है।

बिहारी द्वारा यह विरहाग्नि का वर्णन उस समय अतिशयोक्ति की सारी सीमाओं को भी लाँघ जाता है, जब कवि दूर की कौड़ी फैंकने की अकल्पनीय कलाका प्रदर्शन करते हुए लिखता है–

"सुनत पथिक मुंह माहनिसि, चलति लुवैं उहि गाम।
बिन बूझै बिन ही कहैं, जियत बिचारी बाम।।"

नायक जब नायिका से बिछुड़ कर विदेश चलने लगा था, तो नायिका ने कहा था कि वह उसके बिना जीवित नहीं बचेगी। जब माघ का महीना आया, जो कि प्रेमियों, विशेष रूप से विरहीजनों के लिए असह्य माना जाता है तो परदेसी नायक को बार–बार अपनी प्रिया के जीवन की चिन्ता सताने लगी कि न जाने बेचारी की क्या दशा होगी, वह जीती भी होगी या नहीं आदि–आदि। सौभाग्य वश उसी समय उसके गाँव से एक पथिक आ गया, जिसने एक अद्‌भुत समाचार सुनाया था कि माघ महीने की रातों में भी उस गाँव में गर्म लूएँ चलती हैं। बस इतना सुनते ही उसे विश्वास हो गया कि उसकी नायिका मरी नहीं है, अभी जीवित है। लूओं का चलना उसी के विरह की अतिशय अग्नि से ही संभव हुआ है।

इसी प्रकार के अनेकों दोहे 'बिहारी-सतसई' में ढूँढे जा सकते हैं, जिनमें कवि ने विरहताप का असंभव, प्रस्वाभाविक, असुन्दर और अनुचित वर्णन किया है।

कृशता

विरहजन्य शारीरिक दुर्बलता स्वाभाविक परिणाम है। बिहारी ने 'पूर्वराग' के व्याधि–प्रसंग में उसका बड़ा ही मार्मिक और स्वाभाविक चित्रण भी किया है।

परन्तु ऊहोक्ति की लिप्सा में बह कर दरबारी फारसी कवियों की विचित्र उक्तियों की प्रतिस्पर्धा में आकर बिहारी ने अतिशयोक्ति की भी टाँग तोड़ दी है। एक उदाहरण लीजिए–

"इत आवति चलि जाति उत, चली छः सातक हाथ।
चढी हिंडौरे सैं रहैं, लगी उसासुन साथ।।"

नायिका विरह के कारण इतनी अधिक दुर्बल हो गई है कि अपने श्वास–निःश्वास के साथ ही वह छः–सात हाथ इधर से उधर और उधर से इधर आ जा रही है, मानो साँस लेने और निकालने के क्रम से वह किसी हिण्डोले पर झूल रही हो।

वाह! नायिका न हुई, घड़ी का पैंडुलम ही हुआ। जो हर समय क्रमानुसार झूलता रहता है। बिहारी को कदाचित् उक्त दोहे से संतोष नहीं हुआ। उन्होंने दूर की एक और कौड़ी फैंकी –

"करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छांडतु नीच।
दीनैहु चसमां चखनि, चाहै लहै न मीच।।"

विरह के अधिक्य से नायिका की दशा म्रियमाण?–सी हो रही है। म त्यु उसे लेने आती है, परन्तु उसका शरीर अत्यन्त कृशता के कारण उसे दिखाई ही नहीं पड़ता। आँखों पर चश्मा लगाकर भी मौत को वह कृशयाय विरहिणी नजर नहीं आती। अतः वह ले भी जाए तो किसे। शायद यही कारण है कि नायिका अभी जीवित बची है।

क्या कहने–बिहारी ने तो नायिका को खटमल के समान मच्छर ही बना डाला, जो बिस्तर के झाड़ने से ही दिखाई दे सकते हैं, वैसे नहीं।

इसके अतिरिक्त बिहारी ने अश्रुओं की झड़ी का वर्णन किया है तथा उनकी अश्रुधारा से घर–घर और द्वार–द्वार पर कभी न सूखने वाली नदी बहने की कल्पना भी की है। ऐसे वर्णनों से विरह की सच्ची अनुभूतियों का चित्रण नहीं हो पाया। बाहरी नाप–जोख तथा अत्युक्ति के चमत्कार ने सारे वर्णन को 'तमाशा' बना दिया है। रससिद्ध और सिद्धहस्त बिहारी की काव्य–कुशलता तथा मौलिक प्रतिभा यहाँ आकर मानो कुंठित हो गई है। बिहारी की कला–चन्द्रिका को कदाचित ग्रहण लग गया है।

निःसंदेह बिहारी के विरह–वर्णन पर फारसी की दरबारी कविता, रीतिकाव्य की परम्परा तथा चमत्कार प्रिय आलंकारिता का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है; जिससे महाकवि की मौलिक प्रतिभा कुछ अंशों में छिप सी गई है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में "बिहारी में जैसी प्रतिभा थी, वह यदि परम्परा के चक्कर में न पड़ती, तो उनका काव्य–गौरव इससे कहीं अधिक होता।"

(2) **प्रकृति का उद्दीपन रूप :** 'संयोग श्रंगार' के उद्दीपन–विभाव में प्रकृति–सौन्दर्य प्रेमी–जनों को अधिक आनन्ददायक लगता है, परन्तु वियोग में वही प्रकृति विरहीजनों के लिए दुःखदायी बन जाती है। मनोदशा के परिवर्तन का ही उसे परिणाम समझना चाहिए। बसन्त के खिले फूल संयोग में हँसने–हँसाने की प्रेरणा देते प्रतीत होते हैं, परन्तु वियोग में वही वियोगी जनों का उपहास करते दिखाई पड़ते हैं। तुलनात्मक द ष्टि से भी विरहीमन फूलों का हँसता हुआ देखकर कुढ़ता और कराहता रह जाता है। काव्य में प्रकृति का उद्दीपन रूप से वर्णन परम्परा से चला आया है और बिहारी परम्परा की लक्ष्मण– रेखा को पार करने का साहस बटोर नहीं पाते। फलतः 'बिहारी सतसई' में यद्यपि काव्य–परम्परानुसार 'बारहमासा'का वर्णन नहीं मिलता, तथापि विरह की अवस्था में प्रकृति के उद्दीपन–विभाव सम्बन्धी उदाहरण मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ दोहे प्रस्तुत हैं –

"दिसि दिसि कुसुमित देखियत, उपवन विपिन समाज।
मनहुँ वियोगिनु को कियो, सर पंजर ऋतुराज।।

इस दोहे में बसन्त ऋतु में फूले कुसुमों को कवि ने वियोगियों को घायल करने वाले काम–बाणों की उपमा दी है। अब वर्षा के बादलों का रूप देखिए–

"कौन सुनै कासौं कहीं, सुरत बिसरी नाह।
बदाबंदी जिस लेत हैं, ये बदरा बढराह।।"

वर्षा के मेघ देखकर विरहीजन प्रिय–मिलन की उत्कट कामना से पड़प उठते हैं, परंतु प्रिय दर्शन न पाकर उनकी दशा शोचनीय हो जाती है। इसी प्रकार बरसात की रात में चमकते हुए जुगनुओं को देखकर विरह की मारी नायिका सखियों से घर के भीतर घुस जानेका आग्रह करती है। क्योंकि वह समझती है, कि ये जुगनू नहीं चमक रहे, आकाश से अंगारों की वर्षा हो रही है। ऐसा ही उन्माद अवस्था का उदाहरण और है –

"धुरवा होहि न लखि उठै, धुआँ धरनि चहुँ कोद।
जामत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद।।"

"यही काली घटा नहीं है, वर्षा का जो पहला बादल संसार को जलता आ रहा है, यह तो उसी आग आग का धुआँ है।"

बसन्त और वर्षा ही नहीं, अन्य ऋतुएँ तथा प्रकृति के पदार्थ भी विरही जनों के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं। उनका रूप ही अब बदल गया है। प्रियतम के बिना चन्द्रमा हो या चन्दन, फूलमाला हो या शीतल मंद पवन, सभी शत्रु हो रहे हैं। चैत्रमास की निर्मल चाँदनी जो कभी चाँदनी जो कभी संयोग के अवसर पर प्रियमिलन के आनन्द को सौगुना बढ़ा देती थी, अब उसी को देखकर धैर्य छूटा जा रहा है और चेतना लुप्त हो रही है –

"भो यह ऐसी ई समौ, जहाँ सुखद दुखु देत।
चैत चांद की चाँदनी, डारति किए अचेत।।"

वियोग में चन्द्रमा जैसी सुखद वस्तु भी दुखदायक हो गई। नायिका समझ नहीं पाती कि मैं पागल हूँ, जो मुझे चन्द्रमा मुझे गरम लगता है अथवा सारा गाँव तो नहीं बौरा गया, जो इतना ताप देने वाले चन्द्रमा को शीतल कह रहा है।

इस प्रकार बिहारी का प्रकृति–वर्णन काव्यशास्त्र की परम्परा के अनुसार ही हुआ है, जिसमें परिस्थितिवश उक्ति–चमत्कार का रंग भी आ गया है।

(3) **पत्र या संदेशः** बिहारी का 'प्रोषित्पतिका' का वर्णन प्रायः कटु आलोचना का विषय रहा है, परन्तु इस वर्णन में भी बिहारी ने पत्र–संबंधी कुछ अनूठी कल्पनाओं में विरहिणी का मानसिक स्थिति का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन वर्णनों में अतिशयोक्ति की सामान्य चाशनी यद्यपि 'अनेक संवाद भरी' रुचि से नहीं बच सकी, तथापि अतिरंजना के पर्दे में से विरह की पीड़ा अपना ययार्थ रूप झलका ही जाती है। इस विषय में कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

(i) **"कागद पर लिखत न बनत, कहत संदेसु लजात।**
कहि है सब तेरो हियों, मेरे हिय की बात।।"

नायक विदेश में है। विरह से पीड़ित नायिका बड़ी ही असमंजस में है। वह अपने मन की अभिलाषा कैसे नायक तक पहुँचाये? दो ही उपाय हैं– पत्र द्वारा अथवा किसी संदेशवाहक को भेजकर वह अपनी मानसिक व्यथा तथा मधुर–मिलन की अभिलाषा व्यक्त कर सकती है। किन्तु नायिका मुग्धा तथा लजीली है। उसे लोकलाज एवं गुरुजनों का भी ध्यान है। वह मन की बात प्रिय के

बिना अन्य किसी से कैसे कह सकेगी? लाज से डूब न जाएगी। सुनने वाला क्या कहेगा? तो क्या पत्र लिखूं। परन्तु पत्र में क्या मन की ययार्थ भावना पूर्ण रूप से उतारी भी जा सकेगी? इसमें उसे संदेह हैं। ऐसी दुविधा में आखिर वह यह सोचकर संतोष धारण करती है कि प्रिय का ह्रदय ही उसके ह्रदय की दशा को ठीक–ठीक जान लेगा, क्योंकि मेरे बिना जो उसकी स्थिति है, मेरी भी अवस्था उसी प्रकार है।

बिहारी ने इस दोहे में प्रणय–वेदना की अनिर्वचनीयता का अत्यन्त ही कलात्मक ढंग से वर्णन किया है। एक दूसरे दोहे में प्रेमियों के अनूठे भावों को कवि ने और भी अनूठे ढंग से प्रदर्शित किया है–

(ii) **"बिरह-बिकल बिनु ही लिखी, पाती दई पठाइ।**
आँक विहोनीयों सुचित, सूने बांचत जाई।।"

नायिका विरह की वेदना को पत्र द्वारा पूर्ण व्यक्त नहीं कर सकती थी। अतः बिना कुछ लिखे ही नायक के पास पत्र भेज दिया। उधर नायक की अवस्था भी दर्शनीय है। उस खाली चिट्ठी को, जिसमें एक अक्षर भी नायिका ने नहीं लिखा, एकान्त में बैठ, मन लगाकर पढ़ रहा है। कितनी विचित्र है प्रेम का यह संसार, जहाँ तर्क नहीं, भावुकता का साम्राज्य रहता है। लौकिक नियम नहीं, ह्रदय के अटूट बन्धन का शासन चलता है। बुद्धिमान उस नायक को पागल कह सकते हैं, किन्तु पत्र के द्वारा नायिका ने ह्रदय की जो मूक वेदना नायक तक पहुँचाई है, उसे भी केवल नायक का अनुभूतिशील ह्रदय ही चुपचाप समझ सकता है। कभी-कभी जिस भाव को शब्द व्यक्त नहीं कर सकते है उसे अर्थपूर्ण मौन बड़ी सफलता और पूर्णता से समझा देता है।

इस शैली का एक और प्रसंग भी है, जिसमें अतिरंजना के साथ कवि ने परम्परा को भी व्यर्थ घसीटने का यत्न किया है –

(iii) **तरझरसी, ऊपर गरी, कज्जल जल घिर काइ।**
पिय–पाती बिन ही लिखी, बांची बिरह बलाइ।।

इस दोहे में नायिका की पाती नीचे से जली हुई है और ऊपर से गीली है, क्योंकि पत्र के अधोभाग पर विरहाग्नि से त प्त नायिका का हाथ पड़ा था, जिससे उतना भाग जल गया। ऊपर नायिका के सजल नेत्रों से काजल अश्रुधारा बहती रही, जिससे वह भाग गल गया। इस पत्र में भी नायिका शब्द रूप से लिख सकी, तो भी नायक ने पत्र की हालत देखकर नायिका की मनोदशा की सहज में कल्पना कर ली।

इस दोहे की मूल भावना तो पहले जैसे दोहे के समान है, परन्तु पहली पंक्ति में बिहारी ने काव्य की रुढियों का अनुसरण करके उसको प्रभाव शून्य बना दिया है।

(iv) नायक द्वारा भेजी गई चिट्ठी को प्राप्त करके वियोगिनी की जो वर्णनातीत प्रसन्नता होती है, उसका शब्द चित्र बिहारी ने बड़ा ही मार्मिक खींचा है –

कर लै चूमि चढाइ सिर, उर लगाइ भुज भैंटि।
लहि पाती पिय की लखति, बांचति, धरति समेटि।।

अनुभावों का कितना सजीव और स्वाभाविक चित्रण है। चिर प्रतीक्षा में बैठी नायिका को प्रिय की पाती ज्योंहि मिली, उसने हाथ में लेकर पहले स्नेह से चूम लिया। फिर उसे मस्तक पर

चढ़ाकर कृतज्ञता प्रकट की। प्रिय की पाती को प्रिय का रूप ही समझ कर उसे हृदय से लगाकर आलिंगन में बाँध लिया। प्रिय के साथ मधुर–मिलन की मादकता का अनुभव करके नायिका ने फिर उसे स्निग्ध द ष्टि से देखा, ध्यान से पढ़ा और फिर समेट कर उसे सावधानी के साथ सुरक्षित स्थान पर रख दिया।

छोटे से दोहे में बिहारी ने हृदय की अनेक कोमल भावनाओं को समेटकर रख दिया है। मुक्तक–काव्य की यह अद्‌भुत कला केवल बिहारी के हिस्से में ही आई है। इस दोहे में नायिका का हर्ष, उत्साह, उत्सकुता, प्रेम आदर, आशंका आदि मूक अनुभूतियाँ वाचाल हो उठी है।

(v) पत्र ही नहीं, बिहारी ने सखी द्वारा भी संदेश लाने का वर्णन किया है। पाती की तरह ही जब सखी नायक का संदेश ले आती है, तो नायिका की आतुरता देखने योग्य है –

"फिर फिर बूझति कहि कहा, कहौ सांवरे गात।
कहा करत, दखे कहाँ, अली चली क्या बात।।"

इसे पढ़कर सूरदास की उन उत्सुक गोपियों की याद हो आती है जो मथुरा से आए उद्धव को मार्ग में ही घेरकर खड़ी हो जाती हैं और प्रिय के विषय में प्रश्नों की झड़ी लगा देती हैं। उसे कुछ बोलने का अवसर ही नहीं देतीं। आराम से बैठकर कुछ कह सकने का अवकाश भी बेचारे उद्धव को नहीं मिलता। हक्का–बक्का–सा वह विस्मय से उन विरहिणियों को देखता ही रह जाता है।

बिहारी की नायिका भी नायक से मिलकर आते ही सखी पर प्रश्नों की बौछार कर देती है– "प्रिय ने क्या कहा था? वह क्या कर रहा था? तुमने उसे कहाँ देखा था? उससे तुम्हारी क्या–क्या बातें हुई थीं? सखी बेचारी खड़े–खड़े सब उत्तर देती भी है, परन्तु इतनी जल्दी नायिका का अधीर मन भला कैसे संतुष्ट हो सकता है? वह बार-बार फिर वही प्रश्न पूछती चली जाती है।

कितनी विहलता और उत्सकुता का भंडार बिहारी ने कुछ शब्दों में समाविष्ट कर दिया है। विरह–वर्णन में बिहारी के ऐसे भाव–चित्र और शब्द–चित्र निःसंदेह काव्यकला के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं।

(vi) अन्त में इस प्रसंग में नायक द्वारा भेजी गई वस्तु के प्रति नायिका की प्रतिक्रिया का वर्णन प्रस्तुत है। इस प्रकार के वर्णन में बिहारी ने काव्य परम्परा का ही पालन किया है। और भावभिव्यक्ति की अपेक्षा उक्ति–चमत्कार की अलंकृत शैली को प्रमुखता प्रदान की है–

"हितु करि तुम पठयौ, लगै वा बिजना की बाद।
तली तपति तन की तऊ, चली परवीना न्हाइ।।"

नायक ने नायिका के विरहताप को शान्त करने के लिए सखी द्वारा एक पंखा भिजवाया था। परन्तु सखी नायक को आकर बतलाती है– "तुमने तो हित–कामना से उसे पंखा भेजा है, उससे विरह का ताप तो अवश्य घट गया, परन्तु तुम्हारी भेंट की हुई वस्तु होने के कारण पंखे की हवा के स्पर्श से पुलकित होकर वह पसीना–पसीना हो जाती है। इस विरोधाभास का चमत्कार ही दोहे का प्राण है।

निष्कर्ष

वियोग–श्रंगार के उक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि 'प्रोषितपतिका' के विरह–संताप संबंधी दोहों में बिहारी ने शब्द चमत्कार पर ही अधिक द ष्टि रखी है और हृदय की सच्ची विरहानुभूतियों के साथ खिलवाड़ किया है। तथापि पूर्वराग, प्रवास के अन्तर्गत प्रवत्स्यत्पतिका तथा आगतपतिका नायिकाओं का वर्णन एवं पत्र–संदेश सम्बंधी दोहों में जो वेदना, प्रतीक्षा, उत्सुकता आदि अनेक हार्दिक प्रणय–भावनाओं का निरूपण हुआ है, वह न केवल स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक है, अपितु कलात्मक एवं मार्मिक भी है।

उनकी ऊहोक्तियाँ निःसंदेह उपहासास्पद है। कुछ वर्णन अत्युक्ति एवं उक्ति–वैचित्र्य का आडम्बर पूर्ण प्रदर्शन मात्र है। उनमें परम्परा का आग्रह है तथा दरबारी वातावरण की आवश्यकता और चमत्कार–प्रियता का भी उसमें हाथ हो सकता है। परन्तु परम्परा के बंधन में से जब बिहारी को उन्मुक्त क्षेत्र मिला है, उसकी नव–नवोन्मेषशासिनी प्रतिभा ने अपने पंख फड़फड़ाये हैं और कल्पना के आकाश में जाकर वह भावनाओं के सुन्दर सितारे तोड़ लाई है। ऐसे अनेक प्रसंगों में अनुभूति की गबराई के साथ–साथ कला की सादगी और निरीक्षण की सूक्ष्मता के भी दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए परम्परायुक्त कर कलापूर्ण, विरहानुभूति के मर्मस्पर्शी कुछ और दोहे प्रस्तुत हैं।

(i) प्रेम में एक ऐसी अवस्था भी आ जाती है, जब प्रेमी अपने प्रेम पात्र का प्रतिशत ध्यान करते–करते स्वयं उसका रूप हो जाता है। भक्ति के क्षेत्र की तरह प्रेम के क्षेत्र में भी यह अनुभव बिहारी की लेखनी से नहीं बच सका। प्रेम की इस गहरी अनुभूति का चित्रण करके बिहारी धनानन्द जैसे रीति–मुक्त श्रंगारी कवियों के ऊँचे स्तर पर पहुँच गए हैं। यह निम्नलिखित दोहे से प्रमाणित हो जाता है, जिसमें विरहिणी नायिका दर्पण देखते समय प्रिय के ध्यान में इतनी डूब गई है कि उसे अपनी सुध–बुध भी नहीं रही। दर्पण में प्रतिबिंबित अपनी छवि को ही प्रियतम का रूप समझकर वह उस पर मोहित हो रही है। कितनी सुन्दर कल्पना है। कितन मधुर भ्रम है और कितनी गहन अनुभूति है। बिहारी ने सचमुच उदात्त प्रेम की चरम सीमा को छू लिया है। दोहा प्रस्तुत है –

"पिय के ध्यान गही गही रही वही है नारि।
आपु आवुही आरसी लखि, रीझत रिझवारि।।"

(ii) विरह में ही संयोग की अनुभूति का चमत्कार दिखलाने वाला एक और दोहा भी दर्शनीय है –

"सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।
मनु है जात अजौं वहै, उहि जमना के तीर।।

विरह की चरम–सीमा पर पहुंच कर वियोगीजन संयोग का आनन्द अनुभव करते हैं। इस मनोवैज्ञानिक समय की अभिव्यक्ति इस दोहे में भी की गई है, जिसमें गोपियों को श्याम के विरह में भी सघन कुंज की छाया सुखद लगती है, यमुना तट का समीर भी शीतल लगता है, जो साधारणतया वियोगियों के लिए संतापकारी बतलाए जाते हैं।

(iii) बिहारी की एक और विरहिणी का दर्शन कीजिए, जिसकी स्नेहलता बिरह की अग्नि में बिना झुलसे हरी–भरी रहती है –

"नेक न झुरसी बिरह झर, नेहमता कुम्हिलात।
नित नित होत हरी–भरी, खरी झाल रति जाति।।"

(iv) इसी प्रकार विरह के व्यवधान पर भी मन की अनन्यता का परिचायक यह दोहा नायिका के अटूट स्नेह का प्रतीक है –

"कहा भयौ जो बिछुरे, मो मन तो मन साथ।
उड़ी जाहु कितहू गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ।।"

इसमें सटीक उपमान का चमत्कार भी दर्शनीय है।

(v) विरोधाभास के आलंकारिक चमत्कार में से प्रेमानुभूति की प्रबल अभिव्यक्ति मेघमाला में से सूर्य के आलोक के समान निम्न दोहे में फूट पड़ी है –

"जब-जब तै सुधि कीजिए, तब-तब सब सुधि जाहि।
आँखिनु आँखि लगी रहै, आँखें लागति नाहि।।"

(vi) संयोग हो अथवा विभोग, बिहारी ने नारी को ही प्रधान आधार बनाया है। अपवाद रूप में ही सही, निम्न दोहे में नायक (कृष्ण) की विरह दशा का चित्र देखिए, जिसमें सादगी का कलात्मक सौन्दर्य पराकाष्ठा पर पहुंच गया है –

"कहा लडैते द ग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहुँ मुकुट, बनमाला।।"

ऐसे अनेक दोहों की स ष्टि करने वाला कवि विरह–वर्णन में कहाँ तक सफल अथवा असफल रहा, इसका निर्णय बुद्धिमान आलोचक ही नहीं, सहृदय पाठक भी सरलतापूर्वक कर सकता है। भावानुभूति के हृदयस्पर्शी मार्मिक स्थलों की संख्या चाहे बहुत अधिक न रही हो, फिर भी उनका अस्तित्व ही कवि के काव्य–क्षमता और मौलिक प्रतिभा का चाक्षुष साथी है।

अध्याय - 12
बिहारी की समास-शक्ति/ समाहार शक्ति

रीतिकालीन कवियों में बिहारी अत्यन्त लोकप्रिय कवि है। इनकी जन्मभूमि ग्वालियर मानी जाती है। बिहारी ने निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी स्वामी नरहरिदास से संस्कृत, प्राकृत आदि का अध्ययन किया था। बिहारी के पिता केशवराव ग्वालियर छोड़कर ओरछा चले गये थे तथा कालांतर में ओरछा त्यागकर व न्दावन में रहने लगे। व न्दावन में बिहारी ने साहित्य के साथ–साथ संगीत का भी अध्ययन किया। यहीं इनकी भेंट शाहजहाँ से हुई जो इन्हें अपने साथ आगरा ले गये। कालान्तर में बिहारी ने जयपुर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह को अपनी कविता के माध्यम से नव विवाहिता रानी रूपासक्ति से मुक्त किया तथा उनके कृपा पात्र बने।

बिहारी की कीति का आधार उनका एकमात्र ग्रन्थ 'बिहारी सतसई है जिसमें कुल 713 दोहे संग्रहीत हैं। इस एक ग्रन्थ से बिहारी को जितनी मिली उतना अन्य महाकवियों को अनेकानेक ग्रन्थों का निर्माण करने पर भी नहीं मिल पाई। हिन्दी, श ंगार काव्य में बिहारी सतसई एक आलोक–स्तम्भ है। तुलसी के 'रामचरित मानस' के पश्चात् यदि किसी ग्रन्थ पर इतनी अधिक टीकाएँ एवं समीक्षात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं तो वह 'बिहारी-सतसई' ही है। स्व० रत्नाकर जी ने अपनी टीका में 52 टीकाओं का उल्लेख किया है। उनके पश्चात् शताधिक लेखकों समीक्षकों ने बिहारी काव्य पर लिखा है। मुक्त काव्य के कवि में 'कल्पना की समाहार शक्ति' और 'भाषा का समास शक्ति' का होना अनिवार्य होता है। समाहार का अर्थ है 'एक स्थान पर इकट्ठा करना, कल्पना का काम ही है विविध पदार्थो के स्वरूपों को इकट्ठा कर एकरूपता प्रदान करना। जो कवि अपनी उर्वर कल्पना शक्ति के द्वारा विविधतापूर्ण तथा सामंजस्यहीन वस्तुओं में जितनी अधिक एक रूपता, आंगिक पूर्णता व सामंजस्यता स्थापित करता है, वह कवि उतना ही समर्थ होता है। 'समाहार शक्ति' के साथ दूसरी महत्वपूर्ण शक्ति है–सामासिकता, सामासिकता का अर्थ है–संक्षेपण, संग्रह या पदार्थो का एक दूसरे में समाविष्ट कर उसे ठोस स्वरूप प्रदान करना। भाषा में सामासिकता का बड़ा ही महत्त्व है। कम से कम शब्दों में अधिकाधिक–भाव व्यंजना करना ही सामासिकता है। बिहारी काव्य में उपरोक्त दोनों गुण अपने पूर्ण उत्कर्ष के साथ प्राप्त होते हैं।

प्रबन्ध काव्य में विस्तार होता है। उनमें क्रमबद्ध कथानक होता है। अतः प्रबन्धाकार का जहाँ भावों को विस्त त विकास तथा रसोद बोधन का पूर्ण अवकाश प्राप्त होता है वही मुक्तकार यह सारा प्रभाव अपनी छोटी–सी रचना में प्रस्तुत करना पड़ता है। अतः मुक्तकार के लिए यह जरूरी होता है कि भाषा, रचना–कौशल, छन्द, अलंकार–शास्त्र आदि पर उसका पूर्ण अधिकार हो।

उसे शब्दों की आत्मा का साक्षात्कार हो जिससे वह ध्वनि, रीति, लक्षणा, व्यंजना आदि के माध्यम से अपक्षित कलात्मक प्रभाव उत्पन्न कर सके। मुक्तककार अपने खण्ड–द श्यों में रस की धारा प्रवाहित करे, कलात्मक–कौशल का प्रदर्शन करे तथा वह रचना समर्थ एवं सार्थक हो सकती है। मुक्तक में मनोहारिता चमत्कार पूर्णता, सूक्ष्मता बिलक्षणता और सहज सम्प्रेषणीयता जैसे गुण होने जरुरी हैं। सफल मुक्तक–काव्य के ये समूचे गुण अपने भव्य रूप में बिहारी में विद्यमान हैं। बिहारी का प्रत्येक दोहा एक तराशा हुआ रत्न है जो अपनी बाह्य तथा आन्तरिक विभा से पाठक का हृदय आनन्दलोक से भर देता है। बिहारी ने 'गागर में सागर' भर दिया है, इसी कारण अनेक दोहे 'नावक के तीन' जो देखने में छोटे लगते हैं पर गम्भीर चोट करते हैं।

"सतसैया के दोहरें ज्यों नावक के तीर,
देखन में छोटे लगे घाव करे गम्भीर।"

बिहारी सतसई पर संस्कृत के 'गाथा–सप्तशर्तो 'आर्यासप्तशती' तथा 'अमरूक–शतक' का प्रभाव है। संस्कृत कवियों के भाव–माधुर्य व कलात्मक–सौन्दर्य ने बिहारी को निश्चित ही प्रभावित किया है।

'बिहारी सतसई' श ंगार रस प्रधान ग्रन्थ है। युगानरूप उसमें श ंगार के अंग–उपाँगों का पूर्ण परिपाक हुआ है। इसमें शान्त, वीर एवं हास्य रसों का प्रयोग भी स्थान–स्थान पर हुआ है। लक्षण–लक्षण काव्य की परम्परा से यह मुक्त हैं, तथापि इसमें संयोग एवं विप्रलंभ श ंगार का मार्मिक विवेचन, अनुभावों की रमणीय विव ति, प्रेम की विविध दशाएँ, हावों एवं संचारियों का प्रयोग, प्रकृति का मनोहारी चित्रण, जगत एवं जीवन का व्यापक अनुभव, दर्शन शक्ति वैराग्य आदि सभी कुछ अत्यन्त सहज एवं हृदय–स्पर्शी शैली में प्रस्तुत किया गया है।

बिहारी अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि के जागरुक कलाकार थे इन्होंने जीवन व जगत् का बड़ा ही विविधतापूर्ण व व्यापक अनुभव था। वे संस्कृत अपभ्रंश, फारसी, उर्दु, प्राकृत एवं हिन्दी आदि भाषाओं के अच्छे जानकार थे। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था–रस, प्रवणता, गंभीरता, अध्ययन शीलता, विनोद–प्रियता, स्वाभिमान आदि उनके विशिष्ट गुण थे। इन्हें ज्योतिष, वैधक, दर्शन–शास्त्र, राजनीति तथा अन्य ललित कलाओं का अच्छा ज्ञान था। बिहारी बहुश्रुत, बहुज्ञ व कला –मर्मज्ञ थे। इन सारे गुणों ने उनकी कविता को सजाने–संवारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अतः बिहारी के कृतित्व एवं उनके कलात्मक उत्कर्ष को जानने समझने के लिए उनके व्यक्तित्व का परिचय आवश्यक है।

बिहारी का जीवन उन्मुक्त व रसपूर्ण था। वे जीवन को उसकी समग्रता में स्वीकारने के पक्षपाती थे। वे अपने युग के अत्यन्त प्रतिभाशाली और ईमानदार कवि थे। युगीन परिस्थितियों के अनुरूप उनके सामने उच्च जीवन मूल्यों अथवा नैतिक आदर्शो की प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं था। उनके सामने अपने ही युग की परिस्थितियों एवं मानसिकता को व्यक्त करने का प्रश्न था। इसी कारण उनके काव्य में श ंगार, विलासमय चित्रण आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा आदि-आदि बातें मिलती हैं। फिर भी सामग्री के प्रस्तुतीकरण अथवा अभिव्यंजना की नवीनता, कलात्मकता तथा सौन्दर्य प्रधानता के कारण बिहारी का काव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

श ंगार का वर्णन और अनेक कवियों ने किया है, किन्तु बिहारी के दोहों में श ंगार का जितना स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक मनोरम, सूक्ष्म एवं प्रभावोत्पादक चित्रण मिलता है, वह शायद ही अत्यन्त्र

मिल सके। केवल दो पंक्तियों के छोटे से दोहे में उन्होंने श ंगार के गत्यात्मक, रूपहले और सरस चित्र प्रस्तुत किए हैं, वे हिन्दी साहित्य में बेजोड़ हैं। यथा –

"कहत, नटत, रीझत, खीझत, मिलत, खिलत,
लजियात, भरे मौन में करत है, नैन ही सब बात।।"

भरे समाज में नायक एवं नायिका के बीच में होने वाले 'आँखों–आँखों के बीच के संभाषण को–जिसमें निमंत्रण, असमर्थता, खीज, मान, लाज और अंतलः एक सुखात्मक अनुभूत की चित्रण बिहारी ने किया है, उनकी कलात्मक क्षमता का परिचायक है।

बिहारी के काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष का अत्यन्त सुन्दर सामंजस्य व सन्तुलन मिलता है। यही कारण है कि 'वाग्द्वैध्य' तथा 'उक्तिकैचित्र्य' की द ष्टि से बिहारी सतसई की सफलता सर्वाषिदित है। इन विशेषताओं का काव्य में समावेश करने हेतु बिहारी श्लेष, रूपक, उपमा, अनुप्रास आदि अलंकार का बड़ा ही सामर्थ्य पूर्ण प्रयोग करते हैं, यथा –

"त्यौं–त्यौं त्थासेई रहत, ज्यों–ज्यौं प्रियत आधाई,
सगुन सलोने रूप की जनु चख त षा बुझाई।।"

इस दोहे में 'सलोने' शब्द में श्लेष के आरोपण से बात में जो विदग्धता आ गई है वह अत्यन्त मनोहारी है। सलोने रूप को जितनी त प्त होकर नेत्रों से पीते रही उतनी ही वह प्यास बढ़ाती है। सलोने का अर्थ सुन्दर भी है 'नमकीन' भी है।

बिहारी अपने काव्य में अद्भुत चित्रात्मकता की सर्जना करते हैं। वे गत्यात्मक, ध्वन्यात्मक, बिम्बात्मक शब्दों में बिम्बों के माध्यम से ऐसा चित्र उपस्थित कर देते हैं जो भारी स्थिति को पाठक के मनः चक्षु के सामने उपस्थित कर देते हैं यथा –

"रनित भ ंग घंटावला, झरति दान मधूनीरू।
मन्द मन्द आवत चल्यो, कुंजरू कुंज समीरू।।"

वसन्त की मस्त वायु का बिहारी ने इस दोहे में गत्यात्मक शब्द चित्र प्रस्तुत किया है वह बेजोड़ है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "एक सफल मुक्तककार के लिए मुक्तक रचना करने में 'कल्पना की समाहार शक्ति' तथा 'समास–शक्ति' वांछनीय है, मुक्तक रचना में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं।"

मुक्तककार की कल्पना में जितनी अधिक समाहार शक्ति होगी उसकी कविता भी उतनी ही पूर्ण और पैनी होगी। व्यापक कल्पना स ष्टि के लिए गहन अर्न्तद ष्टि और सीधी सच्चे अनुभूति आवश्यक है। सच्ची अनुभूति को आधार शिला पर ही कल्पना का सुन्दर मनोरम प्रासाद निर्मित हो सकता है। यदि अनुभूति का संस्पर्श न हो तो कल्पना मात्र वायिब उड़ान बनकर रह जाती है। कहना न होगा, बिहारी की कल्पना उनकी तीव्रानुभूति से मिलकर रससिक्त बन जाती है। वस्तुतः कला सर्जना में कल्पना कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कवि अपनी इन्द्रियों जगत के विविध संवेदन प्राप्त करना है, उन्हीं को अवसर एवं आवश्यकतानुसार गलाकर, घुला मिलाकर सर्वथा नवीन स्वरूप प्रदान करने वाली शक्ति ही कल्पना है। वस्तुतः कलाकार के अन्तःकरण में ऐन्द्रिक जगत् और मनो-जगत् के समन्वय से ही कलाकृति जन्म लेती है। जिस कलाकार में कल्पना की समाहार

अर्थात् संग्रहीत करने की शक्ति जितनी अधिक होगी, वह कलाकार इतना ही सफल होगा। एक मुक्तककार के रूप में बिहारी की कल्पना में समाहार शक्ति पूर्णतः विद्यमान और सहज उपलब्ध है वे एक ही दोहे में हृदय के अनेक भाव, अनेक चेष्टाएँ तथा अनेक संचारी भाव व्यक्त करने की क्षमता रखते हैं, तथा –

"नाउं सुनत ही ह्वै गयो तन और मनु और
दबै नहीं चित चढ़ौ रह्यौ अषै चढ़ाए त्यौर।"

इस दोहे में प्रिय के नामोल्लेख के साथ ही प्रेमिका के तन–मन में प्रसन्नता की अभिव्यक्ति, साथ ही तेवर चढ़ाकर उसकी मानसिक अवस्था को छिपाने का प्रयत्न करना अत्यना सहज रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

कवि बिहारी कल्पना की समाहार शक्ति के माध्यम से बहुत से चित्रों को एक ही भाव में गूँथ कर एकाकर देते हैं, यथा –

"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाई
सौंह कवै, भौंहनु हँसे, दैन कहैं नटि जाई।"

प्रियतम की बातों को सुनने की लालसा से प्रिया ने उसकी मुरली छिपा ली है। वह सौगन्ध खाती है, भौहों में हँसती है, देने का वादा करती है और बार–बार नट जाती है।

इन दो पंक्तियों में नायिका की शरारत, चंचलता, प्रिय को चिढ़ाने की भावना, हास्य–विनोद आदि न जाने कितने भाव सहज ही अभिव्यक्त हुए हैं।

कल्पना की समाहार शक्ति के माध्यम से ही बिहारी छोटे–छोटे दोहों में इतनी सारी चेष्टाएँ हाव–भाव संचारी भाव आदि भर देते हैं। कि पाठक के मनःचक्षुकों के सामने एक सलिष्ट ही उपस्थित हो जाता है यथा –

"मैं मिसहा सोयी समुझि मुँह चुक्यौं टिग जाइ।
हस्यौ खिसानी गल गह्यो रही गरै लपटाई।।"

तथा

"भूषण भार सभार है, क्यों इहि तनु सुकुमार।
सुधे पाइ न घर पैं, सोभा ही कै भार।।"

बिहारी एक ही दोहे में इतनी सारी क्रिया–प्रतिक्रियाओं यथा कार्य व्यापारी का चित्रण कर देते हैं कि जिसका वर्णन करने के लिए सामान्य कवि को हजारों पंक्तियाँ लिखनी पड़े। उनकी ऊर्वर कल्पना विविध भावों को एक ही स्थान पर ऐसा समाहित कर देती है कि सब कुछ मिलकर एक रूप बन जाता है यथा –

"खौंरि पनिय, भ कुटि धनुष, बधिकु समझ तजि कानि।
इतनु तरुन म ग तिलग सर, सुरल–भाल, भरि तानि।।"

इसी समाहार शक्ति के विषय में शुक्ल जी ने लिखा है–इसी से वे दोहे जैसे–से छन्द में इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं– रस के छोटे–छोटे समुद्र हैं।

बिहारी न भाव विदग्धता के साथ क्रिया–विदग्धता को बड़े ही कौशल के साथ चित्रित किया है। क्रिया विदग्धता को बड़े ही कौशल के साथ चित्रित किया है। क्रिया विदग्धा नायिकाएँ अपने

प्रियतम से इस कुशलता के साथ बात करती है कि उनकी चेष्टाओं और हाव–भावों का अर्थ केवल वे ही समझ सकते हैं अन्य नहीं यथा –

"हरिष न बोली, लखि ललनु निरखि अमिलु संग साथ,
आँखिन ही से हंसि धर्‌यो सीस हियै धरि हाथ।"

"ज्यौं ही नायिका नायक को देखती है वह हर्षित हो उठती है किन्तु जैसे ही उसने देखा कि नायक किन्हीं गुरुजनों के साथ है वह मुख से कुछ न बोली अपनी आँखों ही आँखों में हंसकर उसने अपने हृदय पर हाथ रख लिया। इस प्रकार उसने बिना कुछ कहे ही पाँच प्रकार के अर्थो या भावों का बोध करा दिया। बिहारी इस दोहे में अत्यन्त मोलिक प्रतिभा का परिचय दिया।

सामासिकता

बिहारी की सामासिकता हिन्दी काव्य में प्रसिद्ध है। वे शब्दों के बीच से कारकों, संयोजकों, सहायक–क्रियाओं आदि को हटाकर कम से कम शब्दों के भावों तथा विचारों के ऐसे संश्लिष्ट बिम्बात्मक 'चित्र उपस्थित कर देते हैं कि पाठक चकित रह जाता है यथा –

"चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट–पट झीन,
मानहुं सुसरिता विमलजल उछरत जुग मीन।"

घूँघट में भी चंचल नयनों की उच्छ ंखलता द श्यमान है मानो नदी के साफ–सुथरे जल में दो मछलियाँ उछल रही हो। उक्त दोहे में सामासिक शैली को देखा जा सकता है। कम से कम शब्दों में एक दीर्घ इतिव त, विस्त त प्रसंग एवं सूक्ष्म चितव त्ति को प्रस्तुत करना बिहारी की समान शक्ति का ही सामर्थ्य है, यथा –

"द ग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति,
परति, गाँठ दुर्जन हिये, दई, नई यह रीति।"

एक ओर आँखें जुड़ती हैं तो दूसरी ओर परिवार टूटते हैं और इसका परिणाम होता है– दुर्जन के हृदय में प्रेमियों को देखकर गाँठ पड़ती है।

सामासिकता के साथ–साथ व्यंजना–वैभव कोमलता, सरलता, नाद–सौन्दर्य, चित्रात्मकता आदि बिहारी की भाषा के अन्य महत्वपूर्ण गुण हैं।

बिहारी सतसई का सर्वाधिक चर्चित गुण है उनकी सामासिकता जिसके माध्यम से दोहे–जैसे छोटे–से छन्द में भी कवि ने भावों, विभावों, क्रिया–कलापों और विचारों के संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किए हैं। इसी सामासिकता के माध्यम से बिहारी ने श ंगार–रस के अनेक संश्लिष्ट–गत्यात्मक चित्र प्रस्तुत किए हैं जिनमें वाग्वैदग्ध्य और कलात्मकता का भी पूरा योग हुआ है। यथा –

"कर समेटि कच भुज उलटि खंए सीस पट डारि,
काकौ मन बाँधे न यह जूरो बाँधानि हारि।"

बालों को समेटकर जूड़ा बाँधती नायिका की भंगिमा किसका मन हर नहीं लेगी।

इस प्रकार भाव और कला का जो सुन्दर सामंजस्य बिहारी काव्य में मिलता है, वह हिन्दी के मुक्तक काव्य में बेजोड़ है।

काव्य लाक्षणिकता, धन्यात्मकता, चित्रात्मकता नाद–सौन्दर्य और अर्थ गाभीर्य जैसे अनेकानेक गुणों का समावेश बिहारी ने अपने काव्य में किया है।

बिहारी ने श्रंगार वर्णन एवं विशेष प्रकार की पद्धति पर किया है। जो पाठक या श्रोता इसके प्रसंग से परिचित होता है वही उसका पूरा आनन्द उठा सकता है। डॉ० सुन्दरदास ने 'सतसई सप्तक' की भूमिका में तीन ऐसे अचूक साधनों का उल्लेख किया है जिनमें बिहारी–काव्य में अनूठी ! क्षमता आ गई है। ये हैं– विदग्ध वाणी, प्रत्युत्पन्न मति और अनूठा द ष्टान्त। इन्हीं गुणों के कारण बिहारी ने मुक्तक काव्य को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है। दूसरी ओर डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त इन्हीं गुणों के कारण बिहारी काव्य को दुरुह बताते हुए लिखते हैं–"अनेक स्थलों पर से विशेषताएँ काव्य की पोषक होने के कारण स्थान पर बाधक भी सिद्ध होती है। समास शैली के कारण इनमें अनेक स्थानों पर अस्पष्टता, दुरुहता एवं क्लिष्टता आ गई है। बिहारी की भाषा सर्वदा भावों का अनुवर्तन करती चलती है। उनके दोहों में कहीं भी, एक शब्द की फालतू प्रतीत नहीं होता। सारे शब्द जुड़े हुए रत्नों की तरह अपनी–अपनी जगह काव्य–सौन्दर्य की व द्धि करते हैं। बिहारी की भाषा के विषय में आचार्य शुक्ल लिखते हैं–"बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूप का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है।"

बिहारी की भाषा में कसावट, चुस्ती, सामासिकता आदि ऐसे गुण हैं जिसके माध्यम से वे अपने अभिप्रेत विषय का अत्यन्त क्षमता के साथ सम्प्रेषण कर सकते हैं। इसका कारण है– बिहारी के काव्य का अंतरंग या भावपक्ष जितना सम द्ध है उसका बहिरंग या कलापक्ष भी उतना ही सम द्ध है। प्रत्येक दोहे में कवि ने भावों को अधिकाधिक सौन्दर्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। कवि ने भावाभिव्यंजना हेतु अन्योक्ति, समासोक्ति रूपक आदि का बड़ा ही मनोहारी प्रयोग किया है, यथा –

"नहिं परागु, नहिं मधुर, नहिं विकासु इहि काल,
अली कली ही सौं बन्ध्यौ, आगे कौन हवाल।"

तथा

"स्वास्न सुकृत व श्रमु, व था देखि बिहंग विचारी।
बाज पराये पानि परि, तू पंछीनू न मारी।।"

बिहारी की अनुभूति बड़ी गहन थी। वे बड़ी ही सूक्ष्म अन्तर्द ष्टि वाले कलाकार थे। वे जानते थे कि कला की साधना के लिए अभ्यास व लगन की आवश्यकता है जो इसमें डूबता है, वही तैर जाता है। अत्यरूप शब्दों में उन्होंने इस गम्भीर भय को जिस ढंग से व्यक्त किया है वह देखते ही बनता है। यथा –

"तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग,
अन बूड़े बूड़े तरे जो बूड़े सब अंग।"

यद्यपि बिहारी श्रंगार युग की उपज थे पर अन्य श्रंगारी कवियों की उपेक्षा बिहारी की स्थिति अपनी कलात्मक मूल्यवत्ता के कारण निश्चित ही श्रेष्ठ है। बिहारी की कविता का आधार मात्र विलासिता या श्रंगार नहीं थे, बल्कि कलाप्रियता एवं सौन्दर्य–प्रवणता उनके काव्य के शाश्वत तत्व थे।

बिहारी साहित्य–शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान थे। रस, अलंकार, ध्वनि रीति वक्रोक्ति, औचित्य आदि के साथ–साथ बिहारी को भाषा की क्षमता व शब्द–शक्तियों का पूरा-पूरा ज्ञान था। सच पूछा जाए तो बिहारी ने शब्दों की आत्मा का जो साक्षात्कार किया था वह उनके समकालीन किसी

भी कवि ने शायद ही किया हो। शब्द और अर्थ तथा अर्थ छायाओं की गहरी समझ के कारण ही उनके दोहों में कल्पना की समाहार शक्ति व सामासिकता अपनी पूर्ण समता से अभिव्यक्ति पा सकी। यद्यपि बिहारी ने कोई रीति ग्रन्थ नहीं लिखा तथापि उन्होंने रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्तों का अपने दोहों में जिस क्षमता से उपयोग किया है उससे उनकी कलात्मक क्षमता का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त होता है। केवल चमत्कार–प्रदर्शन या कलापक्ष की प्रधानता के बल पर ही उनकी कविता अमर व लोकप्रियता न हो जाती यदि उसका भावपक्ष भी उतना ही सम द्ध न होता। वस्तुतः बिहारी को मानव मन को बड़ा ही गहन अन्तव तियों यथा हर्ष शोक, प्रेम, श ंगार आदि को उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से देखा–परखा था।

दैनंदैन जीवन के सूक्ष्माति सूक्ष्म सत्यों एवं विसंगतियों को उनकी पारदर्शी प्रतिमा का संस्पर्श मिला था। वे अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे–लोक जीवन के द ष्टा थे। ज्योतिष, वैधक पुराण कथाओं आदि का उन्होंने अपने काव्य में पूरे–पूरा प्रयोग किया है। वे अपने युग के सुशिक्षित, सुसंस्कृत, अध्ययनशील एवं जागरूक कवि थे। इसी कारण बिहारी का काव्य रीतिकाल के संकुचित घेरे से निकलकर सर्वकालिक बन गया है। बिहारी एक ऐसे समर्थ कलाकार थे। जिनके काव्य में जीवन और कला, भाषा और भाव, विषय व अभिव्यंजना इन सभी तत्वों का मणिकांचन योग हुआ है। बिहारी ने अपनी अद्वितीय कल्पना शक्ति द्वारा विविध विषयों तथा विपरीत तथ्यों को आपस में मिलाकर एकाकार कर दिया है। दूसरी ओर सामासिक्ता द्वारा कम से कम शब्द में अधिकाधिक भावाभिव्यक्ति की संभावनाओं का समावेश अपने काव्य में किया है। इन दोनों स्थितियों से बिहारी अपने युग में ही नहीं, सारे हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं।

वर्णमैत्री, अनुप्रास, ध्वन्यात्मकता, चित्रात्मकता शब्द गति, शब्द–शोधन, लथात्मक्ता अनेकार्थता, व्यंजना, रीति आदि के माध्यम से बिहारी ने ब्रजभाषा की अभिव्यंजना, शक्ति को पराकाण्ठा पर पहुँचा दिया है। ब्रजभाषा को सूरदास आदि कवि पहले ही निखार चुके थे पर बिहारी ने अपनी गहरी सूझ-बूझ के माध्यम से इस भाषा में माधुर्य, प्राणलता प्रौढ़ता व अभिव्यंजना–कौशल का जो समावेश किया वह अद्वितीय था। इस प्रकार बिहारी रीतिकाल के ऐसे समर्थ सजग कलाकार थे जिनका साहित्य परिणाम की द ष्टि से भले ही अल्प हो पर अपनी कलात्मकता एवं गुणवत्ता की द ष्टि से मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में अग्रगण्य है।

(खण्ड-ख)

व्याख्या

(1)

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा-नागरि सोई।
जा तन की झांई परैं, स्यामु हरित-दुति होई॥1॥

शब्दार्थ

भव-बाधा-सांसारिक विपत्तियाँ। नागरि-चतुर। सोई-वही। जा-जिसके। तन-शरीर। झाँईःपरछाई, झलक, ध्यान आदि। परै-पड़ते ही। स्यामु- 1. श्री कृष्ण 2. श्याम रंग वाले श्री कृष्ण, 3. नाना विघ्न-बाधाएँ, ताप-पाप आदि। हरित- 1. हरे रंग के, 2. प्रसन्न मन, 3. हरण की गई है। दुति-कान्ति, आभा, चमक।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहा कविवर बिहारी द्वारा रचित 'बिहारी सतसई' से अवतरित किया गया है।

बिहारी रीतिकालीन हिन्दी कविता के प्रसन्न कवि है। मुक्तक काव्य परम्परा में भी वे अगुपांक्तेय हैं। उन्होंने अपने दोहों में गम्भीर अर्थों का समायोजन किया है।

कोई भी रचनाकार अपने ग्रन्थ की निर्विहन रचना के लिये ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण प्रस्तुत करता है। चूँकि यह दोहा 'बिहारी-सतसई' का पहला दोहा है, इसलिए यह मंगलाचरणविषयक धारणा से युक्त है। बिहारी इस दोहे में नागरी राधा की वन्दना करते हुए कहते हैं -

व्याख्या

प्रस्तुत दोहे के प्रसंगानुसार तीन प्रकार के अर्थ किए जा सकते हैं जो कि निम्नानुसार है। ये तीनों अर्थ झाई, स्यामु और हरित दुति-इन तीन शब्दों के अर्थ वैविध्य के कारण सम्भव हो सकते हैं। इन तीनों शब्दों के तीन-तीन अर्थों का विवेचन ऊपर शब्दार्थ के अन्तर्गत किया जा चुका है। दोहे के तीन अर्थ इस प्रकार किए गए हैं -

(क) जिस चतुर राधिका के शरीर की परछाईं पड़ने से श्याम वर्ण वाले श्री कृष्ण हरे रंग की आभा वाले हो जाते हैं। वहीं राधिका मेरी सांसारिक विघ्न बाधाओं आदि का नाश करें।

(ख) जिस चतुर राधिका के शरीर की झलक (नेत्रों में) पड़ने से श्री कृष्ण प्रसन्न चित्त हो जाते हैं अर्थात् आनन्द विभोर हो जाते हैं वहीं राधिका मेरी सांसारिक विघ्न-बाधाओं का नाश करें।

(ग) जिस चतुर राधिका के रूप का ध्यान पड़ने से (हृदय में) दुःख दारिद्रादिगत द्युति तेजहीन हो जाते हैं, वही राधिका मेरी सांसारिक विघ्न-बाधाओं का नाश करे।

विशेष

1. यह दोहा मंगलाचरणात्मक है। यह मंगलाचरण के तीन रूपों आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक में से दो रूपों आशीर्वादात्मक तथा वस्तुनिर्देशात्मक से संबंधित है।
2. बिहारी ने 'भव-बाधा' हरौ के द्वारा आशीर्वाद की तथा 'राधा-नागरि' के द्वारा राधा के प्रणयविदग्ध रूप की व्यंजना करके वस्तुनिर्देश को व्यंजित किया है।
3. बिहारी ने राधा-रानी को कृष्ण से अधिक तेजोमयी बताया है और अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा-अनुरक्ति राधा देवी के ही चरणों में अर्पित की है। वास्तव में यह अर्पय राधा बल्लभ सम्प्रदाय की मान्यता से अनुप्रणित है।
4. बिहारी बहुज्ञता का परिचय भी इस दोहे से मिल जाता है। इसमें एक तरफ तो कवि ने अपना रंग विषयक ज्ञान (नीला और रंग मिलने से हरा रंग बनता है) व्यक्त किया है और दूसरी तरफ उसने अपनी वैद्यक जानकारी (हल्दी, नागरमोधा तथा सोमा के लेप से झाँई समाप्त हो जाती है) को भी प्रस्तुत किया है।
5. झांई, स्यामु, हरित-दुति में श्लेष अलंकार है।
6. भाषा में समास शक्ति तथा अर्थ गम्भीरता का समायोग है।
7. मुक्तक शैली का सुन्दर स्वरूप है।
8. दोहा, छन्द का प्रयोग है।
9. ब्रज भाषा का आकर्षक प्रयोग।
10. गम्भीर भावाभिव्यक्ति है ।
11. भावसाम्य :
    अपनय भव बाधा मम राधे। त्वं कुशलासि।
    हरिरपि दधवि हरिद्द्युतिं मदि माधवमुयमासि। श्रंगार सप्तशती।

(2)

अपने अंग के जानि कै जोबन-न पति प्रवीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब की बड़ौ इजाफा कीन।। 2।।

शब्दार्थ

अंग = पक्ष, राजा के अपने पक्ष के लोग, मन्त्री सेनापति तथा अन्य राज्याधिकारी। जोबन = न पति-यौवन रूपी राजा। प्रवीन = कुशल, निपुण। स्तन = कुच। नैन = आँख बड़ौ = बहुत। इजाफ़ा = (अरबी भाषा का शब्द) व द्धि, बढ़ोत्तरी कीन = किया।

प्रसंग

सतसई के रचनाकार बिहारी ने लिखा है कि नवयौवना मुग्धा नायिका के शारीरिक अंगों के विकास तथा उसके मन में बढ़ते हुए उत्साह को देखकर नायक का मन प्रसन्न हो गया है। नायिका की प्रशंसा करता हुआ वह मन ही मन में कह रहा है।

व्याख्या

कविवर बिहारी कहते हैं कि यौवन रूपी राजा ने नवयौवना मुग्धा के स्तनों, नयनों, मन और नितम्बों

को अपने पक्ष का मानकार बहुत व द्धि कर दी है। अर्थात् यौवन रूपी राजा ने वनयौवना नायिका के स्तनों, नयनों, मन और नितम्बों को अपना सहायक समझकर इन सभी की बहुत व द्धि कर दी है। जिसके परिणामस्वरूप नायिका के स्तनों में पूरा उभार आ गया है, नयन विशाल (विशाल नेत्र नारी-सौन्दर्य के परिचायक माने जाते हैं) हो गये हैं। मन में यौवन की तरंगें हिलौरे मार रही हैं और नितम्ब पुष्ट एवं मांसल (नारी के मांसल नितंबों की शोभा सर्वविदित है) हो गए हैं।

विशेष

1. कविवर बिहारी ने नारी-सौन्दर्य का परम्परागत वर्णन किया है। रीतिकालीन काव्य में नख-शिख वर्णन की एक सुदीर्घ परंपरा विद्यमान है।
2. कवि ने नायिका की वयः सन्धि का चित्रण किया है। इस उम्र में नायिका के अंग-प्रत्यंग में उमार आता है।
3. कवि को राजनीति का भी सम्यक् ज्ञान है और इसी कारण यौवन-रूपी राजा के रूपक का सफल निर्वाह हो पाया है राजा अपने सहायकों को अपना शुभचिंतक मानकर और उनकी सेवा से प्रसन्न होकर उनके वेतन तथा सुविधाओं आदि में व द्धि कर देता है। प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका के स्तनों, नेत्रों तथा नितंबों आदि को यौवन रूपी राजा के सहायकों के रूप में चित्रित किया है।
4. अलंकार-छेकानुप्रास- 'अपने अंग' तथा 'नैन नितंब' में। तुलयोगिता-दूसरे चरण में।
5. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
6. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम का सुन्दर योग।
7. सूक्ष्म भाव का स्पष्ट चित्रण।
8. आकर्षक गेयता।
9. श्रंगार रस का परिपाक।
10. दोहा, छन्द का प्रयोग।
11. भाव साम्य की द ष्टि से विद्यापति की निम्न पंक्तियाँ देखिए -
    मदनक भाव पहिल परिचार।
    भिन जन बेल भिन्न अधिकार।

(3)

अर तैं टरत न बर-परे, दई मरक मनु मैन।
होड़ाहोड़ी बढ़ि चले चितु, चतुराई, नैन।। 3।।

शब्दार्थ

अर = किसी बात के लिये डट जाना, हइ करना जिद करना। बर = बाल, उमंग, उत्साह से भरा हुआ। परे = भरे हुएं मरक = बढ़ावा, व द्धि। मनु = मानो। मैन = कामदेव। होड़ाहोड़ी = बराबरी करने की इच्छा। चितु = चित्त। नैन = नयन।

प्रसंग

कविवर बिहारी श्रंगार चित्रण में सिद्धहसत है। इस दोहे में नवयौवना मुग्धा नायिका के रूप को देखकर नायक मन ही मन रीझ रहा है और कह रहा है -

व्याख्या

नवयौवना नायिका के लावण्य पर रीझकर नायक अपने आप से कह रहा है कि यौवन के आगमन के कारण इस नायिका के उमंग से भरे हुए चित्त, चतुराई और नयनों ने अपने-अपने गौरव के लिये हठ ठान ली है और तीनों ही प्रतिद्वन्द्विता की भावना से बढ़ रहे हैं जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों कामदेव ने भी इन्हें प्रोत्साहन दिया हुआ है। कहने का आशय यह है कि यौवन के आगमन के कारण नायिका का चित्त तो उमंगों से भर ही गया है, चतुराई भी बहुत आ गई है तथा नैन भी बहुत विशाल हो गये हैं।

विशेष

1. यौवन के आगमन के साथ ही नवयौवना के हाव-भाव व्यवहार आदि में किंचित अन्तर आ गया है। उसका मन यौवन के उद्दाम आवेग में डूबा रहता है और वह चतुर भी हो जाता है। कवि ने नारी मनोविज्ञान का गम्भीर चित्रण किया है।
2. नायिका के इस सौन्दर्य वर्णन की वक्ता दूती भी हो सकती है जो कि नायक के समक्ष नायिका के लावण्य का वर्णन करे।
3. श्रंगार रस का सुन्दर परिपाक।
4. सूक्ष्म भावों का सुन्दर चित्रण।
5. ब्रज भाषा का प्रयोग।
6. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. दोहा छन्द का अनुप्रयोग।
8. सुन्दर बिम्ब-विधान।
9. अलंकार- व त्यानुप्रास-'मरक मनु मैन' तथा 'चले चितु चतुराई' में।
   छेकानुप्रास - 'होड़ा होड़ी में।
   हेतुत्प्रेक्षा - सम्पूर्ण दोहे में।
   मानवीकरण - सम्पूर्ण दोहे में।
10. भावसाम्य की द ष्टि से विद्यापति की निम्नपंक्तियाँ देखें -

सैसव-यौवन-दुहूँ मिलि गेल।
स्त्रवनक पथ दुहूँ लोचन लेल।।
वचनकि चातुरि लहु-लहु हास।
सखि पूछ्व कइसे सुरति बिहार।।

(4)

और-ओप कनीनिकनु गनी धनी सिरताज।
मनीं धनीं के नेह की बनीं छनीं पट लाज।।4।।

शब्दार्थ

और कुछ और ही। ओप = चमक, आभा। कनीनिकनु = आँख की पुतली। गनी = मानी गई है, गणना की जाती है। धनी = पत्नी। सिरताज = (फारसी का शब्द) सरताज, शिरोमणि। मनी = मणि, हीरा, धनी = स्वामी, पति। नेह = प्रेम। छनीं = छिपी हुई। पट = कपड़ा। लाज = लज्जा।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में नवयौवना नायिका की आँखों की पुतलियों का वर्णन किया गया है। नायिका का सखी नायिका की पुतलियों की यौवनोचित शोभा और लज्जा का वर्णन कर रही है। नायिका की सखी नायिका को संबोधित करते हुए मन-भावन रूप में कह रही है।

व्याख्या

बिहारी लिखते हैं कि नायिका को संबोधित करते हुए एक सखी नायिका से कह रही है कि 'हे सखी, अब यौवनागम के कारण तेरी आँखों की पुतलियों की आभा और ही हो गई है जिसका शुभ परिणाम यह हुआ है कि तू अपनी सपत्नियों में सर्वाधिक प्रमुख हो गई है अर्थात् प्रियतम के अत्यधिक निकट हो गई है। तेरी आँखों की ये पुतलियाँ लज्जा रूपी वस्त्र में छिपी हुई हैं और इसी कारण नायक के स्नेह की मणियां बन गई हैं। आशय यह है कि नायिका की यौवन-दीप्त पुतलियाँ नायक के स्नेह को आकृष्ट करने के लिए लज्जा रूपी आवरण में छिपी हुई मणियों की तरह शोभा पा रही है। यौवन के आगमन के साथ मुग्धा नायिका की पुतलियों में एक विशेष प्रकार की लज्जामिश्रित कान्ति आ जाना स्वाभाविक है। यह मन मोहक चित्रण है।

विशेष

1. उपरोक्त कथन अन्य सम्भोगदुखिता नायिका का भी हो सकता है, जो कि सपत्नी की लज्जा युक्त पुतलियों को देखकर डाहवश कहती है "तू अपनी लज्जा युक्त पुतलियों के कारण प्रियतम के इतना निकट हो गई है और इस प्रकार सपत्नियों में प्रमुख हो गई है।"
2. यौवनागमन के साथ नारी की पुतलियों में एक विशेष प्रकार की लज्जा का भाव आ जाता है जो कि किसी भी व्यक्ति को आकृष्ट कर लेता है। कवि ने नारी मनोविज्ञान सम्बन्धी ज्ञान का भी परिचय दिया है।
3. मध्यकालीन सामन्तीय प्रथा में बहुपत्नी प्रचलन का चित्रण है।
4. श्रंगार रस का परिपाक है।
5. दोहा छन्द स्वरूप है।
6. ब्रज भाषा प्रयोग है।
7. अनुपम सौन्दर्य-चित्रण है।
8. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली है।
9. अलंकार-छेकानुप्रास- 'और लोप' में।
   वर्णमैत्री - 'मनीं धनी के नेह की बनीं छनीं' में।
   रूपक - 'पटलाज' में।

(5)

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहार।
तज्यौ मनौ तारन बिरदु बारक बारनु हारि।।

शब्दार्थ

नीकी = भली। दई = दैव अर्थात् ईश्वर। अनाकानी = अनसुनी कर देना। गुहरि = पुकार। तज्यों = छोड़

दिया। मनौ = मानो। तारन-बिरदु = भक्तों को इस भवसागर से पार लगाने की कीर्ति। बारक = एक बार। बारनु = हाथी। तारि = तार कर अर्थात् उद्धार कर।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में एक भक्त भगवान को यह उपालम्भ दे रहा है कि भगवान ने उसका उद्धार नहीं किया। भक्त के मन में विशेष राग है।

व्याख्या

अपना उद्धार न होने पर भगवान के उपालम्भ देते हुए एक भक्त कहता है कि "हे भगवान्, आपने यह अच्छी रीति शुरू कर दी है कि मेरी सभी प्रार्थनाएँ सुनकर भी अनसुनी कर दी हैं जिसके परिणाम स्वरूप मेरी सभी आर्त-प्रार्थनाएँ प्रभाव-रहित हो गई हैं, अर्थात् अब मेरी आर्त-पुकार का आप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यह स्थिति देखकर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मानों एक बार हाथी का (ग्राह से) उद्धार कर देने के पश्चात् आपने भक्तों के उद्धार करने की कीर्ति को छोड़ दिया है।" भक्त लगातार ईश्वर भक्ति करके दर्शन चाह रहा है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने गज-उद्धार की कथा का उल्लेख किया है। इस पौराणिक कथा के अनुसार एक बार ऐरावत हाथी नदी में पानी पीने लगा कि ग्राह ने उसे पकड़ लिया। गज के लिए अपने आप को बचाना सम्भव नहीं रहा। अन्ततः उसने भगवान का स्मरण किया तो भगवान नंगे पाँव आए और उस हाथी को ग्राह के पंजें से मुक्त करा दिया।
2. प्रस्तुत दोहा यह प्रमाणित करता है कि कविवर बिहारी ने अपनी इस सतसई में कवल श्रं गार परक दोहों की ही स ष्टि नहीं की है अपितु कहीं-कहीं विषयक परिवर्तन भी मिलता है।
3. कवि ने यथा स्थान मुहावरों का सफल प्रयोग करके अभिव्यंजना को सशक्त बनाया है। कवि ने इस दोहे में निम्न मुहावरों का प्रयोग किया है - अनाकनी देना, गुहार का फीका पड़ना आदि।
4. ब्रज भाषा का प्रभावी रूप।
5. दोहा छंद का प्रयोग।
6. भक्ति रस का सुन्दर परिपाक।
7. प्रभावी लयात्मकता।
8. सुन्दर भावाभिव्यंजना।
9. 'लज्यौ मनौ तारन-बिरदु' में उत्प्रेक्षा अलंकार।
10. 'बारक बरनु' में यमक अलंकार।

(6)

जोग-जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय-अद्वैतता काननु सेवत नैन।।

शब्दार्थ

जोग = योग, नायक-नायिका का मिलन, चित्तव त्ति के विरोध से आत्मा और परमात्मा की एकता।

जुगति = युक्ति उपाय, प्रियतम के मिलने के उपाय। प्रिय = नायक, परमात्मा। अद्वैतता = अभिन्नता, एक हो जाना। काननु = वन, कान। नैन = नयन, नेत्र तथा योगी।

प्रसंग

नवयौवना नायिका ने नेत्रों के सौन्दर्य तथा फैलाव को देखकर उसकी सखियाँ परिहास करते हुए कहती हैं

व्याख्या

प्रस्तुत दोहे में दो अर्थ भासित होते हैं जो कि इस प्रकार हैं -

(क) नायिका को समवयस्क युवतियाँ नायिका के विस्त त नेत्रों की शोभा का वर्णन करते हुए उसे कहती हैं कि 'हे सखी तेरे इन नेत्रों की कामदेव रूपी महामुनि ने योग क्रिया की सारी युक्तियाँ सिखा ही हैं जिससे की परमात्मा के साथ तुम्हारी अभिन्नता प्राप्त करने हेतु तुम्हारे ये नेत्र रूपी योगी वन-प्रदेश में तपस्या-रत हो गए हैं।"

(ख) नायिका के विस्त त नेत्रों की शोभा का वर्णन करते हुए उसकी सखियाँ उससे कहती हैं कि "हे सखी कामदेव रूपी महात्मा ने तेरे इन विस्त त नेत्रों को प्रियतम से मिलने की सारी युक्तियाँ सिखा दी हैं। तेरे ये नेत्र प्रियतम के दर्शन पाने के हेतु कान तक लंबे हो गए हैं।"

विशेष

1. कवि ने जोग, प्रिय, काननु और नैन के श्लिष्ट प्रयोग के कारण इस दोहे में दो अर्थों की व्यंजना की है। श ंगार और योग संबंधी इन दो परस्पर विरोधी अर्थों की व्यंजना कवि की विलक्षण प्रतिभा की परिचायक है।
2. प्रस्तुत दोहे में कवि ने नारी-मनोविज्ञान का भी परिचय दिया है। समवयस्क युवत्तियों का परस्पर शिष्ट परिहास इसी प्रकार का होता है।
3. भावसाम्य की द ष्टि से विद्यापति की निम्न पंक्तियाँ देखिए –

   सैसव जोबन दुहु मिलि गेल।
   स्त्रबनक पथ दुहु लोचन भेल।।

4. ब्रज भाषा प्रयोग।
5. दोहा छन्द-प्रयोग
6. श्रं गार रस परिपाक।
7. सुन्दर गेयता।
8. रूपक - 'महामुनि 'मैन' में।
9. छेकानुप्रास - 'जोग-जुगति' में।
10. श्लेष - जोग, पिय, काननु तथा नैन में।
11. फलोत्प्रेक्षा - संपूर्ण दोहे में।
12. व त्यानुप्रास - 'मनौंमहामुनि मैन' में।

(7)

प्रिय बिछुरन कौ दुसहु दुखु, हरषु जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियति तजत प्रान इहि बार।।

शब्दार्थ

पिय = प्रियतम। बिछुरन = अलग होना। दुसहु दुखु = असह्य दुःख। प्यौसार = नैहर। दुरजोधन = ध तराष्ट्र का पुत्र और कौरव पक्ष का नायक। लौं = की तरह। देखयति = दिखाई देती है। इहि बार = इस बार।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में बिहारी ने नैहर जाते समय के दुःख का वर्णन किया है। जब तक नायिका मुग्धा थी, नैहर जाते समय उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था अब की बार वह मध्यावस्था को पहुँच चुकी है, अतः नैहर जाते समय नायक के वियोग का दुःख भी हो रहा है। कवि ने इस दोहे में नायिका की इस सुख-दुखात्मक मनोदशा का वर्णन किया है। एक सखी दूसरी सखी से कह रही है।

व्याख्या

नैहर जा रही नायिका को एक ओर तो प्रियतम से विद्रोह का भारी दुःख है और दूसरी ओर नैहर में परिजनों से मिलने का हर्ष भी है। नायिका की यह सुख-दुखात्मक मनोदशा दुर्योधन जैसी है, जिसने की हर्ष और विषाद की द्विविधापर्ण स्थिति में प्राण त्यागे थे। नायिका की सखी दूसरी सखी से यही कह रही है कि_"अबकी बार नैहर जाती हुई नायिका की मनोदशा दुर्योधन की सी लग रही है। जिसने हर्ष और शोक के मिश्रित वातावरण में प्राण त्यागे थे।" ऐसा मनोविश्लेषण दुर्लभ होता है।

विशेष

1. उपरोक्त दोहे में महाभारत की एक कथा का उल्लेख है। कथा इस प्रकार है- ध तराष्ट्र के पुत्र- और कौरव पक्ष के नायक दुर्योधन को यह वरदान मिला हुआ था कि उसकी म त्यु सुख-दुःखातमक स्थिति में होगी। महाभारत के युद्ध में एक बार अश्वत्थामा ने द्रोपदी के पाँचों सुतों को पाण्डव समझकर उनके सिर काट दिए। द्रौपदी के पाँचों पुत्रों की इस हत्या को पाण्डु पुत्रों की हत्यामानकर दुर्योधन अत्यधिक हर्षित हो उठा। तथापि जब उसे यह ज्ञात हुआ कि अश्वत्थामा के पाण्डु-पुत्रों के नहीं द्रोपदी के ही पाँचों पुत्रों के सिर काट डाले हैं तो उसका हर्ष विषाद में बदल गया। इसी द्विविधापूर्ण स्थिति में दुर्योधन की म त्यु हुई थी।
2. भावसाम्य -

   'आए पिय परदेश तैं, गए सौति के धाम।
   हरष-विषाद भयो भई, दुरजोधन कैं बाम।।
3. मिलन-बिरह का मनोहारी चित्रण।
4. ब्रज-भाषा का प्रयोग।
5. मुक्तक शैली।

6. दोहा, छन्द प्रयोग।
7. सरल भाषा का आकर्षक रूप।
8. "दुरजोधन लौं" में उपमा अलंकार।
9. दुसह दुःख में छेकानुप्रास अलंकार।

(8)

झीनैं पट मैं झुलमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरू की मनु सिंधु मैं लसति सपल्लव डार।।

शब्दार्थ

झीने = पतले, महीन। पट = वस्त्र। झुलमुली = झिलमिलाती हुई। झलकती = चमकती है। ओप = आभा। अपार = अत्यधिक। सुरतरू = कलपव क्ष। लसति = शोभित होती है। सपल्लव = पल्लवों कपोलों सहित। डार = व क्ष की डाली, शाखा।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका के कानों में पहने जाने वाले आभूषण की शोभा का वर्णन किया है। नायिका की दूती नायक के समक्ष इस आभूषण की शोभा का वर्णन कर रही है।

व्याख्या

नायिका के कानों में सुशोभित आभूषण की शोभा का वर्णन करते हुए उसकी दूती नायक से कहती है कि "नायिका ने कानों में जो झुलमुली धारण कर राखी है, उसकी अपार आभा महीन वस्त्र के भीतर से प्रकाशित हो रही है। जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों समुद्र के भीतर कल्पव क्ष की पत्तों से युक्त डाल शोभायमान हो रही है।"

विशेष

1. कई टीकाकारों ने झुलमुली का आशय झुलमुलाती हुई कान्ति से लिया है। टीकाकार रत्नाकर के अनुसार झुलमुली का अर्थ कर्णाभूषण नहीं अपितु नायिका के शरीर की झिलमिलाती हुई कान्ति से है। प्रस्तुत अर्थ में इस दोहे का अर्थ इस प्रकार होगा, नायिका की अपार कान्ति का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि "महीन वस्त्रों में से नायिका के शरीर के सौन्दर्य की अपार कान्ति झलमला रही है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों समुद्र में कलपव क्ष की पत्तों से युक्त डाल सुशोभित हो रही हो"। नायिका ने जो महीन वस्त्र धारण कर रखे हैं, वे समुद्र की तरह हैं जिनमें से उसके शरीर के विभिन्न अवयवों की कान्ति (कलपव क्ष के पत्तों से युक्त शाखा की तरह) उद्‌भासित हो रही है। 'सपल्लव डार' का आशय नायिका के हाथ, मुख, पाँव, अधर तथा अन्य शरीरांगों से है।
2. प्रस्तुत दोहे में 'रति' नामक स्थायीभाव की सफल पुष्टि की गई है इस दोहे में नायक को आश्रय, नायिका को आलम्बन माना जा सकता है। नायिका के शरीर की शोभा की उद्दीपन और नायक के प्रशंसात्मक कथन को अनुभाव समझा जा सकता है।
3. ब्रज भाषा का प्रयोग।
4. दोहा, छन्द।

5. सुन्दर लयात्मकता।
6. मुक्तक शैली।
7. ध्वन्यात्मकता।
8. अनुप्रास अलंकार।
9. सुरतरू की मनु ....." उत्प्रेक्षालंकार।
10. श्रंगार रस-परिपाक।

(9)

डारे ठोड़ी-गाड़, गहि-नैन-बटोही, मारि।
चिलक-चौंध में रूप-ठग, हाँसी-फाँसी डारि।।

शब्दार्थ

डारे = डाल दिया है। ठोड़ी-गाड़ = ठोड़ि का गड्ढा। गहि = पकड़ कर। नैन बटोही = नेत्र रूपी पथिक। चिलक = चमक चौंध = जो चमक चलते हुए पथिक की आँखों को अंधा कर देती है, उसे चौंध कहते हैं। रूप ठग = सौंदर्य रूपी ठग। हाँसी-फाँसी = हँसी रूपी फाँसी।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कविवर बिहारी नायिका की ठोड़ी में पड़े हुए गड्ढ़े के सौन्दर्य का वर्णन कर रहे हैं। परकोया नायिका की ठोड़ी में गड्ढ़ा पड़ा हुआ है। जिसे देखकर नायक मन ही मन रीझता है और कहता है।

व्याख्या

नायिका की ठोड़ी में पड़े हुए गड्ड़े पर रीझते हुए नायक कहता है कि 'हे नायिका, तेरे अपार सौन्दर्य रूपी ठग ने अपनी चमक की चौंध से मेरे नेत्रों रूपी पथिकों को, हँसी रूपी फाँसी का फंदा डालकर अपनी ठोढ़ी में पड़े हुए गड्ढ़े में डाल दिया है अर्थात् मेरे ये नेत्र तेरी ठोड़ी के गड्ढ़े के प्रति इतने अधिक आकृष्ट हो गए हैं कि वे वहाँ से हटने का नाम ही नहीं ले रहे हैं।" कहने का तात्पर्य यह है कि नायक उस नायिका की ठोड़ी में पड़े हुए गड्ढे और उसकी हँसी के प्रति पूर्णतः समर्पित हो गया है।

विशेष

1. कवि ने सांगरूपक की सफल योजना की है। प्रस्तुत रूपक में नायिका का सौन्दर्य तो ठग है और उसके सुन्दर शरीर की छवि पथिकों के लिए चौंध बन जाती है। नायिका की सुखद हँसी, फाँसी के फन्दें की तरह है और नायक के नेत्र पथिक हैं जो कि हँसी रूपी फाँसी के फन्दें में पड़कर मर जाते हैं और फिर ठोड़ी रूपी गड्ढे में धकेल दिए जाते हैं।
2. भावसाम्य की द ष्टि से बिहारी का ही निम्न दोहा देखिए –

   कुच-गिरि चढ़ि, अति थकित है, चली ड़ीठ मुँह चाड़।
   फिरि न टरी, परियै रही, गिरि चिबुक की गाड़।।

3. दोहा, छन्द।

4. ब्रज-भाषा प्रयोग।
5. शब्द-चयन उत्तम।
6. श्रृंगार रस परिपाक।
7. भावात्मक गहराई।
8. 'गाड़ गहि' में छेकानुप्रास।
9. 'नैन बटोही' में रूपक।

(10)

लाग्यौ सुमनु ह्वै है सफलु, आतप-रोसु निवारि।
बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता-बारि।।

शब्दार्थ

सुमनु = सुन्दर मन, फूल। ह्वै है = होगा। सफलु = सफलता को प्राप्त होगा, फलों से युक्त होगा। आतप रोसु = कष्टप्रद मान करना, सूर्य के ताप की प्रचण्डता। निवारि = छोड़ दे। बारी = भोली बाला, माली। बारी = पारी प्रस्तुत अर्थ में नायक के आने की पारी, बगीचा। सुहृदयता-बारि = मैत्री पूर्ण कथन, उपयोगी जल।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे का प्रकरण अत्यन्त रूचिकर है। कार्यक्रम के अनुसार नायक को नायिका के पास जाना है, किन्तु परिस्थितिवश वह नियत समय नायिका के पास नहीं पहुँच पाता। परिणाम यह होता है कि नायिका निराश होकर वाटिका में चली जाती है। तभी नायक से अभी मिलकर आई नायिका की एक सखी वहीं वाटिका में पहुँच जाती है जहाँ कि नायिका अपने समवयस्क सखियों के साथ उपस्थित थी। ऐसी स्थिति में नायिका की सखी श्लेष के माध्यम से नायिका को सारी बात कह देती है। श्लेष में कहे हुए वचन नायिका को सहज ही समझ में आ जाते हैं। तथापि वहाँ उपस्थित उसकी अन्य सखियाँ यह समझती हैं कि नायिका की सखी ये सारे वचन वाटिका में माली को संबोधित करते हुए कह रही है।

व्याख्या

इस प्रकार इस दोहे के दो अर्थ हो सकते हैं जो कि निम्नानुसार हैं -

(क) नायिका के अर्थ में - नायक के नियत समय पर न पहुँच पाने के कारण रूष्ट हुई नायिका वाटिका में पहुँच जाती है। तभी नायक से मिलकर आयी हुई नायिका की सखी उसे कहती है कि "हे भोली नायिका जिस नायक के प्रति तेरा सुन्दर मन अनुरक्त है सो उसे वांछित फल की प्राप्ति होगी तू अपने नायक के प्रति रोष का भाव छोड़ दे और अपनी पारी को मैत्रीपूर्ण वचनों से सरस कर ले। अभिप्राय यह है कि नायक भी तेरे प्रति पूर्णतः आसक्त है अतः मान का त्याग करके, स्थिति का लाभ उठाकर प्रेम-रस का सुख-भोग।

(ख) माली के अर्थ में - नायिका के समीप अनेक समवयस्क सखियों को उपस्थित देखकर नायिका की सखी माली को संबोधित करते हुए कहती है कि 'हे माली, तेरी वाटिका में जो फूल लगा हुआ है इसमें फल अवश्य ही लगेंगे। तू अपनी वाटिका को सूर्य के ताप से बचा और उपयोगी जल से इसका सिंचन कर।"

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था में व्याप्त विलासमयता की झाँकी मिलती है। नायक का सम्बन्ध एकाधिक नायिकाओं से होता था।
2. नायिका की सखी की चतुराई देखते ही बनती है क्योंकि प्रत्यक्षतः माली को कहे हुए उसके वचन नायिका के लिए पहेली नहीं थे। इस प्रकार नायिका की सखी वाटिका में उपस्थित अनेक सखियों को धोखा देकर अपना प्रयोजन (नायिका को सन्देश देना) पूरा कर लेती है।
3. ब्रज भाषा का प्रयोग।
4. शृंगार रस का परिपाक।
5. दोहा छन्द-प्रयोग।
6. तद्भव शब्दों का प्रभावी प्रयोग।
7. अलंकार।
   (क) छेकानुप्रास - 'सांचि सुहृदता में।
   (ख) यमक - 'बारी-बारी' में।
   (ग) रूपक - 'आतप-रोसु' तथा 'सुहृदयता बारि' में।
   (घ) श्लेष - सम्पूर्ण दोहे में।

(11)

अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक-रंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु कैं संग।।

शब्दार्थ

अजौं = आज तक भी। तर्‌यौना = कानों में पहले जाने वाला एक आभूषण, जो तर न पाया हो अर्थात् जिसका उद्धार न हो सका हो। श्रुति = कान, वेद। इक रंग = एक ही विधि से। नाक = नासिका, स्वर्गलोक बेसरि = नाक में पहले जाने वाला एक आभूषण जिसे नथ भी कहते हैं, खच्चर (प्रस्तुत प्रसंग में इसका आशय लघुता से है अतः यहाँ बेसरि का अर्थ निकृष्ट व्यक्ति होगा)। लह्यौ = प्राप्त कर लिया। मुकुतनु = मोती, जीवन से मुक्त = व्यक्ति।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कविवर बिहारी लाल जी बेसरि नामक नाक के आभूषण की शोभा का वर्णन करते हैं और साथ ही श्लेष के सहारे सत्संग की महिमा का भी वर्णन करते हैं। इस प्रकार इस दोहे के दो अर्थ किए जा सकते हैं - एक तो बेसरि (नाक में पहने जाने वाला आभूषण के पक्ष में और दूसरा (सत्संग के पक्ष में)।

व्याख्या

प्रस्तुत दोहे के दोनों अर्थ इस प्रकार हैं -

(क) (बेसरि के अर्थों में) कवि कहता है कि नायिका ने अपने कान में जो आभूषण पहन रखा है वह आज तक भी कानों की सेवा करते रहने पर भी तर नहीं पाया आर्थात् उसने नायिका के कानों की अत्यधिक सेवा की फिर भी उसका उद्धार नहीं हो सका। इसके विपरीत नायिका

की नाक के बेसरि नामक अभूषण ने मोतियों के संग रहकर नायिका की नासिका का वास प्राप्त कर लिया अर्थात् यह नाक में धारण किया गया और इस प्रकार उच्च पद का अधिकारी बन गया। (नासिका का स्थान उच्च माना जाता है)।

(ख) (सत्संग के पक्ष में) कवि कहता है कि यद्यपि मनुष्य ने वेदों की बहुत सेवा की फिर भी वह अधम पापी के स्तर से ऊपर नहीं उठ सका। फिर महापापी बेसरि ने जीवन से मुक्त व्यक्तियों अर्थात् संतों के साथ रहकर स्वर्ण का निवास प्राप्त कर लिया अर्थात् गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। कवि के अनुसार बेदों से कहीं श्रेयस्कर सत्संगति होती है।

विशेष

1. मुक्तक रूप।
2. ब्रज भाषा का प्रयोग।
3. भावानुकूल भाषा।
4. दोहा छन्द प्रयोग।
5. अलंकार -
   (क) सभंग श्लेष-तर्यौना में।
   (ख) श्लेष- श्रुति, नाक, बेसरि तथा मुक्तनु में।
   (ग) मुद्रालंकार- सम्पूर्ण दोहे में।

(12)

जमकरि-मुँह-तरहरि परयौ, इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय-व षा परिहारि अजौ नरहरी के गुन गाउ।।

शब्दार्थ

जम = यम। करि = हाथी। तरहरि = नीचे। धरहरि = निश्चय। चितलाड = चित्त को लगा। विषय-व षा = विषय-वासनाओं की लालसा। परिहरि = त्याग दे। अजौं = अब तो। नरहरि = न सिंह = भगवान, गुरु नरहरि दास।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में म त्यु के निकट पहुँचने पर कवि भगवान में लीन हो जाने की प्रार्थना कर रहा है। एक अन्य अर्थ के अनुसार नरहरि का प्रयोग गुरू नरहरिदास के रूप में किया गया है। ऐसा मान लेने पर कहा जाएगा कि म त्यु के अत्यन्त निकट पहुँचने पर कवि गुरू नरहरि दास के चरणों में लीन हो जाना चाहता है।

व्याख्या

बिहारी अपने ही मन को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि 'हे मेरे मन, तू अब म तरूपी हाथी के नीचे आ चुका है अर्थात् अब तेरी म त्यु बहुत निकट है इस निश्चय की ओर प्रव त्त हो जा। हे मन, म त्यु के इतने निकट पहुँचने पर अब सभी सांसारिक विषय-वासनाओं का त्याग कर दें और भगवान का गुण गाना आरम्भ कर दें। यदि नरहरि का नाम भगवान न लगा कर गुरू नरहरि दास से लगाया जाए तो दोहे की दूसरी पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होता "हे मन, अब तू मत्युरूपी हाथी के नीचे

आ चुका है अर्थात् अब तेरी म त्यु में देरी नहीं है। अतः अपने इस अन्तकाल में तो सांसारिक विषय वासनाओं से विमुख होकर गुरू नरहरिदास में चित्त लगा।

विशेष

1. यह उपदेशात्मक दोहा है जिसमें विषय-वासनाओं को त्यागकर ईश्वर-भक्ति की ओर उन्मुख होने का उपदेश दिया गया है।
2. ब्रज-भाषा का प्रयोग।
3. दोहा, छन्द।
4. संबोधनात्मक शैली।
5. मुक्तक रूप।
6. भावानुकूल भाषा।

(13)

तो पर बारौं उरबसी, सुनि राधिका सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी, है उरबसी समान।।

शब्दार्थ

तो = तुम। बारौं = न्यौछार करना। उरबसी = राजा इन्द्र के दरबार की एक अप्सरा। सुनि = सुनों। सुजान = चतुर कैं = के। उर = ह्रदय। बसी = बसी हुई है। ह्वै = होकर। उरबसी = गले का एक ऐसा आभूषण जो ह्रदय पर पड़ा रहता है।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में नायिका की सखी उससे मान त्यागने का अनुरोध कर रही हैं नायिका किन्हीं कारणों से मान किए बैठी है, और अपने प्रियतम की उपेक्षा कर रही है। नायिका की सखी उसे सहज हो कर बात करने के लिए आग्रह कर रही है।

व्याख्या

बिहारी लिखते हैं कि मानवती नायिका की सखी उसे समझाती हुई कहती है कि, "हे चतुर राधिका, मेरी बात सुन तेरे अपूर्व सौन्दर्य के सामने राजा इन्द्र के पास दरबार की उर्वशी नामक अप्सरा न्यौछावर की जा सकती है अर्थात् इन्द्र की अप्सरा उर्वशी (जिसे सर्वाधिक सुन्दरी और लावण्यमयी माना जाता है) तेरे अनुपम सौन्दर्य के सामने कुछ भी नहीं है। हे राधिके, मेरी इस बात को ध्यानपूर्वक सुन ले कि मोहन के ह्रदय में तेरा वही स्थान है जो कि ह्रदय पर पड़े हुए आभूषण का होता है अर्थात् जिस प्रकार ह्रदय पर धारण किया जाने वाला आभूषण रात-दिन, सोते-जागते, उठते-बैठते ह्रदय पर पड़ा रहता है, ठीक उसी प्रकार तेरे प्रियतम मोहन को हर घड़ी तेरा ध्यान रहता है। ऐसी स्थिति में तुझे मान छोड़ देना चाहिए।

विशेष

1. भावसाम्य 'विक्रम सतसई' कवि ने स्वर्ग की अप्सरा मेनका, उर्वशी तथा कामदेव की पत्नी रति के सौदर्य को राधा के अपूर्व सौन्दर्य की तुलना में हेय सिद्ध किया है -

कहा मैनका उरबसी, कहा काम की बाम।
रहे चित्र कैसे लिखे, लखि राधे घनस्याम।।

2. अनुपम सौन्दर्य चित्रण।
3. शृंगार रस का परिपाक।
4. ब्रज भाषा का प्रयोग।
5. सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति।
6. बोधगाम्य शब्दावली।
7. सुन्दर लयात्मकता
8. प्रसाद-माधुर्य गुण शैली।
9. अलंकार-'उरबसी-समान' में उपमा अलंकार।
   'उरबसी' में यमक अलंकार।
   'तो पर बारौं उरबसी' में प्रतीप अलंकार।

(14)

कौन भाँति हैं बिरदु अब देखिवी, मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि।।

शब्दार्थ

कौन भाँति = किसी तरह। रहिहैं = रह पाएगा। बिरदु = यश। देखिवी = देखा जाना है। मुरारि = श्री कृष्ण। बीधे = बिधे हुए अर्थात् भटके हुए। मोसौं = मुझसे। आइके = आकर गीधे = गए अर्थात् आदत बन गई। गीधहि = गिद्ध। यहाँ इसका आशय जटायु से है। जिसका उद्धार श्री राम चन्द्र जी के हाथों हुआ था। तारि = उद्धार।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कविवर बिहारी का भक्त-रूप मुखरित हुआ है। इस विनयपरक दोहे में कवि अपने आपको अधम पापी के रूप में बताता है और पापियों का उद्धार करने वाले भगवान से अपने उद्धार की प्रार्थना करता है। उसकी यह प्रार्थना भगवान के लिए एक चुनौती से कम नहीं दीखती क्योंकि भगवान ने तो पापियों के उद्धार करने की प्रतिज्ञा ले रखी है और कवि रूप में यह पापी भी अधम कोटि का पापी है।

व्याख्या

भगवान श्री कृष्ण को चुनौती देते हुए भक्त कवि के रूप में कवि बिहारी कहते हैं कि "हे भगवान् श्री कृष्ण अब मुझे यहीं देखना है कि आप अपने यश को किस प्रकार सुरक्षित रख सकेगें। आप को यह यश प्राप्त है कि आप जटायु जैसे अनेक पापियों का उद्धार करते रहे हैं किन्तु अबकी बार आप का वास्ता मुझ जैसे घोर पापी से पड़ा है। अर्थात् अबकी बार मुझसे अटके हो। अतः यह देखा जाना है कि पापियों का उद्धार करने की आपकी कीर्ति अब भी बनी रह सकेगी अथवा नहीं। जटायु तो एक साधारण पापी था। अतः उसका उद्धार करने में आप को विशेष कठिनाई नहीं हुई होगी किन्तु मैं तो अधम पापी हूँ, मेरा उद्धार करना कोई साधारण बात नहीं है।"

विशेष

1. कवि बिहारी ने प्रस्तुत दोहे में भगवान् को चुनौती देकर अपने अनुकूल बनाने का प्रयास किया है। भगवान की पतितपावनी शक्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार की चुनौती कवि के वाग्वैदग्ध्य की प्रतीक है।
2. भावसाम्य - सूरसागर की निम्न पंक्तियाँ

   अब हौं उधरि नच्यौ चाहत
   हौं तुम्हें बिरदबिन करिहौं।

   × × ×

   आज हौं एक एक करि टरिहौं।
   तथा और पतित सब दिवस चारि कै,
   हौं तो जनमत ही कौ।

   × × ×

   प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ।
3. प्रस्तुत दोहे में कवि बिहारी ने यह सिद्ध किया है कि वे केवल शृंगार के ही कवि नहीं हैं अपितु उनके मन में भक्त की विह्वलता भी है।
4. यद्यपि जटायु का उद्धार श्री कृष्ण ने नहीं बल्कि त्रेतायुग में श्री राम चन्द्र जी ने किया था। तथापि कवि बिहारी ईश्वर के विभिन्न अवतारों का कोई आधारभूत अन्तर नहीं मानते। कदाचित् इसी कारण प्रस्तुत दोहे उन्होंने श्री रामचद्र जी के स्थान पर श्री कृष्ण का नाम लिया है।
5. प्रस्तुत दोहे में शान्त रस की सार्थक अभिव्यक्ति हुई है।
6. आकर्षक लयात्मकता-गेयता।
7. ब्रजभाषा का प्रयोग
8. प्रबल वाक्पटुता।
9. अलंकार-'गीधे गीधहिं' में यमक अलंकार।

   वक्रोक्ति- सम्पूर्ण दोहे में।
   अनुप्रास- सम्पूर्ण दोहे में।

(15)

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैननु ही सब बात।।

शब्दार्थ

नटत = न करना। रीझत = खुश होता है। खिझत = नाराज होती है। मिलत = मेल कर लेते हैं। खिलत = खिल उठते हैं। लजियात = लज्जा आती है। भौन = मकान। नैननु = आँखों

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने ऐसे नायक-नायिका का वर्णन किया है जो कि अनेक लोगों की उपस्थिति

में आँखों ही आँखों में सारी बात कर लेते हैं और उनकी यह बात किसी को भी पता नहीं लग पाती। नायक-नायिका की इस चतुराई का वर्णन एक सखी दूसरी सखी से कर रही है।

व्याख्या

घर में लोगों की भीड़ है फिर भी नायक-नायिका द्वारा चुपचाप आपस में बात कर लेने की चतुराई का वर्णन करते हुए एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि "हे सखी, नायक और नायिका लोगों से भरे हुए भवन में आँखों की आँखों में सारी बातें कर लेते हैं।" नायक और नायिका के मध्य संकेतात्मक शैली में हुई बातचीत को स्पष्ट करते हुए सखी कहती है कि "जब नायक ने अभिसार के लिए प्रार्थना की (कहत) तो नायिका ने सहज की उस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया (नटत) नायक-नायिका की अस्वीकृति को स्वीकृति मानकर मुग्ध हो जाता है (रीझत) और नायिका जब यह देखती है कि नायक ने उसकी 'ना' का अर्थ हाँ लगाया, तो वह खीझ उठती है। नायिका की यह खीझ किंचित बनावटी है क्यों कि उसका मूल उद्देश नायक को केवल खिझाना है, नाराज करना नहीं हैं तद्नन्तर दोनों की द ष्टि मिल जाती है (मिलत) और फिर दोनों ही प्रेम के रंग में डूबकर प्रफुल्लित हो जाते हैं (खिलत)। तथापि दोनों को यह भी आशंका है कि कहीं उनके इस प्रणय-व्यापार पर, वहाँ उपस्थित किसी व्यक्ति की द ष्टि न पड़ गई हो अतः स्वभावतः दोनों को लज्जा का भी अनुभव होता है (लजियात)।" इस प्रकार प्रेम की पूरी अभिव्यक्ति हुई है।

विशेष

1. बिहारी का यह दोहा अपने आप में इस बात का प्रमाण है कि वे दो पंक्तियों के दोहे में कितने सारे भावों को व्यक्त करने में सक्षम हैं। कवि ने इस दोहे में नायक और नायिका के पूरे प्रणय- व्यापार को सफलतापूर्वक बाँध दिया है। कदाचित उनके दोहों की इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुए कहा गया है-

   सतसइया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
   देखन मैं छोटन लगैं, घाव करैं गम्भीर।।

2. कवि ने नेत्रों की प्रणय-चेष्टाओं का अत्यन्त संजीव वर्णन किया है।
3. ब्रज भाषा का प्रयोग।
4. आकर्षक अभिव्यक्ति।
5. चमत्कारिक रूप।
6. श्रं गार-रस परिपाक।
7. नूतन शैली प्रयोग
8. दोहा छन्द प्रयोग।
9. अलंकार
   (क) 'भरे भौन' में छेकानुप्रास अलंकार।
   (ख) दूसरे चरण में विभावना अलंकार।
   (ग) सम्पूर्ण दोहे में अनुप्रास की छटा।

(16)

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहि काल।
अली कली ही सो बंध्यौ, आगे कौन हवाल।।

शब्दार्थ

पराग = पुष्प की रज। मधु = मकरन्द। बिकासु = प्रफुल्लता। इहिं काल = इस समय। अली = भ्रमर। सों = से। बंध्यो = बंधा हुआ। हवाल = दशा, स्थिति।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने किसी अल्पायु नायिका के प्रति आसक्त नायक को भ्रमर के ब्याज से महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी है। अन्योक्ति से इस दोहे के दो अर्थ हो सकते हैं। इसमें सुन्दर उद्‌बोधन है।

व्याख्या

दो अर्थ इस प्रकार सामने आते हैं –

(क) अविकसित कली के मोहपाश में जकड़े हुए भ्रमर को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है कि 'हे भ्रमर, जिस कली के प्रेमपाश में जकड़ा हुआ है उसमें अभी न तो पुष्परज है, न मधुर मकरन्द है और न अभी इसका विकास ही हो पाया है। जब तू अभी से इस अविकसित कली से बँध गया है तो उस समय तेरी क्या दशा होगी जब यह कली विकसित होकर एक सुन्दर पुष्प का रूप धारण कर लेगी।

(ख) अन्योक्ति से इस दोहे का अन्य अर्थ ऐसे नायक को लेकर किया जा सकता है जो कि किसी अल्पवयस्का नायिका के प्रति आसक्त है। ऐसी अल्प वयस्का नायिका के प्रति नायक की आसक्ति को देखकर कवि कहता है कि "हे नायक तू ऐसी अल्प वयस्का नायिका के प्रति आसक्त है जो कि अभी अविकसित कली की तरह है। इस नायिका में न तो नवयौवना का सौन्दर्य प्रस्फुटित हुआ है, न इसमें अभी प्रेम रस का संचार ही हो पाया है और न इसके अंगों- प्रत्यगों का विकास हुआ है। जब तू अभी से इसके प्रति आसक्त है तो उस समय तेरी क्या दशा होगी जब यह अल्प वयस्का यौवन के पूरे सौन्दर्य और आकर्षण से युक्त हो जाएगी अर्थात् वस्तुतः नवयौवना बन जाएगी।"

विशेष

1. प्रस्तुत दोहा बिहारी सतसई का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दोहा है और कतिपय आलोचकों के मत से तो बिहारी की इस सतसई की रचना की मूल प्रेरणा इसी दोहे में निहित है। कहते हैं कि जयपुर के राजा जयसिंह नवौढ़ा रानी के प्रेमपाश में जकड़े हुए थे और वे राजकाज की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते थे। राज्य पर संकट की घड़ी आई हुई थी किन्तु राजा जयसिंह को अपने रनिवासों से ही अवकाश नहीं मिलता था। जब कविवर बिहारी को राजा जयसिंह की इस स्थिति का ज्ञान हुआ तो उन्हें उपदेश देने की द ष्टि से उन्होंने यह दोहा लिखकर राजा जयसिंह तक पहुँचाया। कहते हैं कि इस दोहे का आशातीत प्रभाव हुआ और नवौढ़ा रानी के प्रेम-पाश में जकड़ा हुआ राजा जयसिंह पुनः राजकाज की ओर ध्यान देने लगा। बिहारी के इस दोहे को पढ़कर राजा जयसिंह इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बिहारी को अनेक स्वर्ण मुद्राएं प्रदान कीं।
2. सुन्दर लयात्मकता।
3. आकर्षक ब्रज भाषा रूप
4. प्रसाद- माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।

5. सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति।
6. दोहा, छन्द प्रयोग।
7. अलंकार- 'मधुर- मधु' में छेकानुप्रास अलंकार।
   सम्पूर्ण दोहे में अन्योक्ति अलंकार।

(17)

मंगलु बिन्दु सुंरगु, मुख, ससि, केसरि आड़ गुरू।
इक नारी लहि संगु, रसमय किए लोचन जगत।।

शब्दार्थ

मंगल बिन्दु = रोली की मंगलकारी बिन्दी। सुरंगु = सुन्दर रंग वाला। यहाँ इसका आशय लाल रंग से है। मुख ससि = मुख चन्द्रमा की तरह है। केसरि- आड़-गुरू = केसर का तिरछा लगा हुआ तिलक ब हस्पति है। नारी = स्त्री, बारह राशियों में से एक राशि। लहि = लेकर। रसमय = अनुरागपूर्ण, जल से परिपूर्ण। लोचन जगत = नेत्रों रूपी संसार।

प्रसंग

प्रस्तुत पंक्तियों में नायिका ने माथे पर मंगलकारी बिन्दी और केसर का आड़ा तिलक लगा रखा है। नायिका की इस सौन्दर्य- सज्जा को देखकर नायक उस पर अत्यधिक रीझ गया है। प्रस्तुत सोरठे में वह अपनी इस भावना को नायिका की एक सखी को व्यक्त करता है। प्रस्तुत सोरठे में नारी, रस आदि का श्लिष्ट प्रयोग किया गया है। इस प्रकार इसके दो अर्थ हो सकते हैं। यह बिहारी की अपनी काव्य कला है।

व्याख्या

(क) नायिका के माथे पर लगी हुई मंगलकारी बिन्दी और केसर के तिलक की शोभा का वर्णन करते हुए नायक नायिका की सखी से कहता है कि "सुन्दर लाल रंग से युक्त बिन्दी रूपी मंगल, मुखरूपी चन्द्रमा तथा केसर के आड़े लगे हुए तिलक रूपी ब हस्पति को एक ही नारी में उपस्थित देखकर नेत्रों रूपी संसार को अनुरागमय बना दिया है। ज्योतिष के अनुसार ऐसा माना जाता है कि जब मंगल चन्द्रमा और ब हस्पति ये तीनों ग्रह एक साथ मिल जाते हैं तो व ष्टि होती है। इसी प्रकार नायिका में ये तीनों ग्रह एक साथ उपस्थित हो गए हैं, अतः लोचन रूपी संसार का प्रेममय हो जाना स्वाभाविक है।"

(ख) प्रस्तुत सारठे का एक अर्थ ज्योतिष-विज्ञान के संदर्भ में भी हो सकता हैं प्रस्तुत नायिका में मंगल (बिंदी) चन्द्रमा (मुख) तथा ब हस्पति (केसर का तिलक) ये तीनों ग्रह एक साथ मिल गए हैं। ज्योतिष के एक सिद्धान्त के अनुसार जब मंगल, चन्द्रमा और ब हस्पति तीनों ग्रह एक ही राशि में स्थित होते हैं तो अत्यधिक व ष्टि का योग होता है।

नायक कहता है कि "इस नायिका रूपी राशि में मंगल, चन्द्रमा और ब हस्पति तीनों ग्रह एक साथ उपस्थित हो गए हैं अतः लोचन रूपी समग्र संसार जलमय हो गया है।"

विशेष

1. कवि के ज्योतिष संबंधी गहन ज्ञान का परिचय मिलता है।

2. ज्योतिष के अनुसार मंगल का रंग लाल, चन्द्रमा का श्वेत और ब हस्पति का पीला माना जाता है। प्रस्तुत सोरठे में कवि ने इस रंग योजना का सफल निर्वाह किया है। मंगलकारी बिन्दी का रंग लाल है, नायिका के मुख रूप चन्द्रमा का रंग सफेद है और केसर के तिलक का रंग पीला है।
3. ब्रज भाषा का प्रयोग।
4. गम्भीर भावाभिव्यक्ति।
5. आकर्षक बिम्ब विधान।
6. शं गार रस परिपाक।
7. अलंकार- 'नारी' तथा 'रसमय' में श्लेष अलंकार।
   सम्पूर्ण सोरठे में सांग रूपक।

(18)

खेलन सिखये अलि भलैं चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-म ग नागर नरनु सिकार।।

शब्दार्थ

खेलन सिखए = खेलना सिखा दिया है। अलि = सखी। भलैं = अच्छी प्रकार से। अहेरी = शिकारी। मार = कामदेव। काननचारी = कानों तक दीर्घ (नेत्र), बन में विचरण करने वाले। नैन-म ग = नेत्र रूपी म ग। नागर = नगर के। नरनु = पुरूषों का। सिकार = शिकार।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका के सुदीर्घ नेत्रों की शोभा का वर्णन किया है। नायिका के कानों तक सुदीर्घ नेत्र उसके प्रेमियों को एक शिकारी की तरह आहत कर देते हैं। प्रस्तुत दोहे में नायिका की एक सखी नायिका के नेत्रों की इस विशेष क्षमता का वर्णन कर रही है।

व्याख्या

बिहारी लिखते हैं कि नायिका के प्रति आसक्त होने वाले लोगों को नायिका की आँखें आहत कर देती हैं। नायिका के नेत्रों की इस क्षमता का वर्णन करते हुए नायिका की एक सखी कहती है कि "हे, सखी कामदेव रूपी चतुर शिकारी ने तेरे कानों तक फैले हुए नेत्रों रूपी म गों को शिकार करने के के पूरा प्रशिक्षण दे दिया है और इस प्रकार तेरे ये नेत्र नगर निवासियों को बुरी तरह आहत कर देते हैं"ञ्कहने का आशय यह है कि वह नायिका अपने सुन्दर और सुदीर्घ नेत्रों से जिस व्यक्ति की ओर देख लेती है, वहीं आहत हो जाता है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका के नेत्रों की शोभा का अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। व्यवहार में नगरवासी ही आखेट करते हैं। किन्तु प्रस्तुत दोहे में नगरवासी नायिका के नेत्रों रूपी अहेरी के लक्ष्य बन गए हैं। बिहारी का यही वाग्वैदग्ध्य उन्हें अन्य रीतिकालीन कवियों से अलग करता है।
2. शं गार रस का प्रभावी परिपाक।

3. ब्रज भाषा का प्रयोग।
4. सुन्दर भाव-अभिव्यंजना।
5. संवादात्मक शैली का प्रयोग।
6. भावसाम्य देखिए

   प्रेम अहेरी की अरे, यह अद्‌भुत गति हेर।
   कीने द ग-म ग पीत के, मन चीते पर सेर।। (रतनहजारा)

7. अलंकार- 'नैन म ग' तथा 'चतुर अहेरी मार' में रूपक अलंकार।

   'नागर नरनु' में छेकानुप्रास।
   'कानन चारी' में श्लेष अलंकार।
   सम्पूर्ण दोहे में सांग रूपक अलंकार।

(19)

रससिंगार मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन।।

शब्दार्थ

रस सिंगार-मंजनु किए प्रेम रस में निमाज्जित होकर अथवा श्रं गार रस के अनुरूप हावभाव में प्रवीण। कंजनु = कमलों को। भंजनु दैन = भंग करने वाले, भजन करने वाले। यहाँ इसका अर्थ मान भंग करने वाले हैं। अंजनु = काजल रंजनु बिना = बिना लगाए (काजल) हुए। खंजनु = खजन नाम पक्षियों को। गंजनु = उपेक्षा, तिरस्कार करने वाले।

प्रसंग

सुन्दरता की ओर सभी आकर्षित होते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं। प्रस्तुत दोहे में कवि नायिका के नेत्रों के सौन्दर्य का वर्णन कर रहा है। यह वर्णन नायक अथवा नायिका की सखी द्वारा किया जा रहा है।

व्याख्या

बिहारी ने लिखा है कि नायिका के नेत्रों की शोभा का वर्णन करते हुए नायक अथवा नायिका की सखी कहती है कि "हे नायिका, तेरे ये नेत्र श्रं गार रस के अनुरूप हावभाव में अत्यधिक दक्ष है और इस कारण अपनी स्निगधता के कारण कमल का मान भी भंग करने वाले सिद्ध हुए हैं अर्थात् तेरे ये नेत्र इतने अधिक स्नेहपूर्ण स्निग्ध और आकर्षक हैं कि इनके समक्ष कमल भी अपने आप को लज्जित पाता है। तेरे ये नेत्र नैसर्गिक एवं स्वाभाविक श्यामलता से परिणूर्ण हैं। और इस कारण बिना काजल लगाए ही खंजन पक्षी का तिरस्कार कर रहे हैं अर्थात् तेरे इन नेत्रों की स्वाभाविक श्यामलता के समक्ष काजल के बिना भी तेरे ये नेत्र खंजन पक्षी को लज्जित कर रहे हैं"

विशेष

1. कवि ने नायिका के नेत्रों की उपमा खंजन पक्षी से की है। खंजन पक्षी का रंग काला और सफेद होता है और वह नायिका के नेत्रों की तरह ही चंचल-चपल होता है।
2. ब्रज भाषा का प्रयोग।

3. दोहा छंद का प्रयोग।
4. शं गार रस परिपाक।
5. आकर्षक सौन्दर्य चित्रण।
6. सुन्दर अभिव्यक्ति
7. अलंकार-

   सम्पूर्ण दोहे में प्रतीप अलंकार।
   सम्पूर्ण दोहे में व त्यानुप्रास अलंकार।

(20)

दीरय साँस न लेहि सुख, सुख साईहिं न भूलि।
दई दई क्यौं करतु है, दई दई सु कबूलि।।

शब्दार्थ

दीरघ = लम्बे। सुख साईहिं = सुख दाता, स्वामी। दई-दई = हा देव, हा देव। दई दर्द = जो ईश्वर ने दे रखा है। सु = उसे। कबूलि = स्वीकार करो।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में भक्ति का आकर्षक भाव व्यक्त किया गया है। विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति को उसका गुरू अथवा हितैषी मित्र सांत्वना दे रहा है। साहस से चलने की प्रेरणा है।

व्याख्या

बिहारी का कथन है कि घोर विपत्तियों में पड़े हुए किसी भक्त अथवा व्यक्ति को सांत्वना देता हुआ उसका गुरू कहता है कि "हे भक्त, दुःख विपत्ति से घिर जाने पर इतने लम्बे-लम्बे साँस मत ले अर्थात् दुःख की घड़ी में इतना व्याकुल मत हो और सुख में उस स्वामी को (अर्थात् ईश्वर को) विस्म त मत कर। विपत्तियों से घिर जाने पर हाय दैव, हाय दैव क्यों कर रहा है? यदि तू सच्चा सुख चाहता है तो जो कुछ ईश्वर ने तुझे दिया है उसे सहर्ष स्वीकार कर और ईश्वर को धन्यवाद दे।"

विशेष

1. कुछ टीकाकारों ने 'सुख साईहि न भूल' का अर्थ यह भी किया है कि "विपत्तियों से घिर जाने पर न तो तुझे इतने लम्बे साँस लेने चाहिए और न सुखदाता परमेश्वर को ही भूलना चाहिए। हा दैव, हा दैव करने के स्थान पर ईश्वर ने जो कुछ दिया है उसे धन्यवाद सहित स्वीकार करना चाहिए।"
2. गतिशील रहने की प्रेरणा।
3. भावसाम्य की द ष्टि से कबीर का दोहा द्रष्टव्य है-

   'दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।
   जो सुख में सुमिरन करै, दुख काहै को होय।।

4. ब्रज भाषा का प्रयोग।

5. दोहा छंद का प्रयोग।
6. प्रेरक उद्‌बोधन।
7. सुन्दर भावाभिव्यक्ति
8. सहानुभूति का भाव
9. अलंकार
   (क) 'दई दई' में पुनरूक्ति प्रकाश।
   (ख) दूसरे चरण के उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त 'दई दई' में यमक अलंकार।

(21)

बैठि रहि अति सघन बन, पैठि सदन-तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह।।

शब्दार्थ

पैठि = घुस कर। सदन-तन = घर रूपी शरीर। माँह = में। देखि = देखकर। छाँही = छाया। छाँह = आच्छादन।

प्रसंग

कविवर बिहारी ने प्रस्तुत दोहे में जेठ मास की दुपहरी की प्रचण्डता का प्रभावपूर्ण वर्णन किया है।

व्याख्या

जेठ की दुपहरी की प्रचण्डता का वर्णन करते हुए कवि कहता है। "इस जेठ की दुपहरी के प्रचण्ड ताप को देखकर व क्षों आदि की छाया भी छाया चाहती है अर्थात् व क्षों आदि की छाया भी दिखाई नहीं देती। मानो वह भी सूर्य की प्रचण्डता से बचने के लिए किसी आच्छादन के नीचे जा छिपी हो। यह छाया इस समय अत्यन्त घने जंगल में अथवा घर के शरीर अर्थात् घर के भीतर ही छिपी हुई है। कहने का तात्पर्य यह है कि जेठ मास की ठीक दुपहरी के समय व क्षों, घरों आदि की छाया अलग दिखाई नहीं देती।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने प्रकृति के सक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। मध्याह्न के समय व क्षों, भवनों आदि की छाया उनसे अलग नहीं दीखती। कदाचित इसी कारण कवि ने कहा है कि जेठ की दुपहरी की प्रचण्डता से बचने के लिए व क्षों, भवनों की छाया भी छाया की टोह में रहती है।
2. सुन्दर चित्रण शैली।
3. ब्रज भाषा का प्रयोग।
4. प्रसाद- माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
5. सूक्ष्म भावभिव्यक्ति
6. दोहा छंद का प्रयोग।
7. अलंकार-
   (क) स्वाभाविक- सम्पूर्ण दोहे में।

(ख) 'छाँहौं चाहति छाँह' में अत्युक्ति अलंकार।

(ग) 'देखि दुपहरि' में छेकानुप्रास अलंकार।

(घ) 'सदन-तन' में रूपक अलंकार।

(22)

हा हा ! बदनु उघारि, द ग सफल करैं सबु कोई।
रोज सरोजनु कैं परैं, हँसी ससी की होइ।।

शब्दार्थ

हा हा = ब्रजभाषा में प्रयोग किया जाने वाला एक विनय युक्त सम्बोधन। बदन = मुख। उघारि = उघाड़ दे। रोज = रोना-पीटना। सरोजनु = कमलों को। ससी = चन्द्रमा।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में किसी मानवती नायिका की दूती उससे अपना चन्द्रमुख दिखलाने का आग्रह कर रही है। वस्तुतः खण्डिता नायिका ने नायक से रूष्ट होकर घूँघट कर लिया है। उसकी सखी वाक्चातुर्य का परिचय देते हुए उससे घूँघट खोलने का आग्रह कर रही है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नायिका की सखी एक ओर तो नायिका के नेत्रों की शोभा का वर्णन कर रही है और दूसरी ओर नायक की सपत्नी के चन्द्रमुख का उपहास भी कर रही है।

व्याख्या

नायक से रूष्ट होने के कारण नायिका मुख पर घूँघट डाले हुए है। ऐसी नायिका से उसकी सखी कहती है कि "हे नायिका, मैं तेरी हा हा, करती हूँ कि तू अपना घूँघट उठा दे जिससे कि यहाँ उपस्थित हम सभी सखियों के नेत्र तेरे रूप- सौन्दर्य को देखकर सफल हो जाएँ क्यों कि इस प्रकार दो प्रयोजनों की एक साथ सिद्धी हो जाएगी। तेरे मुखचन्द्र को देखकर नायक के नेत्र रूपी कमल विपत्ति में पड़ जाएँगें और जब वह तेरे चन्द्रमा जैसे मुख को देखेगा तो उसे तेरी सपत्नी का चन्द्रमा उपहास का विषय बन जाएगा। इस प्रकार तेरे चन्द्रमा जैसे मुख को देखकर नायक तो तेरे प्रति समर्पित ही हो जाएगा तेरी सपत्नियों का भी खूब उपहास होगा।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने ऐसी खंडिता नायिका का वर्णन किया है जो कि अनुपम सुन्दरी है।
2. कवि ने अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिए मुहावरों का सार्थक प्रयोग भी किया है। 'रोजे पड़ना' फारसी का मुहावरा है जिसका अर्थ विपत्ति में पड़ना होता है।
3. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. सुन्दर अभिव्यंजना।
5. आकर्षक गेयता
6. इस दोहे में लक्षणा शब्द शक्ति का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
7. सरल भाषा का प्रयोग
8. अलंकार 'हा हा' में वीप्सा अलंकार।
   सम्पूर्ण दोहे में प्रतीप अलंकार।

(23)

होमति सुखु, करि कामना, तुमहिं मिलन की, लाल।
ज्वालमुखी-सी जरति लखि, लगनि-अगनि की ज्वाल।।

शब्दार्थ

होमति = आहुति देती है। सुखु = सुखों की। करि = करके। कामना = इच्छा। मिलन = मिलने की। लाल = नायक। ज्वालमुखी = ज्वालामुखी। जरति = जलता हुआ। लखि = देखकर। लगनि-अगनि = लगन अर्थात् अनुराग की अग्नि। ज्वाल = लपट।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में विरहणी नायिका की वेदना का वर्णन किया गया है। विरहणी नायिका की सखी उसके प्रियतम से उसकी विरह-व्यथा का वर्णन कर रही है।

व्याख्या

विरहिणी नायिका की सखी उसके प्रियतम (नायक) को सम्बोधित करते हुए कह रही है कि "हे लाल, निरन्तर, तुमसे मिलन की कामना करके वह (नायिका) अपने समस्त सुखों की आहुति देती रहती है। हे लाल, उसे तो केवल तुम्हारी कामना है और तुम्हारे समक्ष वह किसी भी प्रकार के सुख का बलिदान कर सकती है। नायिका प्रेम रूपी अग्नि की ज्वाला की निरन्तरता को देखकर स्वयं ज्वालामुखी की तरह जलती रहती है।'

विशेष

1. भारतीय धार्मिक व्यवस्था में यज्ञ-हवन आदि की सुदीर्घ परम्परा रही है। यज्ञादि में आहुतियों के लिए भक्तजन श्रेष्ठ वस्तुओं (सामग्री) का प्रयोग करते हैं। प्रस्तुत दोहे में कवि ने इसी भाव का प्रतिपादन किया है।
2. प्रस्तुत दोहे में पूर्वानुरागिनी विरहिणी नायिका का वर्णन किया गया है।
3. प्रस्तुत दोहे में कवि ने वियोग श्रं गार के अन्तर्गत वर्णित दस दशाओं में से अभिलाषा नामक प्रथम दशा का वर्णन किया है।
4. सरल भाषा का आकर्षक रूप।
5. मुक्तक शैली
6. दोहा छन्द प्रयोग
7. ब्रज भाषा का प्रयोग।
8. सुन्दर गेयता
9. (क) 'ज्वाला मुखी सी' में उपमा अलंकार।
   (ख) 'ज्वाला मुखी' तथा 'ज्वाल' में सभंग अलंकार।
   (ग) 'लगनि-अगनि' में रूपक अलंकार।
   (घ) सम्पूर्ण दोहे में सम अलंकार।

(24)

सायक-सम मायक नयन रँगे त्रिविध रँग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात।।

शब्दार्थ

सायक = सायंकाल। मायक = मायापूर्ण। त्रिबिध = रंग = तीन प्रकार के रंग अर्थात् सफेद, काला और लाल। झखी = इष अर्थात् मछली भी। दुरिजात = छिप जाती है। लखि = देखकर। जलजात = कमल। लजात = लज्जित होते हैं अर्थात् संकुचित होते हैं।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका के नेत्रों की शोभा का वर्णन किया है। नायिका की दूती ने उसे किसी जलाशय के निकट बिठा दिया है। क्योंकि नायक से मिलन के लिये यही स्थान नियत था। तदनन्तर नायिका की दूती नायक के पास जाकर नायिका के नेत्रों की शोभा का वर्णन कर रही है। इसके अतिरिक्त नायिका की दूती परोक्षतः नायक को यह भी सूचित कर रही है कि नायिका जलाशय के तट पर बैठी है और उसे नायिका से मिलन के लिए वहीं जाना चाहिए।

व्याख्या

जलाशय अर्थात् मिलन-स्थल पर बैठी हुई नायिका के नेत्रों की शोभा का वर्णन करते हुए नायिका की दूती नायक से कह रही है कि "हे नायक, उस नायिका के नेत्र सायंकाल की तरह मायापूर्ण है और वे त्रिविध रंगों अर्थात् काला, सफेद और लाल रंगों में रंगे हुए हैं। इन नेत्रों को देखकर जलाशय में खिले हुए कमल लज्जित तथा संकुचित हो जाते हैं और मछलियाँ भी दुःखी होकर जल के भीतर छिप जाती हैं।" इस दोहे से यह स्पष्ट हो जाता है कि नायिका जलाशय के तट पर बैठी हुई है अतः परोक्षतः नायक को मिलन-स्थल का ज्ञान हो जाता है।

विशेष

1. इस दोहे में दूती द्वारा यह संकेत किया गया है कि साँय बेला में नायिका सरोवर के तट पर उपस्थित है। यह अर्थ व्यंजित है।
2. नायिका के नेत्रों की सुन्दरता का वर्णन कमलों से किया गया है। लेकिन नायिका के नेत्र इतने सुन्दर है कि कमल भी लज्जित हो जाते हैं।
3. नायिका की दूती नायक से कहती है कि "हे नायक नायिका के सुन्दर नेत्र संध्याकाल की तरह मायापूर्ण है। जिस प्रकार संध्या-समय आकाश में सफेद, काला और लाल ये तीनों रंग दीखते हैं, उसी प्रकार नायिका के नत्रों में भी ये तीनों रंग देखे जा सकते हैं भावसाम्य की द ष्टि से निम्न दोहा देखिए –

   अभिय, हलाहल, मदभरे, श्वेत, श्याम, रतनार।
   जियत, मरत झुकि-झुकि परतु जेहिं चितवति इक बार।।
4. नेत्रों की सुन्दरता का सुन्दर वर्णन।
5. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
6. दोहा अलंकारों का प्रयोग।

7. सुन्दर गेयता।
8. अलंकार- 'सायक सम मायक नयन' में उपमा अलंकार 'जलजात लजात' में सभगंपद यमक अलंकार। सम्पूर्ण दोहे में व्यतिरेक अलंकार।

(25)

कागद पर लिखत न बनत, कहत संदेसु लजात।
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात।।

शब्दार्थ

कागद = कागज। बनत = बनना। संदेसु = संदेश। कहिहैं = कह देगा। लजात = लज्जित होना। सबु = सब। हियौ = हृदय। हिय = हृदय।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में नायिका पर देश में बैठे हुए प्रियतम को अपनी विरह दशा से अवगत कर रही है। इस प्रयोजन के लिए वह अपने प्रियतम को प्रेम-पत्र लिखती है और उसमें सारी बिरह-व्यथा का वर्णन कर देती है। फिर भी जब उसे संतोष नहीं होता तो वह पत्र के अन्त में उक्त दोहा लिख देती है।

व्याख्या

विरहिणी नायिका अपने प्रियतम को सम्बोधित करते हुए कहती है कि "हे, प्रियतम, मेरे लिए कागज पर अपनी विरह व्यथा लिखकर भेजना कठिन है। क्यों कि मेरी विरह अग्नि की प्रचण्डता ने मुझे पत्र लिखने योग्य नहीं छोड़ा है। विरहजन्य स्वेद, कंप और अश्रु आदि के कारण मैं पत्र लिखने में असमर्थ हूँ। यदि मैं किसी सखी अथवा दूती के माध्यम से अपनी विरह-व्यथा का सन्देश तुम्हारे पास भिजवाती हूँ तो मुझे लज्जा आती है क्योंकि प्रेम का प्रदर्शन उपहास का कारण होता है। मैं यह नहीं चाहती कि मेरी सखी या दूती मेरे प्रेम सम्बन्ध को जान जाए मैं तो अन्ततः यही लिख सकती हूँ कि यदि तू सच्चे मन से सोचेगा तो तेरा हृदय स्वयं मेरे हृदय की सारी बात कह देगा अर्थात् यदि तेरे हृदय में मेरे प्रति प्रेम की वही तीव्रता होगी जो कि मेरे हृदय में तेरे प्रति है तो तुझे मेरी विरह-व्यथा को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी।"

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में प्रेषितपतिका नायिका की विरह व्यथा का वर्णन किया गया है।
2. नायक और नायिका के मध्य तुल्यानुराग का सार्थक निर्वाह हुआ है।
3. बिरह का सुन्दर चित्रण
4. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
5. दोहा छन्द का अनुप्रयोग
6. सूक्ष्म भावों का सुन्दर चित्रण।
7. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. सुन्दर बिम्ब-विधान
9. सम्पूर्ण पद में विरोधाभास अलंकार।

(26)

बंधु भए का दीन के, को तार्‌यौ, रघुराई।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ।।

शब्दार्थ

बंधु = मित्र। का = किस। को = किसे। तार्‌यौ = उद्धार करना। रधुराई = श्री राम चन्द्र जी। तूठे-तूठे = प्रसन्न होकर। फिरत = घूमता। बिरद = यश। कहाइ = कहलाकर।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में एक भक्त अपने भगवान् के प्रति उपालम्म दे रहा है कि उन्होंने उसका उद्धार तो किया नहीं अतः उसका यह कहना निराधार है कि वे दीनों के बन्धु और उद्धारक हैं।

व्याख्या

भगवान श्री राम चन्द्र जी को उपालम्भ देते हुए भक्त कहता है कि "हे भगवान् तुमने दीनों का साथ कब दिया है और किस पापी अथवा पतित व्यक्ति का उद्धार किया है।" कहने का आशय यह है कि यदि श्री रामचन्द्र जी ने दोनों का साथ दिया होता अथवा पतितों का उद्धार किया होता तो वे निश्चय ही उसका भी उद्धार कर देते किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। कदाचित इसी कारण भक्त ऐसे उपालम्भ देते हुए श्री रामचन्द्र जी से कहता है कि "दीनबन्धु और पतित पावन का यश प्राप्त करके जो तुम प्रसन्न हुए फिरते हो यह यश झूठा है क्यों कि तुमने मेरा तो उद्धार नहीं किया"

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में सख्य-भाव की भक्ति का प्रतिपादन हुआ है।
2. भक्त ने बहुत ही सुन्दर ढ़ंग से अपना उपालम्भ व्यक्त किया है।
3. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. आकर्षक गेयता।
5. तद्‌भव शब्दों के साथ तत्सम का सुन्दर योग।
6. दोहा अलंकार का प्रयोग
7. कवि के कथन में वक्रता के कारण सम्पूर्ण दोहे में प्रभावोत्पादकता आ गई है।
8. (क) तूठे-तूठे में पुनरूक्तिप्रकाश अंलकार।
   (ख) समस्त दोहे में वक्रोक्ति अलंकार।

(27)

मैं तोसौं कैवा कहयौ, तू जिन इन्हैं पत्याइ।
लगालगी करि लोइननु उर मैं लाई लाइ।।

शब्दार्थ

तोसौं = तुझसे। कैवा = कई बार। कहयौ = कहा है। जिन = मत। पत्याइ = विश्वास कर। लगालगी = मेलजोल। करि = करके। लोइननु = आँखों ने। लाई = लगा दी। लाइ = अग्नि (प्रेम की)।

प्रसंग

नायिका अपने प्रियतम के प्रति आसक्ति रखती थी किन्तु जब प्रियतम छोड़कर चला गया तो नायिका का मन विरह की अग्नि में दग्ध हो गया। नायिका की सखी ने उसे कई बार समझाया था कि नायक से आँखे न मिला अर्थात् प्रेम-सम्बंध स्थापित न कर किन्तु नायिका नहीं मानी और इसका परिणाम यह हुआ कि नायिका के हृदय में प्रेम की अग्नि प्रज्वलित हो गई। प्रस्तुत दोहे में कवि ने यही भाव व्यक्त किया है।

व्याख्या

प्रेमानुरक्त नायिका को संबोधित करते हुए उसकी अन्तरंग सखी कहती है कि 'हे नायिका, मैने तुझसे कितनी बार कहा था (समझाया था) कि इन नेत्रों पर विश्वास मत कर अर्थात् इन्हें पूर्ण स्वच्छन्द न रहने दे किन्तु तूने मेरा कहा नहीं माना परिणाम यह हुआ कि तेरे इन नेत्रों ने प्रियतम अर्थात् नायक के नेत्रों से मेल जोल स्थापित कर लिया और इस प्रकार अपने हृदय में प्रेम की अग्नि प्रज्वलित कर ली कहने का तात्पर्य यह है कि यदि नायिका आरम्भ में ही सखी की शिक्षा मान लेती है और नायक के साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित नहीं करती तो उसे यह प्रेम का रोग लगता ही नहीं"

विशेष

1. कवि बिहारी ने प्रस्तुत दोहे में पूर्वानुरागिनी नायिका का सुन्दर चित्रण किया है।
2. शं गार रस का सुन्दर प्रस्तुतीकरण।
3. ब्रज भाषा का प्रयोग।
4. दोहा छंद स्वरूप।
5. सुन्दर भावाभिव्यंजना
6. भावसाम्य की द ष्टि से निम्नपंक्तियाँ देखिए -
   लगालगी लोइन करैं नाहक मन बधि जाए।
7. अलंकार -
   (क) लाई-लाइ मे यमक अलंकार।
   (ख) सम्पूर्ण दोहे में असंगति अलंकार।
   (ग) सम्पूर्ण दोहे में अनुप्रास अलंकार।

(28)

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं, हरि, नीके ए नैन।।

शब्दार्थ

बरजीते = बलपूर्वक जीत लिया है। सर = बाण। मैने के = कामदेव के। नैनानु तैं = आँखों की अपेक्षा। नीके = श्रेष्ठ, अच्छे। नैन = आँख।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका की दूती के माध्यम से नायिका के आकर्षक नेत्रों का वर्णन किया है।

व्याख्या

नायक के समक्ष नायिका के आकर्षक नेत्रों की शोभा का वर्णन करते हुए नायिका की सखी कह रही है कि"हे नायक, नायिका के नेत्रों ने तो कामदेव के नेत्र रूपी बाणों पर बलपूर्वक, विजय प्राप्त कर ली है अर्थात् काम के साक्षात् अवतार कामदेव के नेत्रों में भी वह कामोद्दीपन और आकर्षक नहीं है जो कि नायिका के नेत्रों में है। हे हरि मैनें तो ऐसे आकर्षक नेत्र कहीं भी नहीं देखे। नायिका के ये नेत्र हरिणी के नेत्रों से भी अधिक विस्फारित एवं आकर्षक हैं।"

विशेष

1. कवि ने नायिका के नेत्रों को कामदेव के नेत्रों से भी अधिक कामोद्दीपक सिद्ध किया है और उनकी उपमा हरिणी के नेत्रों से दी है। हरिणी के नेत्रों की विशेषता यह होती है कि वे आकर्षक और विस्फारित होते हैं। नारी के नेत्रों का सौन्दर्य भी उनके आकर्षक और विस्फारित होने में हैं।
2. कवि ने उपरोक्त दोहे में कामदेव के बाणों का उल्लेख किया है। कामदेव के पाँच बाण माने जाते हैं सम्मोहन, उन्माद, शोषण, तापन तथा स्तम्भन।
3. नायिका के नेत्रों का सुन्दर चित्रण।
4. प्रस्तुत दोहे में कवि ने परकीया नायिका का वर्णन किया है।
5. ब्रज भाषा का प्रयोग।
6. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
7. (क) काव्यलिंग अलंकार सम्पूर्ण दोहे में।
   (ख) यमक अलंकार 'मैन' तथा 'मैंन' में।
   (ग) 'हरिनी' के तथा 'हरि नीके' में संयम यमक तथा काव्यलिंक अलंकारों का चमत्कार द्रष्टव्य है।

(29)

अंग-अंग-नग जगमगत दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाऐं हूँ रहै बड़ौ उज्यारौ गेह।।

शब्दार्थ

अंग-अंग= शरीर के अंग-प्रत्यंग। नग=नगीना जगमगत= प्रकाशित है। दीपसिखा= दीपक की शिखा। दिया बढ़ाऐं हूँ=दीपक बुझाने पर भी। उज्यारौ=प्रकाश गेह= घर।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में नायिका की कोई सखी अथवा दूती नायक के समक्ष नायिका के शरीर के अंग-प्रत्यंग की शोभा का वर्णन कर रही है। नायिका की सखी यह बता रही है कि गहरे अन्धकार में भी नायिका के शरीर की कान्ति अलग ही चमकती है।

व्याख्या

नायिका के अंग-प्रत्यंग से (आभूषणों के) नगीनों की कान्ति जगमगा रही है और उसकी सम्पूर्ण देह

दीपक की शिखा की तरह सुशोभित हो रही है। रात के समय दीपक बुझाने पर भी उसके घर में अत्यधिक प्रकाश रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि उसकी सम्पूर्ण देह आभूषणों में जड़े हुए नगीनों के कारण अंधेरे में भी दीपशिखा की तरह जगमगाती रहती है।"

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में नायिका के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।
2. शृंगार रस का सुन्दर वर्णन।
3. ब्रज भाषा प्रयोग।
4. दोहा, छन्दों का प्रयोग।
5. सुन्दर भावाभिव्यक्ति
6. प्रसाद- माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. सूक्ष्म अभिव्यक्ति
8. आकर्षक बिम्ब-विधान
9. 'अंग-अंग' में पुनरूक्तिप्रकाशन अंलकार।
   सम्पूर्ण दोहे में पूर्वरूप अलंकार।
   'दीपशिखा सी देह' में उपमा अलंकार।

(30)

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता-रंग।।

शब्दार्थ

सिसुता= शैशव। झलक्यौ= झलक मार रहा है। जोबनु=यौवन। दीपति= कान्ति। देह= शरीर। दुहून= दोनों से। ताफ्ता रंग= ताफता जैसा रंग। (ताफ्ता ऐसे रेशमी कपड़े को कहते हैं जिसका ताना और बाना अलग-अलग रंग का होता है।) हिन्दी में इस रंग को धूपछाँही

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका की वयः सन्धि अवस्था का वर्णन किया है। नायिका की सखी अथवा दूती नायक के समक्ष नायिका की वयः सन्धि अवस्था का वर्णन कर रही है।

व्याख्या

नायिका की वयः सन्धि की अवस्था का वर्णन करते हुए नायिका की सखी अथवा दूती नायक से कहती है कि "हे नायक, अभी तो उस नायिका के शरीर से शैशव का भोलापन भी नहीं गया है अर्थात् शैशवोचित भोलापन बना हुआ है, साथ ही उसमें यौवन की झलक अर्थात् आभा भी दीखने लगी है। कहने का आशय यह है कि यौवन पूरी तरह अभी आया नहीं है और शैशव और यौवनागमन के मिलन बिन्दु पर खड़ी है। शास्त्रीय भाषा में नारी की इस अवस्था को वयः सन्धि की अवस्था कहते हैं। शैशव और यौवन दोनों की कान्ति के मिलन के कारण उसकी देह में ताफ्ता रंग प्रकाशित हो रहा है अर्थात् नायिका का शरीर धूपछाँही रंग वाले कपड़े जैसा प्रतीत हो रहा है।"

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने वयः सन्धि अवस्था का सुन्दर चित्रण किया है।
2. भावसाम्य की द ष्टि से निम्न पंक्तियाँ देखिए –

   सैसव जोबन दुहु मिलि गेलि,
   श्रवनक पथ दुहु लोचन लेल।
   वचनक चातुरि लहु-लहु हास,
   धरनि ये चाँद करिल परगास।
   × × ×
   माधव देखब अपूरब बाला,
   सैसव जोबन दूहूँ एक भेला।
3. ब्रज भाषा का प्रयोग।
4. सुन्दर लयात्मकता
5. अलंकार -
   (क) 'दीपति देह दुहून' में व त्यानुप्रास अलंकार।
   (ख) 'दिपति ताफ्ता-रंग' में वाचक धर्म लुप्तोपमा अलंकार

(31)

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाई।
तुमहूँ लागी जगत- गुरू, जग-नाइक, जग-बाइ।।

शब्दार्थ

कबकौ= कब से अर्थात् बहुत समय से। टेरत= पुकारना गुहार लगाना। दीन रट =दैन्य भाव से परिपूर्ण रट। सहाइ= सहायक। जगनाइक= संसार के नायक। जग बाइ= संसार की हवा।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में भक्त श्री कृष्ण भगवान को उपालम्भ दे रहा है। उसकी धारणा यह है कि भगवान् श्री कृष्ण को संसार की हवा लग गई है, तभी तो भक्त की प्रार्थना की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया और उसका उद्धार भी नहीं हो पाया। यदि भगवान् श्री कृष्ण को संसार की हवा नहीं लगी होती अर्थात् यदि वे सांसारिक स्वार्थपरता में ग्रस्त नहीं होते तो उन्होनें उसका (भक्त का) उद्धार अवश्यक कर दिया होता।

व्याख्या

भगवान श्री कृष्ण को उपालम्भ देते हुए उनका एक भक्त कहता है कि "हे भगवान, मैं कितने समय से अर्थात् बहुत समय से दीनता-पूर्ण गुहार लगा रहा हूँ किन्तु एक तुम हो कि मेरे सहायक ही नहीं बन रहे हो। हे जगतगुरू, जगत के नायक भगवान श्री कृष्ण, मेरे प्रति तुम्हारी इस उपेक्षा को देखकर मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि तुम्हें भी संसार की हवा लग गई है अर्थात् जिस प्रकार संसार के लोग अधिकतर क्रूर और निर्दयी होते हैं तथा दीन-हीनों पर कृपा नहीं करते, उसी प्रकार तुम भी मुझ पर कृपा नहीं कर रह हो।"

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में भक्त की सख्य-भक्ति का प्रतिपादन किया गया है।
2. कवि ने 'संसार की हवा लगना' मुहावरे का अत्यन्त सार्थक प्रयोग किया है। कहने का आशय यह है कि सांसारिक लोग प्रायः अपने ही स्वार्थों में उलझे रहते हैं और उन्हें किसी अन्य की कठिनाई आदि की कोई चिन्ता नहीं रहती। प्रस्तुत दोहे में भगवान श्री कृष्ण को भी इसी आशय का उपालम्भ दिया गया है। यदि भगवान सांसारिकता में लिप्त नहीं होते तो उन्होंने भक्त का उद्धार अवश्यक कर दिया होता।
3. भाव साम्य की द ष्टि से निम्न दोहा देखिए -

   थौरें ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
   तुम हूँ कान्ह मनौ भए आजकल्हि के दानि।।

4. बिहारी सतसई में विशुद्ध भक्ति और नीति सम्बंधी दोहों की संख्या अत्यल्प है क्यों कि इस दोहा संग्रह का मूल रस शं गार रस ही है तथा भक्ति परक एवं नीतिपरक दोहों में भी कवि ने अपनी मौलिक कवि-प्रतिभा का परिचय दिया है।
5. अलंकार-
   (क) 'स्याम सहाई' में छेकानुप्रास अलंकार
   (ख) सम्पूर्ण दोहे में लोकोक्ति अलंकार।
   (ग) सम्पूर्ण दोहे में गम्योत्प्रेक्षा अलंकार।
   (घ) उत्प्रेक्षा अलंकार का सुन्दर प्रयोग किया गया है।
6. 'जगबाइ' मुहावरे का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

(32)

पत्रा ही तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास।।

शब्दार्थ

पत्रा ही =पंचांग जिसमें तिथि आदि के विवरण रहते हैं। पाइयै= प्राप्त कर सकते हैं। वा = उसके अर्थात् नायिका के। पून्यौई= पूर्णिमा। आनन= मुख। ओप= आभा। उजास =उजाला।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में नायिका की सखी अथवा दूती नायक के समक्ष नायिका की मुखछवि का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या

नायक के समक्ष नायिका की मुखछवि का वर्णन करते हुए नायिका की सखी अथवा दूती कहती है कि "हे नायक, नायिका के घर के चारों ओर तो पूर्णिमा ही रहती है और इस कारण वहाँ तिथि आदि का निर्णय केवल पत्रा (पंचांग) देखकर ही किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नायिका के मुख की अनुपम कान्ति और आभा के कारण उसके घर के आसपास सदैव पूर्णमासी

रहती है। अर्थात् रातभर चाँद की ज्योत्स्ना चमकती रहती है और चाँद का अपना प्रकाश दिखाई ही नहीं देता नायिका के घर के आस-पास चन्द्रमा को देखकर तिथि निर्णय करना असम्भव है।"

विशेष

1. भावसाम्य के लिए "रतनहजारा" का निम्न दोहा देखिए -

   कुहू निसा तिथि पत्र में, बाँचन कौं रहि जाइ।
   तब मुख ससी की चाँदनी, उदे कारक है आइ।।

2. नायिका के मुख की चन्द्रमा जैसी छवि का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया गया है।
3. तिथि-निर्णय के मुख्यतः दो साधन होते हैं - पंचांग अथवा चन्द्रोदय का समय। नायिका की मुख छवि अपने आप में इतनी आभापूर्ण है कि उसके कारण उसके घर के आस-पास सदैव चाँदनी चमकती रहती है। ऐसी स्थिति में चन्द्रोदय स्पष्टतः लक्षित नहीं होता।
4. ब्रज भाषा का प्रयोग।
5. सुन्दर गेयता।
6. दोहा, अलंकारों का प्रयोग।
7. अनुपम सौन्दर्य चित्रण
8. प्रसाद- माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. अलंकार-
   (क) 'आनन-ओप' में छेकानुप्रास अलंकार।
   (ख) सम्पूर्ण दोहे में काव्यलिंक अलंकार।
   (ग) सम्पूर्ण दोहे में परिसंख्या अलंकार।
   (घ) सम्पूर्ण दोहे में अत्युक्ति अलंकार।

(33)

बसि सकोच-दसबदन-बस, साँचु दिखावति बाल।
सियालौं सोधति तिय तनहिं लगनि-अगनि- की ज्वाल।।

शब्दार्थ

सकोच= संकोच, लज्जा। दसबदन=दस मुख वाला अर्थात् रावण। साँचु= सच्चापन। बाल=बाला अर्थात् नायिका। सियलौं= सीता की तरह। सोधति=तपा कर शुद्ध करती है। लगनि-अगनि=प्रेम की अग्नि।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने पूर्वानुरागिनी नायिका की मनोदशा का वर्णन किया है। बहुत समय तक तो नारी सुलभ लज्जा और संकोच के कारण नायक को अपनी प्रेम-भावना से अवगत नहीं करा सकी किन्तु अब प्रेम की अग्नि ने उसे इतना व्याकुल बना दिया है कि अब उसके लिए अपनी प्रेम-भावना को लज्जा और संकोच के आवरण में छिपा रखना कठिन है। विरह की अग्नि में नायिका का इस प्रकार संतप्त हो जाना यह सिद्ध करता है कि नायक के प्रति उसका प्रेम सर्वथा सच्चा और निष्कलुष है। प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका की सखी के माध्यम से यही कथन कहलवाया है।

व्याख्या

पूर्वानुरागिनी नायिका की सखी नायक से कह रही है कि "हे नायक अभी तक तो वह नायिका संकोच व लज्जा रूपी रावण के वश में रही और इस कारण अपनी प्रेम-भावना को व्यक्ति नहीं कर सकी। तथापि उसकी स्थिति बदल गई। अब उसने अपने आप को सीता की तरह तुम्हारे वियोग की अग्नि में तपा कर शुद्ध प्रमाणित कर दिया है। अर्थात् संकोच और लज्जा से आवरण को त्याग कर तुम्हारे प्रति अपने प्रेम की सच्चाई व्यक्त कर दी है। वह नायिका प्रेम का जो भाव लज्जा और संकोच के कारण व्यक्त नहीं कर पाती थी, अब प्रेम की अग्नि में शुद्ध होकर वह उसी प्रेम-भाव की शुद्धता और सचाई प्रकट कर रही है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने राम कथा की एक प्रासंगिक कथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार रावण से मुक्त होने के पश्चात् सीता ने अपनी शुद्धता और सच्चरित्रता सिद्ध करने के लिए अग्नि-परीक्षा दी थी। कवि ने इस कथांश का अत्यन्त सार्थक प्रयोग किया है।
2. नायिका की विरहावस्था का सुन्दर चित्रण।
3. सरल भाषा का आकर्षक रूप।
4. ब्रज भाषा का प्रयोग।
5. मुक्तक शैली।
6. दोहा छन्द प्रयोग।
7. उत्तम शब्द चयन।
8. ध्वन्यात्मकता।
9. अलंकार-
   (क) 'संकोच दस बदन' तथा 'लगनि-लगनि' में रूपक अलंकार।
   (ख) 'सियलौं सोधति' में अनुप्रास अलंकार।
   (ग) 'सियलौं सोधति' में उपमा अलंकार।
   (घ) सम्पूर्ण दोहे में सांगरूपक अलंकार।

(34)

जो न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति-मुँह दीन।
जौ लहियै सँग सजन, तौ धरक नरक हूँ कीन।।

शब्दार्थ

जुगति= युक्ति, तरकीब। धूरि= धूल। मुकति= मुक्ति अर्थात् मोक्ष। जौ= यदि। लहियै= प्राप्त होता है। सजन= परिजन। धरक = धड़क अर्थात् डर। की न= नहीं करनी चाहिए।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका के माध्यम से यह सिद्ध किया है कि वास्तविक मुक्ति प्रियतम के सान्निध्य में है। जिस मुक्ति में प्रियतम का मिलन नहीं हो पाता, वह मुक्ति सर्वथा त्याज्य है, उपेक्षणीय है प्रस्तुत दोहे में नायिका इसी भाव को अपनी सखी से कह रही है।

व्याख्या

अपनी सखी को सम्बोधित करते हुए नायिका कहती है कि "हे सखी यदि मुक्ति अथवा मोक्ष में प्रियतम से मिलन की कोई युक्ति अथवा व्यवस्था नहीं है तो हे सखी ऐसी मुक्ति पर धूल डालो अर्थात् मुझे ऐसी मुक्ति की तनिक भी कामना नहीं है। साथ ही, हे सखी, यदि किसी उपाय से प्रियतम का मिलन सम्भव हो जाता है तो मुझे वह स्वीकार है भले ही उसमें नरक की यातनाओं का भय हो। कहने का आशय यह है कि मेरी वास्तविक मुक्ति तो प्रियतम के सान्निध्य में हैं। और यदि मुझे प्रियतम का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है तो मुझे स्वर्ग- नरक की कोई चिन्ता नहीं है।"

विशेष

1. प्रिय का मिलन, सुजन का संग मोक्ष के आनंद से भी अधिक सुखदायक होता है।
2. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
3. भाषा सरल।
4. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम् का सुन्दर योग।
5. शृंगार रस का परिपाक
6. आकर्षक गेयता।
7. दोहा छंद का प्रयोग।
8. भाव साम्य की दृष्टि से निम्न दोहा देखिए –

   कहा करौ बैकुण्ठ लै, कल्प वृक्ष की छाँह।
   अहमद ढाक, सुहावने, जो गल प्रियतम बाँह।।
9. अनुप्रास अलंकार का यहाँ सुन्दर प्रयोग हुआ है।
   (क) 'मुकति-मुँह' तथा 'संग-सजन' में छेकानुप्रास अलंकार
   (ख) 'धूरि मुकति-मुँह दीन' में लोकोक्ति अलंकार।

(35)

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति, और मुकाति अति हानि।।

शब्दार्थ

चमक= चौंक पड़ना तमक= उत्तेजित हो जाना ससक= सीत्कार करना। मसक= मसलना, अंग-मर्दन। झपट=झपट कर। लपटानि=बाहुपाश में बाँध लेना। जिहिं= जिस। मुकति= मुक्ति।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहा बिहारी के युग की राजनीतिक परिस्थितियों का सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है। उनके युग में राजमहल केवल विलास और रति क्रीड़ा के केन्द्र बने हुए थे। राजनीति के कर्णधार जनता के हित की ओर से आँख मूंदकर भोग-विलास में डूबे हुए थे। प्रस्तुत दोहे में कवि ने तत्कालीन राजाओं की इसी विलासमयता का चित्र खींचा है। उन राजाओं की दृष्टि में मुक्ति का सच्चा अर्थ क्या था- इस दोहे में इसी बात का वर्णन किया गया है।

व्याख्या

कवि कहता है कि तत्कालीन राजाओं की द ष्टि में "जिस रति-क्रीड़ा में चौंकना, उत्तेजित होना, हँसना, सीत्कार करना, अंगमर्दन करना और फिर झटके के साथ बाहुपाश में बाँध लेना जैसी विविध क्रियाएँ होती हैं, वहीं रति-क्रीड़ा वस्तुतः मोक्षदायिनी है। मुक्ति का वास्तविक वास केवल वहीं है। धर्म-ग्रन्थों एवं शास्त्रों आदि में जिन अन्य प्रकार की मुक्तियों का विवेचन किया गया है, वे सभी मुक्तियाँ हानिप्रद हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि रति-क्रीड़ा जन्य सुख ही सच्चा मोक्ष है, शेष सभी कुछ हेय है।"

विशेष

1. कवि ने प्रस्तुत दोहे में कामशास्त्र संबंधी गहरे ज्ञान का परिचय दिया है।
2. भावसाम्य की द ष्टि से बिहारी का ही निम्न दोहा देखिए

तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े, बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग।।

3. चमक, तमक, ससक, मसक जैसे शब्दों के प्रयोग से नादसौन्दर्य उत्पन्न हुआ है।
4. शृं गार रस का सुन्दर परिपाक।
5. सूक्ष्म भावों का सुन्दर-चित्रण
6. प्रसाद- माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. सुन्दर बिम्ब-प्रधान।
8. ब्रज भाषा प्रयोग।
9. दोहा, छंद का अनुप्रयोग।
10. सम्पूर्ण दोहे में अनुप्रास अलंकार।
    सम्पूर्ण दोहे में व्यतिरेक अलंकार।

(36)

कंज-नयनि मंजनु किए, बैठी ब्यौरति बार।
कच- अँगुरी बिच दीठि दै, चितवति नंदकुमार।।

शब्दार्थ

कंज नयनि= कमल जैसी आँखों वाली नायिका मंजनु किए= स्नान करके। ब्यौरति= सुलझा रही है। बार= बाल, केश। कच अंगुरी बिच= बालों और उंगलियों के बीच में से। दीठि= द ष्टि। चितवनि= देखती है। नन्दकुमार= श्री कृष्ण (नायक)।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने पूर्वानुरागिनी नायिका की क्रिया- विदग्धता का वर्णन किया है। नायिका की एक सखी, दूसरी सखी से नायिका की इसी क्रिया- विदग्धता का संजीव वर्णन कर रही है।

व्याख्या

नायिका की क्रिया-विदग्धता का वर्णन करते हुए उसकी एक सखी दूसरी सखी से कह रही है

कि "हे सखी कमल जैसी आँखों वाली वह नायिका स्नान करके अपने केश सुलझा रही है और इसी प्रकार केश सुलझाने में वह अपने प्रियतम का दर्शन लाभ भी उठा रही है। "नायिका की इस क्रिया - विदग्धता का रहस्योद्धाटन करती हुई सखी कहती है कि "वह (नायिका) बाल सुलझाते हुए उँगली और बालों के बीच की दरार में से अपने प्रियतम के दर्शन कर लेती है।

विशेष

1. कवि ने नायिका की क्रिया- विदग्धता का अत्यन्त संजीव वर्णन किया है।
2. बाल सुलझाती हुई नायिका का सुन्दर चित्र यहाँ अंकित हुआ है।
3. सरल एवं सुगम भाषा का प्रयोग।
4. ब्रज भाषा का प्रयोग।
5. सुन्दर अभिव्यंजना।
6. प्रसाद- माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. कंज नयन में रूपक अलंकार।
   'बैठौ ब्यौरति बार' में व त्यानुप्रास अलंकार।
   पर्यायोक्ति अलंकार सम्पूर्ण दोहे में।

(37)

मोहि दयौ, मेरौ भयौ, रहतु जु मिलि जिय साथ।
सो मनु बाँधि न सौं पियै, पिय, सौतिनि के हाथ।।

शब्दार्थ

मोहि दयौ= मुझको दिया हुआ। मेरौ भयौ= मेरा हो गया रहतु जु मिलि जिय साथ= जो अब मेरे हृदय के साथ मिलकर रहता है। बाँधि= बाँध करके। सौतिनि कैं हाथ= सपत्नी को।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में नायिका अपने प्रियतम से यही आग्रह कर रही है कि "हे प्रियतम, अपना हृदय तो तुम मुझे दे चुके हो, अब उस हृदय को सपत्नी को मत दो। मुझे दिए हुए हृदय को मरे पास ही रहने दीजिए।"

व्याख्या

प्रियतम को सम्बोधित करते हुए नायिका कहती है कि "हे प्रियतम, जो हृदय तुमने मुझे दिया था, वह तो मेरा हो गया अर्थात् अब तो उस पर मेरा अधिकार हो गया। अब तुम्हारा दिया हुआ वह हृदय मेरे हृदय के साथ एकाकार होकर रह गया है। अब मेरा आग्रह यही है कि उस हृदय को बाँधकर अर्थात् पूर्णतः सपत्नी को मत सौंपिए क्यों कि यदि आपने ऐसा किया तो तुम्हारे हृदय के साथ बँधा हुआ मेरा हृदय भी सपत्नी को प्राप्त हो जाएगा। कहने का आशय यह है कि नायिका यह नहीं चाहती की उसका प्रियतम सपत्नी से प्रेम करे और इसीलिए वह उससे निवेदन कर रही है कि उसे अपना हृदय सपत्नी को नहीं देना चाहिए। सपत्नी के प्रति नायक की आसक्ति सवभावतः नायिका के मन में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न करती है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में धीरा नायिका का वर्णन किय गया है।
2. नायिका के मन में नायक के प्रति गहन अनुराग की यहाँ अभिव्यक्ति हुई है।
3. कवि ने नायिका के माध्यम से प्रियतम को उपालम्भ दिये हैं। प्रेम भाव का चरम-स्वरूप सर्वात्म समर्पण में होता है और सर्वात्म समर्पण में किसी प्रकार की भी उपेक्षा सहन नहीं होती। प्रस्तुत दोहे में नायिका ने नायक के प्रति सर्वातम समर्पण किया है। अतः वह यह सहन नहीं कर सकती कि उसका प्रियतम किसी सपत्नी के प्रति आकृष्ट हो। इस द ष्टि से नायिका का यह भाव-मनोविज्ञान के सर्वथा अनुरूप है।
4. मध्ययुगीन सामन्तीय जीवन में बहु-पत्नी विवाह, या परकीया प्रेम की ओर यहाँ संकेत किया गया है।
5. ब्रज भाषा का प्रयोग।
6. सुन्दर बिम्ब-विधान।
7. दोहा छंद का अनुप्रयोग।
8. प्रभावी लयात्मकता।
9. अलंकार-
   (क) सम्पूर्ण दोहे में काव्यलिंग।
   (ख) 'न सौंपिए' में श्लेष।
   (ग) सभंग यमक तथा अनुप्रास अलंकार।

(38)

कहति न देवर की कुबत, कुल-तिय कलह डराति।
पंजर-गत मंजार-ढिग सुक ज्यौं सूकति जाति॥

शब्दार्थ

कुबत= अनुचित व्यवहार। कुल-तिय= घर की बहू। कलह डराति= ग ह कलह के डर से। पंजर गत=पिंजरे में बंद। मंजार=बिल्ला (बिलौटा)। ढिंग=निकट। सुक=तोता। ज्यौं =जैसे, की तरह। सूकति जाति=सूखती जाती है।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने एक ऐसी कुल-वधू की मनोदशा का वर्णन किया है, जिसका देवर उसके प्रति अनुचित व्यवहार करता है और वह उसकी शिकायत भी नहीं कर सकती क्योंकि शिकायत करने पर घर में कलह का होना निश्चित है। अब वह उसके अनुचित व्यवहार को सहन करती रहती है और मन ही मन कुढ़ती रहती है। कवि ने प्रस्तुत दोहे में ऐसी ही दुविधा पूर्ण नायिका का वर्णन किया है।

व्याख्या

देवर के अनुचित व्यवहार से दुखी नायिका की द्विविधापूर्ण मनोदशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि "कुल वधू ग ह-कलह के भय से देवर के अनुचित व्यवहार की बात नहीं कहती (क्योंकि उसे

यह पता है कि यदि उसने देवर के अनुचित व्यवहार की शिकायत कर दी तो घर में क्लेश हो जाएगा)। ऐसी स्थिति में वह यह सारा अनुचित व्यवहार चुपचाप सहन करती रहती है। उसकी स्थिति पिंजरे में बंद ऐसे तोते की तरह है जिसके निकट ही बिलौटा उपस्थित है जिसके भय से तोता बराबर सूखता रहता है। यही स्थिति नायिका की भी है। देवर के रहते हुए वह दोहरी चिन्ता में गली जाती है (एक ओर तो उसे यह चिन्ता है कि कहीं देवर उसकी चुप्पी का गलत अर्थ लगाकर अपनी सीमा से न बढ़ जाए और दूसरी ओर उसे यह चिन्ता है कि यदि अपने पति से देवर के अनुचित व्यवहार की शिकायत कर दी तो घर में कलह हो जाएगी।)"

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने एक कुलीन वधू की चिन्ता का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन किया है
2. ब्रज भाषा का प्रयोग।
3. सरल, सुगम भाषा का प्रयोग
4. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का सुन्दर प्रयोग।
5. सुन्दर अभिव्यंजना।
6. आकर्षक बिम्ब-विधान।
7. संवादात्मक शैली का प्रयोग।
8. दोहा छंद का प्रयोग।
9. (क) सम्पूर्ण दोहे में पूर्णोपमा अलंकार।
   (ख) दोहे के पहले चरण में अनुप्रास अलंकार
   (ग) सभंग यमक अलंकार का प्रयोग।

(39)

चलन ना पावतु निगम-मगु जगु उपज्यौ अति श्रासु।
कुच-उतंग गिरिबर गहयौ मैना मैनु पवासु।।

शब्दार्थ

निगम- मगु= धर्म अथवा वेदों में प्रतिपादित मार्ग। जगु= संसार में। श्रासु= भय। कुच-उतंग गिरिबर= कुच रूपी उतंग पहाड़। गहयौ=अधिकार कर रखा है। मैना=राजपूताने के वनों में रहने वाली एक ऐसी जाति जिसका काम केवल लूटमार करना है। इस जाति को मैना अथवा मीना कहते हैं। मैनु= कामदेव। मवासु= स्थाई निवास।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका के कामोद्दीपक उरोजों की आपार शोभा का वर्णन किया है।

व्याख्या

नायिका के उन्नत उरोजों का वर्णन करते हुए नायक कहता है कि "नायिका के उन्नत उरोजों रूपी ऊँची पर्वतों पर कामदेव रूपी मैना अथवा मीना जाति ने स्थायी निवास बना रखा है। परिणामतः संसार में सर्वत्र भय छाया हुआ है और संसार के लोगों के लिए वैदिक-धर्म तथा धर्म शास्त्र आदि में निर्धारित नियमित जीवन व्यतीत करना सम्भव नहीं हो पा रहा है" (क्योंकि नायिका के उन्नत

उरोजों को देखकर सांसारिक व्यक्ति धर्म और वेद में निहित सिद्धांतों को सहज ही विस्म त कर देते हैं)। सारा संसार उन्हीं उरोजों के आकर्षण में जकड़ा हुआ है।"

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने 'निगम-मगु' का प्रयोग किया है जिसका आशय यह है कि मनुष्य को धर्मशास्त्र आदि में निहित सिद्धांतों का पालन करना चाहिए। धर्मशास्त्र आदि में परस्त्री को माता के समान समझने का आग्रह किया गया है।
2. प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नारी का सौन्दर्य महान तपस्वियों और साधकों की साधना भी भंग कर सकता है, फिर सांसारिक पुरूषों की तो बात ही क्या है।
3. ब्रज भाषा का प्रयोग।
4. शृंगार रस परिपाक।
5. शब्द-चयन उत्तम।
6. भावात्मक गहराई।
7. मुक्तक शैली।
8. ध्वन्यात्मकता।
9. 'मैना मैनु मवासु' में व त्यानुप्रास अलंकार।
10. 'कुच-उतग गिरिबर' तथा 'मैना मैनु में रूपक अलंकार।
11. सम्पूर्ण दोहे में सांगरूपक अलंकार।

(40)

त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि, सकुचि, समाहि।
गली, अली की ओट कै, चली भली बिधि चाहि।।

शब्दार्थ

नारी शरीर में नाभि के ऊपर तीन रेखाएँ सी पड़ती हैं जिन्हें त्रिबली कहते। कर सिर ढकि=सिर ढकने के बहाने हाथ ऊपर उठाना। सकुचि= लज्जा। समाहि= सामने आने पर। अली की ओट कै= सखी की ओट करके अर्थात् सखी की द ष्टि से बचकर। चली भली बिधि चाहि=अच्छी तरह अपनी चाह प्रकट करके।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने एक क्रिया-विदग्धा नायिका की अनुराग व्यंजक चेष्टाओं का वर्णन किया है। वह नायिका सभी से छिप कर नायक के प्रति अपने अनुराग को प्रकट करने में सफल हो जाती है। इस प्रकार के वर्णनों में बिहारी निश्चय ही अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय देते हैं। प्रस्तुत दोहे में नायिका की इन अनुराग-व्यंजक चेष्टाओं का वर्णन कर रही है।

व्याख्या

नायिका की अनुराग-व्यंजक चेष्टाओं का वर्णन करते हुए उसकी एक सखी दूसरी सखी से कह रही है कि "उसने (नायिका ने) नायक के सामने आने पर लज्जा का प्रदर्शन किया और फिर सिर

ढ़कने के बहाने हाथ ऊपर की ओर उठाया और इसी प्रक्रिया में नायक को अपनी त्रिबली और नाभि के दर्शन करा दिए (प्रत्यक्षतः तो उसने लज्जा का भाव प्रदर्शित किया किन्तु वस्तुतः उसने नायक के प्रति अपने अनुराग को प्रकट करने के लिए अपनी त्रिबली और नाभि के दर्शन करा दिए)" इसके पश्चात् वह नायिका सखी की ओट होकर अर्थात् उसकी द ष्टि से बचकर और अपने प्रियतम के प्रति अपने को भली प्रकार व्यक्त करके गली में चली गई।''

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने नारी मनोविज्ञान का भी गहरा परिचय दिया है। नारी स्वभावतः लज्जाशील होती है अतः वह अपने अनुराग को प्रत्यक्षतः व्यक्त करने में संकोच करती है। प्रस्तुत दोहे में नायिका ने अपनी क्रिया-विदग्धता का परिचय दिया है। नायक के प्रति अपनी आसक्ति भी व्यक्त कर दी है (जिसे नायक समझ गया है) और वह सर्वथा निष्कलुष भी बनी रही है (सखी की द ष्टि से भी बचकर)।
2. प्रस्तुत दोहे में कवि ने क्रिया-विदग्धा नायिका का वर्णन किया है।
3. भावसाम्य की द ष्टि से बिहारी का ही निम्न दोहा देखिए :

करू उठाइ घूँघट करत उझरत पट-गुझ रोट।
सुख-मौटै लूटीं ललन लखि ललनां की लौट।।

4. श ंगार रस का सुन्दर वर्णन।
5. ब्रजभाषा प्रयोग।
6. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
7. दोहा, छन्द का प्रयोग।
8. आकर्षक सौन्दर्य चित्रण।
9. आकर्षक बिम्ब-विधान।
10. 'सकुचि समाहि' 'गली-गली' तथा 'चली-भली' में छेकानुप्रास अलंकार।
11. सम्पूर्ण दोहे में स्वभावोक्ति अलंकार।

(41)

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग,
अनबूड़े बूड़े, तेरे जे बूड़े सब अंग।।

शब्दार्थ

तन्त्री=वीणा। नाद=स्वर। कवित्त रस=काव्य का आनन्द। सरस राग=रसपूर्ण राग। रति-रँग=रति क्रीड़ा से प्राप्त होने वाला सुख। अनबूड़े=जो पूरी तरह से न डूबे हों। बूड़े=डूब गए अर्थात् समाप्त हो गए। तरे जे=जो पार कर गए अर्थात् जिन्होंने लक्ष्यसिद्धि प्राप्त कर ली। बूड़े सब अंग=उनके सारे अंग डूब गए।

प्रसंग

प्रस्तुत पद में कविवर बिहारी लाल जी ने कविता, संगीत कला तथा रति-कला आदि की महत्ता का वर्णन किया है। कवि की द ष्टि में उसी व्यक्ति का का जीवन सार्थक हो सकता है जो कि इन विभिन्न कलाओं में अपने आपको पूर्णतः निमग्न कर ले।

व्याख्या

संगीत कला, काव्यकला और कामकला की संस्तुति करते हुए कवि कहता है कि ''जिन व्यक्तियों ने वीणा आदि वाद्य यंत्रों के मधुर सुरों, काव्यकला, रसयुक्त गीतों और रतिक्रीड़ाजन्य सुख को पूरी तरह नहीं भोगा। अर्थात् जो विभिन्न रसों में पूर्णतः नहीं डूबे, वे पूर्णतः डूब गए अर्थात् वे नष्ट हो गए अर्थात् उनका सम्पूर्ण जीवन निष्फल हो गया। इसके विपरीत जिन लोगों ने इन विभिन्न प्रकार के सुखों को भरपूर भोगा है अर्थात् जो इन विभिन्न रसों में पूर्णतः डूब गए हैं, वे ही वस्तुतः सफल कहलाए जाने के अधिकारी हैं। ऐसे ही लोगों का जीवन सार्थक कहला सकता है।'' कवि का अभिप्राय यह है कि संगीतकला, काव्यकला, गीतकला तथा कामकला ये सभी ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें पूरी तरह डूबकर ही जीवन के सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे से बिहारी के युग की नैतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश पड़ता है। उस युग के लोगों का जीवन भोग तथा विलासमय था और उनकी द ष्टि में जीवन की एकमात्र सार्थकता ललित कलाओं और रतिक्रीड़ा में निहित थी।
2. श ंगार रस का सुन्दर चित्रण।
3. ब्रज भाषा का प्रयोग।
4. तद्भव शब्दों का प्रभावी प्रयोग।
5. दोहा छन्द प्रयोग।
6. आकर्षक गेयता।
7. सूक्ष्म भाव का स्पष्ट चित्रण।
8. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. 'अनबूड़े' 'बूड़े' में विरोधाभास अलंकार। सम्पूर्ण दोहे में अनुप्रास अलंकार।

(42)

सहज सचिक्कन, स्याम-रुचि, सुचि, सुगन्ध, सुकुमार।
मनतु न मनु पथु अपथु, लखि बिथुर सुपरे बार।।

शब्दार्थ

सहज सचिक्कन=सहज रूप से चिकने। स्याम रुचि=काले रंग वाले। सुचि=स्वच्छ। सुगन्ध=श्रेष्ठ गन्ध से युक्त। सुकुमार=कोमल। गनतु=गिनता है। मनु=मन। पथु अपथु=उचित अनुचित का विवेक। लखि=देखकर। बिथुरे=बिखरे हुए। सुथरे=सुन्दर। बार=बाल, केश।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका की केशराशि के सौन्दर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या

ऐसे सुन्दर, स्निग्ध और सुकुमार बालों वाली नायिका का प्रियतम अपने सखा को सम्बोधित करते हुए कहता है कि ''(हे मित्र) जब मैं उस नायिका के सहज रूप से चिकने, श्यामवर्ण काले, स्वच्छ,

श्रेष्ठ गन्ध से युक्त कोमल तथा सुन्दर बालों को बिखरे हुए देख लेता हूँ तो फिर मेरा उचित-अनुचित का विवेक नष्ट हो जाता है अर्थात् फिर मैं अपने मन पर अंकुश नहीं लगा पाता हूँ।'' कहने का आशय यह है कि नायिका के चिकने, सुकुमार काले बालों में इतना अधिक आकर्षण और कामोद्दीपन भरा हुआ है कि उन्हें एक बार देख लेने के पश्चात् मनुष्य का मन उसके वश में नहीं रहता।

विशेष

1. भाव साम्य की द ष्टि से कवि मनोहर का निम्न दोहा देखिए–
   बिथुरे सुथरे चीकने, घने घने घुघवार।
   रसिकन कौ जंजीर से, बाला तेरे बार।।
2. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
3. नायिका के केशों का सुन्दर चित्रण।
4. आकर्षक गेयता।
5. दोहा, छन्द स्वरूप है।
6. सुन्दर भावाभिव्यंजना।
7. व त्यानुप्रास अलंकार दोहे के पूर्वार्द्ध में। स्वभावोक्ति अलंकार सम्पूर्ण दोहे में।

(43)

केसरि कै सरि क्यौं सकै, चंमकु कितकु अनूपु।
गाल-रूप लखि जातु दुरि जातरूप कौ रूपु।।

शब्दार्थ

केसरि=केशर, कुंकुम। कै सरि=बराबरी करना, तुलना करना। सकै=सकती है। चम्पकु=एक प्रकार का फूल। कितकु=कितना। अनूपु=अनुपम। गात-रूपु=शरीर का सौन्दर्य। लखि=देखकर। दुरि=छिप जाता है। जातरूप=स्वभावतः सुन्दर अर्थात् स्वर्ण। कौ=का। रूपु=सौन्दर्य।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका के अनुपम शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन किया है। नायिका की एक सखी नायक के समक्ष नायिका के इस सौन्दर्य का वर्णन कर रही है।

व्याख्या

नायक के समक्ष नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए नायिका की एक सखी कहती है कि ''हे नायक, उस नायिका के शरीर का सौन्दर्य अनुपम है, केशर उसकी बराबरी कैसे कर सकता है अर्थात् उसके शरीर का सौन्दर्य केशर से भी कहीं अधिक सुन्दर, आकर्षक और मनमोहक है। यही नहीं चम्पक नामक फूल भी कितना सुन्दर है, किन्तु नायिका के शारीरिक सौन्दर्य के सामने वह भी कुछ नहीं। हे नायक उस नायिका के शारीरिक सौन्दर्य के सामने तो स्वभावतः सुन्दर अर्थात् स्वर्ण भी छिप-छिप जाता है। कहने का आशय यह है कि केशर, चम्पक और स्वर्ण ये सभी पदार्थ रूप-सौन्दर्य के प्रतिमान हैं किन्तु नायिका का शारीरिक सौन्दर्य इन सभी से बढ़कर है अर्थात् वह अनुपम है।''

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने परकीया नायिका का वर्णन किया है।
2. ब्रज भाषा प्रयोग।
3. श्रंगार रस परिपाक।
4. आकर्षक अभिव्यक्ति।
5. दोहा छन्द प्रयोग।
6. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. अलंकार :
   (क) 'चम्पकु कितनु अनूपु' में काकु वक्रोक्ति अलंकार।
   (ख) सम्पूर्ण दोहे में प्रतीप अलंकार।
   (ग) सम्पूर्ण दोहे में अनुप्रास अलंकार।

(44)

मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुंडल कान।
धर्‌यौ मनौ हिय-धरू समरू ड्यौढ़ी लसत निसान।।

शब्दार्थ

मकराकृति=मछली की आकृति वाले। गोपाल=श्री कृष्ण। सोहत=सुशोभित हैं। धर्‌यौ=विजित कर लिया है। मनौ=मानो। हियधर=हृदय रूपी प्रदेश। समरू=कामदेव। ड्यौढ़ी=द्वार। लसत=सुशोभित हो रहे हैं। निसान=ध्वजा।

प्रसंग

प्रस्तुत पद में कवि ने श्री कृष्ण के मछली के आकार के सुन्दर कुण्डलों की अद्वितीय शोभा का वर्णन किया है।

व्याख्या

मछली के आकार के कुंडल धारण किए हुए श्री कृष्ण की अपूर्व शोभा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि ''श्री कृष्ण ने अपने, कानों में मछली के आकार के जो कुंडल धारण कर रखे हैं उनकी शोभा अनिर्वचनीय है। इनके इन कुंडलों की शोभा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो उनके हृदय रूपी प्रदेश पर कामदेव का आधिपत्य हो गया है। और उसके प्रतीक स्वरूप ड्यौढ़ी पर विजय पताकाएँ फहर रही हैं।

विशेष

1. इस दोहे में कवि ने मछली के आकार वाले कुण्डलों की तुलना कामदेव की विजय-ध्वजा से दी है। यह उपमा कवि की बहुज्ञता की परिचायक है क्योंकि पुराणों के अनुसार कामदेव की ध्वजा पर मकर बना हुआ होता है।
2. प्रस्तुत दोहे में कवि ने श्री कृष्ण के कानों में लहराते हुए कुण्डलों को हृदय-प्रदेश की ड्यौढ़ी पर लहराते हुए दर्शाया है जो कि सर्वथा सार्थक है। पुराने समय में राजा तथा सम्पन्न लोग

घर की ड्यौढ़ी इस प्रकार बनवाते थे कि आगन्तुक को घर का भीतरी भाग नहीं दीख पड़ता था। भीतर की दो दीवारें ड्यौढ़ी करके बनवाई जाती थी और इसी कारण उसे ड्यौढ़ी कहा जाता है। कान की रचना भी कुछ इसी प्रकार की होती है। अतः कवि ने कान को ड्यौढ़ी माना है।

3. सरल एवं सुगम भाषा प्रयोग।
4. ब्रज भाषा का प्रयोग।
5. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
6. (क) सम्पूर्ण दोहे में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार।
   (ख) सम्पूर्ण दोहे में पर्यायोक्ति अलंकार।
   (ग) 'हिय घर' में रूपक अलंकार।

(45)

खौरि-पनिच भ कुटी-धनुषु बधिकु समरु, तजि कानि।
हनतु तरून-म ग तिलक-सर सुरक-भाल, भरि तानि।

शब्दार्थ

खौरि=माथे पर लगा हुआ तिरछा तिलक जो बीच में खुरचा होता है। पनिच=धनुष की प्रत्यंचा। बधिकु=शिकारी। सम=समर अर्थात् कामदेव। तजि=त्यागकर, छोड़कर। कानि=रूकावट, मर्यादा। हनतु=हत्या करता है। तरून-म ग=तरूण युवकों रूपी म ग। तिलक सर=तिलक रूपी बाण। सुरक=नाक पर अंकित तिलक (भाले की आकृति का)। भाल=बाण का फलक। भरि तानि=पूरी तरह तान कर।

प्रसंग

नायिका की तनी हुई भ कुटियों को देखकर नायक कहता है कि ''हे नायिका, तुमने अपने तिरछे तिलक रूपी प्रत्यंचा से युक्त भ कुटी रूपी धनुष को पूरी तरह तान रखा है और लोक-मर्यादा को पूर्णतः विस्म त करके तिलक रूपी फलक वाले बाणों से युवक रूपी हिरणों का शिकार आरम्भ कर दिया है।'' कहने का आशय यह है कि नायिका के माथे पर लगा हुआ आड़ा तिलक उसकी भ कुटियों रूपी धनुष की प्रत्यंचा है जिसे पूरी तरह तानकर वह युवकों के मन को आकर्षित कर रही है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने 'तजि कानि' का प्रयोग किया है जिसका अभिप्राय लोक-लज्जा को त्याग देना है। इस प्रयोग से ऐसा ध्वनित होता है कि प्रस्तुत दोहे में वर्णित नायिका कुलीन परिवार की नहीं है।
2. ब्रजभाषा का प्रयोग।
3. दोहा, छन्दों का प्रयोग।
4. सुन्दर लयात्मकता।
5. सांगरूपक अलंकार सम्पूर्ण दोहे में।
6. 'सरसुरक' तथा 'भाल भरि' में छेकानुप्रास अलंकार।
7. अभेद रूपक अलंकार का प्रयोग।

(46)

ज्यौं-ज्यौं जोबन जेठ दिन, कुच मिति अति अधिकाति।
त्यौं-त्यौं छिन छिन कटि-छपा छीन परति नित जाति।

शब्दार्थ

जोबन जेठ=यौवन रूपी जेठ का महीना। दिन कुच=स्तन रूपी दिन। मिति=लम्बाई। छिन-छिन=क्षण-क्षण। कटि-छपा=कटि रूपी रात्रि। छीन परति=क्षीण होती रहती है।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका के उत्तंग उरोजों और कटि की कृशता का वर्णन किया है। नायिका का प्रियतम अर्थात् नायक अपने किसी गहरे सखा से नायिका के उरोजों और क्षीण कटि की प्रशंसा कर रहा है।

व्याख्या

नायिका के उरोजों और कटि की कृशता का वर्णन करते हुए नायक अपने एक सखा से कहता है ''हे मित्र, जैसे-जैसे उस नायिका के यौवन-रूपी जेठ मास में कुच रूपी दिवस की लम्बाई बढ़ती रहती है वैसे-वैसे प्रतिदिन कटि रूपी रात्रि क्षण-क्षण क्षीण अर्थात् छोटी होती जाती है। कहने का आशय यह है कि जैसे-जैसे नायिका के उरोजों का (यौवनागमन के कारण) आकार बढ़ता रहता है, वैसे-वैसे उसकी कटि का आकार छोटा होता रहता है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने परकीया नायिका का वर्णन किया है।
2. प्रस्तुत दोहे में उरोजों के क्रमिक विकास के साथ-साथ कटि के क्रमशः क्षीण हो जाने का मूल रहस्य यह है कि उरोजों के विकास से कटि का आकार आप ही घटा हुआ प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः कटि के आकार में कोई लघुता नहीं आती, वह लघुता तो केवल भासित होती है।
3. भावसाम्य की द ष्टि से निम्न दोहा देखिए :

   कनक छरी सी कामिनी, काहे को कटि छीनु।
   कटि को कंचन काटि विधि, कुचन मध्य भर दीनु।

4. श्रंगार रस परिपाक।
5. ब्रज भाषा प्रयोग।
6. आकर्षक सौन्दर्य-चित्रण।
7. सुन्दर अभिव्यक्ति।
8. दोहा, छन्द का प्रयोग।
9. अलंकार :

1. छेकानुप्रास—'अति अधिकाति' में।
2. पुनरूक्तिप्रकाश—'ज्यौं-ज्यौं', त्यौं-त्यौं' तथा 'छिन-छिन' में।
3. सांगरूपाक—'जोबन-जेठ', 'दिन कुच' तथा 'कटि छपा' में।
4. श्लेष—'भान' में।

(47)

या अनुरागी चित्त की गति समझै नहिं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं-त्यौं उज्जलु होइ।

शब्दार्थ

अनुरागी=प्रेमी, लाल रंग से युक्त। बूड़ै=डूबता है। स्याम=श्री कृष्ण, काला रंग। उज्जलु=पवित्र, निष्पाप, सफेद।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि श्री कृष्ण भगवान के प्रति अपनी अनन्य भक्ति के भाव को व्यक्त करता है।

व्याख्या

श्री कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति का परिचय देते हुए कवि कहता है कि ''इस प्रेमी-हृदय की गति को कोई भी नहीं समझ सकता । मेरा यह मन जैसे-जैसे श्री कृष्ण के प्रति आसक्त होता जाता है अर्थात् श्री कृष्ण-प्रेम में जितना डूबता जाता है उतना ही अधिक पावन होता जाता है।'' प्रस्तुत दोहे में अनुरागी का आशय लाल रंग से भी होता है। उस द ष्टि से इस दोहे की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। श्री कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति का परिचय देते हुए कवि कहता है कि ''मेरे लाल रंग वाले चित्त की स्थिति को कोई नहीं समझ सकता। मेरा यह (लाल रंग वाला) मन जैसे-जैसे श्याम वर्ण अर्थात् काले रंग (जो कि श्री कृष्ण का परिचायक है) में डूबता जाता है, वैसे-वैसे श्वेत होता जाता है।

विशेष

1. इस दोहे की विलक्षणता यह है कि सामान्यतः काले रंग में डूबने वाली वस्तु का रंग भी काला हो जाता है किन्तु कवि के अनुसार लाल रंग का मन श्याम-वर्ण के श्री कृष्ण के अनुराग में और अधिक उज्जवल, पावन और श्वेत हो जाता है।
2. कई टिकाकारो ंने 'ज्यौं-ज्यौं बूड़े स्याम रंग, त्यौं-त्यौं उज्जलु होई, का अर्थ यह लगाया है कि भक्त का मन श्री कृष्ण की भक्ति में जितना अधिक लगता जाता है, वह उतना ही अधि ाक गाढ़े प्रेम में पड़ता जाता है। भक्ति का उन्माद ही ऐसा होता है। भक्त को सच्चा आनन्द तभी मिलता है जब कि वह पूर्णतः अपने आराध्य के साथ तदाकार हो जाता है। स्वभावतः इस प्रकार भक्त के मन का परिष्कार हो जाता है जिसे कवि बिहारी ने 'उज्जलु होइ' कहकर व्यक्त किया है।
3. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. भक्ति भाव का सुन्दर चित्रण।
5. सुन्दर लयात्मकता।
6. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति।
8. दोहा, छन्द प्रयोग।
9. (क) 'ज्यौं-ज्यौं' तथा 'त्यौं-त्यौं' में पुनरूक्तिप्रकाश अलंकार।

(ख) 'अनुरागी', 'स्याम रंग' तथा 'उज्जलु' में श्लेष अलंकार।
(ग) दूसरे चरण में विरोधाभास अलंकार।

(48)

जपमाला, छापैं, तिलक सरै न एकौ कामु।
मन-काँचै नाचै व था, साँचे राँचे रामु।।

शब्दार्थ

जपमाला=माला के माध्यम से ईश्वर का जप करना। छापैं=माथे पर लगाना। सरै=साधना, पूरा होना। मन-काँचै=कच्चे मन वाला व्यक्ति (जो ईश्वर पर पूर्ण विश्वास न रखता हो)। नाचै=नाचना। यहाँ इसका आशय ईश्वर भक्ति में तल्लीन होकर नाचने से है। साँचै=सच्चे मन वाला (जो ईश्वर पर पूर्ण आस्था रखता है)। राँचै=प्रसन्न होते हैं। रामु=भगवान रामचन्द्र जी।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने भक्ति के बाह्याडम्बरों की भर्त्सना करते हुए सच्चे मन से ईश्वर की आराधना करने पर बल दिया है। कवि की द ढ़ धारणा है कि ईश्वर उसी पर प्रसन्न होता है जो भक्ति के आडम्बरों को त्याग कर सच्चे मन से ईश्वर की स्तुति करता है। प्रस्तुत दोहे में कवि का यही भाव व्यक्त हुआ है।

व्याख्या

आडम्बरपूर्ण भक्ति की भर्त्सना करते हुए कवि कहता है कि ''माला के मनकों से ईश्वर का नाम जपने, माथे पर तिलक लगाने आदि से एक भी काम नहीं सधता। कच्चे मन का भक्त अर्थात् जिस व्यक्ति के मन में ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास नहीं है, यदि वह ईश्वर की स्तुति करते समय भजन, कीर्तन तथा नर्तन करता है तो वह सब व था है। भगवान तो उसी भक्त से प्रसन्न होते हैं जो सच्चे मन वाला होता है अर्थात् जो भगवान में अटूत श्रद्धा और विश्वास रखता है। कहने का अभिप्राय यह है कि ईश्वर की वास्तविक भक्ति सच्चे मन से होती है और माला जपने, तिलक लगाने आदि से ईश्वर प्रसन्न नहीं होता है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में सन्तों की विचारधारा का सुस्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए सन्त काव्य के प्रवर्तक महात्मा कबीर का निम्न दोहा देखिए–

   माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
   कर का मनका डारि दै, मनका, मनका फेर।।

2. प्रस्तुत दोहे में कवि ने निष्काम भक्ति का प्रतिपादन किया है।
3. प्रस्तुत दोहा बिहारी-सतसई के उन गिने चुने दोहों में से है जिसमें भक्ति पद्धति का विवेचन किया गया है। बिहारी सतसई का मूल विषय श ंगार है किन्तु कुछेक दोहे भक्ति तथा नीतिपरक हैं। प्रस्तुत दोहे की गणना भक्ति परक दोहों में की जाएगी।
4. ब्रजभाषा प्रयोग।
5. तद्भव के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर योग।

6. सुन्दर अभिव्यंजना।
7. प्रसाद माधुर्य गुण शैली।
8. सम्पूर्ण दोहे में अनुप्रास अलंकार।
9. 'राँचै रामु' में छेकानुप्रास अलंकार।
10. परिसंख्या अलंकार का भी प्रयोग है।

(49)

जौ वाकै तन की दसा देख्यौ चाहत आपु।
तौ बलि, नैक बिलौकियै चलि अचकौं, चुपचापु।।

शब्दार्थ

जौ=यदि। वाकै=उसके अर्थात् नायिका के। बलि=बलिहारी जाना। नैक=तनिक। बिलोकियै=देखिए। चलि=चलकर। अचका=अचानक, अर्थात् पूर्व सूचना दिए बिना।

प्रसंग

प्रस्तुत पद में कवि ने विरहिणी नायिका की विरह दशा का वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब नायिका की सखी ने नायक के समक्ष नायिका की विरह दशा का वर्णन किया तो उसे सहज ही विश्वास नहीं आया। ऐसी स्थिति में नायिका की सखी नायक से यही आग्रह करती है कि वह बिना पूर्व सूचना के चलकर नायिका की दशा देखे। उसे स्वयं विश्वास आ जाएगा। प्रस्तुत दोहे में कवि ने यही भाव व्यक्त किया है।

व्याख्या

विरहिणी नायिका की विरह-दशा का वर्णन करते हुए नायिका की एक सखी नायक से कहती है कि ''हे नायक, विरहिणी नायिका की जिस विरह-दशा का वर्णन मैंने किया है, यदि तुम्हें उस पर विश्वास नहीं है और इसलिए यदि तुम स्वयं चलकर उसके विरह-दग्ध शरीर को अपनी आँखों से देखना चाहते हो तो मैं तुम्हारे इस निश्चय पर बलिहारी जाती हूँ। (क्योंकि इस प्रकार कम से कम तुम उसे दर्शन तो दोगे) किन्तु मेरा यह आग्रह है कि तुम बिना पूर्व सूचना दिए ही चुपचाप चलकर उसके शरीर की दशा को देखो। (तब तुम्हें सहज ही विश्वास हो जाएगा कि जो कुछ मैंने कहा था वह सत्य है)।''

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में विरहिणी नायिका की सखी का नायक से चुपचाप चलने और नायिका के विरह दग्ध शरीर को देखने का आग्रह करने के स्पष्टतः दो कारण हैं : पहला, तो यह कि यदि नायक पूर्वसूचना न देकर विरहिणी नायिका के तन की दशा देखने जाएगा तो नायक के दर्शन प्राप्त करके वह (नायिका) सहज ही प्रफुल्लित हो जाएगी और उसके विरह-तप्त शरीर में हर्ष की लहर दौड़ जाएगी। दूसरा कारण यह है कि नायिका की सखी अपने इस आग्रह से यह भी सिद्ध करती है कि नायिका के मन में नायक के प्रति अगाध प्रेम है तभी तो नायक के विरह में उसका शरीर इतना कृशकाय हो गया है।
2. वियोग रस का सुन्दर चित्रण।

3. ब्रज भाषा प्रयोग।
4. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
5. सूक्ष्म भाव का स्पष्ट-चित्रण।
6. आकर्षक गेयता।
7. सुन्दर बिम्ब-विधान।
8. दोहा-छन्द का अनुप्रयोग।
9. सम्पूर्ण दोहे में अत्युक्ति अलंकार।
10. सम्पूर्ण दोहे में सम्भावना अलंकार।

(50)

घरू घरू डोलत दीन है, जनु-जनु जाचतु जाइ।
दियैं लोभ चसमा चखनु लघु पुनि बड़ौ लखाई।।

शब्दार्थ

घरू-घरू=घर घर। ह्वै=होकर। जनु जनु=प्रत्येक व्यक्ति से। जाचतु=याचना करता है। जाई=जाकर। लोभ चसमा=लोभ रूपी ऐनक। चखनु=आँखों पर। लघु=छोटा आदमी। लखाइ=दिखाई देता है।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने मनुष्य की लोभ व त्ति की निन्दा की है। प्रस्तुत दोहे में कवि ने लोभी व्यक्ति की निन्दनीय लोभव त्ति का वर्णन किया है।

व्याख्या

मनुष्य की लोभव त्ति की निन्दा करते हुए कवि कहता है कि ''लोभी व्यक्ति घर-घर गरीब, निर्धन बनकर जाता है और प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष याचना का हाथ फैलाता है। जिस समय वह लोगों के सामने याचना का हाथ फैलाता है, उस समय उसकी आँखों पर लोभ का चश्मा चढ़ा हुआ होता है और ऐसी स्थिति में उसे छोटा व्यक्ति भी बहुत बड़ा दिखाई देता है। कहने का आशय यह है कि लोभव त्ति के कारण मनुष्य को साधनहीन लोग भी बहुत सम्पन्न दिखाई देते हैं।

विशेष

1. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
2. आकर्षक गेयता।
3. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
4. तद्भव शब्दों का प्रभावी प्रयोग।
5. मुक्तक शैली।
6. ध्वन्यात्मकता।
7. दोहा, छन्द प्रयोग।

अलंकार

(क) सम्पूर्ण दोहे में काव्यलिंग अलंकार।
(ख) 'जनु जनु जाचतु जाइ' में व त्यानुप्रास अलंकार।
(ग) 'चसमा चखनु' में छेकानुप्रास अलंकार।
(घ) 'घरू घरू' तथा 'जनु जनु' में पुनरूक्तिप्रकाश अलंकार।
(ङ) 'लोभ चसमा' में रूपक अलंकार।
(च) 'लघु पुनि बड़ौ लखाइ' में विरोधाभास अलंकार।

(51)

कहा लड़ैते द ग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकुट बनमाल।।

शब्दार्थ

कहा=कैसे। लडैते=लाडले। द ग=नेत्र। परे=पड़े हुए हैं। लाल=नायक। बेहाल=बेचैन। पीत पटु=पीताम्बर।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका के नेत्रों के कटाक्षों की प्रहार-क्षमता का वर्णन किया है। नायिका के कटाक्ष नायक को बुरी तरह आहत कर देते हैं। और उसे अपनी देह की भी सुध-बुध नहीं रहती।

व्याख्या

नायिका की कटाक्षों की प्रभाव-क्षमता का वर्णन करते हुए उसकी एक सखी उसी से कहती है कि ''हे नायिका तूने अपने इन नेत्रों को कैसा लाड़ला बना रखा है कि इनके कटाक्षों के प्रहार से नायक बेहाल हुए पड़े हैं। उन्हें अपनी देह की सुध-बुध भी नहीं रही और उनकी मुरली कहीं, उनका पीताम्बर कहीं, तथा उनकी वनमाला कहीं पड़ी हुई है अर्थात् उन्हें इन वस्तुओं का कोई ध्यान नहीं रह गया है।

विशेष

1. भावसाम्य की द ष्टि से निम्न पंक्तियाँ देखिए–

कहूँ वनमाल कहूँ गुंजन की माल कहूँ,
संग सखा ग्वाल ऐसे हाल भूलि गए हैं।
कहूँ मोर चन्द्रिका कहूँ लकुट पीतपट
मुरली मुकुट कहूँ न्योर डार दिए हैं
कुंडल अडोल कहूँ सुन्दर न बोले बोल
लोचन अलोल मानो कहूँ हर लये हैं।
घूघट की ओट ह्वै के चितयौ की चोट करी
लालन तौ लोट-पोट तबही वे भये हैं।

2. प्रस्तुत दोहे में परकीया नायिका का वर्णन किया गया है।
3. प्रस्तुत दोहे पर 'राधा वल्लभ सम्प्रदाय' का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार पति और पत्नी को क्रमशः भक्त और ईश्वर रूप माना जाता है।

4. ब्रज भाषा प्रयोग।
5. सुन्दर गेयता।
6. सूक्ष्म भावों का सुन्दर चित्रण।
7. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. सुन्दर बिम्ब-विधान।
9. (क) सम्पूर्ण दोहे में व्याजस्तुति अलंकार।
   (ख) 'पीत पटु' में छेकानुप्रास अलंकार।

(52)

राधा हरि, हरि राधिका बनि आए संकेत।
दंपति रति-बिपरीत-सुखु, सहज सुरतहुँ लेत।।

शब्दार्थ

राधा हरि=राधा ने हरि के वस्त्र धारण कर लिये हैं। हरि राधिका=हरि ने राधा के वस्त्र धारण कर रखे हैं। संकेत=संकेत स्थल। यहाँ इसका आशय मिलन स्थल से है। दम्पति=राधा-कृष्ण की जोड़ी। रति विपरीत सुखु=विपरीत रति का सुख। सुरतहुँ=रतिक्रिड़ा से।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने राधा-कृष्ण के माध्यम से नायक-नायिका द्वारा विपरीत रति से उठाए जाने वाले सुख का वर्णन किया है। नायक और नायिका ने परस्पर वस्त्र बदल लिए हैं अर्थात् नायक ने नायिका के वस्त्र धारण कर लिए हैं और नायिका ने नायक के। इस प्रकार वेष परिवर्तित हो जाने के कारण इन दोनों ने सहज रूप में जो रतिक्रीड़ा का आनन्द उठाया, वस्तुतः विपरीत रति का ही आनन्द था। प्रस्तुत दोहे में नायिका की एक सखी दूसरी सखी से इसी प्रसंग का वर्णन कर रही है।

व्याख्या

नायिका की एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि ''हे सखी, राधा जी ने तो हरि अर्थात श्री कृष्ण का वेश धारण कर लिया और श्री कृष्ण ने राधा का वेष बना लिया और इस प्रकार ये दोनों अर्थात् राधाकृष्ण मिलन स्थल पर आ गए। इस प्रकार वेष परिवर्तन करके राधा कृष्ण दोनों सहज रूप में अर्थात् स्वाभाविक रीति से भी विपरीत रति का सुख भोग रहे हैं।

विशेष

1. सहवास में नारी का पुरूष के समान आचरण करना 'विपरीत रति' कहलाता है। बिहारी सहित रीतिकाल के अनेकानेक कवियों ने विपरीत-रति का वर्णन अपने काव्यों में किया है।
2. यहाँ सहज 'रति' को ही 'विपरीत' इसलिये कहा गया है कि कृष्ण राधा के वेश में हैं और राधा कृष्ण के वेश में।
3. ब्रज भाषा प्रयोग।
4. प्रेम का सुन्दर चित्रण।
5. सुन्दर लयात्मकता।

6. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति।
8. दोहा, छन्द प्रयोग।
9. बोधगम्य शब्दावली।
10. अलंकार :
    (क) 'सुख सहज सुरतहूँ' में व त्यानुप्रास अलंकार।
    (ख) दूसरे चरण में विभावना अलंकार।

(53)

आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहँ जँवाई लौं घट्यौ खरौ पूस-दिन-मानु।।

शब्दार्थ

आवत जात=आना जाना। न जानियतु=पता नहीं लगता। तेजहिं तजि=ग्रीष्म के ताप को त्याग कर। सियरानु=शीतल पड़ गया। घरहँ जँवाई=घर जमाई। खरौ=अधिक। पूस दिन मानु=पूस महीने के दिन की दीर्घता।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने पूस के निरन्तर घटते हुए दिनों का वर्णन किया है। पूस के माह में दिन छोटे हो जाते हैं—कवि ने प्रस्तुत दोहे में इस तथ्य को कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है।

व्याख्या

पूस महीने के दिनों के निरन्तर घटते हुए मान का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि ''अब पूस महीने के दिन का मान अर्थात् दीर्घता इतनी घट गई है कि उसका आना और जाना पता ही नहीं लगता अर्थात् दिन इतने छोटे हो गये हैं कि यह भी पता नहीं लगता कि कब निकला और कब अस्त हुआ। पूस के दिन की स्थिति घर जमाई की तरह है। जिसका आना-जाना पता ही नहीं लगता अर्थात उसकी उपेक्षा की जाती है। इसी प्रकार पूस महीने के दिन ग्रीष्म का ताप छोड़कर शीतल हो गए हैं। ठीक यही स्थिति घर जमाई की भी होती है। घर जमाई बनने के पश्चात् उसके स्वभाव में उष्णता नहीं रहती, शीतलता ही रह पाती है।

विशेष

1. घर जमाई का मान हमेशा घट जाता है। यह लोक व्यवहार से सिद्ध है।
2. पौस मास में दिन छोटा हो जाता है, यह भी प्रकृति सिद्ध है।
3. ब्रज भाषा प्रयोग।
4. आकर्षक गेयता।
5. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
6. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
7. सुन्दर बिम्ब-विधान।
8. सरल भाषा का आकर्षक रूप।

9. दोहा छन्द प्रयोग।
10. अलंकार :
    तेजहिं तजि' में छेकानुप्रास अलंकार।
    सम्पूर्ण दोहे में श्लेषपरिपुष्ट उपमा अलंकार।

(54)

जहाँ जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ स्यामु सुभग-सिरमौरू।
बिन हूँ उन छिनु गहि रहतु द गनु अजौं वह ठौरू।।

शब्दार्थ

ठाढ़ौ=खड़े हुए। लख्यौ=देखा। स्यामु=श्री कृष्ण को। सुभग-सिरमौरू=भाग्यवानों के शिरोमणि। बिन हूँ उन=उनके अर्थात् श्री कृष्ण के बिना भी। अजौं=अब भी। ठौरू=स्थान।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहा श्री कृष्ण की जीवन-कथा से सम्बन्धित है। श्री कृष्ण मथुरा चले गए हैं और उनके वियोग में ब्रज की गोपियाँ परस्पर बातचीत कर रही हैं। ब्रज की गोपिकाओं को ब्रज-प्रदेश के वे सभी स्थल आज भी मनमोहक लगते हैं जहाँ उनके प्रिय श्री कृष्ण खड़े हुआ करते थे। अब श्री कृष्ण की अनुपस्थिति में भी उन स्थलों का आकर्षण बराबर बना हुआ है।

व्याख्या

श्री कृष्ण के मथुरा चले जाने के पश्चात् ब्रज की गोपियाँ आपस में बातचीत कर रही हैं कि ''हमनें भाग्यवानों के शिरोमणि श्री कृष्ण को जहाँ जहाँ खड़े हुए देखा था, वे स्थल उनकी अनुपस्थिति में अर्थात् उनके मथुरा चले जाने के पश्चात् भी हमारी आँखों में क्षणभर के लिए जकड़ लेते हैं अर्थात् उन स्थलों को देखते ही श्री कृष्ण की स्म ति कोंध जाती है।'' कहने का अभिप्राय यह है कि संयोग के मधुर क्षण वियोगावस्था में भी अपना आकर्षण बनाए रखते हैं।

विशेष

1. भावसाम्य की द ष्टि से विक्रम सतसई की निम्न पंक्तियाँ देखिए–
   जहाँ जहाँ नागरि नवल, गई निकुंज मझाइ।
   तहाँ तहाँ लखियत अजौं, रही वही छबि छाइ।
2. प्रिय की अनुपस्थिति में प्रिय के साथ बिताए मधुर क्षण कभी भी नहीं भुलाए जा सकते। विरहिणी नायिका इन्हीं मधुर स्म तियों के सहारे अपना जीवन काट देती है। श्री कृष्ण के मथुरागमन के पश्चात् ब्रज की गोपियों की मनःस्थिति भी कुछ ऐसी ही है। कवि ने प्रस्तुत भाव को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है।
3. ब्रजभाषा प्रयोग।
4. वियोग रस का सुन्दर चित्रण।
5. भाषा का सरल एवं आकर्षक रूप।
6. सुन्दर गेयता।
7. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।

8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. दोहा, छन्द प्रयोग।
10. अलंकार :
    (क) सम्पूर्ण दोहे में स्मरण अलंकार।
    (ख) दोहे के दूसरे चरण में विभावना अलंकार।
    (ग) 'स्यामु सुभग-सिर' में व त्यानुप्रास अलंकार।
    (घ) 'जहाँ जहाँ में पुनरूक्तिप्रकाश अलंकार।

(55)

मरकत-भाजन-सलिल-गत इन्दुकला कैं बेख।
झीनं झगा मैं झलमलै स्यामगत नखरेख।।

शब्दार्थ

मरकत=नीलमणि। भाजन=पात्र। सलिल=जल। इन्दुकला=चन्द्रकला अर्थात् चाँदनी। झीन=झीना अर्थात् बारीक। झगा=अंगरखा की तरह की एक पोशाक (जिसे पुरुष पहना करते हैं)। नखरेख= नखक्षत। (रतिक्रीड़ा के समय नायिका के नाखूनों के चिह्न)।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने एक ऐसे नायक का वर्णन किया है जिसके शरीर पर स्त्रीगमन के कारण नख-क्षत स्पष्टतः दीख रहे हैं। नायिका नायक के शरीर पर अंकित इन नख-क्षतों का वर्णन कर रही है।

व्याख्या

परकीया के साथ सहवास करके लौटे नायक को सम्बोधित करते हुए नायिका कहती है कि ''हे नायक, तुमने अपने साँवले शरीर पर बारीक कपड़े का जो अंगरखा पहना हुआ है, उसमें से (परकीया के साथ सहवास के कारण) नख-क्षत इसी प्रकार दीख रहे हैं मानो नीलमणि के पात्र में पड़े हुए जल में चन्द्रकला का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो।''

विशेष

1. परम्परा के अनुसार किसी पात्र में जल रखकर उसमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देखना बहुत अशुभ माना जाता है। कवि ने प्रस्तुत दोहे में संभवतः इसी परम्परा की ओर संकेत किया है। नायक के साँवले शरीर पर अंकित परकीया के नख-क्षत स्वभावतः नायिका के लिए अशुभ एवं कष्टदायक ही होंगे।
2. प्रस्तुत दोहे में कवि ने खंडिता नायिका के मनोभावों का वर्णन किया है।
3. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. उत्तम शब्द-चयन।
5. भावात्मक गहराई।
6. सुन्दर लयात्मकता।
7. मुक्तक शैली।

8. ध्वन्यात्मकता।
9. दोहा, छन्द प्रयोग।
10. (क) 'झीन-झगा' में छेकानुप्रास अलंकार।
    (ख) दूसरे चरण में गम्योत्प्रेक्षा अलंकार।
    (ग) रूपक अलंकार का भी प्रयोग हुआ है।

(56)

सोनजुही सी जगमगति अँग अँग जोबन-जोति।
सुरँग कसूँमी कंचुकी दुरँग देह-दुति होति॥

शब्दार्थ

सोनजुही=पीले रंग की जुही। जगमगति=प्रकाशित होती है। जोबन-जोति=यौवन की आभा। सुरंग=सुन्दर रंग। कसूँमी=कुसुंमी फूल के रंग से युक्त। दुरंग=दो रंग। यहाँ इसका आशय पीले और लाल रंग से है।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने नायिका के रूप सौन्दर्य का वर्णन किया है। नायिका की एक सखी नायक से कह रही है।

व्याख्या

नायक को सम्बोधित करते हुए एक सखी कहती है कि ''हे नायक, उस नायिका के यौवन की आभा पीले रंग की जुही की तरह प्रकाशित हो रही है अर्थात् उस नायिका के अंग-प्रत्यंग सोनजुही की तरह चमक रहे हैं। साथ ही उस नायिका ने कुसुंभी रंग की कंचुकी पहन रखी है और इस कारण एक तो कंचुकी का कुंसुभी अर्थात् लाल रंग और दूसरे नायिका का सोनजुही सा रंग—इन दोनों रंगों की मिली-जुली आभा के कारण उसके शरीर की आभा दुरंगी हो रही है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में परकीया नायिका का वर्णन किया गया है।
2. कवि की वर्ण (रंग) योजना देखने लायक है।
3. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
5. ध्वन्यात्मकता।
6. सुन्दर गेयता।
7. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. दोहा, छन्द प्रयोग।
9. अलंकार-
    (क) दोहे के पहले चरण में पूर्णोपमा अलंकार।
    (ख) 'कसूंभी कंचुकी' तथा 'जोबन जोति' में छेकानुप्रास अलंकार।

(ग) 'दुरग देह दुति' में व त्यानुप्रास अलंकार।
(घ) 'अंग-अंग' में पुनरूक्तिप्रकाश अलंकार।

(57)

बड़ै न हूजै गुननु बिनु बिरद-बड़ाई पाई।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गद्यौ न जाई।।

शब्दार्थ

हूजै = हो सकते हैं। बिरद = यश, कीर्ति। कनकु = सोना, धतूरा। गहनौ = गहना, आभूषण।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वही मनुष्य बड़ा हो सकता है जिसमें महान गुण हों अर्थात् मनुष्य की महानता की एकमात्र कसौटी उसकी गुण सम्पन्नता है।

व्याख्या

कवि कहता है कि 'गुणों के बिना कोई भी बड़ा नहीं हो सकता अर्थात् बड़ा वही होता है जिसमें महान गुण होते हैं। केवल यश अथवा कीर्ति प्राप्त करके ही कोई बड़ा बन जाता। यदि धतूरे को कनक अर्थात् सोने का नाम दे भी दिया जाए, तो भी उससे अर्थात् धतूरे से आभूषण तो नहीं गढ़े जा सकते इसका स्पष्ट कारण यही है कि भले ही धतूरे को कनक का नाम दे दें, तो भी उसमें कनक अर्थात् सोने के गुण तो नहीं आ पाते। इस प्रकार बड़प्पन की एक मात्र कसौटी गुणवत्ता है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने अपने व्यावहारिक ज्ञान का भरपूर परिचय दिया है। महानता की एक मात्र कसौटी गुणवत्ता होती है, प्रशंसात्मक नाम नहीं। कवि ने प्रस्तुत दोहे में इसी महान सत्य का उद्‌घाटन किया है।
2. लोकनीति व लोक व्यवहार का प्रभावशाली वर्णन हुआ है।
3. ब्रजभाषा प्रयोग।
4. तद्‌भव शब्दों के साथ तत्सम का सुन्दर योग।
5. सूक्ष्म भाव का स्पष्ट चित्रण।
6. आकर्षक गेयता।
7. सुन्दर बिम्ब-विधान।
8. प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. दोहा छन्द प्रयोग।
10. अलंकार-
    (क) 'बिरद बड़ाई' तथा 'गहना गढ़यौं' में छेकानुप्रास अलंकार।
    (ख) 'गुननु बिनु- में विनोक्ति अलंकार।
    (ग) सम्पूर्ण दोहे में अर्थान्तरन्यास अलंकार।

(58)

कनकु कनक तै सौगुनी मादकता अधिकाइ।
उहिं खाऐं बौराइ, इहिं पाऐं ही बौराइ।।

शब्दार्थ

कनकु = सोना। कनक = धतूरा। मादकता = उन्मत्त कर देने की क्षमता। अधिकाइ = बढ़ जाना, अधिक हो जाना। उहिं = उसे (धतूरे को)। इहिं = इसे (सोने को)। बौराइ = पागल होना।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने संपत्ति के मद को धतूरे से होने वाले नशे से कहीं अधिक उन्मत्त बना देने वाला सिद्ध किया है। स्वर्ण और धतूरा दोनों ही मनुष्य को उन्मत्त बना देते हैं किन्तु पैसे का नशा अर्थात् धन-सम्पत्ति का नशा कहीं अधिक गहरा होता है। प्रस्तुत दोहे में कवि की यही स्थापना रही है।

व्याख्या

कवि कहता है कि "सोने अर्थात् धन-सम्पत्ति में उन्मत्त करने की क्षमता धतूरे से सौगुना अधिक होती है। कहने का आश्य यह है कि धन-सम्पत्ति और धतूरा - दोनों ही मनुष्य को उन्मत्त बना देते हैं। फिर भी सोना अर्थात् धन-सम्पत्ति का नशा धतूरे की तुलना में अधिक होता है, क्योंकि धतूरे को खाकर मनुष्य पागल होता है, किन्तु धन-सम्पत्ति को तो प्राप्त करके ही मनुष्य पागल हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि धतूरे का नशा तो उसे खाकर होता है किन्तु धन-सम्पत्ति का नशा तो उसे प्राप्त होते ही हो जाता है (उसे खाने की भी आवश्यकता नहीं होती)।"

विशेष

1. सम्पत्ति-धन को पाकर मनुष्य को अहंकार नहीं करना चाहिए।
2. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
3. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
4. आकर्षक गेयता।
5. ध्वन्यात्मकता।
6. उत्तम शब्द-चयन।
7. दोहा छन्द प्रयोग।
8. माधुर्य-गुण सम्पन्न शैली।
9. (क) 'कनकु-कनक' में अभंग यमक अलंकार।
   (ख) सम्पूर्ण दोहे में काव्यलिंग अलंकार।

(59)

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग पग होत प्रयागु।।

शब्दार्थ

तजि = छोड़कर। तन-दुति = शरीर की कान्ति। अनुरागु = प्रेम। जिहिं = जिससे। प्रयागु = तीर्थराज, संगम।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने श्री कृष्ण और श्री राधिका जी के शरीर की कान्ति को ही तीर्थराज प्रयाग की उपमा दी है। कवि के मतानुसार विभिन्न तीर्थ-स्थानों की कोई महत्ता नहीं है। वास्तविक तीर्थ तो श्री कृष्ण और श्री राधिका की युगल मूर्ति है। कवि अपने मन को उसी तीर्थ की ओर प्रव त्त कर रहा है।

व्याख्या

कवि अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहता है कि "हे मन, तीर्थों का आकर्षण छोड़ दे और श्री कृष्ण एवं राधिका के शरीर की शोभा के प्रति अनुराग का भाव रख। हे मन, इसी अनुराग के कारण ब्रज प्रदेश के बिहार-कुंजों में पग-पग पर तीर्थराज प्रयाग के दर्शन होते हैं। कहने का आशय यह है कि विभिन्न तीर्थो की यात्रा करने से कोई लाभ नहीं होने का। वास्तविक तीर्थ तो श्री कृष्ण-राधिका की युगलमूर्ति में स्थिति है, अतः मनुष्य को उसी ओर ध्यान लगाना चाहिए।

विशेष

1. श्री कृष्ण की छवि श्याम है और राधा की छवि गौर। गंगा का जन स्वच्छ, श्वेत है और यमुना का जल-श्याम। ब्रज में ये दोनों रंग तो विद्यमान हैं हीं, तुम्हारे अनुराग के मिल जाने से यहाँ सरस्वती का भी प्रवेश हो जाएगा। इस प्रकार गंगा, जमुना और सरस्वती तीनों के कारण ब्रज का पग-पग तीर्थराज प्रयाग बन जाएगा। इसलिए सामान्य तीर्थो में भटकना छोड़कर हे तीर्थ यात्री ! श्री कृष्ण-राधा में अनुराग लगा- वही तेरे लिए तीर्थराज प्रयाग है।
2. प्रस्तुत दोहे में कवि के भक्त रूप का परिचय मिलता है।
3. ब्रज भाषा का प्रयोग।
4. भक्ति रस का परिपाक।
5. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
6. ध्वन्यात्मकता।
7. सुन्दर गेयता।
8. लयात्मकता।
9. दोहा, छन्द का प्रयोग।
10. माधुर्य-गुण सम्पन्न शैली।
11. अलंकार-
    (क) 'तजि तीरथ' में छेकानुप्रास अलंकार।
    (ख) 'पग-पग' में पुनरूक्तिप्रकाश अलंकार।
    (ग) दोहे के दूसरे चरण में तद्‌गुण अलंकार।
    (घ) दोहे के पहले चरण में व्यतिरेक अलंकार।
    (ङ) सम्पूर्ण दोहे में अनुप्रास अलंकार।

(60)

खिन खिन में खटकति सु हिय, खरी भीर मैं जात।
कहि जु चली, अनहीं चितै, ओठनु ही बिच बात।।

शब्दार्थ

खिन-खिन मैं = क्षण-क्षण में। हिय = हृदय में। खरी = अत्याधिक। भीर = भीड़। अनहिं चितै = बिना देखे हुए। बिच = बीच में।

प्रसंग

नायक भीड़ में खड़ा है, तभी नायिका वहाँ से होकर निकल जाती है। नायिका, नायक की ओर देखती भी नहीं, और ओठों के बीच में ही कुछ कहकर निकल जाती है। जब नायक नायिका की इस क्रिया को देखता है तो वह स्वभावतः दुःखी हो उठता है। क्योंकि नायिका ने जो कुछ कहा, नायक को उसका ज्ञान नहीं हो सका। प्रस्तुत दोहे में नायक अपने इसी भाव को नायिका की सखी से कह रहा है।

व्याख्या

नायिका की सखी को सम्बोधित करते हुए नायक कहता है कि "हे सखी, जब वह नायिका अत्यधिक भीड़ में से होकर जाती है और मेरी ओर देखे बिना ही ओठों के बीच में कुछ कह कर चली जाती है। तो क्षण-क्षण मेरे हृदय में बहुत खटकती है। कहने का आशय यह है कि इतनी भीड़ में से उसका इस प्रकार ओठों ही ओठों में कुछ कहना (जिसका मुझे पता नहीं चल सका)। और मेरी ओर देखे बिना ही चला जाना मेरे हृदय को बहुत खटकता है।

विशेष

1. नायिका का ओठों ही ओठों में कहने का कारण यही प्रतीत होता है कि वह इतनी भारी भीड़ में प्रकट रूप से अपनी बात नहीं कह सकती। इतनी भारी भीड़ में नायक को देखे बिना ही निकल जाने का कारण भी यही लोक लाज है।
2. भाव साम्य की द ष्टि से 'विक्रम सतसई' का निम्न दोहा देखिए-
   ललचौंहीं कछु बात कहि, तिरछौंहीं अंखियान।
   खटकी उर अटकी रहत, वा मुख की मुसकान।।
3. ब्रज भाषा प्रयोग।
4. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
5. आकर्षक गेयता।
6. ध्वन्यात्मकता।
7. लयात्मकता।
8. माधुर्य-गुण सम्पन्न शैली।
9. दोहा, छन्द प्रयोग।
10. अलंकार-
    (क) सम्पूर्ण दोहे में स्म ति अलंकार।

(ख) 'बिच बात' में छेकानुप्रास अलंकार।
(ग) 'खिन-खिन' में पुनरूक्तिप्रकाश अलंकार।

(61)

निसि अँधियारी, नील पटु पहिरि, चली पिय-गेह।
कहौ, दुराई क्यौं दुरै दीप-सिखा सी देह।।

शब्दार्थ

निसि = रात। नील पटु = नीले रंग की पोशाक। पियगेह = प्रियतम के घर। कहौ = (तुम्हीं) बताओ। दुराई क्यों दुरै = छिपाने से कैसे छिप सकती है।

प्रसंग

अंधेरी रात में नायिका नीली पोशाक पहन कर प्रियतम से अभिसार के लिये जा रही थी। उसने नीली साड़ी इसलिए पहन रखी थी कि अँधेरी रात में नीले रंग की साड़ी चमकेगी नहीं। तथापि उसके शरीर का कान्ति ऐसी थी कि वह अँधेरी रात में, नीले परिधानों में भी छिपी नहीं रह सकती थी। नायिका की एक सखी नायक को इसी तथ्य से अवगत करा रही है।

व्याख्या

नायिका की एक सखी नायिका से कहती है कि "हे नायिका, इस अँधेरी रात में तुम नीले वस्त्र धारण करके प्रियतम के घर जा रही हो। (तुमने स्वाभावतः यह सोचकर नीले रंग के वस्त्र पहने होंगे कि अँधेरी रात में तुम्हें कोई देख नहीं पाएगा)। तथापि हे सखी, तुम्हीं बताओ कि दीपशिखा की तरह चमकने वाली तुम्हारी सुन्दर देह, क्या इस प्रकार (नीली साड़ी आदि पहनने से) छिपाने से छिप सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुम्हारे शरीर की कान्ति अपने आप में इतनी चमकीली है कि वह छिपाने से भी नहीं छिप सकती।"

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कवि ने कृष्णाभिसारिका नायिका के मनोभावों का वर्णन किया है।
2. कवि ने रंगों की, सुन्दर योजना की है। अन्धेरे की काली प ष्ठभूमि में नायिका की दीप-शिखा सी देह की प्रस्तुति कवि की सुन्दर कल्पना है।
3. ब्रजभाषा प्रयोग।
4. माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
5. आकर्षक गेयता।
6. ध्वन्यात्मकता।
7. सुन्दर शब्द चयन।
8. दोहा छन्द प्रयोग।
9. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
10. अलंकार-
    (क) 'दीपसिखा सी' में उपमा अलंकार।

(ख) दूसरे चरण में अनुप्रास अलंकार।
(ग) 'पटु पहिरि' में छेकानुप्रास अलंकार।
(घ) सम्पूर्ण दोहे में विशेषोक्ति अलंकार।

(62)

औंधाई सीसी, सु लखि बिरह-बरनि बिललात।
बिच हीं सूखि गुलाबु गौ, छींटौ हुई न गात।।

शब्दार्थ

औंधाई = उड़ेल दी। सीसी = शीशी। सुलखि = उसे देखकर। बिरह-बराने = विहर ज्याला। बिललात = विलाप करते हुए, बिलखते हुए। गुलाबु = गुलाबजल। छीटौं = छींटा, बूंद। गात = शरीर।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में विरहिणी नायिका की अत्यन्त मार्मिक दशा का निरूपण किया गया है। उसकी ऐसी कातर दशा से करूणाविगलित हो एक सखी दूसरी सखी से कहती है-

व्याख्या

हे सखी, उसे बिरह-ज्वाला में दग्ध होते हुए और विलाप करते हुए देखकर हमने उस पर गुलाब जल की शीशी उड़ेल दी किन्तु आश्चर्य है कि सारा गुलाबजल उसके विरह-ताप से बीच में ही वाष्प बनकर उड़ गया और एक बूँद भी उसके शरीर को स्पर्श न कर सकी।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में विरह् का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है।
2. प्रोषित पतिका नायिका का वर्णन।
3. भावसाम्य की द ष्टि से निम्न दोहा देखियेः
   विरह आँच नहिं सटि सकी, सखी भई बेताब।
   चनकि गई सीसी गयौ छिकरत छनकि गुलाब।।
4. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
5. यह वर्णन निश्चय ही अत्युक्तिपूर्ण है, चमत्कार युक्त है, पर हृदय को प्रभावित नहीं कर पाता।
6. ऐसी उक्तियों में कल्पना का चमत्कार होता है, जो यहाँ स्पष्ट है।
7. आकर्षक गेयता।
8. दोहा, छन्द प्रयोग।
9. सुन्दर अभिव्यंजना।
10. तद्भव के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर प्रयोग।
11. अलंकार-
    (क) विरह-बरानि' में रूपक अलंकार।
    (ख) 'बरनि बिललात' और 'छींटो छुई' में छेकानुप्रास अलंकार।

(63)

हौं हीं बौरी बिरह-बस कै बौरौ सबु गाउँ।
कहा जानि ए कहत हैं! ससिहिं सीतकर-नाउँ।।

शब्दार्थ

बौरी = बावली, पागल सी। ससिहिं = चन्द्रमा को। सीतकर = ठण्ड करने वाले, शान्तिदायक।

प्रसंग

नायिका पूर्वानुरागिणी है। चन्द्र की किरणें उसे दुःख दे रही हैं, ताप दे रही हैं। वह मन में सोचती है कि लोगों ने चन्द्रमा का नाम शीतकर कैसे रखा है।

व्याख्या

विरह के सन्ताप वश या तो मैं बावली हो रही हूँ जिससे शीतल किरणों वाला चन्द्रमा भी मुझे ताप-कारी लग रहा है या फिर यह सारा गाँव ही बावला हो गया है जो इस सन्तापकारी चन्द्रमा को शीतल मानते हैं, शीतल कहते हैं। पता नहीं लोगों ने कैसे चन्द्रमा को 'शीतकर' नाम दिया है जब कि वह मुझे जला रहा है।

विशेष

1. नायिका की बिरह-व्यथा का, उसके सन्ताप का स्वाभाविक वर्णन हुआ है।
2. मिलनावस्था में प्रकृति के जो उपकरण सुखद होते हैं, विरहकाल में वे सब दुःखदायी बन जाते हैं।
3. वियोगावस्था का सुन्दर चित्रण है।
4. ब्रज भाषा प्रयोग।
5. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
6. उत्तम शब्द चयन।
7. ध्वन्यात्मकता।
8. सुन्दर गेयता।
9. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
10. दोहा छन्द प्रयोग।
11. यहाँ सन्देह अलंकार है।

(64)

सोवत, जागत, सुपन-बस, रस, रिस, चैन, कुचैन।
सुरति स्यामघन की, सुरति बिसरै हूँ बिसरै न।।

शब्दार्थ

सोवत = सोते। जागत = जागते। सुपन = स्वप्न। रिस = रोष। सुरति = स्म ति। रति = कामसुख। बिसरै = भूलना।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने प्रोषित पतिका नायिका का अपनी सखी से अपनी स्म ति दशा का वर्णन करने का चित्रण किया है।

व्याख्या

नायिका अपनी सखी से कहती है कि सोते, जागते, स्वप्न देखते, रस में (सरसता से कोई काम करते रिस में (रोष से कुछ करते या कहते), चैन करते, विकल होते (इन सब दशाओं में से किसी में भी) घनश्याम की जो स्म ति है, जो भूलने से भी (भुलाने से भी) रत्ती भर नहीं भूलती।

विशेष

1. वियोग की अवस्था में नायिका के मन में प्रियतम की स्म ति का, उसकी गहराई का मार्मिक वर्णन किया गया है।
2. कवि का शब्द चयन चित्रात्मक एवं प्रभावशाली है।
3. श्याम घन (कृष्ण) की 'सुरति' को मैं भुला नहीं पाती-यह अर्थ भी व्यंजित होता है।
4. ब्रज भाषा प्रयोग।
5. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
6. ध्वन्यात्मकता।
7. आकर्षक गेयता।
8. दोहा, छन्द प्रयोग।
9. माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
10. अलंकार - यमक अलंकार। विशेषोक्ति अलंकार।

(65)

संगति सुमति न पावहिं परे कुमति कै धंध।
रासौ मेल कपूर मैं, हींग न होइ सुगंध।।

शब्दार्थ

संगति = साथ। सुमति = सद्बुद्धि। पावहिं = मिले। कुमति = दुर्बुद्धि। कै = के। धंध = जाल। राखौ = रखना। मेलि = मिलाना।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि ने कुमति की भर्त्सना की है। कवि की मान्यता है कि जो व्यक्ति दुर्मति के जाल में फँसे होते हैं उन्हें सत्संगति भी सद्बुद्धि प्रदान नहीं कर सकती है- इसी भावसत्य को उद्घाटित करते हुए कवि कहता है कि-

व्याख्या

कुमति के धंधे में फँसे हुए लोग सत्संगति पाकर भी सद्बुद्धि नहीं प्राप्त कर सकते हैं जैसे कि लम्बे समय तक हींग को कपूर में मिलाकर रखा जाये तब भी हींग में से कपूर की सुगंध नहीं आ सकती

है। कहने का तात्पर्य यह है कि संगति गुण-ग्रहण करना सिखाये या नहीं परन्तु अवगुणों का प्रभाव अवश्य डालती है।

विशेष

1. नीतिपरक दोहे में संगदोष का निरूपण किया गया है।
2. संगति का सुन्दर चित्रण किया गया है।
3. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. सुन्दर शब्द चयन।
5. आकर्षक लयात्मकता।
6. सुन्दर गेयता।
7. माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. दोहा, छन्द प्रयोग।
9. अलंकार-
   (क) सम्पूर्ण दोहे में द ष्टान्त अलंकार।
   (ख) दोहे के द्वितीय चरण में अतद्गुण अलंकार।
   (ग) 'संगति सुमति', 'पावहिं पेर' में छेकानुप्रास अलंकार।

(66)

तन भूषण, अंजन द गनु, पगनु महावर रंग।
नहिं सोभा कौं साजियतु कहिबैं हीं कौ अंग।।

शब्दार्थ

तन भूषण = शरीर को गहनों से। अंजन = काजल। द गनु = आँखें। पगनु = पग, पैर। साजियतु = सौन्दर्य को बढ़ाना।

प्रसंग

सखी नायक के प्रति नायिका के सहज, स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन कर रही है।

व्याख्या

नायिका स्वभाव से ही अपने प्राकृतिक रूप में ही इतनी सुन्दर है कि उसके तन को आभूषणों से, आँखों को काजल से और पाँवों को महावर के रंग से नहीं सजाया जाता है। ये सब उसके अंगों के सौन्दर्य को बढ़ाने का साधन नहीं होते। नायिका का शरीर पहले से ही कंचन जैसा है फिर भला सोने के आभूषण उसके सौन्दर्य को कैसे बढ़ायेंगे? उसकी आँखें पहले से ही कजरारी हैं, फिर काजल से उसका सौन्दर्य क्या बढ़ेगा। उसके पाँव महावर के बिना ही लाल हैं। अतः ये तीनों चीजें उस सुन्दरी के शरीर का अंग-मात्र तो बन जाती हैं, पर उसके सौन्दर्य में कोई व द्धि नहीं करतीं।

विशेष

1. नायिका के सहज सौन्दर्य का उत्कृष्ट वर्णन हुआ है।
2. ब्रज भाषा प्रयोग।

3. सहज भावाभिव्यक्ति।
4. सुन्दर गेयता।
5. ध्वन्यात्मकता।
6. माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. सुन्दर बिम्ब-विधान।
8. श्रंगार रस वर्णन।
9. दोहा छन्द का प्रयोग।
10. यहाँ मीलित अलंकार का प्रयोग है।

(67)

गिरि ते ऊँचे रसिक-मन बूढ़े जहाँ हजारू।
वहै सदा पसु-नरनु कौ प्रेम-पयोधि पगारू।।

शब्दार्थ

गिरि तैं = पर्वत से। रसिक = काव्यादि के रस के ज्ञाता, अनुभवी तथा भक्त। बूड़े = डूबे। जहाँ = जिसमें। वहै = उसी प्रेम सिन्धु को। पसु नरनु कौं = नर पशुओं अर्थात् अरसिकों के लिए। प्रेम पयोधि = प्रेम रूपी सागर। पगारू = खाई या गड्ढा।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में प्रेम की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है। प्रेम का महत्त्व रसिक जन ही समझ सकते हैं, अरसिक नहीं। इसी भाव सत्य को कवि ने यहाँ उद्घाटित किया है।

व्याख्या

प्रेम के अनन्त सिन्धु में पर्वत से भी ऊँचे रसिक मन सहस्त्रों बार डूबे हैं किन्तु वही प्रणयसिन्धु साक्षात् नरपशुओं अर्थात् अरसिकों के लिए कए गड्ढे के समान है जिसको वे बिना देखे ही लांघ जाते हैं। कहने का आशय यह है कि प्रेम की सत्ता को केवल सहृदय रसिक ही अनुभव कर सकता है कोई मूर्ख या अरसिक उसे एक खाई या गड्ढे से अधिक महत्त्व नहीं देता। वह प्रेम की गुरू-गम्भीरता को नहीं जान सकता है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में रसिक और अरसिक के मध्य अन्तर को स्पष्ट करते हुए प्रेम के महत्त्व को निरूपति किया गया है।
2. स्वामी हरिदास के रसिक सम्प्रदाय के प्रेम तत्व का संकेत किया गया है।
3. शास्त्रों में भी अरसिकों को साक्षात् नरपशु बतलाया गया है।
4. भावसाम्य की द ष्टि से निम्न दोहा देखिये
   तंत्री-नाद, कवित्त रस, सरस राग, रति-रंग।
   अनबूड़े, बूड़े, तेर जे बूड़े सब अंग।।
5. ब्रज भाषा का सरल प्रयोग।

6. सुन्दर बिम्ब-विधान।
7. तद्भव के साथ-तत्सम शब्दों का सुन्दर योग।
8. आकर्षण गेयता।
9. प्रसाद माघुर्य गुण सम्पन्न शैली
10. अलंकार -

(क) 'पसु नरनु' तथा 'प्रेम-पयोधि' में रूपक अलंकार।
(ख) 'गिरि तै ऊँचै रसिक-मन' में व्यतिरेक अलंकार
(ग) 'प्रेम-पयोधि पगारू' में अनुप्रास अलंकार।

(68)

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब, अलि रही गुलाब मैं अपतु कँटीली डार।।

शब्दार्थ

कुसुम-फूल। बहार-बसंत ऋतु। अलि = भौंरा। अपत = पत्र हीन।

प्रसंग

जिसका यौवन काल बीत गया है ऐसी नायिका या जिसकी सम्पत्ति नष्ट हो गई है, राज्य-वैभव समाप्त हो गया है ऐसे व्यक्तियों के विषय में कवि का कथन है।

व्याख्या

हे भ्रमर, जिन सुन्दर, सुहावने दिनों में तूने वे सुन्दर फूल देखे थे, उनकी सुगन्धि का पान किया था, वह बसन्त ऋतु तो अब बीत गई है। अब तो गुलाब के पौधे में बिना पत्तों के काँटेदार शाखा-भर ही रह गई है।

विशेष

1. किसी विगत यौवना अथवा नष्ट सुख व्यक्ति पर अन्योक्ति।
2. 'बहार' यौवन अथवा सुख-सम्पत्ति का प्रतीक।
3. ब्रज भाषा का सरल एवं आकर्षण रूप।
4. आकर्षक भावाभिव्यक्ति।
5. सुन्दर गेयता।
6. ध्वन्यात्मकता।
7. सुन्दर शब्द चयन।
8. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम का सुन्दर प्रयोग।
9. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
10. दोहा छन्द प्रयोग।
11. (क) 'जिन दिन' में अन्त्यानुप्रास अलंकार।
    (ख) 'बीति बहार' तथा 'अब अलि' में छेकानुप्रास अलंकार।
    (ग) कवि ने अन्योक्ति अलंकार का मार्मिक प्रयोग किया है।

(69)

सुनत पथिक-मुँह, माह-निसि चलति लुवैं उहिं गाम।
बिनु बूझै, बिनु ही कहैं, जियति बिचारी बाम।।

शब्दार्थ

पथिक = राही। माह = माघ का महीना, ठण्ड का मौसम। निसि = रात्रि। लुवैं = लू। उहिं = उस। गाम = गाँव। जियति = जीवित। बाम = स्त्री, नायिका।

प्रसंग

किसी पथिक ने आकर बताया कि उस गाँव में तो माघ महीने की ठण्डी रातों में भी लू चलती है। इससे प्रदेश में निवास करने वाले नायक को इस बात की प्रसन्नता होती है कि उसकी विरहिणी स्त्री जीवित है।

व्याख्या

गाँव की ओर से आए हुए नायक ने, पथिक के मुँह से यह सुनकर कि वहाँ (उस गाँव में), माघ मास की शीतल रात्रि में भी लू चलती है, बिना अपनी पत्नी के सम्बन्ध में कुछ पूछे या बिना उस पथिक से कुछ कहे, यह अनुमान कर लिया कि उसकी विरहिणी स्त्री, शोक सन्तप्त अवस्था में रहते हुए भी जीवित तो है।

विशेष

1. नायक के अनुमान से उसके मन में विरहिणी स्त्री के प्रति मधुर भाव का आभास होता है।
2. विरह सन्ताप से गांव में लूएँ चलना - अत्युक्ति तो है, अस्वाभाविक एवं ऊहात्मक कल्पना भी है।
3. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. आकर्षक भावाभिव्यक्ति।
5. सुन्दर गेयता।
6. ध्वन्यात्मकता।
7. तत्सम शब्दों के साथ तद्भव शब्दों का सुन्दर प्रयोग।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. दोहा छन्द प्रयोग।
10. सुन्दर बिम्ब विधान।
11. अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग।

(70)

सघन कुँज, घन घन तिमिरू अधिक अंधेरी राति।
तऊ न दुरिहै, स्याम वह, दीपसिखा-सी जाति।।

शब्दार्थ

सघन=घना। घन-तिमिरू=बादलों का अन्धकार। तऊ=तो भी। न दुरिहै=नहीं छिपेगी।

प्रसंग

नायक दूती से प्रार्थना करता है कि वह इस अंधेरी बादलों में घिरी रात में नायिका को सघन कुंजों में ले आये परन्तु दूती स्पष्ट करती है कि अंधेरी रात होने पर भी वह दीपशिखा की भांति भासित होगी जिससे सारा भेद खुल जाने का भय है।

व्याख्या

हे नायक, यद्यपि अंधेरी रात है, बादल भी घिरे हुए हैं और अभिसार के लिए पर्याप्त सघन कुंज भी हैं तथापि वह लावण्यमयी सुन्दरी अंधेरे में भी छिप नहीं पायेगी और जाती हुई दीपशिखा की भांति आलोकोज्ज्वल होगी। कहने का आशय यह है कि रात अंधेरी होने के कारण उसकी कांति और अधिक दीप्तिमयी हो उठेगी।

विशेष

1. वाग्विदग्धा दूती नायिका के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन कर नायक के अनुराग भाव को और अधिक उद्दीप्त करना चाहती है।
2. कवि को 'दीपशिखा' उपनाम अधिक प्रिय है। इसका प्रयोग उन्होंने अन्य दोहों में भी किया है। जैसे–

   रहै वहै लागी द गनु दीपशिखा-सी देह।
   निसि अँधियारी नील, पटु पहिरि चली पिय-गेह।
   कहौ दुराई क्यौं दुरै, दीपशिखा सी देह।
3. भाषा में ध्वनन की शक्ति है।
4. ब्रज भाष का प्रयोग।
5. श्रंगार रस का सुन्दर चित्रण।
6. सुन्दर बिम्ब-विधान।
7. आकर्षक भावाभिव्यक्ति।
8. गेयता।
9. ध्वन्यात्मकता।
10. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
11. दोहा छन्द प्रयोग।
12. अलंकार–

    (क) 'घन-घन' में यमक अलंकार।
    (ख) 'दीपशिखा-सी' में उपमा अलंकार।
    (ग) सम्पूर्ण दोहे में विशेषोक्ति अलंकार।

(71)

स्वारथु सुकृतु न, श्रम व था, देखु बिहग विचारि।
बाज, पराऐं पानि परि, तू पच्छीनु न मारि।।

शब्दार्थ

स्वारथु=अपना लाभ। सुकृत=पुण्य का काम। श्रमु=श्रम, परिश्रम। व था=व्यर्थ। बिहँग=आकाश में विचरण करने वाला, पक्षी। पराऐं पानि परि=पराये हाथों में पड़कर। पच्छीनु=पक्षियों को, अपने पक्ष वालों को। पानि=शोभा, महत्त्व।

प्रसंग

प्रस्तुत अन्योक्तिपरक दोहे में कवि ने राजा जयसिंह को बाज के माध्यम से यह समझाने की चेष्टा की है कि वे अपने ही पक्ष के लोगों अर्थात भारतीय राजाओं से युद्ध न करें। कहा जाता है कि राज जयसिंह मुगलों के प्रति वफादारी निभाने के लिए हिन्दू राजाओं से युद्ध करते थे। छत्रपति शिवाजी के भी विरूद्ध युद्ध के लिए गये परन्तु सफल न हो पाये। कविवर बिहारी भी राजा जयसिंह के इस कुकृत्य से अप्रसन्न थे। मुगल शासकों को प्रसन्न करने के लिए अपने ही भारतीय राजाओं से युद्ध करना उन्हें न्याय संगत नहीं लगता था। बाज पक्षी के माध्यम से उन्होंने राजा को समझाने की चेष्टा की।

व्याख्या

हे, बाज ! पराये हाथों में पड़कर अर्थात् परवश होकर तू अपनी जाति के पक्षियों को मत मार। जरा सोच-विचार कर देख हे विहंग ! इससे न तो तेरे किसी स्वार्थ की सिद्धि ही होती है, न यह कोई पुण्य कार्य है इससे तुम्हारी कोई प्रशंसा नहीं करेगा। अपितु तुम्हें अपयश का भागी ही बनना पड़ेगा, इस प्रकार यह तुम्हारा सारा श्रम व्यर्थ है। अतः इस कार्य में जब तुम्हारा कोई मनोरथ सिद्ध नहीं होता तब तुम्हारा छोटे-छोटे पक्षियों का वध करना सर्वथा अनुचित है।

दूसरा अर्थ है यह है कि हे राजा! आप दूसरों के लिए अर्थात् मुगल शासकों के राज्य-विस्तार के लिए अपनी ही जाति के राजाओं से युद्ध कर रहे हैं, यह कहाँ तक उचित है? फिर इस कार्य से न तो तुम्हारा कोई स्वार्थ ही सिद्ध होता है, न तुम्हें इसमें पुण्यफल प्राप्त होता है। हे राजा! जरा सोच-विचार कर देखो इस कार्य में तुम्हारी शक्ति और उर्जा व्यर्थ में ही विनष्ट हो रही है। अतः आप हिन्दू राजाओं से युद्ध करना छोड़ दें।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में अन्योक्ति के माध्यम से राजा जयसिंह को मुगलों की प्रसन्नता के लिए भारतीय राजाओं पर आक्रमण करने से रोकने का प्रयास किया गया है। कहा जाता है कि छत्रपति शिवाजी ने भी जयसिंह के इस निन्दनीय कर्म की कठोर शब्दों में भर्त्सना की थी उनके द्वारा लिखित पत्र आज भी उपलब्ध है।
2. चूँकि 'विहंग' का आशय आकाश में उन्मुक्त विचरने वाले पक्षी से है और राजा जयसिंह भी अपनी शूरवीरता के लिए प्रख्यात थे। अतः विहंग शब्द का साभिप्राय प्रयोग हुआ है।
3. ब्रज भाषा का सरल एवं सहज प्रयोग।
4. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
5. प्रबल वाक्पटुता।
6. सुन्दर लयात्मकता।
7. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।

8. सुन्दर अभिव्यजंना।
9. तद्भव के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर योग।
10. आकर्षक बिम्ब-विधान।
11. प्रेरक उद्बोधन।
12. अलंकार–
    (क) सम्पूर्ण दोहे में अन्योक्ति अलंकार।
    (ख) दोहे के प्रथम चरण में परिकरांकुकर अलंकार।
    (ग) सम्पूर्ण दोहे में अनुप्रास अलंकार।

(72)

सीस-मुकुट, कट-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा बसौ, बिहारी लाल।।

शब्दार्थ

सीस=सिर। कट=कमर। काछनी=करघनी। उर=कण्ठ। इहिं=ऐसे। बानक=वेश।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में कवि अपने अराध्य श्री व न्दावन बिहारी को इसी वेश में अपने हृदय में बसने की प्रार्थना करता है।

व्याख्या

कवि कहता है कि हे आनंदपूर्ण क्रीड़ाएँ करने वाले श्री कृष्ण्! मेरे हृदय में तुम सदा ऐसे रूप में बसे रहो जिसमें सिर पर मोर मुकुट, कमर में करघनी, हाथ में बाँसुरी तथा हृदय पर वनमाला सुशोभित हो।

विशेष

1. कवि को कृष्ण का गोप वेश प्रिय है, अतः इसी रूप में ही कवि कृष्ण को हृदय में बसाये रखना चाहता है।
2. प्रथम पंक्ति के चारों पद समस्त पद हैं जो बानक के विशेषण हैं।
3. भक्ति भाव का सुन्दर चित्रण।
4. सुन्दर बिम्ब-बिधान।
5. दोहा छन्द स्वरूप।
6. ब्रज भाषा प्रयोग।
7. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली है।
8. प्रभावी लयात्मकता।
9. सुन्दर भावाभिव्यंजना।
10. सुन्दर गेयता।
11. यहाँ स्वाभोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

(73)

संगति-दोषु लगै सबनु, कहे ति साँचे बैन।
कुटिल-बक-भ्रुव-सँग भए कुटिल, बंक-गति।।

शब्दार्थ

दोषु=दोष। सबनु=सबको। बैन=वचन। कुटिल=कपटी, छली। बंक=टेढ़ी। भ्रुव=भौंहें। नैन=नेत्र, जिसमें नीति का आचरण न हो। बंक=तिरछी।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में संगति-दोष के विषय में बताया गया है। संगति का सुप्रभाव पड़े न पड़े परन्तु कुप्रभाव अवश्य पड़ता है। कुसंगति को दोष विवेचन करते हुए कवि कहता है।

व्याख्या

आचार्यों-चिन्तकों द्वारा कहे गये ये वचन सत्य ही हैं कि संगति का दोष सबको लगता है। जैसे नैन-भ कुटी की संगति को ही देखिए कुटिल और वक्राकार वाली भ कुटियों के संग रहने से नेत्रों की गति भी कुटिल और बंकिम हो गई है। दूसरा अर्थ—सखी ने जो कहा था संगति का दोष अवश्य लगता है, वह सत्य ही हुआ है। देखो न किसी कुटिल और टेढ़ी भौंह वाली स्त्री के साहचर्य से मेरे स्वामी (नायक) भी कुटिल गति वाले हो गये हैं। और इनका आचरण नीति विरूद्ध हो गया है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कुसंगति के प्रभाव की विवेचना हुई है।
2. नेत्रों में सामान्यता कुटिलता या वक्रता नहीं होती है, किन्तु वक्राकार भौंहों की संगति से (यौवनावस्था में) इनकी गति में कुटिलता और वक्रता आ जाती है।
3. कतिपय टीकाकारों ने इसको खंडिता नायिका की उक्ति माना है। वह अपनी सखी को सम्बोधित करते हुए कहती है कि हे सखी! तुम्हारे द्वारा कहा गया ये वचन सत्य है कि संगति का दोष सभी को लगता है। देखो, किसी कुटिल और भौंहों वाली स्त्री की संगति से मेरे प्रियतम भी कुटिल गति वाले हो गये हैं और इनमें अब नीति के आचरण नहीं रहे।
4. भावसाम्य की द ष्टि से बिहारी का ही निम्न दोहा देखिए—
   संगति सुमति न पावहीं, परे कुमति के धंध।
   राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होई सुगंध।।
5. ब्रज भाषा प्रयोग है।
6. बोधगम्य शब्दावली।
7. सुन्दर लयात्मकता।
8. प्रसाद माधुर्य गुण शैली।
9. आकर्षक अभिव्यक्ति।
10. दोहा छन्द प्रयोग।
11. अलंकार—
    (क) सम्पूर्ण दोहे में अर्थान्तरन्यास अलंकार
    (ख) सम्पूर्ण दोहे में उल्लास अलंकार।

(74)

इत आवति चलि, जाति उत चली, छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहे लगी उसासनु साथ।।

शब्दार्थ

इत=इधर आवति=आती है। उत=उधर। छसातक=छ सात के अनुमान। =हिंडोरैं=हिंडोले पर। उसासनु=लम्बी साँसें।

प्रसंग

विरह में नायिका की अत्यन्त कृशता एवं उसके उच्छ्वासों की प्रबलता का वर्णन एक सखी दूसरी सखी से कर रही है।

व्याख्या

हे सखी! हमारी प्रिय सखी (नायिका) नायक के विरह में इतनी दुर्बल हो गई है और उसकी साँसे इतनी प्रबल हैं कि उसाँस के साथ मानो हिंडोरे पर चढ़ी सी रहती है। जब वह जोर से साँस लेती है तो छः सात हाथ कभी इधर से उधर चली जाती है। तो कभी उधर से इधर चली आती है।

विशेष

1. नायिका की विरहावस्था का यह चमत्कारपूर्ण वर्णन हृदय को नहीं छूता।
2. ऊहात्मक–उक्ति है, जो काव्य की स्वाभाविकता के विपरीत होती है।
3. ब्रज भाषा का प्रयोग है।
4. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।
5. सुन्दर बिम्ब-विधान।
6. तत्सम् के साथ तद्भव शब्दों का सुन्दर प्रयोग।
7. दोहा छन्द प्रयोग।
8. आकर्षक गेयता।
9. सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति।
10. उत्तम शब्द चयन।
11. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
12. वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग।

(75)

नर की अरू नल-नीर की गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीची ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ।।

शब्दार्थ

नलनीर=फुहारे का पानी। जोई=देख। जेतो=जितना। तेतो=उतना।

प्रसंग

कवि ने इस दोहे में नीति का वचन कहा है

व्याख्या

मनुष्य और फुहारे के जल की एक जैसी दशा, एक जैसी अवस्था होती है। इसे भली-भाँति देख लो, समझ लो। नल जितना नीचा होकर चलता है, उसका जल उतना ही अधिक ऊँचाई तक पहुँचता है। वैसे ही मनुष्य जितना विनम्र होता है वह उतना ही श्रेष्ठ, उतना ही महान बनता है।

विशेष

1. ब्रज भाषा का प्रयोग।
2. बोधगम्य शब्दावली।
3. सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति।
4. सुन्दर लयात्मकता।
5. दोहा छन्द प्रयोग।
6. प्रसाद, माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. सुन्दर अभिव्यंजना।
8. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का सुन्दर योग।
9. दीपक अलंकार का प्रयोग है।

(76)

कहत सबै, बेंदी दियैं आँकु दसगुनौ होतु।
तिय-लिलार बेंदी दियैं अगिनितु बदतु उदोतु।।

शब्दार्थ

बेंदी=बिंदी, टीका। आँकु=अंक, गिनती लिखने के लिये सांकेतिक अक्षर। तिय-लिलार=स्त्री के ललाट पर। उदोत=प्रकाश, सौन्दर्य, मूल्य।

प्रसंग

बिहारी ने नारी-सौन्दर्य के अंकन के लिये गणित का उपयोग करके अपनी अपूर्व क्षमता का प्रदर्शन किया है। अन्यत्र मुख पर छूट पड़ी कुटिल अलक के लिये कवि ने कहा है कि तिरछी बिकारी लगाने से दाम रूपया बन जाता है।

व्याख्या

प्रस्तुत दोहे में कवि बिहारी कहते हैं कि किसी अंक के साथ (दाहिनी ओर) बिन्दी देने से, बिन्दी लगाने से उस अंक का मूल्य दस गुना बढ़ जाता है, किन्तु स्त्री के, नायिका के ललाट पर बिन्दी लगाने से तो उसका मूल्य उसका सौन्दर्य अगणित गुणा बढ़ जाता है।

विशेष

1. कवि ने गणित के नियम का उपयोग नारी-सौन्दर्य के संदर्भ में किया है जो उसकी कल्पना शक्ति का सूचक है।

2. भावसाम्य की द ष्टि से निम्न दोहा देखिये–
   कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतो उदोत।
   बंक बिहारी देत ज्यौं दाम रूपैया होत।।
3. ब्रज भाषा का आकर्षक प्रयोग।
4. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
5. आकर्षक लयात्मकता।
6. सुन्दर बिम्ब-विधान।
7. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. दोहा छन्द का प्रयोग।
9. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का प्रयोग।
10. व्यतिरेक अलंकार का प्रयोग।

(77)

बढ़त-बढ़त संपति-सलिलु मन सरोज बढ़ि जाइ।
घटल-घटत सु न फिरि घटै, बरू समूल कुम्हिलाइ।।

शब्दार्थ

सलिल=जल। बरू=चाहे। समूल=जड़ सहित। कुम्हिलाइ=मुरझाना।

प्रसंग

इस दोहे में कवि ने नीति का वचन एक उदाहरण के साथ प्रस्तुत किया है।

व्याख्या

सम्पत्ति (धन-वैभव) रूपी जल के बढ़ने से मन रूपी कमल की नाल बढ़ती जाती है। कहते हैं कि सरोवर में पानी के बढ़ते जाने पर कमल-पुष्प की नाल स्वतः बढ़ती जाती है, इसीलिए कमल पानी में डूबता नहीं किन्तु जब सरोवर में पानी घटने लगता है तब वह नाल छोटी नहीं होती, चाहे जड़ से सूख भले ही जाये। कहने का आशय यह है कि जब व्यक्ति के पास धन आता है तो इच्छाएँ भी साथ-साथ पैदा होती है और धन बढ़ने के साथ इच्छाएँ और महत्त्वाकांक्षाएँ भी बढ़ती जाती है। परन्तु जब धन घटता है तो इच्छाएँ नहीं घटती चाहे व्यक्ति ही समूल रूप से नष्ट क्यों न हो जाये।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में मानव सुलभ सहज दुर्बलता को चित्रित किया गया है।
2. श ंगार हो या भक्ति या फिर नीति सम्बन्धी दोहे हों, बिहारी सभी का चित्रण इतने प्रभावशाली ढंग से करते हैं कि सहृदय पाठक उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता।
3. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
5. आकर्षक लयात्मकता, गेयता।
6. शब्दों का चयन उत्तम।

7. सुन्दर बिम्ब-विधान।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. दोहा छन्द प्रयोग।
10. अलंकार–
    (क) 'संपति-सलिलु', 'मन सरोजु' में रूपक अलंकार।
    (ख) 'बढ़त-बढ़त', 'घटत-घटत' में पुनरूक्ति-प्रकाश अलंकार।
    (ग) 'समूल' में श्लेष अलंकार।

(78)

कोरि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीचु।
नल-बल जलु ऊँचैं चढ़ै, अंत नीच कौ नीचु।।

शब्दार्थ

कोरि=कोटि, अनेक। जतन=उपाय। करौ=करे। प्रकृति=स्वभाव। बीचु=अन्तर, भेद।

प्रसंग

कवि ने यहाँ पर मनुष्य जाति के स्वभाव का बड़ा ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया है।

व्याख्या

कवि कहता है कि कोई चाहे कितना भी यत्न क्यों न कर ले, पर मानव स्वभाव में उसकी प्रकृति में अन्तर नहीं आता, जैसे नल के जोर से जल ऊपर को चढ़ता तो है, परन्तु अन्त में वह फिर नीचे को ही बहने लगता है। नल से बाहर आते ही पानी की गति नीचे की ओर हो जाती है।

विशेष

1. मनुष्य अपने नीच स्वभाव को नहीं छोड़ता है।
2. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
3. सुन्दर भावाभिव्यक्ति
4. उत्तम शब्द चयन।
5. सुन्दर बिम्ब-विधान।
6. आकर्षक गेयता।
7. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का सुन्दर प्रयोग।
8. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।
9. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
10. दोहा छन्द प्रयोग।
11. अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग।

(79)

लिखन बैठि जाकी सबी गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।।

शब्दार्थ

सबी (सबीह अरबी भाषा का शब्द है) यथार्थ चित्र, सुन्दरता। गरब-गरूर=गर्व। कूर=नष्ट बुद्धि।

प्रसंग

अंकुरित-यौवना नायिका की सखी नायक से उसके क्षण-क्षण बढ़ते यौवन की प्रशंसा कर रही है।

व्याख्या

संसार के बड़े-बड़े चित्रकार, जिन्हें अपनी चित्रकला पर अभिमान है, वे भी पल-पल परिवर्तनशील नायिका के यौवन-सौन्दर्य को अपने चित्रों में अंकित नहीं कर पाये। वे भी विमूढ़ होकर रह गये क्योंकि जितनी देर में वे नायिका का चित्र बनाते थे उतनी देर में उसका रूप यौवन बदल कर कुछ का कुछ हो जाता था, फिर भला नायिका के सौन्दर्य का यथार्थ चित्र वे कैसे बना सकते थे। वे चित्रकार मूढ़ बनकर रह जाते थे।

विशेष

1. नायिका के पल-पल बदलते रूप का यौवनोत्थान का सुन्दर वर्णन किया गया है।
2. ब्रज भाषा का आकर्षक प्रयोग।
3. गम्भीर भावाभिव्यक्ति है।
4. सुन्दर बिम्ब-विधान।
5. आकर्षक गेयता।
6. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. दोहा छन्द प्रयोग।
8. सुन्दर भावाभिव्यंजना।
9. सुन्दर शब्द-चयन
10. ध्वन्यात्मकता।
11. अलंकार—
    (क) वक्रोक्ति अलंकार।
    (ख) विशेषोक्ति अलंकार।

(80)

द गनु लगत, बेधत हियहिं, बिकल करत अँग आन।
ए तेरे सब तैं विषम ईछन-तीछन बान।।

शब्दार्थ

द गनु=आँख। बेधत=लगना। हियहिं=हृदय में। बिकल=व्याकुल। आन=अन्य, दूसरे। ईछन=द ष्टि। तीछन=तीखे। वान=बाण।

प्रसंग

नायक नायिका के कटाक्षों की काममयी प्रशंसा करते हुए नायिका से कहता है।

व्याख्या

तेरे ये नेत्र तीक्ष्ण बाण के समान हैं तथा अन्य सब बाणों से भयंकर हैं वही प्रहार करते हैं जब कि तेरे नेत्र रूपी तीक्ष्ण बाण मेरे नेत्रों को लगते हैं और भेदते हृदय को हैं और यही नहीं हृदय के साथ-साथ अन्य अंगों को भी विकल कर देते हैं, अतः तेरे नेत्र रूपी बाण का प्रहार तीक्ष्ण एवं अद्‌भुत है। जिससे मैं। अत्यन्त व्याकुल हो उठा हूँ।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में कटाक्षों की मारक क्षमता का अत्यन्त कलात्मक निरूपण हुआ है।
2. ब्रजभाषा प्रयोग।
3. सुन्दर भावाभिव्यक्ति।
4. उत्तम शब्द चयन।
5. ध्वन्यात्मकता।
6. आकर्षक गेयता।
7. दोहा छन्द प्रयोग।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. तद्‌भव के साथ तत्सम शब्दों का प्रयोग।
10. अलंकार–
    (क) 'ईछन-तीछन बान' में रूपक अलंकार।
    (ख) 'द गनु लगत, बेधत हियहिं, बिकल करत अंगआन में असंगति अलंकार।
    (ग) सम्पूर्ण दोहे में काव्यलिंग अलंकार।

(81)

दुसह दुराज प्रजानु कौं क्यों न बढ़ै दुख-दंदु।
अधिक अंधेरो जग करत मिलि मावस रबि-चंदु।।

शब्दार्थ

दुसह=दुसह्य। दुराज=दो राजाओं का राज्य। प्रजानु=प्रजा को। दंदु=द्वन्द्व। मावस=अमावस्या रबि-चंदु=सूर्य और चन्द्र।

प्रसंग

कवि राजपूत राजाओं के आश्रय में रहता था, जिन पर स्वयं मुगलों का अधिकार था। प्रजा दो-दो राजाओं के राज्य में अनेक प्रकार के दुःख द्वन्द्वों से पीड़ित थी, कवि सामान्य जनता की पीड़ा से भली-भाँति अवगत था, इसलिए दोहरे शासन की मार की भर्त्सना करते हुए कहता है–

व्याख्या

दो राजाओं के दुसह्य राज्य में प्रजा के दुःख-द्वन्द्व क्यों न बढ़ेंगे अर्थात् एक राज्य में जब दो-दो राजाओं का शासन होगा तब प्रजा को निश्चित रूप से कष्ट तो उठाने ही पड़ेंगे। जिस प्रकार अमावस्या के दिन यदि सूर्य और चन्द्र एक राशि में स्थिति हो जायें तो सूर्यग्रहण होने से दिन अंधकारमय हो जाएगा, जबकि रात्रि तो पहले ही अमावस्या के कारण अँधियारी थी।

विशेष

1. कवि ने अमावस्या के दिन लगे सूर्य ग्रहण से दो राजाओं के दुसह्य राज्य की तुलना कर कष्टों की कालिमा को अधिक प्रखरता से व्यंजित किया है।
2. इतिहास इस कुख्यात तथ्य का साक्षी है कि इस प्रकार का शासन (दो राजाओं का नवाब तथा कम्पनी शासन) बंग प्रदेश की प्रजा को सहना पड़ा था जिससे प्रजा अत्यन्त दुःखी तथा पीड़ित थी।
3. भावसाम्य की द ष्टि से निम्न दोहा देखिए–
   एक रजाई समै प्रभु द्वैसु, तमोगुन को बहु भाँति बढ़ावत।
   होत महादुख द्वंदु प्रजान को, और सबै सुभकाज थकावत।
4. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
5. गम्भीर भावाभिव्यक्ति।
6. आकर्षक गेयता।
7. ध्वन्यात्मकता।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. दोहा छन्द प्रयोग।
10. अलंकार–
    (क) सम्पूर्ण दोहे में द ष्टान्त अलंकार।
    (ख) 'क्यौं न बढ़ैं दुख-द्वंदु' में काकुवक्रोक्ति अलंकार।
    (ग) 'दुसह-दुराज', 'दुख द्वंदु', 'अधिक अंधेरो', 'मिलि मावस' में अनुप्रास अलंकार।

(82)

द गु उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियै, दई नई यह रीति।।

शब्दार्थ

द ग उरझत=नेत्र उलझते हैं या मिलते हैं। टूटत कुटुम=कुटुम्ब के सम्बन्ध टूट जाते हैं। गाँठि=गाँठ। हियै=हृदय में। दई=विधाता।

प्रसंग

नायिका अपनी सखी से प्रेम मार्ग की विचित्रता के विषय में वर्णन कर रही है।

व्याख्या

हे सखी! प्रेम का भी कैसा विलक्षण विधान है कि उलझते नेत्र हैं और टूटता परिवार है अर्थात् दोनों के प्यार से उनके परिवारों को सामाजिक अपयश का भागी बनना पड़ता है। जिससे दोनों के पारिवारिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। जबकि चतुर प्रेमियों के चित्त प्रीत की डोरी से बँध जाते हैं और जो इस प्रेम के निन्दक हैं, उन दुर्जनों के हृदय में ईर्ष्या की गाँठ पड़ जाती है। इस प्रकार विधाता ने प्रेम के रीति-रिवाज, कायदे-कानून सर्वथा भिन्न बनाये हैं जब कि सामान्यतः होता यह है कि यदि रस्सी उलझ जाये तो वह टूट जाती है और यदि जोड़ना चाहे तो उनमें गाँठ पड़ जाती है परन्तु प्रेम में इसके सर्वथा विपरीत है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहा नायिका का स्वगत कथन भी माना जा सकता है।
2. संसार में जो चीज उलझती है, वही टूटती है, जो टूटती है वही जुड़ती है, जो जुड़ती है उसमें गाँठ पड़ती है परन्तु प्रेम में यह विलक्षण स्थिति है कि उलझते तो हैं नेत्र और टूटता है परिवार। यहाँ अद्‌भुत और श्रंगार दोनों रसों की स्थिति है।
3. नायिका परकीया कोटि की है।
4. ब्रजभाषा का प्रयोग है।
5. सुन्दर अभिव्यजंना।
6. आकर्षक गेयता, लयात्मकता।
7. सुन्दर बिम्ब-विधान।
8. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. दोहा छन्द प्रयोग।
10. सम्पूर्ण सोरठे में असंगति अलंकार।

(83)

लरिका लैबे कैं मिसनु लंगरू मो ढ़िग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैलु छुवाइ।।

शब्दार्थ

लरिका = बच्चा। मिसनु = बहाने से। लंगरू = ठीस। ढिग = समीप। आँगुरी = उँगली। छैलु = चतुर।

प्रसंग

किसी चतुर नायक की चतुराई के संबंध में परकीया नायिका अपनी अन्तरंग सखी से कह रही है।

व्याख्या

मेरी गोद से लड़का लेने के बहाने से वह ढीठ मेरे पास आकर अचानक मेरी छाती में बड़ी चतुराई से अँगुली छुआ गया। यहाँ नायिका परकीया है, पर पत्नी के उरोजों को स्पर्श करने के लिए चतुर नायक ने कैसा उपाय खोजा है।

विशेष

1. नायक की इस चेष्टा से नायिका भी प्रसन्न प्रतीत होती है, तभी तो वह अन्तरंग सखी को यह व त्तान्त सुना रही है।
2. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
3. सहज भावाभिव्यक्ति।
4. सुन्दर बिम्ब-विधान।
5. आकर्षक गेयता।
6. ध्वन्यात्मकता।

7. उत्तम शब्द चयन।
8. प्रसाद माधूर्य गुण सम्पन्न शैली।
9. दोहा छन्द प्रयोग।
10. अलंकार-
    (क) छाती, छैल, छुवाई में अनुप्रास अलंकार
    (ख) पर्यायोक्ति अलंकार।

(84)

रनित भ ंग-घंटावली, झरति दान मधु-नीरू।
मंद-मंद आवतु चल्यौं कुंजरू कुंज समीरू।।

शब्दार्थ

रनित = बजती हुई। भ ंग-घंटावली = भौंरों रूपी घंटिकाएँ। दान = गज का मद। मधु-नीरू = मकरन्द रूपी जल। कुंजरू = हाथी। समीरू = पवन।

प्रसंग

प्रस्तुत दोहे में वासन्ती पवन का इतना मनमोहक चित्र उपस्थित किया है कि अपनी सम्पूर्ण छवि-छटा के साथ बरबस ही नेत्रों के सम्मुख आ खड़ा होता है।

व्याख्या

बसन्त समीर का वर्णन हाथी के रूप में करते हुए कवि कहता है कि मन्द-मन्द मंथर गति से चलती हुई बसन्ती समीर ऐसी प्रतीत हो रही है जैसे कि कोई उन्मत हाथी आ रहा हो। पवन के साथ भ्रमरों की मधुर गुंजार ऐसी लग रही है मानो हाथी की घंटिकाएँ बज रही हों और उसकी चाल से मद ऐसे झर रहा है जैसे पुष्पों से मकरन्द। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार हाथी धीमी-धीमी गति से झूमता-मदमाता हुआ चलता है, उसी प्रकार समीर भी भ्रमर की गुँजार तथा पुष्पों की सुगन्ध से युक्त मन्द-मन्द गति से बह रही है।

विशेष

1. प्रस्तुत दोहे में प्रकृति का आलम्बनगत चित्रण हुआ है।
2. नाद एवं गत्यात्मक बिम्ब का सफल बिम्बांकन हुआा है।
3. ब्रजभाषा प्रयोग।
4. सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति।
5. आकर्षक गेयता।
6. सुन्दर बिम्ब-विधान।
7. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का प्रयोग।
8. दोहा छन्द प्रयोग।
9. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।

10. अलंकार -
    (क) सम्पूर्ण दोहे में सांगरूपक अलंकार
    (ख) 'मंद-मंद' में पुनरूक्तिप्रकाश अलंकार।
    (ग) 'कुंजरू कुंज' में यमक अलंकार।

(85)

नासा मोरि, नचाइ जे करी कका सी सौंह।
काँटे सी कसकैं ति हिय गढ़ी कँटीली भौंह।।

शब्दार्थ

नासा = नासिका, नाक। कसकैं = चुभती है। मोरि = सिकोड़ कर। सौंह = शपथ। कटीली = काटने वाली।

प्रसंग

नायिका की कंटीली भौंहों के विषय में नायक सखी से कह रहा है।

व्याख्या

जिस समय नायिका ने नाक को सिकोड़ कर आँखें मटका कर और भौंहें टेढ़ी करके कका (चाचा) की शपथ ली थी, उस समय की उसकी कंटीली भौंहों का बाँकी चितवन अब भी मेरे हृदय में काँटे की तरह गड़ी हुई है।

विशेष

1. स्त्रियाँ स्वभाव से ही अपनी बात की सच्चाई को प्रकट करने के लिए 'कका की सौंह', 'बाबा की सौंह' इत्यादि बोला करती है। कवि ने यहाँ नायिका से भी यही सौंह कहलवाई है।
2. नायिका की चेष्टाओं का सुन्दर वर्णन हुआ है।
3. नायक के हृदय पर नायिका के कटाक्षपात का प्रभाव यहाँ वर्णित है।
4. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
5. सूक्ष्म भाव का स्पष्ट चित्रण।
6. सुन्दर गेयता।
7. सुन्दर बिम्ब-विधान।
8. सूक्ष्य भावाभिव्यक्ति।
9. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।
10. पूर्णोपमा अलंकार का प्रयोग।

(86)

क्यौं बसियै, क्यों निवाहियौ, नीति नेह-पुर नाँहि।
लगा लगी लोइन करैं, नाहक मन बँधि जाहि।।

शब्दार्थ

बसियै = बसेंगे, रहेंगे। निवाहियौ = निर्वाह होगा, काम चलेगा। नेहपुर = प्रेम का गाँव। नाँहि = नहीं। लगा लगी = देखा देखी, चोरी। लोइन = लोचन, आँख। नाहक = अनुचित, व्यर्थ।

प्रसंग

प्रस्तुत भावन्गम्भीर दोहा रीतिकालीन चर्चित कवि बिहारी की रचना से लिया गया है। इस दोहे में नायक अपने अभिन्न मित्र से अथवा नायिका आली अन्तरंग सखी से एक नगर विशेष के प्रेम की चर्चा करती है।

व्याख्या

नायक अथवा नायिका प्रेम के सन्दर्भ में विशेष गम्भीर होकर कह रही है। कि यह नगर बड़ा विचित्र है यहाँ किसी में भी नैतिकता का भाव नहीं है। नियम और कानून यहाँ है ही नहीं। ऐसे प्रेमनगर में रहना असम्भव है क्योंकि यहाँ जीवन जीने के लिए कोई आधार नहीं, यहाँ प्रेम से अथवा सुखी रहकर जीना असम्भव है। बहुत विचित्र है। यहाँ के लोग एक-दूसरे पर आकर्षिक होते हैं, एक-दूसरे को देखते भी हैं, एक-दूसरे के प्रेम में बंध भी जाते हैं, किन्तु ऐसे में बेचारा मन बंध जाता है और घायल हो जाता है। नेत्रों की लुकाछिपी केवल आँखों को सुख देती है। लेकिन बेचारा मन दण्डित होता है। इस प्रकार प्रेमी के मानसिक रूप से घायल होने की व्यथा-कथा बताता है।

विशेष

1. प्रेमी-प्रेमिका की मानसिक विकलता का चित्रण।
2. प्रेम की रीति का ह्रदयस्पर्शी चित्रण।
3. सूक्ष्मभावों की सुन्दर अभिव्यक्ति।
4. दोहा छन्द का भावगम्भीर रूप।
5. शं गार-रस का अनुकरणीय परिपाक।
6. ब्रजभाषा का आकर्षक प्रयोग।
7. मनोहारी गेयता।
8. लगालगी और बंधिजाँहि में श्लेष अलंकार।
9. असंगति अलंकार का सुन्दर प्रयोग।
10. माधुर्य-प्रसाद गुण सम्पन्न शैली।

(87)

समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।
मन की रूचि जेती जितै, तिततेती रूचि होइ।।

शब्दार्थ

समै = समय। सबै = सब ही। कुरूप = बदसूरत। जेती = जितनी, जितने। जितै = जिधर। तित = उधर, उसकी ओर। तेती = उतनी।

प्रसंग

रीतिकालीन कवि बिहारी द्वारा रचित 'बिहारी सतसई' भावप्रधानता के लिए चर्चित है। प्रस्तुत दोहा उक्त श्रेष्ठ रचना से लिया गया है। इस दोहे में सौन्दर्य और उसकी अनुभूति के सन्दर्भ में भाव व्यक्त किया गया है।

व्याख्या

सौन्दर्यपारखी बिहारी का कथन कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ स्वयं में सुन्दर या असुन्दर नहीं होता है। समय के अनुसार कोई भी वस्तु सुन्दर, मनमोहक और आकर्षक हो सकती है। यही वस्तु अथवा व्यक्ति भिन्न अथवा विषम समय में सुन्दर विहीन लग सकती है। अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल समय ही वस्तु, व्यक्ति और पदार्थ को सुन्दर अथवा असुन्दर बना देते हैं। मनुष्य का मन जिसमे जितना लगता है अथवा आकर्षित होता है उसमें उतनी ही सुन्दरता दिखाई देने लगती है। उसमें ही उसे अपनापन झलकता है। उसके साथ रहकर अधिक सुख का अनुभव करता है। निश्चय ही जिसमें जिसकी विशेष रूचि होगी उसे वह अधिक सुन्दर समझेगा और उसी को वह सुन्दर मानेगा।

विशेष

1. सुन्दरता सहृदय की अनुभूति में है।
2. सौन्दर्य का रूचि से गहन संबंध।
3. सौन्दर्यशास्त्र का प्रभावी ज्ञान।
4. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
5. दोहा छंद का प्रयोग।
6. सुन्दर गेयता और लयात्मकता।
7. आकर्षक भावभिव्यंजना।
8. मधुर और प्रसाद गुण सम्पन्नता।
9. 'समै-समै' में पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार।
10. 'जेती-जित' और 'तित-तेती' में छेकानुप्रकाश।
11. 'समै समै सुन्दर सबै' में व तानुप्रास।

(88)

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ।।

शब्दार्थ

बतरस = बातों का रस, बात करने में सुख की अनुभूति। लाल = कृष्ण। लालच = लोभ। मुरली = वंशी। धरी = रखा, रख लिया। लुकाइ = छिपा करके। सौंह = शपथ। भौहनु = भौंहें। दैन = देना। नटि जाइ = मना कर देना।

प्रसंग

बिहारी कृत प्रस्तुत दोहे में राधा और कृष्ण की प्रेमलीला की मनभावन चर्चा है। गोपियों के लिए

कृष्ण की वंशी कष्टदायक बन गई है। कृष्ण का मन वंशी में लगा रहता है। राधा की ओर आता ही नहीं इसलिए राधा वंशी को कृष्ण से दूर करना चाहती है। इन पंक्तियों में राधा और कृष्ण की वार्ता को सहज रूप में प्रस्तुत किया गया है।

व्याख्या

राधा कृष्ण से संवाद करने का अधिक से अधिक लाभ लेना चाहती है इसलिए उन्होंने कृष्ण की वंशी को छिपा दिया है। जब कृष्ण अपनी वंशी के विषय में राधा से पूछते है तो वह कभी तो पूरी तरह मना कर देती है कि मैं नहीं जानती वंशी कहाँ है। कभी-कभी उनकी भौंहें हँसने लगती है। जिससे यह प्रकट होता है कि राधा वंशी के विषय में जानती हैं। भौंहों की हँसी को देखकर कृष्ण समझ जातें हैं और राधा से वंशी माँगते हैं। ऐसे में राधा स्पष्ट मना कर देती है कि उनसे मुरली नहीं छिपाई। इन पंक्तियों में कृष्ण और राधा के परस्पर प्रेम और उनकी प्रेमलीला का भाव सामने आता है।

विशेष

1. राधा के अनुभावों का आकर्षक चित्र।
2. कृष्ण-राधा संवाद का मोहक वर्णन।
3. प्रेम-प्रलाप का आकर्षक सन्दर्भ।
4. दोहाछंद का प्रयोग।
5. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
6. संवादात्मक शैली।
7. तदभव् शब्दों के साथ तत्सम् शब्दों का सुन्दर पुट।
8. 'भौंहन हँसै' मुहावरे का प्रयोग।
9. 'लालच लाल' में छेकानुप्रास अलंकार।
10. शृंगार सर का सुन्दर परिपाक।

(89)

भौं यह ऐसोई समौं, जहाँ सुखद दुखु देत।
चैत-चाँद की चाँदनी डारति किए अचेत।।

शब्दार्थ

भौं = हुआ, हो गया। ऐसोई = ऐसा ही। समौ = समय। दुख = दुःख या कष्ट। डारति = डाल देती है, कर देती है। अचेत = बेहोश।

प्रसंग

रीतिकालीन चर्चित कवि बिहारी के प्रस्तुत दोहे में नायिका के विरही दशा का मार्मिक चित्रण किया गया है। नायक दूर चला गया है इसलिए नायिका विरह में व्याकुल है।

व्याख्या

नायिका अपने प्रियत्तम के दूर चले जाने पर विरह में व्याकुल है। वह कह रही है कि पहले का

सुखद मिलन का समय बीत गया है और विरह का समय कष्ट देने के लिए आ गया है। जो चीजें पहले सुखदायी थीं आप वही दुःखदायी बन गई हैं। मिलन के समय में चैत की चाँदनी मन में खुशियाँ भर देती थी। ऐसे में लगता था मनमोहक शीतलवर्षा हो रही है आप वही चन्द्रमा की चाँदनी मेरे मन को घायल कर रही है। ऐसी चाँदनी में मेरी चेतना भी गायब हो रही है। मैं बेहोशी की स्थिति में जाने वाली हूँ मेरा विरह जीवन बहुत कष्टप्रद हो गया है।

विशेष

1. नायिका की हृदयस्पर्शी विरह दशा।
2. विरह गति का सहज चित्रण।
3. नायिका की अचेतना की प्रस्तुति।
4. दोहा छंद का सुन्दर प्रयोग।
5. सुन्दर गेयता और लयात्मकता।
6. प्रसाद, माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
7. आकर्षक भाव-अभिव्यंजना।
8. भावानुकूल ब्रजभाषा प्रयोग।
9. 'चैत-चाँद' में छेकानुप्रास अलंकार।
10. श्रंगार रस का परिपाक।

(90)

मैं लखि नारी-ज्ञानु करि राख्यौ निरधारू यह।
बहई रोग-निदानु, वहै बैदु, औषधि वहै।।

शब्दार्थ

लखि = देखकर। नारी = नाड़ी, स्त्री। राख्यौ = रखना। निरधारू = निश्चित। निदानु = रोगग्रस्त होने के कारण। बैदु = वैद्य। औषधि = दवा। वहै = नायक।

प्रसंग

रीतिकालीन चर्चित कवि बिहारी के इस भावपूर्ण दोहे में विरही नायिका की स्थिति का हृदयस्पर्शी चित्रण किया गया है। नायिका विरह के कारण जटिल रोग से ग्रस्त है। अनेक प्रकार से उपचार करने पर भी कोई लाभ नहीं हो रहा है। सभी दवाइयां बेकार हो रही है। लाभ होने के स्थान पर रोग बढ़ता जा रहा है। ऐसे में नायिका की एक सखी सब कुछ समझ जाती है और उसके विषय में स्पष्ट करती है।

व्याख्या

नायिका की सखी कह रही है कि मैंने तुम्हारी नाड़ी की गति अर्थात् तुम्हारी भावनाओं और भंगिमाओं को देखकर अच्छी तरह समझ लिया है कि यह शारीरिक रोग नहीं है। इसलिए इसका उपचार किसी सामान्य वैद्यय की किसी भी दवा से ठीक होना सम्भव नहीं है। यह रोग तो नायक के प्रति होने वाले प्रेम से जुड़ा है। वह ही इस रोग की चिकित्सा कर सकता है अर्थात् जब नायक का प्रेम तुम्हें मिलेगा तो वह औषधि के रूप में तुम्हे स्वस्थ ही नहीं प्रसन्न कर देगा।

विशेष

1. नायिका के विरह विदग्ध स्थिति का चित्रण।
2. सहेली का संवेदनात्मक संवाद।
3. श्रंगार रस का सुन्दर परिपाक।
4. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
5. सरल सुगम और सुबोध भाषा।
6. ब्रज भाषा का आकर्षक प्रयोग।
7. प्रसाद और माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. दोहा छन्द का प्रयोग।
9. 'नारी-ज्ञानु' और 'रोग-निदानु' में समस्त पद।
10. नारी में श्लेष अलंकार।
11. पूरे दोहे में हेतु अलंकार।

(91)

नावक-सर से लाइ कै तिलकु तरूनि इत ताँकि।
पावक-झर सी झझकि कै, गई झरोखा झाँकि।।

शब्दार्थ

नावक = नलिका, नाली। सर = तीर, बाण। लाइ = लाना, ले आना। तरूनि = नवयुवती। इत = इधर। ताकि = तर्क करके। पावक = आग, अग्नि। झर = ज्वाला, लपट। झझकि = शिघ्रता से अपनी झलक दिखाना। झरोखा = खिड़की। झाँकि = झुक कर अथवा छुप कर देखना।

प्रसंग

कविवर बिहारी कृत बिहारी सतसई के इस भावपूर्ण दोहे में नायिका की मोहक गतिविधियों का चित्रण किया गया है। ऐसे में नायक के मन मे नायिका के प्रति आकर्षण बढ़ गया है। वह उससे मिलना चाहता है। वह दुति से नायिका को मिलाने का निवेदन भी करता है।

व्याख्या

नायक के मन में नायिका के प्रति लगातार आकर्षण बढ़ रहा है। वह दुति से कह रहा है कि नायिका झरोखे से कटाक्ष कर के ओझल हो गई है। रूप-सौन्दर्य मन को खींच रहा है इसलिए मिलने की इच्छा बढ़ती जा रही है। उसका मेरी ओर क्षण भर का कटाक्ष अग्निज्वाल की तरह मुझे झुलसा रहा है। जिस प्रकार बहेलिया नावक के प्रखर तीर से अपने शिकार को घायल करता है। उसी प्रकार नायिका ने अपनी तिरछी नजरों से नायक को बेचैन व घायल कर दिया है।

विशेष

1. नायिका के रूप सौन्दर्य का चित्रण।
2. नायिका के कटाक्ष का प्रभाव-प्रदर्शन।
3. नायक के वेदनाजन्य स्थिति का चित्रण।

4. दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग।
5. ब्रज भाषा का आकर्षक स्वरूप।
6. तदभव् शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का आकर्षक योग।
7. श्रंगार रस का सुन्दर परिपाक।
8. सूक्ष्म भावों की मनभावन अभिव्यक्ति।
9. 'तिलकु तरूनि' में छेकानुप्रास।
10. 'पावक-सर सी झझकि कै' में पूर्णोपमा अलंकार।
11. द्वितीय पंक्ति में आकर्षक ध्वन्यात्मकता।

(92)

चमचमात चंचल नयन विच घूँघट-पट झीन।
मानहुँ सुरसरिता विमल जल उछरत जुग मीन।।

शब्दार्थ

विच = मध्य में, बीच में। पट = वस्त्र। झीन = पलता, महीन। सहुरसरिता = गंगा। विमल = स्वच्छ, पवित्र, विमल। उछरत = उछलता है, उछलना। जुग = दो। मीन = मछली।

प्रसंग

कविवर बिहारी कृत बिहारी सतसई से लिये गये इस श्रंगारिक दोहे में नायिका की सखी अपनी सहेली के नेत्रों के सौन्दर्य की प्रशंसा कर रही है। उसका प्रयास और प्रयास में विश्वास है कि नायिका के सौन्दर्य की चर्चा के बाद नायक अवश्य आकर्षित होगा।

व्याख्या

नायिका की सखी नायक के सम्मुख नायिका के नेत्रों के सौन्दर्य की चर्चा करती हुई कहती है कि उसके चंचल नयनों की आभा से कौन नहीं प्रभावित होगा? जब ये नेत्र पतले घूँघट पट से बाहर झाँकते हैं तो उसकी शोभा दर्शनीय हो जाती है उन नेत्रों को देख कर ऐसा लगता है कि मानों पतित पावनी गंगा की लोग लहरों में उछलती हुई दो मछलियाँ हैं। ऐसा द श्य दुर्लभ और मनुष्य को धन्य करने वाला होता है।

विशेष

1. नायिका के सौन्दर्य का चित्रण।
2. चंचल नयनों की आकर्षित शक्ति-उद्बोधन।
3. दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग।
4. श्रंगार रस का सुन्दर परिपाक।
5. आकर्षक अप्रस्तुत विधान।
6. मनोरम बिम्ब विधान।
7. 'चमचमात चंचल' में छेकानुप्रास।
8. द्वितीय पंक्ति में उत्प्रेक्षा उलंकार।

9. 'घूँघट-पट' में सुन्दर समस्त पद।
10. आकर्षक भावाभिव्यंजना।

(93)

अनियारे, दीरघ द गनु किती न तरूनि समान।
वह चितवनि औरैं, जिहिं बस होत सुजान।।

शब्दार्थ

अनियारे = लम्बे और नुकीले। दीरघ = बड़े। द गनु = आँखें। तरूनि = नवयुवती। चितवनि = देखने का ढंग। कछू = कुछ। सुजान = सज्जन, नायक।

प्रसंग

मध्यकालीन चर्चित कवि बिहारी की लेखनी से बिहारी सतसई का स जन हुआ। प्रस्तुत श ंगार प्रधान दोहा उक्त रचना से लिया गया है। इसमें नायिका के आँखों के सौन्दर्य की चर्चा उसकी सखी करती है। जिसे विश्वास है कि इन्हीं आँखों के आकर्षण के कारण नायक वंश में आता है।

व्याख्या

नायिका की सखी उसके नेत्रों की सुन्दरता का वर्णन करती हुई कहती है कि इस गाँव की सुन्दरियों की आँखें एक से एक बढ़कर है। उनके बड़े-बड़े और नुकीले नेत्रों के समान नेत्र कहीं नहीं मिलते किन्तु तुम्हारे नेत्र उन सबमें विलक्षण है। वह अपनी बात को अधिक स्पष्ट और पक्का करती हुई कहती है कि तुम्हारे नेत्रों की अनुठी सुन्दरता के कारण ही नायक वंश में रहता है। इस प्रकार नायिका के नेत्रों के अलौकिक सौन्दर्य के प्रति नायक पूर्णरूपेण आकर्षित है।

विशेष

1. नायिका-सौन्दर्य-चित्रण।
2. नेत्रों की अलौकिकता का चित्रण।
3. कवि की वचन वक्रता की अभिव्यक्ति।
4. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
5. 'कछू' में कुछ से विपर्यय का बोध।
6. 'द ग' से 'द गनु' बहुवचन का स्वरूप।
7. श ंगार रस का सुन्दर परिपाक।
8. प्रसाद और माधुर्य गुण सम्पन्नता।
9. 'दीरध द गनु' मे छेकानुप्रास अलंकार।
10. पूरे दोहे में वक्रोक्ति और अतिश्योक्ति अलंकारों का प्रयोग।

(94)

नाँक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल।।

शब्दार्थ

नाँक = नासिनाक। सीबी = सी-सी की आवाज करना। जितै = जितना। छबीली = सजधज कर रहने वाली। छैल = बन ठन कर दूसरों को आकर्षित करने वाली। गहै = ग्रहण करना। प्यौ = प्रिय या प्रियतम। गैल = रास्ता, मार्ग।

प्रसंग

प्रस्तुत भावप्रधान श्रंगारिक दोहा कविवर बिहारी कृत सतसई से लिया गया है। पति-पत्नि दोनों एक साथ किसी पथरीले मार्ग से गुजर रहे हैं। ऐसे मार्ग पर चलते हुए जहाँ नायिका को कुछ कठिनाई का अनुभव हो रहा है, चाल में मचलन आ रही है, मुह से कुछ आवाज निकल रही है तो दूसरी ओर नायक का प्रेम बढ़ता जा रहा है।

व्याख्या

कवि नायक नायिका के प्रेम की अभिव्यक्ति को मनोरम रूप प्रदान करते हुए लिखता है कि जब नायिका सजधज कर, छैलछबीली बन कर अत्यन्त मनोहारी वेशभूषा और भावभंगिमा में प्रियतम के साथ चलती है तो प्रियतम मुग्ध हो जाते हैं। ऐसे में वह जब कंकरीले-पथरीले मार्ग से गुजरती है, पैर लचकते है और पतली होने के कारण कमर मचकर्ता है तो नायक पूर्णरूपेण मुग्ध हो जाता है। यह पूर्ण सत्य है कि युवती की मचलती चाल और सजधज कर निकलना आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। ऐसे में जब नायिका के मुख से सीत्कार सुनाई देता है तो नायक का हृदय-कमल खिल जाता है। ऐसे में उसे अपने मन चाहे रूप का दर्शन और उसकी मनभावनी भंगिता की अनुभूति होती है।

विशेष

1. संयोग श्रंगार का मनोरम चित्रण।
2. प्रेमाभिव्यक्ति की नयी योजना।
3. आकर्षक गेयता और लयात्मकता।
4. दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग।
5. ब्रज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
6. सहज सरल बोधगम्य तदभव शब्दावली की बहुलता।
7. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. मोहक भावाभिव्यंजना।
9. 'फिरी-फिरी' में पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार।

10. 'छबीली छैल' में छेकानुप्रास अलंकार।

11. पूरे दोहे में असंगति अलंकार क्योंकि नायिका को पीड़ा हो रही है और नायक को रस आ रहा है।

(95)

कर-मुँदरी की आरसी प्रतिबिंबित प्यौ पाइ।
पीठि दियैं निधरक लखै इकटक डीवि लगाइ।।

शब्दार्थ

कर = हाथ। मुँदरी = अभिज्ञान, आँगुठी। आरसी = दर्पण, शीशा। प्रतिबिंबित = छाया प्रकट होना। प्यौ = प्रिय या प्रियतम। पीठि = पीछे। निधरक = बिना संकोच के, निर्भय हो कर। लखै = गम्भीरता से देखना। इकटक = लगातार देखना। डीठि = द ष्टि, नजर।

प्रसंग

प्रस्तुत भावात्मक श ंगार प्रधान दोहा कविवर बिहारी की बिहारी सतसई से लिया गया है। इसमें नायिका के ह्रदय में विकसित नायक के प्रति प्रेम का चित्रांकन है वह अकेले में ही नहीं भीड़ में भी अपने प्रियतम को लगातार देखना चाहती है। सखी नायिका के इस चातुर्थ का वर्णन अपनी अन्य सखी से कर रही है।

व्याख्या

नायिका के मन में उठी प्रियतम दर्शन की भावना और उसके चातुर्थ के विषय में दो सखियाँ आपस में बात कर रही है कि नायिका बहुत लज्जालु है वह अपने प्रियतम को आमने सामने होने पर भी आँख उठा कर नहीं देख सकती। उसमें प्रियतम को देखने की प्रबल इच्छा है इसलिए वह अपनी अंगुठी को दर्पण बना कर प्रियतम का प्रतिबिम्ब देख रही है। उसके प्रियतम उसके पीछे हैं उसकी अंगुठी में प्रियतम का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई दे रहा है। नायिका अपना हाथ उपर किये हुए लगातार अपलक नयनों से देख रही है। ऐसे में वह शंकामुक्त है कि कोई आमने-सामने देखते हुए देख लें। किसी को पता भी नहीं और वह अपलक प्रियतम दर्शन का रस ले रही है।

विशेष

1. नायिका की प्रेमभावना का चित्रण।
2. नायिका के चातुर्य की अभिव्यक्ति।
3. ब्रजभाषा का आकर्षक प्रयोग।
4. श ंगार रस का प्रभावी परिपाक।
5. दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग।
6. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
7. प्रसाद और माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. अन्त पद में सुन्दर समानान्तरता।

9. आकर्षक बिम्ब विधान।
10. 'प्यौ पाइ' में छेकानुप्रास अलंकार।
11. पूरे दोहे में विभावना अलंकार।

(96)

कर लै, सँधि सराहि हूँ रहे सबै गहि मौनु।
गंधी अंध, गुलाब कौ गवई गाहकु कौनु।।

शब्दार्थ

कर = हस्त, हाथ। सराहि = प्रशंसा करके। गंधी = इत्र विक्रेता। गवई = ग्रामीण। ग्राहकु = ग्राहक, खरीददार। कौनु = कौन।

प्रसंग

कविवर बिहारी कृत बिहारी सतसई से प्रस्तुत भावात्मक नीति प्रधान दोहा उद्धत हैं। कवि का कहना है कि सभी व्यक्ति सभी गुणों के ग्राहक नहीं हो सकते हैं। मनुष्य की सफलता उसके अनुकूल साथ, निकटता और परिचय से होती है। विषम व्यक्ति की निकटता, साथ और परिचय सदा ही कष्टप्रद या दुःखदाई होता है। यहाँ इत्र विक्रेता की सफलता के संदर्भ में नैतिक तथ्य का उदघा्टन किया गया है।

व्याख्या

कविवर बिहारी का कथन है कि नासमझ इत्र विक्रेता गाँव में जाकर इत्र बेचने का प्रयास उचित नहीं है क्योंकि वहाँ के लोग इत्र का महत्व जानते ही नहीं। इसलिए यहाँ गुलाबजल का ग्राहक कौन होगा? ये ग्रामीण गुलाबजल से अपरीचित होने के कारण इसे सूघेंगे और फिर चुप हो जाएगें। इस प्रकार यहाँ गुलाबजल का कोई खरीददार नहीं होगा। इस प्रकार संकेत किया गया है कि मूर्खों को सुझाव देना उचित नहीं होता है।

विशेष

1. लोकनीति का उद्‌बोधन।
2. उद्‌बोधनात्मक दोहा।
3. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. जीवनोपयोगी नीति तथ्य का उद्‌घाटन।
5. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्नता।
6. तद्‌भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का योग।
7. आकर्षक बिंब-विधान।
8. आकर्षक अभिव्यंजनां

9. 'संधि सराहि' और 'गवई गाहकु' में छेकानुप्रास अलंकार।
10. पूरे दोहे में अन्योक्ति अलंकार।

(97)

कर लै चूमि, चढ़ाइ सिर, हर लगाइ, भुज भेटि।
लहि पाती प्रिय की लखति, बाँचति धराति समेटि।।

शब्दार्थ

कर = हाथ। उर = हृदय। भुज = हाथ। मेटि = समेटना। लहि = प्राप्त करके। पाती = पत्र। प्रिय = प्रियतम। लखति = गंभीरता से देखना। बाँचलि = पढ़ना। धरति = रखती है।

प्रसंग

प्रस्तुत भावपूर्ण दोहा शेलिकालीन श्रंगार प्रधान कवि की बिहारी सतसई से लिया गया है। नायिका अपने प्रियतम के दूर चले जाने पर विह्वल है। विरह वेदना उसे हिला रही है। जब प्रियतम की पाती आती है तो नायिका मन में भावों का आन्दोलन शुरू हो जाता है। नायिका की ऐसे समय की चेष्टाएँ विशेष मार्मिक हो गई है। नायिका की सखिया आपस में उसकी गतिविधियों की चर्चा करती हैं।

व्याख्या

नायिका की भाव भंगिमा की चर्चा करती हुई एक सखी दूसरे से कहती है कि नायिका को पत्र मिला है। उसकी गतिविधियाँ अनोखी हो गई हैं। वह पत्र को हाथ में लेकर हर्षातिरेक में उसका चुम्बन करती है। प्रेम के प्रतीक पत्र को सिर पर लगाती है, छाती से लगा कर शीतलता का अनुभव करती है। पत्र को प्रियतम मिलन के भाव से उसे अपनी भुजाओं में भेतती है। प्रेम में विह्वल हो कर पत्र को देखती है और संदेश पढ़ती है, अपनी धरोहर के रूप में उस पत्र को संभाल कर रख लेती है। दोहे में पत्र प्राप्ति से मिली खुशी की मनोहारी प्रस्तुति की गई है।

विशेष

1. नायिका में अतीवप्रेम की अभिव्यक्ति।
2. नायिका की कामिल और मानसिक चेष्टाओं की आकर्षक अभिव्यक्ति।
3. लघु वाक्यों की अनूठी संरचना।
4. भावानुकूल ब्रजभाषा का सरस रूप।
5. प्रसाद और माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
6. सुन्दर ल्यात्मकता और गेयता।
7. दोहा छंद का अनुकरणीय प्रयोग।
8. सूक्ष्य भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।

9. 'चूमि चढ़ाई', भुज भेटि' 'पाती प्रिय' में छेकानुप्रास अलंकार।
10. श्रंगार रस का सुन्दर परिपाक।
11. अनुकरणीय अभिव्यंजन।

(98)

कोटि जतन कोऊ करौ, तन की तपनि न जाई।
जौ लौ भीजै चीर लौ, रहै न प्यौ लपटाइ।।

शब्दार्थ

कोटि = करोड़। जतन = प्रयत्न। कोऊ = कोई। तन = शरीर। तपनि = आग, गर्मी। जाई = समाप्त होना। जौ लौं = जब तक। भीजै = भीगे हुए। चीर = वस्त्र। प्यौ = प्रियतम।

प्रसंग

प्रस्तुत श्रंगार प्रधान दोहा बिहारी कृत 'बिहारी सतसई' से लिया गया है। इसमें विरही नायिका की विषम दशा का हृदयस्पर्शी चित्रण किया गया है। उसके मन में मिलन की प्रबल आकांक्षा है। नायिका अपनी विरह संतप्त दशा के विषय में अपनी सखी से कहती है।

व्याख्या

नायिका अपनी मनोदशा को सखी के सम्मुख व्यक्त करती हुई कहती है कि हे सखी ! मेरी तपन को दूर करने के लिए कोई कितना भी प्रयत्न करे, उसका कोई प्रभाव नहीं होना है। मेरे मन में प्रियतम मिलन की भावना गहरी हो गई है। इसीलिए शरीर की तपन बढ़ती जा रही है। इस तपन से छुटकारा तभी मिलेगा जब प्रियतम भीगे हुए कपड़े की भाँति शरीर से लग जाएँगे। यहाँ नायिका का आश्रय यह है कि प्रियतम का प्रगढ़ परिरंभण ही शरीर की तपन शांत होगी और मन को शांति मिलेगी। नायिका अपने प्रियतम के मिलन की आशा में डूबी और उदास है।

विशेष

1. नायिका की श्रंगारिक भावना की अभिव्यक्ति।
2. विरह-ताप के प्रभाव का हृदयस्पर्शी चित्रण।
3. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
4. दोहा छन्द का अनुकूल स्वरूप।
5. प्रसाद और माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
6. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
7. 'कोऊ करौ' में छेका अनुप्रास अलंकार।
8. आकर्षक बिम्ब-विधान।

9. श ंगार रस का सुन्दर परिपाक।

10. 'जौ लौ भीजे चीर लौ' रहै न प्यौ लपटाइ' में उपमा अलंकार।

(99)

सधनकुंज छाया सुखद शीतल सुरभि-समीर।
मनु है जातु अजौं वहे, उहि जमुना के तीर।।

शब्दार्थ

सधन = घना। कुंज = लताओं का झुरमुट। सुखद = सुख देने वाला। शीतल = ठंडी। सुरभि = सुगंध। समीर = हवा। उहि = उस। जमुना = यमुना।

प्रसंग

प्रस्तुत भावपूर्ण दोहा कविवर बिहारी कृत 'बिहार सतसई' से उद्धंत है। कृष्ण मथुरा चले गऐ हैं। गोपियों को कृष्ण के साथ कुंज की छाया में किए गए सुखद विहार की याद आती रहती है। सभी गोपियाँ कृष्ण की विरह में खोई हुई भी आपस में चर्चा करती रहती हैं।

व्याख्या

हे सखी ! वह समय आँखों के सामने बार-बार उमड़ आता है जब हम कृष्ण के साथ यमुना के तट पर विहार करती थीं। कृष्ण के साथ सघर कुंजों में घुमते हुए शीतल मंद सुगंध में मुस्कराती-हँसती रहती थी। आज जब कृष्ण मथुरा चले गए हैं तब भी उस मधुर समय की याद मन को आन्दोलित कर रही है। सच है अब गोपियों के अपने कृष्ण उनके साथ नहीं हैं, किन्तु मधुर स्म तियाँ उन्हें जीवन-जीने का आधार बनी हुई हैं।

विशेष

1. गोपियों का कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम-चित्रण।
2. यादों की मधुरता की अभिव्यक्ति।
3. ब्रजभाषा का सुन्दर स्वस्थ।
4. दोहा छंद में भाव-प्रवण रूप।
5. आकर्षक गेयता और लयात्मकता।
6. आकर्षक बिम्ब-विधान।
7. प्रसाद और माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
8. 'सुखद शीतल सुरभि-समीर' में व त्यानुप्रास अलंकार।
9. 'मनु है जातु अजौ वहै, उहि जात' में स्मरण अलंकार।
10. आकर्षक भावाभिव्यंजना।

(100)

हुकुम पाइ जयसाहि कौ, ही राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक संवाद।।

शब्दार्थ

हुकुम = आदेश। प्रसाद = कृपा। करी = रचना की। भरी = सम्मिलित किया। संवाद = विषय।

प्रसंग

प्रस्तुत भावप्रधान दोहा कविवर बिहारी के 'बिहारी सतसई' के परिसमाप्ति से लिया गया है। इसमें कवि ने अपना रचना के आधार और उसमें अपनाएं गए विविध विषयों की ओर संकेत किया है। इस दोहे से स्पष्ट है कि यह दोहा बहुत विषयों से सुसज्जित मुक्तक काव्य से लिया गया है।

व्याख्या

सहृदय कविवर बिहारी के आदेशानुसार आराध्य राधा और कृष्ण की कृपा से की गई है। इसमें बहुत से विषयों को अपनाया गया है। रसों की विविधता भी इस कवि की अपनी विशेषता है, कवि का कहना है मानव-जीवन के विविध विषय या संदर्भ इस सतसई में अपनाए गए हैं।

विशेष

1. सतसई-निर्माण का परिचय।
2. अपने आराध्य राधा-कृष्ण की कृपा की चर्चा।
3. आत्म-परिचय की परम्परा।
4. ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग।
5. दोहा छन्द का प्रयोग।
6. मुक्तक काव्य के विविध विषयों का संकेत।
7. तद्भव शब्दों का आकर्षक प्रयोग।
8. अनुकूल लयात्मकता और गेयता।